अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन

- साध्वी डॉ. दर्शितकलाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'णमो पहुं सिरि राइंद सूरिवरस्स'

अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन

(देवीअहिल्या वि.वि., इन्दौर से पीएच.डी. उपाधिप्राप्त)

(शोधपंजीयन क्र. - डी.ए./93/1332)

: दिव्यकृपा दृष्टि :

प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.

: आशीर्वृष्टि :

राष्ट्रसन्त जैनाचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.

: प्रेरणापुष्टि :

तपस्वीरत्ना साध्वी शशीकलाश्रीजी म.सा.

: सर्जनसृष्टि :

साध्वी डॉ. दर्शितकलाश्री

© सर्व हक्क प्रकाशक ने आधिन

: प्रकाशक :

श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट

हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद-1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ : अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन
लेखिका : साध्वी डो. दर्शितकलाश्री
शोधनिर्देशक : डो. हर्षदराय धोलकीया, डो. गजेन्द्रकुमार जैन-इन्दौर
प्रकाशक : श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद - १

प्रथम संस्करण - प्रति 1000

वीर सं.	वि.सं.	ख्रि.सं.	राजेन्द्र सं.
2533	2063	2006	100

मूल्य रुपये - 200

अक्षरांकन :
तपन शाह
देव ग्राफिक्स, अहमदाबाद.
(फोन : 99253 66776)

मुद्रण :
बकुल संघवी
110, सुरती बिल्डींग, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद.
(फोन : 079-2532 2332, मो. : 93281 89096, 98251 89096)

संपर्क :
श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी जैन ज्ञान मन्दिर
216, राजा राम मोहनराय रोड, प्रार्थना समाज, मुंबई-४

श्री यतीन्द्र जैन
17/सी, गुमास्ता नगर, राजस्थान बैंक के सामने, इन्दौर (मध्यप्रदेश)
फोन : 0731-2787511

Shri Raj-Rajendra Prakashan Trust
Hathikhana, Ratanpole,
Ahmedabad-380001.

Shri Raj-Rajendra Tirth Darshan
Jayantsen Museum
Mohankheda Tirth, Rajgadh-454116 (Dist. Dhar) M.P.
Phone : (07296) 232320, 235320

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शताब्दी वर्ष की ... पावन पुण्यस्मृति में ... समर्पित है

स्वर्गारोहण शताब्दी वर्ष की
पावन पुण्यस्मृति में
समर्पित हैं

प्रकटप्रभावी, प्रबलप्रतापी,
जगज्ज्योतिर्धर,
अप्रतिमयोगीश्वर, ज्ञानाम्बुधि,
विश्वकोशकर्ता, विश्वपूज्य, विश्वविख्यात,
गुरुदेव श्री
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के
परमपावन करकमलों में
श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के
ये अमृतबिन्दु ।

ज्ञानामृतरसास्वादशीला
गुरुदेव चरणरेणु
साध्वी दर्शितकला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

પ્રકાશકીય

પૂ.સાધ્વીજી શ્રી દર્શીતકલાશ્રીજી મ.સા.ની વિદ્વતા, સંકલન શક્તિ અને સંશોધન માટે તેમને શ્રી દેવી અહલ્યા વિશ્વવિદ્યાલય-ઈન્દોર(મ.પ્ર.) દ્વારા પીએચ.ડી.ની પદવીથી અલંકૃત કરાયા. તેઓશ્રીનો આ પરિશ્રમ સરાહનીય અને અનુમોદનીય છે. તેમના દ્વારા તૈયાર કરાયેલ "અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ કી આચારપરક શબ્દાવલી કા અનુશીલન" પુસ્તકના સંકલન માટે તેઓશ્રીની ભૂરી ભૂરી અનુમોદના.

પ.પૂ.રાષ્ટ્રસંત આચાર્યદેવેશ શ્રીમદ્ વિજય જયંતસેનસૂરીશ્વરજી મ.સાહેબે આ પુસ્તક પ્રકાશનનો લાભ અમારા શ્રી થરાદ ત્રિસ્તુતિક જૈન સંઘ, મુંબઈને આપ્યો તે બદલ અમો ગૌરવ અનુભવીએ છીએ અને તેઓશ્રીના અત્યંત ઋણી છીએ.

પ.પૂ.દાદા ગુરૂદેવ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.સા.ના સ્વર્ગારોહણ શતાબ્દી વર્ષની ભવ્ય ઉજવણીના પુનિત પ્રસંગે ગુરૂસપ્તમીના મંગળ દિવસે શ્રી મોહનખેડા તીર્થમાં પ.પૂ.વર્તમાનાચાર્ય શ્રીમદ્ વિજય જયંતસેનસૂરીશ્વરજી મ.સા.ની પાવન નિશ્રામાં વિમોચન થઈ રહ્યું છે, એવા આ ગ્રંથને દાદા ગુરૂદેવના ચરણોમાં પુષ્પાંજલી સહ અર્પણ..

પ્રાતઃ સ્મરણીય કલીકાલ કલ્પતરૂ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.સા.ના
શતાબ્દી વર્ષના ઉપલક્ષમાં
શ્રી થરાદ ત્રિસ્તુતિક જૈન સંઘ, મુંબઈ દ્વારા
ગુરૂ ચરણોમાં સાદર વંદના સહિત સમર્પિત...

આવા જ્ઞાન અને શાસન પ્રભાવનાના ધાર્મિક કાર્યો અમારા સંઘથી થતા રહે એવા આશીર્વાદની મનોકામના સાથે..

શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ જૈન જ્ઞાનમંદિર
૧૦મી ખેતવાડી, મુંબઈ-૪૦૦૦૦૪

(પ્રમુખ : શ્રી થરાદ ત્રિસ્તુતિક જૈન સંઘ, મુંબઈ)
સેવંતીભાઈ મણીલાલ મોરખીયા

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्री गोडीजी पार्श्वनाथाय नमः ॥

(सोनाराशेरी, थराद)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्री महावीरस्वामीने नमः ॥

(मोटा महावीर, थराद)

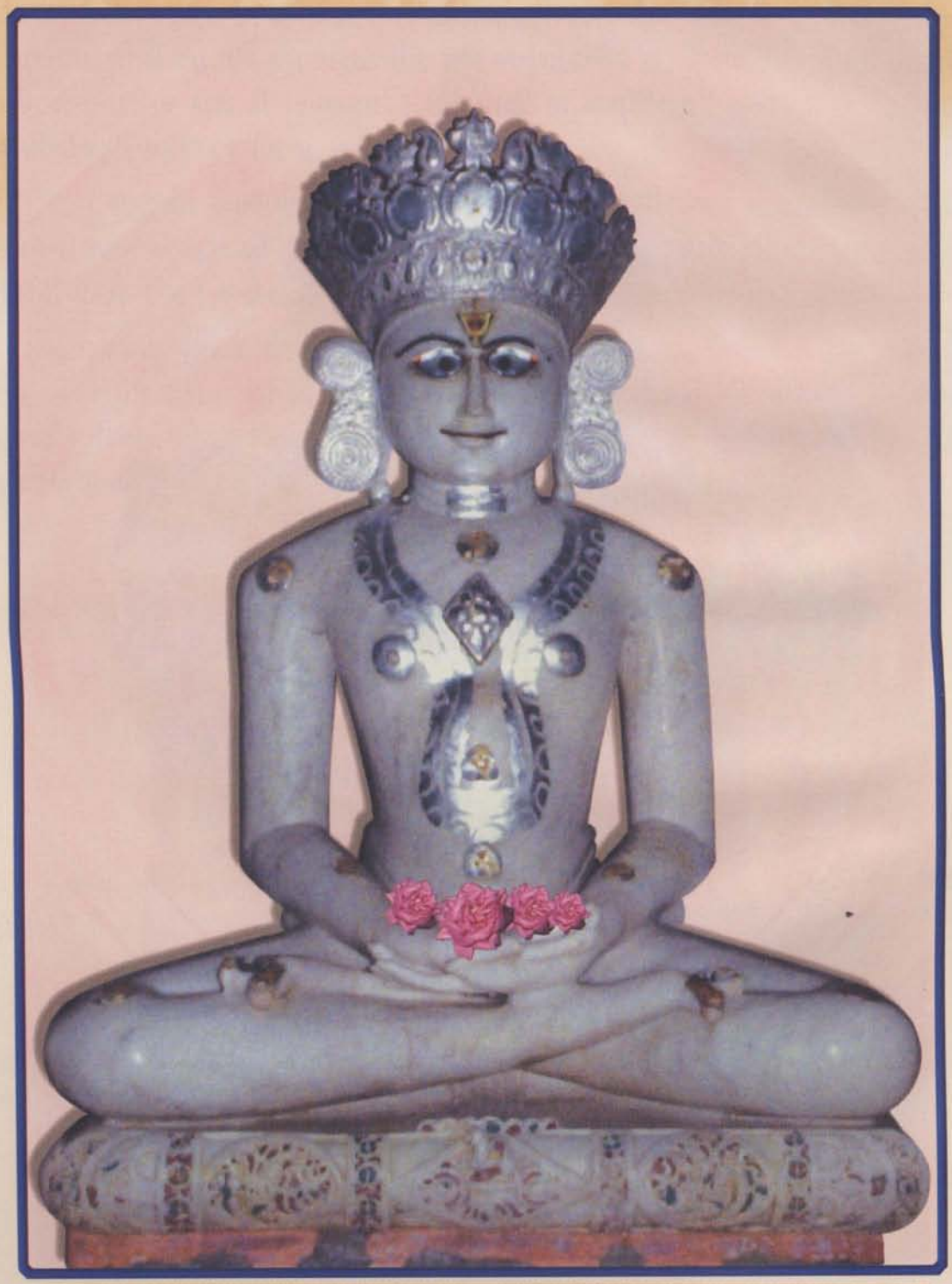

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्री शंखेश्वरा पार्श्वनाथाय नमः ॥

(श्री शंखेश्वर तीर्थ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

॥ श्री नवकारा पार्श्वनाथाय नमः ॥

(श्री शंखेश्वर तीर्थ)

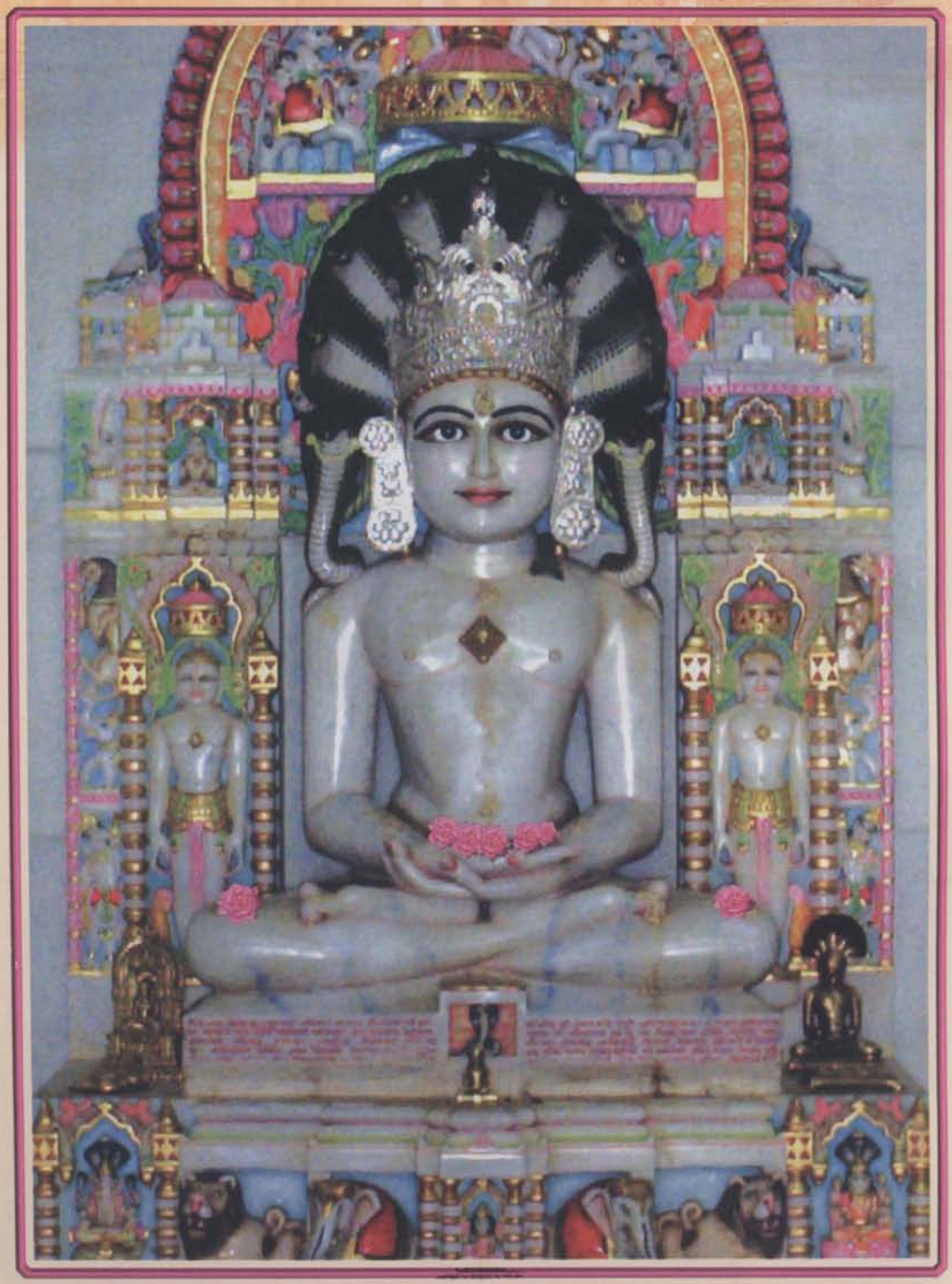

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलिकाल कल्पतरु गुरुदेव
श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

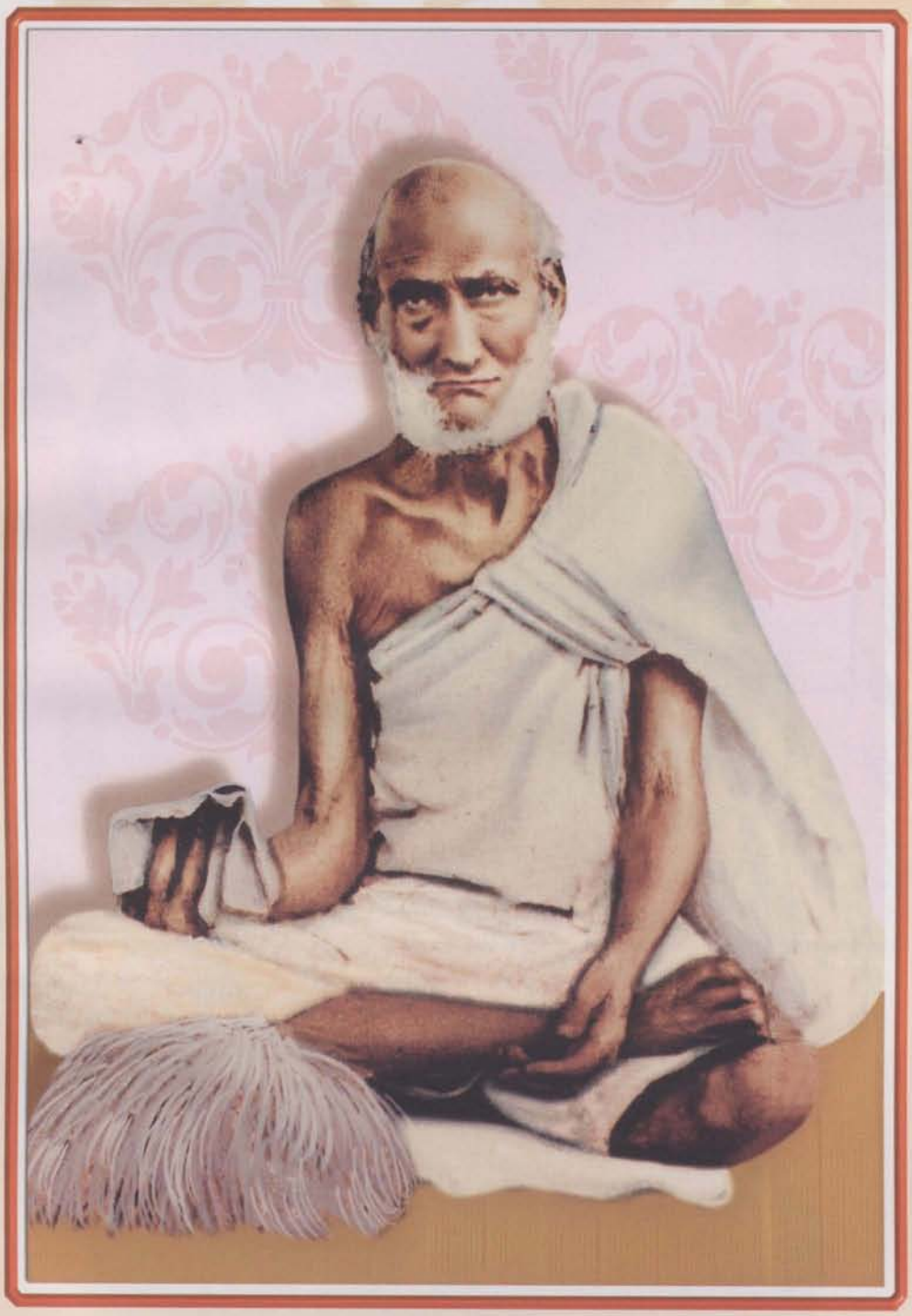

(वि.सं.१९४८, थराद)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश रचयिता गुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. अपने शिष्य परिवार के साथ

(अभिधान राजेन्द्रकोश पूर्णाहूति)
वि.सं.१९६०, सुरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्वपूज्य, विश्वविख्यात प्रातः स्मरणीय दादा गुरुदेव
श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.

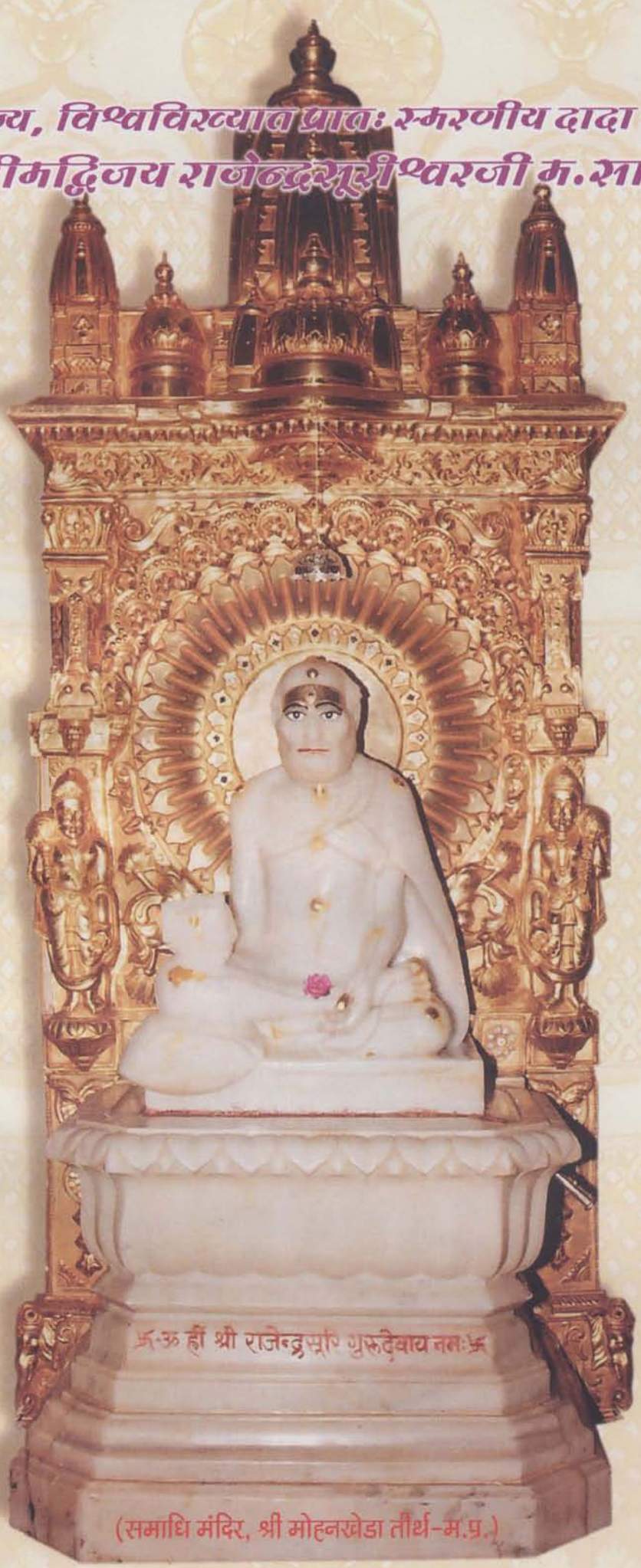

(समाधि मंदिर, श्री मोहनखेडा तीर्थ-म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशीर्वचन

विश्वपूज्य प्रातः स्मरणीय प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी गुरुभ्यो नमः

राष्ट्रसंत आचार्य विजय जयन्तसेन सूरि

विश्व की अनोखे कृति, अद्भुत ग्रन्थ श्री अभिधान राजेन्द्र कोश, जिस का महिमा संपूर्ण विश्व में व्याप्त है। जिस में जैन जैनेतर ग्रन्थों का संदर्भ अत्यधिक रूप से अलोकित हैं।

प्राकृत संस्कृत से सुशोभित इस ग्रन्थ में विद्वद् जनों के लिये विशेष प्रकार की मार्गदर्शक संकलन संयोजित हैं।

इस ग्रन्थ पर मेरी आज्ञानुवर्तिनी साध्वी दक्षितकलाश्रीजी ने पी.एच.डी. कर के ग्रन्थ की संदर्भित बातों को और स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो अभिनंदनीय है।

ग्रन्थ पर थीसीस लिखना सामान्य बात नहीं है। साध्वीजी ने अपनी गवेषक दृष्टि रख कर यह आलेखन किया है जो प्रशंसनीय है।

मेरी ओर से हार्दिक अभिनंदन के साथ आशीर्वचन देता हूँ कि साध्वीजी ज्ञान, ध्यान, स्वाध्याय की उपासना में प्रगति करें।

अभिधान राजेन्द्र कोश की आधार पर के दार्शनिक शोधकार्य को दृढ प्रसन्नता हुई।

फो. हरखचंदजी

दि. २८/१०/२००६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिस्तुतिक जैन संघ गणनायक

राष्ट्रसंत वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शताब्दी दस्तावेज

सत्य की खोज, संयम की आराधना, शब्दों के रहस्योद्घाटन, वाङमय की विविधा तथा दर्शन व तत्व के चिन्तन के दोहन को जीवन के पटल पर परम योगी आचार्य गुरूदेव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने अनुस्युत कर अप्रतिम प्रतिभा को परिभाषित किया। उनकी जीवन साधना स्वपर कल्याण, समता, सिद्धि, समग्रता एवं सम्यक्त्व के लिए समर्पित थी। उनने आध्यात्मिक अभ्युदय के क्षेत्र में भी स्वावलंबन को मूल्यित कर त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को अनावृत्त किया। श्रमणजीवन की मर्यादाओं के अनुपालन तथा जीवन निर्वाह में तप, योग, बोध को सर्वोपरी स्थान व स्थिति पर हृदयंगम करते हुए उनने प्राकृत अर्धमागधी के शब्दो को अर्थ, भावार्थ, व्युत्पति, निर्युक्ति, संदर्भ की छैनियो से तराशा तथा उन्हें 'अभिधान राजेन्द्र कोश' के रूप में व्यवस्थित क्रमबद्ध कर मूर्तिमंत किया। एक एक शब्द को उनने आकार देकर उसमें विस्तृत अनुसंधान के माध्यम से प्राण फूंकने का श्रमसाध्य उपक्रम किया। यहां तक कि इस उदेश्य की प्राप्ति में कहीं कहीं कई शब्द कोष के तीस तीस पृष्ठों को घेरने तक अद्वितीय रूप से विस्तृत हो गये। अभिधान राजेन्द्र कोश केवल शब्दों की क्रमबद्ध सूची ही नहीं, उनके अर्थ-भावार्थ का अंकन ही नहीं, उनका रूपपरक या कथ्यपरक विवेचन ही नहीं, बल्कि शब्द का सम्बद्ध विषय में अन्तरण है। वह उसका सम्पूर्ण विवेचन, विश्लेषण एवं विशिष्टीकरण करने में सफल हुआ है। अतएव इसकी श्रेणी साधारण कोश की नहीं बल्कि ज्ञानकोश / विश्वकोश है।

भारतीय अध्ययेताओं ने वैदिक संस्कृति के लिए संस्कृत एवं श्रमण संस्कृति के लिए लोकभाषा को माध्यम बनाकर सर्वजन के मस्तिष्क का स्पर्श करने का प्रयास किया है। श्रमण संस्कृति में भी जैनधर्म ने प्राकृत-अर्धमागधी एवं बौद्ध धर्म ने पाली से अपनी संरचनाओं को विवेच्य स्वरूप दिया है। अर्धमागधी के शब्दों से ही जैनागमों का श्रृंगार हुआ है। गुरूदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने इन्हीं शब्दो को कसौटियों पर कस कर उनमें निहित अजस्त्र उर्जा धाराओं का उद्गम किया है। अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली आचारपरक तथा दार्शनिक है। उस तक पहुंचकर उनकी व्याख्या करने का कार्य आसान नहीं था, इसके लिए सघन परीश्रम, मेघा तथा तपःपूत प्रयास की आवश्यकता थी। किसी विषय के अंतरतल तक की शोध शैक्षणिक अध्यवसाय की मांग हो सकती है लेकिन पूज्या साध्वी डॉ. श्री दर्शितकलाश्रीजी म.सा. ने इसकी खानापूर्ति से अधिक गहराई तक जाकर विषय उदधिका मंथन करने का प्रयत्न किया है। जिसका परिणाम यह शोधप्रबंध है। जैसा कि साध्वी डॉ. श्री दर्शितकलाश्रीजी ने शोध-प्रबंध की प्रस्तावना में ही उल्लेख किया है- इस शोधकार्य का उदेश्य जैन परंपरा की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली के एकत्रण, संकलन तथा वर्गीकरण के साथ व्युत्पत्ति तथा निरूक्ति का संदर्भ तो है ही उनके अर्थो की तुलनात्मक समीक्षा भी है। इस दिशा में उनने निश्चित उपलब्धि प्राप्त की है। उनने शब्दो को जैन दृष्टि के साथ ब्राह्मण तथा बौद्ध परम्परा के मतों से भी क्रियात्मक कर प्रस्तृत किया है। विभिन्न सम्प्रदायों में सिद्धांतों की अपनी मौलिकताओं का अंतर इस शोधकार्य द्वारा चिन्हित किया गया है। सात सो पृष्ठों के इस सर्जन ने अभिधान राजेन्द्र कोश को नाभि पर रखकर उसका वाङमय बिम्ब निर्मित किया है।

प्रस्तुत वर्ष ज्ञानसम्बुद्ध, धर्मसारथी, विरल विभूति जैनाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के निर्वाण को शताब्दी कालखंड से सुशोभित कर रहा है। इस स्वर्ण प्रसंग पर पूज्य साध्वी डॉ. दर्शितकलाश्रीजी म.सा. का यह शोधप्रबंध शताब्दी नायक के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। साध्वीजी ने गुरूदेवश्री के जीवन को विभिन्न बिन्दुओं के शीर्षकों से युक्त कर उनकी विशेषताओं का सांगोपांग उल्लेख किया है। प्रथम परिच्छेद में गुरुदेवश्री जीवनवृत्त, उनकी गुरु व गच्छ परम्परा, शिष्यवर्तुल, त्रिस्तुतिक सिद्धांत की अवधारणा, उनके व्यक्तित्व की अनूठी विशेषताओं को व्यवस्थित उपादेय बनाया है। यहीं नहीं उनके चातुर्मास की सूची, साहित्य की सूची आदि संकलित कर इसे बहुमुखी बनाया है। साध्वीश्री ने स्वयं संवेगवर्धित विचारो में अनुरंजित होकर प्रवज्या ग्रहण की है तथा जैन शास्त्रोक्त सर्वविरति मार्ग अपनाया है। वे गुरुदेवश्री की परम्परा में ही परम पूज्य राष्ट्रसंत जैनाचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज के गच्छाधिपत्य में सम्मिलित हैं। पूज्य राष्ट्रसंत जैनाचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज भी स्वयं शब्दो की अभिव्यंजना, भावों के परिष्करण, चिन्तन की सघनता तथा मूल्यों की समरसता के प्रतीक है। वे तीर्थ प्रभावक, गंभीर व्याख्यानी, संयम दानेश्वरी, कीर्ति हस्ताक्षर सुविशाल गच्छाधिपति हैं। यह ग्रंथ साध्वीजी की गुरूभक्ति का परिचायक है। साथ ही जैनदर्शन के विषयो में, गहन अभिरूचि तथा शोध में समर्पण के भाव भी इससे झलकते है। ज्ञानार्जन एवं विद्याध्ययन तपस्या है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर ही ज्ञान का प्रकाश जीवन में प्रभासित हो पाता है। साध्वी डॉ. दर्शितकलाश्रीजी म.सा. ने अपनी जीवन नौका को तूफानों की ओर घुमाकर उसमें से शांति एवं आत्म प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया है। उनके प्रति वंदना सहित शत शत साधुवाद, सराहना एवं प्रशंसा के भाव अर्पित है।

जीवन की अनुभूतियाँ कल्पना के साथ सामंजस्य स्थापित कर साहित्य के रूप अभिव्यक्त होती है। शोधप्रबंध का लेखन शिक्षा के आयाम का निर्माण करता है। यह ग्रंथ अनुभूतिजन्य शैक्षणिक पाठ्यक्रम की पूर्ति है अतएव इसका स्थान असाधारणता का कीर्ति बिन्दु बन गया है। आशा है इससे समाज की भक्ति तृषा तथा पाठकों की ज्ञान-इच्छा दोनों को सामग्री प्राप्त होगी।

धन्यवाद !

सुरेन्द्र लोढा

सम्पादक दैनिक 'ध्वज'

वरिष्ठ राष्ट्रीय उपाध्यक्ष : अ.भा.श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद

मंदसौर (म.प्र.)

दिनांक : ६-१२-०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्यरत्ना साध्वीजी श्री शशीकलाश्रीजी म.सा.

जन्म : वि.सं.१८८८

जन्मनाम : शांताबहन

पिता : बलु रामचंदभाई जीतमलभाई

माता : पार्वतीबहन

दीक्षा : फागण सुद-१०, वि.सं.२०३२

दीक्षास्थल : थराद

दीक्षादाता : आ.श्रीमद्विजय विद्याचंद्रसूरि म.सा.

दीक्षागुरु : सा.श्रीमुक्तिश्रीजी म.सा.

दीक्षीत नाम : सा.श्री शशीकलाश्रीजी म.सा.

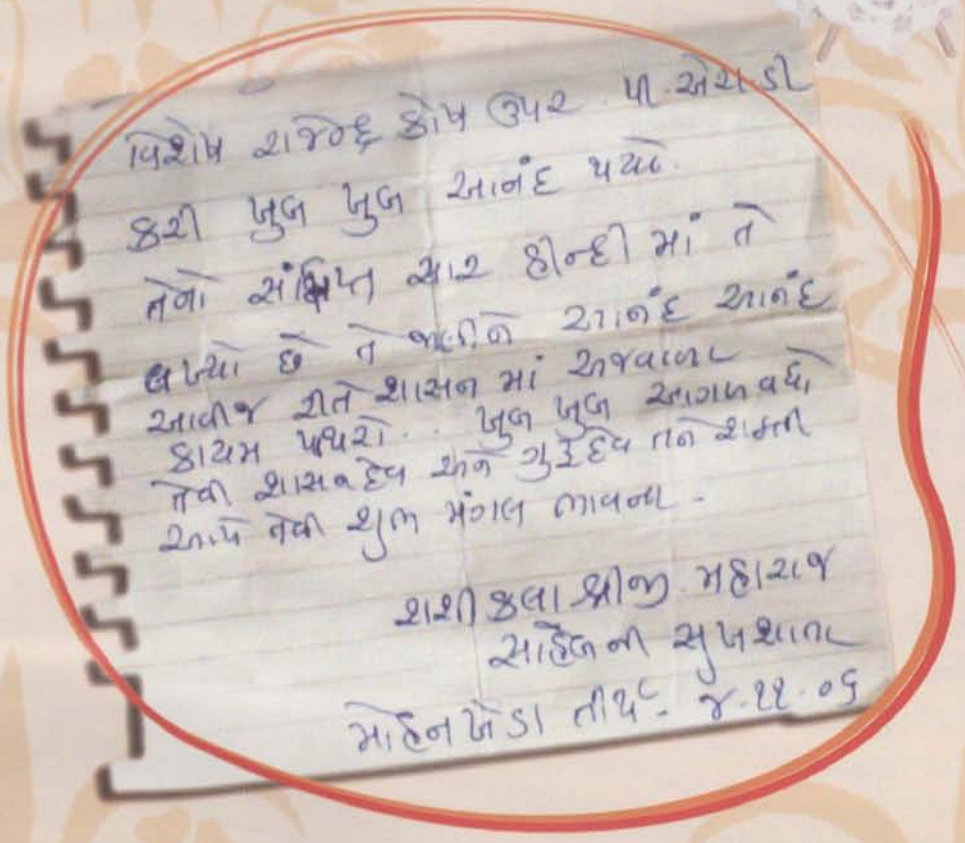

आशीर्वृष्टि

४२ वर्ष की उम्र में दीक्षित होकर पूज्या साध्वीजी दीक्षागुरु एवं वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेनसूरीश्वरजी म.सा. के असीम आशीर्वाद प्राप्त कर चार वर्षीतप, वीशस्थानक तप, वर्धमान तप की ६८ ओली, ९९ यात्रा आदि अनेकविधतप एवं त्यागमय जीवन व्यतीय करती हुई ४६ शिष्या-प्रशिष्या सह सर्वत्र जिनशासन का जयनाद कराती हूई, गुरुगच्छ का गौरव बढा रही है।

प्रचंड पुण्य की स्वामीनी, समताधारी, सरल स्वभावीनी, तस्वीरत्ना पूज्या गुरुवर्याश्रीने अपनी शिष्या सा.डॉ.दर्शितकलाश्री को भी ईस ग्रंथ के प्रणयन में प्रेरणा एवं आशीर्वाद सह उत्साहवर्धन कीया है। ऐसी प्रसन्नमुखी, नम्रस्वभावी गुरुवर्याश्री के चरणो में शत् शत् वंदन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंगल कामना

सर्व सुख का मूल कारण ज्ञान है। ज्ञान प्रकाश करनेवाला है, श्रुतज्ञान से परमार्थ का यथार्थ दर्शन होता है, ज्ञान से क्रिया सम्यग् होती है, ज्ञान शीतल ज्योत्सना की तरह सभी लोगों को आल्हादित करता है, ज्ञान वैराग्यवर्धक है, ज्ञान से चारित्र की शुद्धि सद्गति और सिद्धगति प्राप्त होती है।

देवदुर्लभ मनुष्य जीवन में श्रमणधर्म मिलने के बावजूद भी शास्त्रों के रहस्यज्ञान की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है, ऐसे सांप्रत समय में वात्सल्यमयी वीरवाणी से अलंकृत जैनागमरहस्यज्ञाननिधि ''श्री अभिधान राजेन्द्र कोश'' पर आधारित प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध ''अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन'' की रचना में मेरी गुरू वर्या पूज्या सा.डॉ. दर्शितकलाश्री म.सा. ने धीरता-वीरतापूर्वक अट्ठम एवं आयम्बिलादि के अति उग्र तप विश्वपूज्य गुरू देवश्री का जप एवं संयम जीवन के सारे अनुष्ठान करते हुए एवं मुझे भी पीएच.डी. सम्बन्धी अध्ययन करवाते हुए सर्व प्रमाद के आलम्बन को सर्वथा छोडकर सारा वक्त सतत अप्रमादी होकर, प्रसन्नतापूर्वक अनन्य श्रद्धा, संवेग एवं सम्यग्ज्ञानाराधना में एकाग्रचित्त होकर अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की, जिसकी मैं आद्योपान्त साक्षी हूँ।

विश्वपूज्य दादा गुरू देवश्री आचार्यदेवेश की दिव्यकृपादृष्टि, संयमदाता गुरू देवश्री आचार्यदेवेश श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. की असीम आशीवृष्टि, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन तथा पूज्या गुरू माता तपस्वीरत्ना साध्वीवर्या श्री शशीकलाश्री म.सा. की अमीदृष्टि से ओतप्रोत यह ग्रन्थ सभी के लिए सम्यग् रत्नत्रय की आराधना एवं स्वस्वरू प की साधना के लिये प्रेरणा-स्त्रोत बने यही मंगल कामना।

- साध्वी डॉ. चिन्तनकलाश्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृतज्ञता ज्ञापन

वि.सं. 2043, अश्विन शुक्ला द्वितीया की मध्यरात्रि को 11.30 बजे का नीरव समय। रानी स्टेशन (राज.), दादावाडी में मैं विश्राम कर रही थी। विश्वपूज्य प्रतिक्षणानुस्मरणीय परम योगीन्द्राचार्य गुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज, जिनके प्रति शैशवावस्था से दृढ श्रद्धा, आस्था एवं श्रीचरणों में अडिग विश्वास है, स्वप्नसृष्टि में उनकी मनमोहक छवि प्रगट हुई-दुर्बल-तनु किन्तु रजतरश्मियुक्त तेजस्वी काया, कमलवदन, उन्नतभाल, आकर्णनेत्रों से नि:सृत अमृतवर्षायुक्त वरदमुद्रा ! उस प्रेय और श्रेय मुद्रा से दृष्टि हट नहीं सकी, मानो स्तम्भित हो गई। स्वप्निल सृष्टि में ही गुरुदेवश्री स्वमुखारविंद से सुमधुर स्वर में महामंत्र नवकार से कर्णकुम्भयुगल को आपूरित कर गये; शिष्या का जीवन धन्य हो गया।

वि.सं. 2043 में संयमजीवन के प्रथम वर्षावास में घटी इस अलौकिक घटना में ऐसे दैदीप्यमान भव्य भवितव्यता के संकेत थे, पर किसे पता था-भविष्य में क्या छिपा है ? कुछ दिन बाद, जिल्दों की नमी दूर करने के लिए अभिधान राजेन्द्र कोश के सातों भाग मंजूषा से निकाल कर बाहर धूप में रखे, तब कुतूहलवृत्ति से मैंने जिज्ञासावश इसका उपोद्घात देखा - 'क्या लिखा है इसमें ?' मैं अल्पसंस्कृतज्ञान के आधार पर उसे समझने का प्रयास करने लगी, तभी मेरी गुरुवर्याश्री ने कहा - रहने दे, ये राजेन्द्र कोश के सात भाग है; तूँ क्या पढेगी इसे ? गुर्वाज्ञा से मैंने अपने प्रयास को विराम दे दिया, किन्तु अन्त:करण पर अभिधान राजेन्द्र कोश अंकित हो गया। बस, अब एकमात्र चिन्तन धारा बह चली- कैसे भी हो, इसे पढना तो है। इस घटना के बाद दो साल बीत गए, अहमदाबाद में वि.सं. 2045 का चातुर्मास पूर्ण कर कार्तिक पूर्णिमा को चातुर्मास परिवर्तन किया। दूसरे दिन हमने हिम्मतभाई बैंकर के घर नवरंगपुरा में विश्राम किया, तब वर्तमानाचार्यश्री के सांसारिक भ्राता पोपटलाल धरु दर्शनार्थ आये। उनसे अध्ययन संबंधी चर्चा में आगे पढने की और पीएच.डी. करने की हृदय की भावना प्रकट हो गई। उन्होंने कहा - आप आचार्यश्री के नाम पत्र लिखकर दीजिए और अध्ययन हेतु कटिबद्ध हो जाइये, मैं अध्ययन की आज्ञा दिलवाने का पूरा प्रयास करूँगा।

और अनुक्रम से, फलस्वरुप गुर्वाज्ञा प्राप्त होने पर मैंने अहमदाबाद से 12 वी कक्षा की परीक्षा उतीर्ण की। तत्पश्चात् श्रीयुत सुरेन्द्रजी लोढा, देवेन्द्रजी चपरोत इत्यादि के सहयोग से मंदसौर से बी.ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1993 का चातुर्मास राजेन्द्र उपाश्रय, इन्दौर में हुआ और ज्ञानपंचमी के दिन पुन: राजेन्द्र कोश हाथ में आ गये। अन्तर्मानस में सोयी भावना पुन: जागृत हो गयी। हृदय में अपूर्व हर्षोल्लास एवं मन में दृढ संकल्प हुआ- 'अब तो इसे पढकर ही विराम लेना।'

योगानुयोग, बी.ए. द्वितीय वर्ष के संस्कृत विषय के अध्ययन के तारतम्य में 19 दिसम्बर 1993 को विद्वद्वर्य भाई डॉ. गजेन्द्र जैन से मेरा परिचय हुआ। लघुसिद्धान्तकौमुदी का अध्ययन करते-करते साध्वी अवस्था में संयमजीवन की सारी दिनचर्या एवं स्वतन्त्र चातुर्मास की सारी जिम्मेदारियों को क्रियान्वित करते हुए लौकिक शिक्षा ग्रहण करने का एकमेव कारण 'अभिधान राजेन्द्र कोश' पर पीएच.डी., आपके सामने रखा और शोधप्रबंध लिखने की भावी योजना प्रकट की, साथ ही तद्हेतु संपूर्ण मार्गदर्शन एवं सहयोग हेतु आश्वासन माँगा।

परमात्मा श्री गोडी पार्श्वनाथ की अचिन्त्य कृपा, परमपूज्य कोशप्रणेता गुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर महाराज की दिव्य देदीप्यमान अमृतार्क आशीर्वृष्टि, वर्तमानाचार्य मेरे गुरुदेवश्री की आज्ञा, आशीर्वाद एवं प्रेरणा, दूरदेशस्थ होने पर भी मेरी गुरुमाता का सतत सहयोग-ये सभी शुभ निमित्त उपस्थित होते गये, फलस्वरुप भाई श्री गजेन्द्रजीने मेरी ज्ञानरुचि एवं सतत ज्ञानार्जन की ग्रहणशक्ति देखकर मेरा अनुरोध-विनय स्वीकार कर लिया। आप एवं आपकी धर्मपत्नी अ.सौ. श्रीमती मंजुलता जैन के अविस्मरणीय योगदान, सतत परिश्रम, प्रेरणा, प्रोत्साहन, सहयोग और अनेको विघ्नों में भी समता, सहनशीलता, सरलता के साथ ही ज्ञानप्राप्ति कराने में सहज, सरल, सरस, सुबोध शैलीने मेरे विद्याध्ययन को कभी भी विराम नहीं लेने दिया इसका परिणाम यह हुआ कि बाह्याभ्यन्तर अनेक प्रतिकूलताओं में भी यह ज्ञानाभ्यास चलता रहा, और बी.ए. अध्ययन के बाद संस्कृत विषय में एम.ए. अध्ययन भी पूरा हो गया।

अब बारी थी, मेरे मुख्य कार्य की; श्री अभिधान राजेन्द्र कोश का हार्द जानने की। इसके लिए भाई श्री गजेन्द्रजी से ही श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन का अध्ययन आरम्भ किया और अभिधान राजेन्द्र कोश के अध्ययन के पूर्व श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन का संज्ञा-सन्धि प्रकरण प्रकाशित भी हो गया मेरा विषयप्रवेश हो चुका था; अभिधान राजेन्द्र कोश पर शोधप्रबन्ध का निर्देशन प्रौढतापूर्ण हो, इसके लिए भाई श्री गजेन्द्रजीने ही परमादरणीय डॉ. हर्षदराय धोलकियाजी से निवेदन किया जो अनेक शोधकार्यों के अनुभवी निर्देशक तो हैं ही, साथ ही सतत विहार में रहने वाले साधु-साध्वियों को पीएच.डी. का निर्देशन करने के अनुभवी हैं। विद्वद्वर्य डॉ. धोलकियाजीने पीएच.डी. का निर्देशक बनना सहर्ष स्वीकार कर लिया और विषय-चयन से लेकर अब तक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सक्रिय मार्गदर्शन प्रदान किया। छह वर्षों तक सभी के सहयोग से यह बाललेखनी चलती रही, और मेरी बालचेष्टा के अनुरुप विश्वकोश 'अभिधान राजेन्द्र' के आचारपरक दार्शनिक शब्दों पर लिखित यह शोध प्रबंध आपके सन्मुख इस रुप में प्रस्तुतियोग्य बन सका।

चिरलक्षित एक स्वप्न, विश्वपूज्य गुरुदेव द्वारा प्रणीत श्री अभिधान राजेन्द्र कोश पर शोध-प्रबंध की पूर्णाहूति की इस वेला में उन सभी की आभारी हूँ जिन्होने मेरा मार्ग प्रशस्त किया, मुझे सदैव प्रेरणा, प्रोत्साहन के पीयूष पिलाये, सार्थक-सफल सहयोग किया।

सर्वप्रथम मैं नतमस्तक हूँ थीरपुर (थराद-उ.गु.) नगरस्थ-श्री गोडी पार्श्वनाथ परमात्मा के श्रीचरणों में, जिनके प्रगटप्रभावी, प्रबलप्रतापी प्रभापटल से मेरा सम्पूर्ण अन्त:करण ज्ञानलोक से प्रकाशित हुआ एवं परमात्मा अवन्ती पार्श्वनाथ की अविनाशी आभा में, अवन्तिका में विजयादशमी (वि.सं. 2054) के दिन प्रारंभ हुआ यह शोध-प्रबंध राजेन्द्र उपाश्रय, इन्दौर में श्री वासुपूज्य स्वामी की शीतल छाया में प्रगति को प्राप्त हुआ, पुन: रुका, पुन: करेडा तीर्थ में पार्श्वनाथ प्रभु की कृपा से प्राप्तगति यह शोध-प्रबंध फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी, वि.सं. 2059 को श्री थीरपुर/थराद तीर्थ में उन्हीं पावन परमात्मा श्री गोडीजी पार्श्वनाथ की छत्रछाया में साजीजी (गोरजी) के उपाश्रय में पूर्ण हुआ।

यद्यपि '**श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि**।' यह एक सूक्ति है, परन्तु '**गुरुकृपा हि बलीयसी**' उक्ति के अनुसार जहाँ गुरुजनों का आशीर्वाद हो वहाँ सभी विघ्न शान्त हो जाते हैं और तदनुसार ही अनेक विघ्न आने पर भी यह कार्य सुचारु रुप से सम्पन्न हो गया। मैं कृतज्ञ हूँ कोशकर्ता विश्वपूज्य गुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की; जिनके असीम आशीर्वाद, अदृश्य मार्गदर्शन एवं अद्भूत सान्निध्य से मुझे राजेन्द्र कोश की गहन अगम्य शास्त्रीय बातें उनके स्मरणमात्र से समझ में आने लगी।

मैं कृतज्ञ हूँ मेरे संयमदाता प.पू. गुरुदेव राष्ट्रसंत वर्तमानाचार्य किन्तु आजीवन विद्यार्थी, ज्ञानालोक के तेजस्वी सूर्य, साहित्यमनीषी श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा.-'मधुकर' की, जिन्होने मुझे आज्ञा, आशीर्वाद एवं अध्ययन हेतु अनूकूलताएँ उपलब्ध करायी।

साथ ही मैं नतमस्तक हूँ मेरी गुरुमाता सरलमना तपस्विनी साध्वीवर्या प.पू. शशिकलाश्री महाराज की जिन्होने शिष्यामोह को छोडकर अध्ययन में स्थिरता हेतु मुझे दूर-दराज क्षेत्रों में चातुर्मास की आज्ञा प्रदान की, प.पू. गुरुवर्याश्री ने मेरी लक्ष्यप्राप्ति में मुझे पूर्ण आशीर्वाद के साथ सफलता प्रदान करायी।

इसके साथ ही मेरी अनुगामीनी साध्वी चिन्तनकलाश्रीजी एवं मुमुक्षु कु. संगीता जैनने भी इस शोधग्रन्थ निर्माण में मुझे अतीव सहयोग किया एतदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं आभारी हूँ इस शोध-प्रबंध के निर्देशक डॉ. हर्षदराय धोलकियाजी की, जिन्होने मुझे इस शोध प्रबंध में यथा समय यथायोग्य मार्गदर्शन दिया, इतना ही नहीं मेरे साध्वीजीवन की मर्यादाओं को ध्यान में रखते मुझे कभी किसी भी प्रकार से व्याकुल नहीं होने दिया।

विषयवचन, उसकी उपादेयता आदि के विषय में जो मार्गदर्शन अपेक्षित था, प्रो. कु.बी. वाय. ललिताम्बा, विभागाध्यक्ष, तुलनात्मकभाषा एवं संस्कृति अध्ययन शाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर ने मुझे सदा मार्गदर्शन देते हुए प्रोत्साहित किया जिसका परिणाम यह शोध-प्रबंध है। मैं हृदय से प्रो. कु.बी. वाय. ललिताम्बा के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

ज्ञानलोक की इस अलौकिक यात्रा में मैं इन्हे नहीं भूल सकती - स्व. श्रीमती कंकुबेन बोहरा, (अध्यापिका - श्रीधनचंद्रसूरि जैन पाठशाला, थराद) एवं श्रीमती अ.सौ. रसीला बेन संघवी (सांसारिक बुआ) को, जिन्होने मुझ अज्ञानी को धार्मिक अध्ययन हेतु प्रोत्साहित किया एवं मेरे अध्यात्मज्ञान का द्वारोद्घाटन कराया। साथ ही पूज्य दादी साहिबा स्व. वीराबहन दोशी, स्व. ताराबहन दोशी, पू. दादा जी स्व. मफतलाल दोशी, स्व. पूज्य पिताश्री चन्दुलालजी दोशी एवं मातृश्री श्रीमती सविताबेन दोशी आदि समस्त परिवार - जिनकी सदैव एक ही भावना रही - 'ज्ञान-ध्यान-तप-त्याग में आगे बढकर संघ-शासन-गुरुगच्छ की प्रभावना के उत्तमोत्तम कार्य करें एवं हमारे कुल-वंश का गौरव बढाते हुए कुलदीपिका बन शासनप्रभाविका बने।'

अभिधान राजेन्द्र कोश पर आधृत इस शोध-प्रबंध की पूर्णाहुति की इस अवधि मे मैं अभारी हूं मुझे इसके योग्य बनाने वाले श्री रतिभाई (अहमदाबाद), श्री दिनेशभाई (अहमदाबाद), श्री मदनलालजी जोशी एवं श्री कांतिलालजी पण्डया (मंदसौर, म.प्र.), डॉ. विनायक पाण्डे (इन्दौर), डॉ. नरेन्द्र धाकड (इन्दौर), श्री किरीट भाई (वर्तमान में मुनि श्री प्रशमेशप्रभ विजयजी एवं कु. विमलाबेन (वर्तमान में साध्वी विद्वद्गुणाश्रीजी), आदि विद्वद्वर्ग स्वर्णाभि नक्षत्रपुञ्ज को जिन्होने मेरे अज्ञान को दूरकर मुझे ज्ञान प्राप्ति करायी।

मैं सविशेष कृतज्ञ हुं डॉ. गजेन्द्र कुमार जी जैन सा. के प्रति, जिनके अविरतश्रम, साहस, सरलता, समयबद्धता, सहनशीलता, सहजता, समता, क्षमता एवं ज्ञानातिशयपूर्वक विशिष्ट योगदान के बिना यह शोध-प्रबंध की पूर्णाहुति असंभव सी थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं आभारी हूं श्री अभयसागरजी जैन ज्ञान भंडार (इन्दौर) एवं मुनिराज श्री अनुपम सागरजी म.सा.की जिन्होने मुझे शोध-प्रबंध हेतु समस्त साहित्य उपलब्ध कराया।

श्री राजेन्द्र उपाश्रय-जुनी कसेरा बाखल एवं गुमास्ता नगर के त्रिस्तुतिक जैन श्री संघ-इन्दौर के श्रावक-श्राविकाएँ एवं श्री राजेन्द्र महिला मण्डल, इन्दौर तथा श्रीमती रेखा मेहता, इन्दौर को मैं सविशेष आभारी हुं जिन्होने मेरे इन्दौर के अध्ययनकाल में उनकी विपरीत परिस्थितियों में भी मेरे स्वास्थ्य एवं आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए वैयावृत्त्य का पूरापूरा लाभ उठाया एवं इस ज्ञानार्जन में संपूर्ण सहयोगी बनी रही।

साधु के जीवन में श्रीसंघ के सहयोग के बिना मुनिजीवन की मर्यादानुरुप साध्वाचार का पालन करते हुए व्यवहारिक अध्ययन और अभिधान राजेन्द्र कोश जैसे विश्वकोश, एक जैनागम कोश पर शोध-प्रबंध लिखना कथमपि संभव नहीं। तद्हेतु सहयोगी थराद, अहमदाबाद, सुरत, मुम्बई, राजगढ, मंदसौर, धार, इन्दौर, बडनगर, आलोट, महिंदपुर सीटी, उज्जैन (नयापुरा), रतलाम, पिपलोदा, दसाई, निम्बाहेडा. कुक्षी, के श्रीसौधर्म बृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताम्बर श्री संघ, एवं उन श्रीसंघो के गुरुभक्त श्रुतप्रेमी सुश्रावकगण श्री इन्द्रमलजी, धरमचंदजी, सोहनलालजी पारीख, सुरेन्द्रजी लोढा, देवेन्द्रजी चपरोत, मनोहरलालजी पुराणिक, यतीन्द्रजी, हेमंन्तजी, मुकेशजी जैन, संजयजी डुंगरवाल, प्रकाशजी डुंगरवाल, रसिकभाई दोशी, भावीनभाई, महेन्द्रभाई, प्रो. एम.एल. सुराणा, समरथमलजी जैन, डॉ. एम.पी. त्रिपाठी, अहमदाबाद स्थित श्री सेवंतीभाई वोरा (सरकार), श्री जीगरभाई संघवी आदि - ख्यातनाम-ज्ञातनाम, अज्ञातनाम प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग करनेवाले सभी सज्जनगण धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्तर्बाह्यत: शोभन ज्ञाननिधि के द्वार का उद्घाटन होने पर ही वह किसी के लिए कार्यकारी हो सकती है। इस शोध प्रबन्ध का पौद्गलिक स्वरुप सम्भव हो सका है कम्प्यूटर पर प्राकृत संस्कृत-गुजराती-इंग्लिश मिश्रित वर्णसंयोजन से, सचित्रकरण से और सजिल्दीकरण से। देव ग्राफिक्स, अहमदाबाद के संचालक श्री तपन शाहने सम्पूर्ण शोधप्रबन्ध का वर्तमान ग्रन्थ स्वरुप में जितना सुन्दर और यथासम्भव त्रुटिरहित वर्णसंयोजन किया, मैं आप को हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ, एवं श्री बकुल संघवी(अहमदाबाद)ने इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य पूर्ण कीया यह भी अभिनंदनपात्र है।

श्री थराद त्रिस्तुतिक जैन संघ-मुंबई (थरादवाला)ने इस ग्रन्थ-रत्न का प्रकाशन कराकर श्रुतभक्ति का सुंदर लाभ लिया एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

ज्ञानपंचमी वि.सं. 2061
बाग (जि. धार) म.प्र.

शोधाध्येत्री
साध्वी डॉ. दर्शितकला

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

अभिधान राजेन्द्र एक 'विश्वकोश' के स्वरुप का ग्रंथरत्न है। इसमें अर्धमागधी प्राकृत भाषा के शब्दों की विस्तृत व्याख्या दी गई है। अर्धमागधी भगवान महावीर के समय जनसामान्य की भाषा थी। इसलिये उस समय अर्थ समझने में अतिरिक्त परिश्रम नहीं करना पडता था। परन्तु बारहवीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश और फिर धीरे-धीरे क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हो गया, इसलिये अर्धमागधी अथवा किसी भी प्राकृत भाषाकी रचनाओं को समझना कठिन हो गया। क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के साथ शब्दों के स्वरुप में भी परिवर्तन हुआ परन्तु आचारपरक अथवा सैद्धान्तिक शब्दावली रुढ हो जाने से और उनका विशेष अर्थ होने से कोशग्रंथो की सहायता के बिना समझना अत्यन्त कठिन है। यह निश्चित है कि सिद्धांतों का व्यवहारिक प्रयोग होना चाहिए, इसलिए आचारपरक ज्ञान और व्याख्या आवश्यक है। इसलिए 'अभिधान राजेन्द्र' कोश में यों तो सभी शब्दों का समान रुप से संकलन किया गया है और फिर उनकी व्याख्या भी दी गई है, फिर भी प्राचीन जैन साहित्य केअर्धमागधीमय होने से जैनधर्म और जैनदर्शन के शब्द अर्धमागधीमय होने से और परमर्षि आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के जैन श्रमण परंपरा से सम्बद्ध होने से जैन धर्म और जैन दर्शन का कोई भी विषय उनसे छूट नहीं पाया। चाहे वह सैद्धान्तिक विमर्श हो, ऐतिहासिक संदर्भ हो अथवा आचरण विज्ञान जैसा शुद्ध व्यवहारिक दार्शनिक विषय हो; आचार्य की व्यापक दृष्टि में सभी प्रत्यक्ष होते दिखाई देते हैं। इसलिए हमने यहां 'अभिधान राजेन्द्र कोश' को आधार ग्रंथ के रुप में लिया है। इतिहासकारों के अनुसार श्रमण परंपरा प्राग्वैदिक काल के 'इन्डो ईरानियन' कालखण्ड से प्रचलित है। वेदों में भी श्रमण संस्कृत से सम्बद्ध अनेक शब्द प्राप्त होते हैं, जैसे - श्रमण, अर्हत् इत्यादि। 'श्रमण' शब्द स्वयं ही आचार का बोधक है, अर्थात् श्रमण परम्परा आचारप्रधान परम्परा है। इसका अर्थ है: 'तप रुप श्रम के द्वारा आत्मा के छिपे हुए गुणों का विकास करना।' तप की विधियां स्पष्ट करने के लिये श्रमण परम्परा की एक विशेष शब्दावली है। चाहे सैद्धांतिक पक्ष हो या आचार पक्ष हो, दोनों में ही ऐसे शब्दों की शृंखला है, जिनकी व्याख्या संस्कृत अथवा प्राकृत आदि व्याकरणों अथवा साधारण कोशग्रंथों के माध्यम से नहीं समझाई जा सकती। इसके लिये उस परंपरा के ऋषियों द्वारा, विद्वानों द्वारा रचित कोशग्रंथो की सहायता लेनी पडती हैं।

सम्बद्ध विषय पर अद्यावधि हुए कार्य का पुनरवलोकन -

अभिधान राजेन्द्र कोश की दार्शनिक शब्दावली पर अभी तक कोई कार्य हुआ हो - ऐसा जानने में नहीं आया है। यद्यपि राजेन्द्रकोश में 'अ' शीर्षक से 'अ' वर्ण के अन्तर्गत वर्णित सिद्धान्तों से सम्बन्धित कुछ दृष्टान्त कथाओं का संकलन वर्तमानाचार्य राष्ट्रसन्त श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज द्वारा दो भागों में प्रस्तुत किया गया है।

उद्देश्य एवं लक्ष्य -

श्रमण परम्परा अपनी आभ्यंतर शुद्धि के माध्यम से बाह्य विकारों को नष्ट कर आत्मा की चरम उत्कर्ष की अवस्था को प्राप्त करानेवाली पद्धति का पर्याय है। सैद्धान्तिक पक्ष यदि व्यवहारिक रुप में सफल नहीं होता तो उपदेश के कुछ समय बाद वह प्रचलन से बाहर हो जाता है, परन्तु जैन दर्शन का व्यवहारिक पक्ष जैन आचार विज्ञान आज भी भारतवर्ष में श्रमण परंपरा के भिन्न-भिन्न संप्रदायों के रुप में जीवित है। आज के व्यस्ततम जीवन में भोगवाद के बढते प्रभाव में संस्कारयोग्य वय के बालकों को, युवाओं को और यहां तक कि वृद्धों को भी आचार विज्ञान एवं सिद्धांत भाग की घुट्टी पिलाना अति दुष्कर कार्य है, परन्तु सिद्धांतों के अनुरुप आत्मशुद्धि के लिये जैन आचार-विचार का पालन करने का उपदेश करना और सभी अवस्थाओं के जनों में सम्मान, प्रेरणा, पुरस्कार, आत्मिक सुखानुभव आदि के माध्यम से उसे सहज ही प्रचारित किया जा सकता है। इसके लिये आवश्यक है कि आचारपरक शब्दावली का सांगोपांग विवेचन किया जाये।

अभी तक इस प्रकार का कोई ग्रन्थ देखने को नहीं मिला, यद्यपि 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में कदम-कदम पर इसका दर्शन होता है। इन शब्दों को एकत्र संकलित कर आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की दिव्य दृष्टि से प्राप्त अर्थ और अन्य लेखकों की दृष्टि में उनकी विशेषता और भेद स्पष्ट करने का लक्ष्य रखकर 'अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन' नामक शीर्षक के अन्तर्गत समग्र कार्य को निम्नलिखित उद्देश्यों के साथ प्रस्तुत करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था-

(1) जैनपरंपरा की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का एकत्र संकलन एवं वर्गीकरण करना,
(2) उपर्युक्त शब्दावली का व्युत्पत्ति एवं निरुक्तिमूलक अर्थ प्रस्तुत करना
(3) उपर्युक्त शब्दावली के बारे में अन्य कोशग्रंथों एवं जैन साहित्य में दिये गये अर्थों का तुलनात्मक स्वरुप एवं समीक्षा प्रस्तुत करना, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(4) जैन परंपरा के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में आचार की सूक्ष्म भिन्नता को रेखांकित करना।

विषयवस्तु एवं विधि -

जैन परंपरा के आचारपरक दार्शनिक शब्दों का एक क्रियाविशेष के साथ या पदार्थ विशेष के साथ वाच्य-वाचक संबंधी है। जैसे, किसी भी तप करनेवाले को 'श्रमण' नहीं कहा जा सकता, परन्तु जैन परंपरा में दीक्षित होकर उसकी विधियों के साथ आत्मविशुद्धि के लिये तप करनेवाले साधु को ही 'श्रमण' कहा जा सकता है, उसी प्रकार यद्यपि सामान्य निर्वचन होने पर किसी सामान्य पदार्थ का बोध हो सकता है, परन्तु जैन परम्परा में उनका विशेष अर्थ होता है। उस विशेष अर्थ को स्पष्ट करने के लिये साधारण अर्थों के साथ उनकी तुलना करने के लिये जैन आगम ग्रन्थ, जैन कोश ग्रन्थ एवं संस्कृत प्राकृत कोश ग्रन्थ, तथा अन्य दर्शनों के आचार सम्बन्धी ग्रन्थ, समीक्षा ग्रन्थ, शोध प्रबन्ध संबंधित पत्र पत्रिकाएँ आदि सामग्री के रुप में शोध प्रबन्ध संबंधी इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये ली गयी। इसके साथ ही प्रसंगानुसार अभिधान राजेन्द्र कोश में संदर्भ के रुप में संकेतित संदर्भ ग्रंथों का मूल रुप में देखकर प्रत्यक्ष प्रमाणीकरण किया गया।

सर्वप्रथम अभिधान राजेन्द्र कोश में से आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का ससंदर्भ संकलन किया गया। तत्पश्चात् इस शब्दावली को जैन सिद्धांतो के आधार पर वर्गीकृत किया गया। यह वर्गीकृत शब्दावली विषयशः अध्यायों में व्यवस्थित की गयी एवं एकवाक्यता का ध्यान रखते हुए प्रत्येक सिद्धान्त का निर्वचन, निरुक्ति, परिभाषा, लक्षण आदि के रुप में किये गये विवेचन को प्रस्तुत करते हुए जैन परंपरा के अन्य कोश ग्रंथों, आगम ग्रंथों एवं समीक्षा ग्रंथों के साथ तुलनात्मक समीक्षा की गयी। जैन परम्परा से भिन्न ब्राह्मण परम्परा अथवा बौद्ध परम्परा में उस शब्द के वाच्य पदार्थ के बारे में जो जो विशेषताएँ प्राप्त हुई उन वाच्यपदार्थों के साथ तुलनात्मक समीक्षा की गयी।

समग्र सामग्री का अनुशीलन जैन दर्शन के आचार विज्ञान की दृष्टि से किया गया एवं उसी आधार पर समग्र विषयवस्तु को विभाजित करके शोधप्रबन्ध के रुप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसकी संक्षिप्त रुप रेखा निम्न प्रकार से है :-

प्रथम परिच्छेद : आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

द्वितीय परिच्छेद :

1. जैन कोशपरम्परा
2. कोश साहित्य और अभिधान राजेन्द्र कोश
3. अभिधान राजेन्द्र कोश की उपादेयता
   - क. पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में
   - ख. भारतीय विद्वानों की दृष्टि में
   - ग. शोध अध्येताओं की दृष्टि में
   - घ. सन्तों की दृष्टि में
4. अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना का उद्देश्य एवं पृष्ठभूमि
5. अभिधान राजेन्द्र कोश का रचनाकाल एवं स्थान
6. अभिधान राजेन्द्र कोश : विषयवस्तु का वर्गीकरण एवं शैली
7. अभिधान राजेन्द्र कोश : स्वरुप एवं प्रकाशन

तृतीय परिच्छेद : अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली का परिचय

1. साहित्यिक शब्दावली
2. सांस्कृतिक शब्दावली
3. राजनैतिक शब्दावली
4. दार्शनिक शब्दावली

चतुर्थ परिच्छेद : आचारपरक शब्दावली का आकलन एवं अनुशीलन

क. साधुपरक शब्दावली

1. जैनधर्म का उद्देश्य एवं लक्ष्य
2. जैनधर्म में मुक्ति का मार्ग : सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र
3. चारित्र का सैद्धान्तिक पक्ष
4. गुणस्थान
5. मुनियों की आचारपरक शब्दावली का समीक्षण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ख. श्रावकपरक शब्दावली

1. मुनि एवं गृहस्थ के आचार में मौलिक अन्तर
2. श्रावकों के आचार में सापेक्ष स्थूलता
3. श्रावाकाचार की दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन

पञ्चम परिच्छेद : आचारपरक शब्दावली के वाच्यार्थ का विस्तार

1. श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार
2. दिगम्बर परम्परा और जैनाचार
3. ब्राह्मण परम्परा और जैनाचार
4. बौद्ध परम्परा और जैनाचार
5. इतर परम्परा और जैनाचार

षष्ठ परिच्छेद : आचारपरक शब्दावली में निहित कथाएँ एवं सूक्तियाँ

1. अभिधान राजेन्द्र में अनुस्यूत आचारपरक कहानियाँ
2. अभिधान राजेन्द्र में अनुस्यूत आचारपरक सूक्तियाँ

सप्तम परिच्छेद : उपसंहार

परिशिष्ट

1. अभिधान राजेन्द्र कोश मुद्रित प्रति का प्रथम पृष्ठ एवं अंतिम पृष्ठ
2. त्रिस्तुतिक सिद्धांतोपदेश : शास्त्रीय प्रमाण
3. सहायक सन्दर्भग्रन्थ सूची

शोध-योजना का परिणाम:-

अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन करने से उन सभी तथ्यों का स्पष्टीकरण हमें प्राप्त हो सकेगा जो कि जैनों के आचरण की पवित्रता और वैज्ञानिक पद्धति को स्पष्ट करते हैं। इससे उन विधियों का भी स्पष्टीकरण हो जायेगा जौ जैनों की विभिन्न शाखाओं में प्रचलित हैं।

यद्यपि अभिधान राजेन्द्र कोश ज्ञानपयोनिधि है। शोध-प्रबंध की सीमा एवं मर्यादा में रहकर मैंने आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अध्ययन एवं अनुशीलन किया, साथ ही कोशकार का एवं कोश का परिचय देने के पश्चात् जिज्ञासुओं के लिए अभिधान राजेन्दर कोश के दार्शनिक आदि अन्य शब्दावलियों के भी आस्वाद दिलाने का प्रयास किया है। यद्यपि शोध-प्रबंध की सीमा के कारण विस्तार नहीं हो पाया है। यह शोध-प्रबंध विस्तृत लग रहा है जबकि इसे अतिसंक्षिप्त रखने का प्रयास किया गया है। **प्रायः मैने आचारपरक दार्शनिक शब्दावली के सभी मुख्य शब्दों को स्पर्श किया है एवं यथायोग्य स्थान देने का प्रयत्न किया है, फिर भी शोध-प्रबंध की मर्यादा के कारण संक्षेप में संकेत ही किया जा सका है; जिज्ञासुओं के लिये अपनी ज्ञानपिपासा की संतुष्टि हेतु अभिधान राजेन्द्र कोश का मंथन करणीय है तथापि संस्कृत-प्राकृत से अनभिज्ञ लोगों के लिए तो सात समुद्रसम राजेन्द्र कोश के आस्वाद हेतु यह अमृतकुंभ है। मैं धन्य हूँ जो मुझे इस शोध-प्रबंध के नाते परम पावन, विश्वपूज्य ज्ञानपयोनिधि गुरुदेवश्री के देदीप्यमान ज्ञानवपुः के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।**

ज्ञानपंचमी वि.सं. 2061
बाग (जि. धार) म.प्र.

• ज्ञानामृतरसास्वादशीला
- गुरुदेव चरणरेणु
साध्वी दर्शितकलाश्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुशंसा

इस शोध-प्रबन्ध में अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली का आचारपरक दार्शनिक अध्ययन किया गया हैं। उपसंहार सहित यह शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विन्यस्त हैं। इसमें अपेक्षित उद्देश्यों की पूर्ति में 1-आचारपरक शब्दों का विषयक्रम से संकलन और वर्गीकरण किया गया है। 2-शब्दों की व्युत्पत्ति और निरुक्ति प्रस्तुत की गई है। 3-शब्दों की अन्य कोशग्रन्थों से तुलना की गई है। 4-विभिन्न जैन परम्परा से सम्बद्ध सम्प्रदायों की भिन्नता आरोपित की गई है।

इस शोध प्रबन्ध के अध्यायों का विभाजन परिच्छेद के नाम से किया गया है। प्रथम परिच्छेद में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के जीवन और कर्तृत्व का निरुपण है। द्वितीय परिच्छेद में कोश साहित्य और अभिधान राजेन्द्र कोश का परिचय दिया गया है। तृतीय परिच्छेद में अभिधान राजेन्द्र कोश की साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और दार्शनिक शब्दावली का परिचय दिया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में आचारपरक शब्दावली का आकलन और अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। आचारपरक शब्दावली का साधु और श्रावक की दृष्टि से द्विधा विभाजन किया गया है। पञ्चम परिच्छेद में आचारपरक शब्दावली के वाच्यार्थ का विस्तार है। इसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर इन दोनों जैन परम्परा एवं ब्राह्मण , बौद्ध और इतर परम्परा में जैनाचारों के अन्त: सम्बन्धो का निरुपण है। षष्ठ परिच्छेद में आचारपरक शब्दावलियों में निहित कथाओं और सूक्तियों का निरुपण किया गया है एवं सप्तम अध्याय में उपसंहार किया गया है।

शोध-प्रबन्ध में 'अभिधान राजेन्द्र' की शब्दावलियों के अनुशीलन में जैनाचार की महत्ता और दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन से यह तथ्य विषयों का पर्याप्त ज्ञान है। लगभग 700 पृष्ठों में इस शोध-प्रबन्ध को सघन और त्रुटिरहित शब्दों में प्रस्तुत किया गया है। अभी तक इस प्रकार का कार्य हमें देखने को नहीं मिला। इससे जिज्ञासुओं और विद्वानों को अत्यन्त लाभ होगा। उत्तम शोध-प्रबन्ध की रचना करनेवाली शोधकर्त्री तथा उनके निर्देशक अवश्य ही बधाई के पात्र है। इस शोध प्रबन्ध का प्रकाशन और वितरण अवश्य ही अध्येताओं के लिए महनीय उपयोगी होगा। इसे सद्य और समुचित प्रकाशन करवाने की मेरी दृढ अनुशंसा है।

दि. 22-4-2005

प्रो. – रहसबिहारी द्विवेदी-संस्कृत विभाग
(रानी दुर्गावती वि.वि.-जबलपुर)

●

साध्वी दर्शितकलाश्री द्वारा 'अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन' - नाम से प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का मैंने अवलोकन किया। यह शोधप्रबन्ध नूतन दृष्टिकोण से ओतप्रोत है। सात परिच्छेदों में प्रस्तुत इस शोधप्रबन्ध में अनुसन्धात्रीने आचार्य श्री राजेन्द्रसूरिजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व तथा कोश-परम्परा की उपयोगी प्रासङ्गिक चर्चा की है तथा फिर चतुर्थ से षष्ठ अध्यायों में आचारपरक शब्दावली का विवेचन किया है। इन अध्यायों में जैनाचार का कोई पक्ष नहीं छूटा है, सामान्यत: सभी पक्षों/बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय में अभिधान राजेन्द्र कोश की साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं दार्शनिक शब्दावली का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। शोधप्रबन्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण चतुर्थ परिच्छेद है, जिसमें साध्वाचार एवं श्रावकाचार के आचार संबंधी सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। पंचम अध्याय में अन्य परम्पराओं के साथ जैन परम्परा के आचार की तुलना भी महत्त्वपूर्ण है।

अभिधान राजेन्द्र कोश अपने आपमें महत्त्वपूर्ण कृति है, जो प्राकृत एवं संस्कृत में निबद्ध है। साध्वी दर्शितकलाने उसके हार्द को हिन्दी भाषा में समझाने का सफल प्रयास करते हुए अन्य ग्रन्थों का भी उपयोग किया है। शोधाध्येत्री के श्रम, शोधदृष्टि एवं विश्लेषणात्मक लेखन के आधार पर मैं मौखिक परीक्षा के अनन्तर पीएच.डी. उपाधि प्रदान किए जाने की संस्तुति करता हूँ।

प्रो. – धरमचंदजी जैन
(जोधपुर वि.वि.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशंसनीय पुरुषार्थ

साध्वी श्री दर्शितकलाश्रीजी द्वारा लिखित "अभिधान राजेन्द्रकोष की आचारपरक एवं दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन" नामक शोध प्रबन्ध का अवलोकन किया। अभिधान राजेन्द्रकोष जैन विद्या का एक विश्वकोष है। यह मूलतः प्राकृत और संस्कृत भाषा मे निबद्ध है और जैन धर्म दर्शन के सभी पक्षो को समाहित करता है।

पूज्य साध्वीजी ने उस जैन धर्मदर्शन के विश्वकोष रूप महाग्रन्थ का आलोडन - विलोडन कर उसकी आचारपरक एवं दार्शनिक शब्दावली पर यह शोध प्रबन्ध लिखा है। साध्वीजी यह प्रयास सराहनीय है, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने पर इसका लाभ उन सभी विद्वानजनो और जनसाधारण को होगा, जो प्राकृत और संस्कृत भाषाओ से अपरिचित है और इस महाकोश ग्रन्थ को पूजा की वस्तु मानकर संतोष कर लेते है। यह शोध प्रबन्ध अभिधान राजेन्द्र कोश की पदावली को तो अपना आधार बनाता ही है, किन्तु साथ ही उनकी विवेचना में एवं तुलनात्मक प्रस्तुती करण में समकालीन लेखको द्वारा रचित ग्रन्थों को भी भरपूर ससन्दर्भ उपयोग करता है। इस कृति में मेरे द्वारा लिखित जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनो का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का भी पर्याप्त रूप से ससन्दर्भ निर्देश हुआ है, इस प्रकार साध्वीजी का यह शोधप्रबन्ध जैन धर्मदर्शन की आचारपरक एवं दार्शनिक पदावली का एक सम्यक् तथा व्यापक अनुशीलन प्रस्तुत करता है। उनकी यह कृति जन-जन के अध्ययन का विषय बने उसी में उनके श्रम की सार्थकता है। मैं यह आशा करता हूं कि वे भविष्य में भी इस प्रकार के ग्रन्थो का सर्जन करते हुए जैन विद्या की सेवा करती रहेगी। इतिशुभम्।

प्रो. सागरमल जैन
संस्थापक एवं निर्देशक (प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर)

આવકાર

વિદુષી સાધ્વી ડૉ. દર્શિતકલાશ્રી લિખિત 'અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષ કી આચારપરક દાર્શનિક શબ્દાવલી કા અનુશીલન' ગ્રંથને આવકારતાં આનંદ અનુભવું છું. પ્રસ્તુત ગ્રંથ સાધ્વીજીનો પીએચ.ડી. પદવી માટેનો મહાનિબંધ છે. તેમાં ગત શતાબ્દીના એક પ્રતિભાશાળી શ્વેતામ્બરાચાર્ય સ્વનામધન્ય સ્વ. રાજેન્દ્રસૂરિજી દ્વારા સંકલિત પ્રસિદ્ધ 'અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ' માં પ્રાપ્ત આચારપરક દાર્શનિક શબ્દોનો વિશેષ અભ્યાસ કરવામાં આવ્યો છે.

૧૪ વર્ષના પરિશ્રમથી સાત ભાગમાં લગભગ ૯૫૦૦ પૃષ્ઠોમાં ૧૦૦ જેટલા ગ્રંથોના સારસંચય જેવો 'અભિધાન રાજેન્દ્ર કોષ' એક વિરાટ જૈન વિશ્વકોશ છે. નાનામોટા ૬૦,૦૦૦ શબ્દો અને લગભગ સાડાચાર લાખ શ્લોકના વિસ્તારની વ્યાખ્યા ધરાવતો આ કોશ જેમ તેના વિસ્તાર વિરાટ છે તેમ તેમાં આપેલા અઢળક પ્રાકૃત અને તેમના પર્યાયરૂપ સંસ્કૃત શબ્દોમાં અનેકવિધ વિષયોના નિરૂપણથી વિશિષ્ટ છે. જૈન ધર્મ, દર્શન, સંસ્કૃતિ, આચાર, નીતિ, પ્રાકૃત ભાષા-સાહિત્ય ઈત્યાદિ અનેક વિષયોના આમૂલ સંકલનથી જૈન સાહિત્યમાં અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશનું એક વિશેષ સ્થાન છે.

આવા બૃહત્કોશમાંથી તારવીને સાધ્વીજીએ પોતાના મહાનિબંધમાં જૈન પરંપરાની આચારપરક દાર્શનિક શબ્દાવલીનું સંકલન અને વર્ગીકરણ આધુનિક દૃષ્ટિએ કરી આપ્યું છે. સાથે સાથે જ સંગ્રહીત શબ્દોની યથાસ્થાન નિરુક્તિ અને વ્યુત્પત્તિ દ્વારા અર્થની સ્પષ્ટતા કરી આપી છે. આટલું જ નહીં, જૈનાચારના અહીં પ્રયુક્ત શબ્દોની તુલના અન્ય કોશોમાં પ્રાપ્ત થતા સમાન શબ્દો અને અર્થોની સાથે કરી તે તે શબ્દની ચર્ચા-સમીક્ષા કરી છે. ઉપરાંત આચારપરક શબ્દાવલીના વાચ્યાર્થનો વિસ્તાર દર્શાવી જૈન પરંપરાના ભિન્ન ભિન્ન સંપ્રદાયોમાં તે તે શબ્દના મળતા અર્થનો બોધ કરાવવાની સાથે બ્રાહ્મણ પરંપરા, બૌદ્ધ પરંપરા અને ઈતર ધાર્મિક પરંપરાઓ સાથે તુલના કરી અત્યંત મહત્ત્વપૂર્ણ અને રોચક માહિતી ઉપલબ્ધ કરાવી આપી છે.

અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ જેવા માહિતીના સાગરમાંથી સાધ્વીજીએ યોગ્ય રીતે જ આચારવિષયક શબ્દાવલી તારવી તેનું સમીક્ષાત્મક અધ્યયન કરી જૈન સાહિત્યમાં એક ઉત્તમ ગ્રંથનો ઉમેરો કર્યો છે.

- ડૉ. રમણીક શાહ
પૂર્વ-અધ્યક્ષ, પ્રાકૃત-પાલિ વિભાગ,
(ગુજરાત યુનિવર્સિટી, અમદાવાદ)

૪૪/૪૫૧, ગ્રીનપાર્ક એપાર્ટમેન્ટ,
સોલારોડ, નારણપુરા, અમદાવાદ-૧૩

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

સર્વગ્રાહી અધ્યયન

જુદા જુદા સ્થાનેથી આવતી અનેક સરિતા એકઠી થઈને વિરાટ મહાસાગર રચાય છે. તેવી રીતે અનેક ધર્મદર્શન અને આધ્યાત્મિક ગ્રંથોના ગહન અધ્યયન પછી આચાર્ય શ્રીમદ્વિજય રાજેન્દ્રસૂરિજી મહારાજે 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર બૃહદ્ વિશ્વકોશ' જેવા આગમગ્રંથોના નવનીતના મહાસાગરની રચના કરી છે. આ પ્રજ્ઞાસાગરમાં સમાયેલી પ્રત્યેક જ્ઞાનનદીનું આગવું સૌંદર્ય છે અને તેથી જ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરિજી મહારાજે રચેલા 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર બૃહદ્ વિશ્વકોશ' વિશે જુદા જુદા અભિગમથી અભ્યાસ અને અધ્યયન થતા રહ્યા છે અને થતા રહેશે. જૈન ધર્મનો આ મહાન કોશ એક વિરાટ પ્રતિભાના સ્વામીએ રચેલો જ્ઞાનનો કીર્તિસ્તંભ છે. જ્ઞાનની મુખ્યતા ધરાવતા જૈન ધર્મ માટે તો 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર બૃહદ્ વિશ્વકોશ' એ એની વિશિષ્ટ એવી ધાર્મિક, આગમિક, આધ્યાત્મિક અને સાહિત્યિક રચના છે.

છેલ્લા વીસ વર્ષથી ગુજરાતી ભાષામાં સર્વસંગ્રાહક વિશ્વકોશ (જનરલ એન્સાઇક્લોપિડીયા)ની રચનાના કાર્યમાં હું જોડાયેલો છું અને આ કેવુ ભગીરથ કાર્ય છે એનો મને સાક્ષાત્ અનુભવ છે. જ્યારે પૂજ્ય શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજે કરેલો આ શાસ્ત્રજ્ઞાનનો પુરુષાર્થ જોઉં છું ત્યારે ઊંડુ આશ્ચર્ય અનુભવું છું.

આ જ્ઞાનના મહાસાગરમાંની એક નદી એટલે સાધ્વી ડૉ. દર્શિતકલાશ્રીજીએ પીએચ.ડી.ની ઉપાધિ માટે લખેલો "શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ કી આચારપરક દાર્શનિક શબ્દાવલી કા અનુશીલન" નામનો મહાનિબંધ. આ મહાનિબંધની વિશેષતા એ છે કે એમાં આપેલી દાર્શનિક શબ્દાવલી વિશે મૂળગામી અને વિસ્તૃત ચર્ચા કરી છે. સમસ્ત આગમોના સંગ્રહરૂપ અભિધાન રાજેન્દ્ર બૃહદ્ વિશ્વકોશના ગ્રંથોના કુલ ૯૪૩૭ પૃષ્ઠોમાંથી આની પસંદગી કરવામાં આવી છે. આમાં અન્ય દર્શનો સાથેની તુલના પણ આપવામાં આવી છે અને એ રીતે આ ગ્રંથ એક વ્યાપક અને મૂળગામી આચારપરક દાર્શનિક શબ્દાવલી આપવાની સાથોસાથ એની તુલનાત્મક ચર્ચા પણ કરે છે. જેમ કે વિશ્વના વિવિધ દર્શનોમાં સમ્યક્દર્શન, સમ્યક્જ્ઞાન, સમ્યક્ચારિત્રની સ્વીકૃતિનું કયું સ્વરૂપ છે એ પણ દર્શાવ્યું છે. આ ઉપરાંત આચારપરક શબ્દાવલીમાં આવતી કહાનીઓ અને સૂક્તિઓ પણ દર્શાવીને એક સમગ્રતયા અભ્યાસ અહીં જોવા મળે છે. એવી ઈચ્છા જાગે છે કે શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્રકોશના મહાસાગરમાંથી હજી બીજા ઘણાં મોતીનાં તેજ સાધ્વી ડૉ. દર્શિતકલાશ્રીજી મહાસતીજી પાસેથી આપણને પ્રાપ્ત થતા રહેશે જેથી એ વિરાટ વિભૂતિના શાસ્ત્રીય મહાપ્રયત્નની ઝાંખી મળતી રહે.

- પદ્મ શ્રી ડૉ. કુમારપાળ દેસાઈ
પ્રમુખ - ગુજરાત સાહિત્ય પરિષદ (અમદાવાદ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

અહોભાગ્ય

વિશ્વપૂજ્ય પ્રાતઃ સ્મરણીય દાદા ગુરુદેવ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.સાહેબે આત્મલક્ષી-મોક્ષમાર્ગી એવા જૈનધર્મના શબ્દોનો વિશાળ સંગ્રહ કરી "શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ"ની રચના કરી. શાસ્ત્રો અને સિદ્ધાંતોના ઉંડા તલસ્પર્શી અભ્યાસના પ્રભાવે ૬૩ વર્ષની જૈફ ઉંમરે સતત ૪૮૬૩ દિવસ અવિરત પરિશ્રમ કરી, એક અભિધાન સ્વરુપ વિશ્વપ્રસિદ્ધ, વિશ્વ વિખ્યાત, અદ્વિતીય એવા એક મહાન કોશ "શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ"ને તૈયાર કર્યો. આ કોષ અર્ધમાગધી-પ્રાકૃત-સંસ્કૃત ભાષામાં રચાયેલો છે. સંવત ૧૯૪૬ થી સંવત ૧૯૬૦ સુધી આ કોશ માટે સતત કાર્ય ચાલતું રહ્યું. આ કોશ, મહાન પંડિતો અને અભ્યાસીઓ માટે જૈન સિદ્ધાંતોના અનેક વિષયોનો ઉકેલ છે. આવા દાદા ગુરુદેવ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મ.સા.નું શાસન ૧૫૦ વર્ષ કરતા પણ વધુ વર્ષોથી તપી રહ્યું છે... અને તપતું રહેશે.

વિશ્વના આ મહાન ગ્રંથરાજમાં અનેક અતિદુર્લભ રહસ્યો છુપાયેલા છે. પૂ.સાધ્વીજી શ્રી દર્શિતકલાશ્રીજી મ.સાહેબને પોતાના ગુરુ દ્વારા રચિત શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ ઉપર વધુ અભ્યાસ કરવાની ઈચ્છા થઈ. ૫ વર્ષથી પણ વધુ વર્ષ સુધી તેઓએ શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ ઉપર ઊંડાણપૂર્વક સંશોધન કરી પીએચ.ડી.(ડૉક્ટરેટ ઓફ ફીલોસોફી) ની ઉપાધી મેળવી. તેઓએ શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશના કેટલાક મોતી સ્વરુપ શબ્દોને પસંદ કરી "अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन" નામનો વિસ્તૃત મહાનિબંધ તૈયાર કર્યો. ખાસ નોંધનિય છે કે આ મહાનિબંધ રાષ્ટ્રભાષા હિન્દીમાં તૈયાર કર્યો.

સંવત ૨૦૬૩ એ પૂજ્ય ગુરુદેવનું સ્વર્ગારોહણ શતાબ્દી વર્ષ છે. આ વર્ષ સમગ્ર ત્રિસ્તુતિક જૈન સંઘમાં ભારે ઉલ્લાહપૂર્વક ઉજવાઈ રહ્યું છે ત્યારે સાધ્વીજી શ્રી દર્શિતકલાશ્રીજી મ.સા.ને ગુરુદેવ તથા શ્રી રાજેન્દ્રકોશને અનુલક્ષી એક પુસ્તક તૈયાર કરવાની ભાવના થઈ. તેઓશ્રીએ પોતાની પીએચ.ડી દરમ્યાન તૈયાર કરેલ મહાનિબંધને પુસ્તક રૂપે પ્રકાશન કરવાની વર્તમાનાચાર્ય રાષ્ટ્રસંત શ્રીમદ્ વિજય જયંતસેનસૂરીશ્વરજી મ.સા. આગળ ઈચ્છા પ્રગટ કરી. શતાબ્દીવર્ષની ઉજવણી પ્રસંગે જ આવા માહિતીસભર પુસ્તકનું વિમોચન થાય તેવા આશયથી પૂજ્ય આચાર્ય શ્રીમદ્ વિજય જયંતસેનસૂરીશ્વરજી મ.સાહેબે પોતાના આજ્ઞાનુવર્તી પ્રશિષ્યા સાધ્વીજી શ્રી દર્શિતકલાશ્રીજીને પ્રકાશન કરવાની અનુમતિ પ્રદાન કરી.

આચાર્ય શ્રીના આશિર્વાદ મળતાં જ સાધ્વીજી શ્રી દર્શિતકલા મ.સાહેબે પુસ્તકને પ્રકાશન કરવાની તૈયારી શરૂ કરી. આ પુસ્તકના પ્રકાશન હેતુ તેઓએ પુસ્તકના કોમ્પ્યુટર એન્ટ્રી તથા પ્રકાશન કરાવવાની જવાબદારી અમોને સોંપી. ગુરૂભક્તિ કહીએ કે ગુરૂપ્રેરણા... આવું પડકારરૂપ અને ભગીરથ કાર્ય મળતાંજ મન ઉલ્હાસિત થઈ ગયું. વર્ષોથી મનમાં ઈચ્છા હતી કે શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ ઉપર ગુજરાતી કે હિન્દી ભાષામાં સંશોધન થાય. સાધ્વીજી મ.સાહેબે પોતાની વર્ષોની મહેનત પછી તૈયાર કરેલા મહાનિબંધને પ્રકાશન રૂપે રજુ કરવાની અમે તૈયારીઓ શરૂ કરી. પૂજ્ય આચાર્ય ભગવંત તથા સાધ્વીજી મ.સા.ની સતત પ્રેરણાથી અમે આ કાર્ય સમયસર ચોકસાઈપૂર્વક પુરૂ કરવા કૃતનિશ્ચયી બન્યા.

શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશમાં છુપાયેલા અનેક બહુમૂલ્ય રત્નો પૈકી કેટલાક વધુ વિષયો ઉપર વધુ સંશોધન થાય, જેમ કે - (૧) અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશમાં આવેલી કથાઓ (૨) ઉપનય અને કથાઓ (૩) તીર્થોની ભાવયાત્રા તથા પરિચય (૪) રાજેન્દ્ર કોશમાં સમાયેલ ઐતિહાસિક શબ્દાવલીનું અનુશીલન (૫) રાજેન્દ્ર કોશમાં સમાયેલ જ્યોતિષપરક શબ્દાવલીનું અનુશીલન (૬) રાજેન્દ્રકોશમાં ગણધરવાદ (૭) રાજેન્દ્રકોશમાં તપપરક શબ્દાવલીનું અનુશીલન (૮) રાજેન્દ્રકોશમાં વ્યાકરણપરક શબ્દાવલીનું અનુશીલન (૯) નયવાદ. આવા સંશોધન થતા રહે અને તેમાં કોઈપણ સ્વરૂપે ગુરૂભક્તિ કરવાની તક મળતી રહે તેવી અપેક્ષા..

ફરી એક વખત... પૂ.સાધ્વીજી શ્રી દર્શિતકલાશ્રીજી મ.સાહેબે અમારામાં દ્રઢ વિશ્વાસ મૂક્યો અને શાસનનું કામ કરવાનું પ્રેરક બળ આપ્યું તે માટે અમો તેઓના ઋણી છીએ.

- વોરા સેવંતીભાઈ છોટાલાલ (સરકાર)
- સંઘવી જીગરભાઈ ભીખાલાલ
(અમદાવાદ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

विषयवस्तु	पृष्ठाङ्क
प्रथम परिच्छेद – आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	1
जीवन परिचय	2
जन्म स्थान एवं माता-पिता-परिवार, वंश: पारख परिवार की उत्पत्ति	2
जन्मविषयक निमित्तसूचक स्वप्नदर्शन, जन्म समय, व्यवहारिक शिक्षा	2
गृहस्थजीवनवृत्त:	2
यात्रा एवं विवाह विचार, व्यापार, वैराग्यभाव	2-3
साधुजीवनवृत्त:	3
दीक्षा, अध्ययन, बडी दीक्षा, अध्यापन	3
आचार्य पद पर आरोहण : पृष्ठभूमि और प्रक्रिया	3
क्रियोद्धार का बीजारोपण-अभिग्रह-पत्रिका	4-5
त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का महत्त्व एवं प्राचीनता	6
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि की गच्छपरम्परा	7
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि की गुरुपरम्परा	8
श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय गुर्वावली/पट्टावली, श्री विजय प्रमोदसूरीजी	8
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि की शिष्यपरम्परा	9
श्री विजय धनचन्द्रसूरिश्वरजी महाराज, उपाध्याय श्री मोहनविजयजी, श्री प्रमोदरुचिजी	9
श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वर जी महाराज, श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज	9-10
श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज, श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज	10-11
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का शिष्यवृन्द	12
उपसम्पत् शिष्य, हस्तदीक्षित शिष्य वृन्द, साध्वी वृन्द	12
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व	13
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : क्रांति के अग्रदूत	13
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : उग्र-विहारी	13
विहारान्तर्गत आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि द्वारा कृत यात्राएँ	14
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि कृत : संघयात्राएँ	14
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : चातुर्मास सूचि	15
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : सिद्धान्त-प्रचारक	16
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : सर्वोदयी प्रभावक	17
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : शासन प्रभावक	18
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : कृत प्रतिष्ठाएँ एवं अंजनशलाकाएँ,ज्ञानभक्ति, ज्ञान भंडार	18-20
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : तीर्थोद्धारक	21
श्री स्वर्णगिरि-जालोरगढ, कोलटा, भांडवपुर, तालनपुर, मोहनखेडा	21-23
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : तीर्थरक्षक	23
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : उग्र तपस्वी	24
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : क्षमाश्रमण	24
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : वादीमान भञ्जक	24
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : निष्णात ज्योतिषी	26
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : निमित्तज्ञानी	27
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : सिद्ध योगी	28
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : महान तन्त्रविद्	28

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : अप्रतिम दार्शनिक 29
अद्वितीय चिन्तक, आकर्षक प्रवचनकार, कथाकार, भाष्यकार 30
सफल निबन्धकार, इतिहासकार, नीतिकार, आशुकवि 31
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : साहित्य सर्जक शब्दर्षि 32
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : श्री म. द्वारा रचित साहित्य की सूचि 32
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि की नित्य जीवन-चर्या 42
अनशन एवं देहत्याग, स्वर्गवास एवं अग्नि संस्कार 42
उपसंहार 42
द्वितीय परिच्छेद – अभिधान राजेन्द्र कोश का विशिष्ट परिचय 45
प्रथम कोश 'निघण्टु' का प्रादुर्भाव 46
कोशलेखन की प्रारंभिक स्थिति 46
प्राचीन कोश साहित्य का इतिहास और परम्परा 46
प्रथम कोशकार : अमरसिंह 47
अमरकोश 47
अन्य कोश परम्परा 47
1. **जैन कोशपरम्परा** 48
जैन कोशसाहित्य एवं कोशकारों का संक्षिप्त परिचय 48
श्री धनञ्जय 48
कवीश्वर धनपाल 48
कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि 49
आचार्य जिनभद्रसूरि, आचार्य पद्मनंदि, आचार्य जिनेश्वरसूरि एवं आचार्य बुद्धिसागरसूरि 50-51
आचार्य महाक्षपणक, पं. अमर कवीन्द्र 51
अन्य जैन कोशकर्ता 51
वस्तुकोश तथा अन्य कन्नड कोश 52
श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि 52
2. **कोश साहित्य और अभिधान राजेन्द्र** 53
कोश की परिभाषा, कोशों के प्रकार,शब्दकोश एवं ज्ञानकोश में मौलिक अन्तर 53-54
अभिधान राजेन्द्र : विश्व कोश 54
3. **अभिधान राजेन्द्र कोश की उपादेयता** 55
क. अभिधान राजेन्द्र कोश : पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में 56
ख. अभिधान राजेन्द्र कोश : भारतीय विद्वानों की दृष्टि में 56
ग. अभिधान राजेन्द्र कोश : शोध अध्येताओं विद्वानों की दृष्टि में 58
घ. अभिधान राजेन्द्र कोश : सन्तो की दृष्टि में 59
4. **अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना का उद्देश्य एवं पृष्ठभूमि** 61
5. **अभिधान राजेन्द्र कोश का रचनाकाल एवं स्थान** 62
शुभारम्भ, लेखन विधि, समयावधि, अभिधान राजेन्द्र कोश की पूर्णाहुति 62
रचनाविधि के विषय में भ्रम और विशेष वक्तव्य 62
6. **अभिधान राजेन्द्र कोश का एकनिष्ठ परिचय** 64
अभिधान राजेन्द्र कोश : भाषा शैली 64
विषयवस्तु का विभाग एवं उसके प्रमाण 64
विषय-विभाग के विषय में भ्रमात्मक उल्लेख का कारण और निराकरण 65
अभिधान राजेन्द्र कोश : नामकरण के विभिन्न अर्थ 67
अभिधान राजेन्द्र कोश : नामकरण 67
अभिधान राजेन्द्र कोश : पृष्ठ संख्या 67
अभिधान राजेन्द्र कोश की प्रस्तावनाएँ 68
अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 1 प्रथम आवृत्ति : प्रस्तावना 68

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय आवृत्ति : प्रस्तावना 69
अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 1 का उपोद्घात 69
अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 2 प्रस्तावना 71
अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 3 प्रस्ताव 72
अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 4 घण्टापथ : एक परिचय 75
विमर्श 78
अभिधान राजेन्द्र कोश में प्राप्त मंगलाचरण पद्यों का अनुशीलन 80
विमर्श 81
अभिधान राजेन्द्र कोश के पुष्पिकावचन 82
विशेष विमर्श 82
अभिधान राजेन्द्र कोश : प्रशस्ति 83
अभिधान राजेन्द्र कोश : प्रथम भाग-विषयवस्तु परिचय 85
अभिधान राजेन्द्र कोश : मुख्य विषयवस्तु ,परिशिष्ट-1, परिशिष्ट-2, परिशिष्ट-3 86-87
अभिधान राजेन्द्र कोश : द्वितीय भाग- विषयवस्तु परिचय 87
अभिधान राजेन्द्र कोश : तृतीय भाग- विषयवस्तु परिचय 88
अभिधान राजेन्द्र कोश : चतुर्थ भाग- विषयवस्तु परिचय 88
अभिधान राजेन्द्र कोश : पञ्चम भाग- विषयवस्तु परिचय 88
अभिधान राजेन्द्र कोश : षष्ठ भाग- विषयवस्तु परिचय 89
अभिधान राजेन्द्र कोश : सप्तम भाग- विषयवस्तु परिचय 89
मुद्रण परिचय 90
7. अभिधान राजेन्द्र कोश का स्वरुप एवं प्रकाशन 91
उपसंहार 91
तृतीय परिच्छेद – अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली का परिचय 93
1. साहित्यिक शब्दावली 94
2. सांस्कृतिक शब्दावली 98
3. राजनैतिक शब्दावली 106
4. दार्शनिक शब्दावली 110
अनेकान्तवाद 111
प्रमाण 123
नय 125
निक्षेप 135
सप्तभङ्गी 140
स्याद्वाद 143
उपसंहार 144
चतुर्थ परिच्छेद – आचारपरक शब्दावली का आकलन एवं अनुशीलन 145
क. साधुपरक शब्दावली 145
आचार का महत्त्व, 145
'आचार' शब्द की व्युत्पत्ति-लक्षण-परिभाषा-विविध अर्थ 147
आचार का वर्गीकरण 148
1. जैनधर्म का उद्देश्य और लक्ष्य 149
धर्म के प्रकार 149
स्वभाव धर्म 150
लौकिक आचार-जाति स्वभाव-व्यवहार धर्म 150
लोकोत्तर धर्म : भावधर्म 152
जैनधर्म : विश्वधर्म 153
जैनधर्म की विशेषताएँ 153
अधिकारी 154

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म का उद्देश्य और लक्ष्य 155
मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति, मोक्ष की परिभाषा, मोक्ष का स्वरुप 155
मुक्त (सिद्ध) का स्वरुप 156
मोक्ष अभावात्मक नहीं है 156
अन्य दर्शनो में मोक्ष 157
उपसंहार 157
2. मुक्ति का मार्ग : सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र 158
मोक्षमार्ग शब्द की व्युत्पत्ति-प्रकार-भेद 158
सम्यग्दर्शन 159
दर्शन का अर्थ 159
सम्यग्दर्शन की परिभाषा 159
सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची नाम एवं निर्युक्ति 159
सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रक्रिया 159
सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण 160
सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण 161
कर्मो की स्थिति के आधार पर सम्यक्त्व के भेद 161
सम्यक्त्व का दसविध वर्गीकरण 161
सम्यक्त्व के 67 भेद 162
सम्यक्त्व प्राप्ति का फल 165
सम्यग्ज्ञान 166
ज्ञान के प्रकार 166
आभिनिबोधिक/मतिज्ञान 166
श्रुतज्ञान 167
अवधिज्ञान 168
मन: पर्यवज्ञान 169
केवलज्ञान 169
सम्यग्ज्ञान का फल 169
सम्यक् चारित्र 171
चारित्र के भेद 172
सामायिक चारित्र 172
छेदोपस्थापनीय चारित्र 175
परिहारविशुद्धि चारित्र 175
सूक्ष्म संपराय चारित्र 176
यथाख्यात चारित्र 176
सम्यक् चारित्र का फल 176
मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया 177
अन्य दर्शनों में त्रिविध साधना मार्ग 178
उपसंहार 179
3. चारित्र का सैद्धांतिक पक्ष 180
1. अविनाशिता का सिद्धांत, 2. नश्वरता का सिद्धांत, 180
3. स्वतंत्रता का सिद्धांत, 4. बन्ध का सिद्धांत 181
5. कर्मवाद-कर्मविपाक 182-183
6. जीव का उपयोग स्वभाव 184
7. मोक्ष की सादि अनन्तता – व्यवहार से जीव मूर्त भी है – आत्मा की दशा 185-186
8. चारित्र का व्यावहारिक स्वरुप, 9.चारित्र का आधार 187
उपसंहार 188

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. गुणस्थान 189
जीव एवं उसकी अवस्थाएँ 189
गुणस्थान शब्द के पर्याय 189
'गुणस्थान शब्द की परिभाषा एवं अर्थ 190
1. मिथ्यात्व गुणस्थान 190
2. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान 193
3. मिश्र गुणस्थान 193
4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान 194
5. देशविरति गुणस्थान 194
6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान 195
7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान 195
8. अपूर्वकरण गुणस्थान 195
9. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान 196
10. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान 196
11. उपशान्तमोह गुणस्थान 197
12. क्षीणमोह गुणस्थान 197
13. सयोगी केवली गुणस्थान 197
14. अयोगकेवली गुणस्थान 198
जैनेतर दर्शनों में आध्यात्मिक विकास की अवधारणाएँ 199
गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ 199
गुणस्थान और चित्त की अवस्थाएँ 200
गुणस्थान और बौद्धदर्शन सम्मत अवस्थाएँ 201
गुणस्थान में जीवस्थान 202
गुणस्थान में मार्गणास्थान 204
गुणस्थान में भाव 206
उपसंहर 208
कर्मवाद 209
कर्मवाद का महत्त्व 209
कर्म का अर्थ एवं स्वरुप 209
जीव और कर्म का संबंध 209
कर्म के प्रकार 209
कर्म प्रकृति अर्थात कर्मफल 210
1. ज्ञानावरणीय कर्म 210
2. दर्शनावरणीय कर्म 211
3. वेदनीय कर्म 211
4. मोहनीय कर्म 213
5. आयुःकर्म 215
6. नाम कर्म 217
7. गोत्रकर्म 217
8. अंतराय कर्म 218
कर्मप्रकृतियों के विविध स्वभाव 218
विपाकाश्रित प्रकृतियों के भेद 219
कर्म की विविध अवस्थाएँ 219
कर्मबंध के कारण 219
मोदक का दृष्टान्त 220
कर्म का स्थितिकाल 220
कर्ममुक्ति विचार 221
उपसंहार 226

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय 222
कषाय और गुणस्थान 222
कषाय की परिभाषा 222
भाव कषाय के भेद-प्रभेद 223
क्रोध 223
मान-मद 224
माया 225
लोभ 225
कषाय का स्वरूप 225
कषाय का फल 225
लेश्या 229
लेश्या सिद्धान्त की प्राचीनता 229
लेश्या की परिभाषा 229
लेश्या के प्रकार 230
भाव लेश्या के प्रकार 230
लेश्याओं के वर्ण 230
लेश्या की गन्ध 230
लेश्या के रस 231
लेश्याओं का स्पर्श 231
लेश्याओं के परिणाम 231
लेश्याओं को समजने हेतु जंबुवृक्ष का दृष्टान्त 231
लेश्याओं को समजने हेतु ग्रामघातक का दृष्टान्त 231
लेश्याओं में गति 231
आधुनिक विचार और लेश्यासिद्धान्त 232
भामण्डल, आभामण्डल 232
वर्ण : व्यक्तित्व की गुणात्मक पहचान 232
क्या आभामण्डल दृश्य है ? 233
लेश्या ध्यान 233
लेश्या ध्यान : निष्पत्ति 235
5. मुनियों की आचारपरक शब्दावली का समीक्षण 236
आचार्य 236
उवज्झाय (उपाध्याय) 238
अनागार साधु और श्रमणाचार 240
अणगार (अनगार) 240
श्रमण 240
साधु 241
साधु के प्रकार 242
स्थविरकल्प और जिनकल्प 242
अनागार के सत्ताईस गुण 243
प्रवज्या 243
अनगार धर्म 245
आचार-गोचर 251
निर्ग्रन्थ श्रमणाचार की विशेषता 246
अष्टादश आचार स्थान 246
गोचरचर्या (आहारचर्या) 248
गोचरी भ्रमण की विधि 248
गोचरी ग्रहण करने की विधि 248

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

16 उद्गम दोष 249
सोलह उत्पादना दोष 252
दस एषणा दोष 253
ग्रासैषणा दोष 254
दोषित आहार ग्रहण करने के कारण एवं विवेक 255
समाचारी 256
समाचारी के भेद 256
मण्डली 256
षडावश्यक 257
निक्षेपों के अनुसार आवश्यक के प्रकार 257
नामावश्यक अर्थात् आवश्यक के पर्यायवाची नाम 257
स्थापनावश्यक 257
द्रव्यावश्यक 257
भावाश्यक 257
1. **सामायिक** 257
2. **चउवीसत्थय/चतुर्विंशतिस्तव** 258
3. **वंदन** 258
गुरुवंदन के 25 आवश्यक 258
गुरु की 33 आशातना 259
गुरुवंदन के 32 दोष 259
गुरुवंदन का फल 260
4. **प्रतिक्रमण** 260
प्रतिक्रमण के अर्थ-पर्याय-प्रकार-भेद 260-262
भावप्रतिक्रमण 262
प्रतिक्रमण योग्य प्रसंग 262
प्रतिक्रमण की आवश्यकता 263
ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण 263
दैवसिक-रात्रिक-पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिक प्रतिक्रमण 263-264
प्रतिक्रमण का फल 264
5. **कायोत्सर्ग** 264
6. **पच्चक्खाण-प्रत्याख्यान** 264
प्रत्याख्यान के भेद 265
भाव प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद 265
प्रत्याख्यान की शुद्धि 266
प्रत्याख्यान का फल 266
विहार 267
मुनि के निवास योग्य वसति 268
पञ्च महाव्रत 269
व्रत (वय)-महाव्रत 269
सर्वथा प्राणातिपात विरमण : प्रथम महाव्रत 269
अहिंसा, हिंसा, हिंसा के प्रकार, हिंसा-अहिंसा की चतुर्भंङ्गी 270-271
अहिंसापालन हेतु कुछ सावधानियाँ 272
अहिंसापालन का फल 272
सर्वथा मृषावाद विरमण : द्वितीय महाव्रत 272
मृषावाद के प्रकार 272
सत्य के भेद 273

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य-असत्य की चतुर्भङ्गी 274
अलीकवचन बोलने से हानि 274
आदर्श वचन, सत्य के गुण, सत्य बोलने से लाभ 274
सर्वथा अदत्तादानविरमण : तृतीय महाव्रत 274
क. द्रव्य-अदत्तादान विरमण, ख. क्षेत्र अदत्तादान विरमण 275
ग. काल अदत्तादान विरमण, घ.भाव अदत्तादान विरमण 275
तृतीय महाव्रत के सुचारुपालन की विधि 275
अदत्तादान विरमण व्रत के लाभ 275
अदत्तादान ग्रहण से हानि 275
सर्वथा मैथुन विरमण : चतुर्थ महाव्रत 275
ब्रह्मचर्य की नव गुप्ति 276
मैथुन के दोष/अब्रह्मब से हानि 276
ब्रह्मचर्य का माहात्म्य-महिमा 276
ब्रह्मचर्य पालन से लाभ 277
सर्वथा परिग्रहविरमण : पञ्चम महाव्रत 277
उपकरण 277
ओघोपधि- औपग्रहिक उपधि-लाभ 278
जैन मुनि के श्वेतवस्त्र विधान का हेतु 279
सर्वथा रात्रि भोजन विरमण : षष्ठ महाव्रत 279
महाव्रतों का माहात्म्य 279
महाव्रतों में दोष लगने का कारण 279
महाव्रत पालन से लाभ 279
महाव्रतों के रक्षार्थ भावनाएँ 280
प्रथम महाव्रत रक्षार्थ पांच भावनाएँ 280
द्वितीय महाव्रत रक्षार्थ पांच भावनाएँ 280
तृतीय महाव्रत रक्षार्थ पांच भावनाएँ 280
चतुर्थ महाव्रत रक्षार्थ पांच भावनाएँ 280
पञ्चम महाव्रत रक्षार्थ पांच भावनाएँ 281
सद्भावनाओ का फल 281
पञ्चाचार 282
1. ज्ञानाचार, 2. दर्शनाचार, 3. चारित्राचार, 4. तप आचार, 5. वीर्याचार 282-284
आचार के दोष 284
अष्ट प्रवचनमाता (समिति-गुप्ति) 286
समिति-समितियों के पांच भेद 286
1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति 286
3. एषणा समिति 287
4. आदानभाण्डमात्रक निक्षेपणा समिति 287
5. उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-शिङ्घाण-परिष्ठापनिका समिति 287
गुप्ति-गुप्ति के भेद 287
मनो गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति 287-288
गुप्तियों का माहात्म्य 289
दस यतिधर्म 290
(1) क्षान्ति-क्षान्ति की प्राप्ति का क्रम, क्षान्ति के भेद, क्षमा धर्म 290
(2) मार्दव धर्म (3) आर्जव धर्म (4) मुक्ति धर्म 291
(5) तप धर्म (6) संयम धर्म-संयम के भेद 292
(7) सत्य धर्म (8) शौच धर्म 293
(9) आकिञ्चन धर्म (10) ब्रह्मचर्य धर्म, त्याग धर्म 294

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिषहजय 296
परिषह के प्रकार 296
परिषहोदय की संख्या 300
आठों कर्म और परिषह 300
गुणस्थान और परिषह 300
दश कल्प 301
द्वादश भिक्षु प्रतिमा 303
प्रतिमा वहन हेतु योग्यता 303
प्रतिमाधारी साधु की दिनचर्या के नियम 303
भावनाएँ 305
अणुप्पेहा (अनुप्रेक्षा) 305
भावना के भेद 305
बारह भावनाओं के नाम- 1. अनित्य, 2. अशरण 3, ससार, 4. एकत्व 306
5. अन्यत्व, 6.असुचित्व, 7. आश्रव, 8. संवर, 9. निर्जरा 10. लोकस्वभाव 307
11. बौद्धिदुर्लभ, 12. धर्मकोर्हन् भावना 308
मैत्री आदि चार भावनाएँ 308
अन्य अपेक्षा से भावनाओं का वर्गीकरण 309
(क) असंक्लिष्ट भाव भावना/प्रशस्त भावना, (ख) संक्लिष्ट भाव-भावना/अप्रशस्त भावना 309
तप 310
'तप' शब्द की व्युत्पत्ति, तपकी परिभाषाएँ 310
तप के दो रुप 310
बाह्य तप के छह प्रकार 311
(1) अनशन तप-प्रकार, विधि, काल, अधिकारी 311-312
(2) ऊनोदरिका तप 312
(3) वृत्ति-संक्षेप (भिक्षाचारी) तप 313
(4) रस-परित्याग तप 313
(5) कायक्लेश तप 314
(6) प्रतिसंलीनता तप 314
आभ्यन्तर तप 314
प्रायश्चित तप, प्रायश्चित के प्रकार 315
प्रतिसेवना प्रायश्चित 315
संयोजना-आरोपणा-परिकुञ्चना प्रायश्चित 317
आलोचना 317
आलोचना के भेद 317
आलोचक : आराधक-विराधक 318
प्रतिक्रमणार्ह -तदुभय/उभयार्ह -विवेकार्ह -व्युत्सर्गार्ह -तपोऽर्ह प्रायश्चित 318
छेद-मूलार्ह (मूल)-अनवस्थाप्य प्रायश्चित 319
पाराञ्चित-आशातना-प्रतिसेवना प्रायश्चित 320
पाराञ्चित प्रायश्चित के प्रकार 320
आलोचनादाता की दस विशिष्टताएँ 321
आलोचना करने योग्य व्यक्ति 321
आलोचना के दस दोष 321
प्रायश्चित्त देते समय व्यक्ति की परिस्थिति का विचार 322
आलोचना का योग्य साक्षी 322
विनय तप 323
विनय के भेद 324
ज्ञानविनय 324

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनविनय 324
चारित्र विनय 325
मनोविनय 325
वचन विनय 325
काय विनय 325
लोकोपचार विनय 325
विनय का महत्त्व 326
वैयावृत्त्य तप (सेवा) 326
वैयावृत्य के प्रकार 326
वैयावृत्य का फल 326
स्वाध्याय तप 327
स्वाध्याय का फल 328
ध्यान 329
आर्त्तध्यान 329
रौद्रध्यान 329
धर्म-ध्यान 330
शुक्लध्यान 330
ध्यान के लक्षण 331
ध्यान का अधिकारी 331
ध्यान का साफल्य 331
व्युत्सर्ग 331
कायोत्सर्ग के भेद 332
द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग 332
कायोत्सर्ग करने की विधि 332
कायोत्सर्ग का हेतु 333
कायोत्सर्ग का प्रमाण 333
कायोत्सर्ग के आगार 333
कायोत्सर्ग के 19 दोष 333
तप के अन्य प्रकार 334
तपःसमाधि के चार भेद 336
शुद्ध श्रमणाचार का फल 337
आचार प्रणिधि और उसका फल 337
आचार-समाधि 337
आचार का सार 337
ख. श्रावकपरक शब्दावली 338
महाश्रावक 338
श्रावक के भेद 339
अविरत श्रावक 339
विरत/देशविरत (विरताविरत) श्रावक 339
श्रावक चार प्रकार से 339
श्रावक अन्य चार प्रकार से 339
भावश्रावक के छः क्रियागत गुण 340
भावश्रावक के भागवत 17 लक्षण (गुण) 341
1. मुनि एवं गृहस्थ के आचार में मौलिक अन्तर 342
सम्यक्त्व व्रत के पालन में अन्तर 342

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक में अन्तर 342
विरति में अन्तर 342
जीवदया पालन में अन्तर 342
अणुव्रत-महाव्रतों का अन्तर 342
जीवन व्यवहार में अन्तर 343
पंचाचार पालन में अन्तर 343
पूजा में अन्तर 344
षडावश्यक में अन्तर 344
2. श्रावकों के आचार में सापेक्ष स्थूलता 345
गम्य धर्म 346
लोकोत्तर धर्म 346
दैनिकचर्या और धर्म 346
आहारचर्या 346
षड् आवश्यक 346
यतिधर्म 347
परिषह जय 347
3. श्रावकाचार की शब्दावली का अनुशीलन 348
आदिधार्मिक गृहस्थ 348
आदिधार्मिक के लक्षण 348
मार्गानुसारी की योग्यता (पैंतीस गुण) 348
श्रावक के 21 गुण 352
श्रावक के कर्तव्य 355
1. जिनाज्ञापालन करना 355
2. मिथ्यात्व का परिहार 355
3. सम्यक्त्व को धारण करना 355
4. षडावश्यक में तत्पर रहना 355
5. पर्वतिथियों में पौषध व्रत करना 355
6. दान 355
7. शील 358
शील के प्रकार 359
श्रावक के शील 359
8. तप 359
9. भाव 359
10. स्वाध्याय 359
11. नमस्कार 360
12. परोपकार 360
13. जयणा 360
14-16 जिनपूजा-जिन-स्तवन, गुरु स्तवन 360
17. साधर्मिक वात्सल्य 360
18. व्यवहार शुद्धि 361
19. रथयात्रा 361
20. तीर्थयात्रा 361
21. उपशम 361
22. विवेक 361
23. संवर 362
24. भाषा समिति का पालन करना 362
25-30 षड् जीवनिकाय पर करुणा 362
31. धार्मिक जनों से सत्संग 362
32. करणदमन 362
33. चरण परिणाम 362
34. संघ बहुमान 362

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

35. पुस्तक/जिनागम लेखन करवाना 363
36. तीर्थ/जैन संघ में प्रभावना 363
जिन पूजा 364
जिन पूजा के दो भेद 364
द्रव्यपूजा के प्रकार 364
दशत्रिक 364
अष्टप्रकारी पूजा 365
त्रिकाल जिनपूजा 365
जिनपूजा में सप्तशुद्धि 366
पांच अभिगम 367
जिनमंदिर में त्याग करने योग्य 84 आशातनाएँ 368
जिनस्तव 368
जिनथुणणं (जिनस्तवनम्) 368
गुरुथुणणं (गुरुस्तवनम्) 369
भक्ति (भत्ति) 369
देशविरति 371
अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत 371
क्रमभिन्नता में आचार्यों की विवक्षा की कारणता 371
सम्यक्त्व व्रत 372
स्थूल प्राणातिप्रातविरमण व्रत 372
स्थूल मृषावाद विरमण व्रत 373
स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत 374
स्थूल मैथुनविरमण व्रत 375
स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत 375
दिग्व्रत/दिशापरिमाण व्रत 377
भोगोपभोग परिमाण व्रत 377
बाईस अभक्ष्य 377
बत्तीस अनन्तकाय 380
सचित्त परिमाण आदि चौदह नियम 382
पन्द्रह कर्मादान 382
अनर्थदण्डविरमण व्रत 383
सामायिक व्रत 383
देशावकाशिक व्रत 384
पौषधोपवास व्रत 384
पौषध का स्वरुप 384
पौषध के प्रकार 384
पौषध का फल 385
पौषध करने से लाभ 385
पौषध के अठारह दोष 385
पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार 386
अतिथिसंविभाग (अइ(ति) हि संविभाग) 386
शिक्षाव्रत का फल 386
अणुव्रत : एक समग्र दृष्टि 386
श्रावक व्रत ग्रहण विधि 388
उपासक प्रतिमा 389
'प्रतिमा' शब्द का वाच्यार्थ 389

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिमा के प्रकार 389
उपासक प्रतिमा 389
उपासक प्रतिमा और उसके भेद 389
दर्शन प्रतिमा 389
व्रत प्रतिमा 390
सामायिक प्रतिमा 390
पौषध प्रतिमा 390
प्रतिमा (दिवाब्रह्मचर्य-रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा 390
ब्रह्मचर्य प्रतिमा 390
सचिताहार त्याग प्रतिमा 390
आरम्भ-त्याग प्रतिमा 390
प्रेष्य-त्याग प्रतिमा 390
उद्दिष्ट-भक्त परिज्ञा 391
श्रमणभूत प्रतिमा 391
क्षुल्लक 391
एलक 391
प्रतिमाधारी श्रावक के गुण 391
प्रतिमा का कालमान 391
प्रतिमा पालन से लाभ 391
पञ्चम परिच्छेद – आचारपरक शब्दावली के वाच्यार्थ का विस्तार 393
1. **श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार** 394
आचार 394
आचार्य 394
उपाध्याय 394
मुनि 394
साधु के गुण 394
साधु के दैनिक कर्तव्य 394
साधु के चातुर्मासिक कर्तव्य 395
पर्युषण पर्व के साधुओं के धर्मकार्य 395
मुनि के उपकरण 396
मार्गानुसारी श्रावक के गुण 396
श्रावक के गुण 396
श्रावक के 14 नियम 396
बारह व्रत 396
ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ 396
श्रावक के कर्तव्य 396
श्रावक के दैनिक कर्तव्य 397
जैनों के संध्या कर्तव्य 397
जैनों के रात्रिकालीन कर्तव्य 397
जैनो के चातुर्मासिक कार्य 397
जैनियों के वार्षिक कर्तव्य 398
जैनियों के जीवन भर के बृहत्कर्तव्य 398
श्रावकों के पर्युषण पर्व के कर्तव्य 398
श्वेताम्बर परम्परा में पूजा विधि 398
अंगपूजा, अग्रपूजा, भावपूजा 398
2. **दिगम्बर परम्परा और जैनाचार** 399
पाँच महाव्रत 399
साधु के भेदों के अनुसार गुण 399
आर्यिका 399
श्रावक 399

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाक्षिक श्रावक 400
नैष्ठिक श्रावक 400
साधक श्रावक 401
दिगम्बर परम्परा में पूजा विधि 401
दिगम्बर परम्परा और जैनाचार 401
3. ब्राह्मण परम्परा और जैनाचार 402
अहिंसा : एक सार्वभौम सिद्धान्त 402
पंच यम और पंचमहाव्रत 402
ब्राह्मण परम्परा में रात्रिभोजन त्याग 403
ब्राह्मण परम्परा और पांच समितियां 403
ब्राह्मण परम्परा और गुप्ति 404
वैदिक परम्परा और कल्पविधान 404
ब्राह्मण परम्परा में दश धर्म 405
ब्राह्मण परम्परा में दश धर्मों का महत्त्व 404
ब्रह्मचर्य 405
वैदिक तथा अन्य धर्म परम्पराएँ और प्रतिक्रमण 406
ब्राह्मण परम्परा और द्वादशभावना 406
मैत्र्यादि चार भावनाएँ 407
ब्राह्मण परम्परा और परिषह 407
ब्राह्मण परम्परा में पूजा विधान 407
4. बौद्ध परम्परा और जैनाचार 408
बौद्ध धर्म में अहिंसा का स्थान 408
बौद्ध परम्परा एवं व्रतविधान 408
बौद्ध परम्परा और पांच समितियां 408
बौद्ध परम्परा और गुप्ति 409
बौद्ध परम्परा और कल्पविधान 409
बौद्ध परम्परा में दस धर्म 409
बौद्ध परम्परा मे भावना 410
मैत्र्यादि चार भावनाएँ 411
बौद्ध परम्परा और परीषह 411
बौद्ध परम्परा में प्रायश्चित विधान 412
बौद्ध परम्परा और प्रतिक्रमण 412
जैन और बौद्ध परम्परा में श्रमणी-संघ व्यवस्था 412
5. इतर परम्पराएँ और जैनाचार 413
सिक्ख धर्म में अहिंसा 413
इस्लाम धर्म में अहिंसा 413
पारसी धर्म में अहिंसा 413
ईसाई धर्म में अहिंसा 413
इतर परम्पराओं में क्षमा 413
षष्ठ परिच्छेद – आचारपरक शब्दावली में निहित कथाएँ एवं सूक्तियाँ 415
मुहावरा , लोकोक्ति 415
1. अभिधान राजेन्द्र में अनुस्यूत आचार परक कहानियां 418
2. अभिधान राजेन्द्र में अनुस्यूत आचार परक सूक्तियां 430
सप्तम परिच्छेद – उपसंहार 440
1. **(क) अभिधान राजेन्द्र कोश मुद्रित प्रति का प्रथम पृष्ठ**
(ख) अभिधान राजेन्द्र कोश मुद्रित प्रति का अंतिम पृष्ठ
2. **त्रिस्तुतिक सिद्धांतोपदेश : शास्त्रीय प्रमाण** 01
3. **सहायक सन्दर्भग्रन्थ सूची** 11

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम परिच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम परिच्छेद

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

1. जन्म एवं शिक्षा
2. गृहस्थ जीवनवृत
3. साधुजीवन
   - दीक्षा
   - आचार्य पदवी
   - गच्छ परम्परा
   - शिष्य-परम्परा
4. व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व
5. स्वर्गारोहण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

※

ॐ अर्हं नमः ।

णमो पहुं सिरि राइंद सूरिवरस्स ।

गोडी पार्श्वजिनं थराद्नगरस्थं नौमि पादाम्बुजे,
राजेन्द्रं च जयंतसेनचरणं नत्वा निजश्रेयसे ।
जैनाचारनिधानकोशविहितं शब्दावलीमार्गणे,
युक्तोऽहं गुरुवृत्तवर्णनविधौ इन्द्रपुरे भक्तितः ॥

प्रथम परिच्छेद

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवने अहिंसा-प्रधान जिस दयामय धर्म की प्ररुपणा की थी वह जैनधर्म के नाम से विख्यात है। उदार और सर्वजन हितकारी यह धर्म सर्वतन्त्र स्वतंत्र है। यह धर्म वीतरागता की प्राप्ति की साधना का सरल मार्ग बतलाकर जीवन में सार्थकता की सौरभ बिखेरता है और उपासक के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सरलता, सहजता, सात्त्विकता और प्रोज्जवलता का कुमकुम छिडकता हैं।

श्रमण भगवान् चरमतीर्थपति श्री महावीर स्वामी के निर्वाण के साथ ही साधना की सर्वोच्च परम्परा भरत क्षेत्र में अवरुद्ध हो गयी। अवसर्पिणी काल का पांचवा आरा आरम्भ हुआ। श्री गौतम स्वामीजी, सुधर्मास्वामीजी, जंबूस्वामीजी के निर्वाण के साथ ही केवलज्ञानधारियों का क्रम समाप्त हो गया। धीरे धीरे भारत से ज्ञान-विज्ञान की सर्वोच्च और परमोच्च साधना के साधक तथा सिद्धियाँ दोनों लुप्त होते गए।[1]

समर्थ मुनिपुंगवों ने शासन-धूरा संभाली, परंतु कालप्रभाव प्रबल रहा। आचार-विचार, तप-त्याग, ज्ञान-ध्यान में सर्वश्रेष्ठ श्रमणसंघ पर काल-प्रभाव से कभी-कभी आचार-शैथिल्य की काली छाया छायी। जब-जब शिथिलता उभरी तब-तब समर्थ शासनप्रभावक और युगप्रभावक युगपुरुषों ने क्रियोद्धार कर के उसका निवारण किया। इस प्रकार इस परम्परा में धर्मशासन को व्यवस्थित रखने वाले स्वनामधन्य क्रियोद्धारक आचार्यवर्यो में चूडामणि तपोगच्छीय श्री जगच्चन्द्रसूरि जी[2], चैत्रवाला गच्छीय श्री देवभद्र उपाध्याय (वि.सं. 1225), श्री आनंदविमल सूरि जी[3] (वि.सं. 1582), पंन्यास श्री सत्यविजयजी[4] आदि अनेक धुरंधर आचार्यादि हुए हैं, जिन्होंने अनेक कष्ट और उपसर्ग सहकर त्याग, विराग और आत्मशुद्धि की परम्परा को सजीव रखा और प्रभु महावीर के सिद्धान्तों को आगे बढाया। इसी परम्परा में विश्वपूज्य विश्वविख्यात श्री अभिधानराजेन्द्र बृहद् विश्वकोश निर्माता आचार्यश्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज हुए हैं, जिनका संक्षिप्त जीवन परिचय आगे दिया जा रहा हैं।

---

1. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी पृ. 260
2. श्री पट्टावली समुच्च प्र.भा.पृ.56
3. वही पृ. 57
4. वही पृ. 69

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन परिचय :-

जन्म स्थान एवं माता-पिता-परिवार :-

'श्रीराजेन्द्रसूरिरास' एवं 'श्रीराजेन्द्रगुणमंजरी' के अनुसार वर्तमान राजस्थान प्रदेश के भरतपुर शहर में दहीवाली गली में पारिख परिवार के ओसवंशी श्रेष्ठी ऋषभदास रहते थे।[5] आपकी धर्मपत्नी का नाम केशरबाई था जिसे अपनी कुक्षि में श्रीराजेन्द्रसूरि जैसे व्यक्तित्व को धारण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।[6] श्रेष्ठी ऋषभदास की तीन सन्ताने थी; दो पुत्र : बडे पुत्र का नाम माणिकचन्द एवं छोटे पुत्र का नाम 'रतनचन्द' था, एवं एक कन्या थी जिसका नाम प्रेमा था।[7] यही 'रतनचन्द' आगे चलकर आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि नाम से प्रख्यात हुए।

वंश : पारख परिवार की उत्पत्ति :-

आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि के अनुसार वि.सं. 1190 में आचार्यदेव श्री जिनदत्तसूरि महाराज के उपदेश से राठौड वंशीय राजा खरहत्थ ने जैनधर्म स्वीकार किया। उनके तृतीय पुत्र भैंसाशाह के पांच पुत्र थे। उनमें तीसरे पुत्र पासुजी आहेडनगर (वर्तमान आयड-उदेपुर) के राजा चंद्रसेन के राजमान्य जौहरी थे। उन्होंने विदेशी व्यापारी के हीरे की परीक्षा करके बताया कि "यह हीरा जिसके पास रहेगा उसकी स्त्री मर जायेगी।" ऐसी सत्य परीक्षा करने से राजा पासुजी के साथ 'पारखी' विरुद से व्यवहार करने लगे। बाद में 'पारखी' शब्द का अपभ्रंश 'पारिख' शब्द बना। पारिख पासुजी के वंशज वहाँ से मारवाड, गुजरात, मालवा, उत्तरप्रदेश आदि जगह व्यापार हेतु गये। उन्हीं में से दो भाईयों के परिवार में से एक परिवार भरतपुर आकर बस गया था।[8]

जन्मविषयक निमित्तसूचक स्वप्नदर्शन :-

ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि आचार्यश्री के जन्म के पहले एक रात्रि में उनकी माता केशरबाई ने स्वप्न में देखा कि एक तरुण व्यक्ति ने प्रोज्जवल कांति से चमकता हुआ रत्न केशरबाई को दिया - **"गर्भाधानेऽथ साऽद्राक्षीत् स्वप्ने रत्नं महोत्तमम्।"**[9] निकट के स्वप्नशास्त्री ने स्वप्न का फल भविष्य में पुत्ररत्न की प्राप्ति होना बताया।

जन्म समय :-

आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरि के अनुसार वि.स. 1883 पौष सुदि सप्तमी, गुरुवार, तदनुसार 3 दिसम्बर ईस्वी सन् 1827 को माता केशरबाई ने देदीप्यमान पुत्ररत्न को जन्म दिया।[10] पूर्वोक्त स्वप्न के अनुसार माता-पिता एवं परिवारने मिलकर नवजात पुत्र का नाम **'रत्नराज'** रखा।[11] श्री राजेन्द्रसूरिरास में **'रतनचंद'** नाम रखा - ऐसा भी पाठ मिलता हैं।[12]

व्यवहारिक शिक्षा :-

आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरि एवं मुनि गुलाबविजय के अनुसार योग्य उम्र में पाठशाला में प्रविष्ट हुए मेधावी रत्नराज ने केवल 10 वर्ष की अल्पायु में ही समस्त व्यवहारिक शिक्षा अर्जित की। साथ ही धार्मिक अध्ययन में विशेष रुचि होने से धार्मिक अध्ययन में प्रगति की। और अल्प समय में ही प्रकरण और तात्त्विक ग्रंथों का अध्ययन कर लिया। तीव्र क्षयोपशम के कारण प्रखरबुद्धि बालक रत्नराज 13 वर्ष की छोटी सी उम्र में अतिशीघ्र विद्या एवं कला में प्रविण हो गए[13]। श्री राजेन्द्रसूरि रास के अनुसार उसी समय विक्रम संवत् 1893 में भरतपुर में अकाल होने से कार्यवश माता-पिता के साथ आये रत्नराज को उदयपुर में आचार्य श्री प्रमोदसूरि जी के प्रथम दर्शन एवं परिचय हुआ। उसी समय उन्होंने रत्नराज की योग्यता देखकर ऋषभदासजी से रत्नराज की याचना की। लेकिन ऋषभदास ने कहा कि "अभी तो बालक है, आगे अवसर पर बडा होगा और उसकी भावना होगी तब देखा जायेगा।"[14]

गृहस्थजीवनवृत्त -

यात्रा एवं विवाह विचार :-

जीवनप्रभा एवं राजेन्द्र गुणमंजरी के अनुसार रत्नराज के **सांसारिक जीवन के व्यापार-व्यवहार के शुभारंभ हेतु मांगलिक स्वरुप तीर्थयात्रा** कराने का परिवार में विचार हुआ। माता-पिता की आज्ञा लेकर बडे भाई माणेकचंद के साथ धुलेवानाथ-केशरियाजी तीर्थ की पैदल यात्रा करने हेतु प्रयाण किया। पहले भरतपुर से उदयपुर आये, वहाँ से अन्यत्र यात्रियों के साथ केशरियाजी की यात्रा प्रारंभ की। तब रास्ते में पहाडियों के बीच आदिवासी भीलों ने हमला कर दिया। उस समय रत्नराज ने यात्रियों की रक्षा की। साथ ही नवकार मंत्र के जाप के बल पर जयपुर के पास अंबर ग्राम निवासी सेठ शोभागमलजी की पुत्री रमा को व्यंतर के उपद्रव से मुक्ति भी दिलायी। सभी के साथ केशरियाजी की यात्रा कर वहाँ से उदयपुर, करेडा पार्श्वनाथ एवं गोडवाड की पंचतीर्थी की यात्रा करके वापिस भरतपुर आये।[15]

ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि सेठ सोभागमलजी ने रत्नराज के द्वारा अपनी पुत्री रमा को व्यंतर दोष से मुक्त किया जाने के कारण रमा की सगाई रत्नराज के साथ करने हेतु बात की थी लेकिन वैराग्यवृत्ति रत्नराज ने इसके लिए इंकार कर दिया।[16]

व्यापार :-

रत्नराज के पिता श्रेष्ठी ऋषभदास का हीरे-पन्ने आदि जेवरात एवं साथ ही सोने-चांदी का वंश परम्परागत व्यापार था।[17] रत्नराज ने भी 14 साल की छोटी सी उम्र में चैत्र सुदि प्रतिपदा के दिन परम्परागत हीरा-पन्ना आदि का व्यापार शुरु किया।[18] और केवल दो महीने में ही व्यापार का पूरा अनुभव प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् अधिक व्यापार हेतु बडे भाई के साथ भरतपुर से पावापुरी, समेतशिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा कर कलकत्ता पहुंच गये। थोडे समय तक वहाँ व्यापार करके वहाँ से जलमार्ग से व्यापार हेतु सीलोन (श्रीलंका) पहुंचे। वहाँ ढाई से तीन साल तक व्यापार करके न्याय-नीतिपूर्वक कल्पनातीत धन उपार्जन किया। व्यापार में अत्यधिक व्यस्तता एवं

5. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 2, 5; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 7; जीवनप्रभा पृ. 3, 4
6. जीवनप्रभा पृ. 4; राजेन्द्र ज्योति, खण्ड 2, पृ. 6
7. जीवनप्रभा पृ. 3-4; राजेन्द्र ज्योति, खण्ड 2, पृ. 6
8. जीवनप्रभा किञ्चिद्वक्तव्य पृ. 1, 2
9. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, श्लोक 30, पृ.8
10. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ.9, श्लोक 32, 33; जीवनप्रभा पृ.1
11. जीवनप्रभा पृ. 2; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 9
12. श्री राजेन्द्रसूरि का रास-पूर्वार्ध खण्ड, 1 ढाल-3
13. जीवनप्रभा पृ. 4; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ.11, 12
14. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पूर्वार्ध ढाल-5, पृ.11
15. जीवनप्रभा पृ. 5, 6; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 13, 14
16. जीवनप्रभा पृ. 6; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 14
17. धरती के फूल पृ. 35
18. विरल विभूति, पृ. 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनाफा होने के बावजूद भी माता-पिता के वृद्धत्व एवं गिरते स्वास्थ्य का समाचार पाकर दोनों भाई व्यापार समेटकर वापिस कलकत्ता होकर भरतपुर आ गये।[19]

वैराग्यभाव :-

माता-पिता की वृद्धावस्था एवं दिन-प्रतिदिन गिरते स्वास्थ्य के कारण दोनो भाई माता-पिता की सेवा में लग गए। अंततः रत्नराज ने उनको अंतिम आराधना करवाई एवं एक दिन के अंतर में माता-पिता दोनों ने समाधिभाव से परलोक प्रयाण किया।[20]

माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् उदासीन रत्नराज आत्म-चिन्तन में लीन रहने लगे। नित्य अर्ध-रात्रि में, प्रातः काल में कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन आदि में समय व्यतीत करते रहे। सुषुप्त वैराग्यभावना के बीज अंकुरित होने लगे। इतने में उसी समय (वि.सं. 1902) में पूज्य श्री प्रमोदसूरिजी का चातुर्मास भरतपुर में हुआ। आपका तप-त्याग से भरा वैराग्यमय जीवन एवं तत्त्वज्ञान से ओत-प्रोत वैराग्योत्पादक उपदेशामृतने रत्नराज के जिज्ञासु मन का समाधान किया जिससे रत्नराज के वैराग्यभाव में अभिवृद्धि हुई। फलस्वरुप उनकी दीक्षा-भावना जागृत हुई और वे भागवती दीक्षा (प्रवज्या) ग्रहण करने हेतु उत्कंठित हो गये।[21]

साधुजीवनवृत्त -

दीक्षा :-

दीक्षा को उत्कण्ठित रत्नराज में उपादान उछल रहा था, केवल निमित्त की उपस्थिति आवश्यक थी। निमित्त का योग **विक्रम सं. 1904 वैशाख सुदि 5 (पंचमी)** को उपस्थित हो गया और इस प्रकार अपने बडे भ्राता माणिकचन्द्रजी की आज्ञा लेकर **रत्नराज ने उदयपुर (राज.) में पिछोला झील के समीप उपवन में आम्रवृक्ष के नीचे श्रीपूज्य श्री प्रमोदसूरि जी से यतिदीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार आपके दीक्षा गुरु आचार्य श्री प्रमोद सूरि जी थे। अब नवदीक्षित मुनिराज 'मुनि श्री रत्नविजयजी'** के नाम से पहचाने जाने लगे।[22]

अध्ययन :-

"पढमं नाणं तओ दया"[23] अर्थात् ज्ञान के बिना संयम जीवन की शुद्धि एवं वृद्धि नहीं हैं। -इस बात को निर्विवाद सत्य समझकर गुरुदत्त-ग्रहण-आसेवन शिक्षा के साथ साथ मुनि श्री रत्नविजयजीने दत्तचित्त होकर अध्ययन प्रारंभ किया। व्याकरण, काव्य, अलंकार, न्याय, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, कोश, आगम आदि विषयों का सर्वांगीण अध्ययन आरम्भ किया।

मुनि रत्नविजयजीने गुर्वाज्ञा से खरतरगच्छीय यति **श्री सागरचंदजी के पास व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन** किया (वि.सं. 1906 से 1909)।[24] तत्पश्चात् **निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति आदि पंचागी सहित जैनागमों का विशद अध्ययन वि.सं. 1910-11-12-13 में श्री पूज्य श्री देवेन्द्रसूरि के पास** किया। इनकी अध्ययन जिज्ञासा और रुचि देखकर श्री देवेन्द्रसूरि ने इन्हें विद्या की अनेक दुरुह और अलभ्य आमनायें प्रदान की।[25] श्री राजेन्द्रसूरि रास (पूर्वार्द्ध) के लेखक रायचन्दजी के अनुसार मुनि रत्नविजय ने **ज्योतिष का अभ्यास जोधपुर (राजस्थान) में चंद्रवाणी ज्योतिषी के पास** किया।[26]

बडी दीक्षा :-

वि.सं. 1909 में अक्षय तृतीया (वैशाख सुदि त्रीज) के दिन श्रीमद्विजय प्रमोद सूरि जी ने **उदयपुर** (राजस्थान) में आपको बडी दीक्षा दी।[27] साथ ही श्रीपूज्य श्री प्रमोदसूरि जी एवं श्री देवेन्द्रसूरि जी ने आपको उस समय **पंन्यास** पद भी दिया।[28]

अध्यापन :-

आपकी योग्यता और स्वयं की अंतिम अवस्था ज्ञातकर श्रीपूज्य श्री देवेन्द्रसूरिने अपने बाल शिष्य धरणेन्द्रसूरि जी (धीर विजय) को अध्ययन कराने का मुनि श्री रत्नविजयजी को आदेश दिया।[29] गुर्वाज्ञा व श्रीपूज्यजी के आदेशानुसार आपने वि.सं. 1914 से 1921 तक धीरविजय आदि 51 यतियों को विविध विषयों का अध्ययन करवाया और स्व-पर दर्शनों का निष्णात बनाया।[30]

श्रीपूज्यश्री धरणेन्द्रसूरिने भी विद्यागुरु के रुप में सम्मान हेतु आपको **'दफ्तरी'** पद दिया।[31] दफतरी पद पर कार्य करते हुए **आपने वि.सं. 1920 में राणकपुर तीर्थ में चैत्र सुदि 13 (महावीर जन्मकल्याणक) के दिन पांच वर्ष में क्रियोद्धार करने का अभिग्रह किया।**[32]

वि.सं. 1922 का चातुर्मास प्रथम बार स्वतंत्र रुप से 21 यतियों के साथ झालोर में किया।[33] इसके बाद वि.सं. 1923 का चातुर्मास श्रीपूज्यश्री धरणेन्द्रसूरि के आग्रह से घाणेराव में उन्हीं के साथ हुआ।[34]

आचार्य पद पर आरोहण : पृष्ठभूमि और प्रक्रिया-

ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि वर्षाकाल में ही घाणेराव में 'इत्र' के विषय में मुनि रत्नविजय का श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि से विवाद हो गया। श्री रत्नविजय जी साधुचर्या के अनुसार साधुओं को 'इत्र' आदि उपयोग करने का निषेध करते थे जबकि धरणेन्द्रसूरि

19. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 15, जीवनप्रभा पृ. 16
20. विरल विभूति, पृ. 8 से 11; जीवनप्रभा पृ. 7; राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 15
21. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 16 से 18; जीवनप्रभा पृ. 6, 7, 8
22. जीवनप्रभा पृ. 9; धरती के फूल पृ. 55; राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 18; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 6
23. दशवैकालिकसूत्र मूल 4/10
24. जीवनप्रभा पृ. 10-11; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 17; राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 19; राजेन्द्र सूरि अष्टप्रकारी पूजा 4/1, 4
25. जीवनप्रभा पृ. 11
26. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 17
27. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी पृ. 4; जीवनप्रभा पृ. 11; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 19
28. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी पृ. 4; जीवनप्रभा पृ. 11; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 20
29. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 21; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 18
30. जीवनप्रभा पृ. 14-15; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 18
31. यो हि योग्यग्रामादौ चतुरो मासान् स्थातुं यतीनादिशेत्, अपराधिनाममीषामुचितं दण्डयेत कस्मैचित् पंन्यासोपाध्यायाद्युपाधिप्रदाने प्रमाणपत्रं वितरेत्, श्री पूज्यस्याऽऽयव्ययकोषांश्च प्रबन्धयेत, स एवं 'दफतरी' निगद्यते। सम्मान्यते चैष तत्पसंप्रदाये महामात्यसाम्येन।
- कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनीगतो जीवनपरिचयः पृ. 5 टिप्पणी
32. जीवनप्रभा पृ. 19; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 25, 28, 33
33. विरल विभूति, पृ. 33
34. जीवनप्रभा पृ. 15, राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 23 श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 32, 36

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं अन्य शिथिलाचारी यति इत्र आदि पदार्थ ग्रहण करते थे। कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी के अनुसार वि.सं.1923 के पर्युषण पर्व में तेलाधर के दिन शिथिलाचार को दूर करने के लिये मुनि रत्नविजय ने तत्काल ही मुनि प्रमोदरुचि एवं धनविजय के साथ घाणेराव से विहार कर नाडोल होते हुए आहोर शहर आकर अपने गुरु श्री प्रमोदसूरिजी से संपर्क किया और बीती घटना की जानकारी दी।[35]

इसके साथ अनेक अन्य विद्वान् यतियों ने भी श्री पूज्य श्री प्रमोदसूरिजी को शिथिलाचार का उपचार करने हेतु लिखा। तब मुनि रत्नविजयजी ने आहोर में अट्ठम तप करके मौन होकर 'नमस्कार महामंत्र' की एकान्त में आराधना की। आराधना के पश्चात् श्री प्रमोदसूरिजी ने रत्नविजय से कहा- **''रत्न !...तुमने क्रियोद्धार करने का निश्चय किया है सो योग्य है** व मुझे प्रसन्नता भी है, परन्तु अभी कुछ समय ठहरो। पहले इन श्रीपूज्यों और यतियों से त्रस्त जनता को मार्ग दिखाओ, फिर क्रियोद्धार करो।''

तत्पश्चात् अपने गुरुदेव प्रमोदसूरीजी से विचार विमर्श कर मुनि रत्नविजय ने अपनी कार्य प्रणाली निश्चित की।[36]

वि.सं. 1923 में इत्र विषयक विवाद के समय ही प्रमोदसूरि जी ने मुनि रत्नविजय को आचार्य पद एवं श्रीपूज्य पदवी देना निश्चित कर लिया था। 'श्री राजेन्द्र गुणमंजरी' आदि में उल्लेख है कि **वि.सं. 1924, वैशाख सुदि पंचमी बुधवार को श्री प्रमोदसूरिजी ने निजपरम्परागत सूरिमंत्रादि प्रदान करके श्रीसंघ आहोर द्वारा किये गये महोत्सव में मुनि श्री रत्नविजयजी को आचार्य पद एवं श्रीपूज्य पद प्रदान किया और मुनि रत्नविजय का नाम 'श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि' रखा गया**। आहोर के ठाकुर श्री यशवन्तसिंहजी ने परम्परानुसार श्रीपूज्य - आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि को रजतावृत्त चामर, छत्र, पालकी, स्वर्णमण्डित रजतदण्ड, सूर्यमुखी, चंद्रमुखी एवं दुशाला (कांबली) आदि भेंट दिये।[37] मुनि यतीन्द्रविजय लिखित 'श्रीकल्पसूत्रार्थप्रबोधिनीगतजीवनम्' में इस 'आचार्य पद प्रदान समारोह' का वर्णन निम्नानुसार हैं-

''श्री गुरुरपि....योग्यसमयं विमृश्य श्रीसंघाऽऽराध्यमहामहेन वैक्रमे 1924 वैशाखसित-पञ्चमी बुधवासरे पंन्यासरत्नविजयाय निजपरम्परागतसूरिमंत्रं प्रदाय 'श्रीविजय राजेन्द्रसूरिः' इत्याख्यां दत्वा श्रीपूज्यपदं ददिवान्। तदैव ठक्कुरः श्रीयशवन्तसिंहः श्रीपूज्यायाऽस्मै स्वर्णयष्टि-चामर-च्छत्र-याप्यमान-सूर्यमुखी-चन्द्रमुखी-महावस्त्रप्रमुखमार्पिपच्च।''[38]

इस प्रकार बालक रत्नराज क्रमशः मुनि रत्नविजय, पंन्यास रत्नविजय और अब श्रीपूज्य एवं आचार्य पद ग्रहण करने के बाद आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि नाम से पहचाना जाने लगा। आचार्य पद ग्रहण करके आप मारवाड से मेवाड की ओर विहार कर शंभूगढ पधारे। वहाँ के राणाजी के कामदार फतेहसागरजी ने पुनः पाटोत्सव किया, और आचार्यश्री को शाल (कामली) छडी, चँवर आदि भेट किये।[39]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिने शम्भूगढ से विहार करते हुए वि.सं. 1924 का चातुर्मास जावरा में किया।[40] आचार्य पद पर आरोहण के पश्चात् आपका यह प्रथम चातुर्मास था। जावरा चातुर्मास के बाद **विक्रम संवत् 1924 के माघ सुदि 7 को आपने नौकलमी ''कलमनामा''**[41] बनाकर श्री पूज्य धरणेन्द्रसूरि द्वारा भेजे गये मध्यस्थ मोतीविजय और सिद्धिकुशलविजय -इन दो यतियों के साथ भेजकर श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि आदि समस्त यतिगण से अनुमत करवाया।[42]

क्रियोद्धार का बीजारोपण -

श्री राजेन्द्रसूरि रास (पूर्वार्द्ध) के अनुसार दीक्षा लेकर वि.सं. 1906 में उज्जैन में पधारे तब गुरुमुख से उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत भृगु पुरोहित के पुत्रों की कथा सुनकर मुनि रत्नविजयजी के भावों में वैराग्य वृद्धि हुई और इस प्रकार आप 'क्रियोद्धार' करने के विषय में चिंतन करने लगे-

''इम ध्यावे वैरागियो कां, चिंते क्रिया उद्धार।
जोवे सद्गुरु वाटडी हो, संजम खप करनार।।[43]

श्री राजेन्द्रसूरि रास के अनुसार पंन्यास श्रीरत्नविजयजी जब

35. जीवनप्रभा पृ. 15, 16. राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 23 से 26, श्री राजेन्द्रसूरि का रास पत्रांक 33 से 37
36. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 36, 38; विरल विभूति, पृ. 37, 38
37. श्री राजेन्द्र सूरि का रास पृ. 38; जीवनप्रभा पृ. 16; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 26, 27
38. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी, जीवन परिचय, पृ. 6
39. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 27; श्री राजेन्द्र सूरि का रास, पृ. 38, 39; जीवनप्रभा पृ.16
40. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 28; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 39; जीवनप्रभा पृ.16, 17
41. कलमनामा
    (1) पेली : प्रतिक्रमण दोय टंक को करणो, श्रावक-साधु समेत करणा-करावणा, पच्चक्खाण-वखाण सदा थापनाजी की पडिलेहण करणा, उपकरण 14 सिवाय गेणा तथा मादलिया जंतर पास रखणां नहीं, श्री देहेरेजी नित जाणा, सवारी में बैठणा नहीं, पैदल जाणा।
    (2) दूजी : घोडा तथा गाडी ऊपर नहीं बैठणा, सवारी खरच नहीं राखणा।
    (3) तीजी : आयुध नहीं रखाणा, तथा गृहस्थी के पास आयुध, गेणा रुपाला देखो तो उनके हाथ नहीं लगाणा, तमंचा शस्त्र नाम नहीं राखणा।
    (4) चोथी : लुगाईयों सुं एकान्त बेठ बात नहीं करणा, वेश्या तथा नपुंसक वांके पास नहीं बैठणा, उणाने नहीं राखणा।
    (5) पांचमी : जो साधु (यति) तमाखु तथा गांजा भांग पीवे, रात्रिभोजन करे, कांदा-लसण खावे, लंपटी अपच्चक्खाणी होवे-एसा गुण का साधु (यति) होय तो पास राखणा नहीं।
    (6) छट्ठी : सचित लीलोतरी, काचा पाणी, वनस्पति कुं विणासणा नहीं, काटणा नहीं, दांतण करणा नहीं, तेल फुलेल मालस करावणा नहीं, तालाब कुवा बावडी में हाथ धोवणा नहीं।
    (7) सातमी : सिपाई खरच में आदमी नोकर जादा राखणा नहीं, जीवहिंसा करे ऐसा नौकर राखणा नहीं।
    (8) आठमी : गृहस्थी से तकरार करके खमासणा प्रमुख बदले रुपिया दबायने लेणा नहीं।
    (9) नवमी : और किसीको सद्दहणा देणा, श्रावकियाने उपदेश-शुद्ध परुवणा देणी, ऐसी परुवणा देनी नहीं जणी में उलटो अणा को समकित बिगडे ऐसो परुवणो नहीं, और रात के बारे जावे नहीं और चोपड, सतरंज, गंजिफा वगेरा खेल रमत कहीं खेले नहीं, केश लांबा वधावे नहीं, फारखी पेरे नहीं और शास्त्र की गाथा 500 रोज सज्झाय करणा।
42. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 40, 41, 42; जीवनप्रभा पृ. 18; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 30 से 34
43. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहार करते हुए वि.सं. 1920 में राजगढ में पधारे थे तब वहाँ यति मानविजय ने उनको अपने गुरु की खाली गादी पर श्रीपूज्य बनकर बैठने को कहा, तब आपने 'मुझे तो क्रियोद्धार करना है'' -ऐसा कहकर श्रीपूज्य की गादी पर बैठने से मना कर दिया था।[44]

क्रियोद्धार का अभिग्रह :-

वि.सं. 1920 में ही पं. रत्नविजयजी अन्य यतियों के साथ विहार करते हुए चैतमास में राणकपुर पधारे तब **भगवान महावीर के 2389 वें जन्म कल्याणक के उपलक्ष में रत्नविजयजी ने अट्ठम (तीन उपवास) तप करके राणकपुर में परमात्मा आदिनाथ की साक्षी से पांच वर्षों में क्रियोद्धार करने का अभिग्रह लिया था।**[45] वहीं पारणा के दिन प्रात:काल में मुनि रत्नविजयजी मंदिर से दर्शन कर बाहर जिनालय के सोपान उतर रहे थे तब किसी अबोध बालिका ने आकर कहा- ''नमो आयरियाणं' मालछाब तेला छपल हो गया आप पालणा करो, बाछठ मीनों में करना'' ('नमो आयरियाणं' महाराज साहब! तेला (अट्ठम तप) सफल हो गया। आप पारणा करो। (क्रियोद्धार) बासठ महीनों में (के बाद) करना'' -ऐसा कहकर वह बालिका दौडकर मंदिर में उद्दश्य हो गई। इस प्रकार उन्हें दिव्य शक्ति के द्वारा क्रियोद्धार करने का संकेत भी मिला।[46]

इसके बाद **वि.सं. 1922 में जालोर(राजस्थान) चातुर्मास में भी आपको क्रियोद्धार करने की तीव्र भावना हुई।** यति महेन्द्र विजयजी, धनविजयजी आदिने भी क्रियोद्धार करने में अपनी सहमति बताई। वि.सं. 1923 में भी जब आप धाणेराव से आहोर पधारे थे तब भी आपने आहोर में एक महिना तक अभिग्रह धारण करके शुद्ध अन्न-पानी ही उपयोग में लिये।[47] इतना ही नहीं अपितु राजेन्द्रसूरि रास में तो स्पष्ट उल्लेख हैं कि, श्रीपूज्य पद एवं आचार्य पद ग्रहण करने के पश्चात् आपने **अपने गुरुश्री प्रमोद सूरिजी[48] से भी क्रियोद्धार हेतु विचार विमर्श करके आज्ञा भी प्राप्त की थी।**[49]

अत: उत्कृष्ट तप-त्यागमय शुद्ध साधु जीवन का आचरण एवं वीरवाणी के प्रचार के अपने एक मात्र ध्येय की पूर्ति हेतु पूर्वोक्तानुसार धरणेन्द्रसूरि आदि के द्वारा नव कलमनामा अनुमत होने के बाद आचार्य **श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने वि.सं. 1925 में आषाढ वदि दशमी शनिवार/सोमवार, रेवती नक्षत्र, मीन राशि, शोभन (शुभ) योग, मिथुन लग्न में तदनुसार दिनांक 15-6-1868 में क्रियोद्धार करके शुद्ध साधु जीवन अंगीकार किया। उसी समय छडी, चामर, पालखी आदि समस्त परिग्रह श्री ऋषभदेव भगवान के जिनालय में श्री संघ-जावरा के अर्पित किया, जिसका ताडपत्र पर उत्कीर्ण लेख श्री सुपार्श्वनाथ के मंदिर के गर्भगृह के द्वार पर लगा हुआ है।**

क्रियोद्धार के समय आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अट्ठाई (आठ उपवास) तप सहित जावरा शहर के बाहर (खाचरोद की ओर) नदी के तटपर वटवृक्ष के नीचे नाण (चतुर्मुख जिनेश्वर प्रतिमा) के समक्ष केश लोंच किया, पञ्च महाव्रत उच्चारण किये एवं शुद्ध साधु जीवन अंगीकार कर सुधर्मा स्वामी की 68वीं पाट पर 'आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी' नाम से प्रख्यात हुए। वर्तमान में आपके प्रशिष्यरत्न, राष्ट्रसंत आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी के सदुपदेश से खीमेल (राजस्थान) निवासी किशोरमलजी वालचंदजी खीमावत परिवार के सहयोग से श्री संघ जावरा द्वारा **क्रियोद्धारस्थली श्री राजेन्द्रसूरि वाटिका-जावरा(म.प्र.)** में एक सुरम्य गुरुमंदिर का निर्माण किया गया हैं।

क्रियोद्धार प्रत्रिका[50] :-

आचार्यश्री द्वारा उपर्युक्त क्रियोद्धार कार्य जिस शुभ मूहुर्त में किया गया था तत्संबंधी निम्नाङ्कित पत्रिका उपलब्ध हैं-

''स्वस्ति श्री तीर्थनायकं जिनवरेन्द्रं श्रीवर्धमानं प्रणिप्रत्य, लिख्यते श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर-क्रियोद्धार पत्रिका। श्री विक्रमादित्य राज्यातीते सं. 1925 वर्षे अषाढकृष्णौ 10 (दशमी) शनौ (सोमे) रेवति नक्षत्रे शोभनयोगे मिथुनलग्ने क्रियोद्धार समयं शुभम् 1 ता. 15-6-1868

तस्य लग्नमिदम् -

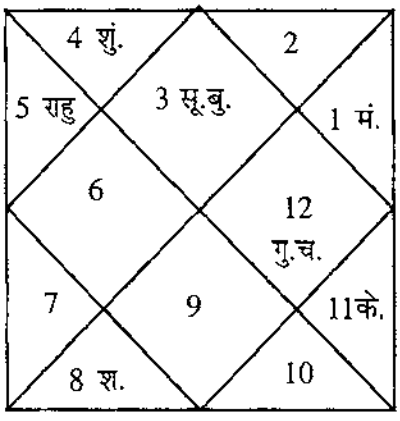

क्रियोद्धारक के तत्काल बाद श्री धनविजयजी एवं श्री प्रमोदरुचिजी आपके पास उपसंपद् दीक्षा ग्रहण करके आपके शिष्य बन गये एवं प्रथम श्रावक-श्राविका के रुप में जावरा निवासी छोटमलजी जुहारमलजी पारख एवं उनकी श्राविकाने गुरुदेवश्री से श्रावक व्रत अंगीकार किये। (उनके वंशज आज भी इन्दौर, रतलाम, आदि जगह हैं)।

क्रियोद्धार के साथ ही आपने प्राचीन त्रिस्तुतिक परम्परा का भी पुनरुद्धार किया एवं अपने गच्छ का नाम श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छ रखा[51]। अत: यहाँ प्रसंगोपात्त त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का भी परिचय दिया जा रहा हैं-

---

44. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 27
45. धरती के फूल पृ. 68, 70
46. धरती के फूल पृ. 71
47. धरती के फूल पृ. 33 से 38
48. आचार्य श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी के अनुसार उनके गुरु श्री प्रमोदसूरिजी एवं उनके बडे गुरुभ्राता श्री हेमविजयजी के तप-त्याग एवं साधु जीवन का मुनि रत्नविजयजी पर अमीट प्रभाव था। क्योंकि उनका जीवन तो साधु के समान हो था। वे अपनी पिछली उम्र में नित्य आयंबिल तप करते थे परंतु धरणेन्द्रसूरि एवं उनके साथवाले यतियों का जीवन शिथिलाचारी था।
49. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 47; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 35, 36; जीवनप्रभा पृ. 19
50. धरती के फूल पृ. 126, 127
51. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 47; अभिधान राजेन्द्र भाग 7, संस्कृत प्रशस्ति-1, मुद्रण प्रशस्ति-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का महत्त्व एवं प्राचीनता

जैनों के प्रथम तीर्थंकर परमात्मा ऋषभदेव ने वर्तमान अवसर्पिणी काल में गृहस्थावस्था में सर्वप्रथम मानव सभ्यता, असिविद्या, मषिविद्या और कृषिविद्या का आलोक बिखेरा एवं केवलज्ञान के बाद मोक्ष प्राप्ति हेतु समीचीन धर्म की प्ररुपणा की। उस धर्म में देवोपासना को कोई स्थान नहीं था। परन्तु अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समय में यज्ञ-यागों का और देवोपासना का बहुत बोलवाला था। अत: उन्होंने यज्ञ और यज्ञ के निमित्त होने वाली पशुहिंसा का तीव्र विरोध कर अहिंसा प्रधान श्रमण धर्म/जैनधर्म को पुन: प्रकाशित किया। उनके अथक प्रयत्नों से हिंसक यज्ञ-यागों का प्रचलन बंद हो गया। और उनके वीतराग मार्ग के प्रकाशन के कारण देवोपासना भी बंद हो गयी।

जैनधर्म में देवोपासना को कोई स्थान नहीं है। यहाँ वीतरागता और वीतराग की आराधना को ही प्रधानता दी गयी हैं। परमात्मा ने आराधकों के लिये आत्मकल्याणकर और मोक्षप्रदायक सामायिकादि छह आवश्यकमय भावानुष्ठानों का प्रतिपादन किया है जो कि आराधक को संसार-भ्रमण से मुक्त करता हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् सुधर्मा स्वामी की परंपरा चली। इस परंपरा में सुदेव, सगुरु और सुधर्म की आराधना की जाने लगी। इसी परंपरा में चौथे पाट पर श्री शय्यंभवसूरि महाराज हुए। उन्होंने धर्म का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए दशवैकालिक सूत्र के प्रारंभ में कहा-

''धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो।[52]

अर्थात् अहिंसा, संयम और तप ही धर्म हैं। यही उत्कृष्ट मङ्गल है। देवता भी उसे प्रणाम करते हैं, जिसका मन सदा इस धर्म में लगा रहता हैं।

त्रिस्तुतिक सिद्धांत अर्थात् सम्यक्त्व एवं व्रत धारण के बाद तीन थुई का सिद्धांत,[53] जिसमें आराधक चैत्यवन्दन करते समय तीन स्तुतियाँ बोलते हैं-

1. पहली अधिकृत जिनकी, 2. दूसरी सर्व जिन की और 3. तीसरी जिनागम की

वीतराग की आराधना का यही श्रेष्ठतम मार्ग है। यही शुद्ध साधन है और इसी के द्वारा मोक्षरुप शुद्ध साध्य सिद्ध होता है। यह साधना के क्षेत्र में एक निर्मल आचरण हैं। यह सम्यग्दर्शन की रीढ है। इसके अभाव में सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता हैं। यह सिद्धांत आराधक को स्वावलम्बी बनाने की प्रेरणा देता है। इसी सिद्धांत के पालन में वीतरागता का गौरव निहित हैं।

इस सिद्धांत ने यह स्पष्ट कर दिया कि वीतरागी ही वंदनीय, पूजनीय तथा अनुक्षण स्मरणीय हैं। जिनागम में जगह-जगह इस त्रिस्तुतिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया हुआ हैं जिसके संबंधित शास्त्रपाठ शोध-प्रबंध के परिशिष्ट क्र. 2 पर वर्णित हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् हजार वर्ष तक यह सिद्धांत अबाधित रुप से चलता रहा, पर बाद में अन्य धर्मो के प्रभाव से लोग देवोपासक होने लगे और इन तीन थुइयों में चौथी थुई का मत चल पडा। चौथी थुई देवी-देवता से संबंधित हैं।

श्री बुद्धिसागरसूरि जी महाराज 'गच्छमतप्रबन्ध' में लिखते हैं - **''विद्याधर गच्छनां श्री हरिभद्रसूरि थया ते जाते ब्राह्मण हता। तेमणे जैन दीक्षा ग्रहण करी। ते याकिनी साध्वीनां धर्मपुत्र कहेवाता हतां। तेमणे 1444 ग्रंथो बनाव्या। श्रीवीरनिर्वाण पछी 1055 वर्षे स्वर्गे गया। त्यार पछी चतु:स्तुतिक मत चाल्यो।[54]**

इस प्रकार 'चार थुई' का मत प्रारंभ हुआ और सौधर्म गच्छ में देवी-देवताओं की उपासना प्रारंभ हुई। शिथिलाचार बढ गया और देवी-देवताओं के स्तोत्र, स्तुतियाँ, स्तवन आदि रचे जाने लगे। उनसे धन-दौलत, एश्वर्य (ठकुराई) आदि की याचना की जाने लगी। त्रिस्तुतिक सिद्धांत अदृश्य होने लगा, फिर भी परमात्म-प्ररुपित यह सिद्धांत पूरी तरह से लुप्त नहीं हुआ। थराद क्षेत्र (उ.गुजरात) में तीन थुई सिद्धांत यथावत् प्रचलित रहा।

थराद में विक्रम की नौंवी शती में थारापद्रीय/थिरापद्र गच्छ, 13 वीं शती में 'आगमिका गच्छ' एवं 16 वीं शती में 'कडवामति गच्छ' की मान्यता प्रचलित थी। ये सभी गच्छ तीन थुई सिद्धांत का आचरण करते थे। आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी जब वि.सं. 1937 में धानेरा पधारे तब थराद के कडवागच्छ के यति श्री लाधाजी साजीने आचार्यश्री को उक्त बात ज्ञात करवाकर साग्रह विनंतीपूर्वक थराद में आपका पदार्पण करवाया था।[55]

---

52. श्री दशवैकालिका सूत्र 1/1
53. ले.आ.श्री.वि. जयन्तसेनसूरि - असली दुनिया, इन्दौर सं., दिनांक 02.09-2000 पृ. 4से उद्धृत
54. गच्छमतप्रबंध अने संघ प्रगति, पृ. 169
55. थराद-प्राचीन थिरपुर नगर: 'युग युगनी याद' -लेखक कीर्तिलाल बोरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की गच्छपरम्परा

भारतीय अध्यात्म परंपरा में किसी भी ऋषि-मुनि को किसी न किसी सम्प्रदाय के गुरु से दीक्षित होना आवश्यक माना जाता है, इसके अभाव में उसे प्रामाणिक नहीं माना जाता। कुछ लोगों के मन में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के गच्छ के विषय में भ्रम है किआचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि का कोई गुरु नहीं था और उन्होंने स्वयं ही दीक्षित होकर अपना मत चलाया। जब कि सत्य यह है कि **आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि 'सुधर्म गण' की वज्रशाखा में चंद्र कुल में तपागच्छीय परंपरा में हुए है।** अतः आचार्यश्री की गच्छपरम्परा के विषय में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना आवश्यक हैं। यहाँ इसलिए प्रसंगवश इनका संक्षिप्त ऐतिहासिक गच्छ परिचय दर्शाया जाता है-

श्रीमहावीर स्वामी के 9 गच्छ एवं 11 गणधर थे, जिसमें 9 गणधर तो उनकी उपस्थिति में ही निर्वाण को प्राप्त हो चुके थे, और गौतमस्वामी को प्रातः केवलज्ञान की प्राप्ति होने वाली थी, अतः श्रीमहावीर स्वामी ने सुधर्मा स्वामी को संघ की समस्त व्यवस्था एवं उत्तरदायित्व दिया। **वर्तमान में जो भी जितने भी साधु-साध्वी हैं वे सब सुधर्मा स्वामी की परंपरा के हैं।**[56] **उनके नाम से निर्ग्रन्थ गच्छ 'सौधर्मगच्छ' (गण) के नाम से प्रख्यात हुआ।**[57]

भगवान् की 9 वीं पाट पर **आर्य सुहस्तिसूरिजी** के शिष्य **आर्य सुस्थितसूरिजी और सुप्रतिबद्ध सूरिजी हुए।** उन्होंने आचार्य पद प्राप्ति के बाद **कोकंदी नगरी में 'सूरिमंत्र'** (जैनाचार्यों ही के द्वारा जपयोग्य विशिष्ट लब्धिविद्यायुक्त महान् प्रभाविक मंत्र) **का करोड बार जाप किया।** जिससे **सौधर्म गच्छ में** इनका गच्छ **'कोटिक गण'** के नाम से प्रचलित हुआ।[58] कोटिक गण की चार शाखाओं में **तृतीय वज्र शाखा हुई।**[59]

भगवान् महावीर की 13 वीं पाट पर अंतिम दशपूर्वधर युगप्रधान आचार्य श्री वज्रस्वामी हुए।[60] उनके शिष्य आचार्य वज्रसेनसूरि हुए।[61] आचार्य वज्रसेन के शिष्य **आचार्य चंद्रसूरि के नाम से चंद्र कुल की उत्पत्ति हुई।**[62]

भगवान् महावीर के सोलहवें पाट पर **श्री समन्तभद्रसूरिजी** हुए, जो अधिकांश वन में ही रहते थे और इसी कारण **उनसे** इसी परंपरा में **वनवासी गच्छ** उत्पन्न हुआ।[63] **वनवासी गच्छ** में आचार्य श्री नेमिचंद्रसूरिजी के पट्टधर **श्री उद्योतनसूरि** हुए। उन्होंने आबु पर्वत की तलहटी में तेली गाँव में बलवान् ग्रह-नक्षत्र युक्त उत्तम मुहूर्त में संतानवृद्धि का सहज योग देखकर वटवृक्ष के नीचे सर्वदेव आदि आठ पुरुषों को दीक्षा दी। इससे **वनवासी गच्छ में वडगच्छ** उत्पन्न हुआ।[64]

वडगच्छ के श्री मणिरत्नसूरि जी के शिष्य **श्री जगच्चंद्रसूरि** हुए। आपने गच्छ में व्याप्त शिथिलाचार को दूर करने हेतु यावज्जीव अभिग्रहपूर्वक आयम्बिल[65] तप किया। इससे प्रभावित होकर मेवाड नरेश जैत्रसिंहजी ने वि.सं. 1285 में आपको 'तपा' (अर्थात् तप करने वाला) नामक बिरुद दिया जो आगे जाकर आपके गच्छ के साथ जुडने पर **सौधर्म गच्छ...वडगच्छ तपागच्छ** कहलाया।[66]

'तपा' शब्द 'तपस्' का अपभ्रंश है किन्तु जाति वाचक रुढ शब्द होने से 'तपा' रुप में ही प्रयुक्त होता है। कुछ लोग इसके स्थान पर 'तपस्' का प्रयोग करके '...तपोगच्छ' प्रयोग भी करते हैं। **इसी तपागच्छ की परंपरा में आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी हुए जिन्होंने वि.सं. 1925 अषाढ वदि दशमी के दिन क्रियोद्धार के समय अपने गच्छ का नाम श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छ रखा।**[67]

56. अ.रा.पृ. 5/256; कल्पसूत्र मूल, स्थविरावली गाथा 5 एवं टीका; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 106, 107
57. अ.रा.भा. 7 – मुद्रण प्रशस्तिश्लोक-1
58. अ.रा.पृ. 5/256; वही भाग 7, मुद्रणपरिचयश्लोक 1; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.133
59. अ.रा.पृ. 5/256; मुद्रणपरिचयश्लोक 1; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.133
60. अ.रा.पृ. 5/256; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 148
61. अ.रा.पृ. 5/256; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 150
62. अ.रा.भा. 7; मुद्रणपरिचयश्लोक; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.158
63. अ.रा.भा. 7; मुद्रण परिचय
64. अ.रा.भा. 7; मुद्रणपरिचयश्लोक; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.193
65. आयंबिल-जिसमें घी, तेल, दूध, दही, गुड-शक्कर एवं कडा विगर (तली चीज) इन छः विगइ (विकृति) एवं हरी वनस्पति आदि के त्यागपूर्वक केवल उबला हुआ धान्य या रुखी रोटी आदि दिन में एक ही बार एक ही जगह पर बैठकर खाया जाता है उसे जैन सिद्धान्त के अनुसार 'आयंबिल' तप कहते है।
66. अ.रा.पृ. 4/1383; 2185; एवं 5/256; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 229
67. अ.रा.भा. 7, मुद्रणपरिचय, श्लोक 2 ; संस्कृतप्रशस्ति, श्लोक 1

श्रीमत्सौधर्मगच्छः प्रवरमतियुतः कल्पवृक्षः प्रतीतो,
गच्छाचारैकचारप्रशमरसधरः सूरिमुख्यो विशालः।
संसारोन्मूलनेभश्रमणगणशुभः शान्तिचारुः प्रफुल्लः,
सोऽयं सौधर्मगच्छो जयति जगति वो बोधिबीजं तनोतु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की गुरुपरम्परा

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय गुर्वावली/पट्टावली[68]

(शासनपति श्री महावीर स्वामीजी)

क्रम	आचार्य का नाम	क्रम	आचार्य का नाम	क्रम	आचार्य का नाम
1.	**श्री सुधर्मास्वामीजी**	25.	श्री नरसिंहसूरिजी	49.	श्री देवसुन्दरसूरिजी
2.	श्री जम्बूस्वामीजी	26.	श्री समुद्रसूरिजी	50.	श्री सोमसुन्दरसूरिजी
3.	श्री प्रभवस्वामीजी	27.	श्री मानदेवसूरिजी	51.	श्री मुनिसुन्दरसूरिजी
4.	श्री शय्यंभवसूरिजी	28.	श्री विबुधप्रभसूरिजी	52.	श्री रत्नशेखरसूरिजी
5.	श्री यशोभद्रसूरिजी	29.	श्री जयानन्दसूरिजी	53.	श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी
6.	श्री संभूतिविजयजी	30.	श्री रविप्रभसूरिजी	54.	श्री सुमतिसाधुसूरिजी
	श्री भद्रबाहुस्वामीजी	31.	श्री यशोदेवसूरिजी	55.	श्री हेमविमलसूरिजी
7.	श्री स्थूलिभद्रसूरिजी	32.	श्री प्रद्युम्नसूरिजी	56.	श्री आनन्दविमलसूरिजी
8.	श्री आर्य महागिरिजी	33.	श्री मानदेवसूरिजी	57.	श्री विजयदानसूरिजी
	श्री आर्य सुहस्तिसूरिजी	34.	श्री विमलचन्द्रसूरिजी	58.	श्री हीरविजयसूरिजी
9.	**श्री सुस्थितसूरिजी**	35.	**श्री उद्योतनसूरिजी**	59.	श्री विजय सेनसूरिजी
	श्री सुप्रतिबद्धसूरिजी	36.	श्री सर्वदेवसूरिजी	60.	श्री विजय देवसूरिजी
10.	श्री इन्द्रदिन्नसूरिजी	37.	श्री देवसूरिजी	61.	श्री विजय सिंहसूरिजी
11.	श्री दिन्नसूरीजी	38.	श्री सर्वदेवसूरिजी	62.	श्री विजय प्रभसूरिजी
12.	श्री सिंहगिरिसूरिजी	39.	श्री यशोभद्रसूरिजी	63.	श्री विजय रत्नसूरिजी
13.	श्री वज्रस्वामीजी		(श्री नेमिचन्द्रसूरिजी)	64.	श्री क्षमासूरिजी
14.	श्री वज्रसेनसूरिजी	40.	श्री मुनिचन्द्रसूरिजी	65.	श्री विजय देवेन्द्रसूरिजी
15.	**श्री चन्दसूरिजी**	41.	श्री अजितदेवसूरिजी	66.	श्री विजय कल्याणसूरिजी
16.	**श्री समन्तभद्रसूरिजी**	42.	श्री विजयसिंहसूरिजी	67.	श्री विजय प्रमोदसूरिजी
17.	श्री वृद्धदेवसूरिजी	43.	श्री सोमप्रभसूरिजी	68.	**श्री विजय राजेन्द्रसूरिजी**
18.	श्री प्रद्योतनसूरिजी		**(श्री मणिरत्नसूरिजी)**	69.	श्री विजय धनचन्द्रसूरिजी
19.	श्री मानदेवसूरिजी	44.	**श्री जगच्चन्द्रसूरिजी**	70.	श्री विजय भूपेन्द्रसूरिजी
20.	श्री मानतुङ्गसूरिजी	45.	श्री देवेन्द्रसूरिजी	71.	श्री विजय यतीन्द्रसूरिजी
21.	श्री वीरसूरिजी		श्री विद्यानन्दसूरिजी	72.	श्री विजय विद्याचन्द्रसूरिजी
22.	श्री विजयदेवसूरिजी	46.	श्री धर्मघोषसूरिजी	73.	**वर्तमान श्रीमद्विजय**
23.	श्री देवानन्दसूरिजी	47.	श्री सोमप्रभसूरिजी		**जयन्तसेनसूरिजी**
24.	श्री विक्रमसूरिजी	48.	श्री सोमतिलकसूरिजी		

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के क्रियोद्धारकत्व के विषय में कुछ लोगों में ऐसा भ्रम है कि आपके कोई गुरु नहीं थे, परन्तु यह सत्य नहीं है। आपके गुरु आचार्य श्री प्रमोदसूरिजी थे जैसा कि पूर्व में दीक्षा-प्रकरण में उल्लेख किया गया है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है-

श्री विजय प्रमोदसूरिजी :-

भगवान् महावीर के प्रवर्तमान शासन में गच्छाधिपति के प्रथम क्रम पर श्री सुधर्मास्वामी का नाम आता है। इस परम्परा के 67 वें क्रम पर आचार्य श्रीमद्विजय प्रमोदसूरि आसीन थे। आपका जन्म डबोक (मेवाड) में गौड ब्राह्मण परमानन्दजी की भार्या पार्वतीबाई की कुक्षि से वि.सं. 1850 में गुडी पडवा (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा) के दिन हुआ था। आपका जन्म का नाम प्रमोदचन्द्र था। आपने वि.सं. 1863 में अक्षय तृतीया (वैशाख सुदि 3) के दिन दीक्षाव्रत अंगीकार किया था। वि.सं. 1893 मे ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन आपको आचार्य पद प्रदान किया गया।

वृद्धावस्था में जंधाबल क्षीण होने से आपने आहोर में स्थिरवास किया था।आपके रत्नविजयजी और ऋद्धिविजयजी दो शिष्य थे। जिसमें से संघ के आग्रह से वि.सं. 1924 में वैशाख शुक्ल पञ्चमी के दिन आपने रत्नविजयजी को आचार्य पद देकर श्री विजय राजेन्द्रसूरिजी नाम से प्रसिद्ध किया। आपने आहोर में वि.सं. 1934 में चैत्र कृष्णा अमावस्या को देह त्याग किया।[69]

68. श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि अभिनन्दन ग्रंथ, श्रीअभिधानराजेन्द्र कोश-द्वितीयावृत्ति
69. अ.रा.भा. 7, मुद्रणपरिचय, श्लोक 2 ; संस्कृतप्रशस्ति, श्लोक 1, पृ. 8,9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की शिष्यपरम्परा

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि के हाथ से करीब 250 दीक्षाएँ हुई थीं परंतु जो लोग आपके कठोर आचार पालन एवं दृढ अनुशासन में नहीं रह पाये वे यत्र-तत्र शिथिलाचारी संवेगी, ढूंढकों, ('ढूँढक' यह एक सम्प्रदाय का नाम है) में मिल गए फिर भी आपका जो भी शिष्य-शिष्या परिवार वर्तमान में हैं वह सभी आचार पालन में दक्ष एवं शासन प्रभावना में अतिशय निपुण हैं। जिसमें कुछेक का यहाँ परिचय दिया जा रहा हैं-

श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज[70]:-

आपका जन्म वि.सं. 1896 में चैत्र शुक्ला चतुर्थी के दिन ओसवंशीय कंकु चोपडा गोत्रीय शा. ऋद्धिकरणजी की धर्मपत्नी अचलादेवी की कुक्षी से किशनगढ (राज.) में हुआ था। आपका जन्म का नाम धनराज था। बारह वर्ष की आयु में ही आपने व्यवहारिक शिक्षा ले ली एवं धार्मिक शिक्षा में भी पंचप्रतिक्रमण जीवविचारादि चार प्रकरण, छः कर्मग्रंथ और प्रवचनसारोद्धारादि ग्रंथ कंठस्थ कर लिये थे। श्री सिद्धाचलादि अनेक तीर्थों की यात्रा भी की थी। आपने यति श्री लक्ष्मीविजयजी के पास वि.सं. 1917 में अक्षयतृतीया, गुरुवार के दिन धानेरा (गुजरात) में यति दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के पश्चात् आपने अनेक छंद, थोकडे, सैद्धांतिक बोल, उत्तराध्ययन सूत्र एवं दशवैकालिक सूत्र कंठस्थ किये। तत्पश्चात् व्याकरण के अध्ययन हेतु आप पंन्यास श्री रत्नविजयजी (आ.वि. राजेन्द्रसूरि जी) के पास आये। यहाँ आपने चन्द्रिका की तीनों वृत्ति एवं पंच काव्य का अध्ययन किया एवं शुद्ध साध्वाचार पालन की तीव्र उत्कण्ठा से वि.सं. 1925 में अषाढ वदि दशमी-बुधवार के दिन आचार्यश्री के साथ क्रियोद्धार कर उनके अपसंपत् शिष्य बने। आपको वि.सं. **1925 में मार्गशीष शुक्ल पंचमी** को आचार्यश्री ने **खाचरोद में उपाध्याय पद एवं वि.सं. 1965 में ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन श्रीसंघ ने जावरा में आचार्य पद** प्रदान किया।

जैनागम पञ्चाङ्गी एवं अन्य सभी प्रकार से साहित्य के आप अच्छे ज्ञाता थे। श्री संघ में आपको '**सिद्धांतसर्वज्ञ**' '**आगमचर्चा चक्रवर्ती**' की पदवी प्रदान हुई थी। आपने 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश' की रचना में गुरुदेवश्री को पूर्ण सहयोग किया। अपनी पाट पर अपने गुरुभाई श्री दीपविजयजी को अपने उत्तराधिकारी के रुप में घोषित कर आपने वि.सं. 1977 में भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा (महावीर जन्म वाचन दिन) सोमवार को रात्रि 9.00 बजे वागरा (राज.) में देहत्याग किया, जहाँ आज समाधि मंदिर बना हुआ हैं।

उपाध्याय श्री मोहनविजयजी[71]:-

वि.सं. 1922 में भाद्रपद वदि द्वितीया को आपका जन्म संबूजा (आहोर, (राज.) के निकट) गाँव में ब्राह्मण वरदीचन्द की पत्नी लक्ष्मीबाई की कुक्षी से हुआ था। आपका जन्म का नाम मोहन था। कर्मसंयोग से 5 वर्ष की वय में आप गूंगे हो गये एवं हाथ-पैर संधिवात से ग्रस्त हो गए। इसी हालत में आप वि.सं. 1932 में आहोर में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के संपर्क में आये। गुरु कृपा से तत्काल आप पूर्ण स्वस्थ हो गए। तब अपने जीवन को गुरुचरणों में समर्पित करते हुए वि.सं. 1933 में फाल्गुन सुदि द्वितीया के दिन जावरा (म.प्र.) में आपने आचार्यश्री के पास दीक्षा ग्रहण की।

प्रसन्न मुद्रा, विशाल भाल, भद्र प्रकृति, मधुर भाषी, शान्त-दान्त, कषायों से बचने में प्रतिपल सावधान, स्वच्छ-सुन्दर लिखावट, वैयावृत्य और स्वाध्यायलीनता मुनि मोहनविजयजी की पहचान थी।

वि.सं. 1959 में आपको गुरुदेव के हाथ से **पंन्यास पद** एवं **वि.सं. 1966 में** रतलाम **(म.प्र.)** में तत्कालीन आ.श्री.वि. धनचंद्र सूरीश्वर जी के हाथ से **उपाध्याय पद** प्राप्त हुआ। **आपके द्वारा हस्तलिखित क्रियाविधि और समाचारी ही गच्छ में प्रमाण माने जायेंगे - ऐसी गुर्वाज्ञा इस गच्छ में अद्यावधि प्रवर्तित है।** आपका स्वर्गवास वि.सं. 1977 के पौष सुदि चतुर्थी को कुक्षी, जिला-धार (म.प्र.) में हुआ था।

श्री प्रमोदरुचिजी[72]:- -

आपका जन्म मेवाड देशीय भींडर गाँव में वि.सं. 1898 में कार्तिक सुदि 5 के दिन शिवदत्त विप्र की धर्मपत्नी मेनावती से हुआ था। आपके छोटे भाई रघुदत्त और छोटी बहन रुक्मणी थी। वि.सं. 1913 माघ सुदि 5 गुरुवार को आपने पं. अमररुचि के पास भींडर में ही यति दीक्षा ली। सं. 1925 आषाढ वदि 10 को आपने आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के साथ क्रियोद्धार करके शुद्ध मुनि जीवन अंगीकार कर आप आचार्यश्री के **प्रथम दीक्षोपसंपद् शिष्य बने।**

आप संगीत शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे, इसलिए आपको '**संगीतवारिधि**' पद से अलङ्कृत किया गया। गुरुभक्ति, सरलता, मृदुता और समत्व की उपासना आपके विशिष्ट गुण थे। श्री हुकमविजयजी आपके शिष्य थे। आपका स्वर्गवास वि.सं. 1938 आषाढ वदि 14 को वाँगरोद में हुआ था।

श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज[73]:-

आपका जन्म भोपाल (म.प्र.) में श्रीमाली भगवानजी की धर्मपत्नी सरस्वती की कुक्षी से वि.सं. 1945 में अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। आपका जन्म का नाम 'देवीचन्द' था। बाल्यकाल में ही माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् जैसेलमेर निवासी श्रेष्ठी केसरीमलजी के साथ आप आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के दर्शनार्थ पहुंचे एवं उनके सदुपदेश से वैराग्य वासित होकर वि.सं. 1952 में अक्षय तृतीया के दिन आलीराजपुर में दीक्षा एवं वि.सं. 1954 माघ सुदि पंचमी को आहोर में बडी दीक्षा ली एवं मुनि श्री दीपविजयजी नाम से प्रसिद्ध हुए। आपको वि.सं. 1973 में विद्वद्मंडल ने '**विद्याभूषण**' **और**' **साहित्य विशारद**' -पद से अलंकृत

70. श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरि जीवनचरित्र से उद्धृत
71. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि काव्य से उद्धृत, धरती के फूल, पृ. 319, 320
72. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि काव्य से उद्धृत, धरती के फूल, पृ. 320-21-22
73. श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरि जीवन चरित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया एवं वि.सं. 1980, ज्येष्ट सुदि अष्टमी, शुक्रवार को श्रीसंघ ने आचार्य पद प्रदान किया एवं श्री भूपेन्द्र सूरीश्वर जी नाम घोषित किया। वि.सं. 1990 में अहमदाबाद में हुए अ.भा. जैन श्वे.मूर्तिपूजक मुनि सम्मेलन में अनेकों आचार्य एवं सैकडों मुनियों के बीच जो 9 प्रामाणिक आचार्यों की समिति बनी थी, उसमें आप चतुर्थ स्थान पर थे।

श्री दानविजयजी आदि 5 साधु एवं अनेक साध्वियाँ आपके हस्तदीक्षित हैं। आप स्वभाव से सरल और शांति प्रिय थे। साथ ही जैनागम एवं अन्य जैन-जैनेतर धार्मिक-ग्रंथ, संस्कृत, प्राकृत व्याकरण, कोश, अलंकारादि, तर्क, न्याय आदि के प्रकाण्ड मर्मज्ञ विद्वान् थे।

आपने विश्वविख्यात अभिधान राजेन्द्र कोश का संपादन-संशोधन एवं प्रकाशन कार्य मुनिश्री यतीन्द्र विजयजी के साथ रहकर पूर्ण जिम्मेदारी पूर्वक संपन्न किया। सूक्त मुक्तावली आदि 5 ग्रंथो की टीका, अनुवाद एवं अनेको चैत्यवन्दन-स्तुति-स्तवनादि की रचना की। आपकी रचनाओं में प्रचुर अर्थगांभीर्य प्राप्त होता है। आपका स्वर्गवास वि.सं. 1993 माघ शुक्ला सप्तमी को प्रातः आहोर (राज.) में हुआ।

श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वर जी महाराज[74] :-

आपका जन्म ओशवंशी जायसवाल गोत्रीय दिगम्बर सम्प्रदायानुयायी श्री बृजलालजी की धर्मपत्नी चम्पादेवी की कुक्षी से वि.सं. 1940 कार्तिक शुक्ला द्वितीया, रविवार के दिन धौलपुर (धवलपुर) राजस्थान में हुआ था। आपका जन्मनाम रामरत्न था। जब रामरत्न 5 वर्ष के थे तब माता का स्वर्गवास हो गया और उनके पिताजी धौलपुर छोडकर भोपाल (म.प्र.) जा बसे। वहाँ रामरत्नने अल्पायु में ही दिगम्बर पाठशाला में पंचमंगल पाठ, तत्त्वार्थ सूत्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, आलाप पद्धति, द्रव्य संग्रह, देवगुरु धर्म परीक्षा, नित्यस्मरणपाठ का अर्थ सहित अध्ययन किया, साथ ही भक्तामर, मंत्राधिराज, कल्याण मंदिर, विषापहार आदि स्तोत्र भी कंठस्थ किये।

12 वर्ष की अल्पायु में पिता का भी स्वर्गवास हो जाने से रामरत्न मामा के यहाँ रहे लेकिन वहाँ अनबन होने से वे उज्जैन में सिंहस्थ का मेला देखने आये। मेले के बाद श्री मक्षीजी तीर्थ की यात्रा कर महेन्द्रपुर (वर्तमान महिंदपुर सीटी) में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के दर्शन किये। मुनि दीपविजयजी (भोपालनिवासी होने से) आपके पूर्व परिचित थे तथा आचार्यश्री से प्रथम दर्शन एवं वार्तालाप से प्रभावित आपने अपने विद्वता एवं ज्ञानगांभीर्य से आचार्यश्री को भी प्रभावित कर आप आचार्यश्री के साथ रहे। विहार में आपके संस्कारी हृदय पर श्रीमद् गुरुदेवश्री के शुद्ध क्रियाकलाप, दैनिक दिनचर्या एवं विद्वता का अमिट प्रभाव पडा। फलस्वरुप रामरत्न ने वि.सं. 1954, आषाढ कृष्णा द्वितीया, सोमवार के दिन खाचरोद में आचार्यश्री के पास लघु दीक्षा एवं वि.सं. 1955 माघ शुक्ला पंचमी गुरुवार को आहोर (राज.) में बडी दीक्षा ली। आपका नाम गुरुदेव ने मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी रखा। गुरुनिश्रा में नौ साल तक सतत रहने से आपको जैनागमों का तीव्र गति से अध्ययन, स्वाध्याय, विहार, प्रतिष्ठाञ्जनशलाका, जीर्णोद्धार, दीक्षा, बडी दीक्षा, उपधान, उद्यापन (उजमणां), संघयात्रा, तीर्थयात्रा, ज्ञानभंडार स्थापना, शास्त्रार्थ, कलह-शांति आदि धर्मकार्यों का सर्वतोमुखी अनुभव प्राप्त हुआ। एवं बाद में आपने श्री संघ में ये सभी कार्य करवाये।

आपको वि.सं. 1972 में वागरा (राज.) में श्रीमद्विजय धनचन्द्र सूरिजी म.सा. ने **'व्याख्यान वाचस्पति'**, वि.सं. 1980 में जावरा में श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. ने 'उपाध्याय पद' एवं आ. सागरानंद जी के साथ शास्त्रार्थ में उसी वर्ष रतलाम नरेश की विद्वद्मंडली की मध्यस्थता में **'पीताम्बर विजेता'** पदवी एवं वि.सं. 1995में वैशाख सुदि दशमी को आहोर में श्रीसंघ ने **आचार्य पदवी** दी।

आपके मुनि श्री विद्याविजयजी आदि 18 शिष्य थे एवं अनेकों शिष्याएं थी। आप विद्वानों से प्रेम रखते थे एवं उन्हें आदर और सम्मान देते थे।

आपने मुनि श्री दीपविजयजी के साथ रहकर अभिधान राजेन्द्र कोश का संपादन-संशोधन एवं प्रकाशन करवाकर गुरुदेव एवं श्रीसंघ का अभूतपूर्व विश्वास संपादन किया। स्वाध्याय और लेखन आपका प्रिय व्यसन था। आपके शिष्यों ने कभी आपको किसी से बात करते या फालतू बैठे नहीं देखा। हमेशा दीवाल की ओर मुख करके सतत लेखन आपकी प्रिय प्रवृत्ति थी। आपने तीन थुइ की प्राचीनता, सत्यबोध-भास्कर, पीत पटाग्रह मीमांसादि प्रायः 60 के करीब ग्रंथ लिखे। लेकिन **आप एवं मुनि दीपविजयजी द्वारा लिखित अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग का उपोद्घात कोई पढे, वह सहज ही आपकी विद्वत्ता के प्रति नतमस्तक हो जाता हैं।** मेरी नेमाड यात्रा, मेरी गोडवाड यात्रा आदि में **आपने** विभिन्न गाँव नगरों के लोगों के रहन-सहन एवं स्वभाव के विषय में **जो बातें लिखी है वह आज भी इतनी ही सत्य साबित होती हैं।** इतना ही नहीं **जैन श्वे. श्रीसंघ के अन्य बडे-बडे विद्वान् आचार्य भी आपकी कही हुई बातों को सैद्धांतिक रुप से प्रामाणिक मानते थे एवं विभिन्न विषयों में आपकी सलाह लेते थे।**

आपने आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी द्वारा पुनः प्रचारित त्रिस्तुतिक सिद्धांत एवं गच्छ की आचार मर्यादा का दृढतापूर्वक पालन करने के साथ श्रीसंघ में उन सिद्धांतो का प्रचार-प्रसार कर दृढतापूर्वक पालन करवाया। सामाजिक एकता एवं समाज सेवा हेतु आपने अपने अंतिम जीवन में वि.सं. 2016 में 'अखिल भारतीय श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद्' की स्थापना की एवं सामाजिक जागृति हेतु समाज का मासिक पत्र 'शाश्वत धर्म' शुरु करवाया।

वि.सं. 2017 कार्तिक पूर्णिमा को आपने अपनी पाट पर अपने उत्तराधिकारी के रुप में मुनि श्री विद्याविजयजी को 'आचार्य' एवं मुनि श्री जयन्तविजयजी को 'युवाचार्य' पद पर घोषित कर वि.सं. 2017 पौष सुदि तृतीया बुधवार दि. 21-22-1960 को प्रातः 4.00 बजे स्वर्गवासी हुए। श्री मोहनखेडा तीर्थप्राङ्गण में आपका दिव्य, मनोरम, संगमरमरीय गुरुमंदिर आज भी आपकी साक्षात् स्मृति करवाता हैं।

श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज[75]:-

आपका जन्म जोधपुर (राज.) में राठौरवंशीय (राजपूत) क्षत्रिय गिरधरसिंह की धर्मपत्नी सुन्दरबाई की कुक्षी से वि.सं. 1957 पौष

74. श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ, एवं आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के प्रवचन वि.सं. 2044 भाण्डवपुर तीर्थ पौष सुदि 3

75. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ - वासक्षेप पृ.22

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुक्ला प्रतिपदा को हुआ था। आपका जन्म का नाम बहादुरसिंह था। बाल्यकाल में माता-पिता के स्वर्गवास के बाद चाचा कालूसिंह ने आपको नीमच में उपाध्याय श्री मोहनविजयजी को अर्पित किया। उन्होंने आपका नाम 'प्रभुलाल' रखा एवं आपको श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी (तत्कालीन मुनि यतीन्द्र विजयजी) के पास भेजा। उनके पास अध्ययनरत आपको मुनि यतीन्द्र विजयजी ने वि.सं. 1979, माघ शुक्ल 11 को जावरा में लघु दीक्षा एवं वि.सं. 1980 ज्ञान पञ्चमी (कार्तिक शुक्ल पञ्चमी) को बडी दीक्षा देकर मुनिश्री विद्याविजयजी नाम रखा। गुरुदेव श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजीने वि.सं. 2016 भाद्रपद सुदि त्रयोदशी को 'संघप्रमुख' पदवी दी। उनके स्वर्गवास के पश्चात् वि.सं. 2021 फाल्गुन शुक्ल 3 रविवार दि. 16-2-1964 को श्रीसंघ ने आपको **आचार्य पदवी** देकर आचार्य श्रीमद्विजय 'विद्याचन्द्रसूरि' नाम घोषित किया।

गुरुसेवा और वैयावृत्य में आप एक अनुपम आदर्श रुप थे। ढलती उम्र में गुरुदेव के अस्वस्थ होने पर आपने गुरु की माँ जैसी सेवा की थी। आप अतिशय सरल परिणामी थे। ज्योतिष के मर्मज्ञ विद्वान् होने से आपने जहाँ भी प्रतिष्ठादि कार्य करवाये वहाँ संघ की सविशेष उन्नति हुई। आपने कई प्रतिष्ठाञ्जनशलाका-दीक्षादि धर्म कार्यों के साथ **श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के अर्ध शताब्दी महोत्सव का सफल संचालन किया। श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वर जी के स्वर्गवास के पश्चात् उनका दिव्य गुरुमंदिर बनवाया एवं मोहनखेडा तीर्थ में श्री आदिनाथ जिन मंदिर को पुनः संगमरमर का बनवाकर पुनः प्रतिष्ठा करवाकर उसे विश्व प्रसिद्ध तीर्थ बनाकर अमर यश प्राप्त किया।**

संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् आपने शिवादेवीनन्दन, आदीश्वर, दशावतारी आदि संस्कृत महाकाव्य एवं गुरुदेव तथा 'श्री तीर्थंकर महावीर' आदि काव्यों तथा अन्य अनेकों स्तुति-स्तवनादि की रचना की।

वि.सं. 2036 आषाढ शुक्ला सप्तमी को श्री मोहनखेडा तीर्थ पर आपका स्वर्गवास हुआ। आपके पार्थिव शरीर के अग्निसंस्कार के स्थान पर भव्य समाधि-मंदिर हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी महाराज[76]:-

आपका जन्म वि.सं. 1993 के कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी (गुजराती) तदनुसार दि. 11/12/1936 को प्रातः 4 बज कर 37 मिनिट पर श्री स्वरुपचन्दजी धरु की धर्मपत्नी श्रीमती पार्वतीबाई की कुक्षि से ग्राम पेपराल (थराद से 17 कि.मी) में हुआ था। आपका जन्म का नाम पूनमचंद था। आपके गगलदास, शांतिलाल, छेटालाल, लहेरचंद नामक चार अग्रज बंधु एवं एक पोपटलाल नामक लघु बांधव हैं। आपके शैशव काल में ही आपके पिताश्री ने व्यापार हेतु थराद में निवास किया था। वहीं वि.सं. 2004 में आपको अपने गुरुदेव श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी का चातुर्मास में परिचय हुआ तब से आपके बाल सुलभ मन में दृढ वैराग्य भावना प्रस्फुटित हुई।

आपकी दीक्षा वि.सं. 2010 में माघ शुक्ला चतुर्थी, रविवार को सियाणा में हुई। आपका दीक्षा का नाम मुनि जयंतविजयजी घोषित हुआ। आपकी बडी दीक्षा वि.सं. 2012, कार्तिक सुदि एकादशी को राजगढ (म.प्र.) में हुई। एवं वि.सं. 2017 में कार्तिक पूर्णिमा के दिन पूज्य गुरुदेवश्री ने मुनि विद्याविजयजी को आचार्य पद पर अपने उत्तराधिकारी के रुप में घोषित करते समय आपको युवाचार्य के पद पर घोषित किया था। तदनुसार आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वर जी के स्वर्गवास के पश्चात् वि.सं. 2040 के माघ शुक्ला त्रयोदशी, बुधवार, दि. 15-2-1984 को भाण्डवपुर तीर्थ (राज.) में समस्त **अखिल भारतीय त्रिस्तुतिक श्री संघ एवं विशाल जनमेदनी की उपस्थिति में आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, तब आपका नामकरण आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी रखा गया।**

मुनि जीवन से ही आपका उपनाम 'मधुकर' है जो कि अध्ययन काल में महाकाव्यों के शिक्षाप्रद सारगर्भित श्लोकों को चुन-चुनकर कंठस्थ करने की आपकी प्रवृत्ति के कारण पंडित श्री कमलकरजी शास्त्री ने दिया था, आपको विद्वत्परिषद्ने साहित्यमनीषी, तीर्थप्रभावक एवं तत्कालीन उपराष्ट्रपतिवर्य (बाद में राष्ट्रपति) डो. शंकरदयाल शर्मा ने वि.सं. 2048 मार्गशीर्ष सुदि द्वितीया, रविवार, दि. 8-12-1991 को जावरा में 'राष्ट्रसंत' की पदवी से अलंकृत किया था।

आपने गृहस्थ जीवन में 7 वीं कक्षा तक की व्यवहारिक शिक्षा के साथ-साथ, पांच प्रतिक्रमण, नव स्मरण, प्रकरण, भाष्य, कर्मग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र, योगशास्त्र आदि धार्मिक ग्रंथो का अध्ययन कर लिया था। दीक्षा के पश्चात् आपने जैनागम, धर्मशास्त्र, व्याकरण, तर्क, न्याय, कोश, अलंकार, मीमांसा, ज्योतिष, राजनीति, शील्प, संगीत, अध्यात्म आदि अनेकों विषयों का विशद अध्ययन एवं गुरुप्रदत अनुभव प्राप्त किया। मूल गुजराती भाषी होने के बावजूद भी आप गुजराती, हिन्दी, मारवाडी, प्राकृत-संस्कृत आदि के सिद्धहस्त लेखक एवं वक्ता होने के साथ साथ मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड, अंग्रेजी, ऊर्दू आदि अनेक भाषाओं के ज्ञानी है। इतना ही नहीं, अपितु आप देशके किसी भी प्रदेश में होने पर भी एक साथ अलग-अलग भाषा-भाषी व्यक्तियों के साथ उनकी भाषा में बात भी करते हैं।

स्वभाव से आप अध्ययनशील, संयमी, मधुरवक्ता, धीर-गंभीर, उग्रविहारी, उग्र तपस्वी, विनयी, विवेकी, समभावी, अजातशत्रु, परोपकारी, करुणाधारी, साहित्यस्रष्टा, हमेशा अपने साधु जीवनचर्या में ज्ञान-ध्यान में व्यस्त रहने वाले, शांतप्रकृति महापुरुष हैं। आप एक समर्थ साधु, अध्यात्म योगी, आत्मज्ञानी, शासनप्रभावक, युगपुरुष, लब्धप्रतिष्ठ स्वनामधन्य आचार्य हैं।

मुनि जीवन के प्रारंभ से ही खादी धारण करना, देशप्रेम, राष्ट्रीय कर्तव्यों एवं सामाजिक कर्तव्यों के पालन हेतु देश की युवा शक्ति को प्रेरित करना, आपका अनूठा व्यसन है। स्व. पू. गुरुदेव द्वारा पुनरुद्धरित त्रिस्तुतिक परंपरा के सत्य-सिद्धांत के पालन, प्रचार-प्रसार एवं संरक्षण हेतु आप तन-मन से आजीवन अथक प्रयास कर रहे हैं।

मुनि जीवन के प्रारंभ से ही संघ समाज की सेवा, संगठन, संस्कार, निर्माण, उन्नति और विकास हेतु आपका अदम्य पुरुषार्थ तो रहा है लेकिन जब से आपने आचार्य पद पर आरुढ होकर संघ की बागडोर हाथ में ली है तब से आपकी पावननिश्रा और मार्गदर्शन में मुनि मंडल, साध्वीवृन्द, गच्छ, संघ, समाज, दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति कर रहा हैं।

आपके हाथों से सैकडों जिन मंदिर - गुरु मंदिर-उपाश्रय-

76. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ से संकलित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मशालादि की अंजनशलाका, प्रतिष्ठा, निर्माण एवं उद्घाटन हुए और हो रहे हैं। सेवा के क्षेत्र में आपकी प्रेरणा से स्कूल, हॉस्पिटल आदि का निर्माण हो रहा है। साथ ही संघ-समाज की सेवा हेतु आपके द्वारा स्थापित श्री अ.भा.राजेन्द्र जैन नवयुवक, महिला, तरुण-बालक-बालिका परिषद, गुरु राजेन्द्र फाउन्डेशन ट्रस्ट, श्री राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, नवकार परिषद, आदि अनेकों संस्थाएँ कार्यरत हैं। आपके सदुपदेश से गुरु जन्मभूमि भरतपुर में श्री राजेन्द्रसूरि जैन कीर्ति मंदिर, श्री राजराजेन्द्र तीर्थ-नेल्लौर, महाविदेह धाम मद्रास, डीसा; नवकार तीर्थ शंखेश्वर-छत्राल, श्री राज-राजेन्द्र जैन तीर्थ दर्शन मोहनखेडा, श्री राज-राजेन्द्र जयन्त धाम, रतलाम, इन्दौर आदि अनेकों तीर्थों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुए हैं एवं हो रहे हैं।

आपके मुनि नित्यानंद विजयजी आदि 24 शिष्य एवं आपकी हस्तदीक्षित सा. पीयूषलताश्रीजी आदि 96 साध्वियाँ हैं एवं निकट भविष्य में अनेक मुमुक्षु चारित्र ग्रहण करने हेतु लालायित हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का शिष्यवृन्द[77]

क. उपसम्पत् शिष्य

1. श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरिजी (मुनि श्री धनविजयजी)
2. मुनि श्री प्रमोदरुचिजी

ख. हस्तदीक्षित शिष्य वृन्द

क्रम	शिष्य का नाम	क्रम	शिष्य का नाम
1.	श्री मोहनविजयजी म.	12.	श्री दीपविजयजी म.
2.	श्री विनयविजयजी म.	13.	श्री यतीन्द्रविजयजी म.
3.	श्री टीकमविजयजी म.	14.	श्री केशरविजयजी म.
4.	श्री उदयविजयजी म.	15.	श्री हर्षविजयजी म.
5.	श्री मेघविजयजी म.	16.	श्री चमनविजयजी म.
6.	श्री ऋषभविजयजी म.	17.	श्री गुलाबविजयजी म.
7.	श्री धर्मविजयजी म.	18.	श्री चन्द्रविजयजी म.
8.	श्री पद्मविजयजी म.	19.	श्री नरेन्द्रविजयजी म.
9.	श्री रुपविजयजी म.	20.	श्री वल्लभविजयजी म.
10.	श्री लक्ष्मीविजयजी म.	21.	श्री कमलविजयजी म.
11.	श्री हिम्मतविजयजी म.		

साध्वी वृन्द[78]:-

वि.सं. 1932 में वरकाणा तीर्थ में आपके करकमलों से **प्रथम साध्वी दीक्षा अमरश्रीजी एवं साध्वी लक्ष्मीश्री** जी की और तत्पश्चात् रजगढ में साध्वी विद्याश्री जी की हुई। इस परम्परा में साध्वी प्रेमश्री जी, मानश्री जी, कुशलश्री जी, रुपश्री जी, मनोहरश्री जी, भावश्री जी, विनयश्री जी, रायश्री जी आदि 35 साध्वियों की दीक्षा आपके द्वारा संपन्न हुई थी।

77 धरती के फूल पृ. 327, 328
78. धरती के फूल पृ. 78

आचार्यपद की आराधना पीतवर्ण से क्यों ?

1. *सूर्य के समान जिनेश्वरदेव और चन्द्र के समान केवली भगवन्त के अभाव में आचार्य महाराज दीपक के समान है। जैसे-दीपक की शिखा पीत वर्ण की है वैसे आचार्य महाराज भी पीतवर्ण वाले हैं। इसलिए उनकी आराधना पीतवर्ण से होती है।*

2. *जिन-शासन में आचार्य महाराज राजा के समान हैं। राजा स्वर्ण के बनाये हुए मुकुट आदि अलंकारों से समलंकृत होते हैं। स्वर्ण का वर्ण पीत होता है। यही भाव समझाने के लिए आचार्यपद की आराधना पीतवर्ण से होती है।*

3. *परवादीरु पी हाथियों को भगाने के लिए आचार्य महाराज केसरी सिंह के समान है। जैसे-केसरी सिंह का वर्ण पीत-पीला है वैसे ही आचार्य महाराज का भी वर्ण पीत-पीला है। यही भाव स्पष्ट करने के लिए आचार्यपद की आराधना पीत वर्ण से होती है।*

4. *दूसरे के साथ वाद करते हुए जीत हो जाय तो जीतनेवाले को विजयश्री वरती है। आचार्य महाराज परवादी के साथ वाद करके स्वसिद्धान्त का मण्डन और परसिद्धान्त का खण्डन कर विजय प्राप्त करते हैं। विजयश्री के साथ विवाह करने के लिए पीली-पीठी चोल कर सज्ज बने हुए आचार्य महाराज वरराजा के समान हैं। यह भाव प्रदर्शित करने के लिए आचार्यपद की आराधना पीतवर्ण से होती है।*

5. *मन्त्रशास्त्र में किसी को स्तब्ध और स्तम्भित करने के लिए पीतध्यान धरने का विधान है। महाप्रभावशाली आचार्य महाराज प्रसंग आने पर सबको स्तब्ध कर देते हैं। परतन्त्र को स्तब्ध और स्तम्भित करने में आचार्य महाराज मुख्य हैं, इसलिए उनको पीतवर्ण कहा है। परतन्त्र को स्तब्ध करने के लिए आचार्यपद का आराधन-ध्यान पीत-पीले वर्ण से ही होता है। ऐसे अनेक कारण पीतवर्ण से आचार्यपद की आराधना में कहे हैं।*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : व्यक्तित्त्व एवं कर्तृत्व

प्रत्येक शताब्दी में सभी परंपराओं में एवं सभी दार्शनिक शाखाओं में दिग्गज विद्वान् होते आये हैं। इसी प्रकार जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय में विक्रम की 20 वीं (ईसा. की 19 वीं) शती में **स्वनामधन्य आगममर्मज्ञ विश्वपूज्य आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजने भारतभूमि को अलंकृत किया एवं अपने आचार्यत्व एवं अपनी विलक्षण प्रतिभा से संसार को आलकित किया।** डो. अमर जैन के अनुसार उन्नीसवीं सदी में हुए समर्थ शासन प्रभावक पूज्यपाद गुरुदेव जैनाचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी उस युग में अपनी उपमा स्वयं थे।[79] अखण्ड बाल ब्रह्मचारी, प्रबल-प्रतापी, प्रगट-प्रभावी उन्होंने स्वयं के जीवन को वीरवचनानुसार यापन किया। **उनका जीवन इतना व्यापक और विराट् है कि उनकी परिचय-प्रशस्ति को शब्दों में बांधना उडुप (छोटी नाव) से सागर पार करने के दुःसाहस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।** उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, नैतिक क्षेत्रों में अपने ज्ञान का प्रकाश फैलाकर व्याप्त उदासी, अंधविश्वास और अज्ञानतम को समाप्त करने हेतु क्रियोद्धार करके चेतना का शंखनाद फूंका था। उनकी क्रिया-तत्परता व लक्ष्य के प्रति अविचलदृढताने उस युग व समाज को नई दिशा दी। उन्होंने दिशाभ्रष्ट हुए भ्रान्त जनमानस को अपनी दिव्यप्रभा से सत्य के मार्ग पर स्थापित किया। वे न केवल मूर्धन्य विद्वान थे, अपितु एक सशक्त, दृढ संकल्पी शास्ता और प्रशासक भी थे। **उन्होंने जिनशासन की वास्तविकता का वस्तुनिष्ठ मूलयांकन कर उसका अपने जीवन में अक्षरशः पालन किया।**

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्' -इस उक्ति को उन्होंने अपने निश्छल जीवन में और निष्कपट व्यवहार में चरितार्थ की थी। उनमें ज्ञान था, ज्ञान का अहंकार नहीं था, त्याग था; त्याग का दर्प नहीं था। साधना के कठोर मार्ग पर वीर सैनिक की भांति आप सदैव आगे बढते रहे। उनके बहु-आयामी विराट व्यक्तित्त्व को प्रकट करना शब्दों की शक्ति के बाहर है, फिर भी विभिन्न स्रोतों से प्राप्त जानकारी के अनुसार यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : क्रांति के अग्रदूतः-

जिस समय आचार्य विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने क्रियोद्धार किया वह समय भारत में ई.स. 1857 के स्वतंत्रता संग्राम का समय था। उन दिनों महर्षि दयानंद सरस्वतीने भारत में व्याप्त सतीप्रथा एवं अंधविश्वास से भरे रुढि-रिवाजों को दूर करने हेतु क्रांति शुरु कर दी थी। आचार्य विजय राजेन्द्रसूरिने भी तत्कालीन समाज में क्रांति के अग्रदूत के रुप मे जीवन बिताया। यति समाज में छाये शिथिलाचार को अपने उत्कृष्ट त्याग से दूर किया। आपके 'नवकलमीनामा' ने समाज को नवोत्थान दिया। समाज को यतियों के त्रास से मुक्त किया और श्रीपूज्य तथा यतिपरम्परा को क्रियोद्धार के द्वारा समाप्त किया।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : उग्र-विहारी :-

जैन साधु वर्षाकाल में एकत्र निवास करते हैं, शेष-काल में गाँवों और नगरों में मर्यादानुसार विहार/भ्रमण करते हैं। तदनुसार आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी भी अपने जीवन के अंतिम सप्ताह तक साधु-मर्यादानुसार नंगे पैर विचरण करते रहे। किसी विशेष कारण की अनुपस्थिति में आप गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से ज्यादा नहीं रहें। किसी एक प्रदेश या क्षेत्र में कभी आप स्थिर होकर नहीं रहें। यदि विहार में आप चलने लगते तो अच्छे-अच्छे नवजवानों को भी बहुत पीछे छोड देते थे, इसलिए कविजन लिखते थे-

"राजेन्द्र सूरीश्वरजी बैठे तो खैर तणी खूंटी हैं। निजभार खंध पर ले चलते तो पवन की बुंटी हैं॥"

इतना ही नहीं, विहार में स्वयं के सभी उपकरण स्वयं ही अपने कंधो पर उठाते थे। अपनी एक पुस्तक भी कभी भी अपने शिष्य तक को भी उठाने नहीं दी।[80]

सतत विहार से लाभ :-

'बहता पानी निर्मला पड्या गंदा होय।
साधु तो रमता भला, दाग लगे न कोय॥"

वास्तव में सतत पद-विहार से मुनि जीवन में नानाविध अनुभव और चारित्र की शुद्धि होती हैं। देश-विदेश का ज्ञान प्राप्त होता है और शरीर निरोगी रहता हैं।

गुरुदेवश्री के सतत विचरण से विशाल भू-भाग को निम्नलिखित लाभ हुए :-

(1) यति संस्था का कायाकल्प
(2) श्री संघ पर से यति-शासन की समाप्ति
(3) शुद्ध साध्वाचार का प्रचार
(4) संघ और साधु की टूटी कडियों का मेलन
(5) जिन-बिंब और जिन-वाणी की आस्था, श्रद्धा एवं प्रचार
(6) तीर्थोद्धार
(7) जातिय क्लेशों का दफन

विहारान्तर्गत आचार्यश्री द्वारा कृत यात्राएँ[81] :-

सौराष्ट्र में : श्री सिद्धाचलजी, गिरनार, प्रभास-पाटन, दाठा, महुवा, तलाजा, घोघा, कदम्बगिरि, हस्तगिरि आदि।

गुजरात में : भरुच, खंभात, भोयणी, शेरीसा, पानसर, शंखेश्वर, भीलडी, उपरियाला, पाटण, पंचासर, चारुप आदि।

मारवाड में : वरकाणा, नाडोल, नाडुलाई, मूछाला महावीर, राणकपुर, राता-महावीर, बावनवाडा, नांदियाँ, दयाणा, कुंभारिया, आबू-अचलगढ, जीरावला, भण्डवपुर, जालोरगढ, नाकोडा, जैसलमेर, लोद्रवा, फलोदी, कापरडा, जाकोडा, कोरटा आदि।

79. श्री राजेन्द्र ज्योति, खंड ख पृ. 16
80. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि अष्टप्रकारी पूजा ढाल-8
81. जीवनप्रभा (श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : जीवनवृत्त) एवं धरती के फूल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेवाड में : श्री केशरियाजी, करेडा, उदयपुर, चितौड, राजनगर आदि।

मालवा में : मांडवगढ, ताल्नपुर, मक्षी, उज्जैन, भोपावर, मोहनखेडा आदि।

इनमें आपने केशरियाजी-मक्षी एवं मांडवगढ की कई बार यात्राएँ कीं। क्रियोद्धार के बाद चार बार सिद्धाचल की, दो बार गिरनार की एवं 7 बार शंखेश्वर की यात्राएँ कीं[82] जिसमें सिद्धाचल की प्रत्येक यात्रा में तेला, गिरनार में बेला, केशरियाजी एवं शंखेश्वर में एक-एक अट्ठाई[83] एवं कई बार तेला[84] तथा मक्षी में 5 बार अट्ठम (तेला) का तप किया।[85]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिकृत संघयात्राएँ[86] :-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वजीने समय-समय पर अपने प्रवचनो में श्रोताओं को छ'री (समकितधारी, पदचारी, ब्रह्मचारी, सचित्तपरिहारी, एकल आहारी, भू-संथारी) पालक तीर्थ यात्रा संघ का महत्त्व समजाया जिससे आपकी प्रेरणा से अनेक श्रावकों द्वारा छोटे-बडे कई तीर्थों के यात्रा संघ निकले जिसमें से हमें व्यवस्थित रुप से चार बडे संघो का विस्तृत वृतान्त प्राप्त हुआ हैं, जिनका यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा हैं।

(1) थराद से सिद्धाचल और गिरनार :-

यह संघ वि.सं. 1944 में आचार्यश्री के थराद चातुर्मास के बाद उसी वर्ष में निकला था। इस संघ के संघपति संघवी-अंबावीदास मोतीचंद पारेख थे। इस संघ में निज गच्छ के साथ ही अन्य गच्छ के आचार्यो के साथ 125 साधु, 91 साध्वियाँ, 5000 श्रावक-श्राविकाएँ, दो जिनालय एवं 101 सेज (वस्त्राच्छादित बैलगाडियाँ), व्यवस्ता हेतु 400 बैलगाडियाँ, 300 घुडसवार रक्षक, 100 ऊँट-सवार थे। साथ ही अनेक यति-महात्मा, भोजक-गायक और नौकर आदि थे।

यह संघ थराद से राधनपुर, शंखेश्वर, अहमदाबाद होकर सिद्धाचलजी पहुंचकर यहाँ 15 दिन रुककर अष्टाह्निका महोत्सवपूर्वक शांति से यात्रा कर गिरनार की यात्रा करके विरमगाम से पुनः शंखेश्वर की यात्रा करके थराद पहुंचा था। इस संघ में उस समय के करीब दो लाख रुपये का खर्च हुआ था। इस संघ-यात्रा की याद में आचार्यश्रीने "आज नो दहाडे रे सजनी" - यह स्तवन यात्रा के दिन ही बनाया था।

इस संघ के सिद्धाचल पहुंचने पर कुछ विद्वेषी तेजोद्वेषियों के द्वारा विघ्न भी उपस्थित किया गया एवं उपर गिरिराज की यात्रा करते रोकने का प्रयास किया गया था परंतु थराद (थीरपुर क्षेत्र) की वीर एवं सजग प्रजा के सामने द्वेषियों को मैदान से किनारा लेना पडा। इतना ही नहीं, भक्तिवश संघ के यात्री भक्तोंने गुरुदेवश्री को अपने कंधो पर उठाकर यात्रा हेतु ऊपर चढना शुरु कर दिया तब गुरुदेव ने बडी मुश्किल से भक्तों का समझाकर उनके कंधे से नीचे उतर पैदल गिरिराज चढकर संघ सहित आनंद से यात्रा की।

(2) कडोद से सिद्धाचल :-

आचार्यश्री की प्रेरणा से उनकी निश्रा में निकले इस संघ के संघपति खेताजी वरदाजी थे। इन्होंने इस संघ में एवं स्वयं के नगर में उनके द्वारा निर्मित जिनालय में इन दोनों कार्यों में मिलकर डेढ लाख रुपये खर्च कर जन्म-जीवन और लक्ष्मी को सफल किया था।

(3) खाचरौद से मांडव और मक्षी जी :-

आचार्यश्री की निश्रा में निकला यह संघ वि.सं. 1954 में चैत्र वदि दशमी के दिन मक्षी पहुंचा था। इस संघ के संघपति चांदमलजी लुणावत ने उस जमाने में 33000 (तैंतीस हजार) रुपयों का खर्च कर सुकृत पुण्य उपार्जन किया था।

(4) खाचरौद से मक्षी जी :-

वि.सं. 1962 के उत्तरार्ध में आचार्यश्री की निश्रा में ठाकुर चुन्नीलाल मुणत ने खाचरौद से मक्षी का संघ निकालकर तीस हजार रुपये खर्च किये थे। यह संघ वि.सं. 1962 चैत्र वदी दशमी के दिन मक्षी पहुंचा था। इस संघ यात्रा की स्मृति में गुरुदेवश्री ने 'वामानंदन वंदन चालो' प्रसिद्ध बृहद् स्तवन बनाया था।

82. धरती के फूल पृ. 225
83. वही
84. केशरियाजी यात्रा वर्णन - श्रीमद् राजेन्द्रसूरि रास - उत्तरार्ध एवं केशरियाजी के चार स्तवन
85. धरती के फूल, पृ. 225
86. राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 63 से 65; वि.सं. 2044 में थराद से सिद्धाचल का संघ-(संघवी पूनमचंद धरु / पानाचंद धरु)

भत्तीए जिणवराणं

भत्तीए जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा।
गुणपगरिस बहुमाणो, कम्मवणदवाणलो जेण ॥1॥
भत्तीए जिणवराणं, खिज्जंती पुव्वसंचिआ कम्मा।
आरियणमुक्कारेणं, विज्जा मंता य सिज्झंति ॥2॥
भत्तीए जिणवराणं, परमए खीणपेज्जदोसाणं।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिमरणं च पावंति ॥3॥

– अ.रा.पृ. 4/2106

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि : चातुर्माससूचि

क्रियोद्धार के पहले यति अवस्था में आचार्यश्री ने गुजरात, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड, मारवाड, और बीकानेर तक विचरण किया। क्रियोद्धार के पश्चात् आपने मालवा, मेवाड, निमाड, मारवाड, गुजरात, सौराष्ट्र और खानदेश तक के विशाल भू-भाग में विचरण किया एवं विहार के अन्तर्गत अनेक स्थानों पर सफल चातुर्मास भी किये।[87]

क्रियोद्धार के पूर्व :-

वि.सं.	स्थान	सहोपस्थिति
1904	आकोला	श्रीप्रमोदसूरिजी के साथ
1905	इन्दौर	श्रीप्रमोदसूरिजी के साथ
1906	उज्जैन	खरतर गच्छीय यति श्री सागरचन्द्रजी के साथ
1907	मंदसौर	खरतर गच्छीय यति श्री सागरचन्द्रजी के साथ
1908	उदयपुर	खरतर गच्छीय यति श्री सागरचन्द्रजी के साथ
1909	नागौर	खरतर गच्छीय यति श्री सागरचन्द्रजी के साथ
1910	जैसलमेर	खरतर गच्छीय यति श्री सागरचन्द्रजी के साथ
1911	पाली	श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी के साथ
1912	जैसलमेर	श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी के साथ
1913	किशनगढ	श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजी के साथ
1914	चित्रकूट	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1915	सोजत सिटी	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1916	शम्भूगढ	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1917	बीकानेर	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1918	सादडी	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1919	भीलवाडा	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1920	रतलाम	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1921	अजमेर	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ उनके अध्यापन हेतु
1922	जालोर	स्वतंत्र चातुर्मास 21 यतियों के साथ
1923	घाणेराव	श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरिजी के साथ
1924	जावरा	स्वतंत्र चातुर्मास श्रीपूज्यजी के रुप में

क्रियोद्धार के पश्चात् :-

1925	खाचरोद	1935	रतलाम	1944	थराद	1954	रतलाम
1926	रतलाम	1936	भीनमाल	1945	वीरमगाम	1955	आहोर
1927	कुक्षी	1937	शिवगंज	1946	सियाणा	1956	शिवगंज
1928	राजगढ	1938	अलिराजपुर	1947	गुडा	1957	सियाणा
1929	रतलाम	1939	कुक्षी	1948	आहोर	1958	आहोर
1930	जावरा	1940	राजगढ	1949	निम्बाहेडा	1959	जालोर
1931	आहोर	1941	अहमदाबाद	1950	खाचरौद	1960	सूरत
1932	आहोर		(पांजरा पोल)	1951	राजगढ	1961	कुक्षी
1933	जालोर	1942	धोराजी	1952	राजगढ	1962	खाचरौद
1934	राजगढ	1943	धानेरा	1953	जावरा	1962	बडनगर

87. धरती के फूल पृ. 223, 224

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिः सिद्धान्त - प्रचारक :-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज एक बहुश्रुत गीतार्थ आचार्य थे। आपश्रीने गुर्वाज्ञा से क्रियोद्धार के पूर्व **वि.सं. 1911-12-13में श्रीपूज्य श्री देवेन्द्रसूरि के पास गुरुगमपूर्वक जैनागमों का सविधि अध्ययन किया एवं वि.सं. 1914 से 1921 तक 50 यतियों को पढाया। इतना ही नहीं अपितु क्रियोद्धार के बाद वि.सं. 1925 में खाचरौद चातुर्मास में पुनः पञ्चागी के साथ जैनागम ग्रंथो का स्वाध्याय किया।** बाद में भी प्रत्येक चातुर्मास में अलग-अलग सूत्रों का एवं **कुक्षी चातुर्मास में व्याख्यान में 45 आगमों का वाँचन** किया। इस प्रकार आपने अपने जीवन में बार-बार सतत जैनागम-पञ्चाङ्गी तथा अन्य बहुश्रुताचार्यों के द्वारा निरुपित ग्रंथों का अध्ययन-मनन-परिशीलन किया। जिससे आपको यह ज्ञात हुआ कि आत्मकल्याण हेतु आराधना के मार्ग पर अव्रती देवी-देवताओं की स्तुति, भक्ति, वंदन, पूजन आदि मोक्षमार्ग में बाधक है व वीतराग परमात्मा की आशातना का कारण है - यह जानकर आपने चतुर्थ स्तुति एवं सामायिक, प्रतिक्रमण देववंदन आदि धार्मिक क्रियाओं में प्रविष्ट कुरीतियों का निषेध किया व **प्राचीन आगमशास्त्रोक्त त्रिस्तुतिक मत का पुनरुद्धार कर श्री सुदेव-सुगुरु-सुधर्म का प्रचार कर आपने जिनेश्वरदेव और जिनवाणी की सत्यता को पुनः प्रतिष्ठित किया। जैनधर्म को अंधश्रद्धा और कुण्ठित अवधारणाओं से मुक्त कर शुद्ध-देव-गुरु-धर्म के सत्य स्वरूप के उजाले से भर दिया।** आपके जिनवाणी सापेक्ष सिद्धान्तोपदेश के मुख्यबिन्दु निम्नानुसार हैं-

सिद्धान्तोपदेश[88]

(1) 'वंदन' शब्द स्तुति और नमस्कार दोनों का बोधक है, इसलिए देव-देवियों को वंदन करना श्रमणों के लिए अनुचित हैं। अकारण उनसे सहायता, प्रार्थना-याचना करना भी अनुचित हैं क्योंकि अव्रती देव-देवियों को वंदन करना आगम विरुद्ध हैं।

(2) चतुर्थ स्तुति में पापोपदेश, धन, पुत्र आदि पौद्गलिक सुख प्राप्ति की प्रार्थना होने से वह भावानुष्ठान सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में त्याज्य हैं। अतः उनमें चौथी थुई (स्तुति) करने से जिनाज्ञा भङ्गरुप दोष लगता हैं।

(3) जैनागम पंचांगी के अनुसार तीनस्तुति प्राचीन हैं, और प्राचीन काल में शुद्धाचरण से तीन थुई प्रचलित थी, इसलिए तीन स्तुतियाँ करना उचित हैं।

(4) चैत्यवंदन के बाद शक्रस्तवादि प्रणिधान पाठ और स्तुतित्रय की जाय अर्थात् चैत्यवंदन उच्चारण करने के बाद शक्रस्तवादि प्रसिद्ध पाँच दण्डक, तीन स्तुतियाँ और प्रणिधान पाठ बोले जायें, तब तक जिनालयों में ठहरना चाहिए। किसी कार्य विशेष के लिए अधिक ठहरना पडे तो अनुचित नहीं हैं।

(5) शास्त्रमर्यादानुसार प्रथम और अंतिम जिनेश्वरों के शासन के साधु-साध्वियों को यथा प्राप्त श्वेत-मानोपेत-जीर्णप्रायः और अल्पमूल्य वाले वस्त्र ही रखना चाहिए। रंगीन वस्त्र या रंगे हुए वस्त्र रखना अनुचित है। विशेष परिस्थिति में (मदिरा से लिप्त वस्त्र प्राप्त होने पर या अन्य ऐसे ही विशिष्ट संयोगों में) कल्कादि पदार्थों से वस्त्रों का वर्ण परावर्तन करने की आज्ञा है तथापि वर्तमान युग में ऐसे कोई कारण उपस्थित नहीं है, अतः जैन साधु-साध्वियों के लिए रंजित (रंगीन) वस्त्र धारण करना शास्त्र-मर्यादा और आचरण से विपरीत हैं।

(6) प्रतिक्रमण में श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता और भुवनदेवता का कायोत्सर्ग और स्तुति, लघुशांति बृहत्शांति (बडी शांति) के पाठ का विधान और जिनागम पंचांगी और प्राचीनाचार्य प्रणीत ग्रंथों में नहीं है। अतः नित्य प्रतिक्रमण में इनका करना और बोलना अशास्त्रीय और दोषपूर्ण हैं किन्तु साधु-साध्वी के लिए पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'दुक्खक्खय कम्मक्खय" के कायोत्सर्ग के बाद आज्ञा निमित्तक भुवन-क्षेत्र देवता का कायोत्सर्ग अदोष हैं।

(7) ऋद्धिसंपन्न और ऋद्धिरहित, दोनों प्रकार के श्रावकों को सामायिक-दंडकोच्चार के बात 'इरियावहियं' करने का शास्त्रों का आदेश हैं क्योंकि इसके लिए "तिविहेण साहुणो नमिऊण सामाइयं करेमि, करेमि भंते! एवमाइ उच्चरिऊण ईरियावहियाए पडिक्कमइ" इत्यादि आगम टीका ग्रंथो का वचन प्रमाण हैं। अत एव प्रथम त्रियोग से गुरुवंदन कर के सामायिक उच्चारण के बाद 'ईरियावहियं' प्रतिक्रमण करना चाहिए।

(8) पात्रादि उपकरण नौकर आदि से उठवाना नहीं, उनसे वस्त्र भी नहीं धुलवाना, अपने निवास स्थान पर लाये हुए वस्त्रपात्रादि लेने की इच्छा नहीं रखना, परदेश से कीमती कंबलादि मंगवाकर नहीं लेना, सदैव एक ही घर का आहार नहीं लेना, बिना कारण वस्त्रों में साबुन-सोडादि खारे पदार्थ नहीं लगाना, कपडे के मोजे नहीं पहनना। वार्तालाप-व्याख्यानादि में उघाडेमुख नहीं बोलना। शोभा प्रदर्शक सोना-चाँदी आदि धातु के फ्रेमयुक्त चश्मा नहीं लगाना, सांसारिक समाचार से भरे पत्र गृहस्थों को नहीं देना-ये सभी लोकनिन्दनीय अनाचार होने से मोक्षाभिलाषी जिनाज्ञापालक सभी साधु-साध्वियों को सदैव त्याग करने योग्य हैं।

(9) जिनेश्वर भगवान् के बिम्बों की पूजाविधि आगम और पंचांगी में अनेक स्थान पर दिखलाई गयी हैं इसलिए जिनप्रतिमाओं की भक्तिभाव सहित पूजन दर्शनादि साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् के समान ही प्राणियों के कल्याण करने वाले हैं।

आपने अपने उपदेशो के माध्यम से समाज में व्याप्त बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्या-विक्रय, दहेजप्रथा, मृत्यु भोज, अंधश्रद्धामय जादू-टोना, कुसंस्कार, जीवहिंसा, पशु-बलि, मांस-मदिरादि एवं नशायुक्त पदार्थों का सेवन, व्यसन, जातिवाद, कहल, कुरीतियाँ आदि को दूर करने हेतु अथक प्रयत्न किया। साथ ही सरल एवं मुग्ध जनता को शिथिलाचारी यतियों के द्वारा तांत्रिक क्रियाओं के द्वारा डरा-धमकाकर

88. धरती के फूल, पृ. 59: श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परेशान किया जा रहा था; आपने क्रियोद्धार के द्वारा उसे भी हटाकर लोगों को भयमुक्त किये। गुरुदेवश्री के जीवन काल में आचार्य पद, क्रियोद्धार, प्रतिष्ठादि अन्यान्य अनेक प्रसङ्गों पर आहोर, जावरा, खाचरोद, रतलाम, भीनमाल, शिवगंज, आदि अनेक जगह इन शिथिलाचारी यतियों ने तांत्रिक प्रयोगों द्वारा परेशानियाँ खडी की लेकिन आपने अपने आत्मबल से किसी को तनिक भी नुकसान पहुँचाये बिना सर्वत्र शांति की स्थापना की।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : सर्वोदयी प्रभावक :-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के हृदय में सभी जीवों के कल्याण की भावना सदा-सर्वदा बहती रही थी, यही कारण है कि आचार्यश्रीने निज-कल्याण के पुरुषार्थ के साथ-साथ पर-कल्याण हेतु भी सतत प्रयत्न किया अथवा यह कहें कि प्रयत्न न करने पर भी उनकी उपस्थिति मात्र से भी अनेक जीवों का कल्याण हुआ। जैसे तैरती हुई नाव का आश्रय लेनेवाले जीव अवश्य पार उतर जाते हैं।

मनुष्य जाति में भिन्न-भिन्न रुचियों, भिन्न-भिन्न स्वभावों, मलेच्छ-आर्य जातियों, समाज-व्यवस्था, वृत्ति-व्यवस्था के आधार पर भी अनेक वर्ग-उपवर्ग देखने को मिलते हैं। आचार्यश्री के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आये जिनसे सभी जीवों के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हुआ और सभी ने किसी न किसी प्रकार का संयम (व्रत, नियम) अवश्य धारण किया। साथ ही यथा शक्ति इस सर्वोदय तीर्थ जिनशासन एवं जिनवाणी के प्रचार में भी कुछ न कुछ अवश्य सहयोग भी दिया।

न केवल जैन, अपितु जैनेतर परिवार से भी अनेक आत्माओं ने आपके पास जैनी दीक्षा ग्रहण कर अपना आत्म कल्याण किया। जैसे किशनगढ (राज.) के ऋद्धिकरणजी चोपडा के पुत्र धनराज (श्रीमद्विजय धनचंद्रसूरि), भींडर (राज) के ब्राह्मण शिवदत्त के पुत्र (मुनि प्रमोदरुचिजी), सामुंजा (आहोर, राज) के वरदीचन्द के पुत्र उपाध्याय मुनि मोहनविजयजी, भोपाल के फूलमाली भगवानजी के पुत्र (आचार्य श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरि), धवलपुर के चम्पालाल जायसवाल (दिगम्बर जैन) के पुत्र रामरत्न) (आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि) एवं अन्य अनेक आत्माओं ने आपकी पावन निश्रा में स्वयं के जीवन को धन्य बनाया।[89]

जैन समाज में तो आचार्यश्री के उपदेशों का प्रभाव था ही, जैनेतर लोग भी कहीं पीछे नहीं रहें। आचार्यश्रीने निम्बाहेडा में वैष्णव मंदिर में 'श्री भगवद्गीता' के उपर भी प्रवचन दिये थे जिससे अनेकों वैष्णव धर्मी लोगों ने भी उनके उपदेशों को जीवन में ग्रहण कर व्रतादि लिये।[90] इसी प्रकार आचार्यश्रीने कट्टर इस्लामपंथी मेमनों को प्रतिबोध देने हेतु वि.सं 1942 का चातुर्मास ही धोराजी (गुजरात) में किया एवं उन्हें 'कुराने शरीफ' की आयातों के द्वारा उपदेश देकर मांसाहारी से शुद्ध शाकाहारी बनाया, जिसके फलस्वरुप आज भी धोराजी में कई शुद्ध शाकाहारी मेमण परिवार हैं। इसी तरह थानेरा में भी मुसलमानों को मांस-मदिरादि का त्याग करवाया एवं शुद्ध शाकाहारी बनाया।[91]

न केवल सामान्य जनता को अपितु बीकानेर नरेश, जोधपुर नरेश यशवंतसिंहजी, आहोर नरेश यशवंतसिंहजी, मोदरा ठाकुर, सिरोही नृप केसरीसिंहजी, रतलाम नरेश रणजीतसिंहजी, झाबुआ नरेश उदयसिंहजी एवं दीवान नारायण सिंह, आगर के राजा, उदयपुर के राणा, धारा नरेश, थराद दरबार अभेसिंहजी, सियाणा ठाकुर, खाचरोद नरेश, जावरा नवाब गोस्त खां, उनके दीवान हजरत नूरखां आदि अनेकों राजा-नवाब-ठाकुरों ने आपके उपदेशों को श्रवण कर, जीवन में अपनाकर मांस-मदिरा-अभक्ष्य सेवन-शिकार आदि का त्याग किया एवं अपने-अपने राज्य में भी पशु बलि एवं अन्य प्रकार से जीव हिंसा का यथाशक्ति त्याग करवाया।[92] थराद के दरबार अभेसिंहजी तो आपके उपदेशों से ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने वि.सं 1944 में थराद से सिद्धाचल-गिरनार के छः रीपालक पैदल संघ में पूरी सुरक्षा की व्यवस्था की। स्वयं ने भी अपने जीव में चार बार सिद्धाचल तीर्थ की यात्रा एवं तीर्थनायक की सेवा-पूजादि की। उन्होंने आपसे चतुर्थ व्रत (गृहस्थ जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत) भी ग्रहण कर पालन किया।[93]

वि.सं. 1958 में विहार में खराडी ग्राम स्थित आपने वहाँ दर्शनार्थ आये सिरोहीनृप केसरीसिंहजी को उपदेश देकर आबु तीर्थ पर लिया जाने वाला मुण्डक-वेरा बंद करवाया।[94]

वि.सं. 1932 में झालोर में जोधपुर नरेश यशवंतसिंहजी को प्रतिबोधिक कर झालोर के किले / स्वर्णगिरि तीर्थ के उपर स्थित राज्य के शस्त्रादि से भरे मंदिरों को खाली करवाकर जैन संघ के स्वाधीन किये। साथ ही जीर्णोद्धार करवाया एवं 700 स्थानकवासी (ढूंढक मतावलम्बी) परिवारों को उपदेश देकर मंदिर मार्गी बनवाकर स्वर्णगिरि तीर्थ की समुचित व्यवस्था करवाई।[95]

इस प्रकार उपर के कुछ अनुच्छेदों में यह स्पष्ट किया गया है कि जैन-जैनेतर धर्मावलम्बियों, ब्राह्मण-श्रमणेतर-संस्कृत्यलम्बियों, राणाओं, रियासतदारों, राजाओं, पुरोहितों आदि को आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी ने अपने आचरण से इतना प्रभावित किया कि ये सब स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से आचार्यश्री की धर्मसभाओं में आते और आपके उपदेशों का श्रवण-मनन और निदिध्यासन करते थे। इस प्रकार आचार्यश्री मात्र जैनों के नहीं, मात्र श्वेताम्बरों के नहीं, किसी गच्छ विशेष के नहीं, अपितु सभी जीवों के सर्वतोमुखी अभ्युदयकारक थे।

---

89. धरती के फूल, पृ. 318 से 326
90. आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वर जी के प्रवचन, राजेन्द्र उपाश्रय, इन्दौर, अप्रैल सन् 1999
91. विरल विभूति, पृ. 75, 76
92. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, श्रीराजेन्द्रगुणमञ्जरी, धरती के फूल, विरल विभूति, आदि में इनका विस्तृत वर्णन है।
93. विरल विभूति पृ. 77, गुरुसप्तमी पर्व वि.सं. 2040 थराद में हुए प्रवचन में से
94. श्रीराजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 84. से पृ. 86
95. श्रीराजेन्द्रसूरि का रास-पत्रांक, 80, 81

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : शासन प्रभावक:-

यद्यपि जिन शासन शाश्वत होने से तथा सर्वज्ञ तीर्थंकर देवाधिदेव के द्वारा प्ररुपित होने से स्वयं ही दीप्तिमान है तथापि इस शासन में चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका) में कर्मो के विशिष्ट क्षयोपशम से जिस किसी आत्मा में तप, जप, विद्या, लब्धि, वाद, प्रवचन, धर्मकथा, सिद्धांत ज्ञान, ज्योतिष, कवित्व, योगसाधनादि गुणों में से जो गुण विशिष्ट रुप से प्रगट हो जाय; **जिससे स्वतीर्थ (जिन प्रवचन/शासन) की उन्नति हो और जैन-जैनेतर, राजा-प्रजा, आबाल-गोपाल सभी लोग प्रभावित होकर मुक्त कंठ से जिन शासन की उद्भावना/प्रशंसा करें, करावें और अनुमोदना करें, उसे 'शासन प्रभावना' कहते हैं।**[96]

इस प्रकार जिनशासन की प्रख्याति या जयजयकार करने-कराने वाले और हर संभव प्रयास से शासन मालिन्य (जिनशासन की निन्दा) को रोकनेवाले महान व्यक्तित्व को 'शासन प्रभावक' कहते हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में (1) प्रावचनिक (2) धर्मकथक (3) वादी (4) नैमित्तिक (5) तपस्वी (6) विद्याधारी (7) सिद्ध और (8) कवि - ये दस प्रकार के प्रभावक दर्शाये हैं। तथा प्रकारान्तर से (1) अतिशय धारी , (विशिष्ट ज्ञान या लब्धिवाला) (2) धर्मकथक (3) वादी (4) आचार्य (5) तपस्वी (6) नैमित्तिक (7) विद्याधारी और (8) राजवल्लभ या गणप्रिय (लोकप्रिय) - ये आठ प्रकार के प्रभावक बताये हैं।[97] और प्रकारन्तर से (1) आगमधर (2) धर्मक्रियापालक (3) धर्मकथक (4) वादी (5) कवि (6) तपस्वी (7) सिद्धांत ज्ञाता (8) लब्धिधारी (9) नैमित्तिक और (10) विद्यासिद्ध -ये दस प्रकार के प्रभावक दर्शाये हैं।[98]

उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों से आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी अपने बह्वायामी व्यक्तित्व से "तित्थयरसमो सूरि" -इस आगमवचन को, सभी दृष्टिकोणों से जीवनपर्यन्त सर्वात्मना सत्य सिद्ध करने वाले "यावच्चन्द्र- दिवाकरौ" दिगन्त तक समस्त संसार में जिनशासन का अक्षय जयनाद करने-कराने वाले स्वनामधन्य महान शासनप्रभावक हैं। अत: यहाँ कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत इनके शासनप्रभावक कार्यों एवं गुणों का विहंगावलोकन कराने का प्रयास कराना सार्थक होगा।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि कृत प्रतिष्ठाएँ एवं अंजनशलाकाएँ :-

विश्व के प्रांगण में प्रवाहमान जगद्भाव में कल्याणभावप्रदायक जिनमंदिर आत्मशांति का निकेतन है। दुर्भावना के कीचड को दूर करने के लिए जिनमंदिर सतत प्रवाहमान सरिता हैं। आत्मोन्नति हेतु जिनमंदिर निश्कंटक राजमार्ग हैं। स्वयं की सदसत् प्रवृत्तिओं का आत्म निरीक्षण करने हेतु जिनमंदिर दिव्य दर्पण हैं। भावजागृति एवं आत्मा की सुषुप्त शक्ति को जगाने के लिए जिनमंदिर घंटाधर हैं। जिनमंदिर आध्यात्मिक और लोकोत्तर चेतनाशक्ति प्रदायक पावर हाऊस हैं। जिनमंदिर ज्ञानमार्गप्रदायक दीपक है। जिनमंदिर सच्चा सलाहकार है, सच्चा शिक्षक है, सही मार्गदर्शक है। जिनमंदिर जीवन साधना का सदुपदेशक है। जिनमंदिर सद्गुणों को समृद्ध करने हेतु सूर्य है। जिनमंदिर एक विशुद्ध, परम सुखद आलंबन एवं सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा केन्द हैं।

जिनप्रतिमा साक्षात् कल्पवृक्ष है। भव्य जीवों को मोक्षप्राप्ति हेतु सम्यग् आराधना का यही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है। अञ्जनशलाका, प्राण-प्रतिष्ठा की हुई प्रतिमा परमात्मस्वरुप को प्राप्त हो जाती है। अत: आचार्यश्रीने स्वयं के एवं भव्य जीवों के आत्म-कल्याण एवं आराधना के श्रेष्ठ आलंबनभूत अनेकों जिनमंदिरों का निर्माण करवाकर उनकी प्रतिष्ठा की और सैंकडो जिनप्रतिमाएँ भरवाकर उनकी अञ्जनशलाका-प्राणप्रतिष्ठा की।

आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि कृत प्रतिष्ठाएँ एवं अंजनशलाकाओंकी सूचि[99]:-

1. जालोर के पास स्थित स्वर्णगिरि पर्वत पर अष्टापदावतार चौमुख मंदिर, यक्षवसति महावीर जिनालय, कुमारवसति, पार्श्वनाथ जिनालय - ये तीन जिनालय प्राचीन हैं। वि.सं. 1933 के माघ शुक्ल प्रतिपदा को तीनों जिनालयों की पुन: प्रतिष्ठा की जिसका विशेष परिचय 'तीर्थोद्धार' के प्रसंग में दिया जा रहा हैं।
2. जावरा (मालवा) में पारिख छोटमलजी जुहारमलजी के बनवाये श्री ऋषभदेवजी के जिनालय की प्रतिष्ठा और 31 जिन बिम्बोंकी अंजनशलाका की।
3. कुक्षी (धार) के प्राचीन श्री शांतिनाथ जिनालय का जिर्णोद्धार करवाया व 24 देवगृहमों में विराजमान करने के लिये सं 1935 के वैशाख सु. सप्तमी को प्रतिमाओं की अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा की।
4. आहोर (राजस्थान) के श्री संघ के बनवाये सौध शिखरी जिनालय में वि.सं 1936 के माघ शुक्ल दशमी के दिन सोत्सव, प्राचीन और प्रगटप्रभावी श्रीगोडी पार्श्वनाथ प्रभु की दिव्य, भव्य और मनोहर प्रतिमाजी विराजमान की।
5. श्री मोहनखेडा तीर्थ, (राजगढ (धार, मप्र) से डेढ मील पश्चिम दिशा) में श्री सिद्धाचलदिशि वन्दनार्थ आपके उपदेश से राजगढ निवासी पोरवाड शा. लूणाजी संघवी द्वारा निर्मित जिनमंदिर में विशाल उत्सव सहित 41 जिनबिम्बों की अञ्जनशलाक प्राणप्रतिष्ठा की तथा श्री आदिनाथादि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की।
6. धामणदा (धार) में सं 1940 फा. सु. 3 के दिन श्री ऋषभदेवजी आदि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की।

96. अ.रा.पृ. 5/438
97. अ.रा.पृ. 5/437
98. अ.रा.पृ. 5/928
99. श्रीमद्विजय राजेन्दसूरि स्मारक ग्रन्थ पृ. 127 से 131

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. दशाई (धार) में सं 1940 फा.सु. सप्तमी को श्री आदिनाथादि 9 जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका और जिनालय में प्रतिष्ठा की।
8. शिवगंज (राजस्थान) में सं. 1945 के माघ सुदि पंचमी के दिन मेघाजी मोतीजी और वनाजी मोतीजी के द्वारा निर्मित श्री अजितनाथजी और चौमुखजी जिनालय के लिये तथा अन्य ग्राम नगरों के लिये दो सौ पचास जिनबिम्बों की अंजनशलाका सहित उक्त दोनों जिनालयों की भी प्रतिष्ठा की।
9. कुक्षी (मालवा) में वि.सं. 1947 के वैशाख शुक्ला सप्तमी को श्री आदिनाथ जिनालय चौबीस देव कुलिकाओं के लिये 75 जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका और दो जिनालयों की प्रतिष्ठा की।
10. तालनपुर तीर्थ (म.प्र.) में वि.सं. 1950 माघ वदि द्वितीया को जमीन से निकली प्राचीन जिनप्रतिमाओं की एवं पार्श्वनाथजी के चरण युगल की प्रतिष्ठा की।
11. खट्टाली (मालवा) में वि.सं. 1950 के माघ सु. द्वितीया के दिन नूतन जिनालय में विराजमान करने के लिये श्रीनेमीनाथादि तीन प्रतिमाओं की अंजनशलाका की और उन्हें जिनालय में प्रतिष्ठित किया।
12. रिंगनोद (मालवा) में वि.सं. 1951 के माघ सु. सप्तमी को नूतन जिनालय के लिये श्री चन्द्रप्रभ आदि 7 जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका की और उन्हें नूतन जिनालय में प्रतिष्ठित किया।
13. झाबुआ (मालवा) में बावन जिनालय समलंकृत श्री ऋषभदेव जिनालय के लिये दो सौ इक्यावन 251 जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका और प्राणप्रतिष्ठा की।
14. बडी काडोद (मालवा) में खेताजी वरदाजी के पुत्र उदय-चन्दजी के बनवाये सौधशिखरी जिनालय में विराजमान करने के लिये सं. 1953 के वैशाख सुदि सप्तमी को श्रीवासुपूज्य प्रभु आदि 15 प्रतिमाओं की अंजनशलाका की और दो जिनालयों की प्रतिष्ठा की।
15. पिपलोदा (मध्य भारत) में सं. 1954 वै.सु सप्तमी को श्री सुविधिनाथादि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की।
16. राजगढ (धार) वि.सं. 1954 मार्ग शु. दशमी को श्री शांतिनाथ जिनालय की प्रतिष्ठा की।
17. आहोर (राजस्थान) श्री गोडीपार्श्वनाथ जिनालय की बावन (52) देव कुलिकाओं के लिये तथा अन्यत्र ग्राम नगरों में विराजमान करने के लिये नौ सौ इक्यावन छोटे-बडे जिनबिम्बों की अंजनशलाका की। यह विशाल और विराट तथा अनुपम महोत्सव वि.सं. 1955 की फाल्गुन वदि पंचमी गुरुवार को हुआ था। इस महोत्सव में मालवा, मारवाड आदि देशों की 35 हजार जनता आई थी। इस प्रतिष्ठोत्सव के अवसर पर श्रीमद् गुरुदेव के सहपाठी और अन्य विद्याशिष्य ऐसे अनेक यति भी आये थे जिनमें श्री मोतीविजयजी, श्री रुपविजयजी, फतेसागरजी और ज्ञानसागरजी मुख्य थे। प्रतिष्ठा उत्सव का जलसा और संघ में गुरुदेव के प्रति आदर स्नेह और भक्ति देखकर यतिगण आश्चर्य में पड गया था। क्रियोद्धार के दिन यति श्री महेन्द्रविजयजीने गौरवपूर्ण उज्जवल भविष्य का संकेत दिया था, वह वर्तमान में सत्य सिद्ध हुआ।
18. सियाणा (राजस्थान) में परमार्हत महाराजा कुमारपाल द्वारा निर्मित श्री सुविधिनाथ चैत्य के चारों ओर श्रीसंघ निर्मित देवकुलिकाओं के लिए वि.सं. 1958 के माघ सु 13 गुरुवार को महोत्सव सहित अजितनाथादि दो सौ एक जिन प्रतिमाओं कीअंजनशलाका एवं प्राणप्रतिष्ठा करके उनको मंदिर में यथास्थान विराजमान करवाया।
19. कोरटा तीर्थ (राजस्थान) में वि.सं. 1956 के वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को श्री आदिनाथादि प्राचीन प्रतिमाओं की नवनिर्मित विशाल जिनालय में प्रतिष्ठा तथा अन्य स्थानों के लिये दो सौ एक जिन प्रतिमाओं की अंजनशलाका की।
20. आहोर (राजस्थान) में सं. 1956 के माघ वदि प्रतिपदा को श्री राजेन्द्रसूरि धर्मक्रिया मंदिर में स्थित श्री शांतिनाथ गृहचैत्य में सर्वधातु की श्री शांतिनाथादि जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की। इसी दिन कडोद (मालवा) निवासी शा. खेताजी वरदाजी के पुत्र उदयचन्दजी के द्वारा बनवाये श्री राजेन्द्र जैनागम बृहद् ज्ञान भंडार में ज्ञान प्रतिष्ठा की। इसमें लगभग 1500 हस्त प्रतियाँ और 10 हजार मुद्रित ग्रंथो का संग्रह है। इस ज्ञानसागर में अनेक दुर्लभ प्राचीन कलाकृतियों से सज्जित प्रतियाँ भी हैं।
21. गुडाबालोतान् (जि. जालोर) में शा. अचलाजी दोलाजी द्वारा निर्मित जिनालय में वि.सं 1956 के माघ सुदि पंचमी को श्री धर्मनाथादि जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की।
22. बाग (धार, म.प्र.) में वि.सं. 1961 के मार्गशीर्ष सुदि पंचमी के दिन श्री विमलनाथादि सात जिनबिम्बों की अञ्जनशलाका कर जिनालय में प्रतिष्ठित की।
23. राजगढ (धार) में वि.सं. 1961 के माघ सुदि पंचमी को खजांची दौलतराम चुन्नीलालजी के बनवाये श्री अष्टपदावतार-चैत्य में विराजमान करने के लिये तथा अन्य ग्रामों के लिये श्री ऋषभदेवादि इकयावन (51) जिनबिम्बों की अंजनशलाका एवं प्राणप्रतिष्ठा की।
24. राणापुर (मालवा) के श्वेताम्बर श्री संघ द्वारा निर्मित विशाल जिनालय में विराजमान करने के लिये वि.सं. 1962 के फाल्गुन सुदि तृतीया को धर्मनाथादि ग्यारह जिनप्रतिमाओं की अंजनशलाका प्राणप्रतिष्ठा की और जिनालय में उनकी प्रतिष्ठा करवाई।
25. सरसी (मालवा) में वि.सं. 1962 के ज्येष्ठ सु. 4 को श्रीचन्द्रप्रभुजी आदि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की।
26. राजगढ (मालवा) में शा. दौलतराम हीराचन्दजी के बनवाये गुरु मंदिर में वि.सं. 1962 के मागशीर्ष सु. 2 के दिन श्री पार्श्वनाथादि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

27. जावरा (मालवा) में शा. लक्ष्मीचन्दजी लोढा के द्वारा निर्मित जिनालय में पोष सुदि सप्तमी, वि.सं. 1962 को श्री शीतलनाथादि जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा की।

हमारे संग्रह के एक हस्त पत्र के अनुसार तीन हजार एक सौ पैंतीस (3135) जिनप्रतिमाओं की अंजन शलाका श्रीमद् गुरुदेव के हाथों हुई। **इनमें विक्रम संवत् 1955, फाल्गुन वदि पंचमी, गुरुवार को आहोर में सम्पन्न हुई एक साथ 951 जिनबिम्बों की अंजनशलाका विशाल, महत्त्वपूर्ण एवं अत्यंत प्रभाव संपन्न हैं।**

इस प्रकार **'विषमकाल जिनबिम्ब जिनागम भवियण कुं आधारा'** - इस उक्ति को ध्यान में रखते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने अनेकों जिन मंदिरों की प्रतिष्ठा, अंजन शलाका, तीर्थों के जीर्णोद्धार, निर्माण, तीर्थयात्रा, संघ यात्रा के द्वारा अनुपम शासन प्रभावना की, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान की आराधना में भी पीछे नहीं रहें।

ज्ञानभक्ति :-

बार-बार पंञ्चागी के साथ जैन आगमों के अध्ययन के पश्चात् आपने श्रुत की सुरक्षा हेतु वि.सं. 1938 में आलीराजपुर (राजपुर) चातुर्मास में आगमों की हस्तलिखित प्रतियों का संशोधन किया एवं अशुद्धियाँ दूर कर श्रीसंघ को उपदेश देकर लेखकों से लिखवाया। उसी प्रकार वि.सं 1939 में कुक्षी चातुर्मास में अनेक ग्रंथ लिखवाये। अन्य जगह भी अनेक ग्रंथ लिखे, संशोधित किये एवं लिखवाये।[100] साथ ही अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना कर आगमों को हंमेशा के लिये अर्थ सहित सुरक्षित किया, बल्कि यह कहा जाय कि आगमों के अर्थ की सुरक्षा के लिये ही 'अभिधान राजेन्द्र कोश' की रचना की।[101]

ज्ञान भण्डार :-

ग्रंथो की सुरक्षा हेतु ज्ञान भंडारों का निर्माण करवाया जिसमें आचार्यश्री की प्रेरणा से कडोद (म.प्र.) निवासी खेताजी-वरदाजी द्वारा आहोर में निर्मित **श्री राजेन्द्र जैनागम बृहद् ज्ञान भंडार** अतीव प्रशंसनीय एवं दृष्टव्य है। संगमरमर से निर्मित इस ज्ञानभण्डार में 1,500 हस्तलिखित, एवं ताडपत्रीय प्रतियाँ तथा पुस्तकाकार 10,000 ग्रंथ संग्रहित हैं।[102] जिसमें अनेक दुर्लभ प्राचीन कलाकृतियों से सज्जित प्रतियां भी है।

इसी प्रकार अपनी अंतिम अवस्था में वि.सं. 1962 में राजगढ में हीराचंदजी पुराणी को प्रेरणा देकर 'श्री पार्श्व गौतम राजेन्द्र ज्ञान भंडार' की स्थापना करवायी।[103]

100. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 83
101. अभिधान राजेन्द्र कोश भा. 1 उपोद्घात पृ. 13
102. श्रीराजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 89, 90
103. शिलालेख - श्री पार्श्व-गौतम-राजेन्द्र ज्ञान भण्डार, श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर, राजेन्द्र भवन, राजगढ (जि. धार) म.प्र.

सज्झाय

जह सुरकरी करीसुं, अमरेसु हरी गिरिसु कणयगिरी ।
तह धम्मेसु पहाणो, दाणाई चउह जिणधम्मो ॥1॥
तत्थ वि सुनिकाइयकम्म धम्म जलहरसमो तवो पयरो ।
तत्थ वि य विसेसिज्जइ, सज्झाओ जिणेहिं भणियं ॥2॥
कम्ममसंखिज्जभवं, खवेइ अणुसमयमेव आउत्तो ।
अन्नयरंमि वि जोगे, सज्झायंमि य विसेसेण ॥3॥
बारसविहंमि वि तवे, सब्भिंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
नवि अत्थि नवि य होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥4॥
सज्झाएण पसत्थं, झाणं जाणइ य सव्वपरमत्थं ।
सज्झाए वदंतो, खणे खणे जाइ वेरग्गं ॥5॥
अट्ठमहतिरियनरए, जोइसवेमाणिया य सिद्धी य ।
सव्वो लोगालोगो, सज्झायविउस्स पच्चक्खो ॥6॥

– अ.रा. 7/1145

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : तीर्थोद्धारक :-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने श्री संघ को उपदेश देकर अपने जीवन में अनेक जिनमंदिरों के निर्माण तो करवायें; साथ ही कई जिनमंदिरों के जीर्णोद्धार भी करायें इतना ही नहीं अपितु श्री स्वर्णगिरि तीर्थ (जालोर-राज.), कोरटाजी, भाण्डवपुर एवं तालनपुर - इन चारों तीर्थों का जीर्णोद्धार भी कराया एवं सिद्धाचलावतार श्री मोहनखेडा तीर्थ का नवनिर्माण भी कराया, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार हैं-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि कृत तीर्थोद्धार एवं तीर्थस्थापना

1. स्वर्णगिरि - जालोरगढ :-

शास्त्रों में कनकाचल और स्वर्णगिरि आदि नामों से विख्यात यह तीर्थ राजस्थान में समदडी-भीलडी रेल्वे के जालोर स्टेशन से दक्षिण में स्थित पर्वत पर बने किले में हैं।

जहाँ के समस्त निवासी कोट्यधिपति थे ऐसे स्वर्णगिरि के किले में (1) श्री महावीर जिनालय (यक्षवसति), (2) चौमुख चैत्य (अष्टापदावतार), (3) कुमारविहार (पार्श्वनाथ चैत्य) - ये तीन जिनालय प्राचीन हैं। नाहड राजाओं के द्वारा निर्मित श्री महावीर जिनालय सबसे प्राचीन है।[104] श्री जैन सत्यप्रकाश में मुनि श्री न्याय विजयजीने लिखा है कि वि.सं. 595 में सुवर्णगिरि में दोशी धनपति ने दो लाख द्रव्य खर्चकर यक्षवसति की स्थापना की और प्रद्योतन सूरिजीने उसमें श्री वीर प्रभु की प्रतिष्ठा की।[105] चौमुखजी मंदिर के निर्माता अज्ञात हैं। कुमारविहार जिनालय को वि.सं 1221 के आसपास परमार्हत राजा कुमारपाल ने कलिकासर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य के उपदेश से 72 जिनालयों के रुप में बनवाया था।[106]

विक्रम की 14 वीं शती तक ये मंदिर एवं यह तीर्थ प्रख्यात एवं उपासना के केन्द्र थे। धनलोभी एवं धर्मांध शासक अलाउद्दीन खिलजीने इन मंदिरों को तोडा। तलहटी में नगर के मंदिरों को भी नष्ट किया, और कई मंदिरों को मस्जिद में परिवर्तित कर लिया।[107]

विक्रम की 7 वीं शती में जालोर के जोधपुर निवासी मंत्री श्री जयमल मुहोत ने स्वद्रव्य से ध्वस्त जिनालयों का पुनरुद्धार करवाकर विसं 1681-86 में कई प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवाई थी।[108]

कालान्तर में राजकीय कर्मचारियों ने इन मंदिरों में युद्ध सामग्री आदि भरकर चारों ओर कांटे लगा दिये थे। वि.सं. 1932 के उत्तरार्ध में जालोर पधारने पर गुरुदेवश्री को उक्त बातें ज्ञात हुई। किले पर राज्य का अधिकार था एवं भीतर प्रवेश की मना थी। ऐसे समय में आपने किलाधिकारी विजयसिंह को मिलकर जिनालयों एवं जिनबिम्बों की आशातना स्वयं जाकर देखी और जोधपुर नरेश यशवंतसिंहजी को सारा वृत्तांत बताकर प्रतिबोधित करके पुनः किले के सभी मंदिर शस्त्रों से खाली करवाकर जिनालयों का सर्वाधिकार जैन श्रीसंघ को दिलवाया। एवं प्रत्येक महीने में 12 उपवास एवं 18 आयम्बिल के आठ मास तक के उग्र तप सहित वि.सं. 1933 का चातुर्मास जालोर में करते हुए मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवा कर ओशवंशी प्रतापमल जी कानूंगा के हाथ से प्रतिमाजी विराजमान करवाकर आचार्यश्री ने नौ (9) उपवास के तप सहित वि.सं. 1933 में माघ शुक्ल प्रतिपदा के दिन इन तीनों मन्दिरों की पुनः प्रतिष्ठा की।[109]

तत्पश्चात् आपके शिष्यरत्न श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी एवं विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी ने इस तीर्थ का जीर्णोद्धार कार्य करवाया एवं वर्तमान में आपके प्रशिष्यरत्न श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी की प्रेरणा से श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वे. श्रीसंघ के द्वारा इस तीर्थ का जीर्णोद्धार एवं नवीनीकरण द्रुतगति से हो रहा हैं।

2. कोरटा :-

अहमदाबाद-दिल्ली रेल्वे लाईन पर स्थित जवाईबंध (राजस्थान) के पास कोरटपुर, कणयापुर, कारंटी और कोरटा आदि नामों से प्रचलित यह तीर्थ 2500 वर्ष प्राचीन हैं।[110]

उपकेश गच्छ-पट्टावली के अनुसार श्री वीरनिर्वाण सं 70 में श्री पार्श्वनाथ संतानीय श्री स्वयंप्रभसूरि के शिष्य श्री रत्नप्रभसूरि ने कोरटा और ओसिया में श्री महावीर देव के बिम्बों की एक साथ प्रतिष्ठा की थी। यवनों के समय में यह तीर्थ ध्वस्त हो गया एवं जिनालय भग्न हो गये। आज वहाँ एक छोटा सा गाँव एवं चार जिन मंदिर हैं-

1. श्री महावीर मंदिर :-

कोरटा के दक्षिण की ओर स्थित यह जिनालय सादी शिल्पकला का नमूना है। यहाँ पर वि.सं. 1728 में मूलनायक की प्रतिमा खंडित या विलोप हो जाने से श्री जयविजय गणिने नूतन प्रतिमा विराजमान करवायी।[111] कालान्तर में यह प्रतिमा भी खंडित हो जाने से आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने प्रेरणा देकर जीर्णोद्धार करवाकर श्री

---

104. नवनवइ लक्खधणवइ अलद्धवासे सुवण्णगिरि सिहरे।
नाहडनिवकारवियं थुणि वीरं जक्खवसहीए ॥1॥
- श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 82

105. श्री जैनसत्यप्रकाश-दीपोत्सवी अंक, सन् 1998 - पृ. 7

106. वही पृ. 82, 83

107. धरती के फूल पृ. 215, 216

108. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 83

109. (क) धरती के फूल पृ. 215, 216
(ख) श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, 83, 84
(ग) संवच्छुभे त्रयस्त्रिंशत्रन्दैक विक्रमाद्वरे।
माघमासे सिते पक्षे, चन्द्रे प्रतिपदातिथौ ॥1॥
जालंधरे गढे श्रीमान्, श्री यशवंतसिंह राट्।
तेजसा द्युमणिः साक्षात्, खंडयामास यो रिपून् ॥2॥
विजयसिंहश्च किलादार धर्मी महाबली।
तस्मिन्नवसरे संघैर्जीर्णोद्धारश्च कारितः ॥3॥
चैत्य चतुर्मुखं सूरिराजेन्द्रेण प्रतिष्ठितम्।
एवं श्रीपार्श्वचैत्येऽपि प्रतिष्ठा कारिता वर ॥4॥
ओशवंशे निहालस्य चौधरी कानुगस्य च।
सुतप्रतापमल्लेनप्रतिमा स्थापिता शुभ ॥5॥
- श्री ऋषभ जिनप्रासादात् उल्लिखतम् ॥
- श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ

110. धरती के फूल पृ. 215, 216

111. धरती के फूल पृ. 217

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर स्वामी की नूतन प्रतिमा वि.सं. 1959 में वैशाख सुदि पूर्णिमा, गुरुवार के दिन प्रतिष्ठा की एवं प्राचीन प्रतिमा लेप करवाकर नूतन चोकी में विराजमान की।[112]

2. श्री आदिनाथ मंदिर :-

यह मंदिर निकटतवर्ती धोलागिरि की ढालू उपत्यका पर स्थित हैं। इसे विक्रम की 13 वीं शती में नाहड महामंत्रीने बनवाया था। उनके द्वारा निर्मित प्रतिमा खंडित हो जाने से देवसूरगच्छीय श्री शांतिसूरि ने वि.सं. 1903 में मूलनायक की नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। वर्तमान में मूलनायक के रुप में वही प्रतिमा है एवं आसपास की दोनों प्रतिमाएँ श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी द्वारा प्रतिष्ठित नूतन बिंब हैं।[113]

3. श्री पार्श्वनाथ मंदिर :-

गाँव के मध्य में स्थित इस मंदिर के निर्माता एवं निर्माण का समय अज्ञात हैं। मंदिर के एक स्तंभ के शिलालेख के "ऊँ ना....ढा" लेखाक्षर से इसे मंत्री नाहड के पुत्र ढाकलजीने बनवाया हो, एसा अनुमान है। पहले 17 वीं शती में कोरटा के किसी श्रावक ने इसका जीर्णोद्धार करवाया था। उसमें बिराजित मूलनायक श्री शांतिनाथ भगवान् की प्रतिमा खंडित हो जाने से श्री पार्श्वनाथ एवं उनके आसपास की नूतन प्रतिमाएँ आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने प्रतिष्ठित की।[114]

4. श्री केशरियानाथ मंदिर :-

वि.सं 1911 ज्येष्ठ सुदि अष्टमी के दिन उपरोक्त श्री महावीरमंदिर के कोट का निर्माण कार्य करवाते समय बाई ओर की जमीन के एक टेकरे को तोडते समय श्वेतवर्णी 5 फीट की विशालकाय श्री आदिनाथ भगवान् की पद्मासनस्थ और 5-5 फीट की दो कायोत्सर्गस्थ (खडी) श्री संभवनाथ तथा श्री शांतिनाथ भगवान् की प्रतिमाएँ निकली थीं। जिन्हें बिराजमान करने हेतु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने श्रीसंघ को उपदेश देकर नया जिन मंदिर बनवाकर वि.सं. 1959 वैशाख सुदि पूर्णिमा[115] के दिन 201 अन्य प्रतिमाओं की अंजनशलाका प्राणप्रतिष्ठा पूर्वक विराजमान की।[116] इस अंजन शलाका में प्रतिष्ठित श्री ऋषभदेव प्रभु की 32 मण (एक मण = 40 सेर) की सार्वधातुक, दिव्य, मनोहर प्रतिमा हरजी (राज) में विराजमान हैं।[117] इस एतिहासिक प्रतिष्ठोत्सव का शिलालेख इस प्रकार हैं-

प्रतिष्ठा प्रशस्ति :-

वीरनिर्वाणसप्ततिवर्षात्यश्चात्पार्श्वनाथसंतानीयः
विद्याधरकुलजातो, विद्यया रत्नप्रभाचार्यः ॥1॥
द्विधा कृतात्मा लग्ने, चैकस्मिन् कोरंट ओसियायां।
वीरस्वामिप्रतिमामतिष्ठपदिति पप्रथेऽथ प्राचीनम् ॥2॥
देवडा ठक्कुरविजयसिंहे, कोरंटस्थवीरजीर्णबिम्बम्।
उत्थाप्य रघशुक्ले निधिशरनवेन्दुके पूर्णिमा गुरौ ॥3॥
सुस्थितवृषभलग्ने, तस्य सौधर्मबृहत्तपोगच्छीयः।
श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरिः प्रतिष्ठांजनशलाके चक्रे ॥4॥[118]

3. भाण्डवपुर/ भाण्डवा :-

बालू रेती के टीलों से घिरा हुआ यह तीर्थ राजस्थान के जालोर जिले में भांडवा गाँव के परिसर में स्थित है। यहाँ वर्तमान में जैनेतरों के 200 घर समृद्ध हैं। जालोर (जाबालीपुर) के राजा परमार भाण्डुसिंह ने इसे अपने नाम से बसाया था। विक्रम की 7वीं शती तक यहाँ जैन श्वेताम्बर परिवारों से समृद्ध 'बेसाला' नामक कस्बा (तहसील) था जिसे मेमन लुटेरों ने ध्वस्त किया एवं जिन मंदिर को भी तोड दिया किन्तु श्री महावीर स्वामी की प्रतिमा किसी तरह बचा ली गयी।

कोमता गाँव के संघवी पालजी विक्रम की 13 वीं शती में संयोगवश श्री महावीर प्रतिमा को एक शकट (ढकी हुई बैलगाडी) में बिराजमान कर इसे कोमता ले जा रहे थे तब इसी स्थान पर आकर बैलगाडी रुक गयी। अनेक प्रयत्न किये पर बैलगाडी नहीं चली एवं अर्धरात्रि में अधिष्ठायक देव के द्वारा मिले आदेशानुसार उन्होंने वहीं जिन मंदिर बनवाकर वि.सं. 1233 माघ सुदि पंचमी के दिन महामहोत्सवपूर्वक प्रतिमाजी विराजमान की। आज भी प्रतिवर्ष प्रतिष्ठा के दिन पालजी संघवी के वंशज ही आकर मंदिर पर ध्वजा चढाते हैं।

इसके पहले इस मूलनायक श्री महावीर स्वामी की प्रतिमा किसने, कब, कहाँ भरवाई और कहाँ, किसने प्रतिष्ठित की थी, वह अज्ञात हैं। बाद में वि.सं. 1359 में और वि.सं. 1654 में दियावट पट्टी के जैन श्वे. श्री सङ्घ ने दो बार इस मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया था।

इसके बाद वि.सं. 1955 में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर जी विहार करते इधर आये तब समीपवर्ती गाँवों के निवासी श्रीसंघ ने यहाँ जैनों के घर नहीं होने से उक्त प्रतिमाजी को यहाँ से नहीं उठाने एवं मंदिर का जीर्णोद्धार करने हेतु सारी दियावट-पट्टी में भ्रमण कर श्रीसंघ को उपदेश दिया।

स्वर्गवास के समय वि.सं. 1963 में राजगढ (म.प्र.) में गुरुदेवश्री ने कोरटा, जालोर (स्वर्णगिरि), तालनपुर और मोहनखेडा के साथ इस तीर्थ का भी जीर्णोद्धार करवाने हेतु अपने सुयोग्य शिष्य श्री यतीन्द्र सूरीश्वर जी (अभिधानराजेन्द्र कोश के संपादक - तत्कालीन 22 वर्षीय मुनि यतीन्द्र विजयजी) को आदेश दिया था। तदनुसार वि.सं. 1988 से 2007 तक यह कार्य चला और वि.सं. 2010 में जेठ सुदि दशमी को यहाँ प्रतिष्ठोत्सव संपन्न हुआ। इस मंदिर में बिराजमान परमात्मा की शेष सभी मूर्तियाँ गुरुदेव के द्वारा प्रतिष्ठित हैं।[119]

वर्तमान में आपके प्रशिष्यरत्न वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी की प्रेरणा से निर्मित श्वेत संगमरमर के 36 खंभो पर खुले कमल में बने चतुर्मुख मंदिर में गुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी की 41 इंच की चतुर्मुख प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं।

112. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, 78
113. वही
114. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, 79
115. वही
116. धरती के फूल पृ. 215, 241
117. वही पृ. 218
118. श्री कोरंटपुरमंडन श्रीमहावीरजिनालयस्य प्रतिष्ठाप्रशस्तिः; श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, 79, 80
119. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, 81, 82

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ जैनों का एक भी घर न होने पर भी जैनेतर ग्रामीण जनता भद्र परिणामी एवं श्रद्धावान् हैं। वे मंदिर में प्रतिदिन दर्शन हेतु आते हैं एवं विवाह, त्यौहार आदि विशेष प्रसंगों पर बहुत भक्ति करते हैं। इतना ही नहीं शादी के बाद नये दंपति सर्वप्रथम श्री महावीर स्वामी के दर्शन करने अवश्य आते हैं- ऐसी परंपरा हैं।

4. तालनपुर तीर्थः-

यह तीर्थ कुक्षी (म.प्र.) से 4 कि.मी. की दूरी पर स्थित हैं। जैनागम-शास्त्रों में तुंगियापुर, तुंगियापत्तन और तारन/तालनपुर के नाम से विश्रुत इस गाँव में विक्रम की 14 वीं, 15वीं, शती में 21 जिनालय एवं 5000 जैनों के घर थे।[120]

वि.सं. 1916 में यहाँ एक भिलाले के खेत में से भूखनन से श्री ऋषभदेवादि 25/45 प्रतिमाएँ मिलीं। इस पर किसी प्रकार का लेख नहीं है परंतु बनावट से ऐक हजार साल से भी अधिक प्राचीन होना ज्ञात होता हैं। इसके बाद वि.सं. 1928 में मार्गशीर्ष सुदि 14 के दिन बरगद बावडी पर सोये एक मुसाफिर स्वर्णकार के स्वप्नानुसार दूसरे दिन यानी वि.सं 1928 में मार्गशीर्ष सुदि पूर्णिमा के दिन सवा प्रहर दिन चढने पर श्री गोडी पार्श्वनाथजी की प्रतिमा उसी बरगद बावडी के पानी में से तैरती हुई पेटी में से चमत्कारिक रुप से ताजी पूजन की हुई स्थिति में निकली थी।[121] यह प्रतिमा वि.सं. 1022 फाल्गुन शुक्ल पंचमी गुरुवार को श्री बप्पभट्टीसूरिजी के करकमलों से प्रतिष्ठित हैं।[122]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने श्रीसंघ कुक्षी को उपदेश देकर दो नूतन जिनालय बनवाकर एक में उक्त श्री आदिनाथादि की 25 प्रतिमाएँ एवं एक में श्री गोडी पार्श्वनाथ की प्रतिमा वि.सं. 1950 माघ वदि द्वितीया के दिन प्रतिष्ठित की थीं।[123]

5. मोहनखडा तीर्थ[124]:-

यह तीर्थ मध्यप्रदेश के धार जिले में राजगढ से पश्चिम दिशा में 3 कि.मी की दूरी पर हैं। वि.सं. 1938 के शीतकाल में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी राजगढ पधारे तब आपके पास शा लुणाजी दल्लाजी प्राग्वाटने अपनी जीवन शुद्धि की भावना से जीवन के कार्यों की आलोचना की। आलोचना में आचार्यश्री ने जिन मंदिर निर्माण हेतु प्रेरणा दी। तदनुसार वीरामखेडा नामक कस्बे में टेकरी पर स्वस्तिक, पगलिये (कुमकुम) आदि दिव्यसंकेतयुक्त भूमि पर शा. लुणाजी ने शुभमुहूर्त में विधिविधानपूर्वक सौधशिखरी जिनमंदिर बनवाकर आचार्यश्री के करकमलों से स्वयं कृत महोत्सव के साथ वि.सं. 1940 के मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी गुरुवार के दिन श्री ऋषभदेव स्वामी की 31'' की श्वेतवर्णी संगमरमर प्रतिमा एवं अन्य प्रतिमाएँ अंजनशलाका और प्रतिष्ठा करवाकर प्रतिष्ठित की थीं।

इसके बाद लुणाजी स्वयं इस तीर्थ की व्यवस्था करते रहे। अपने अंत समय में उन्होंने यह तीर्थ राजगढ त्रिस्तुतिक श्रीसंघ को सौंप दिया। वि.सं. 2013 में आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी ने श्री संघ को इस तीर्थ के विकास एवं उन्नति हेतु प्रेरित किया। अत: वि.सं. 2014 में स्वगच्छीय श्री संघ की बैठक में राजगढ त्रिस्तुतिक श्री संघने इस तीर्थ की समस्त जिम्मेदारी अखिल भारतीय त्रिस्तुतिक श्री संघ को सुपुर्द की। तब से अब तक हुए इस तीर्थ के सर्वतोमुखी विकास का श्रेय उनको एवं उनके शिष्य आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरिजी को हैं।

वर्तमान में यहाँ संगमरमर का त्रिशिखरी मुख्य जिनालय, श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी, श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी एवं श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी - इन तीनों गुरुवरों के अग्नि-संस्कार स्थल पर तीन गुरुमंदिर, उपाश्रय, विशाल धर्मशालाएँ, भोजनशाला, गौशाला, गुरुकुल आदि हैं।

मोहनखेडा तीर्थ आज देशी-विदेशी असंख्य गुरुभक्तों की परम श्रद्धा का केन्द्र हैं। वहाँ आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के गुरुमंदिर में उनकी उपस्थिति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, प्रत्येक पुण्यात्मा की सात्त्विक मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं, आत्मा को परम शांति एवं सहज आनंद की अनुभूति होती हैं।

उसके समीप में राष्ट्रसंत वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजीने स्वस्तिकाकार में श्री राज-राजेन्द्र जैन तीर्थ दर्शन (जयन्त म्युझियम) का निर्माण कराया है जो दर्शनीय है।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : तीर्थरक्षकः-

मध्यप्रदेश के निमाड क्षेत्र में 'बावनगजा' दिगम्बर जैन तीर्थ हैं। वहाँ चुलगिरि तीर्थ पर श्री जिनेश्वर परमात्मा की चरणपादुका विराजमान हैं। किन्तु ख्रिस्त सन् 1860 में वैष्णव समाज और दिगम्बर समाज ने इस पर अपना अधिकार बताते हुए बडवानी (जिला धार) हाईकोर्ट में मुकदमा पेश किया था। कई वर्षों तक इस विवाद का सत्य न्याय नहीं हो सकने पर बडवानी रियासत के राजा ने झाबुआ के दीवान नारायणसिंह की मध्यस्थता में समस्त मुकदमा के अभिलेख प्रस्तुत करते हुए निर्णय हेतु आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी से विनती की। आपने समस्त कागज देखकर अपने सप्रमाण अकाट्य तर्कों से सन् 1984 में 'चूलगिरि जैन श्वेताम्बर तीर्थ है' - यह सिद्ध किया[125]

120. नेमाड प्रवास गीतिका-मुनि जयानंदविजय, वि.सं. 1427, उद्धरित-श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 85
121. तालनपुर तीर्थ का इतिहास - ले. मनोहरलालजी पुराणिक
122. स्वस्ति श्रीपार्श्वजिनप्रसादात्संवत् 1022 वर्ष मासे फाल्गुने सुदि पक्षे 5 गुरुवासरे श्रीमान् श्रेष्ठी श्रीसुखराजराज्ये प्रतिष्ठितं श्री बप्पभट्टी (ट्ट) सूरिभिः तुंगियापत्तने। - श्रीगोडीपार्श्वनाथ प्रतिमा पर उल्लिखित लेख, -श्रीगोडी पार्श्वनाथ जैन मंदिर, तालनपुर
123. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, पृ. 85
124. मोहनखेडा तीर्थ का इतिहास - से संकलित
125. (क) श्री राजेन्द्रगुण मञ्जरी पृ. 72
(ख) बावनगजानो फैसलो - हस्तलिखित रजिस्टर - श्री राजेन्द्र बृहद् जैन ज्ञान भंडार - आहोर, कुक्षी
(ग) बावनगजानो दियो फैसलो, वैष्णव हक उठायो रे।
राज्यसभा में विजय प्राप्त कर, जैन तीर्थ रोपायो रे॥4॥ - श्री गुरु गुण जीवन-निर्झरी - रासपूर्ति पृ. 39

अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥

- अ.रा.पृ. 2/231

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : उग्र तपस्वी

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि ने तप को जीवन के अभ्युदय का साधन बनाया था। उन्होंने अपने जीवन में क्रियोद्धार के पश्चात् कभी भी एकासन से कम तप नहीं किया। आपने संवत्सरी; भगवान महावीर जन्म कल्याणक का अट्ठम तप (तीन उपवास); अषाढ शुक्ल 1, कार्तिक शुक्ला एवं फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी, दीपावली, एवं पर्युषण में बडा कल्प (भाद्रपद वदी 14 एवं अमावस्या) का छट्ठ तप (दो उपवास) एवं शेष दिनों में प्रत्येक माह की सुदि पंचमी, अष्टमी एवं चतुर्दशी तथा वदि अष्टमी एवं चतुर्दशी को उपवास तथा सुदि द्वितीया, एकादशी एवं वदि द्वितीया, पंचमी एवं एकादशी को आयंबिल तप किया।[126]

वि.सं. 1926 में आचार्यश्री रतलाम (म.प्र.) में चातुर्मासार्थ विराजमान थे तब पर्युषण में अट्ठाईधर (प्रथम) के दिन आपने अभिग्रह किया कि कोई युवक स्वेच्छा से आकर श्रावक के बारह व्रत अंगीकार करे तो प्रथम घर में गोचरी (आहार) हेतु जहाँ जाऊँ वहाँ आहार की दो दत्ती (दो बार) और पानी की एक दत्ती में वह गृहमालिक जितना आहार-पानी वहेरावें उसी से पारणां करूँगा। इस अभिग्रह के कारण आचार्यश्री के 9 उपवास हो गये तब उनका अभिग्रह पूरा हुआ। इसके बाद श्री रखबचन्दजी भंडारी ने स्वत:करण आत्मप्रेरणा से आचार्यश्री के पास आकर भाद्रपद सुदि 6 के दिन व्रत ग्रहण किये तब आपने एक मध्यमवर्गीय गृहस्थ के यहाँ से गोचरी ग्रहण कर पारणां किया[127]

मध्य प्रदेश के धार जिलान्तर्गत आने वाले नगर कुक्षी के तत्त्वज्ञ श्रावक शिथिलाचारी यतियों से त्रस्त वातावरण में किसी यति को अपने नगर में प्रवेश भी नहीं करने देते थे, एसे समय में वि.सं. 1926 के प्रथम वैशाख मास में गुरुदेवश्री कुक्षी पधारें, तब वसति (ठहरने का स्थान) और शुद्धाहार के अभाव में गाँव के बाहर नाले के पास वटवृक्ष की छाँव में रहकर अठाई (आठ उपवास) तप किया। 9 वें दिन विहार के समय कुक्षी संघने आदर-सत्कारपूर्वक गुरुदेवश्री को कुक्षी नगर में प्रवेश करवाया और सम्यक्त्व सहित त्रिस्तुतिक (तीन थुई) आम्नाय का अनुसरण किया एवं वैशाख सुदि पूर्णिमा के दिन कुक्षी श्रीसंघ के साथ तालनपुर तीर्थ (म.प्र.) की यात्रा की।[128]

आचार्यश्री का जीवन तप की उर्जा से ओतप्रोत था। वे सदा ही कठिनतम तप अंगीकार करते थे। एक बार आचार्यश्री राजगढ (म.प्र.) में थे तब स्वेच्छा से अभिग्रह किया कि यदि कोई श्राविका राख वहरावे तो पारणा करना। इस अभिग्रह में 12 उपवास होने पर राजगढ के श्री खजानजी परिवार में श्री लालचन्दजी खजानची की धर्मपत्नी (मैना बाई) के हाथ से आचार्यश्रीने गोचरी वहेरने के समय 'राख' वहोरकर (ग्रहण कर) पारणां किया। इसी प्रकार की अनेक तपस्याओं के प्रसंगो के उल्लेख यत्रतत्र प्राप्त होते हैं।।[129]

वि.सं. 1927 में आपने दिगम्बर सिद्धक्षेत्र मांगीतुंगी पर्वत (आकोला-मालेगांव के पास महाराष्ट्र में) पर छ: महीने तक ध्यानादिपूर्वक सूरिमंत्र की कष्टमय आराधना साधना की। इसी तरह वहाँ अट्ठाई (आठ उपवास) के पारणे फिर अट्ठाई- एसी आठ अट्ठाई करके 'श्री नमस्कार महामंत्र' के प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' पद का सवा करोड बार जाप किया।[130] राजस्थान में मोदरा नगर के समीप चामुंड वन में भी आठ उपवास किये एवं आठ महीने तक कायोत्सर्ग में ध्यान किया।[131] जालोर के किले उपर स्थित जिनमंदिरों को राजकीय अधिकार से मुक्त कराने हेतु जालोर के किले (स्वर्णगिरि) की अतिसन्तप्त शिलाओं पर तप के साथ आतापना लेकर और रात्रि में कडी ठंड सहनकर कायोत्सर्ग में ध्यान साधना की। एवं स्वर्णगिरि तीर्थ-जालोर (राज.) की प्रतिष्ठा के समय भी 9 उपवास के तपपूर्वक प्रतिष्ठा करवाई थी।[132]

वि.सं. 1931-32 में आहोर के श्रीसंघ में चल रहे वैमनस्य को दूर करने हेतु कई महीनों तक सतत आयंबिल तप किया।[133] इसी प्रकार अपने जीवन के अंतिम वर्षावास में वि.सं. 1963 में बडनगर (म.प्र.) में भी दीपावली के दिनों में अट्ठाई तप कर ग्यारह अंगो का स्वाध्याय (पुनरावर्तन) किया।[134]

इसके अतिरिक्त चार बार सिद्धाचल यात्रा में अट्ठम तप (तीन उपवास), दो बार गिरनार की यात्रा में छट्ठ तप (दो उपवास), श्री केशरियाजी तीर्थ में एवं श्री शंखेश्वर तीर्थ में अट्ठाई एवं श्री मक्षी तीर्थ में 5 बार अट्ठम (तीन उपवास) किया। इस प्रकार आचार्यश्रीने स्वयं के शरीर की ऊर्जाओं का योग व तप से एसा दोहन किया कि उनका प्रभामण्डल तेजस्विता से जाज्वल्यमान बन गया था।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी : क्षमाश्रमण:-

आचार्यश्रीकी क्षमा कायर की नहीं अपितु वीर की क्षमा थी। उपकारी को ही नहीं अपितु अपकारी को भी माफ कर देना - यह आपका सहज औदार्य था।

विद्वेषी यतियों ने जावरा में व्याख्यान सभा में एवं शिवगंज की प्रतिष्ठा में मंडप के आग लगाई, तथापि आपने उनसे द्वेष करने के बजाय उन्हें क्षमा कर दिया। इतना ही नहीं, अपितु जनता के आक्रोश से उनकी सुरक्षा हेतु उन्हें आपने अपने पास में बैठाया।[135]

मुनि धन विजयजी को गोचरी के नियम पालन में मामूली भूलवश आपने गच्छ बाहर कर दिया था परंतु दो वर्ष बाद अपने अंतिम समय में आपने श्रीसंघ को कहा कि "मुनि धनविजयजी की गलती के अनुसार पर्याप्त प्रायश्चित हो चुका है अत: उन्हें वापिस गच्छ में लेकर मेरी पाट पर बैठाकर आचार्य पद से अलंकृत करना" - यह आपके क्षमागुण का अद्भुत और ज्वलंत दृष्टांत है।[136]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेनद्रसूरि: वादीमानभञ्जक:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का ज्ञान कभी भी कहीं पर भी अहंकार का कारण नहीं बना किन्तु गच्छ में शिथिलाचार

126. धरती के फूल पृ. 225, कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी-जीवन परिचय पृ. 12
127. विरलविभूति, पृ. 60
128. राजेन्द्रसूरि का रास - 50
129. राजगढ श्री संघ में हुए गुरुगुणानुवाद के प्रवचन में से सन 1990
130. माङ्गीतुङ्गीपर्वतीयाऽतिविषमगुहायामष्टोपवासं कुर्वन् षाण्मासिक सूरिमन्त्राऽऽराधनम् तथा सत्यपि देहसौकुमार्येऽतिशीतकाले नर्मदातीरेऽतिशीतले निर्वासा एव (एक कटीवस्त्रपूर्वक) कायोत्सर्गेण तस्थिवान्।
— कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी जीवन परिचय पृ. 12
131. राजेन्द्रगुणमंजरी, पृ. 55; कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी गत जीवन परिचय पृ. 12
132. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 80, कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी-जीवन परिचय पृ. 12, श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 83, 84
133. जीवनप्रभा पृ. 21, राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 54
134. विश्वपूज्य पृ. 98
135. धरती के फूल पृ. 291-92-94
136. विरलविभूति पृ. 94, 95, 295

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ जाने से और मूर्ति-पूजा आदि भक्ति योग पर सिद्धांत विरोधियों द्वारा आक्षेप किये जाने पर आपने उनको सन्मार्ग पर लाने के लिये एवं उनके तथा अनेक भव्यजीवों के कल्याण के लिए कई शास्त्रार्थ किये जिनमें सदा ही विजयी रहे क्योंकि आचार्यश्री में न तो स्वयं के ज्ञान का अभिमान था और न ही वे दूसरों के सम्यक् प्ररुपण एवं प्रचार के लिये उन्होंने अनेकत्र अनेक वादियों के मान का भङ्ग किया। आचार्यश्री द्वारा किये गये प्रमुख शास्त्रार्थ का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा हैं।

1. व्याकरणविषयक वाद:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का व्याकरण विषयक ज्ञान प्रकाण्ड विद्वतापूर्ण था अत: आपने इस विषयक शास्त्रार्थ में ज्वलंत विजय प्राप्त की।

एक बार आचार्यश्री वि.सं. 1921 में अजमेर में थे, तब यति जयसागरजी की मध्यस्थता में संघ समक्ष खरतरगच्छीय श्रीपूज्य मुक्तिसूरि से आपका नवकार मंत्र के प्रथम पद 'नमो अरिहन्ताणं' के 'णं' - वर्ण के अर्थ विषयक वाद हुआ। वादी ने 'णं' वर्ण को वाक्यालंकारार्थ में पादपूर्तिरुप बताया। इसका निषेध करते हुए आपने जैनेन्द्र व्याकरण की पद्धति पूर्वक कोशादि के द्वारा 'णं' प्रत्यय को षष्ठ्यर्थ का द्योतक बताया। संस्कृत भाषा में हुए इस वाद में आपकी विजय हुई जिससे जिनशासन की बहुत प्रभावना हुई।[137] इसी प्रकार किशनगढ में श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि के पाणिनीय नव्य व्याकरण मतानुयायी भक्त से हुए व्याकरण विषयक शास्त्रार्थ में भी आपकी विजय हुई।[138]

वि.सं. 1958 में बाली (राज.) में सभा के मध्य पं. हेतविजयजी आप से थुइ (स्तुति) विषयक वाद करने आये परन्तु सूर्यवत् आपको देखकर बोल ही नहीं पाये और उन्होंने स्वयं ही अपनी पराजय स्वीकार कर ली एवं आपकी स्तुति की। बाद में आपने संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण के माध्यम से 'थुइ' शब्द की सिद्धि बतायी।[139]

2. मूर्तिपूजा विषयक वाद:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के आचार्य थे। यद्यपि श्री जिन प्रतिमा पूजन अत्यंत प्राचीनकाल से शास्त्र सम्मत है। लाखों करोडों वर्ष प्राचीन एवं शाश्वत जिनप्रतिमाएँ इस काल में भी प्राप्त है, यथा कुलपाकजी तीर्थ में माणिक स्वामी की प्रतिमा बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय की है।[140] अजाहरा पार्श्वनाथ की प्रतिमा को समुद्र में से प्रगट हुए 7 लाख वर्ष से अधिक समय हुआ है और वह प्रतिमा 13 लाख वर्ष से भी अधिक प्राचीन हैं।[141] इसी प्रकार शंखेश्वर तीर्थ में मूलनायक श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान खंभात तीर्थ में स्थंभन पार्श्वनाथ, चारुप पार्श्वनाथ की प्रतिमाए पिछली चौबीसी में 9 वें तीर्थंकर श्री दामोदर स्वामी के समय में अषाढी श्रावक द्वारा भरवाई हुई है।[142] तथापि श्वेताम्बर जैनों में स्थानकवासी एवं ढूंढकपंथी लोग इसे नहीं मानते हुए असत्प्रलाप करते हैं। आचार्यश्री के जीवन में भी ऐसे प्रसंगो पर शास्त्रार्थ करने का अवसर आया जिसमें आपने अपने शास्त्र-ज्ञान बल, तपोबल और ध्यान बल से सर्वत्र विजय पाई।

वि.,सं. 1928 में जावरा में ढूंढकपंथी यति गंभीरमल से मूर्तिपूजा विषयक शास्त्रार्थ में आपकी विजय हुई, जिससे जावरा और रतलाम में भारी धर्म प्रभावना हुई।[143]

वि.सं. 1933 में आचार्यश्री का चातुर्मास जालोर (राज.) में हुआ तब जालोर किले के स्वर्णगिरि तीर्थ के प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार के समय आपने जालोर-गोडवाड निवासी ढूंढियों के साथ वाद किया। इस वाद में आपने तखतमल प्रमुख 700स्थानकवासी जैन परिवारों को सुबुद्धि और शास्त्र युक्ति से निरुत्तर किया एवं उन्हें मूर्तिपूजक बनाया।[144] वर्तमान गोडवाड पट्टी (राज.) में जो मूर्तिपूजक समाज का बाहुल्य देखने में आता है वह इसी का प्रभाव हैं।

वि.सं. 1949 में आचार्यश्री का चातुर्मास निम्बाहेडा था। तब आपका स्थानकवासी यति नंदराम से मूर्तिपूजा एवं जिनमूर्ति की मुनि द्वारा प्रतिष्ठा की शास्त्रोक्तता एवं अन्य प्रश्न विषयक वाद हुआ जिसका निम्बाहेडा-अदालत (रियासती) में निर्णय किया गया। इस वाद में यति नंदराम द्वारा प्रेषित 9 प्रश्नों के आचार्यश्रीने शास्त्रोक्त सप्रमाण उत्तर दिये जबकि आचार्यश्री के 4 प्रश्नों में से नंदराम ने एक का गलत एवं तीन के अति संक्षिप्त उत्तर दिये और शेष 25 एवं 15, इस प्रकार कुल 40 प्रश्नो में से एक का भी उत्तर नहीं दिया जिससे यति नंदराम पराजित हुआ एवं आचार्यश्री विजय हुए। साथ ही इस विजय के फलस्वरुप निम्बाहेडा के 60 परिवारों ने मूर्तिपूजक बनकर आचार्यश्री की आम्नाय स्वीकृत की[145] जो अद्यावधि 250 परिवारों के विशाल संघ के रुप में विद्यमान हैं।

इसी प्रकार नीमच में स्थानकवासी यति चोथमल से एवं वि.सं. 1953 में जावरा में[146] तथा वि.सं. 1954 में रतलाम में अन्य स्थानकवासी के साथ मूर्ति पूजा विषयक शास्त्रार्थ कर आचार्यश्रीने विजय प्राप्त कर उन्हें अच्छी शिक्षा देकर धर्म प्रभावना की[147]।

3. तीन स्तुति - चतुर्थ स्तुति विषयक वाद[148]:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने वीतरागता एवं जिनवाणी के पुन: प्रचार-प्रसार हेतु क्रियोद्धार के साथ ही वीतराग प्रणीत जैनागमसम्मत त्रिस्तुतिक सिद्धांत का पुनरुद्धार कर उसी का प्रचार-प्रसार एवं उपदेश किया अत: देवोपासना और शिथिलता के इस युग में उनके मार्ग में जगह-जगह धमकियाँ, प्रलोभन, उपसर्ग आदि आये जिनका उन्होंने धीर-वीर-शूरवीर बन सामना किया, इतना ही नहीं अपितु इस हेतु आपश्री को कई जगह विद्वेषी, कुतर्की, हठाग्रही, कदाग्रही देवोपासकों से शास्त्रार्थ भी करना पडा जिसमें सर्वत्र आप सूर्य की भाँति निर्मल तेज-प्रकाश युक्त प्रकाशित हो विजयी हुए। यहाँ ऐसे कुछेक शास्त्रार्थ का दिग्दर्शन कराया जा रहा है-

137. श्री राजेन्द्रसूरि का रास; उत्तरार्ध-खण्ड-4, ढाल-३, पृ. 28,29
138. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 29, 30
139. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 79, 80
140. श्री कुलपाक जी तीर्थ का इतिहास
141. अजाहरा पार्श्वनाथ तीर्थ का इतिहास
142. अ.रा.पृ. 5/903-904; शंखेश्वर तीर्थ का इतिहास
143. विरल विभूति, पृ. 65
144. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 57, 58; श्री राजेन्द्रसूरि अष्टप्रकारी पूजा - 7/17; कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी पृ. 10
145. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 70; जीवनप्रभा पृ. 22; प्रश्नोत्तरमालिका ग्रंथ संपूर्ण, श्री राजेन्द्रसूरि अष्टप्रकारी पूजा-7/9
146. कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी - जीवन परिचय पृ. 10
147. जीवनप्रभा पृ. 22, 23, श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 73
148. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 28

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि.सं. 1922 में बिकानेर में भट्टारक उपाश्रय में यति मोतीचन्द्र के साथ मुनिश्री रत्नविजयजी (आचार्यश्री) का वाद हुआ जिसमें 'प्रतिक्रमण में क्षेत्र देवता की स्तुति करना' - ऐसी वादी की स्थापना थी, जिसे आपने शास्त्रोक्त प्रमाणों से खण्डन कर विजयश्री प्राप्त की। और बीकानेर में प्रशस्य धर्म प्रभावना की।

वि.सं. 1926 में बडनगर में कुछेक यतियों ने आपसे त्रिस्तुतिक विषयक शास्त्रार्थ किया जिसमें आपकी ज्वलन्त विजय हुई। फलस्वरुप यति भक्तों ने सत्य सिद्धांत स्वीकार कर आपकी आम्नाय शरण अंगीकार की एवं आपका उपदेश ग्रहण किया।[149]

वि.सं. 1928 में इन्दौर में संवेगी झवेर सागरजी से तीन थुई-चार थुई विषयक शास्त्रार्थ हुआ जिसमें आपने झवेर सागरजी की बातों का खंडन किया और विजय प्राप्त की।[150] परंतु वादी ने अपनी कुटिलता नहीं छोडी जिससे वि.सं. 1929 में आचार्यश्री के रतलाम चातुर्मास में सार्वजनिक आम जनता के बीच पुनः वाद हुआ। इस वाद में झवेर सागरजी ने तपागच्छीय यति बालचंद्र और खरतरगच्छीय यति ऋद्धिकरण को अपनी तरफ से वेतन तय कर वाद हेतु नियुक्त किया जबकि आचार्यश्री की तरफ से प्रतिवादी के रुप में आचार्यश्री स्वयं रहे। साक्षी में रतलाम नरेश, रतलाम की समस्त प्रजा एवं पाँच गाँव के महाजन रहे एवं रतलाम नरेश तथा पाँच गाँव के प्रमुख महाजन एवं रतलाम की सभी जातियों के प्रमुख प्रतिनिधि निर्णायक के रुप में रहे। इस वाद में वादी ने निम्नांकित पाँच प्रश्न पूछे जो निम्नानुसार हैं-

(1) जिनपूजा में अल्पपाप का निषेध कहना।
(2) प्रतिक्रमण में चतुर्थ स्तुति, वैयावच्चगरणं, और सम्मदिट्ठीदेवाए - पाठ कहना।
(3) ललितविस्तरा के कर्ता हरिभद्रसूरि निश्चय से वि.सं. 585 में ही हुए।
(4) साधु के वस्त्र श्वेत हों या रङ्गीन?
(5) मलिन चारित्र युक्त पासत्था को वंदन करना।

वादी के पाँच प्रश्नो का उत्तर निम्नानुसार दिया गया -

(1) जिन पूजा शुभानुबंधी मोक्षफल प्रदायक है परन्तु द्रव्यपूजा में आरंभ संबंधी विराधना के कारण जिन-द्रव्य पूजा में 'अल्प-पाप-बहुत निर्जरा' कहते हैं।
(2) प्रतिक्रमण में उक्त पाठ नहीं कहना, वंदित्तु. सूत्र में 'सम्मतस्सय शुद्धि' पाठ कहना। सर्व जगह तीन थुइ कहना।
(3) ललितविस्तरा के कर्ता हरिभद्र सूरि वि.सं. 1055 में स्वर्गवासी हुए हैं।
(4) श्री महावीर शासन में साधु को श्वेत मानोपेत जीर्णप्राय वस्त्र धारण करना चाहिए।
(5) पासत्था को कारण बिना सर्वथा वंदन नहीं करना, पासत्था को ज्ञान भंडार भी नहीं दिखाना।

इस प्रकार आचार्यश्री ने वादी के प्रश्नरुप 'निर्णय प्रभाकर' ग्रंथ के प्रत्युत्तर में आठ दिन में 'सिद्धांत प्रकाश' ग्रंथ की रचना द्वारा वादी के मत का खंडन कर अद्‌भुत विजय प्राप्त की जिससे रतलाम में अनुपम धर्म प्रभावना हुई। अन्यत्र भी इससे अतिशय प्रभावित होकर लोगों ने आचार्यश्री का उपदेश ग्रहण किया एवं त्रिस्तुतिक आम्नाय स्वीकृत की।[151]

पुनः इसी विषय पर वादीने आचार्यश्री से सेमलिया नरेश को निर्णायक बनाकर सेमलिया (जि. रतलाम, म.प्र.) में वाद किया, वहाँ भी वादी को करारी हार मिली एवं आचार्यश्री विजयी हुए। इससे प्रभावित हो सेमलिया नरेश ने आपका उपदेश ग्रहण कर कई व्रत-नियम ग्रहण किये।[152] वि.सं. 1940 में अहमदाबाद में संवेगी आत्मारामजी के साथ भी इसी त्रिस्तुतिक सिद्धांत विषयक वाद पत्रों के द्वारा हुआ, जिसमें भी आचार्यश्री की विजय हुई। यह वाद तत्कालीन 'प्रजाबन्धु' समाचार पत्र (अहमदाबाद से प्रकाशित) में मुद्रित हैं।[153]

वि.सं. 1960 में जब आचार्यश्री सूरत (गुजरात) में थे तब पंन्यास चतुरविजयजी से भी इसी त्रिस्तुतिक विषयक एवं समाचारी (साध्वाचार संबंधी नियम) संबंधी वाद हुआ था जिसमें एसी शर्त थी कि, "पञ्चाशक सूत्र में चतुर्थ थुई सम्मत शास्त्रपाठ मिले तो राजेन्द्र सूरीश्वरजी को चतुर्थ स्तुति मत अंगीकार करना और यदि न मिले तो वादी को राजेन्द्र सूरीश्वरजी दर्शित आगमोक्त तीन स्तुति एवं बृहत्तपागच्छीय आमन्या अंगीकार करना। लेकिन वादी ने न तो पञ्चाशक सूत्र में से चतुर्थ स्तुति सम्मत शास्त्रपाठ बताया और न आपकी समाचारी भी अङ्गीकार नहीं की तब सूरत की समस्त महाजन कोम के प्रतिनिधियों की परिषद्‌ने आपको विजेता घोषित किया। यह वृतान्त तत्कालीन 'देशी मित्र' समाचार पत्र में मुद्रित है। विशेष रुचिवानों के लिये 'श्री राजेन्द्र सूर्योदय' एवं 'कदाग्रह दूराग्रहनो शांति मंत्र' - पुस्तकें दृष्टव्य है।

इस वाद के समय वादी पक्ष ने लोगों में असत्प्रलाप कर आचार्यश्री का आहार-पानी तक प्राप्त करना दुर्लभ कर दिया तथापि आचार्यश्री सत्य सिद्धांत पर अडिग रहे एवं इस वर्ष चातुर्मास भी सूरत में कर अभूतपूर्व शासन प्रभावना की।[154]

आचार्य श्रीमदजय राजेन्द्रसूरि : निष्णात ज्योतिषी:-

तर्क और गणित के पूर्ण ज्ञाता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी का जीवन ज्योतिष विज्ञान से अछूता नहीं था, अपितु मुहूर्त एवं फलित दोनों विषयों पर आपका पूर्ण अधिकार था। आपके द्वारा रचित 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश' में गह (ग्रह), नक्खत्त (नक्षत्र), पौर्णमासी, अमावस्या, संवच्छर (संवत्सर) आदि शब्दों के अन्तर्गत आपने ज्योतिष शास्त्र का विशाल ज्ञान अध्येताओं को सहज में उपलब्ध करा दिया है। आपने ज्योतिष को मात्र जाना ही नहीं, इसका सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन-मनन कर सदैव सहज साधन के रुप में उपयोग भी किया।

149. राजेन्द्रगुण मञ्जरी
150. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 51
151. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 51-77; सिद्धांतप्रकाश ग्रंथ की हस्तलिखित पाण्डुलिपि (ज्ञान भंडार, कुक्षी, म.प्र.)
152. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 78
153. वही पृ. 58
154. श्री राजेन्द्र सूर्योदय - वि.सं. 1959 (गुजराती) प्रथमावृत्ति - सुरत (गुज.) प्र. देशी मित्र मण्डल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक राचयंदजी के अनुसार आप जब वि.सं. 1922 में बीकानेर (राजस्थान) में थे तब आपके पास एक हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति ने आकर अपनी जन्मपत्रिका देकर अपनी शेष आयु के बारे में पूछा तब आपने बताया कि आठ दिन मात्र आयु शेष है, वह बात पूर्ण सत्य सिद्ध हुई।[155]

इसी प्रकार सुश्रावक कोचरजीने आपसे अपना भविष्य पूछा तब आपने उनकी पत्रिका देखकर बताया कि वैशाख सुदि तेरस के दिन आप बीकानेर राज्य के दीवान पद पर आसीन होंगे और वैसा ही हुआ।[156]

बीकानेर के राजा ने आप से पूछा कि मुझे पुत्र कब होगा ? तब आपने राजा की जन्म पत्रिका देखकर जान लिया कि राजा का आयुष्य पांच वर्ष शेष है और उनकी मृत्यु पश्चात कोई दत्तक पुत्र गादी पर बैठेगा। अत: आपने कहा कि पांच साल बाद पुत्र प्रसिद्ध/प्रगट होगा। पांच वर्ष के बाद यह बात अक्षरश: सत्य निकली।[157]

क्रियोद्धार के समय की लग्नकुण्डली देखकर आपने उसी समय भविष्य बताया कि जोधपुर राज्य की स्थापना से 470 वर्ष होने के पश्चात् त्रिस्तुतिक मत का अतिशय प्रचार-प्रसार होगा।[158] यह बात भी आज पूर्ण रुप से सत्य प्रतीत हो रही हैं।

इसी तरह वि.सं. 1940 में जब आप अहमदाबाद विराजमान थे तब अहमदाबाद-वाघनपोल में श्री महावीर जिनालय की प्रतिष्ठा थी। उस प्रतिष्ठा मुहूर्त को देखकर आपने कहा कि इस मुहूर्त में प्रतिष्ठा करने पर अग्नि प्रकोप होगा। और भविष्यवाणी के अनुसार भयंकर आग प्रकट हुई। बाद में भगवान् की मूर्ति उठाने को रोकने पर भी भगवान् की मूर्ति उठायी और द्वितीय मुहूर्त में प्रतिष्ठा की तब आपने कहा कि यह मुहूर्त भी सही नहीं है। इस मुहूर्त में प्रतिष्ठा करने पर मूलनायक श्री महावीर स्वामी को विराजमान करने वाला व्यक्ति छ: महीने में मृत्यु को प्राप्त होगा। हठाग्रहियोंने यह बात नहीं मानी और गलत मुहूर्त में प्रतिष्ठा का जो फल आपने बताया था वही हुआ।[159]

वि.सं. 1955 में आहोर में श्री गोडीजी पार्श्वनाथ मंदिर के ५२ जिनालय की प्रतिष्ठा के समय प्रतिपक्षी वर्ग के यहाँ भी उत्सव का आयोजन होने जा रहा था। तब आपने प्रतिष्ठाकारक से कहा -"यह मुहूर्त उनके अनुकूल नहीं है, इसमें ग्रहगति और संगति विपरीत बैठती है।" तब आपकी बात सत्य साबित हुई, जो विपक्षियों ने नहीं मानी लेकिन उसके दुष्परिणाम स्वरुप प्रतिष्ठाकारक श्रीपूज्य जिनमुक्तिसूरि आहोर आते-आते रास्ते में ही रोग से पीडित होकर दिवगंत हो गए एवं गाँव के ठाकुर, उनका पट्ट हस्ती और महावत का भी देहान्त हो गया[160]

वि.सं. 1958 में सियाणा में प्राचीन श्री सुविधिनाथ जिनालय की 24 देवकुलिकाओं में स्थापना करने हेतु 24 जिनेश्वरों की अंजनशलाका-प्रतिष्ठा के समय मंडप में जन्म कल्याणक महोत्सव हेतु 60-70 हाथ उँचा मिट्टी का मेरुपर्वत बनाया जा रहा था। वह नीचे से गीला था और उपर मजदूर आदि के भार से गिरने से 5-7 मजदूर उसमें दब गये। किसी ने उसी समय आचार्यश्री को सूचना दी, तब स्वरोदय ज्ञान बल से आपने कहा -"जाओ, एक भी नहीं मरा, अब तुम उन्हें जल्दी से निकालो।" और वास्तव में काम करनेवाले सभी लोग मणों मिट्टी के ढेर में दबने के बावजूद स्वस्थ निकले।[161]

ज्योतिष संबंधी विशद ज्ञान के कारण उन्होंने सैंकडों प्रतिष्ठाएँ करवायी किन्तु कहीं कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ। आपने ज्योतिष संबंधी 'गतिषष्ठ्या-सारणी', ग्रह-लाघव और स्वरोदय-यंत्रावली-ये तीन ग्रंथ लिखे। इसके अलावा आपके द्वारा रचित फलादेश संबंधी कुछ दोहे तत्संबंधी गंभीर ज्ञान के द्योतक हैं।[162]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : निमित्तज्ञानी:-

आचार्य विजय राजेन्द्रसूरि की ध्यान साधना उत्कृष्ट कोटि की थी। ध्यान के बल पर वे भविष्य को जानते थे। उनके जीवन में कई ऐसी घटनाओं का उल्लेख है जो उन्होंने समय से पूर्व ही ध्यान के बल पर बता दी थी।

वि.सं. 1951 में आप कुक्षी में थे तब रात्रि में ध्यानावस्था में आपने कुक्षी नगरी को अग्नि के प्रकोप से जलती देखी। सुबह आपने श्रावकों को बताया कि आज से 19 वें दिन गंगाराम ब्राह्मण के घर से आग शुरु होगी और भयंकर नुकसान होगा। यह बात अक्षरश: सही नीकली।[163] जिसमें कुक्षी का बृहद् हस्तलिखित ज्ञान भण्डार जलकर भस्म हो गया।

वि.सं. 1953 में कडोद (म.प्र.) निवासी खेताजी वरदाजी के यहाँ चोरी हो गयी और 80,000 का माल चला गया तब गुरुदेव के पास आये। गुरुदेव ने कहा कि सब माल वापिस आ जायेगा। तीन माह के बाद चोर पकडे गये और सब माल वापिस आ गया। जिसका दोनों भाइयों ने धर्म कार्य में सदुपयोग किया।[164]

---

155. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 31
156. वही पृ. 31, 32
157. वही ढाल 11
158. श्रीमद्विजय धनचंद्रसूरि जीवन चरित्र
159. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ - पृ.61
160. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी श्लोक 459 से 469
161. श्री राजेन्द्र गुणमञ्जरी पृ. 80,81
162. सातमा भुवन तणो धणी, धन धवने पड्यो होय।
परण्या पूंठे धन मिले, इम कहे पण्डित लोय॥
पंचमेश धन भवन में, सुत पूठे धनवन्त।
धन तन स्वामी एक हों, तो स्वधन भोगन्त॥
लग्न धनेश चौथे पड्या, कहे मातानी लच्छ।
क्रूर ग्रह लग्ने पड्यो, प्रथम कन्या दो वच्छ॥
भौम त्रिकोणे जो हुए, तो लहे पुत्र ज एक।
मंगल पूजा दृष्टि सूं, होवे पुत्र अनेका॥
भौम वक्र क्रूर सातमे, पडे भूंडी स्त्री हाथ।
भौम अग्यारमें जो पडे, परणे नहीं धननाथ॥
शनि चन्द्र अग्यारमें, पडे स्त्री परणे दोय।
चन्द्र भौम छट्ठे पडे, षट् कन्या तस जोय॥
अग्यारमें क्रूर ग्रह तथा, पंचम शुक्र जो थाय।
पेली पुत्री सुत पछे, माता कष्ट सुणाय॥
क्रूर ग्रह हुए सातमें, कर्कसा पाये नार।
बुध एकलो पांचमें, तो जोगी सिरदार॥
शनिशर दशमे पडे, वाघचित्ताथी लेह।
मरे दसमे वली शुक्र जो, अहि डसवाथी तेह॥
रहु दशम जो हुए, मरे अग्नि में जाण।
राजेन्द्रसूरि इम भणे, जातकने अहिनाण॥
— श्री राजेन्द्र ज्योति-पृ. 14
163. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 62
164. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि.सं. 1955 में आहोर (राजस्थान) में श्री गोडीजी पार्श्वनाथ मंदिर की प्रतिष्ठा एवं 951 जिनबिम्बों की अंजनशलाका हेतु मुहूर्त के प्रसंग में आपने वि.सं. 1956 में होने वाले भयंकर अकाल (छप्पनिया अकाल) की भविष्यवाणी साल भर पहले ही कर दी थी[165] और वि.सं. 1956 की शुरुआत में आप शिवगंज में थे तब आपने ध्यान में श्याम सर्प को विषवमन करते देखा जिससे आपने भविष्यवाणी की कि इस साल भयंकर अकाल होगा - जो सत्य साबित हुई।[166]

इतना ही नहीं अपितु स्वर्गवास के तीन वर्ष पूर्व ही आचार्यश्री को वि.सं. 1960 के शीतकाल में रात्रि में ध्यानावस्था में किसी समय स्वयं की आयु के बारे में भी पता लग गया था। सूरत चातुर्मास में किसी श्रावक के प्रश्न के प्रत्युत्तर में आपने शिष्यों और श्रावकों के बीच बताया भी था कि "मैं अभी तीन वर्ष और भूमण्डल पर विचरूँगा (विहार करुँगा)।[167]

इसी प्रकार मांडवगढ का रास्ता छोडकर राजगढ की ओर जाते समय मार्ग में आचार्यश्री की शारीरिक अस्वस्थता के समय किसी शिष्य ने आपके वस्त्र-पात्रादि उठाने हेतु आपसे याचना की तब भी आपने उसे नहीं देते हुए सारगर्भित शब्दों मे कह दिया था कि 'अब लम्बा विहार कहाँ करना है, राजगढ ही तो पहुंचना है।[168]

वि.सं. 1963 में जब आप बडनगर में चातुर्मासार्थ विराजमान थे तब मारवाड राजस्थान से कुछ श्रावक वहाँ की प्रतिष्ठा आपके द्वारा करवाने हेतु प्रतिष्ठा का मुहूर्त लेने आये तब आपने कह दिया था कि मेरे हाथ से उधर कोई प्रतिष्ठा अब नहीं होना हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : सिद्ध योगी:-

जैनदर्शन में योग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि जैनदर्शन प्राय: संपूर्णरुपेण योगसाधनामय है। जैनदर्शन में योग को मोक्ष का अंग माना गया है- 'मुक्खेण जोयणाओ जोगो' (श्रीहारिभद्रीय योगविंशतिका गा.1) आचार्य विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज भी बीसवीं सदी के महान योगी पुरुष थे। योगी अपने व्यक्तित्व को अधिकाधिक विकसित करने के लिये साधना करते हैं। भीतर की प्रसुप्त शक्तियों को जगाने के लिये उनका प्रयोग/प्रयास चलता है। आचार्य विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी की ध्यान-योग साधना भी बडी बलवती थी। वे अपनी ध्यान साधना के लिये एकान्त पर्वत, गिरि गुफाओं, कन्दराओं और पर्वतों पर जाते थे। उन्होंने मांगीतुंगी पहाड एवं जालोर के किले (स्वर्णगिरि तीर्थ) के उपर तथा चामुंड वन में बहुत साधना की। क्रियोद्धार के पहले राणकपुर के आसपास के जंगल और पहाडी पर भी उन्होंने ध्यान-चिंतन-मनन आदि किया। अपने दैनिक जीवन में भी वे नित्य रात्रि के तीसरे प्रहर में ध्यान में लीन होकर साधना करते थे। योग साधना एवं लम्बे समय तक एकाग्र ध्यान के कारण उन्हें बहुत सारी उपलब्धियाँ प्राप्त हुई थी जिन्हें हम योगसिद्धि कहते हैं।[169]

योग साधना के बल पर उन्होंने कई एसे आश्चर्यजनक कार्य किये जिससे उनकी गणना सिद्ध पुरुषों में हुई। योग के बल पर अन्यत्र (थराद या आहोर) रहे हुए आपने सिद्धाचल तीर्थ (सौराष्ट्र) के गिरिराज पर रहे मुख्य आदिनाथ प्रभु के जिनालय में परमात्मा की प्रतिमा के पीछे जलती हुई पछवाई (जरी भरतवाला रेशमी कपडा) की आग बुझा दी।[170]

आचार्यश्री जब जालोर के किले (स्वर्णगिरि तीर्थ) पर ध्यान में स्थित थे तब वहाँ हिंसक शेर आपके पास आकर शांति से बैठ गया लेकिन किसी प्रकार का उपद्रव नहीं किया।[171]

एक बार जब आप मोदरा गाँव के निकट चामुंड वन में थे तब वहाँ के ठाकुरने (किसी जगह भील ने) आपको कोई पशु समझकर निशाना लगाकर बाण फेंका। बाण आपसे थोडी सी दूरी पर चरणों में गिरा लेकिन आपको तनिक भी हानि नहीं हुई और ठाकुर ने आकर आपको देखकर क्षमा मांगी।[172] राजेन्द्रगुणमंजरी में ऐसा भी उल्लेख है कि ठाकुर तलवार लेकर मारने दौडा था।[173]

आहोर (राजस्थान) के पास सामुजा गाँव निवासी राज पुरोहित वरदीचन्द का पुत्र मोहन, पांच वर्ष की अवस्था से गूंगा हो गया था और संधिवात से ग्रस्त था जो कि आहोर में आपके पास दर्शनार्थ आया तब आपके द्वारा 'वासक्षेप' करने मात्र से ठीक हो गया और आपके हस्तदीक्षित होकर उपाध्याय श्री मोहनविजयजी के नाम से प्रख्यात हुआ।[174]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि: महान तन्त्रविद्:-

अनुभवसिद्ध योगी होने के साथ-साथ आचार्यश्री तन्त्रप्रयोग के भी विशद विद्वान थे। आपके मुखारविन्द से मांगलिक श्रवण करने मात्र से राजगढ निवासी श्री चुनीलाल जी खजानची राजगढ स्टेट के खजानची बन गये और उन्होंने राजगढ में अष्टापदावतार जिनालय बनवाकर आपके हाथों प्रतिष्ठा करवाई।[175] उनके पुत्र धार स्टेट के 'रायबहादुर' बने।[176] दरिद्र स्थिति वाले खाचरोद निवासी चुनीलाल जी मुणत को आपके आशीर्वाद से मात्र 15 दिनों में न्यायनीतिपूर्वक व्यापार में इतना धन प्राप्त हुआ कि इन्होंने बडावदा में श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय बनवाया एवं मक्षीजी (म.प्र.) तीर्थ का संघ निकाला।[177] आहोर निवासी चमनाजी ने आपके वासक्षेप एवं मांगलिकश्रवण मात्र से मृत्युशय्या पर अपने प्राण बचाये और स्वस्थ दीर्घायु प्राप्त की।[178]इसी प्रकार सूरत के नगरसेठ के पुत्र के प्राण बच गये एवं उसकी नष्ट हुई नेत्रज्योति उसे पुन: प्राप्त हुई।[179]

165. धरती के फूल
166. श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 64
167. जीवनप्रभा पृ. 31
168. विश्वपूज्य पृ. 99
169. श्रीमद् राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 60
170. श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी के प्रवचन से वि.सं. 2042 गुरु सप्तमी भाण्डवपुर तीर्थ
171. श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 65, 66
172. श्री राजेन्द्र सूरिश्वरजी, जीवन-दर्शन चित्रपट्ट-मोहनखेडा तीर्थ
173. श्री राजेन्द्रगुणमंजरी, पृ. 56
174. धरती के फूल 321, श्रीमद् राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 127 से 131
175. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 96
176. विरल विभूति, पृ. 73
177. धरती के फूल पृ. 228
178. धरती के फूल पृ. 229
179. श्रीमती कंकुबेन वोहेरा - अध्यापिका, श्री धनचन्द्रसूरि जैन पाठशाला, थराद-के प्रवचनों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार योगसिद्ध आचार्यश्री के आशीर्वाद, कृपादृष्टि, वासक्षेप एवं मांगलिक के प्रभाव से कइयों के जीवन का उद्धार हुआ और उन आत्माओंने आचार्यश्री की प्रेरणा से आत्मकल्याण किया।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी अनेक प्रकार की तांत्रिक, मांत्रिक एवं अन्य चमत्कारिक विद्याओं के ज्ञाता थे। ये विद्याएँ उन्होंने यति श्री सागरचन्द्रजी से अपने यतिजीवन के अध्ययन काल में सीखी थी एवं पञ्चागी सहित जैनागमों के अध्ययन की समाप्ति पर श्रीपूज्य देवेन्द्रसूरिजीने स्वयं के पास स्थित अपने आम्नाय की सिद्ध अलभ्य विद्याएँ आचार्यश्री की योग्यता देखकर गुरुकृपा या आशीर्वाद के रुप में प्रदान की थी। प्रसंगवश, मिथ्या अभिमान के खंडन या स्व-धर्म प्रभावना या संघरक्षा के प्रसंगो से हमें इनकी तनिक झलक मिलती हैं।

वि.सं. 1919 में एक बार मुनि रत्नविजयजी आहोर में थे तब किसी इंद्रजालिक ने इंद्रजाल से आम्रवृक्ष प्रगट किया तब लोक प्रशंसा से वह मिथ्या अभिमान करने लगा। तब गुर्वादेश से यति रत्नविजयजीने (आचार्यश्री का आचार्यत्व के पूर्व का नाम) आकाश में बहुत बडे शरीरवाला एक पुरुष प्रकट किया जिसके अनेकों हाथ थे और प्रत्येक हाथ में विभिन्न शस्त्र थे। इसे देखकर लोग भयभीत होकर भागने लगे तब आपे इसे समेट लिया और अन्य अनेक दृश्य दिखाये।[180]

वि.सं. 1922 में बीकानेर (राज.) में एक दिगम्बर श्रावक को मंत्र साधना में कुछ गडबड होने पर सर्पने काटा तब मुनि रत्नविजयजी ने उसे स्वस्थ कर दिया था।[181]

वि.सं. 1933 में जालोर (राज.) में यति तखतमल आदि स्थानकवासियों के अभ्याक्षेप पर आपने खेरादीवास में मुनिसुव्रत स्वामी भगवान् की प्रतिमाजी के मुखारविंद से स्थानकवासियों के प्रश्नों के उत्तर दिलवाये थे।[182]

जावरा, खाचरौद, भीनमाल आदि जगह कुछ विद्वेषी यतियों ने निन्द्य तांत्रिक प्रयोग किये, लेकिन आपके प्रभाव से किसी प्रकार का नुकसान नहीं हुआ। इतना ही नहीं, शिवगंज प्रतिष्ठा में जब किसी यतिने आग का तंत्र-प्रयोग किया तब गुरुदेव ने नवकार मंत्र बोलकर उस दिशा में मात्र एक मुठ्ठी वासक्षेप उडाया जिससे अग्नि शांत हो गयी।[183]

उसी प्रकार वि.सं. 1953 में जावरा में व्याख्यान के सभा मंडप में किसी यति भक्त ने आग लगा दी तब जनता का आक्रोश देखकर मामला संभालते हुए गुरुदेवश्रीने किसी मुनि से पात्र में पानी मंगवाकर व्याख्यान-पाट पर बैठे-बैठे ही पात्र के पानी में दोनों हाथ मसलकर धोए। तब हाथों में काला-काला पदार्थ पानी के साथ था। हाथ शुद्ध होते ही आग बुझ गयी और आपश्रीने लब्धि के प्रकट प्रयोग करने के प्रायश्चित स्वरुप अट्ठम तप (तीन उपवास) का प्रत्याख्यान किया।[184]

वि.सं. 1959 में आचार्यश्री अपनी शिष्य मंडली के साथ राणकपुर की नाल पर एक नाले के पास वटवृक्ष के नीचे अवस्थान किया और सब से कहा कि कोई भी वटवृक्ष की छाया से बाहर न जाये। रात्रि में नाले में शेर पानी पीने आया तब मुनि लक्ष्मीविजयजीने शेर जैसी आवाज की, जिससे छाया से बाहर शेर सामने आकर खडा हो गया जिससे सब साधु और श्रावक घबराने लगे। तब आचार्यश्रीने त्राटक किया, जिससे शेर कुछ क्षण स्थिर बैठ गया और फिर गर्जना करता हुआ छलांग लगाकर पर्वतों के पीछे चला गया।[185]

बाग (म.प्र.) में 12 जैन परिवार थे परंतु अनेकों प्रयत्न करने पर भी आर्थिक, धार्मिक या पारिवारिक किसी भी तरह से उनकी उन्नति हो नहीं रही थी तब वि.सं. 1962 में कुक्षी चातुर्मास हेतु बाग पधारें आचार्यश्री के सन्मुख वहाँ के तत्कालीन निवासियों के द्वारा इसका कारण पूछने पर आपने बताया कि, बाग के तत्कालीन जिनालय के मूलनायक श्री पार्श्वनाथजी गाँव की राशि के अनुसार संगत नहीं है एवं उनकी दृष्टि गाँव की ओर नहीं होने से नगर एवं श्री संघ की उन्नति नहीं हो रही हैं।

तब रामपुरा आये बाग श्री संघ की भावभरी विनंती को स्वीकार कर आपने प्राचीन जिनबिंब एवं जिनालय को उत्थापित कर नये सौधशिखरी जिनालय में नये मूलनायकजी की अञ्जन शलाका-प्राणप्रतिष्ठा की (वि.सं. 1962 मागशीर्ष सु.-2)। उस महोत्सव में वहाँ बाघनी नदी के किनारे श्मसान में जाकर समस्त उपद्रवकारी आसूरी तत्त्वों को तप-ध्यान एवं योगबल से अपने वश में करके बाग श्री संघ एवं बाग नगर को सर्वात्मना समृद्ध कर दिया[186]

इस प्रकार आचार्यश्री अनेकों तांत्रिक-मांत्रिक विद्याओं के ज्ञाता होने के बावजूद इन्होंने कभी भी अपनी विद्याशक्ति का दूरुपयोग नहीं किया।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : अप्रतिम दार्शनिक:-

प्राय: सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन भी जीवन के आँगन में व्यवहृत सफल आचार दर्शन होने के नाते अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह जैनदर्शन के प्रकाण्डविद्वान् सुप्रसिद्ध आत्मान्वेषी अध्यात्मपुरुष आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज एक श्रेष्ठ दार्शनिक थे।

आपके द्वारा रचित दार्शनिक ज्ञान का अक्षय खजाना श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के माध्यम से कर्मवाद, नवतत्त्ववाद, नयप्रमाणवाद, अनेकांतवाद, स्याद्वाद, अध्यात्म, सम्यक्त्व, रत्नत्रय, पञ्च परिवर्त्तन (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भव), नास्तिकवाद आदि का वर्णन द्रष्टव्य है।

आप की कृति 'षड्द्रव्यविचार' में तेरह लेखों के माध्यम से आपने जैन दर्शन की नींव स्वरुप जीवास्तिकाय, अजीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल - इन षड्द्रव्यों का इतने संक्षिप्त शब्दों में और इतनी सरलता से जो सहजसंपूर्ण ज्ञान करवाया हैं वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। साथ ही आपके द्वारा रचित 'स्तवन चौबीसी' में जैन धर्म के वर्तमान-चौबीस तीर्थंकरों

180. राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 26
181. वही ढाल-11
182. व्याख्यान - आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वर जी म. गुरुसप्तमी वि.सं. 2044
183. धरती के फूल पृ. 291, 292
184. धरती के फूल पृ. 294
185. वही पृ. 298
186. इस मंदिर का शताब्दी महोत्सव हमने आचार्यश्री के प्रशिष्यरत्न वर्तमानाचार्यदेव श्री वि. जयन्तसेन सूरीश्वरजी की निश्रा में वि.सं. 2062 के बाग (म.प्र.) के चातुर्मास में बाग श्री संघ के साथ मनाया (उसमें हम भी उपस्थित थी)। आज भी बाग का प्राय: प्रत्येक जैन परिवार संघपति (संघवी) हैं एवं सारा नगर सर्वात्मना आबाद है, वह आपही की कृपा का फल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की स्तवना/भक्ति के माध्यम से जैन दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन एवं इतर दर्शनों का खण्डन द्रष्टव्य हैं। इतना ही नहीं अपितु 'तत्त्वविवेक' नामक लघुग्रंथ में भी आपश्रीके द्वारा जैनदर्शनानुसार सुदेव-सुगुरु-सुधर्म का स्वरुप भी विशद विवेचनपूर्वक लोकभोग्य सरल भाषा में समजाया गया हैं।

अद्वितीय चिन्तकः-

अध्यात्म प्रधान जैन संस्कृति के प्रतिभा संपन्न मूर्धन्यमनीषियों और महर्षियों के चिन्तन और मनन की अन्तः सलिलाओं ने भारतीय मानस को सदैव उर्वर और प्रकाशपूर्ण बनाकर चिरन्तन एवं सनातन सत्यों का उद्घाटन किया है। इसी कडी में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के आध्यात्मिक जागरण ने जैनागम प्राचीन 'त्रिस्तुतिक सिद्धांत का पुनरुद्धार', 'श्वेत वस्त्र-धारण', 'क्रियोद्धारपूर्वक शुद्ध साधुजीवन का अंगीकार', 'चिरोलापंथी श्रावकों का पुनर्जातिमिलन आदि अनेक ऐतिहासिक कार्य कर सामाजिक क्रांति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया हैं।

आपके द्वारा रचित 'नीति शिक्षा द्वयपच्चीसी', 108 बोलनां थोकडां, सिद्धांतसार सागर (बोल संग्रह) आदि आपके सार्थक चिंतन का प्रतिनिधित्व करते हैं। इतना ही नहीं स्वगच्छीय साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका की आगमोक्त विधि से नित्य-नैमित्तिक आवश्यक क्रियाओं, द्रव्यानुष्ठान और भावानुष्ठान में आई विकृतियों का शोधन, कलमनामा, मर्यादापट्टक, अनेक शास्त्रार्थों एवं धर्मचर्चाओं में वादी के प्रश्नों का शास्त्रोक्त उत्तर - ये सब आप ही के अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन आदि का सुफल हैं।

आचार विचार को प्रभावित करने वाले जीवन के स्वानुभवों पर आधारित, रहन-सहन और विवाद, कदाग्रह एवं जाति-पाँति के भेदभाव से पूर्णतया मुक्त आपके सच्चिंतन का ही सुफल है कि जैन-जैनेतर, देशी-विदेशी, गृहस्थी-वनस्थी, राजा-रंक, स्त्री-पुरुष, आबाल-वृद्ध, साक्षर-निरक्षर सभी जो भी आपके सम्पर्क में आया, जिसने भी आपका साहित्य पढा, आपसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यही कारण है कि विद्वज्जगत् ने आपको 'विश्वपूज्य' सम्बोधन दिया।

आकर्षक प्रवचनकारः-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी केवल लेखन कला में ही प्रवीण नहीं थे, आपके प्रवचन भी अत्यन्त प्रभावी होते थे। आपकी वाणी विद्याजन्य परिस्कार, साधनाजन्य ओज, स्नेहिल मार्दव एवं भाषाकीय मधुरता से ओतप्रोत थी। देशी एवं विदेशी अनेक भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वान होने के बावजूद आप शास्त्रों में निहित गूढ तत्त्वों को अत्यन्त सरल शब्दों में व्यक्त कर जन मानस तक पहुँचाते थे। आपकी पीयूषवाणी में "**आत्मवत् सर्वभूतेषु**" की भावना साकार होती थी। निरपेक्ष भावों की पावन गंगा के प्रवाह में '**सर्वजनहिताय' सर्वजनसुखाय**' की लहरें प्रस्फुट होती थी तथा समन्वयता का महासागर उछलता था जो अपनी मर्यादा की महानता में, जैनाचार और साध्वाचार की सीमाओं में बँधा होने पर भी सभी मतावलम्बियों को अपने में समा लेने की क्षमता रखता था। यही कारण है कि आपके प्रवचनों में मात्र जैन ही नहीं, अपितु अन्यमतावलम्बी क्षत्रिय, चौधरी, घांची, सोनी, कुम्हार, मुसलमान एवं अन्य देशी और विदेशी लोग उपस्थित होकर प्रवचनामृत का पान किया करते थे।

कथाकारः-

अति विशाल एवं नानाविध जैन कथा साहित्य की प्रथा अति प्राचीन हैं। साहित्य की इस विधा पर भी आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का पूरा अधिकार था। आपश्री प्रवचनो में छोटी-छोटी कथाओं एवं बडे-बडे चरित्रों को अत्यधिक सरल, सुबोध भाषा में समझाते थे; वहीं अनेक कथासंग्रह एवं कथाएँ लिखकर आपने भारतीय साहित्य को भी समृद्ध किया हैं। आपके द्वारा लिखित '**जिनोपदेशमञ्जरी**' छोटी-छोटी उपदेशक कथाओं का संग्रह है। कथापञ्जस्थानसार पाँच विभिन्न कथाओं का संग्रह हैं। इसके अलावा आपने पद्य में **अघटकुँवर चौपाई, धस्टर चौपाई** और **मुनिपति चौपाई** में उपदेशक कथाओं का रोचक शैली में गेय राग-रागिनी में वर्णित किया है। इसके साथ ही **अक्षयतृतीया कथा, होलिका व्याख्यान, दीपमालिका कथा (दीपावली कल्पसार), उत्तमकुमार उपन्यास एवं खर्परतस्कर प्रबंधः** आदि कथानक संस्कृत एवं देश्य भाषाओं में लिखे हैं। इतना ही नहीं, अपितु आपके द्वारा रचित **श्री अभिधान राजेन्द्र कोश** यदि पञ्चशताधिक प्राचीन एवं उपयन **कथाओं का अमूल्य खजाना है** तो **कल्पसूत्रबालावबोध, कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी और श्री अष्टाह्निका व्याख्यान** में भी प्रसंगतः अनेक ऐतिहासिक एवं उपदेशक तथा दृष्टांत कथाओं का आपने समावेश किया हैं।

कथाओं में शब्दो के माध्यम से हुबहु दृश्य खडा कर पाठकों या श्रोताओं को आध्योपांत आकंठ डुबोये रखना एवं उनके अंतः स्थल में उपदेशामृत अनुभव करवाना आपकी कथाओं की मुख्य विशेषता हैं।

भाष्यकारः-

'भाष्य' का अर्थ होता है - व्याख्या करना और भाष्यकार का अर्थ होता है व्याख्या करनेवाला। शास्त्रों के मूलग्रंथों के रहस्य एवं गूढ बातों को विविध व्याख्याओं के द्वारा स्पष्ट करने वाला ग्रंथ उस का भाष्य कहलाता है। प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य में आगमिक व्याख्याओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने भी पूर्वाचार्यों के पथ पर चलते हुए लोकहित के लिए जैनागमों की अनेक रहस्यमयी बातें सरल भाषा में समझाने के लिए प्रयत्न किया। जिस युग में हिन्दी अपनी शैशवावस्था में भी उसी समय में आपने श्री कल्पसूत्र मूल (बारसा सूत्र) के आधार पर **श्री कल्पसूत्र बालावबोध** (मारवाडी-गुजराती-मालवी मिश्रित भाषा, देवनागरी लिपि) एवं **श्री उपासक दशांग सूत्र के बालावबोध** की रचना की।

इसके साथ ही जैनागम सूत्रों के शब्दों के रहस्यों को समझाने के लिए ही **अभिधान राजेन्द्र कोश** जैसे महान-अद्वितीय विश्वकोश की रचना की। साथ ही प्राकृत भाषा के ज्ञान हेतु श्री सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन के आठवें अध्याय-प्राकृत व्याकरण की सदृष्टांत वृत्ति सह श्लोकों में निबद्धकर '**प्राकृत-व्याकृति**' की रचना की।

इतना ही नहीं, अपितु आम जनता को भी शास्त्र की गहन रहस्यमयी आध्यात्मिक बातें समझायी हैं। जैसे '**चोपड खेलन सज्झाय**' में जीव को मिथ्यात्व से मोक्ष प्राप्ति तक आत्मिक स्थिति की शुद्धि की प्रेरणा की है तो '**पुंडरिकाध्ययन सज्झाय**' में सूत्रकृताङ्ग सूत्र के पुंडरिकाध्ययन में वर्णित मधुबिंदु के दृष्टांत को चार पुरुष और पुंडरीक (कमल) के माध्यम से समझाकर जीव को राग द्वेष, कषाय, कर्म आदि से सावधान रहने का उपदेश दिया हैं। इतना ही नहीं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपितु साधु-साध्वियों के लिए उपयोगी जानकर आपने **गच्छाचार पयन्ना वृत्ति** का भी लोकभाषा में भाषान्तर किया जो कि अब प्रकाशित भी हो चुका हैं। इस तरह आप एक सफल भाष्यकार के रुप में पूर्वाचार्यों से कम नहीं थे।

सफल निबन्धकार:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी एक सफल निबन्धलेखक थे, जिन्होंने काव्य, गीत, कथा, कोश, व्याख्यान, प्रवचन, संशोधन, सम्पादन आदि साहित्य की प्रत्येक विधा पर सफलता पूर्वक लेखनी चलायी। इसके साथ ही आप गद्यसाहित्य की निबन्धविधा में भी सिद्धहस्त थे। आपके लेख समय समय पर तत्कालीन साहित्य में प्रकाशित हुए हैं।

यद्यपि हमें अभिधान राजेन्द्र कोश के अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर व्याख्यापरक निबन्धों के अतिरिक्त आपके लेखों में से बहुत कम देखने को मिले तथापि जो प्राप्त हुए उनसे यह अनुभव होता है कि आपके लेख जैनागमों एवं अन्यान्य शास्त्रों के सारगर्भित प्रमाणों से युक्त थे। जैन पंचांग के निर्माण में आपके द्वारा लिखित लेख तिथि की क्षय-वृद्धि सम्बन्धी अनेक समस्याओं का स्वाभाविक समाधान प्रस्तुत करता हैं। इसी प्रकार त्रिस्तुतिक सिद्धान्त पर लिखित शास्त्रार्थों में आपके द्वारा लिखित लेख सर्वमान्य, जैनागमों से प्रमाणित एवं विद्वज्जनों में स्वीकार्य थे जो कि आज भी प्रसिद्ध हैं।

इतिहासकार:-

धर्म-दर्शन और अध्यात्म से रचे-पचे व्यक्तित्व के स्वामी आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर जी म.सा. एक सफल इतिहासकार थे। आपके द्वारा रचित अभिधान राजेन्द्र कोश में आपने अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का सरल संस्कृत भाषा में वर्णन किया है, वहीं श्री कल्पसूत्र बालावबोध, श्री अष्टाह्निका व्याख्यान में वर्णित अनेक जैन-जैनेतर कथाओं का वर्णन भी किया है जिसके माध्यम से अनेक राजा-महाराजा-जैनाचार्य-जैन तीर्थ- जैनेतर तीर्थ (महाकाल-उज्जैन, प्रयागादि)- अनेक प्राचीन जिन प्रतिमा एवं ऐतिहासिक घटनाओं के प्रामाणिक इतिहास का ज्ञान मिलता हैं।

बृहद् एतिहासिक लेखन के साथ ही **पञ्चसप्ततिशतस्थान चतुष्पदी** एवं **विंशति विहरमान जिन चतुष्पदी** में तो अपने गागर में सागर ही भर दिया हैं। इन लघुकाय ग्रंथों में वर्तमान, अतीत, अनागत एवं विहरमान जिनेश्वरों संबंधित एतिहासिक विवरणों का अनुपम संग्रह किया है। इतना ही नहीं अपितु आपने **खर्परतस्कर प्रबंध, अक्षयतृतीया कथा, होलिका प्रबंध** आदि अनेक एतिहासिक कथा लेखन भी किया हैं।

नीतिकार:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का नीतिशास्त्र पोथियों का नीतिशास्त्र नहीं था बल्कि जीवन का जीवन्त धर्मशास्त्र था। यद्यपि आपने नीति विषयक कोई बृहद् ग्रंथ नहीं लिखा तथापि नीति विषयक आपकी जो भी रचनाएँ प्राप्त होती है उसमें आपका दूरदर्शी दिव्य ज्ञानालोक से निष्पन्न युग सापेक्ष अमूल्य चिंतन प्राप्त होता है, जो भव्य और दिव्य आध्यात्मिक अनुभवों का सृजन, आत्म विकास का मंडन, झूठे आडम्बरों और पाखण्डों का खण्डन तथा जीवननिर्माण एवं लोककल्याण का अद्भूत संगम हैं।

आपके द्वारा रचित **''नीति शिक्षा द्वय पच्चीसी'** नामक दो पच्चीसियों में सामान्य गृहस्थ से लगाकर उच्च पदासीन आत्माओं को भी पालन करने योग्य महत्त्वपूर्ण शताधिक बातों का संग्रह किया गया है। क्रियोद्धार के पूर्व आपके द्वारा घोषित **'कलमनामा'** ही यति संस्था की कायाकल्प करने वाला संजीवनी चूर्ण साबित हुआ। साथ हीआपके द्वारा स्वगच्छीय साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका हेतु 'स्वगच्छीय मर्यादा-**पट्टक', ज्येष्ठ स्थित्यादेशपट्टक, पच्चीस कलम**, 35 **कलम** आदि की रचना नीति-मर्यादा के पालन के प्रति आपकी जागृति एवं आचार-पालन की आसक्ति का अनुभव करवाती हैं।

आशु कवि:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी वि.सं. 1906 से 1910 तक पाँच वर्ष खरतरगच्छीय यति/मुनि श्री सागरचन्द्रजी के पास के अध्ययन काल में ही काव्य-छंद-अलंकार आदि में निपुण हो चुके थे।

संगीत शास्त्र एवं अन्य शास्त्रों के प्रखर विद्वान् आचार्यश्री स्वभाव से ही रस-सिद्ध कवि थे। आपके द्वारा निर्मित दो **चैत्यवंदन चौबीसी, स्तुति चौबीसी, स्तवन चौबीसी, श्री नवपद एवं श्री महावीर पञ्चकल्याणक पूजा, अघटकुंवर चौपाई** एवं अनेकों अन्य स्तवन-स्तुति-सज्झाय, **देववंदना माला** आदि इसके साक्षी हैं।

इनकी रचनाओं में हरिगीत, गीतिका, मंदाक्रान्ता, वसंततिलका, स्राधरा, भुजंगप्रयात, शार्दूलविक्रीडित, आर्या, दोहा, चोपाई आदि छंद एवं काफी, भैरवी, हिंडा, माढ, धन्याश्री आदि शास्त्रीय राग-रागिनी तथा अनेकों देशी राग-रागिनियों का प्रयोग देखने मिलता हैं। इन रचनाओं में यति, गति, ताल, स्वर, प्रास, अनुप्रास, यमक आदि यथास्थान अद्भुत ढंग से रखे हुए दिखाई देते हैं। साथ ही इनमें उपमा, रुपक, व्याज-स्तुति आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग प्राप्त होता है। इनकी रचनाओं में प्राकृत, संस्कृत, मेवाडी, मारवाडी, गुजराती आदि सभी भाषाएँ प्रयुक्त हैं।

इन रचनाओं से इन्होंने अपना अमूल्य समय प्रभु-भक्ति में लगाकर स्वयं की तो कर्म-निर्जरा की ही है, साथ ही अर्थ गंभीर्य और आध्यात्मिक भावपूर्ण इन रचनाओं से श्रोताओं को आवश्यक क्रियाओं एवं जैनागम सिद्धांतों की अनेक रहस्यमयी सूक्ष्म बातों का ज्ञान मिलता हैं।

इस तरह भक्ति-योग के द्वारा आचार्यश्रीने प्रभुभक्ति और जिनवाणी का प्रचार-प्रसार एवं उपदेश का त्रिवेणी-संगम अपनी रचनाओं में किया है जो उनके द्वारा प्राप्त ज्ञानामृत का आस्वाद कराती हुई श्रोताओं को परमात्म भक्ति में आकंठ डुबोये रखती हैं।

आचार्यश्री के जीवन में घटित वि.सं. 1920 की एक घटना इनके आशु-कवित्व को सिद्ध करने को पर्याप्त है जो निम्नानुसार हैं।

वि.सं. 1920 में आप राजगढ में बिराजमान थे तब कोई कवि आया। उसने चित्रबंधक का एक कवित्त बनाया। और अहंकार से स्व-प्रशंसा करने लगा तब अन्य लोग भी प्रशंसा के पुल बांधने लगे। उसी समय आपने कवित्त देखकर कहा कि इसमें ''वर्णनलघुता दोष'' है। तब वहाँ उपस्थित श्रीपूज्यजीने कहा -''अन्य की गलती ढूंढना आसान है, आप कुछ करके दिखाओ तो ठीक।'' उसी समय आपने **एक कवित्त** बनाया, **जिसमें आठों दिशा में आठ छंद, दो काव्य, चारों दिशा में चार विचार, और** 34 **कोष्ठक थे**। जिसे देखकर आगंतुक कवि, श्रीपूज्यादि यतिमण्डल, राजगढ का श्रीसंघ एवं अन्य उपस्थित सभाजन आश्चर्यचकित हो गये थे।[187]

187. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि का रास, उत्तरार्ध-खंड-4, ढाल-3, पृ. 26, ले. रायचंदजी निवासी:कुक्षी (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि : साहित्य सर्जक शब्दर्षि

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली है उनका साहित्यिक जीवन भी उतना ही गौरवपूर्ण है।

"जिस राष्ट्र, समाज और धर्म में उज्जवल साहित्य की सत्परंपरा बनी रहती है वही देश, समाज और धर्म जीवित रहता है।" -इस बात को समझकर आचार्यश्रीने अपने जीवन और श्रम का बहुत बडा अंश इसी ज्ञान ज्योति को जलाये रखने में लगाया। यद्यपि संपूर्ण राजेन्द्र सूरि वाङ्मय का अनुसंधान अभी पूर्ण नहीं हुआ है। अतः यह पूर्णरुपेण नहीं कहा जा सकता कि आचार्यश्री ने किस विषय पर कहाँ, क्या, और कितना लिखा और अभी प्राप्त वाङ्मय का भी पूर्ण प्रकाशन नहीं हुआ है फिर भी, जो प्रकाशित है, जो प्राप्त है, उसके आधार पर यहाँ किंचित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जैनी-दीक्षा के ग्रहण करने के पश्चात् वि.सं. 1905 से 'करणकामधेनुसारणी' ग्रंथ के लेखन से प्रारंभ हुई आपकी लेखनी आपके जीवन के अंतिम चातुर्मास (बडनगर-म.प्र. वि.सं. 1963) में 'कमलप्रभा शुद्धरहस्य' के निर्माण तक अविश्रान्त, अबाधगति से चलती ही रही।[188] जिसके फलस्वरुप साहित्य की अनेक विधाएँ न्याय, कोश, व्याकरण, काव्य, कथा, इतिहास, तत्त्वज्ञान, आगम, गणित, ज्योतिष, धर्म-सिद्धांत आदि विषयक श्री अभिधान राजेन्द्र कोशादि अनेक ग्रंथ रचनाओं के द्वारा आपने पूर्णिमा के चंद्र की भाँति साहित्य जगत् को अपनी संपूर्ण कलाओं से प्रकाशित किया। आचार्यश्री के द्वारा प्रणीत साहित्य को यहाँ सारिणी के द्वारा दर्शाने का प्रयत्न किया जा रहा हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. द्वारा रचित साहित्य की सूचि

ग्रन्थ का नाम	प्रकाशनस्थिति	वर्ष संवत् वि.सं.	प्रकाशन/ लेखन स्थान
श्री अभिधान राजेन्द्र कोश	मुद्रित	1946-1960	सूरत
अघटकुँवर चौपाई	मुद्रित	1932	झालोर
श्री अष्टाह्निका व्याख्यान भाषांतर	मुद्रित	1927	कुक्षी
अक्षय तृतीया कथा (संस्कृत गद्य)	मुद्रित	-	-
उपाशकदशाङ्ग सूत्र बालावबोध	मुद्रित	1954	खाचरोद
एकसो आठ बोलनां थोकडां (गुजराती भाषा)	मुद्रित	1934	राजगढ
कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार	अमुद्रित	-	-
कमलप्रभा शुद्ध रहस्य	मुद्रित	1963	बडनगर
कर्तुरीप्सततमं कर्म (सूत्र व्याख्या)	अमुद्रित	-	-
करण कामधेनु सारणी	अमुद्रित	1905	-
कल्पसूत्र बालावबोध	मुद्रित	1940	झाबुआ (म.प्र.)
कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी	मुद्रित	1954	रतलाम
केसरिया स्तवन	मुद्रित	1954	रतलाम/कुक्षी
खर्परतस्कर प्रबन्ध (संस्कृत पद्य)	अमुद्रित	-	-
गच्छाचारपयन्ना वृत्ति-भाषान्तर	मुद्रित	1944	गुजरात (सौराष्ट्र)
गणधरवाद	मुद्रित	-	-
चैत्यवंदन चौबीसी	मुद्रित	1938	राजगढ
चोपड खेलन सज्झाय	मुद्रित	-	-
चौमासी देववंदन विधि	मुद्रित	1953	खाचरोद
चौबीस जिन स्तुति	मुद्रित	1938	राजगढ
चौबीस स्तवन	मुद्रित	1938	राजगढ
ज्येष्ठस्थित्यादेशपट्टकम्	-	-	-
जिनोपदेश मञ्जरी	मुद्रित	1954	रतलाम
ज्योतिकल्पलता	अमुद्रित	-	-
तत्त्वविवेक	मुद्रित	1945	वीरमगाम
द्वाषष्ठिमार्गणा यंत्रावली	अमुद्रित	-	-
द्वादश पर्वणि कथा संग्रह	अमुद्रित	-	-
दीपावली कल्पसार (संस्कृत गद्य)	अमुद्रित	-	-

188. कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी, जीवनपरिचय पृ. 13 के सामने का यन्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपमालिका देववंदन	मुद्रित	1961	कुक्षी
दीपमालिका कथा (गद्य)	मुद्रित	-	-
देववंदनमाला	मुद्रित	-	-
धातुपाठ तरंग (पद्य)		1932	जालोर
धुष्टर चौपाई	अमुद्रित	-	-
नवपद ओली देववंदनविधि	मुद्रित	(देववन्दन माला में)	
नवपद पूजा (श्री सिद्धचक्र पूजा)	मुद्रित	1950	खाचरोद
नवपद प्रश्नोत्तर	मुद्रित	-	-
नीतिशिक्षाद्वय पच्चीसी	मुद्रित	1954	रतलाम
पञ्चसप्तिशतस्थान चतुष्पदी	मुद्रित	1946	सियाणा
पदवीविचार सज्झाय	मुद्रित	-	-
पञ्चमी (ज्ञानपञ्चमी) देववंदन विधि	मुद्रित	-	-
पाइयसद्दंबुहि कोष	अमुद्रित	1956	शिवगंज
पुण्डरीकाध्ययन सज्झाय	मुद्रित	1946	सियाणा
प्रभुस्तवन सुधाकर	मुद्रित	-	-
प्रश्नोत्तर पुष्पवाटिका	मुद्रित	1936	गोलपुरी
प्रश्नोत्तरमालिका (प्रश्नोत्तर नवमल्लिका)	अमुद्रित	1949	निम्बोहेडा
प्राकृतव्याकृति (श्री सिद्धहेम, प्राकृत टीका) (प्राकृतव्याकरण विवृत्ति)	मुद्रित	1961	कुक्षी
प्राकृतशब्द रुपावली	मुद्रित	1961	कुक्षी
श्री महावीर पञ्चकल्याणक पूजा	मुद्रित	1963	वडनगर
स्वगच्छीयमर्यादा षट्कम्	मुद्रित	1956	शिवगंज
मुनिपतिराजर्षि चौपाई	अमुद्रित	-	-
राजेन्द्रसूर्योदय	मुद्रित	1960	सूरत
विहरमाणजिन चतुष्पदी	मुद्रित	1946	सियाणा
स्तुतिप्रभाकर	मुद्रित	-	-
स्वरोदयज्ञान यंत्रावली	अमुद्रित	-	-
सकलैश्वर्यस्तोत्र	मुद्रित	1936	गोलपुरी
सद्यगाहापहरण (सूक्ति संग्रह)	अमुद्रित	-	-
सर्वसंग्रहप्रकरण (प्राकृत गाथा बद्ध) (गाहापयरणं संगहो)	अमुद्रित	-	-
साधुवैराग्याचार सज्झाय	मुद्रित	1946	सियाणा
श्रीसिद्धाचल तीर्थ नवाणुं यात्रा-देववंदन विधि	मुद्रित	-	-
सिद्धांतप्रकाश	अमुद्रित	1929	रतलाम
सिद्धांतसारसागर (सिद्धांत बोल सागर)	अमुद्रित	1941	सौराष्ट्र
षड्द्रव्य विचार	मुद्रित	1927	कुक्षी
षड्द्रव्य चर्चा	अमुद्रित	-	-
आवश्यक विधिगर्भित शांतिनाथ स्तवन	मुद्रित	1942	धोराजी
होलिकाप्रबंध (संस्कृत गद्य)	मुद्रित	-	-
होलिकाव्याख्यान	मुद्रित	-	-

उपरोक्त सूचि हमने जीवनप्रभा, श्रीराजेन्द्रज्योति, श्रीराजेन्द्रगुणमञ्जरी, विरलविभूति, विश्वपूज्य, श्रीराजेन्द्रसूरि विशेषांक : शाश्वत धर्म, धरती के फूल आदि ग्रंथो में दी हुई सूचि के अनुसार ग्रंथो को प्राप्त कर, देखकर, उपरोक्त सूचियों से मिलान करके बनाई है। उपरोक्त ग्रंथो में जो सूचियाँ दी है उसमें एक ही ग्रंथ के अनेक नाम होने पर अलग गिना है जबकि हमने मुख्य नाम देकर उसी ग्रंथ का अन्य नाम कोष्टक () में दिया है। इसमें से जितने ग्रंथ प्राप्त हुए या उससे संबंधित विवरण प्राप्त हुआ, वह यथाशक्य देने का प्रयत्न किया है, फिर भी मुद्रित-अमुद्रित कुछ ग्रंथ प्राप्त नहीं होने से उसका परिचय नहीं दिया हैं, जो निम्नानुसार है-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. उत्तमकुमार उपन्यास 2. कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार 3. कर्तुरीप्सिततमंकर्म (सूत्र व्याख्या)
4. करण कामधेनु सारणी 5. ज्योतिकल्पलता 6. दीपावली कल्पसार
7. धातुपाठ तरंग 8. धृष्टर चौपाई 9. मुनिपतिराजर्षि चौपाई
10. स्वरोदयज्ञान यंत्रावली 11. सर्वसंग्रहप्रकरण 12. सिद्धांतसारसागर
13. त्रैलोक्यदीपिका यंत्रावली 14. स्तुतिप्रभाकर

उपरोक्त संदर्भ ग्रंथो की सूचि में धनसार - अघटकुमार चौपाई को भी आचार्यश्रीकृत बताया है जबकि अघटकुमार चौपाई और अघटकुँवर चौपाई एक ही ग्रंथ है, जिसका हम परिचय दे चुके हैं और धनसार चौपाई आचार्यश्री के उपसंपद् शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी ने वि.सं. 1932 में झालोर में बनाई थी लेकिन एक ही पुस्तक में दोनों चौपाई छपने के कारण यह भ्रम हुआ है, जो दृष्टव्य है। आगे के अनुच्छेदों में आचार्य श्री की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा हैं-

1. अक्षय तृतीय कथा:-

श्री राजेन्द्र कोश विशेषांक : शाश्वत धर्म के अनुसार आचार्य विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने इस कथा की रचना वि.सं. 1938 (ईस्वी सन् 1881) में आलीराजपुर चातुर्मास के पश्चात् राजगढ में की थी।[189] यह कथा स्वतंत्र मुद्रित न होकर श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में 'अक्खइतया' शब्द के अन्तर्गत पृ. 133 पर मुद्रित हैं।[190]

श्रमणपरम्परा के प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ को दीक्षा धारण करते ही पूर्वभवोपार्जित अंतरायकर्म का उदय होने से एक वर्ष (पर्यन्त निराहार रहना पडा/इसके बाद अक्षय तृतीया[191] के दिन 13 महीने 10 दिन के बाद श्री आदिनाथजीने गजपुर (हस्तिनापुर) नगर में अपने सांसारिक पौत्र सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांसकुमार के हाथों से इक्षुरस से पारणां किया था। इसका वर्णन इस लघुकथा में आलेखित हैं।

2. अघटकुँवर चौपाई:-

इस खंड-काव्य की रचना आचार्यश्रीने वि.सं. 1932 में जालोर (राज.) में की थी। इस काव्य में आचार्यश्रीने अघटकुमार के माध्यम से मुनि-निंदा एवं जीव-हिंसा के भाव का विपाक (फल) तथा सुपात्रदान (जैन मुनि को आहारादि का दान) जिन पूजा एवं अहिंसा व्रत के पालन के प्रभाव का विशद वर्णन किया हैं।

इस काव्य में 13 ढालें है। प्रत्येक ढाल के प्रारंभ में दोहा छंद में 1, 2, 3 या 4 छन्द दिये हैं और प्रत्येक ढाल में विविध देशी-राग-रागिनियों में अघटकुँवर के जीवन का वर्णन किया हैं।

इसमें प्रथम ढाल में दासी पुत्र का जन्म; दूसरी ढाल में राजा विक्रमादित्य के दरबार में दासी पुत्र की अवंती के राजा बनने की ज्ञानगर्भ पुरोहित की भविष्यवाणी और उसे मारने हेतु राजा का प्रयत्न; तीसरी ढाल में उसे सूखे बगीचे में छोड देना और बालक के पुण्य प्रभाव से उद्यान का पल्लवित होना, माली द्वारा उसे दत्तक लेना, मालण के साथ बालक के राजदरबार में जाने पर पुन: पुरोहित की भविष्यवाणी; चौथी ढाल में पुन: उसे मारने हेतु प्रयत्न और देव मंदिर में उसे छोडना एवं देवधर सार्थवाह द्वारा उसे ले जाना; पाँचवी ढाल में युवक अघटकुँवर का पालकपिता के साथ पुन: विशाला (उज्जैनी) के दरबार में आना, पुरोहित की पुन: भविष्यवाणी एवं राजा के द्वारा प्रदत्त मथुरा का राज्य संचालन, छट्ठी ढाल में राजा द्वारा पुन: मारने हेतु प्रयत्न, देवप्रभाव से रक्षा एवं राजकुमारी से विवाह; सातवीं ढाल में पुन: देवी पूजा के छल से मारने हेतु प्रयत्न, अघटकुँवर का बचना तथा राजकुमार की हत्या, आठवीं ढाल में राजा विक्रमादित्य द्वारा स्व-पाप प्रकाशन, अघट को राज्य प्रदान एवं जैनी दीक्षा ग्रहण तथा मनुष्य को पाँचों प्रमाद छोडने का उपदेश; नौंवी ढाल में केवलज्ञानी गुरु द्वारा पूर्वभव वर्णन, दसवीं ढाल में मुनिगुण वर्णन, ग्यारहवी ढाल में पूर्व-भव में जीव हिंसा त्याग एवं अभक्ष्य भक्षण के त्याग का व्रत ग्रहण एवं व्रत परीक्षा, बारहवीं ढाल में व्रत पालन-परीक्षा में सफलता, देवी द्वारा उसकी भक्ति एवं पूर्वभव एवं वर्तमान भव के सभी पात्रों का परिचय, संयोग एवं फल और तेरहवीं ढाल में देशविरतिव्रत ग्रहण, कालांतर में जैन-दीक्षा ग्रहण एवं केवलज्ञान प्राप्ति तथा आयु: क्षय होने पर मोक्ष का वर्णन किया हैं।[192]

प्रस्तुत चौपाई का आधार लेकर इसी कथा को आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी (तत्कालीन यतीन्द्र विजयजी) ने वि.सं. 1984 गुरु सप्तमी पर्व शुक्रवार को संस्कृत गद्य भाषा में प्रबन्ध के रुप में लिखा है, जो कि 'चरित्र-चतुष्टय' में मुद्रित हैं।[193]

3. अभिधान राजेन्द्र कोश:-

इसका विस्तृत परिचय इसी शोधप्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में दिया जा रहा हैं।

4. अष्टह्निका व्याख्यान:-

इस ग्रंथ की संस्कृत प्रशस्ति के अनुसार खरतरगच्छीय श्री क्षमाकल्याण वाचक द्वारा प्रणीत संस्कृत गद्य अष्टाह्निका व्याख्यान के इस मारवाडी भाषान्तर की रचना श्री अष्टाह्निका व्याख्यान[194] - 'बाल बोधिनी' टीका के नाम से आचार्य विजय राजेन्द्रसूरिश्वरजीने वि.सं. 1927 में कुक्षी (म.प्र.) चातुर्मास में कार्तिक कृष्णा तृतीया को की है।

इस ग्रंथ में प्रथम कुक्षीस्थ श्री शान्तिनाथ भगवान् का मंगलाचरण, तत्पश्चात् प्रथम व्याख्यान में नंदीश्वर दीप में देवगमन, पर्युषण पर्व में श्रावकों के कर्तव्य, अभयदान के विषय में पाँचों रणी एवं चोर की कथा, द्वितीय व्याख्यान में जिनदर्शन पर शय्यंभव भट्ट एवं जिनवाणी की महिमा के विषय में रोहिणेय चोर की कथा तथा सामायिक व्रत के विषय में पुणिया श्रावक की कथा, व्रतभंग के भाव से होने वाली दुर्गति के विषय में आद्रकुमार की कथा, तृतीय व्याख्यान में पर्वतिथि की आराधना के विषय में सूर्ययशा राजा की कथा एवं अनित्य भावना पर भरत चक्रवर्ती की कथा हैं।

189. गुरुवंदना विशेषांक : शाश्वत धर्म में आचार्यश्री ने इस कथा की रचना वि.सं. 1940 में मोहनखेडा तीर्थ के शिलान्यास के आसपास की है एसा उल्लेख हैं।
190. अ.रा.भा. 1/133
191. अक्षय तृतीया अर्थात् वैशाख सुदि त्रीज
192. धनसार-अघट कुमार चौपाई
193. चरित्र-चतुष्टय - अंतिम पत्र
194. श्री अष्टाह्निका व्याख्यान - पृ. 57, 58

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. उपासकदशा - बालावबोध[195]:-

उपासकदशांग सूत्र में भगवान् महावीर के आनन्द आदि दश श्रावकों के जीवन का वर्णन किया गया हैं। आचार्य विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने लोक-कल्याण हेतु वि.सं. 1954 में खाचरोद में इस ग्रंथ का तत्कालीन मारवाडी-गुजराती-मालवी मिश्रित भाषा में बालावबोध नाम से अनुवाद किया है। जिससे साधारण-जन भी आगमों के ज्ञान का लाभ प्राप्त कर सकें।

इस ग्रंथ में प्रथम अनुबन्ध-चतुष्टय हैं। तत्पश्चात् श्री उपाशक दशा सूत्र के दशों अध्ययन (1) आनंद (2) कामदेव (3) चुलणीपिया (4) सुरादेव (5) चुल्लशतक (6) कुंडकोलिक (7) सद्दालपुत्र (8) महाशतक (9) नंदिणीपिया और (10) सालिणीपिया - इन दश श्रावकों के नाम से हैं।

इनमें प्रत्येक अध्ययन में एक-एक श्रावक का वर्णन है। इनमें श्रावकों के नगर, उद्यान, वनखंड, भगवान् का समवसरण, राजा, परिवार, धर्माचार्य, धर्म कथा, ऋद्धि, भोग, भोग त्याग, बारह व्रत, व्रत के अतिचार, प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, प्रत्याख्यान, अनशन, स्वर्गगमन आदि का प्रथम अध्ययन में विस्तार से और शेष में संक्षिप्त में वर्णन हैं।

इनमें (1) आनंद श्रावक को अवधिज्ञान एवं गौतम स्वामी द्वारा क्षमा मांगना (2) देव के उपसर्ग में कामदेव और कुंडकोलिक श्रावक का अडिग रहना एवं चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लनशतक, सद्दालपुत्र का चलायमान होना तथा (3) दुष्ट भार्या के कारण महाशतक श्रावक की गृहस्थ जीवन की विडम्बना भरी स्थिति, साथ ही भार्या रेवती को अप्रिय वचन सुनाने की भूल - ये बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। आनंद के अलावा महाशतक श्रावक को भी अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था और नंदिनीपिता तथा सालीनिपिता इन दो श्रावकों को कोई उपसर्ग नहीं हुआ। ये सभी श्रावक आयु पूर्ण कर देवलोक में गये, इसका विशद वर्णन लोकभाषा में किया गया हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद के साथ यह बालावबोध श्री राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट - अहमदाबाद से वि.सं. 2054 में दीपमालिका के दिन प्रकाशित हुआ है।

6. एक सौ आठबोल का थोकडा:-

इस लघु पुस्तिका की रचना आचार्यश्री ने वि.सं. 1934 में राजगढ चातुर्मास में की थी। इस पुस्तक में मननीय 108 बातों का अनुपम संग्रह है। अल्पमती जीवों को यह पुस्तक अधिक उपयोगी हैं।[196]

7. कमलप्रभा शुद्ध रहस्य:-

इसकी रचना आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अपने जीवन के अंतिम वर्षावास, वि.सं. 1963 में बडनगर (म.प्र.) में की थी। यह ग्रंथ मुद्रित हैं।

स्थानकवासी साध्वी श्री पार्वतीबाई महासती की 'सत्यार्थ चन्द्रोदय' पुस्तक में श्री महानिशीथ सूत्रोक्त कमलप्रभाचार्य के लिये जो असत्य प्रलाप किया है उसी का ही इसमें प्रमाण सहित मार्मिक भाषा में खंडन किया गया हैं।[197]

8. कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने इस ग्रंथ की रचना रतलाम में वि.सं. 1954 में की थी। यह ग्रंथ श्रीदशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के अष्टम अध्ययन रुप श्री भद्रबाहुस्वामी प्रणीत श्रीकल्पसूत्र की संस्कृत टीका हैं।

यह ग्रंथ नौ व्याख्यानो में विभक्त हैं। प्रथम पाँच व्याख्यानो में महावीर चरित्र, छठे व्याख्यान में पार्श्वनाथ चरित्र, सातवें में नेमिनाथ चरित्र, आठवें में आदिनाथ चरित्र एवं नौवें व्याख्यान में स्थविरावली एवं समाचारी का वर्णन है। श्री कल्पसूत्र पर रचित अभी तक की अनेक टीकाओं में यह संस्कृत गद्य टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा अति सरल, विशाल, रोचक एवं अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण हैं।[198]

9. कल्पसूत्र-बालावबोध:-

श्री महावीर स्वामीने राजगृही के गुणशील चैत्य नामक स्थान में बारह पर्षदा (तीर्थंकर के समवशरण की सभा) के बीच नौवें प्रत्याख्यानपूर्व के दशाश्रुतस्कंध सूत्र के श्री पर्युषण कल्प नामक अध्ययन कहा था।[199] उस पर श्री भद्रबाहु स्वामीने 1216 श्लोक प्रमाण श्री कल्पसूत्र (बारसा सूत्र) के नाम से उज्जैन (म.प्र.) में ग्रंथ रचना की थी।[200] मालवा, मारवाड, गुजरात और पारकर चारों देश के श्रीसंघ के आग्रह से उस कल्पसूत्र की मूल एवं चूर्णि, निर्युक्ति, टीकादि पञ्चांगी के साथ प्राचीन ग्रंथ मंगवाकर आचार्यश्रीने उसके आधार पर मूल ग्रंथ न देते हुए उसी के संक्षेप से अर्थ लेकर एवं टीका से कुछेक कथाभाग लेकर करीब 5500 श्लोक प्रमाण श्री कल्पसूत्र बालावबोध[201] नामक इस ग्रंथ की वि.सं. 1940 में वैशाख वदि द्वितीया, मंगलवार के दिन पूर्णाहुति की थी।[202]

इस ग्रंथ में कुल नव व्याख्यान है। प्रथम व्याख्यान में ग्रंथ रचना का हेतु, वाचनविधि, श्री पर्युषण पर्व-कल्पसूत्र एवं श्रीसंघ का महत्त्व, चातुर्मास में विहारादि एवं चातुर्मास बाद भी स्थिरता के कारण, चातुर्मास योग्य क्षेत्र के गुण, अट्ठम तप पूर्वक कल्पसूत्र श्रवण आश्रयी नागकेतु की कथा, ऋषिपंचमी की कथा, चौथ की संवत्सरी की कथा, सामुद्रिक शास्त्र-दश आश्चर्य (अच्छेरा) एवं स्वप्न शास्त्र वर्णन, छट्ठे व्याख्यान की पूर्णाहुति तक विस्तृत श्री महावीर चरित्र, सातवें व्याख्यान में श्री पार्श्वनाथ एवं श्री नेमिनाथ चरित्र तथा चौवीसों जिनेश्वरों का आपस में अंतर (शासन काल का अंतर), आठवें व्याख्यान में श्री ऋषभदेव चरित्र का वर्णन एवं नौवें व्याख्यान में श्री स्थविरावली एवं समाचारी का वर्णन है। अंत में संस्कृत में 7 श्लोक प्रमाण प्रशस्ति हैं।

इस ग्रंथ की भाषा मारवाडी-मालवी मिश्रित गुजराती हैं।

---

195. श्री उपासकदशा - बालावबोध, मुद्रितग्रंथ, प्राक्कथन
196. अग्रसेन पुष्पांजलि पत्रिका, गुरुदेव विशेषांक, पृ. 23
197. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 92
198. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 89; श्री कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी
199. श्री कल्पसूत्र बालावबोध प्रथमावृत्ति, पृ. 247
200. श्री कल्पसूत्र बालावबोध प्रथमावृत्ति, पृ. 15 एवं पृ. 247, श्री हनुमंत बाग जैन मंदिर - उज्जैन का शिलालेख
201. श्री कल्पसूत्रबालावबोध प्रथमावृत्ति, वि.सं. 1944, प्रस्तावना, पृ. 6
202. 'सौधर्मस्वामिनो गच्छे, संति, राजेन्द्रसूरयः ।
तेनेयं कल्पसूत्रस्य, वार्ता बालावबोधिनी ॥4॥
अब्दे खवेदनंदैके, (1940) माधवे (वैशाखे) च सितेतरे।
पक्षे दिन द्वितीयायां, मंगले लिखिता त्वियम् ॥6॥
- श्री कल्पसूत्रबालावबोध, प्रशस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक मूर्तिपूजक जैन श्वे. श्री संघ के प्रत्येक गाँव-नगर में श्री पर्यूषण महापर्व में भादवा वदि अमावस्या (बड़ा कल्प) से संवत्सरी महापर्व तक सभा में इस ग्रंथ के वाँचन-श्रवण की परंपरा हैं।

प्रथमावृत्ति छापने वाले श्रावक भीमसिंह माणेक ने इसमें कथादि में वृद्धि करके इसे ग्यारह हजार (11,000) श्लोक प्रमाण कर दिया।[203] जिससे इसे नव वाचना के नियत समय में पढकर पूर्ण करने में अतिशय कष्ट होने द्वितीयावृत्ति में आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरिने अनावश्यक विस्तृत बातें टिप्पणी में देकर संशोधन किया।[204] इस ग्रंथ की प्रथमावृत्ति आचार्यश्री की उपस्थिति में निर्णयसागर प्रेस, मुंबई से ई.स. 1888, वि.सं. 1944 के फाल्गुन सुदि अष्टमी सोमवार को सियाणा, बागरा तथा आहोर के श्रीसंघों की ओर से प्रकाशित की गयी थी।[205]

आपके प्रशिष्य वर्तमान गच्छाचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजीने वि.सं. 2055 में कुक्षी चातुर्मास में इसका हिन्दी अनुवाद किया और वि.सं. 2054 में थराद (गुजरात) में गुजराती अनुवाद किया है जो वहीं से प्रकाशित भी किया गया हैं।

10. केसरियानाथ विनंतीकरण बृहत्स्तवन:-

आचार्यश्रीने इस बृहत् स्तवन की रचना वि.सं. 1954 में रतलाम (चातुर्मास) में की थी। 39 गाथा प्रमाण इस स्तवन में आचार्यश्रीने धुलेवा (राज.) स्थित प्रथम तीर्थंकर केशरीयानाथ श्री ऋषभदेवजी के गुण एवं प्रभावों का वर्णन करते हुए अंत में उपालंभ देते हुए परमात्मा को इस संसार समुद्र से पार उतारने हेतु विनंती की हैं।[206] आचार्यश्रीने इसके अलावा वि.सं. 1956 एवं वि.सं. 1959 में फाल्गुन पूर्णिमा के दिन धूलेवा की यात्रा के समय भी केशरियाजी के अन्य लघु स्तवनों की रचना की हैं।

11. खर्परतस्कर प्रबंध :-

परदु:खभंजक महाराजा विक्रमादित्य के शासनकाल में 'खर्पर' नामक एक चोर अवन्ती और उके निकटवर्ती प्रदेश की प्रजा को अपने अधम कृत्यों से परेशान करता था। उसे येन-केन प्रकारेण परास्त करने का प्रयत्न राजा एवं राजकर्मचारी सभी ने किये, परन्तु वे विफल ही रहे। अंत में स्वयं राजा विक्रम ने महाभगीरथ प्रयत्नों से उसे परास्त कर ही दिया। उक्त प्रबंध में आचार्य श्रीमद्वि यराजेन्द्र सूरीश्वरजीने इसी ऐतिहासिक बात का संस्कृत में 800 पद्यों (श्लोकों) में वर्णन किया हैं।[207]

संभवत: इसी ग्रंथ का नाम उपाध्याय मुनिश्री गुलाबविजयजी ने 'हरिविक्रमनृपचरित्र' लिखा है।[208] यह ग्रंथ अमुद्रित हैं।

12. गच्छाचारपयन्ना-वृत्ति भाषान्तर:-

'श्रीगच्छाचारपयन्ना' मूलग्रंथ (1) आचार्य स्वरुप (2) यति स्वरुप और (3) साध्वी स्वरुप - ये तीन अधिकारों में विभाजित होकर 137 श्लोक प्रमाण हैं। इस पर वि.सं. 1634 में विमलविजय गणिने 5850 श्लोक प्रमाण टीका बनाई है। उसी टीका का भाषान्तर पूज्य आचार्यश्रीने वि.सं. 1944 के पौष महीने में सौराष्ट्र (गुजरात) में किया था। भाषान्तर में कहीं कहीं टीका से भी अधिक विवेचन किया गया है जिसका स्पष्टीकरण गुरुदेव ने मंगलाचरण में ही कर दिया हैं।[209] यह ग्रंथ श्रमण और श्रमणी संघ के समस्त आचार-विचारों का मुख्य विवेचक हैं। प्रत्येक साधु व साध्वी को एक बार यह ग्रंथ अवश्य पढने योग्य हैं। यह ग्रंथ श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति, आहोर (राज.) से प्रकाशित हुआ हैं।

13. गणधरवाद:-

'गणधरवाद' इन्द्रभूति गौतम आदि उन ग्यारह वैदिक विद्वानों के संशयों के समाधानों का संकलन है जो सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर के शिष्य बनने और गणधर पद पर प्रतिष्ठित होने के पूर्व जिज्ञासु के रुप में अपना पांडित्य प्रदर्शन एवं भगवान की सर्वज्ञता का परीक्षण करने की आंकाक्षा से उनके समवसरण में उपस्थित हुए थे।

लोकोत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण (समूह) को धारण करने वाले तथा तीर्थंकर के प्रवचन को सर्वप्रथम सूत्ररुप में संकलित करने वाले महापुरुष 'गणधर' कहलाते हैं। जैनानुश्रुति के अनुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल के 24 वें तीर्थंकर महावीर का शासन वर्तमान में चल रहा हैं। अत: यहाँ 'गणधरवाद' में भगवान महावीर व उनके गणधरों का प्रसंग वर्णित हैं।

गणधर का नाम		शंका
(1) इन्द्रभूति (गौतम स्वामी)	-	जीव का अस्तित्व
(2) अग्निभूति	-	कर्म का अस्तित्व
(3) वायुभूति	-	तज्जीव-तच्छरीर अर्थात् जीव और शरीर का एकत्व
(4) व्यक्त	-	भूतों का अस्तित्व
(5) सुधर्मा	-	इहभव-परभव का सादृश्य
(6) मण्डित	-	बंध-मोक्ष का अस्तित्व
(7) मौर्यपुत्र	-	देवों का अस्तित्व
(8) अकम्पित	-	नारकों का अस्तित्व
(9) अचलभ्राता	-	पुण्य-पाप का अस्तित्व
(10) मेतार्य	-	परलोक का अस्तित्व
(11) प्रभास	-	मोक्ष (निर्वाण) का अस्तित्व

गणधरवाद संबंधी आगमों में वर्णन:-

समवयांग में गणधरों के नाम और उनकी आयु संबंधी कतिपय बातों का वर्णन किया गया हैं। कल्पसूत्र (बारसा सूत्र) की टीकाओं में गणधरवाद का प्रसंग वर्णित हैं। 'आवश्यक निर्युक्ति' में ग्यारह गणधरों के नाम, शिष्य संख्या, संशय का विषय, उनका वेद पद के अर्थ का अज्ञान और "मैं वेद पद का सही अर्थ प्रकट करता हूँ" ऐसा भगवान का कथन, इतनी बातों का संकेत किया गया हैं। श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक भाष्य में पूर्वपक्ष-उत्तर पक्ष की व्यवस्थित प्रणाली का अनुसरण करके गणधरवाद की रचना की हैं।

आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने इन्हीं विशेषावश्यक भाष्य एवं कल्पसूत्र की प्राचीन टीकाओं के आधार पर 'गणधरवाद' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें भगवान महावीर ने गौतमादि गणधरों

203. कल्पसूत्र बालावबोध प्रथमावृत्ति, प्रस्तावना पृ. 11
204. कल्पसूत्र बालावबोध द्वितीयावृत्ति, प्रस्तावना
205. कल्पसूत्रबालावबोध, प्रथमावृत्ति, प्रस्तावना के पहले मुखपृष्ठ
206. प्रभुस्तवन सुधाकर
207. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 90
208. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 128, श्लोक 414
209. गच्छाचारप्रकीर्णस्य टीकां लोकसुभाषया।
कुर्वे वृत्त्यनुसारेण चाधिकां कुत्रचित्यपि ॥2॥ - गच्छाचारपयन्ना वृत्ति-भाषान्तर, मंगलाचरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के मन में रही हुई शंकाओं को स्वयं प्रकट कर वेद के पदों का सही अर्थ करते हुए वेद के पदों से ही उनकी शंकाओं का समाधान किया - इस प्रसंग का वेद-पद एवं उनके अर्थ सहित वर्णन किया हैं।[210]

'कल्पसूत्र-बालावबोध' के षष्ठ व्याख्यान में 'गणधरवाद' वर्णित है एवं आचार्य श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी ने 'मिला प्रकाश खिला वसंत' ग्रंथ में गणधरवाद का विस्तृत वर्णन किया हैं।

14. चैत्यवंदन चतुर्विंशतिका[211]:-

आचार्यश्री ने इसमें वर्तमान चौबीसी के 24 तीर्थंकरों के गुण वर्णन स्वरुप संक्षिप्त काव्यों की तीन तीन श्लोक में रचना की है जो चैत्यवंदन, देववंदन, प्रतिक्रमणादि धार्मिक क्रियाओं में उपयोगी होती हैं।

15. चोपड खेलन (क्रीडा) सज्झाय:-

आचार्यश्री द्वारा रचित इस सज्झाय का स्थान एवं समय ज्ञात नहीं है। इसमें 18 गाथा में शतरंज की क्रीडा के दांव-पेंच का वर्णन कर आत्मा को उद्देशित कर संसार के दाव-पेच से बचकर शुद्ध संयम जीवन पालन करके अयोगी गुणस्थानक प्राप्त कर सिद्ध स्वरुप प्राप्त करने की प्रेरणा दी हैं।[212] यह 'प्रभु स्तवन सुधाकर' में पृ. 232 से 234 पर मुद्रित हैं।

16. चौमासी देववंदन:-

इस देववंदन माला की रचना आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने खाचरोद में वि.सं. 1953 में अषाढ सुदि सप्तमी को की है[213]।

इस देववंदन में प्रथ चौबीसों तीर्थंकरों का एक चैत्यवदंन, तत्पश्चात् वर्तमान चौवीसी के श्री आदिनाथ से महावीर तक के 24 तीर्थंकरों में से यथाक्रम श्री आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी के देववंदन और शेष जिनेश्वरों के एक चैत्यवंदन एवं एक स्तुति पूर्वक चैत्यवंदन है। इसके बाद श्री सिद्धाचल, सम्मेतशिखर, अष्टापद, आबू एवं गिरनार तीर्थ के चैत्यवंदन - स्तवन-स्तुति और अंत में सर्वतीर्थो नामपूर्वक श्री सर्वतीर्थ चैत्यवंदन-स्तवन एवं स्तुति है। इसमें कुल 31 चैत्यवंदन, 40 स्तुतियाँ और 11 स्तवन हैं।

17. जिनस्तुति चतुर्विंशतिका[214]:-

इसमें आचार्यश्री ने 24 तीर्थंकरों के आश्रित कर उनके गुणों का वर्णन करते हुए एक-एक स्तुति की रचना की है। यह भी धार्मिक क्रियाओं में अतीव उपयोगी हैं।

18. जिनस्तवन चतुर्विंशतिका:-

प्रसिद्ध अध्यात्मक योगी श्री आनंदघनजी की तरह आचार्यश्री ने भी 24 तीर्थंकरों के गुणगान करते हुए, विविध देशी गेय राग-रागिनियों में भजनस्वरुप 24 स्तवनों की रचना की हैं। इन स्तवनों में आचार्यश्री ने प्रभु भक्ति के माध्यम से जैनदर्शन एवं जैनधर्म के सिद्धांत जैसे-देवाधिदेवत्व, नयवाद एवं प्रमाण, सप्तभंगी, स्याद्वाद, चारें निक्षेप, तीर्थंकरो का महादेवत्व, उनके अतिशय-गुण वर्णन, प्रतिक्रमण, नव तत्त्व, षड्द्रव्य, कर्म सिद्धांत, आत्मा का स्वरुप, अनेकांतवाद, सम्यक्त्व, नास्तिकवाद का खंडन, जिनप्रतिमा की महिमा, चारित्र, ब्रह्मचर्य, अवतारवाद का खंडन आदि अनेक विषयों पर रोचक प्रकाश डाला है।

ये स्तवन प्रभुस्तवन सुधाकर में मुद्रित है। वि.सं. 1938 में प्रथम भाद्रपद मास में राजगढ (म.प्र.) चातुर्मास में आचार्यश्री ने इन तीनों चतुर्विंशतिका की रचना की हैं।[215]

19. जिनोपदेश मंजरी:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'श्री जिनोपदेश मंजरी' की रचना वि.सं. 1954 में खाचरोद (म.प्र.) में की थी। इसकी पृष्ठ संख्या 70 हैं। इस पुस्तक में रोचक कथानकों से जिनेश्वर देव प्रणीत तत्त्वों को यथार्थ रुप से समझाया गया हैं। इसके प्रत्येक कथानक की शैली उस समय की लोक भोग्य शैली है। यह पुस्तिका राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (राज.) से प्रकाशित की गयी हैं।[216]

20. ज्ञान पंचमी देववंदन:-

प्रस्तुत ज्ञानपंचमी के देववंदन में 51 खमासमण के पद एवं पाँच ज्ञान के (मतिज्ञान आदि) पाँच चैत्यवंदन - स्तवन एवं स्तुति दी है।[217] आराधक लोग कार्तिक शुक्ला-5/ज्ञानपंचमी के दिन ज्ञान के सामने इस क्रिया (विधि) को करते हैं।

21. तत्त्वविवेक[218]:-

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश: विशेषांक शाश्वत धर्म के अनुसार इस ग्रंथ की रचना वि.सं. 1945 तदनुसार ईस्वी सन् 1888 में वीरमगाम चातुर्मास में की गयी थी।

इसमें आचार्यश्री ने सुदेव-सुगुरु एवं सुधर्म - इन तीन तत्त्वों पर श्रेष्ठतम विवेचन बालगम्य भाषा में किया हैं। सरल रीति होने के कारण साधारणज्ञानी व्यक्ति को भी त्रितत्त्व समझने के लिये यह अत्युत्तम ग्रंथ हैं। इसकी पृष्ठ संख्या 128 हैं। यह ग्रंथ खुडाला (राजस्थान) से मुद्रित हुआ है।

22. द्वादश पर्वनी कथा (संग्रह):-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने इस ग्रन्थ में प्राचीन जैनागम साहित्य एवं अन्य प्रकरणादि ग्रंथों से लोकोत्तर जैन पर्वो की आराधनाविधि एवं फलदर्शक प्राचीन जैन पर्व कथाओं का बाल जीवों के बोध हेतु लोकभाषा में विभिन्न राग-रागिनियों में रचना कर संग्रह किया हैं।[219] मुनि देवेन्द्र विजयजीने इसी पर आधारित 'श्री पर्व कथा संचय' नामक हिन्दी ग्रंथ की रचना की हैं।[220]

इस ग्रंथ में (1) ज्ञानपञ्चमी (2) कार्तिक पूर्णिमा (3) मौन एकादशी (4) पौष दशमी (5) मेरु-त्रयोदशी (6) चैत्री पूर्णिमा (7) अक्षयतृतीया (8) रोहिणी तप (9) पर्युषण (10) दीपमालिका (11) चातुर्मास (12) रज: पर्व (होली) - इन द्वादश पर्व संबंधी कथाओं का वर्णन हैं।

---

210. गणधरवाद का परिचय, 'मिला प्रकाश खिला वसंत' - से उद्धृत
211. प्रभुस्तवन सुधाकर
212. प्रभुस्तवन सुधाकर
213. देववंदन माला पृ. 222, चौमासी देववंदन
214. प्रभुस्तवन सुधाकर
215. संवर्त अड-द्वि-नव-शशि, प्रथम भाद्रव प्रसिद्ध।
सुखकर सूरि राजेन्द्रनी, राजगढे भई ऋद्ध - ॥5॥ अंतिम बधाई, प्रभुस्तवनसुधाकर, पृ. 205
216. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, पृ. 88 से 92
217. देववन्दनमाला, ज्ञानपंचमी देववन्दन
218. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ पृ. 88 से 92
219. धरती के फूल, पृ. 264
220. श्री पर्वकथासंचय, प्रस्तावना, पृ. 1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

23. दीपावली देववन्दन एवं (शारदा) पूजन विधि:-

प्रस्तुत देववंदन रचना में जैनविधि से दीपावली चोपडा पूजन, सरस्वती-लक्ष्मी पूजन, आरती, गौतमाष्टक, दीवाली का जप-मंत्र, गौतमरास एवं दीपावली देववंदन में भगवान् श्री महावीर स्वामी के निर्वाण कल्याणक का वर्णन एवं उनकी आराधना की महिमा दर्शाई है साथ ही निर्वाण कल्याणक के समय देव-मनुष्यों के कर्तव्यों का वर्णन एवं परमात्मा देवाधिदेव तीर्थंकर के अतिशयों का वर्णन हैं। इसकी रचना वि.सं. 1961 में कुक्षी चातुर्मास में की हैं।[221]

24. देववंदनमाला[222]:-

आचार्य विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने देववंदनमाला ग्रंथ में जैनधर्म के विविध पर्वो पर आराधक भव्यात्माओं को धार्मिक क्रिया करने हेतु विधि सहित पर्वानुसार चैत्यवंदन स्तुति, स्तवन, खमासमण के पद एवं दोहे आदि की सुंदर शैली में रचना की है जिसका भावुकजन यथा प्रसंग सुंदर लाभ उठाते हैं। नवपद ओली, दीपावली, ज्ञानपंचमी, सिद्धाचल, और चौमासी देववंदन की रचित गुंफित सामग्री का सामूहिक संकलन 'देववंदनमाला' के नाम से प्रकाशित हैं।

25. नवपद ओली देववंदन:-

इसमें आसोज एवं चैत्र मास की सुदि 7 से 15 तक नवदिन जैनधर्म में परम आराध्य शाश्वतयंत्र श्री सिद्धचक्र महायंत्र में विराजित अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप: इन नव पदों की आराधना हेतु नव दिन की क्रियाविधि की सुगमता के लिये प्रत्येक दिन के पद के अनुसार गुणवर्णनपूर्वक चैत्यवंदन, स्तुतियाँ एवं स्तवन तथा उन पदों के गुणों के वर्णनपूर्वक खमासमण का पद दिया हुआ हैं। इनमें क्रमश: नवें पद के 12, 8, 36, 25, 27, 67, 51, 70, 50 गुणों का वर्णन हैं। साथ ही नवपद ओली में त्रिकाल नित्य करने योग्य देववंदन, पच्चक्खाण पारने एवं संवरने की विधि, संथारा पोरिसी विधि एवं ओलीजी आराधना में आराधक के नियमों का वर्णन भी दिया हैं।[223]

26. नवपद प्रश्नोत्तर[224]:-

नवपद में विशेष कर जिन प्रतिमा पूजा सम्बन्धी एवं अन्य नवपद सम्बन्धी प्रश्नों के शास्त्रोक्त उत्तर 'शास्त्रपाठ' प्रमाण सहित दिये गये हैं। यह 'जिनेन्द्र पूजा संग्रह' में मुद्रित हैं।

27. नीतिशिक्षा द्वय पच्चीसी[225]:-

'नीति शिक्षा द्वय पच्चीसी' नामक दो पच्चीसियों की रचना आचार्य विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने वि.सं. 1954 में रतलाम (म.प्र.) चातुर्मास में की थी। इसमें **'यथा नाम तथा गुण'**-इस उक्ति के अनुसार 25 बोलों में सामान्य जन-जीवन में व्यवहार योग्य नीतिशिक्षा संबंधी बातें हैं। गद्य में रचित इस लघु-पुस्तिका की भाषा सहज-सुबोध मारवाडी हैं।

वर्तमान आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजीने यह पुस्तिका ईस्वी सन् 1992 में श्री राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद ने प्रकाशित करवाई है।

28. पञ्च सप्ततिशत स्थान चतुष्पदी:-

यह रचना गुरुदेवश्री ने सियाणा (राज.) चातुर्मास वि.सं. 1946 में कार्तिक शुक्ला पञ्चमी के दिन पूर्ण की हैं।[226]

तपागच्छीय श्री सोमतिलकसूरि विरचित 'सत्तरिसय ठाणापगरण, नामक 359 प्राकृत गाथामय ग्रंथ है। और उसकी राजसूरगच्छीय श्री देवविजयजी रचित अति सरल संस्कृत वृत्ति भी है। प्रस्तुत ग्रंथ रचना उसी पर आधारित है। परंतु आचार्यश्री ने पाँच स्थान इतर जैन ग्रंथो से उद्धृत कर इसमें रखे हैं।

आचार्यश्रीने इस ग्रंथ में पाँच उल्लास में वर्तमान चौबीसी के तीर्थंकरों की भवसंख्या, पूर्वभव का परिचय, जिनेश्वरों के पाँचों कल्याणकों का समय एवं तत्संबंधी संपूर्ण जानकारी, परस्पर अंतर, जिनशासन में इस अवसर्पिणी काल के रुद्र, दर्शनोत्पत्ति, आश्चर्य, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव एवं बलदेव आदि की जानकारी दी है। कर्ता ने ये समस्त रचना दोहा, चौपाई में एवं विभिन्नगेय राग-रागिनियों में की है। यह प्रशस्ति के साथ सब मिलकर 559 पद्य प्रमाण हैं।[227]

29. पदवीविचार सज्झाय:-

आचार्यश्री द्वारा रचित इस सज्झाय का रचना काल एवं स्थान प्राप्त नहीं हुआ है लेकिन अनुमान से यह भी सियाणा में पूर्वोक्त सज्झायों के साथ रची गयी है क्योंकि इन ग्रंथां में क्रम से इन्हीं सज्झायों के साथ यह भी मुद्रित है।

इसमें 563 प्रकार के जीवों के 24 दंडकों में से आया हुआ जीव देवाधिदेव, केवली, चक्रवर्ती आदि 16 पदवियों में से कौन कितनी और कौन-कौन सी पदवी प्राप्त कर सकता है इसका दंडक प्रकरण के अनुसार वर्णन किया हैं।[228]

यह 'प्रभु स्तवन सुधाकर' में पृ 229 से 232 पर मुद्रित है।

30. पाइयसद्दम्बुहि (प्राकृतशब्दाम्बुधि) कोश:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने इस ग्रंथ की पूर्णाहुति वि.सं. 1956 में शिवगंज में कीथी।[229] यह कोश श्री अभिधान राजेन्द्र बृहत् प्राकृत कोश का संक्षिप्त रुप है। श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ में कहा गया है कि इसके चार भाग हैं। इसमें प्रथम वर्णानुक्रम से प्राकृत शब्द, उसका संस्कृतानुवाद, पश्चात् लिङ्गनिर्देश और हिन्दी

---

221. देववन्दनमाला
222. वही
223. वही
224. नवपद-प्रश्नोत्तर जिनेन्द्रपूजा संग्रह
225. नीतिशिक्षाद्वाय पच्चीसी - लघुपुस्तिका, प्रथमावृत्ति
226. पंचसप्ततिशतस्थान चतुष्पदी, निर्माण करी हर्षाया रे ॥2॥
विजय राजेन्द्रसूरीशनी रचना भविकजन के मन भाया रे ॥5॥
विक्रम उगणी छैताला अब्दे, कार्तिक मास ओपाया।
सौभाग्य पञ्चमी दिन एह भाव सुन, सकल संघ हुलसाया रे ॥6॥
मरुधरदेश सीयाणा नगरे, सुविधिनाथ जिनराया ।
- अन्त्य प्रशस्ति, श्री विंशति विहरमानजिन चतुष्पदी, श्री पञ्चसप्ततिशतस्थान चतुष्पदी-पृ. 150, 151 से उद्धृत
227. प्रस्तावना - श्री पञ्चसप्ततिशतस्थान चतुष्पदी
228. प्रभु स्तवन सुधाकर
229 श्री राजेन्द्र अंक, : विशेषांक शाश्वत धर्म में से ''गुरुदेव जीवन विहंगावलोकन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अर्थ हैं।[230] लेकिन 'राजेन्द्र ज्योति' ग्रंथ में 'पाइयसद्दबुंहि' ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ की छाया में हमें हिन्दी अर्थ प्राप्त नहीं हुआ हैं।[231] इसमें अभिधान राजेन्द्र कोश की तरह विस्तृत व्याख्याएँ नहीं हैं। यह ग्रंथ अभी तक अप्राप्त एवं अमुद्रित हैं।

31. पुंडरीकाध्ययन सज्झाय:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने इस सज्झाय-पद की रचना सियाणा (राज.) में वि.सं 1946 में चातुर्मास में ज्ञानपंचमी/ सौभाग्य पंचमी के दिन की थी।

इस सज्झाय में 16 गाथा में जिनवाणी के दूसरे अंगसूत्र सूत्रकृतांग में वर्णित पुंडरीक अध्ययन में गर्भित उपदेश का वर्णन है। इसमें परमात्मा महावीर राजा-चार पुरुष-पुष्पकरणी (वापिका) पुंडरीक, आस्रव का फल, मिथ्या सिद्धांतवादी, मिथ्यात्वी, एवं शुद्ध साध्वाचार का दृष्टांतपूर्वक फल दिखाकर साधु को जिनमत में श्रद्धा एवं आस्रव निरोध का उपदेश दिया हैं।[232]

32. प्रभु स्तवन सुधाकर[233]:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने वर्तमान युग में प्राकृत-संस्कृत से अनभिज्ञ जन साधारण के लिये देशी भाषा में जो चैत्यवंदन, स्तुति, स्तवन एवं सज्झायों का निर्माण किया है वे सभी प्राय: इस पुस्तक में संग्रहित है। इनमें गुणगांभीर्य एवं आध्यात्मिक भाव परिपूर्ण रुप से विद्यमान है। आपके निर्मित पद्यों में अपभ्रंश शब्द भी हैं जो इनकी शोभा में अतीव वृद्धि करते हैं।

33. प्रश्नोत्तर पुष्प वाटिका[234]:-

इस ग्रंथ की रचना आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने वि.सं. 1936 में गोलपुरी (जि-झालोर) राजस्थान में की थी। इस ग्रंथ में उस समय के विवादास्पदप्रश्नों का तथा और भी इतर प्रश्नों का सुन्दरतम शैली से निराकरण किया गया हैं। प्रश्नों के प्रत्युत्तर में गुरुदेव ने शास्त्रीय आज्ञा को श्रेष्ठतम रुप से जनता के समक्ष रखा है। यह ग्रंथ लोकभाषा में होने से साधारण व्यक्ति भी इसे सरलता से समझ सकते है। यह ग्रंथ खुडाला (राज.) से प्रकाशित हुआ है।

34. प्रश्नोत्तर मालिका[235]:-

इस ग्रंथ की रचना आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने वि.सं. 1949 में निम्बाहेडा (राज.) में की थी। इस ग्रंथ में ढूंढकपंथी नंदराम के साथ मुख्यरुप से मूर्तिपूजा की एवं जिनमूर्ति प्रतिष्ठा की शास्त्रोक्तमान्यता विषयक शास्त्रार्थ का प्रमाण के साथ उत्तर सहित वर्णन हैं।

इस शास्त्रार्थ में प्रथम वादी नंदराम ने त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर जीवों के अल्प-बहुत्व, पुद्गल की जधन्य-उत्कृष्ट अवगाहना में वर्णादि; द्वीन्द्रिय, तीर्यंच एवं कृष्ण लेश्यावन्त जीव की गति संबंधी एवं जिन प्रतिमा पूजा एवं प्रतिष्ठा संबंधी स्थानक मान्य 32 आगमों में से मूलसूत्रपाठ के साथ उत्तर मांगा, जो आचार्यश्रीने तत्काल दे दिया था। जिसमें जिनप्रतिमा पूजाविषयक प्रमाण श्री उपासकदशांगसूत्र, भगवतीसूत्र, दशाश्रुतस्कंध, श्रीआचारांगसूत्र, रायप्पसेणीसूत्र, आवश्यकसूत्र, उववाइसूत्र एवं जम्बूद्वीप-पन्नति सूत्र के मूलपाठों की साक्षी से एवं प्रतिष्ठा संबंधी उत्तर श्री अनुयोगद्वारसूत्र, ज्ञाता सूत्र, स्थानांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र की साक्षी पूर्वक दिया गया हैं।

यति नन्दराम के प्रश्नों के उत्तर दिये जाने के पश्चात् आचार्यश्रीने चार प्रश्न पूछे जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से संबंधित थे; उसमें प्रथम प्रश्न का प्रत्यत्तर सही नहीं दिया एवं शेष का अति संक्षेप में उत्तर दिया। तब प्रथम उत्तर को गलत बताने पर ढूंढक पंथी यति नन्दराम के द्वारा वितण्डा (मारपीट) की स्थिति उत्पन्न करने से कोर्ट में शास्त्रार्थ हुआ, वहाँ आचार्यश्री ने यति नन्दराम के 9 प्रश्नों में रही अशुद्धियों को बताते हुए प्रश्नों के उत्तर दिये एवं अपनी तरफ से और 25 प्रश्न उनके साध्वाचार संबंधी पूछे और कोर्ट की तरफ से भी पन्द्रह प्रश्न ढूंढकों के साध्वाचार संबंधी पुछवाये जिसमें से एक का भी यति नंदराम प्रमुख उत्तर ही नहीं दे पाये, जिसके फलस्वरुप आचार्यश्री की विजय हुई और निम्बाहेडा में ढूंढकों के 60 परिवारों ने आचार्यश्री राजेन्द्र सूरि की गुरु-आम्नाय स्वीकार की। वे श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रीसंघ में सम्मिलित हुए। वर्तमान में इन्हीं 60 घरो के 250 से अधिक घर हैं। यह ग्रंथ अमुद्रित हैं।

35. प्राकृत व्याकृति एवं प्राकृतशब्द रुपावली:-

इसका परिचय प्रस्तुत शोध प्रबंध के द्वितीय परिच्छेद में अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग की विषय वस्तु के अन्तर्गत दिया हैं।

36. महावीर पञ्चकल्याणक पूजा[236]:-

इसमें प्रत्येक पूजा के प्रारंभ में दोहे हैं। दो-दो ढालों में (गीतों में) एक-एक कल्याणक का वर्णन है। प्रत्येक पूजा के अंत में काव्य एवं मंत्र है। और समस्त पूजा पूर्ण होने के सूचनास्वरुप कलश काव्य की रचना है। पूजा का वर्णन हींडा, जल्हानी, गरबी, नानडिया, सोरठ-गिरनारी आदि राग-रागिनियों में किया है, कलश 'पारणा' की राग में हैं।

जैसा कि पूजा में वर्णन किया गया है, प्रथम च्यवन कल्याणक पूजा में देवलोक से व्यवन, ऋषभदत्त ब्राह्मण के घर देवानंदा की कुक्षी में अवतरण, गर्भपरावर्तन आदि का वर्णन है। द्वितीय जन्म कल्याणक पूजा में स्वप्नदर्शन, गर्भपालन एवं जन्म का वर्णन है। तृतीय दीक्षा कल्याणक पूजा में इन्द्र द्वारा जन्म-महोत्सव, सिद्धार्थ राजा द्वारा जन्म महोत्सव, बालक्रीडा, सांसारिक जीवन एवं दीक्षा का वर्णन है। चतुर्थ केवलज्ञान कल्याणक पूजा में विहार, तप, पारणे, उपसर्ग, केवलज्ञान, अष्ट प्रातिहार्य, समवसरण, प्रथम देशना आदि का वर्णन हैं। पंचम मोक्ष कल्याणक पूजा में ग्यारह गणधर एवं भगवान् महावीर के धर्म-परिवार का वर्णन एव पावापुरी में निर्वाण प्राप्ति का वर्णन हैं। कलश आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी की गुरुपरंपरा एवं ग्रंथ रचना का समय दर्शाया हैं।

---

230. श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ,पृ. 88
231. गुरुदेव साहित्य परिचय : राजेन्द्र ज्योति - डो. नेमीचंद जैन द्वारा खींची गयी छाया कापी से
232. प्रभुस्तवन सुधाकर
233. प्रभुस्तवन सुधाकर
234. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ, पृ. 91
235. प्रश्नोत्तरमालिका ग्रंथ की पाण्डुलिपि, श्रीराजेन्द्रसूरि ज्ञानभंडार, कुक्षी (म.प्र.)
236. महावीर पञ्चकल्याणक पूजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री महावीर पञ्चकल्याणक पूजा की रचना आचार्य विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजने अपने जीवन में अंतिम वर्षावास के समय बडनगर में की थी। इसी पूजा के 'कलश' के अनुसार इसकी रचना वि.सं 1963 की आषाढ सुदि दशमी, स्वाति नक्षत्र और रविवार के दिन हुई हैं।[237]

37. राजन्द्र सूर्योदय[238]:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने वि.सं 1960 (गुजराती 1959) में सूरत चातुर्मास में इस ग्रंथ की रचना की है।

इस पुस्तक में सूरत में पंन्यास चतुरविजयजी के साथ हुए अनादि तीन थुइ और अर्वाचीन चार थुइ एवं शास्त्रीय समाचारी (आचार पालन के नियम) संबंधी शास्त्रार्थ का वर्णन किया है जिसे पढने से पंन्यास चतुरविजयजी एवं उनके भक्तों की जैनागम शास्त्र संबंधी अज्ञानता का सहज परिचय होता है और विजेता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के अगाध श्रुतज्ञान का भी पाठक को अनुभव होता हैं।

इसका प्रकाशन उसी समय गुजराती वि.सं. 1959, भाद्रपद मास/अगस्त 1903 में पुस्तकाकार में एवं 'देशीमित्र' नामक समाचार पत्रमें हुआ था।

38. विशंति-विहरमान जिन-चतुष्पदी[239]:-

इस ग्रंथ की रचना आचार्यश्रीने वि.सं. 1946 में कार्तिक शुक्ल पंचमी (ज्ञान पंचमी) के दिन सियाणा (राज.) में पूर्ण की थी।

'गागर में सागर' समान इस लघु ग्रंथ में चौपाई, हरिगीत एवं इकतीसा छंद में जैनागमों के अनुसार पाँच महाविदेह क्षेत्रों में विहरमान वर्तमान बीस जिनेश्वरों के नाम, जननी, जनक, सहधर्मिणी, लंछन, विजय (देश), नगरी, तनु-वर्ण आदि का वर्णन किया हैं।

इसका प्रकाशन वि.सं 1991/इ.स. 1935 में श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय-खुडाला (राज.) से किया गया हैं।

39. शांतिनाथ स्तवन:-

(आवश्यक हेतु गर्भित लावणी एवं अन्य)

श्रावक मूलचन्द फूलचंद के आग्रह से आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने इस स्तवन की रचना वि.सं. 1942 के आसोज वदि दशमी के दिन धोराजी नगर (गुजरात) चातुर्मास में की थी।[240]

इसमें दो ढालें हैं। आचार्यश्री ने प्रथम काव्य में जैन सिद्धांतानुसार देववंदन एवं सामायिक विधि एवं द्वितीय में प्रतिक्रमण विधि सूत्रों के नाम एवं क्रियाविधि का महिमा सहित वर्णन किया हैं।

त्रिस्तुतिक सूत्र-साक्षी गर्भित श्री शांतिजिन लावणी :-

जैसा कि इसके नाम से प्रत्यक्ष हैं, आचार्यश्री ने इस लावणी में प्राचीन त्रिस्तुतिक सिद्धांत के शास्त्रोक्त प्रमाणों के सूत्रों के नामों का छः श्लोकों में वर्णन किया हैं। इसका रचनाकाल या स्थान प्राप्त नहीं हुआ है किन्तु इसकी रचना से ऐसा ज्ञात होता है कि इस लावणी की रचना किसी शास्त्रार्थ के बाद की गयी है जिससे गेय स्तवन के माध्यम से जन-साधारण को भी सूत्र-सिद्धांत की जानकारी प्राप्त हो सकें।

ये और इसके अतिरिक्त आचार्यश्री द्वारा रचित श्रीशांतिनाथ भगवान् के अन्य भी 12 (बारह) स्तवन 'प्रभु स्तवन सुधाकर में मुद्रित हैं।

40. सकलैश्वर्य स्तोत्र[241]:-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने इस स्तोत्र की रचना गोल नगर (जि जालोर) राजस्थान में वि.सं 1936 में की है जैसा कि स्तोत्र के चरम श्लोक के अनुसार ज्ञात होता है-

"रसगुणनवचन्द्रे वत्सरे गोलपुर्य्याममुमकृतसुभक्त्या श्रीलराजेन्द्रसूरिः। सकलजिनवराणां सुस्तवं पापनाशं, भवतु सकलसिद्धिप्रापकं पाठकानाम् ॥24॥

संस्कृत भाषा में रचित इस स्तोत्र में 23 श्लोक अनुष्टुप छंद में एवं अंतिम 24 वाँ श्लोक मालिनी छंद में हैं। इसमें प्रथम श्लोक में अर्हन्त देव को, द्वितीय में चारों निक्षेप से समस्त जिनेश्वरों को एवं तृतीय से 22 पर्यंत जैन सिद्धांतानुसार महाविदेह में वर्तमान श्री सीमंधरादि 20 तीर्थंकरों की स्तुति की हैं।[242] 23 वें श्लोक में सर्व गणधर-केवलि भगवंत एवं समस्त साधु भगवंतों को वंदन किया है। अंतिम 24 वें श्लोक में 'प्रशस्ति' हैं।

इस स्तोत्र की भाषा-शैली प्राञ्जल, भक्तिप्रधान, भाववाही, अलङ्कार एवं तुक युक्त हैं। इस स्तोत्र पर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचंद्राचार्य के सकलार्हत् स्तोत्र का प्रभाव पूर्णरुपेण परिलक्षित होता हैं।

यह स्तोत्र अनेक ग्रंथों में मुद्रित है, शाश्वत धर्म मासिक-अंक-जनवरी 2001 में यह स्तोत्र हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया गया है।

41. स्वगच्छीय मर्यादापट्टकम्[243]:-

पूर्वाचार्यों की तरह आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने वि.सं. 1956 में शिवगंज में स्वगच्छीय साधु-साध्वी के लिए आचार-पालन एवं अनुशासन हेतु आचार नियमों की रचना की जिसे मर्यादापट्टक कहते हैं।

इस मर्यादापट्टक में 25 नियम है जिसमें स्व-गच्छीय साधु-साध्वी की चैत्यवंदन-(उत्कृष्ट देववंदन)-सामायिक-प्रतिक्रमण-साधु/साध्वी वंदन-आहार-विहार-चातुर्मास-अध्ययन-अध्यापन-उपकरण एवं अन्य साध्वाचार संबंधी विधियाँ तथा चतुर्विध संघ की अनुशासन व्यवस्था का वर्णन किया गया हैं।

42. साधुवैराग्याचार सज्झाय[244] :-

इस सज्झाय की रचना भी आचार्यश्रीने वि.सं. 1946 में सियाणा (राज.) वर्षावास में की हैं।

इसमें 26 गाथा में साध्वाचार के दोषों का वर्णन कर, उसका प्रायश्चित दंड दिखाकर साधुओं को ज्ञानगर्भित वैराग्य वासित जीवन सावधानीपूर्वक यापन करने का निर्देश दिया हैं।

---

237. श्री जिनेन्द्र पूजा संग्रह पृ. 63, श्री महावीर कल्याणक पूजा, कलश-4
238. राजेन्द्र सूर्योदय, प्रस्तावना, प्रथमावृत्ति, सन् 1903
239. ग्रंथ, प्रस्तावना श्री पञ्चसप्ततिशतस्थान एवं श्री विहरमान जिन चतुष्पदी
240. क. कलश-मूलचन्दसुत फूलचन्द आग्रह, षडिकमणा विधि ज्ञानथी। आवश्यकविधिगर्भित श्री शान्तिनाथ स्तवन
ख. संवत द्वि-चउ-अङ्क - शशी में, दशमी वदि आशोज। जिनजी विधि मारग दियो मुजने ॥23॥ -वही
241. सकलैश्वर्य स्तोत्र, श्री राजेन्द्र स्तुति समुच्चय पृ. 16 से 18
242. जैन आगमों के अनुसार जंबुद्वीप के 9, घातकीखंड के दो एवं अर्ध पुष्करावर्त द्वीप के 2 -एसे 5 महाविदेह में 5×4 = 20 तीर्थंकर (एक-एक विदह में 4-4) वर्तमान में विहरमान हैं।
243. यह पट्टक कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी में 'जीवनपरिचय' के बाद मुद्रित है।
244. प्रभुस्तवन सुधाकर पृ. 222

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

43. सिद्धाचल देववंदन[245]:-

इसमें सिद्धाचल तीर्थ की आराधना-विधि का वर्णन हैं। प्रथम 21 खमासमण, तत्पश्चात् चैत्यवंदन, सिद्धाचल के 21 एवं 99 नामयुक्त स्तुति एवं स्तवन, सिद्धाचल के उपर दर्शनीय एवं वंदनीय स्थानों के वर्णन युक्त स्तवन एवं सिद्धाचल तीर्थ की नवाणुं (99) यात्रा की विधि एवं यात्रा के नियम दिये हैं।

44. सिद्धचक्र (नवपद) पूजा[246]:-

श्री नवपद पूजा के अंत में दिये गये 'कलश' के अनुसार श्री नवपद पूजा की रचना आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.ने वि.सं. 1950 में खाचरोद चातुर्मास में की थी।

प्रस्तुत पूजा में प्रत्येक पूजा के प्रारंभ में हिन्दी एवं प्राकृत में दोहा एवं भुजंगप्रयात तथा-हरिगीत छंदों में प्रारंभिक श्लोक एवं गेय रागों में एक-एक पद की दो-दो ढालें (भजन) रचे गये हैं। अंत में 'धनाश्री' राग में कलश दिया गया है जिसमें 'नवपद' की महिमा, नवपद आराधक श्रीपाल राजा एवं मयणा सुंदरी का वर्णन एवं श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की पाट परंपरा एवं पूजा का रचना समय बताया हैं।

यह पूजा 'जिनेन्द्र पूजा महोदधि एवं जिनेन्द्र पूजा संग्रह में कई आवृत्तियों में आहोर, खुडाला (राज.), मोहनखेडा (म.प्र.), अहमदाबाद (गुजरात) आदि जगह से छप चुकी हैं।

45. सिद्धांत प्रकाश[247]:-

वि.सं. 1929 में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के रतलाम चातुर्मास में उन्होंने संवेगी झवेरसागरजी और यति बालचन्द्र उपाध्याय से हुए त्रिस्तुतिक सिद्धांत विषयक शास्त्रार्थ के समय प्रतिपक्षी को उत्तर देने के लिए इस ग्रंथ की रचना की हैं, जिसके फल स्वरुप आचार्यश्री विजयी बने थे।

इस ग्रंथ में भूमिका में जैनागमों के अनुसार प्रमाण, निर्णयकर्ता, सम्यक्त्व, श्रोता, तपागच्छ और खरतर गच्छ की आचरणा, पंडित आदि के स्वरुप का वर्णन करके वादी के पाँचों प्रश्नों का शास्त्रोक्त उत्तर शास्त्र पाठ सहित दिया है। साथ ही इन प्रश्नों में हेत्वाभास आदि दोष भी यथास्थान दिखलाये हैं। ये प्रश्नोत्तर संक्षिप्त में निम्नानुसार हैं-

प्र.1. श्री जिन - द्रव्य पूजा शुभानुबंधी प्रभूततर निर्जरारुप है, उसमें अल्प-पाप नहीं हैं।

उ.1. जिन पूजा से शुभानुबंधी परंपरा से मोक्ष फल है तथापि द्रव्य पूजा में आरंभ संबंधी विराधना है, उस विराधना को धर्म नहीं कहते इसलिए द्रव्य पूजा में अल्पपाप बहुनिर्जरा कहते हैं।

प्र.2. चतुर्थ स्तुति, 'वेयावच्चगराणं' और वंदित्तुसूत्र का 'सम्मादिट्ठिदेवाए' यह पाठ प्रतिक्रमण में कहना और तीन स्तुति मंदिर में कहना।

उ.2. प्रतिक्रमण में चतुर्थ स्तुति और 'वेयावच्चगराणं' नहीं कहना। वंदित्तु में 'सम्मादिट्ठिदेवाए' पाठ नहीं कहना और सर्व जगह तीन स्तुति कहना। मंदिर में प्रतिष्ठादि प्रसंगे 'वेयावच्चगराणं' करना कारण की बात हैं, नित्य नहीं।

प्र.3. ललितविस्तरा के कर्ता श्री हरिभद्रसूरि वि.सं 585 में निश्चय से हुए।

उ.3. श्री हरिभद्रसूरि नामक अनेक आचार्य हुए है अतः निश्चय से उपरोक्त कथन सही नहीं है। और उपमिति भवप्रपंच कथा के अनुसार ललित विस्तरा के कर्ता श्री हरिभद्रसूरि सिद्धर्षि गणि के समय में हुए हैं।

प्र.4. साधु को श्वेत वस्त्र पहनना या रंगीन ?

उ.4. महावीर-शासन के साधु को श्वेत-मानोपेत-जीर्णप्राय वस्त्र धारण करना - यह उसका अचेलकत्व हैं।

प्र.5. जिसके ज्ञान-दर्शन होय अरु चारित्र मलिन होय, उस पासत्थे कुं वांदणा (वंदन करना)?

उ.5. पासत्था (चारित्र एवं शासनद्रोही) कारण विना सर्वथा नहीं वांदणा। सामान्यतया तो पासत्था अवंदनीय ही है। पासत्था को ज्ञान भण्डार भी नहीं दिखाना।

हमें प्राप्त 'सिद्धांत प्रकाश' की पाण्डु-लिपि के अनुसार यह ग्रंथ वि.सं. 1930 के जेठ सुदि एकादशी के दिन पूर्ण हुआ था। यह ग्रंथ अमुद्रित हैं।

46. षड् द्रव्य विचार[248]:-

इस ग्रंथ की रचना आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने वि.सं. 1927 में कुक्षी (म.प्र.) चातुर्मास में की थी। इस ग्रंथ की भाषा मालवी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में जैनदर्शन के अनुसार विश्व के मूल छः तत्त्वों 1. धर्मास्तिकाय 2 अधर्मास्तिकाय 3.आकाशास्तिकाय 4 पुद्गलस्तिकाय 5. जीवास्तिकाय और 6. काल - का स्पष्टीकरण किया गया है। साथ ही नय, प्रमाण एवं सप्तभंगी की सुंदर व्याख्या की हैं। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति एवं समझ के लिये यह ग्रंथ उपयोगी है।

आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरिने इस ग्रंथ की विस्तृत विशद व्याख्या वर्तमान हिन्दी भाषा में की है जो जैन तत्त्वज्ञान के परिपूर्ण एवं सहज-सुबोध एवं सरल भाषा में है। प्रस्तुत ग्रंथ हिन्दी व्याख्या सहित आचार्यश्री की प्रेरणा से वि.सं. 2048 में सूरत चातुर्मास में सूरत श्रीसंघ के अत्थ सहयोग से श्री राज-राजेन्द्र ट्रस्ट, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया हैं।

47. होलिका आख्यान (प्रबंध):-

इस संस्कृत प्रबंध की रचना आचार्यश्री श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने वि.सं. 1961 में मध्यप्रदेश (मालवा) में की थी।[249]

भारतीय जनता फाल्गुन महीने के सुदि पक्ष में 'होली' नामक पर्व अश्लील चेष्टापूर्ण रीति से मनाती है, जो वास्तव में कर्म सिद्धांतानुसार कर्मबंधन करवाता है। आचार्य श्री ने इस ग्रंथ में इस अश्लीलतामय पर्व की उत्पत्ति का वर्णन किया हैं। और सुज्ञजनों को इस अन्धानुकरण रुप मिथ्या पर्व से दूर रहने को कहा है।

यह कथा श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय 'खुडाला' से प्रकाशित 'चरित्र चतुष्टय' में मुद्रित हुई हैं।

48. होलिका व्याख्यान (कथा):-

उपरोक्त कथा प्रबंध का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है जो कि 'पर्वकथा संचय' में मुद्रित है।[250]

245. देववंदनमाला
246. -श्री जिनेन्द्र पूजा संग्रह, पृ. 51, श्रीनवपद पूजा, कलश-श्लोक 5
247. सिद्धांतप्रकाश (हस्तलिखित अमुद्रित ग्रंथ), श्रीराजेन्द्र ज्ञानभंडार, कुक्षी (म.प्र)
248. षड्द्रव्यविचार ग्रंथ
249. होलिकाऽऽख्यानम्, पृ 17
250. पर्वकथा संचय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की नित्य जीवन-चर्या

क्रियोद्धारक आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज जैसे प्रकाण्ड प्रज्ञापुरुष थे वैसे ही उत्कृष्ट क्रियापालक थे। शिथिलता आपको लेशमात्र पसंद नहीं थी।आप दिन में कभी निद्रा नहीं लेते थे। रात्रि में भी सिर्फ एक प्रहल विश्राम करते थे। ध्यान और अनुप्रेक्षा की लीनता में कभी-कभी तो कई दिन तक सतत निद्रा का त्याग हो जाता। आप अपने छोटे-बडे समस्त दैनिक कार्य अपने स्वयं के हाथ से करते थे। कैसी भी कडी ठंड में आप उभयकाल प्रतिक्रमण और सज्झाय हमेशा खुले बदन ही करते थे इतना ही नहीं अपितु शीतकाल में कहीं नदी-नाले के किनारे वृक्ष नीचे या पहाडियों की गुफा में खुल्ले शरीर ध्यान में लीन हो जाते तो ग्रीष्मकाल में तपी हुई बालु रेत में या पहाडियों की तप्त शिलाओं पर आतापना लेते थे।

आप हंमेशा मुनिजीवन के नियमानुसार निर्दोष आहार ग्रहण करते एवं उस बिना किसी रसलोलुपता के उदरस्थ करते। इतना ही नहीं कडवी तुम्बी के साग के भी गोचरी में आ जाने पर उससे प्रभावित मुनि मोहन विजयजी को भी समभाव हेतु प्रेरित किया। मात्र आहार ही नहीं अपितु आप वस्त्र, पात्र आदि भी निर्दोष ही ग्रहण करते थे। अहमदाबाद में श्रावक मयाचंदभाईने आपको क्रीतदोषयुक्त मलमल का कपडा वहेराने का प्रयत्न किया परन्तु आपने उसका निषेध कर दिया।

आप मुनिजीवन की मर्यादानुसार 14 उपकरण एवं आवश्यक ओधोपधि से अतिरिक्त किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करते थे। कडी ठंड में भी साडे चार हाथ की मात्र दो सूती चादर एवं एक ही ऊनी कम्बल मात्र रखते थे। आप नित्यक्रम से आवश्यक क्रिया से निवृत्त होकर या तो साधु-श्रावकों से शास्त्र-चर्चा, धर्म-चर्चा या व्याख्यानादि करते या फिर शास्त्र-अध्ययन, स्वाध्याय में लीन रहते। अस्सी (80) वर्ष की आयु तक में कभी भी आपकी लेखनी ने विराम नहीं लिया।

अंतिम समय तक आपने स्वाध्याय, साहित्य निर्माण, ध्यान-अनुप्रेक्षा आदि से विराम नहीं लिया अपितु अंतिम चातुर्मास (विसं 1963, बडनगर) के उत्तरार्ध में दीपावली के दिनों में आपने अट्ठाई तप (आठ उपवास) करके आचारांगादि ग्यारह अंगसूत्रों का स्वाध्याय किया।[251]

अनशन एवं देहत्याग:-

बडनगर के चातुर्मास के पश्चात् माण्डवगढ की यात्रा के निमित्त विहार करते समय दसाई से मांगोद के रास्ते पर मार्ग में बबूल का विषैला काँटा पैर में चुभ गया, जिसकी असह्य वेदना से (निमित्तज्ञान के बल से) अपना आयुष्य पूर्ण जानकर आचार्यश्री राजगढ पधारे। यहीं पर वि.सं. 1963, पौष सुदि तृतीया के दिन सकल श्रीसंघ की उपस्थिति में आपने अपने प्रतिभासंपन्न शिष्य अठारहवर्षीय मुनि श्री दीपविजयजी एवं 22 वर्षीय मुनि श्री यतीन्द्र विजय जी को अभिधान राजेन्द्र कोश के सम्पादन-संशोधन और प्रकाशन का उत्तरदायित्व दिया। तत्पश्चात् आचार्यश्रीने उपस्थित श्रीसंघ से, 84 लक्ष जीवयोनि से, एवं शिष्य परिवार आदि से सान्त:करण क्षमापना की। सभी शिष्यों ने भी विरहाकुल हृदय एवं सजल नयनों से त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक गुरुदेव से क्षमापना की। और वि.सं. 1963 पौष सुदि तृतीया की संध्या को समस्त आहार, औषध, शरीर, उपधि आदि का त्याग कर यावज्जीव अनशन ग्रहण कर संलेखना व्रत अङ्गीकार किया और पद्मासन में बैठकर 'ॐ अर्हं नम:' के ध्यान में लीन हो गये।[252]

स्वर्गवास:-

आत्म-साधना में लीन परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने महाप्रयाण की कुछेक मिनिट पहले फिर एक बार सबसे क्षमापना की और दि. 28 दिसम्बर ई.स. 1906 तदनुसार वि.सं 1963, पौष सुदि छठ गुरुवार की रात्रि को आठ बजकर आठ मिनिट पर एक बार आचार्यश्री की आवाज तेज होकर मंद हुई और फिर वे सदा के लिए मौन हो गए।[253]

राजगढ में राजेन्द्र भवन में व्याख्यान की पाट के पास जिस स्थान पर आचार्यश्री ने अनशन व्रत अङ्गीकार कर स्वर्गारोहण किया उसी जगह पर वर्तमान में श्वेत संगमरमर की कलात्मक छत्री में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज के चरणयुगल प्रतिष्ठित हैं एवं वर्तमान में राजगढ श्रीसंघ की ओर से भव्य गुरुमंदिर का निर्माण कार्य चल रहा है।

अग्नि संस्कार:-

दिनांक 29 दिसम्बर ई.स. 1906/वि.सं. 1963 पौष सुदि सप्तमी शुक्रवार को मध्याह्न में सुंदर चंदन काष्ठ निर्मित एवं सोने-चांदी के तारमय वस्त्रों से सुशोभित वैकुंठी में गुरुदेव के पार्थिक शरीर को विराजमान कर वैकुंठी के साथ राजा-प्रजा एवं श्रीसंघ ने पूरे नगर में अन्तिम यात्रा में घूमते हुए राजगढ से पश्चिम दिशा में गुरुदेवश्री की प्रेरणा से निर्मित श्री मोहनखेडा तीर्थ के प्रांगण में गुरु शरीर का अग्नि-संस्कार किया, जिस समय हजारों भक्त एवं जैन-जैनेतर लोग उपस्थित थे। वहीं पर आज सुंदर गुरुमंदिर निर्मित है जिसमें अग्नि संस्कार के स्थान पर आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी की दिव्य मूर्ति विराजमान है।[254] मूर्ति का चित्र आगे दिया गया हैं।

उपसंहार:-

इस शोध प्रबन्ध का प्रथम परिच्छेद श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के कर्ता श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का संक्षिप्त परिचय के लिए निर्धारित किया गया था। इसमें आचार्यश्री

251. विश्वपूज्य पृ. 98
252. विरल विभूति, पृ. 96; राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ 147; जीवनप्रभा पृ. 36
253. श्री राजेन्द्रगुणञ्जरी पृ. 147; जीवनप्रभा पृ. 36
254. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 150, 151, 155; परम योगीश्वर पृ 17, 79; जीवनप्रभा पृ. 36

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के व्यक्तित्व के उन पक्षों को प्रस्तुत किया गया है जो एक महर्षि के महत्त्व को प्रकट करने के लिए अपरिहार्य हैं।

आचार्यश्री के साधु जीवन का प्रथम महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आपकी दीक्षा आचार्य श्रीमद्विजय प्रमोदसूरि के हाथों हुई थी और आचार्य श्रीमद्विजय प्रमोदसूरिने ही अपने पाट पर मुनि श्री रत्नविजय जी को आसीन करते हुए आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया था और आपका नामकरण श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि किया गया था।

यह और भी स्पष्ट करने योग्य है कि आपने क्रियोद्धार का अभिग्रह तो यति अवस्था में वि.सं. 1920 में लिया था परन्तु क्रियोद्धार का क्रियान्वय वि.सं. 1925, आषाढ वदि दशमी को आचार्य अवस्था में किया था। इस दिन सोमवार या शनिवार था - इसका निर्णय ज्योतिषी कर सकते हैं; क्योंकि क्रियोद्धार पत्रिका में दोनों वारों का उल्लेख है, जैसा कि इसी शोधप्रबन्ध के पृष्ठ क्र. 8 पर रेखांकित किया गया हैं।

आचार्यश्री के गच्छ के विषय में यह स्पष्ट करने योग्य है कि आपने किसी नये गच्छ की स्थापना नहीं की थी, अपितु भगवान् महावीर के शिष्य पञ्चम गणधर सुधर्मास्वामी के द्वारा स्थापित निर्ग्रन्थ गच्छ 'सौधर्म गच्छ' की शाखा 'तपागच्छ' में दीक्षित होकर क्रियोद्धार के साथ ही अपने गच्छ का संशोधित नामकरण 'श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छ' किया था।[255]

इस परिच्छेद में आचार्यश्री के व्यक्तित्व के प्रमुख बिन्दुओं का परिचय मात्र दिया गया है जिनके विषय में स्पष्ट सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। आचार्यश्री जितने सिद्ध लेखक थे उतने ही सिद्ध वक्ता और कवि भी थे जैसा कि विभिन्न सन्दर्भों से प्रमाणित होता है। आचार्यत्व प्राप्त होने के बाद आप प्राचीन शास्त्रों की व्याख्या करने और स्वतन्त्र लेखन करने के अधिकारी हो गये और आपने अपने जीवन में स्वतन्त्र लेखन भी किया और शास्त्रों की तर्कसंगत व्याख्याएँ और भाष्य भी किये जैसा कि पूर्व में चित्रण किया जा चुका है।

आचार्यश्री के जन्म, दिक्षा, आचार्यत्व, क्रियोद्धार, साहित्यसृजन, सल्लेखना, शरीरत्याग और दाहसंस्कार के संक्षिप्त विवरण के साथ यह परिच्छेद पूर्ण होता है।

255. अ.रा.भा. 7, मुद्रणपरिचय, श्लोक 2

श्री गुरुदेव-वन्दनावली

यन्नामस्मरणेन दुर्दिनचयोऽरं शाकिनीडाकिनी-
दोषोऽपि प्रलयं प्रयाति विविधा सम्पत्तिरासाद्यते।
लोके च प्रियता मुखे मधुरता कार्ये समुत्साहता,
तं सन्नौमि सहस्रकृत्वरनिशं राजेन्द्रसूरिं प्रभुम् ॥1॥
यः पूर्वं मदमोहकाममतामात्सर्यलोभक्रुधा-
द्यान् दोषान् सुतरां विजित्य च ततो मिथ्यात्विनो दुर्मदान्।
शुद्धं लोकेहितावहं समदिशद् धर्मं शमे शेमुषी-
प्रागल्भ्यं सततं करोतु कृपया राजेन्द्रसूरिः प्रभुः ॥2॥
मूर्तिं कीर्तिमतीं विलोक्य सुभगां लोके यदीयां बुधा,
दृष्टास्तद्गुणवर्गवर्णनमहो नानाविधं संव्यधुः।
लोकेषु प्रथितः स्वधर्मनिरतस्तेजस्विताऽलङ्कृतः,
कामान्मे परिपूरयेत्स सकलान् राजेन्द्रसूरिः प्रभुः ॥3॥
लोके कीर्तिलता गता दश दिशो यस्यानवद्या दृढा,
सर्वान्सज्जनपादपान् सुविपुलानाश्रित्य संराजते।
विद्या चाखिललोकलग्नकुमतिध्वान्तं पराधूनयत्,
स श्री सङ्घसुमङ्गलाय भवतादाजेन्द्रसूरिः प्रभुः ॥4॥
यो मिथ्यामतवादिनामतिमदं मानैस्तथा युक्तिभि-
र्हत्वा तान्समुपादिशद् सुविपुलं धर्मं परं मोक्षदम्।
लोके दीनजनोपकारनिरतो मह्यं स विद्यानिधिः,
शुद्धं यच्छतु बोधिबीजमनिशं राजेन्द्रसूरिः प्रभुः ॥5॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

શ્રી નવકાર મહામંત્ર

णमो अरिहंताणं ॥
णमो सिद्धाणं ॥
णमो आयरियाणं ॥
णमो उवज्झायाणं ॥
णमो लोए सव्वसाहूणं ॥
एसो पंच नमुक्कारो ॥
सव्वपावप्पणासणो ॥
मंगलाणं च सव्वेसिं ॥
पढमं हवइ मंगलं ॥१॥
श्रीः ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥ श्रीः ॥

✣ સંવત ૧૯૨૬ માગશર સુદિ ૧૦ના રોજ ✣
શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્રસૂરિ મ.સા.ના સ્વહસ્તે લિખિત શ્રી નવકાર મહામંત્ર

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय परिच्छेद

अभिधान राजेन्द्र कोश : विशिष्ट परिचय

1. जैन कोश परम्परा
2. कोश साहित्य और अभिधान राजेन्द्र कोश
3. अभिधान राजेन्द्र कोश की उपादेयता
4. अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना का उद्देश्य एवं पृष्ठभूमि
5. अभिधान राजेन्द्र कोश का रचनाकाल एवं स्थान
6. अभिधान राजेन्द्र कोश का एकनिष्ठ परिचय
7. अभिधान राजेन्द्र कोश : स्वरुप एवं प्रकाशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय परिच्छेद

अभिधान राजेन्द्र कोश का विशिष्ट परिचय

विश्व में दो धाराएँ सर्वदा से प्रवाहमान रही हैं - श्रमण परम्परा और ब्राह्मण (वैदिक) परम्परा।[1] हम यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द से वर्ण व्यवस्था की ओर संकेत नहीं करता चाहते और न ही 'ब्राह्मण' के उस वाच्यार्थ का संकेत करना चाहते हैं जिसके अनुसार ऋषभदेव के समय व्रतादि में निरत लोगों को 'ब्राह्मण' शब्द से अभिहित किया जाता था, क्योंकि उस अर्थ में तो यदि कोई ब्राह्मण है तो जैनाचार का पालन करने वाला ही सच्चा ब्राह्मण है[2]। हमारा अभिप्राय यहाँ वैदिक परम्परा से हैं।

इस संसार में निसर्ग से ही संसार के चलने की पूरी की पूरी व्यवस्था चली आ रही हैं। इसमें सृष्टि और प्रलय का कोई प्रारंभिक बिन्दु नहीं है, परंतु अज्ञान के कारण प्रकृति के आश्चर्यों को देखकर अज्ञानियों ने इस निसर्ग के प्रारंभ और अन्त के बिन्दु भी निर्धारित किये हैं। कोई इसे ईश्वरकृत मानता है तो कोई अदृष्टकृत मानता है। जैन दर्शन कहता है कि 'इस निसर्ग का करने वाला कोई नहीं है, यह निसर्गत: ही स्वभाव सिद्ध है। संसार का प्रत्येक पदार्थ भाव-स्वभाव संसिद्ध है, और इसीलिए शाश्वत है। अशाश्वत है तो केवल संयोग, जिसके कारण कर्म संसृष्ट यह जीव दु:ख उठा रहा है।

संसार के सभी विचारकों ने दु:ख को हेय (छोडने योग्य) माना है। कुछ ही अज्ञ (मूर्ख) ऐसे हैं जो मधुलिप्त असिधार को चाटना चाहते हैं। इस दु:ख से बचने के लिए अपने स्वभाव की खोज-पहचान करने का प्रयास तो सभी ने किया है, परंतु वे मार्ग से भटक गये हैं और उन्होंने इस भटकाव में अनेक मिथ्या सिद्धांतों का प्रतिपादन कर दिया है, जो प्रारंभ में तो किंपाकफल के समान बहुत मधुर होते हैं परंतु अंत में विषवत् होते हैं। इन्ही सिद्धांतों में एक सिद्धांत है - 'शब्द संकेत' का सिद्धांत। कुछ लोगों ने शब्द को ही ब्रह्म मानते हुए नाद और बिन्दु से इस संसार की उत्पत्ति होना बताया है[3] तो कुछ दार्शनिकों ने इसे जड पदार्थ मानते हुए आकाश का गुण[4] अथवा प्रारंभक तत्त्व शब्दतन्मात्रा[5] माना है। न्याय दर्शन के अनुसार शब्द और अर्थ में जो संबंध है वह ईश्वर कृत है। इसे ये लोग शक्ति नाम से जानते हैं।[6]

यदि पातंजल महाभाष्य को देखा जाये तो वहाँ पर एक वचन आता है - "सिद्धे शब्दार्थसंबंधे"[7] अर्थात् शब्द और अर्थ का संबंध अनादि-अनंत है। यद्यपि अर्थ में संकोच-विस्तार इत्यादि अनेक प्रक्रियाएँ भी होती रहती हैं। इसी प्रकार शब्द में भी अनेक परिवर्तन होते रहते हैं, अत: शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है[8], परंतु एसा कोई शब्द नहीं रहता जिसका किसी वाच्यार्थ से संबंध न हो। जिनका वस्त्वर्थ नहीं भी हो, उनका ध्वन्यर्थ तो होता है अर्थात् कम से कम उस ध्वनि का तो वह बोध कराता ही है। जैसे 'अस्य' -यह कहने से सामान्य निर्देश करने वाले 'इदम्' शब्द के षष्ठी एकवचन 'अस्य' के वाच्यार्थ का बोध होता है। यदि इस अर्थ को भी न लिया जाये तो 'अस्य' का अर्थ 'अस्य' अकार अथवा अकार मात्र का षष्ठयन्त वाच्यार्थ तो प्राप्त होता ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द अनादि है, अर्थ अनादि है और शब्द और अर्थ का संबंध भी अनादि है। इसमें किसी भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, अन्यथा किसी भी नये गढे हुए शब्द के प्रयोग के पूर्व ईश्वर से पूछना पडेगा।

जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि शब्द है, उसका वाच्यार्थ है, और दोनों में होनेवाले संभावित परिवर्तन भी होते रहते हैं। यही 'स्याद्वाद' शब्द का अर्थ है। शब्दार्थ का संबंध लोक से सिद्ध होता है, ईश्वर से नहीं।[9]

जैन दर्शन भी शब्द को पदार्थ मानता है परंतु शब्द को आकाश का गुण नहीं मानता। शब्द तो पुद्गलवर्गणाओं के एक वर्ग भाषा वर्गणा का प्रकटीकरण मात्र है। पुद्गल से प्रारंभ होने के कारण शब्द पौद्गलिक है।[10] जिन लोगों ने स्पर्शशून्यत्वादि हेतु देकर शब्द को गुण सिद्ध किया है, वे साधारण जनता को तो भ्रमित कर सकते हैं, परंतु जिसमें थोडी सी भी सोचने की शक्ति है उसे तो भ्रमित नहीं कर सकते। शब्द के पुद्गलत्व की सिद्धि अभिधान राजेन्द्र कोश में यथावश्यक विस्तार समझायी गयी है।[11]

---

1. जैन आगम साहित्य: एक अनुशीलन, भूमिका, पृ. 1
2. कल्पसूत्र बालावबोध, अष्टम व्याख्यान - ले. श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि
3. शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च। - तर्कसंग्रह द्रव्यखण्ड
4. वही
5. तन्मात्रो गण: पञ्चतन्मात्राणीत्यर्थ:।
   "भूतादेस्तन्मात्र: स तामसस्तैजसादुभयम्।"
   - सांख्यकारिका 24 पर कृष्णा व्याख्या - पं. ज्वालाप्रसाद गौड
6. अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य, इतीश्वर संकेत: शक्ति:।
   - तर्कसंग्रह:, शब्द परिच्छेद।
7. पातञ्जल महाभाष्य, पश्पशाह्निक, जातिव्यक्तिपदार्थ-निर्णयाधिकरण में आक्षेपसाधक भाष्य
8. प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोर्थ:, तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते ॥ -वाक्यपदीय 2/136
9. सिद्धि: स्याद्वादात् ॥1/1/2; लोकात् ॥1/1/3 - सिद्धहेमशब्दानुशासन
10. पुद्गलभाषावर्गणापरमाणुभिरारब्ध: पौद्गलिक: शब्द इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत्।
    - अ.रा.भा. 1-उपोद्घात पृ.11, शब्दाकाश गुणत्वखण्डनम्, एवं भाग 7, 'सद्' शब्द
11. अ.रा.भा. 1, उपोद्घात पृ. 11, शब्दाकाशगुणत्वखण्डनम्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस शब्द के अर्थ संकेत का साधन ईश्वर शक्ति या ईश्वर कृत नहीं है यह बात निम्नलिखित श्लोक से भी सिद्ध हो जाती है-

''शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-
कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति,
सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥''[12]

इन शक्तिग्रहों में कहीं पर भी ईश्वर का नाम नहीं आया, हाँ, इतना अवश्य है कि पदार्थ का साक्षात्कार करने वाले आप्त के वाक्य से अवश्य शक्तिग्रह होता है परंतु वह आप्त ऐसे बाध्य नहीं करता कि 'हे शब्दप्रयोक्ताओ ! यह शब्द है, और यह इसका अर्थ है, आप लोग इस शब्द का इस अर्थ के लिए ही प्रयोग करो।' वह तो केवल प्रत्यक्ष किये हुए शब्दार्थ-संबंध को ही बताता है। कोशकार भी सिद्ध-शब्दार्थ-संबंध के बारे में ही लिखता है। वह नियम नहीं करता कि मेरे कोश में आये हुए शब्दों का प्रयोग अमुक अर्थों में ही किया जाय, वह तो केवल प्रचलित, अप्रचलित, गूढ, भिन्न-भिन्न शब्दार्थों को सूचित मात्र करता है।

कोश की महिमा बताती हुई एक उक्ति प्रचलित है-

''कोशश्चैव महीपानां, कोशश्चैव विदुषामपि ।
उपयोगेन महानेष क्लेशस्तेनविना भवेत् ॥''[13]

अर्थात् जैसे राज्य संचालन के लिये राजा के लिये मुद्राकोष आवश्यक होता है उसी तरह शब्द साधना करने वालों के लिये शब्दकोश अत्यावश्यक होता है। क्योंकि निरुक्ति और व्युत्पत्ति से प्राप्त शब्द किसी अर्थ विशेष में रुढ हो जाने से व्याकरण का क्षेत्र सीमित हो गया। इस अवस्था में कोश ही एक एसा उपाय है, जो सिद्ध, असिद्ध, यौगिक, रुढ या योगरुढ आदि सभी प्रकार के शब्दों का संकेत ग्रहण कर सकता है।[14]

अतः कोश ज्ञान शब्दों के संकेत को समझने के लिये अत्यावश्यक है। साहित्य में शब्द और शब्दों के उचित प्रयोग की जानकारी के अभाव में रसास्वादन की प्राप्ति असंभव है। अतएव शब्दों के अभिधेयबोध के लिये कोश व्याकरण से भी अधिक उपयोगी है। कोश द्वारा अवगत वास्तविक वाच्यार्थ से ही लक्ष्य एवं व्यंग्यार्थ का अवबोध होता है।[15] अतः आवश्यकता को देखते हुए आचार्योंने लोक-कल्याण के लिये कोशों का प्रणयन किया।

प्रथम कोश 'निघण्टु' का प्रादुर्भावः-

इतिहासकारों के अनुसार यास्क-निरुक्त से भी पूर्व सर्वप्रथम कोश के रचयिता महर्षि कश्यप हुए।[16] उनके इस कोश का नाम 'निघण्टु' था।[17] यास्क-निरुक्त की भूमिकाः प्रथम अध्यायः प्रथम पाद[18] देखने से इस बात की पुष्टि होती है कि 'निघण्टु' शब्दों के वे कोश थे जिनमें वैदिक शब्दों का संग्रह किया जाता था।[19] यह निरुक्त वेद के उन कठिन शब्दों का पांच प्रकार से निर्वचन करता था जिससे अर्थ को स्पष्ट समझने में सहायता मिल सके।[20] ये निर्वचन इस प्रकार से हैं - 1 वर्णागम 2. वर्णविपर्यय 3. वर्णविकार 4 वर्णनाश और 5 धातु का अर्थ विशेष से संबंध।[21]

कोशलेखन की प्रारंभिक स्थितिः-

वैदिक निघण्टुओं पर निरुक्त लिखने की प्रक्रिया यास्क निरुक्त तक ही सीमित रह गयी परन्तु उस समय प्रचलन में आये कठिन शब्द जो कि लौकिक जनों द्वारा बहुशः प्रयुक्त होते थे, कालान्तर में दुरुह हो गये अथवा उनके अर्थ में विस्तार हो गया या परिवर्तन हो गया। इसके लिये कवियों एवं कोश विद्या के ज्ञाताओंने अनेकों शब्दों का संग्रह करके एक अर्थ में प्रयुक्त अनेक पर्यायवाची शब्दों को एक साथ रखने की पर्यायकोश की विधा में कोश लिखे। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने एक अर्थ पर एक शब्द के अनेक पदार्थों के वाचक होने की स्थिति में अर्थ निर्धारण के लिये अनेकार्थकोश लिखना प्रारंभ किया। यद्यपि एक अक्षरवाले शब्द यदा-कदा ही प्रयोग में आते थे और एकाक्षर शब्दों का प्रायः एक अर्थ में ही प्रयोग होता है, फिर भी, कभी-कभी जो लोग व्युत्पत्ति नहीं जानते और केवल कोश के आश्रय से ही अर्थ समझते हैं उनके लिये एकाक्षर कोश की आवश्यकता होती है। उदाहरण - 'कुंद' = यह शब्द एक पुष्प विशेष का वाचक है और प्रसिद्ध है। इसके विपरीत 'कंद' शब्द उच्चारण और अक्षरविन्यास में 'कुंद' के समान है और 'कंद' शब्द वनस्पति के तने के रुपान्तर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परंतु जब एकाक्षर कोश से इसकी व्युत्पत्ति समझी जाती है तब इसका अर्थ मेघ होता है। यथा - कं[22] = जलम् - द = ददाति इति कंदः।

ये एकाक्षर कोश कवियों के रचनाकार्य में उपयोगी शब्दों के संग्रह होते हैं। इनमें कोशकारों की अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार शब्दों का भिन्न-भिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया हुआ होता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये कुछ कोशकारों ने अव्यय कोशों का भी निर्माण किया।

प्राचीन कोश साहित्य का इतिहास और परम्पराः-

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कोश निर्माण परम्परा ईसा से भी पूर्व में विद्यमान है।[23] भिन्न-भिन्न रचनाकारों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियों का अवलंबन लेकर आवश्यकतानुसार एवं रुचि के अनुसार कोशों का निर्माण किया।

12. शब्दशक्तिप्रकाशिका
13. श्रीमज्जयन्तसेन सूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, विश्लेषण, पृ 29
14. अभिधान चिंतामणि नाममाला, प्रथमकाण्ड, श्लोक 1
15. अभिधान चिंतामणि नाममाला, प्रस्तावना पृ. 8
16. जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथः विश्लेषण, पृ. 29 -डो. रुद्रदेव त्रिपाठी
17. वही
18. ऊँ समाम्नाय समाम्नातः ..निघण्टवः कस्मात् निगमा इमे भवन्ति..यास्क निरुक्त 1.1.1
19. वही
20. देखिये-यास्क निरुक्तः भूमिका - उमाशंकर ऋषि
21. यास्क निरुक्त, भूमिका, द्वितीय अध्याय, पृ 34
22. देखिये - एकाक्षर कोश; कं सीर्षेऽप्सु सुखे....। अनेकार्थसंग्रह 1/5
23. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथः विश्लेषण, पृ 29, -डो. रुद्रदेव त्रिपाठी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन इतिहास के अनुसार यह कोश साहित्य जैनों के बारहवें दृष्टिवाद अंगसूत्र के अन्तर्गत आये सत्प्रवाद पूर्व[24] एवं विद्यानुवाद के 500 महाविद्याओं में अक्षरविद्या के रुप में माना गया है।[25]

संस्कृत साहित्य की रचनाओं में विकीर्ण रुप से यत्र तत्र निर्दिष्ट अनेक कोश ग्रंथों के नाम उपलब्ध होते हैं। यथा भागुरीकृत त्रिकाण्ड कोश, वाचस्पतिकृत शब्दार्णव, विक्रमादित्य कृत 'संसारावर्त', वररुचिकृत 'नाममाला', व्याडिकृत 'उत्पलिनी कोश'। इसी प्रकार आचार्य आपिशलि और शाकटायन ने भी कोश ग्रंथों की रचना की थी।[26] इसके अतिरिक्त और भी कोश हो सकते हैं जो कि वर्तमान में उपलब्ध सभी कोशों के पूर्व रचे गये थे। किन्तु उपलब्ध कोशों में प्रथम कोश के रचयिता अमर सिंह को माना जाता हैं।

प्रथम कोशकार : अमरसिंहः-

श्री नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार यह अमरसिंह बौद्ध धर्मावलम्बी थे। कुछ विद्वान इन्हें जैन भी मानते हैं।[27] विख्यात संस्कृत अमरकोश जैन कवि अमरसिंहजी द्वारा निर्मित है। कुछ प्रमाणों के अनुसार ये धनंजय के साले थे, (अमरसिंह को यदि भक्तामर स्त्रोत रचयिता आचार्य मानतुङ्गसूरि के गृहस्थ-शिष्य महाकवि धनंजय का साला माना जाये तो अमरसिंह का समय विक्रम की 7 वीं शती माना जायेगा।) प्रचलित अमरकोश में से जैन प्रमाण विषयक कई श्लोकों को हटा दिया गया है और मंगलाचरण के शांतिनाथ-वंदना के श्लोक भी हटा दिये गये हैं।

अमरकोशः-

पण्डित अमरसिंह रचित यह संस्कृत कोश अमरकोश के नाम से प्रसिद्ध है, इसका दूसरा नाम 'नामलिङ्गानुशासन' है। यह कोश पर्यायकोश के रुप में लिखा गया है। संस्कृत जगत में यह कोश सभी जनों में प्रसिद्ध है। इसकी उपयोगिता इसी से सिद्ध हो जाती है कि इसकी अब तक लगभग 50 टीकाएँ हो चुकी है।[28]

अन्य कोश परम्पराः-

अमरसिंह के इस कोश के बाद पं. शाश्वतरचित 'अनेकार्थसमुच्चय' हर्षवर्धनरचित 'लिङ्गानुशासन'; पुरुषोत्तमदेवरचित 'त्रिकाण्डशेषकोश', 'हारावली', 'वर्णमाला एकाक्षर कोश' और द्विरुप कोश; वामनकृत 'लिङ्गानुशासन' और ऐसे ही अनेक और भी कोश सातवीं शती में लिखे गये।[29]दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में हलायुध का 'अभिधानरत्नमाला' यादव प्रकाश का 'वैजयंती' और भोजराज का 'नाममालिका' नामक कोश प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।[30] बारहवीं शताब्दी में कलिकालसर्वज्ञ जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरिने 'अभिधान-चिंतामणिनाममाला', निघण्टुशेष और एक विशाल अनेकार्थ संग्रह कोश की रचना की।[31] इसके अतिरिक्त प्राकृत भाषा के कोश ग्रंथो में अभिवृद्धि करते हुए उन्होंने 'देशी नाममाला' की रचना की।[32] इसमें एसे शब्दों का संग्रह किया गया है जिनका अर्थ प्रसिद्धि के आधार पर ही समझा जा सकता है।

24. जैन आगम साहित्यः एक अनुशीलन पृ. 29, 31, 35
25. श्रीमद् जयन्तसेन सूरि अभिनंदन ग्रंथ-विश्लेषण पृ. 31
26. श्रीमद् जयन्तसेन सूरि अभिनंदन ग्रंथ-विश्लेषण पृ. 29
27. अभिधान चिंतामणि नाममाला, प्रस्तावना पृ. 9
28. देखिये अमरकोश, प्रस्तावना
29. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथः विश्लेषण, पृ 30 -डो. रुद्रदेव त्रिपाठी
30. वही
31. शासनप्रभावक श्रमण भगवन्तो, भाग 1 में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य का जीवनवृत्त
32. वही

जय जय नाणदिवायर ! परोवयारिक्कपच्चल । मुणिंद !
गुरुकरुणारससायर !, नमो नमो तुज्झ पायाणं ।।1।।
दारिद्दअमुद्दसमुद्दमज्झनिवडंतजंतुपोयाणं ।
गुरुकस्सगारससायर ! नमो नमो तुज्झ पायाणं ।।2।।
सग्गापवग्गमग्गा-णुलग्गजणसत्थवाहपायाणं ।
गुरुकस्सगारससायर ! नमो नमो तुज्झ पायाणं ।।3।।
चक्कंकुसझसवरकल-सकुलिसकमलाइलक्खणजुयाणं ।
गुरुकस्सगारससायर ! नमो नमो तुज्झ पायाणं ।।4।।

अ.रा.पृ. 7/200

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. जैन कोश परम्परा

जैनागमों के लेखन का कार्य वीर निर्वाण सं 980 या 993 में संपन्न हुआ, अर्थात् वीर निर्वाण बाद 980 वर्ष में 45 आगम एवं अन्य जैन साहित्य लिपिबद्ध हुआ।[1] उस समय यह साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में लिखा गया था जो कि उस समय की प्रचलित लोक भाषा थी, इसलिए अर्थ समझने के लिए कोश ग्रंथों की आवश्यकता नहीं होती थी, परंतु दार्शनिक क्रांति के युग में जब जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर लेखन कार्य प्रारंभ किया, उस समय कोश ग्रंथों की आवश्यकता भी हुई।[2] इसी बात को दृष्टि में रखकर अल्प क्षयोपशमवाले जीवों के कल्याण के लिये जैनागमों का अर्थ समझने के लिए जैन कोशकारों द्वारा जैन कोश परम्परा प्रारंभ हुई, जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

जैन कोश साहित्य एवं कोशकारों का संक्षिप्त परिचय:-

संस्कृत अमरकोश (नामलिङ्गानुशासन) के कर्ता अमरसिंह को यदि जैन मान लिया जाये तो, प्रथम जैन कोशकार होने का श्रेय पण्डित अमरसिंह को है।[3] आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन एक जैनाचार्य थे जो कि प्रसिद्ध वैयाकरण भी थे, कोशकार के रुप में उनका नाम भी लिया जाता है, परंतु संप्रति उनकी रचना उपलब्ध नहीं है।[4] उपलब्ध जैन कोशों में श्री धनञ्जयकृत 'अनेकार्थ नाममाला', 'अनेकार्थ निघण्टु' एवं 'एकाक्षरी कोश' कोशरचनाओं में प्रथम माने जाते हैं।[5] अन्य भी अनेक जैन कोशकार हुए, जिनमें से कुछ का यहाँ पर क्रमशः संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

श्री धनञ्जय:-

'स्याद्वाद विद्यापति'[6] बिरुद के धारक श्री धनञ्जय महाकवि थे। अनेकार्थनाममालादि के साथ-साथ इन्होंने द्विसंघानमहाकाव्य और सधवपाण्डवीय काव्य की भी रचना की थी। 'सुदृष्टतरंगिणी' के आधार पर यह ज्ञात होता है कि श्री धनञ्जय एक जैन श्रावक थे। ये अमरकोशकार अमरसिंह के साले थे। द्विसंघानमहाकाव्य के अंतिम पद्य के अनुसार इनकी माता का नाम श्रीदेवी और पिता का नाम वसुदेव था। उनके विद्यागुरु का नाम दशरथ था।[7] महाकवि धनञ्जय के द्वारा एक शब्द से अनेक शब्द बनाने की योजना प्रारंभ की गयी थी, -'धर' शब्द के योग से पृथ्वीवाचक शब्द पर्वतवाचक बन जाते हैं - भूधर, कुधर इत्यादि।

कवीश्वर धनपाल : जीवन परिचय:-

'पाइयलच्छी नामवाला' के कर्ता कवीश्वर धनपाल के पिता का नाम सर्वदेव था। और माता का नाम सोमश्री था। इनके एक ओर भाई शोभन थे जिन्होंने बाद में जैन दीक्षा ली थी, उद्भट विद्वान् थे। कवीश्वर धनपाल ब्राह्मण कुल में जन्मे थे और धारानगरी में भोजराज के पुरोहित थे।[8] इनके छोटे भाई जो कि जैन दीक्षा लेने के बाद शोभन मुनि के नाम से प्रख्यात हुए। एक बार धारा नगरी में आये और कवि धनपाल को प्रतिबोधित किया। तब कवि धनपाल ने जैन धर्म अंगीकार किया।[9]

जैन परम्परानो इतिहास भाग-2 के अनुसार कवीश्वर धनपाल दीर्घायु थे। इसके अनुसार 'पाइयलच्छी नाममाला' की रचना संवत् 1029 में की गयी थी। इन्होंने संवत् 1081 से 1084 के आसपास 'तिलकमञ्जरी' की रचना की और इसके बाद ये साचोर (राजस्थान) तीर्थ में भी अनेक वर्षों तक रहे और वापिस धारा (म.प्र.) आये थे। इस प्रकार जैन परम्परानो इतिहास भाग-2 के लेखक त्रिपुटी महाराज (बंधु त्रिपुटी-दर्शन-ज्ञान-न्याय विजय महाराज) ने संभावना के आधार पर इनका जन्म 1010 और स्वर्गवास संवत् 1090 के बाद होना सूचित किया है।[10]

रचनाएँ:-

कवीश्वर धनपाल ने पाइयलच्छी नाममाला नामक प्राकृतकोश, धनंजय कोश (संस्कृत) के अतिरिक्त अन्य साहित्य की भी रचना की थी।[11] यथा-

(1) तिलकमञ्जरी काव्य
(2) आचार्य शोभनकृत चतुर्विंशति पर टीका
(3) सावगधम्म पगरण
(4) उषभपंचासिया
(5) वीर थुई - (विरोधालंकारमय) स्तुति
(6) वीर स्तुति (संस्कृत-प्राकृत स्तुति)
(7) सत्यपुरीयमहावीरोत्साह
(8) सूराचार्यकृत नाभेय-नेमि द्विसंधान काव्य का संशोधन

प्राकृत कोशपरम्परा के आद्य कोशकर्ता:-

कवीश्वर धनपाल :-

1444 ग्रंथो के रचयिता, याकिनी महत्तरा के धर्मपुत्र आचार्य हरिभद्रसूरि[12] ने यह स्पष्ट किया है कि जो चारित्र-पालन करने के इच्छुक बालक, स्त्री, अनपढ और मूर्ख व्यक्ति हैं तथा राज्यकार्य

1. शासनप्रभावक श्रमण भगवंतो, पृ. 167
2. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ - विश्लेषण पृ. 31
3. अभिधान राजेन्द्र विशेषांक : शाश्वत धर्म, पृ. 67 - लेखक - इन्द्रमल भगवानजी
4. व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ....-ले. युधिष्ठिर मीमांसक
5. शाश्वत धर्म : विशेषांक, फरवरी 1990 पृ. 67
6. धनञ्जय नाममाला, प्रस्तावना
7. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ : विश्लेषण पृ. 30, 32
8. जैन परम्परानो इतिहास, भाग 2, पृ. 339
9. वही पृ. 340-341
10. वही पृ. 350
11. वही पृ. 351, 352, 353
12. समराइच्चकेवली चरित्र (समराइच्चकहा), प्रस्तावना, श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ : विश्लेषण पृ. 32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में रत हैं उन्हें भी भगवान का उपदेश समझ में आ सके, इसलिए भगवान् (तीर्थकरों) के उपदेश अर्धमागधी भाषा में है। सभी का बराबर उपकार हो, इसलिए सर्वज्ञ देव के द्वारा जैन सिद्धांतो का उपदेश प्राकृत भाषा में किया गया है।[13] कवीश्वर धनपालने प्राकृतभाषा के शब्दों और देशी शब्दों का संकलन करके 279 गाथाओं में 998 शब्दों का बोध कराने वाली '**पाइयलच्छी नाममाला**' नामक प्राकृत कोश की रचना की। इस कोश में उन शब्दों के संस्कृत रुप, संस्कृत व्युत्पत्ति और साथ ही साथ प्रत्ययों की योजना एवं उनके अर्थ दिये गये हैं।[14]

यह कोश **प्राकृत भाषा के कोशों में प्रथम स्थान पर है।[15] इस प्रकार श्री धनपाल - प्राकृत कोश परम्परा के आद्यकर्ता** के रुप में गौरवान्वित हैं। **इस कोश पर कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरिने प्रामाणिकता की मुहर** लगाई है और उन्होंने '**व्युत्पत्तिर्धनपालतः**' कहकर महाकवि धनपाल का सम्मान किया है[16]। भोजराजाने उनको '**सिद्धसारस्वत**' और '**कूर्चालसरस्वती**' ये विरुद दिये थे।[17]

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि[18]:-

जैन कोशकारों की परम्परा में महाकवि धनंजय और श्री धनपाल के बाद आचार्य हेमचन्द्रसूरि का नाम स्मरण हो आता है। **आचार्य हेमचन्द्रसूरि के सामने सभी सम्मान, उपाधियाँ फीकी पड जाती है। उस समय का ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं है जिस पर हेमचन्द्राचार्य का अधिकार न रहा हो। जिस विषय पर उनकी लेखनी चली है उन विषयों की रचनाएँ आज भी आधिकारिक एवं प्रामाणिक मानी जाती हैं।** धंधुका (गुजरात) ग्राम के मोढ जाति के चाचिग और पाहिणीदेवी के पुत्ररत्न चांगदेव का जन्म विक्रम संवत् 1145 की कार्तिक पूर्णिमा के दिन हुआ था। मात्र 5 वर्ष की अल्प आयु में आचार्यश्री देवचन्द्रसूरि के पास आकर 8 वर्ष की वय में दीक्षित होकर साधु जीवन में मुनि सोमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। तत्पश्चात् आचार्य पदारुढ होने पर श्री हेमचन्द्राचार्य के नाम से विख्यात हुए।

आचार्य हेमचन्द्रसूरिने श्रीसिद्ध-हेमचन्द्र शब्दानुशासन नामक मौलिक व्याकरण ग्रंथ की रचना की, जिसमें सभी मत-मतांतरों का समावेश है और किसी भी सिद्धांत के विषय में कोई भी वैकल्पिक मतभेद नहीं है। इस व्याकरण ग्रंथ के पूरक साहित्य के रुप में उन्होंने विशाल कोश साहित्य का निर्माण किया। इस कोश साहित्य में पर्यायकोश के रुप में 'अभिधानचिंतामणिनाममाला', निघण्टुशेष और देशी नाममाला तथा अनेकार्थ कोश के रुप में अनेकार्थ संग्रह की रचना की गयी हैं।

अभिधानचिंतामणीनाममाला[19]:-

अभिधान चिंतामणी नाममाला का संस्कृत शब्दों के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी के लिये अमरकोश की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व है। इसमें समानार्थक शब्दों का संग्रह किया गया हैं। इस पद्यमय कोश में कुल छः काण्ड हैं।

इसके प्रथम देवाधिदेव काण्ड में 86 श्लोक, द्वितीय देव काण्ड में 250 श्लोक, तृतीय मर्त्य काण्ड में 598 श्लोक, चतुर्थ तिर्यक् काण्ड में 423 श्लोक, पंचम नरक काण्ड में 7 श्लोक, और षष्ठ सामान्य काण्ड में 108 श्लोक हैं।

इस प्रकार इस कोश में कुल 1542 श्लोक है। हेमचन्द्राचार्य ने इसमें रुढ, यौगिक और मिश्र शब्दों के पर्यायवाची शब्द लिखे हैं। आचार्य ने मूल श्लोकों में जिन शब्दों का संग्रह किया है, उनके अतिरिक्त 'शेषाश्च' कहकर कुछ अन्य शब्द जो मूल श्लोको में नही आ सके हैं, को स्थान दिया है। इसके पश्चात् स्वोपज्ञवृत्ति में भी छूटे हुए शब्दों को समेटने का प्रयास किया है। इस प्रकार इस कोश में उस समय तक प्रचलित और साहित्य में व्यवहृत शब्दों को स्थान दिया गया हैं।

अभिधानचिंतामणीनाममाला में शब्दो के वर्गीकरण की योजना अभिनव दिखाई देती है। इसका अवलोकन करने से आचार्य की कला का पता चलता है कि कोशग्रंथ के माध्यम से भी जैनत्व का प्रचार एवं संरक्षण कैसे किया जा सकता है? इस कोश में सर्वप्रथम देवाधिदेव काण्ड की योजना की गयी है। उसमें भी सर्वप्रथम अर्हन् (अरिहंत) देवाधिदेव के पर्यायवाची नाम बताये गये हैं। यहाँ पर तीर्थंकरों के नाम में एक से अधिक नाम वाले तीर्थंकरो की सूची, भूत और भविष्य में होने वाले 24-24 तीर्थंकरों के नाम, उनके गणधरों के नाम एवं उनके लांछन (चिह्न), जन्मभूमियाँ, अंतिम केवली, श्रुतकेवली, इत्यादि का विस्तारपूर्वक परिचय दिया गया है। इस कोश में जैन सिद्धांत के अनुरुप देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति, एवं नरकगति के अनुसार विषयवस्तु का विभाजन किया गया हैं। तत्पश्चात् सामान्य काण्ड में त्रिलोक की रचना से संबंधित पदार्थो के पर्याय नामों और अव्यय शब्दों का संग्रह किया गया हैं। इस प्रकार यह कोश जैन सिद्धांतो के अनुरुप लिखा गया सर्वप्रथम कोश है।

अभिधान चिंतामणि कोश अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें पर्यायवाची शब्दों के साथ ही भाषा-संबंधित बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित हैं। नवीन और प्राचीन शब्दों का अधिकाधिक संग्रह करने के साथ ही आचार्य ने इनमें समन्वय भी स्थापित किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस कोश का बडा महत्त्व है। आचार्य ने इस ग्रंथ की 'स्वोपज्ञवृत्ति' में अपने पूर्ववर्ती 56 ग्रंथकार एवं 31 ग्रंथों का उल्लेख किया है। भागुरि तथा व्याडि के संबंध में इस कोश से बडी जानकारी प्राप्त हो जाती है। जहाँ शब्दों के अर्थ में मतभेद उपस्थित होता है वहाँ आचार्य अन्य ग्रंथ एवं ग्रंथकारों के वचन उद्धृत कर उसका स्पष्टीकरण करते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से एवं भाषा की विभिन्न दृष्टियों से जानकारी प्राप्त करने के लिये कोश में आये हुए विभिन्न ग्रंथ एवं ग्रंथकारों के वचन पूर्ण सक्षम है। इस कोश की दूसरी विशेषता यह है कि आचार्यश्रीने धनंजय के समान शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दों के बनाने का विधान किया है किन्तु उसमें तत्कालीन प्रचलित एवं प्रयुक्त कविरुढ शब्दों को ही मान्य किया है।

13. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथः विश्लेषण पृ. 32
14. अभिधान राजेन्द्र कोश : प्रथम भाग : प्रस्तावना - पृ. 4, पाइयलच्छी नाममाला
15. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ : विश्लेषण पृ. 32
16. अभिधान राजेन्द्र कोश : प्रथम भाग : प्रस्तावना - पृ. 4, अभिधानचिन्तामणिनाममाला, प्रथम काण्ड
17. जैन सत्यप्रकाश, दीपोत्सवी विशेषांक सन् 1998, पृ. 130
18. Medical Science as Known to Acharya Hemchandra Suri-Ch.I
19. अभिधान चिन्तामणि नाममाला ग्रंथ एवं उसकी प्रस्तावना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह कोश बडा मूल्यवान है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि के द्वारा संकलित शब्दों पर प्राकृत, अपभ्रंश एवं अन्य देशी भाषाओं के शब्दों का पूर्णत: प्रभाव लक्षित होता है। इसमें अनेक ऐसे शब्द देखने को मिलते हैं जो अन्य कोशों में नहीं मिलते। इस कोश की स्वोपज्ञवृत्ति से शब्दों में अर्थ परिवर्तन किस प्रकार होता है तथा अर्थविकास की दिशा कौन सी रही है, यह स्पष्ट होता है।

इस प्रकार विभिन्न दृष्टियों से इस कोश का अवलोकन करने से यह स्पष्ट होता है कि **अभिधान चिंतामणि नाममाला (स्वोपज्ञवृत्ति सह) संस्कृत साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कोश है।**

शेष-नाममाला:-

अभिधान चिंतामणिनाममाला के पूरक ग्रंथ के रुप में 207 श्लोक में आचार्य ने शेष नाममाला की रचना की। इसमें प्रथम एवं द्वितीय काण्ड में 90 श्लोक, तृतीय काण्ड में 65 श्लोक, चतुर्थ काण्ड में 40.5 श्लोक, एवं पांचवे तथा छठे काण्ड में 11.5 श्लोक हैं। इसे अभिधानचिंतामणिनाममाला का परिशिष्ट भी कहते हैं। इसका प्रकाशन लिङ्गानुशासन और निघण्टु शेष के साथ ही झवेरी हीराचंद कस्तूरचंद, गोपीपुरा सुरत (गुजरात) से हुआ है।[20]

अनेकार्थ संग्रह:-

कोश ग्रंथो की रचना की दूसरी विधा में आचार्य ने 'अनेकार्थ संग्रह' लिखा। इसमें सात काण्ड हैं, और 1930 श्लोक है। ग्रंथ के नाम के अनुसार इसमें एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। इसकी काण्डयोजना अभिधानचिंतामणिनाममाला के अनुसार है, परंतु शब्दों का वर्गीकरण एक स्वर से प्रारंभ कर छ: स्वरवाले तक के शब्दों को वर्गीकृत कर नये स्वरुप में स्थापित किया गया है। प्रत्येक काण्ड में शब्दों के समायोजन में स्वर और व्यंजन के क्रम को भी लक्ष में रखा गया है और साथ ही अंतिम व्यंजन का भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट करते समय मुख्य शब्द के प्रथमा एकवचन का अपने-अपने लिङ्ग के साथ निर्देश किया गया है, जिसमें लिङ्गभेद के कारण अर्थ-भेद स्पष्ट समझ में आता है। सप्तम काण्ड में अव्यय शब्दों के अनेकार्थत्व का विवरण दिया गया है। इस प्रकार अनेकार्थ संग्रह में 1930 श्लोकों में एक विशाल शब्दराशि का संग्रह किया गया हैं।

आचार्य महेन्द्रसूरिने इस पर वृत्ति लिखकर प्रकाशित करवाई हैं। अनेकार्थ संग्रह चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से ईस्वी सन् 1929 में प्रकाशित हुआ है।[21]

देशी नाममाला:-

कोश साहित्य की पूर्णाहुति के एक भागरुप आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने देशी नाममाला की रचना की। देशी नाममाला के अंत में आचार्य ने लिखा है :- उन्होंने व्याकरण के परिशिष्ट के रुप में संपूर्ण कोश साहित्य की रचना की। देशी नाममाला शब्दानुशासन के आठवें अध्याय (प्राकृत) का परिशिष्ट हैं।

देशी नाममाला में वर्णों के अनुक्रम से 783 गाथाओं में 3978 शब्दों का संग्रह किया है।[22] इसमें तत्सम, तद्भव और संशययुक्त व्युत्पत्तिवाले प्राकृत शब्द दिये गये हैं और उनका अर्थ स्पष्ट किया गया हैं।

इस कोश के आधार पर आधुनिक भाषाओं के शब्दों की साङ्गोपांग आत्म कहानी लिखी जा सकती हैं। इस कोश में उदाहरण के रुप में आयी हुई गाथाएँ साहित्यिक दृष्टि से अमूल्य हैं, इससे कोश में आये हुए शब्दों का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि देशी नाममाला में जिस शब्द का अर्थ व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति से या शब्दकोश से समझ में न आ सके और जो शब्द प्रचलित (अर्थ की दृष्टि से प्रख्यात) न हों, उन शब्दों के भी अर्थ लक्षणाशक्ति से निकालकर उदाहरण सहित दिये हैं।

श्री धनपाल के 'पाइयलच्छी नाममाला' के बाद देशी नाममाला का यह संग्रह अद्वितीय है। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी इस कोश का बहुत बडा मूल्य है। इसमें संकलित शब्दों से बारहवीं शती की अनेक सांस्कृतिक परम्पराओं का ज्ञान होता है।[23]

निघण्टुशेष:-

अभिधान चिंतामणि नाममाला के वानस्पतिक द्रव्यों के पर्याय संकलन के पूरक रुप में आचार्यश्रीने पृथक् से कोश ग्रंथ की आवश्यकता का अनुभव किया और इसकी पूर्ति के लिये 'निघण्टुशेष' की रचना की। और यही कारण है कि इसके शीर्षक में 'शेष' शब्द जुडा हुआ है।

निघण्टु शेष में छ: काण्डों में कुल 396 श्लोक हैं। काण्ड के नाम आधुनिक वानस्पतिक विज्ञान की आकारिकी के अनुरुप क्रमश: वृक्ष, गुल्म, लता, शाखा, तृण, एवं धान्य रखा है।

निघण्टुशेष में लेखन की योजना मौलिक है। इसमें उत्पत्तिभेद और प्रयोगभेद से भी सभी वनस्पतियों का वर्गीकरण करने का सिद्धांत उपपादित किया गया है। वैद्यक शास्त्र की दृष्टि से यह कोश बहुत उपयोगी है।[24] डो. सन्तलाल द्विवेदीने सन् 1999 में पूना विश्वविद्यालय में इस ग्रन्थ पर पीएच.डी. स्तर का शोधकार्य प्रस्तुत किया है।

आचार्य जिनभद्रसूरि:-

ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आचार्य जिनभद्रसूरि का जन्म विक्रम संवत् 1450 में, दीक्षा वि.सं. 1461 में, आचार्य पद वि.सं. 1475 के माघ सुदि पूर्णिमा को भणसोल में और स्वर्गवास वि.सं. 1514 के माघ वदि 9 को कुंभलमेर में हुआ था।

उनके आचार्य पद के समय आचार्य सागरचंद्र ने (1) भादो नाम (2) भणसोल (भाणसोल) गाम (3) भणसाली गोत्र (4) भद्रा करण (5) भरणी नक्षत्र (नक्षत्र में एसी शंका है कि माघ सुदि 15 को कदापि भरणी नक्षत्र नहीं ही होता) (6) भद्रसूरि नाम और (7) भट्टारक पद - ये सात भकार मिलाये थे। उनके गुरु का नाम आचार्य सागरचंद्र सूरि था।[25]

---

20. Medical Science as Known to Acharya Hemchandra Suri-Part-I Page 40
21. वही
22. वही पृ. 42
23. Medical Science as Known to Acharya Hemchandra Suri-Part-I Page 40
24. A Critical Study of Nighantushesha - Dr. Santlal Dwivedi
25. जैन परम्परा नो इतिहास, भाग 2, पृ. 630

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवर्ग नाममाला:-

आचार्य जिनभद्रसूरि ने 'अपवर्गनाममाला' नामक नाम शब्दों के एक आंशिक शब्दकोश की रचना की थी जिसमें कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों का संग्रह किया गया हैं।

इसके अलावा आचार्य जिनभद्रसूरि ने जिणसत्तरि (गा. 220) और द्वादशांगीपदप्रमाणकुलक (11.29) की रचना की। इन्होंने गिरनार, चित्तौड, मंडोवरादि में प्रतिष्ठा एवं मांडवगढ, जैसलमेर, जालोर, पाटण, खंभात, नागोर आदि नगर में ज्ञानभंडार बनवाये थे। उन्होंने संसार को अपने शिष्य-प्रशिष्यों में 18 विद्वानों की आचार्य, उपाध्याय, पंन्यासादि के रुप में भेट दी।[26]

आचार्य पद्मनंदि:-

तेरहवीं शती के ही जैनाचार्य श्री पदमनंदि ने वैद्यकविद्या पर एक निघण्टु नामक कोशग्रंथ की रचना की थी।[27]

आचार्य जिनेश्वरसूरि एवं आचार्य बुद्धिसागरसूरि:-

इन दोनों आचार्यों का गृहस्थ नाम क्रमश: श्रीधर और श्रीपति था। ये दोनों सहोदर ब्राह्मण पुत्र थे। इन्होंने श्रेष्ठी लक्ष्मीधर की प्रेरणा से धारा नगरी (म.प्र.) में सुविहित गच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि के पास जैन दीक्षा ग्रहण की, और क्रमश: आचार्य पद प्राप्त किया। आचार्य बनने के पश्चात् प्राकृत भाषा में 40 उपदेशात्मक कथा प्रमाण कथानककोश की रचना वि.सं. 1108 में डीडवाणा (गुजरात) नगर में की थी। इस कोश के अलावा इन्होंने लीलावती कथा, पंचलिंगी प्रकरण, षट्स्थान प्रकरण, प्रमालक्ष्मवृत्ति, अष्टकप्रकरण वृति, चैत्यवंदन टीका आदि ग्रंथों की रचना की थी।[28]

आचार्य महाक्षपणक:-

आचार्य महाक्षपणक के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनके द्वारा 'अनेकार्थ ध्वनि मञ्जरी' नामक कोशग्रंथ लिखा गया। इसमें 220 पद्य हैं, जो तीन भागों में वर्गीकृत है। यह कोश 'शब्दरत्नप्रदीप' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[29]

पं. अमर कवीन्द्र:-

जैन कवि अमर कवीन्द्र जिनका दूसरा नाम अमर पंडित भी है, ने 19 श्लोक प्रमाण 'एकाक्षर नाममाला' की रचना की। वे गुर्जर प्रदेश के राजा वीसलदेव के समकालीन थे।[30]

अन्य जैन कोशकर्ता:-

चौदहवीं सदी में सेनसंघ के आचार्य श्रीधरसेनने 'विश्वलोचन कोश' जिसका दूसरा नाम 'मुक्तावली कोश' भी है, की रचना की।[31] इसी प्रकार राजशेखरसूरि के शिष्य आचार्य सुधाकलश मे 'एकाक्षर नाममाला' की रचना की।[32] सम्राट अकबर के समकालीन जैन विद्वान पद्मसुंदर ने भी सुंदर प्रकाश कोश जिसका दूसरा नाम 'पदार्थ चिंतामणि' या शब्दार्णव भी है, की रचना की।[33] उसी समय श्री भानुविजय गणिने 'विविक्त नामसंग्रह' जिसका अपरनाम 'नाममाला संग्रह' भी है, की रचना की। सोलहवीं शती में जैनाचार्य श्री हर्षकीर्तिसूरि ने शारदीय नाममाला (मनोरमा नाममाला) की रचना की और श्री विमलसूरिने 'देश्य शब्द समुच्चय' नामक कोशग्रंथ की रचना की। सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात नाम के आचार्य जो कि खरतरगच्छ से संबद्ध थे, ने 'शेषनामाला', श्री साधुकीर्ति के शिष्य सुंदर गणि ने 'शब्दरत्नाकर' और सहजकीर्ति ने 'सिद्ध शब्दार्णव' कोशों की रचना की। इसी प्रकार आचार्य श्री राजशेखरसूरिने 'प्रबंधकोश' और किसी अज्ञात रचयिता ने 'वस्तुरत्नकोश' और 'एकादिसंख्या संज्ञा कोश' की रचना की। इसके अतिरिक्त जैन कथा साहित्य का अवलंबन करके श्री हरिषेण ने बृहत्कथाकोश, आचार्य प्रभाचंद्र ने आराधनाकोश नामक गद्यकोश, आचार्य नेमिचंद्रसूरिने आख्यात मणिकोश, आचार्य ब्रह्मदेवने कथारत्नकोश, श्री श्रुतदेवने कथाकोश की रचना की। इस प्रकार जातककथा कोश और बृहत्कथाकोश 9 वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक लिखे जा चुके थे।[34]

इसके साथ ही तेरहवीं सदी में जैनाचार्य श्री जिनदत्तसूरि के शिष्य आचार्य श्री अमरचन्द्रसूरि[35] ने वर्णमाला क्रम से प्रत्येक अक्षर का अर्थ बताते हुए 21 श्लोक प्रमाण 'एकाक्षरी नाममाला' की रचना की थी। श्री विश्वशम्भु ने भी 115 पद्यों में ऐसा ही 'एकाक्षरी नाममाला कोश' लिखा है। श्री विमलसूरिने 'देश्य शब्द समुच्चय' एवं अकारादि क्रम से 'देश्यशब्द निघण्टु' नामक महत्त्वपूर्ण कोश रचनाएँ सोलहवीं शताब्दी में निर्मित कीं। श्री रामचन्द्रसूरि का 'देश्य निर्देश निघण्टु' भी इस प्रकार की कोशरचना है।

अभिधान चिंतामणि कोश के द्वितीय परिशिष्ट के रुप में श्री जिनदेवसूरि ने 15 वीं शताब्दी में 'शिलोञ्छ नाममाला' नामक एक पूर्तिकोश की लगभग 140 या 149 पद्यों में रचना की है। श्री पुण्य रत्नसूरि का 'द्वयक्षर कोश' एवं कविवर श्री असंग का 'नानार्थ कोश' भी विद्वतापूर्ण है।[36]

महोपाध्याय समयसुन्दरगणि रचित 'अष्टलक्षी' (संवत् 1649) विश्व साहित्य का अद्वितीय रत्न है। इसकी पृष्टभूमि कुछ ऐसी है :- एक बार अकबर की सभा मे जैनागम का **'एकस्स सुत्तस्स अणंतो अत्थो'** इस आगम वाक्य का उपहास हुआ देख इन्होंने सूत्रवाक्य की सार्थकता बतलाने के लिये **'राजानो ददते सौख्यम्' -इस आठ अक्षरवाले वाक्य के दस लाख, 22 हजार, चार सौ सात अर्थ** किये और सभा में सुनाये। पीछे कवि ने उक्त अर्थो में से असंभव या योजना विरुद्ध अर्थो को निकालकर इस ग्रन्थ का नाम **'अष्टलक्षी'** रखा। इसमें उपरोक्त **अष्टाक्षरी वाक्य के आठ लाख अर्थ** हैं जो कि अनेकार्थ शब्द का सबसे बडा अद्वितीय संग्रह हैं।[37]

---

26. जैन परम्परा नो इतिहास, भाग 2, पृ. 474
27. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ, विश्लेषण पृ. 32
28. शासनप्रभावक श्रमण भगवंतो, पृ. 197
29. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ, विश्लेषण पृ. 32
30. वही
31. शाश्वत धर्म : विशेषांक, फरवरी 1990 पृ. 67
32. वही
33. वही पृ. 34
34. अभिधान राजेन्द्र विशेषांक : शाश्वत धर्म पत्रिका फरवरी 1990; अभिधान राजेन्द्र : प्रथम भाग, प्रस्तावना; 'शासन प्रभावक श्रमण भगवंतो' भा. 1,2
35. ये गुजरात के राजा विसलदेव के राजकीय विद्वान थे।
36. अभिधान राजेन्द्र विशेषांक : शाश्वत धर्म पत्रिका फरवरी 1990
37. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 6, पृ. 523 (देवचंद लालाभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, ग्रन्थांक 81 से उद्धृत)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुकोश तथा अन्य कन्नड कोशः-

कन्नड कवियों ने कन्नड और संस्कृत शब्दों के परिचायक अनेक शब्दकोशों की रचना की। इन शब्दकोशों में नामवर्म द्वितीय का 'वस्तुकोश' और अभिधान रत्नमाला (1145 ई.स.) तथा देवोत्तम का नानार्थरत्नाकर (ई.स. 1600), और श्रृंगार कवि के कर्णाटक सजीवन (ई.स. 1600) का उल्लेख है।

इसमें अभिधान वस्तुकोश की रचना वररुचि, हलायुध आदि की कृतियों का आधार लेकर हुई है। इनमें तीन भाग हैं - अर्थकाण्ड, नानार्थकाण्ड और सामान्यकाण्ड। इसमें प्राचीन कन्नड कवियों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत पदों का कन्नड में अर्थ दिया गया हैं।[38]

नागोरी तपोगच्छीय श्री पद्मसुंदर ने वि.सं. 1619 में 'सुंदरप्रकाश शब्दनिर्णय' की रचना की। इसके अलावा भी नामकोश, शब्द चन्द्रिका, महेश्वरकृत शब्दभेदनाममाला, नामसंग्रह, सुधाकलशकृत अव्ययैकाक्षर नाममाला, शब्दसंदोहसंग्रह, शब्दरत्नप्रदीप, पञ्चवर्गसंग्रह नाममाला, एकाक्षरी-नानार्थ कोश, एकाक्षर कोश, एकाक्षर नाममालिका, पाइयसद्दमण्णव, अर्धमागधी डिक्शनरी, जैनागम कोश, अल्पपरिचित सैद्धांतिक कोश, जैनेन्द्रसिद्धांत कोश- इत्यादि अनेक कोशग्रंथ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।[39]

श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिः-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि का परिचय प्रथम परिच्छेद में विस्तार से दिया जा चुका है। अब तक के **कोश साहित्य में विश्वकोश की शैली में अभिधान राजेन्द्र कोश प्रथम स्थान पर है और जैन कोशग्रंथो में भी विश्वकोश के आकार का यह प्रथम कोश है।**[40] इसके अतिरिक्त आपने इसी का संक्षिप्त रुप किंतु अभी तक के कोशों में सबसे विस्तृत 'पाइयसद्दंबुहि' नामक प्राकृतकोश की रचना की थी परंतु इसकी प्रति संप्रति उपलब्ध नहीं है। अभिधान राजेन्द्र कोश का परिचय इसी परिच्छेद में आगे दिया जा रहा है।

38. शाश्वत धर्म - फरवरी 1990 पृ. 32
39. वही
40. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ-विश्लेषण पृ. 33, 34 - डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी

'न कार्या निन्दा स्वार्थविधातिका'

दत्तेऽसौ सर्वसौख्यानि, त्रिशुद्धयाराधितो यतिः ।
विराधितश्च तैरश्च्य - नरकानल्पयातनाः ।।1।।
चारित्रिणो महासत्त्वा, व्रतिनः सन्तु दूरतः ।
निष्क्रियोऽप्यगुणज्ञोऽपि, न विराध्यो मुनिः क्वचित् ।।2।।
यादृशं तादृशं चापि, दृष्ट्वा वेषधरं मुनिम् ।
गृही गौतमवद्भक्त्या, पूजयेत्पुण्यकाम्यया ।।3।।
वंदनीयो मुनिर्वेषो, न शरीरं हि कस्यचित् ।
व्रतिवेषं ततो दृष्ट्वा, पूजयेत्सुकृती जनः ।।4।।
पूजितो निष्क्रियोऽपि स्या-ल्लज्जया व्रतधारकः ।
अवज्ञातः सक्रियोऽपि, व्रतेस्याच्छिथिलादरः ।।5।।
दानं दया क्षमा शक्तिः, सर्वमेवाल्पसिद्धिकृत् ।
तेषां ये व्रतिनं दृष्ट्वा, न नमस्यन्ति मानवाः ।।6।।
आराधनीयास्तदमी, त्रिशुद्धया जैनलिङ्गिनः ।
न कार्या सर्वथा तेषां, निन्दा स्वार्थविघातिका ।।7।।

– अ.रा.पृ. 7/333

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. कोश साहित्य और अभिधान राजेन्द्र

कोश विज्ञान भाषा विज्ञान की एक शाखा के रुप में माना जाता है क्योंकि भाषा परस्पर साकांक्ष शब्दों के मेल से बने हुए वाक्यों से गठित होती है। अर्थात् भाषा का प्रारंभिक घटक वाक्य है और वाक्य का घटक शब्द है। इस दृष्टि से भाषा विज्ञान के घटक के रुप में शब्द विज्ञान के अंतर्गत कोशविज्ञान को माना जा सकता है।[1]

यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि शब्द का स्वरुप दो प्रकार से हैं : प्रथम, शब्द को एक भौतिक पदार्थ मानकर उसकी उत्पत्ति, उसके द्रव्यत्व, जडत्व, द्रव्यमान, विस्फोट, इत्यादि का दार्शनिक एवं भौतिक अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्द का भाषिक स्वरुप, शब्द और अर्थ का संबंध, एकार्थक और अनेकार्थक स्वरुपवाच्यता, निर्वचन, प्रकृति एवं शब्द की व्युत्पत्ति, व्याकरणिक कोटियाँ, इत्यादि विषयों का अध्ययन भी शब्दशास्त्र में किया जाता है, जिसे हम व्याकरण शास्त्र के नाम से जानते हैं-व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा, प्रकृतिप्रत्ययादयो वा येन तद्व्याकरणम्।[2] प्रथम प्रकार के अध्ययन के कुछ अंशों को व्याकरण दर्शन एवं कुछ भाग को भौतिक विज्ञान में सम्मिलित किया जाता है।[3] दूसरे प्रकार के शब्द विज्ञान में व्याकरण शास्त्र के अन्तर्गत ही शब्दार्थ विज्ञान को समाहित किया जाता है, जिसे हम कोशविज्ञान (Lexicology) कहते हैं। वस्तुतः कोश और कोशविज्ञान दोनों में मौलिक अन्तर है। कोश शब्दों का ऐसा संग्रह है जो कि विभिन्न दृष्टियों से शब्दों की जानकारी देने हेतु कोश निर्माण के सिद्धांतो के आधार पर तैयार किया जाता है इसलिए कोश को साधारण भाषा में Lexicography कहते हैं।[4]

'कोष' एवं 'कोश' का अर्थ है - संग्रह। 'कोष' में द्रव्य तथा 'कोश' में शब्दों का संग्रह किया जाता है। कोश की उपलब्ध परिभाषाओं के आधार पर कोश-संकल्पना के मूल घटक हैं- (क) शब्द और (ख) अर्थ। भगवतीप्रसाद निदारिया के अनुसार 'कोश' ऐसा संदर्भ ग्रंथ होता है, जिसमें प्रयोक्ता की अपेक्षाओं के अनुसार शब्द/प्रविष्टि आर्थी संदर्भ/विवेचन क्रमबद्ध, सरल व सामासिक ढंग से प्रस्तुत किये गये हों। यथावश्यक चित्र आदि की मदद से कोश में शब्द/प्रविष्टि को स्पष्ट किया जाता हैं।[5]

कोश की परिभाषा:-

सी.सी. वर्ग के अनुसार ''कोश उन समाजीकृत भाषिक रुपों की व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध सूची है जो किसी भाषा-भाषी समुदाय के वाग्व्यवहार से संग्रह किये गये हैं, और जिनकी व्याख्या कोशकार द्वारा इस प्रकार की गयी हो कि योग्य पाठक प्रत्येक रुप का स्वतंत्र अर्थ समझ सके तथा उस भाषिक रुप के सामूहिक प्रकार्य के समस्त तथ्यों से अवगत हो सके।''[6]

अर्थ के प्रकार:-

श्री कृष्णकुमार गोस्वामी के अनुसार अर्थ के सात प्रकार हैं[7] -

(क) बोधात्मक (ख) व्याकरणिक (ग) संरचनात्मक (घ) सामाजिक (ड) लक्षणापरक (च) शैलीपरक और (छ) क्षेत्रीय अर्थ।

श्री ललितमोहन बहुगुणा के अनुसार हमें 'कोश' से मोटे तौर पर दो प्रकार की जानकारी मिलती है - (1) रुप परक (2) कथ्य परक। रुपपरक जानकारी से हमारा आशय है शब्द का मानक उच्चारण, मानक वर्तनी, शब्द, वर्ग संबंधी संरचना, लिङ्ग एवंवचन संबंधी सूचना, शब्द की व्युत्पत्ति, उत्पादक रुप, मानक बोलीगत, ग्राम्य, वर्जित आदि। (3) कथ्यपरक जानकारी के अंतर्गत शब्द का वस्त्वर्थ, लक्ष्यार्थ, शब्द से बनने वाले मुहावरे, भिन्न-भिन्न अर्थच्छटाएँ आदि।[8]

कोशों के प्रकार :-

श्री ललितमोहन बहुगुणा के अनुसार कोशों को आठ प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है[9]-

(1) संदर्भ कोश (2) शैक्षिक कोश
(3) ज्ञान कोश (4) व्याख्या कोश
(5) वैचारिक कोश (6) सिद्धांत कोश
(7) समकालिक कोश (8) द्विकालिक कोश।

डो. भोलानाथ तिवारीने कोश के मूल तीन प्रकार बताये हैं -

(1) व्यक्ति कोश (2) पुस्तक कोश (3) भाषा कोश।

(1) व्यक्ति कोश - किसी एक व्यक्तिद्वारा प्रयुक्त शब्दों का कोश व्यक्ति कोश कहलाता है। शेक्सपियर, मिल्टन, तुलसीदास आदि के कोश इसी प्रकार के कोश हैं।

(2) पुस्तक कोश - जब केवल एक पुस्तक में प्रयुक्त शब्दों का कोश बनाया जाये उसे पुस्तक कोश कहते हैं। जैसे, बाईबल कोश, कुरान कोश, मानस कोश (रामचरित मानस कोश आदि)।

(3) भाषा कोश - इस तरह के कोशों में एक भाषिक कोश, द्विभाषिक कोश और बहुभाषिक कोशों का समावेश होता हैं।

(क) एकभाषा कोश :- एकभाषा कोश में जिस भाषा का शब्द होता है उसी भाषा में उसका अर्थ होता है। संस्कृत पर्याय कोश इसी प्रकार के कोश हैं।

(ख) द्विभाषिक कोश :- एक से अधिक भाषाओं के शब्दों के माध्यम से लिखे गये कोशों को बहुभाषा कोश कहते हैं। जैसे - संस्कृत-हिन्दी कोश, अंग्रेजी-हिन्दी कोश इत्यादी।

(ग) बहुभाषिक कोश :- ये कोश दो या अधिक भाषाओं के हो सकते हैं। बहुभाषा कोश में अनेक प्रकार के कोशों का समावेश

---

1. भाषा विज्ञान : शब्द विज्ञान : कोश विज्ञान पृ. 389 -डो. भोलानाथ तिवारी
2. भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ. 19, -डो. कपिलदेव द्विवेदी; साधुत्वज्ञानविषय सैषा व्याकरणस्मृतिः। -वाक्यपदीय 1/42
3. देखें, भाषा विज्ञान, प्रवेश, भौतिकविज्ञान, पृ. 35 -डो. भोलानाथ तिवारी
4. भाषा विज्ञान : शब्द विज्ञान पृ. 389, - डो. भोलानाथ तिवारी
5. अनुवाद त्रैमासिक: कोश संकल्पना - भगवती प्रसाद निदारिया
6. सी.सी. वर्ग की परिभाषा - अनुवाद त्रैमासिक : कोश निर्माण प्रक्रिया और अनुवाद में कृष्णकुमार गोस्वामी द्वारा उद्धृत
7. अनुवाद त्रैमासिक : कोश निर्माण प्रक्रिया और अनुवाद कृष्णकुमार गोस्वामी
8. अनुवाद त्रैमासिक : अनुवाद और कोश - ललितमोहन बहुगुणा
9. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जा सकता है। जैसे - वर्णनात्मक कोश, तुलनात्मक कोश और ऐतिहासिक कोश इत्यादि।[10]

शब्दकोश एवं ज्ञानकोश में मौलिक अन्तरः-

जिस संग्रह में शब्दों के अर्थ, पर्याय, व्याख्याएँ आदि होते हैं उन्हें शब्दकोश कहते हैं, और जिस **कोश में किसी शब्द के संबंध की विशेष ज्ञातव्य बातें विस्तार से दी जाती हैं या विषयवार उनका विस्तृत विवेचन होता है, उन्हें ज्ञान कोश अथवा विश्वकोश कहते हैं।**[11]

अभिधान राजेन्द्र : विश्वकोशः-

ऊपर कोशसाहित्य का वर्गीकरण करते हुए कोशों के प्रकारों का वर्गीकरण किया गया हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश-निर्माण का उद्देश्य यह था कि जैन आगमों में प्रयुक्त प्राकृत-अर्धमागधी भाषा के शब्दों का ससंदर्भ विस्तार सहित सही अर्थ दिया जा सके। तदनुरुप ही अभिधान राजेन्द्र कोश में दिये गये शब्दों का वर्णन करते हुए सबसे पहले प्राकृत शब्द, तत्पश्चात् उसकी संस्कृत छाया दी गयी है, संस्कृत छाया देने से ऊस शब्द की व्युत्पत्ति और प्राकृत रुप-सिद्धि का कार्य पूरा हो जाता है। संस्कृत छाया के बाद व्याकरणिक कोटियों में शब्द के लिङ्ग, वचन इत्यादि का निर्देश किया गया हैं। जहाँ आवश्यक समझा गया है वहाँ पर शब्दसिद्धि / रुपसिद्धि / प्रयोगसिद्धि स्पष्ट करने के लिए संस्कृत व्याकरण एवं प्राकृत व्याकरण के सूत्रों एवं विधानों का निर्देश किया गया है। शब्दस्वरुप व्याकृत करने के बाद शब्द के अर्थों का संकेत क्रमशः किया गया है। एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर, वहाँ पर शब्द के अर्थों को क्रम से दिया गया है। अर्थ की प्रामाणिकता हेतु अन्य कोशों का संकेत भी किया गया है।[12]

शब्द का समान्य परिचय देने के बाद उससे संबद्ध विशेष जानकारी दी गयी है। और उससे संबद्ध विषय का पूरा विवेचन वहाँ प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न ग्रंथों के विभिन्न उद्धरणों को आवश्यकतानुसार उद्धृत किया गया है, जिन पर कोशकारने आवश्यकतानुसार स्वयं भी प्रकाश डाला है।

इस प्रकार अभिधान राजेन्द्र कोश प्राकृत के, विशेष तया जैनागमों से संबद्ध अर्ध-मागधी के सभी शब्दों के विभिन्न प्रयोग बतलाते हुए उनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है और आवश्यक जानकारी को विस्तार से विषयवार प्रस्तुत करता है इसलिए यह एक ज्ञानकोश अर्थात् विश्वकोश की श्रेणी में आता हैं।

10. शब्द विज्ञान : कोश विज्ञान - भाषा विज्ञान, पृ. 389, 390, 391
11. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 3, पृ. 221 नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
12. अभिधान राजेन्द्र कोश, प्रथम भाग, प्रथमावृत्ति प्रस्तावना

'मुणि-पसत्थ दमसासणो'

पञ्चमहव्वयजुत्तो, पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो अ।
सब्भिंतरबाहिरिए, तवोकम्मंमि अज्जुओ ।।1।।
निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ।।2।।
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ।।3।।
गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु अ।
नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो ।।4।।
अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो अ, असणेऽणसणे तहा ।।5।।
अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहियासवो।
अज्झप्पझाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो ।।6।।

– अ.रा.पृ. 6/300

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. अभिधान राजेन्द्र कोश की उपादेयता

'सभी जीवों का कल्याण हो' -इस व्यवहारिक उद्देश्य को लक्ष्य में लेकर तीव्र, मध्यम और मंद बुद्धिवालों को तत्त्व का ज्ञान सरलता से हो सके, इस लिए तीर्थंकरों के उपदेश अर्धमागधी भाषा में हुए।[1] लोग उन अर्थों को ग्रहण करते रहे और अपना कल्याण करते रहे। चतुर्थ काल तक (चौथे आरे तक) आचार्यों की ग्रहणशक्ति अप्रतिम थी, इससे वे गुरु परम्परा से आगमों को ग्रहण करते और जनता को उनकी भाषा में उपदेश करते। ग्रहण और धारणशक्ति की मंदता से आगमों के रक्षण हेतु समस्त जैन श्रुत को प्राकृत भाषा में लिपिबद्ध किया। प्राकृत भाषा के इन ग्रंथों का विस्तार एवं अर्थ करने के लिये मूल सूत्रों के ऊपर निर्युक्तियाँ, भाष्य, चूर्णि और टीकाएँ लिखी गयीं। कालान्तर में इन ग्रंथों का भी अर्थ समझना कठिन हो गया और शब्द का वाच्य-वाचक संबंध ज्ञात न रहने के कारण सप्रसंग अर्थ करना कठिन हो गया। इस कारण से भिन्न-भिन्न कोशकारोंने प्राकृत भाषा के एवं संस्कृत भाषा के कोश ग्रंथ लिखे।[2] परंतु यह पुरा ज्ञान कोशमात्र में ही सीमित रह गया और लोगों को प्राकृत भाषा का अर्थ समझ में न आने से भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाने लगे। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया कि **जैन आगम साहित्य के सभी प्राकृत शब्दों की सप्रसंग एवं ससंदर्भ व्याख्या की जाये और यह व्याख्या कालान्तर तक दूसरों को यथावत् प्राप्त होती रहे, इसलिए अभिधान राजेन्द्र कोश जैसे विशालकाय व्याख्या कोश का जन्म हुआ।** यह बात 'अभिधान राजेन्द्र कोश लेखन: पृष्ठभूमि' में विस्तार से बतायी जायेगी।

इस महाकोश की उपादेयता अन्य कोशों की अपेक्षा बढ जाती है, क्योंकि इसमें जैनागम साहित्य के समस्त प्राकृत शब्दों को अनेक प्रकार से विशिष्ट बनाया गया है। जैसे - प्राकृत के समानान्तर उसका संस्कृत शब्द, प्राकृत शब्द की व्याकरणिक कोटियाँ-लिङ्ग, पुरुष, वचन आदि, एवं व्युत्पत्ति आदि, भिन्न-भिन्न वाच्यार्थ एवं उन अर्थों में प्रयुक्त उस शब्द का प्रयोग किस ग्रंथ में हुआ है, यह संदर्भ-प्रसंग के साथ स्पष्ट किया गया है, और उपलब्ध मूल सूत्र भी वहीं पर दे दिया गया है, जिससे शब्द का वाच्यार्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति किसी संस्कृत शब्द का अर्थ नहीं जानता है और प्राकृत के ध्वनि परिवर्तन के नियमों को थोडा भी जानता है तो वह संस्कृत शब्द का अर्थ इस 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में पा सकता है। उदाहरण के लिये यदि कोई 'पदार्थ' शब्द का अर्थ संस्कृत कोशों से जानकार संतुष्ट नहीं है और वह ध्वनि परिवर्तन के नियमों को जानता है तो वह अभिधान राजेन्द्र कोश में 'पयत्थ' शब्द के अन्तर्गत 'पदार्थ' शब्द की पूरी व्याख्या समझ सकता हैं।

यह ग्रंथ मात्र जैन साहित्य संबंधी व्याख्याएँ ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु सभी दर्शनों, व्याकरण, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, गणित, शिल्प, इतिहास, इत्यादि उस समय तक विकसित सभी विद्याओं से संबंधित शब्दोंकी सटीक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इससे इस ग्रंथ की उपादेयता सभी साहित्यप्रेमियों के लिये बढ जाती है। जैनाचार संबंधी शब्दों का तो अत्यन्त सूक्ष्म विवरण प्राप्त होता ही है।

दर्शन के अध्येता विदेशी विद्वानों को उनकी भाषा में शब्द का अर्थ समझाने से संतुष्टि नहीं मिलती। वे शब्द के मूल रुप, व्युत्पत्ति, प्रयोग एवं उससे संबंधित साहित्य को भी समझना चाहते हैं; और ऐसे में यदि एक-एक ग्रंथ को पढा जाये तो शब्दार्थ की प्रतीति होना सीमित हो जायेगा। इस कमी को दूर करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यह कोश ग्रंथ है। इस कोश ग्रंथ को देखकर कोई भी नातिसंक्षेपविस्तार से किसी भी शब्द को उसके मूल रुप में समझ सकता है।

यदि इसकी उपयोगिता के बारे में भिन्न-भिन्न मनीषियों के विचारों को सुना जाय तो हमें इसकी उपयोगिता का सहज ही अनुमान हो सकता है। साथ ही जो शोध आदि गतिविधियों से सीधे जुडे हुए हैं वे इसकी उपादेयता का प्रत्यक्ष अनुभव भी कर सकते हैं। आगे के उपशीर्षकों में भिन्न-भिन्न मनीषियों द्वारा व्यक्त विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे इस ग्रंथ की उपादेयता का अनुमान किया जा सकता है।

---

1. प्रस्तावना, समराइच्चकहा - श्रीमद् हरिभद्रसूरि
2. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ-विश्लेषण पृ. 31

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क अभिधान राजेन्द्र कोश पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में:-

After 5 years of Abhidhan Rajendra's continuous perusal, I can affirm that no real Indologist can dispense with a copy of this wonderful work. In its special compass, it surpasses even that jewel of lexicography, the Petersburg Dictionary, here we have not only a complete register of words warranted by references and quotations, but a full survey of thoughts, beliefs, legends lying beyond the words whatever is the matter I happen to deals with I begin with consulting my Rajendra & I never fail to get some useful information, shall ever have any thing alive in the field of Brahmanism and Buddhism

-Prof Sylvain Levi (University of Paris)

I greatly admire all the work of the Late Rajendra Suri, in Particular his Lexicographical achievement in the "Abhidhana Rajendra Kosha".

- R.L Turner

His 'Abhidhan Rajendra Kosha' on ourselves is a standing monument of his scholarship and dynamic literary activity.

- P.K. Gode

I wish to say emphatically that in the field of Jainism, no scholar can dispense of consulting the Suri's most valuable magnum opus, the 'Abidhan Rajendra', as the big work was called very appropriately.

-Walther Schubring (Hamburg)

यह विश्व कोश एक संदर्भ-ग्रंथ की तरह तथा जैन-प्राकृत के अध्ययन के निमित्त अतीव मूल्यवान है।

- जार्ज ए गियर्सन

ख. अभिधान राजेन्द्र कोश : भारतीय विद्वानों की दृष्टि में:-

जब विद्यालयों में अच्छे अध्ययन-अध्यापन के लिए 'गोम्मटसार' जैसे पारिभाषिक लाक्षणिक ग्रंथों को चुना जाता है तब इस प्रकार के कोशों की आवश्यकता अधिक अनुभव होती है। बहुतेरे जैन-पारिभाषिक शब्दों के उद्धरण तथा व्याख्याओं के खोजने में रतलाम से प्रकाशित, सात भागों में विभाजित राजेन्द्रसूरि का 'अभिधान राजेन्द्र कोश' उपयोगी सिद्ध हुआ है।

डो. हीरालाल जैन, विश्वविद्यालय, नागपुर
संपादक - धवन, जयधवल, महाधवल

अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रणेता श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने स्वयं ही अपना मार्ग प्रशस्त किया और दूसरों के पथदर्शक बनें। उनका चारित्रिक बल, उनकी विद्वता और निर्भीकता सराहनीय है। उनके विरचित ग्रंथ उनके स्मारक हैं

-साहित्यकार बाबू गुलाबराय, एम.ए.,
संपादक - साहित्य संदेश

मेरी राय में 'अभिधान राजेन्द्र' एक विशाल ग्रंथ है जो भारतीय उद्यम और विद्वता का मस्तक ऊंचा करता है।

- प्रो. सिद्धेश्वर वर्मा

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी को प्राकृत-संस्कृत आदि भाषाओं का और व्याकरण, शब्द-शास्त्र व सिद्धांत आदि अनेक विषयों पर उनका गंभीर ज्ञान था। तभी तो वे 'अभिधान राजेन्द्र' जैसे महान ग्रंथ का निर्माण कर पाये, जो उन्हें अमर बनाने के लिये पर्याप्त है।

-अगरचंद नाहटा

मेरे धर्ममित्र श्री प्राग्वाट स्वामी के पास 'अभिधान राजेन्द्र' के विशद सात भाग देखकर भारतीय ज्ञान गाम्भीर्य के विद्योदधि श्री राजेन्द्रसूरि जी की इस चमत्कारपूर्ण अद्वितीय सृजन-क्षमता के प्रति सहज ही नतमस्तक हो गया हूँ।

- चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अभिधान राजेन्द्र कोश के विभिन्न भागों के विहंगावलोकन मात्र से पाठक को जैन धर्म और दर्शन के अपरिहार्य तथ्यों की जानकारी हो जाती है।

- के.ए. धरणैन्द्रैया

राजेन्द्रसूरि द्वारा इतने बडे ग्रंथ की रचना उनकी तपस्या का ही परिणाम है। तपस्या से ही ज्ञान और तेज का प्रकाश होता है। यह **तपस्या हमारे जीवन का अंग बने इसलिए कोश का अध्ययन करें।**

-श्री वीरेन्ददत्त ज्ञानी, न्यायमूर्ति, हाइकोर्ट (इन्दौर)

ज्ञान का सूरज हर अंधेरे में उजाला करता हैं। यह कालजयी ग्रंथ है। आगम धर्म मीमांसा की व्याख्या जो राजेन्द्र कोश में है, अन्य कहीं नहीं है। विसंगतियों को सुलझाने का यह अमृतकोश है।

-श्री मुरारीलाल तिवारी
(विशेष अतिथि : द्वितीयावृत्ति लोकार्पण समारोह, इन्दौर)

अभिधान राजेन्द्र कोश लगभग एक हजार पृष्ठों के प्रत्येक ऐसे सात भागों में प्रकाशित है, जिसमें अकारादि क्रम में प्राकृत शब्दों के संस्कृत अर्थ-व्युत्पत्ति-लिङ्ग और ससंदर्भ अर्थ, जैन आगम व अन्य ग्रंथों में उपलब्ध सभी के विभिन्न संदर्भो की सामग्री से युक्त इस ग्रंथराज को प्रमाणिक करने का महाभारत प्रयत्न किया गया है। जैनागमों का एसा कोई विषय नहीं है जो इस कोश में प्राप्त नहीं।

-जैन साहित्यनो इतिहास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दकोशों की परम्परा में अभिधान राजेन्द्र यथार्थ में एक विशिष्ट उपलब्धि है। श्रीमद् की साधना का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। जब इस कोश का पहला अक्षर लिखा गय तब वे 63 (तिरसठ) साल के थे। सात भागों में तथा 10566 पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोश के समान है जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रंथों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया है।

-वसंतीलाल जैन, पुणे (महाराष्ट्र)

अभिधान राजेन्द्र कोश जैसे अतिविशाल ग्रंथरत्न की रचना उनके सम्यग्ज्ञान के सर्वांगी समर्पण की साहसिक निष्पत्ति है। अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं। **अभिधान राजेन्द्र कोश** सामान्य कोश नहीं है किन्तु **शास्त्र-वचनों की समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटन का सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है।**

- रमेश आर. झवेरी

विश्व पूज्य श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. साहित्याकाश में एक सूर्य समान उदित हुए, जिन्होंने अपनी ज्ञान ज्योति का प्रकाश संपूर्ण ज्ञान जगत में फैलाया। संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी एवं अन्य भाषाओं के साहित्य को समृद्ध बनाया। **'राजेन्द्रकोश' रचना एक अक्षय विशाल ज्ञानसागर है** एवं यह युगों-युगों तक साहित्य निर्माण में मार्गदर्शन करता रहेगा।

-पं हीरालाल शास्त्री (एम.ए.), निवर्तमान संस्कृत व्याख्याता, शिक्षा सेवा, राजस्थान ज्योतिष सेवा, राजेन्द्रनगर, जालोर (राजस्थान)

तपः साधना और ज्ञानमीमांसा से परमपूत जैनधर्माचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. का राजेन्द्र कोश इनकी अक्षय शब्द मंजूषा है, जो शब्द यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है।

- पं. जयानंद झा, 3घ-12 मधुवन हा.बो. बासनी, जोधपुर (राजस्थान)

भारतीय वाङ्मय में 'अभिधान राजेन्द्र कोश' एक अद्वितीय, विलक्षण और विराट् कीर्तिमान है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, एवं अर्धमागधी की त्रिवेणी भाषाओं और उन भाषाओं में प्राप्त विविध परम्पराओं की सूक्तियों की सरल और साङ्गोपांग व्याख्याएँ हैं, शब्दों का विवेचन है और दार्शनिक संदर्भों की अक्षय सम्पदा है। लगभग 60 हजार शब्दों की व्याख्याओं एवं साढे चार लाख श्लोकों के ऐश्वर्य से महिमामंडित **यह ग्रंथ जैन परम्परा एवं समग्र भारतीय विद्या का अपूर्व भण्डार है।**

-डो. लक्ष्मीमल सिंधवी, भूतपूर्व भारत-ब्रिटेन राजदूत, नई दिल्ली

जब परम त्यागी, आदर्श संयमी, सुदृढ महाव्रती, प्रकाण्ड विद्वान राजेन्द्रसूरि अपने मानवीय जीवन के साठ से भी अधिक वसंत देख चुके तब उन्होंने 14 वर्षों में अभिधान राजेन्द्र कोश का निर्माण किया। जिसके संदर्भ में 97 ग्रंथों के प्रासंगिक सार का संचयन किया। अभिधान राजेन्द्र कोश विश्व-साहित्य की वह अमूल्य निधि है जिसकी समानता अन्य कोश आज तक नहीं कर सका। इसने अपनी उपस्थिति से विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों को केवल गौरव-गरिमा ही नहीं दी बल्कि शताधिक शास्त्र-अनुसंधान कर्ताओ को शोध-बोध की दिशा में आशातीत मार्गदर्शन दिया।

अर्ध-मागधी भाषा को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय इस कोश को है। इसने अपने आकार, प्रकार-भार से बतला दिया कि शब्दकोशों की श्रृंखला में इसकी एक अपनी ही मौलिक उपलब्धि है, जो कोश-माला में सुमेरु है। इसकी विराटता और व्यापकता, धर्म और सभा की समन्वयात्मकता, अनुभवगम्य होकर अवर्णनीय बनी है। यह जैनागमों के साथ अन्य दार्शनिक ग्रंथों के उद्धरणों को भी आत्मसात् किए हैं। इसमें व्याख्या-भाग पर्याप्त है। कई शब्दों की व्यवस्था के संदर्भ में शताधिक कथानक भी संग्रहीत हो कोश की नीरसता की इतिश्री कर कोश के प्रति आकर्षण की अभिरुचि को बढा रहे हैं। इसमें शब्दों की जो निरुक्ति दी गयी है, उससे भाषा के भण्डार को समझने व सहेजने में सुविधा होती है। यह शब्द कोश शब्द संग्रह नहीं है, बल्कि इस शब्द कोश में ऐसे शब्दों की प्रचुरता है जिससे धर्म और दर्शन की अनुभूति में अभिवृद्धि होती है और शब्दों का जीवन सुदूरगामी सहस्त्रशताब्दियों जैसा विदित होता है। मागधी भाषा के अनुक्रम से शब्दों पर विषयों का विस्तृत विवरण इस कोश में उपलब्ध है।.... अपने शिखरस्थ अनुभव-अभ्यास का परिचय उन्होंने कोश में दिया।....**अभिधान राजेन्द्र कोश निर्मित कर अपनी वीतरागता और अनासक्ति की जो अभिव्यक्ति की, उसे विश्व के सभी विद्वानों ने शिरोधार्य किया।**

-श्री लक्ष्मीचन्द 'सरोज' एम.ए.,
शाश्वत धर्म - अ.रा. विशेषांक फरवरी - 1990 पृ. 24

राजेन्द्र कोश जब जेवर बेचकर खरीदा....

प्राकृत शौरसेनी भाषा के अधिकारी विद्वान् पं. हीरालालजी घोर विद्याव्यसनी थे। उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर थी। जैन पं. के वेतन से तब रोटी खर्च ही चलता था। तभी पण्डित जी को पता चला कि सात भागों में बृहत्प्राकृत कोश 'अभिधान राजेन्द्र कोश' नाम से प्रकाशित हुआ है। पण्डितजी की प्रबल इच्छा थी कि यह कोश किसी प्रकार सुलभ हो जाये। उन्होंने अल्प वेतन में से थोडा-थोडा पैसा जोडा था परन्तु इतने से तो कोश का एक भाग भी नहीं खरीदा जा सकता था। वे जिस संस्था में कार्य करते थे उसके मंत्री से कोश खरीदने के लिए निवेदन किया परन्तु मन्त्री को कोश का इतनी भारी व्यय फिजूल लगा। पण्डित जी निराश हुए लेकिन शब्दकोश लेने का निर्णय कर लिया और अपनी पत्नी के गले, हाथ, पैरों के जेवर बेचकर कोश के सातों भाग एक साथ खरीद लिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे पता चलता है कि साहित्यप्रेमियों के हृदय में अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा और प्रेम रहा है।

-ले. श्री केवलकृष्ण पाठक,

(शाश्वतधर्म मासिक, अंक अगस्त 1995, पृ. 43 से उद्धृत)

अभिधान राजेन्द्र कोश आधुनिक कोशों की महत्त्वपूर्ण कडी है। जैन पारिभाषिक कोश की दृष्टि से यह प्रथम प्राकृत मानक कोश कहा जा सकता है। उस समय अल्प साधनों के बावजूद आचार्यश्री और उनके संघ ने इतना बडा अभूतपूर्व कोश-ग्रंथ तैयार कर दिया - यह आश्चर्य का विषय है।

- डो. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

ग. अभिधान राजेन्द्र कोश : शोध अध्येताओं की दृष्टि में:-

यह कोश सब के लिए कुछ न कुछ देने में समर्थ है जिससे अनायास ही सुज्ञों के हृदय की भावनाएँ शब्द बन कर अभिधानराजेन्द्र की प्रशंसा किये विना नहीं रह पाती। यहां कुछ शोधाध्येताओं की भावनाओं को उद्धृत किया जा रहा है-

मैं जब आचार्य हेमचन्द्र सूरि के साहित्य पर आधारित अपने शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ-संकलन कार्य में संलग्न था, तब गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में मेरी दृष्टि में विशालकाय अभिधान राजेन्द्र आया। इससे दो पांच वर्ष पूर्व मैं इन्साइक्लोपीडिया ब्रित्यनिका का अवलोकन कर चुका था, इससे मैं यह समझ सकता था कि कोश और विश्वकोश में क्या अन्तर हैं और विश्वकोश का शोधप्रबन्ध से क्या सम्बन्ध है। मेरी दृष्टि में अभिधानराजेन्द्र के आते ही मैंने अपने स्वभावके अनुसार प्रस्तावना से लेकर अन्त तक विहंगावलोकन किया। किन्तु सहसा विश्वास नहीं हुआ कि यह कृति एक व्यक्ति के परिश्रम से सम्भव हो सकती है। परन्तु जब आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि महाराज के ज्ञानगाम्भीर्य के बारे में जानकारी हुई तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

आचर्यश्री के जीवन के विषय में उपलब्ध परिचायक साहित्य से मैं पूरी तरह परिचित हुआ और मैंने अभिधान राजेन्द्र के समग्र परिचय की दृष्टि से इसका पुन: अवलोकन किया तो पाया कि न केवल यह जैन विद्या का कोष है अपितु व्याकरण, साहित्य दर्शन, आदि सभी प्राच्य विद्याओं का निधान है। **आचार्यश्री के प्रामाणिक लेखन, स्वतन्त्र समीक्षा और सम्प्रदायेतर सहिष्णुत्व का जीता जागता प्रमाण अभिधान राजेन्द्र है।** जैन सिद्धान्त के साथ तुलनात्मक प्राच्यविषयों पर शोध में प्रवृत्त होनेवालों के लिए मानों यह चिन्तामणि रत्न हैं।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि के बाद इस सहस्त्राब्दी में कलिकालसर्वज्ञत्व का यह दूसरा उदाहरण है। और नि:सन्देह यह भारतीयों के लिए और जिनशासनानुयायियों के लिए गौरव का विषय है।

-वैद्य गजेन्द्र कुमार जैन,

व्याख्याता, शा. आयुर्वेद महाविद्यालय, इन्दौर

विश्व-पूज्य श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी विरले सन्त थे। उनके जीवन-दर्शन से यह ज्ञात होता है कि **वे लोक-मंगल के क्षीर-सागर थे।** उनके प्रति मेरी श्रद्धा-भक्ति तब विशेष बढी, जब मैंने कलिकाल कलपतरु श्री वल्लभसूरिजी पर 'कलिकाल कल्पतरु' महाग्रंथ का प्रणयन किया, जो पीएचडी. उपाधि के लिए जोधपुर विश्वविद्यालय ने स्वीकृत किया। विश्व-पूज्य प्रणीत 'अभिधान राजेन्द्र कोश' से मुझे बहुत सहायता मिली। उनके पुनीत पद-पद्मों में कोटिश-वंदन।

विश्व-पूज्य अर्धमागधी, प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं के अद्वितीय महापण्डित थे। उनकी अमरकृति 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में इन तीन भाषाओं के शब्दों की सारगर्भित और वैज्ञानिक व्याख्याएँ हैं।

उदाहरण के लिए - जैन धर्म में 'नीवि' और 'गहुँली' शब्द प्रचलित हैं। इन शब्दों की व्याख्या मुझे कहीं नहीं मिली। इन शब्दों का समाधान इस कोश में है। 'नीवि' अर्थात् नियम पालन करते हुए विधिपूर्वक आहार लेना। 'गहुँली'-गुरु भगवन्तों के शुभागमन पर मार्ग में अक्षत का स्वस्तिक करके उनकी वधामणी करते हैं और गुरुवर के प्रवचन के पश्चात् गीत द्वारा (गहुँली द्वारा) गहुँली (गीत) गाई जाती है। इनकी व्युत्पत्ति व्याख्या 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में मिली। पुरातन काल में गेहुँ का स्वस्तिक करके गुरुजनों का सत्कार किया जाता था। कालान्तर में अक्षत का प्रचलन हो गया, इसलिए गुरु भगवंतों के सम्मान में गाया जाने वाला गीत भी गहुँली हो गया। स्वर्ण मोहरें या रत्नों से गहुँली क्यों न हो, वह गहुँली ही कही जाती है।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से अनेक शब्द जिनवाणी की गंगोत्री में लुढक-लुढक कर, घिस-घिसकर शालीग्राम बन जाते हैं। विश्व-पूज्य ने प्रत्येक शब्द के उद्गम-स्रोत की गहन व्याख्या की है अत: **यह कोश वैज्ञानिक है, साहित्यकारों एवं कवियों के लिए रसात्मक है तथा जन-साधारण के लिए शिवप्रसाद है।** यह कोश वज्रायुध के समान सत्य की रक्षा करने वाला और असत्य का विध्वंस करने वालाहै। यह ग्रंथ 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' की परमोज्जवल ज्योति सब युगों में यावच्चन्द्रदिवाकरौ जगमगाता रहेगा। यह कोश इतना लोकप्रिय है कि देश-विदेश के समस्त विश्वविद्यालयों, श्रेष्ठ महाविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों में इसके सातों भाग उपलब्ध हैं।[119]

15-1-1998 :

-डो जवाहरचन्द पाटनी, एम.ए., हिन्दी-अंग्रेजी, पी.एच.डी. गुरु सप्तमी

श्री पार्श्वनाथ उम्मेद कालेज, फालना (राजस्थान)

'विश्व पूज्य' पृ. 18 से 20 से उद्धृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घ. अभिधान राजेन्द्र कोश : सन्तों की दृष्टि में:-

राजेन्द्र कोश एक अक्षयनिधि है। संसार का एक अनुपम तथा अनूठा साहित्यिक ग्रंथ है। **जैन धर्म या दर्शन विषयक किसी भी अनुसंधान के निमित्त 'अभिधान राजेन्द्र' एक अनिवार्यता है।**

-भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति एवं चारुकीर्ति

जैन संस्कृति के आधार ग्रंथ आगम हैं, बौद्ध संस्कृति के त्रिपिटक एवं वैदिक संस्कृति के आधार ग्रंथ वेद हैं। प्रस्तुत 'अभिधान राजेन्द्र कोश' नामक महाग्रंथ आगम ग्रंथों को आधार मानकर ही बनाया गया है। आगमों के साथ-साथ इस कोश में निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीका आदि व्याख्या ग्रंथ भी ले लिये गये हैं। कहना चाहिए, **समग्र जैन संस्कृति और जैन वाङ्मय को बृहदाकार सात मंजूषाओं में सुरक्षित कर दिया गया हैं।**

.....विश्व भाषाओं में भारोपीय परिवार में प्राकृत भाषा की पारिवारिक भाषा ही मागधी है, जिस पर कि 'अभिधान राजेन्द्र' महाकोश बना है। मागधी प्राचीन युग में मात्र लोकभाषा थी, पर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक गौरव पा गयी; क्योंकि भगवान महावीर उस भाषा में बोले। मानना चाहिए कि जैन संस्कृति और मागधी एक-दूसरे की पर्याय बन गयी हैं। इस दृष्टि से अभिधान राजेन्द्र महाकोश कितना महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जो कि जैन संस्कृति एवं मागधी को एक साथ संजोये चल रहा है।

प्रस्तुत कोश में तथारुप समग्र सामग्री संयोजित हो गयी है अत: यह महाग्रंथ एक डिक्शनरी - एक कोश ही न रहकर अपने आप में एक अनुपम एवं व्यापक विषय-परक विश्वकोश बन गया है, अर्थात् जैन इन्साइक्लोपीडिया।..... जिस युग में इसका सृजन हुआ था..... जिसमें इतना बृहद् व मौलिक कार्य महान आचार्य विजय राजेन्द्रसूरि ही कर पाये और उस विधा में आज तक और कोई अन्य आचार्य ऐसा नहीं कर पाया। वे तथा उनके सहयोगी शिष्य युग-युगांतर तक अविस्मरणीय एवं वंदनीय रहेंगें।

-मुनिश्री नगराजजी (डी.लीट्)

यदि कोई मुझसे पूछे कि जैन साहित्य क्षेत्र में बीसवीं सदी में असाधारण घटना कौन-सी घटी? तो मैं यही कहूँगा कि वह असाधारण घटना है -'अभिधान राजेन्द्र' की रचना और उसका प्रकाशन'। महापरिश्रम और महा अर्थसाध्य रचना है यह। आज तो उनकी आकृति अन्तर्देशीय के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय ग्रंथागारों को भी अलंकृत कर रही है। एक ही विषय के बारे में आगमिक और शास्त्रीय जानकारी एक ही स्थान पर विभिन्न रुपों में सरलता और शीघ्रता से प्राप्त करना हो तो एकमात्र इस कोश द्वारा ही वह प्राप्त हो सकती है। इस अनुकूलता के कारण अनेक विद्वान संशोधक इस ग्रंथ से विपुल लाभ उठा रहे हैं।

यह ग्रंथ जैनागम कोश स्वरुप है और इसमें समस्त आगमों का व्यवस्थित रुप से संकलन किया है। वर्तमान में अपने विराट प्रयत्न द्वारा अभूतपूर्व सिद्धि संपादन करने का मान जैन साहित्य क्षेत्र में सचमुच आचार्यश्री राजेन्द्रसूरिजी ही अपने हक में ले गये, यह कहे बिना रहा नहीं जाता। वे जैन संघ के लिए **युग-युग तक अविस्मरणीय भेंट प्रदान कर गये हैं।**

-आचार्य यशोदेवसूरि

अभिधान राजेन्द्र कोश का निर्माण करके सूरि प्रवर श्री राजेन्द्रसूरि महाराज ने **जैन वाङ्मय की उत्कृष्टता एवं गहराई का नाप निकालने के लिये यह एक अति आयत गज** ही तैयार किया है।

प्राकृत ग्रंथों का अध्ययन करनेवालों के लिए और खासकर जब प्राकृत भाषा का संबंध सहवास, परिचय और गहरा अध्ययन धीरे-धीरे घटता-घटता खंडित होता चला हो, तब प्राकृत भाषा के विस्तृत एवं व्यवस्थित शब्दकोश की नितान्त आवश्यकता थी। ऐसे ही युग में श्री राजेन्द्रसूरि महाराज के हृदय में ऐसे विश्वकोश की रचना का जीवन्त संकल्प हुआ। यह उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं उनके युगपुरुषत्व का एक अनूठा प्रतीक हैं।

प्राकृत भाषा में पाइयसद्दमहण्णव, जिनागमशब्दकोश, अल्पपरिचित सैद्धांतिक शब्दकोश, आदि अनेक कोशग्रंथ 'अभिधान राजेन्द्र' के पश्चात् तैयार किये गये, किन्तु इन सब के निर्माण में बीजरुप आदिकरण तो श्री राजेन्द्रसूरि महाराज एवं उनके द्वारा निर्मित 'अभिधान राजेन्द्र कोश' ही है। संभव है कि भविष्य में और भी प्राकृत भाषा के विविध कोशों का निर्माण होता रहे, फिर भी **'अभिधान राजेन्द्रकोश' की महत्ता, व्यापकता एवं उपयोगिता कभी घटने वाली नहीं है,** ऐसी ही इस कोश की रचना है। आज के जैन-अजैन, पाश्चात्य-पौर्वात्य विद्वानों के लिए भी यह कोश सिर्फ महत्त्व का शब्दकोश मात्र नहीं, किन्तु महत्त्वपूर्ण महाशास्त्र बन गया है।

- आगमसेवी मुनिश्री पुण्यविजयजी म.

વિશ્વવિખ્યાત ''શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર કોશ'' સંસારમાં પ્રાપ્ત થતાં કોશો માં વિશેષ મહત્ત્વનો તેમજ અતિવિરાટ કોશ માનવામાં આવે છે વિષયની રીતે તેને પ્રાકૃત, અર્ધમાગધી શબ્દોનો એક મહાસાગર કહેવામાં આવે તો પણ અતિશયોક્તિ નથી. આ કોશની અંદર શબ્દોની વ્યુત્પત્તિ, તદ્વિષયક કલિકાલ સર્વજ્ઞ પૂજ્યપાદ શ્રીમદ્ હેમચન્દ્રાચાર્ય રચિત ''શ્રી સિદ્ધહેમ'' જૈન વ્યાકરણના આઠમા પ્રાકૃત વિષયક અધ્યાયનું યથાયસ્થાન પુરું દિગ્દર્શન કરાવવામાં આવ્યું છે અને એ પ્રાકૃત શબ્દોને પણ નિયમાનુસાર વ્યાકરણ સૂત્રો દ્વારા સિદ્ધ કરવાનો ઠેર ઠેર નિર્દેશ પ્રયાસ કરવામાં આવ્યો છે

જૈનાગમોના પઠનપાઠનમાં તો આ કોશની મહતી ઉપયોગિતા છે. પ્રત્યેક શબ્દ ઉપર તે તે પાઠોમાં પ્રમાણો આપીને તેને લગતી અધ્યયનની પૂરી સામગ્રી સંગ્રહીત કરીને જિજ્ઞાસુઓની સર્વ આકાંક્ષાઓની પૂર્તિ કરવામાં આવી છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

આ કોશ સાત ભાગોમાં વિભક્ત છે એનું દળ એટલું તો ભારે છે કે એક વ્યક્તિ તેનું વજન ઉંચકી પણ ન શકે બીજું, એમાં માત્રા ક્રમથી અકારાદિ શબ્દોનું વર્ણન કરવામાં આવ્યું છે પ્રસ્તુત કોશનું નામ પણ 'યથાનામ તથાગુણ' અનુસાર અભિધાન - નામોનો રાજા અને તેમનો પણ ઈન્દ્ર - સર્વોપરિ, આ નામ વાસ્તવમાં સાર્થક લાગે છે.

આ કોશના નિર્માતા વીસમી સદીના મહાન પ્રભાવક, સર્વતન્ત્ર-સકલાગમ પારદર્શી, વિશ્વવન્દ્ય જૈનાચાર્ય શ્રીમદ્‌વિજય રાજન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મહારાજ છે. તેમણે તેમની અદ્‌ભૂત રચનાથી વિશ્વના સર્વ વિદ્વાનોને માત્ર મુગ્ધ જ નથી કર્યા, પરન્તુ ભારે આશ્ચર્યમાં નાખી દીધા છે રચયિતાની અલૌકિક શક્તિ અને વિદ્વત્તાની યશોગાથા સાહિત્યક્ષેત્રે વિશ્વમાં સદાને માટે અમર બનીને નવસર્જનના માર્ગમાં અક્ષુણ્ણ શક્તિ અને સ્ફૂર્તિ પ્રદાન કરતી રહેશે.

-મુનિ કલ્યાણવિજય

(राजेन्द्रकोशमां अ : किंचित् वक्तव्यमांथी उद्धरित)

अभिधान राजेन्द्र कोश में जैसी गहराई है वैसी व्यापकता भी है। यह कोश मानवीय प्रतिभा का चमत्कार है। यह कोश समूची भारतीय संस्कृति का दर्शन है।

-स्वामी आत्मानंदजी

स्वामी रामकृष्ण विवेकानंद आश्रम, रायपुर।

सम्यक् चारित्र

1. **सम्यक्चारित्र** - आत्मा का 'अत्युत्तम गुण' है।
2. **सम्यक्चारित्र** - आत्मा के कर्मशत्रुओं का सर्वथा विनाश करने वाला 'महान् शस्त्र' है।
3. **सम्यक्चारित्र** - आत्मा की कर्म-निर्जरा का 'अनुपम साधन' है।
4. **सम्यक्चारित्र** - आत्मा को सम्पूर्णतया अहिंसक जीवन जीने का 'असाधारण स्थान' है।
5. **सम्यक्चारित्र** - सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान द्वारा संसार-सागर तिराकर मुक्ति किनारे पहुँचानेवाला 'अलौकिक (स्टीमर) जहाज' है।
6. **सम्यक्चारित्र** - भव्यात्मा को मुक्तिपुरी में शीघ्र ले जानेवाला 'अजोड विशेष दिव्य विमान' है।
7. **सम्यक्चारित्र (दीक्षा)** - मुक्तिवधू की 'महान् दूती' है।
8. **सम्यक्चारित्र** - आत्मा को पंच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनव्रत का आजीवन पालन करने की 'भीष्म प्रतिज्ञा' है।
9. **सम्यक्चारित्र** - आत्मा को अष्ट कर्मरुप बन्धन की बेडी से मुक्त कराकर स्वतन्त्रता दिलानेवाला, अपना अनंतज्ञानादि अखूट खजाना दिखानेवाला तथा मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करानेवाला 'अद्वितीय महामन्त्र' है।
10. **सम्यक्चारित्र** - जगत् में जैनधर्म का - जैनशासन का 'अद्‌भूत आधार स्तम्भ' है।
11. **सम्यक्चारित्र** - सर्व सुख का 'मजबूत मूल' है और सिद्धि का 'सच्चा सोपान' है।
12. **सम्यक्चारित्र** - पंच महाव्रतों का, दस प्रकार के यतिधर्म का, सत्तर प्रकार के संयम का, दस प्रकार की वैयावच्च का, नव प्रकार के ब्रह्मचर्य की गुप्ति का, तीन रत्नत्रयी का, बारह प्रकार के तप का तथा चार कषायनिग्रह का एवं चरणसित्तरी-करणसित्तरी इत्यादि गुणरत्नों का 'अमूल्य खजाना-भण्डार' हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना का उद्देश्य एवं पृष्ठभूमि

यूं तो आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि को अपने यति/मुनि जीवन में ही अध्यापन एवं शास्त्रार्थ के कई ऐसे अनुभव प्रसंग उपस्थित हुए जिसमें अन्य लोगों के द्वारा शब्द के गलत अर्थ किये जाते जो आपको कतई पसंद नहीं थे और आप उसी समय उन्हें शास्त्र-सम्मत सही अर्थ समझाते। इस तरह आचार्यश्री की व्यक्तिगत आवश्यकता के रुप में यह कोश नहीं बनाया गया होगा - इतना तो निश्चित हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना की पृष्ठभूमि विषयक दो पृथक् पृथक् कथानक प्राप्त होते हैं-

1. विदेशी विद्वानों से प्रेरित होकर जिज्ञासुओं के हितार्थ:-

आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरि के प्रवचनानुसार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्राकृत भाषा और जैन परम्परा एवं बौद्ध परम्परा के आगम ग्रंथों का अध्ययन द्रुतगति से बढता जा रहा था। और इंग्लेन्ड, फ्राँस, जर्मनी आदि देशों के विद्वान संस्कृत और प्राकृत ग्रंथो का अध्ययन करने लगे थे। जर्मनी में भारतीय विद्याओं और विशेषकर जैन आगम ग्रंथों का गहराई से अध्ययन किया जा रहा था। उस समय उन विद्वानों को पारिभाषिक शब्दों का अर्थज्ञान सम्यक् रुप से नहीं हो रहा था। उस समय ज्ञानपिपासु कुछ विद्वान् भारत आये और गुजरात प्रांत के अहमदाबाद नगर में आ पहुंचे। आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी भी उस समय अहमदाबाद में ही विराजमान थे। इन आंगतुक विद्वानों का सम्पर्क आचार्यश्री से हुआ और उनकी जैन पारिभाषिक एवं आगमिक शब्दावली संबंधी सभी शंकाओं का समाधान आचार्यश्रीने कर दिया। तब उन्होंने आचार्यश्री से पूछा कि "क्या ऐसा कोई जैन पारिभाषिक शब्द कोश नहीं है जो हमारा मार्गदर्शक बने ?" प्रत्युत्तर में आचार्यश्री को कहना पडा, "अभी तो नहीं है।"

अभिधान राजेन्द्र कोश के संशोधकों के अनुसार वि.सं. 1940 की इस घटना के पश्चात् आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अनुभव किया कि कोई प्राकृत प्रकाश आदि व्याकरण के ज्ञाता भी जैनागमों के मूल-सूत्र, निर्युक्ति की गाथाएँ और चूर्णि प्रमुख के तात्पर्य (स्पष्ट पारिभाषिक अर्थ) अवधारण करने में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थंकर-गणधरादि के द्वारा यह सब अर्ध-मागधी भाषा में ही कहा गया है जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ अलग ही है। प्राचीन काल में गुरु-शिष्य परम्परा से अंतेवासी शिष्यगण कठिन परिश्रम द्वारा अपने-अपने आचार्य के मुख से 'मधुबिन्दु निकर' समान सूत्रों और उनके अर्थों को कण्ठस्थ करते थे। परंतु वर्तमान में बुद्धिविकलता और स्मरणशक्ति के क्रमिक ह्रास से ऐसी परिपाटी नहीं है, अत: आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी को एसी चिन्ता हुई कि प्रतिदिन जैन धार्मिक-दार्शनिक शास्त्रों की हानि ही हो रही है। बहुत से अपने आपको सुज्ञ मानने वाले लोगों ने निज-स्वार्थ हेतु उत्सूत्र प्ररुपण भी करना शुरु किया है और अपने धर्मग्रंथों के विषय में विस्मरण ही हुआ है। ऐसे समय में क्या किया जाये, जिससे यथाशक्ति आत्मधर्म (जैन धर्म) की उन्नति करके अपने मनुष्य जन्म को सार्थक किया जाय।[1]

इस प्रकार के विचार करते बहुत समय पसार हो गया तब सहसा एक विचार उत्पन्न हुआ कि "**कोई एक ऐसे ग्रंथ की इस प्रकार की शैली से रचना की जाये, जिसमें जैनागमों के अर्धमागधी भाषा के शब्दों को अकारादि वर्णानुक्रमपूर्वक रखकर संस्कृत भाषा में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, और वाच्यार्थ को रखकर उसके साथ ही तत्सम्बन्धी यथाप्राप्त प्राचीन टीका, चूर्णि आदि का विवरण देकर इसे स्पष्ट किया जाये। यदि वही विषय ग्रंथान्तर में प्राप्त हो तो उसके साथ उसका भी निर्देश किया जाये, तो प्राय: हमारे द्वारा निजमनोनुकूल लोकोपकार होगा।**"[2]

वि.सं. 1946 में आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का चातुर्मास राजस्थान के जालोर जिले के 'सियाणा' नगर में हुआ।

उन्होंने देखा की वर्तमान में जिनागमों के अर्थ का मर्म लोग नहीं समझ पा रहे हैं और इसलिए कुछ लोग जैनागमोक्त शब्दों के अर्थों का आगमों से विपरीत निरुपण भी कर रहे थे। और देशी और विदेशी विद्वानों को जिनगामों का अध्ययन करने में असुविधा होने का ज्ञान आचार्यश्री को था, इसलिए उनके मन में ये विचार बार-बार आते थे कि कुछ ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जिससे जिज्ञासुओं को अर्थ समझने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो।

2. आगमों की रक्षा हेतु :-

उपाध्याय श्री मोहन विजयजी, जो कि उस आप्तशिष्यों की स्वाध्याय मण्डली में उस समय वहाँ शामिल थे - के अनुसार "एक बार आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी अपने आप्त शिष्यों के साथ बैठे हुए थे। वहाँ उन्होंने सभी के समक्ष अपनी यह अभिलाषा रखी कि "**मैं एक नवीन रीति का कोश बनाना चाहता हूँ जिसमें जैनागमों का विशेष युक्ति से संयोजन हो और जो कि जिनेन्द्र भाषामय आगमों के सदा विद्यमान रहने और कभी भी लुप्त न होने का उपाय हो।**[3]" गुरुदेव की इस इच्छा को सुनकर सभी शिष्योंने गुरुवर के अनुशासन को शिरोधार्य किया।[4]

आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरि के अनुसार इस चर्चा के पश्चात् रात्रि के द्वितीय प्रहर में वे आत्म-चिन्तन में लीन हो गए। उस समय आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी को अंत:प्रेरणा हुई और उन्होंने एक भगीरथ कार्य को संपन्न करने का निश्चय किया। यह महान कार्य था- जैन साहित्य के समस्त आगम ग्रंथ, प्रकरण ग्रंथ, प्रकीर्णक ग्रंथ आदि ग्रंथो में उपलब्ध सामग्री को एक ही ग्रंथ में उपलब्ध करा देना। अर्थात् **जिनवाणी विषयक एक ऐसा शब्दकोश निर्मित करना, जिसमें जिनागम विषयक संपूर्ण सामग्री विद्यमान हो।**[5]

---

1. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 1 अंतिम अनुच्छेद एवं पृष्ठ 2 का प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अनुच्छेद
2. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 2 तृतीय अनुच्छेद
3. - अ.रा.भा. 4, घण्टापथ 'ग्रन्थनिर्माणकारणम्', पृ. 17, उपाध्याय
4. श्रुत्वा पुनस्तमुपदेशवरं प्रहृष्टा मूर्ध्नाऽग्रहीषत गुरोरनुशासनं तत्। -वही पृ. 12
5. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. अभिधान राजेन्द्र कोश का रचनाकाल एवं स्थान

शुभारम्भ :

शिष्यों के साथ चर्चा से गुरुदेवश्री को यत्र-तत्र बिखरे हुए तथा जीर्ण-शीर्ण अनमोल ग्रंथों को एक ही ग्रंथ में आबद्ध करने का एसा साधारण बल मिला कि प्रात: होते ही अपने नित्य-नियम के कार्यों से निवृत्त होकर वि.सं. 1946 में आश्विन शुक्ल द्वितीया के दिन प्राकृत के महान् कोश की रचना का शुभारम्भ किया।

'श्री अभिधान राजेन्द्र प्राकृत महाकोश' नामक इस विश्वकोश के लेखन कार्य का शुभारंभ स्वयं ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी[1] ग्रंथ रचना में सहयोगी आचार्य श्रीमद् विजय धनचंद्र सूरीश्वरजी (तत्कालीन मुनि श्री धनविजयजी[2]) एवं ग्रंथ-संशोधक उपाध्याय श्री मोहन विजयजी जो कि ग्रंथ-रचना के प्रारंभ के समय वहीं थे[3] एवं संपादक-द्वय आचार्य श्रीमद् विजय भूपेन्द्र सूरीश्वरजी (तत्कालीन मुनि दीपविजयजी), आचार्य श्रीमद् विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी[4] तथा वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी[5] के अनुसार **वि.सं. 1946 आश्विन शुक्ला द्वितीया के दिन राजस्थान के जालोर प्रांत के अन्तर्गत स्थित सियाणा नगरमें श्री हेमचंद्राचार्य के उपदेश से परमार्हत राजा कुमारपाल द्वारा निर्मित श्री सुविधिनाथ जिनालय के निकट संघवी शेरी में स्थित पोरवालों की धर्मशाला (पौषधशाला) में किया था।**[6]

लेखन विधि :-

आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज के अनुसार 'अभिधान राजेन्द्र कोश' की रचना के समय आज की तरह पेन, बालपेन आदि आधुनिक लेखन-सामग्री उपलब्ध नहीं थी। आपके अनुसार आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी प्रतिदिन **नारियल की कटोरी में देशी पद्धति से निर्मित स्याही में भीगा कपडा रखते और बरु की कलमसे** दिनभर लिखा करते। सूर्यास्त के पूर्व कपडे को सुखा देते और दूसरे दिन फिर उसी **कपडे को पानी में भिगोकर अपना लेखनकार्य प्रारंभ करते।**[7]

समयावधि :-

दृढ संकल्पबल-मनोबल, एवं आत्मिक साहस के साथ चौदह वर्षों तक उनका यह लेखन-कार्य अबाध गति से चलता रहा। इसी बीच उन्होंने मारवाड, गुजरात और मालवा के विभिन्न प्रदेशों में लम्बे-लम्बे उग्र विहार किये। छट्ठ-अट्ठमादि तपस्याँ भी की, एवं प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, भागवती दीक्षा प्रदान आदि अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कार्य भी संपन्न किये। समाज के बिछुडे लोगों को भी आपस में मिलाया।

चातुर्मास काल को छोडकर, वे गाँव में एक दिन और शहर में 5 दिन से अधिक बिना कारण कहीं कभी भी नहीं ठहरे। ऐसी विषम परिस्थिति में उन्होंने यह कार्य किया- यह बडे आश्चर्य की बात है। सतत विहार में लगे रहना, विपक्षियों के तर्कों का उत्तर देना, उपवास-छट्ठ-अट्ठमादि तप करना और अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करना और इन सबके साथ अपने दिमाग का संतुलन न खोते हुए करीब 10,000 रोयल पेजी (मुद्रित) पृष्ठों के ग्रंथ का निर्माण करना। सचमुत ही बडा कठिन कार्य है परंतु श्रीमद् अपने निश्चय में अडिग रहे, अन्ततः उन्होंने यह महान् 'ज्ञानकोश' (विश्वकोश) पूरा कर ही लिया।[8]

अभिधान राजेन्द्र कोश की पूर्णाहूति :-

''वासे पुण्णरसंकचन्दपडिए चित्तम्मि मासे वरे,
हत्थे भे सुहतेरसीबुहजए पक्खे य सुभ्भे गए।
सम्मं संकलिओ य सूरयपुरे संपुण्णयं संगओ;
राइंदायरिएण देउ भुवणे राइंदकोसो सुहे॥[9]''

अर्थात् विक्रम संवत् 1960 (पूर्ण-0, रस-6, अंक-9' चंदपिडे-1, 'अङ्कानां वामतो गतिः'- इस नियम के अनुसार **1960) में चैत्र मास में शुक्ल पक्ष में तेरस, बुधवार के दिन हस्त नक्षत्र के योग में आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने सूर्यपुर/सूरत (गुजरात) में यह राजेन्द्र कोश पूर्ण किया।** वर्तमान उदयपुर (मूलतः निम्बाहेडा, जि. चितौड, राजस्थान) के निवासी श्री ओमप्रकाश डांगीने अभिधान राजेन्द्र कोश के निर्माण की कालगणना करते हुए लिखा है कि ''इस कोश का निर्माण 13 साल, 6 महिने और 3 दिन में पूरा हुआ था।''[10]

प्रारंभ की तिथी से समापन की तिथी तक कालगणना करने पर यह समय साधारण रुप से 13 वर्ष, 6 महिने और 11 दिन होता है, परंतु तिथियों के क्षय के कारण 8 दिन का अंतर संभव है।

रचनावधि के विषय में भ्रम और विशेष वक्तव्य :-

ग्रंथकर्ता के शब्दों में अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रारंभ एवं समापन की जो तिथियाँ दी गयी हैं उस पर कालगणना करते हुए इसकी रचनावधि 13 वर्ष, 6 महिने और 3 दिन मानी है। किन्तु

1. अ.रा.भा. 7, प्रशस्ति संस्कृत श्लोक 10
2. वही, श्लोक 9
3. उपाध्याय श्री मोहन विजयजी विरचित गुर्वष्टकम्, श्लोक, अ.रा.भा.3, प्रथमावृत्ति
4. उपोद्घात पृ. 2 एवं मुनि श्री दीपविजयजी रचित गुर्वष्टकम्, अ.रा.भा.3, प्रथमावृत्ति तथा मुनिश्री यतीन्द्र विजयजी रचित गुर्वष्टक-श्लोक, अ.रा.भा.3, प्रथमावृत्ति
5. श्री अभिधान राजेन्द्र कोश विशेषांक : शाश्वत धर्म, फरवरी - 1990, पृ. 19
6. वही, पृ. 20, वि.सं. 2060, माघ सुदि नवमी, आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरि के प्रवचन, सियाणा (राजस्थान)
7. श्री अभिधान राजेन्द्र कोश विशेषांक : शाश्वत धर्म, फरवरी - 1990, पृ. 20
8. वही
9. अ.रा.भा. 7 के अंत में प्राकृत में लिखित प्रशस्ति श्लोक
10. विश्वपूज्य, प्रस्तावना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारी कालगणना के अनुसार यह अवधि 13 वर्ष 6 महिने और 11 दिन होती है। जो कि तिथियों की क्षयवृद्धि के कारण 8 दिन का अंतर है। इसलिए इस अवधि पर अंत:साक्ष्य उपलब्ध होने के कारण संशय के लिये कोई अवकाश नहीं हैं।[11]

परंतु उपोद्घात के लेखक संशोधक द्वय के शब्दों में 22 वर्ष तक परिश्रम करके इस ग्रंथ की रचना हुई।[12] इस कथन से रचनावधि में महान अंतर दृष्टिगोचर होता हैं। क्योंकि अंत: साक्ष्य से बलवान बाह्य साक्ष्य नहीं होता इसलिए संशोधकद्वय ने विषयवस्तु के विभाग की भांति ही अंत: साक्ष्य के विरुद्ध मतभेद किया हैं।

हमारी दृष्टि में इसका समाधान यह है कि इसकी रचना तो उपर्युक्त अवधि में पूरी हुई, लेकिन मूल विषय-वस्तु के अतिरिक्त भी इसके अग्र भाग और पश्चम भाग भी अवयवी के ही अवयव होते हैं, इसलिए इसकी सत्यता हेतु हम प्राकृत कोश (प्रथम उपक्रम जो कि, 'श्री अभिधान राजेन्द्रः' के नाम से प्रारंभ हुआ और बाद में इसे 'पाइय सद्दंबुहि' नाम दिया गया) के प्रारंभ की तिथि निम्नाङ्कित तथ्यों के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं -

- वि.सं. 1940 में राजगढ चातुर्मास करके उसी वर्ष फाल्गुन सु. सप्तमी को धामन्दा (म.प्र.) में प्राण प्रतिष्ठा के पश्चात् उग्रविहारी आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के वि.सं. १९४० में ही अहमदाबाद पहुँचते ही[13] विदेशी विद्वानोंने उनसे संपर्क किया हो और उनसे हुए वार्तालाप से आचार्यश्रीने उसी समय संकल्प करते हुए जैनागम संबंधी प्राकृत शब्दकोश की रचना का प्रारंभ किया हो, तो यह समय वि.सं. 1940 ही माना जायेगा।
- वि.सं. 1940 से वि.सं. 1961 (प्राकृत विवृत्ति-परिशिष्ट अ.रा.को.) तक वर्ष/संवत् गिनने पर यह सिद्ध होता है कि, अभिधान राजेन्द्र कोश का निर्माण 22 वर्षो में हुआ।
- संशोधकद्वयने जैन दीक्षा ग्रहण (वि.सं. 1953 एवं 1954) के साथ ही जैनागमों का तीव्र गति से गंभीर अध्ययन करते समय अपने गुरुदेव आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. से निर्माणाधीन श्री अभिधान राजेन्द्र कोश (मूलग्रंथ का निर्माण वि.सं. 1946 से) एवं उसका प्रथम उपक्रम (पाइय सद्दंबुहि) के बारे में असंदिग्ध जानकारी प्राप्त की होगी।
- 'अभिधान राजेन्द्रः' के नाम से आरब्ध हुआ 'पाइय सद्दंबुहि' वि.सं. 1960 में सूरत (गुजरात) में पूर्ण हुआ एवं उसके परिशिष्ट के रुप में प्राकृत विवरण (व्याकृति/विवृत्ति) वि.सं. 1961 में कुक्षी (म.प्र.) में पूर्ण हुआ। अत: संशोधकद्वय की दृष्टि में प्रथम उपक्रम (वि.सं. 1940) से परिशिष्ट (वि.सं. 1961) तक अभिधान राजेन्द्र कोश के निर्माण में 22 वर्ष लगे। यह कथन युक्तियुक्त ठहरता हैं।
- उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर संशोधक द्वय का यह कथन कथमपि असमीचीन नहीं है कि 22 वर्षो का परिश्रम इस ग्रंथ की रचना में लगा।

हमने यहाँ पर रचनावधि का सामञ्जस्य बैठाने का प्रयास किया है, इसमें हमारी कोई दुरभिसंधि नहीं है किन्तु उपर्युक्त सभी तथ्य युक्तियों एवं ठोस प्रमाणों पर आधारित है।

11. अ.रा.भा. 7, अंतिम प्राकृत एवं संस्कृत प्रशस्ति
12. अभिधान राजेन्द्र, उपोद्घात पृ. 2
13. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि का रास, उत्तरार्द्ध, अंतिम ढाल-लेखक रायचंदजी

'सर्वेषां भाजनं विनयः'

"विणया णाणं णाणाउ, देसणं दंसणाहिं चरण तु ।
चरणाहिंतो मोक्खो, मुक्खे सुक्खं अणाबाहं ।।1।।"
"विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषा फलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरति-र्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ।।2।।
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्ज्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ।।3।।
योगनिरोधाद् भवस-न्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात्कल्याणानां, सर्वेषां भाजनं विनयः ।।4।।

– अ.रा.पृ. 6/337

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. अभिधान राजेन्द्र कोश का एकनिष्ठ परिचय

अभिधान राजेन्द्र कोशकी रचना की पृष्ठभूमि जैनागम साहित्य को समझने में सहायक, पूर्ण एवं वैज्ञानिक शब्दकोश का न होना रहा है।

इस कारण[1] आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने जैन-आगमों को समझने में सहायक हो सकनेवाले इस महाकोश की रचना की है। आचार्यश्री का कथन है कि "इसमें जैन-आगमों के सभी विषयों के सभी शब्दों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।[2] संपादकों के द्वारा प्रशस्ति लिखते समय यह स्पष्ट किया गया है कि "इस कोश में सर्वज्ञ के द्वारा निरुपित, गणधर के द्वारा निर्वर्तित (रचित) सूत्र, उन पर उपलब्ध सभी प्राचीन सूत्र, वृत्ति, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि आदि में गुंथे हुए सभी दार्शनिक-सिद्धांत, इतिहास, शिल्प, वेदांत, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि में दर्शित शब्दों के वाच्य-पदार्थो के युक्तायुक्तत्व का निर्णय किया गया है। यह कोश विस्तृत भूमिका, उपोद्घात, प्राकृत-व्याकृति, प्राकृत शब्दों के रुप-इत्यादि परिशिष्टों से अलंकृत है -

"श्री सर्वज्ञ प्रसपित-गणधरनिर्वर्तिताऽद्यस्विनोपलभयं-मानाऽशेष-सूत्र-तद्वृत्ति-भाष्य-निर्युक्ति-चूर्ण्यादिनिहित-सकलदार्शनिक-सिद्धान्तेतिहास-शिल्प-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-मीमांसादि-प्रदर्शितपदार्थयुक्ता-युक्तत्त्वनिर्णायकः। बृहद् भूमिको-पोद्घात-व्याकृति-प्राकृतशब्द-स्मावल्यादिपरिशिष्टसहितः।"[3]

अभिधान राजेन्द्र कोश अर्ध-मागधी भाषा के साथ-साथ सभी प्राकृत भाषा भेदों का मौलिक कोश ग्रंथ है। इस शब्दकोश में छोटे-बडे 60,000 शब्द, सहस्राधिक सूक्तियाँ, 500 से अधिक कथो-पकथाएँ, साढे चार लाख श्लोक संग्रहीत है। इस कोश में आये हुए शब्दों पर व्याख्या भाग प्रचुर रुप में उपलब्ध है।

अभिधान राजेन्द्र कोश : भाषा शैली:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आये हुए शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरि ने इस कोश में सबसे पहले अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृत शब्द, इके बाद उसका संस्कृत में अनुवाद दिया है। इसके बाद लिङ्ग, व्युत्पत्ति और तत्पश्चात् उन शब्दों के जैनागमों में प्राप्त विभिन्न अर्थ संदर्भ सहित दिये हैं और यथास्थान आवश्यकतानुसार शब्द की सिद्धि व्याकरण के सूत्रों के साथ दी है। यथास्थान समास आदि का भी संकेत दिया है।

विषय वस्तु का विभाग एवं उसके प्रमाण:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में करीब 60,000 शब्दों का ससंदर्भ अर्थ एवं विस्तृत व्याख्या दी गयी है। इतनी विशालकाय विषय-वस्तु को एक पुस्तकाकार में निबद्ध किया जाना असंभव है। क्योंकि उपलब्ध कागज का भार ही इतना हो जाता है, जो किसी व्यक्ति से सहजतया उठाया जाना संभव नहीं है और फिर यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो उस पुस्तक को एक जिल्द में बाँधना संभव नहीं हो सकता। इस पर भी यदि आधुनिक युग में कम्प्यूटर यंत्र के C.D. माध्यम से में एक पुस्तक के रुप में भी निबद्ध किया जाये तो भी विषय-वस्तु का विभाग अवश्यंभावी हो जाता है।

आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने निजबुद्धि के अनुसार वैज्ञानिक ढंग से संपूर्ण विषय-वस्तु को 7 (सात) भागों में विभक्त किया था, जिसे यथावत रुप में प्रकाशित कर श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताम्बर श्रीसंघने जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत किया हैं।

इस विषय में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के शब्दो में ही प्रस्तुत विषय के समर्थन में प्राप्त प्रमाण अग्रलिखित हैं-

1. सप्तम भाग को छोडकर सभी (1 से 6) भागों को प्रारंभ करते हुए मंगलाचरण दिये गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्यश्रीने बुद्धिपूर्वक विषय-वस्तु के विभाग करते हुए शिष्ट-परम्परा के अनुसार मंगलाचरण किया है।
2. तृतीय भाग के मंगलाचरण में 'तइयम्मि'[4]।
3. इस प्रकार चतुर्थ भाग के मंगलाचरण में 'चउत्थभागं'[5] ('चतुर्थभागं'-संस्कृत) की, पञ्चम भाग के मंगलाचरण में 'भागम्मि य पञ्चम्मि'[6] ('भाग पंचमें'-संस्कृत) और इसी प्रकार षष्ठ भाग के मंगलाचरण में 'छट्ठे भागे' ('षष्ठे भागे'-संस्कृत)[7] शब्द के द्वारा क्रमशः तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ भाग के प्रारंभ की सूचना दी गयी है।
4. यद्यपि सप्तम भाग के प्रारंभ में (मुद्रित ग्रंथ में) मंगलाचरण नहीं दिया है परंतु अन्त में ग्रंथकर्ता के द्वारा पूर्णता विषयक श्लोक प्राकृत भाषा में एवं ग्यारह श्लोकप्रमाण प्रशस्ति संस्कृत भाषा में दी है किन्तु इसमें सप्तम भाग का या सप्तम भाग की समाप्ति का उल्लेख नहीं किया गया परंतु प्रशस्ति से यह ग्रंथ यही पर समाप्त हुआ - ऐसा अभिप्राय होता है।[8]

---

1. षण्ठ्यपथ के बाद का श्लोक- अ.रा.भा.4
2. प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना, एवं उपोद्घात-अ.रा.भा.।
3. अभिधान राजेन्द्र का प्रथम (मुख्य) पृष्ठ, प्रथमावृत्ति।
4. वाणिं जिणाणं चरणं गुरुणं, काऊण चित्तम्मि सुयप्पभावा।
   सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छामि भागे तइयम्मि सव्वं॥
   - अ.रा.भा.-3-मंगलाचरण
5. नमिऊण वद्धमाणं, सारं गहिऊण आगमाणं च।
   अहुणा चउत्थभागं, वोच्छं अभिहाणसुंदे॥
   - अ.रा.भा.-4-मंगलाचरण
6. वीरं नमेऊण सुरेसपुज्जं, सारं गहेऊणं तयागमाओ।
   साहूण सड्ढाण य बोहयं तं, वोच्छामि भागम्मि य पञ्चम्मि॥
   -अ.रा.भा. 5, मंगलाचरण
7. सिरि वद्धमाणसामिं, नमिऊण जिणागमस्स गहिऊण।
   सारं छट्ठे भागे, भवियजणसुहावहं वोच्छं॥ -अ.रा.भा.6, मंगलाचरण
8. (क) वासे पुण्णरसंकचन्दपडिए चित्तम्मि वासे वहे, हत्थे भे सुहतेरसीबुहजए पक्खे य सुम्भे गए।
   सम्मं संकलिओ य सूरयपुरे संपुण्णयं संगओ, राइंदायरिएण देउ भुवणे राइंदकोसो सुहं॥
   -अ.रा.भा. 7, प्राकृत में पूर्णता सूचक प्रशस्ति श्लोक
   (ख) धनवन्यभूत्तर्कयुगाङ्कपृथ्वीवर्षे सियाणानगरेऽस्य सृष्टिः।
   पूर्णोऽभवत् सूर्यपुरे ह्यविघ्नं, शून्याङ्कध्येकमिते सुवर्षे॥
   - अ.रा.भा.7, प्रशस्ति - संस्कृत श्लोक-10

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. षष्ठ-भाग की समाप्तिका पुष्पिका के अंतिम वाक्य में षष्ठ-भाग समाप्त होने की सूचना दी गयी है।[9] इससे सिद्ध होता है कि इससे आगे का भाग जिस पर यह ग्रंथ समाप्त हो जाता है, इस ग्रंथ का सप्तम भाग है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि इस ग्रंथ की विषय-वस्तु सात ही भागों में विभक्त है न कि चार भागों में।

विषय-विभाग के विषय में भ्रमात्मक उल्लेख का कारण और निराकरण:-

ऊपर कह आये हैं कि प्रस्तावना उपोद्घात में विषय वस्तु का विभाग 4 भागों में किये जाने का उल्लेख है। यह उल्लेख प्रस्तावना और उपोद्घात के लेखकों (अभिधान राजेन्द्र के सम्पादकों) द्वारा किये गये हैं जिनको मूल रुप से नीचे उद्धृत किया जा रहा है-

(1) ".....अर्थात् 'अभिधान राजेन्द्र' नाम का कोश मागधी-भाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया"।[10]

(2).....। यद् -'अभिधानराजेन्द्र' नाम कोश: प्राकृतभाषाप्रभेदभूतमागध्यां विरचय्य चतुर्षु भागेषु विभक्त: ।[11]

उपरिलिखित दोनों उल्लेखों से यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि अभिधान राजेन्द्र कोश चार भागों में ही लिखा गया हो। परंतु संशोधकद्वय ने ही सातों भागों का संशोधन करके उनकी प्रशस्तियाँ लिखी हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया है- 'षष्ठ भाग समाप्त हुआ।" अर्थात् षष्ठ भाग से आगे भी कोई भाग है और वह आनुपूर्वीक्रम से अर्थात् क्रमभाव संबंध से सप्तम भाग ही होता है। चूंकि आगे की विषय-वस्तु पूरी होने के साथ ही यह ग्रंथ भी समाप्त हो गया, इसलिए यहाँ पर सप्तम भाग के अंत में ग्रंथ समाप्ति की प्रशस्ति दी गयी है।

यदि सप्तम भाग के अंत में भी 'समाप्तश्चाऽयं सप्तमो भाग:' -ऐसी प्रशस्ति होती तो उससे क्रमभाव संबंध से यह ज्ञात होता कि इसके आगे भी कोई विषय-वस्तु है। अत: न्याय के सिद्धांत पर क्रमभाव[12] को दृष्टि में रखकर 'समाप्तश्चायं सप्तमो भाग: ।' ऐसा उल्लेख नहीं किया है, और ऐसा उल्लेख न करने से संशोधकद्वय ने यह सिद्ध किया है कि इस ग्रंथ के सात ही भाग हैं, आठवाँ नहीं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि इस ग्रंथ के सात ही भाग हैं, न्यूनाधिक नहीं, तो परम विद्वान्, आगमज्ञाता, अभिधान राजेन्द्र कोश के संशोधकद्वय एवं प्रस्तावना के लेखक, उपाध्याय श्री मोहन विजयजीने अपने लेखन में चार भागों में विभाग करने का निर्देश करने की त्रूटि कैसे की होगी ? यह आश्चर्य का विषय है, अर्थात् त्रुटि नहीं की है। उनका कथन भी आंशिक रुप से समीचीन जान पडता है, जिसके विषय में हमारा अभ्युपगम निम्न प्रकार से हैं-

(1) आचार्य विजय जयन्तसेनसूरि के प्रवचन के अनुसार आचार्य विजय राजेन्द्रसूरि ने कोश ग्रंथ का प्रणयन प्रारंभ किया था लेकिन संतुष्टि न होने पर दूसरी बार फिर से लेखन कार्य आरम्भ किया। फिर भी उन्हें संतुष्टि न होने पर तीसरी बार लेखन शुरु किया जिसका परिणाम 'अभिधान राजेन्द्र कोश' हैं।

(2) हमारा अभ्युपगम यह है कि आचार्यश्रीने वि.सं. 1940 में विदेशी विद्वानों की मुलाकात के बाद 'प्राकृत कोश' की आवश्यकता अनुभव की और अल्प-काल के बाद ही उसकी प्रणयन प्रक्रिया प्रारंभ की और एक विशाल शब्द राशि का संकलन कर अभिधान राजेन्द्र नामक प्राकृत-संस्कृत पर्याय कोश की चार भाग में रचना की, जिसे बाद में 'पाइयसद्दंबुहि' नाम दिया गया - यह इसके प्रथम पृष्ठ को देखने से ज्ञात होता है। इसमें पहले मूल प्राकृत शब्द देकर पश्चात् उसके अनेक अर्थ संस्कृत में दिये गये हैं। ('तीर्थंकर' मासिक के अभिधान राजेन्द्र कोश विशेषांक में एवं राजेन्द्र ज्योति में 'पाइयसद्दंबुहि' के प्रथम पृष्ठ की हस्तप्रति की छायाप्रति मुद्रित की गयी है।)

(3) चूंकि आचार्यश्री एक संदर्भ कोश की रचना करना चाहते थे इसलिए ऊपर वर्णित प्राकृत-संस्कृत पर्याय कोश से संतुष्ट नहीं हुए, यद्यपि इसमें जैनागम साहित्य में प्राप्त अर्ध-मागधी भाषा के शब्दों का संकलन किया जा रहा था।

(4) श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ के पृष्ठ क्रमांक 88 के अनुसार 'पाइयसद्दंबुहि' ग्रंथ में पहले प्राकृत फिर उसके संस्कृत पर्याय और तदनन्तर हिन्दी अर्थ दिये गये हैं।

(5) आचार्यश्री के समय में हिन्दी की भाषा के रुप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी और संस्कृत के ज्ञाता कम थे, अत: कोश को लोकोपयोगी बनाने के लिये आचार्यश्रीने दूसरे उपक्रम में अपने प्राकृत कोश का प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी पर्याय कोश के रुप में लेखन प्रारंभ किया। निश्चित ही यह भी प्रथम उपक्रम के अनुरुप चार भागों में विभक्त किया गया होगा।

(6) परंतु आचार्यश्री के अभीष्ट संदर्भ कोश की पूर्ति इस प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी पर्याय कोश से भी नहीं होती थी, इसलिए आचार्यश्री ने तीसरे उपक्रम में ससंदर्भ कोश की रचना प्रारंभ की जिसका कि वि.सं. 1946 आश्विन शुक्ल द्वितीया को सियाणा (राजस्थान) नगर में प्रारंभ होने का उल्लेख अभिधान राजेन्द्र कोश में प्राप्त होता है और यह तीसरे उपक्रम में लिखा हुआ कोश 'अभिधान राजेन्द्र कोश' के नाम से विख्यात हैं।

(7) श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ एवं अभिधान राजेन्द्र विशेषांक: शाश्वत धर्म में उल्लेख है कि 'पाइयसद्दंबुहि' की पूर्णाहुति वि.सं. 1956 में शिवगंज में हुई। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्यश्रीने प्रथम उपक्रम के प्राकृत-संस्कृत पर्याय कोश से पूर्ण संतुष्ट न रहने पर भी उसका लेखन कार्य जारी रखा और उससे संतुष्ट न होने पर दूसरे उपक्रम के प्राकृत-संस्कृत-हिन्दी' पर्याय कोश का लेखन प्रारंभ किया और उससे भी संतुष्ट न होने पर संदर्भ कोश का तृतीय उपक्रम किया। और साथ ही प्रथम और द्वितीय उपक्रम के कोशों को लोकोपयोगी मानते हुए दोनों का भी लिखना जारी रखा जो कि चार भागों में विभक्त था।

---

9. ----समाप्तोश्चाऽयं भाग: । अ.रा.भा.6, पृ.1458

10. अ.रा.भा. .... प्रथम आवृत्ति की प्रस्तावना - पृ. 2 (उपाध्याय मुनि श्री मोहन विजयजी)

11. अ.रा.भा. 1 उपोद्घात, पृ. 2 (संशोधक मुनि दीपविजयजी एवं मुनि यतीन्द्र विजयजी)

12. पूर्वोत्तरचारिणो: कार्यकारणयोश्च क्रमभाव: । प्रमेयकमलमार्तण्ड, परोक्ष परिच्छेद सूत्र 3/8
पूर्वोत्तरचारिणो: कृतिका-शकटोदयादिस्वरुपयो: कार्यकारणयो-श्चाग्निधूमादिस्वरुपयो: क्रमभाव:....।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(8) तृतीय उपक्रम वस्तुतः प्रथम उपक्रम का ही विस्तार है। चूंकि प्रथम और द्वितीय उपक्रमों में यह ग्रन्थ चार भागो में विभक्त था, इसलिए 'कारणानुरुपं कार्यम्, इस सिद्धांत के अनुसार 'अभिधान राजेन्द्र कोश' का लेखन प्रारंभ होने के साथ ही यह भी सिद्धांततः स्थापित हो चुका था कि अभिधान राजेन्द्र कोश की विषय-वस्तु चार भाग में विभाजित हैं। चूंकि एक साथ तीन उपक्रम चल रहे थे इसलिए प्रथम दो उपक्रमों की गति भी मंद हो गयी होगी और इस प्रकार 'पाइयसद्दंबुहि' की रचना वि.सं. 1956 में पूर्ण हो सकी होगी।

(9) चूंकि इन कोशों की रचना एक लम्बे समय तक चलती रही और 'पाइयसद्दंबुहि' वि.सं. 1956 में पूर्ण हो गया जो कि चार भागों में विभक्त था, और जिस पर तीसरा उपक्रम 'अभिधान राजेन्द्र कोश' भी आधृत था, यह स्वाभाविक है कि भविष्य में पूरा होने वाला बुद्धिस्थ 'अभिधान राजेन्द्र कोश' भी जानकारों / संशोधकों के ज्ञान में चार भागों में विभक्त हो गया।

(10) 'संस्कार बलवान होता है' और यही कारण है कि जिन संशोधकोंने पूरे अभिधान राजेन्द्र कोश का एक-एक अक्षर पढकर अपने स्वयं के हाथों से आठ-आठ वर्षों तक उसे संशोधित किया और स्वयं सात भागों में प्रकाशित करवाया, तथापि अभिधान राजेन्द्र कोश के बुद्धिस्थ चार विभाग का उल्लेख प्रस्तावना एवं उपोद्घात में संशोधित नहीं किया जा सका।

हमने यहाँ 10 बिन्दुओं में तथ्यों को उपस्थित करके अपने अभ्युपगम को सिद्ध किया है कि अभिधान राजेन्द्र कोश का चार भागों में विभक्त होना - क्यों संकेतित किया गया है। विद्वानों का कर्तव्य है कि हमारे इस अभ्युपगम पर सयुक्तिक विचार करें।

'ते प्राप्नुवन्ति महोदयम् ।'

जय देवाधिदेवाऽऽधि - व्याधिवैधुर्यनाशन ! ।
सर्वदा सर्वदारिद्रय-मुद्राविद्रावणक्षमः ।।1।।
अगण्यपुण्यकास्रय - पण्याऽऽपणवृषध्वज ! ।
जयसन्देहसन्दोह-शैलदम्भोलिसन्निभ! ।।2।।
स्फुरत्कषायसन्ताप - संपातशमनाम्त ! ।
जय संसारकान्तार - दावपावक पावन ।।3।।
सदा सदागमाम्भोज - विबोधनदिनप्रभुम् ! ।
नत्वा नत्वा भवे भावि, भविनः पतनं खलु ।।4।।
ये देवदेव गंभीर-नाभे ! नाभेय! भूरिभिः ।
त्वद्गुणैः स्वं नियच्छन्ति, ते मुक्तां स्युर्महाद्भुतम् ।।5।।
देव ! त्वन्नामसन्मन्त्रो, येषां चित्ते चकास्ति न ।
मोहसर्पविषं तेषां, कथं यातु क्षयं क्षणात् ।।6।।
परिस्पृशन्ति ये नित्यं, त्वदीयं पदपङ्कजम् ।
तेषां तीर्थेश्वरत्वाऽऽदि-पदवी न दवीयसी ।।7।।
नमः सद्दर्शनज्ञान-वीर्याऽऽनन्दमयाय ते ।
अनन्तजन्तुसन्तान-त्राणप्रवणचेतसे ।।8।।
एवं युगाऽऽदितीर्थेशं, ये स्तुवन्ति सदा नराः ।
देवेन्द्रवृन्दवन्दायस्ते, प्राप्नुवन्ति महोदयम् ।।9।।

– अ.रा.पृ. 6/69

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश : नामकरण के विभिन्न अर्थ

इस प्रकार प्रस्तुत विश्वकोश का प्रचलित नाम 'अभिधान राजेन्द्रः कोशः' है जिसका अर्थ निम्नानुसार है-

अभिधानानां (नामधेयानां/नाम शब्दानां) राजा-इति षष्ठ्ययलाच्छेषे (सिद्ध हेम. 3-1-76) सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष समास होकर राजन् सखेः (सिद्ध हेम. 7-3-106) सूत्र से समासान्त अट् प्रत्यय लगने पर 'अभिधान राज' शब्द बनता है।

अभिधानराज्ञां इन्द्रः इति-पुनः उसी सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष समास करने पर 'अभिधान राजेन्द्रः' शब्द बनता हैं।

अभिधान राजेन्द्रः स च कोशः इति-कर्मधारय समास करने पर अभिधान राजेन्द्रः कोशः शब्द बनता है अथवा अभिधानराजेन्द्र -कृतः कोशः इति अभिधान राजेन्द्रः कोशः (मध्यमपद लोपी समास) शब्द निष्पन्न हुआ।

'अभिधान राजेन्द्रः कोशः' - इस में तीन शब्द है अभिधान = संज्ञा, शब्द, नाम, तुल्य नाम में

अर्थज्ञान, उच्चारण आदि (अ.रा.पृ.1/733)

राजेन्द्र = राजाओं के इन्द्र/चक्रवर्ती

राजा = राजा, गौतम स्वामी आदि गणधर, आचार्य भगवंत (जिन शासन के राजा)

इन्द्र = शोभनीय, ऐश्वर्य

कोश = भण्डार, खजाना

अभिधान राजेन्द्र कोश में कोश/कोष शब्द के अनेक अर्थ दर्शाये हैं यथा, अण्डा, मिले हुए सोना-चांदी, अर्धविकसित फूल, समूह, दिव्य का एक प्रकार, शब्द पर्यायज्ञापक नाम, पानपात्र, शराब पीने का प्याला, कोवा, नेत्रकोष, आश्रय, धान्य भण्डार, भाण्डागार, खजाना, वारकपात्र, म्यान, प्रत्याकार, चर्मकोश, भण्डार, दो हजार धनुष्य प्रमाण नाप, कान्यकुब्ज देश (अ.रा.पृ. 3/681)

इस प्रकार आचार्यश्रीने 'कोश' शब्द के अनेक अर्थ दर्शाये हैं जिसमें से यहाँ पर कोश शब्द का खजाना या भण्डार' यह अर्थ अभीष्ट हैं।

अतः 'अभिधान राजेन्द्रः कोशः' का शाब्दिक अर्थ निम्नानुसार है-

(1) नामों के चक्रवर्ती का खजाना

(2) शब्दों के राजा का ऐश्वर्य भण्डार

(3) शब्दचक्रवर्ती का भण्डार

(4) **गौतमादि गणधरों के द्वारा जैनागम रूप में गूँथा हुआ सुसमृद्ध ज्ञान का अक्षय खजाना।**

अभिधान राजेन्द्र कोशः - नामकरणः-

अभिधान राजेन्द्र कोश 'अर्हम्' इस मंगलवाची शब्द के साथ वर्णानुक्रम से 'अ' -इस एकाक्षर शब्द से प्रारंभ हुआ हैं। तदन्तर -

(1) इस कोश का नाम 'अभिधान राजेन्द्रः' ऐसा दिया गया है[13] एवं चौथे भाग के मंगलाचरण में 'अभिहाण राइंद'[14] अर्थात् 'अभिधान राजेन्द्र' एसा नाम दिया गया है।

(2) श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के अंतिम भाग की प्राकृत पुष्पिका में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने इस कोश का नाम 'राइंद कोस' अर्थात् 'राजेन्द्र कोश' दिया है- ...राइंदायरियेण देउ भूवणे राइंदकोसो सुहं ॥[15]

(3) आगे इसके बाद कर्ता स्वयं आचार्य विजय राजेन्द्रसूरि के द्वारा लिखित 11 श्लोक प्रमाण संस्कृत प्रशस्ति में इस कोश का नाम '**अभिधान राजेन्द्र प्राकृत महाकोश**' दिया गया हैं।[16]

(4) और सप्तम भाग के अंत में मुद्रण - परिचय में इस कोश का नाम 'राजेन्द्र कोश' दिया हैं।[17]

इस प्रकार इस कोश का प्रचलित नाम '**अभिधान राजेन्द्र कोश**' एवं पूरा नाम '**श्री अभिधान राजेन्द्र प्राकृत महाकोश**' ज्ञात होता हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश : पृष्ठ संख्या

अभिधान राजेन्द्र कोश भाग क्र.	मूल ग्रंथ पृष्ठ संख्या		अतिरिक्त पृष्ठ संख्या	कुल पृष्ठ संख्या
भाग 1	893	+	157	1050
भाग 2	1215	+	12	1227
भाग 3	1363	+	22	1385
भाग 4	1415	+	25	1440
भाग 5	1627	+	08	1635
भाग 6	1468	+	08	1476
भाग 7	1251	+	09	1260
योग	**9232**	+	**0241**	**9437**

13. अ.रा.भा. 1, उपोद्घात पृ. 2, मूल ग्रंथ पृ. 1
14. अ.रा.भा. 4, मंगलाचरण- अहुणा चउत्थभागं.....वोच्छं अभिहाणराइंदे ॥1॥
15. अ.रा.भा. 7, पृ. 1250 प्राकृत प्रशस्ति श्लोक 1
16. अ.रा.भा. 7, पृ. 1250 संस्कृत प्रशस्ति श्लोक 8, 11
17. राजत्येष सुसाधुमुद्रणमितो राजेन्द्रकोशः शुभः ॥ अ.रा.भा. 7, मुद्रणपरिचय, श्लोक 5

लोगस्स सारधम्मो,
धम्मं पि य नाणसारियं बिंति ।
नाणं संजमसारं,
संजमसारं च निव्वाणं ॥
– अ.रा.पृ. 6/741

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश की प्रस्तावनाएँ

अभिधान राजेन्द्र कोश भाग 1
प्रथम आवृत्ति : प्रस्तावना:-

अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में (1) प्रथम आवृत्ति की प्रस्तावना उपाध्याय श्री मोहन विजयजी द्वारा लिखी हुई प्राप्त होती है। इसकी पहली विशेषता यह है कि यह हिन्दी भाषा में लिखी गई है जबकि प्रथम भाग के ही उपोद्घात, द्वितीय भाग की प्रस्तावना, तृतीय भाग का प्रस्ताव और चतुर्थ भाग का घण्टापथ साहित्यिक संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं। हिन्दी भाषा में लिखने का कारण यह हो सकता है कि पहले अपने अभिप्राय को सरल भाषा में जन-जन तक पहुंचाया जाये तभी इस कोश को पढने की या देखने की प्रवृत्ति लोगों में बनेगी। और अन्य प्रस्तावों की भाषा संस्कृत इस कारण से है कि चूंकि अन्य दार्शनिकों की भाषा संस्कृत है, उनके द्वारा स्वीकृत तत्त्वों को उनकी ही भाषा में समझना और उनके मिथ्या सिद्धांतों का खंडन करना उसी भाषा में शोभा देता है जिस भाषा में पूर्वपक्ष हो। और एक कारण यह भी हो सकता है कि अन्य दार्शनिक कहीं यह न समझ बैठें कि "जैनाचार्य न्याय की संस्कृत भाषा जानते ही नहीं है।"

उपाध्याय श्री मोहन विजयजीने प्रस्तावना का प्रारंभ ठीक उसी प्रकार किया है जिस प्रकार से उपोद्घात का किया है। परंतु आगे **जैन धर्म को दयाधर्म, आचार धर्म, क्रिया धर्म और वस्तु धर्म - इन चार भागों में विभाजित बताया है।** तत्पश्चात् अर्ध-मागधी भाषा और सामान्य प्राकृत भाषा के अन्तर का संकेत करते हुए वर्तमान पंचम काल में स्मरणशक्ति रत्नत्रय के ह्रास की दशा **को देखकर श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय भट्टारक 1008 श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.ने धर्मग्रंथ (जैनागमों) के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना की** - ऐसा बताया गया है।

तदनन्तर ग्रंथ को लिखने के **नियमों की सूची और अध्ययन आदि के संकेत** बताये गये हैं। इन्हीं नियमों में प्राकृत शब्दों के विषय में भी कुछ नियमों का संकेत किया गया है।

इस परिचय से एक तथ्य यह भी उभरकर आता है कि अभिधान राजेन्द्र कोश में शब्दों के लिङ्ग, व्युत्पत्ति और समास- इन व्याकरणिक कोटियों का ध्यान रखा गया है।

प्रस्तावना में प्राकृत शब्दों के लिङ्ग एवं संस्कृत शब्दों के लिङ्ग में विलक्षणता का परिचय एवं उसके विषय में अन्य लक्षण ग्रंथकारों के समर्थन-असमर्थन का भी संकेत किया है। प्रस्तावना का एक बडा भाग संपूर्ण अभिधान राजेन्द्र कोश के एकनिष्ठ परिचय से व्याप्त है।

सबसे पहले प्रथम भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषयों का परिचय दिया गया है। इसमें तेरह शब्द समाहित हैं। इसके बाद प्रथम भाग में जिन शब्दों पर कथा या उपकथाएँ आयी हैं उनकी सूची दी गयी हैं। आगे पृष्ठों में भी ठीक इसी प्रकार से प्रत्येक भाग के कतिपय शब्दों का परिचय और फिर उस भाग में आये हुए शब्दों पर आयी कथाओं-उपकथाओं का संकेत किया गया है। इस शोध-प्रबंध में एवं समस्त अभिधान राजेन्द्र कोश के अन्तर्गत आयी हुई कथाओं एवं उपकथाओं की सूची ग्रंथ के परिचय के अन्तर्गत दी गयी है तथा आचारपरक शब्दों पर आयी हुई कहानियों (कथाओं) की संक्षिप्त विषय-वस्तु षष्ठ परिच्छेद में दी गयी है इसलिए यहाँ विस्तार करना उचित नहीं है।

प्रस्तावना में एक सूची ओर दी हुई जिसमें (अकार से ककार तक के शब्दों के अन्तर्गत कोष्ठक में आये हुए शब्दों की अकारद क्रम से सूची दी गयी है।) इस सूची को देखने से यह ज्ञात होता है कि वस्तुत: ये कोष्ठकान्तर्गत शब्द या तो उसी शब्द के समानान्तर प्राकृत शब्द है अथवा उस शब्द के पाठान्तर है। जैसे -'अइइ' -इसका समानान्तर शब्द 'अदिइ' (दकार से लोप न होने कारण), 'अइति' (दकार की लोप होने से और तकार का लोप न होने से), 'अदिति' (दकार और तकार का लोप न होने से संस्कृत का शब्द) इसी प्रकार 'अङ्गुलि' और 'अङ्गुली' संस्कृत भाषा के ही समान डीप्रत्ययान्तर पाठान्तर हैं।

इसके आगे प्राकृत भाषा के व्याकरण की विशेषता के कारण होने वाले वर्णविकार, वर्णागम, वर्णादेश, लोप, वचन-परिवर्तन, एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति का विधान, प्राकृत के स्वरों और व्यञ्जनों की स्थिति, प्राकृत शब्दों के स्वरान्तत्वकी व्यवस्था, द्विवचन का अभाव, स्वर-मात्रा परिगणन के प्राकृत पिङ्गल सूत्र के सिद्धांत और अपवाद इत्यादि व्याकरण नियमों का स्पष्टीकरण **'आवश्यक कतिपय संकेत'** उपशीर्षक से किया है।

इसके आगे एक उपशीर्षक **'प्रकीर्णक विषय'** दिया गया है। इसमें आगमों में वल्लभीपुरीय एवं माथुरीय वाचना भेद और दृष्टिवाद अङ्ग के विच्छेद की चर्चा की गयी है। यहीं पर प्राकृत भाषा की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है और कुमारिल भट्ट के कटाक्ष का सटीक जवाब दिया गया है। यहीं पर आगे संस्कृत व्याकरण एवं प्राकृत व्याकरण के आचार्यों एवं व्याकरणों का संकेत किया गया है।

आगम-ग्रंथों में कहीं पर सूत्रों की टीका या चूर्णि का न पाया जाना और कहीं पर छन्दों में पढनें में असंगति पाया जाना - इन दो विषयों का संकेत करते हुए संप्रति प्राप्त (45 आगमों के नाम, उनकी मूल श्लोक संख्या, उनपर पृथक्-पृथक आचार्यों द्वारा निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, निर्युक्ति और भाष्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण बताया गया हैं। इनमें 11 अंग, 12 उपांग, और दश पयन्ना के साथ छ: छेद ग्रंथ, चार मूल सूत्र और दो चूलिका सूत्र ग्रंथों का निर्देश किया गया है।) इस प्रकार उपाध्याय श्री मोहन विजयजी के द्वारा हिन्दी में लिखित प्रस्तावना पूर्ण होती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय आवृत्ति : प्रस्तावना:-

अभिधान राजेन्द्र कोश की द्वितीय आवृत्ति की अपनी अलग कहानी है। **आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी द्वारा 'सर्वजनहिताय' और 'सर्वजन सुखाय' रचित अभिधान राजेन्द्र कोश, नि:संदेह सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक परम्परा के लिये अत्यन्त गौरव का ग्रंथ है।** परन्तु लेखक और संशोधकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह ग्रंथ न केवल त्रिस्तुतीक परम्परा केलिये, न केवल श्वेताम्बर आम्नाय के लिए, न केवल जैन संप्रदाय के लिए, न केवल दार्शनिकों के लिए है, अपितु, इसका व्यक्तित्व ज्योतिष, भूगोल, गणित, इतिहास, भाषा विज्ञान और व्याकरण विधाओं के लिए भी इनके अध्येताओं और संशोधकों एवं संसार के समस्त विद्वद् जगत् के लिए उपयोगी है। ये शब्द बहुत सीमित हैं और अभिधान राजेन्द्र कोश का हार्द बहुत अधिक है, इसलिए शब्दों में सामर्थ्य न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि **संसार के समस्त प्राणियों का कल्याण करने में यह ग्रंथ समर्थ हैं।**

अत: यह ज्ञात हुआ कि इस परम उपयोगी ग्रंथराज की आवश्यकता बहुत अधिक है और प्रकाशक-त्रिस्तुतिक संघ के पास इसकी प्रतियाँ नहीं हैं, जैसे इस बात की हलचल हुई, वैसे ही वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी (तत्कालीन मुनिराज श्री जयन्त विजयजी) के सामने इस कोश को पुन: प्रकाशित करने या प्रकाशित करने की अनुमति देने का प्रस्ताव कुछ लोगों क द्वारा रखा गया। उस समय आचार्यश्री दक्षिण देश के विहार में थे। वे जब चातुर्मासार्थ मद्रास में विराजमान थे उस समय, तत्काल बाद गुरुसप्तमी के दिन आयोजित विद्वद्गोष्ठी में इस ग्रंथ के पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया गया परंतु कुछ अपरिहार्य कारणों से प्रकाशन का कार्य प्रारंभ होते ही स्थगित करना पडा।

इस मजबूरी का अनुचित लाभ दिल्ली के लोकेस प्रेसके मालिक नरेन्द्रभाई ने उठाया और पूर्वानुमति के बिना ही इसे प्रकाशित करके अतिशय महंगे दामों में बेचकर व्यवसायिक लाभ उठाया[1]।

इस बात की जानकारी **वर्तमानाचार्य श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी** को हुई और तब आपने **श्री भाण्डवपुरतीर्थ** (राजस्थान) पर हो रहे **श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताम्बर श्री संघ के अधिवेशन में इस ग्रंथराज के पुन: प्रकाशन का प्रस्ताव रखा,** वैसे ही श्री संघ ने इस आदेश को स्वीकृत कर उसी समय इस ग्रंथ के पुन: प्रकाशन की घोषणा की **और फिर अनेक श्रेष्ठियों, गुरुभक्तों एवं विद्वाद्जनों के सहयोग से इस ग्रंथ का पुन: प्रकाशन हुआ।**

अभिधान राजेन्द्र कोश की **द्वितीय आवृत्ति की प्रस्तावना** में आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी ने आत्मा और कर्म के अनादि-संबंध का सोदाहरण चित्रण करते हुए, **आठों कर्मों का स्वरुप सोदाहरण समझाया है।** इसका विस्तार द्वितीय आवृत्ति की प्रस्तावना एवं अभिधान राजेन्द्र कोश के भाग-3 में 'कम्म' शब्द पर देखा जा सकता है।

उपर्युक्त अनादि-सान्त-कर्म-सिद्धांत जैन दर्शन में जितना स्पष्ट रुप से समझाया गया है उतना अन्यत्र कहीं नहीं समझाया गया। कर्म सिद्धांत जैन सिद्धांतो में एक प्रमुख सिद्धांत हैं। इसी प्रकार जैन दर्शन के अन्य प्रमुख सिद्धांत हैं, आत्मवाद, अनेकांतवाद, षड्द्रव्यवाद, नवतत्त्ववाद और सादि-अनंत मोक्षवाद।

जैन दर्शन में कारणवाद का निषेध नहीं है। अभिधान राजेन्द्र कोश में ही कार्य-कारणवाद पर एक विशाल संकलन उपलब्ध होता है। हो सकता है कुछ जैनमतावलम्बी भी अन्य शाखाओं से प्रभावित होकर ईश्वर की उपादानता इत्यादि मानते हों, पर वे सच्चे जैन नहीं कहे जा सकते; भले ही उनकी क्रिया या उनका चारित्र जैनानुकूल क्यों न हों। **जैन दर्शन अपने कल्याण और अकल्याण में आत्मा को ही उपादान मानता है[2]।** इसी प्रकार कार्य होते समय जिसकी उपस्थिति सहायक के रुप में होती है, उसे जैन दर्शन निमित्तकारण मानती है। **केवली प्रणीत धर्म प्रत्येक संसारी जीव को ईश्वरत्व प्राप्त करने में निमित्त रुप है। उस धर्म में प्रवेश के लिये सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी सहायक कारण है और आज जब प्राकृत भाषा या अर्ध-मागधी भाषा प्रचलन में नहीं है तब जिनवाणी का रहस्य जानने के लिये अभिधान राजेन्द्र कोश कुंजी के समान है।** इस बात को आचार्य श्रीमद् विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी ने द्वितीय आवृत्ति की प्रस्तावना में स्पष्ट किया है।

अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 1 का उपोद्घात:-

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के संशोधकोंने ग्रंथ का परिचय कराने के उद्देश्य से संस्कृत में एक विस्तृत 'उपोद्घात' लिखा है जो कि अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में प्रस्तावना के बाद निबद्ध है।

प्रस्तावना और उपोद्घात को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि प्रस्तावना के प्रथम अनुच्छेद की सामग्री उपोद्घात के प्राथमिक 9(नौ) अनुच्छेदों की सामग्री से मिलती-जुलती है[3]। इसलिए यह प्रश्न अवश्य आता है कि संशोधक महादयों ने प्रस्तावना लिखने के बाद उपोद्घात लिखने का विचार क्यों किया? और यदि उसी से मिलती-जुलती सामग्री रखनी थी, तो प्रारंभिक अनुच्छेदों के बाद विषय-वस्तु क्यों बदल दी (उपोद्घात में स्याद्वाद, सप्तभङ्गी का निरुपण, समवाय का खंडन, सत्ता पदार्थ का खंडन, अपोह का खंडन, वेदों के अपौरुषेयत्व का खंडन, शब्द के गुणत्व का खंडन, संसार के अद्वैतत्त्व का खंडन, और ईश्वर-व्यापकत्व का खंडन करते हुए अंत में जैन सिद्धांत के अनुरुप एकेन्द्रिय जीवों के भी भाव शुद्ध ज्ञान का समर्थन-इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है।)

इसका उत्तर खोजने पर ऐसा प्रतीत होता है कि संशोधक महोदयों ने पहले तो उपोद्घात लिखा होगा जिसमें की प्राय: सभी भारतीय दर्शनों के सिद्धांतों का खण्डन करते हुए जैनों के प्रमुख सिद्धांत स्याद्वाद का विचार किया होगा, परंतु यह विषय संस्कृत में होने से और दर्शन जैसा रुक्ष विषय होने से अध्येताओं को इस कोश को खोलते ही अत्यन्त कठिन विषय का दर्शन न हो और असंस्कृतज्ञ भी ग्रंथ का परिचय प्राप्त कर सकें, इसके लिए प्रस्तावना बाद में लिखी होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रस्तावना

1. श्री अभिधान राजेन्द्र कोश विशेषांक : शाश्वत धर्म, फरवरी-1990 - मुनि नगराजजी का लेख
2. कल्पसूत्र बालावबोध, पञ्चम व्याख्यान
3. अ.रा.भा.1, प्रथमावृत्ति प्रस्तावना, पृ. 1, 2 एवं उपोद्घात पृ. 1, 2 अनुच्छेद 1 से 9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के बाद उपोद्घात को रखा गया है परंतु उपोद्घात प्रस्तावना के पूर्व लिखा जा चुका था। यही कारण है कि उपोद्घात में आयी हुई अन्य सामग्री प्रस्तावना से अत्यन्त भिन्न है।

उपोद्घात प्रारंभ करते हुए यह बताया गया है कि संसार के सभी प्राणी संसार के क्लेशों से अपने आप को बचाना चाहते हैं परंतु हेयोपादेय में विवेक न कर सकने के कारण सही हानोपाय का अनुसरण नहीं कर पाते। धर्म के बिना कोई भी उपाय नहीं है परंतु इस समय सैंकडों मत चल रहे हैं तो यह कैसे पता चले कि कौन सा तो सही धर्म है और कौन सा धर्माभास है[4] ?

जैन दर्शन में धर्म की कसौटी रखी गयी हैं कि जो राग-द्वेष से रहित अहिंसा है, वही परम धर्म है; राग-द्वेष को जीतने वाले त्रिकालवर्ती सभी पदार्थों को एकसाथ ही प्रत्यक्ष जानने वाले वर्धमान भगवान का यह शासनकाल है और उनका सिद्धांत है -''अहिंसा परम धर्म है।'' जो लोग हिंसा गर्भित अहिंसा को अपनाने का उपदेश करते हैं, वे मधुलिप्त असिधार को जीभ से चाटने का उपदेश करते हैं। जैन दर्शन में हिंसा और अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है जिसे विभिन्न दृष्टांतों से भी यत्र-तत्र समझाया गया है। अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में **'अद्दगकुमार' और 'अहिंसा'** शब्दों में उपलब्ध विस्तार से जैनों की अहिंसा का एक चित्र खींचा जा सकता है[5]।

उपोद्घात में यद्यपि अभिधान राजेन्द्र कोश के निर्माण का प्रयोजन और प्रचार-प्रसार की आवश्यकता का उल्लेख भी किया गया है जो कि साधारण बात है कि कहीं प्रस्तावना में तो कहीं पुष्पिका में इन दोनों बिन्दुओं पर अवश्य कुछ न कुछ लिखा हुआ मिलता है परंतु इसको अत्यन्त संक्षिप्त करते हुए संशोधक महोदय अपने मूल प्रतिपाद्य की ओर बढ जाते हैं और दार्शनिक विमर्श का प्रारंभ करते हुए सभी विषयों का उद्देश-कथन करते हैं -

नाम-कथनकरने के बाद संशोधक महोदय सबसे पहले **सप्तभङ्गी** को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ''एक ही वस्तु में एक-एक धर्म के बारे में प्रश्न पूछे जाने के कारण बिना किसी विरोध के पृथक् और एकत्रित विधि-निषेधों की कल्पना से 'स्यात्' -इस पद से अंकित सात प्रकार का वाक्य-प्रयोग 'सप्तभङ्गी' कहा जाता है। उपोद्घात में कहा है-

एकत्र वस्तुन्यकै कधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी[6]।

सप्तभङ्गी':-

1. स्याद् अस्ति
2. स्याद नास्ति
3. स्याद् अस्तिनास्ति
4. स्याद् अवक्तव्य
5. स्याद् अस्ति अवक्तव्य
6. स्याद् नास्ति अवक्तव्य
7. स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ।

'स्याद्वाद' शब्द में दो शब्द हैं -'स्याद्' और 'वाद'। यहाँ पर 'स्याद्' का अर्थ अनेकांत से है। स्यात् (कथंचित्) अर्थात् किसी अपेक्षा से। किसी भी वाक्य में 'स्याद्' विशेषण देने पर वह वाक्य सापेक्ष कथन को सूचित करता है। यद्यपि जैनागमों में प्रयुक्त सभी वाक्यों में 'स्यात्' यह विशेषण देखने को नहीं मिलता फिर भी **जैन शासन का समग्र कथन 'स्यात्' के ही अधिकार में होता है** इसलिए इसकीअनुवृत्ति सभी वाक्यों में होती रहती है। उपोद्घात में'स्याद्वाद' के सातों भङ्गों को सोदाहरण समझाया गया है[8]।

ऊपर सातों भाङ्गों के नाम दिये जा चुके हैं। इन सातों भङ्गों के मूल में तीन भङ्ग हैं - **(1) स्याद् अस्ति (2) स्याद नास्ति और (3) स्याद् अवक्तव्य** । - उपोद्घात में भङ्गों के उदाहरण में निम्नाङ्कित उदाहरण दिया गया है - सभी 'कुम्भ' आदि पदार्थ स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के रुप में अस्त्यात्मक है और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्ति रुप है। यही द्रव्य-यही पदार्थ सत् और असत् के युगपत् कथन की अशक्यता के कारण कथंचित् अवक्तव्य भी है[9]।

सप्तभङ्गों का स्पष्टीकरण करने के बाद **'स्याद्वाद'** सिद्धांत की सिद्धि आचार्यश्री मल्लिषेण सूरि विरचित 'स्याद्वादमञ्जरी' टीका (अन्ययोगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका - आचार्य हेमचंद्रसूरि) के अनुसार की गयी है। वहाँ पर नैयायिको को सर्वथा अनित्य प्रतीत होने वाले दीपक में भी नित्यानित्यत्व-रुप विरोधी धर्मयुगल की सिद्धि की गयी है। और सर्वथा नित्य माने जानेवाले आकाश का भी नित्यानित्यत्व सिद्ध किया गया है। इसका मूल आधार अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका की निम्नांङ्कित कारिका है :-

''आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु । तन्नित्यमेवैकमानित्य मन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः[10] ॥''

उपोद्घात में नित्यानित्यत्व का कारण पदार्थ के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य बताये गये हैं। जैन दर्शन का यह प्रमुख सिद्धांत

---

4. वही, उपोद्घात प्रथम अनुच्छेद, पृ. ।
5. ...।... भगवतो वर्धमानस्यैवाऽऽसन्नोपकारित्वेनानेकान्त-जयपताका प्रादुर्भूयात्। यतस्त एव विमलकेवललोकेन कालत्रय-वर्तिसामान्यविशेषात्मक निखिलपदार्थसार्थवेत्तारः, ..अवितथवस्तु-तत्त्वप्रवक्तारः... रागद्वेषविजयकर्तारः, ...तेषामहिंसा परमो धर्म इति। यद्यपि पृथग्भूतेष्वितो धर्माभासेष्वपि किंपाकपाकोल्लिप्त-पायसदेश्या हिंसागर्भिताऽहिंसा भगवती यत्र तत्र विलोक्यते तस्या विधूक्षा मधुलिप्तधाराकरा करवालाग्रलोलरसनानामिव जनानां न सुखाकरेतीति एकत्रामत्रे संपृक्तविषमधुकल्पेव न युक्ता। जन्मादिदुः खमुमुक्षूणां प्राधान्येन कारणता तस्या नोपलभ्यते, अपि तु यद्यंशतस्तत्र दयाऽभिनिविष्टा, हिंसाऽपि तर्हयन्यांशतो जागर्त्ति, यथा संसारमोचकानामिदमैदंपर्यम् यदि नरपशुशकुनिध्वन्यतमः कोऽपि भवेऽस्मिन् संसारवेदनामनुभवति, तर्हि तस्येतो देहतः पृथक्करणमेव दयापरवशानां कर्त्तव्यमिति। सप्ततन्तुप्रवणानां यज्वानां तु तादृक्षमवसरमासाद्य दयापात्राणामनन्यगतिकानां छागतिकानां विशसनमेवो र्ध्वगतिप्रापणमित्यादि ग्रन्थेऽस्मिन्नेव प्रथमभागे 'उद्दगकुमार' 'अहिंसा' शब्दयोरुपरि विशेषस्तरः प्रेक्षणीयो जिज्ञासूनामिति।
अ.रा.भा.1, उपोद्घात पृ. ।
6. वही, उपोद्घात पृ.2 तृतीय अनुच्छेद
7. वही, चतुर्थ अनुच्छेद
8. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 2, अंतिम अनुच्छेद
9. वही, उपोद्घात पृ. 2, 3
10. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 3, 4; अन्ययोग व्यवच्छेदिका कारिका-5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और सभी जैन आम्नायों में समान रुप से स्वीकृत है। प्राय: सभी दर्शनों ने प्रकारान्तर से 'स्याद्वाद' का प्रयोग तो किया है परंतु सिद्धांत के रुप में स्वीकार नहीं किया। लोक में भी 'स्याद्वाद' सिद्धांत का व्यवहार देखा जाता है[11]। उपोद्घात में इसे एक रुपक के द्वारा समझाया गया है-

एक राजा को एक पुत्र और एक पुत्री है। राजा की पुत्री के पास सोने का घडा है। पुत्र ने पिता से कहकर उसे तुडवाकर मुकुट बनवाया। घडे के नाश होने पर पुत्री को क्लेश हुआ, मुकुट बनने पर पुत्र को हर्ष हुआ। परंतु राजा यह सोचकर कि 'सोना तो यथावत् है'', दोनों ही अवस्थाओं में निर्विकार रहा। यहाँ कलश का नाश पदार्थ के व्यय का संकेत करता है, मुकुट का निर्माण पदार्थ के उत्पादन का संकेत है, और स्वर्ण की यथास्थिति पदार्थ के ध्रौव्य का संकेत है। इस प्रकार एक ही पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - ये तीनों ही रहते हैं[12]।

इसके साथ ही द्रव्य से नित्य और प्रमाण से अनित्य, एसे स्याद्वाद का आधार बताते हुए स्याद्वाद का महत्त्व बताया है।

इसके आगे उपोद्घात में वैशेषिकों के **'समवाय'** पदार्थ और **'सत्ता'** का खंडन अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका और उसकी टीका 'स्याद्वादमञ्जरी' के अनुसार किया है[13]। यहीं पर बौद्धों के **'अपोह' सिद्धांत** का प्रत्याख्यान भी बडे विस्तार से किया गया है[14]।

'अपौरुषेयत्वव्याघात' उपशीर्षक के अन्तर्गत वेदों की अपौरुषेयता का खंडन स्याद्वादमञ्जरी के अनुसार किया गया है। न्याय दर्शन के जगत्कर्तृत्व सिद्धांत का खंडन भी इसी क्रम में किया है[15]।

'शब्द आकाश का गुण है' - यह न्यायदर्शन का सिद्धांत है। स्थूल रुप से देखने पर यह बहुत ही सुग्राह्य है क्योंकि मनुष्य में अधिकतम पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो क्रमश: शब्द, स्पर्श,रुप, रस और गंध -इन पांच विषयों का ग्रहण करती हैं। नैयायिक इन्हें क्रमश: आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी का विशेष गुण बताते हैं। इस तरह यथासंख्यस्थिति भी गणितीय सिद्धांत पर सही प्रतीत होती है। पुनश्च कर्णविवर को आकाश और कृष्णतारा (आंख की पुतली) के अग्रभाग को तेज बताते हुए षड्दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति पांच महाभूतों से बताते हुए 'तुल्ययोनीन्द्रियार्थग्रहण' के सिद्धांत से भी यह सत्य प्रतीत होता है कि ''शब्द आकाश का गुण ही है'' परंतु सूक्ष्म निरीक्षण करने पर शब्द का गुणत्व खंडित हो जाता है, और इसी कारण बहुत ही ठोस हेतुओं के आधार पर जैनदर्शन ने **शब्द को पौद्गलिक (मूर्त) सिद्ध किया है**। यही बात उपोद्घात में 'शब्दाकाशगुणत्वखंडन' उपशीर्षक के अन्तर्गत कही गयी हैं[10]।

शब्द के गुणत्व का खंडन करने के बाद संशोधक महोदय ने बादरायण व्यास द्वारा प्रवर्तित वेदांत दर्शन के अद्वैतवाद का खंडन किया है[17]।

नैयायिकों का जगत्कर्ता ईश्वर और अद्वैत वेदांतियों का ब्रह्म - दोनों ही सर्वव्यापक माने गये हैं। इस दृष्टि से **न्याय दर्शन के और वेदांत दर्शन के सिद्धांतों के खंडन के बाद, ईश्वरव्यापकत्व का खंडन किया गया है**। यहाँ पर वेदों के मंत्र -'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वत: पाणिरुत विश्वत: पाद्[18]' ॥ -इस मंत्र को भी उद्धृत किया गया है। अर्थात् वैदिक परम्परा के अनुयायी कहे जानेवाले दर्शनों के ईश्वर व्यापकत्व का सिद्धांत एक साथ ही प्रत्याख्यात किया गया है।

विपक्षियों के सिद्धांतो का खंडन करने के बाद भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय के सिद्धांत के माध्यम से जैनदर्शन के उस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है जिसमें छद्मस्थ संसारी जीव को कम से कम मति ज्ञान और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं[19]।

इस प्रकार उपोद्घात में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धांत अहिंसावाद से प्रारंभ करते हुए स्याद्वाद का प्रतिपादन और सर्वथा एकान्तवादियों के प्रमुख सिद्धांतो का खंडन करते हुए अंत में पुन: जैन दर्शन के भाव-श्रुतज्ञान का प्रतिपादन करते हुए उपोद्घात का समापन किया गया है।

अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 2

प्रस्तावना:-

अभिधान राजेन्द्र कोश भाग-2 की प्रस्तावना उपाध्याय श्री मोहन विजयजी द्वारा लिखी गयी है। प्रस्तावना में चार भाग हैं। प्रस्तावना को प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम यह बताया गया है कि वर्णानुक्रम से प्राकृत भाषा पर इस प्रकार का कोई कोश उपलब्ध नहीं था, और इसलिए सकल संघ के द्वारा अनुनय किये जाने पर इस श्रेष्ठ कोश की रचना हुई। यहीं पर अभिधान राजेन्द्र कोश के निर्माण की पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए यह भी कहा गया है कि **जैनदर्शन के जिज्ञासु विदेशी लोग जो कि बौद्धों से जैनदर्शन को अलग न मानते हुए तत्त्व को नहीं समझ पा रहे हैं, उन्हें जैनदर्शन का रहस्य और बौद्ध दर्शन से जैन दर्शन का भेद, दोनों में तुलनात्मक तरतमता ज्ञात हो सके, और जीव, अजीव आदि तत्त्वों को सूक्ष्म निरीक्षण बुद्धि से समझने के लिए संबंधित शब्द में ही पूरी जानकारी उपलब्ध हो सके; थोडा सा भी श्रम न उठाना पडे - इसके लिए यह ग्रंथ उपयोगी है।**

अभिधान राजेन्द्र कोश की उपयोगिता के विषय में जितना लिखा जाये उतना कम है। उपाध्यायश्री इसकी उपयोगिता के बारे में आगे और भी लिखते हैं और बताते हैं कि आजकल प्रचलित हिन्दी भाषा के जो शब्द हैं उनमें से कौन से शब्द परावर्तित होकर के संस्कृत भाषा में प्राप्त होते हैं अथवा संस्कृत भाषा से परावर्तित

11. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 3, 4
12. ''प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते, पुत्र: प्रीतिमुवाह कामपि नृप: शिश्राय मध्यस्थताम्।
पूर्वाकारपरिक्षस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया-धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथा प्रत्यथात् ॥2॥ - पञ्चाशत् से उद्धृत, अ.रा.भा.1 उपोद्घात पृ.4
13. अ.रा.भा.1, उपोद्घात, पृ. 4 का अंतिम अनुच्छेद, पृ. 5
14. वही पृ. 5 का अंतिम अनुच्छेद, पृ. 6,7,8,9
15. वही 9,10
16. वही, उपोद्घात पृ.1
17. वही 11, 12
18. वही, 'ईश्वर व्यापकत्व खण्डनम्', पृ.13
19. वही, पृ. 13 का अंतिम अनुच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर हिन्दी भाषा में प्राप्त होते हैं यह सब ग्रंथ के अवलोकन से निर्विवाद ज्ञात हो जाता है अर्थात् **शोधार्थियों के लिये और भाषाविज्ञानविदों के लिये भी यह ग्रंथ परम उपादेय है।** जितना भाषाविदों के लिए उतना ही दार्शनिकों के लिए भी यह उपयोगी है।

प्रस्तावना के दूसरे क्रम में 'विषय सूचना' -यह उपशीर्षक देते हुए द्वितीय भाग में आये हुए शब्दो में से कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों की ओर संकेत किया गया है। जैसे :- **आउ ('आयुष्')** शब्द में आयुः की पुनरावृत्ति, अनित्यत्व, अल्पत्व, दीर्घायुः, शुभदीर्घायुः, अशुभदीर्घायुः, आयुष्य के हेतु, आयुःकर्म, गतिभेद से आयुः के भेद, आयुः का बंध इत्यादि विषयों का उल्लेख किया गया है। आगे इसके वर्णन की विशेषता बताते हुए जलकाय (अप्काय) के जीवों की भी युक्ति से सिद्धि की गयी है। और सचित्ताचित्त और मिश्रयोनियों का भी विवेक किया गया है, और जो लोग जल के प्रयोग में विवेक नहीं रखते उनके द्वारा जलकाय के जीवों की हिंसा होती है, यह प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार **'आउक्काय'** शब्द के अन्तर्गत यह एक सैद्धांतिक विमर्श उपस्थापित किया गया है।

'आउट्टि' शब्द में ज्योतिष के विषय को उठाते हुए अण्डज जीवों की और पृथ्वी-कायिक जीवों की किस स्थान से आगति और गति होती है-यह प्रतिपादित करते हुए मिथ्यावादियों के सिद्धांतों का खंडन किया है।

'आगम' शब्द में आगम के प्रणेता को सिद्ध करते हुए कि **प्रामाणिक पुरुष के द्वारा प्रणीत होने से ही आगम की प्रमाणिकता सिद्ध होती है।** लेकिन ऐसा कोई आगम प्रमाण नहीं हो सकता जिसका कोई प्रामाणिक पुरुष कर्ता न हो। यहीं पर **कणादमत में स्वीकृत 'शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव'** भी बताया गया है। इसी संदर्भ में **बौद्धों के अपोहवाद, अर्थ के स्वरुप, वाच्य-वाचक संबंध** का भी विचार किया गया है। यहीं पर वैयाकरणों के **'स्फोटवाद'** को स्पष्ट करते हुए **जैन मत में शब्द की वाचकता, नित्यता, शब्दार्थ में संबंध, आगमों के भेद और आगमों की नियामकता** इत्यादि बहुत सारे विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय भाग के अन्य शब्दों का परिचय देते हुए **'आणा'** अर्थात् आज्ञा के विषय में कहा गया है कि तीर्थंकर की आज्ञा को अन्यथा (भंग) करने में दोष है, और उसका प्रायश्चित और इससे संबंधित बहुत सारे विषय जो कि आज्ञा-व्यवहार के अन्तर्गत आते हैं, 'आणा' शब्द के अन्तर्गत व्याख्यायित हैं। इसी प्रकार **'आयरिय'** शब्द के अन्तर्गत श्रेष्ठ आचार्य से संबंधित तथ्यों की चर्चा का संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त एक छोटी सी सूची भी दी गयी है।

प्रस्तावना के अगले भाग में निर्दिष्टों ग्रंथों की संकेत सूची और उसकी उपयोगिता के बारे में बताया गया है।

अंत में उपलब्ध पाण्डुलिपियों की जीर्णता इत्यादि के कारण पाठ-भेद के कारण कहा गया है कि इस कोश में कहीं पाठ भेद से, कहीं मुद्रणदोष से, और कहीं दृष्टिदोष इत्यादि से होनेवाली अशुद्धियों को विद्वान् लोग सुधार कर पढें।

इस ग्रंथ के संशोधन में उपाध्याय श्री मोहनविजयजी के सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी एवं मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने महान श्रम किया है।

अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 3

प्रस्ताव :

तृतीय भाग के प्रस्ताव में तीर्थंकर भगवान् के और उनके अनुयायी गणधरों के **अनन्तजीवरक्षा के निमित्त परीषहसहत्व** का संकेत करते हुए सुधर्मास्वामी के द्वारा जो प्रश्नोत्तर रुप में **कार्य-कारण भाव** का विमर्श किया गया है उसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए नवांगी टीकाकार श्रीमद्विजय अभयदेवसूरी के अभिप्राय को श्री अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रतिपादित किया गया हैं, इसका सारांश तृतीय भाग के प्रस्ताव में बताया गया है[20]। कार्य-कारण भाव का प्रसंग इस प्रकार से है -

सम्यग्दर्शन आदि साधन, मोक्ष साध्य रुप के ही हैं, अन्य किसी अर्थ के साधन नहीं हैं। अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि तो साधन है और मोक्ष साध्य है। रत्नत्रय और मोक्ष में यह कार्य-कारण भाव है। यह कार्य-कारण-भाव संबंध उभय-नियम प्रकार का है अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि 'मोक्षरुप साध्य' के ही साधन हैं, इसी प्रकार मोक्ष भी सम्यग्दर्शनादि साधन का ही साध्य है, अन्य किन्हीं साधनों का नहीं। इस प्रकार **अन्वय-व्यतिरेक से उभयविध कारण-कार्यत्व सिद्ध किया है[21]।**

साध्य मोक्ष है इसलिए प्रधान है। वह मोक्ष 'मोक्ष का जो विपक्ष बंध है', उसके क्षय से होता है। अर्थात् कर्मबंध की संपूर्ण निर्जरा से कर्म का संपूर्ण रुप से विच्छेद हो जाना ही मोक्ष है[22]। यहाँ पर पक्ष और विपक्ष इन दोनों तत्त्वों के माध्यम से कारण का पक्ष में रहना और विपक्ष में न रहना-सूचित किया गया है।

मोक्ष का विपक्ष बंध है; कर्मो का आत्मा से संबंध बंध कहलाता है। बंध की यह परम्परा अनादि है। इसका क्षय अनुक्रम से होता है। इस सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए पंचमांग (भगवती सूत्र) में जो प्रश्नोत्तर श्री सुधार्मस्वामी के द्वारा गुम्फित किया है वह है 'क्रियामाण का कृतवत् व्यपदेश होना[23]'।

यहाँ पर शंका होना स्वाभाविक है कि कार्य 'सत्' है अथवा 'असत्', इसलिए इसका विस्तृत विमर्श 'कार्य-कारण भाव' शब्द की व्याख्या में अभिधान राजेन्द्र कोश की व्याख्या में दिया गय हैं[24]।

'बंध' कर्म का होता है और बंध के नाश से मोक्ष होत है- इस सिद्धांत को नास्तिक चार्वाक नहीं मानता। चार्वाक की युक्ति का अपने तर्कों से जो खंडन श्रीमद् रत्नप्रभाचार्य ने किया है, उसव संक्षिप्त परिचय इस प्रस्ताव में देते हुए कहा गया है "चूंकि पुद्ग एक जाति है इसलिए इसमें विशिष्ट संयोगादि की कल्पना गौरव

20. अ.रा.भा.3, प्रस्ताव, प्रथम अनुच्छेद, पृ.1
21. वही
22. स च मोक्षो विपक्षक्षयात्। तद्विपक्षश्च बन्धः। -वही
23. ...। तद् विपक्षश्च बन्धः। स च मुख्यः कर्मभिरात्मनः संबन्धः। तेषां कर्मणा प्रक्षयेऽयमनुक्रम उक्तः- 'चलमाणे' इत्यादि। - अ.रा.भा प्रस्ताव, प्रथम अनुच्छेद पृ.1
24. ...।... सदसत्कार्यवादरुपस्याऽऽत्मनोऽर्थस्यागाधत्वमद ।...'कज्जकारणभाव' शब्दे।

-वही द्वितीय अनुच्छे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार्वाक मत में स्वीकृत 'तत्त्वचतुष्टयवाद' का आधार जैनों के 'पुद्गलैकतत्त्ववाद' से खंडित हो जाता है। इसलिए "भूतेभ्यश्चैतन्योत्पादः" - एसा जो चार्वाकों का सिद्धांत है, वह खंडित हो जाता है[25]।

चूंकि चार्वाकके मत में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण स्वीकृत नहीं है, और वह प्रत्यक्ष भी मूर्त पदार्थों का प्रत्यक्ष है, आत्मा अमूर्त पदार्थ है, इसलिए न तो उनके मत में उनका प्रत्यक्ष हो सकता है और न ही आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि हो सकती है। इसलिए **श्रीमद् रत्नप्रभाचार्य के अनुसार इस प्रस्ताव में आत्मा को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-प्रमाण से सिद्ध किया गया है**-

यहाँ कहा गया है कि मैं सुखी, मैं दुःखी -इत्यादि तद्वान् सः (तत्) -ऐसा मत्वर्थीय ज्ञान आत्मा का बोधक होता है, क्योंकि आत्मा को सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

'अनुमान' से भी आत्मा सिद्ध होती है। व्यावृत्तिहेतु से आत्मा और शरीरेन्द्रियविषय में प्रत्यक्ष भेद है, अर्थात् शरीरेन्द्रियविषय तो विशेष्य हैं और आत्मा उसका विशेषण है। यहाँ पर आश्रय-आश्रयी संबंध है, अर्थात् शरीरादि तो आश्रय है और आत्मा आश्रयी है। इस प्रकार से आत्मा शरीर से अत्यन्त व्यावृत्त होने से अनुमान से भी आत्मा सिद्ध होती है[26]।

आगम में भी आत्मा का स्वरुप बताते हुए कहा गया है कि जीव 'उपयोग' लक्षणवाला है। 'आगम' शब्द के अन्तर्गत आत्मा की सिद्धि की गयी है। इस प्रकार तीनों प्रमाणों से आत्मा को उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त प्रतिपादित किया गया है[27]।

परंतु बौद्धों की आत्मा तो बुद्धिक्षण की परम्परा मात्र है; कोई ध्रुव पदार्थ नहीं है, इसलिए उन्हें चार्वाकों से भी निम्न स्तर का बताया गया। क्योंकि एक क्षण में ज्ञात पदार्थ उसी क्षण के साथ नष्ट हो जाने पर स्मरण और प्रत्यभिज्ञा आदि सिद्ध नहीं होते[28]। बौद्धों का क्षणवाद प्रत्याख्यात करते हुए यह कहा गया है कि **"जो न्यायवैशेषिकों का आत्मा का विशेषगुणत्व, कपिल का प्रकृति-विकार स्वरुप, बौद्धों का वासना स्वभाव और ब्रह्मवादी (वेदांती) का अविद्या स्वरुप है -यह सब प्रत्याख्यात हो जाता है।"** इन सबका विशेष विवेचन अभिधान राजेन्द्र कोश में 'कम्म' शब्द के अन्तर्गत किया गया है[29]।

इसके आगे **'कम्म'** शब्द के अन्तर्गत प्रतिपादित कर्म का मूर्तत्व सिद्ध करने के लिये विमर्श किया गया है किन्तु आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त है, तब इनमें संबंध कैसे हो सकता है? और किस प्रकार का संबंध हो सकता है? यह शंका स्वाभाविक है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि 'अमूर्त जीव और मूर्त कर्म में संयोग प्रकार का संबंध है।' जैसे कि घट इत्यादि मूर्त पदार्थों का अमूर्त आकाश के साथ संयोग सम्बन्ध होता है[30]। इस प्रकार बीज और अंकुर के दृष्टांत से जीव और कर्म का संबंध स्पष्ट करते हुए कर्म का अनादित्व भी यहाँ पर सिद्ध किया गया है[31] और उन मिथ्यात्वियों का खंडन किया गया है जो कहते हैं कि "स्वतंत्रजीव कर्मों से बंध जाते हैं।" कर्म और कर्म का फल बताने के बाद कर्म के क्षय का विचार किया गया है। यहाँ सिद्धांत को उद्धृत किया गया है-

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निं भस्मसात् कुरुते क्षणात्।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते तथा[32] **॥"**

कर्म का क्षय दो प्रकार से होता है -(1) तप के द्वारा और (2) उपभोग के द्वारा। जो कर्म ज्ञानाग्नि से नष्ट नहीं किये जाते उनका क्षय उपभोग से ही होता है-

नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटि-शतैरपि ।[33]

परंतु यहाँ पर यह शंका होना स्वाभाविक है कि कर्मों का उपभोग करने पर यदि उनका नाश हो जाता है तो उपभोग करके ही कर्मों का नाश क्यों न किया जाये, और उपभोग करते हुए ही मोक्ष क्यों न प्राप्त किया जाये? उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि "उपभोग के समय अन्य कर्मों के निमित्त की अभिलाषा के साथ मन-वाणी और शरीर की क्रिया होती है इसलिए जैसे ही आरब्ध कर्मों का उपभोग किया जाता है वैसे ही नये कर्मों का बंध भी होता जाता है और इस प्रकार कर्मों के उपभोग से आत्यन्तिक क्षय संभव नहीं हो पाता है। इसलिए कर्मों के आरब्ध होने के पहले ही संचित अवस्था में तप के द्वारा नाश कर देने पर ही कर्मों से आत्यान्तिक मुक्ति होती है, यह सिद्ध हुआ"॥[34]

यहाँ पर एक जैन सिद्धांत की शंका को भी उपस्थापित किया गया है कि "यदि मोक्ष सुख की इच्छा से ही यदि तप में स्थित हो तो उसके भी सरागत्व होगा और राग होने से कर्म बंध होगा ही।" इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि **"संसार के कारण रुप, कर्म के निमित्तरुप, शरीर-वाणी और मन**

---

25. ...।..., समुदायदशायामभिव्यक्तिस्वीकारादिति चेत् ।...; क्षीणस्ते तत्त्वचतुष्टयवादः, सर्वेषां भूम्यादीनामुपादानोपादेयभावप्रसंगेन जैनाभिप्रेतपुद्गलैकतत्त्वादप्रसंगादिति न भूतेभ्यश्चैतन्योत्पादः सद्वादः।" - अ.रा.भा.3, प्रस्ताव, द्वितीय अनुच्छेद, पृ. 2,3
26. ततः प्रत्यक्षादात्मा सिद्धिसौधमध्यमध्यासामास। नन्वात्मनः किं रुपं, यत् प्रत्यक्षेण साक्षात्क्रियते? यद्येवम्, सुखोदेरपि किं रुपं, यद् मानसप्रत्यक्षसमधिकाम्यमिष्यते?। नन्वादनन्दादिस्वभावं प्रसिद्धमेवरुपं सुखादेः, तर्हि तदाधारत्वमात्मनोऽपि रुपमवगच्छतु भवान्। ...अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥2॥- अनुमानतोऽप्यात्मा प्रसिध्यत्येव। - वही पृ.3
27. "उपयोगलक्षणो जीवः" इत्यागमप्रदीपोऽप्यात्मानमुद्योतयति। -वही
28. ...।... बौद्धास्तु बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवाऽऽत्मानमाम्नासिषुः न पुनर्मौक्तिककण-निकरनिरन्तरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम्। ते लोकायतलुण्टकेभ्योऽपि पापीयांसः तद्भावेऽपि तेषां स्मरणप्रत्यभिज्ञाऽऽद्यघटनात्। -वही पृ. 3; अनुच्छेद-3
29. ततो यद् यौगैरात्मविशेषगुणलक्षणम्, कापिलैः प्रकृतिविकारस्वरुपम्' सौगतैः वासनास्वभावम्, ब्रह्मवादिभिरविद्यास्वरुपम् चाऽदृष्टमवादि।...कम्म शब्दे 246 पृष्ठे...।- वही पृ. 5
30. अ.रा.भा.3 प्रस्ताव, तृतीय अनुच्छेद, पृ. 6
31. वही
32. अ.रा.भा.3 प्रस्ताव, पृ. 6; अ.रा.भा.3, पृ. 334
33. अ.रा.भा.3 प्रस्ताव, पृ. 6; अ.रा.भा.3, पृ. 334
34. न चोपभोगात् प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यंभावात् संसारानुच्छेदः, समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगत- कर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारोऽवाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरोत्पत्ति-मिथ्याज्ञानजनितानुसंधानविकलस्य कर्मान्तरोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवासंभवात् भोगानुपपत्तिः तदुपभोगं विना कर्मणां प्रक्षयानुपपत्ते ज्ञानतोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेः। -अ.रा.भा.3, प्रस्ताव, पृ.7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आरंभ रुप न होने से मोक्ष सुख की अभिलाषावालों के रागित्व नहीं होता।'[35]

यहाँ पर टिप्पणी में कर्म-द्वैविध्य के माध्यम से एक और सैद्धान्तिक शंका को स्थापित किया गया है कि ''तीर्थंकरों के विहार्यमाण देश में तीर्थंकरों के अतिशय से 25 योजन तक अथवा 12 योजन तक वैरादि नहीं होते हैं तो उन्हीं तीर्थंकरों को उपसर्ग आदि क्यों होते हैं? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि, ''कर्म दो प्रकार के होते हैं - सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम का अर्थ है, जिसका उपचार संभव हो और निरुपक्रम का अर्थ है जिसका कोई उपचार संभव न हो। जैसे उपचार से साध्य व्याधि तो दूर हो सकती है परंतु असाध्य व्याधि दूर नहीं होती; उसे तो भोगना ही पडता है। उसी प्रकार सोपक्रम कर्मों से होनेवाले वैर आदि जिनातिशय से शांत हो जाते हैं परंतु निरुपक्रम कर्म होने पर तीर्थंकरों को भी उपसर्ग आदि होते हैं जैसे गोशालक इत्यादि के द्वारा किये गये उपसर्ग[36]।

'कर्म' शब्द के विस्तार का परिचय देते हुए आगे यह कहा गया है कि ज्ञानवरणादि कर्मों के भेद-प्रभेद, बंध-उदय, इत्यादि का समग्र विवेचन 'कम्म' शब्द में दिया गया है। जैन दर्शन में कर्म की ही प्रधानता है। सभी तीर्थंकरों ने यही प्रतिपादित किया है[37]।

'कयण्णू' शब्द के अन्तर्गत कृतज्ञता के विषय में 'विमलकुमार' का दृष्टांत दिया गया है तो 'कला' शब्द के अन्तर्गत पुरुष की 72 कलाओं का वर्णन किया गया है। इस प्रकार क्रमप्राप्त सभी शब्दों का सभी प्रकार से अर्थ स्पष्ट किया गया है[38]।

'कल्लाणग' शब्द के अन्तर्गत षट्कल्याणकत्व का खंडन करते हुए 'पंचकल्याणकवाद' को तर्कों से सिद्ध किया है[39]।

'कसाय' शब्द के अन्तर्गत कषायों का अष्टविधत्व, कर्मद्रव्य कषाय, नोकर्मद्रव्य-कषाय - इस प्रकार कषायों का दो वर्गों में विभाजन करते हुए उपपत्ति कषाय, प्रत्यय कषाय, आदेश कषाय, रस कषाय, भावकषाय, का प्रतिपादन किया गया हैं। इनमें नाम कषाय, स्थापना कषाय और द्रव्य कषाय जोड देने से कषाय का अष्टविधत्व हो जाता है। इनका समग्र विवेचन शोध प्रबंध में यथास्थान किया जायेगा।

'काल' शब्द के अन्तर्गत काल की सिद्धि, लक्षण, भेद, दिगम्बर मत का अभिप्राय, अन्य मतान्तरों का खंडन कर्म के प्रसंग से किया गया है। कर्म के ही प्रसंग से कृतिकर्म का भी प्ररुपण किया गया है। आगे कर्म क्रिया के अधीन होने से क्रिया का स्वरुप बताते हुए साध्यावस्थाक्रिया और सिद्धक्रिया का 'वाक्यपदीय' के अनुसार स्पष्टीकरण करते हुए पुनः द्रव्यक्रिया और भावक्रिया का भेद-प्रभेदपूर्वक जैन सिद्धांतानुसार विवेचन किया गया है[40]। यहीं पर मिथ्याक्रिया, प्रयोगक्रिया इत्यादि क्रिया का पंचविंशतिविधत्व (25 प्रकार) सूचित किया गया है। ये सब (25) हेय क्रियाएँ हैं। आत्मोन्मुख ज्ञान एवं क्रिया से मोक्ष होता है। यहाँ पर क्रिया स्वरुपरमणरुप है जो कि चारित्र, वीर्य और गुणों के एकत्व की परिणति की साधिका है[41]। यहाँ पर कहा गया है-

क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकं,
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितं ॥
क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

यहीं पर शुद्ध क्रिया और अशुद्ध क्रिया का विवेचन किया गया है। अशुद्ध क्रिया से व्यक्ति कुशील होता है। इसका पूरा विवेचन **'कुशील'** शब्द के अन्तर्गत किया गया है।

केवली द्वारा प्ररुपित क्रियाओं का पालन करने से ही केवलज्ञान उत्पत्ति होती है। इसीलिये **केवलज्ञान** के प्रस्ताव के निरुपण में यहाँ सर्वज्ञ की सिद्धि की गयी है। क्रमप्राप्त केवलियों के भेद बताने के बाद उनके कवलाहार के संबंध में श्वेतम्बरों की दिगम्बरों के साथ जो विप्रतिपत्ति हैं उसका उल्लेख करते हुए वेदनीय कर्म के सद्भाव के कारण क्षुधा इत्यादि का होना संगत है, इसमें कोई सिद्धांत हानि नहीं है[42]। इस प्रकार का पूरा विवेचन 'केवली' शब्द के अन्तर्गत देखना चाहिए।

बौद्धों का कर्म विषयक सिद्धांत और उसकी विप्रतिपत्ति इत्यादि बहुत सारे विषय कर्म के ही प्रसंग में **'खणियवाइ'** शब्द के अन्तर्गत देखना चाहिए। कर्म के ही प्रसंग में गच्छऔर गच्छ की सार्थकता **'गच्छ'** शब्द के अन्तर्गत प्रतिपादित की गयी है।

गुणस्थान का कर्मों के साथ विशेष संबंध होने से गुणस्थान शब्द में जैनदर्शन सम्मत गुणस्थान सिद्धांत का सांगोपांगविवेचन **'गुणट्ठाण'** शब्द के अन्तर्गत किया गया है, जो इसी शोध-प्रबंध में उचित स्थान पर दिया गया है।

कर्म के ही प्रसंग में **'गोयरचरिया,** शब्द के अन्तर्गत भिक्षाटन

---

35. न च मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलाषेण प्रवर्तमानस्य सरागत्वं, सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञत्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या प्राक् प्रसाधितत्वाद्, भवोपग्राहिकर्मनिमित्तस्य तु वागबुद्धिशरीराऽऽम्भप्रवृत्तिरुपस्य सातजनकस्य शैलेश्यवस्थायां मुमुक्षोरभावात्, प्रवृत्तिकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य मोक्षसुखाभिलाषस्याप्यसिद्धेर्न मुमुक्षोः रागित्वम्। -वही पृ.7

36. .....ननु तीर्थकरा यत्र विहरन्ति, तत्र देशे पञ्चविंशतियोजनानि, आदेशान्तरेण द्वादशानां योजनानां मध्ये तीर्थकरातिशयान्न वैरादयोऽनर्था भवन्ति... तत्कथं श्रीमन्महावीरे भगवति पुरिमताले नगरे व्यवस्थिते एकाभग्रसेनस्य पूर्ववर्णितो व्यतिकरः संपन्न इति? कर्म च द्विधा-सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यानि वैराऽऽदीनि सोपक्रमसंपाद्यानि, तान्येव जिनातिशयादुपशाम्यन्ति, संदोषधातुसाध्यव्याधिवत्। यानि तु निरुपक्रमकर्मसंपाद्यानि तान्यवश्यं विपाकतो वेद्यानि असाध्यव्याधिवत्। अत एव सर्वातिशयसंपत्समन्वितानां जिनानामाप्यनुपशान्तवैरभावा गोशालकादय उपसर्गान् विहितवन्त इति। - वही पृ. 7 टिप्पणी।

37. -वही पृ.8

38. अ.रा.भा.3 प्रस्ताव, पृ. 8

39. 'कल्लाणग' शब्दे वीरस्य तीर्थकरनामकर्मयोगात् पञ्च कल्याणकानि निरुप्य षट्कल्याणक वादिमतनिराकरणम्। -वही

40. कर्मक्रिययोर्भिन्नवस्तुत्वेऽपि कर्मणः क्रियाऽधीनत्वात् 'किरिया' शब्दे क्रियायाः स्वरुपनिरुपणे तीर्थान्तरीयमतसंग्रहः - वही पृ.9

41. ..... क्रियास्वरुपैरपि क्रियायाः पञ्चविंशतिविधत्वम्।....ज्ञानं स्वरुपाभिमुखवीर्यप्रवृत्तिक्रिया, एवं ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः। तत्र ज्ञानम्-स्वपरावभासनरुपम्, क्रिया-स्वरुपरमणरुपा, तत्र चारित्रवीर्यगुणैकत्वपरिणतिः क्रिया सा साधिका। अ.रा.भा., प्रस्ताव पृ. 10

42. ....घातिकर्मोद्भवा अज्ञानादिका दोषाः प्रसिद्धाः तदभावेऽपि वेदनीयोद्भवा क्षुधा किं न स्यात्। न हि वयं भवन्तमिव तत्वमनालोच्य क्षुत्पिपासाऽऽदिनैव दोषानभ्युपगमो, येन निर्दोषस्य केवलिनः क्षुधाऽद्यभावः स्यात्;
- अ.रा.भा.3 प्रस्ताव, पृ. 11

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का समग्र विवेचन किया गया है जो इसी शोध प्रबंध में यथास्थान दिया गया है।

चैत्यवंदन भी भावक्रिया से संबंधित होने से 'चेइय' शब्द के अन्तर्गत कर्म के ही प्रसंग में चैत्यवंदन एवं चैत्यों का पंचविधत्व प्रतिपादित किया गया है। साथ ही ढूंढकमतीय चैत्यवंदन संबंधी विप्रतिपत्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर चैत्य संबंधी अनेक विषयों के साथ ही प्रतिमा का फलदत्व, प्रतिमा का प्रामाण्य, बिंबकारण विधि एवं बिंब-प्रतिष्ठाविधि, जिनचैत्य के अंदर व्यंतरायतन विधान इत्यादि बहुत से विषयों का विवेचन किया गया है[43]।

चैत्य और चैत्यवंदन का भी विस्तार बहुत है। 'चेइयंवंदन' शब्द के अन्तर्गत त्रिविध वंदना, चतुर्विंश-तिस्तवः, चैत्यवंदनवेला, चैत्यवंदनविधि इत्यादि बहुत से विषय वर्णित हैं। जो शोध प्रबंध में यथास्थान विवेचित हैं[44]।

तृतीय भाग के प्रस्ताव के अन्त में वलभीपुर में हुई प्रथम वाचना एवं उसमें लिये गये निर्णय के अनुसार अनेक आगम ग्रंथों का निर्माण एवं भद्रबाहुस्वामी इत्यादि आचार्यों के द्वारा निर्मित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति इत्यादि की रचना का संकेत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि **पंचमकाल में काल प्रभाव से पठन-पाठन से पराङ्मुख, दुःखों से अभिभूत और विस्मरणशील मनुष्यों के जैनागमरुपी सागर में तैरना कथमपि संभव नहीं था, इसलिए जैनागमों का लेखन एवं उसकी व्याख्याएँ हुई। उनमें से भी केवल 45 आगम ही प्राप्त होते हैं। उन आगमों को भी इस छोटी सी आयु में उदरपूरण में लगे हुए लोग दृष्टिगोचर भी नहीं कर सकते, ऐसा विचार करके श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने समस्त आगमों के संग्रह रुप इस अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना की[45]।**

जैसा कि महानुभावों का स्वभाव होता है तदनुसार ही संशोधक महोदयों ने अनेक कारणों से बाधाएँ आने पर भी इस श्रेष्ठ कोश का संपादन किया फिर भी, अंत में अपने स्खलन को मिथ्यादुष्कृत उक्तिपूर्वक क्षमापना की है।

अंत में तीन गुर्वष्टक दिये हुए हैं। प्रथम गुरु-अष्टक उपाध्याय श्री मोहनविजयजी द्वारा रचित है। इसमें आठ श्लोक गुरुदेवश्री की उपासना विषयक है एवं नौवां श्लोक उपसंहार विषयक है। इसके छठे श्लोक में प्रस्ताव के ही अनुरुप राजेन्द्र कोश के निर्माण के हेतु का संकेत किया गया है और अंतिम श्लोक में गुरु-अष्टक के पढने का फल बताते हुए कहा है- **"जो मनुष्य इस गुरु-अष्टक को पढता है वह भाव-शुद्धि के कारण अनुपम सुख प्राप्त करता है और जन्मांतर में मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है[46]।"**

दूसरा गुरु-अष्टक मुनि श्री दीपविजयजी (श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वर जी) द्वारा रचित है। इसके भी छठे श्लोक में और नौवें श्लोक में वे ही विषय वर्णित हैं जो कि पहले गुरु-अष्टक में आये हैं[47]।

मुनि यतीन्द्र विजय (श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरि) द्वारा विरचित तीसरे गुरु-अष्टक में राजेन्द्र कोश निर्माण का कारण पांचवें श्लोक में वर्णित है[48] और नौवें श्लोक में गुरु-अष्टक पठन का फल बताया गया है।

इस प्रकार तीनों संशोधकोंने अपने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और समर्पण का परिचय देते हुए तृतीय भाग का 'प्रस्ताव' अलंकृत किया है।

अभिधान राजेन्द्र कोश : भाग 4

घण्टापथ : एक परिचयः-

अभिधान राजेन्द्र कोश की मुख्य वस्तु के अतिरिक्त सहायक विषय-वस्तु में प्रस्तावना, उपोद्घात परिशिष्ट, मंगलाचरण एवं प्रशस्ति आदि को समाहित कर उसका परिचय दिया गया है। इसी क्रम में अभिधान राजेन्द्र कोश के चतुर्थ भाग में उपाध्याय श्री मोहन विजयजी के द्वारा लिखा गया चतुर्थ भाग का 'घण्टापथ' भी प्रस्तावना के रुप में लिखा गया है, इसे चतुर्थ भाग की दूसरी प्रस्तावना कहा जा सकता है।

जैसा कि पूर्व में विमर्श किया जा चुका है, अभिधान राजेन्द्र कोश की विषय-वस्तु का विभाजन चार भागों में होने का उल्लेख संशोधकद्वय, मुनिश्री दीपविजयजी एवं मुनिश्री यतीन्द्रविजयजी द्वारा किया गया है, जब कि यह ग्रंथराज सात भागों में प्रणेता द्वारा स्वयं ही विभक्त किया था - ऐसा सिद्ध भी कर आये हैं। उपाध्याय श्री मोहन विजयजी ने 'घण्टापथ' लिखते हुए इसे 'चतुर्थ भाग - घण्टापथ' यह नाम दिया है और यह उपलब्ध चतुर्थ भाग की प्रस्तावना के बाद निबद्ध किया गया है।

'घण्टापथ' में अनेकत्र यह उल्लेख किया गया है कि अमुक विषय तृतीय भाग की प्रस्तावना में कहा गया है, जैसे -"यद्यपि तृतीयभागप्रस्तावे समासेन निरुपितोऽयं विषयः प्रयत्नप्रयतैरस्माभिस्तथापि वाचकवर्गमनःपोषाय कदाग्रहग्रहिलतोषाय सोहापोहं भगवतां तीर्थकृतां रागद्वेषविप्रमुक्तत्त्वमेवोद्घाट्यते....[49]।"

---

43. ....। कर्मसम्बन्धादेवीचैत्यवन्दनविधानविषये 'चेइय' शब्दे दुण्ढकमतीयविप्रतिपत्तिप्रतिपादनपुरस्सरं तद्भ्रमसंशोधनं। ...चैत्यस्य पञ्चविधत्वं...भावार्हदर्शनम् यथा भव्यानां स्वर्गतफलं प्रत्यव्यभिचारि,....।- वही पृ.12
44. अ.रा.भा.3, प्रस्ताव, पृ.14
45. ततः श्री वर्द्धमानस्वामिनिर्वाणादनन्तरं खीस्टस्य 454 (ई.) वर्षादारभ्य 467 (ई.) वर्षमध्ये श्री वलभीपुरे श्रमणदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण संघाधिपतिशासनावसरे बहवो जैन विद्वांसः... निर्मांच्यानेकशः सूत्रादर्शपुस्तकानि तत्तन्नगरे पुस्तकभाण्डागाराणि व्यधुः...ततस्तदुपरि विस्मृतपदार्थसार्थस्मृतिलभमानानां जनानां स्मरणकृते श्री भद्रबाहुस्वामिप्रभृतयो भूयांसो विद्वांसो निर्युक्तिभाष्यचूर्णिटीका व्यरचयत।... भयंकरदुर्भिक्षराज्यविप्लवादिवशतः प्रभुताग्रन्था विलयपथमभजन्...तथाऽपि तेषां मध्ये **पञ्चचत्वारिंशदागमाः साम्प्रतमपि... विलस्त्येव। हन्त! तेषामपि स्वल्पीयसाऽऽयुषा न क्षमः स्वोदरपूरणं विधाय कोऽपि विलोकितुमपि विचार्य्यैव श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहानुभावः कोशममुं सकलागमसंग्रहात्मकं व्यरचयन्निति।**
-अ.रा.भा.3, प्रस्ताव, पृ. 14 अंतिम अनुच्छेद
46. जैनाऽऽगमस्य न च संचरणं तथाऽस्ति, कालप्रभावत इतीव विचिन्त्य चित्ते। संपूर्णजैनवचनैकनिधानभूतं, राजेन्द्रकोशमतुलं निरमापयद् यः ॥6॥
गुर्वष्टकं पठति यः प्रयतस्तु भक्त्या, श्रीमोहनेन मुनिना रचितं मनुष्यः। संप्राप्य सौख्यमतुलं ननु भावशुद्धे-र्जन्मान्तरे भवति मुक्तिपदाधिकारी ॥9॥
- प्रथमगुर्वष्टकम्।
47. .....निखिलमपि निजाङ्गोपाङ्गमेकत्र कृतवा, व्यरचयदमलं यो भव्यराजेन्द्रकोशम् ॥6॥ - द्वितीय गुर्वष्टकम्
48. भवस्थान् जनान् दुःषमारप्रसूतानमन्दाज्ञताध्वान्तनष्टान् निरीक्ष्य। निधानं समस्ताऽऽगमानामकार्षीत् तदुद्धारहेतुं च राजेन्द्रकोशम् ॥5॥
49. अ.रा.भा.4, 'घण्टापथ' -पृ.1, प्रथम अनुच्छेद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

''एतेन तृतीयभागप्रस्तावोपन्यस्तपराभिसंधानविमुखत्वं भगवतस्तीर्थकरस्य राग-द्वेषजेतृत्वेन सर्वतोभावेन समर्थितम्।''[50]

तथा

''अथ (जमालि प्रसंगादेव) तृतीयभागप्रस्तावस्य पञ्चमे पृष्ठे 'चत्वार्येव भूतानि तत्त्वं न तु तद्व्यतिरिक्तो भवान्तरानुसरण-व्यसनवानात्मतिचार्वाक चर्चा पराकरणं विधाय जीवसिद्धस्मपादिता, इह तु...[51]।''

जैसा कि 'घण्टापथ' शब्द से ही ध्वनित होता है कि इस में उपाध्यायश्री कुछ विशेष ध्वनित करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश के उद्देश्य एवं अध्ययन विधि के बारे में कहना चाहते हैं कि **'यह कोश मात्र शब्दार्थ का संग्रह नहीं है, मात्र आगमों की शब्दावली का विवेचन नहीं है, लेकिन इसमें आये हुए शब्दों की व्याख्या में यथास्थान वादियों के मतों का खंडन करते हुए 'स्याद्वाद' और उसके उपदेष्टा तीर्थंकरों के शासन की युक्तियुक्तता प्रतिपादित की है।'** इस प्रकार 'घण्टापथ' में जैन शासन के लक्ष्य और उद्देश्य के साथ वीतरागत्व, तीर्थंकरत्व और स्याद्वाद का परिचय दिया गया है। यहाँ पर सादि-अनंत मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधनभूत धर्म और वस्तु के स्वभावरुप धर्म दोनों का ही विशेष रुप से परिचय दिया गया है जो कि एक दूसरे से अनुस्यूत हैं, अर्थात् **निवृत्ति के साधन-स्वरुप धर्म (चारित्र), वस्तु (जीव द्रव्य) के सहभावी धर्म का ही क्रियात्मक रूप है।** इस शोध-प्रबंध का प्रकारान्तर से विषय भी यही है। घण्टापथ के प्रथम अनुच्छेद में यह बताया गया है कि तीर्थंकर राग-द्वेष से मुक्त होते हैं और इसी कारण उनका उपदेश सदा ही समीचीन होता है; कभी भी असमीचीन नहीं होता[52]; असमीचीनता में कारण वैकल्य होने से। इस विषय में उपाध्यायश्री ने पहले पूर्वपक्ष स्थापित किया है और फिर उत्तर पक्ष, अनुयोग-प्रत्यनुयोग द्वारा पूर्वपक्ष का खंडन करते हुए सिद्धांत को स्थापित किया है।

यहाँ पर प्रश्न के रुप में पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है कि ''तीर्थंकरों के रागादि दोषों का आत्यान्तिक नाश असंभव है क्योंकि रागादि अनादि सम्बद्ध हैं और जो-जो अनादि होते हैं वे नष्ट नहीं होते, जैसे आकाश। दूसरे यदि ये रागादि जीव से भिन्न धर्म हैं या अभिन्न धर्म ? दोनों ही पक्षों में प्रमाण से बाधा है। यदि भिन्न है तो सभी जीवों के वीतरागत्व का प्रसंग आ जायेगा और यदि अभिन्न है तो धर्म का नाश होने से धर्मी के नाश होने का प्रसंग आ जायेगा[53]।''

इसके उत्तर में कहा गया है कि यद्यपि रागादि अनादि है फिर भी विशेष अवस्था में स्त्री आदि के शरीर में रागादि होने पर भी वस्तु तत्त्व का ज्ञान होने पर उसके प्रति रागादि कम होते जाना देखा जाता है और कभी-कभी लब्धि के योग से उसका निर्मूल क्षय भी हो जाता है[54]। इत्यादि प्रकार से प्रथम शंका का समाधान किया गया। दूसरी शंका का समाधान निम्न प्रकार से किया गया है :-

बाध्य दो प्रकार का होता है - सहभूतस्वभावभूत और सहकारी संपाद्यस्वभावभूत। उनमें से जो सहभूतस्वभावभूत होता है वह कभी भी निरन्वय विनाश को प्राप्त नहीं होता अर्थात् धर्म और धर्मी दोनों का नाश एक साथ ही संभव होता है। आत्मा और ज्ञान सहभूत स्वभावभूत है। इनमें आत्मा परिणामीनित्य है। इसके ज्ञानावरणीय कर्मो के अत्यन्त प्रकर्ष होने पर भी ज्ञान का निरन्वय विनाश नहीं हो पाता। क्योंकि यदि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से धर्मी और धर्म दोनों का निरन्वय विनाश मानेंगे तो स्वभाव के ही लोप का प्रसंग आ जायेगा। लेकिन रागादि तो कर्म विपाक के उदय से सम्पादित होने से सत्ता में आते हैं, इस कारण से कर्म का निर्मूल नाश हो जाने से उन रागादि दोषों का भी निर्मूल नाश हो जाता है[55]। इत्यादि प्रकार से तीर्थंकरों के रागद्वेष विप्रमुक्तत्व की सिद्धि की गयी है। रागादि दोषों की कारणता के विषय में चार्वाक मत को उपस्थित करते हुए उसका भी प्रत्याख्यान इसी अनुच्छेद में किया गया है। चार्वाकों का कहना है कि ये रागादि लोभादि कर्मो के विपाक और उदय से नहीं होते हैं, किन्तु कफ आदि प्रवृत्ति के कारण होते हैं। जैसे: -कफ से राग, पित्त से द्वेष और वात से मोह। इसलिए चूंकि कफादि तो शरीर में सदा ही रहते हैं अत: वीतरागत्व तो संभव नहीं है[56]। इस प्रतिज्ञा का खंडन करते हुए कहा गया है कि हेतु तो तब कहा जायेगा जबकि हेतुमान का व्यभिचरण न करता हो। लेकिन ऐसा नहीं होता; कफ प्रकृति वालों में भी द्वेष आदि देखे जाते हैं और पित्तप्रकृति में भी राग और मोह देखे जाते हैं। इत्यादि प्रकार से चार्वाकों के मत का विभिन्न युक्तियों से खंडन किया गया है।[57]

---

50. वही, पृ.4, प्रथम अनुच्छेद।
51. वही, पृ. 5 द्वितीय अनुच्छेद।
52. रागद्वेषाऽऽद्यन्तरङ्गारिविप्रमुक्तां पराभिसंधानाध्ययनविमुखा-स्तत्त्वपारावारतलस्पर्शिनः परदुर्गतिसमापन्नदुर्भगजनता-निरीक्षणसमुत्पन्नकरुणरसो -द्गारपुलकितान्तः करणा दरीदृश्यन्ते, तद्वचनसुधासारणीसमवगाहन- सुखैषिणः पुरोभागिभिन्नां के वा न भवेयुः ? -अ.रा.भा.4, घण्टापथ, पृ.1, प्रथम अनुच्छेद
53. ननु तीर्थकृतां रागाऽऽदिभिः सहाऽऽत्यान्तिको वियोगोऽसंभवः, प्रमाणबाधनात्। तच्च प्रमाणमिदम् यदनादिमद् न तद्विनाशमाविशति, यथाऽऽकशम्, अनादिमन्तश्चरागाऽऽदय इति। किञ्च रागाऽऽदयो धर्माः, ते च धर्मिणो भिन्नां, अभिन्ना वा ?। यदि भिन्नास्तर्हि सर्वेषामविशेषेण वीतरागत्वप्रसङ्गः, रागेभ्यो भिन्नत्वात् विवक्षितपुरुषवत्। अथाभिन्नास्तर्हि तत्क्षये धर्मिणोऽप्यात्मनः क्षयः, तदभिन्नत्वात्। तत्स्वरुपवत्, इति कुतस्तेषां वीतरागत्वम् ? तस्यैवाऽभावादिति। -वही
54. .....यद्यपि रागा ऽऽदयो दोषा अनादिमन्तः, तथापि कस्यचित् स्त्रीशरीराऽऽदिषु यथा ऽवस्थित-वस्तुतत्त्वावगमेन तेषां रागाऽऽदीनां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षण-मपचयो दृश्यते, ततः संभाव्यते-विशिष्टकालाऽऽदिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षविशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः। - वही
55. द्विविधं हि बाध्यम् - सहभूतस्वभावभूतम्, सहकारिसंपाद्यस्वभावभूतं च। तत्र यत् सहभूतस्वभावभूतं, तत्र कदाचिदपि निरन्वयविनाशमाविशति, ज्ञानं चाऽऽत्मनः सहभूतस्वभावभूतम्, आत्मा च परिणामी नित्यः, ततोऽत्यन्त प्रकर्षवत्यपि ज्ञानाऽऽवरणीयकर्मोदये न निरन्वयविनाशो ज्ञानस्य रागाऽऽदयस्तु लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयसंपादितसताकाः, ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति।
-अ.रा.भा.4, घण्टापथ, पृ.1, प्रथम अनुच्छेद
56. अत्राऽऽहुर्बाहस्पत्यां -''नैते रागाऽऽदयो लोभाऽऽदिकर्मविपाकोदयनिबन्धनाः, किन्तु कफादिप्रकृति- हेतुकाः।'' ....ततो न वीतरागत्वसंभवः। -वही पृ.2
57. तथाहि -स तद्धेतुको, यो यं न व्यभिचरति----वातप्रकृतेरपि दृश्यते रागद्वेषौ, कफप्रकृतेरपि द्वेषमोहौ, पित्तप्रकृतेरपि मोहरागौ, ततः कथं रागाऽऽदयः कफादिहेतुकाः ? ---अथपक्षान्तरं गृह्णीथाः -यदुत न कफहेतुको रागः, किन्तु कफादिसाम्यहेतुकः। तथाहि कफादिदोषसाम्ये विरुद्धव्याध्यभावतो रागोद्भवो दृश्यत इति। तदपि न समीचीनम्। -वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी में आगे शुक्र आदि धातुओं की राग हेतुता का खंडन किया गया है। वहाँ कहा गया है कि यदि शुक्र धातु ही राग का कारण है तो उसकी उपस्थिति में सभी स्त्रियों के प्रति राग उत्पन्न हो जाना चाहिये लेकिन नहीं होता[58]।

यहाँ किसी अन्य मत का संकेत करते कहा कि रागादि दोष पृथ्वी आदि भूतों के धर्म हैं, जैसे कि पृथ्वी और जल की बहुलता होने पर राग, तेज और वायु की बहुलता होने पर द्वेष, और जल और वायु की बहुलता होने पर मोह होता है। इस सिद्धांत का भी उचित रीति से खंडन किया गया है[59]। और अन्त में यह कहा गया है कि तीर्थंकरों के रागादि रहितता होती है - ऐसा सिद्ध किया है। और इसलिए 'जिन' शब्द की व्युत्पत्ति से रागद्वेष आदि शत्रुओं को जीतने का अर्थ लेना बताया गया है[60]। 'राग' नष्ट हो जाने पर मित भाषण में कोई कारण न रहने से जिनवर के वचनों की उपादेयता स्वतः सिद्ध हो जाती है और प्रामाणिकता भी। जिनेन्द्र देव के वचनों की प्रामाणिकता का प्रकरण प्रस्तुत करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि जैसा कि श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि कहते हैं कि जिनेन्द्र के वचन मिथ्यात्वियों के दर्शनों का समूह है तो भला उसकी प्रामाणिकता क्यों मानी जानी चाहिए[61]। जैसे: -एक वाक्य मिथ्या है, ऐसे अनेक मिथ्या वाक्यों का समूह भी मिथ्या ही हो सकता है, वह सम्यग् कैसे हो सकता है ?जैसे विष द्रव्य के कणों का समूह कभी अमृत नहीं हो सकता उसी प्रकार अनेक मिथ्यावादियों के सिद्धांत मिलकर कभी सम्यग् नहीं हो सकते।

इस पूर्व पक्ष का खंडन करते हुए कहा गया है कि परस्पर संयोगविशेष प्राप्त होने पर अनेक विषों का समूह अमृत का कार्य करता है और दूसरे स्वतंत्र विष से पीडित रोगी को उस विष समूह का प्रयोग चिकित्सा के रुप में किया जाता है। इसी प्रकार मधु और धृत के विशिष्ट संयोग से द्रव्यान्तर उत्पन्न होते हुए विष का कार्य होने लगता है और मृत्यु का कारण होता है[62]। इसलिए निरपेक्ष रुप से नैगमादि नय तो दुर्नय हैं परंतु सापेक्ष कथन करने पर वे ही नय सुनय कहे जाते हैं। इत्यादि प्रकार से स्याद्वाद के सातों भंगों का सापेक्ष रुप कथन होने से सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। इसके विस्तार का संकेत करते हुए कहा गया है कि अभिधान राजेन्द्र कोश के **'जिणवयण'** शब्द के अन्तर्गत इसका विशेष विस्तार है[63]।

जिनवचन की प्रामाणिकता के विषय में एक प्रसिद्ध कथा 'जमालि की कथा' के नाम से उल्लेखित है जिसमें 'क्रियमाणं कृतम्' -इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है, और इस सिद्धांत को न माननेवाले जमालि की ओर संकेत किया गया है[64]।

इसी जमालि की कथा का प्रसंग तृतीय भाग की प्रस्तावना में भी आया है। इस कथा में 'चार ही भूत तत्त्व हैं' -इस सिद्धांत का खंडन किया गया है[65], ऐसा कहा गया है। उसके आगे की कथा 'घण्टापथ' में संकेतित की गयी है। वहाँ बताया गया है कि भगवान महावीर जमालि को संबोधित करते हुए बोले कि 'जीव और अजीव ये दो प्रकार के तत्त्व हैं।' यहाँ पर जीव का विशेष विवरण करते हुए जीव के प्राणों, भिन्न-भिन्न प्रकार से जीव के भेदों, जीव के स्वभाव, जीव के अनादित्त्व और अनिधनत्व आदि धर्मों का संकेत करते हुए यह कहा गया है कि विशेष जानकारी के लिए अभिधान राजेन्द्र कोश में 'जीव' शब्द देखना चाहिए[66]।

योग और ध्यान संबंधी विवरण जानने के लिए **'जोगविहि'** और **'झाण'** शब्द को देखना चाहिए।[67] इसके आगे नमस्कार महामंत्र के संक्षेप-विस्तार के लिए स्पष्टीकरण दिया गया है, पंचविध नमस्कार ही योग्य है। इससे संक्षिप्त नमस्कार भी उचित नहीं और इससे विस्तृत नमस्कार भी उचित नहीं[68]।

'णय' शब्द, **'णरग'** शब्द, **'णाण'** शब्द **'णिगोय'** शब्द और **'णिव्वाण'** शब्दों के अन्तर्गत आयी हुई विषय वस्तु का दिग्दर्शन कराते हुए निर्वाण को प्राप्त करने वाले जीवों में से तीर्थंकर जीवों के विषय में परिचय प्रारंभ किया गया है। वहाँ कहा गया है कि **"जो तीर्थ की स्थापना करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं।" ये अचिन्त्य प्रभाव और महान् पुण्य वाले तीर्थंकर नाम कर्म के प्रभाव से होते है।**[69] यहाँ पर तीर्थ की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि **जिससे जीव मिथ्यादर्शन, अविरति की गंभीरता से युक्त महाभीषण कषाय-रूपी पाताल पर आश्रित अत्यन्त कठिनाई से जीतने योग्य मोहरुपी आवर्तवाले विचित्र दुःखों के समूहों को उत्पन्न करनेवाले, राग-द्वेष पवन से क्षुब्ध, संयोग-वियोग की तरंगों से युक्त, प्रबल मनोरथों**

58. ...शुक्रोपचारहेतुको रागो नान्यहेतुक इति। तदपि न युक्तम्। ... रुपरहितायापमि ङ्गपि रागदर्शनात्।-वही

59. एतेन यदपि कश्चिदाह पृथिव्यादिभूतानां धर्मा एते रागाऽऽदयः। तथाहि - पृथिव्यम्बुभूयस्त्वे रागः, तेजोवायुभूयस्त्वे द्वेषः, जलवायुभूयस्त्वे

60. एतेन सिद्धं रागादिविरहवत्त्वं तीर्थकृतां भगवताम्। अतएवं रागद्वेषाऽऽदिशत्रून् जयन्त्यभिभवन्तीति तीर्थकृत्पर्यायस्य जिनशब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं च भावयन्ति भावुकाः।
- अ.रा.भा.4, घण्टापथ, पृ.3, प्रथम अनुच्छेद

61. ....तथापि मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वाद् जिनवचनस्य कथं प्रामण्यमङ्गीकरणीयम्?। जिनवचनस्य मिथ्यात्विदर्शनसमूहरुपत्वं तु श्रीसिद्धसेनदिवा-करोऽप्यभ्युपगच्छति।
- अ.रा.भा.4, घण्टापथ, पृ.3, प्रथम अनुच्छेद

62. दृश्यन्ते हि विषाऽऽदयोऽपि भावाः परस्परसंयोगविशेषमवाप्तां समासादित-परिणत्यन्तरा अगदरूपतामात्मसात्कुर्वाणाः, मध्वाज्यप्रभृतयस्तु विशिष्टसंयोगावासद्रव्यान्तरस्वभावा मृतिप्राप्तिनिमित्तविषरुपतामासादयन्तः।-वही

63. -वही पृ.3

64. -वही पृ.4

65. अथ (जमालि प्रसङ्गादेव) तृतीयभागस्य प्रस्तावस्य 2 पृष्ठे चत्वार्येव भूतानि तत्त्वम्, न तु तद्व्यतिरिक्तो भवान्तरानुसरणव्यसनवानात्मेति चार्वाकचर्चापरकरणं विधाय जीवसिद्धिरुपपादिता।
-वही, पृ. 5 की अन्तिम पंक्ति एवं पृ.6 की प्रथम दो पंक्तियाँ

66. -अ.रा.भा.4, पृ.6, घण्टापथ

67. -वही पृ.7

68. तस्मात् संक्षेपतोऽपि पञ्चविध एवं नमस्कारो, न तु द्विविधः, अव्यापकत्वात्। विस्तरतस्तु नमस्कारो न विधीते, अशक्यत्वात्। अ.रा.भा.4, पृ. 7 घण्टापथ, द्वितीय अनुच्छेद

69. ....तीर्थंकरणशीलास्तीर्थंकराः, अचिन्त्यप्रभाव-महापुण्यसंज्ञिततत्प्रामकर्मविपाकतः;...। -वही पृ.9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की लहरों से भरे हुए जन्म-जरा-मरण-रुपी जलवाले संसार सागर से तरते हैं, उसे तीर्थ कहते हैं[70]।

यहाँ पर तीर्थंकरों के तीर्थप्रवर्तन स्वरुप को बताते हुए असर्वज्ञत्व के बारे में पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है और फिर उसका खंडन किया गया है। इस विषय का विशेष वर्णन '**तित्थयर**' शब्द पर किया गया है।

इसके आगे स्तव प्रकरणका विस्तार किया गया है कि द्रव्य स्तव और भाव स्तव - दो प्रकार के स्तव होते हैं। इनमें से साधुओं को और श्रावकों को कौन सा स्तव उपादेय होता है- इसकी सहेतुक चर्चा की गयी है। इसका विशेष विस्तार '**थय**' शब्द के अन्तर्गत देखना चाहिए, ऐसा संकेत दिया है[71]।

इसके आगे **स्थविरकल्प** (थविरकप्प) पर विचार किया गया हैं। यहाँ कहा गया है कि दो प्रकार के साधु होते हैं - गच्छप्रतिबद्ध और गच्छबहिर्गत। इन दोनों के पुनः दो-दो भेद होते हैं-जिनकल्पिक और स्थविर कल्पिक। इन सब में क्या विशेषता हैं ? इसका संकेत भी यहाँ पर किया गया हैं।[72]

इसके आगे द्रव्य-स्तव और भाव-स्तव का संकेत करते हुए द्रव्य-गुण-पर्याय का जैन सिद्धांतानुसार विवेचन करते हुए यह संकेत किया गया है कि वैशेषिक रीति से प्रतिपादित द्रव्य-सिद्धांत का खंडन '**दव्व**' शब्द में देखना चाहिए।[73]

आगे दान प्रकरण का प्रारंभ करते हुए दीक्षा के अधिकारी का विवेचन किया गया है। 'दीक्षा' दुःख की निवारक कही गयी है। इसी के साथ दुःख का स्वरुप बताते हुए गर्भ से लेकर आगे तक के दुःखों का संकेत किया गया है। चारों गतियों के दुःखों का संकेत करते हुए यह कहा गया है कि इसका विशेष विवरण '**दुःख**' शब्द के अन्तर्गत आया हुआ है।[74]

जिन वचनों में श्रद्धा-अश्रद्धा का प्रकरण प्रारंभ करते हुए '**दोकिरिय**' शब्द के अन्तर्गत आये हुए '**आर्यगङ्ग**' के चरित्र का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए जिनवचन में अश्रद्धा का उदाहरण दिया गया है। तत्पश्चात् जिनवचनों में श्रद्धा और जिनाज्ञा का पालन करना जैनों का परम धर्म है - ऐसा प्रस्ताव रखते हुए '**धर्म**' शब्द से लोक में गृहीत दो अर्थों का संकेत किया गया है। सबसे पहले वस्तु का स्वभाव ही धर्म है - इस सिद्धांत का प्रतिपदान किया गया है[75]। और इसके बाद क्रम प्राप्त **मोक्ष के साधन भूत चारित्र रूप धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ पर रात्रि भोजन त्याग का भी संकेत किया गया है। जोकि जैन धर्म का प्रथम सोपान है।**[76]

किन्तु आजकल धर्म के नाम से अनेक मिथ्यामतों का प्रचलन हुआ है, उस पर विचार करना चाहिए,[77] ऐसा उल्लेख करते हुए विभिन्न प्रचलित मतों के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए धर्म ध्यान की कल्याणकारकता बताई गयीहै। इसका विस्तार '**धम्म**' शब्द के अन्तर्गत किया गया है। और अन्त में 'घण्टापथ' का उपसंहार किया गया है।

यद्यपि 'धम्म' शब्द के बाद भी चतुर्थ भाग में अनेक शब्द आये हैं लेकिन उनका परिचय सीधे ही 'अभिधान राजेन्द्र' से प्राप्त किया जा सकता है और इसे भूमिका में लिखना आवश्यक नहीं है इसीलिए उपाध्याय श्री मोहन विजयजीने 'धम्म' शब्द का परिचय देते हुए अपने कथन को विराम दिया है। वस्तुतः तो चतुर्थ भाग में नकारादि शब्दों का विवेचन पूरा हो जाता हैं।

विमर्शः-

अभिधान राजेन्द्र कोश का क्लेवर इतना विस्तृत है कि उसके प्रत्येक भाग का सामान्य एवं विशेष परिचय देना आवश्यक था। आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने जिस उद्देश्य से और जिस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना की है उसको यदि प्रस्तुति के माध्यम से न समझाया जाता तो अध्येताओं और विद्वानों को इसके उपयोग की सही दिशा नहीं मिल पाती।

प्रस्तुति चाहे स्वयं रचयिता के द्वारा की जाये या फिर संपादक या संशोधक के द्वारा की जाये, उसमें ग्रंथ का समग्र चित्र एकसाथ दृष्टिपथ में आ जाता है। अभिधान राजेन्द्र कोश के संशोधकद्वय मुनि श्री दीप विजयजी एवं यतीन्द्र विजयजी का अपने गुरुदेव आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के साथ प्रत्यक्ष सान्निध्य रहा है। यही नहीं, संशोधकद्वय का इस ग्रंथ के लेखन में भी सक्रिय सहयोग रहा है। और ग्रंथ के प्रथम-प्रकाशन काल में इन्होंने ही इस ग्रंथराज का संपादन एवं संशोधन भी किया है।

तात्पर्य यह है कि संशोधक द्वय के हृदय-कुम्भ अभिधान राजेन्द्र कोश के तत्त्व से पूर्ण भरे हुए थे, उन्हें इस ग्रंथ की आत्मा का जितना साक्षात्कार हुआ होगा उतना अन्य किसी को हो सके, यह असंभव सा प्रतीत होता है।

हमने यहाँ कुछ पत्रों में ही सीमित सामग्री के माध्यम से उपलब्ध सभी प्रस्तावों का परिचय दिया है। अभिधान राजेन्द्र कोश की विषय-वस्तु के परिचय के प्रसंग में यह संकेत कर दिया गया है कि इस कोश का विभाजन सात ही भागों में हुआ है परंतु पांचवें, छठें और सातवें भाग में किसी भी शीर्षक से प्रस्तावना नहीं दी गयी है जबकि प्रथम भाग में तीन प्रकार से प्रस्ताव प्राप्त होता हैं : **(1) प्रस्तावना (2) उपोद्घात और (3) द्वितीयावृत्ति प्रस्तावना।** इनमें से प्रस्तावना उपाध्याय श्री मोहन विजयजी (आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के अन्तेवासी शिष्य) द्वारा हिन्दी भाषा में

---

70. ....येनेह जीवा जन्ममरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगंभीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुर्लङ्घ्यमोहाऽऽवर्तरौद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्वापदं रागद्वेषपवनविक्षोभितं संयोगवियो-गवीचीयुक्तं प्रबलमनोरथवेलाकुलं सुदीर्घसंसारसागरे तरन्ति तत्तीर्थमिति।-वही
71. अथ द्रव्यस्तव-भावस्तवयोः...द्रष्टव्यं प्रज्ञावद्भिः।-वही, पृ. 10, द्वितीय अनुच्छेद
72. वही, पृ.10, तृतीय अनुच्छेद
73. वैशेषिकरीत्या द्रव्यप्रतिपादनं, तत्खण्डनं च 'दव्व' शब्दे 2465 पृष्ठे द्रष्टव्यम्। -अ.रा.भा.4, पृ.4, घण्टापथ पृ.11
74. अ.रा.भा.4, पृ.4, घण्टापथ पृ.11-12
75. ....द्विधा हि धर्मशब्दस्य प्रवृत्तिर्लोके विलोक्यते। तथाहि - सर्वत्र वस्तुनि यद् वस्तुनः स्वभावः स धर्म उच्यते ...दुर्गतौ प्रपतन्तं जीवं धारयतीति धर्मः। -वही, पृ. 12, द्वितीय अनुच्छेद
76. ....अतः कान्तारे दुर्भिक्षे, ज्वरऽऽदौ महति समुत्पन्ने रात्रौ श्रमणाः सर्वाऽऽहारं न भुञ्जते..। वही, पृ.14
77. ....साम्प्रतमनेकानि धर्माभिधेयधुरंधराणि मिथ्यात्विमतानि प्रचलितानि सन्ति, ततो विवेकः कर्तव्यः। -वही, पृ. 15, तृतीय अनुच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखी गयी है जबकि उपोद्घात मुनिश्री दीपविजयजी एवं यतीन्द्र विजयजी के द्वारा संस्कृत भाषा में निबद्ध किया गया है। और प्रथम भाग में ही द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना 'द्वितीयावृत्ति प्रस्तावना' - शीर्षक से वर्तमान आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरि द्वारा हिन्दी में निबद्ध की गयी है। द्वितीय भाग में **'प्रस्तावना'** शीर्षक से उपाध्याय श्री मोहन विजयजी ने संस्कृत में प्रस्तावना लिखी है। जबकि तृतीय भाग में **''प्रस्ताव''** शीर्षक से उपाध्याय श्री मोहन विजयजी, श्री दीप विजयजी एवं श्री यतीन्द्र विजयजी -संशोधकों के द्वारा संस्कृत में लिखा गया है। चतुर्थ भाग में यही प्रस्तावना संशोधकद्वय के द्वारा **'घण्टापथ'** नाम से लिखी गयी है।

उपर्युक्त सभी प्रस्तावों का परिचय यद्यपि दिया जा चुका है परंतु फिर भी इन सब का सापेक्ष समालोचन करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सभी प्रस्तावों में यह सामान्य रुप से देखा गया है कि प्राय: सभी में अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना का प्रयोजन, पृष्ठभूमि और उपयोगिता पर कुछ न कुछ अवश्य लिखा प्राप्त होता है। दूसरी समानता यह है कि सभी में जैन दर्शन/जैन धर्म के विशेष सिद्धांतों का परिचय या तो विवेचन पद्धति से दिया गया है या तो फिर पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष के माध्यम से दिया गया है। तीसरी समानता यह है कि संबद्ध भागों में आये हुए विशिष्ट शब्दों का विवेचनात्मक परिचय दिया गया है।

अन्य विशेषता यह है कि प्रथम भाग में संदर्भ ग्रंथ सूचि, संकेत सूची का भी समावेश किया गया है। इसके साथ ही प्राकृत शब्दों के गठन और पाठान्तर का संकेत भी विवेचित किया गया है। यहीं पर व्याकरण के कुछ नियमों का भी स्पष्टीकरण किया गया है। यहाँ पर व्याकरणिक कोटियों की विलक्षणता, परिचय एवं तत्सम्बद्ध मतभेदों का भी संकेत किया गया है[78]।

द्वितीय आवृत्ति की प्रस्तावना यद्यपि संक्षिप्त है किन्तु उसमें एक महत्त्वपूर्ण विषय पर चर्चा की गयी है जिसके बिना अभिधान राजेन्द्र कोश के महत्त्व पर पूरा ध्यान नहीं जा सकता, वह है - **'कोश परम्परा एवं जैन कोश परम्परा'** का परिचय।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इन प्रस्तावों के लेखन चतुष्टय में से किसी ने भी पंचम, षष्ठ एवं सप्तम भाग में संक्षिप्त भी प्रस्ताव क्यों नहीं लिखा ? इस विषय में हमारा मन्तव्य यह है कि यद्यपि इन अंतिम तीनों भागों में जैन दर्शन/धर्म संबंधी अतिमहत्त्वपूर्ण शब्द आये हैं, फिर भी, चूंकि उन सिद्धांतों का परिचय पूर्व के चार भागों में आये शब्दों के परिचय के साथ ही दिया जा चुका है इसलिए पिष्ट-पेषण न करते हुए अनावश्यक विस्तार से बचा गया है।

इस प्रकार अभिधान राजेन्द्र कोश जैसे विशालकाय ग्रंथ को प्रस्तुत करने के लिये संशोधक महोदयों ने विभिन्न-शीर्षकों से प्रस्तावनाएँ लिखी है। **इन प्रस्तावनाओं को देखने से ही अभिधान राजेन्द्र कोश अध्येताओं के सामने मानो प्रस्तुत हो ही जाता है और अध्येताओं को जिज्ञासा शांत करने में तनिक भी परेशानी नहीं होता।**

78. अ.रा.भा.1, प्रथमावृत्ति प्रस्तावना

શ્રમણસંઘનો ઉપકાર

આ વિશ્વવંદ્ય શ્રમણ-શ્રમણી વર્ગ સર્વ કોઈને ઘણો ઉપયોગી છે. મનુષ્યમાં માનવતા, નીતિ, વ્યવહારશુદ્ધિ, સદ્જ્ઞાન, દયા, દાન, સદાચાર, સેવા વગેરે ઉચ્ચ સંસ્કારોને ઉત્પન્ન કરનાર, સિંચન કરનાર, પોષણ કરનાર, વૃદ્ધિ કરનાર આજ વર્ગ છે. સાધુપુરૂષના એક વચન માત્રથી અનેક ભવ્ય મનુષ્યોનાં હૃદય પરિવર્તન થાય છે જે હજારો રાજકીય કાયદાઓથી પણ શક્ય નથી. આત્મકલ્યાણનું માર્ગદર્શન કરાવનાર યુગ યુગના દીવા જેવા ગંભીર શાસ્ત્ર/સાહિત્ય ગ્રંથોનું સર્જન કરી તેનો અમર વારસો આપનાર પણ જૈન શ્રમણ વર્ગ જ છે.

સાહિત્ય સર્જકો પ્રધાનપણે શ્વેતામ્બર સાધુઓ-આચાર્યો-મુનિઓ છે. શ્રી મહાવીર કથિત પ્રવચન-આગમ સાહિત્યની 'પંચાંગી'માં મૂળ આગમ પર નિર્યુક્તિ, ભાષ્ય, ચૂર્ણિ, અવચૂર્ણિ, ટીકા, વૃત્તિ વગેરે ઉત્પન્ન કરવા ઉપરાંત તે આગમને અનુલક્ષીને ધાર્મિક ગ્રન્થો તથા સાહિત્ય પ્રદેશોમાં વિહરી તે તે વિષયની કાવ્ય, મહાકાવ્ય, નાટક, કથા, કાદંબરી, વ્યાકરણ, છંદ, કોષ જ્યોતિષ, ન્યાય, તર્ક આદિ વિવિધ વિષયોની કૃતિઓના રચયિતા, સંસારત્યાગ કરી શ્રમણ દીક્ષા લઈ ધર્મોપદેશક તરીકે સ્થાને સ્થાને વિહાર કરનાર આચાર્ય ભગવંતો અને તેમની શિષ્ય પરંપરા જ છે. જેનો ઉપકાર ક્યારેય ક્યાંય ભૂલી શકાય જ નહિં.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्राप्त मंगलाचरण पद्यों का अनुशीलन

मंगलाचरण : भाग-1

प्राकृत :-

जयति सिरिवीरवाणी, बुहविबुहनमंसिया या सा।
वत्तव्वयं से बेमि, समासओ अक्खरक्कमसो॥

संस्कृत :-

जयति श्रीवीरवाणी, बुधविबुधनमस्कृता या सा।
वक्तव्यं तस्यां ब्रवीमि, समासतो ऽक्षर क्रमशः॥

अर्थ :-

सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वज्ञान के पंडितों (गणधरों) और विशेषज्ञों (श्रुतधर, पूर्वधर) के द्वारा जो नमस्कृत (वन्दित) है, वह अनंतश्री से विभूषित चरम तीर्थंकर महावीर स्वामी (वीर) की वाणी जयवंत वर्तो। उसके विषय में जो कुछ भी वर्णनीय है, वह संक्षेप में वर्णानुक्रम से कहता हूँ।

मंगलाचरण : भाग-2

प्राकृत :-

सिरिवद्धमाणवाणिं, पणमिअ भत्तीइ अक्खर कमसो।
सद्दे तेसु य सव्वं, पवयणवत्तव्वयं वोच्छं॥

संस्कृत :-

श्रीवर्धमानवाणीं, प्रणम्य भक्तितः अक्षरक्रमशः।
शब्देषु तेषु च सर्वं, प्रवचनवक्तव्यं वक्ष्यामि।

अर्थ :-

श्री वर्धमान (वीर जिनेश्वर) की वाणी को भक्तिपूर्वक प्रणाम करके (उनके) समस्त (कथनीय) प्रवचन वक्तव्य को और उनके शब्दों के विषय में अक्षर क्रम से कहूँगा।

मंगलाचरण : भाग-3

प्राकृत :-

वाणिं जिणाणं चरणं गुरुणं, काऊण चित्तम्मि सुयप्पभावा।
सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छामि भागे तइयम्मि सव्वं॥

संस्कृत :-

वाणीं जिनस्य चरणं गुरोः, कृत्वा चित्ते श्रुतप्रभावं।
सारं गृहीत्वा श्रुतस्य अस्य, वक्ष्यामि भागे तृतीयें सर्वं॥

अर्थ :-

जिनेश्वर की वाणी, गुरु के चरण एवं श्रुत (ज्ञान) के प्रभाव को चित्त में धारण करके, इस श्रुत के समस्त सार को ग्रहण करके तीसरे भाग में कहूँगा।

मंगलाचरण : भाग-4

प्राकृत :-

नमिऊण वद्धमाणं, सारं गहिऊण आगमाणं च।
अहुणा चउत्थभागं, वोच्छं अभिहाणरइंदे॥

संस्कृत :-

नत्वा वर्धमानं, सारं गृहीत्वा आगमानां च।
अधुना चतुर्थभागं, वक्ष्यामि अभिधान राजेन्द्रे॥

अर्थ :-

वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके, आगमों के सार को ग्रहण करके अब (मैं) 'अभिधान राजेन्द्र' (कोश)के (विषय में) चौथे भाग को कहूँगा।

मंगलाचरण : भाग-5

प्राकृत :-

वीरं नमेऊण सुरेसपुज्जं, सारं गहेऊणं तयागमाओ।
साहूण सड्ढाण य बोहयं तं, वोच्छामि भागम्मि य पंचमम्मि॥

संस्कृत :-

वीरं नत्वा सुरेशपूज्यं, सारं गृहीत्वा तस्यागमेभ्यः।
साधुं श्रावकं च बोधयितुं तं, वक्ष्यामि भागे च पंचमे॥

अर्थ :-

देवेन्द्रों के पूज्य ऐसे महावीर स्वामी को नमस्कार करके उनके आगमों (जैनागमों) में से सार ग्रहण करके साधु और श्रावकों को बोध कराने के लिये उसे पांचवें भाग में कहूँगा।

मंगलाचरण : भाग-6

प्राकृत :-

सिरि वद्धमाणसामिं, नमिऊण जिणागमस्स गहिऊण।
सारं छट्ठे भागे, भवियजणसुहावहं वोच्छं॥

संस्कृत :-

श्री वर्धमानस्वामिनं, नत्वा जिनागमस्य गृहीत्वा
सारं षष्ठे भागे, भविकजनसुखावहं वक्ष्यामि॥

अर्थ :-

श्री वर्धमान (24 वें तीर्थंकर महावीर स्वामी) को नमस्कार करके, जिनागमों के सार को ग्रहण करके भव्य जीवों के सुख के लिये छठवें भाग में कहूँगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विमर्श:-

यहाँ पर आचार्य का अभिप्राय यह है कि भगवान महावीर अपने गुणों के कारण सर्ववन्द्य है और उनकी वाणी भी सर्ववन्द्य है। उसको ग्रहण करने एवं धारण करनेवाले गणधर, पूर्वधर, श्रुतधर आदि पूर्वाचार्यों, उपाध्यायों एवं सभी साधुजनों के साथ-साथ गुणग्राहक श्रावक, श्राविकाओं के द्वारा सर्वथा वंदनीय है। उस वाणी के विषय में जो कुछ भी कहना चाहता हूँ उसे संक्षेप में वर्णानुक्रम से कहता हूं।

यहाँ पर वीर की वाणी को नमस्कार करते हुए परंपरया वीर को भी नमस्कार किया गया है। वीर की वाणी को ग्रहण करने के लिए सभी ज्ञाता और गुणग्राहक अभिभूत होते हैं। उनको ग्रहण करने में सरलता है। इसलिए संक्षेप में वर्णानुक्रम से उसके बारे में आचार्यदेव वर्णन करते हैं। 'समासओ' का अर्थ यह है कि आचार्यदेव अपनी आयु मर्यादा की दृष्टि से जितना कथन कर सकते हैं वह संक्षेप में ही संभव है। और दूसरे, जो वाणी के ग्राहक हैं वे विस्तार से ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अत: संक्षेप में वर्णन किया गया है और 'वत्तव्वयं' कहने से अभिप्राय है कि यद्यपि वीर की वाणी अत्यन्त गंभीर है और पदार्थों का स्वभाव अनिर्वचनीय है, फिर भी संकेत रुप से लोक व्यवहार में वाणी के द्वारा पदार्थ का स्वरुप जिस प्रकार से कहा जा सकता है वह उसका वक्तव्य स्वरुप है, उसे ही आचार्यश्री कहते हैं। अनिर्वचनीय स्वरुप तो केवलिगम्य है अथवा यह कि स्याद्वाद नय का जो 'अवक्तव्य' भंग है उसको गौण करके पदार्थ के अस्ति-नास्ति वक्तव्य स्वरुप को मुख्य करके, वक्तव्य स्वरुप है उसके बारे में आचार्यदेव कहते हैं।

यहाँ पर विशेष दृष्टव्य यह है कि छहों भागों में प्राप्त मंगलाचरणों में से प्रथम भाग, द्वितीय भाग एवं तृतीय भाग में अंतिम तीर्थंकर **वीरजिन का स्मरण करते हुए उनकी वाणी को नमस्कार किया गया** है; इसके साथ ही तृतीय भाग के मंगलाचरण में गुरु को भी नमस्कार किया गया है; चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ भाग में 'वीर', एवं 'वर्धमान स्वामी' नाम से अंतिम तीर्थंकर **श्री महावीर स्वामी** को नमस्कार किया गया है।

उपर्युक्त नमस्कार आचार्य की शासन परम्परा को सूचित करता है। जैन परम्परा में यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि इस संसार में विकास और ह्रास से युक्त एक कालचक्र है जिसमें दो भाग हैं- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। प्रत्येक कल्पार्ध में काल के छ:-छ: भाग हैं। इसके चतुर्थ काल में जैन धर्म के उपदेशक 24 तीर्थंकर होते हैं। जो तीर्थंकर जिस समय होते हैं उससे अगले तीर्थंकर की दिव्यध्वनि (उपदेश) के पूर्व तक पूर्ववर्ती तीर्थंकर का शासनकाल कहलाता है। इसी आधार पर इस अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन संप्रत प्रचलित है। और यही कारण है कि आचार्यश्री ने अंतिम तीर्थंकर श्री वीर को एवं उनकी वाणी को नमस्कार किया है।

जो उपदेश करता है वही गुरु होता है, यह सामान्य परम्परा है। और इस प्रकार जैन मतानुयायियों के पारम्परिक गुरु भी भगवान महावीर है[79]। परंतु जिस आचार्य से दीक्षा ली जाये वे गुरु भी गुरु कहलाते हैं। और इस प्रकार ये गुरु दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनमें देवादिदेवत्व प्रगट हुआ है अर्थात् जगद्गुरु तीर्थंकर और दूसरे वे जिनमें देवाधिदेवत्व प्रकट नहीं है। इसलिए प्रथम प्रकार के गुरु को जैन सिद्धांत में सुदेव/देव कहते हैं। और द्वितीय प्रकार के गुरु को सुगुरु/गुरु गुरु कहते है। इसके साथ ही उनके उपदेशों को अर्थात् उनकी वाणी को भी उन्हीं के बराबर महत्त्व दिया गया है क्योंकि कोई भी गुरु स्वत: उपकारी नहीं है। वाणी ही वह महत्त्वपूर्ण माध्यम है जिससे वे उपकारी होते हैं, इसलिए जैन परम्परा में जिनवाणी को भी इन त्रिरत्न में सम्मिलित किया गया है। यही कारण है कि आचार्यश्रीने प्रथम भाग में वीरवाणी को नमस्कार किया है।

यह स्पष्ट है कि आचार्यश्रीने मंगलाचरणों में देव, गुरु एवं शास्त्र (जिनवाणी) - इन तीनों को नमस्कार किया है और वाणी का और आगमों का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इस प्रकार मंगलाचरण में परम्परा का संकेत किया गया है।

आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने मंगलाचरण पद्यों में कहीं पर भी यह नहीं कहा है कि मैं शब्दों का अर्थ बतानेवाला कोश बनाऊंगा, अपितु यह स्वीकार किया है कि भगवान महावीर की वाणी अर्थात् जिनागमों का सार लेकर उस वाणी के विषय में जो वक्तव्य है और उसमें गुम्फित जो शब्द हैं, उन पर जो भी वक्तव्य है, उसे अक्षरक्रम से कहूँगा[80]। इससे यह स्पष्ट है कि **आचार्यश्री का प्रयोजन शब्दकोश अथवा विश्वकोश का निर्माण नहीं है, अपितु अंतरंग यही है कि भगवान महावीर की वाणी का विशिष्ट विवेचन लोगों को उपलब्ध हो।**

क्योंकि लोगों को यह ज्ञात ही नहीं है कि शास्त्र में किन सिद्धांतो का कथन किस अर्थ और किस अपेक्षा से हैं, अत: **लोगों को शब्दार्थ के माध्यम से शास्त्र का सही अर्थ उपलब्ध हो; भ्रम का निवारण हो और सिद्धांतो का ज्ञान हो इसीलिये आचार्यश्रीने आगमों में अंतर्निहित शब्दों का कोश-पद्धति से व्याख्यान किया है**[81]।

इस प्रकार निश्चित हो जाता है कि इस रचना के अध्ययन के अधिकारी वे जीव हैं जो संसार के दु:खों से भयभीत हैं और भोगों को हेय (त्याज्य) मानते हैं और मोक्ष के अभिलाषी हैं और संहनन एवं मनोबल के अनुसार मुक्ति मार्ग में प्रवृत होते हैं। यह कोश साधु एवं श्रावकों के लिए अथवा जो साधु अथवा श्रावक बोध प्राप्त करने के इच्छुक हों उन्हें सम्यग्ज्ञान कराने के लिए लिखा गया है[82]। अर्थात् आचार्यश्री की दृष्टि में प्राणी मात्र इस ग्रंथ का उपयोग करने का अधिकारी है। अर्थात् इस ग्रंथ का कोई लौकिक प्रयोजन नहीं है, अपितु पारमार्थिक और अलौकिक प्रयोजन है।[83]

---

79. जय वीयराय ! जगगुरु....। -'जयवीयराय' सूत्र (२. गौतमस्वामी), दो प्रतिक्रमण-सूत्र 18
80. अ.रा.भा.1,2 मंगलाचरण
81. अ.रा.भा.1, उपोद्घात पृ.2
82. अ.रा.भा.5, मंगलाचरण
83. अ.रा.भा.6, मंगलाचरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश के पुष्पिकावचन

भाग-3

"मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाऽऽननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः ।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
धन्य- सूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोऽन्योऽस्तिकः?॥

और

भाग-4

दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाऽऽननग्रामणी -
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः ।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,
कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ?॥

अर्थ :-

भाग 3 और भाग 4 के अंत में यह पुष्पिका संशोधकों ने लिखी है- ऐसा इसकी रचना से ज्ञात होता है, क्योंकि पुष्पिका में कहा है- उन्मत्त और अहंकारी विपक्षीरुपी हाथियों को दमन करने में केशरी सिंह के समान आचार्य विजय राजेन्द्रसूरिने इस अभिधान राजेन्द्र कोश के निर्माण से जैनागमों को प्रकाशित किया और संघ पर वैसा ही प्रत्यक्ष उपकार करने में हमेशा तत्पर है। भाग 3 की पुष्पिका के अनुसार अन्य कौन धन्य भागी है ? अथवा भाग 4 की पुष्पिका के अनुसार आचार्य विजय राजेन्द्रसूरि के अतिरिक्त अन्य कौन एसा पुण्यावान् है ? अर्थात् (इस काल में) न तो ऐसा कोई जिनवाणी में आस्तिक धन्यभागी है और न कोई ऐसा पुण्यशाली है जो अभिधान राजेन्द्र कोश जैसी रचना करके और प्रतिवादियों के झुंड को जीतकर श्री संघ पर प्रगट उपकार करने में समर्थ हो।

विशेष विमर्श:-

इस पुष्पिका में संशोधकों का अभिप्राय यह है कि अभिधान राजेन्द्र प्राकृत महाकोश जैसे जैनागमों के समस्त शब्दों से परिपूर्ण कोश की रचना के लिए जिनेश्वर परमात्मा एवं उनकी वाणी अर्थात् जिनवाणी जिसमें संग्रहीत है, ऐसे जैनागमों पर दृढ-श्रद्धा होना आवश्यक है। साथ ही एसे कोश की रचना श्रम साध्य और कष्ट साध्य तो है ही, इसके साथ ही कर्ता में शुद्ध सम्यक्त्व, अडिग श्रद्धा और ज्ञान का तीव्र क्षयोपशम, नैतिक-चारित्रिक बल भी आवश्यक है। जैनागमों का तलस्पर्शी ज्ञान, आवश्यक संदर्भ ग्रंथो की प्राप्ति, उनका वाचन-चिंतन-मनन-संशोधन, शब्द संकलन, ग्रंथ रचना हेतु उचित सामग्री की प्राप्ति आदि कठिनतम श्रम एवं इतने लम्बे समय तक धैर्य, गाम्भीर्य, दिव्य तप-साधना के अलावा असंभव सा है। क्योंकि ये सारे ग्रंथ अधिकांश ज्ञान भंडारों में सुरक्षित एवं समाज के अधिकार में रहते हैं, अत- इन्हें प्राप्त करने में समय भी ज्यादा लगता है और कठिनाईयाँ भी बहुत आती हैं। हस्तलिखित पत्रों की एक प्रति भी बडी मुश्किल से मिलती है।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने कोश रचना में संलग्न रहते हुए 14 वर्ष की दीर्घ समयावधि में अपने साध्वाचारों का चुस्तरुप से पालन करते हुए विहार, दीक्षा, प्रतिष्ठा, अंजन शलाका, संघ-यात्राएँ, तपश्चर्या, विपक्षियों से शास्त्रार्थ एवं संघ, समाज, और गच्छ के अन्य कार्य करते हुए, अन्य साहित्य का भी निर्माण किया, और ऐसी व्यस्त दिनचर्या में साधनों के अभाव के उस युग में इस ग्रंथराज जैसे अप्रतिम विश्वकोश का निर्माण किया।

ऐसा कठिन परिश्रमी, तीव्र ज्ञान के क्षयोपशम का स्वामी, ग्रंथरचना के सामर्थ्यवाला अनुपम पुण्यशाली और अकेले एक ही व्यक्ति इतने बडे विश्वकोश का निर्माण करने का सौभाग्यशाली हो - यह बात आज के कम्प्युटर युग में भी संभव नहीं है अतः संशोधकों ने कहा-

"धन्यः सूरिपदाङ्कितो विजय राजेन्द्रात्परोऽन्योऽस्ति कः?"

और

कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजय राजेन्द्रात्परः पुण्यवान् !

अनुपम बीज

वीतरागता पर श्रद्धा अर्थात् दोषों के विजय पर श्रद्धा। यह श्रद्धा दोष-विजेताओं के प्रति भक्तिराग उत्पन्न करती है, जिससे आत्मा में जीवरुपी ताम्र को शुद्ध काञ्चन समान सर्व दोषरहित एवं सर्वगुणसहित शिवस्वरुप बनाने की शक्ति पैदा होती है। श्रुतधर्म में श्रद्धा यानी वीतराग प्ररुपित शास्त्रोक्त पदार्थों एवं तत्त्वों में विश्वास। उन पदार्थों और तत्त्वों को जानने-समजने से चारित्रधर्म की प्राप्ति होती है। चारित्रधर्म की श्रद्धा एवं उसके पालन के परिणाम स्वरुप शुभ और कल्याणकारी फल के प्रति अखण्ड विश्वास, - यह सद्भक्ति और सदाचरण की प्रेरणा का अनुपम बीज है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश : प्रशस्ति

वासे पुण्णारसंकचन्दपडिए चित्तम्मि मासे वरे,
हत्थे भे सुहतेरसी-बुहजुए पक्खे य सुब्भे गए।
सम्मं संकलिओ य सूरयपुरे संपुण्णयं संगओ,
राइंदायरिएण देउ भुवणे राइंदकोसो सुहं ।।3।।[84]

अभिधान राजेन्द्र कोश की पूर्णाहुति पर रचित अंतिम एक श्लोक प्रमाण प्राकृत पुष्पिका में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि कहते हैं "**विक्रम संवत् 1960 के वर्ष में, श्रेष्ठ चैत्र मास में, शुक्ल पक्ष में त्रयोदशी बुधवार के दिन, हस्त नक्षत्र में सूर्यपुर में (सूरत में) सम्यक् प्रकार से संपूर्ण संकलन कर आचार्य राजेन्द्रसूरिने संसार को शुभ राजेन्द्र कोश दिया।**

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी विरचित

संस्कृत प्रशस्ति[85] और हिन्दी अनुवाद

श्लोक :

शाखाप्रशाखाभिरतिप्रवृद्धे, वीरोक्तिविस्तारविधानदक्षे।
सद्धर्म्यसौधर्मबृहत्तपाऽऽख्य-गच्छे जगत्यां जनितप्रतिष्ठे ।।1।।
श्रुतावगाहप्रवरा महान्तः, सच्छासनाऽशेषधुरं वहन्तः।
श्रीसङ्घवाटीं परिफुल्लयन्तः, सूरीन्द्रमुख्या बहवो बभुवुः ।।2।।

अर्थ : अंतिम श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामी के शासन में हुए अनेक गणधर-श्रुतधर-पूर्वधर आचार्य भगवंतों की महिमा के गुणगान करते हुए आचार्य विजय राजेनद्रसूरीश्वरजी ने कहा है-

शाखा और प्रशाखाओं से अत्यन्त प्रकृष्टतापूर्वक वृद्धिप्राप्त, वीरवाणी का विस्तार करने की विधि में चतुर, संसार में लब्धप्रतिष्ठित आर्य सुधर्मास्वामी से सौधर्मबृहत्तपागच्छ नामक गच्छ में श्रुत के सागर का पार पाने में अत्यन्त श्रेष्ठ, महान सुशासन की सकल धुरा को वहन करनेवाले और श्री संघवाटिका को प्रफुल्लित करनेवाले कई श्रेष्ठ आचार्य भगवंत हुए।

श्लोक :

तदन्वयेभूद् वरत्नसूरिः, स्वब्रह्मतेजस्वितया करिष्णुं।
भानुं नभोगं हरिमब्धिवासं, त्रिषट्तमं पट्टमलङ्करिष्णुः ।।3।।

अर्थ : आगे स्व-गुरु परम्परा दर्शाते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि कहते हैं कि उन सुधर्मास्वामी की परम्परा में श्री रत्नसूरि हुए, जिनके अपने ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सूर्य आकाश में (भ्रमण करने) गया और विष्णुने समुद्र में वास किया। ऐसे श्री रत्नसूरिने तिरसठवीं पाट शोभायमान की।

श्लोक :

निरन्तराऽऽचाम्लकरः सुखेन, क्षमा-श्रुत प्राज्यमतिप्रवृद्धः।
वृद्धक्षमासूरिरलञ्चकार, तत्पट्टमेरुं सावितेव धीरः ।।4।।

अर्थ : हंमेशा आयंबिल तप करनेवाले, क्षमा एवं श्रुतज्ञान के साम्राज्य में अत्यन्त तल्लीन, धैर्यवान् श्री वृद्धक्षमासूरिने उनके पाटरुपी मेरुपर्वत को सूर्य की तरह अलंकृत किया।

श्लोक :-

स्वपरसमयवेदी षट्सु भाषासु दक्षो, विजितयवनवृन्दो मेघपाटीयभर्तुः।
सदसि जनसमक्षं श्रीलदेवेन्द्रसूरिः, समभवदतितेजाः पट्टकेऽमुष्य जिष्णुं ।।5।।

अर्थ : इनकी पाट पर स्वपर सिद्धांत के ज्ञाता, छः भाषाओं में चतुर, मेघपाट देश के राजा की भरी सभा में लोगों के समक्ष यवन समूह (विदेशीवादी) को जिसने जीत लिया ऐसे अतिशय तेजस्वी और जितेन्द्रिय श्री देवेन्द्रसूरि हुए।

84. अ.रा.पृ. 7/1250
85. अ.रा.पृ. 7/1250-51

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्लोक :

शिश्राय तत्पट्टमशेषकाल-विन्मारजित्स्वाऽन्यशुभं करिष्णुं ।
नैमित्तिकानां प्रथमश्च लोके, कल्याणसूरिर्गणितप्रवीणः ॥6॥

अर्थ : स्व-पर का शुभ करनेवाले, ज्योतिषियों की दुनिया में प्रथम, (सर्वश्रेष्ठ) गणितकला में प्रवीण ऐसे श्री कल्याणसूरिने इनकी पाट का (पाट पर) बहुत लम्बे समय तक आश्रय किया।

श्लोक :

अन्वर्थनामा समभूत् प्रमोद सूरिर्जगज्जीवसुमोदहेतुः ।
समाधिलीनो निजकर्मदक्ष- स्तदासनेऽखण्डितशीलशाली ॥7॥

अर्थ : उनके पाट पर बालब्रह्मचारी, निजकार्य में चतुर, समाधि में लीन रहनेवाले जगत के जीवों के आनन्द का कारण 'यथानाम तथागुण' युक्त श्री प्रमोदसूरि हुए।

श्लोक :

तत्पट्टमेरावुदियाय भानु-र्जैनागमाब्धिं परिमथ्य कोशम् ।
राजेन्द्रसूरिर्जगदर्चनीयो-ऽभिधानराजेन्द्रमसावकार्षीत् ॥8॥

अर्थ : उनके पाट रुपी मेरु पर उदय के लिये जैनागमोंरुपी समुद्र का समस्त प्रकार से मंथन करके सूर्य समान जगत पूज्य यह अभिधान राजेन्द्र कोश राजेन्द्रसूरिने बनाया (निर्माण किया)।

श्लोक :

अस्मत्पट्टप्रभावी धनविजयमुनिर्वादिवृन्दप्रजेता, श्रीलोपाध्यायवर्यः प्रतिसमयमदाद् भूरिसाहाय्यमेषः ।
कोशाब्धेरस्य सृष्टौ सकलजनपद श्लाधनीयत्वलिप्सोः, सद्विद्वन्मानसाब्जे दिनकरसमतां यास्यमानस्य लोके ॥9॥

अर्थ : मेरे पाटप्रभावक, वादिवृन्द विजेता, उपाध्यायवर्य मुनि श्री धनविजयने इस (कोश निर्माण) में प्रतिसमय प्रशंसनीय सहयोग दिया।

इस कोशरुपी समुद्र की रचना इस संसार में सभी देशों में प्रशंसनीय हो और सज्जनों और विद्वानों की सभा में सूर्य समान प्रकाशमान हो, ऐसी इच्छा रखता हूँ॥9॥

श्लोक :

धन्वन्य भूत्तर्कयुगाङ्कपृथ्वी-वर्षे सियाणानगरेऽस्य सृष्टिः ।
पूर्णोऽभवत् सूर्यपुरे ह्यविघ्नं, शून्याङ्कनिध्येकमिते सुवर्षे ॥10॥

कोश की शरुआत एवं पूर्णाहुति के बारे में प्रकाश डालते हुए आचार्यश्रीने कहा है, **धन्य सियाणा नगर में विक्रम संवत् 1946 में इसका शुभारंभ हुआ था (जो) विसं. 1960 के सुवर्ष में निर्विघ्न रुप से सूर्यपुर (सुरत-गुजरात) में पूर्ण हुआ।**

श्लोक :

तावन्महान् प्राकृतकोश, एष,यावत् क्षितौ मेरुवीन्दवः स्युः ।
सज्जैनजैनेतरविज्ञवर्गमानन्दयेत् कोकमिवोष्णरश्मिः ॥11॥

अर्थ : अंत में कोश के दीर्घायुष्य एवं उसकी चिरंजीविता हेतु प्रसन्न मन से शुभेच्छा प्रकट करते हुए आचार्यश्रीने कहा है- **जहाँ तक मेरुपर्वत और सूर्य-चन्द्र रहो वहाँ तक यह प्राकृत महाकोश चिरंजीव हो अर्थात् यह कोश यावच्चन्द्रदिवाकरौ (शाश्वत) रहो और जैन-जैनेतर सज्जन विद्वद्वर्ग इससे उसी प्रकार आनंदित हों जैसे सूर्य की किरणों से चकवा-चकवी प्रसन्न हो जाते हैं।**

अर्धमागधी क्या है ?

समवयांग सूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, औपपातिक सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र में तथा अन्यान्य प्राचीन जैन ग्रन्थों में जिस भाषा को अर्धमागधी (आधे मागध देशमें बोलीजानेवाली) नाम दिया गया है; स्थानांग और अनुयोग द्वार सूत्रमें जिस भाषा को 'ऋषिभाषिता' कही गई है और सम्भवतः इसी 'ऋषिभाषिता' पद से आचार्य हेमचन्द्रादिने जिस भाषा की (आर्ष = ऋषियों की भाषा) संज्ञा रखी है वह वस्तुतः एक ही भाषा है अर्थात् अर्धमागधी, ऋषिभाषिता और आर्ष ये तीनों एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न नाम हैं, जिनमें पहला उसके उत्पत्ति स्थान से और बाकी के दो उस भाषा को सर्वप्रथम साहित्य में स्थान देनेवालों से सम्बन्ध रखते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण में आर्ष प्राकृत के लक्षण एवं उदाहरण से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि, जैन सूत्रों की भाषा यही अर्ध-मागधी, ऋषिभाषिता या आर्ष है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश : प्रथम भाग - विषयवस्तु परिचय

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में मुखपृष्ठ के बाद अन्तर्पृष्ठ है, जिसमें मंगलाचरण के रुप में '**णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स**' -कहकर चरमतीर्थपति, वर्तमान-शासनपति जैनों के 24 वें तीर्थंकर भगवान महावीर को नमस्कार किया है। तत्पश्चात् आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर, आचार्य श्रीमद्विजय धनचन्द्र सूरीश्वर, आचार्य श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वर, आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वर एवं आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी को उनके विशेषण क साथ नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन के उपदेशक के रुप में आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी के पट्टालंकार परमपूज्य तीर्थप्रभावक, साहित्यमनीषी, आचार्यदेव श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी एवं संयमवर: स्थविर मुनिराज श्री शांति विजयजी महाराज के उपदेश से 'अखिल भारतीय श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय जैन श्वेतैम्बर त्रिस्तुतिक संघ' द्वारा प्रदत्त द्रव्यसहाय से 'अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद' -ने श्री वीर संवत् 2513/ ईस्वी सन् 1986/श्री राजेन्द्रसूरि (स्वर्गवास) संवत् 78 में इस कोश की (पूरे सातों भागों की) 1050 प्रति प्रकाशित करवायी - ऐसा उल्लेख हैं।

अन्तर्पृष्ठ के बाद इस कोश की द्वितीय आवृत्ति का प्राप्ति स्थान : श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था C/o. श्री राजेन्द्र सूरि ज्ञान मन्दिर, श्री राजेन्द्र सूरि चौक, रतन पोल, अहमदाबाद; और 'मुद्रक - पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी नयन प्रिंटिंग प्रेस, क. 2-61 गांधी रोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद-1' बताया गया हैं।

तत्पश्चात् पंडित शितिकण्ठ शास्त्री, श्री वसंतीलालजैन एवं रमेश आर झवेरी की कोश विषयक सम्मतियाँ हैं। इसके आगे गुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज का रंगीन छायाचित्र हैं।

तत्पश्चात् 'कोश प्रकाशन संस्था' द्वारा दो पृष्ठों में 'द्वितीयवृत्ति' का प्रकाशकीय निवेदन हैं, जिसमें गुरुदेव एवं कोश के प्रति संक्षिप्त उद्‌गार, द्वितीयावृत्ति प्रकाशन का कारण, प्रकाशन का निर्णय, प्रकाशन में सहयोगी एवं प्रेरक आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी एवं अन्य मुनि-मण्डल, साध्वी-मण्डल के प्रति आभार-प्रदर्शन एवं द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन के सुकृत-सहयोगी भाग्यशालियों की नामावली दी गयी हैं।

इसके बाद आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी द्वारा लिखित द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना है जिसका परिचय इस शोध-प्रबंध के इसी अनुच्छेद में यथास्थान दिया गया हैं।

इसके बाद गुरुदेव आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी को इस कोश निर्माण में जिनका प्रशंसनीय भागीरथ सहयोग प्राप्त हुआ था[86]। और जिनके सान्निध्य में इस कोश का संपादन, मुद्रण, प्रकाशन का कार्य प्रारंभ हुआ था उन पूज्यगुरुदेव श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के दीक्षोपसंपद्[87] शिष्य पट्टप्रभाकर, चर्चाचक्रवर्ती, आगम रहस्यवेदी, श्रुतस्थविरमान्य, श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय आचार्य श्रीमद्विजय धनचंद्र सूरीश्वरजी महाराज का रंगीन छायाचित्र हैं।

तत्पश्चात् श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली है जिसमें श्री महावीरस्वामी के शासन नायक पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी से वर्तमानचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी तक के 72 आचार्यों की क्रमश: नामावली है जो इस शोध प्रबंध में प्रथम परिच्छेद में दी गयी हैं।

इसके बाद ऊपर श्री राजेन्द्र कोश के सातों भाग; बीच में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी एवं एक ओर क्रमश: आचार्य श्रीमद्विजय धनचंद्रसूरि, आचार्य श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरि, उपाध्याय मुनि श्री गुलाबविजयजी तथा दूसरी ओर उपाध्याय मुनि श्री मोहनविजयजी, आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी एवं आचार्य श्रीमद्विजय विद्याचंद्रसूरि तथा विश्व-पूज्य गुरुदेव के बराबर नीचे वर्तमानचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी का समूह-छायाचित्र हैं।

तत्पश्चात् मुनि यतीन्द्र विजयजी द्वारा 15 पृष्ठों में ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय है जो मुनि यतीन्द्र विजय ने विक्रम संवत् 1969 में विजयादशमी के दिन वागरानगर (राजस्थान) में लिखा गया था, एसा इसकी प्रशस्ति से ज्ञात होताहैं।[88] हमने इस शोध प्रबंध के प्रथम परिच्छेद में इस जीवन-परिचय को आवश्यक संक्षेप-विस्तार के साथ लिखने का प्रयास किया हैं।

तत्पश्चात् श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय पट्टावली है जिसमें सुधर्मास्वामी से श्री विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी तक के 67 आचार्यो की नामावली है। इसके बाद उपाध्यायमुनि श्री मोहन विजयजी द्वारा लिखित प्रथम आवृत्ति की 35 पृष्ठीय प्रस्तावना दी है जिसका विशद परिचय हमने शोध-प्रबंध के इसी परिच्छेद में दिया है। इसके बाद श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम (मालवा) द्वारा लिखित आभार-प्रदर्शन है जिसमें कोश निर्माण का संक्षिप्त परिचय, कोश प्रकाशन : प्रथमावृत्ति मुद्रण का निर्णय, प्रकाशन-कार्य एवं कोश के प्रकाशन तथा प्रचार-प्रसार में सहयोगी मुनिराजों एवं सद्‌गृहस्थों के प्रति आभार व्यक्ति किया गया हैं एवं मालवा, गुजरात, मारवाड के सुकृत-सहयोगी संघो की नामावली दी गयी हैं।

इसके आगे आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी कृत 18 पृष्ठीय संक्षिप्त प्राकृत रुपावली देने के बाद मुनि श्री यतीन्द्र विजयजी एवं मुनि श्री दीपविजयजी द्वारा निर्मित 13 पृष्ठीय 'उपोद्‌घात', गुरुमहिमादर्शित 1 श्लोक एवं तीन परिशिष्टों के रुप में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी द्वारा निर्मित (1) 54 पृष्ठों में प्राकृत व्याकृति (2) 8 पृष्ठीय सिद्ध-हेमचन्द्र शब्दानुशासन के आठवें अध्याय रुप प्राकृत व्याकरण के प्राकृत सूत्रों की अकारादि अनुक्रमणिका एवं (3) 18 पृष्ठीय संक्षिप्त प्राकृत रुपावली दी गयी है जिसका प्रस्तुत शोध प्रबंध के इसी परिच्छेद में यथास्थान विस्तृत परिचय दिया गया हैं।

---

86. अंतिम संस्कृत प्रशस्ति-श्लोक ९
87. कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी, जीवनपरिचय, पृ. 15
88. "नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन वागरा नगरे।
अश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यलेखि गुरोः॥ -अ.रा.भा.1/5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्य विषयवस्तु:-

मूल ग्रंथ के प्रारंभ में **एक श्लोक प्रमाण मंगलाचरण एवं 893 पृष्ठों में केवल अकार से प्रारंभ होनेवाले करीब 10,000** शब्दों का वर्णन हैं। इस प्रकार कोश की द्वितीय आवृत्ति के प्रथम भाग में पृष्ठ के अलावा कुल 163 + 893 = 1056 पृष्ठ हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश की विषयवस्तु का विवरण :-

विषयवस्तु	पृष्ठ संख्या
अन्तर्पृष्ठ	1
सम्मतियाँ	1
प्रकाशकीय निवेदन	2
द्वितीयावृत्ति प्रस्तावना	7
पट्टावली	1
ग्रंथकर्ता का संक्षिप्त जीवन परिचय	15
पट्टावली	1
आभार प्रदर्शन	4
उपोद्घात	13
गुरु महिमा श्लोक	1
प्राकृत व्याकृति	54
सूत्र-अनुक्रमणिका	8
प्राकृत-रुपावली	18
प्रथम भाग समाप्ति सूचक लेख	1
163 + 893 मूलग्रंथ	**= 1056**

परिशिष्ट-1

विक्रम की 12वीं - 13 वीं शती में हुए भारत के महान ज्योतिर्धर कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य प्रणीत 'श्रीसिद्धहेमचेन्द्रशब्दानुशासनम्' नामक व्याकरण ग्रंथ के अष्टम अध्याय (प्राकृत) की यह अष्टादशशत (118) श्लोक प्रमाण 'प्राकृतव्याकृति' नामक टीका आचार्य विजय राजेन्द्रसूरि ने वि.सं. 1961 में विजयादशमी के दिन मध्य भारतस्थ कुक्षी नगर में चातुर्मास में रहकर की थी।[89] वहीं सिद्धहेमशब्दानुशासन, अष्टम अध्याय पर अनुष्टुप्छंद में निबद्ध सोदाहरण'प्राकृतव्याकृति[90] (विवरण, विवृति)' दी गयी है। जैसा कि पुष्पिका से ज्ञात होता है, 'प्राकृत विवरण' और 'प्राकृतविवृति' ये दोनों नाम इसी व्याकृति के हैं।[91]

इस 'प्राकृत विवरण' में निम्न प्रकार से विषय-विभाग भी किया गया हैं-

क्र.	प्राकृत भेद	श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन, अष्टम अध्याय का अंश
1.	आर्ष प्राकृत	- अध्याय 8, पाद-1से पाद 4 सूत्र 259 तक[92]
2.	शौरसेनी प्राकृत	- पाद -4 सूत्र 260 से 286 तक[93]
3.	मागधी प्राकृत	- पाद - 4 सूत्र 287 से 302 तक[94]
4.	पैशाची प्राकृत	- पाद-4 सूत्र 303 से 324 तक[95]
5.	चूलिका पैशाची	- पाद - 4 सूत्र 325 से 358 तक[96]
6.	अपभ्रंश प्राकृत	- पाद - 4 सूत्र 359 से 448 तक[97]

प्राकृतव्याकृति के अंत में समाप्तिसूचक पुष्पिका दी है। पुष्पिका में आचार्यश्रीमद्विजय राजेनद्रसूरिने लिखा हैं-

जो भाषा भगवान के वचनों के कारण श्रेष्ठ ख्याति एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई हैं; आज भी (वर्तमानमें) जिस भाषा में सकल ग्यारह अंग बने हुए हैं, वह प्राकृत भाषा दु:षम काल के प्रभाव से वर्तमान में बोल-चाल में नहीं रही। अत: इसके पुन: संचार के लिये मैंने विवरण के अन्तर्गत चार पादों में इसकी (प्राकृत भाषा की) प्रतिष्ठा की।[98]

इसके बाद 'प्रशस्ति' ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी ने स्वयं 7 श्लोक प्रमाण संस्कृत भाषा में लिखी हैं प्राकृत प्रशस्ति में स्वीय गुरु की आचार्य विजय रत्नसूरि से प्रमोदसूरि तक की पट्टावली अर्थात् गुरु परम्परा बतायी हैं। द्वितीय श्लोक में कर्ता ने लिखा है कि मैं जैनाचार्य भट्टारक राजेन्द्रसूरि उनका शिष्य उनके (प्रमोदसूरि के) पट्ट पर हुआ। मेरे गच्छ के कार्य अच्छी तरह करते हुए विभिन्न ग्रंथों के अच्छे विचारों से सुंदर चातुर्यपूर्ण धर्म प्रचार में उद्यत (मुझे) अभिधान राजेन्द्र के निर्माण में बहुत परिश्रम हुआ। मेरे शिष्यद्वय दीपविजय और यतीन्द्रविजय की विनंती से मैं यह पद्यमयी 'प्राकृत विवृत्ति' बनाता हूँ। पुन: मुख्य शिष्य मोहन विजय ने आग्रहभरी विनंती की कि 'यह विवृत्ति बनाने से सभी जिज्ञासु लोगों के ऊपर उपकार के साथ इस कार्य से महान लाभ होगा', अत: वि.सं. 1960 में कुक्षी चातुर्मास में विजयादशमी के दिन हेमचंद्राचार्यरचित प्राकृत सूत्रार्थ बोधदायिनी पद्यमयी सुंदर छन्दोबद्ध इस विवृत्ति की रचना की। अंत में ग्रंथकर्ता अपनी नम्रता बताते हुए कहते हैं कि - श्री महावीर प्रभु की प्रीति से मैंने यह विवृत्ति प्राय: सावधानीपूर्वक की है परंतु यदि (प्रमादवश) कुछ भी स्खलना हुई हो (तो विद्वद्वर्ग) मुझे माफ करें।[99]

---

89. प्रशस्ति:-
अत एव विक्रमाब्दे, भूरसनवधुमिते दशम्यां तु।
विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कूकसी नगरे ॥5॥
90. नत्वा वीरं वन्द्यवन्द्यं, रागद्वेषविवर्जितम्।
प्राकृतव्याकृतिरियं, छन्दोबद्धा विरच्यते ॥
अ.रा. : प्रथम परिशिष्ट पृ. 1 मंगलाचरण
91. "या भाषा भगवद्वचोभिरगमत् ख्याति प्रतिष्ठां परां।
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ॥
तस्यां संप्रति दु:षमारवशतो जातोऽप्रचार: पुन:।
संचारय मया कृते विवरणे पादाश्चतुर्योगत: ॥3॥
अ.रा.भा.1, प्रथम परिशिष्ट पृ. 54
हेमचन्द्रसंर चितप्राकृतसूत्रार्थ प्रबोधिनीं विवृत्तिम्।
पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥6॥
श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृत्ति: कृताऽवधानेन।
स्खलनं क्वापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात् ॥7॥
- प्रशस्ति श्लोक क्रमांक 6 और 7
- प्रथम परिशिष्ट पृ. 54
92. अ.रा.भा. 1 - प्रथम परिशिष्ट, पृ. 1 से 49
93. अ.रा.भा. 1 - प्रथम परिशिष्ट, पृ. 44, 45
94. अ.रा.भा. 1 - प्रथम परिशिष्ट, पृ. 45 से 46
95. अ.रा.भा. 1 - प्रथम परिशिष्ट, पृ. 46
96. अ.रा.भा. 1 - प्रथम परिशिष्ट, पृ. 45 से 46, 47
97. अ.रा.भा. 1 - प्रथम परिशिष्ट, पृ. 47 से 54
98. प्रशस्ति अ.रा.भा. 1 प्रथम परिशिष्ट पृ. 54
99. अ.रा.भा.1/54, प्रशस्ति श्लोक क्रमांक -1 से 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभी तक व्याकरण शास्त्र पर जितने टीका ग्रंथ लिखे गये वे सब गद्य में हैं, जबकि यह टीका पद्य में है, यह इसकी अपनी विशेषता हैं। पद्य होते हुए भी यह टीका सरल, सुंदर एवं सुबोध हैं।[100]

परिशिष्ट-2

परिशिष्ट-2 में श्रीसिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासन के आठवें अध्याय के अन्तर्गत आये हुए **समस्त प्राकृत** सूत्रों की संस्कृत भाषा के वर्णानुक्रम से **अनुक्रमणिका** दी है। साथ ही उन सूत्रों के व्याकरणस्थ क्रम भी दर्शाये है। संभवतया इसकी रचना प्राकृत व्याकृति के बाद हुई होगी अथवा संशोधकों ने इस रचना का श्रम उठाया हो – ऐसा भी हो सकता है क्योंकि 'अभिधान राजेन्द्र विशेषांक: शाश्वत धर्म' में प्रकाशित श्रीमद् राजेन्द्रसूरि वाङ्मय में इसका उल्लेख नहीं हैं।[101]

परिशिष्ट-3

अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में परिशिष्ट क्रमांक-3 में **'संक्षिप्त प्राकृत शब्द रूपावलि'** दी है। इसकी रचना वि.सं. 1961 में 'प्राकृत व्याकृति' के साथे ही कुक्षी चातुर्मास में की गयी हैं।[102] वर्तमान में जनता में प्राकृत भाषा का प्रचार नहीं रहने से आधुनिक अभ्यासियों को अभ्यास करते समय शब्दों के शुद्ध रुप याद करने में अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पडता हैं। अत: जैसा कि इसकी प्रशस्ति में स्वयं आचार्य विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने कहा है-जैन तथा जैनेतर सभी बालक इन्हें पढे, इसलिए मैंने यह प्राकृत-शब्द रुपावलि बनायी हैं[103] इस तरह इस रुपावलि का संकलन करके आचार्यश्रीने विद्यार्थियों के अभ्यासकाठिन्य को दूर कर दिया। इसमें प्रत्येक शब्द-विभक्ति पर अनेक वैकल्पिक रुप भी यथास्थान दिखलाये हैं।

प्राकृत शब्द रुपावलि के अन्तर्गत आये शब्द रुप -

अकारान्त पुल्लिग	–	वृक्ष
आकारान्त पुल्लिग	–	गोपा
इकारान्त पुल्लिग	–	गिरि
ईकारान्त पुल्लिग	–	गामणी
अकारान्त पुल्लिग	–	गुरु
ऊकारान्त पुल्लिग	–	खलपू
ऋकारान्त पुल्लिग	–	पितृ, भर्तृ
नकारान्त राजन् शब्द का अकारान्त	–	'राय' शब्द
नकारान्त पुल्लिग आत्मन् शब्द का आकारान्त	–	'अप्पा' शब्द
सर्वादि गण के अकारान्त पुल्लिग शब्द	–	सर्व
आकारान्त पुल्लिग	–	विश्व
अकारान्त पुल्लिग	–	उभय, अन्य, कतर, अवर, इतर
पुल्लिग में	–	यद्, तत्, एक शब्द के तीन रुप, किम्, एतद्, इदम्, अदस्।

स्त्रीलिङ्ग :-

प्रस्तुत रुपावलि में स्त्रीलिङ्ग में आकारान्त में रमा, इकारान्त में रुचि, ईकारान्त में नदी, स्त्री (इत्थी), स्त्री (थी), उकारान्त में धेणु, अकारान्त में वधू (वहु), ऋकारान्त में मातृ (माआ), दुहितृ (दुहिआ),

सर्वनाम :-

स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम में यद्' तद्, किं, एतद्, इदम् शब्द के दो-दो रुप (वैकल्पिक के साथ) एवं अदस् शब्द के रुप दिये हैं।

नपुंसकलिङ्ग :-

इस प्राकृत शब्द रुपावलि में आचार्यश्री ने नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त में मङ्गल, इकारान्त में वारि, उकारान्त में मधु, और सर्वनाम में यद्, एतद्, इदम्, अदस्, और किम् शब्द के रुप दिये हैं।

संख्यावाचि शब्दों में पञ्च, द्वि, त्रि, कति, चतुर् और सर्वनाम में युष्मद् एवं अस्मद् शब्दों के रुप दिये हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री ने इस रुपावलि में प्राकृत में पुल्लिग में कुल 24 शब्दों के 26 रुप दिये हैं (एक शब्द के तीन रुप हैं)। स्त्रीलिङ्ग में 14 शब्दों के 20 रुप दिये हैं। और नपुंसकलिंग में 8 शब्दों के रुप दिये हैं। इस प्रकार कुल 46 शब्दों के 54 रुप इस प्राकृत शब्द रुपावलि में संकलित करके विद्यार्थी जगत् पर अनन्य उपकार किया हां। इस रुपावलि के अंत में संस्कृत में एक श्लोक प्रमाण पुष्पिका दी है जिसका वर्णन पूर्व में किया जा चूका हैं।

अभिधान राजेन्द्रकोश : द्वितीय भाग - विषयवस्तु परिचय:-

अभिधान राजेन्द्र कोश के भाग-२ के प्रारंभ में उपाध्याय श्री मोहन विजयजी द्वारा संस्कृत भाषा में लिखित प्रस्तावना दी गई है। तत्पश्चात् भाग-२ के प्रारम्भ में ग्रन्थकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने मंगलाचरण किया हैं -

मंगलाचरण:-

सिरिवद्धमाणवाणिं, पणमिअ भतीइ अक्खरकमसो।
सद्दे तेसु य सव्वं, पवयणवत्तव्वयं वोच्छं ॥1॥

मुख्य विषय वस्तु :

द्वितीय भाग में 'आ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक एक से शुरु होकर 'आहोहिय' (आभोगिक) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक 556 पर समाप्त होता हैं।

'इ' वर्ण पृष्ठ क्र 557 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 679 पर 'इहलोगसंसप्पओग' (इहलोकासंसाप्रयोग) शब्द के साथ समाप्त हुआ है। और 'ईकार' पृष्ठक्रमांक 679 से शुरू होकर 'ईहिय' (ईक्षित) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक 685 पर समाप्त हुआ हैं।

---

100. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ: श्री राजेन्द्र खण्ड पृ. 89
101. अभिधान राजेन्द्र : विशेषांक: शाश्वत धर्म, पृ. 11 से 14
102. वही
103. पठन्तु बालका: सर्वे जैनानामितरे तथा।
तस्मान्मयेयं प्राकृत-शब्दरुपावलि:कृता: ॥1॥
– अ.रा.भा. 1, – परिशिष्ट-3, पृ.18

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'उ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 686 से शुरू होकर पृष्ठ क्रमांक 1208 पर 'उहटु' (उद्धृत्य) अव्यय के साथ पूर्ण हुआ है। और 'ऊकार' पृष्ठ क्रमांक 1209 से शुरु होकर 'ऊहापन्नत' (ऊहाप्रज्ञप्त) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक 1215 पर समाप्त हुआ है। इसके साथ ही द्वितीय भाग भी समाप्त होता हैं।

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश : तृतीय भाग : विषय वस्तु परिचय:-

अभिधान राजेन्द्र कोश की प्रथमावृत्ति में तृतीय भाग में कोश - संशोधक/संपादक उपाध्याय श्री मोहन विजयजी, मुनि दीपविजयजी वं मुनि यतीन्द्र विजयजी द्वारा संस्कृत भाषा में 'प्रस्ताव' शीर्षक से प्रस्तावना लिखी गयी है। तत्पश्चात् भाग 3 के प्रारंभ में ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने तीसरे भाग के प्रारंभ की सूचना स्वरुप मंगलाचरण किया है-

मंगलाचरण :-

वाणिं जिणाणं चरणं गुरुणं, काऊण चित्तम्मि सुयप्पभावा ।
सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छामि भागे तइयम्मि सव्वं ॥1॥

मुख्य विषय वस्तु:-

तृतीय भाग में 'ए' वर्ण पृष्ठ क्रमांक । से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 74 पर एहिय (एहिक) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'ऐ' वर्ण पर एक मात्र शब्द 'ए' (अयि) अव्यय है जो इसी पृष्ठ पर दिया गया हैं।

'ओ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 75 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 161 पर ''ओहोवहि' (ओधोपधि) शब्द के साथ समाप्त हुआ है। प्राकृत में औकार न होने से औकारादि शब्द राजेन्द्र कोश में कहीं भी नहीं है।

'क' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 162 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 687 पर 'कोहुप्पत्ति' (क्रोधोत्पत्ति) शब्द के साथ समाप्त होता है।

'ख' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 688 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 733 'खोल्ल' (खोल) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'ग' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 774 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1036 पर 'गोहो' (देशी शब्द) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'घ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1037 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 1046 पर 'घोसाली' (देशी शब्द) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'च' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1047 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1338 पर 'चोव्वार' (चतुर्वार) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'छ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1339 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1363 पर 'छोहो' (देशी शब्द) क्षोभ शब्द के साथ समाप्त होता है। इसके साथ ही तृतीय भाग भी समाप्त होता है।

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश : चतुर्थ भाग : विषय वस्तु परिचय:-

अभिधान राजेन्द्र कोश के चतुर्थ भाग के प्रारंभ में संशोधको के द्वारा संस्कृत भाषा में 'घण्टापथ:' शीर्षक से प्रस्तावना दी गई हैं। तत्पश्चात् भाग-४ के प्रारंभ में ग्रन्थकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने चौथे भाग के प्रारंभ की सूचना स्वरुप मंगलाचरण किया है-

मंगलाचरण:-

नमिऊण वद्धमाणं, सारं गहिऊण आगमाणं च ।
अहुणा चउत्थ भागं, वोच्छं अभिहाणराइंदे ॥1॥

चौथे भाग में पृष्ठ 1363 से 'ज' वर्ण से प्रारंभ हुआ है और पृष्ठ क्रमांक 1658 'ज्झर' (क्षर्) शब्द (धातु) पर समाप्त हुआ है।

'झ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1659 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1675 पर 'झोसेहि' (देशी शब्द) शब्द पर समाप्त हुआ है।

'ट' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1676 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1678 पर 'टोलगई' (टोलागति) शब्द पर समाप्त हुआ है।

'ठ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1679 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 1732 पर 'ठीण' (स्त्यान) शब्द पर समाप्त हुआ है।

'ड' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1733 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1735 पर 'डोहल' (दोहद) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

पृष्ठ क्रमांक 1736 पर 'ढ' वर्ण शुरु होकर उसी पृष्ठ पर ढेल्ल (देशी शब्द) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

णकार पृष्ठ क्रमांक 1737 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 2166 पर 'णहूसा' (स्नूषा) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'त' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 2167 से प्रारंभ होकर 'तोसिय' (तोषित) शब्द पर समाप्त हुआ है।

'थ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 2370 से प्रारंभ होकर 'थोहरी' (थोहरी) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक 2418 पर समाप्त हुआ है।

'द' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 2420 से शुरु होकर 'द्वितवर' (द्वितवर) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक 2643 पर समाप्त हुआ है।

'ध' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 2644 से शुरु पृष्ठ क्रमांक 2770 पर 'ध्रुवु' (ध्रुवम्) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक समाप्त हुआ है।

'न' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 2771 से शुरु होता है, और 'नोमालिया' (नवमालिका) शब्द के साथ पृष्ठ क्रमांक 2777 पर समाप्त होता है। इसके साथ ही चतुर्थ भाग भी समाप्त होता है।

अंत में संशोधकों ने प्रशस्ति सूचक एक श्लोक शार्दूल विक्रीडित छंद में दिया है, जिसमें कहा है कि दक्ष भ्रांत विपक्षियों के दमन करने में सिंह समान, राजेन्द्र कोश नामक कोश की रचना से जैन श्रुत को प्रकाशित करनेवाले संघ के उपकारी सूरिपद सुशोभित विजय राजेन्द्रसूरि से बढकर अन्य कौन पुण्यवान है (अर्थात् अन्य कोई नहीं है)।

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश : पञ्चम भाग : विषय वस्तु परिचय:-

अभिधान राजेन्द्र कोश के पाँचवें भाग में ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने पाँचवे भाग के प्रारंभ होने की सूचना स्वरुप मंगलाचरण किया है-

मंगलाचरण:-

वीरं नमेऊण सुरेसपुज्जं, सारं गहेऊण तयागमाओ ।
साहूण सट्ठाण य बोहयं तं, वोच्छामि भागम्मि य पंचम्मि ॥

'प' वर्ण पृष्ठ क्रमांक एक से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 1140 पर (प्रिय) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'फ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1141 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 1163 'फोस' शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ब' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1164 से शुरु होकर पृष्ठ क्रमांक 1133 बोहिसत (बोधिसत्व) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'भ' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 1134 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 1627 पर भोल (देशी) शब्द के साथ समाप्त हुआ है। इसके साथ ही पंचम भाग भी समाप्त होता है।

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश : षष्ठ भाग : विषय वस्तु परिचयः-

अभिधान राजेन्द्र कोश के छठवें भाग में ग्रंथकर्ता आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने छट्ठे भाग के प्रारंभ होने की सूचना स्वरुप मंगलाचरण किया है -

मंगलाचरण :-

सिरिवद्धमाणसामिं, नमिऊण जिणागमस्स गहिऊण
सारं छट्ठे भागे, भविजयजण सुहावहं वोच्छं ॥1।

मुख्य विषय वस्तुः-

छट्ठे भाग में पांचवें भाग से चले आ रहे मकारादिशब्द प्रकरण पृष्ठ क्रमांक 1 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 466 पर 'मोहोदय' (मोहोदय) शब्द के साथ समाप्त हुआ है। यकार का प्राकृत में वर्ण परिवर्तन के नियमानुसार 'ज' होता है। अतः राजेन्द्र कोश में प्राकृत यकारादि शब्द नहीं हैं।

'र' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 467 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 589 पर 'रोहेउं' (रोधयित्वा) अव्यय के साथ समाप्त हुआ है।

'ल' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 590 से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 757 पर 'ल्हिक्क' (नष्ट) शब्द के साथ समाप्त हुआ है।

'व' वर्ण पृष्ठ क्रमांक 758से प्रारंभ होकर पृष्ठ क्रमांक 1468 पर 'व्रासु' (व्यास) शब्द के साथ समाप्त हुआ है। इसके साथ छठ्ठा भाग भी समाप्त होता हैं।

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश : सप्तम भाग : विषय वस्तु परिचयः-

अभिधान राजेन्द्र कोश का यह अंतिम भाग हैं। इसमें मंगलाचरण नहीं हैं। इस भाग में 'श' 'ष' 'स' और 'ह' - इन चार अक्षरों के शब्द पर ही विवेचन किया गया हैं।

पृष्ठ 1 पर 'शकारादि' शब्द हैं जो 'श' वर्ण से शुरु होकर 'शोभन' शब्द पर समाप्त होता हैं ।

पृष्ठ क्रमांक 2 पर 'ष' वर्ण मात्र दिया हैं। 'षकार' का प्राकृत में 'स' आदेश होने से 'षकारादि' शब्द सादि शब्दों के अन्तर्गत दिये हैं।

पृष्ठ क्रमांक 3 से 'स' वर्ण शुरु होता हैं और पृष्ठ क्रमांक 1171 पर 'सौअरिय' शब्द के साथ समाप्त हुआ हैं।

पृष्ठ क्रमांक 1172 से 'ह' वर्ण प्रारंभ हुआ हैं। और पृष्ठ क्रमांक 1250 पर 'ह्व' शब्द के साथ समाप्त हुआ हैं।

इसके बाद पृष्ठ क्रमांक 1250 पर प्राकृत में ग्रंथ समाप्ति सूचक प्रशस्ति प्राकृतभाषामय शार्दूलविक्रीडित छन्द में दी गयी हैं। तत्पश्चात् संस्कृत में 11 श्लोकों में आर्या छन्द में ग्रंथकार की गुरु परम्परा, ग्रंथ प्रारंभ एवं ग्रंथ समाप्ति का स्थान एवं समय आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने स्वयं दर्शाया हैं। और यही पर कोश परिपूर्ण हुआ हैं। तत्पश्चात् अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रणप्रशस्ति दी गयी हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम एवं अंतिम पृष्ठ की मुद्रित प्रति की छाया (स्कैन्ड) प्रतिलिपि शोध प्रबन्ध के परिशिष्ट क्र. 1 में दी गई हैं।

अरिहंता तेण वुच्चंति

इंदियविसयकसाए, परीसहवेयणाए उवसग्गे ।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥1॥
अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।
तं-कम्ममरीहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥2॥
अरिहंति वंदणनमं - सणाणि अरिहंति पुयसक्करं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥3॥
देवासुरमणुएसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥4॥

– अ.रा.पृ. 1/767-8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुद्रण परिचय

कोश के अन्त में दिये गये मुद्रणपरिचय से यह ज्ञात होता है कि सौधर्मबृहत्तपागच्छ के आचार्य श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरि (मुनि श्रीदीपविजय जी की आचार्य अवस्था का नाम) के काल में चन्द्राशाङ्ककलाधिनाथ वर्ष में अर्थात् ('अंकानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्त के अनुसार) विक्रम संवत् 1981 के चैत्र मास कृष्ण पक्ष सप्तमी मंगलवार के दिन, जयेष्ठा नक्षत्र में रतलाम नामक नगर में इस कोश का सुन्दर मुद्रण हुआ। इस विषय में जो प्रशस्ति प्राप्त होती हैं वह निम्न प्रकार से हैं-

श्री सुधर्मा स्वामी से निर्ग्रन्थ गच्छ उत्पन्न हुआ, (उस गच्छ में) आर्य सुस्थितसूरि से कोटिक (कोटि) गच्छ (उसी गच्छ में) आचार्य चन्द्रसूरि (चन्द्रप्रभसूरि) से चन्द्रगच्छ (कुल)। उसी गच्छ में आचार्य सामन्तभद्र से वनवासी गच्छ उत्पन्न हुआ ॥[1] इसी गच्छ में सर्वदेव सूरि से बड गच्छ, (उसी गच्छ में) आचार्य जगच्चन्द्र सूरि से तपागच्छ की उत्पत्ति हुई। (उसी परम्परा में) आचार्य श्रीमद्वि यराजेन्द्र सूरि से 'सौधर्म बृहत्तपागच्छ' प्रसिद्ध हुआ ॥[2] इस सौधर्मबृहत्तपागच्छ के शासन की धुरा को धारण करने वाले आचार्यों के समूह में अलंकार स्वरूप आजन्म निष्कलङ्क शील से शोभित देहयष्टि वाले आचार्य राजेन्द्र सूरि की अन्तिम आज्ञा से संशोधकद्वय के आज्ञाकारी शिष्यसमूह की सहायता से (इस ग्रंथराज को) संशोधित किया गया और मुद्रापित किया गया ॥[3] व्याख्यानदक्ष, सच्चरित्र, विद्वद्गणवन्दित, साधुवृन्दपूजित, चारित्रपालक, जैनाचार्य श्रीमद्विजय धनचन्द्र आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि के पाट पर आसीन किये गये। दमयुक्त, क्षमायुक्त, पूज्यतायुक्त, प्रशमहृदय, संयम में विचरण करनेवाले, सौम्य, रम्य, गम्भीर, लोकहितैषी, श्रेष्ठ, आप्तता आदि गुणों से युक्त भूपेन्द्र सूरि (मुनि श्रीदीपविजयजी की आचार्य अवस्था का नाम) जब श्रीमद्विजय धनचन्द्र सूरि के पाट पर आसीन थे[4], उसी काल में चन्द्राशाङ्ककलाधिनाथ वर्ष में अर्थात् ('अंकानां वामतो गतिः' इस सिद्धान्त के अनुसार) विक्रम संवत् 1981 (कलाधिनाथ-1, अङ्क-9, आशा-8, चन्द्र-1= 1783) के चैत्र मास कृष्ण पक्ष सप्तमी मंगलवार के दिन, ज्येष्ठ नक्षत्र में रतलाम नामक नगर में इस कोश का सुन्दर मुद्रण हुआ।[5]

1. निर्ग्रन्थगच्छः समभूत्सुधर्माऽऽख्यात्सुस्थिताऽऽर्यादथ कोटिकाऽऽह्वः ।
चन्द्रोऽपि चन्द्रप्रभ-चन्द्रसूरेः सामन्तभद्राद् वनवासिगच्छः ॥1॥

2. श्रीसर्वदेवाद् वट आविरासीत्, तपा जगच्चन्द्रमुनीन्द्रवर्यात् ।
सौधर्मसंयुक्तबृहत्तपाऽऽख्यो राजेन्द्रसूरेर्जगति प्रसिद्धि ॥2॥

3. एतद्गच्छसुशासनीयसुधुरप्रोद्वाहिसूरिव्रजाऽङ-
लङ्कायिसाधुकर्म विधिवत् संशोधकस्याऽऽज्ञया ।
आजन्माऽनघशीलशोभिततनो राजेन्द्रसूरीशितुः ।
संघातान्तिमया विनेयनिवहैः संशोध्य मुद्रापितः ॥3॥

4. व्याख्यानी सच्चरित्रः सुबुधगणनतः सेवितः साधुवर्गै-
र्जैनाचार्यः क्रियावान् हि विजयधनचन्द्रोऽस्य पट्टेऽभिषिक्ते ।
दान्ते क्षन्ते महान्ते प्रशमितहृदये संयमे सञ्चरिष्णौ
सौम्ये रम्ये गभीरे सकलजनहिते वर्तमाने सदाप्तौ ॥4॥

5. चन्द्राशाङ्ककलाधिनाथसहिते वर्षेऽसिते पक्षके,
चैत्रे मासि धरासुतस्य दिवसे ज्येष्ठाख्याताराऽयुते ।
सप्तम्यां रतलामनामकपुरे भूपेन्द्रसूरेश्वरे,
राजत्येष सुसाधुमुद्रणमितो राजेन्द्रकोशः शुभः ॥5॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. अभिधान राजेन्द्र कोश का स्वरुप एवं प्रकाशन

अभिधान राजेन्द्र कोश को समझने के लिये प्राकृत भाषा एवं संस्कृत भाषा का ज्ञान होना आवश्यक हैं क्योंकि यह कोश पर्यायकोश के रुप में अथवा किसी लोकोक्ति कोश के रुप में अथवा अन्य किसी पुस्तक कोश के रुप में प्रयोग नहीं किया जा सकता है, अपितु इसे संदर्भ कोश, ज्ञान कोश एवं व्याख्या कोश के रुप में प्रयुक्त किया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि **यह कोश किन्हीं विशेष संदर्भो का विवेचन प्रस्तुत नहीं करता हैं और न ही किन्हीं विशेष शब्दों की व्याख्या ही प्रस्तुत करता है, अपितु जैन आगमों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा के शब्दों का संसदर्भ सव्याख्या विवरण प्रस्तुत करता हैं।**

स्वरुप :-

अभिधान राजेन्द्र कोश सात भागों में विभक्त 'प्राकृत विश्वकोश' हैं। यह ग्रंथ प्रथम रतलाम से एवं द्वितीयावृत्ति के समय अहमदाबाद से "सुपर रोयल चौपेजी" आकार में मुद्रित हैं।

हमारे संशोधनानुसार इस ग्रंथ में कुल 9,211 पृष्ठों में मूल ग्रंथ, 200 पृष्ठों में अन्य प्रस्तावना, परिशिष्ट एवं प्रशस्त्यादि सामग्री मुद्रित हैं। सभी भागमों में हिन्दी प्रस्तावना, पट्टावल्यादि देने से सातों भागों के प्रायः साढे नौ हजार पृष्ठ हैं।

इस ग्रंथराज में आचार्यश्रीने अकारादि वर्णानुक्रम से जैनागमों के करीब 60,000 (साठ हजार) प्राकृत शब्द; 4,50,000 (साढे चार लाख) श्लोक, सहस्राधिक सूक्तियाँ, 500 से अधिक शब्दों पर विभिन्न विषयाधीन कथा-उपनय कथा, कहानियाँ एवं महापुरुषों का परिचय आदि ऐतिहासिक सामग्री दी हैं।

ग्रंथ संपादक आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी के अनुसार इस ग्रंथ का संदर्भ इस प्रकार रखा हैं -"प्रथम अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृत शब्द, उसके बाद उनका संस्कृत में अनुवाद, तत्पश्चात् लिंगनिर्देश, व्युत्पत्ति, और उनका जैनागमों में प्राप्त अर्थ दिखाया गया हैं। बडे-बडे शब्दों पर अधिकार सूची क्रम से दी गयी हैं, जिससे अध्येता को प्रत्येक बात सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं। जैनागमों का ऐसा कोई भी विषय बाकी नहीं रहा हैं जो इस महाकोश में न आया हो। केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता हैं।

आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि के अनुसार जब अभिधान राजेन्द्र कोश की प्रथमावृत्ति अप्राप्य सी हो गयी तब दिल्ली की एक संस्था ने इसके कुछ भाग प्रकाशन करने का नाजायज लाभ उठाया और उसे अतिशय महँगा कर दिया तब आपकी निश्रा में श्री सौधर्मबृहत्तपोच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताम्बर श्री संघ ने द्वितीय आवृत्ति के प्रकाशन का निर्णय लिया और 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन समिति' का गठन हुआ। समाज के सम्यग्ज्ञान प्रेमी उदारमना गुरुभक्तों एवं श्री संघों के सहयोग से आचार्यश्री के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय त्रिस्तुतीक जैन श्री संघ के अध्यक्ष जैन रत्न श्री गगलदास हालचंद संघवी, अहमदाबाद के नेतृत्व में कोश प्रकाशन समितिने अभिधान राजेन्द्र कोश के पुनर्मुद्रण का कार्य किया। यह कार्य नयन प्रिन्टिंग प्रेस, अहमदाबाद में 1 वर्ष के समय में पूर्ण हुआ।

लोकार्पण[1]:-

आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी के अनुसार अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम संस्करण का सामूहिक सातों भागों का लोकार्पण समारोह नहीं हो सकता था क्योंकि वह लगभग 17 वर्ष के लम्बे समयांतराल में छपकर तैयार हुआ था। अतः जैसे-जैसे इसके प्रथमादि भाग छपते गये वैसे-वैसे उसका श्रीसंघ, समाज, विद्वद्वर्ग एवं आचार्य श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरि एवं साधु साध्वी द्वारा प्रचार-प्रसार होता गया।

अभिधान राजेन्द्र कोश के इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन होने पर उसके लोकार्पण समारोह के पूर्व श्री राजेन्द्र उपाश्रय/श्री वासुपूज्य स्वामी जैन श्वेताम्बर मंदिर-जूनी कसेरा बाखल, इन्दौर (जहां मैंने इस शोध-प्रबन्ध की रचना संबंधी महत्त्वपूर्ण कार्य किया) में श्रुतभक्ति हेतु परमात्म भक्ति स्वरुप अष्टाहिका महोत्सव का आयोजन हुआ एवं 28 जुन 1987 को वहां से अभिधानराजेन्द्र कोश की विशाल शोभायात्रा निकाली गयी जो वैष्णव महाविद्यालय पर धर्मसभा में परिवर्तित हुई।

वहाँ अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ एवं श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन समिति द्वारा इस द्वितीय संस्करण का लोकार्पण समारोह इस भागीरथ कार्य के प्रेरणादाता आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी एवं मुनिराज श्री अरुण विजयजी तथा भारत के प्रसिद्ध विद्वर्ग यथा प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. प्रभाकर माचवे (दिल्ली), (अहमदाबाद), श्रीमती आशा मलैया (सागर), प्रो. एल.सी. जैन (जबलपुर), शा. इन्द्रमलजी भगवानजी (मद्रास), पं. हीरालाल शास्त्री (जालोर), डॉ. नेमीचंद जैन (इन्दौर) की निश्रा में अषाढ सुदि द्वितीया, रविवार विक्रम संवत 2044 (मारवाडी)/ 2043 (गुजराती) तदनुसार दि. 28-6-1987 को वैष्णव महाविद्यालयः राजमोहल्ला, इन्दौर में रामकृष्ण विवेकानंद आश्रम, रायपुर के स्वामी आत्मानंदजी के करकमलों से करवाया एवं इसकी प्रथम प्रति आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि को भेंट की गयी।

प्रथमावृत्ति के और द्वितीय आवृति के मुद्रण को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम संस्करण में उपलब्ध सामग्री को पुनः वर्ण संयोजन में न लेते हुए केवल उसके पत्रों की मुद्रप्रति (ट्रेसिंग प्रिन्ट) बनाकर ओफसेट विधि से मुद्रण कराया गया हैं। द्वितीयावृत्ति में यदि कुछ अधिक प्राप्त होता हैं तो केवल इतना ही, कि प्रकाशकीय निवेदन, द्वितीयावृत्ति की प्रस्तावना और समूह-छायाचित्र-अतिरिक्त हैं।

उपसंहार :-

शोध प्रबन्ध के इस द्वितीय अध्याय में अभिधान राजेन्द्र कोश का नातिसंक्षेपविस्तरतः परिचय देने का प्रयत्न किया हैं। **वस्तुतः यह कोश न केवल जैन कोशपरम्परा में अपितु समग्र प्राकृत कोशपरम्परा में मील का पत्थर हैं। इसकी उपादेयता प्राकृत और संस्कृत दोनों शाखाओं में समान रुप से सिद्ध हैं।**

1. अभिधान राजेन्द्र : विशेषांकः शाश्वत धर्म, पृ. 91, 92

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतना ही नहीं इसके साथ ही जैनविद्या के अध्येताओं के लिए यह एक निर्णायक मत उपलब्ध कराता हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल वह काल है जब प्राकृत भाषा का कोई मानक कोश उपलब्ध नहीं था। आज भी इसके जैसा दूसरा कोई कोश तैयार नहीं हो सका हैं। हमने इसके रचनाकाल, स्थान, उद्देश्य, रचना की पृष्ठभूमि, विषयवस्तु विभाग, नामकरण एवं विषयवस्तु का पूर्ण परिचय देने का प्रयत्न किया हैं, जो कि अध्याय की सामग्री से स्पष्ट हैं।

वंदामि विणयपणओ, संघमहामंदरगिरिस्स !

सम्मद्दंसणवरवइर - दृढरुढगाढावगाढपेढस्स ।
धम्मवररयणमंडिअ - चामीयरमेहलागस्स ॥ 1 ॥
नियमूसियकणयसिला - यलुज्जलजलंतचित्तकूडस्स ।
नंदणवणमणहरसुरभि - सीलगंधुद्धुमायस्स ॥ 2 ॥
जीवदयासुंदरकं - दरुद्दरियमुणिवरमइंदइन्नस्स ।
हेउसयधाउपगलं - तरयणदित्तोसहिगुहस्स ॥ 3 ॥
संवरजलपगलियउ - ज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजणपउरखं - तमोरनच्चंतकुहरस्स ॥ 4 ॥
विणयनयपवरमुणिवर - फुरंतविज्जुलंतसिहरस्स ।
विविहगुणकप्परुक्खग - फल भर कुसुमाउलवणस्स ॥ 5 ॥
नाणवररयणदिप्पं - तकंतवेरुलियविमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ, संघमहामंदरगिरिस्स ॥ 6 ॥

परतिर्थिकों के वासनारुप जल के प्रवेश का अभाव होने से शंकादि दूषणरहित दृढ, जीवादि पदार्थों के सम्यग्बोध द्वारा प्राप्त प्रथमभूमिकायुक्त, प्रतिसमय विशुद्धयमान प्रशस्त अध्यवसायरुढ, उत्तरगुणरुप रत्नजडित मूलगुणरुप मेखलावाले श्रेष्ठ धर्मरत्न से अलंकृत सम्यग्दर्शनरुप श्रेष्ठ वज्रमय पीठवाले श्री संघरुप महामंदरगिरि/सुमेरु को मैं विनयपूर्वक वंदन करता हूँ ॥ 1 ॥

अशुभ अध्यवसाय के परित्याग एवं प्रतिसमय कर्ममल नष्ट होने से उज्जवल चित्तरुपी कूट (छोटे शिखर) युक्त इन्द्रिय-नोइन्द्रिय (मन) के दमन/ नियमरुपी कनकशिला (आसन) वाले, उत्तरोत्तर सूत्रार्थ स्मरण से तेजस्वी, तत्त्वज्ञानी, आमर्ष्यादि विविध लब्धि से मनोहर, शीलरुपी सुगंधवाले मुनि (जहाँ) संतोष/आनन्द प्राप्त करते है / रमण करते है ऐसे श्री संघरुप महामंदरगिरि/सुमेरु को मैं विनयपूर्वक वंदन करता हूँ ॥ 2 ॥

स्व-पर-निर्वृत्ति के हेतुभूत जीवदयारुपी गुफा/कन्दरा में निवास करनेवाले, कर्मशत्रुओं को नष्ट करने में प्रबल उत्साही, शाक्यादि परवादीरुप मृगों को जीतने में मृगेन्द्र (अन्य दर्शनियों की) कुयुक्तियों के नाशक सेंकडो हेतुरुपी रत्नों से तेजस्वी, श्रुतरत्नों से दीप्तिमान, आमर्ष्यादि लब्धियों से जाज्वल्यमान मुनिवरों से व्याप्त व्याख्यानशालारुप गुफावाले श्री संघरुप महामंदरगिरि (सुमेरु) को मैं विनयपूर्वक वंदन करता हूँ ॥ 3 ॥

प्राणातिपातादि पञ्चास्रव के प्रत्याख्यानरुप, कर्ममल से आत्मा को निर्मलकारी, सांसारिक ताप की आकुलता को दूर करने में श्रेष्ठ जलरुप संवर तत्त्व का सतत प्रवाह जिसके गले का (मूल्यवान) हार है (जिसका शृंगार है) ऐसे स्तुति-स्तोत्र-स्वाध्यायादि के द्वारा केकारव करनेवाले विधितत्पर श्रावकरुपी मयूर जहाँ जिनमंदिरों/जिनमण्डपादि में नृत्य करते हैं, ऐसे श्री संघरुप महामंदरगिरि/ सुमेरु को मैं विनयपूर्वक वंदन करता हूँ ॥ 4 ॥

जहाँ जिनशासनरुप गगनांगण में विविध ऋद्धि आदि रुपी पुष्पों से परिपूर्ण, गच्छरुपी गुच्छों में शोभायमान, मूलोत्तर गुणरुप धर्मरुपी फलदान में तत्पर विशिष्ट कुलोत्पन्न होने से विविध गुणों से कल्पवृक्ष के समान, श्रेष्ठ विनय-विवेकयुक्त, तपस्वी, तेजस्वी मुनिगणरुप विद्युत् से आचार्यादि श्रेष्ठ प्रावचनिकरुपी शिखर (सदा) देदीप्यमान होते हैं, ऐसे श्री संघरुप महामंदरगिरि को मैं विनयपूर्वक वंदन करता हूँ ॥ 5 ॥

जहाँ जीवादि पदार्थों के यथावस्थित बोध से विमल बुद्धिवाले, परमनिवृत्ति (मोक्ष) के हेतुरुप सम्यग्ज्ञानरुप श्रेष्ठ रत्न से प्रकाशमान भव्यजनरुप मनोहर, तेजस्वी, वैडूर्यमय विमल शिखर देदीप्यमान होते है, ऐसे श्रीसंघरुप महामंदरगिरि को मैं विनयपूर्वक वंदन करता हूँ ॥ 6 ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय परिच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय परिच्छेद

अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली का परिचय

1. साहित्यिक शब्दावली

2. सांस्कृतिक शब्दावली

3. राजनैतिक शब्दावली

4. दार्शनिक शब्दावली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय परिच्छेद

अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली का परिचय

इस शोध प्रबन्ध का तृतीय परिच्छेद अभिधान राजेन्द्र कोश की शब्दावली का परिचय प्रस्तुत करने के लिए निर्धारित किया गया है। अभिधान राजेन्द्र कोश की संरचना देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि यह कोई साधारण शब्द कोश नहीं है किन्तु यह विश्वकोश स्वरुप में निबद्ध किया गया है जिसका (मूलविषय) प्राकृत शब्दावली में भी विशेषत: जैनागम साहित्य में प्रयुक्त शब्दों के हार्द को एकत्र प्रस्तुत करना है। इसमें आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने कोशरचना के सिद्धांतो के अनुरुप वर्णानुक्रम से शब्दों का चयन, उनकी व्याकरणिक कोटियाँ, निरुक्ति, व्युत्पत्ति सप्रमाण देते हुए क्रमप्राप्त अर्थो को क्रमश: देते हुए उनकी व्याख्या की है। कहीं एक-एक शब्द पर निबन्धात्मक विस्तृत व्याख्या भी दी गयी है तो कहीं पर शब्दार्थ को स्पष्ट करते हुए आगे बढने का क्रम दिखाई देता है।

चूँकि इसमें जैनागमों में प्रयुक्त शब्दो की व्याख्या है और जैनागमों में अनेक विषयो पर लिखे गये शास्त्र हैं, इसलिए यह समझना उचित नहीं है कि इसमें मात्र जैन अध्यात्म या जैन दर्शन सम्बन्धित शब्दों का ही समावेश होगा, किन्तु इस कोश में निहित शब्दराशि अनेक विषयों पर प्रकाश डालती है।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी पिछली शताब्दी में हुए हैं। तबतक विद्वानों के प्रिय विषय साहित्य, व्याकरण, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शन, भूगोल, सामाजिकवृत्त होते थे और इनमें प्रयुक्त शब्दावली संस्कृत से होते हुए प्राकृत भाषा में भी तद्भव के रुप में प्रयुक्त होने लगी, इसलिए प्राचीन विषयों की शब्दावली अभिधानराजेन्द्र कोश में प्राप्त होती है।

शोधप्रबन्ध की रुपरेखा बताते समय यह प्रयास किया गया था कि अपने विषय से स्खलित न होते हुए केवल उन शब्दों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय जो आचरपरक दार्शनिक हों। किन्तु ऐसा करने से अभिधानराजेन्द्र कोश के स्वरुप का पूरा परिचय प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए हमने इस शोधप्रन्ध में आचारपरक दार्शनिक शब्दावली से अतिरिक्त शब्दराशि का परिचय देने की आवश्यकता अनुभव की, इसलिए तृतीय अध्याय को शब्दावली का परिचय देने का स्थान बनाया गया जिसमें चार प्रकार की शब्दराशि के लिए चार उपशीर्षक बनाये गये हैं।

साहित्यिक शब्दावली, सांस्कृतिक शब्दावली, राजनैतिक शब्दावली और दार्शनिक शब्दावली -इन चार उपशीर्षकों में केवल उन्हीं शब्दों का समावेश किया गया है जो विशेष महत्त्व के हैं। परिचय में शब्द के साथ ही कोष्टक में उसके लिंग को पुल्लिंग (पु.), स्त्री, और नपुंसक (न.) संकेतो से दर्शाया गया है और कोष्टक के बाहर अभिधानराजेन्द्र कोश में उसके स्थान-भाग और पृष्ठ को दर्शाने में तिर्यग् रेखा से पृथक् किया गया है जैसे भाग 1, पृ. 35 = 1/35) जहाँ तक दार्शनिक शब्दावली का प्रश्न है उसमें आचारपरक दार्शनिक शब्दावली तो इस शोध प्रबन्ध का ही विषय है इसलिए उनको यहाँ लेना तर्कपूर्ण नहीं था, किन्तु आचरण से भिन्न जो तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा, तर्कविद्या से संबन्धित शब्द हैं उन्हीं का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है जो कि आगे के शीर्षको में व्यवस्थित हैं। (यहाँ पर 'नय' पृ. 126 एवं निक्षेप पृ. 135) शब्द का परिचय 'प्रमाण' शब्द के अन्तर्गत दिया गया है)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. साहित्यिक शब्दावली

इस शीर्षक में साहित्य अर्थात् शब्द और अर्थ से संबन्ध विशेष का परिचय दिया गया है भले ही वे नवरससंचिरवाङ्मय से सम्बद्ध हों या व्याकरण से। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण शब्दों का संकेत मात्र से परिचय कराया जा रहा हैं।

अंकलिवि - अङ्कलिपि (स्त्री.) 1/35

'ब्राह्मी' आदि लिपि में अंकों के द्वारा लेखनविधिरुप बारहवीं लेख्य विधि 'अंकलिपि' है।

अंग-अङ्ग (न.) 1/36

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'अंग' शब्द के आमंत्रण विषयक, अलंकार विषयक, देहावयव, लौकिक वेदों के शिक्षा, कल्प आदि अंग और लोकोत्तर (जैन) प्रवचन के आचारांग आदि द्वादशाङ्ग-इत्या अनेक अर्थ किये हैं।

अडयालकोडगरइय - अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचित (त्रि.) 1/257

अडतालीस (48) कोष्ठक भेदों से युक्त विचित्र छन्द रचना। (छन्दोबद्ध गोपुर रचना विशेष) 'कट्यवणमाला' -इस प्रकार की रचना है।

अप्पक्खर-अल्पाक्षर (न.) 1/614

महान् अर्थयुक्त अल्प अक्षरवाले सूत्रों को 'अल्पाक्षर' कहते हैं, जैसे -'सामायिक सूत्र'।

अबद्धसुय-अबद्धश्रुत (न.) 1/680

गद्यात्मक श्रुत (आगम ग्रंथ) को 'अबद्धश्रुत' कहते हैं।

आगमसत्थ-आगमशास्त्र (नपु.) 1/96

विधिपूर्वक, सकलश्रुतज्ञानविषयक व्याप्ति के द्वारा, मर्यादापूर्वक यथावस्थित प्ररुपणारुप ज्ञान जिसके द्वारा सीखा जाय, जाना जाय (बोध प्राप्त किया जाय) उसे 'आगम शास्त्र' कहते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में आगम शास्त्र का अर्थ 'श्रुतज्ञान' किया गया है।

आदंस/आदंयं/आदरिस/आदस्स लिवि - आदर्श लिपि (स्त्री.) 2/238

ब्राह्मी लिपि की लेखन विधि को 'आदर्श लिपि', कहते हैं।

आ(य) रियवेद - आर्यवेद (पुं.)

स्वयं के स्वाध्याय के लिए तीर्थंकरों की स्तुतिरुप और श्रावक धर्म के प्रतिपादक भरत चक्रवर्तीकृत वेद जैन दर्शन में 'आर्यवेद' कहे गये हैं।

आयासलिवि - आयासलिपि (स्त्री.) 2/390

ब्राह्मीलिपि की अठारह प्रकार की लेखनविधि में पंद्रहवीं लेखनविधि को 'आयासलिपि' कहते हैं।

अवणास-उपन्यास (पुं.) 2/926

प्रयत्नपूर्वक चिन्तनपूर्वक की गई शास्त्र रचना 'उपन्यास' कहलाती है। इसके चार भेद हैं- 1. तद्वस्तुक, 2. अन्यवस्तुक, 3. प्रतिनिभ और 4. हेतु। इनका विशेष परिचय अभिधान राजेन्द्र कोश में उन-उन शब्दों पर दिया गया है।

एकसेस - एकशेष (पुं.) 3/31

समान रुपवाले और एक विभक्तियुक्त अनेक सामासिक पदों में से समान होने पर जब एक ही पद शेष रहता है, उसे एकशेष कहते हैं।

ओज - ओजस् (न.) 3/91

साहित्य विधा में ओज का अर्थ गौडी रीति, भाषा का गुण, और रस में वीर-वीभत्स और रौद्र रस से भी क्रमप्राप्य आधिक्य को 'ओज' कहते हैं।

अन्यत्र 'ओज' शब्द के परमाणु, राग-द्वेष रहित चित्त, विषम राशि (गणित परिभाषा गत), मानसिक स्थिरता, विद्यादिरुप बल, शारीरिक ओज, स्त्री संबन्धी रक्त विशेष (आर्तव), उत्पत्ति देश में आहत योग्य पुद्गल समूह, ज्ञानेन्द्रियों की पटुता, स्वकार्य करने की शक्ति, चित्त के विस्तार रुप दीप्तिमत्ता आदि अर्थ किये गये हैं।

कत्थ - कथ्य (नपुं.) 3/219

जिसमें कथा गायी जाती है, उसे 'कथ्य' कहते हैं। यह काव्य का एक भेद है।

काव्व - काव्य (न.) 3/393

कवि के अभिप्राय, कविकृत गद्यपद्यात्मक ग्रंथ, स्तुति, वर्णन, को 'काव्य' कहते हैं। काव्य के चार प्रकार हैं - (1) गद्य (2) पद्य (3) कथ्य और (4) गेय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कव्वरस - काव्यरस (पुं.) 3/393

कवि के अभिप्राय की अनूभूति 'काव्यरस' कहलाता है। उससे उत्पन्न चित्तविकार इसका सहकारी कारण है। अथवा बाह्य अर्थावलम्बन से मानसिक वस्तुविकार 'भाव' कहलाते हैं; भाव का उत्कर्ष 'रस' कहलाता है। वह रस नौ प्रकार का है- 1. वीर, 2. श्रृंगार, 3. अद्‌भूत, 4. रौद्र, 5. विस्मय, 6. बीभत्स, 7. हास्य, 8. करुण और 9. प्रशान्त।

कहा - कथा (स्त्री.) 3/402

उनके (कथा नायक के) नामोच्चारण, गुणोत्कीर्तन, चरित्रवर्णनादि रुप वचन पद्धति, वाक्य प्रबन्ध, या शास्त्र को 'कथा' कहते हैं। यहाँ पर कथा, विकथा के भेद-प्रभेदों का वर्णन किया गया है- जैसे- अर्थकथा, धर्मकथा, कामकथा, मिश्रकथा, श्रृंगारकथा, तपोनियमकथा, उत्सर्गकथा, आस्तिकनय कथा, निश्चयनय कथा, पर्यायास्तिक नय कथा; नैयायिकोक्त वादादि कथा, प्रकीर्णकथा, अपवादकथा, इत्यादि।

अभिधान राजेन्द्र कोश में इसी शब्द के अन्तर्गत कथा कहने की विधि, स्थान, समय, द्रव्यादि अनुकूलता आदि का भी वर्णन किया गया है।

कोस - कोष (श) पुं., न. - 3/681

साहित्य विधा में शब्द पर्यायज्ञापक अभिधान (नाम) के संग्रह को 'कोश' कहते हैं। यहाँ अन्य अर्थ में अण्ड, सोने के कुण्ड, मुकुट, समूह, दिव्य का भेद, पनसादिक के मध्य का 'कोवा' नामक पदार्थ पानपात्र, पानी भरने की कोश (चषक), शिम्बा, धान्यनिधि, नेत्रकोष, बर्तनघर, आश्रय, लक्ष्मी का भंडार, शस्त्रों का समूह, तलवार का आवरण, प्रत्याकार, त्वचा का प्रथम आवरण में कोशवत् आकार (कोशिका), घर, कान्यकुब्ज और दो हजार धनुष्क प्रमाण माप आदि के लिये 'कोस (कोश)' शब्द प्रयुक्त हैं।

ग्रंथ - ग्रंथ (पुं.) 3/793

जिसके द्वारा अर्थ का ग्रथन किया जाय उसे, श्रुत को, शब्द संदर्भ को और शास्त्र को 'ग्रन्थ' कहते हैं। अन्यत्र जिस बाह्य - आभ्यन्तर निमित्त से जीव कर्म बन्धन से ग्रथित होता (बँधता) है, उसे 'ग्रंथ' कहते हैं। यहाँ तत्संबन्धी अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद का वर्णन किया गया है।

गज्ज - गद्य (न.) 3/812

सूत्र और अर्थ, दोनों के द्वारा मधुर, सहेतुक (उपपति सहित) आनुपूर्वीबद्ध (क्रमबद्ध), विशिष्ट छन्द रचना रहित/पाद रहित, अर्थ से विरामयुक्त किन्तु पाठ से विरामरहित, बडा, (अंत में मृदुपाठ्य) काव्य 'गद्य' कहलाता हैं।

गमिय - गमिक (न.) 3/841

भङ्गयुक्त शास्त्र, गणितादि युक्त शास्त्र, प्रायः गाथा, श्लोक, वेष्टक आदि से सदृश पाठवाले दृष्टिवादादि अंग सूत्र एवं उत्तराध्ययनादि सूत्र को 'गमिक सूत्र' कहते हैं।

गाहा - गाथा (स्त्री.) 3/872

संस्कृत (प्राकृतादि) भाषा में निबद्ध 'आर्या' छंद को 'गाथा' कहते हैं। यहाँ 'गाथा' छंद के भेद-प्रभेदों के लक्षणपूर्वक वर्णन किया गया है। अन्यत्र 'गाथा' का अर्थ प्रतिष्ठा और घर भी किया गया है।

गीतिया - गीतिका (स्त्री.) 3/901

पूर्वार्ध के समान उत्तरार्ध के लक्षण वाले 'आर्या' छंद को 'गीतिका' कहते हैं। गीत गाने की कला को भी गीतिका कहते हैं।

गीय - गीत (न.) 3/901

गाने योग्य रचना, गान, ध्रुवकादि छंद निबद्ध, पद-स्वर ताल के अवधानपूर्वक का गान्धर्व 'गीत' कहलाता है। गीत कला में सात स्वर, इक्कीस मूर्च्छना और उनपचास तान युक्त स्वरमण्डल होता है। इसी शब्द के अन्तर्गत गीत के और गीतकार के गुण-दोषों का भी वर्णन किया गया हैं।

गेय - गेय (न.) 3/948

तन्त्री, ताल, वर्ण, ग्रह, लय की समानतायुक्त, गान योग्य, स्वर संचार के द्वारा गीतिप्राय निबद्ध काव्य रचना को 'गेय' कहते हैं।

गौडी - गौडी (स्त्री.) 3/1340

समासबहुल काव्यरचना को गौडीकाव्य कहते हैं। अन्यत्र गुड से निष्पन्न मदिरा को भी गौडी कहा जाता हैं।

छन्द - छन्दस् (पु. न.) 3/1340

वेद के चतुर्थ अङ्ग, पद्य वचन के विषय में लक्षण शास्त्र और छंद (बनाने की) कला के विषय में छंद शब्द का प्रयोग होता हैं।

संस्कृत पुलिङ्ग में छंद शब्द का अर्थ अभिलाषा, अभिप्राय, प्रार्थना, गुर्वादेश रहित आचरण और गुरु का अभिप्राय किया हैं।

छंदोणिबद्ध - छन्दोनिबद्ध (न.) 3/1343

छन्दःशास्त्र के नियमों के अनुसार (संस्कृतादि भाषा के) पद्य को 'छन्दोनिबद्ध' कहते हैं।

निज्जुत्ति - निर्युक्ति (स्त्री.) 4/2060

निश्चयपूर्वक अर्थप्रतिपादक युक्ति, श्रीभद्रबाहुस्वामीकृत व्याख्यान ग्रंथ, व्याख्या के उपायभूत सत्पदप्ररुपणा को 'निर्युक्ति' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस सूत्र के विषय में जिसके द्वारा श्रुत के अनुसार जीवाजीवादि अर्थ की प्रस्तुति की जाय, उसे व्यवस्थित किया जाय, उसे 'निर्युक्ति' कहते हैं।

पज्ज - पद्य (त्रि.) 5/210

छन्दोबद्ध वाक्य को 'पद्य' कहते हैं। पद्य तीन प्रकार के हैं-

(1) सम - श्लोक के चारों पादों में समान (संख्या में) अक्षरों का होना।

(2) अर्धसम - श्लोक के प्रथम और तृतीय पाद और द्वितीय या चतुर्थ पाद में गुरु लघु आदिपूर्वक समान अक्षर होना।

(3) विषम - सभी पादों में विषम अक्षर होना

पय - पद (न.) 5/502

जिसके द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है, उसे 'पद' कहते हैं। पदार्थ के विषय में पहचान (ज्ञान प्राप्त) करने में परस्पर सहकारी रुप से स्थित, पदान्तरवर्ती वर्णो से पराङ्मुख अन्योन्य वर्णो की अपेक्षा का मिलाप (संहति) 'पद' कहलाता हैं। वाक्यार्थ में वाक्य में अन्तर्भावित ऐसे ही पदों की संहति को 'वाक्य' कहते हैं।

पद के नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि चार भेद हैं। और उनके अनेक प्रभेद हैं। इसमें भाव पद के नौवें मातृक पद नाम के 'ग्रथित' नामक भेद में गद्य, पद्य, गेय और चौर्ण पद समाविष्ट है। अन्य प्रकार से पद के (1) नाम (2) निपात (3) उपसर्ग (4) आख्यात और (5) मिश्र - ये पाँच प्रकार हैं। सामान्यतः जहाँ शब्द के अर्थ की परिसमाप्ति हो, उसे 'पद' कहते हैं परंतु द्वादशांगी में तो तथाविध आम्नाय का अभाव होने से वहाँ एक पद को 'पद' माना हैं। जैसे - आचारांग के 18,000 पद।

पाठ - पाठ (पु.) 5/824

ग्रहण शिक्षा, आसेवन शिक्षा, जिससे अभिधेय विषय को पढा जाय/प्रकट किया जाय, उसे 'पाठ' कहते हैं।

प्रबन्ध - प्रबन्ध (पुं.) 5/435

उपांगो में कथित वृत्तान्त (प्रपञ्च कथा) परक ग्रंथ को 'प्रबन्ध' कहते हैं।

पोत्थग - पुस्तक (न.) 5/1121

जिस पर वर्णादि लिखा जाता है ऐसा ताडपत्रादि का छेद करके पत्रे रुप बनाकर उसे संपुट रुप में ग्रहण करना - 'पुस्तक' कहलाता हैं। (अ.रा.भा. 5 'पोत्थकम्म' शब्द) पुस्तक पाँच प्रकार के होते हैं-

(1) गंडी - दीर्घ, बहुत पत्रोंवाला, समचोरस पुस्तक 'गंडी पुस्तक' कहलाता हैं।

(2) कच्छपी - अंत में पतला, मध्य में मोटा, थोडे या ज्यादा पत्रोंवाला पुस्तक 'कच्छपी पुस्तक' हैं। (पृ. 3/186, 5/122)

(3) मुष्टि - चार अंगुल लम्बा या गोलाकार पुस्तक 'मुष्टि पुस्तक' कहलाता हैं।

(4) संपुट - दो फलकवाला पुस्तक 'संपुट' कहलाता हैं।

(5) छेवाडी - लम्बी, छोटी, या थोडे या अधिक पत्रोंवाली पुस्तक 'छेवाडी' कहलाती हैं। (अ.रा.भा. 3/1362, 5/1122)

यहाँ पर जिनसिद्धांत संबंधी पुस्तकलेखन का फल एवं जिनसिद्धांत के पुस्तकारूढ होने का काल, स्थानादि का वर्णन किया गया हैं।

पोराण - पुराण (त्रि.) 5/1123

जैन साहित्य में तीर्थंकरभासित अर्थ के विषय में गणधरनिबद्ध ग्रंथविशेष को 'पुराण' कहते हैं।

बन्धण - बन्धन (न.) 5/1191

साहित्यविधा में मयूर-बन्ध आदि काव्य रचना के लिए 'बन्धन' शब्द का प्रयोग होता हैं।

अन्यत्र कर्मबन्धन, रज्जु-लोहशृंखलादि से बन्धन के विषय में भी 'बन्धन' शब्द प्रयुक्त हैं।

बंभी - ब्राह्मी (स्त्री.) 5/1284

जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की सुमंगला नामक पत्नी से उत्पन्न पुत्री का नाम ब्राह्मी था। जैनागमों के अनुसार परमात्मा ऋषभदेव ने अपने गृहस्थजीवन में अपनी पुत्री ब्राह्मी को संस्कृतादि लिपि का जो अक्षरज्ञान दिया, उसे ब्राह्मी लिपि कहते हैं। ब्राह्मी लिपि की लेखनविधि के अठारह प्रकार हैं -

1. ब्राह्मी	2. यवनालिका	3. दोष ऊरिका
4. बागेटी	5. खरशाहिका	6. महाराजिका
7. उच्चत्तरिका	8. अक्षरपुस्तिका	9. भोगवजा
10. वेदान्तिका	11. निह्निका	12. अंकलिपि
13. गणितलिपि	14. गान्धर्वलिपि	15. आदर्श लिपि
16. माहेश्वरलिपि	17. दामिलिपि	18. बोलंति लिपि

भइरव - भैरव (न.) 5/1334

नाटक, काव्य आदि में वर्णित भयानक रस को 'भैरव' रस कहते हैं। शास्त्रीय संगीत में 'भैरव' नामक 'राग' (तर्ज) हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यत्र 'भैरव' शब्द का अर्थ शंकर, अवतार, भय का साधन और भयंकर भी किया गया हैं।

भास - भाष्य (न.) 5/1521

गाथा निबद्ध सूत्र-व्याख्यानरुप ग्रंथ को 'भाष्य' कहते हैं।

अन्यत्र श्रूयमाण जप, कथ्य, वचन, प्रकाश, गोष्ठ, कुक्कुर, शुक्र ग्रह, भास पक्षी, भस्म (राख) आदि अर्थों में भी 'भास' शब्द प्रयुक्त होता हैं।

भासा - भाषा (स्त्री.) 5/1522

भाषण, वचन, बोली जाने वाली वाणी को 'भाषा' कहते हैं। यहाँ विभिन्न प्रकार से भाषा के भेद-प्रभेद, वाक्शुद्धि का फल, भाषण विधि, 'अपौरुषेयी वेदभाषा' मत का निराकरण आदि विषय वर्णित हैं।

महुर - मधुर (त्रि.) 6/230

सुनने योग्य सूत्र-अर्थ दोनों और सुनने में सुन्दर, आह्लादकारी, गंभीर (घोष महाध्वनि युक्त एसी ग्राह्य दुर्गम्य अर्थ भी सुनने मात्र से श्रोता की समझ में आ जाय ऐसी भाषा को मधुर भाषा कहते हैं। अन्य अर्थ में राग, स्वर, गुड, शक्कर, कोकिल स्वर के अर्थ में 'मधुर' शब्द प्रयुक्त हैं।

माउयकखर - मातृकाक्षर (न.) 4/235; माउया - मातृका (स्त्री.) 4/235

अकारादि अक्षरों को 'मातृका' कहते हैं। इसमें प्रायः ऋ,, ॠ, ऌ, ॡ-इन पाँच वर्णो को नहीं गिनते।

राग मंडल - रागमण्डल (न.) 4/546

वसन्तादि रागों के समूह को 'रागमण्डल' कहते हैं।

लिवि - लिपि (स्त्री.) 4/659

लेप्यविधि और अक्षर लेखन प्रक्रिया को लिपि कहते हैं। लिपि के अठारह प्रकार निम्नानुसार हैं-

1. हंस,	2. भूत,	3. यक्षी,	4. राक्षसी
5. उड्डी,	6. यवनी,	7. तूर्की,	8. किरी
9. द्राविडी/द्रविड	10. सिंधी	11. मालवीनि	12. नडी,
13. नागरी,	14. लाट,	15. पारसी,	16. अनिमित्ती
17. चाणक्यी	18. मूलदेवी।		

वक्क - वाक्य (न.) 6/7770

एक अर्थ (की पुष्टि करने) वाले अनेक शब्दों (पदों) का मेलाप वाक्य कहलाता हैं। वचन को वाक्य कहते हैं। यहाँ वाक्य के द्रव्य और भाव रुप भेद के भी दिग्दर्शन कराया गया हैं।

वण्ण - वर्ण (पु.) 6/818

साहित्य में अकार-ककारादि वर्ण, जिसके द्वारा अर्थ प्रकट किया जाय, जिसके द्वारा वस्तु का वर्णन किया जाय, प्रशंसा, धन्यवाद को वर्ण कहते हैं।

वत्तिअ - वार्तिक (न.) 6/833

'वृत्ति' अर्थात् सूत्र विवरण के व्याख्यान को भाष्य अथवा 'वार्तिक' कहते हैं। गणधरादि उत्कृष्ट श्रुतधर आत्माओं के व्याख्यान और सूत्र के विषय में गुरुपरम्परागत व्याख्यान को 'वार्तिक' कहते हैं।

वयण - वचन (न.) 6/888

वाक्य रचना में विवक्षित अर्थ का कथन 'वचन' कहलाता हैं।

यहाँ वचन के विभिन्न प्रकार से अनेक भेद-प्रभेद का परिचय दिया गया हैं।

विभासा - विभाषा (स्त्री.) 6/1203

विविध भाषा, विषय विभाग के व्यवस्थापनपूर्वक की गयी व्याख्या, विविध पर्यायवाची शब्दों के द्वारा (वाच्य पदार्थ का) स्वरुप कथन, श्रुत के शेष-विशेष रूप भाषा और अर्थकथन 'विभाषा' कहलाता हैं। 'विभाषा' को भाष्य या वार्तिक भी कहते हैं।

समास - समास (पुं.) 7/425

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने समास के अनेक अर्थ बताते हुए साहित्यिक दृष्टि से दो या उससे अधिक पदों के एकीकरण को, विस्तार के संक्षिप्तकरण को समास कहा हैं। मुख्यतया समास सात प्रकार के हैं-

(1) द्वन्द्व (2) बहुव्रीहि (3) कर्मधारय (4) द्विगु (5) तत्पुरुष (6) अव्ययीभाव और (7) एकशेष समास। (अनुयोगद्वार सूत्र) राजेन्द्र कोश में यथास्थान इनकी व्याख्या भी दी गई हैं।

समास दोष - समास दोष । (पुं.) 7/425

साहित्य में समास विधि प्राप्त होने पर समास न करना समास विधि प्राप्त न होने पर समास करना समास-दोष हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. सांस्कृतिक शब्दावली

सांस्कृतिक शब्दावली से अभिप्राय यह है कि वे शब्द जो मानव की जीवनपद्धति से जुडे हुए हों, वे चाहे परम्परागत संस्कारों की सूचना देते हों अथवा आजीविकार्जन, जाति-व्यवस्था, वर्णव्यवस्था, उपासनापद्धति या मनोरंजन से सम्बद्ध हों। इस शीर्षक के अन्तर्गत अभिधान राजेन्द्र कोश में आये हुए ऐसे ही कुछ शब्दों का परिचय दिया जा रहा हैं।

अइहिपूआ - अतिथिपूजा (पुं.) 1/33

सतत प्रवृत्ति के कारण जिनके आने की तिथि निश्चित नहीं है ऐसे तिथि पर्व आदि लौकिक व्यवहार के त्यागी, भोजन समय उपस्थित महात्मा/भिक्षु विशेष को 'अतिथि' कहते हैं। उनका आहारादि दान के द्वारा सत्कार (भक्ति) करना 'अतिथिपूजा' हैं। 'अतिथिपूजा' को भारतीय संस्कृति में देवपूजावत् माना गया हैं। यह लोकोपचार विनय का भेद हैं।

अट्टणसाला - अट्टनशाला (स्त्री.) 1/238

व्यायामशाला को 'अट्टनशाला' कहते हैं, जहाँ लोग व्यायाम, योगासन, मल्लयुद्धादि करते हैं।

अणाहसाला - अनाथशाला (स्त्री.) 1/329

आरोग्यशाला को 'अणाहशाला' कहते हैं।

अपारंगम - अपारङ्गम (त्रि.) 1/606

अनन्तसंसारवासी, सर्वज्ञों के उपदेश से रहित स्वरु चिविरचित, शास्त्रवृत्तियुक्त कुतीर्थिकों को अपारङ्गम कहते हैं।

आगंतार - आगन्तार (पुं.) 2/60 आगमणगिह - आगमनगृह (न.) 2/90

पथिकादि को रहने की धर्मशाला को 'आगंतार' या 'आगमनगृह' कहते हैं।

आगारिय - आगारिक (न.) 2/106

गृहस्थ को 'आगरिक' कहते हैं।

आघायकिच्च - आघातकृत्य (न.) 2/113

अग्निसंस्कार, जलाञ्जलिप्रदान, पितृपिण्ड आदि मरणकृत्य को 'आघातकृत्य' कहते हैं।

आजीविया - आजीविका (स्त्री.) 2/117

जीविका, वृत्ति, जीवनयापन हेतु व्यापार को 'आजीविका' कहते हैं। उसके सात प्रकार हैं-

(1) वणिकों के लिए व्यापार (2) वैद्यादि को विद्या (3) किसानों को कृषि
(4) गोपालकों के लिए पशुपालन (5) चित्रकार आदि के लिए शिल्प (6) सेवकों के लिए सेवा
(7) भिक्षाचरों (द्रमक) के लिए भिक्षा

आणय - आनय (पुं.) 2/130

वेदादि अध्ययन हेतु देशान्तरगमन और उपनयन संस्कार को 'आनय' कहते हैं।

आपण - आपण (पुं.) 2/271

क्रय-विक्रय बाजार, दुकानको 'आपण' कहते हैं।

आपणवीहि - आपणवीथि (स्त्री.) 2/271

'बाजार' को 'आपणवीथि' कहते हैं।

आभीर - आभीर (पुं.) 2/313

अहीर नामक शुद्र जाति और आभीर देशवासी लोगों को 'आभीर' कहते हैं।

आय - आय (पुं.) 2/320

ज्ञानादि की प्राप्ति, द्रव्यादि का लाभ, धन का आगम, द्रव्यादि निमित्त आठों प्रकार के कर्मरुप आस्रव की प्राप्ति को 'आय' कहते हैं।

आम समाज को और साधुओं को हितशिक्षा देते हुए यहाँ आचार्यश्रीने कहा है कि, आय को देखकर ही खर्च करना चाहिए। लक्ष्मी का लाभ के अनुसार ही दान, भोग, परिवार और अतिथि आदि में व्यय करना चाहिए। 'आय' का चार भाग करके एक-एक भाग क्रमशः बचत, व्यापार, धर्म एवं परिवार पोषण में रखना चाहिए। पंचाशक सूत्र में आधी कमाई धर्म में वापरने का भी कथन हैं।

आयतण - आयतन (न.) 2/326

यहाँ घर, भवन, स्थान, धार्मिक लोगों का मिलन स्थान, आश्रय, देव मंदिर, मंदिर के पास की धर्मशाला, ज्ञानादि रत्नत्रयधारक साधु आदि, यथाविध अर्थकथन रुप निर्णय, विश्राम स्थान, यज्ञ स्थान, बन्ध हेतु, आविष्कार, चोरपल्ली, दस्युओं का अड्डा आदि के लिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'आयतन' शब्द का प्रयोग किया गया हैं।

आलय - आलय (पुं.) 2/423

'आलय' शब्द के आधार, आश्रय, आवास, गृह, स्थान, उपाश्रय, वसति (साधुओं को रहने योग्य स्त्री, पशु, नपुंसक रहित स्थान), दानवों (देवशत्रुओं) का अत्यन्त भयंकर खांडव वन आदि अर्थ होते हैं।

इभ्य - इभ्य (पुं.) 2/653

वणिक, राजा, हस्ति (हस्तिपक/हस्तिपालक), महा धनपति, सूंड में कदली दण्ड उठाया हुआ हाथी जिससे ढक जाय इतने द्रव्य का स्वामी 'इभ्य' कहलाता हैं।

इब्भजाइ - इभ्यजाति (स्त्री.) 2/653

आर्य जाति को 'इभ्य जाति' कहते हैं। जाति आर्य के छः प्रोकार हैं - (1) अम्बष्ठा (2) कलन्दा (3) विदेहा (4) वैदिगाइया (5) हरिता (6) चुंचुणा

इयरकुल - इतरकुल (न.) 2/654

अन्त-प्रान्त कुल को 'इतरकुल' कहते हैं।

उच्छव-उत्सव (पुं.) 2/762; ऊसव - उत्सव (पुं.) 2/1214

जिसमें विशिष्ट खान-पानादि हो, या विशिष्ट पर्व दिन जिसमें सामान्य लोग भी साधु के पास धर्मश्रवण करते हैं, या आनंदजनक व्यापार, विवाहादि तथा इन्द्र-महोत्सवादि को 'उत्सव' कहते हैं।

उडय - उटज (पुं.) 2/778

पत्तों आदि से निर्मित शाला (झोपडी) या तापसाश्रम, को 'उटज' कहते हैं।

उत्तमकुल - उत्तमकुल (न.) 2/783

उग्रकुल, भोगकुल, चान्द्रादि कुल को 'उत्तमकुल' कहते हैं।

उवगरण - उपकरण (न.) 2/905

जिसके द्वारा उपकार किया जाता हो / क्रिया की जाती है, उन्हें 'उपकरण' कहते हैं। हाथी, घोडा, रथ, आसन, पलंग, धन, धान्य, स्वर्णादि, वस्त्र, कामभोग के साधन आदि 'उपकरण' कहलाते हैं।

धर्म शरीर के पालन हेतु जिसके द्वारा व्रती का उपकार होता है उसे भी 'उपकरण' कहते हैं। ज्ञानादि के साधन, दण्ड, रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि व्रती के उपकरण है। यदि उपकरण का यत्न (जयणा) पूर्वक उपयोग नहीं किया जाय तो उसे 'अधिकरण' कहते हैं। अधिकरण से पाप कर्मो का बन्ध होता है।

कड - कट (पुं.) 3/202

उत्कट, आचार, कटादि, नल नामक तृण, शव, शवरथ, श्मशान, वंशकट, संथारा (शय्या), अंतरयुक्त वांसमय भाग के लिये 'कड' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

अन्यत्र पर्वत का एक भाग, प्रेत, एक प्रकार की औषधि, बाण, समय, आचार, आवरणकारक, तृण, क्रियाकारक, द्यूतक्रीडा के साधनरुप द्रव्य के लिये 'कड' शब्द 'कट' अर्थ में और 'निष्पादि', परिकर्मित, अनुष्ठित, निर्वतित कार्य के लिए 'कृत' अर्थ में प्रयुक्त हैं।

आसन अर्थ में तृणादि के द्वारा निष्पन्न, वांस की सली के द्वारा निष्पन्न, चमडे का, खाट आदि, कंबल तथा तन्तु आदि से निर्मित आसन भेद और योगासन में 'उत्कटासन' के लिए 'कट' शब्द प्रयुक्त हैं।

कडग घर - कटकगृह (न.) 3/203

वंशदल (वांस के पत्ते या चटाई) के द्वारा निर्मित गृह को 'कटकगृह' (वाँस की झोपडी) कहते हैं।

कम्मशाला - कटकगृह (न.) 3/345

जहाँ कुम्हार घडे आदि बनाता है उस कुम्हारवाडे को 'कम्मशाला' कहते हैं।

कला - कला (स्त्री.) 3/376

विविध विषय संबन्धी ज्ञान को 'कला' कहते हैं। यहाँ शास्त्रोक्त 72 (बहत्तर) कलाएँ वर्णितहैं।

'कला' शब्द के मात्रा, काल, अंश, देहस्थ धातु का भेद, धूल, नौका, कपट आदि अन्य अर्थ भी किये गये हैं।

कुडुंब - कुटुम्ब (पुं., न.) 3/579

पोष्यवर्ग, भाई, संतान, स्वजन वर्ग आदि को 'कुटुम्ब' कहते हैं।

कुत्तिआवण - कुत्रिकापण, कुत्रिजापण (पुं.) 3/584

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवताष्ठित होने से जहाँ स्वर्गादि तीनों लोक की संभव वस्तुओं की प्राप्ति करानेवाली दुकान या विभिन्न धातु से निष्पन्न सर्व वस्तु जहाँ प्राप्त हो ऐसी दुकान को 'कुत्रिकापण' कहते है।

यहाँ कुत्रिकापण का स्वरुप, वहाँ की वस्तुओं का मूल्य एवं तत्संबंधी कथाएँ वर्णित हैं।

कुलाचार - कुलाचार (पुं.) 3/600

कुल के सिद्धांत, कुल संबन्धी आचार 'कुलाचार' कहलाता है। जैसे शक कुलों में पितृशुद्धि, आहीरों में मथनी की शुद्धि इत्यादि।

खेत्त - क्षेत्र (न.) 3/756

जीव एवं अजीव के निवास योग्य स्थान, खेत, गाँव आदि योग्य स्थान, जनपद, गाँव, नगर आदि के लिए 'क्षेत्र, शब्द का प्रयोग किया जाता है। क्षेत्र शब्द के अन्यत्र धर्मास्तिकाय आदि की वृत्ति जहाँ होती है उसे, साधु के निवास योग्य स्थान, भरत-ऐरावतादि क्षेत्र, जिन चैत्यादि सप्त क्षेत्र, देह, अन्तःकरण, स्त्री-परिवार, लोकांत में सिद्ध स्थान, कलत्र आदि अर्थ भी किये गये हैं।

यहाँ साधु के लिए चातुर्मास योग्य स्थान (क्षेत्र) के गुण-दोष का विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

खेत्तकप्प - क्षेत्रकल्प (पुं.) 3/767

देश विशेष के आचार को, देश (क्षेत्र) विशेष के अनुसार कल्प्याकल्प्य (वस्तु, खाद्य पदार्थादि के विषय में) 'क्षेत्रकल्प' कहलाता है।

यहाँ साधु योग्य क्षेत्र की विशेषता वर्णित हैं।

गम्म - धम्म - गम्य धर्म (पुं.) 3/842; ग्राम्य धर्म (पुं.)

विवाह के पक्ष में वर के द्वारा पाणिग्रहण के योग्यायोग्य कन्या संबन्धी नियम 'गम्य धर्म' कहलाता है। जैसे - दक्षिण देश में मामा की लडकी के साथ शादी कर सकते हैं लेकिन उत्तर देश में उसका निषेध हैं। किसानादि के आचार धर्म, मैथुन, (व्यवाय) को 'ग्राम्य धर्म' कहते हैं।

गिह - गृह (न.) 3/895; गेह - गेह 3/948

महल, आवास, बन्धा हुआ मकान, घर, गृहस्थत्व को 'गिह' कहते हैं और वास्तुविद्याविधान से युक्त मकान को 'गेह' कहते हैं।

गोट्ठिधम्म - गोष्ठी धर्म (पुं.) 3/950

वसन्तादि उत्सवों में इस प्रकार करना-इत्यादि समवयस्क मित्रों की आपसी व्यवस्था का पालन 'गोष्ठी धर्म' कहलाता हैं।

गोट्ठी - गोष्ठी (स्त्री.) 3/953

महत्तर (मुखिया) आदि पाँच पुरुषों से युक्त, जनपद विशेष, परस्पर बातचीत और पोष्यवर्ग को 'गोष्ठी' कहते हैं।

गोत्त - गोत्र (न.) 3/954

उच्च-नीच कुलोत्पत्ति लक्षण पर्याय विशेष, यथार्थ कुल और उस प्रकार के एक पुरुष के द्वारा उत्पन्न वंश को 'गोत्र' कहते हैं। गोत्र कर्म के लिये भी 'गोत्र' शब्द का प्रयोग होता हैं।

घंघसाला - घङ्घशाला (स्त्री.) 3/1037

यात्री के ठहरने हेतु हवा-ताप आदि रहित अतिरिक्त स्थान (धर्मशाला) को 'घंघसाला' कहते हैं।

घरग - गृहक (न.) 3/1042

सुखेच्छु लोगों के मैथुन सेवा के लिए वनखण्ड के मध्य में बने 'वास भवन/मोहन घर/गर्भ गृह को 'घरग' कहते हैं।

यहाँ पर आलीगृहक, कदली गृहक, लता गृहक, माली गृहक (वनस्पति के घर), अवस्थान गृहक, प्रेक्षणक गृहक, मज्जन गृहक, प्रसाधन गृहक, शाला गृहक, कुसुम गृहक, गन्धर्व गृहक, आदर्श गृहक इत्यादि गृहकों का वर्णन किया गया हैं।

घोस - घोष (पुं.) 3/1046

यहाँ आभीरपल्ली, गोकुल, गोष्ठ, गोपाल, शब्द, निनाद, अनुवाद, उदात्तादि स्वरविशेष, कण्ठस्थानीय वर्ण, ध्वनि, घण्टारव, मेघगर्जन, कांस्यपात्र, मशक, घोषलता, घोषवान्, कुमारों के इन्द्र के लिए 'घोस' शब्द प्रयुक्त हैं।

घोसण - घोषण (न.) 3/1046

ध्वनि और उद्घोषणापूर्वक के व्यापार के लिए 'घोषण' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं।

चंददरिसणिया - चन्द्रदर्शनिका (स्त्री.) 3/1071

नवजात बालक का जन्म के दो दिन बाद चन्द्रोदय के समय चन्द्रदर्शन महोत्सव 'चन्द्रदर्शनिका' कहलाता हैं।

चंदसूरदंसावणिया - चंदसूरपासणिया - चन्द्रसूर्यदर्शनिका (स्त्री.) 3/1096

नवजात बालक के जन्म के तीसरे दिन चन्द्र-सूर्य दर्शन के उत्सव को 'चन्द्रसूर्यदर्शनिका' कहते हैं।

चक्कसाला - चक्रशाळा (स्त्री.) 3/1104

तेल की घाणी (जहाँ तेल निकाला जाता है) को 'चक्कसाला' कहते हैं।

चक्कियसाला - चाक्रिकशाला (स्त्री.) 3/1104

तेल बेचने के स्थान को 'चाक्रिकशाला' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चट्टसाला - चट्टशाला (स्त्री.) 3/1111

चट्ट = विद्यार्थी, छोटे बालकों की अध्ययनशाला को 'चट्टशाला' कहते हैं।

चाउव्वण - चातुर्वर्ण (न.) 3/1171

चातुर्वर्ण दो प्रकार से हैं -

(1) लौकिक - क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र

(2) लोकोत्तर - श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकारुप चतुर्विध संघ

चित्तसभा - चित्रसभा (स्त्री.) 3/1183

चित्रकार्ययुक्त मण्डप को 'चित्रसभा' कहते हैं।

चिया - चिता (स्त्री) 3/1187

'शव' के अग्नि संस्कार के लिए जो ईन्धनयुक्त अग्नि होती है उसे 'चिता' कहते हैं।

चूलाकम्म - चूडाकर्मन् (न.) 3/1025; चोलअ - चोलग - (न.) 3/1337

बालकों का मुण्डन संस्कार 'चूडाकर्म' या 'चोलग' कहलाता हैं।

चोल्लग - चोल्लक (पुं.) 3/1338

परिपाटी भोजन और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के मित्र का कल्याण भोजन 'चोल्लक' कहलाता हैं।

छेयारिय - छेकार्चा (पु.) 3/1361

शिल्प का उपदेश देनेवाले (सीखानेवाले) आचार्य को 'छेकाचार्य' कहते हैं।

जणोवयार - जनोपचार (पुं.) 4/1381

स्वजनादि की लौकिक पूजा-सत्कार को 'जनोपचार' कहते हैं।

जज्ञ - यज्ञ (पुं.) 4/1389

यहाँ याग, विष्णु, नागादि की पूजा, प्रतिदिन अपने अपने इष्टदेवता की पूजा, धूपसहित यज्ञ, धूपरहित दानादि क्रियारुप यज्ञ आदि के लिए 'यज्ञ' शब्द प्रयुक्त है। यहाँ यज्ञ के तीन भेद बताये गये हैं-

1. **सात्त्विक** - फल की आकांक्षा रहित, सविधि, मन की समाधि के लिये जो (सद्ध्यान रुप) यज्ञ किया जाय, उसे सात्त्विक यज्ञ कहते हैं।
2. **राजस** - फल की प्राप्ति के लिये, अथवा कपटपूर्वक किया गया यज्ञ राजस यज्ञ हैं।
3. **तामस** - विधिरहित, असृष्ट अन्न, मंत्ररहित, दक्षिणारहित और श्रद्धारहित यज्ञ तामसयज्ञ है। अन्य प्रकार से यज्ञ के द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, योग यज्ञ और ज्ञान यज्ञ - ये चार प्रकार हैं। यहीं पर अध्यापनरुप ब्रह्मयज्ञ, तर्पणरुप पितृयज्ञ, होमरुप देवयज्ञ, बलिरुप भूतयज्ञ और अतिथिपूजारुप नृयज्ञ (मनुष्य यज्ञ) -ये (मीमांसक मत में) गृहस्थ के करने योग्य पाँच यज्ञ हैं, यह भी बताया गया हैं।

जाग - याग (पुं.) 4/1446

देवपूजा और अश्वमेघादि लौकिक यज्ञ को 'याग' कहते हैं।

जाणसाला - यानशाला - 4/1550

जहाँ वाहन बनाये जाते हैं उसे 'यानशाला' कहते हैं।

जाय - जात (न.) 4/1451

समूह, जन्म, प्रकार, व्यक्ति, वस्तु, उत्पन्न, विभिन्न देशोत्पन्न विनेय - अनुग्रह के लिए एकार्थवाची शब्द और उत्पत्ति, धार्मिक व्यक्तियों के समूह को 'जात' कहते हैं।

यहाँ इसके नाम, स्थापन, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इन छः निक्षेपों का वर्णन किया गया है।

जायकम्म - जातकर्मन् (न.) 4/1451

प्रसव कर्म, नाल छेदनादि कर्म, मन्त्रित सर्षप, प्राशनादि कर्म तथा अशुचि निवारण एवं जन्म संबन्धी संस्कार को 'जातकर्म' कहते हैं।

जत्ता - यात्रा (स्त्री.) 4/1390; जिणजत्ता - जिनयात्रा (स्त्री.) 4/1492

यान में जाना या तप-नियम-संयोगादि में प्रवृत्ति, देवदर्शनोत्सव, रथयात्रा, अष्टाह्निका महोत्सव, तीर्थयात्रा, चैत्यपरिपाटी, चैत्ययात्रा, राजा का गमन, देशान्तरगमन, गमन क्रिया, यापन और उपाय को 'जत्ता' कहते हैं। और अर्हदुत्सव के निमित्त रथयात्रा को 'जिनयात्रा' कहते हैं।

णगरधम्म - नगर धर्म (पुं.) 4/1793

नगरवासी नागरिकों के आचार-नियमादि को 'नगर धर्म' कहते हैं।

णट्ट - नाट्य (न.) 4/1799

नृत्य, हाथ-पैर-मुख को भाव-भंगिमा, ताण्डव नृत्य, गीतरहित नृत्य को 'नट्ट' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णिगम - निगम (पुं.) 4/2028

बहुल वणिक् जाति के निवास स्थान, वणिकजन-प्रधान स्थान, वणिक जनों से अधिष्ठित सन्निवेश, वणिकों के समूह, नगर के वणिक (व्यापारी) विशेष आदि को तथा निश्चित अर्थ और विचित्र अभिग्रह को 'निगम' कहते हैं।

णिसेज्जा - निषद्या (स्त्री.) 4/2147

स्त्रियों का निवास स्थान, स्त्रीकृत माया, धर्मशाला और क्षुद्र खाट को भी 'निषद्या' कहते हैं।

तिवग्ग - त्रिवर्ग 4/2324

धर्म, अर्थ, काम; तीनों समय; और सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्रार्थ) को 'त्रिवर्ग' शब्द से कहा जाता हैं।

तूह - तीर्थ (न.) 4/2341

शास्त्र, यज्ञ, क्षेत्र, उपाय, स्त्रीरज; नदी आदि में उतरने हेतु घाट, विद्यादि गुणयुक्त पात्र, उपाध्याय, मंत्री, योनि, दर्शन, ब्राह्मण, आगम, निदान, अग्नि, कुएँ के पास का जलाशय, दैहिक-मानसिक और भौमिक पवित्र स्थान को 'तीर्थ' कहते हैं।

दिट्ठिसेवा - दृष्टिसेवा (स्त्री.) 4/2517

हावभावानुसार दृष्टि से दृष्टि का मिलन 'दृष्टिसेवा' कहलाती हैं।

दिसासुद्धि - दिक्शुद्धि (स्त्री.) 4/2538

समयानुसार शंख ध्वनि श्रवण, पूर्ण कलशादि का सम्मुखागमन, शुभ गंध आदि स्वाभाविक शुद्धि (शुभ शकुन) को 'दिक् शुद्धि' कहते हैं।

धण - धन (न.) 4/2644

धान्योत्पादन, वस्तु, अर्थ, सोना-चाँदी आदि, गाय-भैंस आदि, गुड-शक्कर-मिश्री आदि, बर्तनादि, जायफलादि, कंकु-गुडादि, तैलादि, रत्नादि को 'धण' कहते हैं। ज्योतिष में धनिष्ठा नक्षत्र को भी 'धन' कहते हैं। यहाँ धन सार्थवाह को भी प्राकृत में 'धण' कहा हैं।

धण्णणिहि - धान्यनिधि (पुं.) 4/2662

'अनाज' रखने के कोठार को 'धान्यनिधि कहते हैं।

पणियगिह - पण्यगृह (न.) 5/380; पणियघर - पण्यगृह (न.) 5/380

बर्तन की दुकान, मिट्टी के बर्तन जहाँ मिलते हैं -कुम्हार की दुकान को 'पण्यगृह' कहते हैं।

पणियसाला - पण्यशाला (स्त्री.) 5/380

जहाँ कुम्हार मिट्टी आदि के बर्तन बनाते हैं या बेचते हैं, उस दुकान को 'पण्यशाला' कहते हैं।

परिवार - परिवार (पुं.) 5/634

स्वयं को छोडकर स्त्री, बालकादि तथा दास-दासी, नौकर आदि युक्त (कुटुम्ब) को परिवार कहते हैं।

परिसा - पर्षत् (स्त्री.) 648

कुमत में प्रवृत्त ढोंगियों के मत का जिनके अन्तःकरण में असर न हो, गुण-दोष रुप विशेष परिज्ञान में कुशल, दोष होने पर भी दोष का त्याग कर केवल गुणग्राहक महाजन, नगरवासी, कोविद (विद्वान), मंत्री या रहस्यवालों (अन्तःपुर महत्तरिका, आचार्य और आलोचना ग्रहण करने वाला साधु) की बैठक या सभा को 'परिसा' (परिषद्) कहते हैं।

यहाँ पर्षदा के लौकिक और लोकोत्तर भेद से अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद वर्णित हैं। साथ ही चरमेन्द्र से लगाकर अच्युत देवलोक तक के इन्द्रों की पर्षदा का भी वर्णन किया गया हैं।

पुरवर धम्म - पुरवर धर्म (पुं.) 5/1010

प्रत्येक शहर में रहन-सहन, भाषा आदि के भिन्न-भिन्न नियम 'पुरधर्म' शब्द से कहे जाते हैं।

पूजण - पूजन (न.) 5/1073

सत्कार-पुरस्कार, वस्त्र-पात्रादि दान, सुगंधि माला आदि के द्वारा अर्चन, गुर्वादि को द्रव्य दान-अन्नदान-सत्कार-प्रणाम-सेवा आदि 'पूजन' कहलाता हैं।

पूया - पूजा (स्त्री.) 5/1073

प्रशस्त-मन-वचन-कायपूर्वक का पूजन, सत्कार, गायत्रीपाठादि संध्यार्चन, पुष्पादि से अर्चन, सुगंधिमाला-वस्त्र-पात्र-अन्न-पानी दान आदि, यथोचित पुष्प-फल-आहार-वस्त्रादि प्रदान आदि द्रव्यपूजा, स्तवनादि, चैत्यवंदन, स्वरुप भावना, गुणैकत्वरुप स्वरुप साधना-भावपूजा कहलाती हैं।

यहाँ साधु की भावपूजा, श्रावक द्वारा भावपूर्वक की गयी द्रव्यपूजा, गुरुपूजा, उचित-प्रतिपत्तिपूजा, बहुश्रुतपूजा आदि के स्वरुप का वर्णन किया गया हैं।

पोसहसाला - पौषधशाला (स्त्री.) 5/1139

लोकोत्तर पर्व के दिनों में पौषध (अनुष्ठान विशेष पूर्वक गृहस्थ का व्रतयुक्त साधुवत् जीवन), आदि ग्रहण करने एवं धार्मिक जनों को आराधना करने के लिए 'निरवद्य' साधारण स्थान को 'पौषधशाला' कहते हैं। यह यथावसर साधुओं को ठहरने के लिए उपाश्रय रुप में भी उपयोग में आती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंभण - ब्राह्मण (पुं.) 5/1271

अन्य दर्शनी पुराण के अनुसार ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं जबकि, जैन दर्शनानुसार श्री ऋषभदेव के ज्ञानोत्पन्न (ज्ञान रुप कुक्षी से व्रत अंगीकार करनेवाले) अहिंसा के पालक और उपदेशक श्रावक ही 'ब्राह्मण' कहलाते हैं।

बणिय - वणिज (पुं.) 5/1285

जो दुकान में बैठकर या बिना दुकान के व्यापार करते हैं, व्यापार ही जिनकी आय का साधन हैं, उन्हें 'वणिक' (वणिज) कहते हैं। ज्योतिष में 'वणिज' नामक एक कारण भी हैं।

वणियधम्म - वणिजधर्म (पुं.) 5/1285

व्यापारी के लिए न्याय (प्रामाणिकता) पूर्वक व्यापार करना 'वणिज धर्म' हैं। यहाँ अन्यायी व्यापारियों को 'प्रत्यक्ष चोर' की उपाधि देते हुए उनकी प्रपञ्च लीला का निदर्शन किया गया हैं।

बहुकम्म (ण्) - बधूकर्म्म 5/1297; बहुकर्मन् (न.)

विवाह के समय कन्या पक्ष द्वारा किये जानेवाले कार्यों को 'बहुकर्म' कहते हैं।

अन्य अर्थ में महाकर्म (महारम्भ-समारम्भ) अर्थात् एसे भारी कर्म जिससे अत्यधिक कर्मबन्ध हो, उसे 'बहुकर्म' कहते हैं।

भट्टायार - भ्रष्टाचार (त्रि.) 1341

ज्ञानाचारादि आचार या सदाचार का सर्वथा सर्वांग संपूर्ण नाश 'भ्रष्टाचार' कहलाता हैं।

भाउअदूईआ-भातृद्वितीयापर्व - 5/1486

भ्रातृद्वितयापर्व शब्द में नन्दिवर्धन राजा के उसकी बहिन के द्वारा कार्तिक सुदि द्वितीया के दिन सम्बोधित किये जाने और अपने घर आमन्त्रित कर भोजन कराने आदि की कथा का संकेत किया गया हैं।

मंगल - मङ्गल (पुं.) 6/5

वाञ्छित की प्राप्ति, श्रेय, कल्याण, गीत, विघ्नक्षय, दुरित के नाश हेतु स्वस्तिकादि, सुवर्ण, चन्दन, दही, अक्षत, दूर्वा, श्वेत सर्षप (सिद्धार्थ), दर्पण आदि, विवाहादि में पवित्र कलश (सफेद कलश), कमल, नन्दावर्त, वरमाला, गुलदस्ता, इष्टदेवतादि को नमस्कार, जय-विजयादि शब्द, स्तुति आदि मंगल के निमित्तों को 'मंगल' कहते हैं। यहाँ मंगल के भेद-प्रभेद का नय-निक्षेपपूर्वक वर्णन किया गया हैं।

ज्योतिष में अङ्गारक नामक ग्रह को 'मंगल' कहते हैं।

मडयदाह/मडासय/मसाण - श्मशान (न.) 6/169

यहाँ मडयदाह, मडासय और मसाण - ये तीनों शब्द जहाँ मृतक को अग्नि संस्कार होते हैं - 'श्मशान' लिए प्रयुक्त हैं।

मढ - मठ (पुं.) 6/74

व्रतियों के आश्रय स्थान को 'मठ' कहते हैं।

मणु - मनु (पुं.) 6/94

वैदिक मान्यतानुसार मनुष्यों के परम मूल पुरुष को, मनु के ग्रंथ को और मनुष्य को 'मनु' कहते हैं।

महच्चपरिसा - महार्च्य परिषद् (स्त्री.) 6/173

प्रधान पुरुषों (मुख्य व्यक्तियों) की सभा या पूज्यों की सभा महार्च्य परिषद् कहलाती हैं।

महाजण - महाजन (पुं.) 6/186

विशिष्ट पर्षदा को 'महाजन' कहते हैं।

महालय - महालय (पुं.) 6/210

महान् व्यक्तियों का निवास स्थान, महत्ता प्राप्त स्थान, राजमार्ग, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररु प मोक्षमार्ग, क्षेत्र या स्थिति रुप महान् स्थान और उत्सव के आश्रय भूत स्थान को 'महालय' कहते हैं।

महुस्सव - महोत्सव (पुं.) 6/233

बहुत लोग या बहुत गाँवों के लोग मिलकर जो उत्सव मनाते उसे 'महोत्सव' कहते हैं।

मिलक्खु - मलेच्छ (पुं.) 6/301

अव्यक्त भाषा और समाचार, जिनका समस्त व्यवहार सदाचार से विरुद्ध हो, आर्य देशोत्पन्न लोगों के द्वारा कही गई बात का निश्चयार्थ न जाननेवाले और बर्बर, शबर, पुलिन्द आदि हीन जाति के लोग 'मलेच्छ' कहलाते हैं।

लेहसाला - लेखशाला (स्त्री.) 6/696

अक्षरविन्यास शिक्षणशाला को 'लेखशाला' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोयाचार - लोकाचार (पु.) 6/755

प्राणियों के द्वारा किये गये कषाय हेतुक कर्मोपादान, संसार भ्रमण के हेतुभूत अनुष्ठान को 'लोकाचार' कहते हैं।

वण्ण - वर्ण (पुं.) 6/818

ब्राह्मणत्वादि चारों वर्ण, पीतादि वर्ण, अर्धदिग्व्यापि और सर्वदिग्वापी साधुवाद युक्तता लक्षण, श्रमणादि चतुर्विध संघ, वन्दन, संयम, मोक्ष, शरीर को अलंकृत करने का साधन, शरीर की छबि आदि के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं।

वत्थु - वस्तु (न.) 6/871; वास्तु (न.) 6/880

द्रव्य, पदार्थ, हेय-ज्ञेय-उपादेय पदार्थ/गुण आदि, गुणी, आचार्यादि महापुरुषों के विषय में नमस्कार योग्यता विषयक वर्णन, अधिकारित्व, पूर्वान्तर्गत अध्ययनगत भागविशेष, पक्ष (न्याय में), भाव, आदि अर्थ में वत्थु शब्द का 'वस्तु' पर्याय प्रयुक्त हैं।

'वास्तु' अर्थ में मकान के प्रकार वर्णित हैं, जैसे - **सेतु**- भूमिगृह; **केतु** - प्रासाद, गृह आदि; **खात**-भूमिगृह; **उच्छ्रित**-एक-दो मंजिला भवन/गृह आदि; **खातोच्छ्रित** - भूमिगृह सहित प्रासाद।

यहाँ भूमि परीक्षा की विधि बताते हुए कहा गया है कि घर या भूमि के मध्य एक हाथ-लम्बा-चौडा-गहरा खड्डा करके उसी मिट्टी को पुनः भरने पर यदि मिट्टी आदि कम पडे तो हीनभूमि, सम रहे तो बराबर और मिट्टी अधिक हो जाय (बच जाय) तो भूमि धन्य, लाभदायक और उत्तम जानना।

व्यवसाय सभा - व्यवसाय सभा (स्त्री.) 6/901

व्यवसाय की हेतुभूत सभा और देवेन्द्र की शास्त्रवाचनपूर्वक तत्त्वनिश्चयकरण सभा 'ववसाय सभा' कहलाती हैं।

ववहारि (ण्) - व्यवहारिन् (त्रि.) 6/635

व्यापार, क्रय-विक्रय आदि के कर्ता को व्यवहारी (व्यापारी) कहते हैं। यहाँ द्रव्य और भाव व्यापारी के भेद-प्रभेद और लक्षण दर्शाये गये हैं।

वाणपत्थ - वानप्रस्थ (पुं.) 6/1070

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति इन चार आश्रमों में तृतीय वानप्रस्थाश्रम में गृहस्थ का वन में जाकर निवास करना 'वानप्रस्थ' (आश्रम) हैं। यहाँ अनेक प्रकार के वानप्रस्थों का परिचय दिया गया हैं।

वावरणसाला - व्यावरणशाला (स्त्री.) 6/1101

जहाँ स्वयंवर हेतु अग्निकुण्ड में अग्नि नित्य प्रज्वलित रहता है उसे 'व्यावरण शाला' कहते हैं।

वित्ति - वृत्ति (स्त्री.) 6/1191

राजाज्ञापूर्वक की जानेवाली आजीविका, पन्द्रह प्रकार के कर्मादान, विविध अभिग्रह धारण करना, जीवन उपाय-जिससे नियुक्त पुरुष के पास 12 लाख स्वर्ण (मोहर) हो वह, आहार का 32 कवल परिमाण, अनुष्ठान, निवृत्ति, घ्राणेन्द्रिय (तांत्रिक परिभाषा में), सूत्र का विवरण, समुदाय, लक्षण, अवयवी का अवयव, और समवाय को 'वृत्ति' कहतें हैं।

विवाह - विवाह 56/1237

चारों वर्ण के विवाह योग्य कुलीन 12 वर्ष की कन्या और 16 वर्ष का पुरुष विवाह पूर्वक कुटुम्ब उत्पादन-परिपालनरुप व्यवहार करते हैं, उसे विवाह करते हैं या युक्तिपूर्वक वर निर्धारित करके अग्निदेवता आदि की साक्षीपूर्वक 'पाणिग्रहण करना' विवाह कहलाता हैं। विवाह के आठ प्रकार हैं -

1. ब्रह्म विवाह	-	अलंकृत कन्यादान
2. प्राज्यापत्य विवाह	-	विभवविनियोगपूर्वक कन्यादान
3. आर्ष विवाह	-	गाय के जोडे के दानपूर्वक का विवाह
4. देव विवाह	-	यज्ञ के लिए ऋत्विज को कन्यादान
5. गान्धर्व विवाह	-	माता-पिता-बन्धु आदि के द्वारा प्रामाणित न होने पर भी परस्पर अनुरागपूर्व का विवाह
6. आसुर विवाह	-	शर्तपूर्वक बन्धन होने से कन्यादान
7. राक्षस विवाह	-	कन्या की अनिच्छापूर्वक कन्याग्रहण
8. पैशाच विवाह	-	सोती हुई या प्रमादग्रस्त कन्या का ग्रहण

यहाँ पर यह भी सूचित किया गया है कि वर-वधु की इच्छापूर्वक किया गया विवाह अधर्म्य होने पर भी 'धर्म्य' हो जाता है।

शुद्धस्त्री की प्राप्ति विवाह का हेतु है। विवाह का फल सुजातपुत्र, संतति की प्राप्ति, स्वच्छंदचित्त की निवृत्ति, गृहकार्य की सुव्यवस्था, जाति की आचार विशुद्धि, देव-अतिथि-बन्धु आदि का सत्कार हैं। गृहकर्म विनियोग, परिमित अर्थसंयोग, अस्वतन्त्रता और सदाचार पालन 'कुलवधू' की रक्षा के उपाय हैं।

वेस - वेश (पुं.) नेपथ्य 6/1463, वेश्य (पुं.) साधुवेश; वैश्य (पुं.) वणिक; वेष (पुं.) वस्त्राभरण, नेपथ्य, निर्मल वस्त्र धारण; वेष्य (पुं.) वेषोचित

ऋषभदेव द्वारा गृहस्थावस्था में उपदिष्ट अग्नि आदि की उत्पत्ति के द्वारा लोहा, चकमक (अयस्कार) के द्वारा शिल्प तथा व्यापार के द्वारा जीवन यापन करनेवाले, तृतीय वर्ण के लोगों को 'वैश्य' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैश्य के लिए वेसिय-वैशिक (6/1465) शब्द भी प्रयुक्त हैं।

शस्तवाह - सार्थवाह (पुं.) 7/1

सार्थ (व्यापारियों का समूह) के अधिपति को सार्थवाह कहते हैं। सार्थवाह के लिए सत्थवाह (7/336) और सत्थिग (वही) शब्दों का भी प्रयोग किया गया हैं।

संघ - सङ्घ (पुं.) 7/77

'संघ' शब्द का अर्थ गुणों के समूह, समुदाय, कुलसमुदाय, गण, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रुप चतुर्विध संघ, गुणरत्नपात्र सत्वसमूह है।

संतिकम्मंत - शान्तिकर्मान्त (न.) 7/145

जहाँ शान्ति कर्म किया जाता हैं उसे 'संतिकम्मंत' कहते हैं।

संबाह - सम्बाध 7/205

तत्कालीन समाज में चारों वर्णों के लोगों के निवास स्थान, कोठार, धान्यादि रखने का सुरक्षित स्थान और अनेक प्रकार के लोगों से संकीर्ण स्थान को 'संबाह' कहते हैं।

सज्जण - सज्जन (पुं.) 7/278

सदाचारी मनुष्य को सज्जन कहते हैं। यहाँ आचार्यश्रीने द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका की बत्तीसवीं द्वात्रिंशिका के अनुसार सज्जन के भेदोपभेद दर्शाते हुए उनके गुण, लक्षणों का वर्णन किया हैं।

सत्थ (त्रि.) सार्थ (त्रि.) 7/335

व्यापारादि के विषय में सामूहिक रुप से गमनागमन करनेवाले समूह को 'सार्थ' कहते हैं। सार्थ भण्डी, वह्निका, भारवाहक, औदरिका और भिक्षाचर - रुप पाँच प्रकार से हैं।

सत्थविहान - सार्थविधान (नपुं.) 7/336

यहाँ पर गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य तथा द्रव्य - क्षेत्र-काल भाव से चार-चार प्रकार के सार्थ का परिचय दिया हैं।

सक्कार - सत्कार (पुं.) 7/263

सम्मान के रुप में वस्त्राभरण, आहार-पानी, धनदान, गुणकीर्तन, स्तवन-वन्दन, अभ्युत्थान-आसनदान, वन्दन, अनुगमन, अत्यादर, विनय-वंदन आदि रु प सत्कार किया जाता हैं।

सत्थिग - स्वस्तिक (पुं.) 7/337

स्वस्तिक भारतीय संस्कृति में और जैन परम्परा में मंगल का प्रतीक हैं।

सदायार - सदाचार 7/337

सर्वोपकार, प्रियवचन, प्रसन्नाकृति, स्नेह वर्षा आदि सज्जन के व्यवहार को सदाचार कहते हैं। सदाचार भारतीय संस्कृति का प्राण हैं, श्रावक का मुख्य गुण हैं।

सभा - सभा (स्त्री.) 7/396; सहा - सभा (स्त्री.) 7/603

सभ्य लोगों के या बहुत लोगों के सामूहिक रुप से बैठने के स्थान को 'सभा' कहते हैं। वाचनालय, कथा-विनोद-के लिए ठहरने का स्थान, या आगन्तुकों को ठहरने का स्थान-को भी सभा (सभा-भवन) कहते हैं।

सभावइ - सभापति (पुं.) 7/396

प्रज्ञा, आज्ञा, ऐश्वर्य, क्षमा, माध्यस्थ्य गुणों से युक्त सभानायक को 'सभापति' कहते हैं।

सिक्खा - शिक्षा (स्त्री.) 7/810

अभ्यास, व्यापार, ग्रहण शिक्षा, आसेवन शिक्षा (साधु जीवन की आचरण शिक्षा), उद्यमपूर्वक ग्रहण करने योग्य बात को शिक्षा कहते हैं। यहाँ शिक्षा ग्रहण के विधि-निषेध का भी वर्णन हैं।

सिट्ठ - शिष्ट (पं.) 7/816

व्रतधारी, ज्ञानवृद्धि की सेवा करनेवाला, सज्जन-संमत, विशिष्ट व्यक्ति, क्षीणदोष (जिसके दोष नष्ट हो गए है ऐसा) सम्यग्दृष्टि मनुष्य 'शिष्ट' कहलाता हैं।

सिट्ठाचारउ-शिष्टाचार (पुं.) 7/818

शिष्टों के द्वारा आचरण किया गया व्यवहार 'शिष्टाचार' कहलाता हैं।

तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नइसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेहिं ॥

-अ.रा.पृ. 3/443

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. राजनैतिक शब्दावली

राजनैतिक शब्दावली शीर्षक के अन्तर्गत राजा, राज्य और प्रशासन से संबन्धी शब्दों का परिचय प्रस्तुत किया गया हैं। राज्य के सात अंगों से सम्बद्ध शब्दावली का परिचय देने के लिए भी यह शीर्षक उपयुक्त है किन्तु अधिक विस्तार से बचते हुए केवल संकेत देने का प्रयास किया गया हैं।

अंतेउर - अन्त:पुर (न.) 1/101

राजा की स्त्रियों (रानियों) के निवास स्थान को 'अंत:पुर' कहते हैं। अभोग्य यौवनाओं का जुणंत:पुर, भोग्य यौवनाओं का नवंत:पुर, और राज कन्याओं का कन्यांत:पुर - इस प्रकार अंत:पुर के तीन प्रकार हैं। ये अंत:पुर राजमहल में होते हैं अथवा वसंतोत्सवादि के निमित अंत:पुर का स्त्री वर्ग उद्यान में आने पर वह भी अंत:पुर जैसा हो जाता हैं। दंडधर, दंडरक्षक, द्वारपाल और कंचुकी तथा महत्तर (पुरुष) अंत:पुर के रक्षक होते हैं। अंत:पुर राग-द्वेष का निमित्त होने से जैनागमों में जैन साधु को अंत:पुर में प्रवेश करने का निषेध किया हैं।

अकम्हा दंड - अकस्माद् दण्ड (पुं.) 1/122

राजादि के द्वारा अन्य को दण्ड देने पर अन्य निर्दोष को उस दण्ड के द्वारा दण्डित करने की क्रिया 'अकस्माद्दंड' कहलाती हैं।

अच्चीकरण - अर्चीकरण (न.) 1/195

राजादि के गुणों का प्रशंसा रुप से वर्णन 'अर्चीकरण' कहलाता हैं। वह संयम बाधक, शरीर बाधक, उपसर्गजनक, वैर-विरोध-कारक होने से भिक्षु के लिए अर्चीकरण निषिद्ध हैं।

अट्ठारससेणि - अष्टादशश्रेणि (स्त्री.) 1/253

1. कुम्हार, 2. पटेल, 3. सोनी, 4. दर्जी (सूचकार), 5. गांधी, 6. नाई (कासवगा), 7. माली, 8. कार्यकर, नौकर, दास., 9. तंबोली, 10. चमार, 11. यंत्रपीलक, 12. मलेच्छ (गंछिअ) 13. रंगकार-छीपा (छिंपय) 14. कसारा, 15. जुलाहा (बुनकर) 16.....(गुआर) 17. भील, 18. मच्छीमार - ये अठारह प्रकार की राजा की प्रजा होती हैं।

अमच्च - अमात्य (पुं.) 1/734

जिसने राजा के साथ में जन्म लिया हो, जो राज्य और राजा की हितचिंता करनेवाला हो, जो राजा को भी शिक्षा और हितशिक्षा देता हो, जो व्यवहार कुशल और नीतिकुशल हो उसे 'अमात्य' कहते हैं।

आईरण - आजीरण (त्रि.) 2/9

युद्ध में विजय प्राप्त करनेवाले को और राज्यावस्था में संग्राम विजेता (राजा) को 'आजीरण' कहते हैं।

आउहधरिय - आयुधगृहिक (पुं.) 2/52

आयुधशाला के अध्यक्ष (अधिकारी, रक्षक) को 'आयुधगृहिक' कहते हैं।

आरक्खिय - आरक्षिक (पुं.) 2/402

कोटवाल (नगर रक्षक) को 'आरक्षिक' कहते हैं।

उत्तरसाला-उत्तरशाला (स्त्री.) 2/795

क्रीडा गृह, हस्तिशाला, अश्वशाला और राजा के मूल गृह से अलग राजा का दूसरा अलग गृह 'उत्तरशाला' कहलाता हैं।

उवरोह - उपरोध (पुं.) 2/935

राजनीति में अन्य शत्रु राजा के सैन्य के द्वारा नगर/राज्य को घेरना - 'उपरोध' कहलाता हैं। अन्य जगह 'उपरोध' शब्द का अनुरोध, आवरण, बाधा, संघट्टन, नगर के किले के बाहर चारों और खाई इत्यादि अर्थ होते हैं।

कर - कर (पुं.) 3/356

प्रजा के द्वारा राजादि को देने योग्य भाग (धन, द्रव्य) को 'कर' कहते हैं।

कोडुंबिय - कौटुम्बिक (त्रि.) 3/677

'राजा' एवं राजकुटुम्ब के मुख्य सेवक को कौटुम्बिक' (पुरुष) कहते हैं।

गणराय - गणराज (पुं.) 3/821

प्रयोजन उपस्थित होने पर जहाँ 'गण' (प्रजा, समुदाय) निर्णय करता है, ऐसे गणप्रधान राजा को 'गणराज' कहते हैं।

अन्यत्र इसका अर्थ 'सेनापति' भी किया हैं।

गुम्मिय - गौल्मिक (पुं.) 3/934

जो राजपुरुष अपने स्थान पर रहता हुआ मुसाफिरों की रक्षा करता हैं, उसे 'गौल्मिक' कहते हैं। यह आरक्षकों का वरिष्ठ अधिकारी होता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोव - गोप (पुं.) 3/1011

यहाँ पर गोरक्षक, ग्रामरक्षक, भूमिरक्षक, समुदायाध्यक्ष आदि अर्थो में 'गोप' शब्द प्रयुक्त हैं।

णायग - नायक (पुं.) 4/2002

अभिधान राजेन्द्र कोश में राजनीति में राष्ट्रमहत्तर (राष्ट्रपति), नगरादि के प्रधान (मंत्री), अधिपति, स्वामी, मजदूरों के नेता, चक्रवर्ती, राजा, और प्रधान के अर्थ में 'नायक' शब्द प्रयुक्त हैं।

दंडणीइ - दण्डनीति (स्त्री.) 4/2422

अपराधियों को अनुशासित करने के लिए दण्ड देने की व्यवस्था/नीति दण्डनीति कहलाती हैं।

कुलकरों के राज्य में तत्कालीन समय में जैनागमों के अनुसार सर्वप्रथम हकार, मकार और धकार (धिक्कार) दंडनीति प्रारंभ हुई थी। (अ.रा.भा. 3 पृ. 593 'कुलगर' शब्द)

बल - बल (पुं.) 5/1287

शक्ति का संग्रह, सामर्थ्य, शारीरिक बल, मानसबल, देह प्राण, संहननविशेष से उत्पन्न प्राणशक्ति, भारवहनादि सामर्थ्य, हस्ति आदि वाहन, पायबल, अश्वबल, हस्तिबल और रथ बल रुप चतुरंगी सेना, सैन्य एवं अन्यान्य राजा, परिव्राजक आदि के नाम के लिए यहाँ बल शब्द प्रयुक्त हैं। यहाँ लौकिक शरीर बल में तीर्थंकर का सर्वश्रेष्ठत्व एवं दशविध अन्य प्रकार के बलों का उल्लेख किया गया है।

महत्तर - महत्तर (त्रि.) 6/174; महत्तरग - महत्तरक (पुं.) 6/174

अन्त:पुर के व्यवस्थापक, अन्त:पुर रक्षक (कञ्चुकी को छोडकर), गाँव का मुखिया, अपने आश्रित जनों का मुख्य पुरुष एवं राज्य के कर्मचारी (कार्यवर्ती) को 'महत्तर' या 'महत्तरग' कहते हैं।

महामंति - महामन्त्रिन् (पुं.) 6/208

मन्त्री मण्डल के वरिष्ठ (मुख्य) मंत्री को 'महामंत्री' कहते हैं।

रज्ज - राज्य (नपुं.) 6/476

जितने देशों में एक राजा की आज्ञा प्रवर्तित होती हैं, उतने देशप्रमाण राष्ट्र को 'राज्य' कहते हैं। स्वामी (राजा) अमात्य, राष्ट्र, कोश (निधि), बल (सेना), और सुहृत् (मित्र, दूत)-इन सात अङ्गो से युक्त 'राज्य' होता हे।

रज्ज धर्म - राजधर्म (पुं.) 6/478

प्रति राज्य में भिन्न कर (टेक्स) आदि को भरना 'राज्यधर्म' हैं।

रज्जवइ - राज्यपति (पुं.) 6/478

स्वतन्त्र राजा को 'रज्जवइ' कहते हैं।

रज्जाहिवइ - राज्याधिपति (पुं.) 6/478

राजा और महामंत्री को 'राज्याधिपति' कहते हैं।

रज्जुग सभा - रज्जुकसभा (स्त्री.) 6/481

राज्य के हिसाब-किताब हेतु लिपिकों की लेखशाला (कार्यालय) को 'रज्जुगसभा' कहते हैं।

राइट्टि - राजर्द्धि (स्त्री.) 6/509

राजसंपत्ति को राईट्ठि कहते हैं। वह तीन प्रकार की होती हैं : 1. अतियाम ऋद्धि 2. निर्याण (नगरनिर्गमन) ऋद्धि और 3. काष्ठागार ऋद्धि (बल, वाहन, कोष आदि)।

राय - राजन् (पुं.) 6/547

जो राज्य करते हैं ऐसे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, महामाण्डलिक एवं सामान्य राज्यकर्ता को राजा कहते हैं। वह आत्माभिसिक्त और पराभिसिक्त - ऐसे दो प्रकार के होते हैं। राजा के गुणों का वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने कहा है - राजा पाँचों प्रकार के कामभागों के सेवन में स्वाधीन, निरुद्विग्न, व्यापारविप्रमुक्त, निर्दोष, स्वस्तिकादि राजलक्षणों से विभूषित, प्रमुदित, निर्दोषमातृक, करुणायुक्त, मर्यादापालक, क्षेमंकर, पालक, रक्षक, शान्तिकर्ता, कल्याणकारी, समृद्ध, विपुल ऋद्धि एवं पुष्कल सैन्ययुक्त संपूर्ण पंचेन्द्रिय पूर्ण, उत्तमलक्षण युक्त, सुरुप, श्रृङ्गारयुक्त, विद्वान् एवं व्यवहारपटु होता हैं।

रायणीइ - राजनीति (स्त्री.) 6/550

राजाओं की नीति, राजाओं को राज्य संचालन हेतु जानने योग्य साम आदि (साम, दाम, दंड, भेद) उपाय और उन विषयों के प्रतिपादक शास्त्रों को 'राजनीति' कहते हैं।

रायलक्खण - राजलक्षण (न.) 6/558

राज्य सूचक चिह्न और शुभ लक्षणयुक्त अङ्गोपाङ्ग 'राजलक्षण' कहलाते हैं।

राहहाणी - राजधानी (स्त्री.) 6/559

जहाँ राजा का राज्याभिषेक किया जाता है, जहाँ राजा स्वयं रहता है, राज्य के बीच स्थित मुख्य नगरी को 'राजधानी' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संतिधर - शान्तिगृह (नपुं.) 7/145

जहाँ राजाओं के शान्तिकार्य, होमादि किये जाते हैं, उसे 'शान्तिगृह' कहते हैं।

सत्तंग - सप्ताङ्ग (नपुं.) 7/313

राज्य के (1) राजमंत्री (2) मंत्री निवास (3) अर्थलाभ (4) कोश (निधि) (5) राष्ट्र (6) दुर्ग (7) सैन्य लेक्षण रुप - ये सात अंग हैं।

अट्ठिजुद्ध - अस्थियुद्ध (न.) 1/255

'जिस युद्ध में प्रतिपक्षी के उपर हड्डियों से प्रहार किया जाता है, उसे 'अस्थियुद्ध' कहते हैं।

आइ - आजि (स्त्री.) 2/2

राजनीति में 'संग्राम' और 'युद्धभूमि' के अर्थ में 'आजि' शब्द प्रयुक्त हैं। साथ ही अन्य जगह इसका क्षण, मार्ग और मर्यादा अर्थ भी होता है।

आउह - आयुध (न.) 2/52

'शस्त्रो' को आयुध कहते हैं। इनके तीन प्रकार हैं - (1) प्रहरण - हाथ में पकडकर प्रहार किया जाय, जैसे तलवार आदि (2) हस्तमुक्त - हाथ से फेंककर प्रहार किया जाय - चक्रादि (3) यन्त्रमुक्त - बाण आदि। ये सब युद्ध के साधन होने से उन्हें 'आयुध' कहते हैं।

आरक्ख - आरक्ष (पुं.) 2/402

सैन्य रक्षक को 'आरक्ष' कहते हैं।

कयकरण - कृतकरण (त्रि.) 3/347

प्रकरणानुसार धनुर्विद्या के अभ्यास के विषय में और सहस्र योधा के साथ युद्ध करनेवाले योधा के लिए 'कयकरण' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं। अन्यत्र विविध तपस्या के द्वारा परिकर्मित शरीर और अनेक प्रकार के अनुष्ठान के लिए भी 'कयकरण' शब्द का प्रयोग देखने में आता हैं।

कवय - कवच (पु.) 3/386

योद्धा के द्वारा युद्ध के समय शस्त्रादि की धार से रक्षा हेतु धारण किये जानेवाले लोहमय आवरण (वस्त्र) को 'कवच' कहते हैं।

चउरंगिणी - चतुरङ्गिणी (स्त्री.) 3/1055

हस्ति, अश्व, रथ और पैदल - इन चार प्रकार की सामूहिक सेना को 'चउरंगिणी' कहते हैं।

चमू - चमू (स्त्री.) 3/1118

सेना के लिए 'चमू' शब्द का प्रयोग किया गया हैं। यह शब्द प्रमाणविशेष युक्त सैन्यबल के अर्थ में भी परिभाषित हैं।

जुज्झ - युद्ध (नपुं.) (घा.) 4/1576

शत्रुओं के प्राणनाश के अध्यसाय पूर्वक शस्त्र फेंकने का व्यापार, संग्राम, आयुध फेंकना, तथा मुष्ठी आदि से परस्पर ताडन, बाहुयुद्ध, आदि को 'युद्ध' कहते हैं। यहाँ द्रव्य से संग्राम, भाव से परिषह सहन को 'युद्ध' कहा हैं। द्रव्य युद्ध अनार्य और भाव युद्ध आर्य माना गया हैं।

जुज्झंग - युद्धाङ्ग (नपुं.) 4/1576

रथ, हस्ति, अश्वादि वाहन, कवच, खड्ग आदि शस्त्र, तथा युद्ध में कौशल्य, प्रावीण्य, नीतिज्ञता, दाक्षिण्य, व्यापार, स्वस्थ पंचेन्द्रियपूर्ण शरीर-आदि को युद्धांग कहते हैं।

जुज्झणीइ - युद्धनीति (स्त्री.) 4/1576

युद्ध में व्यूह रचना, संग्राम में प्रवेश और निर्गमन आदि को 'युद्धनीति' कहते हैं।

जुज्झाइजुज्झ - युद्धतियुद्ध (नपुं.) 4/1576

जिसमें शत्रु का अवश्य घात हो, उसी प्रकार से शस्त्रों का क्षेपण होता है, ऐसे महायुद्ध को 'युद्धातियुद्ध' कहते हैं।

जोह - योध (पुं.) 4/1658

शत्रुओं को नष्ट करने वाले सैनिकों को योध (योद्धा) कहते हैं।

धणुबल - धनुर्बल (नपुं.) 4/2658

धनुर्धारी सेना को 'धणुबल' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धण - धन्व (नपुं.) 4/2659; धन्वन् (नपुं.) 4/2659

यहाँ पर धनुष् और चाप के लिए 'धण' शब्द प्रयुक्त हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने 'धन' - इस प्राकृत शब्द के अन्य अर्थ निम्नानुसार बताये हैं -

'धण ध्वाने (भ्वादि), ध्वण (ध्वन चुरादि), धन धान्योत्पदने (जुहोत्यादि), -इन धातुओं के अर्थ में (अ.रा. 4/2644); वस्तु, धन, सोना-चाँदी, गाय-भैंस घोडे आदि; गुड-शकर, गणिम (जायफलादि), धरिम (कुकुम आदि), मेय (तेल-घी-आदि), परिच्छेद्य (रत्न-वस्त्रादि) ये चार प्रकार के धन; स्नेह, धनिष्ठा नक्षत्र, राजगृही का धन सार्थवाह (4/2645); धन्य, धनार्थी, धनलाभ योग्य, साधु, पुण्यवान्, श्रेयस्कर, सत्पुरुष, अश्वकर्ण वृक्ष, कृतार्थ, अर्थशास्त्र, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररुपी धन, काकन्दी एवं राजगृह का धन सार्थवाह, पार्श्वनाथ प्रभु का प्रथम भिक्षादाता श्रावक, अनुत्तरोपपातिकदशांग के तृतीय अध्ययन का नाम, आमलकी, धन्याक, सुरादेव श्रावक की भार्या, मरुदेश, धान्य, इत्यादि (अ.रा. 4/2695) अर्थों में 'धण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

बल - बल (नपुं.) 5/1287)

संहननविशेष के कारण उद्भूत प्राण बल (प्राण) है। यह शारीर और मानस दो प्रकार का होता हैं।

महासंगाम - महासंग्राम (पुं.) 6/214

चक्रव्यूह आदि व्यूहरचनापूर्वक सैन्य को व्यवस्थित करके किया जानेवाला युद्ध 'महासंग्राम' कहलाता हैं।

महसत्थ - महाशस्त्र (नपुं.) 6/214

उन अस्त्रों की उद्भूतशक्ति के कारण 'नागबाण' आदि दिव्य अस्त्रों को 'महाशस्त्र' कहते हैं ।

महासिलाकंटय - महाशिलाकंटक (पुं.) 6/219

जिस युद्ध में हस्ति, अश्वादि को तृणादि से किया गया प्रहार भी बडी शिला के प्रहार जैसी वेदना उत्पन्न करता था ऐसा राजा कोणिक और राजा चेटक के बीच हुआ सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र की सहाययुक्त महायुद्ध 'महासिलाकंटक' के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

रहमुशल - रथमुशल (पुं.) 6/499

जहाँ चमरेन्द्र देव के प्रभाव से (बिना योद्धा के) मुशलयुक्त रथने दौडकर महाजनों का क्षय किया, एसे राजा कोणिक के पुत्रों और राजा चेटक का ऐतिहासिक युद्ध 'रथमुशल' संग्राम के नाम से जाना जाता हैं ।

वुग्गह - व्युद्ग्र (पुं.) 6/1411

दण्डादि प्रहार पूर्वक किये जानेवाले युद्ध को 'व्युद्ग्रह' कहते हैं ।

संगाम - संग्राम (पुं.) 7/76

बडे लोगों के समक्ष होते क्लेश (तंदुलीय सूत्र) या रण के अग्रिम भाग के युद्ध को संग्राम (सूत्रकृतांग 1/3/1) कहते हैं ।

संगामिया - संग्रामिकी (स्त्री.) 7/76

युद्ध का समय उपस्थित होने पर सामन्तादि की जानकारी हेतु जो वाद्य (नगाडा) बजता हैं, उसे 'संगामिया' कहते हैं ।

सणाह - सन्नाह (पुं.) 7/306

तलवार आदि शस्त्र को सन्नाह कहते हैं ।

सत्थ - शस्त्र (नपुं.) 7/334

तलवारादि आयुध को 'सत्थ' कहते हैं। अग्नि, विष आदि स्वकायिक, परकायिक भेद से द्रव्य उपकरण है, जबकि, असंयम से दुर्ध्यान में लीन मन-वचन-काय भाव-शस्त्र हैं। जीवों के ऊपर शासन के लिए शस्त्र होते हैं।

सव्वबल - सर्वबल (न.) 7/594

हस्तिसैन्यादि समस्त सैन्य के विषय में 'सव्वबल' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं।

सहस्सजोहि - सहस्रयोधिन् (पुं.) 7/603

सहस्र मल्लों (योद्धाओं) के साथ एकाकी ही युद्ध करनेवाले योद्धा को 'सहस्रयोधी' कहते हैं ।

सूर - शूर (पुं.) 7/1029-30

युद्ध में जो वीर होते हैं उनको 'शूर' कहते हैं।

"चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकरसारः परिजनो,
नृपत्वाद् यल्लभ्यं चलममरसौख्यं च विपुलम् ।
चलं रुपारोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,
जनो दूष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः ॥

– अ.रा.पृ. 1/845

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. दार्शनिक शब्दावली

दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक विषय (शास्त्र) का अपना एक दर्शन होता है किन्तु यहाँ पर मात्र उन शब्दों को समाहित किया गया है जो समीक्षकों की परिभाषा में दर्शन विषय से सम्बद्ध हैं। इसमें तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा-दोनों ही दर्शन शाखाओं का समावेश है। आचारपरक शब्दावली का विस्तार पूरे शोध प्रबन्ध में किया गया होने से यहाँ उसका ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा गया हैं एवं तर्कविद्या को प्रमाण के अन्तर्गत मान कर उसे कोई पृथक् शीर्षक नहीं दिया गया हैं।

अइंदिय - अतीन्द्रिय (त्रि) 1/1

इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा अगम्य, आगम और उपपत्ति के द्वारा जानने योग्य (केवल युक्ति के द्वारा नहीं जानने योग्य) पदार्थ अतीन्द्रिय कहलाते हैं।

अउअसिद्ध - अयुतसिद्ध 1/34

किसी के द्वारा नहीं जोडे गए, अपने आप स्वयं जुडे हुए पदार्थ (समवाय) को 'अयुतसिद्ध' कहते हैं। यह वैशेषिक दर्शनोक्त पदार्थ गुण हैं।

अकिरियावाइन् - अक्रियावादिन् 1/126

वस्तु के यथावत् क्रिया स्वरुप को न प्रतिपादित करते हुए भिन्न प्रकार से कहने वाले अक्रियावादी कहे जाते हैं। एकान्तवादियों में वस्तु के क्रियारुप को भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया जाता है। कुत्सित के अर्थ में नञ्-समास के द्वारा 'अक्रिया' शब्द निष्पन्न होता है। 'अक्रियावादिन्' के भिन्न-भिन अर्थ किये गये हैं, यथा-

1. **प्रतिक्षण अनवस्थित पदार्थ के क्रिया संभव ही नहीं हैं, उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका विनाश हो जाने से -एसा मानने वाले।**
2. **जीवादि पदार्थ की सत्ता ही नहीं है- ऐसा मानने वाले।**
3. **माता-पिता उत्पत्तिकारण नहीं है- ऐसा मानने वाले।**

अक्रियावादियों के चौरासी भेद किये गये हैं-

जीव स्वत: काल से नहीं है, जीव परत: काल से नहीं हैं, इसी प्रकार यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा इस प्रकार इन पांच भंगो से पृथक्-पृथक् दो-दो भेद करने पर बारह विकल्प हो जाते हैं। जिस प्रकार जीवतत्त्व संबन्धी बारह भेद हैं, उसी प्रकार अजीव, आस्रव आदि छह पदार्थो से भी बारह-बारह भेद बनते हैं। इस प्रकार समस्त भेदविकल्प चौरासी हो जाते हैं।

अभिधान राजेन्द्र में अक्रियावादियों में बौद्धों और सांख्यों का भी उल्लेख किया गया है। चार्वाक् तो साक्षात् अक्रियावादी ही हैं। इस शब्द के अन्तर्गत अक्रियावादियों का खंडन भी किया गया हैं।

अग्गिहोत्तवाइ (ण्) - अग्निहोत्रवादिन् - 1/180

अग्निहोत्र (यज्ञ) से स्वर्ग गमन की इच्छावाले एवं ऐसी प्ररुपणा करनेवालों को 'अग्निहोत्रवादी' कहते हैं। यहाँ इनका कुशीलत्व बताया हैं।

अजाणिया - अज्ञिका (स्त्री) 1/202

मुग्ध स्वभाववाली, सम्यग्परिज्ञान तथा विशिष्ट गुणरहित पर्षदा को 'अजाणिया' पर्षदा कहते हैं।

अजीव - अजीव (पुं.) 1/203

जीव से भिन्न अजीव द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं कालद्रव्य को 'अजीव' कहते हैं। यहाँ अजीव द्रव्य की द्रव्यादि चारों निक्षेपों से भेद प्रभेद पूर्वक व्याख्या की गई हैं।

इसके साथ ही 'अजीवकाय', अजीव द्रव्यविभक्ति, अजीवपर्याय, अजीवप्रज्ञापना, अजीवराशि, अजीवविचय, अजीवाभिगम आदि शब्दों पर भी अजीव द्रव्य के बारे में संक्षिप्त चर्चा की गई हैं।

अज्झत्थ - अध्यात्म (व) 1/227, 229

आत्मा से संबंधित, मन संबंधी, ध्यान, सुख, दु:ख, धर्मध्यानादि भावना के विषय में 'अध्यात्म' शब्द का प्रयोग होता हैं।

अज्झत्तओग - अध्यात्मयोग (पुं.) 1/227

नियमय (रागद्वेषरहित) नि:संग शुद्धात्मभावना से भावित अंत:करण के स्वभाव धर्म को 'अध्यात्मयोग' कहते हैं। अध्यात्मज्ञाता अणुव्रत या महाव्रतयुक्त, जिनागम-तत्त्वचिन्तनरुप जीवादि पदार्थो के स्वरुप का चिन्तक, मैत्र्यादि भावयुक्त होता हैं।

अज्झवसाण - अध्यवसान (न) 1/232

अति हर्ष या विषाद से तत्संबन्धी अधिक चिन्तन को, राग, भय और स्नेह रुप अध्यवसाय, अन्त:करण की प्रवृत्ति, मन के परिणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और प्रकर्ष प्रयत्न को 'अध्यवसान' कहते हैं।

अज्झवसाय - अध्यवसाय (पुं.) 1/232

जैनागमों में सूक्ष्म आत्म परिणामों को 'अध्यवसाय' कहते हैं जिसे नैयायिक-आत्म धर्म, वेदान्ती-बुद्धिधर्म, बौद्ध-इन्द्रियवृत्ति, सांख्य-सात्त्विक चित्तवृत्ति और वाचस्पति कोश-उत्साह कहते हैं।

अट्ठबुद्धिगुण - अष्टबुद्धिगुण (पुं) 1/247

शुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारणा, ऊहा, अपोह, अर्थविज्ञान और तत्त्वज्ञान - ये आठ बुद्धि के गुण हैं। जो मनुष्य इसे धारण करता है उसका कभी भी अकल्याण नहीं होता।

अणाइसिद्धांत - अनादि सिद्धांत (पुं.) 1/306

अनादि काल से सिद्ध वाच्य-वाचक संबन्धरुप अन्त (वचन, वाक्य, सिद्धांत) को 'अनादि सिद्धांत' कहते हैं ।

अणागत कालग्गहण - अनागत कालग्रहण - 1/306

भविष्यकाल (निमित्तज्ञानादि से संभावित अनुमानित भविष्यवाणी) संबन्धी ग्राह्य वस्तु के भेद रुप काल ग्रहण को 'अणागत कालग्गहण' कहते हैं। यह अनुमान प्रमाण का एक भेद है। जैसे-मेघगर्जना, प्रदक्षिणावर्त वायु, नक्षत्र-योग आदि से सुवृष्टि की भविष्यवाणी करना।

अणिक्कावाई (ण्)-अनेकवादिन् (पुं.) 1/331

जो लोग सभी पदार्थों में सर्वथा नितान्त भेद मानते हैं उन्हें अनेकवादी कहते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि पदार्थों को कथञ्चित् अभिन्न माना जाये तो जीव, अजीव, बद्ध, मुक्त, सुखी, दुःखी आदि के एक होने से दीक्षा आदि प्रयत्न व्यर्थ हो जायेंगे।

अणुओग - अणु (नु) योग - (पुं) 1/340

'महान् अर्थ का सूत्र के साथ योग होना' - 'अनुयोग' कहलाता हैं। अनुकूल योग या व्याख्यान में अर्थप्ररुपणा संबन्धी विधि-प्रतिषेध को भी 'अनुयोग' कहते हैं।

यहाँ पर आचार्यश्रीने 23 द्वारों में अनुयोग के द्वारों के नाम, निक्षेपद्वार, नामस्थापनानुयोग, द्रव्यानुयोग, उसके भेद और उनका स्वरुप, क्षेत्रानुयोग, कालानुयोग, वचनानुयोग, भावानुयोग और उसके प्रकार, अनुयोग विषयक द्रव्यों का परस्पर समावेश या भजना (विकल्प), एकार्थिकों की वक्तव्यता, अनुयोग शब्दार्थनिर्वचन, अनुयोगविधि, प्रवृत्तिद्वार, गुरु-शिष्य की चतुर्भङ्गी, अनुयोगाधिकारी, अनुयोग का विषय (किसको कौन से शास्त्र का अनुयोग करना), श्रुतज्ञानानुयोग, अनुयोगलक्षण, योग्यताद्वार, कथाधिकार, चरणकरणादि अनुयोग के चार प्रकार का निरुपण और आचार्य आर्यरक्षितसूरि के द्वारा अनुयोगों का पृथक्करण इत्यादि बातों का यथासंक्षेप-विस्तारपूर्वक वर्णन किया हैं।

अणुभव - अनुभव (पुं.) 1/392

स्मृति से भिन्न ज्ञान 'अनुभव' हैं। विषयानुरुप होने की बुद्धि की वृत्ति 'अनुभव' कहलाती हैं। अनुभव को नैयायिक-प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों से, वेदान्ती और मीमांसक अर्थापत्ति और उपलब्धि - इन दो भेदों से, वैशेषिक और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान से, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द - इन तीन प्रमाणों से, और चार्वाक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से मानते हैं।

अणुमान - अनुमान (पुं.) 1/101 थी 409

लिङ्ग-लिङ्गी संबन्ध के ग्रहण से स्मरणानन्तर देश-काल और स्वभाव से विशेष अर्थ जिस ज्ञान विशेष के द्वारा ज्ञात किया जाता है, उसे 'अनुमान' कहते हैं। लिङ्ग और लिङ्गी में अविनाभाव संबन्ध होने से और साध्य निश्चायक होने से अनुमान भ्रान्तिरहित होता हैं। यह प्रमाण का द्वितीय भेद हैं।

यहाँ पर आचार्यश्रीने स्याद्वादमञ्जरी के अनुसार अनुमान प्रमाण को नहीं माननेवाले चार्वाकों का युक्तिपूर्वक खंडन किया हैं। साथ ही रत्नाकरावतारिकानुसार स्वार्थ और परार्थानुमान का एवं अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत् और अदृष्ट साधर्म्यवत् - इन तीनों भेदों की उनके भेद-प्रभेद सह विस्तृत चर्चा की है और सामान्य, विशेष रुप भेदपूर्वक दृष्ट अनुमान की भी चर्चा की हैं। इसके साथ ही अनुयोगद्वार सूत्रानुसार अनुमान के अतीत-प्रत्युत्पन्न और अनागत - इन तीनों कालाश्रित भेदों का विस्तृत वर्णन करने के बाद प्रमाण के आधार-रुप वाक्यों के प्रतिज्ञादि दश अवयवों का दशवैकालिक निर्युक्ति के आधार पर एवं पक्षादि पाँच अवयवों का रत्नाकरावतारिका के आधार पर वर्णन किया हैं।

अणेगंतवाय - अनेकान्तवाद (पुं) 1/423

इस विश्व में अनन्त वस्तुएँ हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक हैं। अतः अनेकान्तवाद उन अनन्त धर्मों को भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से देखकर पदार्थ का सत्य स्वरुप समझाने का उपाय करता हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'अनेकान्त' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा हैं-

"अम्यते गम्यते निश्चीयते इति अन्तः धर्मः ।
('अणेगन्तप्पग' शब्दके अन्तर्गत)
न एको ऽनेकः । अनेकाश्चऽसावन्तश्चानेकान्तः ।
स आत्मस्वभावो यस्य वस्तु जातस्य तदनेकान्तात्मकम् ।"[1]

1. अ.रा.भा. 1/423

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसके द्वारा निश्चय किया जाता है वह 'अन्त' हैं और 'अन्त' शब्द का अर्थ है-धर्म, जो एक न हो वह अनेक है; अनेकधर्मयुक्त पदार्थ ही अनेकान्त हैं। 'अनेकान्त' युक्त वाद अनेकान्तवाद हैं। 'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्'[2] - यह जैनदर्शन का सिद्धान्त हैं।

पदार्थ अनन्तधर्मात्मक होने से एक पदार्थ को अनेक दृष्टिकोण से देख सकते हैं। सभी धर्म परस्पर विरोधी नहीं है। परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले विपरीत धर्म भी एक ही पदार्थ में विभिन्न अपेक्षाओं से निहित होते हैं। जैसे कि एक मनुष्य में उपाधिभेद से अनेक धर्म हैं, अनेकों का संबंध है, उन सम्बन्धों से पुकारा जानेवाला वह किसी का पिता है किसी का पुत्र, किसी का मामा है किसी का भांजा, इत्यादि।[3] उसमें अनेकधर्म (संबंध) होने से वह अनेक संज्ञाओ से सम्बोधित किया जाता है। देखने पर एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व-पितृत्व आदि परस्पर विरोधाभासी धर्म हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुत: एक में सभी धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से सन्निहित हैं।

इस तरह विभिन्न अपेक्षा से एक ही वस्तु में विभिन्न धर्म रहते हैं। मुख्य और गौण अपेक्षा ही इसका आधार हैं। पदार्थ के नित्य-अनित्य, सत्-असत् इत्यादि धर्म अपेक्षा से ही कहे जा सकते हैं। बिना अपेक्षा के पदार्थ का सम्यक् स्वरुप नहीं समझा जा सकता हैं। **प्रस्तुत कोश में "अर्पितानर्पितसिद्धेः।"[4] इस तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र का विश्लेषण इस प्रकार किया हैं-**

वक्ता जब एक धर्म का प्रतिपादन करता है तो दूसरा धर्म गौण कर देता है, और जब दूसरे धर्म को कहता है तो अन्य धर्म को गौण कर देता हैं। यही पदार्थ के कथन का क्रम हैं। एक वस्तु में अपेक्षापूर्वक परस्पर विरोधी पृथक्-पृथक् धर्मो को स्वीकार करना ही सापेक्षवाद है। सत्य सदा बह्वयामी होता हैं। सत्य कभी भी एकान्तिक रुप से सम्पूर्ण नहीं होता; सत्य सदा सापेक्ष होता हैं।

इस प्रकार विश्व के प्रत्येक पदार्थ में सापेक्ष रीति से अनन्त धर्म विद्यमान हैं। प्रस्तुत कोश में वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता को बडे ही रोचक ढंग से उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुत किया गया हैं-

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिः स्वयम् ।
शोकप्रमोद-माध्यस्थं, जनो याति सहेतुकम् ।[5]

अर्थात् स्वर्णघट, स्वर्णमुकुट और स्वर्ण खरीदने के इच्छुक तीन व्यक्ति स्वर्णकार के पास जाते हैं। स्वर्णकार कलश को गलाकर स्वर्णमुकुट बना रहा था। उसे देखकर स्वर्ण कलशार्थी शोकातुर हुआ, तो मुकुट का इच्छुक प्रसन्न। किन्तु जो स्वर्ण चाहता था, उसे न तो हर्ष हुआ न तो विषाद, वह मध्यस्थ रहा। इसका कारण क्रमशः घट का नाश, मुकुट की उत्पत्ति और स्वर्ण की नित्यता थी। इसी संदर्भ में एक और अन्य उदाहरण दिया गया हैं-

पयोव्रती न दध्यति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रती नोभे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् ।[6]

दूधमात्र के व्रतवाला दहीं नहीं खाता और दही के व्रतवाला दूध नहीं पीता, गोरस के व्रतवाला दूध-दहीं दोनो नहीं लेता। इसलिए पदार्थ में तीनों गुण विद्यमान हैं - उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य।

उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि गोरस में दहीं के भाव की उत्पत्ति है, दूध के भाव का व्यय है और गोरसत्त्व की स्थिरता हैं, अतः इस तत्त्व के रहस्य को समझनेवाला कोई भी मनीषी स्याद्वाद का विरोधी नहीं हो सकता हैं।

उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयिनाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्वोदधिः ॥[7]

अर्थात् जैनदर्शनरुप समुद्र में अनेक सरिताएँ विभिन्न दर्शनों के रुप में समाविष्ट है परंतु उन-उन सरिताओं में समुद्र नहीं होता। वैसे अन्य दर्शनों में जैनदर्शन नहीं है, परन्तु अनेकांत दृष्टि से वे सभी अन्य दर्शन जैनदर्शन का एक अंश हैं।

अपनी समन्वय भावना का परिचय देते हुए आचार्यश्रीने राजेन्द्र कोश में कहा है - विभिन्न मिथ्या दर्शनों का समूह, अमृत तुल्य, क्लेशनाशक और मुमुक्षु आत्माओं के लिए सहज-सुबोध-परमात्म-जिनप्रवचन का मंगल हो।[8] क्योंकि अनेकान्त दृष्टि से युक्त होने पर मिथ्या दर्शनों का समूह भी सम्यग्दर्शन बन जाता हैं।[9]

एकान्त और अनेकान्त में मौलिक भेद यह है कि एकान्त कथन में 'ही' का आग्रह करता हैं और अनेकान्त कथन में 'भी' का

---

2. तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु, जीवाऽऽजीवलक्षणं, अनन्तधर्मात्मकमेव,....। -अ.रा.पृ.1/425
3. अ.रा.भा. 1/430
4. अ.रा.भा. 7/315, 316; तत्त्वार्थ सूत्र-5/31
5. अ.रा.पृ. 1/425
6. वही
7. अ.रा.पृ. 4/1885 एवं 1890
8. भद्दं मिच्छ दंसण - समूह महियस्स अमयसारस्स ।
   जिण वयणस्य भगवओ, संविग्ग सुहाहि समस्स ॥ -अ.रा.पृ. 4/1503
9. अ.रा.पृ. 7/707

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आग्रह रहता है इतना ही नहिं अपितु अनेकान्त कथन में 'भी' के सदाग्रह की प्रधानता रहती हैं। एकान्त को मिथ्यात्व कहा गया है और जिनाज्ञा को अनेकान्त; एकान्त कथन मिथ्या है जबकि सापेक्षकथन (अनेकान्त वचन) सत्य हैं।[10]

समस्त विवादों-कलहों का हल निकालने के लिए, चाहे वह व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक, धार्मिक हो या सामाजिक, सर्वत्र अनेकान्त की गति है और उसी का प्रभाव है। इस तथ्य को दृष्टिपथ में रखते हुए आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने भी अनेकान्त को नमन किया हैं। वे लिखते हैं -

जेण विणा लोगस्सवि, ववहारो सव्वहा ण णिव्वडई ।
तस्स भुवणैकगुरुणो, णमो अणेगंतवायस्स ॥[11]

जिसके बिना लोक का भी व्यवहार सर्वथा चल ही नहीं सकता, ऐसे संसार के एकमात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो। इसी तरह 'अनेकान्त' को दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने भी नमस्कार किया है-

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध-सिन्धुरविधानम्
सकलनयविलसितानां विरोध-मन्थनं नमाम्यनेकान्तम् ॥[12]

अनेकान्त दृष्टि के माध्यम से बौद्धिक प्रगति, सहिष्णु जीवन, विश्वबन्धुत्व आदि भी संभव हो सकते हैं। स्याद्वादी सहिष्णु होता है।

इसके आगे आचार्य हेमचन्द्रसूरि द्वारा प्रणीत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका और उस पर आचार्य मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्वादमंजरी टीका के आश्रय से सर्वथा एकान्तवाद का खंडन और कथञ्चिद् एकान्त और अनेकान्त का मंडन प्रस्तुत किया गया हैं। इसी प्रकरण में क्रमप्राप्त बौद्धादि दर्शनों का भी खंडन किया गया हैं।

अण्णाणियवाई (ण्) अज्ञानिकवादिन् (पुं.) 1/493

'अज्ञान ही श्रेय (कल्याणकारी) हैं।' -इस प्रकार प्रतिज्ञा करके वाद करने वालों को 'अज्ञानवादी' कहते हैं।

अत्थणय - अर्थनय (पुं.) 1/509

जिस नय में अर्थ की प्रधानता पूर्वक शब्दों का निरुपण हो उसे 'अर्थनय' कहते हैं। इस दृष्टि से शब्दनय ही अर्थनय है। वह संग्रहनय, व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय के द्वारा कहे गये वचनों के अर्थ को आश्रित (मुख्य) करके वाक्य को ग्रहण करता हैं।

अत्थवाय - अर्थवाद (पुं.) 1/511

शब्द के अर्थ को प्रधान करके (1) स्तुति या (2) निन्दा - इन दोनों प्रकार से किये गये वाद को 'अर्थवाद' कहते हैं।

अत्थावत्ति - अर्थापत्ति (स्त्री) 1/512

'(शब्द के) अर्थ के पक्ष में अनुक्त अर्थ की सिद्धि' अर्थापति कहलाती हैं। अथवा प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों के द्वारा प्रसिद्ध अर्थ जिसके बिना उत्पन्न नहीं होता उस अर्थ की प्रकृष्ट कल्पना को 'अर्थापत्ति' कहते हैं, जैसे -'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' -देवदत्त मोटा है (और) दिन को नहीं खाता, अर्थात् 'रात को खाता हैं।' यह अर्थापत्ति है। दार्शनिक अर्थापत्ति को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं।

अत्थावत्तिदोस - अर्थापत्तिदोष (पुं) 1/513

जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा अनिष्ट का आलाप किया जाता हैं वहाँ 'अर्थापत्तिदोष' उत्पन्न होता हैं। जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः।' - इस वाक्य से यदि ऐसी अर्थापत्ति की जाय कि, 'अब्राह्मणो हन्तव्यः' -तो यह 'अर्थापत्तिदोष' हैं।

अत्थिकाय- अस्तिकाय (पुं.) 1/513

अभूवन् - भवन्ति - भविष्यन्ति - अर्थात् भूत - वर्तमान और भविष्य रुप त्रैकालिक भावों को 'अस्ति' कहते हैं। उनके प्रदेशों के समूह/काय को 'अस्तिकाय' कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीवादि छः द्रव्यों में जीवास्तिकाय जीव अस्तिकाय है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय - ये चार अजीव आस्तिकाय हैं। इसमें धर्म-अधर्म-आकाश और जीव ये चार अरुपी 'अस्तिकाय' हैं। यहाँ पर उनके प्रदेशों के अल्प-बहुत्व, तुल्यत्व, विशेषाधिकत्व, बताया गया हैं और इन अस्तिकायों के अस्तिकायत्व की प्रमाण सहित विस्तृत दार्शनिक चर्चा की गई हैं।

अत्थिक्क - आस्तिक्य (न.) 1/517

तत्त्वान्तर का श्रवण होने पर जिनोक्त तत्त्वों एवं अतीन्द्रिय जीव-परलोकादि भावों (पदार्थों) पर श्रद्धा 'आस्तिक्य' कहलाता हैं। अस्तिकाय पदार्थ उनकी श्रद्धा का विषय हैं।

अत्थित्त - अस्तित्व (न.) 1/517

जो अर्थक्रियाकारित्व है वह परमार्थ से सत् है। -इस आगमवचनानुसार जो सत् रूप होता है, जिसकी सद्भूतता से व्यवहार उत्पन्न

10. अ.रा.पृ. 2/135
11. सम्मति तर्क - 3/70
12. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय - 2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है (चलता है) वह 'अस्तित्व गुण' है। वह सत्पदार्थों में धर्म-धर्मी में अभेदभाव से हैं। यहाँ अस्तित्व-नास्तित्व के सद्-असत् परिणामों की भी आचार्यश्री ने चर्चा की हैं।

अत्थिवाय - अस्तिवाद (पुं.) 1/519

पदार्थों की सत्ता स्वीकार करना अस्तिवाद है। यदि लोक को वस्तुरुप से स्वीकार न किया जाये तब तो अनाचार ही है। अस्तिवाद में 'मोक्ष है' 'कर्म है' आदि अस्तिरुप सिद्धांतों को स्वीकार किया जाता हैं।

अभिधानराजेन्द्र में 'अस्तिवाद' शब्द के अन्तर्गत संसारिक जीवों के आस्रव-बन्ध का अस्त्यात्मकत्व सिद्ध करते हुए मुक्त जीवों में इनका अभाव भी प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार संवर और निर्जरा तत्त्व का भी प्रतिपादन सुन्दर रीति से किया गया हैं। पूरे प्रकरण में अनेकान्तवाद के आश्रय से सातों तत्त्वों की अस्ति-नास्तिरूपता प्रदर्शित की गयी हैं।

अपुणबन्धय - अपुनर्बन्धक (पुं.) 1/606

जो जीव एक बार मिथ्यात्व की ग्रंथि का भेदन करके सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद पुनः 70 कोडाकोडी सागरोपम की मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करता अर्थात् पुनः एसे संकिष्टतम भावों से पाप कर्म नहीं करता/बाँधता उसे अपुनर्बंधक कहते हैं।

अपुनर्बंधक आत्मा पाप कार्यो को तीव्र भाव से नहीं करता, भोगोपभोग और विषय भोगों में अधिक आसक्तिपूर्वक रमण नहीं करता, देशकालानुसार देव-अतिथि-माता-पिता प्रमुख की सेवा करता है, मार्गानुसारी के गुणों से युक्त होता है, क्षुद्रता, लोभ, अतिदैन्यता, मात्सर्यादि भवाभिनन्दी दोषों को उनके प्रतिपक्षी औदार्यादि गुणों से नष्ट करता है, गुणों की वृद्धि करता है, स्वयंकृत अकृत्यों की आलोचनादि के द्वारा शुद्धि करता है, तीव्र राग-द्वेष से दूर रहता है, तात्त्विकी प्रकृति से युक्त होता है और शान्त, दान्त तथा शुद्धानुष्ठान एवं शुभभाव युक्त होता हैं।

अपोरिसीय - अपौरुषेय (त्रि.) 1/612

पुरुष परिमाण से अधिक (जलादि) को और मीमांसको के मत में पुरुष के द्वारा अकृत (नहीं बनाये गये वेद) को 'अपौरुषेय' कहते हैं।

अपोह - अपोह (पुं.) 1/612

राजेन्द्र कोश में अपाय नामक मतिज्ञान का भेद, उक्ति और युक्ति के विरुद्ध अर्थ से हिंसादि के प्रति अपाय व्यावर्तन का विशेषज्ञान, छठवाँ बुद्धि गुण, प्रतिलेखना का एक प्रकार (जिससे वस्त्र-पात्रादि में जीव के रह जाने की संभावना नहीं होती), बौद्धमान्य वाद (सिद्धांत) विशेष (अपोहवादी बुद्धि के द्वारा बाह्य रुप से गृहीत आकार को शब्दार्थ कहते हैं - सम्मतितर्क, 2 काण्ड, सद्दत्थ - अ.रा.भा.7) को 'अपोह' कहा गया हैं।

अप्पवाइ (ण्) - आत्मवादिन् (पुं. 1/616)

'पुरुष ही सब कुछ हैं' -एसी प्रतिज्ञावाले वादी को 'आत्मवादी' कहते हैं।

अप्पा - आत्मन् (पुं.) 1/616

अतति सातत्येन गच्छति इति आत्मा; ज्ञान, दर्शन, सुख आदि अनित्य पर्यायोंकी सिद्धि 'आत्मा' शब्द की इस निरुक्ति से संभव हैं।

अप्पबहुय (ग) - अल्पबहुत्व (नं.) 1/617

किस द्वार के / भेद के जीव किससे अल्प या अधिक हैं, उसका विचार करना 'अल्प-बहुत्व' कहलाता हैं। यहाँ पर दिग्, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, संयम, उपयोग, आहार, भासक, परीता: (प्रत्येक शरीरों के शुक्लपाक्षिक जीव) पर्याप्ति, सूक्ष्म, संज्ञी, भव (भवसिद्धि), अस्तिकाय, चरम द्वार, जीव, क्षेत्र, बन्ध, पुद्गल, महादण्डक, इन 27 द्वारों से जीवों के अल्पबहुत्व का विस्तृत विचार किया गया हैं।

अप्पियणय - अर्पितनय (पुं.) 1/673

'विशेष ही (सब कुछ) है, सामान्य नहीं' -एसी मान्यतावाले 'नय' को 'अर्पितनय' कहते हैं।

अफलवादि (ण्) - अफलवादिन् (पुं.) 1/673

'किसी भी क्रिया का (कुछ भी) फल नहीं होता हैं' -एसी मान्यतावालों को 'अफलवादी' या 'अक्रियावादी' कहते हैं। यहाँ पर आचार्यश्रीने 'सूत्रकृतांग' के अनुसार अन्यतीर्थिकों के अफलवादित्व का विस्तृत वर्णन किया हैं।

अब्भुवगमसिद्धांत - अभ्युपगमसिद्धांत (पुं.) 1/680

जो द्रव्य है वह नित्य हैं या अनित्य - इस प्रकार के विचार को, स्वैच्छिक वादकथा को, अपरीक्षित अर्थ जैसे 'शीतो वह्निः, खरस्य शृङ्गम्' - इत्यादि की विशेष परीक्षा को 'अभ्युपगम सिद्धांत' कहते हैं।

अबज्झसिद्धांत - अबाध्यसिद्धांत (पुं.) 1/700

कुतीर्थिकों के द्वारा निष्पादित कुहेतु के समूहों के द्वारा खंडित होने में अशक्य स्याद्वादरुप सिद्धांत को, तथा एसे स्याद्वाद सिद्धांत के प्रस्तक वचनातिशय संपन्न तीर्थंकरों को (बहुव्रीहि समास से) अबाध्यसिद्धांत कहते हैं।

अभाव - अभाव (पुं.) 1/709

'अभाव' शब्द जैनागमों में अशुभभाव, अन्य की अपेक्षा से पदार्थ का अभाव (अविद्यमानता), निषेध, विनाश और असत्ता इन अर्थों में प्रयुक्त हैं। यहाँ पर प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव, तथा विद्यमान अभाव और अविद्यमान अभाव इस प्रकार अभाव के भेदों की भी व्याख्या की गई हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अलोग (य) - अलोक (पुं.) 1/785

लोक से विपरीत, धर्मास्तिकायादि द्रव्यों (तथा द्रव्यों की वृत्ति) से रहित मात्र अनन्ताकाशास्तिकायवाले क्षेत्र को 'अलोक' कहते हैं।

अवत्तव्व - अवक्तव्य (त्रि.) 1/794

आनुपूर्वी (क्रम) या अनानुपूर्वी (अक्रम) से अकथ्य वक्तव्य को 'अवक्तव्य' (अनिर्वचनीय) कहते हैं।

अवयव - अवयव (पुं.) 1/796

अवयवी या अनुमिति वाक्य के एक भाग को 'अवयव' कहते हैं। जैसे - पाद (पैर) शरीररूपी अवयवी का एक अवयव है और 'प्रतिज्ञा' आदि अनुमिति वाक्य का अवयव है।

अवाय - अपाय (पुं.) 1/802

जैनागमों में अपाय शब्द का प्रयोग अनर्थ, हेय द्रव्यों का ग्रहण, उदाहरण का एक भेद, विनाश, विश्लेष, अनिष्टप्राप्ति आदि अनेक किये हैं। प्रसंगत: यहाँ द्रव्यादि चारों प्रकार के अपायों की उदाहरण सहित चर्चा की गई हैं।

अविज्जा - अविद्या (स्त्री.) 1/806

जैनदर्शन में 'अविद्या' का अर्थ अग्राह्य, अवमनन और अतत्त्वग्रहण किया गया है। वेदान्त में इसे 'माया' (अनिर्वचनीय) और योगशास्त्र में क्लेश कहा गया है और काम, स्वप्न, भय और उन्माद को अविद्या का कार्य (उपप्लव) कहा गया हैं।

असमवाइकारण - असमवायिकारण (नपुं.) 1/841

जो समवेत न हो अर्थात् उपादान कारण के समानान्तर कारणता को प्राप्त न हो;समवायिकारण रुप द्रव्यान्तर से दूरवर्ती होते हुए कारणता को प्राप्त होनेवाले को असमवायिकारण कहते हैं। समवायिकारण में रहनेवाले कारण को असमवायिकारण कहते हैं।

अहेउवाद - अहेतुवाद - 1/891

जो वस्तु के स्वरुप का प्रतिपादक होने पर भी उससे विपरीत होता है उसे 'अहेतुवाद' कहते हैं। यह धर्मवाद का भेद हैं।

आइधम्मिय - आदिधार्मिक(पुं.) 2/6

अपुनर्बधक आत्मा को 'आदिधार्मिक' कहते हैं। प्रथम प्रारंभ किये गये स्थूल धर्माचार से युक्त आदिधार्मिक आत्मा मार्गानुसारी के 35 गुणों से युक्त होता है (मार्गानुसारी के 35 गुणों का वर्णन चतुर्थ परिच्छेद में किया जायेगा)।

आउलवाय - आकुलवाद (पुं.) 2/50

सत् और असत् (पदार्थ) के (विषय में) परस्पर संकीर्ण वाद को 'आकुलवाद' कहते हैं।

आगम - आगम (पुं.) 2/61

आगमन, प्राप्ति, लाघव, अवबोध, आय, लाभ, उत्पत्ति, व्याकरणोक्त आगमविधि, साम आदि उपाय, जिसके द्वारा स्वत्व की प्राप्ति हो उसे 'आगम' कहते हैं। आप्तवचन से प्रकट अर्थसंवेदन को आगम कहते है। यहाँ उपचार से आप्तवचन को भी आगम कहा है। व्यवहार सूत्र में आठवें पूर्व तक के ज्ञान को श्रुत और नौवें पूर्व से आगे के 14 पूर्व तक के ज्ञान को'आगम' कहा हैं क्योंकि, उससे अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान होता है। स्थानांग सूत्र में 'आगम' को प्रमाण का भेद माना गया हैं। स्थानांग के अनुसार जिससे अर्थ ज्ञान की प्राप्ति हो उसे आगम कहा हैं।

यहाँ पर राजेन्द्र कोश में 'आगम' शब्द पर आगम के भेद, स्वत: प्रामाण्य, पौरुषेयत्व, आप्तप्रणीत आगम की ही प्रमाण रूप में स्वीकृति, वेदागम का अप्रमाण्य, मूलागम की प्रमाणता-इतरागम की अप्रमाणता, आगम-विषय, आगमप्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव, संवादित्व, अर्थ का स्वरूप वाच्य-वाचक भाव, धर्म मार्ग और मोक्षमार्ग में आगम प्रामाण्य, शब्द संबंधी विस्तृत विचार एवं जिनागम की सत्यता, पूजासत्कार आदि विषय वर्णित हैं।

आगमववहार - आगमव्यवहार (पुं.) 2/92

जिसके द्वारा मर्यादा, अभिविधि या अर्थ का बोध हो, उसे 'आगम' कहते हैं। केवलज्ञानी, मन:पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी या नौपूर्वी महात्मा के व्यवहार को 'आगम व्यवहार' कहते हैं।

यहाँ पर आगम व्यवहार के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद का अनेक प्रभेदों सहित विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

आगासाइवाइ - आकाशादिवादिन् (पुं.) 2/112

अमूर्त पदार्थों के भी साधनसमर्थ वादियों को 'आकाशातिवादी' कहते हैं।

आजीवियसमय - आजीविकसमय (पुं.) 2/117

गोशालक द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत विशेष को यहाँ 'आजीविकसमय' कहा गया है। गोशालक का मत है, जिनकी आयु समाप्त नहीं हुई है ऐसे जीवों को खाया जा सकता है; सभी जो प्राणी असंयत हैं उन्हें डण्डा इत्यादि से मारकर, तलवार आदि से काटकर, शूल आदि से भेद कर पक्ष्म केश आदि अपद्रव्य को हटाकर आहार के रुपमें ग्रहण किया जा सकता हैं।

अत्तछट्ठ - आत्मषष्ठ 1/502; आत (य) छट्ठवाइ(न्) - आत्मषष्ठवादिन् (पुं.) 2/176

इस संसार में पृथ्वी आदि पांच महाभूत हैं और छट्ठा आत्मा है, लोक में आत्मा शाश्वत है, न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है,; सर्वभाव नियतिभाव में अन्तर्भावित है (नियति के आधीन है) - एसा प्ररुपण करनेवालों को 'आत्मषष्ठवादी' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आता (स्त्री) आत्मन् (पुं.) 2/187

'आता' शब्द 'आत्मन्' के अर्थ में है। जैनदर्शन अनेक जीवों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। उसी के आश्रय से 'आता' शब्द के अन्तर्गत सभी आत्माओं की समानता अर्थात् एकविधत्व का प्रतिपादन भी किया जाता है। अभिधानराजेन्द्र में आत्मैकविधत्वसिद्धांत को प्रथम क्रम पर लिया गया है। यह एकविधत्व स्वभावसाम्य की अपेक्षा से हैं।

अन्य अपेक्षाओं से आत्मा के अनेकविध वर्गीकरण अभिधानराजेन्द्र कोश में स्पष्ट किये गये हैं। यहीं पर लक्षण, अस्तित्व, कर्तृत्व, विभुत्व, एकत्व, क्रियावत्त्व, ज्ञानवत्त्व, नित्यानित्यत्व आदि अनेक विषयों का जैनसिद्धान्तानुसार सन्दर्भो के माध्यमों से परिचय दिया गया हैं। विषयवस्तु की बहुलता होने से यहाँ पर विवेचन नहीं दिया जा सका हैं।

आभास - आभास (पुं.) 2/275

दुष्ट हेतु या उपाधितुल्यता के कारण भासमान (दृश्यमान) प्रतिबिम्ब को 'आभास' कहते हैं। यह आभास हेत्वाभास, प्रमाणाभास, आगमाभास, प्रत्यक्षाभास, प्रत्यभिज्ञाभास, दृष्टान्तभास, उपनयाभास, निगमनाभास, तर्काभास आदि अनेक प्रकार से है, जो अभिधान राजेन्द्र कोश में यथास्थान वर्णित हैं।

इस्सर - ईश्वर (पुं.) 2/664

अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त पुरुष को ईश्वर कहते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनों में ईश्वर के स्वरुप की भिन्न-भिन्न कल्पना की गयी हैं। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार क्लेशजनित कर्मो एवं कर्मविपाक से अस्पृष्ट पुरुषविशेष को 'ईश्वर' कहते हैं। योग दर्शन में स्वीकृत ईश्वर कभी संसार में नहीं आया है और संसार को बनाता भी नहीं हैं।

ईश्वरजगत्कर्तृत्वादी न्यायदर्शन में ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण (कर्ता) माना गया हैं, वह ईश्वर सर्वव्यापक है, और वही इस संसार को बनाता हैं, और वही प्राणियों को स्वर्ग-नरक आदि में प्रेरित करता है। अन्य ईश्वर-स्वरुपों से न्यायाभिमत ईश्वर में यह विशेषता हैं।

अभिधानराजेन्द्र में ईश्वर शब्द के अन्तर्गत ईश्वरजगत्कर्तृत्व का जैनसिद्धान्तसम्मत विस्तृत खंडन प्रस्तुत किया गया हैं। वहाँ पर अन्ययोगव्यवच्छेद्वात्रिंशिका की कारिका - 'कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स सर्वगः स्ववशः स नित्यः। इमा कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम्॥' पर आचार्य मल्लिषेण सूरि कृत स्याद्वादमंजरी टीका के आधार पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व, एकत्व आदि का खण्डन किया गया हैं। पतञ्जलिकल्पित ईश्वर का खण्डन आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत शास्त्रवार्तासमुच्चय के आश्रय से किया गया है। विशेष जानकारी के लिए अभिधान राजेन्द्र कोश का अवलोकन करना चाहिए।

ईहा - ईहा (स्त्री.) 2/684

सत् पदार्थो के अन्वयी और व्यतिरेकी अर्थो के विचार-विमर्श को 'ईहा' (मतिज्ञान का एक भेद) कहते हैं। चेष्टा, सदर्थ के अभिमुख वितर्क, दीर्घचिन्तन, को भी 'ईहा' कहते हैं। 'ईहा' पांच इन्द्रियों और मन-इन छः से संबंधित होने से छः प्रकार की होती हैं।

उग्गह - अवग्रह (पुं.) 2/725

अनिर्देशित सामान्य मात्र से रुपादि अर्थ का ग्रहण 'अवग्रह' कहलाता है। यह श्रुतनिश्रित मतिज्ञान का भेद हैं।

उड्ढत्तासामण - ऊर्ध्वता सामान्य (न.) 2/779

पूर्वापर पर्यायों में रहे हुए साधारण (सामान्य) द्रव्य को 'ऊर्ध्वता सामान्य' कहते हैं, जैसे- मुकुट, कडे आदि में स्वर्ण।

उदाहरण - उदाहरण (न.) 2/821

उत्पत्ति धर्म से साध्य-साधर्म्य से तद्धर्मभावरुप दृष्टान्त को 'उदाहरण' कहते हैं। यहाँ उदाहरण के भेद-प्रभेद का परिचय दृष्टव्य हैं।

उवओग - उपयोग (पुं.) 2/887

वस्तु के विषय ज्ञान (परिच्छेद) के प्रति जीव जिसके द्वारा जोडा जाता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं। ज्ञान के संवेदन का प्रत्यय और जीव के बोधरुप तत्त्वभूत व्यापार को भी उपयोग कहते हैं। यहाँ पर उपयोग के भेद-प्रभेद का विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

उवणय - उपनत (न.) नृत्य का प्रकार; उपनय (पुं.) 2/923

गुणकीर्तन, स्तुति, उपसंहार के विषय में दृष्टान्त और दृष्ट अर्थ की सामान्य (प्रकृत) योजना; नय के समीपवर्ती हेतु का साध्यधर्म में उपसंहरण 'उपनय' कहलाता हैं।

सद्भूत व्यवहार, असद्भूत व्यवहार और उपचरितसद्भूत व्यवहाररुप कथात्रिक को भी 'उपनय' कहते हैं। यहाँ इसके भेद-प्रभेद का विस्तृत परिचय दिया गया हैं।

उवणयाभास - उपनयाभास (पुं.) 2/925

उपनय के समान प्रतीत होनेवाला परन्तु उपनय के लक्षणयुक्त न हो, उसे 'उपनयाभास' कहते हैं। जब साध्य धर्म का साधन धर्म में या साधन धर्म का दृष्टान्त धर्म में उपसंहरण होता है, तब 'उपनयाभास' होता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवणयावणयचउक्क - उपनयापनय चतुष्क (न.) 2/925

उपनय, अपनय के चारों प्रकार के वचन मिलाकर सोलह वचनों के वचन चतुष्क को 'उपनयापनय चतुष्क' कहते हैं।

उवणासोवणय-उपन्यासोपनय (पुं.) 2/926

वादी के द्वारा अभिमत अर्थ की सिद्धि के लिए वस्तु का लक्षण कहने पर उसके विघटन के लिए प्रतिवादी के द्वारा जो विरुद्ध अर्थवाला उपनय या पर्यनुयोग उपन्यास अथवा उत्तर उपनय किया जाय, उसे 'उपन्यासोपनय' कहते हैं।

उवमाण - उपमान (न.) 2/932

जिसके द्वारा द्राष्टान्तिक अर्थ की उपमा दी जाय, जो उपमान-उपमेय के निर्णायक रुप समान आलंबन हो - उसे 'उपमान' कहते हैं। यहाँ 'उपमान' प्रमाण के विषय में जैन सिद्धांतानुसार विस्तृत दार्शनिक चर्चापूर्वक इसे 'अनुमान' प्रमाण के अन्तर्गत माना गया हैं।

उवलद्धि -उपलब्धि (स्त्री.) 2/940

'उवलद्धि' का संस्कृत रुपान्तर 'उपलब्धि' हैं। यह शब्द प्रमाणविज्ञान में बहुलता से प्रयुक्त हैं। अभिधानराजेन्द्र में उपलब्धि का अर्थ 'ज्ञान' किया गया हैं। यह 'ज्ञान' गुणवाच्यार्थवान् न होकर क्रिया (भाव) अर्थ में समझना चाहिए, जैसा कि स्पष्ट होता है-

उपलम्भनमुपलब्धिः ज्ञाने । अर्थात् पदार्थ का आत्मज्ञान में प्रतिबिम्बन होना। इस प्रकार प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से उपलब्धि हो सकती हैं। किन्तु यहाँ 'उपलब्धि' शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। यहाँ पर इसके पाँच कारण बताकर पाँच भेद किये गये हैं - सादृश्यतः, विपक्षतः, उभयदर्शनतः, औपम्यतः और आगमतः - ये पाँच उपलब्धियाँ होती हैं। अभिधानराजेन्द्र में इन सभी को भेद-प्रभेद और उदाहरण के साथ समझाया गया हैं।

आगे प्रकारान्तर से भी उपलब्धि के दो भेद किये गये हैं : अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। पुनः इनके भी उपभेदों का विस्तार से विवेचन करते हुए बौद्धादि मतों में स्वकृत उपलब्धि के स्वरुप का निरसन किया गया हैं। जिज्ञासु को यह सब 'अभिधान राजेन्द्र' से देखना चाहिए।

ऊहा - ऊहा (स्त्री.) 2/1215

वितर्कात्मक तर्कबुद्धि और अध्याहार को 'ऊहा' कहते हैं।

एगंतदिट्ठि - एकान्तदृष्टि (त्रि.) पृ 3/4

जिसकी दृष्टि निश्चयपूर्वक जीवादि तत्त्वों के विषय में (स्थिर) होती हैं उसे 'एकान्तदृष्टि' कहते हैं। 'एकान्तदृष्टि' शब्द का प्रयोग 'निष्प्रकम्प (दृढ) सम्यक्त्व' के विषय में होता हैं।

एगंतवाय - एकान्तवाद (पुं.) पृ. 3/5

पदार्थ-निरुपण के विषय में नियमपूर्वक 'नित्य' या 'अनित्य' एक ही पक्ष के ग्रहण की प्रतिज्ञापूर्वक किये जानेवाले वाद को 'एकान्तवाद' कहते हैं। जैनदर्शन की दृष्टि में पदार्थ (वस्तु, सत्) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होने से (तत्त्वार्थ सूत्र 5/30) एकान्तवाद का ग्रहण 'मिथ्यात्व' है अतः यहाँ पर प्रसंगतः आचार्यश्री ने सम्मतितर्क और स्याद्वादमञ्जरी के अनुसार एकान्तवाद का खंडन भी किया हैं। और एकान्तवादियों के दोष बताते हुए कहा है- एकान्तवाद में सुख-दुःख, पुण्य-पाप आदि नहीं घटते। एकान्तवादी स्व (पक्ष की) प्रशंसा, एवं पर (पक्ष की) निंदा के आग्रही होने के कारण सर्वदा अनंत संसार में भ्रमण करते हैं।

एगप्प - एकात्मन् (पुं.) 3/14; एकप्पवाय - एकात्मवाद (पुं.) 3/14

चेतन-अचेतन सर्व पदार्थ एक ही आत्मा के विवर्त हैं - इस प्रकार की अद्वैतवादियों की प्ररुपणा/प्रतिज्ञा 'एकात्मवाद' कहलाती हैं।

एगस्सय - एकाश्रय (त्रि) 3/31

जिसका एक ही आश्रय/आधार/आलंबन होता है, उसे 'एकाश्रय' कहते हैं। 'एकाश्रय' शब्द का प्रयोग अनन्यगति, एकाधारवृत्ति और वैशेषिक दर्शनोक्त गुण के भेद के रुप में होता हैं।

कज्जकारणभाव - कार्यकारणभाव (पुं.) 3/187

कार्य और कारण के सम्बन्ध को 'कार्यकारणभाव' कहते हैं। हेतु-हेतुमद्भाव के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता हैं। जैसे - घट और दण्ड में 'घट' दण्ड के प्रति कार्य है और 'दण्ड' घट का कारण है। अन्यान्यदर्शनों में 'कार्यकारणभाव' निम्नानुसार हैं-

(1) सत्कार्यवाद (2) असत्कार्यवाद (3) सदसत्कार्यवाद

बौद्ध असत् कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। नैयायिक उत्पत्ति के पूर्व असत्कारणव्यापार से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्य उत्पत्ति के पहले भी सत्कारण व्यापार मानते हैं। वेदान्ती सत् से विवर्त की उत्पत्ति मानते हैं। यहाँ इन सब का तर्कपूर्वक खंडन करते हुए कथंचित्सत् और कथंचित् असत् रुप पदार्थ से कार्य की उत्पत्ति होती हैं - ऐसे जैन सिद्धांत की प्ररुपणा की हैं।

कज्जसम - कार्यसम (न) 3/201

'कार्यसम' शब्द के अर्थ में प्राकृत शब्द 'कज्जसम' आया हैं। यह जात्युत्तर (जाति) नामक अनुमान दोष हैं। सभी दर्शनों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणमीमांसा में 'कार्यसम' जात्युत्तर का स्वरुप बताया गया हैं। अभिधानराजेन्द्र में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रणीत सम्मतितर्क प्रकरण को उद्धत करते हुए इसका स्वरुप बताया गया हैं। जैसे कार्यत्वसामान्य के अनित्यत्वसाधकरुप से उपन्यास स्वीकार कर लेने पर धर्मभेद से विकल्पनवाले बुद्धिमत्कारणत्व के विषय में पृथ्व्यादि के कार्यत्वमात्र से साध्य अभीष्ट होने पर कार्यत्व आदि के विकल्पन से उपस्थित करनेवाले के, सामान्य कार्यत्व और नित्यत्व के विपर्यय में बाधकप्रमाण के बल से व्याप्ति की सिद्धि में कार्यत्वसामान्य शब्दादि धर्मी में उपलभ्यमान अनित्यत्व को साधता हैं; इस प्रकार वहाँ पर कार्यत्वमात्र के ही हेतुरुप से उपन्यास होने पर जो धर्मविकल्पन किया जाता है वह पूरे अनुमान के उच्छेदकरुप से कार्यसम जाति को प्रस्तुत करता हैं; यथा-

'कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनम्'।

कम्म - कर्म (न.) 2/243

जिस क्रिया, व्यापार या योग से कार्य की निष्पत्ति होती हैं उसे तथा अनुष्ठान और सावद्य (जीवहिंसामय) कार्य को 'कर्म' कहते हैं।

यहाँ पर कर्म के भेद-प्रभेद, भङ्ग, स्वरुप, शिलाभेद, नैयायिक-वैयाकरण सम्मत कर्म पदार्थ निरुपण, कर्म निक्षेप, स्वरुप, सिद्धि, कर्म के मूर्तत्व का आक्षेप एवं परिहार, जगद्विचित्रतापूर्वक कर्म की सिद्धि, जीव और कर्म का संबन्ध, अनादित्व, हेतुत्व, कर्म का पुण्यत्व-पापत्व, सत्ता एवं अकर्मवादी, मूर्तवादी, ईश्वरवादी, स्वभाववादी, गोष्ठामाहिल, क्रियावादी आदि के मत का वर्णन कर उनका खंडन किया गया हैं।

कम्मवाइ (ण्) - कर्मवादिन् (पुं.) 6/341

जगत की समस्त विचित्रता केवल कर्म से ही कर्म के फल (विपाक) स्वरुप होती हैं। कर्म से ही सब कुछ है, पुरुष नहीं। इस प्रकार की कर्म के पक्ष में प्रतिज्ञा करके वाद करनेवाले को 'कर्मवादी' कहते हैं। इस सिद्धांत के द्वारा नियतिवादी और ईश्वरवादियों का निरासन किया गया हैं।

कारण - कारण (न.) 3/465

जिसके द्वारा क्रिया की निष्पत्ति होती है, उस हेतु को 'कारण' कहते हैं। यहाँ पर कारण के भेद-प्रभेद का वर्णन किया गया है, साथ ही कारण और कार्य के भेदाभेद स्वरुप की दार्शनिक चर्चा जैन सिद्धांतानुरुप की गई हैं।

कारणदोस - कारणदोष (पुं.) 3/468

'साध्य' के प्रति 'हेतु' के व्यभिचार को 'कारणदोष' कहते हैं।

कालाच्चयावदिट्ठ - कालात्ययापदिष्ट (पुं.) 3/490

तत्संबन्धी क्रिया का समय (काल) बीत जाने के बाद अर्थ (पदार्थ) के एक देश (भाग) को कहनेवाले हेतु को 'कालात्ययपदिष्ट हेतु' (कालात्ययापदिष्ट दोष से गृहीत हेतु) कहते हैं।

कालवाइ (ण्) - कालवादिन् (पुं.) 3/492

"समस्त जगत काल (समय) के द्वारा निर्मित है, संसार में जो कुछ होता है, वह सब काल के आधीन है। जैसे, ऋतु विभाग, मनुष्य की शिशु-बाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाएँ, फल-फूल आदि की उत्पत्ति आदि सभी कार्य काल से ही होते हैं" - इस प्रकार की प्ररुपणा करनेवाले वादी को 'कालवादी' कहते हैं।

किरियावाइ - क्रियावादिन् (पुं.) 3/555

"ज्ञानादि रहित केवल क्रिया ही स्वर्ग और मोक्ष का साधन हैं। परलोक साधना के लिये केवल क्रिया ही पर्याप्त हैं" - एसी प्ररुपणा करनेवालों को 'क्रियावादी' कहते हैं। यहाँ पर क्रियावादी के 180 भेद भी दर्शाये हैं।

कुतक्क - कुतर्क (पुं.) 3/581

शब्द और अर्थ के विकल्परुप, अविद्या से निर्मित, प्राय: अज्ञान से उत्पन्न, सत्कार्य का अहेतु, कुटिल आवेशरुप तर्क को 'कुतर्क' कहते हैं। यहाँ कुतर्क का स्वरुप एवं फल (हानि), बताकर मुमुक्षुओं के लिये उसे त्याज्य बताया गया हैं।

खणियवाइ - क्षणिकवादिन् (पुं.) 3/704

सर्व पदार्थों के एकान्त क्षणभङ्गुरत्व (क्षण मात्र में नाश) प्रतिपादक बौद्धो को 'क्षणिकवादी' कहते हैं।

यहाँ पर बौद्धों के पांच स्कन्ध की पूर्वपक्ष में प्ररुपण कर उसका निरसन, क्षणिकत्व का प्ररुपणपूर्वक खंडन, उसके स्वीकार में होनेवाली व्यवहार हानि का विचार, वासना का निरुपण, सर्वथा विनाश रुप अभाव का प्ररुपण, क्षणभङ्गवाद में अनुत्पन्न व्यवहार का निरुपण, क्षणभङ्गवाद मानने से दीक्षा की विफलता बताते हुए अश्वमित्रादि बौद्धों को शिक्षा दी गई हैं।

खाई - ख्याति (स्त्री.) 3/735

दार्शनिक शब्द 'ख्याति' के लिए प्राकृत भाषा में 'खाई' शब्द प्रयुक्त हुआ हैं। ज्ञान के विषय में दर्शनशास्त्र में चार प्रकार की ख्याति मानी गयी हैं; 'अख्याति' 'अन्यथाख्याति', 'आत्मख्याति' और 'असत्ख्याति'। अख्याति का पर्याय विवेकाख्याति और अन्यथाख्याति का पर्याय विपरीताख्याति भी हैं। 'ख्याति' विवेचन प्रकरण में अनिर्वचनीय ख्याति नामक एक उपभेद भी बताया गया हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ सभी ख्यातियों को उदाहरण देकर समझाया गया है, यथा-

1. 'यह रजत हैं' इस ज्ञान में पुरोवर्ती शुक्तिशकल का आलम्बन होकर 'रजत' में 'यह' विशेषण दिया गया है, यहाँ पर प्रत्यक्ष 'रजत' से स्मृतिशुक्ति भी प्रसंगयुक्त है जो कि विवेक से प्रतिभासित नहीं होती। इस प्रकार यह अविवेकख्याति हैं।
2. 'यह रजत है' -यह तो प्रतिभासमान वस्तुस्वरुप है वह न तो ज्ञानधर्म है (क्योंकि ज्ञानधर्म तो अनहंकारास्पद होता है) और न ही अर्थधर्म है (क्योंकि उसके द्वारा साध्य अर्थक्रिया का वहाँ (ज्ञान में) अभाव हैं। इस प्रकार वहाँ असत् ही प्रतिभासित होता है। इस प्रकार यह असत्ख्याति है।
3. प्रतीतिसिद्ध अर्थ ही विपर्यज्ञान में प्रतिभासित होता है। मरीचिकाचक्र में जल पदार्थ की प्रतिभा है, उस देश की ओर उपसर्पण होने पर उत्तरकाल में जल के प्रतिभास का अभाव होने से उसकी असत्ता है, किन्तु जब दूर खडे रहकर देखने पर जल प्रतिभासित होता है तब तो जल पदार्थ का ज्ञान होता है जो कि वहाँ नहीं है। इस प्रकार यह प्रसिद्धार्थख्याति है (अभिधान राजेन्द्र में विपरीतख्याति इसे ही कहा गया हैं)।
4. 'शुक्ति' में-'यह रजत है' ऐसा रजतप्रतिभास होता है जबकि उस शुक्तिबाह्य पदार्थ का प्रतिभास बाधककारण होने से उपपन्न नहीं होता। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसा प्रतिभासित होता हो पदार्थ भी वैसा ही हो, क्योंकि वहाँ भ्रान्तत्व के अभाव का प्रसंग आयेगा। इसलिए अनादि अविद्यारुप वासना-संस्कार के सामर्थ्य से ज्ञान का ही यह आकार बाहर प्रतिभासित होता हैं। यह आत्मख्याति हैं।

गुण (पुं, नपुं.) - गुण (पुं.) 3/905

'गुण' शब्द के अनेक वाच्य हैं, जैसे-धनुष की प्रत्यंचा, अप्रधान, शुभ्र, प्रशस्तता। इसके अतिरिक्त द्रव्याश्रित 'धर्म' के अर्थ में भी गुण शब्द का प्रयोग हैं। गुणविशेष को भी गुण कहा जाता है, जैसे-स्मृति, जिज्ञासा, चिकीर्षा, जिगमिषा, आशंसा इत्यादि जीव के ज्ञानगुण के विशेष है। ज्ञान-ज्ञान विशेष, दर्शन-दर्शनविशेष और चारित्र-चारित्रविशेष भी गुण शब्द से कहे जाते हैं।

अभिधानराजेन्द्र में उपरोक्त साधारण परिचय देते हुए गुण के पन्द्रह निक्षेप, मूल स्थान रुप गुण, गुण का लक्षण, गुण और पर्याय में भेद, द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद, जैनदर्शन में स्वीकृत गुण आदि विषयों का परिचय दिया गया हैं।

गुणविसेसासय - गुणविशेषाश्रय (पुं.) 3/930

द्रव्य, गुण और कर्म के समुदाय को 'गुणविशेषाश्रय' कहते हैं। यहाँ प्रस्तुत शब्द का अनेक प्रकार से विग्रह कर उसका परिचय दिया गया हैं।

चव्वाग - चार्वाक (पुं.) 3/1166

लोकायत, भूतवादी, आत्मा-परलोक-मोक्ष-पुण्य-पाप आदि को नहीं माननेवालों को 'चार्वाक' कहते हैं। ये शरीरनाश के साथ ही आत्मा का भी नाश मानते हैं।

चाउज्जाम - चातुर्याम (पुं.) 3/1168

अहिंसा, सत्य, अदत्तादान (अचौर्य) और अपरिग्रह रुप चार महाव्रतमय धर्म को 'चातुर्याम' धर्म कहते हैं। ये मैथुन विरमण व्रत को अचौर्य और अपरिग्रह के अन्तर्गत मानते हैं। जैनों के मध्य के 22 तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का उपदेश देते हैं।

छल - छल (न.) 3/1352, 1353

वंचना और कूट (कपट) प्रयोग को 'छल' कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं- वाक्छल, सामान्यछल और उपचार छल।

जइच्छावाइ -यदृच्छावादिन् (पुं.) 4/1364

बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति के प्ररुपक वादी को 'यदृच्छावादी' कहते हैं।

जाइ - जाति (स्त्री.) 4/1437

'जाई' शब्द का संस्कृत रुपान्तर 'जाति' है। जाति शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे- जन्म, योनि, क्षत्रियादि वर्ण, सामान्य सत्ता। इनमें सत्ता/सामान्य दार्शनिक पदार्थ हैं। यहाँ जैनदर्शन में स्वीकृत सत्ता एवं सामान्य का स्वरुप बताते हुए न्याय-वैशेषिकोक्त सत्ता/सामान्य का स्वरुप एवं जातिबाधकसंग्रह आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गयी है।

जीव - जीव (पुं.) 4/1519

जो प्राणों को धारण करता है, जीवन बिताता (जीता) है, उपयोग (ज्ञान-दर्शनादि) रुप लक्षणवाला है, उसे 'जीव' कहते हैं।

यहाँ पर चारों निक्षेप से जीव द्रव्य की सिद्धि, जीव का लक्षण, जीव का कथंचित् नित्यानित्यत्व, जीव और चैतन्य का भेदाभेद, जीव के विषय में नय का उपदेश, जीवों के भेद-प्रभेद, जीव का स्वरुप, उसके भङ्ग, जीव का प्रमाण एवं गत्यादि द्वारों से जीव का विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

जुत्ति - युक्ति (स्त्री.) 4/1577

सर्व प्रमाण नयगर्भित, लिङ्गज्ञानादि के विषय में अनुमान के साधन को 'युक्ति' कहते हैं। वह असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक दोष रहित पक्षधर्मत्व, सपक्षत्व, विपक्षत्व व्यावृत्ति रुप होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जोग - योग (पुं.) 4/1613

अप्राप्त ईप्सित वस्तु की प्राप्ति, बीजाधानादि भेद, पोषण, क्षेमकरण, संयोग, मेलन, वर्मादि धारण, शब्दादि का प्रयोग, सामुदायिक शब्द के अवयवार्थ के संबन्ध में, विधिकर्तानुकूल परिवार एवं संपत्ति के विषय में, द्रव्य से मन-वचन-काय के व्यापार के विषय में 'योग' शब्द का प्रयोग होता हैं।

यहाँ पर योग के द्रव्य-भाव, प्रशस्त-अप्रशस्त, मन-वचन-काया, सालम्बन-निरालम्बन, स्वकीय-परकीय, स्थान-वर्ण-अर्थ-आलम्बन-एकाग्रता, प्रतीति-भक्ति-वचन-असङ्ग अनुष्ठान, संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात, आत्मा-परमात्मा, वृषभानुजात-वेणुकानुजात-मञ्च-मञ्चादिमञ्च, छत्र-छत्रादिछत्र-युगनद्ध-धन-प्रोणित-मण्डुकप्लुत आदि अनेक भेदों का विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

णाणवाइ - ज्ञानवादिन् (पुं.) 4/1993

यथावस्थित वस्तु (तत्त्व) के परिज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती हैं- ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक वाद या प्ररुपणा करनेवालों को 'ज्ञानवादी' कहते हैं।

णास - नाश (पुं) 4/2015

'णास' अर्थात् ध्वंस, अभाव। 'नाश' दो तरह से होता है-

(1) रुपान्तर परिणाम-यथा अंधकार का तेजस में।

(2) अर्थान्तर परिणाम- जैसे परमाणु से अणु की उत्पत्ति या अणु से द्वयणुक की उत्पत्ति।

णत्थिअ - नास्तिक (पुं.) 4/1805

जीव नहीं है या परलोक नहीं है- एसी जिसकी बुद्धि है, उसे 'नास्तिक' कहते हैं। जीव नहीं है, जन्म नहीं है, (जीव को) इस लोक या परलोक में पुण्य-पाप आदि कुछ स्पर्श नहीं करता, सुकृत-दुष्कृतों का फल नहीं है, शरीर पंचमहाभूत रुप है, वातयोगयुक्त होने से प्राणवायु के द्वारा सभी क्रियाओं में प्रवर्तित होता है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत (स्कन्ध) हैं, मन को मनजीविका कहते हैं, वायु जीव है, इस भव के प्रत्यक्ष जन्म रुप जीव का एक ही भव है, शरीर नाश के साथ आत्मा का और तत्कृत सर्व शुभाशुभ कर्मो का नाश होता हैं अत: परलोकादि कुछ भी नहीं है- एसी प्ररुपणा करनेवाले सभी लोगों को 'नास्तिक' कहा हैं।

यहाँ आत्मा (धर्मी) के विषय में एक 'चार्वाक' ही नास्तिक प्रतीत होता है और धर्म (आत्मा के विविध धर्म) के विषय में सभी परतीर्थिक 'नास्तिक' प्रतीत होते हैं।

णाहिय - नास्तिक (पुं.) 4/2016

जैनागमों में आत्मा, परलोक, मोक्ष-कुछ भी नहीं है एसी मान्यतावाले चार्वाक (लोकायतों) को धर्मी (आत्मा) के विषय में नास्तिक और सभी परतीर्थको को धर्म के विषय में 'नास्तिक' कहा हैं

णाय - न्याय (पुं.) 4/2002

जिसके द्वारा निश्चय से मोक्ष में जाने रुप गमन क्रिया हो उसे न्याय कहते हैं। अभिष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए सम्यग् उपाय को 'न्याय' कहते हैं। जीवन कर्म के अनादिकालीन आश्रय-आश्रयी भावसंबन्ध को जो दूर करता है, उसे 'न्याय' कहते हैं। अन्यत्र श्रुतोपदेश, निर्णायक, लोगों के अर्थ (धन), भूमि, द्रव्य आदि से सम्बन्धित लम्बे विवाद को भी दूर करना, मुमुक्षुओं के लिए आचरणीय सन्मार्ग, जिससे वस्तु की 'संवित्ति' प्राप्त होती हो, प्रस्तुत अर्थ का साधक प्रमाण, उपपत्ति, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्रों का आजीविका रुप अनुष्ठान, विचलन रहित मार्ग और अतिदेश 'न्याय' कहलाता हैं।

णिगमण - निगमन (न.) 4/2029

निश्चित गमन, निश्चित विषय में साध्य धर्म की पुन: प्राप्ति 'निगमन' कहलाता है। यह 'अनुमान' प्रमाण का दसवाँ अवयव हैं।

यहाँ 'निगमनभास' की भी व्याख्या करते कहा है कि, "साधन धर्म के साध्यधर्म में अथवा साध्यधर्म को दृष्टान्त धर्म में उपसंहरित करना 'निगमनाभास' कहलाता हैं।

णिग्गहट्ठाण - निग्रहस्थान (न.) 4/2053; निग्गहट्ठाण - निग्रहस्थान - 4/2773

निग्रहस्थान के अन्तर्गत निग्रहस्थान का स्वरुप बताते हुए प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रहस्थानों को स्पष्ट किया गया हैं। साधनाभास में साधनबुद्धि और दूषणाभास में दूषणबुद्धि विप्रतिपत्ति है, और साधन में दोष न दिखा सकना और दूषण का उद्धार न कर सकना अप्रतिपत्ति है, विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति भेद से निग्रहस्थान दो प्रकार का है। बाईस निग्रहस्थानों को तत्तत् शब्दों के अन्तर्गत भी स्पष्ट किया गया हैं।

णितियावाइ (ण्) - नित्यावादिन् (पुं.) 4/2071

मोक्ष की स्थिति नित्य नहीं है अर्थात् मोक्षप्राप्त जीव भी संसार में पुन: लेते है-ऐसी प्ररुपणा करनेवालों को 'नित्यावादी' कहते हैं।

णिमित्तकारण-निमित्तकारण (न.) 4/2082

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णिमित्त (निमित्त) शब्द की व्याख्या में इसे हेतु का एक भेद माना गया हैं। सहकारिकारण और निमित्तकारण भेद से दो अर्थों में 'निमित्त' शब्द का प्रयोग होता है - यह उल्लेख भी वहाँ है, किन्तु 'निमित्तकारण' शब्द के अन्तर्गत उदाहरण के द्वारा अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पट का निमित्त तन्तु ही है, क्योंकि तन्तुओं के बिना पट की उत्पत्ति नहीं हो सकती; और पटगत तानादि चेष्टा के बिना भी पटोत्पत्ति नहीं होती, तान आदि चेष्टा में वेमा (काष्ठयन्त्र) कारण हैं।

'निमित्तकारण' शब्द के अन्तर्गत 'अन्यद्रव्यकारणभेदे' (आवश्यकचूर्णि) कहकर उपादानकारणभिन्न द्रव्य को भी निमित्तकारण कहा गया हैं।

इस प्रकार 'निमित्तकारण' की व्याख्या में कुछ अस्पष्टता आ गयी हैं। दर्शनशास्त्र में उपादान द्रव्यरुप कारण को तो समवायिकारण कहा गया है और उपादानभिन्न सहोपस्थित (सहकारि) द्रव्यरुप कारण को निमित्तकारण कहा गया हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में जो पटतन्तु का उदाहरण दिया है वह भी उपादान कारण में सही घटित होता है। निमित्तकारण के उदाहरण में इसे दिया जाना विचारणीय विषय हैं।

हमारे विचार से कार्य की उत्पत्ति में सहायकरुप से उपस्थित रहनेवाले कारण को निमित्त कारण कहते हैं। जिस सहकारिकारण (द्रव्य) के बिना कार्य की उत्पत्ति असंभव है, एसे कारण को 'निमित्तकारण' कहते हैं। जैसे - जुलाहा पट का निमित्त कारण है क्योंकि, जुलाहा के बिना पटरुप कार्य की निर्वृत्ति हो नहीं सकती।

णियइ - नियति (स्त्री.) 4/2085; णियइवाइ (ण्) - नियतिवादिन् (पुं.) 4/2087

जगत में जीवों को जो भी सुख, दुःख आदि का अनुभव होता हैं वे सभी भाव 'नियति' के अधीन है; काल, ईश्वर, स्वभाव, कर्म पुरुषार्थकृत कारणजन्य नहीं - एसी प्ररुपणा करनेवालों को 'नियतिवादी' कहते हैं।

णियावाइ (ण्) - नियतवादिन् (पुं.) 4/2108

लोक नित्य है, वस्तु (पदार्थ) नित्य है, उत्पाद और व्यय (विनाश) आविर्भाव और तिरोभाव मात्र है। एकान्तरुप से ऐसी प्ररुपणा करनेवालों को 'नियतवादी' कहते हैं।

णिव्वाण - निर्वाण (न.) 4/2121

आत्मा की कर्मजनित विकार से रहित स्वरुप स्थिति, सर्वद्वन्द्वमुक्त स्थिति, सकल कर्म के विरह से उत्पन्न सुख, सकल कर्मक्षयरुप आत्यन्तिक सुख, परम पद, मोक्ष स्थान की प्राप्तिरुप, कर्मक्षयरुप, ईषत्प्राग्भार नामक पृथ्वी के उपर लोकांत स्थित क्षेत्र (स्थान) को 'निर्वाण' कहते हैं।

णिव्वाणवाइ (ण्) निर्वाणवादिन् (पुं.) 4/2129

'निर्वाण' (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए तदनुरु प मार्ग के उपदेशक 'तीर्थंकरो' को 'निर्वाणवादी' कहते हैं।

तक्क - तर्क, तत्क (पुं.) तक्र (नपु.) 4/2129

तर्क के अतिरिक्त 'तक्क' शब्द का संस्कृत में तक्र = छाछ और तत्क अर्थात् ईदृश (एसा) रुप भी होता हैं। संभवित पदार्थ/अर्थ के अस्तित्व के अध्यवसायरुप ऊहा को 'तर्क' कहते हैं। संशय उपर उठने के लिये सत् अर्थ की विचारणारुप (चिंतनात्मक) ज्ञान विशेष को 'तर्क' कहते हैं।

रत्नाकरावतारिका के अनुसार - 'उपलम्भ - अनुपलम्भरुप प्रमाण के द्वारा जिसकी उत्पत्ति संभव है - एसा त्रिकालवर्ती साध्य-साधन संबन्ध का आद्य आलम्बन जिसके होने पर ही होता है, एसी आद्याकार संवेदनरुप ऊहा को 'तर्क' कहते हैं।

तक्काभास - तर्काभास - (पु.) 4/2170

तर्क का (तर्क के) लक्षण से रहित होना या तर्क की व्याप्ति का असत् होना 'तर्काभास' कहलाता हैं।

तज्जीवतच्छरीरवाइ (ण्) - तज्जीवतच्छरीरवादिन् (पुं.) 4/2172

जैसे पृथिव्यादि पांच भूतों से शरीर उत्पन्न होता है, वैसे उसी से आत्मा उत्पन्न होती है। बाल, पंडित, मूर्ख आदि प्रत्येक के शरीर में अलग-अलग आत्मा है। वह शरीर व्यापी है, सर्वव्यापी नहीं। शरीर का नाश होने पर आत्मा का भी नाश होता है। देहनाश होने पर आत्मा को अन्यत्र जाता नहीं देखा जाता है, परलोक आदि नहीं है, आत्मा स्वयंकृत कर्मो के फल का भोक्ता नहीं है'' -इस प्रकार की प्ररुपणा करनेवाले नास्तिकों को 'तज्जीवतच्छरीरवादी' कहते हैं।

तत्त - तत्व (नपुं.) 4/2180

स्वाभाविक पदार्थ (परम अर्थ), पदार्थ का स्वरुप, परमार्थ से उत्पन्न, परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेषात्मक जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध संवर, निर्जरा, मोक्षरुप तत्त्व; तथा धर्म-अधर्म-आकाश-पुद्गल-जीव-कालरुप द्रव्य; और नित्यानित्य स्वभावयुक्त सामान्यविशेषात्मक शाश्वत चौदह रज्जुलोकरुप लोक (जगत, संसार) को 'तत्त्व' कहते हैं।

तयणवत्थुक - तदन्यवस्तुक (पुं.) 4/2196

'तयण्णवत्थुक' प्राकृत शब्द का रुपान्तर 'तदन्यवस्तुक' हैं। 'तदन्यवस्तुक' शब्द उपन्यास और उदाहरण के भेद के रुप में प्रयुक्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अन्यवस्तु के उपन्यास से भिन्न उत्तरभूत वस्तु जिस उपन्यासोपनय में कही जाये उस उपन्यासोपनय को तदन्यवस्तुक कहते हैं। जैसे 'जले चरन्ति इति जले पतितानि जलचरा' - एसा कहने पर इसका खंडन करने के लिए पतन से भिन्न उत्तर कहते है- और जो गिरा कर खाता है या ले जाता है (चर भक्षणे/गमने च) वे क्या होते हैं? जल और स्थल में गिरे हुए पत्र जलचर-स्थलचर आदि जीव नहीं बन जाते, जैसे-मनुष्य आदि में आश्रित जीव (जूँ आदि) मनुष्यचर नहीं बन जाते। इसी तरह सभी जलगत जलचर नहीं हो जाते।

तिरिक्खसामण - तिर्यक् सामान्य (पुं) 4/2318

(एक ही जाति की) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में तुल्य (एक समान) परिणति को 'तिर्यक्सामान्य' कहते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न सभी घटों में 'घटत्व'।

दव्व - द्रव्य (नपुं.) 4/2462

जो स्वपर्यायों को प्राप्त करता है और छोडता है, उन-उन पदार्थों में गमन करता है, उसे द्रव्य कहते हैं। तथा रुप-रसादि गुणों के समुदाय रुप घटादि को द्रव्य कहते हैं। तद्योग्य भूत और भविष्य के पर्याय वर्तमान में प्राप्त नहीं होने पर भी जो उसके योग्य है उसे ही 'द्रव्य' कहते हैं।

जो स्वगुण और स्वपर्याय का आधार तीनों काल में सदा स्वजाति की अपेक्षा से एक रुप में रहता है, पर पर्याय में परावर्तित नहीं होता है, उसे 'द्रव्य' कहते हैं। द्रव्य के सहभावी धर्म को 'गुण' और क्रमभावी धर्म को 'पर्याय' कहते हैं। जैन दर्शन में जीव-अजीव-धर्म-अधर्म-आकाश (अस्तिकाय) और काल - ये छः द्रव्य हैं जिनका अभिधान राजेन्द्र कोश में यथास्थान विस्तृत परिचय दिया गया है। (आहार संबन्धी द्रव्यों का वर्णन शोध प्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में किया जायेगा।)

दिट्ठंत - दृष्टांत (पुं) 4/2509

विवक्षित साध्य-साधन के संबन्ध का अविनाभावरुप प्रमाण के द्वारा जहाँ परिच्छेद (विभाग, अंत) होता हो, उसे 'दृष्टान्त' कहते हैं। नंदीसूत्र में उसे साध्य की उपमाभूत माना है। विशेषावश्यक भाष्य में दृष्टान्त का अर्थ 'उदाहरण' किया है। और वाचस्पति कोश में दृष्टांत का अर्थ 'मरण' भी किया है। 'दृष्टान्त' के द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति होती हैं।

दिट्ठंतभास - दृष्टान्तभास (पुं.) 4/2510

जिसमें साध्य अर्थ की प्रतिपत्ति न होती हो, एसे दुष्ट दृष्टान्त को 'दृष्टान्तभास' कहते हैं। यहाँ पर साधर्म्य एवं वैधम्य दृष्टान्तभास के 9-9 प्रभेदों का भी विस्तृत वर्णन किया गया हैं।

देवउत्तवाइ (ण्) - देवोप्तवादि (न्) (पुं.) 4/2614

देव-किसान के द्वारा बीज वपन (बोवणी) करके - यह लोक (संसार) निष्पादित (उत्पन्न) किया गया है- एसी प्ररुपणा करनेवालों को 'देवोप्तवादी' कहते हैं।

धम्मवाय - धर्मवाद 4/2731

जिस वाद में धर्म की प्रधानता हो उसे धर्मवाद कहते हैं। स्थानांग, ठाणा 10 में इसका स्वरु प बताया गया है- स्वशास्त्र के तत्त्वज्ञान से युक्त मध्यस्थ एवं पापभीरु के द्वारा तत्त्वबुद्धि से किया गया वाद धर्मवाद कहलाता हैं।

पइण्णा - प्रतिज्ञा (स्त्री.) 5/4

साध्य वचन के निर्देश को 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। जैनागमों में आप्त वचन के निर्देश को भी प्रतिज्ञा कहते हैं। सूत्रकृतांग में 'नियम' को भी प्रतिज्ञा कहा हैं।

पइण्णाविरोह - प्रतिज्ञा विरोध (पुं.) 5/5

हेतु के विरोध को 'प्रतिज्ञाविरोध' कहते हैं।

पइण्णासण्णास - प्रतिज्ञा संन्यास (पुं.) 5/5

पक्ष के प्रतिषेध के विषय में प्रतिज्ञात अर्थ के अपनयन को 'प्रतिज्ञासंन्यास' कहते हैं।

पइण्णाहानि - प्रतिज्ञाहानि (स्त्री.) 5/5

हेतु के अनेकान्तिक होने पर प्रतिदृष्टान्त धर्म का स्वदृष्टान्त में जानेरुप 'निग्रहस्थान' को 'प्रतिज्ञाहानि' कहते हैं। यह निग्रहस्थान का एक भेद हैं।

पएस - प्रदेश (पुं.) 5/22

देश का छोटा भाग, जो अलग से (पदार्थ के) टुकडेरुप भाग नहीं हो फिर भी भाग कहलाता हो, धर्म-अधर्म आकाश-जीव और पुद्गलों का निरवयवत्व, पदार्थ का निरंश अवयव में परिणाम, नपा हुआ परिमाण, राज्य का एक भाग और कर्म के दलिकों का संचय- 'प्रदेश' कहलाते हैं।

पंचभूतवाइ - पञ्चभूतवादिन् (पुं.) 5/50

"पृथ्वी आदि पांच ही भूत हैं, 'आत्मा' इनसे अलग पदार्थ नहीं है" - एसी प्रतिज्ञापूर्वक वाद करनेवाले नास्तिकों को 'पञ्चभूतवादी' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पक्ख - पक्ष (पुं.) 5/67

जिसके द्वारा गिना है वह, शरीर का दोनों तरफ का हिस्सा, निकट, किसी का एक भाग, 15 दिन प्रमाण कालमान, 'पक्ष' कहलाता हैं। 'पक्ष' शब्द की दार्शनिक व्याक्या 'अनुमान' शब्द के अन्तर्गत अभिधान राजेन्द्र कोश के, प्रथम भाग में दी गयी हैं।

पक्खाभास - पक्षाभास (पुं.) 5/67

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण, निराकृतसाध्यधर्मविशेषण और अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषण 'पक्षाभास' कहलाता हैं।

पयरणसम - प्रकरणसम (न) 5/71

यह हेत्वाभास का ही एक भेद हैं। जिस हेतु के कारण प्रकरण का चिन्तन हो, वही निर्णय के लिए ले लिया जाये तो उस हेतु को प्रकरणसम हेत्वाभास कहा जाता हैं। जैसे- वादी ने कहा कि 'शब्द अनित्य है, नित्य धर्मानुपलब्धि के कारण'। इस पर प्रतिवादी ने कहा -'यदि इस प्रकार से अनित्यता सिद्ध करना चाहते हो तो नित्यता की सिद्धि भी हो सकती हैं, जैसे - शब्द नित्य (है), अनित्य धर्मानुपलब्धि के कारण।

पच्चक्ख - प्रत्यक्ष (न.) 5/73

व्यवहार में 'अक्ष' का इन्द्रिय अर्थ करने पर 'इन्द्रियों' की अधीनतापूर्वक जो उत्पन्न होता है, वह 'प्रत्यक्ष' है जबकि ज्ञान के विषय में जैन दर्शन में 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'आत्मा' करने पर जो जीव के प्रति साक्षात् (ज्ञान) होता है, जो इन्द्रिय और मन से निरपेक्ष हो उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। व्यवहार में चक्षुरादि इन्द्रिय देखने की क्रिया में प्रत्यक्ष मानी जाती हैं। अध्यात्म ज्ञान में जैनागमों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष और शेष तीन अवधि, मन: पर्यव और केवलज्ञान को 'प्रत्यक्ष' माना गया हैं। जैन दार्शनिक भाषा में अनुमानादि की अधिकता से विशेष प्रबलतर ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से जो विशेष (ज्ञान) स्पष्ट होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

यहाँ प्रत्यक्ष के व्यवहारिक पक्ष में वैशेषिकों का मत बताकर जैनागमोक्त प्रत्यक्ष का लक्षण बताकर प्रत्यक्ष के भेद प्रभेद बताते हुए इन्द्रियप्रत्यक्ष - पांचों इन्द्रियों के भेद से पाँच प्रकार का और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान आदि तीन प्रकार का बताकर उनका विस्तृत परिचय दिया गया हैं।

पच्चक्खाभास - प्रत्यक्षाभास (पुं.) 5/121

'प्रत्यक्ष' ज्ञान नहीं होने पर भी प्रत्यक्षवद् दिखाई देता हो, उसे 'प्रत्यक्षाभास' कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

1. **सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास - जैसे बादल में गन्धर्व नगर का ज्ञान, या दु:ख में सुख का ज्ञान।**
2. **पारमार्थिक प्रत्यक्षभास - जैसे शिवराजर्षि का असंख्यात द्वीप- समुद्रों में से सात द्वीप-समुद्र का ही ज्ञान।**

पज्जाअ - पर्याय (पुं.)

जो आते हैं, फिर चले जाते हैं लेकिन पदार्थ की तरह ध्रुव नहीं रहते, उसे 'पर्याय' कहते हैं। जीव और अजीव पदार्थ के मनुष्यत्व, बालत्व आदि कालकृत अवस्थारुप अर्थ को 'पर्याय' कहते हैं।

यहाँ पर पर्याय के स्व-पर, युगपद्भावी-क्रमभावी, शब्द-अर्थ, स्वाभाविक-अपेक्षिक, अतीत-अनागत-वर्तमान, आदि अनेक प्रकारों का परिचय दिया गया हैं।

पडिसेह - प्रतिषेध (पुं.) 5/369

निराकरण, निवर्तन, निषेध और वस्तु के असत् अंश को 'प्रतिषेध' कहते हैं। प्रतिषेध के चार प्रकार हैं (1) प्रागभाव (2) प्रध्वंसाभाव (3) इतरेतराभाव और (4) अत्यन्ताभाव।

पडुप्पण्णदोस - प्रत्युत्पन्नदोष (त्रि.) 5/371

सर्वथा वस्तु की प्राप्ति होने पर अकृताभ्यागम, कृतविनाश आदि वर्तमानकालिक विशेष दोष को 'प्रत्युत्पन्न दोष' कहते हैं।

पद्धंसाभाव - प्रध्वंसाभाव (पुं.) 5/434

पदार्थ की उत्पत्ति होने पर तत्संबन्धी पहले उत्पन्न हुए कार्य का अवश्यंभावी विघटन (नाश) उस कार्य का 'प्रध्वंसाभाव' कहलाता है। जैसे-कलश रुप पदार्थ (कार्य) की उत्पत्ति होने पर तत्संबन्धी पूर्वोत्पन्न कपाल, कदम्बादि का नाश।

प्रमाण - प्रमाण (नपुं.) 5/443

जिस साधन से प्रकर्षतापूर्वक संशयादि रहित स्वाभाविकरुप से पदार्थ को जाना जाय, जिससे हेय-उपादेय, प्रवृत्ति-निवृत्ति रुप पदार्थ भेद किया जाय और जो स्व-पर व्यवसायी ज्ञान है उसे 'प्रमाण' कहते हैं।

प्रमाणमीमांसा दर्शन शास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है औह जैनदर्शन में प्रमाण के बारे में मौलिक विचार उपलब्ध हैं। जैनदर्शन सम्मत प्रमाण को निम्नलिखित अभिलेख से समझा जा सकता हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

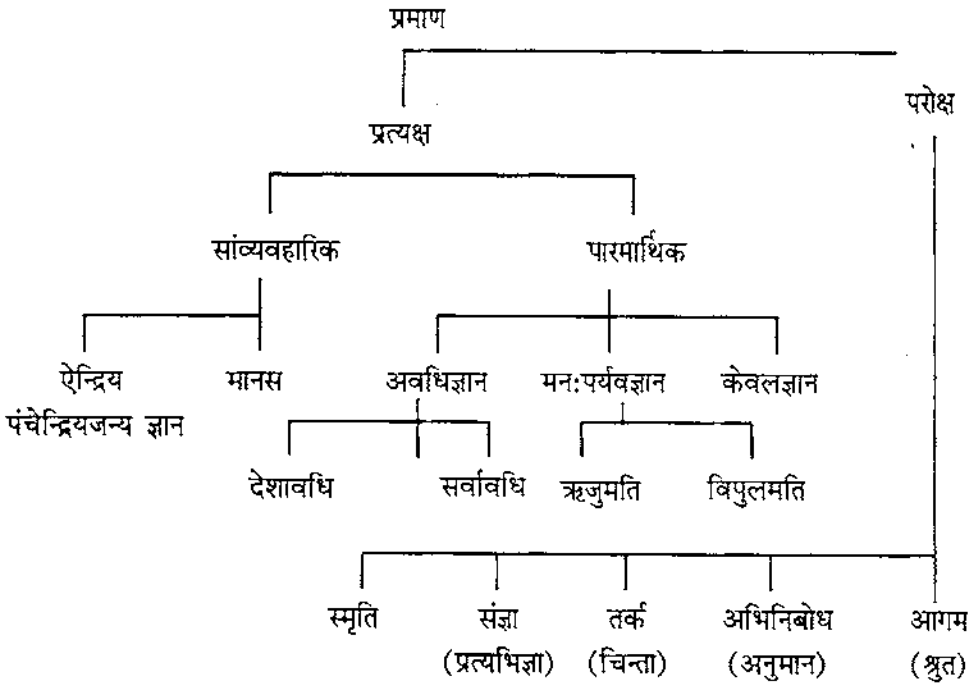

दर्शन के उद्भव और विकास का मूल जिज्ञासा है। जिज्ञास्य पदार्थों में लौकिक एवं अलौकिक जगत में उपलब्ध पदार्थों का तात्विक विश्लेषण करने के साथ ही जीव के चरम लक्ष्य और उसके उपाय को भी समाहित किया गया हैं। यद्यपि भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं किन्तु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:[1]' यह सिद्धान्त किसी न किसी रुप में सभी भारतीय मनीषियों में स्वीकृत हैं। जैन सिद्धान्त में सम्यग्दर्शनपूर्वक के सम्यग्ज्ञान को कार्यकारी बताया गया हैं। सम्यग्ज्ञान का अभिप्राय आत्मा के ज्ञान गुण के कारण किसी भी अंश से लौकिक एवं अलौकिक पदार्थों का सम्यग् निश्यच हैं अर्थात् जैन सिद्धान्त में आत्मा के ज्ञान गुण को ही प्रमाणभूत माना गया हैं इसलिये मोक्षमार्ग प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया हैं कि मोक्ष का सक्रिय उपाय सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होता हैं।[2] जैन सिद्धान्त में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती हैं। किन्तु उसमें सम्यग्दर्शन का स्थान प्रथम हैं। दूसरे क्रम पर सम्यग्ज्ञान है । सर्वदेश ज्ञान और एक देश ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान की तरतम अवस्थाएँ अनेक होती हैं किन्तु उन्हें अध्ययन की दृष्टि से पाँच वर्गो में रखा गया - मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव, केवल।[3] सम्यग्विशिष्ट ये कोटियां प्रमाणभूत हैं।[4]

इसी सिद्धान्त को भिन्न-भिन्न जैन दार्शनिकों ने अपने-अपने शब्दों में कहा है। किसी ने सम्यगज्ञान को प्रमाण कहा है[5] तो किसी ने 'सम्यगनेकान्त' को प्रमाण कहा हैं।[6] इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा गया हैं कि जो ज्ञान 'स्व' और 'पर' का निश्चयात्मक ज्ञान है, वह 'प्रमाण' हैं।[7] क्योंकि जब तक 'स्व' और 'पर' के भेदपूर्वक ज्ञान नहीं होता तब तक हेय-उपादेयत्वपूर्वक का विचार और प्रवृत्ति-निवृत्ति का निर्धारण नहीं हो सकता। जो यहाँ पर 'स्व' और 'पर' शब्दों का प्रयोग किया गया हैं वह स्वात्म द्रव्य की अपेक्षा परात्म द्रव्य को भी परत्वेन ही ग्रहण करता हैं। इस प्रकार 'पर' शब्द स्वात्मद्रव्य से भिन्न सभी अन्य चेतन पदार्थ 'पर' शब्द से अभिहित हैं। वह ज्ञायक आत्माओं के स्व-द्रव्य से भिन्न सभी 'पर' द्रव्यों को यथावस्थित स्वरुप से निश्चयात्मक ज्ञान करानेवाला तत्तदधिष्ठित सम्यग्ज्ञान 'प्रमाण' कहा गया हैं अर्थात् अन्य आत्मा के द्वारा गृहीत निश्चयात्मक ज्ञान का साधनभूत प्रमाण तदितर (उससे भिन्न) आत्मा के लिए कार्यकारी न होने से प्रमाणभूत नहीं ठहरता।[8]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'स्व-पर व्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्' -सूत्र को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि इस सूत्र

1. मुण्डकोपनिषद्
2. पढमं नाणं तो दया । - दशवैकालिक मूल 4/10
3. तत्वार्थसूत्र - 1/9; अ.रा.पृ. 4/1938
4. तत्प्रमाणे । - तत्वार्थसूत्र - 1/10
5. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' । - तिलोयपण्णत्ती 1/83
6. तत्वार्थवार्तिक 1/86
7. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । - अ.रा.पृ. 5/442; सूत्रकृतांग 1/12/2
8. स्वात्मा ज्ञानस्य स्वरुपम्; पर: स्वस्मादन्य:, अर्थ इति यावत् । तौ विशेषेण यथाऽवस्थितस्वरुपेण, अवस्यति निश्चिनोतीत्येवंशीलं यत् तत् स्वपरव्यवसायि । - अ.रा.पृ. 5/443

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दिया गया ज्ञान का विशेषण -'स्वपर व्यवसायि' स्व-समय प्रसिद्ध अर्थात् जैन सिद्धान्त द्वारा प्रतिष्ठित 'दर्शन' अर्थात् प्रमाण-प्रमेय मीमांसा रुप शास्त्र में प्रयुक्त प्रमाणभूत 'ज्ञान' का है। इससे व्यावृत्तिरुप यह अर्थ भी सुनिश्चित किया है कि अज्ञानरुप व्यवहारमूलक स्वरुप प्रवणता को ग्रहण नहीं करते हुए अर्थात् असद्भूत और मिथ्याज्ञान से भिन्न सद्भूत और सम्यग्ज्ञान का यह विशेषण हैं।[9] इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक द्वारा 'स्व-पर व्यवसायि' विशेषण का सार्थकत्व स्पष्ट करते हुए अन्ययोगव्यवच्छेदपरक व्यावृत्ति स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि इस विशेषण से नैयायिक कल्पित सन्निकर्षादि अचेतन की प्रमाणभूतता पराकृत (दूर) कर दी जाती हैं। साथ ही बौद्धों के द्वारा स्वीकृत निर्विकल्प ज्ञान की प्रामाणिकता भी इसी से परास्त हो जाती हैं।[10] 'व्यवसायि' विशेषण का दूसरा प्रयोजन जैन सिद्धान्त में संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरुप मिथ्याज्ञान से ज्ञान का व्यवच्छेद करना हैं।[11]

प्रमाण के स्वरुप के प्रकरण से आचार्यश्री ने अद्वैतवादी, मीमांसक, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक - इन वेदोपजीवी दार्शनिकों के द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के स्वरुप के प्रत्याख्यान के साथ ही भूतचैतन्यवादी लौकायतिक एवं अन्य वेद प्रतिगामी दार्शनिकों के प्रमाण स्वरुप का भी प्रत्याख्यान किया हैं। प्रमाण शब्द के अन्तर्गत आचार्यश्रीने जिन विषयों का विमर्श किया है उनकी सूची निम्नानुसार हैं[12]

1. प्रमाण का लक्षण
2. प्रमाण ज्ञान ही है - इसका समर्थन
3. सन्निकर्ष विचार
4. नायनरश्मि विचार
5. निर्विकल्पकज्ञानप्रामाण्यवादियों का प्रतिपादन, ज्ञान के 'व्यवसायिक' विशेषण का समर्थन
6. ज्ञान का स्वतः -परतः प्रामाण्य, जैमिनी मत का निराकरण
7. मीमांसक मत निराकरण
8. द्रव्यादि चार प्रकार का प्रमाण
9. वाद के विषय में विचार एवं धर्मवाद की कर्तव्यता की मुख्यता का विधान
10. प्रमाण के स्वरुपपूर्वक प्रमाण की संख्या
11. प्रमाण के फल
12. प्रमाण और प्रमाण के फल को एकान्त अभिन्न माननेवाले बौद्धों के मत का निराकरण।

इन विषयों के अन्तर्गत संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरुप तीन प्रकार के मिथ्याज्ञान के स्वरुप को भी स्पष्ट किया गया हैं जो कि प्रमाणभूत तो नहीं हैं, परन्तु प्रमाण से विपरीतता युक्त होने के कारण प्रमाण के विषय हैं। क्योंकि जब तक मिथ्याज्ञान का स्वरुप न समझा जाय तब तक उससे व्यावृत्ति होना संभव नहीं।

यह समस्त विवरण आचार्यश्री के स्वयं के शब्दों में गुंफित और अत्यधिक विस्तृत है, साथ ही इस शोध-प्रबन्ध की परिधि से बाहर है इसलिए जिज्ञासुओं को वहीं से अवलोकन करना चाहिए।

जैनसिद्धान्त में प्रमाण के साथ प्रमाणैकदेश (नय) को भी स्वीकार किया गया है, और वह चार प्रकार के निक्षेपों के द्वारा पदार्थों का सम्यग्ज्ञान कराते हैं अतः यहीं पर नयों का विवरण भी दिया जाना उचित हैं।

णय - (नय) (पुं.) 4/1852

'नय' शब्द की सार्थकता :-

1. अनेक अंशवान् वस्तु के एकांश का अवलंबन करके वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने हेतु ज्ञान की ओर ले जाना 'नय' हैं। अथवा वस्तु की ओर से ज्ञान के आश्रय में जिसके द्वारा ले जाया जाय, उसे 'नय' कहते हैं।[13]
2. अमुक स्वभाव से अमुक स्वभाव का परिच्छेद जिससे किया जाय, उसे 'नय' कहते हैं। 'नय' शब्द का प्रयोग अनंतधर्मात्मक वस्तु के एकांश के परिच्छेद के अर्थ में किया गया हैं।[14]
3. अनंत धर्मात्मक वस्तु से नियत एक धर्म के अवलंबन से वस्तु को प्रतीति का विषय बनाने के अर्थ में 'नय' शब्द प्रयुक्त है।[15]

---

9. ज्ञायते प्राधान्येन विशेषो गृह्यतेऽनेनेति ज्ञानम्। एतच्च विशेषणम् - अज्ञानपुरस्य व्यवहार धुरुधौरेयतां अनादधानस्य सन्मात्रगोचरस्य स्वसमयप्रसिद्धस्य दर्शनस्य,...। - अ.रा.पृ. 5/443
10. सन्निकर्षाऽऽदेक्षाऽचेतनस्य नैयायिकाऽऽदिकल्पितस्य प्रामाण्यपराकरणार्थम्। तस्याऽपि च प्रत्यक्षरुपस्य शाक्यैर्निविकल्पकतया प्रामाण्येन जल्पितस्य,... । - वही
11. संशयाविपर्ययानध्यवसायानं च प्रमाणत्वव्यवच्छेदार्थं व्यवसायीति... । वही
12. अ.रा.पृ. 5/477
13. नयत्यनेकांशाऽऽत्मकं वस्त्वेकांशावलम्बनेन प्रतीतिपथमारोपयतीति, नीयते वा अनेन तस्मिन् ततो वा नयनं नयः । - अ.रा.पृ. 4/1852; उत्तराध्ययन, । अध्ययन
14. नीयते परिच्छिद्यतेऽनेनास्मादिति वा नयः। अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुन एकांशपरिच्छित्तौ । - वही
15. अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनो नियतैकधर्मात्मकावलम्बनेन प्रतीतौ प्रापणे । - वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. वस्तु तत्त्व को अवबोध गोचर प्राप्त करानेवाले को 'नय' कहते हैं।[16]

उपर्युक्त चार निरुक्तियों को 'नय' शब्द का अर्थ स्पष्ट करने के लिए संग्रह करते हुए आगे निरुक्ति के रुप में विशेषावश्यक भाष्य की गाथा को उद्धृत करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि-

''वक्ता के द्वारा वस्तु की होनेवाली पर्यायों का बोध कराया जाना 'नय' हैं।[17]'' अथवा ''अनंत धर्मों से आकुलित वस्तु के एक अंश का ग्राहक ज्ञान 'नय' हैं।'' इसको और स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि ''प्रायः एक वस्तु की अनेक पर्यायों में से विवक्षित पर्याय का आश्रय करके जो परिच्छेद वक्ता के द्वारा कराया जाता है, उसे 'नय' कहते हैं''[18]। आचार्यश्रीने यह स्पष्ट किया है कि जिनवाणी में वस्तु अनंत धर्मात्मक स्वीकृत है और जिनेन्द्र देव का प्रवचन केवलज्ञान रुप प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का बोधक है। इसी प्रकार 'नय' भी वस्तु के प्रतिनियत धर्म के व्यवहार की सिद्धि करता है। इसलिए 'नय' भी प्रमाण स्वरुप हैं।[19]

आलाप पद्धति में 'नय' की प्रामाणिकता स्पष्ट करनेवाला यह कथन प्राप्त होता हैं -''प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम 'नय' हैं। अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से ही वस्तु को पृथक् करके जो एक स्वभाव में वस्तु को स्थापित करता हैं, वह 'नय' हैं।[20]

अभिप्राय यह है कि श्रुतज्ञान स्वयं ही प्रमाणरुप हैं (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाणरुप है)। उस प्रमाण के द्वारा अधिगत पदार्थ के एक अंश का ग्रहण करते हुए वक्ता अपने अभिप्राय से जो सापेक्ष कथन करता है, वह 'नय' हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में सापेक्ष कथन का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि ''वस्तु के प्रतिपक्षी धर्मो का निराकरण न करते हुए ज्ञाता के अभिप्राय जो कि वस्तु के एक अंश का ग्रहण करता है, को 'नय' कहते हैं।[21]

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'णय' (नय) शब्द के अन्तर्गत निम्नाङ्कित विषयों का वर्णन किया गया हैं-

1. नयनिरुक्ति
2. नयलक्षणनिरुपणपूर्वक नयतत्त्वप्ररुपण
3. नय के स्वरुप की उपपत्ति
4. वस्तुओं के अनन्तधर्मात्मकत्व का निरुपण
5. नय किसे कहते हैं ? नय के भाग
6. नय का आपेक्षिकत्व
7. अपेक्षात्मक वाक्य - नय
8. सामान्य-विशेष विचार
9. सप्तभङ्गी में नय विभाग
10. एकत्र अनेक आकार-प्रमाणधी
11. नयों के प्रमाणाप्रमाणत्व का निर्णय
12. सम्मति तर्क आदि ग्रन्थों में जो अभिनिवेष्टितेतर नय का खंडन है, उसके साधन निमित्त बौद्धादि नय परिग्रह भी शुद्ध पर्यायादि वस्तु की प्राप्ति के कारण से मिथ्यारुप नहीं हैं। - उसका निरुपण
13. नयविभाग में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक रुप से संक्षेप से नय के दो प्रकार
14. संग्रह-विशेष, द्रव्य-पर्याय के लिये सामान्य-विशेष रुप शब्दवाच्य विचार
15. द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव।
16. नैगमादि सात मूल नयों के विचार में नैगमादि नयों के मतों का संग्रह
17. सिद्धसेन दिवाकर के मत से छः नय, नैगम नय का संग्रह और व्यवहार नय में अन्तर्भाव
18. प्रस्थकवसति प्रदेश के. दृष्टान्त से नय प्रमाण परामर्श
19. प्रस्थक दृष्टान्त
20. वसति दृष्टान्त
21. प्रदेश दृष्टान्त

---

16. 'नयंतीति नया वत्थुतत्तं अवबोहगोयरं पावयंति त्ति।' अ.रा.पृ. 4/1852
17. स नयइ तेण तहिं वा, तओऽहवा वत्थुणो व जं नयणं। बहुहा पज्जायाणं, संभवओ सो नओ नाम ॥- विशेषावश्यकभाष्य, गाथा-914
18. स एव वक्ता संभवद्भिः पर्यायैर्वस्तु नयति गमयतीति नयः। अथवा नीयते परिच्छिद्यते अनेन, अस्मिन्, अस्माद् वेति नयः, अनन्तधर्माध्यासिते वस्तुन्येकांशग्राहको बोध इत्यर्थः। यदि वा बहुधा वस्तुनः पर्यायाणां संभवाद्विवक्षितपर्यायेण यन्नयनमधिगमनं परिच्छेदनमसौ नयो नाम। - अ.रा.पृ. 5/1853
19. अ.रा.पृ. 5/1853
20. प्रमाणेन वस्तुसंग्रहीतार्थैकांशो नयः श्रुतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नाना स्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः। जिनवरस्य नयचक्र, पृ. 15में 'आलाप पद्धति' से उद्धृत
21. अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. 606

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. सभी नयों की अपने-अपने स्थान में शुद्धता
23. सात सौ नय
24. असंख्यात नय-मतान्तर निरुपण
25. निक्षेपनय योजना
26. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक का युगपत् विचार
27. सव्यपेक्षा-एक दूसरे की अपेक्षा से उनका प्रमाणत्व
28. जिस नय से जिस दर्शन की उत्पत्ति हुई है उसका सामान्य निरुपण
29. निश्चय और व्यवहार नय में सभी नयों का अन्तर्भाव
30. दिगम्बर मत में नय
31. व्यवहार नय से सांख्य का प्रवर्तन
32. वेदान्ती और सांख्य दर्शन का शुद्धाशुद्धत्व
33. नैगम नय का संग्रह और व्यवहार नय में अन्तर्भाव
34. जो शब्द नय है, वे ही अर्थ नय है, उनका निरुपण
35. नयोत्पादित अपरिमित दर्शनों में सम्यक्त्व, मिथ्यात्व का निरुपण
36. नयफल विचार
37. ज्ञान-क्रिया नय द्वार में संग्रहादि नयों के समवतार के स्वरुप का निरुपण
38. नयों की पार्थक्यता भिन्नता में उनका समवतार है या नहीं उसका निरुपण
39. आलोचना के विषय में आठ प्रकार के नय[22]

नय के भेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में अत्यन्त कम शब्दों में लेकिन स्पष्टतम स्वरुप के साथ 'नय' के दो मुख्य भेद कहे गये हैं-

निश्चय और व्यवहार नय:-

लोक व्यवहारपरक अभ्युपगम को प्रधानता देनेवाले 'नय' को व्यवहार नय कहते हैं। जैसे-भ्रमर (भौंरा) में काले रंग की अधिकता होने से व्यवहार में एसा कहा जाता है कि भौंरा काला है किन्तु स्थूल शरीर में पाँच वर्णों के पुद्गलों का संधात होने से निश्चय नय के अनुसार उसी भ्रमर को पाँच वर्णवाला कहा जाता है अर्थात् व्यवहार नय लोक व्यवहार परक और निश्चय नय परमार्थपरक हैं।[23]

द्रव्यार्थिक नय:-

द्रव्यार्थिक नय की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि अतीत-अनागत-वर्तमान काल में जो द्रवित होता है अर्थात् परम्परा से एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी एसे क्रमबद्ध पर्यायों को ग्रहण करता रहता है, वह द्रव्य है।[24] केवल द्रव्य की ही मुख्यता से जिस नय का अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिक नय है।[25] यह नय द्रव्य मात्र की प्ररुपणा करता है अर्थात् द्रव्य-पर्यायस्वरुप वस्तु में मुख्यरुप से द्रव्य का अनुभव कराता हैं; सामान्य को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय हैं,[26] अथवा द्रव्य में आस्तिक है, पर्याय में नहीं - वह द्रव्यार्थिक नय हैं।[27]

आचार्यश्रीने उत्तराध्ययन सूत्रोक्त द्रव्यार्थिक नय की व्याख्या उद्धृत करते हुए कहा है कि तदाकार अनुयायियों को उसी का सद्बोध कराने का विषय होने से समस्त स्थास-कोश-कुश-कपाल आदि आकारों का अनुयायी मृदादि द्रव्य ही सत्पदार्थ है, क्योंकि स्थास, कोसादि में द्रव्य रुप से तो मृद द्रव्य के अलावा अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अत: वह (द्रव्यार्थिक नय) तरंगादियुक्त सरोवर का जल केवल अपूद्रव्य है उसी तरह तथा आविर्भाव-तिरोभाव की मात्रा से युक्त सभी भेद-प्रभेद को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता हैं।[28]

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार नैगम, संग्रह और व्यवहार -ये तीन द्रव्यार्थिक नय हैं[29], जिनका परिचय आगे दिया जायेगा।

22. अ.रा.पृ. 4/1853
23. अ.रा.पृ. 4/1892; विशेषावश्यक भाष्य-3098
24. अ.रा.पृ. 4/2462; आवश्यक मलयगिरि 1/2
25. अ.रा.पृ. 4/2466; पञ्चाधअयायी 1/518
26. अ.रा.पृ. 4/2467; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लो. 31-32 की टीका; रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद 7
27. अ.रा.पृ. 4/2467; आवश्यक मलयगिरि 1/2;
28. 'निखिलस्थासको शकुटकपालद्याकारानुयायि वस्तु सत् तस्यैव तत्तादाकारानुयायिन: सद्बोधविषयत्वात्, स्थासकोशाऽऽविर्भावतिरोभावमात्रान्वितं समूच्छितसर्वप्रभेदनिर्भेदबीजं द्रव्यमागृहीततरङ्गाऽऽदिप्रभेदस्तिमितसरः सलिलवत् ।' -अ.रा.पृ. 4/2471; 4/2471; उत्तराध्ययन सूत्र सटीक, १ अध्ययन
29. अ.रा.पृ. 4/1856; 4/1856; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 31, 32 की टीका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कोश में आचार्यश्रीने इसके शुद्ध-अशुद्ध दश भेदों का भी विस्तृत वर्णन किया है जो हमने संक्षिप्त में सारणी में दर्शाने का प्रयास किया हैं। इसके विस्तृत स्वरुप के जिज्ञासु के लिए अभिधान राजेन्द्र कोश दृष्टव्य हैं[30]।

पर्यायार्थिक नय:

अभिधान राजेन्द्र कोश में पर्याय की व्याख्या करते हुए कहा है -धर्म, पर्यव, पर्याय, पर्यय ये सब 'पर्याय' के पर्यायवाची नाम हैं।[31] सर्वथा भेद (अन्तर) को प्राप्त करना पर्याय हैं[32] अथवा द्रव्य के गुणों के विशेष परिणमन को पर्याय कहते हैं[33] अथवा द्रव्य के क्रमभावी परिवर्तन को पर्याय कहते हैं।[34]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'पर्यायार्थिक नय की परिभाषा बताते हुए कहा है कि ''पर्याय ही जिसका अर्थ (प्रयोजन) है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।[35]'' पञ्चाध्यायी के अनुसार ''द्रव्य के अंश'' को पर्याय कहते हैं। इनमें से जो विवक्षित अंश है, वह जिस नय का विषय हैं - वह पर्यायार्थिक नय है।[36] मोक्षशास्त्र में पर्यायार्थिक नय के विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नाम बताये हैं।[37] आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के अनुसार ''सर्वभावों की अनित्यता का अभ्युपगम (बोध) करानेवाला यह नय मूल नय का भेद हैं।[38]

पर्यायार्थिकनय द्रव्य, गुण, पर्याय में भेद का ज्ञापक हैं - 1. मृद् (मिट्टी) आदि द्रव्य, 2. रुपादि गुण, 3. घटादि पद के कम्बुग्रीवापृथुबुध्नादि पर्याय। उसमें उपचार और अनुभूति उपचारलक्षणा है अर्थात् पर्यायार्थिक नय अनुभूति और उपचार से द्रव्य-गुण-पर्याय में अभेद भाव भी मानता हैं; जैसे घटादि पदार्थ मृद् द्रव्य से अलग नहीं है। ज्ञानलक्षणा से इसमें मृद् द्रव्य, रुपादि गुण और कम्बुग्रीवादि पर्याय की प्रतीति होती हैं।[39]

पर्यायार्थिक नय के भेद :- नय के मुख्य सात भेद में से (4) ऋजुसूत्र (5) शब्द (6) समभिरुढ (7) एवंभूत - ये चार पर्यायार्थिक नय हैं।[40]

अभिधान राजेन्द्र कोश में पर्यायार्थिक नय के नित्य-अनित्य, सादि-अनादि, शुद्ध-अशुद्ध की अपेक्षा से छः भेद भी बताये गये हैं, जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं[41] -

1. **अनादि नित्य** - यह भेद शुद्ध पर्यायार्थिक कहलाता हैं। जैसे - मेरु पर्वत अचल हैं।
2. **सादि नित्य** - सिद्ध आत्मा का स्वरुप
3. **सदनित्य** - सत्ता की गौणता अध्रुव होने से उत्पाद-व्यय का ग्राहक यह नय अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय हैं। जैसे- एक ही समय में द्रव्य की पूर्वपर्याय का नाश और अपर पर्याय की उत्पत्ति होती हैं।
4. **नित्याऽशुद्ध** - यह नय द्रव्य की सत्ता अर्थात् ध्रुवता को ग्रहण करता है। जैसे - श्याम घट को पकाने पर उसके रक्त होने से उसमें शुद्ध रुप सत्ता का ग्रहण करने पर 'नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक' नय होता हैं।
5. **नित्य-शुद्ध** - उपाधि होने पर द्रव्य के निरुपाधिक स्वरुप का ग्रहण करानेवाला नय नित्यशुद्ध पर्यायार्थिक नय है। जैसे - अष्ट कर्मो से उपाधियुक्त हुआ संसारी जीव निरुपाधिक रुप से सिद्ध कर्मोपाधि रहित जीव के समान ही नित्य शुद्ध है। यह नय उपाधि से रहित शुद्ध द्रव्य का ही ग्रहण करता हैं।
6. **अशुद्धानित्य** - जो अशुद्ध भी हो और अनित्य भी हो, उसे ग्रहण करानेवाला अशुद्धनित्य पर्यायार्थिक नय है। जैसे - संसारी जीव कर्मोपाधि के कारण अशुद्ध भी है और जीव की संसारी दशा विनश्वर होने से संसारी जीव अशुद्धानित्य हैं।

सात नय :-

सामान्यतया जैन दर्शन में सात नय प्रचलित हैं। आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में विभिन्न जैनागमानुसार नैगमादि सातों नयों का वर्णन करते हुए कहा है-

1. नैगम नय :-

सामान्य-विशेष (भेदाभेद) का ग्राहक होने से जिसको अनेक (प्रकार के) ज्ञान के द्वारा जाना जाय, वह नैगम नय है अथवा निश्चित (प्रयोजना लक्ष्यरुप) अर्थबोध में जो कुशल है - वह नैगम नय है अथवा जिसके बोध का मार्ग एक नहीं अपितु अनेक है वह नैगम नय हैं। अथवा जो अर्थबोध में कुशल है वह नैगम नय हैं। अथवा महासत्तारुप सामान्य विशेष ज्ञान के द्वारा एक प्रकार के मान से जो नहीं

30. अ.रा.पृ. 4/2469; 2470
31. अ.रा.पृ. 5/211
32. अ.रा.पृ. 5/211; नियमसार, गाथा 14 की टीका
33. अ.रा.पृ. 5/211; प्रज्ञापनासूत्र, 5 पद; पञ्चास्तिकायसंग्रह 10 की टीका; जिनागमसार, पृ. 459-460
34. अ.रा.पृ. 5/211; आवश्यक मलयगिरि-1 अध्ययन; पञ्चाध्यायी 1/165;
35. अ.रा.पृ. 5/229; रत्नाकरावतारिका परिच्छेद-7; नियमसार-गाथा 19 की टीका
36. पञ्चाध्यायी-1/519, जिनागमसार, पृ. 682
37. श्री मोक्षशास्त्र-1/33 की टीका, पृ. 93
38. अ.रा.पृ. 5/229; सम्मतितर्क काण्ड
39. अ.रा.पृ. 5/229; द्रव्यानुयोग तर्कणा 5/3
40. अ.रा.पृ. 5/229; रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद 7
41. अ.रा.पृ. 5/229, 230; द्रव्यानुयोगतर्कणा, अध्याय 6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाना जाता वह नैगम नय हैं।[42] अथवा 'निगम' का अर्थ 'जनपद' (देश) करने पर लोक में देश विशेष में जो शब्द जिस अर्थ विशेष के लिए नियत है, वहाँ पर उस अर्थ शब्द के (वाच्य-वाचक के) संबंध को जानने का नाम नैगम नय हैं।[43] जैसे -मिट्टी के घडे के घी भरने हेतु ले जाने पर उसे घी के घडे ले जा रहा हूँ - एसा कहना, उस प्रदेश विशेष में घडा, कुंभ कलशादि कहना।

अभिधान राजेन्द्र में नैगम नय के विभिन्न ग्रंथो के अनुसार अनेक प्रकार के भेद दर्शाये गये हैं- यथा विशेषावश्यक भाष्य में इसके तीन भेद किये गये हैं[44]-

1. सर्वविशुद्ध - निर्विकल्पमहासत्ताग्राहक
2. विशुद्धाविशुद्ध - गाय, बैल, बछडे आदि के लिए 'गोत्व' सामान्य ग्राहक
3. सर्वविशुद्ध-विशेषवादी - गाय को गाय और बैल को बैल कहना।

रत्नाकारावतारिका में धर्म-धर्मी की अपेक्षा से नैगम नय के तीन भेद किये गये हैं[45]-

1. धर्म - आत्मा सचेतन हैं।
2. धर्मी - वस्तु पर्यायवान् द्रव्य होता हैं।
3. धर्म-धर्मी - क्षणमात्र सुखी विषयासक्त जीव।

तत्त्वार्थसूत्र में नैगम नय के दो भेद दर्शाये गये हैं[46]-

1. सर्वपरिक्षेपी-समग्रग्राही - 'घट' पदार्थ में सोने, चांदी, पीतल, मिट्टी, लाल, काला, सफेद इत्यादि का भेद न करके 'घट' मात्र को ग्रहण करना।
2. देश परिक्षेपी-देशग्राही - विशेष अंश का आश्रय करके प्रवृत होनेवाला, जैसे घट को मिट्टी का या तँबे का इत्यादि विशेष रुप से ग्रहण करना।

2. संग्रह नय :-

विशेषादि भेद रहित सामान्य मात्र को ग्रहण करनेवाला संग्रह नय हैं। यह सामान्य-विशेष आदि सब को एकसाथ ग्रहण करता हैं।[47] इसके दो भेद हैं-

1. परसामान्य - यह भेद रहित अंतिम सामान्य को ग्रहण करता है, जैसे-द्रव्य मात्र सत् हैं।
2. अपर सामान्य - सत्तारुप महासामान्य की अपेक्षा लघु जैसे द्रव्यत्व आदि सामान्य को अपर सामान्य कहते हैं[48]।

द्रव्यानुयोग तर्कणा में इन्हें सामान्यसंग्रह और विशेषसंग्रह के नाम से कहा गया हैं।[49]

3. व्यवहार नय :-

संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थों का निषेध नहीं करते हुए विधान करके जो विशेष परामर्श करते हुए उसी को माने/स्वीकार करें, वह व्यवहार नय हैं।[50] उदाहरण - जैसे जो सत् है, वह द्रव्य है या पर्याय? एसा विमर्श करना[51]।

4. ऋजुसूत्र नय :-

अतीत-अनागत (भूत-भविष्य) के त्यागपूर्वक जो केवल वर्तमान का बोध कराता है, वह ऋजुसूत्र नय हैं।[52] यह नय वर्तमान वस्तु के लिङ्ग, वचन और निक्षेप की भिन्नता भी सामान्य रुप से ग्रहण करता हैं। यह नय स्वानुकूल कार्य प्रत्यय को ग्रहण करता है, परानुकूल को नहीं।[53]

5. शब्द नय :-

शब्द के लिङ्ग, काल, कारक, वचन आदि के भेद के अर्थभेदपूर्वक बोध करानेवाले नय को शब्दनय कहते हैं। शब्दनय लिंगादि के भेद से अर्थ भेद कराता है, परन्तु पर्यायवाची शब्दों को समान मानता हैं।[54]

---

42. (क) सामान्यविशेषग्राहकत्वात्तस्यानेकेन ज्ञानेन मिनोति परिच्छिनत्तीति नैगमः। अथवा निगमा निश्चितबोधाः, तेषु कुशलो भवो वा नैगमः। अथवा नैको गमोऽर्थमार्गो यस्य स प्राकृतत्वेन नैगमः। निगमेषु वाऽर्थबोधेषु कुशलो भवो वा नैगमः। स्थानांग-3/3, अ.रा.पृ. 4/2157
    (ख) .....नैकमानैर्महासत्ता-सामान्यविशेषज्ञानैर्मिमीते मिनोति वा नैगमः। (स्थानांग-7 वाँ ठाणां); अ.रा.पृ. 4/2157; विशेषावश्यक भाष्य-2/86-87
43. तत्त्वार्थभाष्य। 1/35, पृ. 61,62
44. अ.रा.पृ. 4/2157; विशेषावश्यकभाष्य 2188;
45. अ.रा.पृ. 4/1856; रत्नाकरावतारिका-7/7 से 10
46. तत्त्वार्थसूत्र 1/35 एवं उस पर भाष्य, पृ. 61, 62
47. अ.रा.पृ. 4/1856; 7/73; तत्त्वार्थभाष्य 1/35
48. अ.रा.पृ. 4/1856; रत्नाकरावतारिका 7/14, 15, 16, 19, 20
49. अ.रा.पृ. 7/73, 74; द्रव्यानुयोगतर्कणा - 6/12
50. अ.रा.पृ. 4/1856; रत्नाकरावतारिका - 7/23
51. वही, वही 7/24
52. अ.रा.पृ. 2/770; 4/1856; रत्नाकरावतारिका - 7/28
53. अ.रा.पृ. 2/770;
54. अ.रा.पृ. 2/770; 7/366 से 369; रत्नाकरावतारिका - 7/32-33; विशेषावश्यकभाष्य 2227 से 2235; स्थानांग 7/3, नयोपदेशतर्कणा 33 से 35

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरण - (क) लिङ्ग - बालः, बाला। काल - बभूव, भवति, भविष्यति।
कारक - बालकेन, बालकाय इत्यादि। वचन - तटः, तटौ, तटाः।
आदि में भेद करना
(ख) घट-कलश-कुम्भ आदि को समान मानना।

6. समभिरूढ नय :-

यह नय पर्यायवाची शब्दों में भी निरुक्ति भेद से अर्थ भेद ग्रहण करता हैं। जैसे - शक्र, पुरन्दर, इन्द्र आदि शब्द इन्द्र के वाचक होने पर भी समभिरुढ नय इसे भिन्न-भिन्न रुप से ग्रहण करता हैं। समभिरुढ नय के अनुसार 'घट' शब्द घट के लिए प्रयुक्त होगा और कलश का अर्थ विवाह आदि माङ्गलिक कार्यों का मङ्गल कलश होगा अतः शब्द नय की दृष्टि में अभिन्न दिखाई देनेवालें घट और कलश समभिरुढ नय की दृष्टि में भिन्न हैं।[55]

7. एवंभूत नय :-

जिस पदार्थ का जिस शब्द से बोध कराया जाता हो, उस पदार्थ में उसके बोधक शब्द के व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थानुसार क्रिया जिस काल में प्राप्त होती है, तब ही उस पदार्थ को उस शब्द के द्वारा संबोधन करना/सत्यरुप में ग्रहण करना एवंभूत नय हैं।[56] जैसे राजा जिस समय राजचिह्न मुकुटादि धारण कर राजसभा में राजसिंहासन पर बैठकर राज्य संबंधी कार्य कर रहा हो, उसी समय उसे राजा कहना, अन्यत्र नहीं।[57] जिस समय किसी देव या यज्ञ के द्वारा जब वह पुरुष या बालक दिया गया हो उसी समय उसका नाम देवदत्त या यज्ञदत्त हो सकता है, अन्यत्र नहीं।[58] इस प्रकार एवंभूत नय प्रत्येक वस्तु को जिस समय वह अपने नाम के अनुसार क्रिया करता हो, उसी समय उसे स्वीकार करता है, अन्यथा नहीं करता।

नयसंख्या व्यवस्थापनः समीक्षा दृष्टि :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नयों का विवरण प्रस्तुत करने के बाद 'नय' शब्द के 29 वें बिन्दु में निश्चय और व्यवहार - इन दो मूल नयों को स्वीकार किया गया है। आगे द्रव्यार्थिक नय का विवरण देते हुए अभिधानराजेन्द्र, भाग 4, पृ. 2469 पर द्रव्यार्थिक नय के 10 भेद बताये हैं। इसी प्रकार अभिधान राजेन्द्र के पञ्चम भाग में पर्यायार्थिक नय के छः भेद बताये हैं *(अभिधान राजेनद्र, 5/229)*। भेद-प्रभेदों और लक्षणों को देखने से एसा प्रतीत होता है कि कहीं पर तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद किये गये हैं और कहीं पर निश्चय और व्यवहार - ये दो भेद किये गये हैं। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है - क्या ये दोनों नय युगल आपस में पर्यायवाची है? या उनका कुछ अलग स्वरुप हैं? इनके भेद-प्रभेदों को देखने से हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते, इसलिए डो. हुकुमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में लिखित भेद समीक्षा के आधार पर उक्त प्रश्न का समाधान दिया जा रहा है। वहाँ पर मूल नयों की सूचना देनेवाली तीन कारिकाओं को उद्धृत किया गया हैं। द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र-गाथा 182 को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि "निश्चय और व्यवहार ये दो मूल नय हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।[59]"

इसी तरह इसी की 183 वीं गाथा में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को मूल नय कहा गया हैं[60]। पञ्चाध्यायीकारने इन दोनों नय-युगलों को अनर्थान्तर बताते हुए कहा है कि "पर्यायार्थिक अथवा व्यवहार ये दोनों एक ही हैं।[61] इसी प्रकार का एक प्रयास 'आलाप पद्धति' में भी किया गया हैं; जिसमें कहा गया है कि द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र की गाथा 182 में नयों के मूल भेद जो निश्चय और व्यवहार माने गये हैं उसमें से निश्चय नय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहार नय पर्यायाश्रित है; एसा समझना चाहिए।[62]

डो. हुकमचन्द भारिल्ल का मानना यह है कि उपर्युक्त प्रयास समन्वय मात्र है, किन्तु निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आपस में पर्यायवाची नहीं है क्योंकि द्रव्य स्वभावप्रकाशकनयचक्र गाथा 182 में निश्चय और व्यवहार को मूल नय स्वीकारने के तत्काल बाद गाथा 183 में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को मूल नय कहा गया है। स्पष्ट है कि लेखक कुछ और स्पष्ट करना चाहते हैं इसलिए मूल नय के ये दोनों प्रकार दिखाये गये हैं। दोनों कारिकाओं को देखने से यह लगता है कि निश्चय और व्यवहार तो मूल नय हैं और द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय उनके हेतु हैं। इसका और स्पष्ट करते हुए डो. भारिल्ल का कहना है कि हेतु-हेतुक सम्बन्ध का भी दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता हैं-

---

55. अ.रा.पृ. 4/1857; 7/417, स्थानांग 3/3, रत्नाकरावतारिका 7/36-37, विशेषावश्यकभाष्य 2236 से 2250
56. अ.रा.पृ. 3/50, 51; 41/1857, रत्नाकरावतारिका 7/40, 41
57. अ.रा.पृ. 3/51
58. अ.रा.पृ. 4/1857
69. 'णिच्छयववहारणय मूलमभेयाणयाण सव्वाणं । णिच्छयसाहणहेउ पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥" - द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र 182; आलापपद्धति, गाथा 3
60. 'दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया ।
अण्णे असंखसंख्या ते तब्भेया मुणेयव्वा । - द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र 182, गाथा 183
61. 'पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति । एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचार मात्रः स्यात् । - पञ्चाध्यायी-1/521
62. आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रंथ, पृ. 561 से जिनवरस्य नयचक्रं, पृ. 26 पर उद्धरित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"यहाँ पर द्रव्यार्थिक नय निश्चय नय का और पर्यायार्थिक नय व्यवहार नय का हेतु है - एसा कहने के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि 'द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक' -दोनों ही नय निश्चय-व्यवहार दोनों नयों के हेतु हैं। क्योंकि द्रव्यार्थिक के अनेक भेदों को अध्यात्म में व्यवहार कहा जाता हैं तथा पर्यायार्थिक के अनेक भेदों का कहीं-कहीं निश्चय के रुप में भी कथन मिल जायेगा।[63]

डो. हुकमचन्द भारिल्लने 'आलाप पद्धति'[64] के कथन के आधार पर इन दोनों नय युगलों को अलग-अलग शैली के नय युगल बताया हैं-

(1) आगम पद्धति के नय - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

(2) अध्यात्म पद्धति के नय - निश्चय और व्यवहार

डो. हुकमचन्द भारिल्ल ने 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के आधार पर नय युगलों में हेतु-हेतुक संबन्ध बताकर आगम को अध्यात्म का हेतु बताते हुए उनमें हेतु-हेतुक संबन्ध बताया हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय को तो निश्चय-व्यवहार के हेतु होने से मूल नय कहा गया हैं।[65]

हमने यहाँ सभी मतों का संग्रह करके निम्न अभिलेखों के द्वारा नयों के वर्गीकरण को प्रस्तुत करने का प्रयास किया हैं-

63. जिनवरस्य नयचक्रम्, पृ. 27, 28 - ले. डो. हुकमचन्द भारिल्ल

64. पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते । तावन्मूलनयौ द्वौ, निश्चयो व्यवहारश्च । - आलापपद्धति, पृ. 228

65. विशेष विवरण हेतु 'जिनवरस्य नयचक्रम्' - ले. डो. हुमकचन्द भारिल्ल का अवलोकन करें ।

शास्त्र

परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते ।
आसन्नभव्यो मतिमान्, श्रद्धाधनसमन्वितः ॥1॥
उपदेश विनाऽप्यर्थ-कामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रा-दिति तत्रादरो हितः ॥2॥
अर्थाऽऽदावविधानेऽपि, तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधान्तोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात्परः ॥3॥
तस्मात्सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन्, शास्त्राऽऽलोक प्रवर्त्तकः ॥4॥
पापामयौषधं शास्त्र, शास्त्रे पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुं सर्वत्रगं शास्त्र, शास्त्र सर्वार्थसाधनम् ॥5॥
न यस्य भक्तिरेतस्मिं-स्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रिया तुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥6॥
यः श्राद्धो मन्यते मान्या-नहङ्कारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभाग स्तस्य धर्मक्रिया परा ॥7॥
यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वा-न्न प्रशंसाऽऽस्पदं सताम् ॥8॥
मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥9॥
शास्त्रभक्तिर्जगद्बन्धै-र्मुक्तिदूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या, तत्प्राप्त्यासन्न भावतः ॥10॥

— अ.रा.पृ. 4/2720

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नय कोष्टक : 1

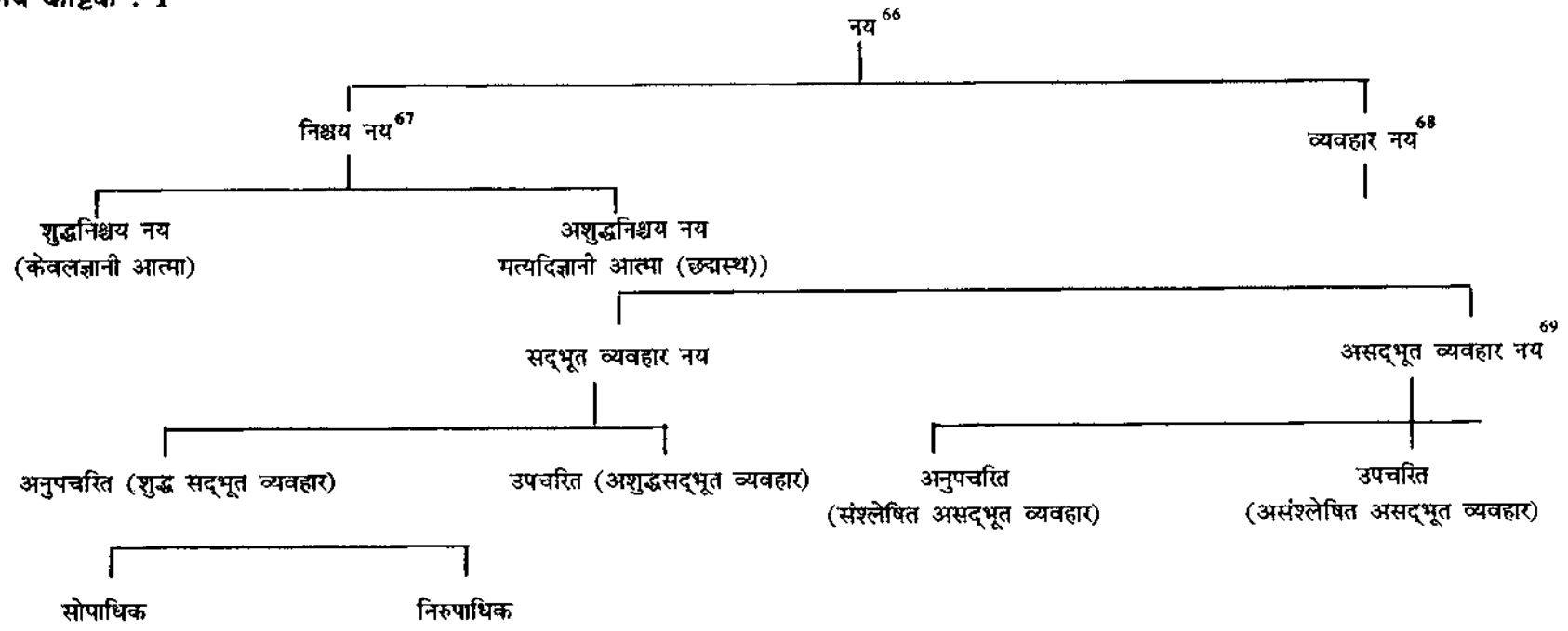

66. अ.रा., पृ. 4/1892; आलापपद्धति, द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, पृ. 228; बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा 3 की टीका, पृ. 19; द्रव्यानुयोगतर्कणा-8/1;
67. अ.रा., पृ. 4/1892, तत्र निश्चयो द्विविधः; शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च। - द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र से जिनवरस्यनयचक्रं, पृ. 74 पर उद्धृत; द्रव्यानुयोगतर्कणा 8/1-2,
68. अ.रा.पृ. 4/1892; द्रव्यस्वभावप्रकाश नयचक्र, पृ. 228; जिनवरस्य नयचक्रम्, पृ. 108
69. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नय कोष्टक : 2

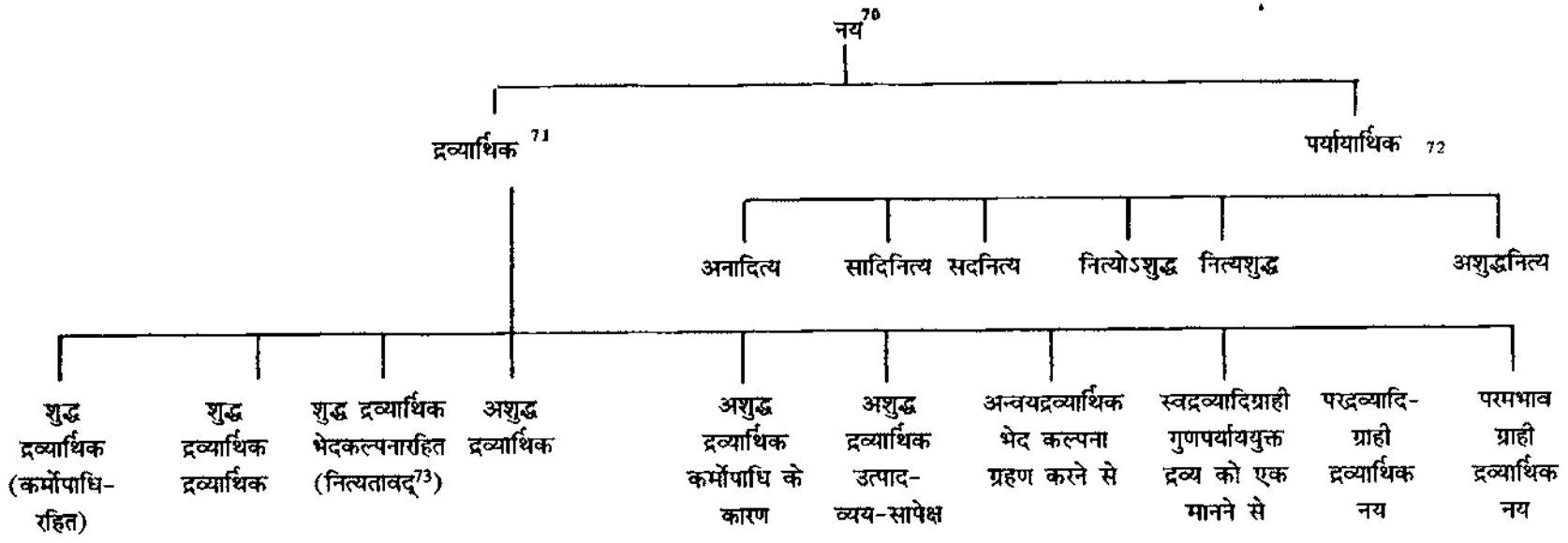

70. अ.रा.पृ. 4/1876; सम्मतितर्क, काण्ड 1/12
71. अ.रा.पृ. 4/2469; 2470 द्रव्यानुयोगतर्कणा 5/9 से 19
72. अ.रा.पृ. 5/229, 230; द्रव्यानुयोगतर्कणा 6/2 से 7
73. द्रव्य के नित्य होने के कारण सत्ता को मुख्य और उत्पाद व्यय को गौण मानने से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

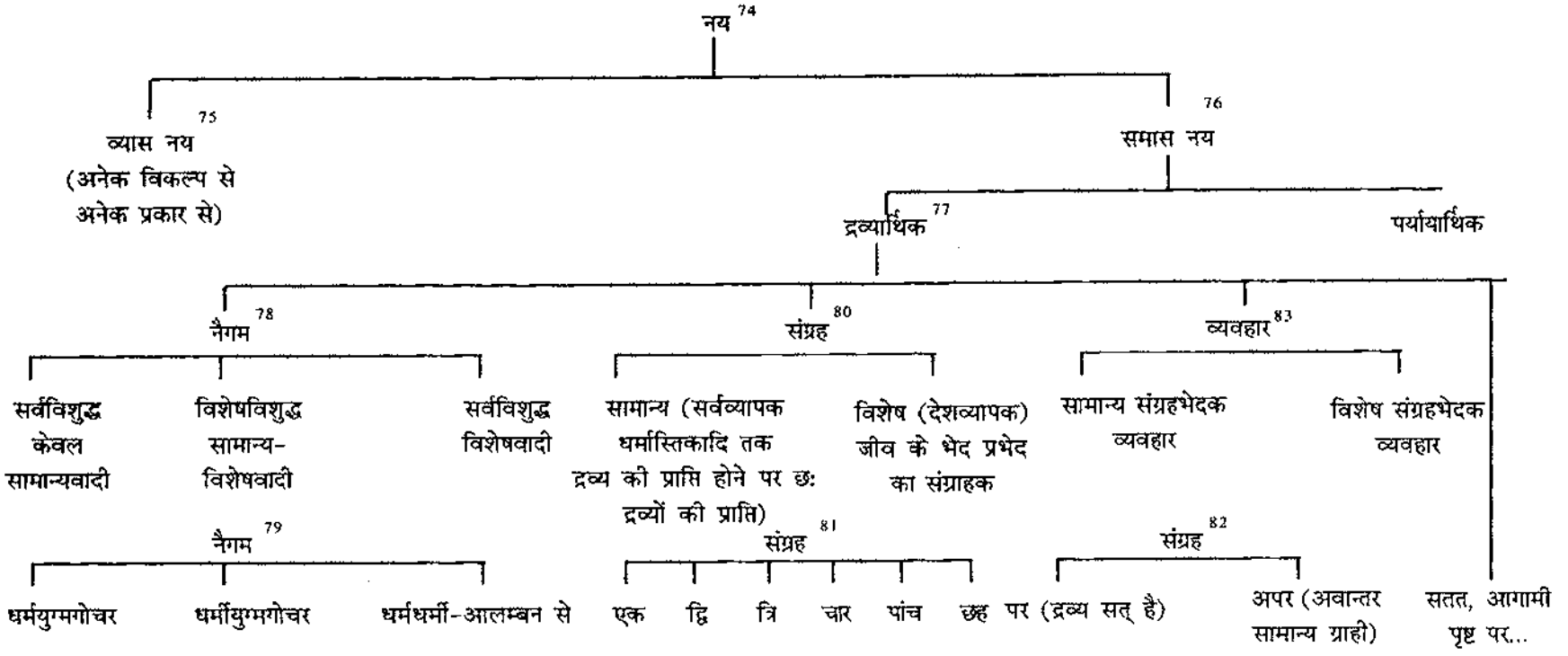

74. अ.रा.पृ. 4/1855
75. अ.रा.पृ. 4/1855; सर्वार्थसिद्ध-1/33 की टीका; पंचाध्यायी-1/589; गोम्मटसार, कर्मकांड, गाथा 894; सम्मतितर्क 3/47
76. अ.रा.पृ. 4/1855, द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र गाथा-183, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा 31, 32; पञ्चाध्यायी-1/516, 517
77. अ.रा.पृ. 4/1856, 2470
78. अ.रा.पृ. 4/2157
79. अ.रा.पृ. पृ. 4/1856
80. अ.रा.पृ. 7/73, 7/74
81. अ.रा.पृ. 7/74; नयोपदेश सटीक-23
82. अ.रा.पृ. 4/1856
83. अ.रा.पृ. 6/932, 933; विशेषावश्यकभाष्य 2215, 2219

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

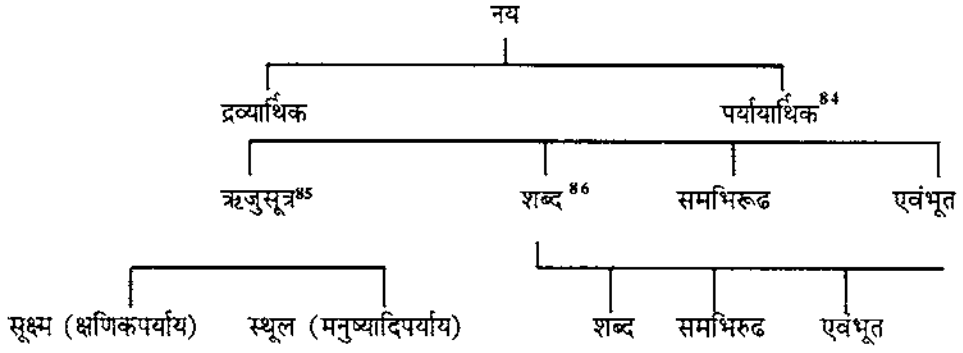

निक्षेप

प्रमाण और नयों का निक्षेप से सीधा सम्बन्ध है क्योंकि निक्षेप निहित वस्तु स्वरुप को ही प्रमाण और नयों के द्वारा जाना जाता हैं इसलिए नयों के परिचय के बाद निक्षेपों को महत्त्व दिया जाना उचित हैं। तत्वार्थ सूत्र में प्रथम अध्याय में प्रमाणोल्लेख के पूर्व ही निक्षेपों का संकेत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जीवादि सात तत्त्वों का न्यास नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव नामक चार निक्षेपों से ही सम्भव हो पाता है। इन चार निक्षेपों में न्यस्त सात तत्त्वों को प्रमाण और नयों के द्वारा जाना जाता है। तत्त्वार्थाधिगम भाष्य आदि विस्तारक ग्रन्थों में इनका विस्तार समझाया गया हैं।

शास्त्रों (जैनागम ग्रंथो) का, उनमें आये हुए अध्ययन, उद्देश्य आदि को नामादि भेदों के द्वारा व्यवस्थित/नियत/निश्चित करना 'निक्षेप' कहलाता हैं।[87] आचारांग में यथाभूत अर्थनिरपेक्ष अभिधान (नाम) मात्र को 'निक्षेप' कहा हैं।[88] अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यकादि के यथासंभव नामादि भेदों की प्ररुपणा को 'निक्षेप' कहा है।[89] जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति में क्रमानुसार प्राप्त व्याख्यायित शास्त्रों के नामादि के न्यास को 'निक्षेप' कहा हैं।[90]

निक्षेप के भेदो की व्याख्या करने से पूर्व अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि तत्त्ववेत्ता जिन-जिन जीवादि पदार्थों को जानता हो, उनका भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव -इन निक्षेपचतुष्टयपूर्वक चिन्तन करना चाहिए। और जिन पदार्थो के बारे में वह नहीं जानता हो, उनका भी निक्षेपचतुष्टयपूर्वक चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि एसी कोई भी वस्तु नहीं है जो नामादिनिक्षेप से व्यभिचरित हो।[91]

निक्षेप तीन प्रकार से :-

1. ओघनिष्पन्न :-

श्रुत शास्त्र के अध्ययनादि के द्वारा निष्पन्न 'ओघनिष्पन्न' कहलाता हैं। वह चार प्रकार से है- अध्ययन, अक्षीण, आय, क्षपण।[92]

क. अध्ययन - जिससे शिष्य के द्वारा गुरु के पास क्रमपूर्वक अध्ययन किया जाय / पढा जाय, उसे अध्ययन कहते हैं। यह विशिष्ट अर्थध्वनि के संदर्भ रुप श्रुत का भेद हैं। वह सूत्र, अर्थ और तदुभय भेद से तीन प्रकार का हैं, जिसके अनेक प्रभेद भी राजेन्द्र कोश में दर्शाये गये हैं।[93]

ख. अक्षीण - अ.रा.भा.1 पृ. **149** पर जो क्षय को प्राप्त नहीं होता, उसे 'अक्षीण' कहा है परन्तु यहाँ सामायिकादि श्रुत के विषय में भाव-अध्ययनादि को 'अक्षीण' कहते हैं।[94]

ग. आय - ओघनिष्पन्न निक्षेप के द्वारा सामान्यतः जिससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सामायिकादि का लाभ होता है ऐसे अङ्ग, अध्ययन, उद्देश्यादि श्रुत को 'आय' कहते हैं। यहाँ इसके विभिन्न भेद-प्रभेद भी वर्णित हैं।[95]

---

84. अ.रा.पृ. 4/1856, 5/229, तत्वार्थसूत्र 1/33 पर सर्वार्थसिद्धि टीका; श्रीपुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा 31, 32 नी टीका
85. अ.रा.पृ. 2/270
86. तत्वार्थसूत्र 1/35 एवं उस पर तत्वार्थ भाष्य
87. अभिधानराजेन्द्र, पृ. 4/2027; विशेषावश्यकभाष्य 912
88. आचारांग - 1/2/1
89. अ.रा.पृ. 4/2027
90. अ.रा.पृ. 4/2027; जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति, । वक्षस्कार
91. जत्थ य जं जाणेज्जा, निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं ।
जत्थ वि अ न जाणेज्जा, चउक्कगं निक्खिवे तत्थ ॥ - अ.रा.पृ. 4/2027
92. अ.रा.पृ. 4/2027, 3/128
93. अ.रा.पृ. 1/231
94. अ.रा.पृ. 3/128
95. अ.रा.पृ. 3/128, 2/321

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घ. क्षपण - सामायिकादि श्रुत के विषय में भाव-अध्ययन को 'क्षपण' कहते हैं। यहाँ इसके नामादि भेद-प्रभेद भी बताये गये हैं।[96]

2. नाम-निक्षेप[97] :-

नाम निक्षेप चार प्रकार का हैं-

क. नाम निक्षेप - अर्थात् (1) अमुक नाम का पदार्थ या (2) नाम जैसे कि इन्द्र नाम का बालक अथवा (3) इन्द्र यह नाम। इसी प्रकार जैनत्व के किसी भी गुणविहीन एकमात्र नाम से जैन, अथवा 'जैन' यह नाम निक्षेप से जैन है।

ख. स्थापनानिक्षेप - अर्थात् मूल व्यक्ति की मूर्ति, चित्त, फोटो आदि या आकृति। यह मूर्ति आदि में मूल वस्तु की स्थापना अर्थात् धारणा की जाती है। जैसे मूर्ति को लक्ष्य करके कहा जाता है, 'यह महावीर स्वामी है। मानचित्र में कहा जाता है- 'यह भारत देश हैं', 'यह अमेरिका है' -इत्यादि व्यवहार स्थापना निक्षेप से हैं।

ग. द्रव्यनिक्षेप - द्रव्य निक्षेप का अर्थ है मूल वस्तु की पूर्व-भूमिका, कारण-अवस्था अथवा उत्तर अवस्था की आधार रुप वस्तु, या चित्त के उपयोग से रहित क्रिया। जैसे कि भविष्य में राजा होनेवाले राजपुत्र को किसी अवसर पर 'राजा' कहा जाता है, वह द्रव्य राजा है। तीर्थंकर होनेवाली आत्मा के विषय में तीर्थंकर बनने से पहले भी 'मेरु पर तीर्थंकर का अभिषेक होता है' इत्यादि वचन कहे जाते हैं। अथवा जब समवसरण पर बैठकर तीर्थ की स्थापना नहीं कर रहे हैं किन्तु विहार कर रहे हैं, तब भी उन्हें तीर्थंकर कहा जाता हैं। यह तीर्थंकर अवस्था की आदान भूत अथवा आधारभूत वस्तु हैं। इसी प्रकार चंचल चित्त से किया जानेवाला प्रतिक्रमण यह द्रव्य प्रतिक्रमण है, द्रव्य आवश्यक क्रियाभेद हैं।

घ. भावनिक्षेप - नाम विशेष का अर्थ यानी भाव, वस्तु की जिस अवस्था में ठीक प्रकार से लागू हो, उस अवस्था में वस्तु का भाव निक्षेप माना जाता हैं। जैसे कि समवसरण में देशना दे रहे हैं तब तीर्थंकर शब्द का अर्थ यानी भाव तीर्थ को करनेवाले, देशना देकर तीर्थ को चलानेवाले - यह लागू होता है। अत: वे तीर्थंकर भाव-निक्षेप में गिने जाते हैं। 'साधुत्व के गुणोंवाला साधु 'देव-सभा में सिंहासन पर ऐश्वर्य-समृद्धि से शोभायमान इन्द्र' आदि भाव-निक्षेप के दृष्टान्त हैं।

यहाँ जैसे 'द्रव्य-निक्षेप' कारणभूत पदार्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही बिल्कुल कारण भूत नहीं, किन्तु आंशिक रुप से समान दिखायी देनेवाली तथा उस नाम से संबोधित गुणरहित मिलती-जुलती वस्तु में भी प्रयुक्त होता है। जैसे कि अभव्य आचार्य भी द्रव्य आचार्य हैं। प्रात:काल किये जानेवाला दातुन, स्नानादि भी द्रव्य आवश्यक क्रिया हैं।

एक व्यक्ति में भी चारों निक्षेप घटित हो सकते हैं। शब्दात्मक नाम यह नाम निक्षेप है। आकृति यह स्थापना निक्षेप है। कारण भूत अवस्था यह द्रव्य निक्षेप है। उस नाम की भाव-अवस्था यह भाव निक्षेप हैं।

3. सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेप[98] :-

सूत्र के आलापक यानी 'पाठों' की नाम-स्थापनादि भेदपूर्वक व्यवस्था या निष्पत्ति को 'सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप का फल :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में निक्षेपपूर्वक पदार्थ चिन्तन का फल बताते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि ''वस्तु के अप्रस्तुत अर्थ को दूर करने और प्रस्तुत अर्थ को प्रकट करने में निक्षेप फलवान् (सफल) हैं।[99]

यहीं पर आचार्यश्रीने निक्षेप के विन्यास, गणनिक्षेपण, मोक्ष, मोचन (मुक्ति) और परित्याग-अर्थ भी बताया हैं।[100]

पमेज्ज - प्रमेय (त्रि.) 5/497

जैनागमों में द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को 'प्रमेय' कहा है। यहाँ न्यायोक्त आत्मा, शरीरादि प्रमेयों का संक्षिप्त में खंडन किया गया है।

पयत्थ - पदार्थ (पुं.) 5/504

क्रिया-कारक के विधानपूर्वक यथावस्थित अर्थज्ञान की प्ररुपणा के द्वारा जो वाच्य बने उसे 'पदार्थ' कहते हैं। यहाँ जैनागमानुसार चार-सात-आठ-नव (नवतत्त्व) प्रकार से पदार्थ का वर्णन किया गया हैं। साथ ही न्यायोक्त षोडशपदार्थवाद का खंडन किया गया हैं।

परमाणु - परमाणु (पुं.) 5/540

पुद्गल के अत्यन्त सूक्ष्म (अविभाज्य) अंश को 'परमाणु' कहते हैं। यहाँ परमाणु के भेदों का परिचय दिया गया हैं।

परिणाम - परिणाम (पुं.) 5/592

आत्मा का बहुत लम्बे काल तक पूर्वापर विचारजन्य धर्मविशेष, सर्वप्रकार से जीव-अजीव आदि पदार्थों के जीवत्वादि के अनुभव का प्रभाव, कथंचित् स्थिर वस्तु की पूर्वावस्था का त्याग और उत्तरावस्था में गमन, पदार्थ की पर्यायान्तर की प्राप्ति और द्रव्य का तद्रुप

96. अ.रा.पृ. 3/128, 2/733
97. अ.रा.पृ. 4/2027, तत्वार्थसूत्र 1/5 पर तत्वार्थ भाष्य
98. अ.रा.पृ. 4/2027; अनुयोगद्वारसूत्र तृतीयद्वार
99. अ.रा.पृ. 4/2027; व्यवहारसूत्र, 1 उद्देश
100. अ.रा.पृ. 4/2027

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तन 'परिणाम' कहलाता हैं।

यहाँ जीवाजीव, गति, पुद्गल और उनके भेद-प्रभेद का वर्णन एवं उनके परिणाम तथा तदनुसार कर्मबन्ध का वर्णन किया गया हैं।

परिहरणदोस - परिहरणदोष (पुं.) 5/658

वादी के द्वारा स्वदर्शन में उपन्यस्त दोष का असम्यक् परिहार 'परिहरण दोष' कहलाता हैं।

परोक्ख - परोक्ष (न.) 5/697

इन्द्रिय और मन की व्यवधान/सहायता से आत्मा को असाक्षात्कारी अर्थप्रत्यय होता है, उसे 'परोक्ष' कहते हैं। जो अस्पष्ट होता है, उसे 'परोक्ष' कहते हैं।

प्रवाय - प्रवाद (पुं.) 5/787

उत्कृष्ट रुप से स्वाभिमत अर्थ का प्रतिपादन, अन्योन्य पक्ष-प्रतिपक्ष के भाव से मात्सर्यभाव, आचार्य का पारम्परिक उपदेश, प्रकृष्ट वाद और सर्वज्ञ के वाक्य को 'प्रवाद' कहते हैं। यहाँ सर्वज्ञ वचनानुसार अन्यतीर्थिकों के प्रवाद (प्रलापों) की परीक्षा की गई हैं।

प्रागभाव - प्रागभाव (प्रुं.) 5/822

वस्तु की उत्पत्ति के पूर्व वस्तु का जो अभाव होता है, उसे 'प्रागभाव' कहते हैं। जिसकी निवृत्ति होते ही कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे 'प्रागभाव' कहते हैं।

पुरिसवाइ (ण्) - पुरुषवादिन् (पुं.) 5/1038

पुरुष ही सब कुछ है, जो हुआ-हो रहा है और होगा, वह सब पुरुष के अधीन है-ऐसी प्रतिज्ञा के साथ वाद करनेवाले ईश्वरवादियों को 'पुरुषवादी' कहते हैं।

पुहत्त - पृथकत्व (न.) 5/1065

'पृथकत्व' शब्द राजेन्द्र कोश में विस्तार, बहुत्व, पार्थक्य, ग्रन्थविभाग, नैयायिक संमत गुण का एक भेद इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त हैं।

सम्मति तर्क के अनुसार संयुक्त द्रव्य भी जिस कारण से 'यह भिन्न है' -एसा ज्ञान होता है, उसके भेद (अपोद्धार) व्यवहार का कारण 'पृथक्त्व' नामक गुण है -एसा महर्षि कणाद ने कहा है। यहाँ पर स्थानांग सूत्र एवं सम्मति तर्क के आधार पर 'पृथक्त्व' की विस्तृत व्याख्या दी गई हैं।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द और मूर्तस्वभावयुक्त, संघातभेदनिष्पन्न, पूरण-गलन स्वभाववाला द्रव्य 'पुद्गल' कहलाता है। यहाँ पुद्गल का स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु - इन चारों भेद एवं उनके प्रभेदपूर्वक विस्तृत परिचय दिया गया हैं।

फोड - (स्फोट) (पुं.) 5/1161

पूर्व-पूर्व के उच्चरित वर्ण के अनुभवसहित चरमवर्ण के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ के प्रत्यायक अखंड शब्द को स्फोट कहते हैं। यह विषय व्याकरण दर्शन का है। अभिधानराजेन्द्र में जैनसिद्धान्तसम्मत अर्थप्रत्ययसिद्धान्त को सम्मतितर्क, प्रथमकांड की 32 वीं गाथा की टीका के आधार पर प्रस्तुत किया गया हैं।

बन्ध - बन्ध (पुं.) 5/1164

जीव और कर्मपुद्गल का संश्लेष, जीव के द्वारा नये कर्मो का ग्रहण, कषाययुक्त आत्मा का कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से संश्लेष, आठों प्रकार के कर्म पुद्गलों के द्वारा जीव के प्रत्येक प्रदेश को चिपकना, प्रकृति-स्थिति-अनुभाग (रस) और प्रदेशात्मक कर्मपुद्गलों की जीव का स्वयं के व्यापार क्रिया द्वारा स्वीकार करना 'बन्ध' कहलाता है। यहाँ 'बन्ध' तत्त्व के भेद, प्रभेद, शुभाशुभ निमित्त से होनेवाले बन्ध का विभिन्न द्वारों से विवेचन करके अंत में कहा है कि, जयणा (जीवदया) में यत्नशील आत्मा को कर्मबन्ध नहीं होते।

बंभवादि (ण्) - ब्रह्मवादिन् (पुं.) 5/1282

ब्रह्माद्वैतवादी को 'ब्रह्मवादी' कहते हैं। वें 'ब्रह्म सत् जगन्मिथ्या' -एसी प्ररुपणा करते हैं।

बुद्धि - बुद्धि (स्त्री.) 5/1326

सांख्योक्त महत्तत्व के नाम से कथित जडबोध, अध्यवसाय, मत्यादि पाँचो प्रकार का ज्ञान, उपयोगरुप विशेष ज्ञान, शब्दार्थ के श्रवणमात्र का ज्ञान 'बुद्धि' कहलाता है।

यहाँ बौद्धोक्त बुद्धि के क्षणिकत्त्व का निरास, बुद्धि के गुण एवं जैनागमोक्त औत्पादिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि का वर्णन किया गया हैं।

भाव - भाव (पुं.) 5/1492

सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, आत्मा, जन्म, सुख, पदार्थ, विभूतिवान प्राणी आदि के विषय में चिन्तन, नाट्योक्ति, हृदयगत अवस्था, मानस विकार, चित्ताभिप्राय, मानसिक परिणाम, अन्तःकरण की परिणति, सत्श्रद्धानरुप अध्यवसाय, धर्मश्रवण से विरति (त्याग) के प्रति उत्पन्न उत्साह, स्त्री चेष्टा, घट-पटादि वस्तु आदि विषय में 'भाव' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं।

यहाँ भाव निर्वचन, 'सर्व शून्य' मत का पूर्वपक्ष, उसका निराकरण, विभिन्न प्रकार से भाव की व्याख्या, भाव द्वार, औपशमिकादि भावों का कर्म के विषय में चिन्तन, लौकिक-लोकोत्तर प्रशस्त अप्रशस्त भाव वर्णन एवं तत्संबन्धी दृष्टांत वर्णित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भूयवाद - भूतवाद (पुं.) 5/1600; भूयावाद - भूतवाद (पुं.) 5/1601

अनुगत-व्यावृत्त, अशेष-विशेष, सभेद-प्रभेद सहित समग्र सद्भूत पदार्थ या प्राणी संबन्धी वाद 'भूतवाद' कहलाता हैं।

मण - मनस् (नपुं.) 6/74

'मण' शब्द का संस्कृत रुपान्तर 'मनस्' हैं। संस्कृत में 'मण' शब्द मान विशेष (तौल) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं।

'मनस्' शब्द दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त है। जिसके द्वारा जाना जाय/बोध किया जाय/मनन किया जाय उसे 'मन' कहते हैं। अभिधानराजेन्द्र में 'मनस्' शब्द के अन्तर्गत आत्मा और मन का पार्थक्य, मन की अप्राप्यकारिता, द्रव्य मन और भाव मन-ये दो भेद, मन की देहमात्रव्यापिता एवं विपक्ष का खंडन, द्रव्य मन की बहिर्गति, मन के व्यञ्जनावग्रह न होना-इन विषयों का पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष सहित विस्तृत विवेचन किया गया हैं।

मयंतर - मतान्तर (नपुं.) 6/106

रागादि रहित होने से जिनेश्वरों का मत अविरुद्ध और एक ही होता हैं। एक ही विषय में एक आचार्य के मत से विरुद्ध दूसरे मत को 'मतान्तर' कहते हैं। जैसे युगपत्केवलदर्शन और केवलज्ञान के उपयोग में सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का मत।

यह मतभेद/मतान्तर आचार्यों के अलग अलग वाचना, सम्प्रदायादि दोषों के कारण होते हैं।

माउयाणुओग - मातृकानुयोग (पुं.) 6/285

उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षणा त्रिपदी के अनुयोग को 'मातृकानुयोग' कहते हैं।

मियप्पवाद - मितात्मवाद (पुं.) 6/235

"आत्माएँ सीमित है, अतः आत्मा मोक्ष में जाकर पुनः संसार में जन्म लेती हैं" -इस प्रतिज्ञा पूर्वक किये जानेवाले वाद को 'मितात्मवाद' कहते हैं।

मियावादि - मितवादिन् (पुं.) 6/286

परिमित अक्षर बोलकर वाद करनेवालों को 'मितवादी' कहते हैं

मूलपयत्थ - मूलपदार्थ (पुं.) 6/377

कणाद ऋषि परिकल्पित द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय रुप छः पदार्थों को 'मूल पदार्थ' कहते हैं।

मोक्ख - मोक्ष 6/431

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री सर्वथा त्याग, अत्यन्त अलग भाग, मुक्ति, संसार के प्रतिपक्ष रुप, दुःख का नाश, कृतकर्मनाश, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के द्वारा कर्म का अत्यन्त नाश, जीव के रागादि एवं रोगादि दुःखों के क्षयरुप अवस्थाविशेष, सर्वकर्मनाश और आत्मा के स्वाभाविक स्वरुप की प्राप्ति को 'मोक्ष' कहते हैं। यहाँ पर आचार्यश्रीने 'मोक्ष' तत्त्व का जैन दर्शन सम्मत विस्तृत विवेचन तो किया ही है साथ ही अन्य दर्शन सम्मत 'मोक्ष' के अन्यदर्शनमान्य स्वरुप का खंडन भी किया हैं।

लक्खण - लक्षण (नपुं.) 6/591

जिस चिह्न द्वारा पदार्थ का बोध होता है, जो पदार्थ का स्वरुप है, उसे लक्षण कहते हैं।

यहाँ पर आचार्यश्रीने नाम लक्षण, स्थापना लक्षण, द्रव्य लक्षण, सामान्य लक्षण, उत्पाद लक्षण, विगम लक्षण, नाश लक्षण, वीर्य लक्षण और भाव लक्षण का विस्तृत वर्णन किया है, साथ ही विनाशवादी सौगतों का खंडन भी किया हैं।

लिंग - लिङ्ग (नपुं.) 6/656

जिस विशेषण (चिह्न) के द्वारा अतीन्द्रियार्थ या परोक्ष पदार्थ या विषय का ज्ञान होता है, उसे 'लिङ्ग' कहते हैं।

यहाँ साधु के बाह्यवेशरुप लिङ्ग का स्वरुप एवं उसके महत्त्व की विस्तृत चर्चा की गई हैं।

लोगायत - लोकायत (नपुं.) 6/750

प्रत्यक्ष मात्र प्रमाणवादी, जडमात्र पदार्थवादी बृहस्पति के मत (सिद्धांत, शास्त्र) को 'लोकायत' कहते हैं।

वइसेसिय - वैशेषिक (पुं.) 6/764

'विशेष' नामक अतिरिक्त पदार्थ के प्ररुपक कणाद शिष्य को और उनके सिद्धांत (शास्त्र, दर्शन, मत) को 'वैशेषिक' कहते हैं।

वत्तव्वया - वक्तव्यता (स्त्री.) 6/831

अध्ययनादि में प्रति अवयव के यथासंभव प्रतिनियत अर्थ कथन को 'वक्तव्यता' कहते हैं। यहाँ स्वसमय, परसमय और स्वसमयपरसमय -इन तीनों भेद से 'वक्तव्यता' का वर्णन किया गया हैं।

वत्थु - वस्तु (न.) 6/879; वास्तु (न.) 6/880

जो रहता है वह, द्रव्य, पदार्थ, जिसमें गुण रहते हैं, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त द्रव्य, पूज्यपुरुष को किये गये नमस्कार, पूर्वान्तर्गत अध्ययन स्थानीय ग्रंथ विशेष, जिसमें साध्य-साधन धर्म रहते हैं वह, पक्ष आदि अनेक अर्थों में 'वस्तु' शब्द प्रयुक्त हैं।

साथ ही यहाँ पर मकान के खात आदि के विषय में 'वास्तु' अर्थ में भी 'वस्तु' शब्द प्रयुक्त हैं।

वाइ (ण्) - वादिन् (पु.) 6/1054

वादी, प्रतिवादी, सभ्य, सभापति रुप चतुरङ्ग सभा में प्रतिक्षेपपूर्वक स्वपक्ष की स्थापना के लिए जो अवश्य बोलता है, उसे 'वादी' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाद (य) - वाद (पुं.) 6/1075

चर्चा, विकथन, स्वदर्शन स्थापनारुप पूर्वपक्ष और पञ्चवयव, त्र्यावयव वाक्य के द्वारा प्राप्त छलजातिरहित भूतान्वेषण समर्थन को 'वाद' कहते हैं।

अभिधानराजेन्द्र में भिन्न-भिन्न ग्रंथो के सूत्र एवं श्लोकों को उद्धृत करके उनका विशेष विवेचन किया हैं। समग्र विवेचन में वाद का लक्षण, जिगीषु का लक्षण, वाद के अंग, वादी-प्रतिवादी के लक्षण और कर्म, सभ्य का स्वरुप और उनके कर्तव्य, सभापति का स्वरुप और उसके कर्तव्य, वाद की सीमा, शुष्कवाद-विवाद-धर्मवाद भेद से त्रिविध भेद एवं स्वरुप बताते हुए एकान्तवाद में दूषण स्पष्ट किये गये हैं। अन्त में किसी के मत को दूषित न करने का उपदेश दिया गया हैं। समग्र विवेचन अत्यन्त विस्तार से दिया गया हैं, अतः जिज्ञासु को वहीं देखना चाहिए।

विकप्प - विकल्प (पुं.) 6/1127; विगप्प-विकल्प (पुं.) 6/1136

भेद, प्रकार, अध्यवसाय मात्र, चित्तविभ्रम, अवस्तु विषय में शब्द बुद्धि, शब्द ज्ञान का अनुपाती वस्तुशून्य अर्थ, शब्दार्थ, बहुतों में अनेक समुदायि भेद के अवधारण को 'विकल्प' कहते हैं।

विणयवादि (ण्) - विनयवादिन् (पुं.) 6/1184

जो केवल विनय रुप क्रिया से ही साध्य की सिद्धि को इच्छते हैं, उन्हें 'विनयवादी' कहते हैं।

विण्णाणवाइ - विज्ञानवादिन् (पुं.) 6/1187

नीलादि शेषविकल्पशून्य पारमार्थिक रागादि वासनाविशेष रहित बोध (ज्ञान) लक्षण के प्रतिपादक 'बौद्धों' को 'विज्ञानवादी' कहते हैं। यहाँ पक्ष-प्रतिपक्ष के तर्कपूर्वक स्याद्वादमञ्जरी के अनुसार विज्ञानवाद का खंडन भी किया गया हैं।

विप्परियास - विपर्यास 6/1196

तत्त्व में अतत्त्व और अत्त्व में तत्त्व का अभिनिवेश, हित में अहित की बुद्धि, जन्म, जरा-मरण-रोग-शोकादि उपद्रव, अनेक प्रकार से परिभ्रमण, अब्रह्मचर्य और पर्यायान्तर को 'विपर्यास' कहते हैं।

विभज्जवाय - विभज्यवाद (पुं.) 6/1201

विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद। सर्वत्र अस्खलित अविसंवादी लोक व्यवहार के द्वारा सर्वव्यापी स्वानुभव सिद्ध कथन (वाद) को अथवा सम्यग् अर्थ को विभाग/पृथक्/अलग करके कहना - 'विभज्यवाद' कहा जाता हैं।

विरुद्ध - विरुद्ध (त्रि.) 6/1230

दर्शनशास्त्र में 'विरुद्ध' शब्द हेत्वाभासभेद के लिए प्रयुक्त है। साध्य के विपर्यय से ही जिसकी अन्यथानुपपत्ति निश्चित की जाये उसे विरुद्ध कहते हैं। अर्थात् साध्य के विपर्यय से, अविनाभूत हेतु साध्याविनाभाव भ्रान्ति के कारण प्रयुक्त किया जाता है तब वह विरुद्ध नामक हेत्वाभास होता है। जैसे पुरुष या तो नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, प्रत्यभिज्ञानादिमान् होने से। इस उदाहरण को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्रीने विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेदों को भी सोदाहरण समझाया हैं।

विवक्ख - विपक्ष (पुं.) 6/1233

विवक्षित वस्तु धर्म के विपरीत धर्म को, विरुद्ध पक्ष को, और साध्यादि के विपर्यय को 'विपक्ष' कहते हैं।

विवाय - विवाद (पुं.) 6/1237

विरुद्ध वाद, विप्रतिपत्ति से युक्त वचन, क्रोध कषाय, वाक्कलह तथा लब्धि, ख्याति के लालची अनुदारचित्त मनुष्यों के द्वारा छल जाति युक्त वाद को 'विवाद' कहते हैं। यहाँ पर विवाद के भेद बताकर विवाद के दोषों का वर्णन किया गया हैं।

विसेस - विशेष (पुं.) 6/1264

द्रव्य के सामान्यविशेषात्मक होने से वैशिषिकोक्त विशेष पदार्थ का स्वरुप एवं खंडन तो 'जाति' शब्द के अन्तर्गत दिया गया हैं। किन्तु यहाँ पर जैन सिद्धांत सम्मत विशेष का विवरण करते हुए उसके दो भेद किये गये हैं; अन्त्यविशेष - जो सकल साधारणरुप हैं और अनन्त्यविशेष अर्थात् अवान्तरविशेष।

वीमंस - विमर्श (पुं.) 6/1331

ईहा को, यथावस्थित वस्तु स्वरुप के निर्णय को और क्षयोपशम विशेष से स्पष्टरुप से सद्भूत अर्थविशेष के अभिमुख, व्यतिरेक धर्म के त्याग और अन्वय धर्म के अत्यागपूर्वक अन्वय धर्म के विचार को 'विमर्श' कहते हैं।

वैसेसिय - वैशेषिक (पुं.) 6/1465

'विशेष' नामक पदार्थ के प्ररुपक कणाद ऋषि के शिष्य को वैशेषिक कहते हैं। यहाँ वैशेषिकोक्त सत्ता पदार्थान्तर है, सत् पदार्थो में भी सत्ता क्वचित् किसी-किसी में रहती हैं, ज्ञान आत्मा से भिन्न और औपाधिक है, मुक्ति (मोक्ष) ज्ञान और आनंदमय नहीं है- इन सिद्धांतो का खंडन स्याद्वादमञ्जरी को उद्धृत करते हुए किया गया हैं।

संतअसंतकज्जवाय - सदसद्कार्यवाद (पुं.) 7/128

उत्पत्ति के पहले कथंचित् असत् और कथंचित् सत् कार्य के उत्पादक वाद को 'सदसद्कार्यवाद' कहते हैं (7/128) (अत्तछठ्ठ शब्द -1/502)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संतकज्जवाय - सत्कार्यवाद (पुं.) 7/128

उत्पत्ति के पहले कार्य है (सत् कार्यम्) -इस प्रकार के वाद को 'सत्कार्यवाद' कहते हैं ।

संसय - संशय (पुं.) 7/250

अनिश्चित, अनिर्धारित या चलायमान अर्थज्ञान को 'संशय' कहते हैं ।

सज्झ - साध्य (त्रि.)

अनुमान के प्रकरण में साधन के द्वारा सिद्ध करने योग्य पदार्थ को 'साध्य' कहते हैं ।

सत्तभंगी - सप्तभङ्गी (स्त्री.) 7/315

एक ही वस्तु में एक एक धर्म के पर्यनुयोग (जिज्ञासा) के कारण बिना किसी विरोध के अर्थात् बिना किसी बाधा के अलग-अलग और समुदित विधिरुप और निषेधरुप कथनों की कल्पना के द्वारा 'स्यात्' पद से चिह्नित सात प्रकार से वाणी का प्रयोग 'सप्तभङ्गी' कहलाता हैं ।

जैन शासन इसी नय के द्वारा संसार की समस्त चेतन अचेतन वस्तुओं का निर्णय करता हैं- विशेषत: नव तत्त्वों का अधिगम (ज्ञान) प्रमाण और नय के द्वारा होता है । जिसमें तत्त्वों का संपूर्ण रुप से ज्ञान हो, वह प्रमाणात्मक अधिगम है, और जिसके द्वारा इनके केवल एक देश का ज्ञान हो वह नयात्मक अधिगम हैं ।[101]

ये दोनों भेद सप्तभंगीनय में विधि और निषेध की प्रधानता से होते हैं, अत: यह नय प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी दोनों कहलाताहैं-

सप्तानां भंगानां वाक्यानां समाहार: समूह: सप्तभंगी ।[102]

सप्तभि: प्रकारै: वचनविन्यास: सप्तभंगीति गीयते ।[103]

एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणाविरुद्धा विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया ।[104]

अविरुद्ध नाना धर्मो का निश्चय ज्ञान सप्तभङ्गीनय के ज्ञात वाक्यों द्वारा होता हैं । संशय हो सकता है कि इस नय के सात ही वाक्य क्यों है, अधिक या न्यून क्यों नहीं ? तो उत्तर है कि जिज्ञासु को किसी वस्तु के निश्चय करने में सात संशयों से अधिक नहीं हो सकते, इसलिये इस नय में सात वाक्य हैं, जो इन सात संशयों के निवारक हैं। इस नय के सात भंग ये हैं-

1. **स्यादस्ति घट:,** स्यात् घट है ।
2. **स्यान्नास्ति घट:,** स्यात् घट नहीं है ।
3. **स्यादस्ति नास्ति च घट:,** स्यात् घट है और नहीं भी है ।
4. **स्यादवक्तव्यो घट:,** स्याद् घट अवक्यव्य है, अर्थात् ऐसा है कि उसके विषय में कुछ कह नहीं सकते ।
5. **स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट:,** स्यात् घट है और अवक्तव्य भी है ।
6. **स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट:,** स्यात् घट नहीं है और अवक्तव्य भी है ।
7. **स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घट:,** स्यात् घट है, नहीं भी है और अव्यक्तव्य भी है ।

इन वाक्यों में 'स्यात्' शब्द अनेकान्त रुप अर्थ बोधक है। इस के प्रयोग से वाक्य में निश्चयरुप एक अर्थ ही नहीं समझा जाता है, बल्कि उसमें जो दूसरे अंश मिले हुए हैं उनकी ओर भी दृष्टि पडती हैं। इन वाक्यों में 'अस्ति' शब्द से वस्तु में धर्मो की स्थिति सूचित होती हैं । यह स्थिति अभेदरुप आठ प्रकार से हो सकती हैं-

के पुन: कालादय:? इतिचेदुच्यते । काल:, आत्मरुपं, अर्थ, सम्बन्ध:, उपकार:, गुणिदेश:, संसर्ग, शब्द: इति ।[105] अर्थात्-

(1) काल	(2) आत्मरुप	(3) अर्थ	(4) संबन्ध
(5) उपकार	(6) गुणिदेश	(7) संसर्ग	(8) शब्द

प्रत्येक स्थिति का उदाहरण -

काल :- घट में जिस काल में अस्तित्व धर्म है उसी काल में उसमें पट-नास्तित्व अथवा अवक्तव्यत्वादि धर्म है । इसलिए तत्त्व में इन सब अस्तियों की एक समय ही स्थिति है, अर्थात् काल के द्वारा अभेद स्थिति हैं ।

आत्मरुप :- जैसे घट अस्तित्व का स्वरुप है वैसे ही वह और धर्मो का भी स्वरुप है उसमें अस्तित्व के सिवा और धर्म भी हैं। वे धर्म जिस स्वरुप से घट में रहते हैं, वही उनका आत्मरुप हैं ।

अर्थ :- जो घट रुप द्रव्य पदार्थ के अस्तित्व धर्म का आधार है, वही घट द्रव्य अन्य धर्मो का भी आधार है । (अखण्ड पूर्ण द्रव्य को अर्थ कहा जाता है) ।

संबन्ध :- अभेदरुप अस्तित्व का घट के साथ जो स्यात् संबन्ध है, वही स्यात् संबन्ध रुपादि अन्य सब धर्मो का भी घट के साथ है । अत: सम्बन्ध की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेदवृत्ति हैं ।

101. प्रमाणनयैरधिगम: । - तत्वार्थसूत्र 1/6
102. तत्वार्थराजवार्तिक 1/6/51
103. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका कारिका 23 पर स्याद्वादमञ्जरी टीका
104. तत्वार्थराजवार्तिक 1/6
105. सप्तभंगतरंगिणी पृ. 33

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकार :- अपने स्वरुपमय वस्तु को करना - जो यह अस्तित्व का उपकार घट के साथ है, वही अपना वैशिष्टय संपादन उपकार अन्य धर्मो का भी हैं।

गुणीदेश :- घट के जिस देश में अपने रुप से अस्तित्व धर्म है उसी देश में अन्य की अपेक्षा से अस्तित्त्व आदि संपूर्ण धर्म भी हैं।

संसर्ग :- जिस प्रकार एक वस्तुत्व स्वरुप से अस्तित्व का घट में संसर्ग है। वैसे ही एक वस्तुत्व रुप से अन्य सब धर्मो का भी संसर्ग हैं।

शब्द :- जो 'अस्ति' शब्द अस्तित्व धर्म स्वरुप घट आदि वस्तु का भी वाचक है, उसी वाच्यत्वरुप शब्द से सब धर्मो की घट आदि पदार्थों में अभेदवृत्ति है।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से वस्तु में सब धर्मो की अभेदरुप से स्थिति रहती हैं। और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से यह स्थिति अभेदोपचाररुप से रहती हैं। अनेकांतवाद की सूचना इन दोनों के द्वारा होती हैं।[106]

पूर्वोक्त सात वाक्यों में घट वस्तु दी है। इसके चार रुप हैं। अर्थात् निजरुप, पररुप, द्रव्यमय और पर्यायरुप। इनमें से वस्तु का निजरुप चार प्रकार से होता है, अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव। उदाहरण :- घट का नाम घट है; कुंडी, नांदी आदि नहीं है। घट की स्थापना वही क्षेत्र है, जहाँ पर घट रखा हुआ है; दूसरा क्षेत्र नहीं। घट का द्रव्य मृत्तिका है, सुवर्ण नहीं। घट का काल वर्तमान है, भूत, भविष्यत् नहीं। घटकी मृतिकादि उसका द्रव्यरुप अर्थात निजरुप है। मृतिका से जो सैकडों चीजें बनती हैं, जैसे -कुंडी, मटका, नाँदी आदि ये उसके पर्यायरुप हैं।

सप्तभंगी नय के प्रत्येक वाक्य का स्पष्ट विवरण-

1. **स्यादस्ति घटः**/स्यात् घट है इसका अर्थ है कि घट अपने निजरूप से हैं अर्थात् नाम स्थापना (क्षेत्र) द्रव्य और भाव (काल) से हैं। टेढी गर्दनरुप से घट का नाम है। मृत्तिका इसका द्रव्य है जहाँ वह रखा है वह स्थान उसका क्षेत्र है। जिस समय में वह वर्तमान है वह उसका काल है। इन चीजों के देखते घट है। 'स्यात्' इस बात को बताता है कि घट में केवल ये ही धर्म नहीं है जो प्रधानता से बताये गये है, बल्कि और भी हैं। यह अनेकांतार्थ वाचक है। इस वाक्य में सत्ता प्रधान है।
2. **स्यान्नास्ति घटः** -स्यात् घट नहीं है इसका अर्थ है कि 'घट' पर-नाम, पर-रूप, पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, और पर-काल से नहीं है। घट का निजरूप तो टेढी गर्दन थी लेकिन इस रुप से पृथक् जो रुप है- जैसे चपटा लम्बा आदि वह इसमें नहीं है जैसे पट वृक्षादि का रुप। घट का द्रव्य मृत्तिका है, लेकिन परद्रव्य सुवर्ण, लोहा, पत्थर, सूत इत्यादि हैं - जो घट में नहीं है। घट का क्षेत्र तो वही स्थान था जहाँ वह रखा था यानि पटा या पत्थर, दूसरा स्थान पृथ्वी, छतादि जो नहीं है। घट का निजकाल तो वर्तमान था, दूसरा काल भूत या भविष्यत् काल है। इसमें असत्ता प्रधान है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि इसमें घट का निषेध है। नहीं कहने से घट का अस्तित्त्व चला नहीं गया बल्कि गौण हो गया ओर पर-स्वरूप की प्रधान हो गई है। वह वाक्य पहले वाक्य का निषेधरुप से विरुद्ध नहीं है। बल्कि इसमें असत्ता प्रधान है और सत्ता गौण है।
3. **स्यादस्ति नास्ति च घटः**। स्यात् घट है और नहीं भी है। पहले घट के निजरुप की सत्ता प्रधान होने से घट का होना बताया है और फिर घट के पर-स्वरुप की असत्ता प्रधान होने से उसका नहीं होना बताया है। घट के निजरुप को देखा जाय तो घट है और पररुप को देखा जाय तो घट नहीं है।
4. **स्यादवक्तव्यो घटः** - स्यात् घट अवक्तव्य है - घट के निजरुप की सत्ता और उसके पररुप की असत्ता - इन दोनों को एक ही समय में प्रधान समझा जाय तो घट अवक्तव्य हो जाता है, अर्थात् एसी वस्तु हो जाता है जिसके विषय में कुछ कह नहीं सकते हैं। एक ही समय में असत्ता और सत्ता की प्रधानता मानने से घट का रूप अवक्तव्य हो जाता हैं।
5. **स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घटः** - स्यात् घट है और अवक्तव्य भी है - द्रव्य रूप से तो घट है, लेकिन उसका द्रव्य और पर्याय रुप एक काल में ही प्रधान भूत नहीं है। सत्ता सहित अवक्तव्य की प्रधानता है। घट के द्रव्य अर्थात् मृत्तिकारुप को देखें तो घट है परन्तु द्रव्य (मृत्तिका) और उसके परिवर्तनशीलरुप दोनों को एक समय में ही देखें तो वह अवक्तव्य है।
6. **स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः**। स्यात् घट नहीं है और अवक्तव्य भी हैं। घट अपने पर्याय रुप की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि वे रुप क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। लेकिन प्रधानभूत द्रव्य पर्याय उभय की अपेक्षा से वह अवक्तव्य का आधार है, इसमें असत्तारहित अवक्तव्यत्व की प्रधानता है।
7. **स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः** - स्यात् घट है नहीं भी है और अवक्तव्य भी है। द्रव्य पर्याय पृथक्-पृथक् की अपेक्षा से सत्ता असत्ता सहित मिलित तथा साथ ही योजित द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से अवक्तव्यत्व का आश्रय घट है। मृत्तिका की दृष्टि से घट है। उसके क्षण-क्षण में रुप बदलते हैं, इस पर्याय दृष्टि से घट नहीं है। इन दोनों को एक साथ देखो तो घट अवक्तव्य है।

106. विशेष विवरण के लिए देखें - स्याद्वादः एक अनुशीलन पृ. 110-111 ले. आचार्य देन्द्र मुनि शास्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता - सत्ता 9/323

अन्य दर्शनों (न्यायवैशेषिकादि) में द्रव्य, गुण और कर्म -इन तीन पदार्थों में सत्ता का संबन्ध माना जाता है और सामान्य, विशेष और समवाय-इन तीन में नहीं माना जाता। जैन दर्शन में जो पदार्थ है उसे अस्तिरुप कहा जाता हैं (यह अस्ति शब्द त्रैकालिक सत्ता का बोधक अव्यय है) -अस्ति इति सत्। 'सत्' का भाव ही सत्ता है ('सत्' शब्द से भाव अर्थ में तल् प्रत्यय होकर नित्य स्त्रीलिङ्ग 'सत्ता' शब्द निष्पन्न होता है)। इसे ही अस्तित्व भी कहते हैं और वह अस्तित्व वस्तु का स्वरुप है जो कि सभी पदार्थों में निर्विशेष रुप से रहता हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने यहाँ (अ.रा.पृ. 7/324 से 329) पर वैशेषिक मान्य सत्ता पदार्थ का विस्तृत खंडन किया है। साथ ही जैन सिद्धान्तोक्त ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मो के भेद-प्रभेदों की सत्ता की काल मर्यादा का भी वर्णन किया हैं।

सद् - शब्द (पुं.) 7/338

जिसके द्वारा वस्तु (पदार्थ) का प्रतिपादन होता है, जो श्रोत्रिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य नियत क्रमवाले वर्ण-समूह, तथा ध्वनि को 'शब्द' कहते हैं।

राजेन्द्र कोश में यहाँ पर आचार्यश्रीने जैनागमोक्त शब्द के भेद-प्रभेद का दिग्दर्शन करवाकर भिक्षु को मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों के प्रति राग-द्वेष से दूर रहने का निर्देश किया हैं। साथ ही शब्द के विषय में न्याय-वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) आदि द्वारा मान्य 'शब्द आकाश का गुण हैं' -इत्यादि सिद्धांतों का विशद खंडन किया हैं।

सद्बंभवाइ - शब्दब्रह्मवादिन् (पुं.) 7/369

जो केवल शब्द को ही सत् मानते हैं उन्हें 'शब्दब्रह्मवादी' कहते हैं। व्याकरण-दर्शन के अनुयायी समस्त संसार को शब्दानुविद्ध मानते हैं।

समवाइकारण - समवायिकारण (नपुं.) 7/422

अपृथक् रुप से एकीभाव से समवाय जिसमें रहता हैं वह 'समवायि' है। समवायि के कारण को 'समवायिकारण' कहते हैं। जैसे तन्तु में पट।

समवाय - समवाय (पुं.) 7/423

अभिधान राजेन्द्र कोश में समवाय शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, जैसे- व्यापारियों के समूह, मित्रों का मिलन, जीवाजीवादि पदार्थ का अर्थ सहित रहने का स्थान, विभिन्न आत्माओं का मिलन स्थान, किसी के द्वारा नहीं जोडे गये किन्तु स्वयं (अपने आप) जुडे हुए आधार्य-आधारभूत पदार्थों के 'इह प्रत्यय' हेतु सम्बन्ध (इह प्रत्यय हेतुभूत समवाय की व्याख्या राजेन्द्र कोश में 'धम्म' शब्द पर हैं)। (समवाय संबंधी विशेष व्याख्या 'धम्म' शब्द अ.रा.पृ. 4/2664 पर की गई है।)

समाहि - समाधि (पुं.) 7/425

यहाँ राग-द्वेष के त्याग रुप धर्म ध्यान आदि समाधि के अनेक अर्थ बताते हुए आचार्यश्री ने समाधि के विविध प्रकारों का विस्तृत वर्णन किया हैं।

एकाग्रनिरुद्ध चित्त में समाधि होती हैं। द्रव्य समाधि और भाव समाधि - ये दो समाधि भेद हैं। स्वरुपमात्र निर्भास होना अर्थात् ध्येयस्वरुप का निर्भासमात्र जिसमें हो वह समाधि है, वही ध्यान है। यहीं पर आगे द्रव्य समाधि आदि का स्वरुप विस्तार से समझाया गया हैं।

सम्मत्त - सम्यकत्व (न.) 7/482

सम्यक्त्व अर्थात् जीवाजीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा, जीव के मोक्ष के अविरोधी प्रशस्त भाव, सम्यग्दर्शन, प्रशस्त सम्यक्त्व-मोहनीय के अनुवेदन से उत्पन्न उपशम सम्यक्त्व, जीव के मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशमादि से उत्पन्न परिणाम, तत्त्वों में रुचि, शम, संवेगादि लक्षणो से युक्त आत्मपरिणाम। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में यथास्थान इसका विस्तृत वर्णन हैं।

सव्वतंतसिद्धांत - सर्वतन्त्रसिद्धांत (पुं.) 7/592

प्रमाण के द्वारा प्रमेय के ग्रहणपूर्वक जिस सिद्धांत के अर्थ की सभी तन्त्रों/विषयों में गति होती है, उसे 'सर्वतन्त्रसिद्धांत' कहते हैं।

सहकारि (ण्) - सहकारिन् (पुं.) 7/601

कार्य के मूल कारण के सहयोगी को सहकारि (कारण) कहते हैं।

सहाववाइ - स्वभाववादिन् (पुं.) 7/604, 4/2172

समस्त जगत का स्वभाव ही जीवत्व, अजीवत्व, भव्यत्व, मूर्तत्वादि के स्वरुप निर्माण में कारण (करण-साधन) हैं पुण्य-पाप नहीं -एसी जिनकी मान्यता है उनको 'स्वभाववादी' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ स्वभाव भावरुप है या अभावरुप? वह कार्यगत हेतु है या कारणगत ? इत्यादि तर्कों से स्वभाववादियों के ऊपर दूषणजाल खडा कर उसका खंडन किया गया हैं।

सामण्णय - सामान्यनय (पुं.) 7/643

'आत्मा' आदि पदार्थों के एकत्व के अभिप्रायवाला सामान्य नय है। सामान्य विशेषरहित होता है, जैसे - कि 'खरविषाण' यहाँ पर आचार्यश्रीने अद्वैतवाद का खंडन किया हैं।

सामण्णविसेस - सामान्यविशेष (पुं.) 7/646

अनेक पदार्थों में समानता और भेद के बोध का हेतुभूत क्रमशः सामान्य और विशेष हैं। द्रव्यत्वादि में अपने-अपने आधार विशेषों में अनुगत आकार प्रत्यय के वचन हेतु सामान्यविशेष हैं। अनेको घटों का समान आकार होने पर घट सामान्य से 'यह घट है, यह भी घट है, यह भी घट है- एसी प्रतीति होती है और विशेष से यह मिट्टी का है, यह स्वर्ण का है, यह तांबे का हैं-एसी प्रतीति होती है। यहाँ पर आचार्यश्री के द्वारा आवश्यक मलयगिरि, सूत्रकृतांग, स्थानांग, अनेकान्त जयपताका आदि ग्रंथो के आधार पर विस्तृत दार्शनिक चर्चा की गयी हैं।

जाति प्रकरण में सामान्य-विशेष नामक पदार्थो का आश्रय करके खंडन-मंडन प्रस्तुत किया गया है, किन्तु यहाँ पर अनुवृत्तबोध और व्यावृत्तबोध के हेतुभूत उपरोक्त पदार्थों के बारे में बोधकारणतापरक विचार-विमर्श प्रस्तुत किया गया हैं। यहाँ पर लगभग 55 पृष्ठों में पूरे प्रकरण को आचार्य हरिभद्र सूरि प्रणीत अनेकान्तजयपताका, तृतीय अधिकार की विषयवस्तु को उद्धृत करते हुए बौद्धसम्मत और वैशेषिकसम्मत अनुवृतबोध और व्यावृत्तबोध में सामान्य-विशेष की पृथक-पृथक् कारणता का खंडन किया गया हैं।

सायवादिन् - सातवादिन् (पुं.) 7/775 (अक्रियावादी का भेद)

भारतीय विचारकों के दो वर्ग हैं -

1. **क्रियावादी** - संयम के साथ मोक्षरुप सुख में विश्वास करता हैं।
2. **अक्रियावादी** - पारमार्थिक सुख को स्वीकार नहीं करता हुआ विषयसुख को ही प्राथमिकता देता है। विषय सुख को ही साय/सात अर्थात् 'साता' कहते हैं। इसको सिद्धांत रुप से स्वीकार करनेवालों को 'सायवादिन्' कहते हैं।

सिद्धंत - सिद्धांत (पुं.) 7/845

जिस कारण के द्वारा प्रमाण (पूर्वक कसौटी) से अर्थ सिद्ध होकर अंत को प्राप्त होता है, उसे सिद्धांत कहते हैं। 'सिद्धांत' शब्द का प्रयोग आगम और आर्षवचन के अर्थ में भी होता हैं। यहाँ सिद्धांत के आगम - नो आगम, सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र, अधिकरण-अभ्युपगम सिद्धांत -एसे भेद भी दर्शाये गये हैं।

सियवाय- स्याद्वाद (पुं.) 7/855

स्यादवाद का अर्थ एवं स्वरुप - प्राकृत शैली के 'सियवाय' शब्द को संस्कृत में स्याद्वाद कहते हैं। **स्यादस्तीत्यादिको वादः स्याद्वाद इति गीयते**। (अ.रा.पृ. ७/८५५) इसमें दो शब्द संयुक्त है - स्यात् + वाद्, जिसका अर्थ है - कथञ्चिद् अथवा किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ-कथन या प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। प्रस्तुत कोश में 'स्यात्' शब्द कथञ्चिद्[107] अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। और यह 'किसी अपेक्षा' अर्थ का द्योतक हैं। इसे ही दार्शनिक शब्दावली में कथञ्चिद् (अपेक्षा से) कहा जाता हैं। जिसका दूसरा नाम अपेक्षावाद भी है इसके अतिरिक्त 'स्याद्' शब्द आशंका के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। आशंङ्का नाम विभाषा। स्यादिति कोऽर्थं ? कदाचित् भवेत् कदाचित् न भवेत्[108] - स्यात् किसे कहते हैं? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है- किसी अपेक्षा से होता है और किसी अपेक्षा से नहीं होता है अतः स्याद्वाद न तो संशयवाद है न तो अनिश्चयवाद। हिन्दी में स्याद् का अर्थ शायद किया जाता है जबकि जैनदर्शन में इसका अर्थ कथञ्चित् या किसी अपेक्षा से किया गया हैं। अतः स्याद्वाद शायदवाद नहीं हैं।

अनेकान्तवाद् और स्याद्वाद जैनदर्शन के दो विशिष्ट शब्द हैं। अनेकान्तवाद सिद्धांत है और स्याद्वाद उसके निरुपण की पद्धति। प्रस्तुत कोश में स्याद्वाद का विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित किया हैं-

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वादः अनेकान्तवादो नित्यानित्यद्यनेकधर्मबलैक-वस्त्वभ्युगम इति ।[109]

'स्यात्' शब्द अव्यय है और अनेकान्त का द्योतक है इसलिए स्याद्वाद को अनेकान्तवाद भी कहा जाता है। अनेकान्तवाद का अर्थ हैं : एक वस्तु में अनेक विरोधी गुणों या धर्मो को स्वीकार करना, और स्याद्वाद का अर्थ है : विभिन्न अपेक्षाओं से वस्तुगत अनेक धर्मो का प्रतिपादन करना।

अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्यादवादः ।[110] अनेकात्मक वस्तु भाषा द्वारा प्रतिपादित करनेवाली पद्धति ही स्यादवाद हैं।

---

107. अ.रा.भा. 1 उपोद्घात पृ. 2; रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद 4
108. अ.रा.पृ. 7/856; व्यवहारसूत्रवृत्ति, उद्देश
109. अ.रा.पृ. 1/423; 7/855; अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, कारिका 5 पर स्याद्वादमञ्जरी टीका
110. लघीयस्त्रीय टीका - 62

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कोष में स्याद्वाद के लिए विभज्यवाद शब्द का प्रयोग भी हुआ है यथा- **विभज्यवादः स्याद्वादः।**[111] विभाज्यवाद का विश्लेषण करते हुए यह बताया गया है कि विचारशील व्यक्ति यदि किसी विषय में असंदिग्ध हो तो भी उस विषय में अनाग्रही रहे तथा सदा विभज्यवाद अर्थात् स्याद्वाद युक्त वचन का प्रयोग करें।[112] इसी सन्दर्भ में यह भी कहा गया हैं - **'णयाऽऽसियाय वियागरेज्जा।'**[113] साधक स्याद्वाद से रहित वचन न बोले। आगे ओर भी कहा गया है कि, **"जिनप्रवचन-तत्त्ववेदिनो मिथ्यावादित्व परिजिहीर्षया सर्वमपि स्यात्कारपुरस्सरं भाषन्ते, ननु जातुचिदापि स्यात्कारविरहितम्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वदा साक्षात्स्यात्पदं प्रयुञ्जते तथापि तत्राप्रयुक्तेऽपि सामर्थ्यात्स्याच्छब्दो द्रष्टव्यः प्रयोजकस्य कुशलत्वात्।**[114]

प्रस्तुत कोश में स्याद्वाद के विषय में ऐसा कहा गया है कि स्यादस्ति-स्यादनास्ति आदि सप्तदृष्टियों से समन्वित एसा स्याद्वाद द्रव्यार्थिक - पर्यायार्थिक नय के बिना नहीं रह सकता। अभिधान राजेन्द्र कोश में स्याद्वाद को नमस्कार करते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला हैं

स्याद्वादाय नमस्तस्मै, यं विना सकला क्रिया।
लोकद्वितयभाविन्यौ, नैव साङ्गत्यमासते।।[115]

लोक को दूसरे रुप में ढालनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ जिसके बिना साङ्गत्य (असंवादिता) को प्राप्त नहीं होती, एसी उस स्याद्वाद को प्रणाम हो।

जैनदर्शन की यह अभिनव (मौलिक) अवधारणा है, जो प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी है एवं धर्म-सद्भाव, अभेदभाव और विश्व-कल्याण की नित्य प्रवाहमान् अमृत निर्झरी हैं।

सुण्णवाय - शून्यवाद (पुं.) 7/939

यहाँ पर सब पदार्थ शून्य है, क्योंकि प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति अवस्तु है। प्रमाता (आत्मा) इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता अतः प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम प्रमाता (आत्मा) को सिद्ध नहीं कर सकता। अविद्या की वासना से बाह्य पदार्थों के अभाव में उनका (घट, पटादि का) ज्ञान होता है अतः प्रमेय भी कोई पदार्थ नहीं है। प्रमेय के अभाव में प्रमाण और प्रमाण के अभाव में प्रमिति की व्यवस्था नहीं बनती। अतः सर्वथा शून्य मानना ही वास्तविक तत्त्व है एसा शून्यवादी (माध्यमिक) बौद्धों का पूर्वपक्ष हैं। आचार्यश्री ने स्याद्वादमञ्जरी के आधार पर निम्नाङ्कित तर्कों से इसका खंडन करते हुए कहा है - प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध होता हैं। जैसे - 'मैं सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ' - आदि अहं प्रत्यय से प्रमाता, बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुभव से होने पर ही वासना की निष्पत्ति होने से प्रमेय; प्रमेय की सिद्धि होने से जानने रुप क्रिया का करण प्रमाण और पदार्थ के ज्ञान से पदार्थ संबन्धी अज्ञान का नाश होने से प्रमाण के फलरुप प्रमिति की सिद्धि होती हैं।

हेउ - हेतु (पुं.) 7/1241, 7/1244

जो ज्ञेय का बोध कराता है उसे हेतु कहते हैं, जैसे - 'एतद् द्वारमधुना' (यह द्वार अब कहा जायेगा)। 'हेतु' शब्द के अनुपपत्ति लक्षण, प्रमेय का प्रमिति के विषय में कारण उपस्थित होने पर प्रमाण, साध्यार्थगमक युक्तिविशेष आदि अर्थ यहाँ पर दर्शाये गये हैं।

'हेतु' शब्द के अन्तर्गत प्रमाणशास्त्र में प्रयुक्त हेतु का स्वरुप, भेद, त्रिलक्षण (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व) हेतु प्रकार, हेतु प्रयोग प्रकार, प्रयोगनियम आदि विषयों को रत्नाकरावतारिका, तृतीय परिच्छेद के अनुसार स्पष्ट किया गया हैं।

हेउ अंतर - हेत्वन्तर (पुं.) 7/1245

'हेत्वन्तर' पाँचवे निग्रहस्थान का भेद हैं।

हेउ आभास - हेत्वाभास (पुं.) 7/1245; हेउ दोस - हेतुदोष 7/1245

अहेतु में हेतु का आभास (हेतु नहीं होने पर भी हेतु की प्रतीति) होना हेत्वाभास कहलाता हैं। उसे हेतु दोष भी कहते हैं। यहाँ असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक - ये तीनों प्रकार के हेत्वाभास का वर्णन किया गया हैं।

हेतु-परिचय के अनन्तर जैन दर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासों का परिचय रत्नाकरावतारिका षष्ठ परिच्छेद के आधार पर दिया गया हैं।

उपसंहार :-

तृतीया परिच्छेद के अन्तर्गत हमने राजेन्द्र कोश में आये हुए महत्त्वपूर्ण साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और दार्शनिक शब्दों की ओर संकेत करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया हैं कि अभिधान राजेन्द्र न केवल जैनविद्या का कोश है, अपितु इसमें ज्ञान की सभी शाखाओं के लिए कुछ न कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध हैं।

उपरोक्त चार शीर्षक तो केवल दिग्दर्शन मात्र हैं, अभिधान राजेन्द्र में अन्य अनेक विषयों के महत्त्वपूर्ण शब्दों की ससन्दर्भ व्याख्याएं हैं। चारे वह गणित विषय हो या भूगोल हो, ज्योतिष हो या वास्तु शास्त्र, सभी विषयों के शब्दों पर आधिकारिक और प्रामाणिक जानकारी इस कोश में उपलब्ध है। हमने केवल उपरोक्त चार शीर्षकों तक अपनी सीमा इसलिए निर्धारित की है कि शास्त्र तो अनन्त है, और समय अल्प है, साथ ही विघ्नों की कथा का अन्त नहीं हैं, इसलिए इतने मात्र से ही दिग्दर्शन कराया हैं। जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे मूल ग्रन्थ का अवलोकन कर अपने लिए उपयोगी सामग्री का संग्रह करें।

---

111. अ.रा.पृ. 6/1180, 1201; सूत्रकृतांग सटीक 1; श्रुतस्कन्ध, अध्ययन 14
112. अ.रा.पृ. 6/1201; सूत्रकृतांग 1/14/22
113. अ.रा.पृ. 6/1179; सूत्रकृतांग 1/14/19
114. अ.रा.पृ. 7/855
115. अ.रा.पृ. 7/856; स्थानांग, ठांणा 9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ परिच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ परिच्छेद

आचारपरक शब्दावली का आकलन एवं अनुशीलन

क. साधुपरक शब्दावली

1. जैनधर्म का उद्देश्य एवं लक्ष्य
2. जैनधर्म में मुक्ति का मार्ग
3. चारित्र का सैद्धान्तिक पक्ष
4. गुणस्थान
5. मुनियों की आचारपरक शब्दावली का समीक्षण

ख. श्रावकपरक शब्दावली

1. मुनि एवं गृहस्थ के आचार में मौलिक अन्तर
2. श्रावकों के आचार में सापेक्ष स्थूलता
3. श्रावकाचार की दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ परिच्छेद

आचारपरक शब्दावली का आकलन एवं अनुशीलन

क. साधुपरक शब्दावली

समस्त भारतीय धर्मप्रचारक उपदेष्टा होने के साथ-साथ दार्शनिक भी थे। वे अपने उपदेश में जिन सिद्धांतो की प्ररुपणा करते थे अपने जीवन में उन्हें आचारान्वित भी करते थे। श्रमणपरम्परा के तीर्थंकरोंने अपने केवलज्ञान के दिव्यप्रकाश में जो जाना, देखा और उनमें से जिन सिद्धांतों का उपदेश दिया, उनका अपने जीवन में आचरण में पालन भी किया। धर्म आचरण की वस्तु है और जैनधर्म तो विशेषतया श्रुत और चारित्र (ज्ञानपूर्वक आचरण) मय है। अभिधानराजेन्द्र कोश में जैनागम ग्रन्थों के पारिभाषिक शब्दों का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का विषय भी 'अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का अनुशीलन' है। अतएव प्रस्तुत शोध की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली के अनुशीलन के पूर्व हम यहाँ पर प्रसंग प्राप्त जैनधर्म, उसका उद्देश्य, लक्ष्य, लक्ष्य(मोक्ष) प्राप्ति का मार्ग, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और चारित्र (आचार) का सैद्धांतिक पक्ष एवं चारित्र की क्रमिक शुद्धि एवं मोक्ष की परम्परागत प्राप्तिरूप गुणस्थानक आदि विषयों की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् चारित्र के व्यवहार पक्ष में मुनि एवं श्रावकों की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का यथा प्रसंग विवेचन/ अनुशीलन प्रस्तुत किया जायेगा।

'आचार' भारतीय साधना का प्राण है। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है और जीवन की सार्थकता आचार में निहित है। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने कहा है- **एगे चरेज्ज धम्मां**[1] - अर्थात् भले ही कोई साथ न दे, अकेले ही सद्धर्म का आचरण करना चाहिए। उपनिषत् काल में भी पठित स्नातक को कुलपति प्रयाणकाल में **'धर्मं चर'** - यह निर्देश करते थे। तथागत बुद्ध भी आचार को प्राथमिकता देते थे। जैनागमों में **'आयारो पढमो धम्मो**[2] कहा है। मनुस्मृति में भी कहा है - **'आचारः प्रथमो धर्मो नृणां श्रेयस्करो महान्।**[3] - उत्तम आचार ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है और मनुष्यों के लिए कल्याणकारी है।

आचार का महत्त्वः-

मानव जीवन की विविध साधनाओं में आचार का अत्यन्त महत्व है। आचार जीवन को सौम्य, निर्मल, सात्त्विक एवं सर्वांगपूर्ण बनाने की दिव्य साधना है जिससे जीव आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त करके जन्म-जरा-मरण से मुक्त होकर परम पद की प्राप्ति करता है।

वस्तुतः आचार साधना का मूलाधार है। जैन साधना-पद्धति आचार-प्रधान है। जैन-दर्शन के अनुसार आचारविहीन ज्ञान निरर्थक है। **आचार ही मानव को मानवता के श्रेष्ठ सिंहासन पर आसीन करता है।** विश्व के प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय या समाज की अपनी-अपनी परम्परा रही है परन्तु जैन धर्म एवं दर्शन में आचार के स्वरुप, भेद-प्रभेद, साधना-प्रक्रिया आदि को लेकर जितना सूक्ष्म एवं गंभीर चिन्तन किया गया है, उतना अन्यत्र विरल ही है। जैन मनीषियों ने आचार पर चिन्तन के साथ ही उसे अपने जीवन में उतारने हेतु विशेष बल भी दिया इसलिये जैन-संस्कृति की आचार-संहिता अत्यधिक कठोरतम है। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने आचार के संबंध में व्यापक चिन्तन किया है जिसे हमने इस शोध प्रबन्ध में यथास्थान वर्णित किया है।

जब तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं; तब सर्वप्रथम वे आचार का ही उपदेश देते हैं[4] **क्योंकि आचार ही परम और चरम कल्याण का साधकतम हेतु माना गया है।**[5] जैन साधना पद्धति में मानव-जीवन में चरम एवं परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति, सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण-इन तीनोंके समन्वय से होती है। आचार्य उमास्वातिने कहा भी है- **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।**[6] तथापि जैन साधना में आचार की प्रधानता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। अभिधान राजेन्द्र कोश में सम्यक् चारित्र को मोक्ष का प्रधान कारण कहा है -**'तस्मात् चारित्रमेव प्रधानं मुक्तिकारणम्।**[7] क्योंकि आचारविहीन श्रद्धा या ज्ञान से कार्य नहीं चल सकता अतः इन दोनों को क्रियात्मक रुप देने हेतु श्रद्धा व ज्ञान की अपेक्षा आचार अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है - **चरणाहिंतो मोक्खो।**[8] अर्थात् चारित्र से ही मोक्ष होता है। इतना ही नहीं राजेन्द्र कोश में आचार को जीवात्मा का मूल आधार बताते हुए

1. अ.रा.पृ. 1/544; प्रश्न व्याकरण-2/3
2. 'आयारो पढमो धम्मो।' - आचारांग सूत्र
3. मनुस्मृति
4. सव्वेसिं आयरो तित्थस्स पवत्तणे पढमया। आचारांग निर्युक्ति, गाथा 8
5. आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा जगाद वीरो जगते हिताय यः। अ.रा. पृ.2/376 एवं 389
6. तत्त्वार्थ सूत्र -1/1
7. अ.रा.पृ. 3/1143; आवश्यक बृहद्वृत्ति, अध्ययन-3
8. अ.रा.पृ. 6/337; आचारांग वृत्ति-1/211

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है- **जीवाहारो भण्णइ आयारो**।[9] आचार व्यक्ति के जीवन का दर्शन कराने वाला दर्पण है।

आचारहीन साधना निष्प्राण शरीरवत् है अत: अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है - **न नाणमित्तेण कज्ज निष्फत्ति**।[10] अर्थात् (आचारहीन) मात्र ज्ञान प्राप्त करने से कार्य की सिद्धि नहीं हो जाती। आचारहीन ज्ञान मात्र एक बोझ है। इसी बात को कहते हुए आचार्यश्रीने कहा है-

''जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी, न हु चंदणस्सा।
एवं खु णाणी चरणेण हीणो, णाणस्स भागी, न हु सुग्गइए॥''[11]

सुश्रुत संहिता में भी इसी संदर्भ में कहा है-

''यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा: खरवद् वहन्ति॥''[12]

पाश्चात्य विचारक स्वीनोकने आचाररहित ज्ञान को केवल दिखाने के लिए रखी उपयोग रहित शीशे की आँख के समान कहा है। इसी संदर्भ में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा है - 'चारित्रहीन बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है।'[13]

चारित्रहीन साधक की स्थिति बताते हुए राजेन्द्र कोश में कहा है - **'चरणगुण विप्पहीणो बुड्डइ सुबहुंपि जाणंतो**।'[14] अर्थात् चारित्रहीन साधक बहुत से शास्त्र पढ लेने पर भी संसार समुद्र में डूबता है। क्योंकि-

सुबहुंपि सुयमहियं, किं काही चरणविप्पहीणस्स ?
अंधस्स जह पलीत्ता, दीवसय सहस्स कोडिवि॥[15]

अर्थात् जैसे प्रज्वलित करोडों दीपक अंधे को प्रकाश नहीं दे सकता वैसे ही चारित्रहीन शास्त्रज्ञानी को ढेर सारे शास्त्रों का अध्ययन भी किसी काम का नहीं है।

इससे विपरीत जिस प्रकार देखते व्यक्ति को एक दीपक भी काफी प्रकाश देता है, उसी प्रकार सच्चरित्रवान साधक को अल्पज्ञान भी प्रकाश देनेवाला होता है। इसी बात के संदर्भ में राजेन्द्र कोश में कहा है-

''अप्पं पि सुयमहीयं, पयासयं होइ चरणजुत्तस्स।
इक्को वि जह पईवो, सचक्खुअस्सो पयासेइ॥[16]

इसी बात को चीन के विचारक कन्फ्युशियसने निम्न शब्दों में कहा है-

उत्तम व्यक्ति शब्दों से सुस्त और चारित्र से दृढ होता है।[17] लेकिन इसका मतलब यह नहीं की ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। **ज्ञान का फल विरति अर्थात् त्यागमय आचार है**।[18] राजेन्द्र कोश में ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्त्व बताते हुए आचार्यश्री ने ज्ञान-क्रिया के समन्वय पर प्रकाश डालते हुए कहा है-

नाणकिरियाहिं मोक्खो।[19]

ज्ञान और क्रिया (ज्ञानयुक्त आचरण) से ही मोक्ष होता है इतना ही नहीं अपितु **''हयनाणं कियाहीणं''**[20] अर्थात् आचारहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञानहीन आचार नष्ट होता है। इसी बात को ओर अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है-

''संजोग सिद्धीइ फलं वयंति, न हे (हु) एग चक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥[21]

अर्थात् संयोग-सिद्धि ही फलदायिनी होती है। जैसे अंधा और पंगु मिलकर वन के दावानल से बचकर नगर में पहुँच गये वैसे ही ज्ञान-क्रिया युक्त साधक भी मोक्ष को प्राप्त करता है।

सामान्यतया साहित्य जगत् एवं व्यवहारिक जगत में आचार शब्द आचार या 'सदाचरण' अर्थ में प्रयुक्त है परन्तु जैनागमों में अनेक भावनाओं से युक्त आचार शब्द बह्वायामी व्यापक अर्थ रखता है अत: आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार शब्द के अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं।

---

9. अ.रा.पृ. 3/1343; दशवैकालिक निर्युक्ति 215
10. अ.रा.पृ. 4/1989; आवश्यक निर्युक्ति 1151
11. अ.रा.पृ. 6/443; आवश्यक निर्युक्ति 100; संबोधसत्तरी प्रकरण - 81
12. सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान 4/4
13. जैन दर्शन वाटिका, पृ. 101
14. अ.रा.पृ. 6/442; आवश्यक निर्युक्ति 97
15. अ.रा.पृ. 6/442; आवश्यक निर्युक्ति 98; चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक-66
16. अ.रा.पृ. 6/443; आवश्यक निर्युक्ति 99
17. जैन दर्शन वाटिका पृ. 99
18. ज्ञानस्य फल विरति:। अ.रा. पृ. 6/337; प्रशमरति प्रकरण 72
19. अ.रा.पृ. 3/1126
20. अ.रा.पृ. 6/443; संबोधसत्तरि प्रकरण, आवश्यक निर्युक्ति 101
21. अ.रा.पृ. 6/443-444; एवं पृ. 4/19888; आवश्यक निर्युक्ति-102

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'आचार' शब्द की व्युत्पत्तिः-

'आचार' शब्द को प्राकृत में आयार और संस्कृत में 'आचार' कहा है। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'आचार' शब्द का व्युत्पतिलभ्य अर्थ बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है - 'आचार' शब्द 'आ' उपसर्गपूर्वक 'चरगतिभक्षणयोः' धातु से निर्मित है। 'आ' उपसर्गपूर्वक गतिभक्षणार्थक 'चर' धातु में घञ् प्रत्यय जोडने पर 'आचार' शब्द बनता है।[22]

आ - मर्यादया वाऽऽचारो-विहारः आचारः।[23]

आ - उपसर्ग, 'चार' चरणं चारः। अनुष्ठाने।परिभ्रमणे।[24]

आ - मर्यादायां चरणं चारः मर्यादया काल-नियमादि लक्षणया चार आचारः।[25]

अर्थात् काल-नियमादि लक्षण से मर्यादापूर्वक चलना 'आचार' है।

आचार का लक्षणः-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार का लक्षण बताते हुए आचार्यश्रीने कहा है-

आ मज्जाया वयणो, चरणं चारोत्ति तीए आयारो। सो होई नाण दंसण - चारित्ततवविरियवियप्पो।[26]

अर्थात् आचार का लक्षण 'मर्यादापूर्वक चलना' / जीवन बीताना है और वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य - पाँच प्रकार हैं। **जैन मर्यादा में जो अनुष्ठान, जीवन व्यवहार या आचरण ज्ञानादि पंचविध आचारों अनुकूल हों, वह आचार कहलाता है** और जो इनसे प्रतिकूल हों वह अनाचार।

परिभाषाः-

शास्त्रीय दृष्टि से 'आचार' की परिभाषा बताते हुए राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने कहा है-

'आचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेष' इति। आचारः शास्त्रविहितो व्यवहार इति।[27]

अर्थात् जो अनुष्ठान अथवा प्रवृत्ति मोक्ष के लिये हों, या जो आचरण या व्यवहार अहिंसादि धर्म से सम्मत एवं शास्त्रविहित हों, वह आचार है और इसके विपरीत जो हो वह अनाचार है। आचार की परिभाषा को बताते हुए राजेन्द्र कोश में और भी कहा है-

आचरणमाचारः।आचर्य्यते इति वाऽडचारः। पूर्वपुरुषाचरिते ज्ञानाद्यासेवनविधौ।[28] आचर्य्यते गुणवृद्धये इत्याचारः।[29]

इस प्रकार मोक्षलक्षी प्रवृत्ति, शास्त्रविहित व्यवहार, पूर्वपुरुषों के द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवनविधि, और गुणवृद्धि हेतु किया जाने वाला आचरण भी 'आचार' कहा जाता है।

आचरण शब्द के विविध अर्थः-

उपर्युक्त परिभाषाओं के अतिरिक्त 'आचार' शब्द के विविध अर्थ बताते हुए राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने कहा है-

1. **'आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चाधा आमर्यादया वा चारो विहार आचारः।'[30] 'आचारे साधु सामाचार्य्या विषये' इति।' आचारो ज्ञानादिविषयमनुष्ठानमिति।[32]**
2. **श्रुतज्ञानादिविषयमनुष्ठानं कालाध्ययनादीनि आचरणीये आचारे।[33]**
3. **साध्वाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः।[34] आचरणमाचारोऽनुष्ठानं इति।[35]**

अर्थात् अभिधान राजेन्द्र कोश में ज्ञानाचारादि पंचविध आचारों में मर्यादापूर्वक चलने के अर्थ में, साधु-समाचारी विषयक आचरण के अर्थ में, ज्ञानादि आसेवनरुप अनुष्ठान विशेष के अर्थ में, श्रुतज्ञानादि विषयक आसेवनरुप अनुष्ठान विशेष जो काल-अध्ययन आदि विषयक आचरण के अर्थ में, साधुओं द्वारा आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि के अर्थ में, अनुष्ठान विशेष के अर्थ में किये जानेवाले आचरण के अर्थ में, इत्यादि विभिन्न अर्थों में 'आचार' शब्द प्रयुक्त है।

---

22. अ.रा.पृ. 2/368; भगवती सूत्र सटीक पथम शतक, प्रथम उद्देशक
23. (चार) इति 'चर' गतिभक्षणयोः, भावे घञ् (चर्येति) 'गदमद' चरयं चानुपसर्गे। इत्यनेन कर्मणि ध। भावे वा यत् (चरणमिति) भावे ल्युट्। अ.रा.पृ. 3/1172; आचारांग 1/5/1
24. अ.रा.पृ. 6/368; आवश्यक मलयगिरि
25. अ.रा.पृ. 2/330; एवं 368; विशेषावश्यक वृत्ति एवं स्थानांग सटीक 5 वाँ ठाणां; आउर पच्चखाण पयन्ना, 24, 33, 66
26. अ.रा.पृ. 2/368; आचारांग सूत्र सटीक, 1/3, गच्छाचार पयन्ना
27. अ.रा.पृ. 2/368; नन्दीसूत्र वृत्ति
28. अ.रा.पृ. 2/368; यशोविजयजी कृत अष्टक - सटीक
29. अ.रा.पृ. 2/368; भगवतीसूत्र सटीक 1/1
30. अ.रा.पृ. 2/368; प्रश्नव्याकरणसूत्र सटीक, संवर द्वार-3
31. अ.रा.पृ. 2/368; ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक
32. अ.रा.पृ. 2/368; भगवतीसूत्र सटीक - 2/1, आवश्यक बृहद्वृत्ति
33. अ.रा.पृ. 2/368; भगवतीसूत्र सटीक 1/1
34. अ.रा.पृ. 2/368; सूत्र कृतांग सूत्र सटीक - 2/5
35. अ.रा.पृ. 2/368; दशवैकालिक सूत्र सटीक, 3 रा अध्ययन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार का वर्गीकरण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार का निक्षेप की दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा गया है- आचारस्य तु चतुर्धा निक्षेपः। स चायं नामाचारः स्थापनाचारो द्रव्याचारो भावाचारश्च।[36] अर्थात् निक्षेप की दृष्टि से आचार चार प्रकार का है - 1. नामाचार 2. स्थापनाचार 3. द्रव्याचार और 4. भावाचार। नामन, धावन, वासन, शिक्षापन आदि द्रव्याचार है[37] और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य को भावाचार कहा गया है।[38]

आचार के मुख्य पाँच भेद :-

जैनागमों में मुख्य रुप से आचरणीय ज्ञानादि पाँच वस्तुएँ बतायी गयी है : दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार - ये पाँच प्रकार का भावाचार है।[39] इसलिए संक्षेप में भावाचार के पाँच भेदों का उल्लेख करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है-

दंसण नाण चरित्ते, तव आयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो, पंचविहो होई नायव्वो ।।[40]

अभिधान राजेन्द्र कोश में इन पाँचों आचारों के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन आचार्यश्री ने किया है।[41] जिसे हमने यथा संक्षेप-विस्तारपूर्वक पूरे शोध प्रबंध में यथास्थान वर्णित किया है।

सामान्य भाषा में सदाचार और उसके विपरीतार्थक दुराचार, अनाचार, कदाचार, आदि अनेक शब्दों का प्रचलन है। किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त आचार शब्द से उपरोक्त विलोमार्थक शब्दों से निरपेक्ष मात्र श्रेष्ठ आचार ही अभीष्ट है, आचार शब्द से केवल मर्यादित और श्रेष्ठ आचरण का ग्रहण किया जाता है। सभी दार्शनिकों ने आचरण को धर्म कहा है। मनुस्मृति में कहा गया है -"आचारः प्रथमो धर्मः नृणां श्रेयस्करो महान्।" जैन आगमों में तो बल पूर्वक प्रतिपादित किया गया है कि चारित्र ही धर्म है। जैन सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का स्वभाव, वस्तु के स्वरुप के यथावत् श्रद्धान की रुचि और तदनुसार आचरित क्रिया तीनों का सन्तुलित समन्वय करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि ये तीनों भिन्न भिन्न न होकर एक ही हैं। जैनागमों में धर्म के स्वरुप पर विशद चर्चा उपलब्ध होती है। आगामी शीर्षक में संक्षेप में जैन धर्म और उसके उद्देश्य एवं लक्ष्य के विषय में किंचित् प्रस्तुत किया जा रहा है।

36. नामण धावण वासण, सिक्खावण सुकरणाविरोहीणि।
दव्वाणि जाणि लोए, दव्वायारं वियाणाहि॥ अ.रा.पृ. 2/368; आचारांग वृत्ति

37. पंचविहे आयारे पण्णत्ते, तं जहा-णाणायारे, दंसणायारे चरित्तायारे तवायारे वीरियायारे॥
अ.रा.पृ. 2/369; नंदीसूत्र, सूत्र 32; स्थानांग सूत्र-5 वाँ ठाणां

38. दुविहे आयारे पणत्ते, तं जहा-णाणायारे चेव नोणाणायारे चेव। नाणायारे दुविहे पणत्ते, तं जहा दंसणायारे चेव नोदंसणायारे चेव। नोदंसणायारे दुविहे पणत्ते, तं जहा-चरित्तायारे चेव नो चरितायारे चेवा (अ.रा. पृ. 2/368; दशवैकालिक सूत्र सटीक,अ-3) नोचरित्तायारे दुविहे पणत्ते, तं जहा-तवायारे चेव वीरियायारे चेव। - अ.रा.पृ. 2/369; स्थानांग सटीक, ठाणां 2

39. अ.रा. पृ. 2/368; आचारांग निर्युक्ति, गाथा 181

40. ज्ञानं श्रुतज्ञानं तद्विषय आचारः। श्रुतज्ञानविषये कालध्ययनविनयाध्यापनाऽऽदिरुपे व्यवहारे। - अ.रा.पृ. 4/1994

41. अ.रा.पृ. 2/369; स्थानांग सूत्र सटीक, ठाणां-2

सदाचार

लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणाऽऽदरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्तितः ।।1।।
सर्वत्र निंदासंत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत्संपदि नम्रता ।।2।।
प्रस्तावे मितभाषित्व-मविसंवादनं तथा।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्मानुपालनम् ।।3।।
असद्व्यपरित्यागः, स्थाने चैतत्क्रिया सदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम् ।।4।।
लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम्।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।।5।।

- अ.रा.पृ. 7/337

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. जैनधर्म का उद्देश्य और लक्ष्य

'धर्म' (धम्म) शब्द धृ धातु से 'मन्' प्रत्यय जोडने पर बनता है। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'धर्म' शब्द मुख्यतया तीन अर्थों में प्रयुक्त है[1]-

1. वत्थुसहावो धम्मो (वस्तुस्वभावो धर्मः) - वस्तु का स्वभाव धर्म है।

2. दंसणमूलो धम्मो (दर्शनमूलो धर्म्मः) - धर्म दर्शनमूलक है।

3. चारित्तं खलु धम्मो (चारित्रं खलु धर्मः) - चारित्र ही वास्तविक धर्म है।

वस्तुस्वभावरुप धर्म को बताते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है - धर्म का एक अर्थ स्वभाव होता है।[2] धर्म का एक अन्य अर्थ धर्मास्तिकाय होता है[3], धर्म का अर्थ धर्मास्तिकाय का धर्म (गति सहयाक स्वभाव) होता है[4], धर्म का अर्थ जीवादि द्रव्यों का स्वभाव होता है[5], धर्म का अर्थ द्रव्य के सहभावी और क्रमभावी पर्याय भी है[6] तथा परिणाम, स्वभाव और शक्ति भी धर्म के पर्याय हैं।[7] मर्यादा के अर्थ में 'धर्म' शब्द का अर्थ धर्म, स्थिति, समय और व्यवस्था भी होता है।[8]

'धर्म' की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है - "**जो दुर्गति (पतन के गड्ढे) में पडते हुए प्राणियों को बचाता है और सद्गति (उन्नति के स्थान) में पहुँचाता है, वह 'धर्म' कहलाता है।**"[9] आचार्यश्रीने द्रव्य के अपने स्वभाव / स्वरुप को धर्म कहा है।

'जैनधर्म' शब्द के घटक 'धर्म' शब्द का अर्थ आचरणरुप धर्म है। इसी में दर्शनमूलकता और वस्तुस्वभावता[10] (जीव की) निहित है।

धर्म के प्रकार :-

धर्म के दो प्रकार - अभिधान राजेन्द्र कोश में 1. द्रव्य धर्म और 2. भाव धर्म बताया है।[11]

धर्म के तीन प्रकार - जैनेन्द्रसिद्धांतकोश में धर्म तीन प्रकार से बाताया गया है - 1. अस्तित्व धर्म 2. श्रुत धर्म 3. चारित्र धर्म।[12]

धर्म के चार प्रकार - निक्षेप द्वार से धर्म का वर्णन करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने धर्म के चार प्रकार दर्शाये हैं - 1. नाम धर्म 2. स्थापना धर्म 3. द्रव्य धर्म 4. भाव धर्म।[13]

नाम धर्म - कोई सचेतन पुरुष का 'धर्म' (धर्मदास, धर्चन्द्र, धर्मकुमार, धर्म राजा इत्यादि) ऐसा नामकरण किया जाय, वह 'नाम धर्म' है।[14]

स्थापना धर्म - मंदिर, मूर्ति, उपाश्रय, पौषधशाला; नवकारवाली, शास्त्र, चरवला, आसन, ओधा, मुखपट्टिका, पात्र आदि धार्मिक उपकरण, देव-गुरु के चरणचिह्न (पगलिया), चित्र आदि, स्थापनाचार्य या अन्य जिस किसी वस्तु की धर्मायतन के रुप में स्थापना की जाय वह 'स्थापना धर्म' कहलाता है।[15]

द्रव्य धर्म - जीवास्तिकाय आदि षड् द्रव्यों का उत्पादन-व्यय-ध्रुव रुप धर्म।[16] अथवा पदार्थ (द्रव्य) का तिक्त, मधुरादि रस भी द्रव्यधर्म है।[17] द्रव्यधर्म तीन प्रकार से है-

1. अस्तिकाय धर्म - जीवास्तिकायादि षड् द्रव्यों का अपना-अपना स्वभाव; जैसे-धर्मास्तिकाय का गतिसहायक स्वभावादि अस्तिकाय धर्म कहलाता है।[18]

2. प्रचार धर्म - इन्द्रिय विषयक धर्म, प्रकर्षगमन आदि।[19]

3. विषय धर्म - प्राणियों को विषाद पहुँचाना, रुप-रागादि में प्रवृत करना, भोगोपभोग में आसक्त रहना, आदि विषयधर्म है।[20] जीव की अनादिकालीन प्रवृत्ति होने से इसे धर्म कहा गया है (भावधर्म की अपेक्षा से नहीं)। सचित शरीर के उपयोग रुप स्वभाव को भी द्रव्य धर्म कहते हैं।[21] बिना भाव के धार्मिक अनुष्ठान / धर्मक्रिया भी द्रव्यधर्म' है।[22]

जहाँ दूसरे समस्त धार्मिक लोगों के द्वारा दूसरों को गठने की बुद्धि से जो भी ध्यान, अध्ययनादि किया जाय अथवा जैनधर्म के साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाओं के द्वारा अविधि या अनुपयोग (मन, वचन, काया की एकाग्रता रहित) से जो भी चैत्यवंदन, प्रतिक्रमण स्वाध्यायादि अनुष्ठान किया जाय अथवा पार्श्वस्थादि (जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र से दूर रहते हैं, चारित्र में सबल दोष लगाते हैं, गुणी संयमियों के दोष देखते हैं, परंतु मुनिमार्ग

1. अ.रा.पृ. 4/2663, 2665
2. अ.रा.पृ. 4/2663; जैनेन्द्रसिद्धांत कोश, पृ. 2/464
3. नवतत्त्व प्रकरण, गाथा-8; भगवती सूत्र 2/2; अनुयोगद्वारसूत्र समवयांग 1 स.; स्थानांग 2/1
4. वही
5. समवयांग, 10 स., स्थानांग, 9 वाँ ठाणां
6. स्थानांग, 2 ठा. 1 उ.
7. स्थानांग, 9 वाँ ठाणां
8. आचारांग चूर्णि, 2 अध्ययन; प्रतिमाशतक सूत्र सटीक; अ.रा. पृ. 4/22665
9. दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते पुनः।
   धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृतः ॥ अ.रा. पृ. 2/773, एवं पृ. 4/2665
10. अ.रा.पृ. 4/2667
11. अ.रा.पृ. 4/2663, 2667
12. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2, पृ. 467; मूलाचार-557
13. अ.रा.पृ. 4/2667, 68, सूत्रकृतांग निर्युक्ति-2/39
14. अ.रा.पृ. 4/2663, 2668
15. अ.रा.पृ. 4/2668
16. अ.रा.पृ. 4/2667, 2668
17. अ.रा.पृ. 4/2667
18. अ.रा.पृ. 4/2668, 2718
19. अ.रा.पृ. 4/2668
20. अ.रा.पृ. 4/2668
21. अ.रा.पृ. 4/2668
22. अ.रा.पृ. 4/2671, 2667

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पास रहते हैं) के द्वारा बिना भाव से केवल परचित्तरञ्जन (लोकरञ्जन) हेतु जो अनुष्ठानादि किया जाय वह सब 'द्रव्यधर्म' है।[23] इसी प्रकार ग्राम-देश-कुल-राष्ट्र-पशु-नगरादि धर्म, तथा गम्य धर्मादि भी द्रव्यधर्म है तथा गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ को दिया गया दान (अनुकंपादिपूर्वक या प्रीति-सत्कारादि) भी द्रव्यधर्म है।[24] कुतीर्थिक (एकांतवादी) बौद्ध, संन्यासी आदि अन्यलिङ्गी का धर्म भी द्रव्यधर्म है,[25] तथा उनको अन्न, जल, वस्त्र, निवास स्थान, शयन, आसन, शुश्रूषा, वन्दन, और संतोष या चित्त प्रसन्नता का दान भी द्रव्यधर्म है।[26] द्रव्य के छह सामान्य धर्मों को भी द्रव्यधर्म कहते हैं, ये निम्नलिखित हैं-

स्वभाव धर्म (द्रव्य स्वभाव):-

1. अस्तित्त्व[27] - द्रव्य का सदा सत् अर्थात् विद्यमान रहना अस्तित्त्व गुण है। इस गुण के होने से द्रव्य में सद्रूपता का व्यवहार होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण पर्याय और प्रदेश की अपेक्षा से सत् (विद्यमान है)

2. वस्तुत्व[28] - वस्तुत्व का अर्थ है जाति या व्यक्तित्व रुप से वस्तु का अपना स्वयं का अलग अस्तित्त्व बनाए रखना। वस्तुत्व के कारण ही एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होती है। धर्मादि छहों द्रव्य एक क्षेत्र में एक साथ मिलकर रहने पर भी एक दूसरे से अपने वस्तुत्व के कारण भिन्न हैं। एक आकाश प्रदेश में धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, जीवों के अनन्त प्रदेश और पुद्गल के अनन्त परमाणु रहे हुए हैं; परन्तु अपने-अपने स्वभाव में रहते हुए वे एक दूसरे की सत्ता में नहीं मिलते। इसी से उनका वस्तुत्व स्वतन्त्र है।

3. द्रव्यत्व - अपने अपने (स्वाभाविक/सहभावी गुणयुक्तः) द्रव्य की अपनी-अपनी (क्रमभावी) पर्याय प्राप्त करना 'द्रव्यत्व' कहलाता है।[29] सब द्रव्य भिन्न-भिन्न रुप से अपनी-अपनी क्रिया करते हैं। भिन्न-भिन्न अर्थक्रिया करने को द्रव्यत्व कहते हैं।

4. प्रमेयत्व[31] - अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रमेय का लक्षण बताते हुए कहा है - "**द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्**।" अथवा प्रमाण के द्वारा जानने योग्य स्व-पर स्वरुप प्रमेय है। प्रमेय का भाव अर्थात् प्रमाण का विषय होना प्रमेयत्व है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा ज्ञान होना यही प्रमेयत्व-ज्ञेयत्व है। **सभी पदार्थ केवलज्ञान रूप प्रमाण के विषय हैं, इसलिए प्रमेय हैं।**

5. प्रदेशत्व (सत्त्व)[32] - उत्पाद (उत्पति), व्यय (विनाश) और ध्रुवत्व (स्थिरता) को सत्त्व कहते हैं - **उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।** प्रत्येक द्रव्य की सत्ता उसके स्वरुप से है। किसी द्रव्य का स्वरुप तो साकार है, जैसे पृथ्वी आदि; और किसी द्रव्य का स्वरुप निराकार है, जैसे आकाश, आत्मा, काल आदि। किन्तु निराकार होने का अर्थ यह नहीं है कि उसकी सत्ता ही नहीं है, अपितु यह है कि निराकार का भी उसके प्रदेश (अविभागी प्रतिच्छेद) रुप द्रव्य पदार्थ (जो कि भौतिक तत्वों के समान न होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है) के रुप में अस्तित्व है। प्रत्येक द्रव्य का यह स्वरुप ही उसका प्रदेशत्व है।

6. अगुरुलघुत्व - अगुरुलघुत्व द्रव्य का वह धर्म है जिसके कारण द्रव्य के किसी भी अंश का किसी भी काल और किसी भी क्षेत्र में नाश नहीं होता। इस अगुरुलघु स्वभाव का कभी नाश नहीं होता। आत्मा में भी अगुरु लघु गुण है। इसमें गुणों का आविर्भाव-तिरोभाव तब तक ही होता है; जब तक कर्मों का आवरण है। किन्तु क्षायिक भाव होने पर आत्मा के सब प्रदेशों में सर्व गुण साधारणतया प्रकट होते हैं; तब उनमें हानि वृद्धि नहीं होती।[33]

लौकिक आचार:-

गम्य धर्म:-

'गम्य' शब्द 'गम्लृ' धातु से बना है,[34] जिसका साधारण अर्थ 'गमन करना' है; 'धर्म' विशेष्य से संबद्ध विशेषण के रुप में प्रयुक्त 'गम्य' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' भोग और उपभोग करने से है। भोग के अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं जिनका एक बार ही सेवन किया जा सकता है; जैसे - खाद्य पदार्थ, स्पर्श, पुष्पमालादि आदि।[35] उपभोग में वे पदार्थ आते हैं जिनका सेवन अनेक बार किया जाता है जैसे - वस्त्र, गृह आदि।[36]

योगरुढ अर्थ के साथ 'गम्य' शब्द वैवाहिक संबंध अथवा कि मैथुनी सहसंबंध का नियमन करता है। इसी विषय को रेखांकित करते हुए आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में 'गम्य धर्म' में यह स्पष्ट किया है कि दक्षिणापथ में मामा की पुत्री से सह संबंध हो सकता है जबकि दूसरी ओर उत्तरापथ में इसे निषिद्ध माना गया है।[37]

यह तो संकेत-मात्र हैं। सहसंबंध के विषय में चिकित्सा शास्त्रों में स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं कि समागम करनेवालों को अतुल्य-गोत्र होना चाहिए।[38] तत्पश्चात् स्त्री और पुरुषों की अलग-अलग विशेषताएँ बताई गई है जो समागम कर सकते हैं। इसके विपरीत वहाँ यह भी बताया गया है कि किससे समागम नहीं करना चाहिए। चूंकि समागम में सक्रिय, भागीदार पुरुष होता है इसलिए निषेध उसे ही निर्दिष्ट किये गये हैं। जैसे कि रजस्वाला, रुग्णा, गर्भिणी स्त्रियों से समागम नहीं करना चाहिए।[39]

खाद्य पदार्थ और गंध अर्थात् गंधाश्रय पुष्पादि एक बार ही सेवन करने योग्य होते हैं; इसके बाद वे सेवन के योग्य नहीं

---

23. ।.....विधीयते एष मया पुनः समस्तान्यधार्मिकै धर्मबुद्धया परप्रतारणबुद्धया वा विधीयमानः सर्वोऽपि ध्यानाध्यायनादिः द्रव्यधर्म एव। तथा स्वदर्शनप्रतिपन्नानां श्रमणाऽऽदीनां चतुर्णामपि यच्चैत्यवन्दन-प्रतिक्रमणस्वाध्यायाऽऽद्यनुष्ठानसेवनमविधिना -ऽनुपयोगेन तथा परोपरोधपरचित्तरञ्जनवतां पार्श्वस्थादीनां च यदनुष्ठानं तदपि द्रव्य धर्म एव,.....। - अ.रा.पृ. 4/2668
24. अ.रा.पृ. 4/2668, 2669
25. अ.रा.पृ. 4/2667
26. अ.रा.पृ. 4/2474
27. अ.रा.पृ. 1/517, 518
28. अ.रा.पृ. 6/880
29. अ.रा.पृ. 4/2462, 4/2471
30. षड् द्रव्य विचार, पृ. 104, 105
31. अ.रा.पृ. 5/497; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 3/146
32. अ.रा.पृ. 7/312; षड् द्रव्य विचार, पृ. 106, 107
33. अ.रा.पृ. 1/15
34. पोरदपधात्। -अष्टाध्यायी 3.1.98 अति यत्प्रत्ययः।
35. अ.रा.पृ. 5/1603; उत्तराध्ययन, 33 अध्ययन
36. अ.रा.पृ. 2/997
37. तत्र गम्यधर्म्मो यथा दक्षिणापथे मातुलदुहिता गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्यैव। - अ.रा. पृ. 4/2668
38. अतुल्यगोत्रस्य रजः क्षयान्ते स्रोविसृष्टं कमिथुनीकृतस्य।
किं स्याच्छुक्रातुप्रभवं च षड्भ्यो यत्स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः।
-चरकसंहिता, शारीरस्थान (अतुल्यगोत्रीय 2/3)
39. चरक संहिता, शारीर स्थान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते - इन्हें भी आचार्यश्रीने गम्य-धर्म से सूचित किया है।[40] इसके साथ ही जैन शासन में कुछ एसे पदार्थों को भी सूचीबद्ध किया गया हैं जो भोग्य नहीं हैं, जैसे - 22 अभक्ष्य एवं 32 अनंतकाय आदि।[41]

जाति स्वभाव :-

पशु धर्म[42] :-

पशुओं के तीन कार्य प्रमुख रुप से गिनाये गये हैं - आहार, निद्रा एवं मैथुन।

आहारनिद्राभयमैथुनं च,
समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो,
धर्मेण हीना पशुभिः समानाः। – महाभारत

यहाँ 'पशुधर्म' शब्द से पशुओं के मैथुन संबंधी गम्यागम्य - अविवेक को संकेतित किया गया हैं। चूँकि पशु विवेक रहित होते हैं अतः उनमें यह विचार नहीं पाया जाता कि अमुक मेरी माता है, अमुक मेरी बहिन है आदि। जो मनुष्य काम-मनः प्रविचार में विवेक नहीं रखते उनकी तुलना पशुओं से की गयी है। यह पशुधर्म मनुष्य योनि में अत्यन्त निन्द्य है।

व्यवहार धर्म :-

1. राज्य धर्मः-

प्रत्येक राज्य के नीति-नियम, अधिकार और कर्तव्य, कर, जीवन-शैली, मर्यादाएँ, भाषा, वेश-भूषा आदि अलग-अलग होते हैं। राज्य में रहने वाले या आगंतुक सभी को इसका पालन करना - यह राज्य धर्म है।[43] साथ ही राज्य विरुद्ध षड्यंत्र नहीं रचना, कर चोरी नहीं करना, राज्य के हित एवं विकास तथा सुख-शांति एवं समृद्धि हेतु प्रयत्न करना - यह भी राज्य-धर्म है।

2. देश धर्म :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में जणवय (जनपद), देस (देश), और देसड (देश) - ये देश के पर्यायवाची शब्द हैं।[44] राजेन्द्र कोश में जैनागमों के अनुसार जहाँ लोगों का निवास हो,[45] जो क्षेत्र साधुओं के विहार-योग्य हो अर्थात् जहाँ जैन साधु-साध्वी विचरण करते हों[46], जहाँ बहुत लोग आते-जाते हो[47], जिसका जो जन्मस्थान हो[48], जो ग्राम-नगरादि से युक्त हो[49], जो मनुष्य लोक हो अर्थात् जहाँ मनुष्य रहते हों[50], उसे 'देश' कहा है। उसे ही 'राष्ट्र' भी कहते हैं।[51] राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओ का पालन करना; देश के विकास, उन्नति, एकता एवं हित के लिये प्रयत्न करना; हर परिस्थिति में देश का गौरव बढाना एवं बनाये रखना; उस क्षेत्र से संबंधित उचित देशाचार का पालन करना-देश धर्म है।[52]

3. नगर धर्मः-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने वृक्ष या पर्वतादि से युक्त स्थान को 'नकर' अर्थात् 'नगर' कहा है।[53] ग्रामों के मध्य में स्थित व्यवासियक केन्द्र रुप मुख्य गाँव को 'नगर' कहते हैं।[54]

नगर में रहनेवाले नागरिकों के आवश्यक कर्तव्य जैसे कि नगर की सुव्यवस्था, शांति, सुरक्षा, नागरिक-नियमों का पालन, हित-चिंता, संरक्षण, संवर्धन करना-नगर धर्म है। साथ ही बोलचाल में नगर के अनुरुप भाषा का प्रयोग, स्त्रियों का घर से बाहर गमनागमन आदि भी नगर धर्म है।[55]

युगीन संदर्भ में गाँवों का और नगर में आये ग्रामीणों का शोषण न करना, गाँवों के संपूर्ण विकास हेतु प्रयत्न करना, यह भी नगर-धर्म है।

40. एवं भक्ष्याभक्ष्यपेयापेयविभाषा कर्तव्येति। अ.रा. पृ. 4/2668
41. अ.रा. पृ. 2/928
42. 'पशुधर्मो मात्रादिगमनलक्षणः।' वही, भाग 4/2668; मात्रादिगमनलक्षणे पशाचारे। -वही, भाग 5, पृ.813
43. अ.रा. पृ. 4/2669, 6/478
44. अ.रा. पृ. 4/1388, 2628, 2630
45. अ.रा. पृ. 4/1388; आचारांग 1/615; प्रश्नव्याकरण सूत्र-3, आस्रव द्वारा
46. अ.रा. पृ. 4/1388 आचारांग, 1/615
47. अ.रा. पृ. 4/1388 आचारांग, 1/615, वाचस्पत्यभिधान कोश
48. अ.रा. पृ. 4/2628 स्थानांग, 3/3
49. अ.रा. पृ. 4/2668; हारिभद्रीय अष्टक-12
50. अ.रा. पृ. 4/1388 भगवतीसूत्र- 9/6
51. अ.रा. पृ. 4/1388
52. अ.रा. पृ. 4/2628-29; स्थानांग, 10/760; जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन, पृ. 99
53. अ.रा. पृ. 4/1792-93 एवं 2771
54. अ.रा. पृ. 4/1793
55. अ.रा. पृ. 4/1793 एवं 2669

जलदान

पानीयं प्राणिनां प्राणा-स्तदायत्तं हि जीवनम्।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु, न क्वचिद्वारि वार्यते ॥1॥
अन्नेनापि विना जन्तुः, प्राणान् धारयते चिरम्।
तोयाभावे पिपासार्तः, क्षणात् प्राणैर्वियुज्यते ॥2॥
तृषितो मोहमायाति, मोहात् प्राणान् विमुञ्चति।
तस्माज्जलमवश्यं हि, दातव्यं भेषजैः समम् ॥3॥

– अ.रा.पृ. 4/1426

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोकोत्तर धर्म : भाव धर्म

भाव धर्म:-

'दंसण मूलो धम्मो'[56] - इस अर्थ में 'धर्म' शब्द का अर्थ करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है - सम्यग्दर्शनादि के विषय में कर्मक्षय में कारणभूत आत्मपरिणाम को धर्म कहते हैं।[57] सम्यग्दर्शन के मूल गुण और उत्तर गुण की संहति रुप धर्म के अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता है।[58] **धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रुप है।**[59]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि शुद्ध अनुष्ठानजनित (शुद्ध भावपूर्वक की गई सेवा-पूजा, दर्शन, वंदन, सामायिक, पौषधादि धर्मक्रिया से उत्पन्न), कर्मरुप मल (राग-द्वेष) को दूर करने रुप लक्षणयुक्त, निर्वाण के बीज रुप सम्यग्दर्शनादि के लाभ रुप जीव की शुद्धि ही धर्म है। अत: सिद्धांत से अविरुद्ध होने के कारण अनुष्ठान/धर्मक्रिया को 'धर्म' कहते हैं।[60]

'चारित्तं खलु धम्मो'[61] - इस अर्थ में 'धर्म' पद की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है- **दुर्गति में पडे हुए प्राणियों का उद्धार करके उनको शुभस्थान में धारण करने के कारण इसे धर्म कहते हैं**[62] अथवा **दुर्गतिरुपी खाई में पडे हुए प्राणियों के उद्धार के लिये जीव के परिणाम को धर्म कहते हैं,**[63] अथवा **दुर्गति में पडे हुए प्राणियों का उद्धार कर उन्हें सुगति में स्थापित करना - धर्म है।**[64] धर्म का अर्थ आचार[65], कुशल अनुष्ठान[66], संसार के उद्धार का स्वभाव[67], स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग[68], अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि का साधन[69], पुण्य-लक्षण रुप आत्म-परिणाम भी है[70]। भाव-धर्म या चारित्र धर्म के अर्थ में यति और श्रावक के आचार को[71], श्रुत और चारित्र धर्म के लिए कर्मक्षय के कारणभूत आत्मपरिणाम को[72], सर्वज्ञ भगवंतो के द्वारा प्ररुपित अहिंसादि लक्षण को,[73] सम्यक्त्व[74], क्षमा आदि दशविध यतिधर्म को[75], प्राणातिपातविरमण आदि श्रावक धर्म को[76], श्रुत और चारित्र धर्म को[77], दानादि श्रावक धर्म को[78], और क्षायिक चारित्र को[79] अभिदान राजेन्द्र कोश में 'धर्म' कहा है।

आगे अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने लोकोत्तर धर्म को 1. ज्ञान 2. दर्शन और 3. चारित्र रुप से तीन प्रकार से भी बताया है; वह प्रत्येक पाँच-पाँच प्रकार से है-

1. **ज्ञान** - मति-श्रुत-अवधि-मन: पर्यव और केवलज्ञान[84]।
2. **दर्शन** - औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक वेदक और क्षायिक सम्यकत्व[85]।
3. **चारित्र** - सामायिक, छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्म संपराय, परिहार विशुद्धि और यथाख्यात चारित्र[86]।

भाव धर्म के चार प्रकार:-

1. दान 2. शील 3. तप और 4. भाव[87]। यह भाव धर्म (1) साधु और (2) गृहस्थ - आचरणकर्ता के भेद से दो प्रकार का है। **जैन श्रमण दीक्षा ग्रहण के दिन से सकल सावद्ययोग के त्यागपूर्वक गुरुप्रदेश से अहिंसापूर्वक यथाशक्ति अनशनादि तप का आचरण करता है, उसका जो धर्म/स्वभाव, वह भाव धर्म-श्रमण धर्म है**[88]। श्रमण धर्म का आचरण करने में असमर्थ लोगों के लिए उसी का स्थूल रुप गृहस्थ धर्म है। गृहस्थ धर्म भी दो प्रकार से है-

1. **सामान्य** - सर्वजनसाधारण के अनुष्ठान रुप और
2. **विशिष्ट** - सम्यग्दर्शन, अणुव्रत, द्वादशव्रत रुप तथा क्षमादि 10 धर्मरुप।[89]

चित्त का हेतु या चित्त से उत्पन्न होने के कारण चारित्र (आचरण, क्रिया, सदनुष्ठान) को 'भाव धर्म' कहते हैं[90]।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि "शास्त्रोक्त सम्यग्ज्ञानक्रियारुप मोक्ष के कारण एवं सुखादि के एकान्तिक कारण रुप होने से जीवों को सुगति में धारण करने से (सुगति प्राप्त करवाने के कारण) इसे 'धर्म' कहते हैं[91]। इस भावधर्म के पालन से जीव को मैत्री (परहितचिन्ता), करुणा (परदु:खविनाश), प्रमोद (परसुखसृष्टि) और मध्यस्थता (दूसरें के दोषों को दूर करने में असमर्थ होने पर समभाव या उपेक्षा) गुण प्राप्त होता है[92]। (और) **समतापूर्वक मध्यस्थ भाव धारण करने के लिए** तीर्थंकरों ने भाव धर्म कहा है[93]। यह **भाव धर्म ही वास्तव में जैनधर्म है** अत: सप्रसंग हम यहाँ 'जैनधर्म' की चर्चा करेंगे।

---

56. जैनेन्द्र सिद्धन्त कोश, पृ. 2/465; दर्शनपाहुड 12; पंचाध्यायी-716
57. अ.रा.पृ. 4/2665; सूत्रकृतांग, 2/5 अध्ययन;
58. अ.रा.पृ. 4/2665
59. अ.रा.पृ. 4/2665; सूत्रकृतांग -2/5/15; जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, 2/467
60. ।..... इत्थं च शुद्धनुष्ठानजन्या कर्मलापगमलक्षणा सम्यग्दर्सनादि-निर्वाणबीजलाभफला जीवशुद्धिरेव धर्म:। यच्चेहाविरुद्धवचनादनुष्ठानं धर्म इत्युच्यते। अ.रा. पृ. 4/2666
61. अ.रा.पृ. 4/2665
62. अ.रा.पृ. 4/2665; दशवैकालिक सूत्र सटीक 1/1; सूत्रकृतांग 1/11;
63. अ.रा.पृ. 4/2665
64. अ.रा.पृ. 4/2665; स्थानांग, 1, ठाणां, सूत्रकृतांग 1/11
65. अ.रा.पृ. 4/2665
66. विशेषावश्यक सभाष्य, गाथा 1918
67. सूत्रकृतांग 1/6
68. अ.रा.पृ. 4/2665; आचारांग 1/3/1
69. धर्मसंग्रह सटीक, 1 अधिकार
70. आवश्यक बृहद्वृत्ति, 4 अध्ययन; सूत्रकृतांग 2/5
71. धर्मसंग्रह सटीक, 2 अधिकार
72. सूत्रकृतांग, 2/5
73. दर्शनशुद्धि सटीक, 1 तत्त्व
74. दर्शनशुद्धि सटीक, 1 तत्त्व; सूत्रकृतांग 1/15;
75. अ.रा.पृ. 1/279; सूत्रकृतांग 1/1/1; -तत्त्वार्थसूत्र 9/6
76. अ.रा.पृ. 4/2666
77. अ.रा.पृ. 4/2665; उत्तराध्ययन 25 अध्ययन; सूत्रकृतांग 2/5
78. संथारग पयन्ना सटीक
79. स्थानांग, 3/1; सूत्रकृतांग 2/5
84. अ.रा.पृ. 4/1938
85. अ.रा.पृ. 4/2626
86. अ.रा.पृ. 4/2668; तत्त्वार्थसूत्र 9/18
87. अ.रा.पृ. 4/2668
88. अ.रा.पृ. 4/2669
89. अ.रा.पृ. 4/266
90. अ.रा.पृ. 4/2669
91. अ.रा.पृ. 4/2667;
92. अ.रा.पृ. 4/2672
93. अ.रा.पृ. 4/2676

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनाफा होने के बावजूद भी माता-पिता के वृद्धत्व एवं गिरते स्वास्थ्य का समाचार पाकर दोनों भाई व्यापार समेटकर वापिस कलकत्ता होकर भरतपुर आ गये।[19]

वैराग्यभाव :-

माता-पिता की वृद्धावस्था एवं दिन-प्रतिदिन गिरते स्वास्थ्य के कारण दोनो भाई माता-पिता की सेवा में लग गए। अंततः रत्नराज ने उनको अंतिम आराधना करवाई एवं एक दिन के अंतर में माता-पिता दोनों ने समाधिभाव से परलोक प्रयाण किया।[20]

माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् उदासीन रत्नराज आत्म-चिन्तन में लीन रहने लगे। नित्य अर्ध-रात्रि में, प्रातः काल में कायोत्सर्ग, ध्यान, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन आदि में समय व्यतीत करते रहे। सुषुप्त वैराग्यभावना के बीज अंकुरित होने लगे। इतने में उसी समय (वि.सं. 1902) में पूज्य श्री प्रमोदसूरिजी का चातुर्मास भरतपुर में हुआ। आपका तप-त्याग से भरा वैराग्यमय जीवन एवं तत्त्वज्ञान से ओत-प्रोत वैराग्योत्पादक उपदेशामृतने रत्नराज के जिज्ञासु मन का समाधान किया जिससे रत्नराज के वैराग्यभाव में अभिवृद्धि हुई। फलस्वरुप उनकी दीक्षा-भावना जागृत हुई और वे भागवती दीक्षा (प्रवज्या) ग्रहण करने हेतु उत्कंठित हो गये।[21]

साधुजीवनवृत्त -

दीक्षा :-

दीक्षा को उत्कण्ठित रत्नराज में उपादान उछल रहा था, केवल निमित्त की उपस्थिति आवश्यक थी। निमित्त का योग **विक्रम सं. 1904 वैशाख सुदि 5 (पंचमी)** को उपस्थित हो गया और इस प्रकार अपने बडे भ्राता माणिकचन्द्रजी की आज्ञा लेकर **रत्नराज ने उदयपुर (राज.) में पिछोला झील के समीप उपवन में आम्रवृक्ष के नीचे श्रीपूज्य श्री प्रमोदसूरि जी से यतिदीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार आपके दीक्षा गुरु आचार्य श्री प्रमोद सूरि जी थे। अब नवदीक्षित मुनिराज 'मुनि श्री रत्नविजयजी'** के नाम से पहचाने जाने लगे।[22]

अध्ययन :-

"पढमं नाणं तओ दया"[23] अर्थात् ज्ञान के बिना संयम जीवन की शुद्धि एवं वृद्धि नहीं हैं। -इस बात को निर्विवाद सत्य समझकर गुरुदत्त-ग्रहण-आसेवन शिक्षा के साथ साथ मुनि श्री रत्नविजयजीने दत्तचित्त होकर अध्ययन प्रारंभ किया। व्याकरण, काव्य, अलंकार, न्याय, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, कोश, आगम आदि विषयों का सर्वांगीण अध्ययन आरम्भ किया।

मुनि रत्नविजयजीने गुर्वाज्ञा से खरतरगच्छीय यति श्री **सागरचंदजी के पास व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि का अध्ययन** किया (वि.सं. 1906 से 1909)।[24] तत्पश्चात् **निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति आदि पंचागी सहित जैनागमों का विशद अध्ययन वि.सं. 1910-11-12-13 में श्री पूज्य श्री देवेन्द्रसूरि के पास** किया। इनकी अध्ययन जिज्ञासा और रुचि देखकर श्री देवेन्द्रसूरि ने इन्हें विद्या की अनेक दुरुह और अलभ्य आमनायें प्रदान की।[25] श्री राजेन्द्रसूरि रास (पूर्वार्द्ध) के लेखक रायचन्दजी के अनुसार मुनि रत्नविजय ने **ज्योतिष का अभ्यास जोधपुर (राजस्थान) में चंद्रवाणी ज्योतिषी के पास** किया।[26]

बडी दीक्षा :-

वि.सं. 1909 में अक्षय तृतीया (वैशाख सुदि त्रीज) के दिन श्रीमद्विजय प्रमोद सूरि जी ने **उदयपुर** (राजस्थान) में आपको बडी दीक्षा दी।[27] साथ ही श्रीपूज्य श्री प्रमोदसूरि जी एवं श्री देवेन्द्रसूरि जी ने आपको उस समय **पंन्यास** पद भी दिया।[28]

अध्यापन :-

आपकी योग्यता और स्वयं की अंतिम अवस्था ज्ञातकर श्रीपूज्य श्री देवेन्द्रसूरिने अपने बाल शिष्य धरणेन्द्रसूरि जी (धीर विजय) को अध्ययन कराने का मुनि श्री रत्नविजयजी को आदेश दिया।[29] गुर्वाज्ञा व श्रीपूज्यजी के आदेशानुसार आपने वि.सं. 1914 से 1921 तक धीरविजय आदि 51 यतियों को विविध विषयों का अध्ययन करवाया और स्व-पर दर्शनों का निष्णात बनाया।[30]

श्रीपूज्यश्री धरणेन्द्रसूरिने भी विद्यागुरु के रुप में सम्मान हेतु आपको **'दफ्तरी'** पद दिया।[31] दफतरी पद पर कार्य करते हुए **आपने वि.सं. 1920 में राणकपुर तीर्थ में चैत्र सुदि 13 (महावीर जन्मकल्याणक) के दिन पांच वर्ष में क्रियोद्धार करने का अभिग्रह किया।**[32]

वि.सं. 1922 का चातुर्मास प्रथम बार स्वतंत्र रुप से 21 यतियों के साथ झालोर में किया।[33] इसके बाद वि.सं. 1923 का चातुर्मास श्रीपूज्यश्री धरणेन्द्रसूरि के आग्रह से घाणेराव में उन्हीं के साथ हुआ।[34]

आचार्य पद पर आरोहण : पृष्ठभूमि और प्रक्रिया-

ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि वर्षाकाल में ही घाणेराव में 'इत्र' के विषय में मुनि रत्नविजय का श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि से विवाद हो गया। श्री रत्नविजय जी साधुचर्या के अनुसार साधुओं को 'इत्र' आदि उपयोग करने का निषेध करते थे जबकि धरणेन्द्रसूरि

19. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 15, जीवनप्रभा पृ. 16
20. विरल विभूति, पृ. 8 से 11; जीवनप्रभा पृ. 7; राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 15
21. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 16 से 18; जीवनप्रभा पृ. 6, 7, 8
22. जीवनप्रभा पृ. 9; धरती के फूल पृ. 55; राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 18; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 6
23. दशवैकालिकसूत्र मूल 4/10
24. जीवनप्रभा पृ. 10-11; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 17; राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 19; राजेन्द्र सूरि अष्टप्रकारी पूजा 4/1, 4
25. जीवनप्रभा पृ. 11
26. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 17
27. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी पृ. 4; जीवनप्रभा पृ. 11; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 19
28. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी पृ. 4; जीवनप्रभा पृ. 11; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 20
29. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 21; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 18
30. जीवनप्रभा पृ. 14-15; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 18
31. यो हि योग्यग्रामादौ चतुरो मासान् स्थातुं यतीनादिशेत्, अपराधिनाममीषामुचितं दण्डयेत कस्मैचित् पंन्यासोपाध्यायाद्युपाधिप्रदाने प्रमाणपत्रं वितरेत्, श्री पूज्यस्याऽऽयव्ययकोषांश्च प्रबन्धयेत, स एवं 'दफतरी' निगद्यते। सम्मान्यते चैष तत्पसंप्रदाये महामात्यसाम्येन।
- कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनीगतो जीवनपरिचयः पृ. 5 टिप्पणी
32. जीवनप्रभा पृ. 19; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 25, 28, 33
33. विरल विभूति, पृ. 33
34. जीवनप्रभा पृ. 15, राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 23 श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 32, 36

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं अन्य शिथिलाचारी यति इत्र आदि पदार्थ ग्रहण करते थे। कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी के अनुसार वि.सं.1923 के पर्युषण पर्व में तेलाधर के दिन शिथिलाचार को दूर करने के लिये मुनि रत्नविजय ने तत्काल ही मुनि प्रमोदरुचि एवं धनविजय के साथ घाणेराव से विहार कर नाडोल होते हुए आहोर शहर आकर अपने गुरु श्री प्रमोदसूरिजी से संपर्क किया और बीती घटना की जानकारी दी।[35]

इसके साथ अनेक अन्य विद्वान् यतियों ने भी श्री पूज्य श्री प्रमोदसूरिजी को शिथिलाचार का उपचार करने हेतु लिखा। तब मुनि रत्नविजयजी ने आहोर में अट्ठम तप करके मौन होकर 'नमस्कार महामंत्र' की एकान्त में आराधना की। आराधना के पश्चात् श्री प्रमोदसूरिजी ने रत्नविजय से कहा- **"रत्न !...तुमने क्रियोद्धार करने का निश्चय किया है सो योग्य है** व मुझे प्रसन्नता भी है, परन्तु अभी कुछ समय ठहरो। पहले इन श्रीपूज्यों और यतियों से त्रस्त जनता को मार्ग दिखाओ, फिर क्रियोद्धार करो।"

तत्पश्चात् अपने गुरुदेव प्रमोदसूरीजी से विचार विमर्श कर मुनि रत्नविजय ने अपनी कार्य प्रणाली निश्चित की।[36]

वि.सं. 1923 में इत्र विषयक विवाद के समय ही प्रमोदसूरि जी ने मुनि रत्नविजय को आचार्य पद एवं श्रीपूज्य पदवी देना निश्चित कर लिया था। 'श्री राजेन्द्र गुणमंजरी' आदि में उल्लेख है कि **वि.सं. 1924, वैशाख सुदि पंचमी बुधवार को श्री प्रमोदसूरिजी ने निजपरम्परागत सूरिमंत्रादि प्रदान करके श्रीसंघ आहोर द्वारा किये गये महोत्सव में मुनि श्री रत्नविजयजी को आचार्य पद एवं श्रीपूज्य पद प्रदान किया और मुनि रत्नविजय का नाम 'श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि' रखा गया।** आहोर के ठाकुर श्री यशवन्तसिंहजी ने परम्परानुसार श्रीपूज्य - आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि को रजतावृत्त चामर, छत्र, पालकी, स्वर्णमण्डित रजतदण्ड, सूर्यमुखी, चंद्रमुखी एवं दुशाला (कांबली) आदि भेंट दिये।[37] मुनि यतीन्द्रविजय लिखित 'श्रीकल्पसूत्रार्थप्रबोधिनीगतजीवनम्' में इस 'आचार्य पद प्रदान समारोह' का वर्णन निम्नानुसार हैं-

"श्री गुरुरपि....योग्यसमयं विमृश्य **श्रीसंघाऽऽराब्धमहामहेन वैक्रमे 1924 वैशाखसित-पञ्चमी बुधवासरे पंन्यासरत्नविजयाय निजपरम्परागतसूरिमंत्रं प्रदाय 'श्रीविजय राजेन्द्रसूरिः' इत्याख्यां दत्वा श्रीपूज्यपदं ददिवान्। तदैव ठक्कुरः श्रीयशवन्तसिंहः श्रीपूज्यायाऽस्मै स्वर्णयष्टि-चामर-च्छत्र-याप्यमान-सूर्यमुखी-चन्द्रमुखी-महावस्त्रप्रमुखमर्पिपच्च।"**[38]

इस प्रकार बालक रत्नराज क्रमशः मुनि रत्नविजय, पंन्यास रत्नविजय और अब श्रीपूज्य एवं आचार्य पद ग्रहण करने के बाद आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि नाम से पहचाना जाने लगा। आचार्य पद ग्रहण करके आप मारवाड से मेवाड की ओर विहार कर शंभूगढ पधारे। वहाँ के राणाजी के कामदार फतेहसागरजी ने पुनः पाटोत्सव किया, और आचार्यश्री को शाल (कामली) छडी, चँवर आदि भेट किये।[39]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिने शम्भूगढ से विहार करते हुए वि.सं. 1924 का चातुर्मास जावरा में किया।[40] आचार्य पद पर आरोहण के पश्चात् आपका यह प्रथम चातुर्मास था। जावरा चातुर्मास के बाद **विक्रम संवत् 1924 के माघ सुदि 7 को आपने नौकलमी "कलमनामा"**[41] बनाकर श्री पूज्य धरणेन्द्रसूरि द्वारा भेजे गये मध्यस्थ मोतीविजय और सिद्धिकुशलविजय -इन दो यतियों के साथ भेजकर श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि आदि समस्त यतिगण से अनुमत करवाया।[42]

क्रियोद्धार का बीजारोपण -

श्री राजेन्द्रसूरि रास (पूर्वार्द्ध) के अनुसार दीक्षा लेकर वि.सं. 1906 में उज्जैन में पधारे तब गुरुमुख से उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत भृगु पुरोहित के पुत्रों की कथा सुनकर मुनि रत्नविजयजी के भावों में वैराग्य वृद्धि हुई और इस प्रकार आप 'क्रियोद्धार' करने के विषय में चिंतन करने लगे-

"इम ध्यावे वैरागियो कां, चिंते क्रिया उद्धार।
जोवे सद्गुरु वाटडी हो, संजम खप करनार।।[43]

श्री राजेन्द्रसूरि रास के अनुसार पंन्यास श्रीरत्नविजयजी जब

35. जीवनप्रभा पृ. 15, 16, राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 23 से 26, श्री राजेन्द्रसूरि का रास पत्रांक 33 से 37
36. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 36, 38; विरल विभूति, पृ. 37, 38
37. श्री राजेन्द्र सूरि का रास पृ. 38; जीवनप्रभा पृ. 16; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 26, 27
38. श्री कल्पसूत्रार्थप्रबोधिनी, जीवन परिचय, पृ. 6
39. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 27; श्री राजेन्द्र सूरि का रास, पृ. 38, 39; जीवनप्रभा पृ.16
40. श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 28; श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 39; जीवनप्रभा पृ.16, 17
41. कलमनामा
    (1) पेली : प्रतिक्रमण दोय टंक को करणो, श्रावक-साधु समेत करणा-करावणा, पच्चक्खाण-वखाण सदा थापनाजी की पडिलेहण करणा, उपकरण 14 सिवाय गेणा तथा मादलिया जंतर पास राखणां नहीं, श्री देहेरेजी नित जाणा, सवारी में बैठणा नहीं, पैदल जाणा।
    (2) दूजी : घोडा तथा गाडी ऊपर नहीं बैठणा, सवारी खरच नहीं राखणा।
    (3) तीजी : आयुध नहीं रखाणा, तथा गृहस्थी के पास आयुध, गेणा रुपाला देखो तो उनके हाथ नहीं लगाणा, तमंचा शस्त्र नाम नहीं राखणा।
    (4) चोथी : लुगाईयों सुं एकान्त बेठ बात नहीं करणा, वेश्या तथा नपुंसक वांके पास नहीं बैठणा, उणाने नहीं राखणा।
    (5) पांचमी : जो साधु (यति) तमाखु तथा गांजा भांग पीवे, रात्रिभोजन करे, कांदा-लसण खावे, लंपटी अपच्चक्खाणी होवे-एसा गुण का साधु (यति) होय तो पास राखणा नहीं।
    (6) छट्ठी : सचित लीलोतरी, काचा पाणी, वनस्पति कुं विणासणा नहीं, काटणा नहीं, दांतण करणा नहीं, तेल फुलेल मालस करावणा नहीं, तालाब कुवा बावडी में हाथ धोवणा नहीं।
    (7) सातमी : सिपाई खरच में आदमी नोकर जादा राखणा नहीं, जीवहिंसा करे ऐसा नौकर राखणा नहीं।
    (8) आठमी : गृहस्थी से तकरार करके खमासणा प्रमुख बदले रुपिया दबायने लेणा नहीं।
    (9) नवमी : और किसीको सदहणा देणा, श्रावकियाने उपदेश-शुद्ध परुवणा देणी, ऐसी परुवणा देनी नहीं जणी में उलटो अणा को समकित बिगडे ऐसो परुवणो नहीं, और रात के बारे जावे नहीं और चोपड, सतरंज, गंजिफा वगेरा खेल रमत कहीं खेले नहीं, केश लांबा वधावे नहीं, फारखी पेरे नहीं और शास्त्र की गाथा 500 रोज सज्झाय करणा।
42. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 40, 41, 42; जीवनप्रभा पृ. 18; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी पृ. 30 से 34
43. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहार करते हुए वि.सं. 1920 में राजगढ में पधारे थे तब वहाँ यति मानविजय ने उनको अपने गुरु की खाली गादी पर श्रीपूज्य बनकर बैठने को कहा, तब आपने 'मुझे तो क्रियोद्धार करना है'' -ऐसा कहकर श्रीपूज्य की गादी पर बैठने से मना कर दिया था।[44]

क्रियोद्धार का अभिग्रह :-

वि.सं. 1920 में ही पं. रत्नविजयजी अन्य यतियों के साथ विहार करते हुए चैतमास में राणकपुर पधारे तब **भगवान महावीर के 2389 वें जन्म कल्याणक के उपलक्ष में रत्नविजयजी ने अट्ठम (तीन उपवास) तप करके राणकपुर में परमात्मा आदिनाथ की साक्षी से पांच वर्षों में क्रियोद्धार करने का अभिग्रह लिया था।**[45] वहीं पारणा के दिन प्रात:काल में मुनि रत्नविजयजी मंदिर से दर्शन कर बाहर जिनालय के सोपान उतर रहे थे तब किसी अबोध बालिका ने आकर कहा- ''नमो आयरियाणं' मालछाब तेला छपल हो गया आप पालणा करो, बाछठ मीनों में करना'' ('नमो आयरियाणं' महाराज साहब ! तेला (अट्ठम तप) सफल हो गया। आप पारणा करो। (क्रियोद्धार) बासठ महीनों में (के बाद) करना'' -ऐसा कहकर वह बालिका दौडकर मंदिर में उद्दश्य हो गई। इस प्रकार उन्हें दिव्य शक्ति के द्वारा क्रियोद्धार करने का संकेत भी मिला।[46]

इसके बाद **वि.सं. 1922 में जालोर (राजस्थान) चातुर्मास में भी आपको क्रियोद्धार करने की तीव्र भावना हुई।** यति महेन्द्र विजयजी, धनविजयजी आदिने भी क्रियोद्धार करने में अपनी सहमति बताई। वि.सं. 1923 में भी जब आप धाणेराव से आहोर पधारे थे तब भी आपने **आहोर** में एक महिना तक अभिग्रह धारण करके शुद्ध अन्न-पानी ही उपयोग में लिये।[47] इतना ही नहीं अपितु राजेन्द्रसूरि रास में तो स्पष्ट उल्लेख है कि, श्रीपूज्य पद एवं आचार्य पद ग्रहण करने के पश्चात् आपने **अपने गुरुश्री प्रमोद सूरिजी[48] से भी क्रियोद्धार हेतु विचार विमर्श करके आज्ञा भी प्राप्त की थी।**[49]

अत: उत्कृष्ट तप-त्यागमय शुद्ध साधु जीवन का आचरण एवं वीरवाणी के प्रचार के अपने एक मात्र ध्येय की पूर्ति हेतु पूर्वोक्तानुसार धरणेन्द्रसूरि आदि के द्वारा नव कलमनामा अनुमत होने के बाद आचार्य **श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने वि.सं. 1925 में आषाढ वदि दशमी शनिवार/सोमवार, रेवती नक्षत्र, मीन राशि, शोभन (शुभ) योग, मिथुन लग्न में तदनुसार दिनांक 15-6-1868 में क्रियोद्धार करके शुद्ध साधु जीवन अंगीकार किया। उसी समय छडी, चामर, पालखी आदि समस्त परिग्रह श्री ऋषभदेव भगवान के जिनालय में श्री संघ-जावरा के अर्पित किया, जिसका ताडपत्र पर उत्कीर्ण लेख श्री सुपार्श्वनाथ के मंदिर के गर्भगृह के द्वार पर लगा हुआ है।**

क्रियोद्धार के समय आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अट्ठाई (आठ उपवास) तप सहित जावरा शहर के बाहर (खाचरोद की ओर) नदी के तटपर वटवृक्ष के नीचे नाण (चतुर्मुख जिनेश्वर प्रतिमा) के समक्ष केश लोंच किया, पञ्च महाव्रत उच्चारण किये एवं शुद्ध साधु जीवन अंगीकार कर सुधर्मा स्वामी की 68वीं पाट पर 'आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी' नाम से प्रख्यात हुए। वर्तमान में आपके प्रशिष्यरत्न, राष्ट्रसंत आचार्य श्रीमद्विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी के सदुपदेश से खीमेल (राजस्थान) निवासी किशोरमलजी वालचंदजी खीमावत परिवार के सहयोग से श्री संघ जावरा द्वारा **क्रियोद्धारस्थली श्री राजेन्द्रसूरि वाटिका-जावरा(म.प्र.)** में एक सुरम्य गुरुमंदिर का निर्माण किया गया हैं।

क्रियोद्धार प्रत्रिका[50] :-

आचार्यश्री द्वारा उपर्युक्त क्रियोद्धार कार्य जिस शुभ मूहुर्त में किया गया था तत्संबंधी निम्नाङ्कित पत्रिका उपलब्ध हैं-

''स्वस्ति श्री तीर्थनायकं जिनवरेन्द्रं श्रीवर्धमानं प्रणिप्रत्य, लिख्यते श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर-क्रियोद्धार पत्रिका। श्री विक्रमादित्य राज्यातीते सं. 1925 वर्षे अषाढकृष्णौ 10 (दशमी) शनौ (सोमे) रेवति नक्षत्रे शोभनयोगे मिथुनलग्ने क्रियोद्धार समयं शुभम् 1 ता. 15-6-1868

तस्य लग्नमिदम् -

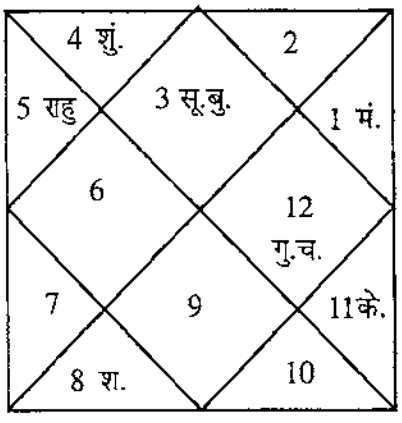

क्रियोद्धारक के तत्काल बाद श्री धनविजयजी एवं श्री प्रमोदरुचिजी आपके पास उपसंपद् दीक्षा ग्रहण करके आपके शिष्य बन गये एवं प्रथम श्रावक-श्राविका के रुप में जावरा निवासी छोटमलजी जुहारमलजी पारख एवं उनकी श्राविकाने गुरुदेवश्री से श्रावक व्रत अंगीकार किये। (उनके वंशज आज भी इन्दौर, रतलाम, आदि जगह हैं)।

क्रियोद्धार के साथ ही आपने प्राचीन त्रिस्तुतिक परम्परा का भी पुनरुद्धार किया एवं अपने गच्छ का नाम श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छ रखा[51]। अत: यहाँ प्रसंगोपात्त त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का भी परिचय दिया जा रहा हैं-

---

44. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 27
45. धरती के फूल पृ. 68, 70
46. धरती के फूल पृ. 71
47. धरती के फूल पृ. 33 से 38
48. आचार्य श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी के अनुसार उनके गुरु श्री प्रमोदसूरिजी एवं उनके बडे गुरुभ्राता श्री हेमविजयजी के तप-त्याग एवं साधु जीवन का मुनि रत्नविजयजी पर अमीट प्रभाव था। क्योंकि उनका जीवन तो साधु के समान ही था। वे अपनी पिछली उम्र में नित्य आयंबिल तप करते थे परंतु धरणेन्द्रसूरि एवं उनके साथवाले यतियों का जीवन शिथिलाचारी था।
49. श्री राजेन्द्रसूरि का रास पृ. 47; श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी, पृ. 35, 36; जीवनप्रभा पृ. 19
50. धरती के फूल पृ. 126, 127
51. श्री राजेन्द्रसूरि का रास, पृ. 47; अभिधान राजेन्द्र भाग 7, संस्कृत प्रशस्ति-1, मुद्रण प्रशस्ति-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिस्तुतिक सिद्धान्त का महत्त्व एवं प्राचीनता

जैनों के प्रथम तीर्थंकर परमात्मा ऋषभदेव ने वर्तमान अवसर्पिणी काल में गृहस्थावस्था में सर्वप्रथम मानव सभ्यता, असिविद्या, मषिविद्या और कृषिविद्या का आलोक बिखेरा एवं केवलज्ञान के बाद मोक्ष प्राप्ति हेतु समीचीन धर्म की प्ररुपणा की। उस धर्म में देवोपासना को कोई स्थान नहीं था। परन्तु अंतिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के समय में यज्ञ-यागों का और देवोपासना का बहुत बोलवाला था। अतः उन्होंने यज्ञ और यज्ञ के निमित्त होने वाली पशुहिंसा का तीव्र विरोध कर अहिंसा प्रधान श्रमण धर्म/जैनधर्म को पुनः प्रकाशित किया। उनके अथक प्रयत्नों से हिंसक यज्ञ-यागों का प्रचलन बंद हो गया। और उनके वीतराग मार्ग के प्रकाशन के कारण देवोपासना भी बंद हो गयी।

जैनधर्म में देवोपासना को कोई स्थान नहीं है। यहाँ वीतरागता और वीतराग की आराधना को ही प्रधानता दी गयी हैं। परमात्मा ने आराधकों के लिये आत्मकल्याणकर और मोक्षप्रदायक सामायिकादि छह आवश्यकमय भावानुष्ठानों का प्रतिपादन किया है जो कि आराधक को संसार-भ्रमण से मुक्त करता हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् सुधर्मा स्वामी की परंपरा चली। इस परंपरा में सुदेव, सगुरु और सुधर्म की आराधना की जाने लगी। इसी परंपरा में चौथे पाट पर श्री शय्यंभवसूरि महाराज हुए। उन्होंने धर्म का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए दशवैकालिक सूत्र के प्रारंभ में कहा-

"धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।[52]

अर्थात् अहिंसा, संयम और तप ही धर्म हैं। यही उत्कृष्ट मङ्गल है। देवता भी उसे प्रणाम करते हैं, जिसका मन सदा इस धर्म में लगा रहता हैं।

त्रिस्तुतिक सिद्धांत अर्थात् सम्यक्त्व एवं व्रत धारण के बाद तीन थुई का सिद्धांत,[53] जिसमें आराधक चैत्यवन्दन करते समय तीन स्तुतियाँ बोलते हैं-

1. पहली अधिकृत जिनकी, 2. दूसरी सर्व जिन की और 3. तीसरी जिनागम की

वीतराग की आराधना का यही श्रेष्ठतम मार्ग है। यही शुद्ध साधन है और इसी के द्वारा मोक्षरुप शुद्ध साध्य सिद्ध होता है। यह साधना के क्षेत्र में एक निर्मल आचरण हैं। यह सम्यग्दर्शन की रीढ है। इसके अभाव में सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता हैं। यह सिद्धांत आराधक को स्वावलम्बी बनाने की प्रेरणा देता है। इसी सिद्धांत के पालन में वीतरागता का गौरव निहित हैं।

इस सिद्धांत ने यह स्पष्ट कर दिया कि वीतरागी ही वंदनीय, पूजनीय तथा अनुक्षण स्मरणीय हैं। जिनागम में जगह-जगह इस त्रिस्तुतिक सिद्धांत का प्रतिपादन किया हुआ हैं जिसके संबंधित शास्त्रपाठ शोध-प्रबंध के परिशिष्ट क्र. 2 पर वर्णित हैं।

भगवान् महावीर के पश्चात् हजार वर्ष तक यह सिद्धांत अबाधित रुप से चलता रहा, पर बाद में अन्य धर्मों के प्रभाव से लोग देवोपासक होने लगे और इन तीन थुइयों में चौथी थुई का मत चल पडा। चौथी थुई देवी-देवता से संबंधित हैं।

श्री बुद्धिसागरसूरि जी महाराज 'गच्छमतप्रबन्ध' में लिखते हैं - **"विद्याधर गच्छनां श्री हरिभद्रसूरि थया ते जाते ब्राह्मण हता। तेमणे जैन दीक्षा ग्रहण करी। ते याकिनी साध्वीनां धर्मपुत्र कहेवाता हतां। तेमणे 1444 ग्रंथो बनाव्या। श्रीवीरनिर्वाण पछी 1055 वर्षे स्वर्गे गया। त्यार पछी चतुःस्तुतिक मत चाल्यो।**[54]

इस प्रकार 'चार थुई' का मत प्रारंभ हुआ और सौधर्म गच्छ में देवी-देवताओं की उपासना प्रारंभ हुई। शिथिलाचार बढ गया और देवी-देवताओं के स्तोत्र, स्तुतियाँ, स्तवन आदि रचे जाने लगे। उनसे धन-दौलत, एश्वर्य (ठकुराई) आदि की याचना की जाने लगी। त्रिस्तुतिक सिद्धांत अदृश्य होने लगा, फिर भी परमात्म-प्ररुपित यह सिद्धांत पूरी तरह से लुप्त नहीं हुआ। थराद क्षेत्र (उ.गुजरात) में तीन थुई सिद्धांत यथावत् प्रचलित रहा।

थराद में विक्रम की नौवी शती में थारापद्रीय/थिरापद्र गच्छ, 13 वीं शती में 'आगमिका गच्छ' एवं 16 वीं शती में 'कडवामति गच्छ' की मान्यता प्रचलित थी। ये सभी गच्छ तीन थुई सिद्धांत का आचरण करते थे। आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी जब वि.सं. 1937 में धानेरा पधारे तब थराद के कडवागच्छ के यति श्री लाघाजी साजीने आचार्यश्री को उक्त बात ज्ञात करवाकर साग्रह विनंतीपूर्वक थराद में आपका पदार्पण करवाया था।[55]

---

52. श्री दशवैकालिका सूत्र 1/1
53. ले.आ.श्री.वि. जयन्तसेनसूरि - असली दुनिया, इन्दौर सं., दिनांक 02.09-2000 पृ. 4से उद्धृत
54. गच्छमतप्रबंध अने संघ प्रगति, पृ. 169
55. थराद-प्राचीन थिरपुर नगर: 'युग युगनी याद' -लेखक कीर्तिलाल बोरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य दर्शनों में मोक्ष

जैन दर्शन की तरह आत्मवादी न्याय-वैशेषिकादि सभी दर्शनोंने मोक्ष को स्वीकार तो किया है, लेकिन उनमें इतनी विभिन्नताएँ है कि एक का विचार-प्रस्तुतीकरण दूसरें से नहीं मिलता तथापि प्रसंगवश यहाँ अन्यदर्शनों में स्वीकृत मोक्ष की परिभाषाओं का संक्षिप्त में वर्णन किया जा रहा है।

न्याय-वैशेषिक - न्याय-वैशेषिक के अनुसार सुख-दुःख चेतना आदि सभी आत्मा के आगन्तुक गुण है। मुक्तात्माओं के शरीर-विच्छेद के साथ-साथ आगन्तुक गुणों का भी अभाव हो जाता है। उनका मानना है कि सुषुप्तावस्था जिस प्रकार सुख-दुःख से रहित अवस्था होती है, उसी प्रकार मोक्षावस्था में भी आत्मा सुख-दुःख से रहित होती है। नींद की अवस्था अस्थायी होती है, परन्तु मोक्षावस्था स्थायी होती हैं[1]।

अद्वैत-वेदान्त - अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष पूर्ण चैतन्य और आनन्द की अवस्था है। अनादि अविद्या से मुक्त होकर आत्मा का ब्रह्म में विलीन हो जाना ही 'मोक्ष' है। वस्तुतः आत्मा ब्रह्म ही है, परन्तु वह अज्ञान से प्रभावित होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। यही बन्धन है। अनादि अज्ञान का आत्यन्तिक अभाव ही मोक्ष है[2]।

मीमांसा - मीमांसा दर्शन के अनुसार चैतन्यरहित अवस्था हीआत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। इस दृष्टि से मोक्ष सुख-दुःख से परे है। इस अवस्था में न चैतन्य रहता है, न ही आनन्दा[3]।

सांख्य - सांख्य-दर्शन के अनुसार मूल प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर पुरुष एकान्तिक और आत्यन्तिक रुप से कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार प्रकृति से निवृत्त होना ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा को आनन्द की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि वे पुरुष को स्वभावतः मुक्त और त्रिगुणातीत मानते हैं[4]।

योग - योगदर्शन यम, नियम आदि योग की अष्टांग प्रक्रिया के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध से मोक्ष की सिद्धि स्वीकार करता है[5]।

बौद्ध - बौद्ध दर्शन में दीपक के बूझने की तरह चित्तसन्तति के अभाव को मोक्ष माना गया है[6]।

चार्वाक - चार्वाक दर्शन का कहना है -

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा धृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ? ॥

-ऐसी मान्यतावाले इस दर्शन के अनुसार पृथ्वी आदि चार या पाँच भूतों के संयोग से उत्पन्न शक्ति को नाम आत्मा है और जैसे ही शरीर बिखरा कि उसका नाश हो जाता है। इस शरीर का बिखराव/मृत्यु का नाम ही मोक्ष है। चार्वाक दर्शन में कहा है - मरणमेव अपवर्गः।[7]

उपसंहारः-

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं - यह कहने के लिए किसी शास्त्रीय आधार की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि कुछ कुतार्किक इसके विरोध में अनेक तर्क प्रस्तुत कर सकते हैं और यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि कुछ प्राणी दुःख भी चाहते हैं, और उथले रूप में विचार करने पर यह सही भी प्रतीत हो सकता है। एसा पाया गया है कि किसी पशु में आत्महत्या की प्रवृत्ति पायी जाती है। बहुत से मनुष्य भी एसा करते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। जो जीव सांसारिक वर्तमान दुःखों के प्रति अत्यन्त असहिष्णु होते हैं वे वर्तमान को लक्ष्य करके एसा करने में प्रवृत्त हो सकते हैं किन्तु उसका मूल भी दुःख से निवृत्ति की लालसा ही है। चरक संहिता में कहा गया है कि सभी प्राणी सुख के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं किन्तु उनके ज्ञान और अज्ञान के अनुसार उनकी प्रवृत्ति सही और गलत हो जाती है-

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृतयः।
ज्ञानाऽज्ञानविशेषात्तु मार्गऽमार्गप्रवृत्तयः ।।[8]

सुख का मार्ग क्या है? और दुःख का मार्ग क्या है? यही खोज महत्त्वपूर्ण है। यदि मार्ग सही है, तो मंजिल अवश्य मिलेगी, किन्तु यदि मार्ग ही गलत है तो उस पर कितना भी चला जाये, उससे कभी मंजिल नहीं मिलेगी।

इस अध्याय में जैनधर्म का उद्देश्य एवं लक्ष्य स्पष्ट करते हुए शास्त्रीय आधारों से यह प्रस्तुत किया गया है कि जैनधर्म का उद्देश्य एवं लक्ष्य है दुःखों से निवृत्ति अर्थात् 'मोक्ष'। यह मोक्ष कैसा प्राप्त हो अर्थात् मोक्ष का मार्ग क्या है? कोन सा है? यह जानने के लिए भी प्रयत्न आवश्यक है। आगे के शीर्षक में 'मोक्ष का मार्ग' विषय को लक्ष्य में लेकर अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

1. ज्ञानं सुखं वा मोक्षेऽवातिष्ठते सत्तातत्त्वादिति नैयायिकाः।
   - अ.रा., पृ. 6/431
   बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काररुपाणां नवानामात्मानो वैशेषिकगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः।''
   - वही, पृ.6/431-432
2. सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्मपरमार्थतत्त्वं तत्संप्राप्तिर्मोक्ष इति।
   अविद्यानिवृत्तिर्मोक्षः। - वही पृ. 6/447 - अ.रा., पृ. 6/431
3. अ.रा., पृ. 6/432
4. प्रकृतिपुरुषदर्शनान्निवृतायां प्रकृतौ पुरुषस्य स्वरुपावस्थानं मोक्षः इति सांख्यां।
   - वही, पृ. 6/ 447
5. पतञ्जल योगदर्शन
6. दीपस्येवास्य जीवस्य नाशो ध्वंस एव निर्वाणम् ? यथाऽऽहुः सौगतविशेषा केचित्। - अ.रा., पृ. 4/2122, 2127
7. स्याद्वादमञ्जरी-20
8. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 28/35

धर्मगुरु कौन ?

''जो जेण शुद्ध धम्मम्मि, ठाविओ संजएण गिहिणा वि।
सो चेव तस्स जायइ, धम्मगुरुधम्मदाणओ ।।''

- अ.रा.पृ. 3/349

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. मुक्ति का मार्ग : सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने जैनागमानुसार जैन धर्म का उद्देश्य, लक्ष्य तथा फल मोक्ष बताया गया है, अतः भव्यात्मा के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के लिए तदनुरुप मार्ग पर चलना नितान्त आवश्यक है। इसलिए आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए मुक्ति का मार्ग या 'मोक्षमार्ग' का भी वर्णन किया है।

मोक्षमार्ग शब्द की व्युत्पत्तिः-

'मोक्षमार्ग' शब्द 'मोक्ष' और 'मार्ग' इन दो पदों से बना है। 'मोक्ष' का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। 'मार्ग' की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि ''मार्ग शब्द मृजु शुद्धौ धातु से घञ् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है[1]। जिससे अतिचारादि दोषों की पाप-प्रक्षालन के द्वारा शुद्धि होती है, उसे 'मार्ग' कहते हैं[2]। अथवा जो शिव अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करता है, उसे मार्ग कहते हैं। सर्वज्ञोक्त, संविग्न, अशठ, गीतार्थों के द्वारा आचरित, आगम सम्मत, जिसका सज्जनों के द्वारा, मार्गानुसारियों के द्वारा और महाजनों के द्वारा अनुसरण किया गया हो, शिष्टाचार से अविरुद्ध प्रवृत्ति 'मार्ग' कहलाती है[3]।

मोक्ष मार्ग के प्रकारः-

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका में तीन प्रकार के मार्ग बताये गये है -1. यति धर्म (साधु धर्म) 2. श्रावकधर्म और 3. संविज्ञापाक्षिक[4]। अभिधान राजेन्द्र कोश में दो प्रकार से भी मार्ग बताया गया है[5]-

1. द्रव्य स्तव - द्रव्य (धन) व्ययपूर्वक जिनभवन निर्माण, जिनबिम्बपूजादि करणरुप।

2. भावस्तव - जिस स्तव में आत्मा के शुद्ध परिणाम होते हैं, उन्हें भावस्तव कहते हैं। अन्तरात्मा की प्रीतिपूर्वक तथाविध कर्मों के क्षय/उपशम/क्षयोपशम की उपेक्षा सर्वविरति, देशविरति को अङ्गीकार करने का भाव 'भावस्तव' है।

बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकार के तप, सत्रह प्रकार का संयम और हिंसादि पांचों आस्रवों के त्याग रुप तपसंयमयुक्त; और अठारह हजार शीलाङ्ग रथ के धारक सुसाधु भगवंतो के द्वारा जीवाजीवादि तत्त्वों के लक्षण सहित प्रतिपादन करनेवाले समस्त (त्रिलोकवर्ती) जगत के उन समस्त जीवों के हित और रक्षण के लिए सदुपदेशदानपूर्वक जो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररुप' मार्ग का उपदेश करते हैं, वही प्रशस्त भाव मार्ग या सम्यग्मार्गरुप मोक्षमार्ग है[6]। आगे आचार्यश्रीने विभिन्न रुप से 'मोक्षमार्ग'शब्द के निम्न अर्थ बताये है[7]-

''उत्तराध्ययन सूत्र में जिससे आठों कर्मो का नाश हो उसे[8], प्रश्नव्याव्याकरण में मोक्ष के मार्ग को[9], सूत्रकृतांग में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को[10], गच्छाचारपयन्ना में निर्वाण पथ को[11], जीतकल्प में जिनपूजा को[12], नंदीसूत्र में सकल कर्मजाल के हेतु रुप मिथ्यात्व, अज्ञान, जीवहिंसादि को अर्थात् सकल कर्मो के नाश के लिए सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास को मोक्षमार्ग कहा है।[13] उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप को समुच्चित रुप से यहाँ मोक्षमार्ग कहा गया है।

मोक्षमार्ग के दो भेद : निश्चय और व्यवहार :-

(1) व्यवहार मोक्षमार्गः-

षट्द्रव्य, नवतत्त्व, पञ्चस्तिकाय का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, उन्हीं पदार्थों का अभिगम या अंग, पूर्व संबंधी आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान और तप में चेष्टा या रागादि का परिहार या अहिंसादि व्रत-शील का पालन सम्यक् चारित्र है। यही रत्नत्रय व्यवहार से 'मोक्षमार्ग' है।[14]

(2) निश्चय मोक्षमार्गः-

जो आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र के द्वारा समाहित होता हुआ करने-छोडने के विकल्पों से अतीत हो जाता है, वह आत्मा निश्चय नय से 'मोक्षमार्ग' कहा गया है[15]। अथवा विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणवाले जीव का अपने स्वभाव में निश्चल अवस्थान करना ही 'मोक्षमार्ग' है[16]।

उत्तराध्ययन सूत्र के अठाइसवें अध्ययन में कहा है कि ''दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं है उसका आचरण सम्यक् नहीं होता। सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ जाता है और जो आसक्ति से मुक्त नहीं उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता''[17]। अतः मोक्षप्राप्ति हेतु मोक्षमार्ग के साधन के रुप में इन तीनों की अनिवार्यता होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों को समवेत रुप में मोक्ष का साधन माना गया है[18]। अतः मोक्ष का प्रधान कारण होने से अब यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

---

1. अ.रा., पृ. 6/37
2. अ.रा., पृ. 6/37; विशेषावश्यक भाष्य-1381
3. अ.रा., पृ. 6/37-38; द्वात्रिंशिद् द्वात्रिंशिका-3/1-2-3
4. अ.रा., पृ. 6/40; द्वात्रिंशिद् द्वात्रिंशिका-3/29
5. अ.रा., पृ. 6/40; दर्शनशुद्धि प्रकरण-4/8
6. अ.रा., पृ. 6/41
7. अ.रा., पृ. 6/447, 448
8. उत्तराध्ययन, अध्ययन 32
9. प्रश्नव्याकरण 5, संवरद्वार
10. सूत्रकृतांग 1/13
11. गच्छाचार पयन्ना, 2 अधिकार
12. जीतकल्प, 1 प्रतिच्छेद
13. अ.रा., पृ. 6/448
14. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/335; पञ्चस्तिकाय 160; समयसार 155; तत्त्वार्थसार 9/4; परमात्म प्रकाश- 2/31
15. पञ्चास्तिकाय मूल 161; तत्त्वार्थसार 9/3; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/335
16. पञ्चास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति 158/229/12; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/335
17. उत्तराध्ययन 28/30
18. तत्त्वार्थसूत्र 1/1 पर तत्त्वार्थ भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन

जैन परम्परा में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यक्-दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। यद्यपि आचार्य जिनभद्रने विशेषावश्यकभाष्य में सम्क्त्व और सम्यक्-दर्शन के भिन्न-भिन्न अर्थों का निर्देश किया है[19]। सम्यक्त्व वह है जिसके कारण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक्त्व का अर्थ-विस्तार सम्यग्दर्शन से अधिक व्याप्त है, फिर भी सामान्यतया सम्यग् दर्शन और सम्यक्त्व शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वैसे सम्यग्दर्शन शब्द में सम्यक्त्व निहित है[20]।

दर्शन का अर्थ:-

दर्शन शब्द जैनागमों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जीवादि पदार्थों के स्वरुप को देखना, जानना, श्रद्धा करना 'दर्शन' है[21]। सामान्यतया दर्शन शब्द देखने के अर्थ में व्यवहृत होता है लेकिन यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ नेत्रजन्य बोध मात्र नहीं है। उसमें इन्द्रिय-बोध, मनोबोध और आत्मबोध सभी सम्मिलित है। दर्शन शब्द के अर्थ के संबंध में जैन-परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकोंने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है[22]। नैतिक जीवन की दृष्टि से विचार करने पर दर्शन शब्द का प्रयोग उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है[23]। तत्त्वार्थसूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र में 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' के रुप में और परवर्ती जैन साहित्य में देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[24]।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने सम्मत (सम्यक्त्व) शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है - जीव का स्वयं का भाव (स्वभाव) - प्रशस्त, मोक्ष से अविरोधीभाव, प्रशम-संवेगादि लक्षणवान् आत्मधर्म, सम्यग्भाव, तत्त्वार्थश्रद्धान, सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्वमोहनीय के क्षयोपशमादि से उत्पन्न जीव के परिणाम, ज्ञान-दर्शन-चारित्र के परवर्ती प्रयोजनरुप सामायिक, जीवादि पदार्थों में श्रद्धा 'सम्यक्त्व' सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन कहलाता है[25]।

आचार्य कुंदकुंदने दर्शन पाहुड में सम्यग्दर्शन की परिभाषा देते हुए कहा है - "छः द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व जिनोपदिष्ट हैं। जो उनके यथार्थ स्वरुप का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। किन्तु जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन कहा है किन्तु निश्चयनय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है[26]। मोक्ष प्राभृत में कहा है कि "हिंसारहित धर्म में अठारह दोषों से रहित देव में और निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है"।[27] नियमसार में कहा है कि "आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है[28] तथा समस्त दोषों से रहित और समस्त गुणमय आप्त होते हैं। रत्नकरंडक श्रावकाचार में परमार्थ आप्त, परमार्थ आगम और परमार्थ तपस्वियों का जो अष्टांग सहित, तीन मूढता रहित तथा मदविहीन श्रद्धान है, उसे 'सम्यग्दर्शन' कहते है[29]। अतः मिथ्या दर्शनादि की निवृत्ति हेतु सूत्रकारने दर्शन आदि तीनों के साथ 'सम्यक्' विशेषण का प्रयोग किया है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान और क्रिया मोक्ष के साधन हैं[30]।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा:-

अपने-अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं[31]। अथवा मिथ्योदयजनित विपरीत अभिनिवेश से रहित पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, जीवादि सात या नौ तत्त्व का यथातथ्य श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है[32]। अथवा दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशमरुप अन्तरङ्ग कारण से जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं[33]। इस अन्तङ्ग कारण की पूर्णता कहीं निसर्गतः (स्वभावतः) होती है और कहीं अधिगम (परोपदेश) से होती है[34]।

सामान्य रुप से सम्यग्दर्शन एक है, निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है, शब्दों की अपेक्षा से संख्यात प्रकार का तथा श्रद्धान करनेवालों की अपेक्षा से असंख्यात प्रकार का है और श्रद्धा योग्य पदार्थों एवं अध्यवसायों की अपेक्षा से अनन्त प्रकार का है।

जिसकी दृष्टि सम्यक् (आत्मस्वरुप चिन्तनपरक) है, वह सम्यग्दृष्टि है। उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शन के पर्यायवाची नाम एवं निर्युक्ति:-

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु स्वामीने कहा है कि "सम्यग्दृष्टि, अमोह, शुद्धि, सद्भाव, दर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि आदि इसके पर्याय है। सम्यग्दृष्टि की निर्युक्ति करते आपने आगे कहा है-"जो सम्यग् अर्थों का दर्शन करे, वह सम्यग्दृष्टि है। विचारों में अमूढता 'अमोह' है। मिथ्यात्वरुपी मल का दूर होना 'शुद्धि' है। भावों को उपस्थिति 'सद्भाव' है। यथास्थित अर्थ का होना 'दर्शन' है। सुन्दर दृष्टि 'सुदृष्टि' है। इस प्रकार सात प्रकार से सम्यक्त्व की निरुक्ति की गयी है।[35] रत्नकरंडक श्रावकाचार में इसका एक नाम सद्दृष्टि भी आया है[36]।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रक्रिया[37]:-

प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में रहनेवाली विकासगामिनी एसी

19. विसेषावश्यक भाष्य 1787-90
20. अ.रा.पृ. 7/482, 7/506
21. अ.रा., पृ. 4/2425
22. जैन-बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.48
23. अ.रा.पृ. 4/2425
24. अ.रा.पृ. 7/485 तत्त्वार्थसूत्र 1/2; उत्तराध्ययन सूत्र 28/35
25. अ.रा.पृ. 7/482; तत्त्वार्थसूत्र-1/2; उत्तराध्ययन सूत्र 28/35
26. दर्शनपाहुड गाथा 19, 20; समयसार, गाथा, 201, 202
27. मोक्षपाहुड, गाथा-90
28. नियमसार, गाथा-5
29. रत्नकरंडक श्रावकाचार, गाथा-4
30. नाणकिरियाहिं मोक्खो ।- विशेषावश्यक भाष्य-3
31. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।-तत्त्वार्थसूत्र-1/2
32. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति 107, 169, 24
33. प्रणिधान विशेषहितद्वैविध्यजनितव्यापारं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । - तत्त्वार्थ राजवार्तिक
34. तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।-तत्त्वार्थसूत्र-1/3
35. आवश्यक निर्युक्ति 1/862
36. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वराः विदुः ।- रत्नकरंडक श्रावकाचार, दर्शनाधिकार 3
37. अ.रा.पृ. 7/507 से 511 आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 107 एवं आवश्यक दीपिका टीका, पृ. 37 से 39

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक आत्माएँ होती है; जो राग-द्वेष की तीव्रता को थोडा सा दबाये होने पर भी मोह की प्रधान शक्ति दर्शनमोह को शिथिल किये हुए नहीं होती। इस कारण वे आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति सर्वथा अनुकूलगामिनी न होने पर भी अन्य आत्माओं की अपेक्षा अपने बोध और चारित्र में अच्छी होती हैं। ये आत्माएँ यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने का कारण मिथ्यादृष्टि, विपरीत दृष्टि या असद् दृष्टि कहलाती है; तथापि सद्दृष्टि के निकट होने के कारण उपादेय मानी जाती हैं।

सद्-असद् दृष्टिवाली आत्मा का परिचय देते हुए कहा है कि "जिसमें आत्मा का स्वरुप भासित होता है और उसकी प्राप्ति के लिए ही मुख्य प्रवृत्ति होती है; वह सद्दृष्टि है और इसके विपरीत जिसमें आत्मा का स्वरुप न तो यथावत् भासित होता है और न उसकी प्राप्ति के लिए ही प्रवृत्ति होती है; वह असद्दृष्टि है। इन दोनों के बोध, वीर्य और चारित्र के तर-तम भाव को लक्ष्य में रखकर चार-चार भेद होते हैं। इनमें विकासगामिनी आत्माओं का समावेश हो जाता है।

शारीरिक और मानसिक दु:खों की संवेदना के कारण अज्ञात रुप में ही 'गिरि-नदी-पाषाण न्याय से आत्मा का आवरण कुछ शिथिल हो जाता है और इसके कारण उसके अनुभव एवं वीर्योल्लास की आभा कुछ बढती है और विकासगामिनी आत्मा के परिणामों में कुछ शुद्धि व कोमलता बढती है। इस कारण वह राग-द्वेष की तीव्रतम दुर्भेद्य ग्रंथि को विखंडित करने की योग्यता बहुत अंशों में प्राप्त कर लेती है। यहाँ पर अज्ञान तप के द्वारा आयुष्य कर्म के सिवाय अन्य सात कर्मो की स्थिति में से जब संख्यात कोडाकोडी भाग आत्मा के द्वारा क्षय कर के नष्ट कर दिया जाता है एवं अत्यन्त दुर्भेद्य मिथ्यात्व की ग्रन्थि का भेदन करने के लिए जीव ग्रंथि के पास पहुँचता है और भव्यात्मा 'यथाप्रवृत्तिकरण' अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामक तीन करण करता है[38]। इस अज्ञानपूर्वक दु:खसंवेदनाजनित अति आत्मशुद्धि के लिए जैन दर्शन में 'यथाप्रवृत्तिकरण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इसके बाद जब कुछ और अधिक आत्मशुद्धि एवं वीर्योल्लास की आभा बढती है; तब मिथ्यात्व की उस दुर्भेद्य ग्रंथि का भेदन किया जाता है। इस ग्रंथिभेदकारक आत्माशुद्धि की क्रिया को 'अपूर्वकरण' कहते है; क्योंकि एसा करणपरिणाम विकासगामिनी आत्मा के लिए अपूर्व होता है। यह उसे प्रथम बार प्राप्त होता है।

इसके बाद आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की मात्रा कुछ अधिक बढती है; तब आत्मा मोह की प्रधान शक्तियों पर (दर्शनमोह पर) अवश्य विजय प्राप्त करती है अत: विजयकारक आत्मशुद्धि के लिए जैन दर्शन में 'अनिवृत्तिकरण' शब्द का उपयोग किया गया है।

उक्त तीन प्रकार की शुद्धियों में दूसरी अपूर्वकरण नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को रोकने का अतिदुष्कर श्रमसाध्य कार्य इसी के द्वारा किया जाता है, वह सहज नहीं है। एक बार इस कार्य में सफलता मिल जाने पर फिर चाहे विकासगामिनी आत्मा ऊपर की किसी भूमिका से पतित भी हो जाये; तो भी वह पुन: कभी भी अपने लक्ष्य को/आध्यात्मिक पूर्ण विकास को प्राप्त कर ही लेती है। इस आध्यात्मिक परिस्थिति का कुछ स्पष्टीकरण एक दृष्टांत द्वारा करते हैं।

जैसे कोई मैला वस्त्र हो और उसमें चिकनाहट भी लगी हो; तो उसका ऊपर ऊपर से मैल दूर करना उतना कठिन और श्रमसाध्य नहीं है; जितना कि चिकनाहट को दूर करना। यदि एक बार चिकनाहट दूर हो जाये; तो फिर शेष मैल को दूर करने में विशेष श्रम नहीं पडता और वस्त्र को उसके असली स्वरुप में सहज ही लाया जा सकता है।

जैसे उक्त तीनों प्रकारों के बल प्रयोगों में चिकनाहट को दूर करनेवाला बल प्रयोग ही विशिष्ट है। वैसे ही दर्शनमोह को जीतने के पहले विकासगामिनी आत्मा को उसके रक्षक राग-द्वेष के तीव्र संस्कारों को शिथिल करने के लिए तीन बार बल प्रयोग करना पडता है। उनमें दूसरी बार किया जानेवाला बल प्रयोग (अपूर्वकरण) ही प्रधान है। क्योंकि उसके द्वारा राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रंथि भेदी जाती है और राग-द्वेष की अति तीव्रता मिटा देने पर दर्शन मोह पर जय लाभ प्राप्त करना सहज हो जाता है।

दर्शन मोह को जीतते ही उसके मिथ्यात्व नामक प्रथम गुण स्थान की समाप्ति हो जाती है, स्वरुप-बोध की भूमिका बँध जाती है और पर-रुप में होनेवाली स्वरुप की भ्रांति दूर हो जाती है तथा उसके प्रयत्नों की गति उल्टी न होकर सीधी हो जाती है। याने वह आत्मा कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कर सहज शुद्ध परमात्म-भाव के दर्शन करने लगती है।

आत्मा की इस अवस्था को जैन-दर्शन में अन्तरात्म-भाव कहा गया है; क्योंकि यहआत्म-मंदिर का प्रवेश द्वार है। इसमें प्रवेश करके उस मंदिर में अधिष्ठित परमात्म-भाव का दर्शन किया जाता है। अथवा इसे मोक्ष-प्रासाद के प्रवेश द्वार की प्रथम सीढी भी कह सकते हैं।

आत्मा की यह अवस्था विकासक्रम की चौथी भूमिका अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। इसे पाकर आत्मा सर्वप्रथम आध्यात्मिक सुख-शान्ति का अनुभव करती है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ आत्म-स्वरुपोन्मुख होने के कारण विपरीताभिनिवेश रहित होती है। इसका शास्त्रीय नाम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण[39]:-

(अ) निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व[40]–

1. निश्चय सम्यक्त्व – राग, द्वेष और मोह का अत्यल्प हो जाना, पर-पदार्थो से भेद ज्ञान एवं स्वरुप में रमण, देह में रहते हुए देहाध्यास का छूट जाना, निश्चय सम्यक्त्व के लक्षण हैं। मेरा शुद्ध स्वरुप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त आनन्दमय है। पर-भाव या आसक्ति ही बंधन का कारण है और स्वस्वभाव में रमण करना ही मोक्ष का सेतु है। मैं स्वयं ही अपना आदर्श हूँ, देव, गुरु और धर्म मेरी आत्मा ही है, एसी दृढ श्रद्धा का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है। आत्म-केन्द्रित होना यही निश्चय सम्यक्त्व है।

2. व्यवहार सम्यक्त्व – वीतराग में देवबुद्धि (आदर्श बुद्धि), पाँच महाव्रतों का पालन करनेवाले मुनियों में गुरुबुद्धि और जिन प्रणीत धर्म में सिद्धान्तबुद्धि रखना-व्यवहार सम्यक्त्व है।

(इ) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[41]-

1. निसर्गज सम्यक्त्व – जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पडा हुआ पत्थर बिना प्रयास के हीं स्वाभाविक रुप से गोल हो जाता है, उसी प्रकार संसार में भटकते हुए प्राणी को अनायास ही जब कर्मावरण के अल्प होने पर यथार्थता का बोध हो जाता है, तो एसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य-बोध निसर्गज होता है। बिना किसी गुरु आदि के उपदेश के, स्वाभाविक रुप में स्वत: उत्पन्न होनेवाला, सत्य-बोध निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

2. **अधिगमज सम्यक्त्व** – गुरु आदि के उपदेश रुप निमित्त से होनेवाला सत्य-बोध या सम्यक्त्व अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण[42]:-

अपेक्षा भेद से सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण भी किया गया है। जैसे कारक, रोचक और दीपक।

1. **कारक सम्यक्त्व** – जिस यथार्थ दृष्टिकोण के होने पर व्यक्ति सदाचरण या सम्यक्त्व चारित्र की साधना में अग्रसर होता है वह कारक सम्यक्त्व है[43]।

2. **रोचक सम्यक्त्व** – जिसमें व्यक्ति शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रुप में जानता हो और शुभ प्राप्ति की इच्छा भी करता हो, लेकिन उसके लिए प्रयास नहीं करता। सत्यासत्य विवेक होने पर भी सत्य का आचरण नहीं कर पाना रोचक सम्यक्त्व है[44]।

3. **दीपक सम्यक्त्व** – जिसमें व्यक्ति अपने उपदेश से दूसरों में तत्त्व जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है और परिणामस्वरुप होनेवाले उनके यथार्थ बोध का कारण बनता है। दीपक सम्यक्त्ववाला व्यक्ति वह है जो दूसरों को सन्मार्ग पर लगा देने का कारण बन जाता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का ही पथिक बना रहता है। जैसे कोई नदी के तीर पर खडा व्यक्ति किसी मध्य नदी में थके हुए तैराक का उत्साहवर्धन कर उसे पार लगने का कारण बन जाता है, यद्यपि न तो स्वयं तैरना जानता है और न ही पार होता है[45]।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है, जिसका आधार कर्म-प्रकृतियों का क्षयोपशम है। जैन सिद्धान्त में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व-मोह -ये सात कर्म प्रकृतियाँ सम्यक्त्व (यथार्थ बोध) की विरोधी हैं।

इनमें सम्यक्त्व मोहनीय को छोड शेष छ: कर्म प्रकृतियाँ उदय में होती है तो सम्यक्त्व का प्रगटन नहीं हो पाता। सम्यक्त्वमोह मात्र सम्यक्त्व की निर्मलता और विशुद्धि में बाधक है। कर्म-प्रकृतियों की तीन स्थितियाँ हैं - (1) क्षय (2) उपशम और (3) क्षयोपशम। इसी आधार पर सम्यक्त्व का यह वर्गीकरण किया गया है (1) औपशमिक सम्यक्त्व (2) क्षायिक सम्यक्त्व और (3) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व[46] के भेद से तीन प्रकार से। औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक और सास्वादन के भेद से चार प्रकार से और औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सास्वादन और वेदक के भेद से पाँच प्रकार से होता है[47]।

कर्मों की स्थिति के आधार पर सम्यक्त्व के भेद:-

1. **औपशमिक सम्यक्त्व** - उपर्युक्त (क्रियमाण) कर्म-प्रकृतियों के उपशान्त (दबाई हुई) होने पर जो सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसमें स्थायित्व का अभाव होता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह अन्तर्मुहर्त (48 मिनट) सेअधिक नहीं टिकता है[48]।
2. **क्षायिक सम्यक्त्व** - उपर्युक्त सातों कर्म-प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर जो सम्यक्त्व रुप यथार्थ बोध प्रकट होता है; वह क्षायिक सम्यक्त्व है। यह यथार्थ बोध स्थायी होता है और एक बार प्रकट होने पर कभी नष्ट नहीं होता है। शास्त्रीय भाषा में यह सादि-अनन्त होता है[49]।
3. **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** - मिथ्यात्वजनक उदयगत (क्रियमाण) कर्म-प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर और अनुदित (सत्तावान या संचित) कर्म-प्रकृतियों का उपशम हो जाने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से यह अस्थायी ही है, फिर भी एक लम्बी समयावधि (छाछठ सागरोपम से कुछ अधिक) तक अवस्थित रह सकता है[50]।
4. **सास्वादन सम्यक्त्व** - औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका में सम्यक्त्व के रस का पान करने के पश्चात् जब साधक पुन: मिथ्यात्व की ओर लौटता है तब सम्यक्त्व को वमन करते समय सम्यक्त्व का भी कुछ आस्वाद रहता है। जीव की एसी स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व कहलाती है[51]।
5. **वेदक सम्यक्त्व** - जब जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आगे बढता है और इस विकास-क्रम में जब वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म-प्रकृति के कर्म दलिकों का अनुभव कर रहा होता है, तो सम्यक्त्व की यह अवस्था 'वेदक सम्यक्त्व' कहलाती है। वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है[52]।

वस्तुत: सास्वादन और वेदकसम्यक्त्व सम्यग्दर्शन की मध्यान्तर अवस्थाएँ हैं - पहली सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर गिरते समय और दूसरी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर बढते समय होती है।

सम्यक्त्व का दसविध वर्गीकरण[53]:-

उपरोक्त सम्यक्त्व के औपशमिकादि पाँच भेद के निसर्ग और अधिगम दोनो प्रकार के भेद से दस प्रकार होते हैं अथवा सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के आधार पर उसके निसर्ग-उपदेशादि अग्रलिखित दश भेद होते हैं[54]।

38. अ.रा.पृ. 4/1982; आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 106 एवं उस पर दीपिका टीका
39. अ.रा.पृ. 7/482-483
40. अ.रा.पृ. 7/482-483
41. अ.रा.पृ. 7/483, 484; स्थानांग 2/9/70
42. अ.रा., पृ. 7/483; प्रवचन सारोद्धार टीका-957; श्रावक प्रज्ञप्ति-33
43. श्रावक प्रज्ञप्ति-49
44. श्रावक प्रज्ञप्ति-49
45. श्रावक प्रज्ञप्ति-50
46. अ.रा.पृ. 7/483; प्रवचनसारोद्धार 958; विशेषावश्यक भाष्य 2675; श्रावक प्रज्ञप्ति 43
47. अ.रा.पृ. 7/483; प्रवचनसारोद्धार 962; विशेषावश्यक भाष्य-528
48. अ.रा.पृ. 3/99; विशेषावश्यक भाष्य 529, 530; श्रावक प्रज्ञप्ति 45, 46, 47
49. अ.रा.पृ. 3/688; विशेषावश्यक भाष्य गाथा 533; श्रावक प्रज्ञप्ति 48
50. अ.रा.पृ. 3/690; विशेषावश्यक भाष्य गाथा 532; श्रावक प्रज्ञप्ति 44
51. अ.रा.पृ. 7/483 एवं 794; विशेषावश्यक भाष्य-531
52. अ.रा.पृ. 6/1432; विशेषावश्यक भाष्य-533
53. अ.रा.पृ. 7/483, 484; प्रवचनसारोद्धार 149/963; उत्तराध्ययन सूत्र 28/31;प्रज्ञापनासूत्र, गाथा 132; निशीथसूत्र 1/23; स्थानांग 10/104
54. अ.रा.पृ. 7/483, 484, पृ. 7/506; प्रवचनसारोद्धार 149/964; स्थानांग 10/3; उत्तराध्ययन सूत्र-28/17 से 27

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. **निसर्ग रुचि** - जो यथार्थ दृष्टिकोण व्यक्ति में स्वत: ही उत्पन्न हो जाता है, वह निसर्गरुचि सम्यक्त्व है।
2. **उपदेश रुचि** - वीतराग की वाणी को सुनकर जो यथार्थ दृष्टिकोण या श्रद्धान होता है, वह उपदेश रुचि सम्यक्त्व है।
3. **आज्ञा रुचि** - वीतराग के नैतिक आदेशों को मानकर जो यथार्थ दृष्टिकोण उत्पन्न होता है अथवा तत्त्व-श्रद्धा होती है वह आज्ञारुचि सम्यक्त्व है।
4. **सूत्र रुचि** - अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रंथो के अध्ययन के आधार पर जो यथार्थ दृष्टिकोण या तत्त्व-श्रद्धान होता है, वह सूत्ररुचि सम्यक्त्व है।
5. **बीज रुचि** - यथार्थता के स्वरुप के बोध को स्वचिन्तन के द्वारा विकसित करना, बीजरुचि सम्यक्त्व है।
6. **अभिगम रुचि** - अंग साहित्य और अन्य ग्रंथों का अर्थ एवं व्याख्या सहित अध्ययन करने से जो तत्त्व बोध एवं तत्त्व श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अभिगम रुचि सम्यक्त्व है।
7. **विस्तार रुचि** - वस्तु तत्व के अनेक पक्षों का विभिन्न अपेक्षाओं एवं प्रमाणों के द्वारा अवबोध कर उनकी यथार्थता पर श्रद्धा करना, विस्तार-रुचि सम्यक्त्व है।
8. **क्रिया रुचि** - प्रारंभिक रुप में साधक जीवन की विभिन्न क्रियाओं के आचरण में रुचि हो और उस साधनात्मक अनुष्ठान के फलस्वरुप यथार्थता का बोध हो, वह क्रिया रुचि सम्यक्त्व है।
9. **संक्षेप रुचि** - जो वस्तु तत्व का यथार्थ स्वरुप नहीं जानता और जो आर्हत प्रवचन में प्रवीण भी नहीं है लेकिन जिसने अयथार्थ को अंगीकृत भी नहीं किया, जिसमें यथार्थ ज्ञान की अल्पता होते हुए भी वह मिथ्यात्व धारी नहीं है, वह संक्षेप रुचि सम्यक्त्व है।
10. **धर्म रुचि** - तीर्थंकर प्रणीत सत् के स्वरुप, आगम साहित्य एवं नैतिक नियमों पर श्रद्धा रखना, उन्हें यथार्थ मानना - धर्म रुचि सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के 67 भेद[55] :-

4	प्रकार की श्रद्धा	3	प्रकार के सम्यक्त्व के लिङ्ग
10	प्रकार का विनय	3	प्रकार की शुद्धि
5	प्रकार के सम्यक्त्व के दूषण	8	प्रकार के जैन शासन के प्रभावक
5	प्रकार के सम्यक्त्व भूषण	5	प्रकार के सम्यक्त्व के लक्षण
6	प्रकार की जयणा	6	प्रकार का सम्यक्त्व का आगार
6	प्रकार की सम्यक्त्व की भावना	6	प्रकार के सम्यक्त्व के स्थान

चार श्रद्धान[56]:-

1. परमार्थ संस्तव - जिनेश्वर कथित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - इन नव तत्त्वों के रहस्यों को यथार्थज्ञानपूर्वक जानकर उनमें श्रद्धा रखना। यदि इतनी ज्ञानदशा न भी हो तो भी 'जं जिणेहिं पन्नत्तं तमेव सच्चं' एसी दृढ श्रद्धा रखना - 'परमार्थ संस्तव' कहलाता है।

2. सुदृष्ट परमार्थ संस्तव - ज्ञान-दर्शन-चारित्रयुक्त मुनियों की सेवा, भक्ति, विनय, वैयावृत्यादि करना, उनके प्रति हार्दिक बहुमान रखना - 'सुदृष्टपरमार्थ संस्तव' नामक द्वितीय श्रद्धा कहलाती है।

3. व्यापन्न दर्शन वर्जन - जिस आत्माओं ने सम्यकत्व ग्रहण करके उसका त्याग वमन कर दिया हो, एसे पतित जीवों का तथा निह्नव, यथाच्छंद, पार्श्वस्थ, कुशील, वेष विडंबक, शिथिलाचारी और अज्ञानी जीवों के परिचय का त्याग करना और उनसे दूर रहना 'व्यापन्न दर्शन' नामक तृतीय श्रद्धा है।

4. कुदर्शन देशना परिहार/त्याग - शाक्यादि परदर्शनी, अन्यधर्मी, मिथ्यादृष्टि जीवों के परिचय का त्याग करना, एसे लोगों के पास धर्मश्रवण नहीं करना - यह 'कुदर्शन परिहार' नामक चतुर्थ श्रद्धा है।

सम्यक्त्व के तीन लिङ्ग[57]:-

1. शुश्रूषा - कोई युवक, परिणीत स्त्री (पत्नी) युक्त और संगीतज्ञ पुरुष की संगीत श्रवण की आसक्ति से भी अतिशय श्रुतराग - धर्मरागपूर्वक धर्म श्रवण करना - 'श्रुताभिलाष' अर्थात् 'शुश्रूषा' नामक प्रथम लिङ्ग है।

2. धर्मराग धर्मरुचि - भूखे, अरण्य को पार कर आये हुए ब्राह्मण के तीव्र इच्छापूर्वक के मनोहर घेवर के भोजन से भी अधिक तीव्र इच्छापूर्वक धर्मपालन की इच्छा होना 'धर्मराग' नामक द्वितीय लिङ्ग है।

3. वैयावृत्त्य - प्रमादरहित होकर विद्यासाधक की विद्या साधना की तरह संपूर्ण प्रमादरहित होकर सुदेव-गुरु की भक्ति, सेवा करना, ''वैयावृत्त्य'' नामक तृतीय लिङ्ग है।

सम्यकत्व में 10 प्रकार के विनय[58]:-

1. अरिहंत - तीर्थंकर	2. सिद्ध-अष्ट कर्म क्षयपूर्वक मोक्ष प्राप्त परमात्मा
3. चैत्य - जिन प्रतिमा	
4. सूत्र - जैनागम	5. धर्म - क्षमादि 10 धर्म
6. साधु - मुनि	7. आचार्य - धर्म शासन के नायक
8. उपाध्याय - पाठक	9. प्रवचन - चतुर्विध संघ
10. दर्शन - सम्यकत्व	

इन दशों का (1) भक्ति (2) बहुमान (3) गुणस्तुति (4) हेलना त्याग (छद्मस्थतावश यदि उनमें कोई दोष हो तो साधु आदि के दोषों को प्रकट नहीं करना और (5) आशातना त्याग - इन पाँच प्रकारों से विनय करना ''विनय'' कहलाता है।

सम्यक्त्व की तीन शुद्धियां[59]:-

1. मन: शुद्धि - जिनेश्वर परमात्मा और उनके द्वारा प्ररुपित जैन धर्म के अलावा संसार के सभी देव और उनके द्वारा दर्शित धर्म झूठ है - एसे पक्षयुक्त निर्मल बुद्धि प्रथम 'मन:शुद्धि' कहलाती है।

2. वचन शुद्धि - जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति, सेवा, पूजा, उपासना से स्वयं के निकाचित कर्मोदय के कारण जो कार्य नहीं हुआ वह अन्य

55. अ.रा.पृ. 7/484; सम्यक्त्वसप्ततिका 5/6; धर्मरत्नप्रकरण 1/1 से 16
56. अ.रा.पृ. 7/484; सम्यक्त्वसप्ततिका 11, 12; प्रज्ञापना सूत्र-गाथा-131
57. अ.रा.पृ. 7/484, 485, 500; सम्यकत्वसप्ततिका-13
58. अ.रा.पृ. 6/1451; 7/484, 485; सम्यक्त्वसप्ततिका-17
59. अ.रा.पृ. 7/484, 485; सम्यकत्वसप्ततिका-25

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव से या उनकी सेवा-भक्ति से कैसे होगा ? अर्थात् कभी भी नहीं हो सकता -एसे वचन बोलना, दूसरी 'वचन शुद्धि' कहलाती है।

3. काय शुद्धि - चाहे कोई देव शरीर का छेदन-भेदन करे या कितनी ही पीडा दे, तो भी वे सब सहन करें परन्तु जिनेश्वर परमात्मा के अलावा अन्य देवी-देवता को नमस्कार नहीं करना - तीसरी 'काय शुद्धि' कहलाती है।

सम्यक्त्व के दूषण[60] (अतिचार):-

1. शंका - वीतराग या अर्हत् के कथनों पर शंका करना उसकी यथार्थता के प्रति संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना।

2. आकांक्षा - स्वधर्म को छोडकर पर धर्म की इच्छा करना, नैतिक एवं धार्मिक आचरण के फल की कामना करना। - नैतिक कर्मों की फलासक्ति भी साधना-मार्ग में बाधक तत्व मानी गयी है।

3. विचिकित्सा - नैतिक अथवा धार्मिक आचरण के फल के प्रति संशय करना। अर्थात् सदाचरण का प्रतिफल मिलेगा या नहीं - एसा संशय करना।

4. मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा - जिन लोगों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है एसे अयथार्थ दृष्टिकोण(मिथ्यात्व)वाले व्यक्तियों अथवा संगठनो की प्रशंसा करना।

5. मिथ्यादृष्टियों का अति परिचय - साधनात्मक अथवा नैतिक जीवन के प्रति जिनका दृष्टिकोण अयथार्थ है उनसे घनिष्ट संबंध रखना। चारित्र के निर्माण एवं पतन दोनों पर ही संगति का प्रभाव पडता है अतः सदाचारी पुरुष का अनैतिक आचरण करनेवाले लोगों से अति परिचय या घनिष्ठ संबंध रखना उचित नहीं माना गया है।

सम्यक्त्व के आठ प्रभावक[61]:-

1. प्रवचन-प्रभावक (प्रावचनिक) - जो द्वादशांगीरुप प्रवचनों या गणिपिटकों के अतिशय ज्ञान द्वारा युगप्रधान शैली में जनता को प्रभावित करता है, जनता में आगम ज्ञान के प्रति प्रकृष्ट भावना पैदा करता है, अपने युगलक्षी प्रवचनों से जनजीवन को धर्माचरण के लिए प्रेरित करता है, वह 'प्रवचन प्रभावक' कहलाता है।

2. धर्मकथा प्रभावक - जो विविध युक्ति, दृष्टान्त आदि के द्वारा जनता को सुन्दर सदुपदेश देने की शक्ति रखता हो और जनता को धर्मकथा से प्रभावित करके धर्मबोध देता हो, वह 'धर्मकथा-प्रभावक' कहलाता है।

3. वाद प्रभावक (वादी) - जो वादी, प्रतिवादी सभ्य और सभापति रुप चतुरंगिणी सभा में प्रतिपक्ष की युक्तियों का खंडन करके स्वपक्ष की स्थापना करने में सक्षम हो और इस प्रकार अपनी तर्क शक्ति से लोगों को प्रभावित कर धर्म (शासन) प्रभावना करता हो, उसे 'वाद प्रभावक' कहते हैं।

4. निमित्त प्रभावक - जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल-सम्बन्धी लाभालाभ का विज्ञ हो तथा निमित्त शास्त्रज्ञ हो, और अपने उक्त ज्ञान से जनता को उसके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के जीवन से धर्म बोध देकर धर्म साधना की ओर आकर्षित करता हो, वह निमित्त प्रभावक होता है।

5. तपस्या-प्रभावक (तपस्वी) - अठ्ठम आदि विविध तपस्या एवं कठीन अभिग्रहपूर्वक तप करके जनता को आत्मशक्ति का परिचय देने तथा तपस्या करके आत्मशुद्धि द्वारा आत्मशक्ति प्रकट करने के लिए प्रभावित करनेवाला तपस्या-प्रभावक होता है।

6. विद्या-प्रभावक - प्रज्ञप्ति, रोहणी आदि विविध विद्यादेवियों सिद्ध करके तदधिष्ठित विद्याएँ प्राप्त करने वाला विद्या प्रभावक होता है। विद्याप्रभावक अपनी विद्या के द्वारा शासन पर आये हुए विविध उपसर्गों, कष्टों और आपत्तियों को दूर कर शासन प्रभावना करता है।

7. सिद्धि-प्रभावक - वैक्रिय आदि विविध लब्धियों तथा अणिमा आदि विविध सिद्धियाँ, तथा अंजन, पादलेप आदि आकर्षक तंत्र प्रयोग जिसे प्राप्त हो, और संघ की प्रभावना के लिए उनका प्रयोग करता हो, वह सिद्धि-प्रभावक कहलाता है।

8. काव्य-प्रभावक (कवि) - गद्य, पद्य आदि में विविध वर्णनात्मक प्रबंध या कविता आदि की रचना करके जनता को उस लेख, निबंध, कथा या कविता आदि के द्वारा धर्माचरण में प्रेरित करके धर्म के प्रति प्रभावित करनेवाला काव्य-प्रभावक कहलाता है।

अन्य ग्रंथो में निम्नांकित आठ अन्य प्रकार बताये गये है[62] -

1. अतिशेषर्द्धि प्रभावक[63]	2. धर्मकथा प्रभावक
3. वादी	4. आचार्य
5. क्षपक तपस्वी	6. नैमित्तिक
7. विद्याप्रभावक	8. राजगणसम्मत - प्रभावक

सम्यक्त्व के 5 भूषण[64]:-

सम्यक्त्व के साथ जिनके जुडने से उसकी शोभा बढे, उसे सम्यक्त्व भूषण कहते हैं। जिन शासन की शोभा बढानेवाले ये भूषण पाँच हैं -

1. जिनोक्त धर्म में स्थिरता[65]:-

किसी का मन आपत्ति, शंका आदि कारणों से धर्म से चलायमान हो रहा हो, कोई व्यक्ति धर्म से डिग रहा हो, उसे समझा-बुझाकर उपदेश या प्रेरणा देकर धर्म में स्थिर करना अथवा अन्य सम्प्रदाय में ऋद्धि-समृद्धि, आडम्बर या चमत्कार देखकर स्वयं भी जिनशासन के प्रति अस्थिर न होना। - यह जिनोक्त धर्म में स्थिरता नामक गुण हैं।

2. धर्म (शासन) प्रभावना:-

धर्मकथा, वादी-जय, उग्रतप, गुरु-प्रवेशोत्सव, स्वामिवात्सल्य, सुपारी-बदाम-नारियल-सिक्के आदि की प्रभावना (बाँटना) के द्वारा स्व-तीर्थ की उन्नति करना, जिसमें जो गुण विशिष्ट हो उससे शासन (धर्म सङ्घ) को दिप्तीमान करना, सर्व प्रकार से शासन-मालिन्य को रोकना और जिसे जिनशासन प्राप्त न हुआ हो, उसे विभिन्न प्रभावनाओं, प्रचार-प्रसार के विभिन्न निमित्तों द्वारा जिन शासन से प्रभावित करना -धर्म प्रभावना या शासन प्रभावना कहलाती है।[66] इस प्रकार प्रभावना करनेवाले प्रभावकों के आठ प्रकार है :-

---

60. अ.रा.पृ. 4/2436; 7/35; 3/164, 6/1190, 7/484, 485, 497; सम्यक्त्वसप्ततिका-28-30
61. अ.रा.पृ. 5/437, 7/484-485; सम्यक्त्वसप्ततिका-31, 32
62. समकित सडसठ बोलनी सज्झाय, पृ. 111 विवेचक - धीरजलाल डी. महेता, सूरत (गुजरात)
63. जंघाचारणादि लब्धि से प्रभावना करना
64. सम्यक्त्वसप्ततिका-40 से 42; अ.रा.पृ. 7/484, 485 एवं तत्तच्छब्दे
65. अ.रा.पृ. 4/2410-11
66. अ.रा.पृ. 5/438-39-40

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. प्रवचनिक, 2. धर्मकथाकार, 3. वादी,
4. नैमित्तिक 5. तपस्वी, 6. विद्यावान्,
7. सिद्धिप्राप्त और 8. कवि।

3. भक्ति[67]:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में जिनेश्वर परमात्मा की सेवा, पूजा, आङ्गी, भव्य महोत्सव, जाप, आराधना, गुर्वादि के सम्मुखगमन, अभ्युत्थान, आसन प्रदान, पर्युपासना, अञ्जलिबद्ध प्रणाम, अनुगमन आदि उचित उपचार द्वारा श्री जिनेश्वर द्वारा स्थापित चतुर्विध संङ्घ की सेवा, विनयादि करना 'भक्ति' है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारुप चतुर्विध धर्मसंघ 'शासन' कहलाता है। जिन शासन के आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, रुग्ण (रोगी), कुल, गण, संघ, साधु, ज्ञानी-आदि संघस्थ व्यक्तियों की सेवा करना; वैयावृत्य (वैयावच्च) करना, उनको आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, उपाश्रय (वसति या स्थान), पट्ट (पाट), चौकी, आसन आदि धर्म-साधना में आवश्यक उपकरण देना उनकी औषध-भेषज्य आदि के द्वारा सेवा करना, विहार में कठिन मार्ग में उनको सहायक बनना, चतुर्विध सङ्घ पर छाये हुए विघ्नों या उपसर्गो का निवारण करना - ये सभी सेवा-भक्ति के विभिन्न प्रकार है। इनसे शासन की शोभा बढती है, इसीलिए "भक्ति" को सम्यक्त्व का तीसरा भूषण बताया है। जिनभक्ति से कर्मक्षय, आरोग्य, बोधिलाभ एवं समाधिमरण की प्राप्ति होती है। (भक्ति का विशेष वर्णन आगे प. 4 ख 3 में किया जायेगा)

4. जिनशासन में कुशलता:-

धर्म के सिद्धान्तों को समझाने तथा धार्मिकों पर आई हुई उलझनों को सुलझाने, समस्या हल करने की कुशलता भी अनेक व्यक्तियों को धर्मसंघ में स्थिर रखती है; संघ सेवा के लिए प्रेरित करती है। अतः कुशलता सम्यक्त्व का भूषण है।

5. तीर्थ सेवा:-

नदी के घाट की तरह संसार से सुखपूर्वक पार उतरने के लिए तीर्थ होता है। यह तीर्थ दो प्रकार का होता है - जिस भूमि पर तीर्थंकरों का जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुआ हो, उस स्थान को लोक प्रचलित भाषा में 'तीर्थ' कहा जाता है, इसे द्रव्यतीर्थ कहते हैं। और भावतीर्थ साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रुप चतुर्विध संघ श्रमण संघ होता है। ऐसे तीर्थ की सेवा करना तीर्थ सेवा है[68]। (इस का विशेष वर्णन आगे प. 4 ख 3 में किया जायेगा)

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण[69]:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में सम्यक्त्व के पाँच अंगों का विधान है। सम्यक्त्व के पाँच अंग इस प्रकार है -

1. सम - सम्यक्त्व का पहला लक्षण है सम। प्राकृत भाषा में 'सम' शब्द के संस्कृत भाषा में तीन रुप होते हैं - 1. सम, 2. शम, 3. श्रम। 'सम' शब्द के दो अर्थ है, पहले अर्थ में सभी प्राणियों को अपने समान समझना। इस अर्थ में यह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की स्थापना करता है जो अहिंसा का आधार है। दूसरे अर्थ में इसे वित्तवृत्ति का समभाव कहा जा सकता है अर्थात् सुख-दुःख, हानि-लाभ एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों स्थितियों में समभाव रखना, चित्त को विचलित नहीं होने देना। 'शम' इसका अर्थ होता है शांत करना अर्थात् वासनाओं को शांत करना, श्रम इसका अर्थ है - सम्यक् 'प्रयास' या पुरुषार्थ।

2. संवेग - संवेग का अर्थ है मोक्ष की अभिलाषा। सम्यग्दृष्टि जीव राजा और इन्द्र के वैषयिक सुख को भी दुःखमिश्रित होने के कारण दुःखरुप मानते हैं, वे मोक्षसुख को ही एकमात्र सुख रुप मानते हैं। कहा भी है - सम्यकत्वी मनुष्य इन्द्र के सुख को भाव से दुःख मानता है और संवेग से मोक्ष के बिना और किसी वस्तु की प्रार्थना नहीं करता, वही संवेगवान् होता है।

3. निर्वेद - निर्वेद शब्द का अर्थ है संसार से उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति। सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन रखना, क्योंकि उसके अभाव में साधना के मार्ग पर चलना संभव नहीं होता। वस्तुतः निर्वेद निष्काम-भावना या अनासक्त दृष्टि के विकास का आवश्यक अंग है।

4. अनुकम्पा - दुःखी जीवों पर दया करने की इच्छा अनुकम्पा है। पक्षपात रहित होकर दुःखी जनों के दुःख को मिटाने की भावना ही वस्तुतः अनुकम्पा है। अपनी शक्ति के अनुसार दुःखी व्यक्ति के दुःख का प्रतिकार करके उसका दुःख दूर करना 'द्रव्य अनुकम्पा' है। मन से दुःखी के प्रति कोमल हृदय रखकर दया से परिपूर्ण होना 'भाव अनुकम्पा' है।

5. आस्तिक्य - आत्मा है, आत्मा को अपनी शुभाशुभ प्रवृत्तियों के अनुसार फलस्वरुप मिलने वाला देवलोक, नरक गति, परलोक आदि है। संसार में प्राणियों की विभिन्नता का कारण कर्म है, कर्म फल है, इस प्रकार जो मानता है, वह आस्तिक है। जैन दर्शन के अनुसार जो पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह आस्तिक है। जिनेश्वरोंने जो कहा है, वही सत्य है और शंकारहित है - एसे शुभ परिणामो से युक्त और शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित हो, वही सम्यक्त्वी माना जाता है।

सम्यक्त्व की छः जयणा[70]:-

अन्य धर्मी के धर्म गुरु, अन्य धर्मियों के देव, और अन्य धर्मियों के अधिकार में रहे जिन चैत्य (जिन मंदिर) और जिन प्रतिमा को (1) वंदन (2) नमन (3) आलाप (बिना बुलाये बोलना) और (4) संलाप (बार-बार बोलना) (5) दान (6) प्रदान (वारंवार दान, सत्कारादि) - इन छः प्रकार के व्यवहार का त्याग करना, सम्यक्त्व की "छः जयणा" कहलाती है।

यद्यपि अनिवार्य कारण उपस्थित होने पर इन में जयणा (छूट) भी होती है। वह जयणा अनेक प्रकार से है।

सम्यक्त्व के छः आगार[71]:-

सम्यक्त्वी जीव यद्यपी मिथ्यादृष्टि देव-गुरु को वंदन नहीं करें तथा अन्य धर्म या अन्य धर्मी के सेवा-पूजा भी नहीं करें तथापि (1) राजा (2) गण (3) बल (4) देव (5) गुरु और (6) वृत्ति

67. अ.रा., पृ. 5/1365-66, 4/1500
68. अ.रा., पृ. 4/2242, 2245, 2314
69. अ.रा., पृ. 7/484, 501, 502; सम्यक्त्व सप्ततिका - 43 से 45
70. अ.रा., पृ. 7/484; सम्यक्त्वसप्ततिका-46 से 50
71. अ.रा., पृ. 7/484; सम्यक्त्वसप्ततिका-51 से 54

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की गच्छपरम्परा

भारतीय अध्यात्म परंपरा में किसी भी ऋषि-मुनि को किसी न किसी सम्प्रदाय के गुरु से दीक्षित होना आवश्यक माना जाता है, इसके अभाव में उसे प्रामाणिक नहीं माना जाता। कुछ लोगों के मन में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के गच्छ के विषय में भ्रम है किआचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि का कोई गुरु नहीं था और उन्होंने स्वयं ही दीक्षित होकर अपना मत चलाया। जब कि सत्य यह है कि **आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि 'सुधर्म गण' की वज्रशाखा में चंद्र कुल में तपागच्छीय परंपरा में हुए है।** अत: आचार्यश्री की गच्छपरम्परा के विषय में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना आवश्यक हैं। यहाँ इसलिए प्रसंगवश इनका संक्षिप्त ऐतिहासिक गच्छ परिचय दर्शाया जाता है-

श्रीमहावीर स्वामी के 9 गच्छ एवं 11 गणधर थे, जिसमें 9 गणधर तो उनकी उपस्थिति में ही निर्वाण को प्राप्त हो चुके थे, और गौतमस्वामी को प्रात: केवलज्ञान की प्राप्ति होने वाली थी, अत: श्रीमहावीर स्वामी ने सुधर्मा स्वामी को संघ की समस्त व्यवस्था एवं उत्तरदायित्व दिया। **वर्तमान में जो भी जितने भी साधु-साध्वी हैं वे सब सुधर्मा स्वामी की परंपरा के हैं।**[56] **उनके नाम से निर्ग्रन्थ गच्छ 'सौधर्मगच्छ' (गण) के नाम से प्रख्यात हुआ।**[57]

भगवान् की 9 वीं पाट पर **आर्य सुहस्तिसूरिजी** के शिष्य **आर्य सुस्थितसूरिजी और सुप्रतिबद्ध सूरिजी हुए।** उन्होंने आचार्य पद प्राप्ति के बाद **कोकंदी नगरी में 'सूरिमंत्र'** (जैनाचार्यों ही के द्वारा जपयोग्य विशिष्ट लब्धिविद्यायुक्त महान् प्रभाविक मंत्र) **का करोड बार जाप किया।** जिससे **सौधर्म गच्छ में** इनका गच्छ **'कोटिक गण'** के नाम से प्रचलित हुआ।[58] कोटिक गण की चार शाखाओं में **तृतीय वज्र शाखा हुई।**[59]

भगवान् महावीर की 13 वीं पाट पर अंतिम दशपूर्वधर युगप्रधान आचार्य श्री वज्रस्वामी हुए।[60] उनके शिष्य आचार्य वज्रसेनसूरि हुए।[61] आचार्य वज्रसेन के शिष्य **आचार्य चंद्रसूरि के नाम से चंद्र कुल की उत्पत्ति हुई।**[62]

भगवान् महावीर के सोलहवें पाट पर **श्री समन्तभद्रसूरिजी** हुए, जो अधिकांश वन में ही रहते थे और इसी कारण **उनसे** इसी परंपरा में **वनवासी गच्छ** उत्पन्न हुआ।[63] **वनवासी गच्छ** में आचार्य श्री नेमिचंद्रसूरिजी के पट्टधर **श्री उद्योतनसूरि** हुए। उन्होंने आबु पर्वत की तलहटी में तेली गाँव में बलवान् ग्रह-नक्षत्र युक्त उत्तम मुहूर्त में संतानवृद्धि का सहज योग देखकर वटवृक्ष के नीचे सर्वदेव आदि आठ पुरुषों को दीक्षा दी। इससे **वनवासी गच्छ में वडगच्छ** उत्पन्न हुआ।[64]

वडगच्छ के श्री मणिरत्नसूरि जी के शिष्य **श्री जगच्चंद्रसूरि** हुए। आपने गच्छ में व्याप्त शिथिलाचार को दूर करने हेतु यावज्जीव अभिग्रहपूर्वक आयम्बिल[65] तप किया। इससे प्रभावित होकर मेवाड नरेश झैलसिंहजी ने वि.सं. 1285 में आपको 'तपा' (अर्थात् तप करने वाला) नामक बिरुद दिया जो आगे जाकर आपके गच्छ के साथ जुडने पर **सौधर्म गच्छ...वडगच्छ तपागच्छ** कहलाया।[66]

'तपा' शब्द 'तपस्' का अपभ्रंश है किन्तु जाति वाचक रुढ शब्द होने से 'तपा' रुप में ही प्रयुक्त होता है। कुछ लोग इसके स्थान पर 'तपस्' का प्रयोग करके '...तपोगच्छ' प्रयोग भी करते हैं। **इसी तपागच्छ की परंपरा में आचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी हुए जिन्होंने वि.सं. 1925 अषाढ वदि दशमी के दिन क्रियोद्धार के समय अपने गच्छ का नाम श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छ रखा।**[67]

56. अ.रा.पृ. 5/256; कल्पसूत्र मूल, स्थविरावली गाथा 5 एवं टीका; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 106, 107
57. अ.रा.भा. 7 - मुद्रण प्रशस्तिश्लोक-1
58. अ.रा.पृ. 5/256; वही भाग 7, मुद्रणपरिचयश्लोक 1; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.133
59. अ.रा.पृ. 5/256; मुद्रणपरिचयश्लोक 1; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.133
60. अ.रा.पृ. 5/256; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 148
61. अ.रा.पृ. 5/256; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 150
62. अ.रा.भा. 7; मुद्रणपरिचयश्लोक; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.158
63. अ.रा.भा. 7; मुद्रण परिचय
64. अ.रा.भा. 7; मुद्रणपरिचयश्लोक; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ.193
65. आयंबिल-जिसमें घी, तेल, दूध, दहीं, गुड-शक्कर एवं कडा विगर (तली चीज) इन छः विगइ (विकृति) एवं हरी वनस्पति आदि के त्यागपूर्वक केवल उबला हुआ धान्य या रुखी रोटी आदि दिन में एक ही बार एक ही जगह पर बैठकर खाया जाता है उसे जैन सिद्धान्त के अनुसार 'आयंबिल' तप कहते हैं।
66. अ.रा.पृ. 4/1383; 2185; एवं 5/256; शासनप्रभावक श्रमणभगवंतो, पृ. 229
67. अ.रा.भा. 7, मुद्रणपरिचय, श्लोक 2 ; संस्कृतप्रशस्ति, श्लोक 1

श्रीमत्सौधर्मगच्छः प्रवरमतियुतः कल्पवृक्षः प्रतीतो,
गच्छाचारैकचारप्रशमरसधरः सूरिमुख्यो विशालः ।
संसारोन्मूलनेभश्रमणगणशुभः शान्तिचारुः प्रफुल्लः,
सोऽयं सौधर्मगच्छो जयति जगति वो बोधिबीजं तनोतु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की गुरुपरम्परा

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय गुर्वावली/पट्टावली[68]

(शासनपति श्री महावीर स्वामीजी)

क्रम	आचार्य का नाम	क्रम	आचार्य का नाम	क्रम	आचार्य का नाम
1.	**श्री सुधर्मास्वामीजी**	25.	श्री नरसिंहसूरिजी	49.	श्री देवसुन्दरसूरिजी
2.	श्री जम्बूस्वामीजी	26.	श्री समुद्रसूरिजी	50.	श्री सोमसुन्दरसूरिजी
3.	श्री प्रभवस्वामीजी	27.	श्री मानदेवसूरिजी	51.	श्री मुनिसुन्दरसूरिजी
4.	श्री शय्यंभवसूरिजी	28.	श्री विबुधप्रभसूरिजी	52.	श्री रत्नशेखरसूरिजी
5.	श्री यशोभद्रसूरिजी	29.	श्री जयानन्दसूरिजी	53.	श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी
6.	श्री संभूतिविजयजी	30.	श्री रविप्रभसूरिजी	54.	श्री सुमतिसाधुसूरिजी
	श्री भद्रबाहुस्वामीजी	31.	श्री यशोदेवसूरिजी	55.	श्री हेमविमलसूरिजी
7.	श्री स्थूलिभद्रसूरिजी	32.	श्री प्रद्युम्नसूरिजी	56.	श्री आनन्दविमलसूरिजी
8.	श्री आर्य महागिरिजी	33.	श्री मानदेवसूरिजी	57.	श्री विजयदानसूरिजी
	श्री आर्य सुहस्तिसूरिजी	34.	श्री विमलचन्द्रसूरिजी	58.	श्री हीरविजयसूरिजी
9.	**श्री सुस्थितसूरिजी**	35.	**श्री उद्योतनसूरिजी**	59.	श्री विजय सेनसूरिजी
	श्री सुप्रतिबद्धसूरिजी	36.	श्री सर्वदेवसूरिजी	60.	श्री विजय देवसूरिजी
10.	श्री इन्द्रदिन्नसूरिजी	37.	श्री देवसूरिजी	61.	श्री विजय सिंहसूरिजी
11.	श्री दिन्नसूरीजी	38.	श्री सर्वदेवसूरिजी	62.	श्री विजय प्रभसूरिजी
12.	श्री सिंहगिरिसूरिजी	39.	श्री यशोभद्रसूरिजी	63.	श्री विजय रत्नसूरिजी
13.	श्री वज्रस्वामीजी		(श्री नेमिचन्द्रसूरिजी)	64.	श्री क्षमासूरिजी
14.	श्री वज्रसेनसूरिजी	40.	श्री मुनिचन्द्रसूरिजी	65.	श्री विजय देवेन्द्रसूरिजी
15.	**श्री चन्द्रसूरिजी**	41.	श्री अजितदेवसूरिजी	66.	श्री विजय कल्याणसूरिजी
16.	**श्री समन्तभद्रसूरिजी**	42.	श्री विजयसिंहसूरिजी	67.	श्री विजय प्रमोदसूरिजी
17.	श्री वृद्धदेवसूरिजी	43.	श्री सोमप्रभसूरिजी	68.	**श्री विजय राजेन्द्रसूरिजी**
18.	श्री प्रद्योतनसूरिजी		**(श्री मणिरत्नसूरिजी)**	69.	श्री विजय धनचन्द्रसूरिजी
19.	**श्री मानदेवसूरिजी**	44.	**श्री जगच्चन्द्रसूरिजी**	70.	श्री विजय भूपेन्द्रसूरिजी
20.	श्री मानतुङ्गसूरिजी	45.	श्री देवेन्द्रसूरिजी	71.	श्री विजय यतीन्द्रसूरिजी
21.	श्री वीरसूरिजी		श्री विद्यानन्दसूरिजी	72.	श्री विजय विद्याचन्द्रसूरिजी
22.	श्री विजयदेवसूरिजी	46.	श्री धर्मघोषसूरिजी	73.	**वर्तमान श्रीमद्विजय**
23.	श्री देवानन्दसूरिजी	47.	श्री सोमप्रभसूरिजी		**जयन्तसेनसूरिजी**
24.	श्री विक्रमसूरिजी	48.	श्री सोमतिलकसूरिजी		

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के क्रियोद्धारकत्व के विषय में कुछ लोगों में ऐसा भ्रम है कि आपके कोई गुरु नहीं थे, परन्तु यह सत्य नहीं है। आपके गुरु आचार्य श्री प्रमोदसूरिजी थे जैसा कि पूर्व में दीक्षा-प्रकरण में उल्लेख किया गया है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है-

श्री विजय प्रमोदसूरिजी :-

भगवान् महावीर के प्रवर्तमान शासन में गच्छाधिपति के प्रथम क्रम पर श्री सुधर्मास्वामी का नाम आता है। इस परम्परा के 67 वें क्रम पर आचार्य श्रीमद्विजय प्रमोदसूरि आसीन थे। आपका जन्म डबोक (मेवाड) में गौड ब्राह्मण परमानन्दजी की भार्या पार्वतीबाई की कुक्षि से वि.सं. 1850 में गुडी पडवा (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा) के दिन हुआ था। आपका जन्म का नाम प्रमोदचन्द्र था। आपने वि.सं. 1863 में अक्षय तृतीया (वैशाख सुदि 3) के दिन दीक्षाव्रत अंगीकार किया था। वि.सं. 1893 मे ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन आपको आचार्य पद प्रदान किया गया।

वृद्धावस्था में जंघाबल क्षीण होने से आपने आहोर में स्थिरवास किया था।आपके रत्नविजयजी और ऋद्धिविजयजी दो शिष्य थे। जिसमें से संघ के आग्रह से वि.सं. 1924 में वैशाख शुक्ल पञ्चमी के दिन आपने रत्नविजयजी को आचार्य पद देकर श्री विजय राजेन्द्रसूरिजी नाम से प्रसिद्ध किया। आपने आहोर में वि.सं. 1934 में चैत्र कृष्णा अमावस्या को देह त्याग किया।[69]

68. श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि अभिनन्दन ग्रंथ, श्रीअभिधानराजेन्द्र कोश-द्वितीयावृत्ति

69. अ.रा.भा. 7, मुद्रणपरिचय, श्लोक 2 ; संस्कृतप्रशस्ति, श्लोक 1, पृ. 8,9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि की शिष्यपरम्परा

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि के हाथ से करीब 250 दीक्षाएँ हुई थीं परंतु जो लोग आपके कठोर आचार पालन एवं दृढ अनुशासन में नहीं रह पाये वे यत्र-तत्र शिथिलाचारी संवेगी, ढूंढकों, ('ढूँढक' यह एक सम्प्रदाय का नाम है) में मिल गए फिर भी आपका जो भी शिष्य-शिष्या परिवार वर्तमान में हैं वह सभी आचार पालन में दक्ष एवं शासन प्रभावना में अतिशय निपुण हैं। जिसमें कुछेक का यहाँ परिचय दिया जा रहा है-

श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज[70]:-

आपका जन्म वि.सं. 1896 में चैत्र शुक्ला चतुर्थी के दिन ओसवंशीय कंकु चोपड़ा गोत्रीय शा. ऋद्धिकरणजी की धर्मपत्नी अचलादेवी की कुक्षी से क्रिशनगढ (राज.) में हुआ था। आपका जन्म का नाम धनराज था। बारह वर्ष की आयु में ही आपने व्यवहारिक शिक्षा ले ली एवं धार्मिक शिक्षा में भी पंचप्रतिक्रमण जीवविचारादि चार प्रकरण, छः कर्मग्रंथ और प्रवचनसारोद्धारादि ग्रंथ कंठस्थ कर लिये थे। श्री सिद्धाचलादि अनेक तीर्थों की यात्रा भी की थी। आपने यति श्री लक्ष्मीविजयजी के पास वि.सं. 1917 में अक्षयतृतीया, गुरुवार के दिन धानेरा (गुजरात) में यति दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के पश्चात् आपने अनेक छंद, थोकडे, सैद्धांतिक बोल, उत्तराध्ययन सूत्र एवं दशवैकालिक सूत्र कंठस्थ किये। तत्पश्चात् व्याकरण के अध्ययन हेतु आप पंन्यास श्री रत्नविजयजी (आ.वि. राजेन्द्रसूरि जी) के पास आये। यहाँ आपने चन्द्रिका की तीनों वृत्ति एवं पंच काव्य का अध्ययन किया एवं शुद्ध साध्वाचार पालन की तीव्र उत्कण्ठा से वि.सं. 1925 में अषाढ वदि दशमी-बुधवार के दिन आचार्यश्री के साथ क्रियोद्धार कर उनके अपसंपत् शिष्य बने। आपको वि.सं. **1925 में मार्गशीष शुक्ल पंचमी** को आचार्यश्री ने **खाचरोद में उपाध्याय पद एवं वि.सं. 1965 में ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन श्रीसंघ ने जावरा में आचार्य पद** प्रदान किया।

जैनागम पञ्चाङ्गी एवं अन्य सभी प्रकार से साहित्य के आप अच्छे ज्ञाता थे। श्री संघ में आपको **'सिद्धांतसर्वज्ञ' 'आगमचर्चा चक्रवर्ती'** की पदवी प्रदान हुई थी। आपने 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश' की रचना में गुरुदेवश्री को पूर्ण सहयोग किया। अपनी पाट पर अपने गुरुभाई श्री दीपविजयजी को अपने उत्तराधिकारी के रुप में घोषित कर आपने वि.सं. 1977 में भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा (महावीर जन्म वाचन दिन) सोमवार को रात्रि 9.00 बजे वागरा (राज.) में देहत्याग किया, जहाँ आज समाधि मंदिर बना हुआ है।

उपाध्याय श्री मोहनविजयजी[71]:-

वि.सं. 1922 में भाद्रपद वदि द्वितीया को आपका जन्म संबूजा (आहोर, (राज.) के निकट) गाँव में ब्राह्मण वरदीचन्द की पत्नी लक्ष्मीबाई की कुक्षी से हुआ था। आपका जन्म का नाम मोहन था। कर्मसंयोग से 5 वर्ष की वय में आप गूंगे हो गये एवं हाथ-पैर संधिवात से ग्रस्त हो गए। इसी हालत में आप वि.सं. 1932 में आहोर में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के संपर्क में आये। गुरु कृपा से तत्काल आप पूर्ण स्वस्थ हो गए। तब अपने जीवन को गुरुचरणों में समर्पित करते हुए वि.सं. 1933 में फाल्गुन सुदि द्वितीया के दिन जावरा (म.प्र.) में आपने आचार्यश्री के पास दीक्षा ग्रहण की।

प्रसन्न मुद्रा, विशाल भाल, भद्र प्रकृति, मधुर भाषी, शान्त-दान्त, कषायों से बचने में प्रतिपल सावधान, स्वच्छ-सुन्दर लिखावट, वैयावृत्य और स्वाध्यायलीनता मुनि मोहनविजयजी की पहचान थी।

वि.सं. 1959 में आपको गुरुदेव के हाथ से **पंन्यास पद** एवं **वि.सं. 1966 में रानापुर(म.प्र.)**में तत्कालीन आ.श्री.वि. धनचंद्र सूरीश्वर जी के हाथ से **उपाध्याय पद** प्राप्त हुआ। **आपके द्वारा हस्तलिखित क्रियाविधि और समाचारी ही गच्छ में प्रमाण माने जायेंगे - ऐसी गुर्वाज्ञा इस गच्छ में अद्यावधि प्रवर्तित है।** आपका स्वर्गवास वि.सं. 1977 के पौष सुदि चतुर्थी को कुक्षी, जिला-धार (म.प्र.) में हुआ था।

श्री प्रमोदरुचिजी[72]:- -

आपका जन्म मेवाड देशीय भींडर गाँव में वि.सं. 1898 में कार्तिक सुदि 5 के दिन शिवदत्त विप्र की धर्मपत्नी मेनावती से हुआ था। आपके छोटे भाई रघुदत्त और छोटी बहन रुक्मणी थी। वि.सं. 1913 माघ सुदि 5 गुरुवार को आपने पं. अमररुचि के पास भींडर में ही यति दीक्षा ली। सं. 1925 आषाढ वदि 10 को आपने आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के साथ क्रियोद्धार करके शुद्ध मुनि जीवन अंगीकार कर आप आचार्यश्री के **प्रथम दीक्षोपसंपद् शिष्य बने।**

आप संगीत शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे, इसलिए आपको **'संगीतवारिधि'** पद से अलङ्कृत किया गया। गुरुभक्ति, सरलता, मृदुता और समत्व की उपासना आपके विशिष्ट गुण थे। श्री हुकमविजयजी आपके शिष्य थे। आपका स्वर्गवास वि.सं. 1938 आषाढ वदि 14 को वाँगरोद में हुआ था।

श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज[73]:-

आपका जन्म भोपाल (म.प्र.) में श्रीमाली भगवानजी की धर्मपत्नी सरस्वती की कुक्षी से वि.सं. 1945 में अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। आपका जन्म का नाम 'देवीचन्द' था। बाल्यकाल में ही माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् जैसेलमेर निवासी श्रेष्ठी केसरीमलजी के साथ आप आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के दर्शनार्थ पहुंचे एवं उनके सदुपदेश से वैराग्य वासित होकर वि.सं. 1952 में अक्षय तृतीया के दिन आलीराजपुर में दीक्षा एवं वि.सं. 1954 माघ सुदि पंचमी को आहोर में बडी दीक्षा ली एवं मुनि श्री दीपविजयजी नाम से प्रसिद्ध हुए। आपको वि.सं. 1973 में विद्वद्मंडल ने **'विद्याभूषण' और 'साहित्य विशारद'** -पद से अलंकृत

70. श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरि जीवनचरित्र से उद्धृत
71. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि काव्य से उद्धृत, धरती के फूल, पृ. 319, 320
72. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि काव्य से उद्धृत, धरती के फूल, पृ. 320-21-22
73. श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरि जीवन चरित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया एवं वि.सं. 1980, ज्येष्ट सुदि अष्टमी, शुक्रवार को श्रीसंघ ने आचार्य पद प्रदान किया एवं श्री भूपेन्द्र सूरीश्वर जी नाम घोषित किया। वि.सं. 1990 में अहमदाबाद में हुए अ.भा. जैन श्वे.मूर्तिपूजक मुनि सम्मेलन में अनेकों आचार्य एवं सैकडों मुनियों के बीच जो 9 प्रामाणिक आचार्यों की समिति बनी थी, उसमें आप चतुर्थ स्थान पर थे।

श्री दानविजयजी आदि 5 साधु एवं अनेक साध्वियाँ आपके हस्तदीक्षित हैं। आप स्वभाव से सरल और शांति प्रिय थे। साथ ही जैनागम एवं अन्य जैन-जैनेतर धार्मिक-ग्रंथ, संस्कृत, प्राकृत व्याकरण, कोश, अलंकारादि, तर्क, न्याय आदि के प्रकाण्ड मर्मज्ञ विद्वान् थे।

आपने विश्वविख्यात अभिधान राजेन्द्र कोश का संपादन-संशोधन एवं प्रकाशन कार्य मुनिश्री यतीन्द्र विजयजी के साथ रहकर पूर्ण जिम्मेदारी पूर्वक संपन्न किया। सूक्त मुक्तावली आदि 5 ग्रंथो की टीका, अनुवाद एवं अनेको चैत्यवन्दन-स्तुति-स्तवनादि की रचना की। आपकी रचनाओं में प्रचुर अर्थगांभीर्य प्राप्त होता है। आपका स्वर्गवास वि.सं. 1993 माघ शुक्ला सप्तमी को प्रातः आहोर (राज.) में हुआ।

श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वर जी महाराज[74]:-

आपका जन्म ओशवंशी जायसवाल गोत्रीय दिगम्बर सम्प्रदायानुयायी श्री बृजलालजी की धर्मपत्नी चम्पादेवी की कुक्षी से वि.सं. 1940 कार्तिक शुक्ला द्वितीया, रविवार के दिन धौलपुर (धवलपुर) राजस्थान में हुआ था। आपका जन्मनाम रामरत्न था। जब रामरत्न 5 वर्ष के थे तब माता का स्वर्गवास हो गया और उनके पिताजी धौलपुर छोडकर भोपाल (म.प्र.) जा बसे। वहाँ रामरत्नने अल्पायु में ही दिगम्बर पाठशाला में पंचमंगल पाठ, तत्त्वार्थ सूत्र, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, आलाप पद्धति, द्रव्य संग्रह, देवगुरु धर्म परीक्षा, नित्यस्मरणपाठ का अर्थ सहित अध्ययन किया, साथ ही भक्तामर, मंत्राधिराज, कल्याण मंदिर, विषापहार आदि स्तोत्र भी कंठस्थ किये।

12 वर्ष की अल्पायु में पिता का भी स्वर्गवास हो जाने से रामरत्न मामा के यहाँ रहे लेकिन वहाँ अनबन होने से वे उज्जैन में सिंहस्थ का मेला देखने आये। मेले के बाद श्री मक्षीजी तीर्थ की यात्रा कर महेन्द्रपुर (वर्तमान महिंदपुर सीटी) में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के दर्शन किये। मुनि दीपविजयजी (भोपालनिवासी होने से) आपके पूर्व परिचित थे तथा आचार्यश्री से प्रथम दर्शन एवं वार्तालाप से प्रभावित आपने अपने विद्वता एवं ज्ञानगांभीर्य से आचार्यश्री को भी प्रभावित कर आप आचार्यश्री के साथ रहे। विहार में आपके संस्कारी हृदय पर श्रीमद् गुरुदेवश्री के शुद्ध क्रियाकलाप, दैनिक दिनचर्या एवं विद्वता का अमिट प्रभाव पडा। फलस्वरुप रामरत्न ने वि.सं. 1954, आषाढ कृष्णा द्वितीया, सोमवार के दिन खाचरोद में आचार्यश्री के पास लघु दीक्षा एवं वि.सं. 1955 माघ शुक्ला पंचमी गुरुवार को आहोर (राज.) में बडी दीक्षा ली। आपका नाम गुरुदेव ने मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी रखा। गुरुनिश्रा में नौ साल तक सतत रहने से आपको जैनागमों का तीव्र गति से अध्ययन, स्वाध्याय, विहार, प्रतिष्ठाञ्जनशलाका, जीर्णोद्धार, दीक्षा, बडी दीक्षा, उपधान, उद्यापन (उजमणां), संघयात्रा, तीर्थयात्रा, ज्ञानभंडार स्थापना, शास्त्रार्थ, कलह-शांति आदि धर्मकार्यो का सर्वतोमुखी अनुभव प्राप्त हुआ। एवं बाद में आपने श्री संघ में ये सभी कार्य करवाये।

आपको वि.सं. 1972 में वागरा (राज.) में श्रीमद्विजय धनचन्द्र सूरिजी म.सा. ने **'व्याख्यान वाचस्पति'**, वि.सं. 1980 में जावरा में श्रीमद्विजय भूपेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. ने 'उपाध्याय पद' एवं आ. सागरानंद जी के साथ शास्त्रार्थ में उसी वर्ष रतलाम नरेश की विद्वद्मंडली की मध्यस्थता में **'पीताम्बर विजेता'** पदवी एवं वि.सं. 1995में वैशाख सुदि दशमी को आहोर में श्रीसंघ ने **आचार्य पदवी** दी।

आपके मुनि श्री विद्याविजयजी आदि 18 शिष्य थे एवं अनेकों शिष्याएं थी। आप विद्वानों से प्रेम रखते थे एवं उन्हें आदर और सम्मान देते थे।

आपने मुनि श्री दीपविजयजी के साथ रहकर अभिधान राजेन्द्र कोश का संपादन-संशोधन एवं प्रकाशन करवाकर गुरुदेव एवं श्रीसंघ का अभूतपूर्व विश्वास संपादन किया। स्वाध्याय और लेखन आपका प्रिय व्यसन था। आपके शिष्यों ने कभी आपको किसी से बात करते या फालतू बैठे नहीं देखा। हमेशा दीवाल की ओर मुख करके सतत लेखन आपकी प्रिय प्रवृत्ति थी। आपने तीन थुइ की प्राचीनता, सत्यबोध-भास्कर, पीत पटग्रह मीमांसादि प्रायः 60 के करीब ग्रंथ लिखे। लेकिन **आप एवं मुनि दीपविजयजी द्वारा लिखित अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग का उपोद्घात कोई पढे, वह सहज ही आपकी विद्वत्ता के प्रति नतमस्तक हो जाता हैं।** मेरी नेमाड यात्रा, मेरी गोडवाड यात्रा आदि में **आपने** विभिन्न गाँव नगरों के लोगों के रहन-सहन एवं स्वभाव के विषय में **जो बातें लिखी है वह आज भी इतनी ही सत्य साबित होती हैं।** इतना ही नहीं **जैन श्वे. श्रीसंघ के अन्य बडे-बडे विद्वान् आचार्य** भी आपकी कही हुई बातों को **सैद्धांतिक रुप से प्रामाणिक मानते थे एवं विभिन्न विषयों में आपकी सलाह लेते थे।**

आपने आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी द्वारा पुनः प्रचारित त्रिस्तुतिक सिद्धांत एवं गच्छ की आचार मर्यादा का दृढतापूर्वक पालन करने के साथ श्रीसंघ में उन सिद्धांतो का प्रचार-प्रसार कर दृढतापूर्वक पालन करवाया। सामाजिक एकता एवं समाज सेवा हेतु आपने अपने अंतिम जीवन में वि.सं. 2016 में 'अखिल भारतीय श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद्' की स्थापना की एवं सामाजिक जागृति हेतु समाज का मासिक पत्र 'शाश्वत धर्म' शुरु करवाया।

वि.सं. 2017 कार्तिक पूर्णिमा को आपने अपनी पाट पर अपने उत्तराधिकारी के रुप में मुनि श्री विद्याविजयजी को 'आचार्य' एवं मुनि श्री जयन्तविजयजी को 'युवाचार्य' पद पर घोषित कर वि.सं. 2017 पौष सुदि तृतीया बुधवार दि. 21-22-1960 को प्रातः 4.00 बजे स्वर्गवासी हुए। श्री मोहनखेडा तीर्थप्राङ्गण में आपका दिव्य, मनोरम, संगमरमरीय गुरुमंदिर आज भी आपकी साक्षात् स्मृति करवाता हैं।

श्रीमद्विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज[75]:-

आपका जन्म जोधपुर (राज.) में राठौरवंशीय (राजपूत) क्षत्रिय गिरधरसिंह की धर्मपत्नी सुन्दरबाई की कुक्षी से वि.सं. 1957 पौष

74. श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ, एवं आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के प्रवचन वि.सं. 2044 भाण्डवपुर तीर्थ पौष सुदि 3

75. श्रीमद् जयन्तसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ - वासक्षेप पृ.22

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-क्षेत्र एवं विशुद्धि की अपेक्षा से अवधिज्ञान के तीन भेद[124]:-

देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनसे विषय, क्षेत्र और पदार्थों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार और अधिक विशुद्धि पायी जाती है। देशावधि एक बार प्राप्त होकर छूट भी सकता है अत: वह प्रतिपाती है परन्तु परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति तक कभी नहीं छूटने के कारण अप्रतिपाती है। ये दोनों तद्भव मोक्षगामी मुनियों के ही होते हैं। यहाँ पर अवधिज्ञान के चार, चौदह और अनन्त भेद भी दर्शाये गये हैं।

मन:पर्यवज्ञान:-

दूसरों के मनोगत अर्थ को जाननेवाला ज्ञान मन:पर्यव ज्ञान है। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जाननेवाला है। चिन्तक जैसा सोचता है मन में उसके अनुरुप पर्यायें/पुद्गल द्रव्यों की आकृतियाँ बन जाती है। वस्तुत: मन:पर्यव का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान[125]।

मन:पर्यव ज्ञान के दो भेद हैं - (1) ऋजुमति और (2) विपुलमति। ऋजुमति सरल मन, वचन, काया से विचार किये गये पदार्थों को जानता है पर, विपुलमति मन:पर्यव ज्ञान सरल और कुटिल दोनों तरह से विचार किये गये पदार्थों को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किन्तु विपुलमति मन:पर्यवज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है, इसलिए इसे 'अप्रतिपाती' कहते हैं। दोनों प्रकार का मन: पर्यवज्ञान संयमी मुनियों को ही होता है[126]।

अवधिज्ञान और मन: पर्यवज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान के द्वारा ज्ञात किये गये पदार्थ के अनन्तवें भाग तक के सूक्ष्म और विशुद्ध स्वरुप को मन:पर्यवज्ञानी जानता है।[127]

केवलज्ञान:-

लोकालोक के त्रिकालवर्ती रुपी-अरुपी समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जाननेवाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञानी को सर्वज्ञ कहते हैं। समस्त ज्ञानावरण कर्म के समूल विनष्ट होने पर यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह पूर्णरुप से निरावरण और निर्मल ज्ञान है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही मति आदि चारों क्षायोपशमिक ज्ञान इसमें अन्तर्भावित हो जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकसितरुप है[128]। यहाँ पर केवलज्ञान की दार्शनिक सिद्धि की चर्चा की गई है तथा भवस्थ और सिद्ध की अपेक्षा से केवलज्ञान के भेद-प्रभेद की भी चर्चा की गई है।

इन पाँच ज्ञानों में मन और इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष[129] और आत्मा से उत्पन्न होने के कारण (अन्य इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होने से) अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष कहलाते हैं[130]। मति, श्रुत और अवधि - ये तीन ज्ञान मिथ्या भी होते हैं[131], शेष दो ज्ञान अर्थात् मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान सम्यग् ही होते हैं।क्योंकि ये दोनों ज्ञान मिथ्यात्व के कारणभूत मोहनीय कर्म के अभाववाली विशुद्ध आत्मा में ही संभव है[132]। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान चारों गति के सभी संसारी जीवों में पाये जाते हैं[133] और अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय - इन प्रकारों में से पहला देव और नारकों तथा चरमशरीरी एवं तीर्थंकर (जो उसी भव में तीर्थंकर बनने वाले होते) को और दूसरा भेद मनुष्य और तिर्यंचों में संभव है[134]। मन:पर्यवज्ञान सर्वविरतिधर साधु को ही होता है और केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्वी संयमी को होता है[135]। (क्वचित् कोई आत्मा अन्यलिङ्ग से केवलज्ञानी होती है तो उनका भी भावचारित्र तथा प्रकार का विशुद्ध ही होता है[136]।

सम्यग्ज्ञान का फल:-

मोक्ष के कारणभूत, आसन्नकाल में विरतिफलदायक एवं परंपरा से मोक्षफलप्रदायक[137] सम्यग्ज्ञान को मनीषियोंने बिना समुद्र (मंथन) का पीयूष, बिना औषध का रसायन एवं अन्य की अपेक्षा से रहित ऐश्वर्य (वैभव) कहा है।[138]

ज्ञान से ज्ञानावरण दूर हटता है (नष्ट होता है), अज्ञान का नाश होता है, पदार्थ के हेय-उपादेयत्त्व का ज्ञान होता है, सद्-असद् का विवेक होता है[139], व्रतों दोषों का ज्ञान होने से नीति मार्ग/न्याय मार्ग/सदाचरण/चारित्र में निरतिचार प्रवृत्ति होती है[140], विषयाभिलाषा नष्ट होती है[141], वैराग्य उत्पन्न होता है, सदनुबंध (अच्छे संस्कार) की प्राप्ति होती है[142]। ज्ञानी आत्मा विनययुक्त होती है, गुरुभक्ति करती है।[143]

ज्ञान चारित्र का हेतु है। ज्ञान से दोषों का परिहार, गुणों की सेवा एवं धर्म की साधना होती है। ज्ञानयुक्त क्रिया से पूर्वसंचित कर्मों का नाश होता है। बहुश्रुत के मुख से जिनवचन को सुनकर भव्यात्माएँ संसार-अरण्य को पार करती है। ज्ञान से जीव चारित्र की शुद्धि का ज्ञाता बनकर अतिचारों को दूर करता है।[144]

ज्ञानी आत्मा के आनंदरुप नन्दनवन में इन्द्र की तरह (निश्चिंत होकर) रमण करता है।[145]

---

124. अ.रा.पृ. 3/152, 3/157
125. अ.रा.पृ. 6/85; भगवती सूत्र 8/2
126. अ.रा.पृ. 6/85; स्थानांग-2/1; तत्त्वार्थसूत्र 1/24
127. तत्त्वार्थसूत्र 1/26
128. अ.रा.पृ. 3/642
129. तत्त्वार्थसूत्र 1/11
130. वही 1/12
131. तत्त्वार्थसूत्र 1/32; अ.रा.पृ. 4/1945, 1946
132. अ.रा.पृ. 6/56, 85; विशेषावश्यक भाष्य-812
133. अ.रा.पृ. 6/56
134. तत्त्वार्थसूत्र 1/22-23 एवं उस पर तत्त्वार्थभाष्य; अ.रा.पृ. 6/56
135. अ.रा.पृ. 6/56, 85
136. नवतत्त्वप्रकरण, पृ 232
137. अ.रा.पृ. 4/1980
138. वही, ज्ञानसार-5/8
139. अ.रा.पृ. 4/1979
140. अ.रा.पृ. 4/1980
141. अ.रा.पृ. 4/1981
142. अ.रा.पृ. 4/1979
143. अ.रा.पृ. 4/1980
144. अ.रा.पृ. 7/991
145. अ.रा.पृ. 4/1980

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्ज्ञान के एक पद के भी चिन्तक को जिनेश्वर परमात्माने आराधक कहा है क्योंकि वह आत्मा वीतरागमार्ग में संवेगदायक एक पद के भी ज्ञान को अन्तसमय तक नहीं छोडता।[146] इतना ही नहीं अपितु सिद्धान्त के महानिशीथ सूत्र में परमात्मा महावीरस्वामीने कहा है कि, हे गौतम ! सिद्धांत के एक अक्षर को भी जो जानता है वह मरणांत कष्ट आने पर भी अनाचार का सेवन नहीं करता।[147] इससे उसकी गुण समृद्धि नष्ट नहीं होती इसीलिए सुविहित आत्मा आराधनायुक्त होकर तीसरे भव में मोक्ष को प्राप्त होती है।[148]

अत: भव्य जीव को हितशिक्षा देते हुए राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि, हे जीव ! मत्सर (ईर्ष्या) का सर्वथा त्याग करके सिद्धिनगर रुप सन्मार्ग को प्रकट करने के लिये ज्ञानरुप मणि (रत्न) के उद्योत को प्राप्त करने हेतु सर्व प्रकार से प्रयत्न कर।[149]

146. अ.रा.पृ. 7/991
147. अ.रा.पृ. 7/990, महानिशीथ-अ-6
148. अ.रा.पृ. 7/991
149. अ.रा.पृ. 7/990, जीवाभिगम सूत्र-अ.-11, गा.-70

मा परिभमह

इह भोगा विसमिव मुह-महुरा परिणामदारुणविवागा ।
सिवनयरमहागोउर - निविडकवाडोवमा भोगा ।।1।।
भोगा सुतिक्खबहुदु - क्खलक्खदवहुयबहिं धण समाणा ।
धम्मद्दुमउम्मूलक्षण - समीरलहरीसमा भोगा ।।2।।
जं भुत्तमणाइभवे, जीवेणाहारभूसणाईयं ।
एगत्थ पुंजियं तं, अहरेइ धरुधरं धरणिं ।।3।।
पीयाइँ जाइँ सुमणो - रमाइँ पाणाइँ पाणिणो पुव्विं ।
विज्जंति ताइ न हु तत्ति - याइ सलिलाइ जलहीसु ।।4।।
पुप्फाणि फलाणि दला - णि जाणि भुत्ताणि पाणिणा पुव्वि ।
विज्जंति न तिहुयणतरु- गणेसु किर वट्टमाणेसु ।।5।।
भुत्तूणं सुइसुंदरे सुरबहूसंदोहदेहाइए,
भोए सायरपल्लमाणमणहे देवत्तणे जं नरो ।
रज्जंतीत्थिकलेवरेसु असुईपुन्नेसु रिट्ठोवमा
मन्ने तित्तिकरा जियाण न चिरं भुत्ता वि भोगा तओ ।।6।।
ता पडिबुज्झइ बुज्झह, मा भोगपरव्वसं मणं काउं ।
दुत्तरअणोरभवजल - निहिम्मि परिभमह दुक्खत्ता ।।7।।

– अ.रा.पृ. 5/1067

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् चारित्र

'चारित्र' शब्द 'चर् गतिभक्षणयो: धातु से इत्र प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है[150]। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने ''चारित्र'' पद को समजाते हुए कहा है[151] -

(1) जिससे (जीव) अनिन्दित आचरण करता है,
(2) चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम
(3) चरित्र
(4) अन्य जन्मों में उपार्जित आठों प्रकार के कर्मसंचय को दूर करने के लिए सर्व सावद्ययोग की निवृत्ति
(5) सर्वविरतिमय क्रिया
(6) मुमुक्षुओं के द्वारा जिसका आचरण करके निवृत्ति (मोक्ष) में पहुँचा जाय
(7) चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से प्रकट हुआ आत्मा का विरतिरुप परिणाम,
(8) जिससे मोक्ष प्राप्त किया जाय
(9) मूल उत्तर गुणों का समूह
(10) अज्ञान के द्वारा संचित कर्मों को दूर हटाना (स्वंय की आत्मा में सेकर्मों को रिक्त करना)
(11) सर्व संवर
(12) चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न आत्म (जीव) परिणाम
(13) सावद्ययोग निवृत्ति
(14) बाह्य सदनुष्ठान
(15) सत्क्रिया-सच्चेष्ठा
- को चारित्र कहते हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने एवं जैनेन्द्र सिद्धात कोश में शुल्लक वर्णीने चारित्र की परिभाषाएँ निम्नानुसार दी गई है[152]।

1. तत्त्वार्थ की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना 'चरण' कहलाता है। अर्थात् मन, वचन, काया से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना चरण है।
2. जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं, जिसके सामायिकादि भेद हैं।
3. संसार की कारणभूत बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं से निवृत्त होना चारित्र है।
4. पुण्य व पाप दोनों का त्याग करना चारित्र है।
5. योगियों के द्वारा प्रमाद से होनेवाले कर्मास्रव से रहित होना चारित्र है।
6. अपने में अर्थात् ज्ञान स्वभाव में ही निरन्तर चरना चारित्र है।
7. स्वरुप में रमण करना चारित्र है।
8. जीवस्वभाव में अवस्थित रहना ही चारित्र है, क्योंकि स्वरुप में चरण करने को चारित्र कहा है।
9. रागादि का परिहार करना 'चारित्र' है।
10. जो सदा प्रत्याख्यान करता है, प्रतिक्रमण करता है और आलोचना (प्रायश्चित का एक भेद) करता है, वह आत्मा वास्तव में चारित्र है।
11. यह करने योग्य कार्य है - एसा ज्ञान होने के अनन्तर अकर्तव्य का त्याग करना चारित्र है।
12. हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवा तथा परिग्रह - इन पाँचों पापों की प्रणालियों से विरक्त होना चारित्र है।
13. समस्त पापयुक्त मन, वचन, काया के त्याग से संपूर्ण कषायों से रहित होने से निर्मल, परपदार्थों से विरक्ततारुप चारित्र है।
14. अशुभ कार्यों से निवृत होना और शुभ कार्यों में प्रवृत होना चारित्र है। व्यवहार नय से उसको व्रत, समिति और गुप्तिरुप कहा है।
15. मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा जो पापरुप क्रियाओं का त्याग है उसको 'सम्यक् चारित्र' कहते हैं।

150. अ.रा.पृ. 3/1141
151. अ.रा.पृ. 3/1141 पर उद्धृत
152. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/282 से 284

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होना सम्यक् चारित्र है[153]। अथवा संसार के कारणभूत राग-द्वेष आदि की निवृत्ति के लिए ज्ञानवान पुरुष का शरीर और वचन की बाह्य क्रियाओं से तथा अभ्यन्तर मानसिक क्रियाओं से विरत होना सम्यक् चारित्र है[154]। यह सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होता है, किन्तु सम्यग्ज्ञान भी बिना सम्यग्दर्शन के नहीं होता। इसलिये सम्यक्त्व के बिना सम्यक् चारित्र भी संभव नहीं है। सम्यक् चारित्र में 'सम्यक्' विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए दिया है।

चारित्र के भेदः-

सामान्य से चारित्र एक प्रकार का है। चारित्र मोह के उपशम, क्षय व क्षयोपशम से होनेवाली आत्मविशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है। बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा से चारित्र दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है। तथा चातुर्याम की अपेक्षा से अथवा छद्मस्थों के सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह वह चार प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात के भेद से वह पाँच प्रकार का है[155]।

इसी तरह विविध निवृत्तिरुप परिणामों की दृष्टि से यह चारित्र संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्परुप है।

सामायिक चारित्रः-

समय आत्मा को कहते हैं। 'समय' शब्द से जात अर्थ में तद्धित 'इक' प्रत्यय लगाने से 'सामायिक' शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् जो आत्मा के आश्रय से उत्पन्न दशा उसे सामायिक कहते हैं। अतः आत्मा का आश्रय ग्रहण करने की क्रिया सामायिक है। 'सामायिकक्रिया' चारित्र का भेद है। श्रावक और मुनि दोनों के आचरण में सामायिक को समान रुप से सम्मिलित किया गया है। सामायिक व्रत गृहस्थ का प्रथम शिक्षाव्रत है। **सामायिक अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का परस्पर सम्यक् समायोजन**[156]।

सामायिक का व्युत्पतिलभ्य अर्थः-

जैन वाङ्मय में 'सामायिक' और 'सामयिक' - ये दो शब्द इस चारित्रभेद के नाम के लिए प्रयुक्त हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में इस अर्थ में केवल 'सामायिक' शब्द का संकलन किया गया है; 'सामयिक' शब्द का अर्थ सिद्धान्त अर्थ में प्रयुक्त 'समय' शब्द को आधार मानकर बताया गया है-

"सामायिक (सामइय-पुं.) समयः सिद्धान्तस्तदाश्रितः सामायिकः।[157]"

'सामायिक' शब्द की व्युत्पत्ति-निरुक्ति के विषय में विचार करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अनेक आगम ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार 'सामायिक' शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार से है-

रागद्वेषविरहितः समः, तस्य प्रतिक्षणं अपूर्वापूर्व-कर्मनिर्जराहेतुभूताया विशुद्धेरायो लाभः समायः, स एव सामायिक।

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'सामायिक' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए उसका समाधान भी किया है-

समानां ज्ञानदर्शनचारित्राणां आयः समायः। समाय एव सामायिकं, विनयादिपाठात् स्वार्थे ठक्। आह-समयशब्दस्तत्र पठ्यते तत्कथं समाये प्रत्ययः? उच्यते - 'एकदेशविकृतमनन्यवद् भवती'ति न्यायात्, तच्च सावद्ययोगविरतिरूपं, ततश्च सर्वमप्येतच्चारित्रं अविशेषतः सामायिकम्।[158]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए, और इसलिए, 'संजम' शब्द के अन्तर्गत पुनः अन्यान्य आगम ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ 'सामायिक' शब्द की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की -

तत्र समो रागादिरहितः, तस्य आयो गमनं प्रवृत्तिरित्यर्थः समायः। समाये एव, समाये भवं, समायेन निर्वृत्तं समायस्य विकारोऽशो वा, समायो वा प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। उक्तं च-

रागद्दोसविरहिओ, समो त्ति अयणं अउ त्ति गमणं ति।
समगमणं ति समाओ स एव समाइयं नाम॥

अहवा भवं समाए, निव्वत्तं तेण तम्मयं वा वि।
जं तप्पओयणं वा, तेण सामाइयं नेयं॥

अहवा समाइ सम्मत्तनाणचरणाइ तेसु तेहिं वा।
अयणं अओ समाओ, स एव समाइयं नाम॥

अहवा समस्स आओ, गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो।
अहवा समाणमाओ (समानामायो) णेओ समाइयं नाम॥

अथवा साम्नि मैत्र्या वा अयस्तस्य वा आयः समायः, स एव समायिकं-

अहवा सामं मेत्ती, तत्थ अओ तेण व त्ति सामाओ।
अहवा सामस्साओ, लाभो सामाइयं नाम।[159]

अनेकार्थसंग्रह में 'समय' शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, यथा-

समयः शपथे भाषासम्यदोः कालसंविदोः।
सिद्धान्ताचारसंकेतनियमासरेषु च।
क्रियाकारे च निर्देशे.....[160]

(संविद् = ज्ञान, क्रियाकार = व्यवस्थापन।)

अभिधानचिन्तामणिनाममाला में भी 'समय' का अर्थ 'सिद्धान्त' किया गया है -

"राद्धसिद्धकृतेभ्योऽन्त आगोक्तिः समयागमौ॥"[161]

किन्तु, रत्नकरण्डकश्रावकाचार में 'सामायिक' शब्द का प्रयोग सामायिक नामक चारित्र के अर्थ में किया गया है-

देशावकाशिकं वा समायिकं प्रोषधोपवासो वा।

---

153. असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं। - द्रव्य संग्रह-45
154. संसारकारणविनिवृत्ति प्रत्यागुणस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्। सर्वार्थसिद्धि, 131
155. अ.रा.पृ. 1/861 862; 3/1143; तत्त्वार्थसूत्र 9/18 पर तत्त्वार्थभाष्य;
156. विशेषावश्यक भाष्य-3483, अ.रा.पृ.-7/710
157. अ.रा.पृ. 7/637
158. अ.रा.पृ. 7/701
159. अ.रा.पृ. 7/88
160. अनेकार्थ संग्रह 2/502-503
161. अभिधानचिन्तामणिनाममाला 2/156

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ।।[162]

आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाधानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामायिका: सामायिकं नाम शंसन्ति ।।[163]

मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि ।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञा ।।[164]

एकान्ते सामायिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु ।
चैत्यालयेषु वापि, परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ।।[165]

तत्त्वार्थवार्तिक 7/21/7 में 'सामायिक' शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार से दी गयी है-

एकत्वेन गमनं समय: । समय: प्रयोजनमस्येति वा, समय एव सामायिकं ।

किन्तु यहाँ पर यह नहीं बताया गया है कि 'समय' शब्द से 'ठक्' प्रत्यय का विधान किये जाने पर आदिस्वरवृद्धि के साथ साथ द्वितीय स्वर में किस सिद्धान्त से वृद्धि होती है।

यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि ऊपर वर्णित 'सामायिक' शब्द जिसका अर्थ 'सिद्धान्त' है, पुल्लिङ्ग है, जबकि तप के अर्थ में प्रयुक्त 'सामायिक' शब्द का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में व्याख्यात 'सामायिक' शब्द भी नपुंसक लिङ्ग है।

व्याकरण की दृष्टि से 'समाय' शब्द से ठक् प्रत्यय का विधान किये जाने पर 'सामायिक' शब्द की, इसी प्रकार 'समय' शब्द से सामायिक की सिद्धि सुकर है।

सामायिक का स्वरुप:-

यह गृहस्थ का प्रथम शिक्षाव्रत है। 'सामायिक' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने सामायिक के निम्नांकित सोलह अर्थ बताये है[166]-

1. रागद्वेष से रहित समभावी आत्मा का प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व कर्मनिर्जरा का हेतुभूत विशुद्धिरुप लाभ
2. समभावी आत्मा को (सम्यग्) ज्ञान-दर्शन-चारित्र का लाभ
3. सावद्ययोग की विरति (त्याग)
4. रागद्वेष के त्यागपूर्वक का कथन
5. सम्यग्वाद
6. संक्षेप में मोक्षगमन में आत्मा के कर्म या जीव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रुप त्रिपदी के ज्ञान की वृत्ति और विस्तार से द्वादशाङ्गी का सामूहिक अर्थ
7. पाप रहितता
8. सम्यग्ज्ञानपूर्वक पाप का त्याग
9. त्याज्य प्रत्येक वस्तु का नियम (प्रत्याख्यान) पूर्वक त्याग
10. संसार के लाभ (भ्रमण) की निवृत्ति
11. समता / समभाव का लाभ
12. गुणों (ज्ञानादि) का लाभ
13. (सर्व जीवों के प्रति) मैत्री का लाभ
14. कषायरहितता
15. सावद्ययोग (पाप व्यापार) का त्याग और निरवद्य योग (स्वरुप) का सेवन
16. आर्त-रौद्र ध्यान के त्यागपूर्वक धर्म ध्यान के द्वारा शत्रु-मित्र, मिट्टी-स्वर्ण में समभाव।

सामायिक के पर्यायवाची[167] नाम:-

(1) सामायिक - समभाव
(2) सामयिक - समस्त जीवों के प्रति दयापूर्वक वर्तन
(3) सम्यग्वाद - राग-द्वेष रहित सत्य कथन
(4) समास - अल्प अक्षरों में कर्मविनाशक तत्त्वबोध
(5) संक्षेप - अल्प अक्षरों में गंभीर द्वादशांगी
(6) अनवद्य - पापरहित आचरण
(7) परिज्ञा - पाप-परिहार से वस्तु-बोध
(8) प्रत्याख्यान - त्याज्य वस्तुओं का त्याग।

मन-वचन-काया से सर्वसावद्य प्रवृत्ति न करना, न कराना और न अनुमोदन करना-इस प्रकार त्रिविध-त्रिविध (तिविहं-तिविहेणं) सर्वथा सर्वप्रकार की सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सर्वविरतिधर साधु-साध्वी का सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्रधारी साधु अतीत में हुई सावद्य प्रवृत्ति की निंदा करता है, वर्तमान का संकोच करता है और भविष्य के हिंसा त्याग का प्रत्याख्यान करता है।[168]

चिन्तामणि और कल्पवृक्ष की उपमा से भी अधिक निरुपम सुख के हेतुभूत संसार भ्रमण रुप क्लेशनाशक प्रतिक्षण अपूर्व ज्ञान दर्शन चारित्र पर्यायों से समागम करवाने रुप प्रयोजन के लाभ रुप क्रिया अनुष्ठान को 'सामायिक' कहते हैं।[169]

अथवा

सावद्ययोग से मुक्त, आर्त-रौद्र ध्यान से रहित गृहस्थ साधक का मन-वचन-काया की चेष्टा के त्यागपूर्वक समभाव में दो घडी (एक मुहूर्त या 48 मिनिट) तक रहना - सामायिक व्रत है।[170]

अथवा

ज्ञानादि से युक्त सर्वविरतिधर मुनि का स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से रहित निरवद्य स्थान (वसति) में परिषह या उपसर्ग में समभावपूर्वक भय रहित होकर रहना-जिनेश्वर परमात्माने मुनि का सामायिक चारित्र कहा है।[171]

अथवा

गृहस्थ जीवन में ऋद्धिमान् या अऋद्धिवान् श्रावक का जिन मंदिर / पौषधशाला / उपाश्रय /मुनियों के पास / अपने घर पर /निरवद्य, एकान्त और पवित्र स्थान पर 48 मिनिट तक सामायिक पाठ के उच्चारण पूर्वक विधि सहित सामायिक ग्रहण कर धर्मध्यानादि करना 'सामायिक व्रत' है।[172]

रत्नकरंडक श्रावकाचार के अनुसार "आत्मा के गुणों का चिन्तन कर समता का अभ्यास करना 'सामायिक' है।

समय आत्मा को कहते हैं[173]। सामायिक में गृहस्थ प्रतिदिन

162. रत्नकरण्डक श्रावकाचार 5/91
163. रत्नकरण्डक श्रावकाचार 5/97
164. रत्नकरण्डक श्रावकाचार 5/98
165. रत्नकरण्डक श्रावकाचार 5/99
166. अ.रा. 7/710
167. अ.रा. 7/517, 709, 710; विशेषावश्यक भाष्य-2787, 2792 से 2798, 3377, 3478, 3479,
168. अ.रा. 7/88, 517, 703, 710
169. अ.रा. 7/757; आवश्यक निर्युक्ति-1046; विशेषावश्यक भाष्य-3539
170. अ.रा. 7/702, 703
171. अ.रा. 7/703, धर्मसंग्रह-2/37, योगशास्त्र-3/82
172. अ.रा. 7/703, 704; आवश्यक बृहद्वृत्ति, छठा अध्ययन
173. अ.रा. 7/710; विशेषावश्यक भाष्य-3483

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों संध्याओं में एक स्थान पर बैठकर समस्त पापों से विरत हो आत्म-ध्यान का अभ्यास करता है[174]। 'सामायिक' ध्यान का सर्वश्रेष्ठ साधन है। मन की शुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। पाँचों व्रतों की पूर्णता सामायिक में हो जाती है[175]। सामायिक में व्रती गृहस्थ "संसार अशरण, अशुभ, नाशवान् और दुःखमय है परन्तु इसके विपरीत मोक्ष सुख-शांति का आगार और चिरन्तन (शाश्वत) है[176]। इस प्रकार की भावनाओं के द्वारा अपने वैराग्य को दृढ कर के समता में स्थिर होता है। इस अभ्यास में णमोकार मंत्र का जाप सहायक होने से वह भी सामायिक है परन्तु सामायिक में शब्दोच्चारण की अपेक्षा चिन्तन की ही मुख्यता है।

वस्तुतः समभाव ही सामायिक है। निन्दा और प्रशंसा, मान और अपमान, स्वजन और परजन सभी में जिसका मन समान है, उसी जीव को सामायिक होती है, समभाव की साधना होती है[177]।

जो त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समत्वयुक्त है, उसी की सच्ची सामायिक होती है - एसा परमज्ञानी केवली भगवान ने कहा है[178]।

जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में तल्लीन है, उसी की सच्ची सामायिक है, एसा केवली भगवान ने कहा है[179]।

तृण और काञ्चन में, शत्रु और मित्र में, प्रीति और अप्रीति के, विषय के समभाव और निरभिषङ्ग अर्थात् अनुचित प्रवृत्ति से रहित उचितप्रवृत्तिप्रधान चेष्टायुक्त चित्त को 'सामायिक' कहते हैं[180]।

जैसे आकाश सर्वभावों (पदार्थों) का आधार है वैसे सामायिक गुणों का आधार है, सामायिक से रहित आत्मा चारित्रादि गुण से युक्त नहीं होता, इसलिए "सामायिक शारीरिक और मानसिक दुःखों को नाश करने का और मोक्ष का निरुपम उपाय है"- एसा जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है[181]।

'सामायिक' श्रमण जीवन का प्राथमिक रुप है और गृहस्थ जीवन का अनिवार्य श्रेष्ठ कर्तव्य है[182]। सामायिक करने से सामायिक काल में गृहस्थ साधु जैसा होता है अतः श्रावक को बार-बार सामायिक करनी चाहिए[183]।

हिंसारम्भ से बचने के लिए केवल सामायिक ही प्रशस्त है। उसे श्रेष्ठ गृहस्थधर्म जानकर बुद्धिमान लोगों को आत्महित तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए सामायिक करनी चाहिए[184]।

सामायिक का फल/लाभ[185]:-

सामायिक से ऊर्ध्वलोक (देव भव), अधोलोक (पूर्व निकाचित कर्म बंध के उदय से नरक गति) और तिर्यग्लोक में सम्यक्त्व एवं श्रुत का लाभ होता है। ढाई द्वीप (मनुष्य क्षेत्र) में उत्पन्न हुए तिर्यंच को देशविरति और मनुष्य भव में देशविरति तथा सर्वविरति की भी प्राप्ति होती है।

सामायिक सूत्र में भी आवश्यकों की साधना[186]:-

(1) 'सामाइयं' पद से सामायिक आवश्यक की साधना
(2) प्रथत 'भंते' पद से चतुर्विंशति (जिन वंदन) आवश्यक की साधना
(3) द्वितीय 'भंते' पद से गुरुवंदन आवश्यक की साधना
(4) 'पडिक्कमामि' पद से प्रतिक्रमण आवश्यक की साधना
(5) 'अप्पाणं वोसिरामि' पद से कायोत्सर्ग आवश्यक की साधना
(6) 'पच्चक्खामि' पद से प्रत्याख्यान आवश्यक की साधना

सामायिक द्वारा चार भावनाओं की पुष्टि[187]:-

सामायिक की साधना द्वारा मुमुक्षु साधक अपने जीवन में मैत्री आदि चार भावनाओं को पुष्ट करता है। सामायिक में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की साधना गर्भित है। सर्व जीवों के प्रति स्व-तुल्य की भावना से मैत्री-भाव की पुष्टि होती है। सामायिक ग्रहण करते समय "प्रणिपात सूत्र" और "चउविसत्थो सूत्र" का उपयोग किया जाता है। चौबीस तीर्थंकरो को नमस्कार प्रमोद-भावना का प्रतीक है। सामायिक में 'करेमि भंते" सूत्र ग्रहण करने के बाद 'इरियावहियं सूत्र' का पाठ किया जाता है, किसी भी आत्मा को जानते हुए, न जानते हुए कुछ भी दुःख दिया हो तो उसके लिए क्षमायाचना की जाती है। दूसरे को दुःख देने की वृत्ति / प्रवृत्ति की निन्दा करने से कारुण्य-भावना की पुष्टि होती है। सामायिक करते समय समभाव/मध्यस्थ भाव में रहना होता है। राग, द्वेष, शत्रु-मित्र के प्रति तटस्थ भाव धारण किया जाता है, यहां तक कि पापी आत्माओं के प्रति भी मध्यस्थ-भाव ही धारण किया जाता है, इससे माध्यस्थभावना की पुष्टि होती है।

सामायिक द्वारा तपाराधना:-

सामायिक में बाह्य और अभ्यन्तर तप-धर्म की आराधना समाविष्ट है। सामायिक करते समय साधक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है अतः अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप और रसत्याग की आराधना हो जाती है। दूसरी ओर स्थिर-आसन होने से 'कायक्लेश' और संलीनता तप भी आ जाते हैं।

इरियावहीयं सूत्र के द्वारा सामायिक में 'प्रायश्चित्त तप' की आराधना गर्भित है, नमस्कार मन्त्र के स्मरण आदि के द्वारा 'विनय तप' की आराधना गर्भित है, जिज्ञासा व गुर्वाज्ञा का पालन होने से देव-गुरु की वैयावृत्त्य तप की आराधना गर्भित है और सतत जाप, ज्ञानाराधना, धर्मचर्चा आदि शुभप्रवृत्ति होने से स्वाध्याय और ध्यान तप की आराधना गर्भित है।

सामायिक में काया की ममता के त्याग रुप कायोत्सर्ग होने से 'कायोत्सर्ग तप' की आराधना भी रही हुई है। इसी तरह सतत शुभवृत्ति और शुभप्रवृत्ति (जाप, ध्यान, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय) होने से भाव-धर्म को भी आराधना हो जाती है[188]।

सामायिक के पाँच अतिचार[189] :-

(1) मनोदुष्प्रणिधान(2) वाचोदुष्प्रणिधान (3) कायदुष्प्रणिधान

174. रत्नकरंडक श्रावकाचार-97
175. वही-101
176. वही-104
177. संबोधसत्तरी-25
178. अ.रा. 7/715; विशेषावश्यक भाष्य-2680
179. अ.रा. 7/715; नियमसार-126; विशेषावश्यक भाष्य-2679
180. अ.रा. 7/711; पञ्चाशक-11/5
181. अ.रा. 7/702
182. अ.रा. 7/715; विशेषावश्यक भाष्य-2681, 2682
183. अ.रा. 7/716; वि.आ.भा.2690
184. अ.रा. 7/715; विशेषावश्यक भाष्य-2681, 2685
185. अ.रा. 7/718; वि.आ.भा.-2695
186. श्रावककर्तव्य, भाग 1, "सामायिक आवश्यक"
187. श्रावककर्तव्य, भाग 1, "सामायिक आवश्यक"
188. श्रावककर्तव्य, भाग 1, "सामायिक आवश्यक"
189. अ.रा. 7/703

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(4) सामायिक की समयावधि का ध्यान नहीं रखना (5) अव्यवस्थित (उपयोग रहित होकर) सामायिक करना।

सामायिक के बत्तीस दोष[190]:-

सामायिक व्रत का सम्यग्रुप से परिपालन करने के लिए मन, वचन और शरीर के 32 दोषों से बचना भी आवश्यक है। 32 दोषों में दस दोष मन से, दस दोष वचन से और बारह दोष शरीर से संबंधित है।

1. मन के दस दोष:-

1. अविवेक 2. किर्ती की लालसा, 3. लाभ की इच्छा 4. अहंकार 5. भय के वश या भय से बचने के लिए साधना करना 6. निदान (फलाकांक्षा) 7. फल के प्रति संदिग्धता 8. रोष अर्थात् क्रोधादिभावों से युक्त होना 9. अविनय और 10. मनोयोग पूर्वक साधना नहीं करना या बहुमान भाव से रहित होकर सामायिक करना।

2. वचन के दस दोष:-

1. असभ्य वचन बोलना 2. बिना विचारे बोलना 3. अधिक वाचाल होना 4. संक्षेप में बोलना अथवा अयथार्थ रुप में बोलना 5. जिन वचनों से संघर्ष उत्पन्न हो एसे वचन बोलना 6. विकथा (स्त्री, राज्य भोजन एवं देश/लोक के संबंध में चर्चा करना) 7. हास्य (हँसी-मजाक) करना 8. अशुद्ध उच्चारण करना 9. असावधानीपूर्वक बोलना 10. अस्पष्ट उच्चारण करना या गुनगुनाना या सूत्र पाठ बोलने में गडबड करना।

3. शरीर के बारह दोष:-

1. अयोग्य आसन से बैठना 2. बार-बार स्थान बदलना 3. दृष्टि की चंचलता 4. हिंसक क्रिया करना अथवा उसको करने का संकेत करना 5. सहारा लेकर बैठना 6. अंगों का बिना किसी प्रयोजन के आंकुचन और प्रसारण करना 7. आलस्य 8. शरीर के अंगों को मोडना 9. शरीर के मलों का विसर्जन करना 10. शोकग्रस्त मुद्रा में बैठना, बिना प्रमार्जन के अंगों को खुजलाना 11. निद्रा और 12. शीत के कारण वस्त्र पहनना या गर्मी के कारण वस्त्र का संकुचन करना आदि।

छेदोपस्थापनीय चारित्र

जिसमें दीक्षा/संयम जीवन के पूर्व पर्याय (दीक्षा अवधि) का छेद करके नये पर्याय उपस्थापन करने में आता हो, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। वह दो प्रकार का है[191]।

1. **अनतिचार** - भरत और एरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन काल में साधु-साध्वी को दीक्षा के समय सामायिक चारित्र आरोपण कराने के कुछ समय बाद महाव्रतों का आरोपण कराया जाता है; (वर्तमान में जिसे बृहद् (बडी) दीक्षा या पक्की दीक्षा करते हैं); अथवा एक तीर्थंकर के शासन का साधु दूसरे तीर्थंकर के संघ में (अर्थात् जैसे श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर के शासन के चातुर्याम महाव्रतधारी साधु श्री महावीर शासन में) पुनः दीक्षित होने पर उन्हें चार के बजाय पाँच महाव्रतों का आरोपण कराया जाय, वह अनतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

2. **सातिचार** - मूलगुण अर्थात् महाव्रतों का भङ्ग होने पर पूर्व दीक्षापर्याय का छेद करके पुनः महाव्रतों का उच्चारण/आरोपण कराना 'सातिचार छेदोपस्थापनीय' चारित्र है।

परिहारविशुद्धि चारित्र :-

जिस चारित्र में 'परिहार' नामक विशिष्ट तप के द्वारा कर्म निर्जरा रुप विशुद्धि होती है उसे 'परिहार विशुद्धि चारित्र' कहते हैं।[192]

इस चारित्र के पालन में 9 साधुओं का ही समुदाय होता है। इनमें से 4 साधु परिहार तप की विधि के अनुसार परिहार तप करते हैं, चार साधु उनकी वैयावृत्त्य करते हैं और एक साधु वाचनाचार्य के रुप में रहते हैं, उन्हें 'चारित्राचार्य' भी कहते हैं। वाचनाचार्य इन आठों साधुओं को वाचना (सूत्रादि के पाठ) देते हैं। यद्यपि ये सभी साधु श्रुतातिशय संपन्न होते हैं तथापि आचार पालन हेतु एक को वाचनाचार्य के रुप में स्थापित करते है।

विधि :- ग्रीष्म ऋतु में जघन्य से उपवास, मध्यम छठ्ठ, उत्कृष्ट अट्ठम; शीतकाल में जघन्य छट्ठ, मध्यम अट्ठम, उत्कृष्ट चार उपवास; चातुर्मास (वर्षाऋतु) में जघन्य अट्ठम, मध्यम चार उपवास, उत्कृष्ट पाँच उपवास के तप का विधान है। वे इसमें से ऋतु के अनुसार तप करते हैं और पारणे में आचाम्बिल (आयंबिल) तप करते हैं। उनमें से 4 साधु छः माह तक यह तप करने के बाद सेवा करनेवाले 4 साधु यह तप करते हैं और तपस्वी साधु उनकी वैयावृत्त्य करते हैं, तत्पश्चात् वाचनाचार्य यह तप करते है तब एक साधु वाचनाचार्य बनता है और एक साधु उनकी वैयावृत्त्य करता है। तपस्वी के अतिरिक्त शेष सभी साधु आयंबिल तप करते हैं। इस प्रकार यह तप 18 महीने में पूर्ण होता है[193]।

परिहार तप पूर्ण होने के बाद ये साधु पुनः इसी तप का सेवन करते हैं अथवा जिनकल्प या स्थविरकल्प भी स्वीकार करते है[194]।

नियम :-

परिहार कल्प के तपस्वी साधु अनेकविध अभिग्रह धारण करते हैं। वे आँख में गिरा हुआ तिनका भी स्वयं अपने हाथ से बाहर नहीं निकालते, किसी भी प्रकार के अपवाद का सेवन नहीं करते[195], तृतीय पहर में ही आहारचर्या एवं विहार करते हैं एवं शेष काल में कायोत्सर्ग करते हैं। तृतीय प्रहर पूर्ण होने पर वे एक कदम भी नहीं चलते।[196] गोचरी के समय भी सात पिण्डेषणा में से पहली और दूसरी पिण्डेषणा का त्याग करके शेष पाँच में से कोई भी एक पिण्डेषणानुसार भोजन और अन्य एक पिण्डेषणा द्वारा अचित्त जल ग्रहण करते है[197]। इनको निद्रा भी प्रायः अल्प ही होती है[198]। ये तपाराधन के समय में नया अध्ययन नहीं करते परंतु पूर्व में अधीत ज्ञान का पुनरावर्तन (स्वाध्याय) अवश्य करते हैं। किसी को दीक्षा नहीं देते (उपदेश दे सकते है)[199]। तपकाल में इन्हें रोगादि वेदना भी नहीं होती।

190. दो प्रतिक्रमण सूत्र-सार्थ (सामायिक पारने का सूत्र-विवेचन)
191. अ.रा. 3/1142; 3/1359; विशेष आवश्यक भाष्य 1267-68-69; स्थानांग 5/2; तत्त्वार्थसूत्र 9/18 पर भाष्य
192. अ.रा. 5/691; तत्त्वार्थसूत्र 9/18 पर तत्त्वार्थभाष्य एवं सर्वार्थसिद्धि
193. अ.रा. 5/693,694
194. अ.रा. 5/694,696
195. अ.रा. 5/696
196. अ.रा. 5/691
197. अ.रा.पृ. 5/696
198. अ.रा.पृ. 5/696
199. अ.रा.पृ. 5/695

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वज्रऋषभनाराच नामक प्रथम संहननवाले जघन्य से नवपूर्व उत्कृष्ट से किञ्चिद् न्यून दशपूर्व के ज्ञाता मुनि ही इस चारित्र को तीर्थंकर के पास या जिन्होंने तीर्थंकर के पास यह चारित्र ग्रहण किया हुआ हो, ऐसे साधु के पास ही इस चारित्र को ग्रहण कर सकते हैं[200]। यह चारित्र भरत और एरावत क्षेत्र में ही दो पुरुष युग-(पाट परम्परा) तक ही होता है, महाविदेह क्षेत्र में नहीं होता[201]। इस चारित्र के दो प्रकार से दो-दो भेद हैं -

1. क. निर्विशमानक:-

इस चारित्र को आराधन करते समय आराधक साधु 'निर्विशमानक' कहलाते हैं अत: इस चारित्र को भी 'निर्विशमानक' कहते हैं।

ख. निर्विष्टकाय/निर्विष्टकायिक:-

परिहार तप पूर्ण करने के बाद वे साधु निर्विष्टकाय अथवा निर्विष्टकायिक कहलाते हैं[202]।

2. अ. इत्वरकथिक:-

एक बार परिहार तप पूर्ण करने के बाद पुन: उसी तप का सेवन करने वाले मुनि इत्वरकथिक कहलाते हैं। इसके प्रभाव से इन्हें रोगादि तथा देव, मनुष्य, तिर्यंचकृत उपसर्ग नहीं होते।

आ. यावत्कथिक:-

परिहार तप पूर्ण करने के बाद जिनकल्प स्वीकार करनेवाले मुनि 'यावत्कथिक' कहलाते हैं। जिनकल्प की स्वीकृति के पश्चात् पूर्वकृत कर्मोदय से इन्हें उपसर्गादि की संभावना रहती है[203]।

सूक्ष्म संपराय चारित्र:-

'संपराय' अर्थात् कषाय; जिसके कारण जीव संसार में भ्रमण करता है; कषाय को संपराय कहते हैं। जिस चारित्र में सूक्ष्म लोभ कषाय के अंश अवशेष रुप होते हैं उसे अथवा सूक्ष्मसंपराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती संयतात्मा के चारित्र को 'सूक्ष्म संपराय चारित्र' कहते हैं। यह क्षपक उपशमक दोनों को होता है[204]।

यथाख्यात चारित्र:-

'यथाख्यात / अथाख्यात' अर्थात् जैसा जिनेश्वर परमात्मा ने कहा है वैसा श्रेष्ठ चारित्र अर्थात् सर्वथा कषाय रहित (अकषाय) चारित्र को 'यथाख्यात चारित्र' कहते हैं[205]।

सर्वार्थसिद्धि में "समस्त मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से, जैसा आत्मा का स्वभाव है उसी के अनुभवरुप चारित्र को 'यथाख्यात चारित्र' कहा है[206]। अशुभ रुप मोहनीय कर्म के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जो वीतराग संयम होता है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं[207]। कषायों के सर्वथा अभाव से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धि विशेष को 'यथाख्यात चारित्र' कहते हैं[208]।

भेद-प्रभेद:-

छद्मस्थ और केवली की अपेक्षा से यथाख्यात चारित्र दो प्रकार का है तथा उनके भी गुणस्थान की अपेक्षा से दो-दो भेद हैं-

1. **उपशांत मोह (कषाय) वीतराग छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र**
2. **क्षीणमोह वीतराग छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र**
3. **सयोगीकेवली यथाख्यातचारित्र**
4. **अयोगीकेवली यथाख्यातचारित्र**

यथाख्यात चारित्र के ये चारों भेद क्रमश: 11वें, 12वें, 13वें और 14 वें गुणस्थान में होते हैं (गुणस्थानों का परिचय अगले शीर्षक में दिया जा रहा है)। इसमें 11 वें में मोहनीय का सर्वथा उपशम होता है और शेष तीनों में क्षय होता है। यद्यपि 14 वें गुणस्थान का काल पाँच ह्रस्वाक्षर मात्र ही है तथापि स्वरुपरमण की अपेक्षा से उन्हें भी यथाख्यात चारित्र है अन्यथा आत्मा के 'चारित्र' नामक गुण का वहाँ अभाव मानना पडेगा[209]। (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग - यह आत्मा का लक्षण होने से (देखें नवतत्वप्रकरण, गाथा 6)।

सम्यक् चारित्र का फल:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने सम्यक् चारित्र के फल का वर्णन करते हुए कहा है कि, "चारित्रधारी को नियमा समकित होता है। ज्ञान-दर्शन सम्पूर्ण फल नहीं देते जबकि चारित्र संपूर्ण फल देता है। श्रमण जीवन में सभी सद्गुण प्रकट होते है। श्रमण से ही तीर्थ/शासन होने से चारित्रधारी श्रमण के ज्ञान-दर्शन से तीर्थ और उससे प्रवचन (शासन/चतुर्विध सङ्घ) व्यवस्थित रहता है अत: श्रमण का नरक में जन्म नहीं होता। इतना ही नहीं अल्पज्ञानी (विशिष्ट आगमधर, श्रुतधर की अपेक्षा से) किन्तु सम्यक् चारित्रधारी अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। आगे चारित्र की महिमा बताते हुए कहा है कि, **सम्यकत्व का भी सार चारित्र है; ज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) का (भी) सार चारित्र है और चारित्र का सार निर्वाण है अत: दीक्षा सार्थक होती है।**[210]

चारित्र से नये कर्मों का बंध नहीं होता और पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा होती है। ज्ञान प्रकाशक होने से जीव को मार्ग दिखाता है जबकि चारित्र कर्ममल को दूर कर जीव शुद्ध होता है। गुप्तिविशुद्धिरुप चारित्र का फल मोक्ष है। और **चारित्र निर्वाण का मुख्य कारण है**। क्योंकि जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर भी तत्क्षण मुक्ति नहीं होती अपितु शैलेशी अवस्था में मोक्ष होता है। अत: संयम-तपरुप चारित्र का फल निर्वाण/मोक्ष है।[211] चारित्र की महत्ता को दृष्टांत से दर्शाते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है- "कोई व्यक्ति स्वर्णजडित भूमितलवाले स्वर्ण के जिनमंदिरों से सारी पृथ्वी सुशोभित करें तो भी तप-संयमयुक्त चारित्र की तुलना (बराबरी) नहीं कर सकता।[212]

200. अ.रा.पृ. 5/692, 693
201. अ.रा.पृ. 5/694
202. अ.रा.पृ. 5/691
203. अ.रा.पृ. 5/696
204. अ.रा. 5/1025; भगवतीसूत्र 8/2
205. अ.रा.पृ. 1/861
206. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ.3/370; सर्वार्थसिद्ध 9/18/436/9; द्रव्यसंग्रह टीका 35/148/7
207. पंचसंग्रह, प्राकृताधिकार 1/133, 243; गोम्मटसार, जीवकाण्ड 475/883
208. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/370
209. अ.रा.पृ. 1/861, 862, 3/143; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ.3/370; तत्त्वार्थसूत्र 9/18 पर भाष्य
210. अ.रा.पृ. 3/1126-27;44-45
211. अ.रा.पृ. 3/1126-27
212. अ.रा.पृ. 3/1445

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने उत्तराध्ययन सूत्र को उद्धृत करते हुए भव्यात्मा की सम्यक्त्व से मोक्ष प्राप्ति तक के क्रमिक आचरण का वर्णन निम्नानुसार किया है[213]-

(1) **सम्यक्त्व से संवेग** - मोक्षभिलाषा
(2) **निर्वेद** - संसार से विरक्ति (वैराग्य)
(3) **धर्मश्रद्धा** - धर्म में श्रद्धा एवं रुचि
(4) **गुरुसाधर्मीशुश्रुषा** - तत्त्वोपदेष्टागुरु एवं साधार्मिक की सेवा
(5) **आलोचना**-गुरु के पास पापों का प्रकटीकरण
(6) **निन्दा** - आत्मा साक्षी से स्वयं के द्वारा किये गये पापों की निन्दा
(7) **गर्हणा** - दूसरें लोगों के सामने स्वयं के दोषों का प्रकाशन
(8) **सामायिक** - शत्रु-मित्र के प्रति समभाव
(9) **चतुर्विंशतिस्तव** - 24 जिनों का नाम पठन लोगस्सादि सूत्रों का पाठ करना
(10) **वन्दन** - द्वादशावर्त वंदनपूर्वक गुरुवन्दना
(11) **प्रतिक्रमण** - पाप से निवृत्ति
(12) **कायोत्सर्ग** - अतिचार की शुद्धि हेतु काय ममत्व का त्याग, कायोत्सर्ग (काउसग्ग)
(13) **प्रत्याख्यान** - पच्चक्खाण / मूल-उत्तर गुण को धारण करना
(14) **स्तवस्तुतिमङ्गल** - नमुत्थुणं, आदि स्तव या स्तुति कहना अथवा जिन भक्ति हेतु स्तवन या एकादि से 108 तक स्तुति कहना
(15) **काल प्रतिलेखना** - अस्वाध्याय के चार काल (व्याघात काल) का प्रतिलेखन करना अर्थात् शास्त्र-निषिद्ध काल में सूत्रादि अध्ययन का त्याग करना।
(16) **प्रायश्चित्तकरण** - लगे हुए पापों की निवृत्ति हेतु तप करना।
(17) **क्षमापना** - कृत अपराध की क्षमापना करना
(18) **स्वाध्याय** - वाचनादि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना
(19) **वाचना** - गुरु के समीप सूत्राक्षरों का ग्रहण
(20) **प्रतिपृच्छना** - गुरु के आगे संदेह पूछना
(21) **परिवर्तना** - सूत्र पाठ को बार-बार पढना
(22) **अनुप्रेक्षा** - सूत्र (के अर्थ, रहस्य) का चिन्तन करना
(23) **धर्म कथा** - धर्म संबंधी वार्ता कहना
(24) **श्रुताराधना** - सिद्धान्त की आराधना करना
(25) **एकाग्रमनः सन्निवेसना** - चित्त को ध्येय में स्थिर करना
(26) **संयम** - आस्रवों का त्याग करना
(27) **तप** - 12 प्रकार का तप करना
(28) **व्यवदान** - कर्म निर्जरा करना
(29) **सुखशातन** - विषय सुख की स्पृहा का निवारण करना
(30) **अप्रतिबद्धता** - नीरागी बनना
(31) **विविक्तशयनासनसेवना** - स्त्री-पशु-नपुंसकादि से रहित शयन, आसनादि वापरना
(32) **विनिवर्तना** - पांचों इन्द्रियों के विषयों से विशेष निवर्तन (दूर रहना)
(33) **संभोग प्रत्याख्यान** - एक मण्डली में भोजन का प्रत्याख्यान, गीतार्थ अवस्था में जिनकल्प ग्रहण करने पर एक मण्डली में भोजन त्याग
(34) **उपधि प्रत्याख्यान** - जिनकल्पी अवस्था में रजोहरण और मुखवस्त्रिका (मुहपत्ति) के अतिरिक्त शेष उपधि का त्याग
(35) **आहार प्रत्याख्यान** - सदोष आहार का त्याग
(36) **कषाय प्रत्याख्यान** - क्रोधादि का त्याग
(37) **योग प्रत्याख्यान** - मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का त्याग
(38) **शरीर प्रत्याख्यान** - परिस्थिति प्राप्त होने पर शरीर का भी त्याग
(39) **साहाय्य प्रत्याख्यान** - सहायकों की सेवा लेने का त्याग
(40) **भक्तपान प्रत्याख्यान** - अनशन ग्रहण करना
(41) **सद्भाव प्रत्याख्यान** - सद्भावपूर्वक पुनः नहीं करने रुप परमार्थ वृत्ति से त्याग
(42) **प्रतिरूपता** - स्थविरकल्पी साधु योग्य वेश धारण करना
(43) **वैयावृत्त्य** (गुर्वाज्ञा प्राप्त करके) गुरु के कार्य करना, साधुओं की गोचरी (आहारादि) लाना
(44) **सर्वगुणसंपन्नता** - ज्ञानादिगुणयुक्त बनना
(45) **वीतरागता** - राग-द्वेष का निवारण
(46) **क्षान्ति** - क्षमा
(47) **मुक्ति** - निर्लोभता
(48) **मार्दव** - मान त्याग
(49) **आर्जव** - सरलता
(50) **भावसत्य** - अन्तरात्मा की शुद्धि
(51) **करण सत्य** - प्रतिलेखन (पडिलेहण) आदि क्रिया में आलस्य का त्याग करना
(52) **योग सत्य** - मन-वचन-काया के योगों में सत्यता
(53) **मनोगुप्तित्व** - अशुभ विचार से मन का गोपन करना
(54) **वचन गुप्तित्व** - अशुभ वाणी से गोपन करना
(55) **काय गुप्तित्व** - काया के अशुभ व्यापार से गोपन करना
(56) **मनः समाधारण** - मन को शुभ स्थान में स्थिर करना
(57) **वचन समाधारणा** - वचन को शुभ स्थान में स्थिर करना
(58) **काय समाधारण** - काया को शुभ स्थान में स्थिर करना
(59) **ज्ञान संपन्नत्व** - श्रुतज्ञान से युक्त होना
(60) **दर्शन संपन्नत्व** - सम्यक्त्व से युक्त होना
(61) **चारित्र संपन्नत्व** - यथाख्यात चारित्र युक्त होना
(62) **स्पर्शेन्द्रियनिग्रह**
(63) **रसनेन्द्रियनिग्रह**
(64) **घ्राणेन्द्रियनिग्रह**
(65) **चक्षुरिन्द्रियनिग्रह**
(66) **श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह**
(67) **क्रोध पर विजय**
(68) **मान पर विजय**
(69) **मायापर विजय**
(70) **लोभ पर विजय**
(71) **प्रेय्यद्वेषमिथ्यादर्शन विजय** - प्रेय्य - प्रेमराग, द्वेष-अप्रीति, मिथ्यादर्शन-सांशयिकादि मिथ्यात्व (या अन्य दर्शन) पर विजय
(72) **शैलेशीकरण** - चौदहवें गुणस्थान में स्थान प्राप्त करना
(73) **अकर्मता** - कर्मो का अभाव अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति

213. अ.रा. 7/504; 505; उत्तराध्ययनसूत्र सटीक, अध्ययन 29;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य दर्शनों में त्रिविध साधना मार्ग

जैन दर्शन में जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रुप साधना/मोक्ष/मुक्ति मार्ग दर्शाया गया है वैसे अन्य दर्शनों में भी त्रिविध साधनामार्ग का संकेत प्राप्त होता है।

बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा या वीर्य, श्रद्धा और प्रज्ञा रुप त्रिविध मार्ग का विधान है[214]। वैसे बुद्ध ने सम्यग्दृष्टि-संकल्प-वाणी-कर्मान्त-आजीव-व्यायाम-स्मृति और समाधि (प्रत्येक पद सम्यग्विशिष्ट है) रुप अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया है लेकिन यह अष्टांग मार्ग भी त्रिविध साधना मार्ग में अंतर्भूत है, जैसे-सम्यग्वाचा, सम्यक् कर्मान्त और सम्यग् आजीव का अन्तर्भाव शील में सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का अन्तर्भाव चित्त, श्रद्धा या समाधि में और सम्यक् संकल्प और सम्यग्दृष्टि का अन्तर्भाव प्रज्ञा में होता है। गीता में ज्ञानयोग, भक्ति योग और कर्मयोग के नाम से त्रिविध साधना मार्ग का वर्णन प्राप्त होता है। गीता में मोक्ष की उपलब्धि के साधन के रुप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है[215]। योग-दर्शन में भी ज्ञानयोग-भक्तियोग और क्रियायोग के रुप में इसी त्रिविध साधना मार्ग का वर्णन है[216]। वैदिक परम्परा में ब्रह्म के तीन पक्ष सत्य, सुन्दर और शिव माने गये हैं और उसकी प्राप्ति के लिए ज्ञान, भाव/श्रद्धा और सेवा / कर्म रुप त्रिविध साधनामार्ग माना गया है। उपनिषदों में श्रवण (श्रद्धा), मनन (ज्ञान) और निदिध्यासन (कर्म) रुप त्रिविध साधनामार्ग दर्शाया है[217]। पाश्चात्य दर्शन में भी तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं[218]-

(1) स्वयं को जानो - Know thyself

(2) स्वयं को स्वीकार करो - Accept thyself

(3) स्वयं ही बन जाओ - Be thyself

सांख्य दर्शन भी त्रिविध दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति मोक्ष है, यह मान्य करता है[219]। सांख्य दर्शन में विवेक ख्याति (सम्यग्दर्शन), भेद ज्ञान (सम्यग्ज्ञान), तत्त्वाभ्यास (सम्यक् चारित्र) द्वारा पुरुष जीवन्मुक्तावस्था (जैन दर्शनानुसार सयोगीकेवल्यावस्था) प्राप्त करता है[220]। न्यायदर्शन में षोडश सत्पदार्थो के तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) से निःश्रेयस अर्थात् 'मोक्ष' की प्राप्ति होना स्वीकार किया गया है[221]। वैशेषिक दर्शन में श्रद्धादि धर्म से तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति और तत्त्व ज्ञान को मोक्ष का हेतु/उपाय कहते हैं अर्थात् धर्म से तत्त्व ज्ञान प्राप्त होने पर तत्त्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है[222]। शांकर भाष्य में आत्म विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होना स्वीकार किया गया है[223]। आचार्य शंकर ने गीता-भाष्य में कहा है कि सम्यग्दर्शन से पुरुष संसार के बीजरुप अविद्यादि दोषों का अन्मूलन न कर सके, एसा कदापि संभव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यग्दर्शन से पुरुष निश्चित रुप से निर्वाण प्राप्त करते हैं[224]।

इस प्रकार जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनों में भी त्रिविध मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है, चाहे वहाँ उसका स्वरुप जैन दर्शनानुसार हो या उससे भिन्न भी हो परंतु अधिकांश जैनेतर दर्शनों ने सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रुप मोक्षमार्ग को किसी न किसी रुप में स्वीकृत किया है। प्रसिद्ध दर्शन समीक्षक डो. सागरमल जैन ने इसे निम्न तालिकानुसार दर्शाया है[225] :-

विश्व के दर्शनों में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की स्वीकृति का स्वरुप

जैनदर्शन	बौद्धदर्शन	गीता	योग दर्शन	वैदिक दर्शन	उपनिषद्	पाश्चात्य दर्शन
सम्यग्ज्ञान	प्रज्ञा परिप्रश्न	ज्ञान/ प्रज्ञा	ऋतम्भरा (ज्ञान)	ज्ञान	मनन	Know thyself
सम्यग्दर्शन	चित्तसमाधि (श्रद्धा)	भक्ति (श्रद्धा)/	विवेकख्याति (भक्ति) प्रणिपात	भाव/श्रद्धा (श्रद्धा)	श्रवण	Accept thyself
सम्यक् चारित्र	शील/वीर्य	कर्म/सेवा	अभ्यास (क्रिया)	सेवा/कर्म	निदिध्यासन	Be thyself

214. सम्मादिट्ठि सुत, मज्झिमनिकाय; महापरिनिव्वाणसुत्त, दीर्घनिकाय; महासत्तिपट्ठान सुत, दीर्घनिकाय; धम्मचक्कपवत्तन सुत्त, संयुक्तनिकाय
215. गीता 4/34, 4/39
216. योगसूत्र-4/26-30-31-54 एवं उन पर योगभाष्य
217. बृहदाण्यकोपनिषद्-2/4/5
218. साइकोलोजी एन्ड मारल्स, पृ. 180
219. सांख्यसूत्र 1/1 जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरुप-184 पर उद्धृत
220. सांख्यसूत्र 3/78, वही, 6/58 जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरुप पृ. 186 पर उद्धृत
221. न्यायसूत्र 1/1
222. वैशेषिक सूत्र 1/1/2; 1/1/4 प्रशस्तपाद भाष्य, धर्म प्रकरण।
223. ब्रह्मसूत्र-1/1/1 पर शांकरभाष्य
224. गीता 18/12 पर शांकरभाष्य
225. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ.23

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार जैन दर्शन और अभिधान राजेन्द्र कोश की तरह अन्य भारतीय दर्शनों में भी मोक्ष की प्राप्ति हेतु त्रिविध साधना मार्ग का वर्णन किया गया है।

उपसंहार :-

इस शीर्षक में यह विमर्श प्रस्तुत किया गया है कि सुख का उपाय अर्थात् दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र है। यह मार्ग जीव को परोन्मुखता से दूर करता हुआ स्वोन्मुख बनाता है और जब जीव पूर्ण स्वोन्मुख हो जाता है तब उसकी रागद्वेषमूलक प्रवृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। परिणाम स्वरुप दुःख नष्ट हो जाता है।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह आता है कि एसा कैसे सम्भव हो पाता है? इस स्वोन्मुखता का, इसकी प्रक्रिया का सैद्धान्तिक आधार क्या है? इन सबका उतर पाने के लिए आगामी शीर्षक में चारित्र के सैद्धान्तिक पक्ष का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

तप

1. जगत में सद्धर्म का **'प्राण'** तप है.
2. सचेतन-आत्मा का **'त्राण'** तप है।
3. गुणीजनों के गुण की **'खान'** तप है।
4. कर्म मूल को निर्मूल करने के लिये शस्त्ररुप **'कृपाण'** तप है।
5. भवव्याधि को सर्वथा मिटाने के लिये **'रामबाण इलाज'** तप है।
6. आत्मा की **'इच्छा का निरोध'** तप है।
7. जैनधर्म-जैनशासन की **'विजयपताकाध्वज'** तप है।
8. जैनधर्म यानी जैनशासन में सद्ज्ञान यह धूपसली, दर्शन यह सौरभ-सुगन्ध तथा संयम-तप यह धूपसळी के जल जाने से उत्पन्न होती हुई फोरम है।
9. विश्व में स्व या पर के श्रेय का **'प्रतीक'** तप है।
10. कर्म निर्जरा का **'अनुपम साधन'** तप है।
11. देह की तथा आहार की ममता को समाप्त करने के लिये **'महान् शास्त्र'** तप है।
12. उद्यापन यानी उजमणां तपधर्म का ही होता है, इसलिये जगत में **'श्रेष्ठ-उत्तम'** तप है।
13. शुभ साधना-आराधना का **'बीज-ओज'** तप है।
14. कर्म-मल को दूर करने के लिये **'जल तुल्य'** अर्थात् पानी के समान तप है।
15. विश्वभर का **'महान् औषध'** तप है।
16. जगत में सूर्य के समान अज्ञानरुपी अंधकार को शमन करने से ज्ञानरुपी नेत्र को निर्मल करने वाला तथा तत्त्वातत्त्व की जानकारी दिखाने वाला तप है।
17. सम्यग्दृष्टियों में **'शुभ शिरोमणि'** तप है।
18. आलम में **अपूर्व कोटि का धर्म** तप है।
19. **उत्कृष्ट मंगलरुप** तथा भावमंगलरुप भी तप है।
20. कर्मरुपी वृक्ष को मूल से उखाडनेवाले **'गजराज-हाथी'** के समान तप है।
21. इन्द्रियरुपी उन्मत्त अश्वों को काबू में अर्थात् वश में रखने के लिये **'लगाम'** के समान तप है।
22. अपूर्व 'कल्पवृक्ष' के समान तप है। (तप का मूल संतोष है, देवेन्द्र और नरेन्द्र आदि की पदवी तपरुपी कल्पवृक्ष के पुष्प-फूल है तथा मोक्ष-प्राप्ति, तपरुपी कल्प-वृक्ष का फल है।)
23. समस्त लक्ष्मी का बिना सांकल का **'बन्धन'** तप है।
24. पापरुपी प्रेत-भूत को दूर करने के लिये अक्षर रहित **'रक्षामन्त्र'** तप है।
25. पूर्व उपार्जन किये हुए कर्मरुपी पर्वत को भेदने के लिये 'वज्र' के समान तप है।
26. कामदेवरुपी दावानल की ज्वाला समूह को बुझ्काने लिये **'जल-पानी'** के तुल्य तप है।
27. लब्धि और लक्ष्मीरुपी लता-वेलडी का **'मूल'** तप है।
28. विघ्नरुपी तिमिर-समूह का विनाश करने में **दिन** समान तप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. चारित्र का सैद्धांतिक पक्ष

'चारित्र' को बिन्दु बनाने से कथ्य की सीमा सांसारिक जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति से भिन्न अर्थात् निवृत्त्युन्मुख प्रवृत्ति के विस्तार से बंध जाती है। अनादि अविद्यावासना से दूषित संस्कारवान् शरीरी को यह अस्वाभाविक प्रतीत हो सकती है किन्तु यह उसके शरीरबद्ध होने के कारण है। शरीर-रहित जीवन के निवृत्तिमात्र शेष रह जाती है। यहाँ पर प्रयुक्त 'चारित्र' शब्द व्यावहारिक एवं पारमार्थिक, दोनों तलों को स्पर्श करता है। वस्तुतः चारित्र पालन करना या चारित्र धारण करना व्यवहार चारित्र की ओर संकेत है। जहाँ निष्क्रियत्वमात्र शेष रह जाता है वहाँ स्वरुप के अनुभव के अतिरिक्त कुछ भी संपन्न करने के लिए नहीं बचता। यह द्विपक्षीय चारित्र जैनधर्म में मुख्यपने से प्रतिपादित है अर्थात् 'चारित्र ही धर्म है'[1] - एसा कहा गया है।

यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा यह होती है कि चारित्र क्यों, किसके द्वारा धारण किया जाये, और चारित्र का आधार क्या है? इस विषय में कुछ एसे सार्वभौम तत्त्वों की ओर संकेत किया जा सकता है जिन्हें आस्तिक-नास्तिक आदि सभी विचारधाराओं के अनुयायी समान रुप से स्वीकार करते हैं। इस तथ्य को प्रथमतः संक्षेप में इसप्रकार से कह सकते हैं कि जो भी यह जगत् का प्रपञ्च है वह सब तभी सप्रयोजन ठहरता है जबकि इसका ज्ञाता कोई नित्य पदार्थ हो। चरक संहिता में अनात्मवादियों का खंडन करते हुए कहा गया है कि प्रकाश-अंधकार, ज्ञान-अज्ञान, शुभकर्म-अशुभकर्म आदि विरोधी युगलों की सार्थकता तभी सिद्ध होती है जबकि इन पदार्थों का जाननेवाला कोई शाश्वत पदार्थ हो[2] और वह शाश्वत पदार्थ जीव है। इस प्रकार चारित्र का प्रथम सैद्धांतिक आधार है अविनाशिता का सिद्धांत।

1. अविनाशिता का सिद्धांतः-

दर्शनशास्त्र की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं में किसी न किसी पदार्थ को शाश्वत माना गया है। शाश्वत का अर्थ है जिसकी न तो उत्पत्ति होती हो और न ही नाश।[3] इस विषय में सांख्य-योग का मत यह है कि चतुर्विंशति तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाली समग्र संसार की कारणभूत अव्यक्त नामक प्रकृति स्वयं अकारण है[4] अर्थात् उसकी उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पुरुष जो नित्य पदार्थ है वह भी अनादि है[5]। तात्पर्य यह है कि द्वैतवादी सांख्य के जड और चेतन पदार्थ अनादि है। इनमें परिणाम (परिवर्तन) तो हो सकता है किन्तु इनका नाश नहीं हो सकता।

वेदांत दर्शन के सिद्धांत में तो एक ही पदार्थ है - ब्रह्म। ब्रह्म में वास्तविक परिवर्तन नहीं होता किन्तु अज्ञान के कारण विवर्त होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार पाँच महाभूत नित्य पदार्थ हैं, इनका नाश नहीं होता अर्थात् प्रलय नहीं होता।

चार्वाक दर्शन में भी चार भूतों को अनादिसिद्ध पदार्थ माना गया है। यहाँ तक कि जिस बौद्ध दर्शन में 'सत्' पदार्थ का लक्षण ही क्षणिक रुप में किया गया हैं वहाँ भी किसी आरंभिक 'क्षण' की कल्पना नहीं है। अर्थात् एसा कोई भी क्षण नहीं है जिसके पहले 'क्षण' न रहा हो; अर्थात् क्षणिकवाद की सत्ता भी तभी है जब अनादि क्षण को स्वीकार कर लिया जाये।

आकाश का कोई छोर नहीं है इसलिए इसे अनादि-अनंत कहा जाता है। जिसका आदि अन्त नहीं हो उसे ही शाश्वत अथवा नित्य कहा जाता है, शब्दमात्र का अन्तर है किन्तु अभिप्राय एक ही है। आकाश और काल की तरह सभी पदार्थों के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसका न किसी खास क्षण में उत्पाद हुआ है और न ही किसी खास क्षण में उसका विनाश ही होगा। गीता में कहा गयाहै कि असत् पदार्थ की सत्ता नहीं (उत्पाद नही) और सत् पदार्थ की असत्ता (नाश) नहीं होती[6]। इसी प्रकार का कथन पंचास्तिकाय में भी आया है[7]।

कहने का तात्पर्य यह है कि पदार्थ अविनाशी है। उसका रुपान्तर तो होता है किन्तु वह रुपान्तर भी जड से चेतन और चेतन से जड स्वरुप का नहीं होता।

अविनाशिता के सिद्धांत से यह स्फटिक के समान साफ हो जाता है कि जीव शाश्वत है। अतः यदि उसे मोक्ष प्राप्त करना है तो चारित्र धारण करना क्रियाकारी है।

2. नश्वरता का सिद्धांतः-

किन्तु यदि एकान्त रुप से सभी पदार्थों को शाश्वत (नित्य) मान लिया जावे तब तो दुःख का कभी नाश ही न हो। जबकि लोक में भी यह देखा जाता है कि अमुक व्यक्ति दुःखी था, कुछ काल पश्चात् (भले ही भ्रम वश ही सही) वह सुख अनुभव करता है अर्थात् दुःख नष्ट हो सकता है। इसलिए पदार्थ एकांतरुप से शाश्वत भी नहीं है। कोई भी पदार्थ अवस्था की अपेक्षा से नश्वर भी है।[8] अर्थात् अवस्था अपने क्षण के पश्चात् नष्ट हो ही जाती है इसीलिए तो उसका नाम 'अवस्था' है। अवस्था दो तरह से हो सकती है - 1. स्वतंत्र पदार्थ की स्वतंत्र अवस्था 2. दो या दो से अधिक

1. चारित्तं खलु धम्मो। - अ.रा. 4/2663, 2665
2. अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्। अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।
   भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्। न स्युं कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि।
   नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्। न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च।
   न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद् यदि।.....
   न चेत् कारणमात्मा स्याद् भादयः स्युरहेतुकाः। न चैषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात् प्रयोजनम्।
   - चरकसंहिता, शारीरस्थान, 2/37, 39-42
3. अ.रा.पृ. 1/806; 7/793
4. सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरुपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। - सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान, 1/3
5. अनादिपुरुषो नित्यः....। - चरकसंहिता, शारीरस्थान 1/59
   अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः। - चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 11/13
6. नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यतेऽसतः। गीता 2/16
7. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो। - पंचस्तिकाय 15
8. अ.रा.पृ. 1/845

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों की संयोगावस्था। जैन सिद्धांत में दो शब्दों का प्रयोग होता है: 'स्वभाव-परिणाम' और 'विभाव-परिणाम'।[9] विभावपरिणाम स्वतंत्र द्रव्य के नहीं होते । यद्यपि प्रत्येक 'सत्' अपने आप में पूर्ण एवं स्वतंत्र है परन्तु यहाँ स्वतंत्र कहने का आशय यह है कि जिन की पौद्गलिक संयोगी अवस्थाएँ नहीं होतीं वे विभाव रुप परिणत होते नहीं देखे जाते। उदाहरण के लिए आकाश और पुद्गल की संयोगी अवस्थाएँ नहीं होती (जबकि पुद्गल को अवगाह देने का कार्य आकाश ही करता है)। इसी प्रकार काल और पुद्गल की भी संयोग होकर कोई अवस्था नहीं बनती जबकि पुद्गल भी काल सापेक्ष ही वर्तन करता है।

जैन सिद्धांत में जड वर्ग में पुद्गल, आकाश और काल के अतिरिक्त दो और तत्त्व स्वीकृत हैं: धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य। किन्तु चारित्र के सैद्धांतिक पक्ष के विवेचन में इनका परिचय देना आवश्यक नहीं है। क्योंकि चारित्र का परिणाम मोक्ष है और उसके भौतिक पक्ष में चेतन पदार्थ का पुद्गल संयोग से सदा के लिए (आत्यान्तिक) पृथाभाव ध्वनित होता है इसलिए यहाँ केवल पुद्गल और चेतन, इन दो पदार्थों की स्वतंत्रता, और संयोगावस्था की नश्वरता मात्र विचारणीय है।

3. स्वतंत्रता का सिद्धांत:-

प्रत्येक चेतन (आत्मा) अपने आप में पूर्ण हैं और नितान्त रुप से स्वतंत्र है। चेतन पदार्थ का चेतन पदार्थ से कभी संयोग नहीं होता जबकि चेतन का पुद्गल से संयोग होता है। इसी तरह पुद्गल परमाणु यद्यपि अपने आप में पर्ण हैं किन्तु उनका अपनी योग्यतानुसार दूसरे परमाणुओं से संयोग होता है जिससे स्कन्ध बनता है। किन्तु अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं करा सकता[10]; कोई अचेतन, चेतन पदार्थ को जड नहीं बना सकता और इसका उल्टा भी नहीं हो सकता।

यदि कोई प्रश्न करे कि ओक्सिजन और हाइड्रोजन मिलकर जल बन जाता है तो एक द्रव्य को परिवर्तित करने में दूसरा द्रव्य कारण कैसे नहीं हुआ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'जल' उनकी संयोगी पर्याय है किन्तु आक्सीजन ने हाइड्रोजन को जल में नहीं बदला है अन्यथा जल में केवल हाइड्रोजन ही होता। दूसरे यह भी कि 'ओक्सिजन' हाइड्रोजन को बदल कर ओक्सीजन नहीं बना लेता अन्यथा जल में केवल ओक्सीजन तत्त्व ही होता।

यहाँ यह प्रश्न भी होता है कि यदि द्रव्यान्तर में परिवर्तन नहीं होता हो तब तो स्नान आदि के लिए ओक्सिजन आदि का उपयोग होना चाहिए, किन्तु देखा जाता है कि संयोगी अवस्था जल का उपयोग तो स्नान में होता है किन्तु स्वतंत्र ओक्सीजन/हाईड्रोजन का उपयोग स्नान के लिए नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि द्रव्य विशेषों के संयोग से गुणविशेष उद्भूत होते हैं (नवीन उत्पन्न नहीं होते) और गुणविशेष तिरोहित होते हैं (उच्छेद नहीं होता)। जैसे द्रवता-शीतता युक्त जल का अग्नि से संयोग होने पर द्रवता-शीतता तिरोभूत हो जाते हैं (नष्ट नहीं होते) और वायव्यता-उष्णता उद्भूत हो जाते हैं।

यहाँ पर हल्दी और चूना के संयोग को भी उदाहरण के रुप में लिया जा सकता है। हम हल्दी को पीला देखते हैं और चूना को सफेद। किन्तु जैसे ही दोनों को मिलाया जाता है वैसे ही वर्णान्तर (रक्तवर्ण) दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर भी पीत और श्वेत वर्ण तिरोभूत हुए हैं और रक्त वर्ण उद्भूत हुआ है। यह उदाहरण किसी को पूरी कल्पना लग सकता है। किन्तु हम पूछ सकते हैं कि जब हम हल्दी का पीतवर्ण देखते हैं तो हल्दी से परावर्तित होकर हमारी आँख के पर्दे (रेटिना) पर पडता है, और हमारी आँख भी उसे विविक्त रुप से पहचानने में समर्थ हो तभी हम देख सकते हैं। इसी प्रकार चूने के विषय में भी समझना चाहिए। किन्तु जब हम हल्दी और चूना की संयोगी अवस्था को देखते हैं तब वही रक्त वर्ण का क्यों प्रतीत होते है? उत्तर स्पष्ट है कि जैसे ही ये दोनों मिल जाते हैं वैसे ही उस संयोगी पर्याय में रक्त प्रकाश को परावर्तित करने की सामर्थ्य उद्भूत हो जाती है और तब रक्तवर्ण प्रकाश हमारी आँखे से प्रतीत होने लगता है। अभिप्राय यह है की सूक्ष्म परमाणुओं का व्यवस्थापन जिस प्रकार का होगा वैसा ही वर्ण हमें प्रतिभात होगा। हम यह भी कह सकते हैं कि परमाणु का अपना कोई वर्ण नहीं, किन्तु संयोग अवस्था में उनके व्यवस्थापन के अनुसार प्रकाश परावर्तन होता है और हमें पदार्थ का वर्ण दिखाई देता है। अर्थात् तत्तत् प्रकाश परावर्तन की उद्भूत पुद्गलशक्ति को ही उसका वर्ण कहा जा सकता है। कांचशकल यदि स्थालीवत् हो तो प्रकाश उस में से पार हो जाता है किन्तु यदि वही प्रिज्म के रुप में ढाल दिया जाये तो हमें सप्तवर्णी प्रकाश दिखाई देने लगता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को परिवर्तित नहीं कर सकता।

4. बन्ध का सिद्धांत:-

'मोक्ष' चारित्र का परिणाम है[11], एसा स्वीकार करने पर मोक्ष का विपरीत 'बन्ध' भी अधिकरण के रुप में स्वीकृत हो जाता है। सांख्य शास्त्र में 'बन्ध' को संयोग नाम से भी जाना जाता है[12]। जैन सिद्धान्त में स्वीकृत षड् द्रव्यों में से केवल पुद्गल और जीव में बंध हो सकता है[13]; अन्य द्रव्यों में बंध योग्यता नहीं है।

तत्त्वार्थश्रद्धान प्रकरण में बंध तत्त्व से जीव और कार्मण वर्गणा (पुद्गल) का अभिप्राय अभीष्ट है[14] जबकि यहाँ उभय प्रकार का बन्ध अभीष्ट है। तत्त्वार्थसूत्र में बन्ध का मौलिक आधार स्निग्ध और रुक्ष गुण बताये गये हैं[15]। बन्ध की पूरी प्रक्रिया में यही स्पष्ट

9. अ.रा.पृ. 5/592-93
10. क. अ.रा. 5/504-507, पृ. 6/880
    ख. अण्णदविएण अण्णदव्वस्स णो कीरदे गुणुप्पादो। तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जन्ते सहावेण। समयसार 372
11. अ.रा.पृ. 3/1126
12. क. सांख्यकारिका 21, 44
    ख. स्वस्वामिशक्त्यों स्वरुपोपलब्धिहेतुः संयोगः।। -पातञ्जल योगदर्शन 2/23
13. अ.रा. 5/1165
14. अ.रा.पृ. 5/1164; सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः। तत्त्वार्थसूत्र 8/2
15. स्निग्ध रुक्षत्वात्बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानां। -तत्त्वार्थसूत्र 5/33-35

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया है कि कैसे स्निग्ध (स्नेह गुणवान्) और रुक्ष (खर गुणवान्) पदार्थों में बन्ध होता हैं। यह बन्ध परमाणु स्तर पर अथवा द्वयणुकादि स्तर पर भी हो सकता है[16]।

पूर्व में यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है और यहाँ बन्ध का सिद्धान्त स्वीकार किया जा रहा है, फिर तो यह विपरीत कथन प्रतिभासित होता है क्योंकि लोक में भी स्वतंत्र को बद्ध नहीं कहा जाता और बद्ध को स्वतंत्र नहीं कहा जाता। यदि एसा संशय हो तो उसे अनेकान्त दृष्टि से दूर कर लेना चाहिए। बन्ध होना भी व्यवहार नय का कथन है। निश्चय से तो एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य को स्पर्श भी नहीं कर पाता। एक परमाणु दूसरे परमाणु को कभी स्पर्श नहीं कर पाता। लौह जैसे घनपिण्ड में भी एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता और प्रत्येक परमाणु एक दूसरे से निश्चित दूरी बनाये रखते हैं। उससे अधिक समीप हो जाने की उनकी सामर्थ्य नहीं होती। जैसे ऋण चुम्बक और ऋण चुम्बक (दो ऋणचुम्बकों) को समीप ले जाने पर एक दूरी के बाद वे पास नहीं जा सकते।

इतना ही नहीं, हम किसी घन लौहपिण्ड को हाथ से छूते हैं तब भी एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं कर पाता किन्तु निश्चित दूरी से ही हम उसके गुण को समझते है। इसी प्रकार उसी पिण्ड को हाथ से पकड कर उठाते समय भी किसी परमाणु को छुए बिना ही पकडते हैं और उठाते हैं। यह सब परमाणु की निजशक्ति से सम्भव होता है।

आत्मा और शरीर, आत्मा और कर्म (कार्मण शरीर) के बन्ध के विषय में भी एसा ही है। शरीर का कोई परमाणु आत्मप्रदेश को नहीं छूता और कार्मण शरीर का परमाणु भी आत्मप्रदेश को नहीं छूता। इसका कारण यह है कि आत्मा तो निराकार है[17] जबकि स्पर्श तो परमाणु का धर्म है[18]।

जब आत्मा निराकार है, उसमें स्पर्श नहीं है; उसमें स्निग्धता-रुक्षता नहीं है तब शरीर परमाणु आत्मा के साथ कैसे बंध रहते हैं अर्थात् आत्मा स्वतंत्र होने से वह शरीर के बाहर क्यों नहीं आता-जाता? इसका उत्तर यह है कि शरीर परमाणुओं का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं होता किन्तु एकक्षेत्रावगाह अवस्थान होता है। इसी प्रकार कर्म परमाणुओं का भी आत्म प्रदेशों से समानक्षेत्रावगाह होता है।

समानक्षेत्रावगाह होकर भी शरीर की गति होने पर आत्मप्रदेश भी और कार्मण शरीर भी समान गति करते रहते हैं। यही बन्ध कहा जाता है। किन्तु कर्मबन्ध के विषय में यह विशेष है कि जीवन उन कर्मो के विपाक के कारण होनेवाले फल का भोग भी करता है। भोग के बाद वे कर्म उस प्रचय से विच्छिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मप्रदेशों के कम्पन से नये कर्म परमाणु कार्मण शरीर में जुडते जाते हैं।

किन्तु वस्तुतः तो कोई परमाणु आत्मप्रदेशों को स्पर्श नहीं करता। इसीलिए सांख्य दर्शन में यह कहा गया है कि पुरुष न तो बद्ध होता है और न मुक्त, किन्तु प्रकृति ही बद्ध होती है और प्रकृति ही मुक्त होती है[19]। प्रकृति ही कर्म की कर्ता है और वह फल की भोक्ता भी है[20]।

यदि निश्चय से (वास्तविक रुप में) परमाणु और जीव में बन्ध माना जाये तो (तब तो जीव और पुद्गल की जिस संयोगी पर्याय से विचार आरम्भ करें वही असम्भव होगी) मृत्यु असंभव हो जाये और शिशु की वृद्धि न हो, गर्भाधानादि ही न हो। किन्तु यह बन्ध अवास्तविक होता है इसलिए मृत्यु आदि सम्भव होते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न भी हो सकता है कि जीव और पुद्गल ये दो विरोधी द्रव्य हैं, जीव में स्नेहादि गुण नहीं और पुद्गल में ये गुण हैं, तब दो विरोधी द्रव्यों में बन्ध कैसे संभव है और संभव हो भी गया तो एक द्रव्य विजातीय द्रव्य पर प्रभाव क्यों डालता है?

पहले हम यह स्पष्ट करलें कि यह तो निश्चित है कि जीव पदार्थ शरीररुप जड से बद्ध है (अन्यथा शरीर गति करे तब आत्मा पीछे छूट जाये)। जो बंधता है वह छूटता है (यदि एसा न हो तो मृत्यु असंभव हो जाये)। अब केवल यह पक्ष बचता है कि दो विजातीय पदार्थ कैसे बंधते सकते हैं? इसका उत्तर यह हो सकता है कि बंधे तो हैं न? भले ही वे कैसे ही बंधे हों। जब बंधे हैं तो किसी शक्ति के कारण ही बंधे हैं। पुद्गल परमाणुओं में आत्मप्रदेशों से बंधने की शक्ति होने से ही वे बंधते हैं[21] (समानक्षेत्रावगाह करते हुए 'कर्म' संज्ञा पाते हैं)। यह पूरा का पूरा सिद्धान्त कर्मवाद के नाम से जाना जाता है।

5. कर्मवादः-

जैन सिद्धान्त में कर्मसिद्धान्त पर विशद चर्चा की गयी है। यद्यपि पातञ्जल योग दर्शन में भी इसी प्रकार के सिद्धान्त पर आश्रित चर्चा है[22] किन्तु वह सूक्ष्म विवेचन नहीं करती। बौद्ध दर्शन में अनादिवासना-संस्कार नाम से यही सिद्धान्त दृष्टिगोचर होता है। सर्वत्र बन्ध की स्वकृति होने से यह तो स्वीकृत हो ही जाता है कि यह बन्ध की प्रक्रिया दो पदार्थों में होती है, उनमें एक है आत्मा और दूसरा है कर्म। आत्मा चेतन है और कर्म जड है। इसी से जैन सिद्धान्त में 'कर्म' पदार्थ को द्रव्यपक्ष में पुद्गल माना गया है जिसे कार्मणवर्गणा (का परिवर्तित रुप) कहते हैं और क्रियासापेक्ष है आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन। इस प्रकार आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन के निमित्त से कार्मणवर्गणा परिस्पन्द्यमान आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह अवस्थान करता हुआ विपाक की योग्यता युक्त हो जाता है उसे कर्म कहते हैं[23]। यहाँ पर जीव के भाव तो निमित्त होते हैं और कार्मणवर्गणा पुद्गल की कर्मरुप पर्याय नैमित्तिक। किन्तु इससे न तो जीव पुद्गल के रुप में बदलता है न पुद्गल जीव के रुप में[24]।

16. द्वयधिकादिगुणानां तु। - तत्त्वार्थसूत्र 5/36
17. नित्यावस्थितान्यरुपाणि। - तत्त्वार्थसूत्र 5/4
18. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः -वही 5/23
19. तस्मान्न बद्धयतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। -सांख्यकारिका 62
20. वही
21. अ.रा.पृ. 5/1165
22. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। पातञ्जल योगदर्शन 1/24
क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। पातञ्जल योगदर्शन 2/12
23. अ.रा.पृ. 3/245, ; तत्त्वार्थ सूत्र-8/25
24. क. जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमन्ति।
पुग्गलकम्मनिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तं तु कत्ता आदा सएण भावेण।
ख. अ.रा. 3/245, 250, 'कम्म' शब्द पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर कर्म और आत्मा के संयोग का स्वरुप क्या है, और उसके परिपाक की क्या सीमा है ? इत्यादि प्रश्न हमारे सामने है। वर्तमान में आत्मा की स्थिति अर्धभौतिक जैसी हो रही है। (जैसे अग्नितप्त लौह का गोला अपने प्रत्येक कण में अग्नि से युक्त हो)। उसका ज्ञान विकास, क्रोधादिविकार, इच्छा और संकल्प आदि सभी, बहुत कुछ शरीर, मस्तिष्क और हृदय की गति पर निर्भर करते है। मस्तिष्क का एक केन्द्र निष्क्रिय होते ही सारी स्मरण-शक्ति समाप्त हो जाती है और मनुष्य पागल और बेभान हो जाता है। शरीर के प्रकृतिस्थ रहने से ही आत्मा के गुणों का विकास और उनका अपनी उपयुक्त अवस्था में संचालित रहना बनता है। बिना इन्द्रिय आदि उपकरणों के आत्मा की ज्ञानशक्ति प्रकट ही नहीं हो पाती। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, विचार, कला, सौन्दर्याभिव्यक्ति और संगीत आदि सम्बन्धी प्रतिभाओं का विकास भीतरी और बाहरी दोनों उपकरणों की अपेक्षा रखता है।

आत्मा के साथ अनादिकाल के कर्मपुद्गल (कार्मण शरीर) का सम्बन्ध है, जिसके कारण वह अपने पूर्ण चैतन्य रुप में प्रकाशमान नहीं हो पाता। यह शंका स्वाभाविक है कि 'चेतन पर अचेतन द्रव्य क्यों प्रभाव डालता है ?' इसका उत्तर इस छोर से नहीं दिया जा सकता, किन्तु दूसरे छोर से दिया जा सकता है - आत्मा अपने पुरुषार्थ और साधनाओं से क्रमशः वासनाओं और वासना से उद्बोधक कर्मपुद्गलों से मुक्ति पा जाता है और एक बार शुद्ध (मुक्त) होने के बाद उसको पुनः कर्मबन्धन नहीं होता[25], अतः हम समझते हैं कि दोनों पृथक् द्रव्य हैं। एक बार इस कार्मणशरीर से संयुक्त आत्मा का चक्र चला तो फिर कार्य-कारण व्यवस्था जमती जाती है। आत्मा एक संकोच-विकासशील (सिकुडन और फैलनेवाला) द्रव्य है जो अपने संस्कारों के परिपाकानुसार छोटे-बडे स्थूल शरीर के आकार हो जाता है। देहात्मवाद (जडवाद) की बजाय देहप्रमाण आत्मा मानने से सब समस्याएँ हल हो जाती है।

आत्मा देहप्रमाण भी अपने कर्मसंस्कार के कारण ही होता है। कर्मसंस्कार छूट जाने के बाद उसके प्रसार का कोई कारण नहीं रह जाता; अतः यह अपने अंतिम शरीर के आकार का बना रहता है, न सिकुडता है और न फैलता है। ऐसे संकोच विकासशील शरीर प्रमाण रहनेवाले, अनादिकार्मणशरीर से संयुक्त, अर्धभौतिक आत्मा की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक विचार और वचनव्यवहार अपना एक संस्कार तो आत्मा और उसके अनादिसाथी कार्मण शरीर पर डालते है। संस्कार तो आत्मा पर पडता है, पर उस संस्कार का प्रतिनिधि द्रव्य उस कार्मण शरीर से बँध जाता है जिसके परिपाकानुसार आत्मा में वही भाव और विचार जाग्रत होते हैं और उसी का असर बाह्यसामग्री पर भी पडता है, जो हित और अहित में साधक बन जाती है। जैसे कोई छात्र किसी दूसरे छात्र की पुस्तक चुराता है या उसकी लालटेन इस अभिप्राय से नष्ट करता है कि 'वह पढने न पावे' तो वह इस ज्ञान विरोधक क्रिया और विचार से अपनी आत्मा में एक प्रकार का विशिष्ट कुसंस्कार डालता है। उसी समय इस संस्कार का मूर्तरुप, पुद्गल द्रव्य आत्मा के चिरसंगी कार्मणशरीर से बँध जाता है। जब उस संस्कार का परिपाक होता है तो उसे बँधे हुए कर्मद्रव्य के उदय से आत्मा स्वयं उस हीन और अज्ञान अवस्था में पहुँच जाता है जिससे उसका झुकाव ज्ञानविकास की ओर नहीं हो पाता। वह लाख प्रयत्न करे, पर अपने उस कुसंस्कार के फलस्वरुप ज्ञान से वंचित हो ही जाता है। यही कहलाता है "जैसी करनी तैसी भरनी।" वे विचार और क्रिया न केवल आत्मा पर ही प्रभाव डालते हैं किन्तु आसपास के वातावरण पर भी अपना तीव्र, मन्द और मध्यम प्रभाव छोडते हैं। शरीर, मस्तिष्क और हृदय पर तो उसका प्रभाव निराला ही होता है। इस तरह प्रतिक्षणवर्ती विचार और क्रियाएँ यद्यपि पूर्वबद्ध कर्म के परिपाक से उत्पन्न हुई हैं पर उनके उत्पन्न होते ही जो आत्मा की नयी आसक्ति, अनासक्ति, राग, द्वेष और तृष्णा आदि रुप परिणति होती है ठीक उसी के अनुसार नये-नये संस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल सम्बद्ध होते जाते हैं और पुराने झडते जाते है। इस तरह यह कर्मबन्धन का सिलसिला तब तक बराबर चालु रहता है जब तक आत्मा सभी पुरानी वासनाओं से शून्य होकर पूर्ण वीतराग या सिद्ध नहीं हो जाता।

कर्मविपाक[26]:-

विचारणीय बात यह है कि कर्मपुद्गलों का विपाक कैसे होता है ? क्या कर्मपुद्गल स्वयमेव किसी सामग्री को जुटा लेते हैं और अपने आप फल दे देते हैं या इसमें कुछ पुरुषार्थ की भी अपेक्षा है ? अपने विचार, वचन व्यवहार और क्रियाएँ अन्ततः संस्कार तो आत्मा में ही उत्पन्न करती हैं और उन संस्कारों को प्रबोध देनेवाले पुद्गल द्रव्य कार्मण शरीर से बँधते हैं। ये पुद्गल शरीर के बाहर से भी खिंचते हैं और शरीर के भीतर से भी। उम्मीदवार कर्मयोग्य पुद्गलों में से कर्म बन जाते हैं। कर्म के लिए एकविशेष प्रकार के सूक्ष्म और प्रभावी पुद्गल द्रव्यों की अपेक्षा होती है। मन, वचन और काया की प्रत्येक क्रिया, जिसे योग कहते हैं, परमाणुओं में हलन-चलन उत्पन्न करती है और उसके योग्य परमाणुओं को भीतर से बाहर खींच लेती जाती है। यों तो शरीर स्वयं एक महान् पुद्गल पिंड है। इसमें असंख्य परमाणु श्वासोच्छ्वास तथा अन्य प्रकार से शरीर में आते-जाते रहते है। इन्ही में से छटकर कर्म बनते जाते हैं।

जब कर्म के परिपाक का समय आता है, जिसे उदयकाल कहते हैं, तब उसके उदयकाल में जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सामग्री उपस्थित होती है वैसा उसका तीव्र, मध्यम और मन्द फल होता है। नरक और स्वर्ग में औसतन असाता और साता की सामग्री निश्चित है। अतः वहाँ क्रमशः असाता और साता का उदय अपना फलोदय करता है और साता और असाता प्रदेशोदय के रुप में अर्थात् फल देनेवाली सामग्री की उपस्थिति न होने से बिना फल दिये ही झड जाते है। जीव में साता और असाता दोनों बँधी हैं, किन्तु किसीने अपने पुरुषार्थ से साता की प्रचुर सामग्री उपस्थित की है तथा अपने चित्त को सुसमाहित किया है तो उसको आने वाला असाता का उदय फल विपाकी न होकर प्रदेशविपाकी ही होगा। स्वर्ग में असाता के उदय की बाह्य सामग्री न होने से असाता का प्रदेशोदय या उसका साता रुप में परिणमन होना माना जाता है। इसी तरह नरक में केवल असाता की सामग्री होने से वहाँ साता का या तो प्रदेशोदय ही होगा या उसका असाता रुप से परिणमन हो जायेगा।

जगत् के समस्त पदार्थ अपने-अपने उपादान और निमित्त के सुनिश्चित कार्यकारणभाव के अनुसार उत्पन्न होते हैं और सामग्री

25. अ.रा.पृ. 7/821
26. अ.रा.पृ. 3/342

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार जुटते और बिखरते हैं। अनेक सामाजिक और राजनैतिक मर्यादाएँ साता और असाता के साधनों की व्यवस्थाएँ बनाती हैं। पहले व्यक्तिगत संपत्ति और साम्राज्य का युग था तो उसमें उच्चतम पद पाने में पुराने साता के संस्कार कारण होते थे, तो अब प्रजातंत्र के युग में जो भी उच्चतम पद हैं, उन्हें पाने में भी संस्कार सहायक होंगे।

जगत् के प्रत्येक कार्य में किसी-न-किसी के अदृष्ट को निमित्त मानना न तो तर्कसिद्ध है और न अनुभवगम्य ही। इसी तरह यदि परम्परा से कारणों की गिनती की जाय तो कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। कल्पना कीजिए - आज कोई व्यक्ति नरक में पडा हुआ असाता के उदय में दु:ख भोग रहा है और एक दरी किसी कारखाने में बन रही है जो 20 वर्ष बाद उसके उपयोग में आयेगी और साता उत्पन्न करेगी तो आज उस दरी में उस नरक स्थित प्राणी के अदृष्ट को कारण मानने में बडी विसंगति उत्पन्न होती है। अत: समस्त जगत् के पदार्थ अपने-अपने साक्षात् उपादान और निमित्तों से उत्पन्न होते हैं और यथासंभव सामग्री के अन्तर्गत होकर प्राणियों के सुख और दु:ख में तत्काल निमित्तता पाते रहते हैं। उनकी उत्पत्ति में किसी-न-किसी के अदृष्ट को जोडने की न तो आवश्यकता ही है और न उपयोगिता ही और न कार्यकारण व्यवस्था का बल ही उसे प्राप्त है।

कर्मों का फल देना, फलकाल की सामग्री पर निर्भर करता है। जैसे एक व्यक्ति के असाता का उदय आता है, पर वह किसी साधु के सत्संग में बैठा हुआ तटस्थ भाव से जगत् के स्वरुप को समझकर स्वात्मानंद में मग्न हो रहा है। उस समय आनेवाली असाता का उदय उसे व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकता, किन्तु वह बाह्य असाता की सामग्री न होने से बिना फल दिये ही झड जायेगा। कर्म अर्थात् पुराने संस्कार। वे संस्कार अबुद्ध व्यक्ति के ऊपर ही अपना कुत्सित प्रभाव डाल सकते हैं, ज्ञानी पर नहीं। यह तो बलाबल का प्रश्न है। यदि आत्मा वर्तमान में जागृत है तो पुराने संस्कारों पर विजय पा सकता है और यदि जागृत नहीं है तो वे कुसंस्कार ही फूलते-फलते जाँयेगे। आत्मा जब से चाहे तब से नया कदम उठा सकता है और उसी समय से नवनिर्माण की धारा प्रारंभ कर सकता है। इसमें न किसी ईश्वर की प्रेरणा की आवश्यकता है और न "नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म" के अटल नियम की अनिवार्यता ही है।

जगत् का अणु-परमाणु ही नहीं किन्तु चेतन-आत्माएँ भी प्रतिक्षण अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव के कारण अविराम गति से पूर्वपर्याय को छोड उत्तर पर्याय को धारण करती जा रही हैं। जिस क्षण जैसी बाह्य और आभ्यन्तर सामग्री जुटती जाती है उसकी के अनुसार उस क्षण का परिणमन होता जाता है। हमें जो स्थूल परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी असंख्य सूक्ष्म परिणमनों का जोड और औसत है। इसी में पुराने संस्कारों की कारण सामग्री के अनुसार सुगति या दुर्गति होती जाती है। इसी कारण सामग्री के जोड-तोड और तरतमता पर ही परिणमन का प्रकार निश्चित होता है। वस्तु के कभी सदृश, कभी विसदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश और असदृश आदि विविधप्रकार के परिणमन हमारी दृष्टि से बराबर गुजरते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य अपने कार्यकारण भाव को उल्लंघन करके उत्पन्न नहीं हो सकता । द्रव्य में सैकडों ही योग्यताएँ विकसित होने को प्रतिसमय तैयार बैठी हैं, उनमें से उपयुक्त योग्यता का उपयुक्त समय में विकास करा लेना, यही नियति के बीच पुरुषार्थ का कार्य है। इस पुरुषार्थ से कर्म भी एक हद तक नियंत्रित होते हैं।

6. जीव का उपयोग स्वभाव[27]:-

चारित्र के सैद्धांतिक पक्ष को आधार प्रदान करने वाला एक पक्ष है जीव का उपयोग स्वभाव। क्योंकि यदि जीव का स्वभाव 'उपयोग' न हो तो चारित्र अर्थात् कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा का कारण भूत क्रियाकलाप आधारहीन रह जाता है। इसी प्रकार बन्ध की भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। उपयोग का अर्थ है चैतन्य परिणति[28]। चैतन्य ही जीव का असाधारण धर्म है जो इसे अन्य द्रव्यों से अलग करता है। अनादि काल से जीव एसा ही है और अनंत काल तक एसा ही रहेगा। यद्यपि इसके संसारी अवस्था में विभाव परिणाम अनेक प्रकार के हो सकते हैं जिन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है : शुभोपयोग और अशुभपयोग। स्वभाव परिणाम को शुद्धपयोग कहते हैं। द्रव्य संग्रह में इन तीनों को लक्ष्य में रखकर जीव को कर्ता और भोक्ता और सिद्ध भी कहा है।[29]

वस्तुत: विभाव परिणाम भी पूर्णतया जीव के नहीं है किन्तु पुद्गल-संयोगावस्था में होने वाले परिणाम हैं। कारण, यदि ये जीवमात्र के परिणाम होते तो इनमें कभी मुक्ति नहीं हो सकती थी लेकिन यह तो लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि जीव का कोई परिणाम दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है। जैसे किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर क्रोध आने पर उसका बुरा कर लेने के बाद क्रोध शान्त हो जाता है अर्थात् क्रोध आता भी है इसीलिए जाता भी है। इसी प्रकार सभी विभावों के बारे में समझना चाहिए। ये सभी भाव पुद्गल के निमित्त से होते हैं। उदाहरण के लिए क्रोध किसी मूर्तिमान् पर ही आता है और उसे (मूर्तिमान् को) ही विकृत किया करता है; और पुद्गलबद्ध जीव को ही क्रोध करते देखा जाता है मुक्त जीवों को नहीं। और यह भी कि क्रोध का परिणाम भी नेत्ररक्तिमा, कम्प आदि और विखंडन (वधच्छेद) आदि पुद्गल में ही देखे जाते हैं। इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने तो इन्हें पौद्गलिक भाव तक कह दिया है।

दूसरे यह कि यदि क्रोधादि भाव जीव का स्वभाव परिणाम होता तो क्रोध हमेशा बना रहना चाहिए किन्तु सदा क्रुद्ध तो कोई नहीं देखा जाता । और यह भी कभी नहीं देखा गया कि जब जीव अचेतन परिणतिवाला हुआ हो। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव में भी चेतनत्व को ही लक्षण स्वीकार किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि इच्छा-द्वेष आदि भी संयोगी अवस्था में होनेवाले जीव के विभाव परिणाम कहे जाते हैं उस परिणाम में भी जीव तो उसका ज्ञाता मात्र रहता है, सुख दु:ख आदि विकार तो वेदन विभाव परिणाम के कारण होता है स्वभाव से तो ज्ञानमात्र ही वेदन होता है। अर्थात् निश्चय से तो पुद्गल ही कर्म का कर्ता भी है और भोक्ता भी।

---

27. अ.रा.पृ. 2/287; 4/1519
28. उपयोगो लक्षणम्। - तत्त्वार्थसूत्र 2/8
29. जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्गढई॥ - द्रव्यसंग्रह, गाथा 2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूँकी यह कर्मास्रव, बन्ध और उसके विपाक स्वरुप फल का भोग जीव की संयोगी अवस्था में किया जाता है इसीलिए व्यवहार से ये जीव के कहे जाते हैं। इस विषय में सांख्यों का सिद्धान्त भी इसी प्रकार का है।

जैसे जीव के अशुभ उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से कहे गयें हैं, वैसे ही शुभ (राग, करुणा आदि) भाव भी समझने चाहिए। इन दोनों विभाव परिणामों अर्थात् अशुभोपयोग और शुभोपयोग से भिन्न शुद्धोपयोग जीव का स्वभाव परिणाम है जैसे ज्ञान और आत्मसंवेदन (स्वानुभव)। कारण कि ज्ञान सदा ही अंश मात्र में तो अनुभूत होता ही रहता है और मुक्तावस्था प्राप्त होने पर वह पूर्णता को प्राप्त और अक्षय हो जाता है अर्थात् उसमें तरतमता नहीं आती।

7. मोक्ष की सादि अनन्तता:-

जैन सिद्धान्त में मोक्ष को सादि अनन्त माना गया है।[30] अर्थात् एक बार मोक्ष हो जाने पर उस अवस्था का कभी अन्त नहीं होता, क्योंकि बन्ध के हेतुओं का अभाव हो जाता है और पूर्व के कर्म नष्ट हो जाते हैं[31]। इसकी पुष्टि पतञ्जलि ने भी की है - कर्माशय नष्ट हो जाने पर जन्म-आयु और भोग नहीं होते[32]। अक्षपाद गौतम का भी यही मत है कि एसे किसी पुरुष को जन्मता नहीं देखा गया जो वीतराग हो (वीतरागजन्मादर्शनात्[33]) तथा यह भी कहा गया है कि जिसके क्लेश नष्ट हो गये हों उसकी प्रवृत्ति प्रतिसन्धान के लिए निमित्त नहीं होती[34]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनके वीतरागता नहीं है (जो राग-द्वेष आदि विभागों से युक्त है), उनके संसार का चक्र प्रवर्तमान रहता है। अर्थात् राग-द्वेषमूलक प्रवृत्ति ही संसार की कारण है। जैसे ही यह रागद्वेष समाप्त होता है वैसे ही अन्तहीन वीतरागता आरंभ हो जाती है। इसका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि जो जीव संसारी है वह पहले कभी भी मुक्त नहीं हुआ।

अनादि संसार का स्वरुप जैन आगमों में बताया गया है कि संसारी जीव का अनादि निवास निगोद अवस्था में रहता है। फिर जैसे जैसे उसका विकास होता है वह पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय पर्याय से होता हुआ पंचेन्द्रिय तक विकसित होता है। यदि उसके परिणाम अत्यन्त अशुभ होंगे तो वह पुन: निगोद अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार अनादि निगोद और सादि निगोद अवस्थाएँ होती हैं इन्हें असांव्यवहारिक (नित्य) निगोद और सांव्यवहारिक (इतर) निगोद कहा गया है[35]।

हमें आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीर से बद्ध मिलता है। इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दु:ख और यहाँ तक कि जीवनशक्ति भी शरीराधीन है। शरीर में विकार होने से ज्ञानतंतुओं में क्षीणता आ जाती हैं और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते हैं। संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीर सम्बन्ध का कोई कारण नहीं था। शरीर सम्बन्ध या पुनर्जन्म के कारण हैं - राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मा में ये विभाव परिणाम हो ही नहीं सकते। चूँकि आज ये विभाव और उनका फल-शरीर सम्बन्ध प्रत्यक्ष से अनुभव में आ रहा है, अत: मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनों में यही एक एसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुख से नहीं दिया जा सकता। ब्रह्म में अविद्या कब उत्पन्न हुई ? प्रकृति और पुरुष का संयोग कब हुआ ? आत्मा से शरीर सम्बन्ध कब हुआ ? इन सब प्रश्नो का एक मात्र उत्तर है - 'अनादि' से। किसी भी दर्शनने एसे समय की कल्पना नहीं की है जिस समय समग्र भाव से ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिश: अमुक आत्माओं से पुद्गलसंसर्ग या प्रकृतिसंसर्ग का वह रुप समाप्त हो जाता है जिसके कारण उसे संसरण करना पडता है। इस प्रश्न का दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नहीं हो सकता था। शुद्ध होने के बाद कोई एसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्गल सम्बन्ध या अविद्योत्पत्ति होने दे। इसी के अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होने का या शरीर सम्बन्ध का नहीं था। जब ये दो स्वतंत्रसत्तायुक्त द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो, नष्ट किया जा सकता है और दोनों को पृथक-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ - खदान से सर्वप्रथम निकाले गये सोने में कीट आदि मैल कितना ही पुराना या असंख्य काल से लगा हुआ क्यों न हो, शोधक प्रयोगों से अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रुप मे लाया जा सकता है।[36] तब यह निश्चय हो जाता है कि सोने का शुद्ध रुप यह है तथा मैल यह है। सारांश यह कि जीव और पुद्गल का बंध अनादि से है और वह बंध जीव के अपने राग-द्वेष आदि भावों के कारण उत्तरोत्तर बढता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब वह बंध आत्मा में नये विभाव उत्पन्न नहीं कर सकता और धीरे-धीरे या एक झटके में ही समाप्त हो सकता है। चूँकि यह बंध दो स्वतंत्र द्रव्यों का है, अत: टूट सकता है या उस अवस्था में

30. अ.रा.पृ. 2/287; 7/821
31. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष:।
-तत्त्वार्थसूत्र 10/2-3
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुर:।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुर॥
-तत्त्वार्थसूत्र 10/7 पर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य
32. सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति न उच्छिन्नक्लेशमूल:। पातंजल योगदर्शन 2/13 पर व्यासभाष्य
33. न्यायसूत्र 2/2/25
34. "न प्रवृत्ति: प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्या।' - न्याय सूत्र 4/1/64
35. (क) द्विविधा जीवा सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति। तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागता: सन्त: पृथिवीकायिका दिव्यवहारमनुपतन्तीति व्यवहारिका उच्यन्ते। ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति तथापि ते सांव्यवहारिका एव, संव्यवहारे पतितत्वात्। ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपतातीतत्वादसांव्यवहारिका:।
- प्रज्ञापनाटीकायां सू. 234
(ख) गोलाश्च असंख्येया: असंख्यनिगोदो गोलको भणित:।
एकैकस्मिन् निगोदे अनन्तजीवा ज्ञातव्यां ॥1॥
सिध्यन्ति यावन्त: खलु इह संव्यवहारजीवराशित:।
आयान्ति अनादिवनस्पतिराशितस्तावन्तस्तस्मिन् ॥2॥
- अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक 29 पर स्याद्वादमंजरी टीका में प्रज्ञापनासूत्र से उद्धृत
(ग) एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टा।
सिद्धैरनन्तगुणा: सर्वेण व्यतीतकालेन॥
-गोम्मटसार जीवकाण्ड 195
36. प्रथम कर्मग्रंथ गाथा-१ पर विवेचन पृ.5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहने पर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्मा की दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हों तो सुनने और देखने आदि की शक्ति रहने पर भी वह शक्ति जैसी-की-तैसी रह जाती है और देखना और सुनना नहीं होता। विचारशक्ति होने पर भी यदि मस्तिष्क ठीक नहीं है तो विचार और चिन्तन नहीं किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखने में वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्मा की दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गल के अधीन हो रहा है। और तो जाने दीजिए, जीभ के अमुक-अमुक हिस्सों में अमुक-अमुक रसों के चखने की निमित्तता देखी जाती है। यदि जीभ के आधे हिस्से में लकवा मार जाय तो शेष हिस्से से कुछ रसों का ज्ञान हो पाता है, कुछ का नहीं। इस जीवन के ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कला, विज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवन पर्याय के अधीन हैं।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञान का उपयोग विज्ञान या धर्म के अध्ययन में लगाता है, जवानी में उसके मस्तिष्क में भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रा में थे, तो उसके तन्तु चैतन्य को जगाये रखते थे। बुढापा आने पर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड जाता है तो विचार शक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानी में लिखे गए लेख यदि बुढापे में पढता हैं तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी-कभी तो उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्क की यदि कोई ग्रंथि बिगड जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमाग का यदि कोई केन्द्र अतिक्रियाशील या निष्क्रिय हो गया तो उन्माद, सन्देह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकार की धाराएँ जीवन को ही बदल देती है। मस्तिष्क के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के चेतन भावों को जागृत करने के विशेष उपादान रहते हैं।

आज भिन्न भिन्न भावों को उत्तेजित करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की रासायनिक दवाएँ प्रयुक्त की जाती हैं और उनसे राग, द्वेष, निद्रा, मद, मोह आदि भाव उत्पन्न होते हुए भी देखे जाते हैं। इन भावोत्तेजक भौतिक द्रव्यों के प्रभाव को देखकर हम इस निश्चित परिणाम पर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी पर्याय शक्तियाँ जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय आदि शामिल हैं, इस शरीर पर्याय के निमित्त से विकसित होती है। शरीर के नष्ट होते ही समस्त जीवन भर में उपार्जित ज्ञानादि पर्याय शक्तियाँ प्रायः बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार ही साथ में जाते हैं।

व्यवहार से जीव मूर्त भी है :-

जैनदर्शन में व्यवहार से जीव को मूर्त मानने का अर्थ है कि अनादि से यह जीव शरीर सम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोडने पर भी सूक्ष्म (कार्मण) शरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्मशरीर के नाश को ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाक का देहात्मवाद देह के साथ ही आत्मा की समाप्ति मानता है जब कि जैन के देह परिमाण-आत्मवाद में आत्मा की स्वतंत्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशा में देहाश्रित यानी देहनिमित्तिक माना गया है।

आत्मा की दशा :-

आज का विज्ञान हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेडी-सीधी; और उथली-गहरी रेखाएँ मस्तिष्कमज्जा में खिंचती जाती हैं, और उन्हीं के अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं। जैसे अग्नि से तपे हुए लोहे के गोले को पानी में छोडने पर वह गोला जल के बहुत से परमाणुओं को अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओं को बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानी में उथल-पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओं को लेता है, कुछ को निकालता है, कुछ को भाप बनाता, यानी एक विचित्र ही परिस्थिति आसपास के वातावरण में उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब वह आत्मा राग-द्वेष आदि से उत्तप्त होता है; तब शरीर में एक अद्भुत हलन-चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखे लाल हो जाती हैं, खून की गति बढ जाती है, मुँह सूखने लगता है, और नथने फडकने लगते हैं। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीर में एक विशेष प्रकार का मंथन शुरु होता है, और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नहीं हो लेती तब तक यह चहल-पहल और मंथन आदि नहीं रुकता। आत्मा के विचारों के अनुसार पुद्गल द्रव्यों में भी परिणमन होता है और उन विचारों के उत्तेजक पुद्गल आत्मा के वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीर में शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्म पुद्गलों पर दबाव पडता है तब-तब वे फिर रागादि भावों को जगाते हैं। फिर नये कर्म पुद्गल आते हैं और उन कर्म पुद्गलों के परिपाक के अनुसार नूतन रागादि भावों की सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्म पुद्गलों के संबंध का चक्र तब तक बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्र से रागादि भावों को नष्ट नहीं कर दिया जाता।

सारांश यह कि जीव की ये राग-द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गल कर्मबन्ध की धारा बीज-वृक्षसन्तति की तरह अनादि से चालु है। पूर्वसंचित कर्म के उदय से इस समय राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं और तत्काल में जो जीव की आसक्ति होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्म से रागादि और रागादि से नये कर्म का बन्ध होता है तब इस चक्र का उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नहीं है; कारण यह है कि केवल पूर्व कर्म के फल का भोगना ही नये कर्म का बन्धक नहीं होता, किन्तु उस भोग काल में जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के पूर्वकर्म के भोग नूतन रागादि भावों को नहीं करने से निर्जरा के कारण होते हैं जब कि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादि से बंध ही बंध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्म के उदय से होनेवाले रागादिभावों को अपने विवेक से शांत करता है और उनमें नई आसक्ति नहीं होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड जाते हैं और किसी नये कर्म का उनकी जगह बन्ध नहीं होता। अतः सम्यग्दृष्टि तो हर तरफ से हल्का हो चलता है; जब कि मिथ्यादृष्टि नित्य ही नयी वासना और आसक्ति के कारण तीव्रता से कर्मबन्धनों में जकडता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्क पर अनुभवों की सीधी, टेढी, गहरी, उथली आदि असंख्य रेखाएं पडती रहती हैं, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहले की निर्बल रेखा को साफ कर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है और यदि विजातीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कार की है तो उसे पोंछ देती है। अन्त में कुछ ही अनुभव रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती हैं। इसी तरह आज जो राग-द्वेषादिजन्य संस्कार उत्पन्न होते हैं और कर्मबन्धन करते हैं; वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और संयम आदि की पवित्र भावनाओं से धुल जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावों का निमित्त मिलता है, तो पूर्वबद्ध पुद्गलों में और भी काले पुद्गलों का संयोग तीव्रता से होता जाता है। इस तरह जीवन के अन्त में कर्मों का बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण (हानि), उत्कर्षण (वृद्धि), संक्रमण (एक दूसरे के रुप में बदलना) आदि होते-होते जो कर्मराशि अवशिष्ट रहती है वही सूक्ष्म कर्म-शरीर के रुप में परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्नि पर उबलती हुई बटलोई में दाल चावल, शाक आदि जो भी डाला जाता है उसकी ऊपर-नीचे अगल-बगल में उफान लेकर अन्त में एक खिचडी-सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मों में, शुभ भावों से शुभ कर्मों में रस-प्रकर्ष और स्थिति वृद्धि होकर अशुभ कर्मों में रसहीनता और स्थितिच्छेह हो जाता है। अन्त में एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदय से रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते हैं।

अथवा जैसे पेट में जठराग्नि से आहार का मल, मूल, स्वेद आदि के रुप से कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वहीं आत्मसात् होकर रक्तादि रुप से परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादि रुप बन जाता है। बीच में चूर्ण आदि आदि के संयोग से उसकी लघुपाक (शीघ्रता से पचना), दीर्घपाक (कठिनता से पचना) आदि अवस्थाएँ भी होती हैं, पर अन्त में होनेवाले परिपाक के अनुसार ही भोजन सुपाच्य या दुष्पाच्य कहा जाता है, उसी तरह कर्म का भी प्रतिसमय होनेवाले अच्छे और बुरे भावों के अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रुप से परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्त में जो स्थिति होती है, उसके अनुसार उन कर्मों को शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्गल और आत्मा दोनों से प्रभावित होता है। जब कर्म का एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्ति का स्रोत है, आत्मा से सम्बद्ध होता है, तो सूक्ष्म और तीव्र शक्ति के अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं और प्राप्त सामग्री के अनुसार उस संचित कर्म का तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादि काल से चल रहा है और तब तक चालू रहेगा जब तक कि बन्धकारक मूल रागादिवासनाओं का नाश नहीं कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थों के - नोकर्मों के समवधान के अनुसार कर्मों का यथासंभव प्रदेशोदय या फलोदय रुप से परिपाक होता रहता है। उदयकाल में होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावों के अनुसार आगे उदय में आनेवाले कर्मों के रसदान में भी अन्तर पड जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मों का फल देना, अन्य रुप में देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शन में यह आत्मा अनादि से अशुद्ध माना गया है और प्रयोग से यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होने के बाद फिर अशुद्ध होने का कोई कारण नहीं रह जाता।

8. चारित्र का व्यवहारिक स्वरुप :-

यह तो संसार के स्वरुप से ही स्पष्ट है कि संकल्पतः धारणीय चारित्र निगोद से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक संभव ही नहीं है क्योंकि वहाँ कर्तव्याकर्तव्य का विवेक हो नहीं सकता। किन्तु संज्ञी अवस्थाओं में भी देवयोनि में यह चारित्र धारण नहीं किया जाता। चारित्र धारण करने के लिए मनुष्य योनि और तिर्यञ्च संज्ञी पंचेन्द्रिय योनि ही बचती हैं। अर्थात् जहाँ एक ओर चारित्र का उपादान आत्मा का स्वरुप है वहाँ दूसरी ओर निमित्त भी तदनुरुप आवश्यक है। यदि चारित्र के प्रवृत्तिपक्ष और निवृत्तिपक्ष देखे जायें तो यह हस्तमालकवत् स्पष्ट हो जाता है कि वर्जनापक्ष मनुष्य योनि के लिए ही कहा गया है। चाहे वह असत्य वचन का त्याग हो या परस्त्री गमन या वेश्यावृत्ति का त्याग हो अथवा परिग्रह का त्याग या परिमाण - ये सब के सब मनुष्य योनि से सम्बन्धित हैं।

इसी प्रकार प्रवृत्तिपक्ष में चतुर्विंशति स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि सब मानव के करणीय हैं। यद्यपि तिर्यग्योनि में भी अनेक जीवों के अमुक व्रतरुप चारित्र धारणा किये जाने के अनेक दृष्टान्त पुराणों में आये हैं किन्तु उन सबका सम्बन्ध किसी न किसी रुप में मानव योनि के जाति-स्मरण (पूर्वजन्म के स्मरण) से जुडा हुआ है[37]।

संक्षेप में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चारित्रधारण का सीधा सम्बन्ध मनुष्य योनि से है। जब हम इस चारित्र के विकास की भूमिकाओं की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें एक अन्य निमित्त की जानकारी मिलती है कि अशुभोपयोग और शुभोपयोग के समूल नाश के लिए मनुष्य योनि में भी वज्रऋषभनाराच संहनन का होना आवश्यक है। इसके अभाव में जीव के राग-द्वेष भाव नष्ट नहीं हो पाते।

इसका कारण यह है कि शरीर संहनन की दृढता के बिना पौद्गलिक प्रभावों से मन शीघ्र ही प्रभावित हो जाता है और मन की एकाग्रता नहीं हो पाती। मन ही बन्ध और मोक्ष में निमित्त कारण हैं। सिद्धान्त को समझने का विस्तार बहुत है, जैसे - एकाग्र होने के साथ चिन्ता का रोकना ध्यान कहलाता है[38]; इस ध्यान के प्रकार, उनमें कषायों की तरतमता (लेश्या), उनके साथ-साथ कर्मों की क्षयोपशम की स्थिति, परिषहजय आदि चारित्र का ही विस्तार है। किन्तु संक्षेप में इसे रागद्वेषनिवृत्तिमूलक अहिंसा कहा जाता है।

9. चारित्र का आधार :-

जैसा कि पूर्व में कहा गया है, जीव के दो तरह के परिणाम होते हैं : स्वभाव परिणाम और विभाव परिणाम। विभाव परिणाम भी शुभ और अशुभ रुप से दो प्रकार के हैं, इन्हीं दो वर्गों में समस्त विकारी भाव समाये हुए हैं। इन्हें दूसरे प्रकार से (पर्यायवाची नामों से नहीं) राग और द्वेष के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। न्यायदर्शन में रागद्वेषमोह रुप त्रैराश्य में मोह को भी सम्मिलित किया गया है[39]। जैन सिद्धान्त में मोह को तो प्रथमतः ही घातक माना गया है (दर्शनमोह और चारित्रमोह नाम से इसका बहुत विस्तार से विवेचन है[40]), इसके

37. क. धन्यकुमार चरित्र, सुनन्दा-रुपसेन अधिकार, जीव-विचार प्रकरण -महेसाणा प्रकाशन
    ख. कल्पसूत्र बालावबोध, पंचम व्याख्यान, चंडकौशिक सर्प उपसर्गाधिकार
38. क. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् आ मुहूर्तात्। -तत्त्वार्थसूत्र 9/27-28
    ख. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। -पातञ्जलयोगदर्शन 3/2
39. तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात्। न्यायदर्शन 4/1/3
40. तत्त्वार्थसूत्र 8/10

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदय में चारित्र की भूमिका (सम्यक् श्रद्धा) ही नहीं बन पाती। सम्यक् श्रद्धा के बाद ज्ञानपूर्वक चारित्र में राग और द्वेष को नष्ट करने पर परम अहिंसा प्रगट होती है जिससे आत्मा के शुद्ध परिणामों की हिंसा नहीं हो पाती। अहिंसा का स्वरुप पुरुषार्थसिद्धयुपाय में निम्नलिखित प्रकार से बताया गया है-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥[41]

यही भीतरी अहिंसा समग्र अन्तःचारित्र और बहिः चारित्र की नीव है। लौकिक अहिंसा का बीज भी यही है। इसलिए अहिंसा को ही चारित्र का आधार कहा जाता है।

अहिंसा की साधना का मुख्य आधार जीव तत्त्व के स्वरुप और उसके समान अधिकार की मर्यादा का तत्त्वज्ञान ही बन सकता है। जब हम यह जानते और मानते हैं कि जगत् में वर्तमान सभी आत्माएँ अखंड और मूलतः एक-एक स्वतंत्र समान शक्तिवाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नहीं है, हम उससे विकल होते हैं और अपने जीवन को प्रिय समझते हैं; सुख चाहते हैं, दुःख से घबडाते हैं उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद, वृक्ष-वनस्पति, क्रीडा-मकोडा, पशु-पक्षी आदि अनेक शरीरों को धारण करती रही है और न जाने इसे कौन-कौन शरीर धारण करना पडेंगे। मनुष्यों में जिन्हें हम नीच, अछूत आदि कहकर दुरदुराते हैं और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और बन्धनों से उन समानाधिकारी मनुष्यों के अधिकारों का दलन करके उनके विकास को रोकते हैं, उन नीच और अछूतों में भी हम उत्पन्न हुए होंगे। आज मन में दूसरों के प्रति उन्हीं कुत्सित भावों को जाग्रत करके उस परिस्थिति का निर्माण अवश्य ही कर रहे हैं जिससे हमारी उन्हीं जातियों में उत्पन्न होने की अधिक संभावना है। उन सूक्ष्म निगोद से लेकर मनुष्यों तक के हमारे सीधे संपर्क में आनेवाले प्राणियों के मूलभूत स्वरुप और अधिकार को समजे बिना हम उन पर करुणा, दया आदि के भाव ही नहीं ला सकते, और न समानाधिकारमूलक परम अहिंसा के भाव ही जागृत कर सकते हैं। चित में जब उन समस्त प्राणियों में आत्मौपम्य की पुण्यभावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगल कामना से भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्म को नहीं समजनेवाले संघर्षशील हिंसकों के शोषण और दलन से पिसती हुई आत्मा के उद्धार की छटपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञान की सुवास से ही हमारी परिणति परपदार्थों के संग्रह और परिग्रह की दुष्प्रवृत्ति से हटकर लोककल्याण और जीव सेवा की ओर झुकती है। अतः अहिंसा की सर्वभूतमैत्री उत्कृष्ट साधना के लिए सर्वभूतों के स्वरुप और अधिकार का ज्ञान तो पहले चाहिये ही। न केवल ज्ञान ही, अपितु चाहिये उसके प्रति दृढ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्व की मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रिय राजकुमार वर्धमान के मन में जगी थी और तभी वे प्राप्त राजविभूति को बंधन मानकर बाहर-भीतर की गांठे खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत् में मानवता को वर्ण भेद की चक्की में पीसने वाले तथोक्त उच्चाभिमानियों को झकझोरकर एक बार रुककर सोचने का शीतल वातावरण उपस्थित कर सके। उनने अपने त्याग और तपस्या के साधक जीवन से महत्ता का मापदण्ड ही बदल दिया और उन समस्त त्रस्त, शोषित, अभिद्रावित और पीडित मनुष्यतनधारियों को आत्मवत् समझकर धर्म के क्षेत्र में समान रुप से अवसर देनेवाली धर्मसभा आयोजिक की। तात्पर्य यह कि अहिंसा की विविध प्रकार की साधनाओं के लिए आत्मा के स्वरुप और उसके मूल अधिकार-मर्यादा का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि पर पदार्थों से विवेक प्राप्त करने के लिए 'पर' पुद्गल का ज्ञान। बिना इन दोनों का वास्तविक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शन की वह अमर ज्योति नहीं जल सकती, जिसके प्रकाश में मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमता का उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकार का ज्ञान और उसको जीवन में उतारने की दृढनिष्ठा ही सर्वोदय की भूमिका हो सकती है। अतः वैयक्तिक दुःख की निवृत्ति तथा जगत् में शान्ति स्थापित करने के लिए जिन व्यक्तियों से यह जगत् बना है उन व्यक्तियों के स्वरुप और अधिकार की सीमा को हमें समझना ही होगा। हम उसकी तरफ से आँख मूँदकर तात्कालिक करुणा या दया के आँसू बहा भी लें, पर उसका स्थायी समाधान नहीं कर सकते। अतः जैन सिद्धान्त ने बन्धनमुक्ति के लिये जो 'बंधा है तथा जिससे बंधा है' (बन्ध और बन्धकृत्) इन दोनों तत्त्वों का परिज्ञान आवश्यक बताया। बिना इसके बन्ध परम्परा के समूलोच्छेद करने का सङ्कल्प ही नहीं हो सकता और न चारित्र के प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्र की प्रेरणा तो विचारों से ही मिलती है।

उपसंहार :-

सुख का उपाय अर्थात् दुःख से अत्यन्तनिवृत्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र है। और पूरे सम्यक्चारित्र का सार भावात्मक अहिंसा अर्थात् रागादि विकारी भावों की उत्पत्ति न होना है। वस्तुतः यह कथन भी एकांगी है; इसमें केवल नकारात्मक पक्ष का कथन किया गया है। रागादि की उत्पत्ति न होने पर क्या होता है और कैसे होता है, यह महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः रागादि विकारी भावों की उत्पत्ति के अभाव में जीव की पूर्ण स्वभावोन्मुखता हो जाती है, और पूर्ण स्वानुभव की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। एक बार इस प्रकार के पूर्ण स्वानुभव की प्रक्रिया हो जाने के बाद परोन्मुखता का कोई कारण न होने से जीव सदा ही उसी अवस्था में बना रहता है।

यहाँ जितने सरल और अल्प शब्दों में और अल्प समय में यह कह दिया गया है वह सब इतनी सरलता से नहीं जाता, कारण कि जीव अनादि वासना से दूषित है, और उसके ये संस्कार शीघ्र नहीं छूटते, जैसे तम्बाकू, गाँजा, भाँग, मदिरा आदि का नशा शीघ्र नहीं छूटता किन्तु धीरे धीरे और दृढ मन से और बहुत कम लोगों का ही छूटता है। अविद्या के इस संस्कार को छोडने से आत्मा के विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। आत्मा का विकास किस प्रक्रिया से होता है, कितने चरणों में होता है, उसे जैनागम में 'गुणस्थान' शब्द से कहा गया है। गुणस्थान का स्वरुप समझने के लिए आगे 'गुणस्थान' नाम से एक शीर्षक आरम्भ किया जा रहा है।

41. पुरुषार्थसिद्धयुपाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. गुणस्थान

पिछले शीर्षक में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अनादि संसार के दु:खो से आत्यन्तिक मुक्ति के लिए मोक्षमार्ग का आलम्बन लेना ही एक मात्र उपाय है। वह उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप रत्नत्रय नाम से जाना जाता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रियान्वित चारित्र से संसारदु:ख के कारणभूत कर्मो की आत्यन्तिक निर्जरा हो जाने से जीव की जो शुद्ध अवस्था प्रगट होती है वह अनन्त होती है। किन्तु यह अवस्था प्राप्त करना क्रमश: ही सम्भव होता है। इस क्रम में आत्मा के गुणों का विकासोन्मुख आविर्भाव होता जाता है और अन्त में आत्मा की सभी शक्तियों का सम्पूर्ण उदय हो जाता है। विकासोन्मुख आत्मा की जो जो अवस्थाएँ होती हैं, उनका वर्गीकरण 14 स्थानों के रुप में किया गया है, जैनसिद्धान्त में इन्हें 'गुणस्थान' नाम से जाना जाता है। यहाँ पर गुणस्थानों के स्वरुप पर किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है।

संसार में विद्यमान अनन्त जीवों को आत्यंतिक सुख इष्ट है और अहर्निश उसकी प्राप्ति की आकांक्षा से प्रेरित होकर वे आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की ओर अग्रसर हैं। उन सब में विविध प्रकार की विषमताएँ और विविधताएँ है, बाह्य और अभ्यन्तर जीवन की बनावट में विभिन्नताएँ है।

दर्शनान्तरों ने एवं सभी सामान्य विचारकों ने इन विभिन्नताओं के कारणों की मीमांसा की है और किसी न किसी रुप में अथवा प्रकारान्तर से जैन दर्शन की तरह कर्म को सुखदु:ख का कारण माना है।

इसके अतिरिक्त जो दर्शन आस्तिक अर्थात् आत्मा, पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष पाने की योग्यता माननेवाले हैं, उन्होंने किसी न किसी रुप में आत्मा के क्रमिक विकास का विचार किया है[1]। यह विचार जैनदर्शन में गुणस्थान[2], योगदर्शन में चित्तभूमियाँ[3], वैदिकदर्शन में भूमिकाएँ[4], एवं बौद्धदर्शन में अवस्थाओं[5] के नाम से प्रसिद्ध है। गुणस्थानों के वर्णन में जैसी सूक्ष्मता और विस्तृतता जैनदर्शन में है वैसी अन्य दर्शनों में नहीं है, फिर भी कुछ न कुछ समानता है। उसका प्रस्तुत शोध प्रबंध में यथास्थान संकेत किया जायेगा। लेकिन इससे पूर्व गुणस्थानों के माध्यम से यहाँ जैन दर्शन के विचार को प्रस्तुत करते हैं, जिससे यह ज्ञात हो सकेगा कि कर्मों से आवृत होने पर भी स्वभावत: उत्क्रान्तिशील आत्मा विकास पथ पर बढती हुई स्वरुपबोध एवं स्वरुपलाभ द्वारा जन्म-मरण के चक्र को भेद कर अपने स्वरुप में कैसे स्थित होती है[6]।

जीव एवं उसकी अवस्थाएँ :-

तीन लोक में अनन्त जीव हैं। 'जीव' शब्द की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा गया है कि जो प्राणों को धारण करता है वह जीव है। वहाँ 'जीव' का विशेष परिचय देते हुए कहा है-"मिथ्यात्वादि से कलुषितरुप से सातावेदनीयादि कर्मो का निवर्तक, उन कर्मो के फल का भोक्ता, नरकादि भवों में कर्मो का संसर्ता एवं कर्मो का नष्ट करनेवाला जो है उसे जीव, सत्त्व, प्राणी या आत्मा कहते हैं[7]। आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने जीवों के भेद बताते हुए कहा है-

"नाना संसारिमुक्ताख्यो, जीव: प्रोक्तो जिनाऽऽगमे।[8]"

अर्थात् जीव के संसारी और मुक्त - ये दो भेद हैं। ज्ञानावरणादि कर्मो से युक्त जीव संसारी कहलाता है[9] और समस्त कर्मो से मुक्त जीव 'मुक्त' या 'सिद्ध' कहलाता है[10]। मुक्त जीव तो सदा के लिये जन्म-मरण रुप संसार से छूट जाते हैं परन्तु संसारी जीव उस समय तक जन्म-मरण के चक्र में पडे रहकर विविध प्रकार के शरीर धारण करते रहते हैं जब तक कि वे मुक्त नहीं हो जाते।

इस दृष्टि से किये गये संसारी जीवों के वर्णन के तीन प्रकार हैं - जीवस्थान[11], मार्गणास्थान[12] और गुणस्थान[13]। इसमें से प्रत्येक के चौदह-चौदह भेद हैं।

'गुणस्थान' शब्द के पर्याय:-

'गुणस्थान' गुण और स्थान इन दो शब्दों के योग से निष्पन्न पारिभाषिक शब्द है। इसकी पारिभाषिक व्याख्या करने के पूर्व जैन दर्शन में इसके प्रयोग और प्रचार के इतिहास पर दृष्टिपात कर लेना युक्ति-संगत होगा।

'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग आगमोत्तर-कालीन टीकाकारों एवं आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रंथों एवं अन्य धार्मिक ग्रंथो में किया गया है। किन्तु आगमों में गुणस्थान के बदले जीवस्थान शब्द का प्रयोग देखने में आता है और आगमोत्तरकालीन ग्रंथो में जीवस्थान शब्द के लिए भूतग्राम शब्द प्रयुक्त किया गया है। समवयांग सूत्र में जीवस्थानों की रचना का आधार कर्मविशुद्धि कहा है और उसकी टीका में अभयदेवसूरिजीने भी गुणस्थानों को ज्ञानावरणादि कर्मो की तरतमता से उत्पन्न बताया है। उनके अभिप्रायानुसार आगमों में जिन

---

1. अस्ति नास्ति दृष्टं मति:। पाणिनि अष्टाध्यायी 4/4/60
2. अ.रा.पृ. 3/913
3. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चितभूमय:। पातञ्जल योगसूत्र
4. योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण सर्ग 117/2
5. भारतीय दर्शन, बौद्धदर्शन, पृ. 129, 130-ले. बलदेव उपाध्याय
6. इहोत्तरोत्तरेगुणारुढानां जन्तूनामसंख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रमं विशुद्धयप्रकर्षरुपा: सन्तो गुणस्थानकान्युच्यते। अ.रा.पृ. 3/913-914 गुणट्ठाण शब्द
7. जीव-जीवितुं प्राणान् धारयितुम्। अ.रा.पृ. 4/1519
8. अ.रा.पृ. 4/1522; संसारिणो मुक्ताश्च। तत्त्वार्थसूत्र 2/10
9. क. जीव.....युक्त: संबद्धो ज्ञानाऽऽवरणादिकर्मसंयुक्त:।" अ.रा.पृ. 4/1519
   ख. "संसरणं ज्ञानावरणादिकर्मयुक्तानां गमनं स एषामस्तीति संसारिण:।" -अ.रा.पृ. 7/256
10. क. ".....व्यपगतसमस्तकर्मसङ्गमा: सिद्ध:।" अ.रा.पृ. 4/1522
    ख. गुणस्थान क्रमरोह, 129, 130, 131
11. अ.रा.पृ. 4/1525, एवं 4/1548; कर्मग्रन्थ 4/3
12. अ.रा.पृ. 4/924, 925, 926; 4/1551, 1552; 6/50
13. अ.रा.पृ. 3/914 कर्मग्रंथ 2/1,2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चौदह जीवस्थानों के नामों का उल्लेख है; वे ही नाम गुणस्थानों के हैं। ये चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भावाभावजनित अवस्थाओं से बनते हैं तथा परिणाम और परिणामी में अभेदोपचार होने से जीवस्थान को गुणस्थान कहते हैं[14]। षट्खंडागम-धवला टीका के अनुसार जीवगुणों में रहता है, अतः 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग देखने में आता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कर्म के उदय से उत्पन्न गुण औदयिक और कर्म के उपशम से उत्पन्न गुण औपशमिक है, कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न गुण क्षायोपशमिक है, कर्म के क्षय से उत्पन्न गुण क्षायिक है और कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभावतः होने वाला गुण पारिणामिक है। इन गुणों के सहचारी होने से जीवसमास शब्द का प्रयोग देखने में आता है तथा संक्षेप और ओघ, सामान्य और जीवसमास-ये चारों गुणस्थान के पर्यवाची नाम है[15]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमों में यद्यपि 'गुणस्थान' शब्द का प्रयोग नहीं है; लेकिन उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा जिस आशय की अभिव्यक्ति करने के लिए 'गुणस्थान' शब्द का उपयोग किया गया है; उसके लिए वहाँ 'जीवस्थान' शब्द रखा है। आगमोत्तरकालीन साहित्य में 'गुणस्थान' शब्द के अधिक प्रचलित होने का कारण यह है कि औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक गुण तो जीव में कर्म की अवस्थाओं से संबंधित हैं, किन्तु पारिणामिक भाव एक एसा गुण है, जिसमें किसी अन्य संयोग की अपेक्षा नहीं होती[16]; वह स्वाभाविक है। अतः इस गुण की प्रमुखता के कारण अभेदोपचार से जीव को भी गुण कहा और गुण की मुख्यता से पश्चाद्वर्ती साहित्य में संभतः 'गुणस्थान' शब्द मुख्य एवं 'जीवस्थान' शब्द गौण हो गया। कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन आगमों और पश्चाद्वर्ती साहित्य में शाब्दिक भेद होने पर भी गुणस्थान व जीवस्थान शब्द का आशय एक ही है। इसमें किसी प्रकार की मत-भिन्नता नहीं है। अर्थात् 'गुणस्थान' शब्द आगमों में उल्लिखित 'जीवस्थान' शब्द का पर्याय है[17]।

गुणस्थान शब्द की परिभाषा एवं अर्थ :-

'गुणस्थान' शब्द का अर्थ गुणों (आत्मशक्तियों) का स्थान। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'गुणस्थान' शब्द की परिभाषा देते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने लिखा है - "**तत्र गुणा ज्ञानदर्शनचारित्रस्मा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनस्त्र तेषा शुद्धिविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरुपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा गुणानां स्थानं गुणस्थानम्।**" इसे ही और स्पष्ट किया गया है -

इहोत्तरोत्तरगुणारुढानां जन्तूनामसंख्येयगुण निर्ज्जरा-भाक्त्वम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रमं अविशुद्धयपकर्ष-विशुद्धि-प्रकर्षरुपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यते।

अथवा

परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पे मिथ्यादृष्टया-दिकाऽ - योगिकेवलिपर्य्यवसाने जीवानां स्वस्म -भेदो[18]।

अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्ररुप जीवस्वभाव-विशेष, आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्था अथवा आत्मगुणों या आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की, उनके शुद्ध कार्यरुप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्था में क्रमशः शुद्ध और विकास करती हुई आत्म-परिणति का स्थान[19] अथवा कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था से होनेवाले परिणामों का स्थान अथवा परमपद अर्थात् मोक्षरुपी प्रासाद के शिखर पर चढने हेतु मिथ्यादृष्टि से अयोगी केवली पर्यन्त के जीवों का स्वरुप (दर्शाने) वाली सोपान पंक्ति (निःश्रेणी)। उन उन परिणामों से युक्त जीव उस उस गुणस्थानवाले कहे जाते हैं।

विकास की ओर अग्रसर आत्मा यद्यपि उस प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का अनुभव करती है; लेकिन उन सब का संक्षेप में वर्गीकरण करके चौदह विभाग किये गये हैं। वे चौदह गुणस्थान कहलाते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में उनके नाम निम्नानुसार है[20] -

(1) **मिथ्यादृष्टि**	(2) **सास्वादन सम्यग्दृष्टि**
(3) **सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र)**	(4) **अविरत सम्यग्दृष्टि**
(5) **देशविरत**	(6) **प्रमतसंयत**
(7) **अप्रमतसंयत**	(8) **निवृत्ति (अपूर्वकरण)**
(9) **अनिवृत्ति बादर संपराय**	(10) **सूक्ष्म संपराय**
(11) उपशान्तकषाय वीतराग-छद्मस्थ	(12) क्षीण-कषाय वीतराग-छद्मस्थ
(13) **सयोगी केवली**	
(14) **अयोगी केवली**	

गोम्टसार एवं बृहद्द्रव्यसंग्रह में 'सास्वादन' गुणस्थान का नाम 'सासादन' और 'सासन' दिया है[21]।

1. मिथ्यात्व गुणस्थान :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में मिथ्यात्व का परिचय देते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने लिखा है - दर्शनमोहनीय कर्म के भेद मिथ्यात्व की प्रबलतम स्थिति यहाँ होने से इस गुणस्थान का नामकरण किया गया है। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति, विश्वास) मिथ्या (विपरीत) हो जाती है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यद्यपि मिथ्यावादी की दृष्टि विपरीत है; फिर भी वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि रुप में जीव को जानता और मानता है। वह अहिंसा सत्य आदि गुणों को उत्तम मानता है। यह उसका गुण है और इसी गुण की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरुप विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इसका अपर नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।[22]

मिथ्यात्व को भी गुणस्थान मानने का कारण यह है कि

14. भूयग्गाम - भूतग्राम। भूतानि जीवास्तेषां ग्रामः समूहो भूतग्रामः। जीवसमूहे चउद्दस भूयग्गामा पण्णत्ता। तं
जहा-सुहुमा अपज्जत्तया.....त्वसंज्ञिनः इति। अथवा चतुर्दशभूतग्रामाः चतुर्दश गुणस्थानकानि।
15. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 3 पर सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका, पृ. 82
16. अ.रा.पृ. 6/1500, 6/615; 3/907
17. अ.रा.पृ. 5/1599, 1600
18. अ.रा.पृ. 3/913, 914
19. गुणा ज्ञानोदयस्तेषां स्थानं नाम स्वरुपभित्।
शुद्धयशुद्धिप्रकर्षापकर्षोत्थात्र प्रकीर्त्यते ॥1133॥ - द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3/1133
20. अ.रा.पृ. 3/914, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 9, 10
21. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 9; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 130 की टीका
22. अ.रा.पृ. 6/272, 274, 277; गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 15 व टीका; सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका पृ. 91; द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1134 से 1140; गुणस्थान क्रमारोह गाथा 6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा आच्छादित नहीं हो जाती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती है, जिससे दिन रात का व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा ढँक नहीं जाता, किन्तु आंशिक रुप में एक का प्रकार अव्यक्त स्पर्श मात्र उपयोग होता है। यदि यह न माना जाये, तो निगोदिया जीव अजीव कहलायेगा। इसलिए मिथ्यात्व को गुणस्थान माना जाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव की आध्यात्मिक स्थिति पूर्ण रुप से निम्नतम स्तर की होती है तथा राग, द्वेष आदि के वशीभूत होने से वह आध्यात्मिक सुखों से सर्वथा वंचित रहता है[23]।

सुदेव में देव बुद्धि, सुगुरु में गुरु बुद्धि और सुधर्म में धर्म बुद्धि सम्यक्त्व है, जब कि सुदेव में देवबुद्धि का अभाव और सुगुरु में गुरुबुद्धि का अभाव और सुधर्म में धर्मबुद्धि का अभाव; इसी प्रकार कुगुरु में गुरुबुद्धि और कुदेव में देवबुद्धि और कुधर्म में धर्मबुद्धि मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मिथ्या पर्यायों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। जिस प्रकार पितज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा नहीं लगता, कडवा लगता है; उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव को यथार्थ धर्म का श्रवण, मनन, चिन्तन अच्छा नहीं लगता । वह दोषदर्शन की ओर उन्मुख रहता है[24]। इसीलिए मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी नहीं कहते।

मिथ्यात्व के भेद:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने मिथ्यात्व के अनेक भेद-प्रभेद दर्शाये हैं[25]। स्थानांगसूत्र में मिथ्यात्व के (1) अक्रिया - असम्यक्क्रिया (2) अविनय और (3) अज्ञान - ये तीन भेद बताये हैं[26]। सम्मति तर्क में मिथ्यात्व के षट् स्थान पर निम्नानुसार बताये हैं - (1) आत्मा नहीं है (2) वह नित्य नहीं है (3) कर्ता नहीं है (4) भोक्ता नहीं है (5) निर्वाण नहीं है और (6) मोक्ष का उपाय नहीं है[27]। धर्मरत्न प्रकरण के अनुसार मिथ्यात्व के पांच प्रकार है[28] :-

1. आभिग्राहिक मिथ्यात्व[29] - तत्व के स्वरुप का स्पष्ट बोध नहीं होने पर भी जो अज्ञानी व्यक्ति अपनी वंश-परम्परा से प्राप्त पदार्थ का इस प्रकार से स्वीकार करता है कि उसे अनेक युक्ति-प्रयुक्ति के द्वारा कोई तत्त्व का वास्तविक अर्थ समझाने का प्रयत्न करे तो भी समझे नहीं, और अपने पकडे हुए अर्थ को छोडने के लिए तैयार न हो, उसे आभिग्राहिक मिथ्यात्व कहते हैं।

कुदर्शन के आग्रही व्यक्तियों में इस प्रकार का मिथ्यात्व होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में कभी भी अपरीक्षित सिद्धांत का पक्षपात नहीं होता। अत: जो व्यक्ति परीक्षापूर्वक सत्य तत्त्व को स्वीकार करता है और असत्य तत्त्व का खंडन करता है, उसे आभिग्राहिक मिथ्यात्व नहीं कह सकते।

सम्यग्दृष्टि आत्मा आगम से बाधित कुलाचार को महत्त्व नहीं देती। नामधारी जैन भी यदि आगम से बाधित कुलाचार को प्रधानता देकर अपने कुलाचार का आग्रह रखे तो वह भी आभिग्राहिक मिथ्यात्व ही है।

जो व्यक्ति स्वयं तत्त्व की परीक्षा करने में असमर्थ हो, किन्तु तत्त्वपरीक्षक गीतार्थ गुरु के आश्रित रहकर जिनवचन में श्रद्धावान् हो तो उसे सम्यक्त्वी मानना चाहिये।

2. अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व[30] - सत्य-असत्य की परीक्षा बिना सभी दर्शनों को समान मानना अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व है। एसे मिथ्यात्वी में स्वदर्शन की बात का विशेष आग्रह नहीं होता। इस मिथ्यात्वदृष्टि में तत्त्व विषयक अज्ञान अवश्य होता है, किन्तु किसी प्रकार का आग्रह नहीं होता है। वह अपनी बात के ही समान दूसरों की बात को भी सत्य मानकर स्वीकार लेता है।

3. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व[31] - अपना पक्ष असत्य सिद्ध होने पर भी उस बात को सत्य सिद्ध करने के लिए आग्रहशील बनना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व सम्यक्त्व से पतित आत्मा को ही होता है। सम्यग्दर्शन को अप्राप्त आत्मा इस मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करती।

सम्यग्दृष्टि आत्मा कभी अशुभ कर्म के उदय से जिनप्रणीत आगम से विरुद्ध बात को स्वीकार कर लेती है, पश्चात् कोई सत्य तत्त्व को समझाने वाला मिले तो भी वह उस सत्य का स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता और अपने झूठे अर्थ को ही सत्य सिद्ध करने के लिए सदैव प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार विपरीत पदार्थ के आग्रह के कारण वह सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट होता है और मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार का मिथ्यात्व आभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहलाता है।

जमाली ने पहले महावीर भगवान के पास दीक्षा ली। शास्त्रों का गहन अध्ययन कर वे श्रुतपारगामी बने। एक बार शारीरिक अवस्वस्थता के कारण उन्होंने अपने शिष्यों को संथारा तैयार करने को कहा। गुर्वाज्ञा होते ही वे शिष्य संथारा तैयार करने लगे। अभी संथारे की क्रिया आरम्भ हुई ही थी, तभी शिष्यों को उन्होंने पूछा 'संथारा तैयार हो गया?' उन शिष्यों ने 'कडेमाणे कडे (क्रियामाणं कृतं)' इस भगवद्वचनानुसार 'हाँ' कह दिया। तभी जमाली ने आकर देखा संथारा तैयार नहीं है। बस, इसके साथ ही उसके हृदय में 'कडेमाणे कडे' भगवद्वचन के प्रति संदेह हो गया। इस प्रकार जिनवचन में संदेह हो जाने के कारण वे सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए और अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों से समजाने पर भी वे सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। अत: आभिनिवेशिक मिथ्यात्व को प्राप्त हुए।

4. सांशयिक मिथ्यात्व[32] - जिनप्ररुपित तत्त्वों में शंकाशील होकर उनके सर्वज्ञत्व में शंकाशील होने को सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं। अर्थात् जिनवचन की प्रामाणिकता में संशय पैदा होना सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है।

5. अनाभोगिक मिथ्यात्व[33] - साक्षात् और परम्परा से तत्त्व की

---

23. सव्वजीवाणं वि य , अक्खरस्स अणंतमो, भागो निच्च उग्घाडिओ चिट्ठइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा ॥
24. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो, विवरीय दंसणो होदि।
जय धम्मं रोचेदि हु, य दु इं खु रसं जहा जरिदो ॥-गोम्मटसार जीवकांड-17
25. अ.रा.पृ. 6/272-273
26. स्थानांग - 3/3, वही
27. अ.रा.पृ. 6/273; सम्मति तर्क 3/54
28. अ.रा.पृ. 6/273; धर्मरत्नप्रकरण, द्वितीय अधिकार
29. अ.रा.पृ. 2/278
30. अ.रा.पृ. 1/309, 6/273
31. अ.रा.पृ. 6/273
32. अ.रा.पृ. 7/244
33. अ.रा.पृ. 1/309

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अप्रतिपत्ति (अस्वीकृति/अप्राप्ति) को अनाभोगिक मिथ्यात्व कहते हैं। एकेन्द्रिय आदि जीवों को जो मिथ्यात्व होता है, वह अनाभोगिक मिथ्यात्व है।

स्थानांग सूत्र निर्दिष्ट 10 प्रकार के मिथ्यात्व[34]

(1) **धर्म में अधर्मबुद्धि** - श्रीजिनप्रणीत धर्म को अधर्म कहना।

(2) **अधर्म में धर्मबुद्धि** - हिंसा, जूठ आदि आस्रवयुक्त दु:खदायी अधर्म को धर्म कहना।

(3) **मार्ग में उन्मार्गबुद्धि** - पाँचो आस्रव का त्याग करके सम्यक्त्व सहित संवरभाव के सेवनरुप धर्ममार्ग को उन्मार्ग (अधर्म) कहना।

(4) **उन्मार्ग में मार्गबुद्धि** - कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के सेवनरुप उन्मार्ग को सन्मार्ग कहना।

(5) **साधु में असाधुबुदधि** - 27 गुण युक्त तरण-तारण काष्ठ की नाव सदृश शुद्ध धर्मप्ररुपक सर्वविरतिधर साधु को असाधु कहना।

(6) **असाधु में साधु बुद्धि** - आरंभपरिग्रहासक्त विषय-कषाययुक्त, लोभी, चमत्कारादि की बातों के द्वारा जूठी श्रद्धा करानेवाले लोहे की नाव जैसे असाधु को साधु कहना।

(7) **जीव में अजीव संज्ञा** - एकेन्द्रियादि जीवों को अजीवरुप समजना। जैसे वनस्पति, जल, पृथ्वी आदि को सजीव नहीं मानना, अण्डे अहिंसक है - एसा कहना।

(8) **अजीव में जीव संज्ञा** - जगत्प्रत्यक्ष अक्रिय एसे काष्ठपाषाण सुवर्णादि धातुओं को उपकारी के रुपमें जीव रुप में मानना।

(9) **मूर्त में अमूर्त संज्ञा** - जगत में प्रत्यक्ष पूरण-गलन स्वभाववाले वर्ण-गंध-रस-स्पर्शयुक्ति अजीव पुद्गल द्रव्यों को अरुपी कहना। जैसे - वायुकाय जीवों के शरीर (पुद्गल) रुपी हवा को अरुपी कहना।

(10) **अमूर्त में मर्त संज्ञा** - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन चारों अरुपी द्रव्यों को रुपी कहना। जैसे मुझ छद्मस्थ को आत्मा (परमात्मा) का रुप दिखता है - ऐसा कपटपूर्वक कहना।

छः प्रकार का मिथ्यात्व[35]

(1) लौकिक देवगत मिथ्यात्व - राग-द्वेषादि युक्त, अनेक रुप-स्वरुप धारण करनेवाले, स्त्री सङ्गी चमत्कारी, कदाग्रही, अभिमानी, विशेष शक्तिवान् देव देवी को आत्मशुद्धार्थे देव-बुद्धि से मानना या पूजा-सत्कार इत्यादि करना।

(2) लौकिक गुरुगत मित्यात्व - अठारह पापस्थान में लीन, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह में आसक्त, मनस्वी कुगुरु/कुबुद्धिदायकों को गुरुबुद्धि से मानना।

(3) लौकिक पर्वगत मिथ्यात्व - इस लोक में प्रकट विषयासक्ति उत्पन्न करनेवाले और भावि सांसारिक विषयसुख के लिए विषयासक्त कुगुरु के द्वारा बताये पर्व दिनो में तत्संबंधी विधि-विधान करना।

(4) लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व - श्री अरिहन्तादि की मूर्ति के सामने अपने इसलोक-परलोक के सुख की इच्छा से मन्नत लेना, याचना करना।

(5) लोकोत्तर गुरुगत मिथ्यात्व - निर्ग्रन्थ उत्तम साधु भगवन्तों की भक्ति करके उनसे संसार-सुख की याचना करना अथवा साधु धर्म का उच्छेद कर मनमाना साधु जीवन जीनेवालों को सुसाधु (धर्मोपदेशक) मानकर उनकी सेवा सुश्रुषा करना। इससे जीव दुर्लभबोधि बनता है।

(6) लोकोत्तर पर्वगत मिथ्यात्व - लोकोत्तर जिनप्रणीत पर्वदिनों में आत्म-कल्याणकारी रत्नयत्री की आराधना के बजाय विपरीत रुप से आराधना करना।

चार प्रकार का मिथ्यात्व[36]:-

(1) प्ररुपणा मिथ्यात्व - श्रीजिनप्रणीत नयप्रमाण सापेक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ संबंधी विपरीत प्ररुपणा करना।

(2) प्रवर्तन मिथ्यात्व - उपरोक्त लौकिक-लोकोत्तर देव-गुरु-धर्म गत मिथ्यात्व में से किसी भी प्रकार का मिथ्याचरण करना।

(3) परिणाम मिथ्यात्व - जूठा हठवाद या एकांतदृष्टि रखना, जिनप्रणीत नवतत्त्वमय जगत्स्वरुप को स्याद्वादशैली से यथार्थ नहीं जानना, शास्त्रार्थ का कुतर्कपूर्वक अपलाप करना।

(4) प्रदेश मिथ्यात्व - आत्मा के साथ बंधा हुआ मिथ्यात्व मोहनीय सत्ता में रहना।

पंचेन्द्रिय जीवों में भी जो मुग्ध हैं और तत्त्व-अतत्त्व को समझने की शक्ति से रहित हैं, उन जीवो में भी अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है।

मिथ्यात्व प्राप्ति के कारण:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में मिथ्यात्व की प्राप्ति के चार कारण बताये हैं - (1) मतिभेद अर्थात् बुद्धिभ्रम से। (2) पूर्वाग्रह से (3) संसर्ग से और (4) अभिनिवेश अर्थात् कदाग्रह से। व्यवहार सूत्र के छठे उद्देश के अनुसार मतिभेदादि से क्रमशः जमालि, गोविंद, श्रावक भिक्षु और गोष्ठामाहिल मिथ्यात्वी हुए थे।[37]

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद :-

काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व के तीन भेद हैं - (1) अनादि-अनन्त (2) अनादि-सान्त और (3) सादि-सान्त। प्रथम भेद का अधिकारी अभव्य जीव अथवा जाति भव्य (जो जीव कभी मुक्त नहीं होता) जीव है। दूसरा भेद उसकी अपेक्षा से हैं जो जीव अनादिकालीन मिथ्यादर्शन ग्रंथि का भेदन करके सम्यग्दृष्टि बन जाता है। यह जीव भव्य कहलाता है। तीसरा भेद उस जीव की अपेक्षा से है जो एक बार सम्यकत्व प्राप्त करने के बाद पुनः मिथ्यात्वी हो जाता है। इस जीव की अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान की आदि (आरम्भ) तब होती है, जब वह सम्यक्त्व से पतित हो कर प्रथम गुणस्थान में आता है। अर्थात् उच्च गुणस्थान से पतित हो कर गिरते-गिरते मिथ्यात्व गुणस्थान में आने वाले जीव की अपेक्षा से सादि-सान्त विकल्प है और जिसको एक बार सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी

34 सिद्धांतसार पृ. 62

35 सिद्धांतसार पृ. 63

36 सिद्धांतसार पृ. 64, 65

37. अ.रा.पृ. 6/269; 6/274; व्यवहारसूत्र 6 उद्देश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है; वह निश्चित ही मोक्षगामी होता है। क्योंकि जिस जीव के लिए मिथ्यात्व की आदि हुई; उस मिथ्यात्व का अंत अवश्यंभावी है।

तीसरे भेद की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और देशोनअर्धपुद्गल परावर्तनकाल है[38]।

2. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान :-

यह दूसरे गुणस्थान का नाम है। प्राकृत भाषा में 'सासायण' शब्द शुद्ध है। इसके संस्कृत में दो रुप मिलते हैं। सास्वादन और सासादन। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व से तो च्युत हो गया है; परन्तु जिसने अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है; ऐसे मिथ्यात्व के अभिमुख जीव के सम्यक्त्व का जो आंशिक आस्वादन शेष रहता है; इस कारण प्रस्तुत गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं[39]। औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत होनेवाला जीव सम्यक्त्व की आसादना करता है; अतः इसे सासादन कहा जाता है[40]। इस गुणस्थानवर्ती जीव को सम्यक्त्व का स्वाद चखने को मिलताहै; किन्तु पूरा रस नही मिलता यह प्रतिपाती सम्यक्त्व की अवस्था है। सम्यक्त्व से पतन कराने में कारण है- अनन्तानुबंधी कषाय का उदय। अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क में से किसी भी एक कषाय का उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से पतित होगा और इस पतनोन्मुख स्थिति का दर्शक सासादन गुणस्थान है[41]।

इस स्थिति का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका है[42]। उक्त कथन का सारांश यह है कि उपशम सम्यक्त्व के काल में से जब जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका प्रमाण काल शेष रहे, तब जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक के भी उदय से सम्यक्त्व की विराधना होने पर सम्यक्त्व को छोडकर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है; किन्तु जिसने अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है; तब तक के लिए सम्यग्दर्शन गुण की जो अव्यक्त अतत्त्व श्रद्धानरुप परिणति होती है; उसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान और एसे स्वरुप विशेषवाले जीव को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं[43]।

इसे अभिधान राजेन्द्र कोश में एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है- जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने से पहले मध्य का जो काल है; वह न तो पर्वत पर ठहरने का काल है और न ही भूमि पर ठहरने का। वह तो अनुभव काल है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषायों में से किसी एक का उदय होने से सम्यक्त्व परिणामों के छूटने और मिथ्यात्व प्रकृति का उदय न होने से मिथ्यात्वपरिणामों के न होने पर मध्य के अनुभव काल में जो परिणाम होते हैं, उन्हें सास्वादन गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है; तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करनेवाले को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का विलक्षण आस्वादन अनुभव में आता है। इसीलिए इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है[44]। यह गुणस्थान नरक आदि चारों गतियों के जीवो में पाया जाता है। नरक गति में पर्याप्त नारकों में, पर्याप्त और अपर्याप्त-दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यंचो को, देवता में भवनपति से उपरिम ग्रैवेयक तक के पर्याप्त-अपर्याप्त देव-देवियों में एवं पर्याप्त मनुष्य स्त्री-पुरुष दोनों में होना संभव होता है[45]।

3. मिश्र गुणस्थानः-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार इसका पूरा नाम सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है; किन्तु संक्षेप में समझने के लिए इसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं। दर्शन मोहनीय के तीन पुंजों सम्यक्त्व (शुद्ध), मिथ्यात्व (अशुद्ध) और सम्यग्-मिथ्यात्व (अर्धशुद्ध) में से जब अर्धशुद्ध पुंज का उदय होता है, तब जैसे शक्कर से मिश्रित दहीं का स्वाद कुछ खट्टा और कुछ मीठा अर्थात् मिश्र होता है; इसी प्रकार जीव की दृष्टि भी कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यक् मिथ्यादृष्टि को प्राप्त होता है और उसका स्वरुप-विशेष सम्यग्-मिथ्यादृष्टिमिश्र गुणस्थान कहलाता है[46]।

इसमें एक ही जीव को एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रुप मिश्र परिणाम होते हैं[47]। इस अवस्था में जीव सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है और न ही एकान्त अरुचि। जैसे नारिकेल द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को अन्न के प्रति प्रीति या अप्रीति नहीं होती है वैसे मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा भी मध्यस्थ रहता है[48]।

दोलायमान स्थिति रहने से मिश्र गुणस्थान में न तो जीव पर - भव संबंधी आयु का ही बंध कर सकता है और न ही उसका मरण होता है। क्योंकि कोई भी जीव मरण को प्राप्त होता है तब सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरुप दोनों परिणामों में से किसी एक को प्राप्त करके ही मर सकती है[49] जो कि मिश्र गुणस्थान में संभव नहीं

---

38. गुणस्थान क्रमारोह
39. सहेव तत्त्वश्रद्धानं रसास्वादनेन वर्तते इति सास्वादनः। समवायांगवृत्ति, पत्र 26; गुणस्थान क्रमारोह 12;
अ.रा.पृ. 7/794-95; द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग3, श्लोक 1141 से 1144
40. अ.रा.पृ. 7/796
41. अ.रा.पृ. 7/794, 795; द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1146, 1147, 1152, 1153;
गोम्मटसार, जीवकांड 8
42. (क) काल के सब से सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं और असंख्यात समय की एक आवलिका होती है। यह एक आवली प्रमाण काल भी एक मिनिट से बहुत छोटा होता है।
(ख) अ.रा.पृ. 7/795; (ग) द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1145
43. अ.रा.पृ. 7/794; गोम्मटसार - जीव कांड गाथा 19 व टीका
44. अ.रा.पृ. 7/794; श्री समयसार नाटक/चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, दोहा 20 का अर्थ, पृ. 372
जिनागमसार, पृ. 175; द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1152, 53
45. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ और पूर्णता, पृ. 31
46. अ.रा.पृ. 3/516, 517
गोम्मटसार, जीवकांड 21; द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1154, 1155
47. अ.रा.पृ. 3/517; गोम्मटसार, जीवकांड 22; द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1154, 1155
(घ) सम्यग्मिथ्यारुचिर्मिश्रः, सम्यग् मिथ्यात्व पाकतः।
सुदुष्करः पृथग्भावो, दधिमिश्रगुडोपमः॥ -सं. पंचसंग्रह 1/22
48. कर्मग्रंथः गाथा 1/16
49. गुणस्थान क्रमारोह 16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसी तरह सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव संयम (सकल संयम या एक देश संयम) को भी ग्रहण नहीं कर सकता। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं हो सकता[50]।

मिथ्यात्व मोहनीय के अर्धविशुद्ध पुंज की स्थिति अन्तर्मुहूर्त पर्यंत होने से मिश्र गुणस्थानक का काल अन्तर्मुहूर्त पर्यंत है। तत्पश्चात् प्राणी अवश्य मिथ्यात्व को प्राप्त करता है[51]।

4. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान:-

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को समझने के लिए सर्वप्रथम विरत और अविरत को समझना आवश्यक है। राजेन्द्र कोश में अविरति की परिभाषा देते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने कहा है- **''सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावे''**[52] अर्थात् जीवहिंसामय व्यापार/प्रवृत्ति के त्याग का अभाव, को अविरति और ऐसे सावद्यप्रवृत्ति करने वाले, नियमरहित जीव को अविरत कहते हैं। और हिंसादि सावद्य व्यापारों के त्याग तथा पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जानेको विरति कहते हैं। चारित्र और व्रत - ये विरति के अपर नाम हैं[53]।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि स्पर्शादि पांच इन्द्रिय और छठवाँ मन-इन छः की अपने अपने विषयों में नियमरहितता या स्वतंत्रता और पृथ्वी आदि छः काय जीवों की हिंसा - ये 12 प्रकार की अविरति होती हैं[54]।

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार उपशम या क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्ववाला जीव सावद्ययोग की विरति को मोक्ष कारण जानता हुआ भी अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से किसी भी व्रतों का पालन या 12 में से एक भी प्रकार की विरति का पालन करने के लिये प्रयत्न या उद्यम न करता हो उसे 'अविरत सम्यग्दृष्टि' कहते हैं। उसका स्वरुप विशेष अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है[55]।

अविरति को बंध का हेतु एवं राग द्वेष को दुःख का कारण मानता हुआ, पापकर्म की निंदा करनेवाला, जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञाता होने पर भी व्रत ग्रहण करने में असमर्थ आत्मा इस गुणस्थान को प्राप्त करती है[56]। अभिधान राजेन्द्र कोश में जो जीव व्रतों को न जानता है, न इच्छुक है और न पालन करता है उसके आठ भंग बताये हैं। इसमें केवल चरम भंग में विरति है शेष अविरत के हैं[57]। यहाँ (I) से विरति एवं (S) से अविरति सूचित की गयी है-

आठ भंग

S	S	S
S	S	I
S	I	S
S	I	I
I	S	S
I	I	S
I	I	I

सम्यग्दृष्टि जीव केवली द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में यदि विपरीत श्रद्धान कर लेता है तो गुरुजनों द्वारा उसे शास्त्र का अर्थ समझाये जाने पर असमीचीन श्रद्धा को छोडकर यथार्थ श्रद्धा धारण कर लेता हैं[58]। जिनको व्रतों का ज्ञान है और या तो स्वीकारते नहीं है, पालन नहीं करते हैं या बिना स्वीकारे पालन करते हैं या स्वीकार कर छोड देते हैं एसे वासुदेवादि, सम्यग्दृष्टि देव, अनुत्तरविमानवासी देव, और संविज्ञ पाक्षिक आत्माएँ अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाती हैं। क्योंकि वे व्रतों का यथाविधि ग्रहण एवं पालन नहीं करते लेकिन उन्हें यथार्थ अवश्य मानते हैं[59]।

5. देशविरति गुणस्थान :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में देशविरत गुणस्थान की व्याख्या करते हुए कहा है - **''प्रत्याख्यानावरण (सकल-संयम का घातक) कषाय का उदय होने से जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त तो नहीं हो सकते; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण (एकदेश-संयम का घातक) कषाय का उदय न होने से देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से निवृत्त होते हैं; वे देशविरत श्रावक कहलाते हैं। उनकी इस आंशिक त्यागमयी अवस्था को देशविरत गुणस्थान कहते हैं**[60]।

इस गुणस्थान का दूसरा नाम विरताविरत गुणस्थान भी है; क्योंकि इस गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रस जीवों की हिंसा से विरत होता ही है; किन्तु निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करता हैं। अर्थात् त्रस जीवों के त्याग की अपेक्षा विरत और स्थावर जीवों की अपेक्षा से अविरत होने से विरताविरत कहलाता है[61]। संयतासंयत, देशसंयत इसके अपर नाम है।

सम्यक्त्व सहित अहिंसादि पांच अणुव्रत, दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत एवं सामायिकादि चार शिक्षाव्रत - इस प्रकार श्रावक के कुल बारह व्रत है। इनका पालन करनेवाला देशविरत कहलाता है[62]। कई श्रावक इनमें से सम्यक्त्व सहित एक, दो, तीन, चार पांच या बारह व्रत अंगीकार कर तथा श्रावक की सम्यक्त्वादि 11 प्रतिमाओं का पालन करके आत्म कल्याण करते हैं। कई एसे भी श्रावक होते हैं जो पापकर्मों में अनुमति के सिवाय अन्य किसी प्रकार से भाग नहीं लेते।

---

50. गोम्मटसार जीव कांड 23, 24
51. द्रव्यलोकप्रकाश सर्ग-3 श्लोक 1156
52. अ.रा.पृ. 1/808
53. (क) विरतिर्विरतम्, तत्पुनः सावद्ययोगे प्रत्याख्यानम्। अ.रा.पृ. 1/809
    (ख) विरमणं विरतिः, सम्यक्त्वपूर्विकायां सावद्यारम्भान्निवृत्तौ। अ.रा.पृ. 6/1228
    अथवा प्रत्याख्यानेषु निवृत्तिपरिणामे, अ.रा.पृ. 6/1229
    (ग) हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। -तत्वार्थ सूत्र-7/9
54. (क) द्वादशप्रकाराऽविरतिः।.....।.....मनः स्वान्तं, करणानीन्द्रियाणिपञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवर्तमानानां अनियमो.नियन्त्रणं, तता षण्णां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरुपाणां जीवानां वधो हिंसेति।
    - अ.रा.पृ. 1/808
    (ख) द्रव्यलोकप्रकाश, सर्ग 3, श्लोक 1158 से 60
55. (क) यः पूर्ववर्णितोपशमिकसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिक क्षायिक सम्यग्दृष्टिर्वा परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिःश्रेणीकल्पां जानन्नप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नित्वान्नभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते। -अ.रा.पृ. 1/809
    (ख) गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 26 का उत्तरार्ध व टीका
56. अ.रा.पृ. 1/809
57. वही
58. गोम्मटसार, जीवकांड 27
59. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ और पूर्णता, पृ. 37
60. अ.रा.पृ. 4/2632-33, गोम्मटसार जीवकांड-30; द्रव्यलोकप्रकाश 3/1161
61. गोम्मटसार जीवकांड 31
62. अ.रा.पृ. 7/785; योगशास्त्र 2/1;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोनपूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है[63]। यह गुणस्थानक पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय कर्मभूमिज मनुष्य एवं तिर्यंच जो कि आर्य खंड (देश) में जन्मे हुए हैं उनको ही प्राप्त होता है। उसमें भी जिसने इस गुणस्थानक को प्राप्त करने से पहले देवायु के अलावा अन्य गति के आयुः का बंध न किया हो वे ही देशविरत गुणस्थान को प्राप्त होते हैं[64]।

सम्यग्दृष्टि देशविरत तिर्यंच आयु पूर्णकर आठवें एवं मनुष्य 12 वें देवलोक तक के देवलोक में जन्म लेते हैं[65]।

6. प्रमत्तसंयत गुणस्थानः-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने 'प्रमत संयत' का परिचय देते हुए लिखा है - "**प्रमाद्यन्तिस्म संयमयोगेषु सीदन्तिस्म,..... किञ्चित् प्रमादवति सर्वविरते, षष्ठगुणस्थानवर्ति,**" अर्थात् जो जीव चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्त करके मोह के बादलों को बिखेर देता है और सम्यक्त्व के प्रकाश में आगे बढता है तब देशविरत गुणस्थान प्राप्त करने के पश्चात् या चतुर्थ गुणस्थान से सीधा ही पंच महाव्रतों के स्वीकारपूर्वक संयम ग्रहण करके सीधे छठे गुणस्थानक को प्राप्त कर सकता है। इस गुणस्थान में रहा हुआ जीव सर्वविरति का पालन करता है; पर प्रमाद के कारण उसके पुरुषार्थ में कुछ कभी रह जाती है, फिर भी संयम में दृढ रहता है। इस कारण से इस जीव को 'प्रमतसंयत' और उनके गुणस्थान को 'प्रमत्तसंयत गुणस्थान' कहते हैं[66]। इनके गुणों की विशुद्धि देशविरत गुणस्थान की अपेक्षा से प्रकर्षमान एवं अप्रमत्तसंयत की अपेक्षा से अपकर्षमय होती है[67]।

यह एवं इससे आगेवाले गुणस्थान कर्मभूमियों में रहने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्यों को आठ वर्ष की उम्र होने पर ही प्राप्त होता है[68]। इस गुणस्थान का काल एक जीव की अपेक्षा से जघन्य एक समय एवं प्रमत्ताप्रमत की अपेक्षा से उत्कृष्ट रुप से देशोनपूर्वक्रोड वर्ष का है एवं केवल प्रमत की अपेक्षा से अन्तर्मुहूर्त का है[69]।

7. अप्रमतसंयत गुणस्थानः-

अप्रमत संयत गुणस्थान की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री ने राजेन्द्र कोश में लिखा है -"--। **न प्रमत्तोऽप्रमतः, नास्ति वा प्रमत्तमस्याऽसावप्रमत्तः; स चासौ संयतश्चाप्रमत्तसंयतः। सर्वप्रमाद-रहिते सप्तमगुणस्थानकवर्तिनि**[70]। अर्थात् सर्वप्रमाद रहितं संयमी आत्मा याने साधु (मुनि) को अप्रमत्तसंयत और भावविशुद्धि के अनुसार उसके गुणस्थान-विशेष को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं[71]।

गोम्मटसार में कहा है कि "सम्यग्दर्शनपूर्वक सकल संयम की विद्यमानता में संज्वलन तथा नोकषाय कर्म के मन्द उदय के समय प्रमादरहित होनेवाली वीतराग दशा को अप्रमत्त संयत गुणस्थान कहते हैं[72]।"

यह गुणस्थान प्रायः जिनकल्पी, परिहार विशुद्धि चारित्रवाले, एवं प्रतिमाधारी साधु को होता है। छठे गुणस्थान में रहा हुआ जीव अपने आत्म गुणों का विकास करता है। वह अज्ञान, निद्रा, विकथा आदि अथवा मद्य, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमाद को दूर करने का प्रयत्न करता है तब अप्रमत्त अवस्था में जीव इस सातवें अप्रमत्त संयम गुणस्थान को प्राप्त करता है[73]।

अप्रमत्त दो प्रकार के हैं - (1) कषाय अप्रमत और (2) योग अप्रमत्त। कषाय अप्रमत्त भी दो प्रकार के हैं - (1) क्षीण कषाय (2) निग्रहपरक। इनकी स्थिति बताते हुए लिखा है - योग अप्रमत्त आत्मा मन-वचन-काय के योगों से गुप्त रहता है अर्थात् अकुशल मन आदि का निरोध करके कुशल मन आदि का उदीरणापूर्वक एकीभाव करते हैं। क्षीणकषाय आत्मा क्रोधादि का निरोध करती है। उदय में आये हुए को निष्फल करते हैं।[74]

इस गुणस्थान में सामान्य जीव केवल अंतर्मुहूर्त तक ही रहता है। इसका जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल सामान्य जीव की अपेक्षा से अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से सयोगकेवली की अपेक्षा से देशोनपूर्वकोटि वर्ष है[75]। सामान्य जीव छठ्ठे और सातवें गुणस्थान के बीच झूलता रहता है। इस पंचम काल में भरतक्षेत्र में जीव के छठ्ठा-सातवाँ गुणस्थान ही हो सकता है। इसके आगे के गुणस्थान चतुर्थ काल में ही संभव है[76]।

8. अपूर्वकरण गुणस्थानः-

जिस गुणस्थान में पहले कभी नहीं हुई एसी क्रिया को अपूर्वकरण कहते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है - आठवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अध्यवसायों की शुद्धि पूर्व के गुणस्थानों की अपेक्षा अधिक होने से इस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात आदि का पूर्व की अपेक्षा अपूर्वविधान होने के कारण इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण गुणस्थान' कहते हैं[77]।

इस गुणस्थानकवर्ती त्रैकालिक अनंत जीवों के अध्यवसाय स्थानों की संख्या लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर है परन्तु इनकी विशेषता यह है कि इस गुणस्थानक में समान समयवर्ती

---

63. अ.रा.पृ. 3/915
64. कर्मग्रंथ 2/6 पर विवेचन (महेसाणा प्रकाशन)
65. अ.रा.पृ. 4/2632, द्रव्यलोकप्रकाश 3/1163-64
66. अ.रा.पृ. 3/442, गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 32 की टीका; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 13, पृ. 82
67. अ.रा.पृ. 3/443, द्रव्यलोकप्रकाश, 3/1164, 65
68. स च संयममष्टासु वर्षेषु गतेष्वेव लभते।-अ.रा.पृ. 3/442
69. "।.....महान्ति चाप्रमत्तान्तर्मुहूर्ततापेपिक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्तानि कल्प्यन्ते। एवं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणानां प्रमताद्धानां सर्वासां मीलनेन देशोनपूर्वकोटी यावदुत्कर्षतः प्रमत्तसंयतता स्यादिति।" - अ.रा.पृ. 3/442
70. अ.रा.पृ. 1/597
71. द्रव्यलोकप्रकाश 3/1166
72. गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 45 व टीका
73. (क)....अज्ञाननिद्राविकथादिषष्ठप्रमादरहिते,....ते च प्रायो जिनकल्पिक-परिहार-विशुद्धिक-यथालन्दकल्पिक-प्रतिमाप्रतिपन्नां, तेषां सततोपयोगसम्भवात्। अ.रा.पृ. 1/597,
(ख) द्रव्यलोकप्रकाश 3/1166
74. अ.रा.पृ. 1/597
75. अ.रा.पृ. 1/597; जिनागमसार, पृ. 184
76. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ एवं पूर्णता, पृ. 40
77. (क) । तत्र च प्रथम समय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमाः, अन्यश्च स्थितिबन्धः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ता प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम्। अ.रा.पृ. 3/611

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में पृथक्-पृथक् (न्यूनाधिक शुद्धिवाले) होते हैं; तथापि सम-समयवर्ती बहुत से जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धिवाले होने से इस गुणस्थान को 'निवृत्ति' गुणस्थान भी कहते हैं[78]।

जो जीव संयम के घातक प्रत्याख्यानवरण कषाय का उदय न रहने से तीन करण करता है; वह अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में आता है। उपशम और क्षपक इन दोनों श्रेणियों का प्रारंभ यद्यपि नौवें गुणसथान से होता है; किन्तु उस की आधारशिला इस गुणस्थान में रखी जाती है। आठवाँ गुणस्थान दोनों प्रकार की आधारशिला बनाने के लिए है[79]। अत: अपूर्वकरण गुणस्थानक को श्रेणिगत माना है, जैसे-राज्य-योग्य कुमार को राजा कहा जाता है। आठवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणीवाला मोहनीय कर्म का क्षय करके दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करके अपने उपलब्ध आत्म-स्वरुप से अध:पतन नहीं करता, बल्कि आगे बढता हुआ पूर्ण स्वरुप को प्राप्त कर लेता है[80]।

आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव पाँच बातों-पदार्थो का अपूर्व विधान करता है-

1. स्थितिघात:- कर्मों की लंबी स्थिति को अपवर्तनाकरण के द्वारा घटाकर छोटी करना स्थितिघात है। अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय में आनेवाले हैं; उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना और शीघ्र उदय में आने योग्य बनाकर वर्तमान के उदय योग्य के साथ भोग लेना स्थितिघात कहलाता है।

2. रसघात:- बँधे हुए कर्म के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मंद कर देना रसघात कहलाता है।

3. गुणश्रेणी:- जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया गया था उन्हें समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है-

उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते है; उनमें से उदयवली के समयों को छोडकर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते है; वे कम होते हैं। दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे अधिक दलिक होते हैं। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त चरम समय तक असंख्यातगुणे अधिक समझने चाहिए।

4. गुण संक्रमण:- पहले बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँध रही शुभ प्रकृतियों में स्थानान्तरित/परिणत कर देना गुण संक्रमण है। प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृतियों में संक्रमण होता है उससे दूसरे आदि समयों में क्रमश: प्रथमादिक की अपेक्षा असंख्यातगुणे अधिक दलिकों का संक्रमण होता है।

5. अपूर्व स्थितबंध:- पूर्व की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मो का बंध करना अपूर्वस्थिति बंध है[81]।

आठवें गुणस्थानक का समय-जघन्य से मरण की अपेक्षा से एक समय एवं उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त है[82]।

9. अनिवृत्ति बादर गुणस्थान:-

अनिवृत्ति अर्थात् जहाँ से वापिस लौटना न पडे। श्री अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार इस गुणस्थान प्राप्त जीव के यहाँ पर अनंतानुबंधी आदि तीन कषायचतुष्क तो उपशान्त या क्षय हो जाते है; किन्तु संज्वलन कषाय चतुष्क की पूरी निवृत्ति नहीं होने से अथवा यहाँ जीव के भाव पुन: विषयों की ओर उन्मुख नहीं होने से भावों/अध्यवसायों की अनिवृत्ति के कारण इस गुणस्थान का पूरा नाम "अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान' है[83]।

कषायों की न्यूनता के कारण विशुद्धिवाले इस गुणस्थान में होनेवाले परिणामों के द्वारा आयु:कर्म के सिवाय शेष सात कर्मो की गुणश्रेणिनिर्जरा, गुण संक्रमण, स्थिति, भाग और अनुभाव खंडन होता है। इसके अंतिम समय में पहुंचने पर कर्मो का जघन्य स्थितिबंध होने लगता है एवं सत्ता का भी ह्रास होता है।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं; उतने ही अध्यवसाय स्थान इस गुणस्थान के है, परिणाम तुल्य शुद्धिवाले है। अत: यहाँ पर समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में सादृशता एवं भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणामों में विसदृशता होती है[84]।

क्षपक एवं उपशमक दोनों ही प्रकार के जीव इस गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। क्षपक जीव चढते समय एवं उपशमक जीव चढते-उतरते दोनों ही समय इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। चारित्र मोहनीय कर्म के साथ-साथ अन्य ओर भी कर्मो का क्षय करनेवाले क्षपक और उपशमन करने वाले उपशमक कहलाते हैं। उनके कार्य को क्रमश: क्षपक श्रेणी और उपशमश्रेणी कहते हैं[85]।

10. सूक्ष्म संपराय गुणस्थान:-

सूक्ष्म संपराय गुणस्थान की स्थिति बताते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'सुहुमसंपराय' एवं 'सुहुमसंपराय गुणट्ठाण' शब्द में इसका विवेचन करते हुए लिखा है - "संपराय अर्थात् लोभ। यहाँ संज्वलन लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का उदय रहता है। जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के कपडे में लालिमा/सुर्खी की सूक्ष्म आभा रह जाती है; उसी प्रकार इस गुणस्थान में रहने वाला जीवसंज्वलन लोभ के सूक्ष्म खंडों का वेदन करता है[86]।" अत: इस गुणस्थान का नाम भी सूक्ष्म संपराय गुणस्थानक है।

यहाँ क्षपक एवं उपशमक दोनों श्रेणिवाले जीव होते हैं जो मोहनीय कर्म की एकमात्र प्रकृति संज्वलन लोभ का क्षय या उपशमन करते हैं। वे दोनों ही प्रकार के जीव सूक्ष्म लोभ के कारण यथाख्यात चारित्र की पूर्ण स्वरुप स्थिरता से कुछ ही न्यून रहते हैं[87]। क्षपक श्रेणिवाले जीव यहाँ से सीधे ही 12 वें क्षीणमोह गुणस्थान को और

78. (क) । एतच्च गुणस्थानकं प्रपन्नानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानापेक्ष्य सामान्यतोऽसंख्येयलोकाकाश-प्रदेशप्रमाणान्य-ध्यवसायस्थानानि भवति।...युगपदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थान-व्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते। - अ.रा.पृ. 3/611

79. अयं च अपूर्वकरणो द्विधा - क्षपक: उपशमकश्च। क्षपणोपशमनार्हत्वा-च्चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमारराजवत्।
न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा। - अ.रा.पृ. 1/611

80. गुणस्थानक क्रमारोह-73

81. अ.रा.पृ. 1/611

82. अ.रा.पृ. 1/611

83. अ.रा.पृ. 1/335; द्रव्यलोकप्रकाश 3/1187, 88, 89

84. अ.रा.पृ. 1/335, द्रव्यलोकप्रकाश 3/1192,93; गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 56, 57 की टीका

85. अ.रा.पृ. 1/916, द्रव्यलोकप्रकाश 3/1194-95

86. अ.रा.पृ. 7/1024, गोम्मटसार, जीवकांड 59, 60

87 अ.रा.पृ. 7/1025, गोम्मटसार, जीवकांड 60; द्रव्यलोकप्रकाश 3/1196

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशम श्रेणिवाल जीव 11 वें उपशांत मोह गुणस्थान को प्राप्त करते हैं[88]।

इस गुणस्थान की जघन्य एक समय मरण की अपक्षा से एवं उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक स्थिति है[89]।

11. उपशान्तमोह गुणस्थानः-

अभिधान राजेन्द्र कोश के द्वितीय भाग में उपशांत मोह गुणस्थान का परिचय देते हुए आचार्यश्रीने कहा है - कषाय और राग (माया-लोभ) के उपशान्त (उदय नहीं) होने पर भी छद्म अर्थात् घातीकर्म शेष रहते हैं। अतः इस गुणस्थान को उपशान्तकषायछद्मस्थवीतराग गुणस्थान भी कहते है[90]। मोहकर्म के उपशान्त हो जाने से इस गुणस्थान में वीतरागता तो होती है; किन्तु ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणों को आवृत करनेवाले कर्म विद्यमान रहते हैं। इस कारण वीतरागता होने पर भी वह अल्पज्ञ-छद्मस्थ है।

दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही जीव इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। जिस तरह गंदे पानी में कतकफल या फिटकडी आदि डालने से उसका मल नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ पानी ऊपर आ जाता है वैसे ही इस गुणस्थान में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म को अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है। इस कारण जीव के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। इसी कारण इसे उपशान्तमोह या उपशान्तकषाय भी कहते हैं[91]। यह गुणस्थान उपशम श्रेणी का अंतिम स्थान है। अतः यह जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य गिरता है।

इस गुणस्थान की कालमर्यादा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। यदि गुणस्थान का समय पूरा होने के पहले कोई जीव भव (आयु) के क्षय से गिरता है; तो वह अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है। और इस गुणस्थान में उन सब प्रकृतियों के बंध, उदय आदि को प्रारंभ कर देता है, जितनी प्रकृतियों के बंध आदि की संभावना इस गुणस्थान में है[92]।

परन्तु भवायु के शेष रहते हुए गुणस्थान का समय पूरा हो जाने पर जो जीव अवरोहण करता है; वह पतन के समय आरोहण क्रम के अनुसार गुणस्थान को प्राप्त करता है और उस उस गुणस्थान के योग्य कर्म प्रकृतियों का बंध, उदय, उदीरणा करना प्रारंभ कर देता है। अर्थात् अवरोहण के समय आरोहण क्रम के अनुसार तत् तत् गुणस्थान की प्रकृतियों का बंध आदि करता है और गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने पर गिरनेवाला कोई जीव छठे गुणस्थान, कोई पाँचवे गुणस्थान, कोई चौथे और कोई तीसरे, दूसरे गुणस्थान में होते हुए पहले तक आ सकता है या आठवें गुणस्थान से वापिस क्षपक श्रेणी को प्राप्त हो सकता है[93]।

12. क्षीणमोह गुणस्थानः-

इस गुणस्थान का परिचय देते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने लिखा है कि "मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है।" सत्ता सहित मोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाने से वीतरागता प्राप्त होने पर भी तीन छद्म घातीकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अंतराय अभी विद्यमान होने से इस गुणस्थान का पूरा नाम 'क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ' है[94]।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट काल स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और पूर्व में अबद्धायुः क्षपक श्रेणीवाले जीव ही इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं[95]। इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिक मणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल होते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव नीचे नहीं गिरता अतः उसका पतन नहीं होता। क्षपक श्रेणिवाला जीव नियम से आठवर्ष से ऊपर की उम्रवाला होता है। क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त आत्मा शुक्ललेश्या एवं शुक्लध्यान युक्त होती है[96]।

13. सयोगी केवली गुणस्थानः-

सयोगी केवली गुणस्थान को समझने के लिये पहले 'योग' शब्द को समझना आवश्यक है। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'जोग' शब्द का परिचय देते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने द्रव्य से मन-वचन और काया के बाह्य व्यापार को 'योग' कहा है[97]। भावयोग की व्याख्या करते हुए कहा है-

"तद्यथा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च। तत्र प्रशस्तः सम्यक्त्वादिः। आदि शब्दाद् ज्ञानावरण-परिग्रहः। प्रशस्तता चास्य प्रशस्यते युज्यते अनेनात्माऽऽपवर्गेणेत्यन्वर्थबलात्। इतरो मिथ्यात्वादियोगो विपरीतोऽप्रशस्तः, युज्यतेऽनेनाऽऽत्मा अष्टविधेन कर्मणेति व्युत्पत्तिभावात्[98]।"

अर्थात् भाव योग दो प्रकार का है - प्रशस्त और अप्रशस्त। सम्यक्त्वादि को प्रशस्त योग या जो आत्मा को अपवर्ग अर्थात् मोक्ष

---

88. गुणस्थान क्रमारोह-गाथा 73 एवं 42, जैन तत्त्वज्ञान चित्रावली प्रकाश पृ. 38
89. अ.रा.पृ. 7/1025
90. अ.रा.पृ. 2/983, 984, गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 61 व टीका; सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृ. 167, 168
91 (क) अधोमले यथा नीते, कतके नाम्भोऽस्तु निर्मलम्।
उपशिष्तधाशान्तः, मोहो ध्यानेन मोहतो॥-संस्कृत पंचसंग्रह 1/47
(ख) गोम्मटसार, जीवकांड 61
(ग) द्रव्यलोकप्रकाश 3/1197, 98
92. अ.रा.पृ. 3/916, द्रव्यलोकप्रकाश 3/1207, 1208, 1211, 1212
93. (क)....। यः पुनरेकंवारं प्रतिपद्यते तस्य क्षपकश्रेणिर्भवेदपि उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ- "..जो इक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी हुज्जति" एष कार्मग्रंथिकाभिप्रायः। सिद्धान्ताभिप्रायेण त्वकस्मिन् भवे एकामेव श्रेणिं प्रतिपद्यते। अ.रा.पृ. 2/1046
(ख) द्रव्यलोकप्रकाश-3/1207, 1208
94. अ.रा.पृ. 3/746, द्रव्यलोकप्रकाश-3/1216-17, गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा व टीका; सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृ. 168; समयसार, गाथा 33 व अर्थ;
95. अ.रा.भा. 3, 'खवगसेढि' शब्द; द्रव्यलोकप्रकाश 3/1235/36
96 (क) ....क्षपकश्रेणिप्रस्थापकः सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टिकाच्चोपरिवर्तमानः।....तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि एतां प्रतिपद्यते। अ.रा.पृ. 3/738
(ख) लेश्यायामपि च पूर्वशुक्ललेश्यायामासीत्,...। - वही, पृ. 3929
(ग) "क्षपकश्रेणिप्रतिपन्नः मनुष्यो वर्षाष्टिकोपरिवर्ती अविरतादीनां अन्यतमः अत्यन्तशुद्धपरिणामः अन्तमसंहननः तत्र पूर्वविद् अप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि केचन धर्मध्यानोपगतः इत्याहुः॥
- कर्मग्रंथ लघुवृत्ति; द्रव्यलोकप्रकाश, पृ. 272, सर्ग 3 की गाथा 1218 की टिप्पणी से उद्धृत
97. अ.रा.पृ. 4/1613
98. अ.रा.पृ. 4/1613

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जोडे उसे प्रशस्त योग और इससे विपरीत जो मिथ्यात्वादि योग है जिससे कि आत्मा को आठों प्रकार के कर्म बंधते हैं उसे अप्रशस्त भाव योग कहते हैं।

इन द्रव्ययोगवाले जीव को योगी कहते हैं अथवा रत्नत्रय हेतु प्रयत्नशील साधक को योगी कहते हैं और मन-वचन-काया के व्यापार के रोधक आत्मा को भी योगी कहते हैं[99]।

जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय-इन चारों घोतीकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान आदि को प्राप्त कर चुके है; जिससे वे बिना इन्द्रिय सहायता के समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् देखने, जानने लगते हैं और जो योग से सहित है एवं जिनमें आत्मवीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम प्रकट हुआ है तथा जिनमें शरीर आदि की प्रकृति शेष है; वे सयोगी केवली है[100]। उन्हें केवलज्ञानी केवली, जिन, जिनेन्द्र या जिनेश्वर भी कहा जाता है। सयोगी केवली में यदि कोई तीर्थंकर हो तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं और देशना देकर तीर्थ प्रवर्तन करते हैं। केवली भगवान सयोगी अवस्था में जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) क्रोड पूर्व वर्ष तक रहते हैं[101]।

मन, वचन और काया इन तीनों साधनों (कारणों) की अपेक्षा से केवली भगवान को मनोयोग, वचनयोग और काययोग - ये तीन योग होते हैं। कोई मनः पर्यवज्ञानी साधु या अनुत्तर विमानवासी देव अपने स्थान पर रहकर शब्द द्वारा न पूछकर भगवान को मन द्वारा प्रश्न आदि पूछते हैं; तब उनके प्रश्न का उत्तर केवली भगवान मनोयोग द्वारा देते हैं जिसे प्रश्नकर्ता मनःपर्यवज्ञान या अवधिज्ञान द्वारा समझ लेते हैं। धर्मोपदेश देने के लिये वचनयोग का तथा हलन-चलन आदि क्रिया में काययोग का उपयोग केवलज्ञानी करते हैं[102]। गोम्मटसार में भी केवली भगवान को मनोयोग पूर्वक वचनयोग का स्वीकार किया है[103]।

केवली भगवान सयोगी अवस्था में अपनी आयु के अनुसार रहते हैं। जिन केवली भगवान के शेष रहे चारों अघाती कर्मों में से आयु कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं; वे समुद्घात करते हैं। इसे केवली-समुद्घात कहते हैं। समुद्घात के द्वारा वे आयुकर्म की स्थिति एवं पुद्गल परमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं को कर लेते हैं। जिन केवलज्ञानियों के वेदनीयादि तीनों अघाती कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु आयु कर्म के बराबर है; उन्हें समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं होने से वे नहीं करते[104]।

14. अयोगकेवली गुणस्थानः-

सयोगी केवली भगवान अपने आयुष्य के अंतिम समय में अयोगी केवली गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। 'अयोगी' शब्द की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने लिखा है - शैलेशीकरण की अवस्था में आत्मा की सकल योगों की चपलता से रहित स्थिति को अयोग कहते हैं। द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका के अनुसार सयोगी आत्मा योगों से भवोपग्राही कर्मो का क्षय करके उर्ध्व (उच्च) गति मोक्ष को प्राप्त होते हैं उसे अयोग कहते हैं। द्रव्य योग रहित या शैलेशी अवस्था प्राप्त उस जीव विशेष को अयोगी कहते हैं[105]।

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार जब सयोगी केवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योग रहित होकर शुद्ध आत्मस्वरुप को प्राप्त कर लेते हैं; तब उन्हें अयोगी केवली और उनके स्वरुप विशेष को अयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं[106]।

यह गुणस्थान चारित्र-विकास और स्वरुप-स्थिरता की चरम अवस्था है। इस गुणस्थान में (अ, इ, उ, ऋ, लृ) इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है; उतने समय में आत्मा उत्कृष्ट शुक्लध्यान द्वारा सुमेरु पर्वत सदृश स्थिति को प्राप्त कर के अन्त में देहत्याग करके सिद्धावस्था को प्राप्त करती है। उस अवस्था को परमात्मपद, स्वरुप, सिद्ध, मुक्ति, निर्वाण, ब्रह्मस्थिति, अपुनरावृत्ति, अपुनर्भवस्थान और मोक्ष आदि नामों द्वारा भी जाना जाता है।

इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। यह मोक्ष का प्रवेशद्वार है और तीनों योगों का निसेध करने से आयोगी अवस्था प्राप्त होती है[107]।

आयुःक्षय का समय निकट आने पर सयोगी केवली भगवान बादर काययोग से बादर मनोयोग एवं बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। अन्त में सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म क्राययोग का निरोध करते करते सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति ध्यान से अपने शरीर के मुख, उदर आदि पोले, भाग को पूर्ण करते हुए शरीर के 2/3 भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों को संकुचित (घनस्वरुप) करते हैं। बाद में वे अयोगी केवली भगवान् समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं। और अ, इ, उ, ऋ, लृ - इन पाँच ह्रस्वाक्षर बोलने जितने समय मात्र का शैलेशीकरण करके चारों अघाती क्रमो का क्षय कर एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोक के अग्र भाग में स्थित मोक्षधाम (सिद्धक्षेत्र) को प्राप्त कर लेते हैं[108]।

---

99. । योगोऽस्य विद्यते इति योगी ।....मनोवाक्कायरोधके...सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र-योगः सद्योग उच्यते ।...रत्नत्रयरुपमोक्षोपायिनी । -अ.रा.पृ. 4/1587
100. अ.रा.पृ. 7/731,गोम्मटसार, जीवकांड, गाथा 63, 64 व टीका; द्रव्यलोकप्रकाश 3/1245 से 1248
101. अ.रा.पृ. 1/597, 3/931
103. अ.रा.पृ. 7/277, 3/647; द्रव्यलोकप्रकाश 3/1249 से 51
104. अ.रा.पृ. 1/207; 3/661; 3/731
105. क. द्रव्यलोकप्रकाश 3/1261
ख. शैलेशीकरणे, सकलयोगचापल्यरहिते योगे च ।....तत्रायोगद्योगमुख्याद्, भवोपग्राहिकर्मणाम् । क्षयं कृत्वा प्रयात्युच्चैः परमानन्द मंदिरम् ।1।। -द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 25; अ.रा.पृ. 1/207
ग. .....न सन्ति योगा यस्य ।...शैलेश्यवस्थायम् । अ.रा.पृ. 1/207; भा.3 पृ. 647
106. क. गोम्मटसार जीवकांड 65
ख. न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगी केवली । तस्य गुणस्थानमयोगीकेवली गुणस्थानम् ।
- अ.रा.पृ. 1/208
107. ....स ततो देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम्.... । अ.रा.पृ. 1/208
108. अ.रा.पृ. 1/208; 3/732, जिनागमसार, पृ.199; विशेषावश्यक भाष्य-3059-64, 68, 69, 82, 89; द्रव्यलोकप्रकाश -3/126 से 67

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनेतर दर्शनों में आध्यात्मिक विकास की अवधारणाएँ

पूर्व में यह संकेत किया गया है कि सभी आस्तिकवादी दर्शनों को आध्यात्मिक विकास इष्ट एवं अभिप्रेत है। वैदिक दर्शन भी प्रायः आस्तिकवादी है। अतः जैन दर्शन की तरह वैदिक परम्परा में भी आत्म विकास के संबंध में विचार किया गया है। विशेषतया योगवासिष्ठ, पातंजल योग आदि ग्रंथों में आत्मा की भूमिकाओं के बारे में कुछ अधिक वर्णन किया गया है। वर्णन शैली की भिन्नता होने पर भी वस्तुत्व के विषय में प्रयोजनभूत दृष्टि की अपेक्षा से भेद नहीं के बराबर है।

गुणस्थान और वैदिक भूमिकाएँ :-

जैन ग्रंथो में मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा के नाम से अज्ञानी जीव को जो लक्षण बतलाया है कि अनात्मा अर्थात् आत्मभिन्न जडतत्त्व में जो आत्मबुद्धि करता है; वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा है[109]; वही लक्षण योगवासिष्ठ[110] तथा पातंजल योगसूत्र[111] में भी अज्ञानी जीव का है। जैसे जैन ग्रंथों में मिथ्यात्वमोह का संसारवृद्धि और दुःख रुप फल वर्णित है[112]; वैसे ही वही बात योगवासिष्ठ[113] में अविद्या से तृष्णा और तृष्णा से दुःख का अनुभव तथा विद्या से अविद्या का नाश[114] यह क्रम जैसा वर्णित है, वैसा ही क्रम जैन शास्त्रों में मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के निरुपण द्वारा यथा प्रसंग वर्णित किया गया है। योगवासिष्ठ में जो अविद्या का विद्या से और विद्या का विचार से नाश बताया है[115]; वह जैन शास्त्रों में माने हुये मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान से मिथ्याज्ञान के नाश और क्षायिकज्ञान से क्षायोपशमिक ज्ञान के नाश के समान है।

जैन शास्त्रों में मुख्यतया मोह को ही बंध का (संसार का) कारण माना है; वैसे ही योगवासिष्ठ[116] में भी रुपान्तर से वही बात कही गयी है। जैन शास्त्रों में जैसे ग्रंथिभेद का वर्णन है; वैसे ही योगवासिष्ठ[117] में भी है। योगवासिष्ठ में स्वरुपस्थिति को ज्ञानी का और स्वरुपभ्रंश को अज्ञानी का लक्षण माना गया है[118]; तो जैन शास्त्रों में भी सम्यग्दृष्टि का-सम्यगज्ञान का और मिथ्यादृष्टि का क्रमशः वही स्वरुप बताया गया है।

योगवासिष्ठ में सम्यग्ज्ञान का जो लक्षण है[119]; वह जैन शास्त्रों के अनुकूल है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति स्वभाव और बाह्य निमित्त इन दो प्रकारों से बतलायी है। योगवासिष्ठ में भी ज्ञानप्राप्ति[120] का वैसा ही क्रम सूचित किया गया है। इसी प्रकार के जैन दर्शन के अन्य विचारों के अनुरुप और दूसरे विचार भी योगवासिष्ठ में देखने को मिलते हैं; जो तुलनात्मक दृष्टि से मननीय है।

जैनदर्शन में आत्मविकास के क्रम को बतलाने के लिए जैसे चौदह गुणस्थान माने गये हैं; वैसे ही योगावासिष्ट में भी चौदह भूमिकाओं का बडा रुचिकर वर्णन है। उनमें सात अज्ञान की और सात ज्ञान की भूमिकाएँ हैं[121]। जो जैन परिभाषा के अनुसार क्रमशः मिथ्यात्व की और सम्यक्त्व की सूचक हैं। अज्ञान की सात और ज्ञान की सात भूमिकाओं के नाम इस प्रकार हैं-

अज्ञान की सात भूमिकाएँ-बीजजागृत, जागृत, महाजागृत, जागृतस्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजागृत और सुषुप्तक[122]।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ-शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा[123]॥ कुल मिलाकर ये चौदह भूमिकाएँ हैं; जिनका स्वरुप क्रमशः इस प्रकार है-

1. बीजजागृत :- जागरण के आदि में मायावश चैतन्य से प्राणधारण आदि क्रिया रुप उपाधि से भविष्य में होने वाले चित्त, जीव आदि नाम शब्दों और उनके अर्थों का भाजनरुप तथा जागृत का बीजभूत जो प्रथम चेतन है; उसे बीजजागृत कहते हैं[124]। अर्थात् इस भूमिका

---

109. आत्मधिया समुपातकायादिः कीर्त्यतेऽत्रि बहिरात्मा।
- योगशास्त्र प्रकाश 12

110. यस्याज्ञानात्मनो ज्ञस्य, देह एवात्मभावना।
उदितेति रुषैवाक्षरिपवो एवात्मभावना॥
- योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, पूर्वार्ध, सर्ग 6

111. क. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।
-पातंजल योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र 5

ख. अविद्या मोहः, अनात्मन्यात्मरभिमान इति।
-पातंजल योगदर्शन, भोजदेववृत्ति, पृष्ठ 141

112. विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम्।
भवोच्च तालमुत्तालप्रपंचमधितिष्ठति॥ -ज्ञानसार, मोहाष्टक 5

113. अज्ञानात्प्रसृता यस्मात् जगत्पर्णपरंपरा॥

114. जन्मपर्णादिना रन्ध्रा, विनाशच्छिद्रचञ्चुका।
भोगा भोगरसा पूर्णा, विचारैक घुणक्षता॥
- योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग 8/11

115. योगवाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग 9/23, 24

116. अविद्या संसृतिर्बन्धो, माया मोहो महत्तमः।
कल्पितानीति नामानि, यस्या सकलवेदिभिः॥
-योगवाशिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग 1/20

117. ज्ञात्रिर्हि ग्रंथिविच्छेदस्तस्मिन् सति हि मुक्तता।
मृगतृष्णाम्बुबुद्धयादि, शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ॥ -वही, सर्ग 118/23

118. स्वरुपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भंशोऽहंत्ववेदनम्।
एतत् संक्षेपतः प्रोक्तं, तज्ज्ञत्वात्ज्ञत्वलक्षणम्॥ -वही, सर्ग 117/5

119. अनाद्यनन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते।
इत्येको निश्चयः स्फारः, सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः॥ -वही, सर्ग 79/2

120. एकस्तावद् गुरुप्रोक्तादनुष्ठानाच्छनैः शनैः।
जन्मना जन्मभिर्वापि सिद्धिदः समुदाहृतः॥
द्वितीयस्त्वात्मनैवाशु, किंचिद् व्युत्पन्नचेतसा।
भवति ज्ञानसम्प्राप्तिराकाशफलपातवत्॥
-योगवाशिष्ठ, उपशम प्रकरण, सर्ग 7/3,4

121. अज्ञान भूः सप्तपदा, ज्ञभुः सप्तपदैव हि।
पदान्तराण्यसंख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयोः॥
-योगवाशिष्ठ उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग, 117/2

122. बीजजागृत्तथा जागृन्महाजागृत् तथैव च।
जागृतस्वप्नस्तथा स्वप्नः, स्वप्नजागृत्सुषुप्तकम्॥

123 इति सप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम्॥
-योगवाशिष्ठ उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग, 117/11, 12

124. भविष्यच्चित्त जीवादि, नामशब्दार्थभाजनम्।
बीजरुपं स्थितं जागृद्, बीजजागृत उच्यते॥ -वही, सर्ग 117/14

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जागृति की योग्यता बीजरुप में रहती है। इसे वनस्पति आदि शुद्ध निकाय के जीवों में मान सकते हैं।

2. जागृत :- बीजजागृति के बाद 'मैं और मेरा' (अहं और मम) एसी जो प्रतीति होती है; उसे जागृत कहते हैं[125]। अर्थात् इसमें अहंत्व एवं ममत्व बुद्धि अल्पांश में जागृत होने से इसे जागृत भूमिका कहा गया है। कीडे-मकोडे, पशु-पक्षी आदि में यह भूमिका मान सकते हैं।

3. महाजागृत :- एहिक या जन्मान्तरीय दृढाभ्यास से दृढता को प्राप्त जागृत प्रत्यय महाजागृत है[126]। अर्थात् इसमें ममत्व बुद्धि विशेष रुप से पुष्ट होने के कारण इसे महाजागृत कहते हैं। यह भूमिका देव और मानवसमूह में संभव मानी जा सकती है।

4. जागृतस्वप्न :- जागते हुए भी भ्रम में पडे रहना जागृतस्वप्न है[127]।

5. स्वप्न :- निद्रा अवस्था में आये हुए स्वप्न का जागने के पश्चात् भी भान होना, अनुभव करना स्वप्नावस्था है[128]।

6. स्वप्नजागृत :- जागने पर भी चिरकाल तक स्वप्न के स्थायित्व की कल्पना में डूबे रहना, उसे सत्य मानना स्वप्नजागृत है[129]। वर्षों तक प्रारंभ रहे स्वप्न का इसमें समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी यह चलता रहता है।

7. सुषुप्तक :- जिसमें प्रगाढ अज्ञान के कारण जीव की जड जैसी स्थिति हो जाती है; उसे सुषुप्तक कहते हैं[130]।

अज्ञान की उक्त सात अवस्थाओं में से सुषुप्ति के सिवाय छह अवस्थाएँ कर्म फल की भोगभूमिरुप होने से कर्मज हैं। सुषुप्ति तो उद्भूत कर्मो का योग से क्षय होने पर, दूसरे कर्मो का अनुदय होने पर और मध्यकाल में भोग्य सकल स्थूलसूक्ष्म प्रपंच के विलीन हो जाने पर प्रपंच के बीज अज्ञान मात्र के शेष रहने से अज्ञानोपहित चैतन्य शेषरुप ही है; जो जीव की जडावस्था है। इस प्रकार की जडावस्था का ही अपर नाम सुषुप्ति है।

अज्ञान की सात भूमिकाओं का कथन करने के बाद अब ज्ञान की सात भूमिकाओं का स्वरुप बतलाते हैं-

8. शुभेच्छा :- आत्मावलोकन की वैराग्य युक्त इच्छा को शुभेच्छा कहते हैं।[131]

9. विचारणा :- शास्त्राभ्यास, गुरुजनों के संसर्ग तथा वैराग्य और अभ्यास पूर्वक प्रवृत्ति विचारणा कहलाती है[132]।

10. तनुमानसा :- शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियविषयों में अवसक्तता रुप जो तनुता (सविकल्प समाधिरुप सूक्ष्मता) होती है; वह तनुमानसा नामक भूमिका है[133]।

11. सत्त्वापत्ति :- शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा इन तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य विषयों में संस्कार न रहने के कारण चित्त में अत्यन्त विरक्ति होने से माया, माया के कार्य और तीनों अवस्थाओं से शोधित सब के आधार, सत्पात्र रुप आत्मा में स्थित याने निर्विकल्प समाधिरुप जो स्थिति है, वह सत्वापत्ति है[134]।

12. असंसक्ति :- पूर्वोक्त चार ज्ञान-भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य और आभ्यन्तर विषयाकारों से और उनके संस्कारों से असंबंधरुप समाधि-परिणाम से चित्त में वृद्धि को प्राप्त हुआ निरतिशय आनन्द नित्य अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ब्रह्म भाव साक्षात्काररुप चमत्कार उत्पन्न होना अर्थात् अनासक्ति की प्रबलता से मन में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना असंसक्ति है[135]।

13. पदार्थाभाविनी :- पूर्वोक्त पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से बाह्य, अभ्यन्तर सभी पर पदार्थो पर से इच्छाओं के नष्ट हो जाने पर आत्मस्वरुप में जो दृढ स्थिति होती है; उसे पदार्थाभाविनी अवस्था कहते हैं[136]।

14. तुर्यगा :- पूर्वोक्त छह भूमिकाओं के चिरकालीन अभ्यास से भेदभाव का नितान्त भान भूल जाने से एक मात्र स्वभाव में स्थिर हो जाना तुर्यगा अवस्था है। यह जीवनमुक्त जैसी अवस्था होती है। इसके बाद विदेहमुक्ति तुर्यातीत स्थिति है[137]।

अज्ञान की भूमिकाओं में उत्तरोत्तर अज्ञान का प्राबल्य होने से उन्हें अविकास काल और ज्ञान की भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञानविकास में वृद्धि होने से उन्हें विकास क्रम की श्रेणियाँ कह सकते हैं। ज्ञान की सातवीं भूमिका तुर्यगा में विकास पूर्णता को प्राप्त करता है और उसके बाद की स्थिति मोक्ष है। विकास की पूर्णता को प्राप्त स्थिति को जैन दृष्टि से अरिहंत और उसके बाद की तुर्यातीत स्थिति को सिद्धदशा कह सकते हैं।

गुणस्थान और चित्त की अवस्थाएँ :-

आध्यात्मिक भूमिकाओं का मध्यम मार्ग की दृष्टि से जैन दर्शन में जैसे चौदह गुणस्थानों के रुप में वर्गीकरण है और संक्षेपदृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन अवस्थाओं में वर्गीकरण किया गया है; वैसे ही योगदर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन देखने में आता है। तुलनात्मक दृष्टि से उपयोगी होने से उनका यहाँ उल्लेख करते हैं।

चित्त की पाँच अवस्थाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं - मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध[138]।

1. मूढ :- इस भूमिका में तमोगुण की प्रधानता होती है; जिससे कर्तव्य और अकर्तव्य का भान भूला कर क्रोधादि के द्वारा यह भूमिका बुरे कार्यो से जोडती है। इस अवस्था में न तो सत्य को जानने की जिज्ञासा होती है और न ही धर्म के प्रति रुचि होती है। यदि

125. योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग 117/15, 16
126. अयं सो मदं तन्मम, इति जन्मान्तरेदितः।
पीवारः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजागृतदिति स्फुरन्॥
-वही, सर्ग 117/16, 17
127. यज्जागृतो मनोराज्यं, जागृत स्वप्न स उच्यते। -वही, सर्ग 117/12
128. वही
129. वही 21, 22
130. (.....) जडा जीवस्य या स्थितिः।
131. वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः।
- योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, सर्ग 118/8
132. वही 9
133. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियोर्थेऽवसक्तता। याऽत्र सा तनुता भावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥ - वही 10
134. वही, सर्ग 118/11
135. दशा चतुष्टयाभ्यां सादसंसंग फलेन च।
सूलसत्वचमत्कारात् प्रोक्ताऽसंसक्ति नामिका॥ -वही, सर्ग 118/12
136. वही 13, 14
137. वही 15, 16
भविष्यद् दुःखबोधाद्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः॥ -वही, सर्ग 117/22, 23.
138. क. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तमभूमयः। -योगदर्शन व्यासभाष्य
ख. योगदर्शन, भोजदेववृत्ति, पृष्ट 8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुचि होती भी है; तो धनसंग्रह करने की और प्राणियों को दु:ख देने की ओर होती है और असत्य, चोरी आदि पाप-कर्मों में प्रवृत्ति होने की ओर होती है। सारांश यह है कि मूढवृत्तिवालों का जीवन अज्ञान में ही व्यतीत होता है। ऐसी अवस्था अविकसित बुद्धिवाले मनुष्यों एवं पशुओं में देखने को मिलती है।

2. क्षिप्त :- इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण की प्रबलता से चित्त सदैव चंचल रहता है। यह क्षिप्तभूमि दैत्य दानवों की होती है। रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण होने पर क्रूरता, कामांधता, लोभ आदि की प्रवृत्तियाँ वृद्धिगत होती हैं और सतोगुण का मिश्रण होने पर नैतिक प्रवृत्तियों में मन अनुरक्त रहता है। संसारसक्त मानव में इस अवस्था को माना जा सकता है।

3. विक्षिप्त :- इस अवस्था में सतोगुण प्रधान होता है। रजोगुण और तमोगुण दबे हुए और गौण होते हैं। सत्त्व गुण की अधिकता की वृत्ति दु:ख के साधनों को विशेषता से नष्ट करके सुख के साधनों में लगी रहती है। वह धार्मिक वृत्ति की ओर उन्मुख होती है; किन्तु रजोगुण के कारण चित्त विक्षिप्त बना रहता है।

4. एकाग्र :- चित्त का प्रशस्त विषयों में एकाग्र होना, स्थिर रहना एकाग्र वृत्ति है। जब रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव कम हो जाता है; तब चित्त की चंतलता को छोडकर मन किसी एक प्रशस्त विषय पर स्थिर हो जाता है और सदीर्घ काल तक चिन्तन की धारा उसी प्रशस्त विषय पर केन्द्रित रहती है। विचार शक्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं प्रशस्तता बढती जाती है। किसी वस्तु पर मन के केन्द्रित हो जाने से वह वस्तु उसके वशीभूत हो जाती है। इस स्थिति में ही योग की शक्ति अभिव्यक्त होती है। इस भूमि को संप्रज्ञात योग, सबीज समाधि भी कह सकते हैं।

5. निरुद्ध :- चित्त की संपूर्ण वृत्तियों व संस्कारों का जिस अवस्था में लय हो जाते है; उसे निरुद्ध अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इसके प्राप्त होने पर साधक का चित्त के साथ संबंध टूट जाता है और वह अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है[139]।

चित्त की उक्त पाँच अवस्थाओं में से मूढ और क्षिप्त इन दो अवस्थाओं में रजोगुण और तमोगुण का अत्यधिक प्रकर्ष रहता है। साधक नि:श्रेयस प्राप्ति के लिए प्रयत्न ही नहीं कर पाता। इन अवस्थाओं में आध्यात्मिक विकास के लिए अवकाश ही नहीं रहता। विक्षिप्त अवस्था में जब सतोगुण की अधिकता होती है; तब साधक कभी कदाचित् सात्त्विक विषयों में प्रवृत्ति करने का प्रयत्न करता है; लेकिन रजोगुण और तमोगुण का भी अस्तित्व रहने से, समाधि में चित्त की अस्थिरता रहने से उसे योग की कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। एकाग्र एवं निरुद्ध ये दो अवस्थाएँ सतोगुणवाली हैं। अत: इनके समय में ही जो समाधि होती है; वही योग सहायक है और तभी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम आरंभ होता है। निरुद्ध अवस्था के अनन्तर आत्मा की जो स्थिति बनती है, वह मोक्ष है।

गुणस्थानों के साथ यदि इन अवस्थाओं की तुलना की जाये तो यह कहा जा सकता है कि पहली दो अवस्थाएँ जैनागमोक्त पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की सूचक हैं। तीसरी विक्षिप्त अवस्था मिश्र गुणस्थान की सूचक है। चौथी अवस्था में आध्यात्मिक विकास किस क्रम से होता है, यह नहीं बताया गया है। इससे मात्र इतना ही संकेत मिलता है कि सामान्य चित्त की चार भूमिकाएँ हो सकती हैं। लेकिन इससे आत्मा के विकास की स्थिति का कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। गुणस्थानों का संबंध आत्मा से है, चित्त से नहीं। अत: इन चित्तवृत्तियों की गुणस्थानों के साथ एक देश से तुलना हो सकती है, पूर्णत: नहीं। इनसे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि वैदिक दर्शनों में आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के संबंध में कुछ न कुछ विचार अवश्य किया गया है।

गुणस्थान और बौद्धदर्शन सम्मत अवस्थाएँ :-

यद्यपि सामान्य से बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है; लेकिन उसने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया हैं। उसने आत्मा की संसार व मुक्त आदि अवस्थाएँ मानी हैं। अत: उसमें आत्मा के विकास के संबंध में चिन्तन किया गया हैं और आत्मा के विकास के क्रम का वर्णन किया गया हैं।

बौद्ध ग्रंथो में स्वरुपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरुप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने की स्थिति का वर्णन हैं। यह वर्णन पाँच प्रकार के विभागों में विभाजित हैं - धर्मानुसारी, सोतापन्न, सकदागामी, अनागामी और अरहा। इनमें धर्मानुसारी वह कहलाता है, जो निर्वाणमार्ग के अभिमुख हो; किन्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुआ हो। इसे जैन मान्यता के अनुसार मार्गानुसारी कह सकते हैं। जो आत्मा अविनियत, धर्मनियत और संबोधि-परायण हो; उसे सोतापन्न कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्म में अवश्य निर्वाण प्राप्त करती हैं। सकादागामी वह है, जो एक ही बार जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। जो इस लोक में जन्म ग्रहण न करके सीधे ही मोक्ष जाने वाला हो; वह अनागामी है और जो संपूर्ण-समस्त आस्रवों का क्षय करके कृत कार्य हो जाता है, उसे अरहा कहते हैं। प्रकारान्तर से इनके नामों का उल्लेख इस प्रकार भी देखने को मिलता है। पुथुज्जन, सोतापन्न, सकदागामी औपपातिक और अरहा। पुथुज्जन का अर्थ सामान्य मानव है। इसके दो भेद हैं- अंध पुथुज्जन और कल्याणपुथुज्जन। इन दोनों का क्रमश: जैन दर्शन के अनुसार मिथ्यात्व और अविरत सम्यग्दृष्टि की भूमिका मान सकते हैं[140]।

जैन शास्त्रों में जैसे बंध की कारण कर्म प्रकृतियों का वर्णन है, वैसे ही बौद्ध दर्शन में निम्नलिखित दस संयोजनाएँ बतायी गयी है-

सक्काय, दिट्ठि, विचिकिच्छा, सीलव्वत पराभास, कामराग, परीध, रुपराग, अरुपरता, मान, उदघच्च और अविज्जा[141]। आदि की पाँच औद्भागीय और शेष पाँच उड्ढभागीय कही जाती है।

इनमें से प्रथम तीन संयोजनाओं के क्षय होने पर सोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है। पाँच औद्, भागीय संयोजनाओं के नाश होने पर औपपातिक अनागामी अवस्था एवं दसों संयोजनाओं का नाश होने पर अरहा (अरिहंत, सयोगी केवली) अवस्था प्राप्त होती है। यह वर्णन जैन शास्त्रगत कर्मप्रकृतियों के क्षयक्रम से मिलता जुलता है।

सोतपन्न आदि चार अवस्थाएँ चौथे से लेकर चोदहवें गुणस्थान तक की भूमिकाओं के विचारों की प्रतिरुपक कहला सकती हैं।

---

139. तद्रा दृष्टुं स्वरुपेऽवस्थानम्। पातंजल योगदर्शन 1/3
140. आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ और पूर्णता, पृ. 69
141. मराठी में भाषान्तरित दीधनिकाय, पृष्ठ 175 की टिप्पणी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा यों कह सकते हैं कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ आदि गुणस्थानों की संक्षेप हैं।

बौद्ध दर्शन में बोधिसत्त्व का जो लक्षण है[142]; वह जैन दर्शन के सम्यग्दृष्टि के समान है। जो सम्यग्दृष्टि होता है; वह ग्राहस्थिक आरंभ-समारंभ में लग कर भी तप्तलोह-पदन्यासवत् सकंप एवं पापभीरु होता है। यही रुप बौद्ध दर्शन में स्वीकार किया गया है कि बोधिसत्व शरीर मात्र से अवश्य सांसारिक प्रवृत्ति में पडनेवाला होता है; किन्तु चित्तपाती (मन से लगने वाला) नहीं होता[143]।

बौद्ध दर्शन मान्य उक्त आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओं का सामान्यतः यह मन्तव्य है कि पहली अवस्था में आध्यात्मिक विकासवाले और अविकासवाले दोनों प्रकार के जीव हो सकते हैं। जो विकास की ओर उन्मुख हैं वे तो धर्मानुसारी (कल्याण पुथुज्जन) हैं और उसके पूर्व आत्मा की जो दशा है उसे अंध पुथुजन्न कहते हैं। सोतापन्न आदि शेष अवस्थाएँ निश्चित रुप से विकास के क्रम की दर्शक हैं एवं अरहा अवस्था सशरीरी पूर्ण विकास की स्थिति को बतलाती है और उसके बाद निर्वाण होता है।[144]

इस प्रकार यद्यपि बौद्ध दर्शन में आत्मविकास का वर्णन अवश्य लिया गया है; लेकिन उसमें गुणस्थानों के वर्णन की तरह क्रमबद्धता के दर्शन नहीं होते। इसलिए आंशिक तुलना हो सकती है; पूर्ण नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मविकास के इच्छुक दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से विकासक्रम का उल्लेख किया है। इसलिए यह तो कहा जा सकता है कि मोक्ष को स्वतंत्र पुरुषार्थ मान कर उसकी उपलब्धि सभी को इष्ट है; पर उनमें क्रमबद्ध धारा के दर्शन अवश्य नहीं होते। जैन दर्शन में इसकी सविस्तार चर्चा हुई है; जो गुणस्थान के रुप में पूर्व में बतायी गयी हैं।

गुणस्थान में जीवस्थान

गुणस्थान में वर्णित आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया जीव ही करता है, अजीव नहीं। अतः प्रसंगवश राजेन्द्र कोश[145] में और समयसार[146] में जीवों के उक्त 14 भेदों का वर्णन किया गया है। साथ ही राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने ये जीव 14 गुणस्थानों में से कौन-कौन से गुणस्थान प्राप्त करते हैं उसका भी वर्णन किया है[147]। इन गुणस्थानों की प्राप्ति का कारण बताते हुए कहा है- पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म एसे महासंक्लिष्ट परिणाम के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होता है। पूर्व भव में प्राप्त सम्यक्त्व का वमन कर जो जीव अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय (पृथ्वी-अप्-वनस्पति) में, अपर्याप्त विकलेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रिय में उत्पन्न होते हैं एसे लब्धि पर्याप्त परन्तु करण अपर्याप्त जीवों को ही सास्वादन गुणस्थान उत्पत्ति के प्रथम समय में होता है बाद में तो सभी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान को ही प्राप्त करता हैं। और जब तीर्थंकर होने वाली आत्मा या अन्य कोई क्षायिक सम्यक्त्वी आत्मा अथवा तीर्थंकर के अलावा अन्य कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी आत्मा पूर्व भव का क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लेकर यहाँ पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय रुप में जन्म लेती है तब वह लब्धि पर्याप्त परन्तु करण अपर्याप्त अवस्था में सीधे ही अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उत्पन्न होती है इस प्रकार इस अपेक्षा से अपर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय को मिथ्यात्व, सास्वादन और अविरत सम्यग्दृष्टि - ये तीन गुणस्थान प्राप्त होते हैं[148]। मिश्र गुणस्थनक केवल पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय जीव को ही प्राप्त होता है। अतः अपर्याप्त अवस्था में इसकी प्राप्ति नहीं होती। मिथ्यात्वी में से सम्यक्त्व प्राप्त कर कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्ति की योग्यता होने से पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय अवस्था में मनुष्य को सभी अर्थात् चौदह गुणस्थान प्राप्त होते हैं और सम्यक्त्वी देव तथा नारक को अविरत सम्यग्दृष्टि तक और तिर्यंच को देशविरति तक के गुणस्थान प्राप्त होते हैं[149]।

142. कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्। न चित्तपातिनस्तावदेतदप्यदि युक्तिमत्॥ - योगबिन्दु 271

143. एवं च यत्परैरुक्तं, बोधिसत्वस्य लक्षणम्। विचार्यमाणं सन्नीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते॥
तप्तलोहपदन्यासतुल्यावृत्ति क्वचिद्यदि। इत्युक्तं कायपात्येव चित्तपाती न संस्मृतः॥
-सम्यग्दृष्टि द्वात्रिंशिका 10, 11

144. आध्यात्मिक विकास की भूमिका एवं पूर्णता-62

145. अ.रा.पृ. 3/916-918; 4/1548-1552; कर्मग्रंथ 4, मार्गणास्थानप्रकरण - पर विवेचन - आचार्य श्रीमद्विजय वीरशेखरसूरि, पृ. 4, 30,31

146. समयसार, 65; समयसार वैभव, पृ. 71

147. अ.रापृ. 3/916, 917, 918

148. अ.रा.पृ. 3/917, 918

149. वही

'संघो गुणसंघातो'

संघो गुणसंघातो, संघाय विमोयगो य कम्माणं ।
रागद्दोसविमुक्को, होइ समो सव्वजीवाणं ॥1॥
परिणामिय बुद्धीए, उववेतो होइ समणसंघो उ ।
कज्जे निच्छियकारी, सुपरिच्छियकारगो संघो ॥2॥
सीसे कुलव्वए वा, गणव्वए संघवए य समदरिसी ।
ववहारसंथवेसु य, सो सीयघरोवमो संघो ॥3॥

– अ.रा.पृ. 6/921

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में जीवस्थान[150]

क्र. जीवों के भेद / क्र. गुणस्थानक का नाम	1. मिथ्यात्व	2. सास्वादन	3. मिश्र	4. अविरति	5. देशविरति	6. प्रमत	7. मिथ्यात्व	8. अपूर्वकरण	9. अनिवृत्ति बादर संपराय	10. सूक्ष्म संपराय	11.उपशान्तमोह वीतराग छद्मस्थ	12. क्षीणमोह वीतराग छद्मस्थ	13. सयोगी केवली	14. अयोगी केवली
1. अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
2. पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
3. अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय,अप्काय,वनस्पति	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
तेजःकाय, वायुकाय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
4. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
5. अपर्याप्त द्वीन्द्रिय	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
6. पर्याप्त द्विन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
7. अपर्याप्त त्रीन्द्रिय	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
8. पर्याप्त त्रीन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
9. अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
10. पर्याप्त चतुरिन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
11. अपर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
12. पर्याप्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
13. अपर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	√	√	×	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
14. पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय देव, नारक	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
तिर्यंच	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×
मनुष्य	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√

150. अ.रा.पृ. 3/916, 917, 4/1548. 1582

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में मार्गणास्थान[151]

मार्गणास्थान / क्र. गुणस्थान	1. मिथ्यात्व	2. सास्वादन	3. मिश्र	4. अविरति	5. देवविरति	6. प्रमत्त	7. अप्रमत	8. अपूर्वकरण	9. अनिवृत्ति बादर संपराय	10. सूक्ष्म संपराय	11. उपशान्तमोह वितराग छद्मस्थ	12. क्षीणमोह वितराग छद्मस्थ	13. सयोगी केवली	14. अयोगी केवली
नरक गति १	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
तिर्यंच गति २	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×
मनुष्य गति ३	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
देव गति ४	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×
एकेन्द्रिय ५	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
द्वीन्द्रिय ६	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
त्रीन्द्रिय ७	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
चतुरिन्द्रिय ८	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
पंचेन्द्रिय ९	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
पृथ्वीकायिक १०	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
अप्कायिक ११	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
तेजस्कायिक १२	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
वायुकायिक १३	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
वनस्पति. १४	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
त्रस १५	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
मनोयोग १६	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×
वचनयोग १७	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×
काययोग १८	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×
पुरुष वेद १९	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
स्त्रीवेद २०	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
नपुंसकवेद २१	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
क्रोध कषाय २२	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
मान कषाय २३	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
माया कषाय २४	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
लोभकषाय २५	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×
मति ज्ञान २६	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×
श्रुत ज्ञान २७	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×
अवधि ज्ञान २८	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×
मनःपर्यवज्ञान २९	×	×	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	×	×
केवल ज्ञान ३०	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	√	√
मति अज्ञान ३१	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
श्रुत अज्ञान ३२	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
विभंगज्ञान ३३	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×

151. अ.रा.पृ. 3/924-927; षडशीति नाम चतुर्थ कर्मग्रंथ-विवेचनकार - श्री वीरशेखरसूरी पृ. 4, 30-31

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में 62 मार्गणा पिछले पृष्ठ से जारी....

मार्गस्थान / क्र. गुणस्थान	1. मिथ्यात्व	2. सास्वादन	3. मिश्र	4. अविरति	5. देवविरति	6. प्रमत	7. अप्रमत	8. अपूर्वकरण	9. अनिवृत्ति बादर संपराय	10. सूक्ष्म संपराय	11. उपशान्तमोह वितराग छद्मस्थ	12. क्षीणमोह वितराग छद्मस्थ	13. सयोगी केवली	14. अयोगी केवली
सामायिक ३४	×	×	×	×	×	√	√	√	√	×	×	×	×	×
छेदोपस्थापनीय ३५	×	×	×	×	×	√	√	√	√	×	×	×	×	×
परिहारविशुद्धि ३६	×	×	×	×	×	×	√	×	×	×	×	×	×	×
सूक्ष्मसंपराय ३७	√	√	√	√	×	×	×	×	×	√	×	×	×	×
यथाख्यात ३८	√	×	×	×	×	×	×	×	×	√	√	√	√	√
देशविरति ३९	×	×	×	×	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×
असंयम ४०	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
सचक्षुदर्शन ४१	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×
अचक्षुदर्शन ४२	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×
अवधिदर्शन ४३	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×
केवलदर्शन ४४	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	√	√
कृष्ण लेश्या ४५	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
नील लेश्या ४६	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
कापोत लेश्या ४७	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
तेजो लेश्या ४८	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×
पद्म लेश्या ४९	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×
शुक्ल लेश्या ५०	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×
भव्य ५१	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
अभव्य ५२	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
वेदक सम्यक्त्व ५३	×	×	×	√	√	√	√	√	×	×	×	×	×	×
उपशम सम्य ५४	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	×	×	×	×
क्षायिक सम्य ५५	×	×	×	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
मिश्र सम्यक्त्व ५६	√	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
मिथ्यात्व ५७	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
संज्ञी ५८	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√
असंज्ञी ५९	√	√	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×	×
आहारी ६०	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	√	×
अनाहारी ६१	√	√	×	√	×	×	×	×	×	×	×	×	√	√

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में भाव

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने गुणस्थान में औपशमिक आदि पांचो भाव और सांनिपातिक भाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जो संक्षेप में निम्नानुसार है।

भाव:-

'भाव' शब्द का परिचय देते हुए 'भावनं भाव:' इस अर्थ में 'भाव' शब्द की व्याख्या करते हुए राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने लिखा है -

1. **भवन्ति विशिष्टहेतुभिः स्वतो वा जीवानां तत्तद्रूपतया भवनं भावः। भवन्त्येभि-रुपशमाऽऽदिभिः पर्य्यायैरिति भावः[152]।**
2. **औदयिकाऽऽदिके वस्तु परिणाम विशेष भवन्तीति भावः[153]। अर्थात् जीवों के या जीवों में स्वतः या विशिष्ट हेतुओं (निमित्तों) के द्वारा होने वाले या होते तद्रुप परिवर्तन को भाव कहते हैं।**

जिनागमसार में केवल जीव द्रव्य में पाये जाने वाले इन विशेष भावों को जीव के असाधारण भाव कहे हैं[154]।

भाव के प्रकार:-

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश में जीव के ये असाधारण भाव एवं अनेक अवांतर प्रकार निम्नानुसार बताये हैं :-

(1) औपशमिक भाव 2 (2) क्षायिक भाव 9 (3) क्षायोपशमिक भाव 18 (4) औदयिक 21 और (5) पारिणामिक 3, इस प्रकार ये त्रेपन (53) भावभेद जीव के भाव हैं[155]।

1. औपशमिक भाव[156] :-कर्मों का फलदानसमर्थ रुप से अनुद्भव (उदय का अभाव) उपशम हैं। उपशम से युक्त भाव औपशमिक भाव कहलाता है। जिसमें मोहनीय कर्म का प्रदेश और विपाक दोनों तरह से अनुदय हो वह उपशम भाव कहलाता हैं।

भाव	कर्म का उपशम	गुणस्थान क्षेत्र
1. उपशम सम्यक्त्व	दर्शन मोहनीय के उपशम से होता है।	4 से 11
2. उपशम चारित्र	मोहनीय कर्म के सर्वथा उपशम से होता है।	8 से 11

2. क्षायिक भाव[157]:- कर्मो के सर्वथा क्षय से आत्मा को जो अत्यन्त शुद्ध भाव प्रगट होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

भाव	कर्म का उपशम	गुणस्थान क्षेत्र
1. क्षायिक सम्यक्त्व	दर्शनत्रिक और अनंतानुबंधी चतुष्क के क्षय से	4-14
2. केवलज्ञान	केवलज्ञानावरण के क्षय से	13, 14
3. केवलदर्शन	केवलदर्शनावरण के क्षय से	13, 14
4. क्षायिक चारित्र	मोहनीय के सर्वथा क्षय से	12-14
5-9 दानादि 5 लब्धियाँ	तत्तत् अंतराय कर्म के क्षय से	13, 14

3. क्षायोपशमिक भाव[158]:- उदय में आये हुए कर्मो का क्षय और अनुदित कर्मो के उपशम से जीव को क्षायोपशमिक भाव प्राप्त होता है। यह भाव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय - इन चार घाती कर्मो में ही होता हैं।

भाव	कर्म का क्षयोपशम	गुणस्थान क्षेत्र
5 लब्धियाँ	तत्संबंधी अंतराय के क्षायोपशम से	1 से 12
1 क्षायोपशमिकसम्यक्त्व	दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से	4 से 7
1 देशविरति	दर्शनत्रिक और अनंतानुबंधी चतुष्क तथा अप्रत्याख्यानीय चतुष्क के क्षयोपशम से	5 वाँ

152. अ.रा.पृ. 5/1500; भाग 2, 'आणुपुव्वी' शब्द, पृ. 153
153. अ.रा.पृ. 5/1500
154. जिनागमसार, पृ. 127, प्रश्न 1
155. अ.रा.पृ. 5/1500; तत्त्वार्थसूत्र 2/1-7, पञ्चाध्यायी, 2/961-963 एवं अर्थ; कर्मग्रंथ 4/64 का विवेचन, पृ. 10, 11, 12, 13 - आ. वीरशेखरसूरि
156. अ.रा.पृ. 5/99, तत्त्वार्थसूत्र 2/2; कर्मग्रंथ 4, पृ. 10-11, -आ. वीरशेखरसूरि
157. अ.रा.पृ. 3/688-89; तत्त्वार्थसूत्र 2/2; 4; जिनागमसार पृ. 133-136
158. अ.रा.पृ. 3/689-90 तत्त्वार्थसूत्र 2/2,5; जिनागमसार पृ. 136-138

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1 सर्वविरति	अनंतानुबंधी-अप्रत्याख्यानीय-प्रत्याख्यानीय-कषाय चतुष्क (12 कषाय) के क्षयोपशम से	6 से 10
10 उपयोग (2 केवल के बिना)	ज्ञानचतुष्क: तत्संबंधी ज्ञानावरण के क्षयोपशम से	4 से 12
	दर्शनत्रिक: तत्संबंधी दर्शनावरण के क्षयोपशम से	4 से 12
	कुज्ञानत्रिक: तत्संबंधी ज्ञानावरण के क्षयोपशम एवं उसके साथ ही मोहनीय के उदय	1, 2, 3

यहाँ इतना विशेष है कि दर्शनत्रिक में अवधि दर्शन के क्षयोपशम में विभंगज्ञानी को अवधि दर्शन की प्राप्ति होने से सिद्धांतकार ने अवधि दर्शन को 1 से 12 गुणस्थान बताये हैं। जबकि कर्मग्रंथ में कर्मप्रकृति के गुणस्थान प्राप्ति के वर्णन में प्रथम तीन गुणस्थान में अवधि दर्शन का निषेध करने से कर्मग्रंथकार ने अवधि दर्शन के 4 से 12 गुणस्थान बताये हैं[159]।

4. औदयिक भाव[160] :- तत्संबंधी कर्मो के उदय से जीव को जो विकारी भाव उदय में आते हैं, उसे औदयिक भाव कहते हैं।

क्रमांक	भाव	भाव संख्या	कर्मोदय की कारणता
1.	गति	4	तत्संबंधी गति नाम कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
2.	कषाय	4	तत्संबंधी कषाय मोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
3.	वेद	3	तत्संबंधी वेद मोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
4.	लेश्या	6	तत्संबंधी लेश्या के उदय से प्राप्त होता भाव।
5.	मित्यात्व	1	मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
6.	अज्ञान	1	मोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
7.	असंयम	1	चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
8.	असिद्धत्व	1	आठों कर्म के उदय से प्राप्त होता भाव।
	कुल	21	

पाँच निद्रा आदि भी औदयिक भाव ही कहलाते हैं परन्तु ग्रंथकार ने यहाँ 21 की ही विवक्षा की हैं। इन 21 भंगों के गुणस्थान मार्गणास्थान और गुणस्थान के टेबल में बताये हैं।

5. पारिणामिक भाव[161] :- जीव के परिणाम से जो भाव प्राप्त होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। या जिस कारण से मूल पदार्थ में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो वैसा जीव और धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में रहा हुआ स्वत: सिद्ध स्वभाव। जैसे - (1) जीवत्व (2) भव्यत्व (3) अभ्यत्व

6. सांनिपातिक भाव[162]:- दो, तीन भावों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भावों को सांनिपातिक भाव कहते हैं। सांनिपातिक भाव के 26 भंग होते हैं जिसमें से 20 असंभवित हैं और 6 भंग संभवित हैं, उन्हें यहाँ बता रहे हैं।

1. **क्षायिक पारिणामिक :** सिद्ध भगवान् को होता है।
2. **क्षायिका औदयिक पारिणामिक :-** भवस्थ केवली भगवान् को 13 वें सयोगी केवली गुणस्थान में होता है।
3. **क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक :-**चारों गति के क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवों को चतुर्थ गुणस्थान में होता है। तिर्यच 4, 5 वें गुणस्थान में और मनुष्य को 4 से 7 गुणस्थान में होता है।
4. **उपशम क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक :-** 4 गति के उपशम सम्यक्त्वी जीवों को उपरोक्तानुसार 4 से 7 गुणस्थान तक होता है।
5. **क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक :-** चारों गति के क्षायिक सम्यक्त्वी जीवों को उपरोक्तानुसार 4 से 7 गुणस्थान तक होता है।
6. **उपशम क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक :-** उपशम श्रेणी में रहे क्षायिक सम्यक्त्वी जीव मनुष्य को 8 से 11 गुणस्थान में यह भंग रहता हैं।

भावों का महत्त्व[163]:-

समस्त द्रव्यों का अपना अपना पारिणामिक भाव होता है। जीवों के औपशमिक आदि पाँच भाव होते हैं। सभी संसारियों के

159. षडशीति चतुर्थ कर्मग्रंथ, भावप्ररुपणा, द्वार, पृ. 10-11, -ले. विवेचक आचार्य श्रीमद्विजय वीरशेखरसूरि
160. अ.रा.पृ. 3/87; तत्त्वार्थसूत्र, 2/1-7;जिनागमसार, पृ. 148 से 160; कर्मग्रंथ 4/64, 65, 66
161. अ.रा.पृ. 5/875
162. अ.रा.पृ. 7/360-7; चतुर्थ कर्मग्रंथ, पृ. 12, 13 -ले. आ.वीरशेखरसूरि
163. धवलासार, पृ. 300; जिनागमसार, पृ. 168

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औदयिक भाव होता ही है। और औपशमिक भाव के बिना धर्म की शरुआत नहीं होती। छद्मस्थ संसारियों के क्षायोपशमिक भाव होता है। और केवली, क्षायिक सम्यक्त्वी, क्षायिक चारित्री के क्षायिक भाव होते हैं।

उपसंहार:-

प्रस्तुत प्रकरण में 'गुणस्थान' के विषय में अनुशीलन किया गया हैं। यहाँ 'गुण' शब्द भाव का वाचक हैं। जैन आगम में जीव के पाँच भाव बताये गये हैं। इन्ही भावों का अंशत: आविर्भाव / तिरोभाव और पूर्णत: प्रकटीभाव 14 गुणस्थानों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसमें पाँचवाँ गुणस्थान देशविरति (असंयतासंयत) मनुष्य और तिर्यञ्च, दोनों के हो सकता है। किन्तु प्रमत्तसंयत नामक षष्ठ गुणस्थान से लेकर आगे की स्थिति केवल मनुष्ययोनि में ही सम्भव हो पाती है। आठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक के गुणस्थानों को दो श्रेणियों में रखा जाता है- उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। अपूर्वकरण (अष्टम), अनिवृत्तिकरण (नवम), सूक्ष्मसांपराय (दशम) और उपशान्तकाषाय वीतराग छद्मस्थ (एकादश), इन्हें उपशमश्रेणी में रखा जाता है; और अपूर्वकरण (अष्टम), अनिवृत्तिकरण (नवम), सूक्ष्मसांपराय (दशम) और क्षीणकाषाय वीतराग छद्मस्थ (द्वादश), इन्हें क्षपकश्रेणी में रखा जाता है। उपशमश्रेणी पर आरुढ जीव एक बार नियम से गिरकर नीचे के गुणस्थान में रखा जाता है और यदि फिर सम्हलता है तो श्रपकश्रेणी पर आरू ढ होकर बारहवें क्षीणकाषायवीतरागछद्मस्थ अवस्था को पार कर के सयोग केवली नामक तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता हैं। और आयु समाप्त होने पर 14 वें गुणस्थान से होता हुआ मुक्त हो जाता हैं।

ये गुणस्थान मोक्षमार्गी मनुष्यों में कर्म एवं कषायप्रभेदों के उतार-चढाव के कारण होते हैं। छठे गुणस्थान से आगे की सभी अवस्थाएं मात्र संयमी साधुओं में सम्भव हो पाती हैं। जैसे जैसे उत्कृष्टता आती है वैसे वैसे उसके गुणस्थान-क्रमारोहण होता जाता है और कषायों का रस कम होता जाता हैं। क्रमश: कषाय के कम होने से कर्मों के बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता भी घटती जाती है और अन्त में जीव कर्मरहित, अकषायी, अलेशी होता हुआ चरम अयोगी केवली गुणस्थान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होता है। आगे के शीर्षक में कर्म, कषायों एवं लेश्या के बारे में संक्षिप्त अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

श्री अरिहन्त-तीर्थंकरदेवों की आज्ञा

1. विश्व के सूक्ष्मद्रव्य इत्यादि (वस्तु-पदार्थों) को दर्शाने वाली होने से उत्तम है।
2. सर्वदा स्थायी होने से अनादि अनन्त है।
3. सभी जीवों को अनाशक तथा हितकारिणी होने से 'भूतहिता' है।
4. सत्य वस्तु को प्रगट करनेवाली होने से 'भूतभावना रुप' है।
5. कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न से भी अधिक फल देनेवाली होने से 'अमूल्य' है।
6. अपरिमित अर्थ को कहनेवाली होने से 'अमिता' है।
7. अन्य प्रवचनों की आज्ञा द्वारा अजेय होने से 'अजिता' है।
8. महान् अर्थ वाली होने से 'महार्था' है।
9. महा सामर्थ्य सम्पन्न होने से 'महानुभावा' है।
10. विश्व के समस्त द्रव्यादिक का प्रतिपादन करनेवाली होने से 'महाविषया' है।

श्री अरिहन्त-तीर्थंकर भगवन्तों की इन्हीं दस आज्ञाओं को श्रुतकेवली व श्रीगणधर भगवन्तों ने श्री द्वादशांगी में गूँथा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मवाद

समस्त भारतीय सन्तों ने, महर्षियों ने, तत्त्वचिन्तकों ने कर्मवाद पर गहरा चिन्तन किया है। जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक आदि सभी दार्शनिकों ने कर्मवाद के सम्बन्ध में अनुचिन्तन किया, जिसकी प्रतिच्छाया धर्म, साहित्य, ज्ञान, विज्ञान, कला आदि समस्त विधाओं पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। किन्तु जैन परम्परा में कर्मवाद का जैसा सुव्यवस्थित वैज्ञानिक रुप उपलब्ध है- वैसा अन्यत्र नहीं है।

कर्मवाद का महत्त्व :-

कर्मवाद की गवेषणा का प्रमुख कारण विश्व के विशाल मंच पर सर्वत्र छाया हुआ विविधता, विचित्रता एवं विषमता का एक छत्र साम्राज्य है। कर्माधीन जीव-जन्म, जरा और मरण के भय से भयभीत चारों गतियों और चौरासी लाख योनियों में अलग अलग रुपों और अलग अलग स्थितियों में भटकता रहता है। प्रत्येक प्राणी के सुख-दु:ख तथा तत्सम्बन्धी अनेक अवस्थाएँ कर्म की विचित्रता एवं विविधता पर ही आधारित हैं।सब संसारी जीवों के कर्मबीज भिन्न होने से उनकी स्थिति-परिस्थिति, सूरत-शक्ल में विलक्षणता है। मानव जाति को ही देखें - मनुष्यत्व सब में समान है, पर कोई राजा है तो कोई रंक, कोई बुद्धिमान है तो कोई मूर्ख, कोई धनी है तो कोई निर्धन, कोई सबल है तो कोई निर्बल, कोई रोगी है तो कोई निरोगी, कोई भाग्यशाली है तो कोई भाग्यहीन, कोई रुपवान है तो कोई रुपहीन - यह जो अन्तर है,उसका कारण है - अपने-अपने 'कर्म'। प्राणीमात्र को जो सुख और दु:ख की उपलब्धि होती है, वह स्वयं किये गये कर्मों का ही प्रतिफल है। जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल प्राप्त करता है। एक प्राणी किसी अन्य प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्व-सम्बद्ध होता है, परसम्बद्ध नहीं।[1]

जैन परम्परा में जिस अर्थ में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है उस अर्थ में अथवा उससे मिलते-जुलते अर्थ में अन्य दर्शनों में निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है : माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि। माया, अविद्या और प्रकृति शब्द वेदान्त दर्शन में उपलब्ध है। अपूर्व शब्द मीमांसा दर्शन में प्रयुक्त हुआ है। वासना शब्द बौद्ध दर्शन में विशेषरुप से प्रसिद्ध है। आशय शब्द विशेषकर योग तथा सांख्य दर्शन में उपलब्ध है। धर्माधर्म, अदृष्ट और संस्कार शब्द विशेषतया न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में प्रचलित हैं। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका साधारणतया सब दर्शनों में प्रयोग किया गया हैं। इस प्रकार चार्वाक को छोडकर सभी भारतीय दर्शनों ने किसी-न-किसी रुप में अथवा किसी-न-किसी नाम से कर्म की सत्ता स्वीकार की है।[2]

कर्म का अर्थ एवं स्वरुप:-

कर्म शब्द की निष्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है - जिसका शाब्दिक अर्थ है- 'करना', 'कार्य', 'प्रवृत्ति' या 'क्रिया'। जीवन व्यवहार में जो भी कार्य किया जाता है, वह 'कर्म' है।[3]

जैन दर्शन के अनुसार जब मन-वचन और काया के योग से संसारी जीव रागद्वेषयुक्त प्रकृति करता है, तब आत्मा सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके द्वारा विभिन्न आत्मिक संस्कारों को उत्पन्न करता है, वे कर्म है। कर्म वह स्वतन्त्र वस्तु भूत पदार्थ है, जो जीवकी राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकृष्ट होकर आत्मा के साथ लग जाता है। आत्मा में चुम्बक की तरह अन्य पुद्गल परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षिक करने की शक्ति है और वह उन परमाणुओं को लोहे की तरह आकर्षित करती है। यद्यपि ये पुद्गल परमाणु भौतिक हैं- अजीव हैं - तथापि जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक और कायिक शारीरिक क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर-दूध और पानी की तरह आत्मा के साथे एकमेक हो जाते हैं। जीव के द्वारा कृत होने के कारण वह कर्म कहा जाता है।

'कीरइ जिएण हेऊहिं जेणं तो भण्णए कम्मं।[4]

अर्थात् जीव की क्रिया का हेतु कर्म है। सारांश यह है कि, राग-द्वेष से युक्त संसारी जीव शुभ या अशुभ परिणति में रमण करता है तब कर्मरुपी पुद्गल उससे आकृष्ट होकर आत्मा के साथ चिपककर जो अच्छा-बुरा फल देते हैं, उन्हें 'कर्म' कहते हैं।

जीव और कर्म का संबंध[5]:-

आत्मा जिस शरीर/देह में रहता है वह देह मूर्त है और भवान्तर में जाते समय कार्मण शरीर साथ में रहता है। इस प्रकार धर्म-अधर्म के कारणभूत शरीर संसारी जीव को अवश्य साथ में रहता ही है। आत्मा यद्यपी अमूर्त है परन्तु संसारी जीव की आत्मा एकान्तिक अमूर्त नहीं है अत: जैसे स्वस्थ व्यक्ति में भी मदिरापान, विषभक्षण आदि का उपघात/प्रभाव होता है और शुद्ध पौष्टिक खानपान औषध आदि का भी प्रभाव देखा जाता है, वैसे अमूर्त आत्मा में भी मूर्त कर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे लोहे के गोले में अग्नि संपूर्ण व्याप्त होकर रहता है वैसे आत्मा के सभी प्रदेशों में (आठ रुचक प्रदेश को छोडकर) जीव को कर्म का संबंध होता हैं।

कर्म के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कर्म के 10 प्रकार निम्नानुसार दर्शाये हैं[6] -

1. **नाम कर्म** - किसी व्यक्ति या पदार्थ का 'कर्म' एसा नाम होना।
2. **स्थापना कर्म** - पुस्तकादि के पन्नो में कार्मण वर्गणाओं की सद्भाव-असद्भावरुप स्थापना।
3. **द्रव्य कर्म** - यह दो प्रकार का है-

1. अ.रा.पृ. 3/246
2. कर्मविपाक हिन्दी अनुवाद प्रस्तावना पृ. 23 - पं. सुखलालजी संघवी
3. अ.रा.पृ. 3/241
4. अ.रा.पृ. 3/245, कर्मग्रंथ-1/1
5. अ.रा.पृ. 3/249-50
6. अ.रा.पृ. 3/244-45

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) **द्रव्य कर्म/कर्म द्रव्य** - कार्मण वर्गणा के अन्त:पाती बन्धयोग्य, बद्धयमान (वर्तमान में जिसका बंध हो रहा है), बद्ध (पूर्व संचित) एवं उदीरणा (अनुदित कर्मों को उदय में लाकर क्षय करना) इन चारों प्रकार के कर्म पुद्गलों को द्रव्य कर्म कहते हैं।

(2) **नो कर्म द्रव्य** :- कृषिवलादि के द्वारा किया जाता कृषिकर्मादि।

4. **प्रयोग कर्म** : जीव के द्वारा मन-वचन-काया के 15 योगों के प्रयोगपूर्वक किया जानेवाला कर्म।[7]

5. **समुदान कर्म** - प्रयोग कर्म के द्वारा एकरुपतापूर्वक ग्रहण की गई कार्मण वर्गणाओं का सम्यग् प्रकार से मूल-अत्तर प्रकृत्ति, स्थिति-रस-प्रदेश बंध भेद की मर्यादा के द्वारा देशघाती और सर्वोपघाती कर्मप्रकृतियों का स्पृष्ट-बद्ध निधत्त-निकाचित अवस्थापूर्वक स्वीकार करने रुप कर्म को समुदान कर्म कहते हैं।[8]

6. **इरियापथिक कर्म** - जैन साधु के द्वारा प्रवचन, संघ, गच्छादि कार्यों हेतु यतनापूर्वक गमनागमन करते समय निष्कषाय भावपूर्वक जो कर्म होता है, वह इरियापथिक कर्म है।[9]

7. **आधा कर्म** - दु:खरुप भौतिक/वैषयिक निमित्तों को सुखरुप और सुखरुप व्रत-नियमादि को दु:खरुप मानने के निमित्त से आठों कर्मों का बंध-होना, 'आधा कर्म' कहलाता है।

8. **तप कर्म** - स्पृष्टादि से निकाचित तक के कर्मों की निर्जरा हेतु 12 प्रकार का तप करना।

9. **कृति कर्म** - अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय को कर्मनिर्जरा हेतु भावपूर्वक द्वादशावर्त वंदन करना।

10. **भावकर्म** - अबाधाकाल का उल्लंघन करके जीव के द्वारा उदीरणा करके प्रदेश विपाक से भव-क्षेत्र-पुद्गल और जीवविपाकी कर्मप्रकृतियों के अनुभाव/रस को जो पुद्गल देते हैं, वे भावकर्म हैं।

कर्म प्रकृति अर्थात् कर्मफल:-

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ मानी गई हैं। ये प्रकृतियाँ प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। इन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं : 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय - ये चार घाती प्रकृतियाँ हैं[10] क्योंकि इनसे आत्मा के चार मूलगुणों (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य) का घात होता है। शेष चार अघाती प्रकृतियाँ हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती। इतना ही नहीं, ये आत्मा को ऐसा रुप प्रदान करती हैं जो उसका निजी नहीं अपितु पौद्गलिक-भौतिक हैं।[11]

1. ज्ञानावरणीय कर्म:-

पदार्थ को जानना ज्ञान है। जो कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत्त करें, उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार ज्ञानावरण अर्थात् पदार्थ के स्वरुप के विशेष बोध की प्राप्ति में मत्यादि पाँचो ज्ञान को अपने प्रभाव से आच्छादित करनेवाला आवरण। जिस प्रकार बादल सूर्य के प्रकाश को ढँक देते हैं, उसी प्रकार जो कर्मवर्गणाएँ आत्मा की ज्ञान शक्ति को ढँक देती है और ज्ञान की प्राप्ति में बाधक बनती हैं, वे ज्ञानावरणीय कर्म कही जाती हैं।[12]

जैसे आँखों पर पट्टी बन्धी हो तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा की निर्मल दृष्टि को आवृत्त कर देता है। ज्ञानदृष्टि पर पडा कर्मावरण आत्मा को स्वभाव से विभाव की ओर धकेल देता हैं, आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानगुण को आवृत्त कर देते हैं।[13]

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं : 1. मतिज्ञानावरण, 2. श्रुतज्ञानावरण, 3. अवधिज्ञानावरण, 4. मन:पर्यय, मन:पर्यव अथवा मन:पर्यायज्ञानावरण और 5. केवलज्ञानावरण। मतिज्ञानावरणीय कर्म मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को आच्छादित करता है। श्रुतज्ञानावरणीय कर्म श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्रों अथवा शब्दों के पठन तथा श्रवण से होनेवाले अर्थज्ञान का निरोध करता है। अवधिज्ञानावरणीय कर्म अवधिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना होनेवाले रुपी द्रव्यों के ज्ञान को आवृत्त करता है। मन:पर्यायज्ञानावरणीय कर्म मन:पर्यायज्ञान अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना संज्ञी-समनस्क-मनवाले जीवों के मनोगत भावों को जानने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म केवलज्ञान अर्थात् लोक के अतीत, वर्तमान एवं अनागत समस्त पदार्थों को युगपत् - एकसाथ जाननेवाले ज्ञान को आवृत करता हैं।[14]

कर्मावरण के द्वारा ज्ञानशक्ति के आच्छादन के बावजूद आत्मा में ज्ञानांश तो अवश्य ही रहता है - आत्मा सर्वथा ज्ञानशून्य अथवा ज्ञान रहित नहीं बनता। तभी तो वह जीवरुप में रहता है। उसमें चेतना व अनुभूति की क्षमता बनी रहती है। यदि ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा को सर्वथा ज्ञानशून्य बना दे, तो जीव-अजीव में जड-चेतन में फिर भेद ही नहीं रहेगा। जिस प्रकार काली घटनाओं से घटाटोप नभ-मण्डल सूर्य के प्रकाश को आवृत्त तो करता है, पर इतना नहीं कि रात और दिन का अन्तर ही न मालूम हो। अर्थात् प्रकाशांश तो रहता ही है - ठीक उसी प्रकार प्रगाढ ज्ञानावरणीय कर्मों का उदय होने पर भी-आत्मा जड पदार्थों से अलग रह सके, अपना स्वरुप कायम रख सके, उतनी चेतना, उतना ज्ञान तो उसका अवश्य ही अनावृत्त रहता है।[15]

ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध के कारण[16]:-

जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म के परमाणु आत्मा से संयोजित होकर ज्ञान शक्ति को कुंठित करते हैं, वे निम्न छ: प्रकार के है- प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात।

प्रदोष (प्रद्वेष) - ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों पर द्वेष रखना, तत्त्वज्ञान का निरुपण/वर्णवाद करते समय मन ही मन

7. अ.रा.पृ. 5/46
8. अ.रा.पृ. 3/244, 7/452
9. अ.रा.पृ. 2/655
10. अ.रा.पृ. 3/258, कर्मग्रंथ-1/3
11. अ.रा.पृ. 3/247-48
12. अ.रा.पृ. 4/1995; 3/258
13. अ.रा.पृ. 3/259; 4/1995-96
14. अ.रा.पृ. 4/259; 4/1995-96
15. अ.रा.पृ. 4/1996
16. तत्त्वार्थ सूत्र-6/10; तत्त्वार्थ राजवार्तिक-6/10; सर्वार्थ सिद्धि-6/10 कर्मविपाक-पृ. 57

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में तत्त्वज्ञान के प्रति, उसके वक्ता के प्रति या उसके साधनों के प्रति द्वेष रखना। ईर्ष्या, पैशून्ययुक्त परिणामों का नाम प्रदोष/प्रद्वेष हैं।

निह्नव - बहाना बनाकर 'मैं नहीं जानता' या 'यह ऐसा नहीं है' -इस प्रकार ज्ञान-ज्ञानी का अपलाप करना, छिपाना, अहंकारवश या अपनी विद्वता प्रदर्शित करने हेतु ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना अथवा उत्सूत्र प्ररुपणा करना, निह्नव कहलाता है। (निह्नव = छिपना, गुप्त रखना)

मात्सर्य - स्वयं विद्वान् और शास्त्र के अभ्यासी होते हुए और ज्ञान ग्राहक पात्र भी योग्य और अधिकारी होने पर भी बहाना बनाकर ज्ञान नहीं देने की कलुषित वृत्ति मात्सर्य भाव है।

अन्तराय - विघ्न डालना ज्ञान प्राप्ति में भोजन, स्थान, विद्याभ्यास हेतु छात्रों को या साधु-साध्वी को उचित समय, ज्ञानोपकरण पुस्तकादि या ज्ञानदाता की प्राप्ति में बाधा डालना।

आसादन - आशातना - ज्ञानदाता को वाणी या शरीर से ज्ञान देते रोकना, प्रशंसनीय विद्या, ज्ञान, बुद्धि आदि की प्रशंसा न करना; अनुमोदन न करना, विशिष्ट ज्ञानी को हीनकुलादि का बताना, उनके संबंधित मर्मभेदी बातों को लोक में प्रकाशित करना-आसादन कहलाता है।

उपघात - नाश करना। ज्ञानी, ज्ञान के साधन, ज्ञान के स्थान/पाठशालादि का नाश करना अथवा किसी के उचित कथन में अपनी विपरीत मति, बुद्धि, इच्छा के कारण दोष निकालना, दूषण देना - उपघात कहलाता हैं।

इसी प्रकार निषिद्ध स्थान (श्मसान, अशुचियुक्त भूमि आदि, निषिद्ध काल (असज्झाय काल) में अभ्यास करना, ज्ञानी, विद्यागुरु का विनय न करना, पुस्तकादि को थूँक लगाना, ज्ञान के साधन को पैरों से हटाना, उनको तकिये के रुप में उपयोग में लेना, पुस्तकों को भण्डार में पडे-पडे सडने देना किन्तु सदुपयोग नहीं होने देना, पुस्तकादि को योग्य स्थान पर न रखना, उन्हें उदर-पोषण के लक्ष्य से बेचना तथा ऐसे अन्य कार्य करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का बन्ध होता हैं।

दर्शनावरणीय कर्म - जो दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व को आवृत्त करे, वह दर्शनावरण कहलाता हैं। पदार्थ के सामान्य बोध स्वरुप दर्शन की प्राप्ति में अपने प्रभाव से जो रुकावट डालता है वह दर्शनावरण कहलाता है। जीव के व्यापार के द्वारा आकृष्ट हुई कार्मण वर्गणाओं के अन्तर्गत मिथ्यात्वादि संबंधी कार्मण वर्गणाओं के विशिष्ट पुद्गल समूह का आवरण 'दर्शनावरणीय कर्म' कहलाता हैं।[17]

दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर-प्रकृत्तियाँ हैं :-

1. चक्षुर्दर्शनावरण, 2. अचक्षुर्दर्शनावरण, 3. अवधिदर्शनावरण, 4. केवलदर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रा-निद्रा, 7. प्रचला, 8. प्रचलाप्रचला और 9. स्त्यानर्द्धि-स्त्यानगृद्धि। आँख के द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म के ग्रहण को चक्षुर्दर्शन कहते हैं। इसमें पदार्थ का साधारण आभासमात्र होता है। चक्षुर्दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म चक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है। आँख को छोडकर अन्य इन्द्रियों तथा मन से जो पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुर्दर्शन कहते है। इस प्रकार के दर्शन का आवरण करने वाला कर्म अचक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है। इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न रखते हुए आत्मा द्वारा रुपी पदार्थों का सामान्य बोध होने का नाम अवधिदर्शन है। इस प्रकार के दर्शन को आवृत करनेवाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। संसार के अखिल त्रैकालिक पदार्थों का सामान्यावबोध केवलदर्शन कहलाता है। इस प्रकार के दर्शन का आवरण करनेवाला कर्म केवलदर्शनावरण के नाम से प्रसिद्ध है। निद्रा आदि अंतिम पाँच प्रकृतियाँ भी दर्शनावरणीय कर्म का ही कार्य है। जो सोया हुआ प्राणी थोडी सी आवाज से जग जाता है अर्थात् जिसे जगाने में परिश्रम नहीं करना पडता उसकी नींद को निद्रा कहते हैं। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उस कर्म का नाम भी निद्रा है। जो सोया हुआ प्राणी बडे जोर से चिल्लाने, हाथ से जोर से हिलाने आदि से बडी मुश्किल से जागता है उसकी नींद एवं तन्निमित्तक कर्म दोनों को निद्रानिद्रा कहते हैं। खडे-खडे या बैठे-बैठे नींद लेने का नाम प्रचला है। उसका हेतुभूत कर्म भी प्रचला कहलाता है। चलते-फिरते नींद लेने का नाम प्रचलाप्रचला है। तन्निमित्तभूत कर्म को भी प्रचलाप्रचला कहते हैं। दिन में अथवा रात में सोचे हुए कार्यविशेष को निद्रावस्था में सम्पन्न करने का नाम स्त्यानर्द्धि-स्त्यानगृद्धि है। जिस कर्म के उदय से इस प्रकार की नींद आती है उसका नाम भी स्त्यानर्द्धि अथवा स्त्यानगृद्धि है।[18]

दर्शनावरणीय कर्म आत्मा की दर्शन शक्ति को प्रगट नहीं होने देता तथा उपरोक्त पाँचों निद्राएँ प्राप्त दर्शन को समूल नष्ट कर देती है। जिस प्रकार द्वारपाल दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखकर महल के अंदर प्रवेश में रुकावट डालता है उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्म-दर्शन से वंचित रखकर मुक्ति-महल में प्रवेश करने में रुकावट डालता है।[19]

दर्शनावरणीय कर्म के बन्ध के कारण:-

ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छः प्रकार के अशुभ आचरण के द्वारा दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है-

1. सम्यग्दृष्टि की निन्दा (छिद्रान्वेषण) करना अथवा उसके प्रति अकृतज्ञ होना,
2. मिथ्यात्व या असत् मान्यताओं का प्रतिपादन करना,
3. शुद्ध दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक बनना,
4. सम्यग्दृष्टि का समुचित विनय एवं सम्मान नहीं करना,
5. सम्यग्दृष्टि पर द्वेष करना,
6. सम्यग्दृष्टि के साथ मिथ्याग्रह सहित विवाद करना।[20]

वेदनीय कर्म :- अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार जिसके कारण सांसारिक सुख-दुःख (शाता-अशाता) की संवेदना होती है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।[21]

वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा को सुख या दुःख का वेदन होता है।[22] यह आत्मा के अव्याबाध (सदा आनन्दमय रहना) सुख के गुण को आवृत्त करता है। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बनाकर अनन्त दुःख के समुद्र में धकेल देता है। वेदनीय कर्म दो प्रकार का होता है - **साता वेदनीय** - इसके उदय से जीव अनुकूल सांसारिक विषय, भोजन, वस्त्र आदि तथा शारीरिक एवं मानसिक

17. अ.रा.पृ. 4/2437; जै.सि.को.3/419
18. वही पृ. 4/2437-38; 3/259, जै.सि.को.-3/420, प्रथम कर्मग्रंथ 10, तत्त्वार्थ सूत्र-8/6; उत्तराध्ययन सूत्र-33/5,6
19. अ.रा.पृ. 4/2438
20. तत्त्वार्थ सूत्र 6/11; जैन विद्या के आयाम पृ. 6/211
21. अ.रा.पृ. 3/260; 6/1448
22. जै.सि.को. 3/591

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख का अनुभव करता है। **असाता वेदनीय** - इसके उदस ये प्रतिकूल विषयों का - प्रतिकूल शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का संयोग होने से दु:ख-वेदना-असाता उत्पन्न होती है।[23]

वेदनीय कर्म मधुलिप्त असिधार की तरह है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता पाकर क्षणभर के लिए तो सुख पाता है, किन्तु जीभ कट जाने से उसे असह्य दु:ख का अनुभव भी करना पडता है। इस उपमा का अभिप्राय यही है कि सांसारिक सुख थोडा है और दु:ख अधिक। कहा गया है कि 'खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा'-सांसारिक सुख अल्पकाल का है और दु:ख दीर्घकाल तक रहता है।

शातावेदनीय कर्म के कारण[24] - दस प्रकार का शुभाचरण करने वाला व्यक्ति सुख-संवेदना रुप सातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है - (1) पृथ्वी, पानी आदि के जीवों पर अनुकम्पा करना। (2) वनस्पति, वृक्ष, लतादि पर अनुकम्पा करना। (3) द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों पर दया करना। (4) पंचेन्द्रिय पशुओं एवं मनुष्यों पर अनुकम्पा करना। (5) किसी को भी किसी प्रकार से दु:ख न देना (6) किसी भी प्राणी को चिन्ता एवं भय उत्पन्न हो एसा कार्य न करना। (7) किसी भी प्राणी को शोकाकुल नहीं बनना। (8) किसी भी प्राणी को रुदन नहीं कराना। (9) किसी भी प्राणी को नहीं मारना और (10) किसी भी प्राणी को प्रताडित नहीं करना। कर्मग्रन्थों में एवं तत्त्वार्थसूत्र में[25] भी यही कारण दर्शाये गये हैं।

वेदनीय कर्म के बन्ध हेतु :-

साता वेदनीय के बन्धहेतुओं में कुछ के नाम इस प्रकार हैं - भूत अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान, सराग संयम आदि, योग, शान्ति और शौच।[26]

भूत अनुकम्पा - आयु व नाम कर्मोदय के कारण विविध गतियों में विद्यमान आत्माओं को भूत कहते हैं।[27] भूत, प्राणी, जीव, सत्व ये समानार्थक शब्द हैं, लेकिन परिचय के लिए कुछ अन्तर कर लिया जाता है। जैसे भूत शब्द वानस्पतिक जीवों का संसूचक है; प्राणी शब्द द्वीन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का तथा जीव शब्द पंचेन्द्रिय जीवों का और सत्व शब्द पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चतुर्विध स्थावरकाय के जीवों का परिचायक है। अनुकम्पा अर्थात् कारुण्य भाव रखना यानि जगत् के जीवों के दु:खों, कष्टों, संकटों, विपत्तियों को अपना ही दु:ख आदि मानना, समझना, अनुभव करना अनुकम्पा कहलाती है। 'आत्मवत्-सर्व भूतेषु' की भावना को साकार रुप देना अनुकम्पा है।[28]

व्रती अनुकम्पा - हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरत होना, इन्हें त्यागना व्रत कहलाता है।[29] अल्पांश रुप से व्रत धारण करनेवाले गृहस्थ श्रावक और सर्व सावद्य त्यागी श्रमण इन दोनों पर विशेष प्रकार से अनुकम्पा व्रत्यनुकम्पा है अर्थात् निरतिचार रुप से उनके व्रत पालन में, संयमाराधना में सहायक बनना व्रत्यनुकम्पा है।

दान - न्यायोपार्जित वस्तु को दूसरों के लिए उपकार भावना से नम्रतापूर्वक अर्पण करना दान कहलाता है।[30] यह अर्पण उसके कर्ता और स्वीकार करनेवाले दोनों के लिए उपकारक होता है। अर्पण करनेवाले का मुख्य उपकार यह है कि उस वस्तु से उसका ममत्व हट जाता है; अत: उसे संतोष एवं समभाव की प्राप्ति होती है तथा स्वीकार करनेवाले का यह उपकार है कि उस वस्तु के प्राप्त होने पर जीवनयात्रा में मदद मिलने से उसके सद्गुणों की वृद्धि होती है।

सराग संयमादि योग - इस पद में सराग, संयम, आदि और योग इन चार शब्दों को ग्रहण किया गया है। अत: इस पद का पूरा अर्थ जानने के लिए पद गत चारों शब्दों के अर्थ अब बतलाये जा रहे हैं। जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है; परन्तु मन से अभी तक राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं अथवा पूर्वोक्त कर्म के उदय से जिनके कषाय शान्त नहीं हुए है; पर कषाय निवारण के लिए जो तैयार है; उन्मुख है; उन्हें सराग कहते हैं।[31]

प्राणियों की रक्षा करना और इन्द्रियों की वैषयिक प्रवृत्ति को रोकना अथवा प्राणियों एवं इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना संयम कहलाता है।[32] रागी जीव का संयम अथवा राग सहित संयम सराग संयम कहलाता है। इसके साथ संलग्न आदि व योग शब्द का अर्थ यह है कि सराग संयम के अतिरिक्त संयमा संयम, अकाम निर्जरा, बालतप इन रुपों में भी यथोचित ध्यान देना। आंशिक अणुरुप कुछ संयम स्वीकार करना यानि अणुव्रत को स्वीकार करना - अंगीकार करना संयमा संयम है।

क्षान्ति - क्रोधादि दोषों का शमन करना। क्रोध, मान, अहंकार, द्वेष आदि के कारण उपस्थित होने पर भी शुभ परिणामों से उनकी निवृत्ति करना अथवा उन्हें शमित करना क्षान्ति कहलाता है।[33]

शौच - लोभवृत्ति और तत्समान दोषों का, स्वद्रव्य का त्याग नहीं करना, पर द्रव्य का अपहरण करना, धरोहर को हडप लेना आदि रुप लोभ के विभिन्न प्रकारों का त्याग करना, उनसे निवृत्त होना, उनका शमन करना शौच है।

इसी प्रकार गुरुजनों, माता-पिता, धर्माचार्य, विद्या, शिक्षा देने वाला, ज्येष्ठ भ्राता आदि की सेवा करना, वृद्ध, बाल, ग्लान आदि की वैयावृत्य करना, धर्मात्माओं को उनके धार्मिक कृत्य में सहायता पहुंचाना, धर्म में अपने आपको स्थिर रखना तथा प्राणियों को दु:ख, शोक, ताप न पहुँचाना, उन्हें आक्रन्दित न करना, उनका वध न करना आदि कारणों से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

दु:ख - बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीडा का होना दु:ख है।[34] चाहे फिर यह निमित्त विरोधी पदार्थों के मिलनेरुप, इष्ट का वियोग और अनिष्ट के संयोगरुप या निष्ठुर वचन आदि किसी भी रुप में हो।

शोक - किसी हितेषी के साथ सम्बन्ध टूटने से, अनुग्रह

23. अ.रा.पृ. 3/260; 6/1448
24. अ.रा.पृ. 6/1448; जै.सि.को. 3/592
25. कर्मग्रंथ-1/55; तत्त्वार्थ-सूत्र-6/13
26. तत्त्वार्थ-सूत्र-6/3
27. राजवार्तिक पृ. 522
28. कर्मप्रकृति गाथा 45
29. तत्त्वार्थ-सूत्र-7/1
30. तत्त्वार्थ-सूत्र-7/33
31. सर्वार्थसिद्धि-6/12
32. राजवार्तिक पृ. 522
33. तत्त्वार्थ-सूत्र-6/11
34. सर्वार्थसिद्धि-6/11

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करनेवाले बन्धु आदि से विच्छेद होने से उसका बार-बार विचार करके जो चिन्ता, खेद, विकलता आदि मोह कर्म विशेष-शोक के उदय से होनेवाले विकलतायुक्त परिणामों को शोक कहते हैं।[35]

ताप - पराभवकारी कठोर वचनों के सुनने, अपमान होने आदि से मन के कलुषित होने के कारण तीव्र संताप का होना ताप कहलाता है।[36]

आक्रन्दन - परिताप के कारण अश्रुपात, अंग विकार, सिर फोडना, छाती पीटना आदिपूर्वक रोना आक्रन्दन है।[37]

वध - आयु:, इन्द्रिय, बल, प्राण आदि का विघात करना वध कहलाता है।[38]

परिवेदन - वियुक्त, बिछुडे हुए व्यक्ति के गुणों का स्मरण होने पर अति संक्लेशपूर्वक करुणाजनक रुदन करना परिवेदन कहलाता है।[39]

उक्त कारणों के अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य कार्यों से भी असाता वेदनीय कर्म का विशेष बन्ध होता है। जैसे जीवों के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करने से, स्वयं धर्म का पालन न करने और दूसरे को भी पालन न करने देने से, धार्मिकजनों के प्रति अनुचित आचरण करने से, मद्य-मांस आदि का सेवन करने से, व्रत-शील-तपादि के आधारकर्मों का उपहास करने से, मूक प्राणियों (गाय, बैल, कुत्ता, तोता, मैना आदि) का छेदन-भेदन, अंग-उपांग आदि विकृत करने से, अशुभ परिणामों से, इन्द्रिय विषयों में तीव्र लालसा रखने से एवं विविध प्रकार के अन्यान्य निन्दनीय आचरण करने आदि से असाता वेदनीय कर्म के तीव्र अनुभाव और स्थितिवाला बन्ध होता है।

सातावेदनीय कर्म का विपाक - उपर्युक्त शुभाचरण के फलस्वरुप प्राणी निम्न प्रकार की सुखद संवेदना प्राप्त करता है- (1) मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर श्रवण करने को मिलते हैं, (2) सुस्वादु भोजनपानादि उपलब्ध होती है, (3) वांछित सुखों की प्राप्ति होती हैं, (4) शुभ वचन, प्रशंसादि सुनने का अवसर प्राप्त होता है, (5) शारीरिक सुख मिलता है।[40]

असातावेदनीय कर्म के कारण - जिन अशुभ आचरणों के कारण प्राणी को दु:खद संवेदना प्राप्त होती है वे 12 प्रकार के हैं - (1) किसी भी प्राणी को दु:ख देना, (2) चिन्तित बनाना, (3) शोकाकुल बनाना, (4) रुलाना, (5) मारना और (6) प्रताडित करना, इन छ: क्रियाओं की मन्दताऔर तीव्रता के आधार पर इनके बारह प्रकार हो जाते हैं।[41] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार[42] - (1) दु:ख (2) शोक (3) ताप (4) आक्रन्दन (5) वध और (6) परिदेवन ये छ: असातावेदनीय कर्म के बन्ध केकारण हैं, जो 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा पर आधारित तत्त्वार्थसूत्र का यह दृष्टिकोण अधिक संगत है। कर्मग्रन्थ में सातावेदनीय के बन्ध के कारणों के विपरीत गुरु का अविनय, अक्षमा, क्रूरता, अविरति, योगाभ्यास नहीं करना, कषाययुक्त होना, तथा दान एवं श्रद्धा का अभाव असातावेदनीय कर्म के कारण माने गये हैं।

अशाता वेदनीय कर्म के विपाक :-

(1) कर्ण-कटु, कर्कश स्वर सुनने को प्राप्त होते है, (2) अमनोज्ञ एवं सौन्दर्यविहीन रुप देखने को प्राप्त होता है, (3) अमनोज्ञ गन्धों की उपलब्धि होती है, (4) स्वादविहीन भोजनादि मिलता है, (5) अमनोज्ञ, कठोर एवं दु:खद संवेदना उत्पन्न करनेवाले स्पर्श की प्राप्ति होती है, (6) अमनोज्ञ मानसिक अनुभूतियों का होना, (7) निन्दा अपमानजनक वचन सुनने को मिलते हैं और (8) शरीर में विविध रोगो की उत्पत्ति से संबंधी का दु:खद संवेदनाएँ प्राप्त होती हैं।[43]

प्राय: करके देव एवं मनुष्य गति में साता वेदनीय और तिर्यंच और नरक गति में असाता वेदनीय का उदय होता है तथापि देवता को देवलोक से च्यवन काल में, मनुष्यों में इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग, वध-बंधनादि से असाता वेदनीय का भी उदय होता है। उसी प्रकार चक्रवर्ती आदि के हस्ति, अश्व आदि तिर्यंचो को भी सातावेदनीय का उदय होता है। उसी प्रकार नारकी के सतत असाता में भी जिन जन्मकल्याणकादि के समय साता वेदनीय का अनुभव होता है।[44]

मोहनीय कर्म :-

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। जिस तरह मदिरापान मनुष्य की बुद्धि को मूर्च्छित कर उसे ऐसा मूढ और बेसुध बना देता है कि मनुष्य की बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव 'स्व' पर का, कर्तव्य-अकर्तव्य का, सत्-असत् का भान भूलकर होश-हवास खो देता है जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की विवेक-शक्ति कुंठित होती है और अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति होती है, उन्हें मोहनीय कर्म कहते हैं।

स्वभाव से विभाव में भटका जीवन-पुत्र, परिवार, स्त्री, मकान, शरीर, सम्पत्ति, पद आदि परपदार्थो को अपना समजकर उसी में ममत्व बुद्धि रखता हैं।

ममकार और अहंकार से भरा मोहनीय कर्म-वेष्टित जीव, इनके संयोग से सुख तथा वियोग से दु:ख और शोक का अनुभव करता है।[45]

उत्तराध्ययन में कहा गया है[46]- कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति- अर्थात् कर्म मोह से उत्पन्न होता है। मोह की ही लीला है-समस्त संसार। इसीलिए मोहनीय कर्म को कर्मो का राजा कहा गया है। आठें कर्मो में मोहनीय कर्म सबसे बलवान और भयंकर होता है। अत: मोक्षाभिलाषी प्रत्येक प्राणी को सबसे पहले इसी कर्म को नष्ट करने का प्रयास करना पडता है। सेनापति के मरते ही जिस प्रकार सारी सेना भाग जाती है, ठीक उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म की मुख्य दो उत्तर-प्रकृतियों हैं : दर्शनमोह अर्थात् दर्शन का घात और चारित्रमोह अर्थात् चारित्र का घात। जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझने का नाम दर्शन है। यह तत्त्वार्थ-श्रद्धानरुप आत्मगुण है। इस गुण का घात करनेवाले कर्म का नाम

35. वही
36. सवार्थसिद्धि-6/11; कर्मप्रकृति-145 टीका
37. राजवार्तिक पृ. 519
38. सवार्थसिद्धि-6/11
39. राजवार्तिक पृ. 519
40. जै.सि.को. 3/592
41. जै.सि.को. 3/592, अ.रा.पृ. 3/250
42. तत्त्वार्थ-सूत्र-6/12
43. जै.सि.को.-3/592
44. अ.रा.पृ. 6/1448
45. अ.रा.पृ. 6/451; जै.सि.को. 3/341-42
46. उत्तराध्ययन अ. 33

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमोहनीय है। जिसके द्वारा आत्मा अपने यथार्थ स्वरुप को प्राप्त करता है उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र का घात करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है। दर्शनमोहनीय कर्म के पुनः तीन भेद है: सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय। सम्यक्त्व-मोहनीय के दलिक-कर्मपरमाणु शुद्ध होते हैं। यह कर्म शुद्ध-स्वच्छ परमाणुओंवाला होने के कारण तत्त्वरुचिरुप सम्यक्त्व में बाधा नहीं पहुँचाता किन्तु इसके उदय से आत्मा को स्वाभाविक सम्यक्त्व-कर्मनिरपेक्ष सम्यक्त्व-क्षायिकसम्यक्त्व नहीं होने पाता। परिणामतः उसे सूक्ष्म पदार्थों के चिन्तन में शंकाएँ हुआ करती है। मिथ्यात्वमोहनीय के दलिक अशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से प्राणी हित को अहित समझता है और अहित को हित। विपरीत बुद्धि के कारण उसे तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं होने पाता। मिश्रमोहनीय के दलिक अर्धविशुद्ध होते हैं। इस कर्म के उदय से जीव को न तो तत्त्वरुचि होती है, न अतत्त्वरुचि। इसका दूसरा नाम सम्यक्-मिथ्यात्वमोहनीय है। यह सम्यक्त्व-मोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय का मिश्रितरुप है जो तत्त्वार्थ श्रद्धान और अतत्त्वार्थ-श्रद्धान इन दोनों अवस्थाओं में से शुद्ध रुप से किसी भी अवस्था को प्राप्त नहीं करने देता। मोहनीय के दूसरे मुख्य भेद चारित्र मोहनीय के दो भेद है : कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। कषाय मोहनीय मुख्यरुप से चार प्रकार का है : क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोधादि चारों कषाय तीव्रता-मंदता की दृष्टि से पुनः चार-चार प्रकार के हैं : अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इस प्रकार कषायमोहनीय कर्म के कुल सोलह भेद है। जिनके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं।

कषाय का स्वभाव एवं काल:- अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के प्रभाव से जीव अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से देशविरतिरुप श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। इसकी अवधि एक वर्ष है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सर्वविरतिरुप श्रमणधर्म की प्राप्ति नहीं होने पाती। इसकी स्थिति चार महीने की है। संज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्ररुप सर्वरिति प्राप्त नहीं कर सकता। यह एक पक्ष की स्थितिवाला है। उपर्युक्त कालमर्यादाएँ साधारण दृष्टि-व्यवहार नय से है। इनमें यथासंभव परिवर्तन भी हो सकता है।

कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायों को उत्तेजित करते हैं उन्हें नोकषाय कहते हैं। नोकषाय के नौ भेद हैं : 1. हास्य, 2. रति, 3. अरति, 4. शोक, 5. भय, 6. जुगुप्सा, 7. स्त्रीवेद, 8. पुरुषवेद और 9. नपुंसकवेद। स्त्रीवेद के उदय से स्त्री को पुरुषके साथ संभोग करने की इच्छा होती है। पुरुषवेद के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ संभोग करने की इच्छा होती है। नपुंसकवेद के उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के साथ संभोग करने की कामना होती है। यह वेद संभोग की कामना के अभाव के रुप में नहीं अपितु तीव्रतम कामाभिलाषा के रुप में है जिसका लक्ष्य स्त्री और पुरुष दोनों हैं। इसकी निवृत्ति-तुष्टि चिरकाल एवं चिरप्रयत्नसाध्य है। इस प्रकार मोहनीय कर्म की कुल 28 उत्तर प्रकृतियाँ-भेद होते हैं : 3 दर्शनमोहनीय + 16 कषायमोहनीय + 9 नोकषायमोहनीय।[47]

दर्शनमोहनीय कर्म के बन्ध हेतु:-

दर्शन मोहनीय के बन्ध हेतुओं में से कुछेक इस प्रकार हैं - केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म और देवों का अवर्णवाद[48] करने से तथा असत्य मार्ग का उपदेश और सन्मार्ग का अपलाप करने से दर्शन मोहनीय कर्म का तीव्र बन्ध होता है।[49]

केवलीज्ञानी का अवर्णवाद:- ज्ञानावरण कर्म का अत्यन्त क्षय हो जाने से जिनको स्वाभाविक अनन्त ज्ञान प्रकट हो गया है तथा जिनका ज्ञान इन्द्रिय, कालक्रम और दूरदेशादि के व्यवधान से अतिक्रान्त है एवं परिपूर्ण हैं, उन्हें केवलज्ञानी कहते हैं। अर्थात् निरावरण और परिपूर्ण ज्ञानवाले केवलज्ञानी कहलाते हैं।[50]

लेकिन ऐसे केवलज्ञानी में भी दुर्बुद्धि से असत्य दोषों को बताना - जैसे सर्वज्ञता स्वीकार न करना और ऐसा कहना कि सर्वज्ञ होकर भी उसने मोक्ष के सरल और सीधे उपाय जो जनसाधारण की समझ में आ जाये, ऐसा न बताकर, जिनका आचरण शक्य नहीं, ऐसे दुर्गम उपाय बताये। वीतरागत्व व सर्वज्ञत्व अर्हन्त में नहीं है, क्योंकि जगत के समस्त प्राणी ही राग, द्वेष और अज्ञान से परिवृत देखे जाते हैं। स्त्री, वस्त्र, इत्र आदि सुगन्धी पदार्थ, पुष्पमाला, वस्त्रालंकार आदि ये ही सुख के कारण हैं। इन पदार्थों का अभाव होने से सिद्धों को सुख नहीं है। सुख इन्द्रियों से प्राप्त होता है; किन्तु वे सिद्धों के नहीं है, अतः वे सुखी नहीं है। इस प्रकार के कुतर्कों को केवलज्ञानी का अवर्णवाद कहते हैं।

श्रुत का अवर्णवाद :- केवली द्वारा उपदिष्ट और अतिशय बुद्धिवाले गणधरों द्वारा उनके उपदेशों का स्मरण कर जो ग्रन्थों की रचना की जाती है; उन रचना ग्रन्थों को श्रुत कहते हैं।[51] ऐसे शास्त्रों में द्वेष बुद्धि से मिथ्या दोषों का आरोप करना, वर्णन करना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद :- सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को धारण करनेवाले श्रमण आदि चतुर्विधगण (श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका) समुदाय को संघ कहते है।[52] लेकिन चतुर्विध संघ के मिथ्या दोष प्रकट करना संघ का अवर्णवाद है। जैसे कि साधु व्रत-नियम आदि का व्यर्थ क्लेश उठाते हैं, ये तो भिक्षा माँगकर अपना जीवन निर्वाह करने वाले हैं, ये तो भिखारियों से भी गये गुजरे हैं, ये साधु केशलुंचन, उपवासादि के द्वारा अपनी आत्मा को दुःख देते हैं, इसलिए इनको आत्मवध का दोष क्यों न लगेगा ? पाप-पुण्य दृष्टिगोचर नहीं होते हैं; तो भी ये उनका और उनके नरक, स्वर्ग आदि फलों का वर्णन करते हैं, उनका यह वर्णन झूठा होने से उन्हें सत्यव्रत कैसे हो सकता है ? श्रावकों के बारे में यह कहना कि दान आदि शिष्ट प्रवृत्तियों को ये नहीं करते; इन लोगों में नैतिक जीवन तो पाया ही नहीं जाता इत्यादि यह सब संघ का अवर्णवाद है।

धर्म का अवर्णवाद :- सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट आगमों में प्रतिपादित अहिंसा, संयम, तप ही धर्म है।[53] लेकिन अहिंसा आदि महान धर्मों

47. अ.रा.पृ. 6/462-63; जै.सि.को. 3/341-42-44
48. सर्वार्थसिद्धि-6/13
49. स्थानांग-5/2/426; तत्त्वार्थ सूत्र-6/14
50. राजवार्तिक पृ. 523; सर्वार्थसिद्धि-6/13
51. सर्वार्थसिद्धि-6/13
52. वही
53. दशवैकालिक-1/1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मिथ्या दोषों का वर्णन करना-धर्म का अवर्णवाद है। जैसे यदि धर्म सुखदायक है, तो वह उत्पत्ति के अनन्तर ही सुख क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

देवों का अवर्णवाद :- अर्थात् देवों की निन्दा करना। जैसे देव मद्य, मांस, बलि आदि के आकांक्षी है, देव हैं ही नहीं, यदि हों तो भी हमारे लिए किस काम के ? क्योंकि वे यदि शक्तिशाली है; तो हमारी सहायता क्यों नहीं करते ? वे बडे वैभवशाली माने जाते हैं; तो अपने वैभव से दीन-दु:खी जीवों को सुखी क्यों नहीं बना देते ?

असत्मार्ग का उपदेश :- संसार की वृद्धि करनेवाले कार्यो के बारे में इस प्रकार का उपदेश करना कि ये मोक्ष के हेतु हैं। जैसे-देवी-देवताओं के सामने पशुओं की हिंसा करने को पुण्य कार्य बताना, दीपावली आदि पर्वों पर जुआ खेलने का उपदेश देना, इसे पुण्य कार्य बताना इत्यादि।

सन्मार्ग का अपलाप करना:- 'न मोक्ष है, न पुण्य-पाप है और आत्मा ही नहीं है। तप करके शरीर को निरर्थक सुखाना है। आत्मज्ञान की शिक्षा देनेवाले ग्रन्थों को-शास्त्रों को पढना तो समय बरबाद करना है। खाओ, पीओ, ऐश-आराम करो। मरने के बाद न कोई आता ही है और न कोई जाता ही है। पास में धन न हो, तो कर्ज ले कर मौज शौक करो। जो कुछ भोग लोगे, वही तुम्हारा है।' इत्यादि उपदेश देकर कुछ भोलेभाले जीवों को सन्मार्ग से हटाना, सन्मार्ग का अपलाप करना है।

उपर्युक्त हेतुओं में अन्य सभी सम्यक् श्रद्धा विघातक विचारों व कार्यों का समावेश हो जाता है। जिनसे दर्शन मोहनीय का विशेष बन्ध हो सकता है। दर्शन मोहनीय सभी कर्मों में प्रधान है और इसके तीव्र बन्ध से जीव को अनन्तकाल तक संसार में भटकना पडता है।

चारित्र मोहनीय के बन्ध हेतु :- कषायोदयात्तीव्रात्म-परिणामश्चारित्र मोहस्य।[54] अर्थात् स्वयं क्रोधादि कषायों को करना और दूसरों में कषाय भाव उत्पन्न करना, कषाय के वश हो कर अनेक अशोभनीय प्रवृत्तियाँ करना आदि; ये सब कषाय और नोकषायरुप चारित्रमोहनीय कर्म के बन्ध कारण है। अन्तर में राग-द्वेष-क्रोध आदि परिणामों की अधिकता होने पर ही व्यक्ति अशिष्ट वचन बोलता है, अहंकार में डूब जाता है, मन-वचन-काया की अन्यथा प्रवृत्ति करता है, दीन-दु:खी की हँसी मजाक उडाता है। इन्द्रिय विषयों में आसक्ति रखता है और ईर्ष्या द्वेष आदि करता है। इसीलिए कषाय से उत्पन्न होनेवाले जितने भी आत्म परिणाम है; उन सब को चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध कारण कहा गया है।

कर्मग्रन्थ में दर्शनमोह और चारित्रमोह के बन्धन के कारण अलग-अलग बताये गये है। दर्शनमोह के कारण हैं-उन्मार्ग देशना, सन्मार्ग का अपलाप, धार्मिक सम्पत्ति का अपहरण और तीर्थंकर, मुनि, चैत्य (जिन-प्रतिमाएँ) और धर्म-संघ के प्रतिकूल आचरण। चारित्रमोह कर्म के बन्धन के कारणों में कषाय, हास्यादि तथा विषयों के अधीन होना प्रमुख हैं।[55] समवायांगसूत्र में तीव्रतम मोहकर्म के बन्धन के तीस कारण बताये गये हैं- (1) जो किसी त्रस प्राणी को पानी में डुबाकर मारता है। (2) जो किसी त्रस प्राणी को तीव्र अशुभ अध्यवसाय से मस्तक को गीला चमडा बांधकर मारता है। (3) जो किसी त्रस प्राणी को मुँह बाँधकर मारता है। (4) जो किसी त्रस प्राणी को अग्नि के धुएँ से मारता है। (5) जो किसी त्रस प्राणी के मस्तक का छेदन करके मारता है। (6) जो किसी त्रस प्राणी को छल से मारकर हँसता है। (7) जो मायाचार करके तथा असत्य बोलकर अपना अनाचार छिपाता है। (8) जो अपने दुराचार को छिपाकर दूसरे पर कलंक लगता है। (9) जो कलह बढाने के लिए जानता हुआ मिश्र भाषा बोलता है। (10) जो पति-पत्नी में मतभेद पैदा करता है तथा उन्हें मार्मिक वचनों से लज्जित कर देता है। (11) जो स्त्री में आसक्त व्यक्ति अपने-आपको कुंवारा कहता है। (12) जो अत्यन्त कामुक व्यक्ति अपने आप को ब्रह्मचारी कहता है। (13) जो चापलूसी करके अपने स्वामी को ठगता है। (14) जो जिनकी कृपा से समृद्ध बना है, ईर्ष्या से उनके ही कार्यों में विघ्न डालता है। (15) जो प्रमुख पुरुष की हत्या करता है। (16) जो संयमी को पथभ्रष्ट करता है। (17) जो अपने उपकारी की हत्या करता है। (18) जो प्रसिद्ध पुरुष की हत्या करता है। (19) जो महान् पुरुषों की निन्दा करता हैं। (20) जो न्यायमार्ग की निन्दा करता है। (21) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु की निन्दा करता है। (22) जो आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु का अविनय करता है। (23) जो अबहुश्रुत होते हुए भी अपने-आपको बहुश्रुत कहता है। (24) जो तपस्वी न होते हुए भी अपने-आपको तपस्वी कहता है। (25) जो अस्वस्थ आचार्य आदि की सेवा नहीं करता। (26) जो आचार्य आदि कुशास्त्र का प्ररुपण करते हैं। (27) जो आचार्य आदि अपनी प्रशंसा के लिए मंत्रादि का प्रयोग करते हैं। (28) जो इहलोक और परलोक में भोगोपभोग पाने की अभिलाषा करता है। (29) जो देवताओं की निन्दा करता है या करवाता है। (30) जो असर्वज्ञ होते हुए भी अपने आपको सर्वज्ञ कहता है।[56]

आयु: कर्म:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आउ शब्द अप्, आतु, आकु (गु), और आयुस् अर्थ में प्रयुक्त होता हैं।

'आयुस्'की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि, "जो प्रतिसमय भुगतने में आता है, जिसके कारण जीव नरकादि गति में जाता है, जो एक भव से दूसरे भव में संक्रमण करते समय जीव को अवश्य उदय में आता है, जन्मान्तर में अवश्य उदय में आनेवाला, जिसके कारण से तद्भव प्रायोग्य शेष सभी कर्म विशेषरुप से उदय में आते हैं, भवोपग्राही कर्मविशेष, आयु: भवस्थिति के कारणभूत कर्म-पुद्गल, जीवित, जीव का शरीर सम्बन्ध का काल, - को आयु:/आयु:कर्म कहते हैं।[57]

आयु: कर्म के प्रकार :- आयु: दो प्रकार की है[57]-

1. भवायु - भव अर्थात् देह। शरीर धारण कराने में समर्थ आयु को भवायु कहते हैं अथवा भवप्रधान आयु भवायु कहलाती है, वह देह के नाश के साथ ही नष्ट होती है।

यह भी भोग्यमान भवायु और उसी में आगामी भव की बध्यमान भवायु इस तरह दो प्रकार की है।[58]

---

54. तत्त्वार्थ-सूत्र-6/15, प्रथम कर्मग्रंथ-56, कर्म प्रकृति-147, जै.सि.को.-3/343
55. दशवैकालिक-1/56-57
56. अ.रा.पृ. 6/462 से 465
57. अ.रा.पृ. 2/9-10
58. अ.रा.पृ. 2/16, 2/24; जै.सि.को. 1/253

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. अद्धायु - अद्धा = काल, द्रव्य की स्थिति के काल को अद्धायु कहते हैं। आत्म द्रव्य/जीव की देह या नरकादि गति में रहने के काल प्रमाण को अद्धायु कहते हैं। जब एक गति में रहने का काल पूर्ण होता है तब जीव अन्य गति में जाता है।[59]

आयु के चार प्रकार :- गति या भव की अपेक्षा से आयु के चार प्रकार हैं[60]-

(1) सुर/देव आयु - सुष्ठु शन्ति (ददाति) इति सुरः सुरन्ति-विशिष्ट एश्वर्यं अनुभवन्ति इति सुरः । - नमस्कार करनेवालों को इच्छित देनेवाले सुर की आयु में जीव की अवस्थिति 'सुरायु' कहलाती है।

(2) नर/मनुष्य आयु - नृणन्ति - निश्चिन्वन्ति वस्तुतत्त्वमिति नराः । जो वस्तु तत्त्व का निश्चय करते है उन्हें 'नर' कहते हैं, उनकी आयु या उनमें जीव की अवस्थिति नरायु/मनुष्यायु कहलाती है।

(3) तिर्यञ्चायु - तिरो ऽञ्चन्ति-गच्छन्ति इति तिर्यञ्चः । उन तिर्यंचो की आयु में जीव की अवस्थिति तिर्यञ्चायु कहलाती है।

(4) नरकायु - नरान् उपलक्षणात् तिरश्चोऽपि प्रभुतपापकारिणः कायन्ति/आह्वयन्ति इति नरकाः- नरकावासाः । नरकावास में उत्पन्न जीव नरक कहलाता है। उनकी आयु नरकायु कहलाती है।

आयु के दस प्रकार[61] - स्थानांग सूत्र में दश प्रकार की आयुः का भी वर्णन प्राप्त होता है।

1. **नाम** - 'आयु' एसा नाम
2. **स्थापना** - चित्रादि में आयु की स्थापना
3. **द्रव्य** - सचेतनादि भेद से जीवन के हेतु भूत द्रव्यजीवित
4. **ओघ** - सामान्य जीवन
5. **भव** - नारकादि भव/गति संबंधी
6. **तद्भव** - पूर्व भव के समान ही भवान्तर में होना। यथा मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य होना।
7. **भोग** - चक्रवर्ती आदि की आयु
8. **संयम** - साधु संबंधी
9. **यश-कीर्ति** - कीर्तिपूर्वक जीवन जीना। यथा महावीर स्वामी
10. **जीवित** - आयु, जीवन

जिस प्रकार बेडी स्वाधीनता में बाधक है, उसी प्रकार जो कर्म परमाणु आत्मा को विभिन्न शरीरों में नियत अवधि तक कैद रखते हैं, उन्हें आयुष्य कर्म कहते हैं। यह कर्म निश्चय करता है कि आत्मा को किस शरीर में कितनी समयावधि तक रहना है।[62]

आयुष्य कर्म के बन्ध के कारण - सभी प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध का कारण शील और व्रत से रहित होना माना गया है।[63] फिर भी किस प्रकार के आचरण से किस प्रकार का जीवन मिलता है, उसका निर्देश भी जैन आगमों में उपलब्ध है। कर्मग्रंथ, तत्त्वार्थ सूत्र एवं स्थानांगसूत्र में प्रत्येक प्रकार के आयुष्य-कर्म के बन्ध के चार-चार कारण मानें गये है।[64]

(अ) नारकीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) महारम्भ (भयानक हिंसक कर्म), (2) महापरिग्रह (अत्यधिक संचयवृत्ति), (3) मनुष्य, पशु आदि का वध करना, (4) मांसाहार और शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन।

(ब) पाशविक जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) कपट करना (2) रहस्यपूर्ण कपट करना (3) असत्य भाषण (4) कम ज्यादा तोल-माप करना। कर्म-ग्रन्थ में प्रतिष्ठा कम होने के भय से पाप का प्रकट न करना भी तिर्यंच आयु के बन्ध का कारण माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में माया (कपट) को ही पशुयोनि का कारण बताया है।[65]

(स) मानव जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) सरलता, (2) विनयशीलता, (3) करुणा और (4) अहंकार एवं मात्सर्य से रहित होना। तत्त्वार्थसूत्र में - (1) अल्प आरम्भ, (2) अल्प परिग्रह, (3) स्वभाव की सरलता और (4) स्वभाव की मृदुता को मनुष्य आयु के बन्ध का कारण कहा गया है।

(द) दैवीय जीवन की प्राप्ति के चार कारण - (1) सराग (सकाम0 संयम का पालन, (2) संयम का आंशिक पालन, (3) सकाम तपस्या (बाल-तप) (4) स्वाभाविक रुप में कर्मों के निर्जरित होने से। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कारण माने गये हैं। कर्मग्रन्थ के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच, देशविरत श्रावक, सरागी-साधु, बाल-तपस्वी और इच्छा नहीं होते हुए भी परिस्थिति वश भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए अकाम-निर्जरा करनेवाले व्यक्ति देवायु का बन्ध करते हैं।[66]

आकस्मिकमरण - प्राणी अपने जीवनकाल में प्रत्येक क्षण आयु कर्म को भोग रहा है और प्रत्येक क्षण में आयु कर्म के परमाणु भोग के पश्चात् पृथक् होते रहतेहैं। जिस समय वर्तमान आयुकर्म के पूर्वबद्ध समस्त परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं उस समय प्राणी को वर्तमान शरीर छोडना पडता है। वर्तमान शरीर छोडने के पूर्व ही नवीन शरीर के आयुकर्म का बन्ध हो जाता है।[67] लेकिन यदि आयुष्य का भोग इस प्रकार नियत है तो आकस्मिकमरण की व्याख्या क्या ? इसके प्रत्युत्तर में जैन-विचारकों ने आयुकर्म का भेद दो प्रकार का माना - (1) क्रमिक, (2) आकस्मिक। क्रमिक भोग में स्वाभाविक रुप से आयु का भोग धीरे-धीरे होता रहता है, जबकि आकस्मिक भोग में किसी कारण के उपस्थित हो जाने पर आयु एक साथ ही भोग ली जाती है। इसे ही आकस्मिकमरण या अकाल मृत्यु कहते हैं। स्थानांगसूत्र में इसके सात कारण बताये गये हैं - (1) हर्ष-शोक का अतिरेक, (2) विष अथवा शस्त्र का प्रयोग, (3) आहार की अत्यधिकता अथवा सर्वथा अभाव (4) व्याधिजनित तीव्र वेदना, (5) आघात (6) सर्पदंशादि और (7) श्वासनिरोध।[68]

अभिधान राजेन्द्र कोश में इन्हीं क्रमिक आयुः को निरुपक्रमी (अनपवर्तीय) आयु और अकस्मात आयुः को सोपक्रमी (अपवर्तीय) आयु कहा है। निरुपक्रमी आयुः तीर्थंकरादि को और सोपक्रमी आयुः सामान्य उपघातयुक्त आयुवालों को होती है।[69]

59. अ.रा.पृ. 3/472, 2/24; जै.सि.को. 1/253
60. अ.रा.पृ. 2/24
61. अ.रा.पृ. 2/10, स्थानांग 1/1 की टीका
62. अ.रा.पृ. 2/24
63. तत्त्वार्थ-सूत्र-6/19
64. कर्मग्रंथ 1/57-58-59, तत्त्वार्थ-सूत्र-6/16 से 20, स्थानांग-4/4/373
65. तत्त्वार्थ-सूत्र-6/17
66. वही-6/20, कर्मग्रंथ-1/59
67. जै.सि.को.-1/253
68. जै.सि.को.-2/12
69. अ.रा.पृ. 3/332

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश में इसके अलावा भी अल्पायु-दीर्घायु, चारों गतियों के अनेक भेद संबंधी आयु बंध का कारण, संज्ञी-असंज्ञी, ज्ञानी-अज्ञानी, बाल-पंडित, क्रियावादी-अक्रियावादी, कृष्णपाक्षिक-सम्यग्दृष्टि, नरकादि सभी जीवों की जघन्य-उत्कृष्ट आयु: स्थिति आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो जिज्ञासु को वहीं से द्रष्टव्य है।

नाम कर्म :-

जीवों के विचित्र परिणाम के निमित्तभूत कर्मों के हेतु स्वरुप कर्म 'नाम कर्म' है। जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य-तिर्यंच-नरक या देव गति/योनि में ले जानेवाला 'नाम कर्म' है।[70] जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह नाम कर्म है। जो नाना प्रकार की रचना निर्वाचित करता है, वह नामकर्म है।[71] यह कर्म चित्रकार के समान है। जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न प्रकार के चित्र बनाता है - उसी प्रकार नाम कर्म भी देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंचों के शरीर, इंद्रिय, अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि की स्थापना करनेवाला है।

नाम कर्म शुभ भी हो सकते हैं और अशुभ भी। शुभ नाम कर्म से सुन्दर-सुडौल, आकर्षक व प्रभावशाली शरीर बनता है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से बदसूरत, बेडौल, कुरुप आदि शरीर की रचना होती है।[72] नाम कर्म के 103 भेद हैं - (1) प्रत्येक प्रकृति-8 भेद, 2) पिण्ड प्रकृति-75 भेद, (3) त्रसदशक-10 भेद तथा (4) स्थावर दशक-10 भेद।

प्रत्येक प्रकृति नाम कर्म के 8 भेदों में अगुरुलघु, निर्माण, आतप, उद्योत, पराघात, उपघात, उच्छ्वास तथा तीर्थंकर आदि नाम कर्म हैं जो शारीरिक बनावट आदि से संबंधित हैं।

पिण्ड प्रकृति नाम कर्म के 75 भेद हैं- जिनके नाम इस प्रकार हैं - गति-4, जाति-5, शरीर-5, उपांग-2, बंधन-15 भेद, संघातन-5, संघयण-6, संस्थान-6, वर्ण-5, गंध-2, रस-5, स्पर्श-8, आनुपूर्वी-4, विग्रह गति-1, विहायोगति-2।

त्रसदशक नाम कर्म के 10 भेद हैं- त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश आदि।

स्थावर दशक नाम कर्म के भी 10 भेद हैं - स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु:स्वर, अनादेय, अपयश आदि।[73]

नाम कर्म की एक सौ तीन उत्तरप्रकृतियाँ हैं। ये प्रकृतियाँ चार भागों में विभक्त हैं : पिण्डप्रकृतियाँ, प्रत्येकप्रकृतियाँ, त्रसदशक और स्थावरदशक। इन प्रकृतियों के कारणरुप कर्मों के भी वे ही नाम हैं जो इन प्रकृतियों के हैं। पिण्डप्रकृतियों में पचहत्तर प्रकृतियों का समावेश हैं : 1. चार गतियाँ-देव, नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य; 2. पाँच जातियाँ-एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय,त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय; 3. पाँच शरीर-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; 4. तीन उपांग-औदारिक, वैक्रिय और आहारक (तैजस और कार्मण शरीर के उपांग नहीं होते); 5. पंद्रह बन्धन - औदारिक-औदारिक, औदारिक-तैजस, औदारिक-कार्मण, औदारिक-तैजस-कार्मण, वैक्रिय-वैक्रिय, वैक्रिय-तेजस, वैक्रिय-कार्मण, वैक्रिय-तेजस-कार्मण, आहारक-आहारक, आहारक-तैजस, आहारक-कार्मण, आहारक-तैजस-कार्मण, तैजस-तैजस, तैजस-कार्मण और कार्मण-कार्मण; 6. पाँच संघातन-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण; 7. छ: संहनन-वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिक और सेवार्त; 8. छ: संस्थान-समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्डक; 9. शरीर के पाँच वर्ण-कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और सित; 10. दो गन्ध - सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध; 11. पाँच रस - तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर; 12. आठ स्पर्श - गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष; 13. चार आनुपूर्वियाँ-देवानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चानुपूर्वी और नरकानुपूर्वी; 14. दो गतियाँ-शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति; प्रत्येक प्रकृतियों में आदि आठ प्रकृतियाँ समाविष्ट है : पराघात एवं स्थावरदशक में त्रसदशक से विपरीत स्थावरादि पूर्वोक्त दस प्रकृतियाँ समाविष्ट है। इस प्रकार नाम कर्म की उपर्युक्त 103 (75 पिण्ड प्रकृतियाँ + 8 प्रत्येक प्रकृतियाँ + 10 त्रसदशक + 10 स्थावरदशक) उत्तरप्रकृतियाँ हैं। इन्हीं प्रकृतियों के आधार पर प्राणियों के शारीरिक वैविध्य का निर्माण होता है।[74]

शुभ नाम कर्म के बन्ध के कारण :-

जैनागमों में अच्छे व्यक्तित्व की उपलब्धि के चार कारण माने गये हैं - 1. शरीर की सरलता, 2. वाणी की सरलता, 3. मन या विचारों की सरलता और 4. अहंकार एव मात्सर्यरहित जीवन।[75]

शुभ नामकर्म का विपाक - उपर्युक्त शुभाचरण से प्राप्त शुभ व्यक्तित्व का विपाक 14 प्रकार का माना गया है- 1. प्रभावक वाणी, 2. सुगठित सुन्दर शरीर, 3. सुगंधयुक्त मल/प्रस्वेद, 4. इष्ट रस-प्राप्ति, 5. सुकोमल त्वचा, 6. अचपल गति, 7. समुचित यथावस्थित अङ्गोपाङ्ग, 8. लावण्य, 9. यश:कीर्ति, 10. योग्य शारीरिक शक्ति (बल-वीर्यादि), 11. सुस्वर, 12. कान्त स्वर, 13. प्रिय स्वर, 14. मनोज्ञ स्वर।[76]

अशुभनाम कर्म के कारण - मन-वचन-काया की वक्रता और अहंकार-मात्सर्य वृत्ति या असामंजस्य पूर्ण जीवन। - इन चार कारणों (चार प्रकार के अशुभाचरण) से व्यक्ति/प्राणी को अशुभ नामकर्म (व्यक्तित्व) प्राप्त होता है।[77]

अशुभ नाम कर्म के विपाक :-

1. अप्रभावक वाणी, 2. अनिष्ट शरीर 3. दुर्गंध, 4. अनिष्ट रस, 5. अप्रिय स्पर्श, 6. अनिष्ट गति, 7. असमुचित अङ्गोपाङ्ग, 8. कुरुपता, 9. अपयश, 10. वीर्याभाव, 11. हीन स्वर, 12. दीन स्वर, 13. अप्रिय स्वर और 14. अकान्त स्वर।[78]

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि शरीर के कण-कण की रचना करनेवाला नाम कर्म ही है। जो चित्रकार की भाँति चित्र बनाता है और उसमें रंग रुप आकर्षण, विकर्षण, गति आदि पच्चीकारी के द्वारा तस्वीर को पूर्ण करता है।

गोत्रकर्म :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'गोत्र' शब्द के कुल, समस्तागमाधार,

70. अ.रा.पृ. 4/1999
71. जै.सि.को.-2/583
72. अ.रा.पृ. 4/1999
73. अ.रा.पृ. 4/1999-2000-2001; 3/260-61, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/583-84
74. प्रथम कर्मग्रंथ गाता 23 से 31
75. तत्त्वार्थ सूत्र6/22
76. जैन विद्या के आयाम-पृ. 6/214
77. तत्त्वार्थ सूत्र 6/21
78. जैन विद्या के आयाम-6/214

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्वत, बोध, कानन, क्षेत्र, मार्ग, छत्र, संघ, वृद्ध, वित्त, धन आदि अर्थ दर्शाये हैं। जिसके द्वारा जीव उच्च या नीच कहा जाय, जो उच्च या नीच कुल को ले जाता है, मिथ्यात्वादि बन्धन कारणों के द्वारा जीव के साथ संबंध को प्राप्त एवं उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न करानेवाला पुद्गलस्कन्ध 'गोत्र' कहलाता है। ऊँच-नीच का ज्ञान करानेवाला कर्म है गोत्रकर्म।[79]

गोत्र कर्म के प्रकार[80]- जिसके कारण व्यक्ति प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म लेता है वह गोत्र कर्म कुम्हार/कुंभकार के घट की तरह दो प्रकार का है।

1. **उच्च गोत्र** - प्रतिष्ठित कुल - यथा दूध-घी का घट, मंगलकलश इत्यादि
2. **नीच गोत्र** - अप्रतिष्ठित कुल - यथा मदिरा का घट।

उच्च-नीच गोत्र के कर्म-बन्ध का कारण :-

जात्यादि आठों प्रकार के मद/अहंकार का त्याग करनेवाला, गुणग्राही-गुणानुरागी, अध्ययन-अध्यापनरुचिवाला भक्त जीव उच्चगोत्र में जन्म लेता है। उससे विपरीत आचरणवाला निम्न (नीच) गोत्र में जन्म लेता है।[81] तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार पर-निन्दा, आत्म-प्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों का आच्छादन, और असद्गुणों का प्रकाशन-ये नीच गोत्र कर्म-बन्ध के हेतु है। इसके विपरीत पर-प्रशंसा, स्व-निंदा, सद्गुण-प्रकाशन, असद्गुण-गोपन, नम्रवृत्ति और निरभिमानता - ये उच्चगोत्र के बन्ध के हेतु है।[82]

गोत्र कर्म का विपाक[83] :-

निरहंकारी व्यक्ति उच्च-प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर निम्नाङ्कित आठ क्षमताओं से युक्त होता है -

1. निष्कलंक मातृ पक्ष, 2. प्रतिष्ठित पितृ पक्ष, 3. बलवान शरीर, 4. रुप-सौन्दर्य, 5. उच्च साधना एवं तप-शक्ति, 6. तीव्रबुद्धि एवं विपुल ज्ञान-राशि पर अधिकार, और 8 अधिकार-स्वामित्व एवं एश्वर्य की प्राप्ति। अहंकारी व्यक्ति इन क्षमताओं से या इन में से किन्हीं विशेष क्षमताओं से वंचित रहता हैं।

अंतराय कर्म :- अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि, "जो दाता और प्रतिग्राहक के अन्तर/मध्य/बीच में विघ्न/बाधा हेतु आता है, उपस्थित होता है, जो जीव को दानादि में व्यवधान पहुँचाता है, जो जीव को दानादि में विघ्नकारक है - उसे अन्तराय कहते हैं। तद्योग्य पुद्गल कार्मण वर्गणाओं का कर्मरुप में आत्मा के द्वारा ग्रहण करना कर्म का आठवें भेद स्वरुप अन्तराय कर्म है।[84] डो. सागरमल जैन के अनुसार अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचानेवाले कारण को अंतराय कर्म कहते हैं।[85]

इस कर्म की उपमा राजा के खजांची/भण्डारी से दी जाती है। राजा की आज्ञा होते हुए भी यदि खजांची प्रतिकूल है, तो धन प्राप्ति में बाधा आती है ठीक उसी प्रकार आत्मारुपी राजा की भी अनंत शक्ति होते हुए भी अंतराय कर्म उसमें बाधा उत्पन्न करते हैं।[86]

अन्तराय कर्म के प्रकार :- यह प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) और आयति (भविष्य) काल की अपेक्षा से दो प्रकार का एवं दानादि की अपेक्षा से पाँच प्रकार का है[87]

1. **दानान्तराय** - दान की इच्छा होने पर भी दान नहीं किया जा सके,
2. **लाभान्तराय** - किसी कारण से कोई प्राप्ति में बाधा आना,
3. **भोगान्तराय** - भोग (एकबार उपयोग में लेने योग्य भोजन आदि) में बाधा उपस्थित होना। जैसे सुसंपन्न व्यक्ति को सुंदर रसवती तैयार होने पर भी अस्वस्थता के कारण केवल खिचडी ही खानी पडे।,
4. **उपभोगान्तराय** - उपभोग (बार-बार उपयोग करने योग्य) की सामग्री के होने पर भी उपभोग करने में असमर्थता,
5. **वीर्यान्तराय** - शक्ति के होने पर भी पुरुषार्थ में उस शक्ति का उपयोग नहीं करना।[88]

अन्तराय कर्म-बंधन के कारण :-

जैनागमों के अनुसार जो व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के दान, लाभ, भोग, उपभोग, शक्ति के उपयोग में बाधक बनाता है, वह भी अपनी उपलब्ध सामग्री एवं शक्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता। जैसे कोई व्यक्ति दान देनेवालों को दान देने से रोक देता है या किसी भोजन करते हुए व्यक्ति को भोजन पर से उठा देता है, तो उसकी उपलब्धियों में भी बाधा उपस्थित होती है अथवा भोग सामग्री के होने पर भी वह उसके भोग से वंचित रहता है। जिन-पूजादि धर्म-कार्यों में विघ्न उत्पन्न करनेवाला और हिंसा में तत्पर व्यक्ति भी अन्तराय कर्म का संचय करता है।[89] तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार भी विघ्न या बाधा डालना ही अन्तराय-कर्म के बंध का कारण है।[90] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार भी दानादि में विघ्न करना-अन्तराय कर्म का आस्रव है। ज्ञान-प्रतिषेध, सत्कार्योपघात, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, भूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य, और परिभोग आदि में विघ्न करना, विभव/समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग (दान) न करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देव-द्रव्य ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरें की शक्ति का अपहरण, धर्म-व्यवच्छेद करना, कुशल चारित्रवाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ को दिये जानेवाले वस्त्र, पात्र, आश्रय, आदि में विघ्न करना, पर-निरोध, बन्धन, गुह्य-अंगच्छेद, नाक, ओठ आदि काटना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव है।[91]

इस प्रकार मूलकर्म एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों का परिचय, विपाक एवं बंध के कारणों का संक्षिप्त वर्णन करके इन्हीं कर्म प्रकृतियों के विविध स्वभाव एवं विपाक के आश्रयों का परिचय दिया जा रहा है।

कर्मप्रकृतियों के विविध स्वभाव[92]:-

1. **ध्रुवबंधिनी** - बंध विच्छेद पर्यन्त प्रति समय प्रत्येक जीवों को जिनका बंध होता है।

79. अ.रा.पृ. 3/954, जै.सि.को. 2/520
80. वही
81. कर्मग्रंथ-1/60
82. तत्त्वार्थसूत्र-6/24-25
83. जैन विद्या के आयाम पृ. 6/214
84. अ.रा.पृ. 1/98-99, 3/258, जै.सि.को. 1/27
85. जैन विद्या के आयाम-पृ. 6/214
86. अ.रा.पृ. 1/98-99
87. अ.रा.पृ. 1/98
88. अ.रा.पृ. 1/98, 3/261; तत्त्वार्थसूत्र-8/14, जै.सि.को.-1/27
89. कर्मग्रन्थ-1/61
90. तत्त्वार्थसूत्र-6/26
91. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1/28
92. अ.रा.पृ. 3/261 से 267; पंचसंग्रह-3/14 की टीका पृ. 304

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. **अध्रुवबंधिनी** - बंध विच्छेद काल तक में भी कभी बंध हो कभी न भी हो।
3. **ध्रुवोदयी** - उदय-उच्छेद काल पर्यन्त प्रति समय जिसका विपाकोदय हो
4. **अध्रुवोदयी** - उदय-उच्छेद काल पर्यन्त भी जिनके उदय का नियम न हो
5. **सर्वघाती** - ज्ञानादि गुणों का सर्वथा घात करनेवाली
6. **देशघाती** - ज्ञानादि गुणों के अंश का घात करनेवाली
7. **परावर्तमान** - प्रतिपक्षी प्रकृतियों के बंध-उदय के संभव के समय जो प्रकृति उस-उस समय में बंध-उदय आश्रयी परावर्तन भाव प्राप्त करें वैसी प्रकृतियाँ
8. **अपरावर्तमान** - जिनका बंध-उदय प्रतिपक्षी प्रकृति से प्रभावित नहीं होता।
9. **शुभ** - जिसका विपाक शुभ हो - पुण्य
10. **अशुभ** - जिसका विपाक अशुभ हो - पाप

विपाकाश्रित प्रकृतियों के भेद[93]:-

कर्म के विपाक/फल आश्रयी प्रकृति दो प्रकार से है -

1. **हेतुविपाका** - पुद्गलादि रुप हेतु आश्रित प्रकृति
2. **रसविपाका** - रस के आधार पर जिन प्रकृतियों का विपाक निर्दिश्यमान हो वैसी प्रकृति।

पुनः ये दोनों पुद्गल, क्षेत्र, भव एवं जीवरुप हेतु आश्रित चार प्रकार की है -

1. **पुद्गल विपाकी** - आत्मा को पुद्गल के विषय में फल का अनुभव करानेवाली प्रकृति यथा-औदारिक शरीरनामकर्म;
2. **क्षेत्र विपाकी** - आकाश/क्षेत्र में फल का अनुभव करानेवाली प्रकृति, यथा-चार आनुपूर्वी
3. **भव विपाकी** - अपने योग्य भव में फल का अनुभव करानेवाली प्रकृति-चार आयु;
4. **जीव विपाकी** - जीव के ज्ञानादि स्वरुप का उपघात करनेवाली प्रकृति, ज्ञानावरणीयादि।

रसविपाका प्रकृति - चार, तीन, दो और एक स्थान रस के भेद से चार प्रकार की है।

कर्म की विविध अवस्थाएँ[94] :

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। ये अवस्थाएँ कर्म के बन्धन, परिवर्तन, सत्ता, उदय, क्षय आदि से सम्बन्धित है। इनका हम मोटे तौर पर ग्यारह भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं। उनके नाम इस प्रकार है : 1. बन्धन, 2. सत्ता, 3. उदय, 4. उदीरणा, 5. उद्वर्तना, 6. अपवर्तना, 7. संक्रमण, 8. अपशमन, 9. निधत्ति, 10. निकाचन, 11. अबाधा।

1. बन्धन - आत्मा के साथ कर्म-परमाणुओं बँधना अर्थात् क्षीर नीरवत् एकरुप हो जाना बन्धन कहलाता है। बन्धन के बाद ही अन्य अवस्थाएँ प्रारम्भ होती है।

कर्मबंध के कारण :-

जीवात्मा के साथ कर्मो का सम्बन्ध अनादि है। कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ त्याज्य हैं, क्योंकि वे संसार के कारण हैं, भवभ्रमण के कारण हैं। आचार्य कुन्दकुंदने समयसार में कहा है कि शुभकर्म स्वर्णश्रृंखला है तथा अशुभकर्म लोहे की श्रृखंला है। लोहे की बेडी भी बाँधती है और स्वर्ण की भी बाँधती हैं। इस प्रकार किया हुआ शुभ-अशुभ कर्म जीव को बाँधता ही हैं।

कर्मबंध का मूल कारण है - 'इच्छा'। मानव के सुख-दुःख का कारण इच्छा ही है। यह कहा जा सकता है कि कर्म का बंध इच्छा का बंध है। परिग्रह अथवा विषयाभिलाषा का कोई अंत नहीं हो सकता। इनकी समाप्ति तभी हो सकती है जब व्यक्ति पूर्णतः इच्छामुक्त हो जाये, वीतराग हो जाये। जैसे ही वह विषय की इच्छा करता है - उसका कार्मण शरीर तदनुसार कर्मो को आकर्षित कर लेता है। यह प्रक्रिया किसी बाह्य लक्षण से नहीं होती बल्कि आत्मा स्वयं अपनी शक्ति से इन कार्मण परमाणुओं को आकर्षित करता है- इसी से पुनर्जन्म प्राप्त होता हैं।

कर्मो के उदय, कारण और परिणामों की चर्चा जैनग्रंथों में विस्तृत रुप में हुई है। 'जीव सकषाय होने से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता हैं - यही बंध हैं।[95] जिस प्रकार भंडार से पुराने धान्य निकाल लिये जाते हैं एवं नये भर दिये जाते हैं, उसी प्रकार अनादि इस कार्मण शरीररुपी भंडार में कर्मों का आना जाना होता रहता हैं। पुराने कर्म फल देकर झड जाते हैं और नए कर्म आ जाते हैं। द्रव्यसंग्रह में कर्मबंध के 5 कारण दिये गये हैं - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय।[96]

मिथ्यात्व - विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे -अधर्म को धर्म, कुमार्ग को सन्मार्ग, जीव को अजीव, अजीव को जीव, साधु को असाधु आदि रुप में समझना - दूसरे शब्दों में जिनकथित सुदेव सुगुरु सुधर्म को छोडकर अन्य तत्त्व को मान्य करना या सत्य तत्त्व की अरुचि एवं असत्य तत्त्व की रुचि रखना।

अविरति - अविरति अर्थात् अत्याग भाव। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन परिग्रह आदि पाप, भोग-उपभोग आदि वस्तुओं तथा सावद्य कर्मों से विरत न होना-अर्थात् प्रत्याख्यानपूर्वक त्याग न करना।

प्रमाद - कुशल में अनादर भाव प्रमाद है।[97] यह प्रमाद अनेक प्रकार का है। काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन, वाक्यशुद्धि, उत्तम क्षमादि दस धर्मों में अनुत्साह या अनादर का भाव प्रमाद है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि इसके परिणाम हैं।

योग - मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमतिरुप प्रवृत्ति योग है।

कषाय - जिससे संसार की प्राप्ति हो वह कषाय है। इसके 16 भेद होते हैं- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। कषाय का एक अन्य प्रकार होता है नोकषाय, जो कषाय के सहवर्ती सहचर

93. अ.रा.पृ. 3/267; पंचसंग्रह द्वार-3 पृ. 311-12-13-34
94. अ.रा.पृ. 3/290
95. तत्त्वार्थ राजवार्तिक 8/2
96. तत्त्वार्थ सूत्र - 8/1
97. ठाणांग 10/1/734

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं - हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद एवं नपुंसक वेद।

मिथ्यात्वादि बन्ध हेतुओं के निमित्त से जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर जब वे कर्म पुद्गल कर्म रुपत्व को प्राप्त होते हैं, उस समय इन गृहीत कार्मण पुद्गलों में चार अंशो का निर्माण होता है, वे बन्ध के चार प्रकार कहलाते हैं। वे नाम निम्नानुसार हैं-

1. प्रकृति बन्ध, 2. प्रदेश बन्ध, 3. स्थिति बन्ध, एवं 4. अनुभाग बन्ध।[98]

1. प्रकृतिबन्ध - बन्धन के स्वभाव का निर्धारण प्रकृति बन्ध करता है। यह, यह निश्चय करता है कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत करेंगे।

2. प्रदेश बन्ध - यह कर्मपरमाणुओं की आत्मा के साथ संयोजित होने वाली मात्रा का निर्धारण करता है। अत: यह मात्रात्मक होता है।

3. स्थितिबन्ध - कर्मपरमाणु कितने समय तक आत्मा से संयोजित रहेंगे और कब निर्जरित होंगे, इस काल-मर्यादा का निश्चय स्थिति-बन्ध करता है। अत: यह बन्धन की समय-मर्यादा का सूचक है।

4. अनुभाग(व)बन्ध - कर्मों के बन्धन और विपाक की तीव्रता एवं मन्दता का निश्चय करना, यह अनुभाग बन्ध का कार्य है। दूसरे शब्दों में यह बन्धन की तीव्रता या गहनता का सूचक है।

उपरोक्त चार प्रकार के बन्धनों में प्रकृति बन्ध एवं प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध मुख्यतया योग अर्थात् कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं से हैं, जबकि बन्धन की तीव्रता (अनुभाग) एवं समयावधि (स्थिति) का निश्चय कर्म के पीछे रही हुई कषाय-वृत्ति और मिथ्यात्व पर आधारित होता है। संक्षेप में योग का सम्बन्ध प्रदेश एवं प्रकृति बन्ध से है, जबकि कषाय का सम्बन्ध स्थिति एवं अनुभाग बन्ध से है।

मोदक का दृष्टान्त :- जैसे कोई लड्डु वायु कोई पित्त या कोई कफ का नाश करें वैसे ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञानगुण का घात करता है, दर्शनावरण से आत्मा के दर्शनगुण का घात होता है, मोहनीय सुख-आत्मसुख-परमसुख-शाश्वतसुख के लिये घातक है, अन्तराय से वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है, वेदनीय अनुकूल एवं प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दु:ख का कारण है, आयु से आत्मा को नारकादि विविध भवों की प्राप्ति होती हैं, नाम के कारण जीव को विविध गति, जाति, शरीर आदि प्राप्त होते हैं और गोत्र प्राणियों के उच्चत्व-नीचत्व का कारण हैं। इसे प्रकृति कहते हैं।

जैसे कोई लड्डु 100 ग्राम, कोई 500 ग्राम, कोई 1 किलो का होता है वैसे किसी कर्म के दलिक कम किसी कर्म के ज्यादा होते हैं, इसे प्रदेश कहते हैं।

जैसे कोई लड्डु एक दिन, कोई एक सप्ताह, कोई एक मास तक रहें वैसे कोई कर्म 20/30/70 कोडाकोडि सागरोपम काल तक रहें - इसे स्थिति कहते हैं।

स्निग्ध-रुक्ष-मधुर-कटुकादि रस में से किसी मोदक में एक गुण हो, कोई द्विगुण कोई त्रिगुण हो वैसे किसी कर्म में एकस्थानीय किसी में द्विस्थानीय/त्रिस्थानीय या चतु:स्थानीय रस होता है, इसे अनुभाव/रस कहते हैं।

कर्म का स्थितिकाल[99]:-

1. बंध - कर्म का जब बन्ध होता है, तब से लगाकर फल देकर दूर होने तक के समय को स्थितिकाल कहते हैं। कम से कम स्थिति जघन्य और अधिक से अधिक स्थिति उत्कृष्ट कहलाती है। एक स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की भी होती है। कर्मों की प्रबलता के अनुसार उनके स्थिति-काल में अन्तर रहता है। भिन्न-भिन्न कर्मों की स्थितियाँ इस प्रकार हैं-

	कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
1.	ज्ञानावरणीय	अन्तरमुहूर्त	30 कोटकोटि सागरोपम
2.	दर्शनावरणीय	अन्तरमुहूर्त	30 कोटकोटि सागरोपम
3.	वेदनीय	अन्तरमुहूर्त	30 कोटकोटि सागरोपम
4.	मोहनीय	अन्तरमुहूर्त	70 कोटकोटि सागरोपम
	दर्शन मोहनीय	अन्तरमुहूर्त	70 कोटकोटि सागरोपम
	चारित्र मोहनीय	अन्तरमुहूर्त	40 कोटकोटि सागरोपम
5.	आयुष्य	अन्तरमुहूर्त	33 कोटकोटि सागरोपम
6.	नाम	8 मुहूर्त	20 कोटकोटि सागरोपम
7.	गौत्र	8 मुहूर्त	20 कोटकोटि सागरोपम
8.	अन्तराय	अन्तरमुहूर्त	30 कोटकोटि सागरोपम

2. उदय - कर्म की स्वफल प्रदान करने की अवस्था का नाम उदय है। उदय में आनेवाले कर्म पुद्गल अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं। कर्म-पुद्गल का नाश/क्षय अथवा निर्जरा कहलाता हैं।

3. उदीरणा - नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा कहलाता है। जैन कर्मवाद कर्म की एकान्त नियति में विश्वास नहीं करता। जिस प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत काल से पहले फल पकाये जा सकते हैं उसी प्रकार प्रयत्नपूर्वक नियत समय से पूर्व बद्ध कर्मों को भोगा जा सकता हैं। सामान्यत: जिस कर्म का उदय जारी होता है उसके संजातीय कर्म की ही उदीरणा संभव होती हैं।

4. सत्ता - बद्ध कर्म परमाणु अपनी निर्जरा अर्थात् क्षय होने तक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। इसी अवस्था का नाम सत्ता है। इस अवस्था में कर्म अपना फल प्रदान न करते हुए विद्यमान रहते हैं।

बन्धन, सत्ता, उदय और उदीरणा में कितनी कर्म-प्रकृतियाँ (उत्तरप्रकृतियाँ) होती हैं, इसका भी जैन कर्मशास्त्रों में विचार किया गया हैं। बन्धन में कर्म-प्रकृतियों की संख्या एक सौ बीस, उदय में एक सौ बाईस, उदीरणा में भी एक सौ बाईस तथा सत्ता में एक सौ अठावन मानी गई हैं। नीचे की तालिका में इन चारों अवस्थाओं में रहनेवाली उत्तरप्रकृतियों की संख्या दी जाती है[100] :

		बन्ध	उदय	उदीरणा	सत्ता
1.	ज्ञानावरणीय कर्म	5	5	5	5
2.	दर्शनावरणीय कर्म	9	9	9	9
3.	वेदनीय कर्म	2	2	2	2
4.	मोहनीय कर्म	26	28	28	28
5.	आयु कर्म	4	4	4	4
6.	नाम कर्म	67	67	67	103
7.	गोत्र कर्म	2	2	2	2
8.	अन्तराय कर्म	5	5	5	5
	योग	120	122	122	158

98. अ.रा.पृ. 3/258

99. अ.रा.पृ. 3/278 से 283

100. अ.रा.भा. 3 कम्मशब्द, कर्मग्रंथ-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता में समस्त उत्तप्रकृतियों का अस्तित्व रहता है जिनकी संख्या एक सौ अठावन है। उदय में केवल एक सौ बाईस प्रकृतियाँ रहती हैं क्योंकि इस अवस्था में पंद्रह बन्धन तथा पाँच संघातन-नाम कर्म की ये बीस प्रकृतियाँ अलग से नहीं गिनी गई है अपितु पाँच शरीरों में ही उनका समावेश कर दिया गया है। साथ ही वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इन चार पिण्डप्रकृतियों की बीस उत्तरप्रकृतियों के स्थान पर केवल चार ही प्रकृतियाँ गिनी गई हैं। इस प्रकार कुल एक सौ अठावन प्रकृतियों में से नाम कर्म की छत्तीस (बीस और सोलह) प्रकृतियाँ कम कर देने पर एक सौ बाईस प्रकृतियाँ शेष रह जाती है जो उदय में आती हैं। उदीरणा में भी ये ही प्रकृतियाँ रहती है क्योंकि जिस प्रकृति में उदय की योग्यता रहती है उसी की उदीरणा होती है। बन्धनावस्था में केवल एक सौ बीस प्रकृतियों का ही अस्तित्व माना गया है। सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय कर्मों का बन्ध अलग से न होकर मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के रुप में ही होता है क्योंकि (कर्मजन्य) सम्यक्त्व और सम्यक्-मिथ्यात्व मिथ्यात्व की ही विशोधित अवस्थाएँ हैं। इन दो प्रकृतियों को उपर्युक्त एक सौ बाईस प्रकृतियों में से कम कर देने पर एक सौ बीस प्रकृतियाँ बाकी बचती हैं जो बन्धनावस्था में विद्यमान रहती है। (इसका विस्तृत वर्णन कर्मग्रंथ-2 में देखना चाहिए)

5. उद्धर्तना - बद्धकर्मों की स्थिति और अनुभाग(व)-रस का निश्चय बन्धन के समय विद्यमान कषाय की तीव्रता-मन्दता के अनुसार होता है। उसके बाद की स्थितिविशेष अथवा भावविशेष-अध्यवसायविशेष के कारण उस स्थिति तथा अनुभाग में वृद्धि हो जाना उद्वर्तना कहलाता है। इस अवस्था को उत्कर्षण भी कहते हैं।

6. अपवर्तना - बद्धकर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसायविशेष से कमी कर देने का नाम अपवर्तना है। यह अवस्था उद्धर्तना से बिलकुल विपरीत है। इसका दूसरा नाम अपकर्षण भी है। इन अवस्थाओं की मान्यता से यही सिद्ध होता है कि किसी कर्म की स्थिति एवं फल की तीव्रता-मन्दता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है। अपने प्रयत्नविशेष अथवा अध्यवसायविशेष की शुद्धता-अशुद्धता से उनमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। एक समय हमने कोई अशुभ कार्य किया अर्थात् पापकर्म किया और दूसरे समय शुभ कार्य किया तो पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति आदि में यथा-सम्भव परिवर्तन हो सकता है। इसी प्रकार शुभ कार्य द्वारा बांधे गये कर्म की स्थिति आदि में भी अशुभ कार्य करने से समयानुसार परिवर्तन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के अध्यवसायों के अनुसार कर्मों की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है।

7. संक्रमण - एक प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति आदि का दूसरे प्रकार के कर्मपुद्गलों की स्थिति आदि में परिवर्तन अथवा परिणमन होना संक्रमण कहलाता है। संक्रमण किसी एक मूल प्रकृति की उत्तरप्रकृतियों में ही होता है, विभिन्न मूल प्रकृतियों में नहीं। दूसरे शब्दो में सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण माना गया है, विजातीय प्रकृतियों में नहीं। इस नियम के अपवाद के रुप में आचार्योंने यह भी बताया है कि आयु कर्म की प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता और न दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय में तथा दर्शनमोहनीय की तीन उत्तर-प्रकृतियों में ही (कुछ अपवादों को छोड कर) परस्पर संक्रमण होता है। इस प्रकार आयु कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय व दर्शनमोहनीय की तीन उत्तरप्रकृतियाँ उपर्युक्त नियम के अपवाद हैं।

8. उपशमन - कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होती उसे उपशमन कहते हैं। इस अवस्था मेंउद्धर्तना, अपवर्तना और संक्रमण की संभावना का अभाव नहीं होता। जिस प्रकार राख से आवृत अग्नि उस अवस्था में रहती हुई अपना कार्यविशेष नहीं करती किन्तु आवरण हटते ही पुनः प्रज्वलित होकर अपना कार्य करने को तैयार हो जाती है उसी प्रकार उपशमन अवस्था में रहा हुआ कर्म उस अवस्था के समाप्त होते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है अर्थात् उदय में आकर फल प्रदान करना शुरु कर देता है।

9. निधत्ति :- कर्म की वह अवस्था निधत्ति कहलाती है जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है। इस अवस्था में उद्धर्तना और अपवर्तना की संभावना नहीं होती।

10. निकाचन - कर्म की उस अवस्था का नाम निकाचन है जिसमें उद्धर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा ये चारों अवस्थाएँ असम्भव होती हैं। इस अवस्था का अर्थ है कर्म का जिस रुप में बंध हुआ उसी रुप में उसे अनिवार्यतः भोगना। इसी अवस्था का नाम नियति है। इसमें इच्छा-स्वातन्त्र्य का सर्वथा अभाव रहता है। किसी-किसी कर्म की यही अवस्था होती है।

11. अबाधा - कर्म का बँधने के बाद अमुक समय तक किसी प्रकार का फल न देना उसकी अबाध-अवस्था है। इस अवस्था के काल को अबाधाकाल कहते हैं।

इस अबाधावस्था के काल के पश्चात् कर्म उदय में आता है और फलानुभव कराने लगता है। फलानुभव के काल को 'कर्म निषेक काल' कहते हैं। ऊपर जो कर्म का स्थितिकाल बताया गया है, वह दोनों कालविपाक अबाधाकाल एवं निषेक काल को मिलाकर बताया गया है। जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की होती है - उतने सौ वर्ष 'अबाधाकाल' होता है। उदाहरण के लिए ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति "30 कोटकोटि सागरोपम की है तो उसका 'अबाधाकाल' 3000 वर्ष" है तथा "निषेक काल 30 कोटाकोटि सागरोपम कम 3000 वर्ष" है। अबाधाकाल में कर्म सत्ता में रहता है, फल नहीं देता। यही विपाक काल (अबाधाकाल) है।[101]

कर्ममुक्ति विचार[102]:-

इस प्रकार कर्म के बंध के भेद, स्वभाव, विपाक एवं कारणों को जानकर जीव उससे मुक्त होने का प्रयत्न करते हुए सम्यग्ज्ञान के सत्यार्थ बल से मिथ्याज्ञान से निवृत्त होता हैं, मिथ्यात्व का नाश होने से उसके मूल स्वरुप रागादि नहिं रहते, रागादि के अभाव में तदाधीन धर्म-अधर्म की उपपत्ति नहीं होने से पूर्वकृत एवं वर्तमान बध्यमान कर्मों का तत्त्वज्ञान से, (तत्त्वज्ञानपूर्वक के) उपभोग से प्रक्षय/संपूर्ण क्षय होता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनों को भस्मीभूत करता है वैसे ज्ञानरुपी अग्नि सर्वकर्मों को भस्मीभूत करता है। नित्य-नैमित्तिक आराधना से दुरित क्षय होता है, उससे आत्मा ज्ञान को निर्मल करके अनुभवपूर्वक दृढ करता है, अभ्यासपूर्वक के अनुभव ज्ञान से मनुष्य केवलज्ञान को प्राप्तकर अंत में शैलेशी अवस्था में योग-निरोध करके सर्वकर्म क्षय कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

101. अ.रा.पृ. 3/278 से 283, 3/290
102. अ.रा.पृ. 3/334-35

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार मुख्य कषायें हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार प्रभेद हैं। कषायों का और गुणस्थानों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। या यह कहें कि कषायों की तरतम अवस्थितिसूचक अवस्था को गुणस्थान कहते हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इसे निम्नांकित अनुच्छेदों द्वारा समझा जा सकता हैं-

कषाय और गुणस्थान:-

प्रथम से तृतीय गुणस्थान तक चारों कषायें रहती हैं। अविरतसम्यक्त्व में अनन्तानुबन्धी कषाय का उपमश हो जाता है। विरताविरत अर्थात् देशविरत नामक चतुर्थ गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरण (सकल-संयम का घातक) कषाय का उदय होने से जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा निवृत्त तो नहीं हो सकते; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण (एकादेश-संयम का घातक) कषाय का उदय न होने से (उपशम होने से) देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से निवृत्त होते हैं। पाँचवे, छठे, सातवें एवं आठवें गुणस्थान में भी कषायों की तरतम स्थिति बनी रहती है। नवें गुणस्थान में संज्वलन चतुष्क की सत्ता बनी रहती है। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार इस गुणस्थान प्राप्त जीव के यहाँ पर अनंतानुबंधी आदि तीन कषायचतुष्क तो उपशान्त या क्षय हो जाते है; किन्तु संज्वलन कषाय चतुष्क की पूरी निवृत्ति नहीं होती।

'सूक्ष्म संपराय' (दशवें गुणसथान) में 'संपराय' अर्थात् लोभ की सत्ता बनी रहती है। यहाँ संज्वलन लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का उदय रहता है। जबकि उपशांत मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय और राग (माया-लोभ) के उपशान्त (उदय नहीं) हो जाते हैं। दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का उपशमन होते ही जीव इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। जिस तरह गंदे पानी में कतककफल या फिटकडी आदि डालने से उसका मल नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ पानी ऊपर आ जाता है वैसे ही इस गुणस्थान में शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म को अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है। और जीव के परिणामों में सहसा वीतरागता, निर्मलता और पवित्रता आ जाती है। बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में कषायें नष्ट हो जाती हैं। क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती अप्रमत्त आत्मा शुक्ललेश्या एवं शुक्लध्यान युक्त होती है।

जैनागमों के अनुसार जैन मुनि कषायत्यागी होते हैं। विशेषकर आचार्य भगवंत के 36 गुणों में भी 'चारो कषायों से मुक्त' यह उनका विशेष गुण हैं।

अनादि संसारी मिथ्यादृष्टि जीव के सभी कषायें विद्यमान रहती हैं।श्रावक के अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम होता है। किन्तु जैसे ही वह अनन्तानुबंधी कषायप्रभेद से आविष्ट होता है, सम्यक्त्व से पतित हो जाता है। अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया अथवा अनन्तानुबंधी लोभ- इस कषायचतुष्क में से किसी भी एक कषाय का उदय होने पर जीव सम्यक्त्व से पतित हो कर सासादन गुणस्थान की स्थिति में पहुंच जाता है। गुणस्थानों का समग्र चित्र कषायों और उनकी लेश्या संज्ञक तर-तम अवस्थाओं पर आधारित है। अत: यहां पर संक्षेप में कषायों और लेश्याओं को समझना आवश्यक है।

कषाय की परिभाषा:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में जैनागमों के अनुसार 'कषाय' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि, "जो कर्मरुपी क्षेत्र को जोतता है; सुख-दु:ख फल देनेयोग्य करता है; अथवा जीव को कलुषित करता है; अथवा शुद्ध स्वभावयुक्त आत्मा को कलुषित करता है या जीव को कर्म से मलिन करता है; अथवा जिस कर्म के द्वारा प्राणियों को बांधा जाये; या जिससे कष अर्थात् संसार (संसार भ्रमण) का प्राणी को आय अर्थात् लाभ होता हो, उसे 'कषाय' कहते हैं।" या 'कष' अर्थात् कर्म या संसार के उपादान का जो हेतु हो उसे या जिससे जीव पुन:-पुन: संसार भ्रमण करता हुआ कलुषित होता है; अथवा जो मजीठ के रंग की तरह आत्मा के साथ चिर समय तक क्लिष्ट (चिपका हुआ) रहे उसे अथवा जिसके द्वारा कलुषित आत्मा में कर्म संबंध की चिरस्थिति उत्पन्न होती है उसे कषाय कहते हैं। अथवा मोहनीय कर्म पुद्गल के उदय से संपादित जीव के क्रोधादि परिणाम विशेष को कषाय कहते हैं।[1] क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णीने आगे कहा है कि, "क्रोधादि परिणाम आत्मा को कुगति में ले जाने के कारण कसते हैं; आत्मा के स्वरुप की हिंसा करते हैं अथवा चारित्र परिणाम को कसने के कारण या घात करने के कारण उसे 'कषाय' कहते हैं।[2]

सामान्यतया 'कषाय' शब्द से तो कषाय एक है और स्वभाव भेद की अपेक्षा कषाय निम्नानुसार अनेक प्रकार का है[3]-

1. **नाम कषाय** - किसी व्यक्ति या पदार्थ का नाम 'कषाय' होना/रखना।
2. **स्थापना कषाय** - भौंह चढाने के कारण जिसके ललाट में तीन बली पड गई है, चित्र में या काष्ठादि में आलेखित पुरुष आदि का ऐसा स्वरुप 'स्थाना कषाय' कहलाता है।
3. **द्रव्य कषाय** - यह दो प्रकार का है-
   (अ) **कर्मद्रव्य कषाय** - योग, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग इत्यादि स्वरुपयुक्त क्रोधादि कषाय के पुद्गल परमाणु 'कर्मद्रव्य कषाय' कहलाते हैं।
   (ब) **नोकर्मद्रव्य कषाय** - सर्ज (शाल) वृक्ष का रस कसैला होने के कारण उसे 'नोकर्मद्रव्य कषाय' कहते हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में इसे 'सर्जकषाय' कहा है।[4]

1. अ.रा.पृ. 3/394-95; प्रज्ञापना-13 पद; उत्तराध्ययन, अध्ययन-4, स्थानांग ठाणा-1; जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/15
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/15
3. अ.रा.पृ. 3/395; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ.-2/15, 16
4. वही पृ. 15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. **उत्पत्ति कषाय** - कषाय उत्पन्न होने के हेतुभूत द्रव्य, शब्द, रुप, विषय इन्द्रियां, क्षेत्र आदि जिसके निमित्त से कषाय उत्पन्न होता हो, उसे 'उत्पत्ति कषाय' कहते हैं।
5. **प्रत्यय कषाय** - अविरति, आस्रवादि बन्ध कारण, जो कषाय के अन्तरङ्ग कारण हैं, उन्हें 'प्रत्यय कषाय' कहते हैं।
6. **आदेश कषाय** - अन्तरङ्ग कषाय होने पर भी 'यह कलुषित है, -एसा प्रतीत होना 'आदेश कषाय' कहलाता है।
7. **भाव कषाय** - जीव के मोहनीय कर्मोदयजनित कषाय परिणाम 'भाव कषाय' कहलाता है

भाव कषाय के भेद-प्रभेद[5]:-

भाव कषाय चार प्रकार का है 1. क्रोध, 2. मान, 3. माया और 4 लोभ।

स्थान की अपेक्षा से कषाय के भेद:-

क्रोधादि कषाय जिन स्थानों में प्रतिष्ठित होते हैं तदनुसार उनके चार भेद निम्नानुसार है[6]-

1. **आत्म प्रतिष्ठित** - स्वयं के द्वारा किये गए ऐहिक कार्यों का फल समझ में आने पर स्वयं के द्वारा स्वयं के प्रति कुद्ध होना।
2. **पर प्रतिष्ठित** - जब अन्य लोग किसी कारणवश या कारण आक्रोशादिपूर्वक हम में क्रोधादि कषायों को उदय में लाते हैं तब वह क्रोधादि कषाय 'पर प्रतिष्ठित' कहलाता है।
3. **तदुभय प्रतिष्ठित** - जब उस प्रकार का ऐसा कोई अपराध होने पर स्वयं एवं अन्य दोनों के उपर क्रोधादि कषाय होना 'तदुभव प्रतिष्ठित' कहलाता है।
4. **अप्रतिष्ठित** - स्वयं या अन्य के किसी भी प्रकार के कारण या निमित्त के बिना केवल क्रोध वेदनीय (कषाय वेदनीय) कर्मो के कारण उदय में आया कषाय 'अप्रतिष्ठित' कहलाता है।

उत्पत्ति स्थान की अपेक्षा से कषाय के भेद[7]:-

जिन स्थानों के विषय में कषाय उत्पन्न होते हैं, तदाश्रित भेद निम्नानुसार हैं-

1. **क्षेत्र प्रतीत्य** - क्षेत्राश्रित कषाय उत्पन्न होना; जैसे-नारकी जीवों को नरकाश्रित कषायों का उदय होना; इसी प्रकार तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि को वे जिस क्षेत्र/स्थान में हैं, तदाश्रित कषायों का उदय होना।
2. **वस्तु प्रतीत्य** - सचेतन-अचेतन पदार्थ के विषय में कषायोत्पत्ति होना।
3. **शरीर प्रतीत्य** - सुरुप, सुन्दराकार या दु:स्थित, बीभत्स शारीरिक रुपादि के कारण कषायोत्पत्ति होना।
4. **उपधि प्रतीत्य** - रजोहरण-मुखवस्त्रिका इत्यादि ओघ उपकरण या वस्त्रादि उपधि स्वरुप औपग्रहिक उपकरण का चोरादि के द्वारा अपहरण होने की स्थिति में या अन्य किसी कारणवश कषायोत्पत्ति होना।

आवर्त के दृष्टान्त से कषायों के भेद:-

क्रोध कषाय खरावर्त (समुद्रादि के चक्र विशेष के आवर्त) जैसा, मान कषाय अन्नतावर्त (पर्वत शिखरारोहण मार्ग या हवा के चक्रवात वायु) जैसा, माया कषाय गूढावर्त (केंदुक या लकडी के आवर्त) जैसा और लोभ कषाय आमिषावर्त (मांसादि हेतु समडी (शकुनिका पक्षी) के द्वारा आकाश में चक्कर लगाने जैसा दर्शाया है।[8]

आवरण शक्ति की अपेक्षा से कषाय के भेद:-

जीव के आत्म कल्याण हेतु मोक्ष मार्ग की आराधना में बाधा पहुंचाने में कषायों की शक्ति के अनुसार क्रोधादि कषाय के चार भेद हैं[9]-

1. **अनन्तानुबंधी** - जो अनन्त भवों का अनुबंध कराता है; जीव को अनन्त भव तक संसार में भ्रमण कराता है वह अनन्तानुबंधी क्रोधादि कषाय कहलाता है।
2. **अप्रत्याख्यानीय** - जिसके उदय से जीव अणुव्रत, सामायिक आदि देशविरति धर्म का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता, उसे 'अप्रत्याख्यानीय' कषाय कहते हैं।
3. **प्रत्याख्यानीय** - जिसका उदय होने पर जीव सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करके पञ्च महाव्रतरुप सर्वविरतिधर साधु व्रत ग्रहण नहीं कर सकता, उसे 'प्रत्याख्यानीय' कषाय कहते हैं।
4. **संज्वल** - जिसके कारण सर्वविरतिधर मुनि भी इन्द्रियार्थ से पीडित होता है, जो यथाख्यात चारित्र का अवरोधक हैं उसे 'संज्वलन' कषाय कहते हैं।

इन अनंतानुबंधी आदि कषायों के साथ योजना होने पर क्रोधादि चारों भावकषायों के 16, 64 आदि अनेक भेद-प्रभेद होते हैं अत: अब इन भावकषायों का परिचय दिया जा रहा हैं।

क्रोध:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने "जिसके द्वारा अन्य पर क्रोधित हुआ जाता है, कोप, रोष, अक्षान्तिपरिणति, आत्मा के विचाररहित परिणाम का प्रगट स्फुरण, स्व पर अप्रीतिलक्षण, क्रोध मोहनीय के उदय से उत्पन्न जीव की परिणति विशेष, जाति-कुल-रुप-बलादि का उदय, कृत्य-अकृत्यरुप विवेक का समूलनाशक प्रज्वलनात्मक स्वरुप को क्रोध कहा है।[10]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कहा है - अपने और पर के उपघात या अनुपकार आदि करने के क्रूर परिणाम; हृदयदाह, अंगकम्प, नेत्ररक्तता और इन्द्रियों की अपटुता आदि के निमित्तभूत जीव के परिणाम को क्रोध कहा है।[11] द्रव्य संग्रह में कहा है कि जीव के अन्तरङ्ग परिणाम में क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तथा बाह्य विषय में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध सें क्रूरता आवेशरुप क्रोध है।[12]

क्रोध मानसिक और उत्तेजनात्मक आवेग है। क्रोध में क्षमता और तर्कशक्ति प्राय: शिथिल हो जाती है। क्रोध करने से शरीर में संताप होता है, शरीर कांपने लगता है, उसकी कान्ति बिगड जाती है, आँखों के सामने अंधियारा छा जाता है, कान बहेरे हो जाते है, मुख से शब्द नहीं निकलता है स्मृति लोप हो जाती है तथा गुस्से

5. अ.रा.पृ. 3/395
6. अ.रा.पृ. 3/396-97
7. अ.रा.पृ. 3/397, स्थानांग-4/1
8. अ.रा.पृ. 3/396, स्थानांग-4/4
9. अ.रा.पृ. 3/397
10. अ.रा.पृ. 3/683
11. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/175
12. वही-2/176

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में आकर मनुष्य मार-पीट भी करता है।[13]

क्रोध जब बढता है तब युयुत्सा को जन्म देता है। युयुत्सा में अमर्ष और अमर्ष से आक्रमण का भाव उत्पन्न होता है। मनोविज्ञान के अनुसार क्रोध और भय में यह मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेश में आक्रमण का और भय के आवेश में आत्मरक्षा का प्रयत्न होता है।

जैन विचारणा में सामान्यतया क्रोध के दो रुप मान्य हैं।

क्रोध के दो भेद[14] :-

1. **द्रव्य क्रोध** - प्राकृत भाषा आश्रित चर्मकार क्रोध, नील क्रोध आदि शब्द द्रव्य क्रोध हैं।
2. **भाव क्रोध** - क्रोध मोहनीय कर्म विपाक से उदित/जनित क्रोध के परिणाम 'भाव क्रोध' हैं।

द्रव्यक्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रोध का आंगिक पक्ष कहा जा सकता है, जिसके कारण क्रोध में होनेवाले शारीरिक परिवर्तन होते हैं। भावक्रोध क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष है। द्रव्यक्रोध अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष है। भगवती सूत्र में क्रोध के दस पर्यायार्थक शब्दों का उल्लेख उसके विविध रुपों की व्याख्या देता है। क्रोध सिर्फ उत्तेजित होना मात्र ही नहीं, चित्त की और भी कई प्रतिकूल अवस्था को क्रोध कहा जाता है, जैसे :-

1. क्रोध - आवेग की उत्तेजनात्मक स्थिति **2. कोप** - क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता **3. रोष** - क्रोध का परिस्फुट रुप **4. दोष** - स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना **5. अक्षमा** - अपराध क्षमान न करना **6. संज्जवलन** - जलन या ईर्ष्या का भाव **7. कलह** - अनुचित भाषण करना **8. चाण्डिक्य** - उग्ररुप धारण करना **9. भण्डन** - हाथापाई करने पर उतारु हो जाना **10. विवाद** - आक्षेपात्मक भाषण करना।[15]

अभिधान चिन्तामणि कोश में क्रोध के निम्नाङ्कित पर्याय दर्शाये गये है[16]-

1. क्रोध 2 मन्यु 3. क्रुध् 4. रुष् 5. क्रुत् 6. कोप 7. प्रतिघः 8. रोष 9. रुद् ।

मान - मनुष्य का अहं भी कई दिशाओं में होता है। ऊंचे कुल और ऊंची जाति में जन्म लेना भी मान का कारण बनता है। यदि वह शक्ति-सम्न है, सुख सम्पदा से समृद्ध है, तीव्र बुद्धि है, रुपवान है, शास्त्रों का गहरा ज्ञान है, प्रभुत्व की अपार शक्ति है तो वह स्वयं को सबसे ज्यादा श्रेष्ठ मानता है और अहं मनोवृत्ति उसे अहंवादी, मानी, घमण्डी बना देती है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने कहा है कि, "मानोन्मान, यथार्थज्ञान, प्रमाण, माप, दृष्टि-निवेश, युक्त-अयुक्त ग्रहण, गुणानुराग, आदर-सम्मान, मनन, अवगमन, सुव्रतीया गुर्वादि की अतिशय भक्ति, स्तम्भ, स्तब्धता, बलादि सामर्थ्य, अभिमान, मैं कुछ हूं ऐसी बुद्धि-आदि अर्थों में 'माण' (मान) शब्द का प्रयोग होता है।[17]

अभिधान चिन्तामणि में गर्व, अहंकार, अवलिप्तता, दर्प, अभिमान, ममता, मान, चित्तोन्नति, स्मय को मान के पर्याय बताये हैं।[18]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार जाति आदि आठ मदों से दूसरे के प्रति नमन करने की वृत्ति न होना 'मान' हैं।

रोष से या विद्या, तप और जाति आदि के मद से दूसरे के प्रति तिरस्कार रुप भाव को 'मान' कहते हैं, विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति कुल, तप और विद्या के निमित्त से उत्पन्न उद्धततारुप जीव का परिणाम मान हैं, ऐश्वर्यादि के विस्तार से होनेवाला आत्म-अहंकार 'मान' हैं।[19]

भगवती सूत्र में मान के बारह नाम बतलाए हैं। प्रत्येक में मान के विविध स्तरों की व्याख्या हैं[20]-

1. मान - अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति **2. मद** - अहंभाव में लयता **3. दर्प** - उत्तेजना पूर्ण अहंभाव **4. स्तम्भ** - अविनम्रता **5. गर्व** - अहंकार **6. अत्युत्कोश** - अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहना **7. परपरिवाद** - परनिन्दा **8. उत्कर्ष** - अपना एश्वर्य प्रकट करना **9. अपकर्ष** - दूसरों को तुच्छ समजना **10. उन्नतनाम** - गुणी के सामने भी न झुकना **11. उन्नत** - दूसरों को तुच्छ समझना **12. दुर्नाम** - यथोचित रुप से न झुकना।

मद - अभिधान राजेन्द्र कोश में मान, मानसिक उन्माद, हर्ष, मद के उदय से आत्मोत्कर्षरुप परिणाम, अहंकार, अवलेप, गर्व, मरण्फर (गर्व), दर्प - को मद कहा है।[21] रत्न करंडक श्रावकाचार के अनुसार ज्ञान आदि आठ प्रकार से अपना बडप्पन मानना - 'मद' कहलाता हैं।[22]

अभिधान राजेन्द्र कोश एवं जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशादि ग्रंथो में आठों प्रकार के मद का निम्नानुसार वर्णन किया गया हैं[23]-

1. **ज्ञान मद** - मैं ज्ञानवान् हुं , सकल शास्त्र का ज्ञाता हुं।
2. **पूजा मद** - मैं सर्वमान्य हुं। राजा-महाराजा आदि मेरी सेवा करते हैं। मेरा वचन सर्वग्राही हैं। मेरी आज्ञा सर्वत्र मान्य की जाती है। - इत्यादि पूजा, प्रतिष्ठा या आज्ञा मद कहलाता है।
3. **कुल मद** - मेरा पितृपक्ष अतीव उज्जवल है। उसमें उसमें ऋषिहत्या, ब्रह्महत्यादि दूषण आज तक नहीं लगे हैं इत्यादि।
4. **जाति मद** - मेरी माता का पक्ष (खानदान) बहुत ऊँचा हैं। वह संघपति की पुत्री है। शील में सीता, चन्दना समान है, इत्यादि।
5. **बल मद** - मैं सहस्रभट, लक्षभट, कोटिभट या सहस्रयोध्यादि हूं-इत्यादि।
6. **ऋद्धि/ऐश्वर्य मद** - मैंने क्रोडों/अरबों की सम्पत्ति छोडकर दीक्षा ली है; मेरे पास इतना धन था या मैं ऐसा लब्धिवंत हूं कि मैं ही गच्छ में सभी को उत्तम उपकरणादि लाकर देता हूँ।
7. **तप मद** - मैंने सिंहनिष्क्रिडित, विमानपंक्ति, सर्वतोभद्र आदि तप किये हैं; मेरा पूरा जन्म तप करते-करते बीता है और ये सब मुनि तो भोजन में रत रहते हैं, इत्यादि।

13. कषाय पाहुड-जयधवला टीका पृ.333
14. अ.रा.पृ. 3/683
15. भगवती सूत्र-12/1203
16. अभिधान चिन्तामणि-299
17. अ.रा.पृ. 6/....
18. अभिधान चिन्तामणि-316-17
19. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-पृ. 2/294-95
20. भगवती सूत्र-12/104
21. अ.रा.पृ. 6/1, 6/103
22. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/259, र.क.श्रा. 25
23. अ.रा.पृ. 6/106-7, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/259

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8. **रुप मद** - मेरे रुप के सामने कामदेव भी फीका है या मैं विश्वसुंदरी हूं-इत्यादि।

माया :- माया में मनुष्य का मन बहुत जटिल होते हैं। विविध भावों के साथ माया अपना रुप दिखाती हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्राकृत 'माया' शब्द 1 माता-जननी, 2. मात्रा-परिमित आहार ग्रहण और 3. माया कषाय - इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हैं।

माया कषाय के विषय में अभिधान राजेन्द्र कोश में माया, हिंसा, वंचना, शठता, मन-वचन-काया की शाठ्यता युक्त प्रवर्तन, स्व-पर व्यामोह उत्पादक वचन, सर्वत्र स्व-वीर्य निगूहन (छीपाना), परवञ्चन बुद्ध, परवञ्चन अभिप्राय, निकृति, अपाच्छादन, परवञ्चन के भावपूर्वक शरीर-आकार-नेपथ्य-मन-वचन-काया से पट करना-इत्यादि अर्थ-प्रयोग दर्शाये गये हैं।[24]

दूसरों को ठगने के लिये कुटिलता या छल आदि करना, अपने हृदय के विचार को छिपाने की चेष्टा, राग से या द्वेष से दुर्ध्यान (बुरे परिणाम) युक्त चित्त को शुद्धि न करते हुए बाहर से बगुले जैसा रहना-माया, माया शल्य कहलाता है।[25]

माया के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार माया चार प्रकार की है-

1. **नाम माया** - किसी व्यक्ति का नाम 'माया' रखना
2. **स्थापना माया** - किसी आकृति, चित्र में शठतायुक्त मायावी चित्र स्थापित करना।
3. **द्रव्य माया** - यह दो प्रकार की हैं-
   (1) **कर्म द्रव्य माया** - माया कषाय योग्य कार्मण वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करना।
   (2) **नोकर्म माया** - दूसरों से छिपाकर रखा हुआ निधान प्रयुक्त द्रव्य
4. **भाव माया** - माया कषाय चारित्र मोहनीय कर्म योग्य विपाकलक्षणा माया अर्थात् तत्स्वरुप आत्म-परिणाम।[26]

भगवती सूत्र में माया के पन्द्रह नाम उल्लिखित हैं।

1. माया - कपटाचार **2. उपधि** - ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना **3. निकृति** - ठगने के अभिप्राय से अधिक सम्मान देना **4. वयण** - वक्रता पूर्ण वचन **5. गहन** - ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ भाषण करना **6. नूम** - ठगने के हेतु निकृष्ट कार्य करना **7. कल्क** - दूसरों को हिंसा के लिए उभारना **8. कुरुम** - निन्दित व्यवहार करना **9. जिह्नता** - ठगाई के लिए कार्य मन्द गति से करना **10. किल्विषिक** - बांडो के समान कुचेष्टा करना **11. आदरणता** - अनिच्छित कार्य भी अपनाना **12. गूहनता** - अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना **13. वंचकता** - ठगी **14. प्रतिकुंचनता** - किसी के सरल रुप से कहे गये वचनों का खण्डन करना **15. सातियोग** - उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना। यह सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएं हैं।[27]

भगवती आराधना मे माया के पाँच प्रकार दर्शाये गये हैं[28]-

1. **निकृति** - धन या अन्य स्वाभिप्रेत कार्य हेतु अन्य को फँसानेरुप चातुर्य दिखाना।
2. **उपधि** - धर्म के निमित्त से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्त होना।
3. **सातिप्रयोग** - धन के विषय में जूठ बोलना; किसी की थापण (धरोहर) का कुछ भाग हरण करना; दूषण लगाना; प्रशंसा करना।
4. **प्रणिधि** - हीनाधिक मूल्यवाली सदृश वस्तुएँ आपस में मिलाना, तोल-माप हीनाधिक रखना, सच्चे और जूठे (असली-नकली) पदार्थ आपस में मिलाना।
5. **प्रतिकुंचन** - आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना।

लोभ:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में लालच के कारण किसी पदार्थ की तृष्णा होना, लोभ कहा है।[29] भगवती सूत्र के अनुसार मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होनेवाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है।[30] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार धन आदि की तीव्र आकांक्षा या गृद्धि बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है'-ऐसी अनुरागरुप बुद्धि समर्थ व्यक्ति के द्वारा योग्यस्थान पर धनव्यय का अभाव-लोभ कहलाता है।

अभिधान चिन्तामणि में लोभ के निम्नाङ्कित 16 पर्याय बताये हैं - 1. लोभ 2. तृष्णा 3. लिप्सा 4. वश 5. स्पृहा 6. कांक्षा, 7. आशंसा 8. गर्द्ध 9. वाञ्छा 10. आशा 11. इच्छा 12. इहा 13. तृह् (तृह) 14. मनोरथ 15. कामेच्छा/काम और 16. अभिलाषा।[31]

भगवती सूत्र में निम्नानुसार लोभ की 16 अवस्थाएँ दर्शाई है।

1. **लोभ** - संग्रह करने की वृत्ति 2. **इच्छा** - अभिलाषा 3. **मूर्च्छा** - तीव्र संग्रह वृत्ति 4. **आकांक्षा** - प्राप्त करने की आशा 5. **गृद्धि** - आसक्ति 6. **तृष्णा** - प्राप्त पदार्थ के विनाश न होने की इच्छा 7. **मिथ्या** - मिथ्या विषयों का ध्यान 8. **अबिध्या** - निश्चय से डिग जाना या चंचलता 9. **आशंसना** - इष्ट की प्राप्ति की इच्छा करना 10. **प्रार्थना**- अर्थ आदि की याचना 11. **लालपनता** - चाटुकारिता 12. **कामाशा** - काम की इच्छा 13. **भोगाशा** - भोग्य पदार्थों की इच्छा 14. **जीविताशा** - जीवन की कामना 15. **मरणाशा** - मरने की कामना 16. **नन्दिराग** - प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।[32]

लोभ की मन:स्थिति में मनुष्य के भीतर भाव पर्यायें बदलती रहती हैं। भगवती सूत्र में लोभ के पन्द्रह नामों को बतलाकर उनकी विविध परिणतियों पर प्रकाश डाला गया हैं।

लोभ के भेद - तत्त्वार्थ राजवार्तिक के अनुसार लोभ चार प्रकार का है - जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रिय लोभ, उपभोग लोभ। -ये चारों के भी प्रत्येक स्व पर भेद से दो दो प्रकार होते हैं।[33]

कषाय का स्वरुप - कषाय के स्वरुप की स्पष्टता को समझाते हुए जैनाचार्यों ने प्रतीकों के माध्यम से बताया कि

24. अ.रा.पृ. 6/251
25. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/296
26. अ.रा.पृ. 6/251
27. भगवती सूत्र-12/105
28. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/296
29. अ.रा.पृ. 6/752
30. भगवती सूत्र 12/106
31. अभिधान चिन्तामणि
32. भगवती सूत्र 12/106
33. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/492

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार प्रकार के क्रोध क्रमशः पत्थर, भूमि, बालू और धूलि की रेखा जैसा होता हैं।[34]

पत्थर में पडी दरार के समान अनन्तानुबन्धी क्रोध किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवन-पर्यन्त बना रहता है। सूखते हुए जलाशय की भूमि में पडी दरार वर्षा के योग से ही मिटती है। इसी तरह अप्रत्याख्यानी क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थायी नहीं रहता। बालू की रेखा हवा के झोंके के साथ मिट जाती है। प्रत्याख्यानी क्रोध चार मास से अधिक स्थायी नहीं रहता। पानी में खींची गई रेखा के समान संज्वलन क्रोध पन्द्रह दिन तक स्थायी रह सकता है।

चार प्रकार का अभिमान क्रमशः शैलस्तम्भ, अस्थि, काष्ठ और लता स्तम्भ जैसा बताया गया है।[35] पत्थर का स्तम्भ टूट जाता है पर झुकता नहीं। अनन्तानुबन्धी मानवाला व्यक्ति किसी परिस्थिति में समझौता नहीं करता, झुकता नहीं। प्रयत्नपूर्वक कठिनता से झुकने वाले अस्थि स्तम्भ की तरह अप्रत्याख्यानी मानवाला व्यक्ति विशेष परिस्थिति में बाह्य दबाव के कारण झुक जाता है। थोडे से प्रयत्न से झुक जानेवाले काष्ठ स्तम्भ की तरह प्रत्याख्यानी मानवाले व्यक्ति में भीतर छिपी विनम्रता परिस्थिति विशेष को निमित्त पाकर प्रकट हो जाती है। अत्यन्त सरलता से झुक जानेवाले बेंत-स्तम्भ की तरह संज्वलन मानवाला व्यक्ति आत्म गौरव को रखते हुए विनम्र बना रहता है।

चार प्रकार की माया क्रमशः बांस की जड, मेढे का सींग, चलते हुए बैल की धार और छिलते हुए बांस की छाल की तरह होती हैं।[36] बांस की जड इतनी वक्र होती है कि उसका सीधा होना सम्भव ही नहीं। ऐसी माया व्यक्ति को धूर्तता के शिखर पर पहुँचा देती है। मेढे के सिंग में बांस के कुछ कम टेढापन होता है। चलते हुए बैल की मूत्र धार टेढी-मेढी होने पर भी उलझी हुई नहीं होती। संज्वलन माया की ऐसी ही वक्रता होती है।

चार प्रकार का लोभ क्रमशः कृमिरेशम, कीचड, गाडी के खंजन और हल्दी के रंग के समान होता है।[37] कृमिरंग इतना पक्का होता है कि प्रयत्न करने पर भी रंग उतरता नहीं। अनन्तानुबन्ध लोभ व्यक्ति पर पूर्णतः हावी रहता है। वस्त्रों पर लगे कीचड के धब्बे सहजतः साफ नहीं होते। वैसे ही अप्रत्याख्यानी लोभ के धब्बे आत्मा को कलुषित करते रहते हैं। गाडी का खंजन वस्त्र को विद्रूप बनाता है फिर भी तेल आदि से उतर जाता है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानी लोभ साधना, तपस्या आदि से काफी हल्का बन जाता है। हल्दी से रंगा वस्त्र धूप दिखाते ही साफ हो जाता है, वैसे ही संज्वलन लोभ समय और परिणाम दोनों दृष्टियों से बहुत कम प्रभावित कर पाता है।

अनादिकाल से जुडा जीव के साथ कषाय का संबंध संसार परिभ्रमण का कारण बनता है। इसके कारण व्यावहारिक जीवन ही असफल नहीं बनता, आत्मगुणों का विनाश भी होता है। जैन तत्त्व दर्शन में कषाय से होनेवाले चार प्रकार के अभिघातों का उल्लेख मिलता है-

1. अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व का अभिघात करता है।
2. अप्रत्याख्यानी कषाय देशव्रत (श्रावकत्व) का अभिघात करता है।
3. प्रत्याख्यानी कषाय सर्वव्रत-साधुत्व का अभिघात करता है।
4. संज्वलन कषाय वीतरागता का अभिघात करता है।

कषायों की मन्दता और तीव्रता के सन्दर्भ में गतिबन्ध की चर्चा उल्लेखनीय है। अभिधान राजेन्द्र कोशादि में अनन्तानुबन्धी कषाय का फल नरकगति, अप्रत्याख्यान कषाय का फल तिर्यञ्चगति, प्रत्याख्यान कषाय का फल मनुष्य-गति और संज्वलन कषाय का फल देवगति बतलाया है।[38]

क्रोधादि चारों कषायो के चारों भेदों की अवस्था, दृष्टता, काल और फल निम्नानुसार है[39]-

कषाय

कषाय की अवस्था	शक्तियों के दृष्टांत				स्थिति काल	फल
	क्रोध	मान	माया	लोभ		
अनन्तानुबंधी	शिलारेखा	पर्वत	वेणुमूल	किरमजी (मजीठ) के रंग या दाग के समान	यावज्जीव	नरक गति
अप्रत्याख्यानीय	पृथ्वीरेखा	अस्थि	मेषशृंग	चक्रमल के रंग या दाग के समान	एक वर्ष	तिर्यंच गति
प्रत्याख्यानीय	धूलिरेखा	काष्ठ	गोमूत्र	कीचड के वर्ण या दाग के समान	चार मास	मनुष्य गति
संज्वलन	जलरेखा	वेत्र(वेंत) बांस	धनुष्यादि की डोरी	हल्दी के वर्ण या दाग के समान	15 दिन	देव गति

34. अ.रा.पृ. 3/395-98; 3/683
35. अ.रा.पृ. 3/683; 6/239
36. अ.रा.पृ. 3/395-98
37. अ.रा.पृ. 6/752
38. अ.रा.पृ. 3/395-98; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/38
39. अ.रा.पृ. 3/395-398; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/38

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय का फल:-

कषाय संसार का मूल है। जो तपस्वी होने पर भी तप आदि के दर्पपूर्वक कषाय करता है वह बाल तपस्वी है, वह तप करने का निरर्थक परिश्रम/काया क्लेश मात्र कर रहा है अर्थात् उसका तप कर्मनिर्जरा/कर्मक्षय कारक नहीं है। ये चारों क्रोधादि कषाय पापवर्धक हैं। क्रोध प्रीति का, मान विनय का, माया मित्र नाशक और लोभ सर्वविनाशक है। अनिग्रहीत प्रवर्धमान क्रोधादि कषाय पुनर्भव (पुन:पुन: जन्म-मरण रुप संसार) के मूल का सिंचन करते हैं। भगवान महावीर ने कहा है - हे गौतम ! जहां मुनि निमित्त मिलने पर भी या दूसरों के द्वारा कषायोदय करने पर भी कषायों की उदीरणा करने के इच्छुक नहीं है, वह गच्छ (वास्तव में गच्छ) होता है। उस गच्छ में धर्मान्तराय और संसारवास/गर्भावास से भयभीत मुनि कषायोदीरणा नहीं करते। अल्प भी कषाय उदय में आने पर उपशम गुणस्थानवर्ती जिन सदृश चारित्रधारी का भी पतन कराता है। अत: आत्मार्थी आत्माओं के द्वारा अल्पतम भी कषाय विश्वास करने योग्य नहीं है, क्योंकि ऋण, घाव, अग्नि और कषाय - ये चारों थोडे होने पर भी (यदि उसका अंत नहीं किया तो) बहुत हो जाते हैं।[40] क्रोध, अप्रीतिकर, उद्वेगकर, सुगति, विनाशक, वैरानुबंधक, गुणगण रुपी वन को जलाने में अग्नि सदृश है। क्रोधांध व्यक्ति पुत्र, मित्र, गुरु, स्त्री, माता आदि की हिंसा करता है। क्रोधाग्नि प्रज्वलित होने पर यदि कोई बुझानेवाला न मिले तो अन्य को भी जलाता है। यह परभव (में सुगति) विनाश हेतु उत्पन्न होता है।[41]

क्रोध संताप को बढाता है, विवेक को संहार करता है, मित्रता को नष्ट करता है, उद्वेग (चिन्ता) स्वजनों में भी क्लेश कराता है, कीर्ति का उच्छेदन करता है, दुर्बुद्धि को फैलाता है, पुण्योदय का नाश करता है, दुर्गति में ले जाता है। क्रोध धर्म को नष्ट करता है, नीतिरुपी लता का उन्मूलन करता है, स्वार्थ, दया को लोप/अदृश्य करता है और आपत्ति को बढाता है। क्रोध मद्य (शराब) की तरह विकारभाव उत्पन्न करता है, सर्प की तरह त्रास देता है, अग्नि की तरह स्व-पर के शरीर को जलाता है, विषवृक्ष की तरह ज्ञान का नाश करता है, ऐसे क्रोध का हितेच्छु कल्याण की पंक्तिरुप पुण्यश्रेणि का उत्पादक और शमरुपी जल से सिंचित मोक्षदायी तप-चारित्ररुपी वृक्ष/धर्मवृक्ष क्रोधाग्नि से नष्ट होता है।[42]

अत: क्रोधरुपी महाग्नि को क्षमारुपी जल से सदा विशेष रुप से शांत करना चाहिए।[43] उपशम से क्रोध को नष्ट करना चाहिए।[44]

मान - जब तक जीव मान कषाय से घिरा रहता है तब तक विनय नहीं आता, ज्ञान प्राप्त नहीं होता। मान कषाय के कारण जीव अच्छंकारिभट्टा की तरह चोरी, लूँट, खसोट, मार आदि अनेक दु:खो को प्राप्त होता है, सभी को अप्रिय बनता है, बिना कारण क्लेश खडा करके अपने जीवन को सर्वनाश प्राय: बनाता है।[45] मान के कारण बाहुबलिजी को केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, रावण को सोने की लंका से हाथ धोने पडे, दुर्योधन का सर्वनाश हुआ।

मान - अहंकार के कारण गुरुजनों का विनय नहीं करने से मुनि सूत्रार्थ प्राप्ति हेतु अयोग्य होता है; और अन्त में वह शिष्यत्व और गुरुपद प्राप्ति हेतु भी अपात्र ठहरता है।[46]

मान से आपत्तियों की नदियाँ प्रकट होती है, सद्गुणों का सर्वनाश होता है, क्रोध बढता है, शांति, निर्मलबुद्धि, विवेक ज्ञान, न्याय मार्ग नष्ट होता है; सभी अनर्थ उत्पन्न होते हैं; सदाचरण, विनय, कीर्ति और धर्म-अर्थ-कामरुपी त्रिवर्ग का नाश होता है।[47]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आठों मद करने पर उसका परिणाम दर्शाते हुए कहा है कि, "अधम जात्यादि प्राप्त होने पर जीव को क्रोध नहीं करना।

इस चतुर्गतिरुप अनादि संसार में अरघट्ट-घट्टी न्याय से चिरकाल तक भ्रमण करता है। जो जिस उत्तमस्थानादि को प्राप्त करके उसका अभिमान करता है वह अन्य भव में उससे अधम स्थानादि में गिरता/जन्म लेता है। अत: मद स्थान को ज्ञातकर विवेकी पण्डित जनों को चाहिए कि वे हेयोपादेय तत्त्वज्ञ बनकर उच्चावच्च स्थानादि के प्राप्त होने पर हर्ष-शोक नहिं करे।[48]

दम्भ (माया-कपट) मुक्तिरुपी लता को दहन करने में अग्नि समान है, क्रियारुपी चंद्र को मलिन करने में राहु समान है, दुर्भाग्य का कारण है, अध्यात्मसुख के (प्रवेशनिषेध हेतु) अर्गला के समान है, अविश्वास का स्थान है, ज्ञानरुप पर्वत को नष्ट करने में वज्र समान है, कामरुपी अग्नि को बढाने में घी (हवि) के समान है, दु:खों का मित्र है, व्रत/महाव्रत रुपी लक्ष्मी का चोर है।[49]

माया क्षेम-कुशलता को प्रगट करने में वंध्या स्त्री के समान, सत्य वचनरुप सूर्य को अस्त होने में संध्या समान, कुगतिरुपी स्त्री की वरमाला समान, मोहरुपी हस्ति के लिए शाला समान, उपशमरुपी कमल को (नष्ट करने में) हिम (हिमपात) समान, अपयश की राजधानी और सेंकडो दु:खो को बढानेवाली है।[50]

माया - माया कषाय के कारण जीव को स्त्रीत्व, तिर्यंचगति प्राप्त होता है। धर्म के विषय में उग्र तपस्वी, उत्कृष्ट संयमी के द्वारा की गयी थोडी भी माया अनर्थकारी होती है।[51]

जो मनुष्य दम्भ/माया कपट से दीक्षा ग्रहण करके मोक्ष की इच्छा करता है वह लोहे के जहाज से समुद्र पार करने जैसा है। दम्भयुक्त दीक्षा, व्रतादिपालन, उग्र तपादि सभी धर्माचरण निष्फल है।[52]

जो विविध प्रकार के प्रपंच से अन्य को ठगते है वे स्वयं की आत्मा को ठगते है। जैसे दूध पीनेवाली बिल्ली लाठी के प्रहार को नहीं देखती वैसे मायावी व्यक्ति माया के फल स्वरुप भावि कष्टों के समूह को नहीं देखता। माया-कपटपूर्वक अन्य को ठगनेरुप चातुर्य भविष्य में उपद्रव किये बिना नहीं रहता अत: सज्जनों को माया से बचकर दूर ही रहना चाहिए।[53]

लोभ अज्ञानरुपी विषवृक्ष का मूल सुकृतरुपी समुद्र का शोषण करने में अगस्त्य ऋषि समान, क्रोधरुपी अग्निको प्रगट करने में अरणि

40. अ.रा.पृ. 3/399-400
41. अ.रा.पृ. 3/684
42. सिंदूरप्रकर-45 से 48
43. अ.रा.पृ. 3/64
44. दशवैकालिक मूल-8/39
45. अ.रा.पृ. 1/181
46. अ.रा.पृ. 7/904-5
47. सिन्दूर प्रकर-49, 50, 51
48. अ.रा.पृ. 6/107
49. अध्यात्मसार-1/54,55,56
50. सिंदूर प्रकर-53
51. अ.रा.पृ. 6/251-52
52. अध्यात्मसार-57
53. सिंदूर प्रकर-54, 55, 56

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काष्ठ समान, प्रताप (यश) रुपी सूर्य को आच्छादन करने में मेघ समान, क्लेश का क्रीडागृह, विवेकरुपी चंद्रमा को ग्रसित करने में राहु समान, आपत्तिरुपी नदियों का समुद्र और कीर्तिरुपी लता-समूह को नष्ट करने में हस्ति समान है।[54]

समस्त धर्मरुपी वन को जलाने से विस्तृत दुःखसमूहरुपी भस्मयुक्त, अपयशरुपी धूएँ से व्याप्त और धनरुप इन्धन से प्रज्वलित लोभरुपी अग्नि में समस्त सद्गुण नष्ट होते/जल जाते हैं।[55]

लोभांध मनुष्य विषम अरण्य में भ्रमण करते हैं, विदेश जाते है, गहन समुद्र का उल्लंघन करते है, अनेक दुःखयुक्त कृषिकार्य करते है, कृपण धनी की सेवा करते है, युद्धादि करते है।[56]

लोभ - लोभ कषाय से जीव अति आरंभ समारंभादि करके तीव्र पाप बंध करता है जिससे दारुण विपाक भोगने पडते हैं। राजादि द्वारा पकडे जाने पर प्राणदंडादि सजा भी भुगतनी पडती है।[57]

क्रोध प्रीति का विनाशक है, मान विनय नाशक है, माया मित्रता को नष्ट करती है और लोभ सर्वविनाशक है। अतः आत्महितैषी भव्यात्मा को पापवर्धक इन चारों दोषों/कषायों का वमन/त्याग करना चाहिए और उपशम से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और संतोषपूर्वक लोभ के ऊपर विजय प्राप्त करना चाहिए।[58]

कषाय-वर्णन के पश्चात् - जीव की कषाययुक्त आत्म-परिणति 'लेश्या' होने से अब लेश्या का परिचय दिया जा रहा है।

54. सिंदूर प्रकर-58
55. वही-59
56. वही-57
57. अ.रा.पृ. 6/753
58. दशवैकालिक मूल-8/37-38-39

आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य

आध्यात्मिक जीवन का उद्देश्य है अलेश्य बनना। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्धोपयोग तक पहुँचना जीवन का नैतिक साध्य है। यद्यपि लेश्या स्वयं मुक्तिपथ का बाधक तत्त्व है क्योंकि यह औदयिक भावयुक्त है तथापि जब यह अशुभ से शुभ तक पहुँचती है तो आत्म परिणामों की विशुद्धि से संवर और निर्जरा जैसे मोक्षसाधक तत्त्वों से जुड जाती है और तेरहवें गुणस्थानक तक अस्तित्त्व में रहती है।

लेशी से अलेशी बनना हमारा आत्मिक उद्देश्य है। इसके लिए कर्म से अकर्म की ओर बढना अत्यावश्यक है। कर्म से तात्पर्य केवल क्रिया या अक्रिया नहीं है। भगवान महावीर के शब्दों में प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है। सूत्रकृताङ्ग के अनुसार अप्रमत्तावस्था में क्रिया भी अक्रिया बन जाती है और प्रमत्तावस्था में अक्रिया भी कर्मबन्धन का कारण हो जाती है। परम शुक्ल लेश्या में प्रवेश करने का मतलब है- अकर्म बनने की पूर्ण तैयारी, पूर्ण-जागरुकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या

लेश्या सिद्धान्त की प्राचीनता:-

ऐतिहासिक दृष्टि से 'लेश्या' शब्द का प्रयोग अति प्राचीन है। आचारांग (ई.सा. पूर्व 5वीं शती)में 'अबहिल्लेस्से' शब्द की उपस्थिति यह सूचित करती है कि, लेश्या की अवधारणा महावीर के समकालीन है। पुन: उत्तराध्ययन सूत्र जो की सभी आगमों में अतिप्राचीन माना जाता है, में लेश्याओं के संबंध में एक पूरा अध्ययन उपलब्ध होना यही सूचित करता है कि लेश्या की अवधारणा एक प्राचीन अवधारणा है। इसके अलावा सूत्रकृताङ्ग सूत्र में 'सुविशुद्धलेसे' तथा औपपातिक सूत्र में 'अपडिलेस्स' शब्दों का उल्लेख मिलता है।[1]

जैन साहित्य में लेश्या सिद्धान्त का विवेचन अनेक दृष्टियों से किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयु - इन ग्यारह द्वारों (विचार बिन्दुओं) के द्वारा लेश्या संबंधी विचार किया गया है।[2] भगवती सूत्र एवं प्रज्ञापना सूत्र में परिणाम (द्रव्य), वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त, संक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम (भाव), प्रदेश, वर्गणा, अवगाहना, स्थान एवं अल्प-बहुत्व - इन पंद्रह द्वारों से लेश्या का विचार किया गया है।[3]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने जैनागमों के आधार पर निम्नाङ्कित 26 द्वारों के आधार पर लेश्या की विवेचना की है - (1) निक्षेप (2) संख्या (3) नारको में लेश्या (4) असुरकुमारादि देवों में लेश्या (5) कृष्णादि लेश्यावान जीवों की ऋद्धि का अल्प-बहुत्व (6) लेश्यावन्त का अवधिज्ञान विषयक क्षेत्र (7) लेश्या का स्थान (8) लेश्या-प्राप्ति हेतु परिणाम (9) वर्ण (10) विशेष वर्ण (11)स्थिति का अल्प बहुत्व (12) वर्ण स्थान (13) रस (14) गन्ध (15) शुद्धि (16) स्पर्श (17) गति (18) परिणाम संख्या (19) त्रिस्थानकावतार (20) प्रदेश (21) स्थान (22) स्थितिकाल (23) लेश्या-स्थान का अल्प-बहुत्व (24) आयु: (25) परस्पर परिणामनिरुपण (26) मनुष्यादिगत लेश्या-संख्यानिरुपण।[4]

इसके पश्चात् दिगम्बर परंपरा में भी अकलंकने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लेश्या की विवेचना में निम्न सोलह अनुयोग की चर्चा की है - (1) निर्देश (2) वर्ण (3) परिणाम (4) संक्रम (5) कर्म (6) लक्षण (7) गति (8) स्वामित्व (9) संख्या (10) साधना (11) क्षेत्र (12) स्पर्शन (13) काल (14) अन्तर (15) भाव और (16) अल्प बहुत्व।[5] अकलंक के पश्चात् गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी लेश्या की विवेचना में उपर्युक्त 16 ही अधिकारों का उल्लेख किया गया है।[6]

आधुनिक युग में जैन दर्शन के लेश्या सिद्धान्त को आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में आचार्य महाप्रज्ञने व्याख्यायित किया है। उन्होंने आधुनिक व्यक्ति मनोविज्ञान के साथ-साथ आभा मण्डल, रंग-मनो-विज्ञान, रंग-चिकित्सा आदि अवधारणाओं का अपने ग्रंथ 'आभामण्डल' में विस्तार से वर्णन किया है। डो. शान्ता जैनने 'लेश्या को मनोवैज्ञानिक अध्ययन' नामक अपने शोध ग्रन्थ में लेश्या का सैद्धान्तिक पक्ष, मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या रंगो की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, लेश्या और आभामण्डल, व्यक्तित्व और लेश्या, संभव है व्यक्तित्व बदलाव और लेश्या ध्यान, रंग ध्यान और लेश्या - आदि लेश्या के विभिन्न आयामों पर गंभीरता से विचार किया है।[7]

लेश्या की परिभाषा:-

'लेश्या' का सिद्धान्त जैन दर्शन का स्वतन्त्र प्रतितन्त्र प्रतिपादित सिद्धान्त है। जैन दर्शनने लेश्या का जीव के साथ अनादि संबंध माना है। जीव जब तक कर्ममुक्त नहीं होता, आत्मा में लेश्या का परिणमन होता रहता है। लेश्या को कर्मबन्ध का सहायक तत्त्व कहा है। संपूर्ण सृष्टि का चक्र जन्म-मरण, सुख-दु:ख, वैयक्तिक-भिन्नतायें सभी कर्मतत्त्व से जुडी है परन्तु कर्म भी आत्मा के साथे बिना लेश्या के नहीं जुडता। जीव और पुद्गल के संयोग में लेश्या सेतुबन्ध का काम करती है।

यदि मुझे अपने शब्दो में कहना हो तो **'कषायसापेक्ष आत्म परिणति को लेश्या कहते है,** इसमें क्रमश: विशुद्धतर लेश्या होती है।'' अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'लेश्या' का वर्णन करते हुए कहा है- **जो आत्मा को कर्मो से लिप्त करती है या जिसके द्वारा आत्मा कर्मो से लिप्त होती है अर्थात् बन्धन में आती है, वह लेश्या है।**[8] लेश्या कृष्णादि द्रव्य साचिव्यजनित आत्म-परिणाम है, जीव को अध्यवसाय है, अन्त:करण की वृत्ति है।[9] भगवती सूत्र में कहा है कि, ''कृष्णादि द्रव्य वर्गणाओं की सन्निधि से होनेवाला जीव का परिणाम लेश्या है।[10] आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों को श्लिष्ट करनेवाली प्रवृत्ति लेश्या है। ये योग के परिणाम विशेष है।[11] स्थानांग में कहा है कि, लेश्या कर्मनिर्जरारुप है।[12] उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति में लेश्या का अर्थ आण्विक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया किया गया है।[13] यापनीयाचार्य शिवार्यने भगवती आराधना में छाया पुद्गल से प्रभावित जीव के मनोभावों/परिणामों को लेश्या माना है।[14] इसी आधार पर आचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्रीने लेश्या को एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण माना है जो मनोवृत्तियों को निर्धारित करता है।[15] षट्खण्डागम में कहा है कि, ''जो आत्मा और कर्मो का बंध करानेवाली है, वह लेश्या है।''[16] पंचसंग्रहकार जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त

1. जैन विद्या के आयाम-खण्ड-6 पृ. 390
2. उत्तराध्ययन सूत्र-34/2
3. अ.रा.पृ. 6/680, प्रज्ञापना सूत्र-17/411
4. अ.रा.पृ. 6/696
5. तत्त्वार्थ राजवार्तिक-पृ.238
6. गोम्मटसार जीवकाण्ड-गाथा-491-92
7. जैन विद्या के आयाम खण्ड-6 पृ. 390
8. अ.रा.पृ. 3/395, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-पृ.3/422
9. अ.रा.पृ. 6/675, प्रज्ञापना 17 पद, आचारांग-1/615;1/8/5
10. भगवती सूत्र-1/1 प्र. 53 की टीका
11. वही 1/2 प्र. 98 की टीका
12. स्थानांग-1/51 की टीका
13. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र 650
14. भगवती आराधना-भा.2 गाथा 109
15. श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ खण्ड 5 पृ. 4-61
16. लेश्या और मनोविज्ञान - प्राथमिकी पृ. 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, उसे लेश्या कहते है।[17] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में अकलंकने कहा है- "**कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्ति लेश्या।**" अर्थात् कषायों के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है। आत्म-परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा से इसे कृष्णादि नामों से पुकारा जाता है।[18]

लेश्या के प्रकार:-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने लेश्या चार प्रकार की दर्शाई है।[19]

1. नाम लेश्या - किसी पदार्थ या स्त्र्यादि का 'लेश्या' -एसा नाम होना।

2. स्थापना लेश्या - जंबुवृक्षादि के द्वारा लेश्याओं के भावों का दृष्टान्त, चित्रपट्ट आदि स्थापना लेश्या है।

3. द्रव्य लेश्या - आचार्यश्री एवं पं. सुखलालजी के अनुसार निम्नाङ्कित तीन मत है[20]-

(i) **लेश्या-द्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए है।** यह मत उत्तराध्ययन की टीका में है।

(ii) **लेश्या द्रव्य बध्यमान कर्मप्रवाहरूप हैं।** यह मत भी उत्तराध्ययन की टीका में वादिवेताल शांतिसूरि का है।

(iii) **लेश्या-योग परिणाम है** अर्थात् शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है। यह मत आचार्य हरिभद्रसूरि का है।

डॉ. सागरमल जैनने द्रव्य लेश्या को व्यक्ति का आभा मण्डल कहा है।[21]

अभिधान राजेन्द्र कोश[22] के अनुसार द्रव्य लेश्या दो प्रकार की है - कर्म लेश्या और नोकर्म लेश्या।

क. कर्म लेश्या - लेश्या संबंधी कर्म के पुद्गल द्रव्य 'कर्म लेश्या' कहलाते हैं।

ख. नोकर्म लेश्या - नोकर्म लेश्या दो प्रकार की होती है। (1) जीव सम्बन्धी और (2) अजीव सम्बन्धी।

(1) जीवनोकर्म लेश्या - जीव की नोकर्म लेश्या उपयोगलक्षणा होती है; वह भी दो प्रकार की है - भवसिद्धि अर्थात् भव्य जीव संबंधी और अभवसिद्धि अर्थात् अभव्य जीव संबंधी। भव्य जीव संबंधी कृष्णादि षड् लेश्या और जयसिंहसूरि के मत से सातवीं संयोगजा लेश्या है। (संयोगजा लेश्या शरीर की छायात्मिका मानी है।) अन्य आचार्य औदारिक, औदारिक-मिश्र इत्यादि सात काययोग की छायारुप सात प्रकार की जीव नोकर्म द्रव्य लेश्या मानते हैं।

(2) अजीव नोकर्म द्रव्य लेश्या - यह दस प्रकार की है-

1. चन्द्र संबंधी	2. सूर्य संबंधी
3. ग्रहसंबंधी (मंगल-बुधादिविमान संबंधी)	4. नक्षत्र संबंधी 5. तारा संबंधी
6. आभरण (अलंकार) संबंधी	
7. आच्छादन-सुवर्णचरितादि संबंधी	8. आदर्श-दर्पण संबंधी
9. मणि (मरकतमणि) आदि संबंधी	10. काकिणी (चक्रवर्ती का रत्न) संबंधी

ये अजीव संबंधी होने के कारण इसे अजीव नोकर्म द्रव्य लेश्या कहते हैं। इन दस प्रकारों के अतिरिक्त भी रजत, रुप्य, ताम्रादि भेद से लेश्या अनेक प्रकार की है। तथा शरीरादि पर तैलादि अभ्यंग के कारण या मन:शिल आदि के घर्षण से 'प्रयोगज नोकर्म द्रव्य लेश्या और इन्द्रधनुषादि में जीव के व्यापार के बिना प्रकट हुई द्रव्य लेश्या 'विस्रसा नोकर्म द्रव्य लेश्या' कहलाती है।[23]

4. भाव लेश्या - कषाय से अनुरंजित जीव की मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्तिजनित परिणाम/अध्यवसाय/परिणति/अन्त:करण की वृत्ति भावलेश्या कहलाती है। यह संयोगी जीव के होती है।

अयोगी आत्मा को योग-परिणाम का अभाव होने से लेश्या का अभाव होता है।[24]

भाव लेश्या के प्रकार :-

भाव लेश्या छ: प्रकार की है - 1. कृष्ण, 2. नील, 3. कापोत, 4. तेजस्, 5. पद्म और 6. शुक्ल।[25]

लेश्याओं के वर्ण[26] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश आदि ग्रन्थों में कृष्णादि लेश्याओं के वर्ण के संबंध में निम्न विवेचन प्राप्त होता है।

1. **कृष्ण लेश्या** - जलपूर्ण मेघ, महिष, द्रोण, खंजन, काक, काजल, अरिठा, नेत्र की कीकी जैसी श्याम।
2. **नील लेश्या** - नील अशोक, मयूरपिच्छ, नीलमणि (वैडूर्य), चासपक्षी के पाँख जैसा निला।
3. **कापोत लेश्या** - अलसी (धान्य विशेष) के फूल, कोफिल या तेलकंटक वनस्पति, पारावत (कबूतर) की ग्रीवा की तरह कपोती वर्ण।
4. **तेजो लेश्या** - हिंगुल, उदीयमान सूर्य, शुकतुण्ड (तोते की चोंच) के समान लाल।
5. **पद्म लेश्या** - टूटा हुआ हरताल, हल्दी, शण, असन के पुष्प और स्वर्ण जैसा पीला।
6. **शुक्ल लेश्या** - शंख, अंकमणि, कुन्द पुष्प, दूध, कपास/तुल, चांदी, मुक्ताफल के समान श्वेत।

आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में कृष्णादि लेश्याओं का वर्ण क्रमश: भौंरे, नीलम, कबूतर, स्वर्ण, कमल और शंख के समान बताया है।[27]

लेश्या की गन्ध:-

कृष्णादि छ: लेश्याओं में से प्रथम तीन अशुभ लेश्याओं की गन्ध क्रमश: गाय के, कुत्ते के और सर्प के मृत कलेवर जैसी दुर्गंधवाली होती है और शेष तेजोआदि तीन लेश्याओं की गन्ध सुगंधी पुष्प-सुगंधी चन्दनादि का चूर्ण - और गंधकषायादि सुगंधी वस्त्रों की गंध से भी अधिक सुगंधयुक्त होती है।[28]

17. पंचसंग्रह-1/142-43
19. तत्त्वार्थ राजवार्तिक-2/6
19. अ.रा.पृ. 6/676
20. अ.रा.पृ. 6/675, दर्शन और चिन्तन पृ. 2/297
21. जैन विद्या के आयाम-खण्ड-6 पृ. 384
22. अ.रा.पृ. 6/676
23. अ.रा.पृ. 6/676-77
24. अ.रा.पृ. 6/676-77, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/422
25. अ.रा.पृ. 6/676-77
26. अ.रा.पृ. 6/682 से 684, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/422; उत्तराध्ययन-34/4-9
27. गोम्मटसार, जीवकाण्ड-495
28. अ.रा.पृ. 6/686

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या के रस[29]:- कृष्णादि लेश्या के रस निम्नानुसार है।

1. **कृष्ण लेश्या** - नीम या कटुतुम्बी जैसा अति कटुक।
2. **नील लेश्या** - चित्रकमूल, सोंठ, मरिच, पीपल के चूर्ण जैसा तिक्त।
3. **कापोत लेश्या** - कच्चे बेर या आम के कच्चे फल जैसा कषैला।
4. **तेजो लेश्या** - पके आम या कपित्थ से अनन्तगुना मधुर आम्ल।
5. **पद्म लेश्या** - खर्जूर रस, द्राक्षासव, चोयासव (सुगंधी द्रव्य का रस) से भी अनन्तगुना आम्ल, मधुर।
6. **शुक्ल लेश्या** - खण्ड शर्करा/मिश्री से भी अत्यन्त मधुर।

लेश्याओं का स्पर्श :-

कृष्णादि तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श करौत (करवत), गाय की जीभ या शाक के पत्ते से भी अधिक कर्कश (कठोर) और तेजोआदि तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श शिरीष पुष्प या मक्खन से भी अतिशय सुकुमार (सुकोमल) होता है।[30]

लेश्याओं के परिणाम :-

मन के परिणाम अप्रशस्त, अशुभ, अशुद्ध और प्रशस्त, शुभ, शुद्ध - दोनों तरह के होते हैं। निमित्त और उपादान दोनों का पारस्परिक संबंध है। लेश्या के निमित्त को द्रव्य लेश्या और मन के परिणाम/अध्यवसाय को भाव लेश्या कहा गया है। भाव लेश्या आत्मा का परिणाम है। यह जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट; मन्द-अनेक भेदोंवाला है। इस अपेक्षा से भाव लेश्या के अनेक भेद होते है परन्तु संक्षेप में

1. कृष्ण लेश्या	-	अप्रशस्ततम, अशुभतम, अशुद्धतम
2. नील लेश्या	-	अप्रशस्ततर, अशुभतर, अशुद्धतर
3. कापोत लेश्या	-	अप्रशस्त, अशुभ, अशुद्ध
4. तेजो लेश्या	-	प्रशस्त, शुभ, शुद्ध
5. पद्म लेश्या	-	प्रशस्ततर, शुभतर, शुद्धतर
6. शुक्ल लेश्या	-	प्रशस्ततम, शुभतम, शुद्धतम

परिणाम/भावयुक्त होती है।[31]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने इसे निम्नाङ्कित दृष्टान्त द्वय से समजाया है।

लेश्याओं को समजने हेतु जंबुवृक्ष का दृष्टान्त:-

किसी जंगल में भूख से व्याकुल पुरुष घूम रहे थे। उन्होंने एक जगह पक्के और रसवाले जांबून का एक पेड देखकर अपनी क्षुधा मिटाने हेतु आपस में विचार-विमर्श किया। तब उनमें से **प्रथम पुरुष** बोला - इस पेड पर चढना मुश्किल है अत: तीक्ष्ण कुल्हाडे से इसे जड से काटकर नीचे गिराना चाहिए; तब **दूसरा पुरुष** बोला - इतने बडे पेड का बजाय इसकी एक बडी शाखा/डाली काट दीजिये, तब **तीसरा पुरुष** बोला - इतनी बडी शाखा के बजाय एक प्रशाखा (टहनी) काट दीजिये; तब **चोथा पुरुष** बोला - टहनी के बजाय जांबून के गुच्छे तोड दीजिये, तब **पाँचवा पुरुष** बोला - गुच्छे के बजाय खाने योग्य फलों को ही अपनी आवश्यकतानुसार तोड लेना चाहिये; तब **छट्ठवाँ पुरुष** बोला जितने फलों की हमें आवश्यकता है उतने पके फल तो हमें इस वृक्ष के नीचे ही गिरे हुए मिल जायेंगे। अत: उन्हीं से हमारी क्षुधा मिटाकर प्राणों का निर्वाह करना चाहिए।

ये छ: पुरुष क्रमश: कृष्ण नील, कपोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या युक्त जीवों के अध्यवसाय में परिणामों की संक्लिष्टता और कोमलता के प्रतीक है।

लेश्या को समजने हेतु ग्रामघातक का दृष्टान्त[33]:-

कुछ पराक्रमी चोर किसी गाँव को लूँटने हेतु जा रहे थे तब रास्ते में उन्होंने आपस में इस प्रकार विचार-विमर्श किया-

(1) **प्रथम चोर** - पुरुष-स्त्री-बालक-पशु आदि जो भी अपनी नजर में आ जाय उन सबको मारकर धन ले लेना। - यह अतिक्रूर अध्यवसाय/परिणाम कृष्णलेश्यारुप है।

(2) **द्वितीय चोर** - पशु निरपराधी है अत: सिर्फ मनुष्यों का ही घात करना। -यह मध्यम क्रूर अध्यवसाय नील लेश्यारुप है।

(3) **तृतीय चोर** - स्त्री हत्या अत्यन्त निन्दनीय है अत: सिर्फ पुरुषों का ही घात करना। यह मंदक्रूर अध्यवसाय कापोतलेश्यारुप है।

(4) **चतुर्थ चोर** - सभी पुरुषों का नहि, सिर्फ शस्त्रधारियों का ही वध करना। यह अत्यल्प कोमल परिणाम तेजोलेश्यारुप है।

(5) **पञ्चम चोर** - शस्त्रधारी में भी जो अपने साथ युद्ध करें उन्हें ही मारना। -यह मध्यम कोमल परिणाम पद्मलेश्यारुप है।

(6) **छठवाँ चोर** - किसी को बिना मारे सिर्फ धन ही ले लेना - यह अतिकोमल परिणाम शुक्ल लेश्यारुप है।

लेश्याओं में गति[34]:-

कृष्णादि प्रथम तीन अशुभ-अप्रशस्त लेश्याओं तीव्र संक्लिष्ट अध्यवसाय जीव को अशुभ नरक-तिर्यंच गति में ले जाते है और तेजो आदि तीन शुभ-प्रशस्त लेश्याओं के तीव्र असंक्लिष्ट परिणाम जीव को शुभ देव या मनुष्य गति में ले जाते हैं।

1. कृष्ण लेश्या:-

हिंसादि पञ्चास्रव में प्रमत्त, तीव्र क्रोध, तीव्र वैर, लडाकू स्वभाव, धर्महीनता, दयाहीनता, दुष्ट स्वभाव, अवशी, स्वच्छन्दता, विवेकहीनता, कलाचातुर्यरहित, पञ्चेन्द्रिय विषयों में लम्पट, मानी, मायावी, आलसी, भीरु, स्वगोत्री या स्वकलत्रादि को मारने की इच्छा, प्रचण्ड कलहकारी, दुराग्रह, उपदेशावमानन, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, असंतोषवाला जीव कृष्ण लेश्यायुक्त होता है।

2. नील लेश्या:-

अतिनिद्रा, परवञ्चन में अतिदक्षता, धन-धान्य संग्रह में अति लालची, विषयासक्त, मतिहीन, मानी, विवेकहीन, मन्द, आलसी, कायर, प्रचुर, माया प्रपंच में संलग्न, लोभान्ध, भौतिक सुखेच्छु, आहारादि संज्ञा में अत्यासक्त, मूर्ख, भीरु, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अनृत भाषण, अतिचपलतायुक्त जीव नील लेश्यावाला होता है।

3. कापोत लेश्या:-

दूसरें के ऊपर रोष करना, परनिन्दा, दूषण बहुलता, अतिशोक,

29. अ.रा.पृ. 6/684 से 686
30. अ.रा.पृ. 6/687
31. अ.रा.पृ. 6/687
32. अ.रा.पृ. 6/687
33. अ.रा.पृ. 6/687
34. अ.रा.पृ. 6/687-88

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिशय, ईर्ष्या, अन्य में अविश्वास, दूसरों को अपने समान नहीं मानना, स्तुति होने पर अति संतुष्ट, हानि-वृद्धि के ज्ञान से रहित, कर्तव्याकर्तव्य विवेकरहित, मात्सर्य, पैशुन्य, परपरभव, आत्म प्रशंसा, परपरिवाद, जीवननैराश्य, प्रशंसक को धन देना, युद्ध मरणोद्यम इत्यादि कापोत लेश्यायुक्त जीव के लक्षण है।

4. तेजो लेश्या :-

तेजो लेश्या - कर्तव्याकर्तव्यज्ञ, सेव्यासेव्य भेदज्ञ, दयादानरत, मृदुस्वभावी, ज्ञानी, दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवदिता, दानशीलत्व, स्वकार्य-पटुता, सर्वधर्म समदर्शिता आदि तेजोलेश्यावाले जीव के लक्षण है।

5. पद्म लेश्या :-

त्यागी, भद्र, शुद्ध, आर्तरौद्र ध्यान मुक्त और धर्म शुक्ल ध्यानयुक्त उत्तम कार्यकर्ता, क्षमाशील, सत्यवाक्, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु-देव पूजन में रुचि इत्यादि पद्मलेश्यायुक्त जीव के लक्षण हैं।

6. शुक्ल लेश्या :-

शुक्ल लेश्या-पक्षपातरहित, निदानरहित, सर्वजीव समदर्शी, समव्यवहारी, राग-द्वेष रहित, स्नेह रहित, निर्वैर, वीतरागता, शत्रु के भी दोषों पर दृष्टि न देना, निन्दा नहीं करना, पाप कार्यों में उदासीनता, श्रेयोमार्गरुचि, प्रशांत चित्त, जितेन्द्रियता, समितिगुप्तियुक्त, उपशान्त आदि शुक्ल लेश्यायुक्त जीव के लक्षण है।[35]

आधुनिक विचार और लेश्यासिद्धान्त[36] :-

'व्यक्तित्व का वर्गीकरण एवं आचार्य महाप्रभ (लेश्या के आधार पर)' लेख में श्री बी.पी. गौड ने अनेक सन्दर्भो को उद्धृत करते हुए लेश्याओं का सम्बन्ध रंगो से जोडा है। डॉ. गौड के अनुसार लेश्या दो प्रकार की धाराओं में चलती है - भाव की धारा एवं रंग की धारा। इन दोनों का योग ही लेश्या का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक आवरण है।.....वर्तमान समय में आचार्य श्रीमहाप्रज्ञने लेश्या के आधार पर व्यक्तित्व वर्गीकरण प्रस्तुत कर एक क्रान्तिकारी विचार और सिद्धान्त जगत् को प्रस्तुत किया है। अपने गहन अध्ययन और चिन्तन के आधार पर उन्होंने लेश्याओं को दो मुख्य भागों में बाँटा है - 1. भामण्डल (Halo) और 2. आभामण्डल (Aura)

1. भामण्डल (Halo) :-

देवी, देवताओं, अवतारी पुरुषों, सन्त और सिद्ध पुरुषों के शरीर से निकलनेवाली लेश्याओं (रश्मियों) का वलय जो इन पुरुषों के शरीर के चारों ओर दैदीप्यमान होता है, इस वलय को भामण्डल कहते हैं।

2. आभामण्डल (Halo):-

.....प्रत्येक पदार्थ चाहे वह सजीव हो या निर्जीव हो, के चारों ओर रश्मियों का एक वलय होता है जिसको आभामण्डल कहते हैं। यह वलय या पुंज सूक्ष्म तन्तुओं के जाल जैसा या रुई के सूक्ष्म तन्तुओं के व्यूह के जैसा कवच के रुप में फैला होता है। वास्तव में यह पुंज पदार्थ से या शरीर से विकरित होनेवाली विद्युत चुम्बकीय उर्जा या तरंग का रुप है।

श्री गौड ने मुमुक्षु डॉ. शान्ता जैन (लेश्या और मनोविज्ञान, पृ. 113) को उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट किया है विकरित होनेवाली विद्युत का एक संस्थान बनता है इसे हम आभामण्डल कहते हैं।

इसी बात को ओर स्पष्ट करते हुए डॉ. शान्ता जैनने आगे कहा है-

1. असभ्य व्यक्ति के आभामण्ल से निकलने वाली विकिरणें धुंधल-पोली, स्लेटी, मिश्रित-नीली धुंधली नारंगी औरंगी और भूली लाल रंग की होती है। ये किरणें अस्त-व्यस्त और धब्बेदार दिखती हैं।
2. सभ्य व्यक्ति के आभामण्डल में उच्च-स्तरीय किरणें होती हैं। उसके आभामण्डल में पीला रंग, शुद्ध लाल और साफ नीला रंग अधिक होता है। संवेगात्मक स्थिति में ओरा काला तथा लाल रंग क्रोध के समय विकिरत होता है। भय की अवस्था में धुंधला स्लेटी रंग होता है। भक्ति के समय नीला रंग निकलता हैं।
3. अतिमानव का ओरा शानदार तथा सूर्यास्त के रंग जैसा होता है। उसके सिर के चारों ओर पीले रंग की तेज किरणों का वलय होता है।

जैन दर्शन में लेश्या के आधार पर आभामण्डल के प्रकार बन जाते हैं, क्योंकि लेश्या के छः वर्ण निर्धारित हैं और इन्हीं वर्णो के साथ मनुष्य के विचार और भाव बनते हैं, चरित्र निर्मित होता है।

वर्ण और भाव परस्पर प्रभावक तत्त्व है। वर्ण की विशदता और अविशदता के आधार पर भावों की प्रशस्तता और अप्रशस्तता निर्मित होती है। हम भावधारा को साक्षात् देख नहीं पाते, इसलिए व्यक्ति के आभामण्डल में उभरनेवाले रंगों को देखकर भावों को जानते हैं।

वर्ण व्यक्तित्व की गुणात्मक पहचान :-

आभामण्डल में काले रंग (कृष्ण) की प्रधानता हो तो मानना चाहिए कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है, आकांक्षा प्रबल है, प्रमाद प्रचुर है, कषाय का आवेग प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन-वचन और काया का संयम नहींहै, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं है, प्रकृति क्षुद्र है, बिना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिंसा में रस लेता हैं।

आभामण्डल में नील वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है - व्यक्ति में ईर्ष्या, कदाग्रह, माया निर्लज्जता, आसक्ति, प्रद्वेष, शठता, प्रमाद, यशलोलुपता, सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्विता, अविद्या, हिंसा में प्रवृत्ति - इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति हैं।

आभामण्डल में कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है - व्यक्ति में वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, प्रवंचना, अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति, मखौल करना, दुष्ट वचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्यादृष्टि-इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति हैं।

आभामण्डल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है - व्यक्ति नम्र व्यवहार करनेवाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल करनेवाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म में दृढ आस्था रखने वाला, पापभीरु और मुक्ति की गवेषणा करनेवाला है।

आभामण्डल में पीतवर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है कि वह व्यक्ति अल्प क्रोध, मान, माया और लोभवाला, प्रशान्त चित्तवाला, समाधिस्थ, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय और आत्म संयम करने वाला है।

35. अ.रा.पृ. 6/689-90; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश - पृ. 3/422-23
36. देखे प्रेक्षाध्यान एवं योग, पृ. 30 (जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आभामण्डल में श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो माना जा सकता है - वह व्यक्ति प्रशान्त चित्तवाला, जितेन्द्रिय, मन, वचन और काया का संयम करनेवाला, शुद्ध आचरण से सम्पन्न, ध्यानलीन और आत्म संयम करनेवाला है।

क्या आभामण्डल दृश्य है ?

यद्यपि विज्ञान के विश्लेषण व ध्ययन ने इस बात की पुष्टि की है कि आभामण्डल से निकलनेवाली रश्मियों को प्रिज्म के माध्यम से या नंगी आंखों से नहीं देखा जा सता। इसका वैज्ञानिक कारण बताया कि आभामण्डल के रंग सौर स्पेक्ट्रम के सामान्य रंगो की भांति नहीं होते हैं। सौर स्पेक्ट्रम के पराबैंगनी किरणों को जिनकी तरंगदीर्धता बहुत कम होती है, मुश्किल से ही देखा जाता है। आभामण्डल के रंग की तरंगदीर्धता तो उनसे भी कई गुणा कम होती है, इसीलिये इन्हें सामान्य दृष्टि द्वारा नहीं देखा जा सकता। इसे विशेष अन्तर्दृष्टि प्राप्त महापुरुष ही देख सकते हैं। शताब्दियों तक यही माना जाता रहा कि आभामण्डल को सिर्फ अन्तर्द्रष्टा ही देख सकते हैं।

धार्मिक एवं रहस्यवादी परम्परा में और आज के वैज्ञानिक युग की अवधारणा के बीच काफी दूरी रही है। रुस के प्रो. किर्लियान ने अन्वेषण कर यह सिद्धान्त दिया कि ओरा को उपकरणों के माध्यम से भौतिक आंखों द्वारा भी देखा जा सकता है।

इस संबंध में बाल्टर जोन किलनर, जो 1869 में लंदन के सेंट थोमस अस्पताल में फिजिशियन और सर्जन थे, उन्होंने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि स्क्रीन से किसी व्यक्ति का परीक्षण किया जाता है तो उसके सिर, हाथों के चारों ओर एक हल्की-सी स्लेटी रंग की धुंध दिखाई देती है। यदि स्क्रीन हटा भी दी जाए तो बाद में कुछ क्षण तक यह धुंध दिखाई देती है।[37]

उन्होंने यह भी बताया कि मनुष्य में कभी-कभी दो या तीन आभामण्डल भी दिखाई दे सकते हैं। एक शरीर के पास लकीर की भांति होता है जो कि त्वचा से लगभग पौन इंच तक फैला रहता है। दूसरा कुछ चौडा परन्तु बिना किसी निश्चित आकृति वाला लगभग दो या तीन इंच चौडा होता है और इससे परे तीसरा ओरा जो लगभग 6 इंच तक का हो सकता है। बहुत सूक्ष्मता से देखने पर शरीर और प्रथम आभामण्डल के बीच ज्ञात होनेवाले खाली स्थान को उन्होंने इथरीक डबल[38] के नाम से पहचाना। यह शरीर एवं आभामण्डल के मध्य विभाजक का कार्य करता है।

पद	केन्द्र	वर्ण	निष्पत्ति
णमो अरिहन्ताणं	ज्ञानकेन्द्र	श्वेत वर्ण	ज्ञान चेतना का जागरण
णमो सिद्धाणं	दर्शनकेन्द्र	लाल वर्ण	शारीरिक सामर्थ्य एवं अन्तर्दृष्टि का जागरण
णमो आयरियाणं	विशुद्धिकेन्द्र	पीला वर्ण	आवेग उपशमन
णमो उव्झायाणं	आनन्दकेन्द्र	नीला वर्ण	शांति, समाधि
णमो लोएसव्वसाहूणं	शक्तिकेन्द्र	श्याम वर्ण	ग्राहक शक्ति का विश्वास

तंत्रशास्त्र में चेतना-विकास इन्द्रिय-विजय, ज्ञान शक्तियों के तथा वीतरागता के अनेक प्रयोग प्रस्तुत किए गए हैं। ये सारे महत्त्वपूर्ण प्रयोग लेश्या सिद्धान्त से सम्बद्ध हैं।

निषेधात्मक भावों का निषेधक :- रंगध्यान- रंगध्यान के विषय में जैनों ने ही नहीं, अन्य पूर्वी एवं पश्चिमी वैज्ञानिकों ने भी अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। यहाँ एलेक्स जोन्स की रंग विषयक व्याख्याओं की प्रस्तुति प्रासंगिक है।[39]

लाल रंग - यदि जडता, अवसाद, भय, उदासी की भावनाओं पर नियंत्रण करना हो; वासनाओं और इच्छाओं पर विजय पानी हो; धृणा, क्रोध, स्वार्थता, लालच, निर्दयता, मारकाट की प्रवृत्ति आदि निषेधात्मक वृत्तियों से मुक्त होना हो तो लाल रंग का ध्यान करना उपयोगी रहता है। लाल रंग का ध्यान करने से स्नेह, उदारता, दूसरों के प्रति संवेदनशीलता, स्वविकास की अभीप्सा जागती है। ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी पलायनवादी नहीं होता। वह परिस्थिति से घबराता नहीं, अपितु मुकाबला करने का साहस जुटा लेता हैं।

नारंगी रंग - यदि मन विध्वंसात्मक क्रूर चिन्तन से ग्रस्त है, झूठा अभिमान, सत्ता हथियाने की मनोवृत्ति, संवेदनहीनता, अविश्वास जैसे गलत संस्कार मन पर हावी हैं तो चमकदार नारंगी रंग का ध्यान करना उपयोगी है। फलस्वरुप आशावादिता, मानवीय एकता, उदात्त गुणों का जागरण, दूसरों के प्रति प्रेम, संवेदनशीलता आदि गुण प्रकट होते हैं। धीरे धीरे निषेधात्मक व्यक्तित्व विधेयात्मकता में बदल जाता है।

पीला रंग - यदि आभामण्डल में धुंधला पीला रंग हो तो व्यक्ति अहंवादी, मानसिक, वाचिक रुप से आक्रमक, पृथकत्ववादी होता है। उसके लिए चमकदार पीले रंग का ध्यान करना महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि इससे व्यक्ति भयमुक्त एवं दुराग्रह मुक्त हो जाता है। बौद्धिक व मानसिक चेतना का विकास होता है। विध्वंसात्मक दृष्टिकोण समाप्त होता है और रचनात्मक दृष्टिकोण पनपता है।

हरा रंग - यदि व्यक्ति में पाखंडता, अहंवादिता, कायरता, लालसा, स्वार्थपरता, मोह, ईर्ष्या और असुरक्षा की भावना पैदा हो जाए तो इनसे मुक्त होने के लिये हरे रंग का ध्यान किया जाता है, क्योंकि हरे रंग के ध्यान से विवेक शक्ति, निर्णायक क्षमता, आशावादिता जागती हैं।

नीला रंग - नीले रंग का ध्यान उस समय व्यक्ति को करना चाहिए, जब व्यक्ति प्रतिक्रियावादी, आक्रमक, रुढिवादी और भयभीत होता है। चमकदार नीला रंग इन संस्कारों का उपशमन कर देता है। फलतः व्यक्ति में शान्ति, धैर्य, सन्तोष, वफादारी और आध्यात्मिक विकास उतरने लगता है।

जामुनी और बैंगनी रंग - इस रंग का ध्यान उन व्यक्तियों के लिये अत्यावश्यक है जो भ्रम/माया में फंसे हुए हैं। भौतिकता में डूबे हैं। काल्पनिक चिन्तन में खोये रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जब चमकदार रंग का ध्यान करते हैं तो उनमें अन्तःप्रेरणा और आन्तरिक शक्ति जागती है। वे भविष्य को साक्षात् देखने लगते हैं।

लेश्या ध्यान :-

प्रेक्षाध्यान पद्धति में लेश्या ध्यान की अवधारणा मुख्यतः व्यक्तित्व रुपान्तरण की ओर संकेत करती है। यद हम अशुभलेश्या से शुभलेश्या में आना चाहते हैं तो रंगो द्वारा इस उद्देश्य तक पहुंचा जा सकता है।

37. Audrey Kargere, Colour and Personality p.1-3
38. Walter J. Kilner, The Human Atmosphere, An Exhaustive Survey Complied by Health Research, Colour Healing p. 80
39. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 38-45

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या ध्यान में मुख्य तीन रंगो का चयन किया जाता है। चमकता श्वेत, लाल और पीला - ये तीनों रंग शुभ्र, प्रशस्त एवं मनोज्ञ हैं। इनका भिन्न-भिन्न चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करवाया जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने जैनयोग पुस्तक में चैतन्य केन्द्रों पर रंगों के ध्यान के बारे में बताते हुए लिखा है - लाल रंग का ध्यान करने से शक्तिकेन्द्र (मूलाधार चक्र) और दर्शनकेन्द्र (आज्ञा चक्र) जागृत होते हैं। श्वेत रंग से विशुद्धि केन्द्र (विशुद्धि चक्र) तैजसकेन्द्र (मणिपुर चक्र) और ज्ञानकेन्द्र (सहस्रार चक्र) जागृत होते हैं।[40]

तेजोलेश्या का ध्यान - तेजोलेश्या का दर्शनकेन्द्र पर बालसूर्य जैसे लाल रंग में ध्यान किया जाता है। यह दर्शन केन्द्र पिट्यूटरी ग्रंथि का क्षेत्र है। वैज्ञानिकों ने भी इसका रंग लाल बतलाया है। यह सभी ग्रंथियों पर नियंत्रण करती है, इसलिए इसे 'मास्टर ओफ ग्लैण्ड' कहा जाता है। अध्यात्म की भाषा में इसे तृतीय नेत्र भी कहा गया है। पिट्यूटरी ग्रंथि सक्रिय होने पर एड्रीनल ग्रंथि स्राव को संयमित करती है। फलतः कामवासना, उत्तेजना आदि निषेधात्मक वृत्तियां अनुशासित रुप में अपना कार्य करती हैं।

लाल रंग रीढ की हड्डी के मूल-मूलाधार चक्र का नियंत्रक है। तंत्रशास्त्र और योगशास्त्र में मूलाधार/शक्तिकेन्द्र का रंग लाल माना गया है। यह रंग एड्रीनल के स्रावों को सक्रिय करता है। एड्रीनल का पिट्यूटरी के साथ गहरा संबंध है। अतः पिट्यूटरी/दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने से इस ग्रंथि का नियंत्रण होने लगता है। लाल रंग साहस, शक्ति, ऊर्जा, सक्रियता और बलिदान को दर्शानेवाला है। इस रंग के ध्यान द्वारा पांच इन्द्रियों के विषय पर विजय पाई जा सकती है, क्योंकि दर्शनकेन्द्र मस्तिष्क का स्थान है और मस्तिष्क में सभी इन्द्रियों का कार्य सम्पादित होता है। दिव्य श्रवण, दृश्य, गन्ध, आस्वाद एवं स्पर्श की शक्ति भी इससे उपलब्ध होती है।

दर्शनकेन्द्र पर तेजोलेश्या का लाल रंग में ध्यान करने से प्राणशक्ति जागती है। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण बनता है। आगम में तेजोलेश्या को आत्मविकास का द्वार माना गया है। जब तक तेजोलेश्या नहीं जागती, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या से घिरा व्यक्ति निषेधात्मक जीवन जीता रहता है। जब तेजोलेश्या जागती है तब दर्शनकेन्द्र/आज्ञाचक्र खुलता है। शरीर, मन और आत्मा का ऊर्ध्वारोहण होने लगता है।

रंग चिकित्सक भी मानते हैं कि लाल रंग का प्रभाव मुख्यतः भौतिक शरीर से संबंधित होने पर भी यह तारामण्डलीय (astral), मानसिक (Mental) और आध्यात्मिक (Spiritual) शरीरों को भी प्रभावित करता है। लाल रंग मूल प्रवत्तियों तथा इच्छाओं को जगाते हुए अवचेतन मन पर कार्य करता है और यह रंग हमारे भीतर जीवन की आध्यात्मिक शक्ति, योग्यता, पराक्रम और शारीरिक क्षमता को प्रेषित करता है।।

इस प्रकार दर्शनकेन्द्र पर लाल रंग और पिट्यूटरी ग्रंथि का समायोजन राग से विराग की ओर मोड देता है। चेतना आर्त-रौद्र-ध्यान से धर्मध्यान में प्रवेश कर विशुद्धता की ओर बढती है। व्यक्तित्व रुपान्तरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

पद्मलेश्या का ध्यान - लेश्या ध्यान में ज्ञानकेन्द्र (सहस्रार चक्र) पर पीले रंग का ध्यान करवाया जाता है। भारतीय योगियों ने पीले रंग को जीवन का रंग माना है। आगमों में पद्मलेश्या का रंग पीला माना गया है। लेश्याध्यान में ज्ञानकेन्द्र पर पीले रंग का ध्यान आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। पीला रंग ध्यान की पवित्र शक्ति माना गया है। जो चेतना से जुडा है और नाभि चक्र/तेजसकेन्द्र पर नियंत्रण करता है। इसमें स्वनियंत्रण तथा धैर्य की गुणात्मकता है। यह गहरी समस्याओं के समाधान की क्षमता रखता है। ज्ञानकेन्द्र पर (जिसे शरीर शास्त्रीय भाषा में बृहद् मस्तिष्क, हठयोग में सहस्रार चक्र कहा गया है) पर ध्यान करते हैं तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति घटित होती है। योगशास्त्रविदोंने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों का परस्पर गहरा संबंध माना हैं।

इस केन्द्र पर भय, काम, वासना, सांसारिक-भाव तथा संवेगात्मक प्रभाव जागते रहते हैं। शरीर शास्त्रीय भाषा में यह एड्रीनल के अधिक स्राव का कारण है। अतः माना गया है कि एड्रीनल स्राव को पिट्यूटरी ग्रंथि नियंत्रित करती है और पिट्यूटरी ग्रंथि के स्थान पर योगियों ने ज्ञानकेन्द्र/सहस्रार चक्र की अवधारणा की है। कृष्ण एवं नील लेश्या में व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है। पद्मलेश्या में जितेन्द्रियता के भाव पैदा हो जाते हैं।

एलेक्स जोन्स का भी कहना है कि पीला रंग लज्जा, विश्वासघात, झूठ, धनलिप्सा, क्रोध, घृणा, अज्ञान, इच्छा, सांसारिकता, ईर्ष्या और हतोत्साह जैसी सभी समस्याओं की चिकित्सा करता है। जब पीले रंग पर ध्यान किया जाता है तो बौद्धिक तथा मानसिक शक्ति इससे प्रभावित होती है। जब आभामण्डल में यह रंग चमकता है तो रचनात्मक तथा विश्लेषणातमक योग्यताएं उत्पन्न होती हैं। दिल और दिमाग का सन्तुलन हो जाता है।। पद्मलेश्या ऊर्जा के उत्क्रमण की प्रक्रिया है। इसके जागने पर कषायों की अल्पता होती है। आत्मनियंत्रण सधता है और मन प्रशान्त रहता हैं।

शुक्ललेश्या का ध्यान - शुक्ललेश्या का ध्यान ज्योतिकेन्द्र पर पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे श्वेत रंग में किया जाता है। शरीर शास्त्रीय दृष्टि से ज्योतिकेन्द्र का स्थान पिनियल ग्रंथि है। कषाय, कामवासना, असंयम, आसक्ति आदि संज्ञाओं को उत्तेजित और उपशमित करने का कार्य अवचेतक मस्तिष्क (Hypothalamus) से होता है। इसके साथ ज्योति केन्द्र का गहरा संबंध है। अवचेतक मस्तिष्क का सीधा संबंध पिट्यूटरी और पिनियल के साथ है। ध्यान के क्षेत्र में श्वेत रंग द्वारा जब ज्योकि केन्द्र जागता है तब पिनियल ग्रंथि सक्रिय होती है और एक सन्तुलित व्यक्तित्व सामने आता है, क्योंकि नीचे के सभी ग्रंथि-स्रावों को नियंत्रण करनेवाली यही ग्रंथि है। इस पर ध्यान करने से शारीरिक, मानसिक समस्याएँ भी सुलझ जाती हैं।

लेश्या-ध्यान में सफेद रंग का ध्यान वीतरागता की ओर प्रस्थान करानेवाला माना गया है। शुभध्यान शुभमनोवृत्ति की सर्वोच्च भूमिका है। शुक्ललेश्या का ध्यान आत्म-साक्षात्कार की क्षमता जगाता है। यहाँ से भौतिक और आध्यात्मिक जगत का अन्तर समझ में आने लगता हैं।

एडगर सेसी (Edgar Cayce) ने सफेद रंग को पूर्णता का प्रतीक माना है। उन्होंने बताया कि हमारा सम्पूर्ण जीवन सन्तुलन में है तो इसका मतलब है कि हमारे सभी प्रकम्पन सिमट जाते है और हमारा आभामण्डल पवित्र तथा सफेद प्रकाश से भर जाता हैं।[41] रंग चिकित्सा के क्षेत्र में प्राण ऊर्जा का असन्तुलन सभी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बीमारियों का मूल कारण है।

40. आचार्य महाप्रज्ञ - जैन योग, पृ. 142
41. Colour Meditations, p.9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगम के अनुसार शुक्ल सम्पूर्ण जागृत चेतना की उपलब्धि है। जब शुक्लध्यान सध जाता है, तब मनुष्य अव्यथ चेतना, अमूढचेतना, विवेकचेतना और व्युत्सर्ग चेतना का धनी बन जाता है।[42] इसीलिए शुक्ललेश्या का लक्षण बताया गया कि इसे लेश्या में मनुष्य प्रशान्त, प्रसन्नचित्त, जितेन्द्रिय, आत्मदमी, समितियों से समित, गुप्तियों से गुप्त, सराग या वीतरा होता है।[43]

इस प्रकार इन तीन लेश्याओं का ध्यान शरीर में उच्च केन्द्रों पर किया जाता है, क्योंकि उच्च केन्द्रों का ध्यान हमें अपनी बुरी मनोवृत्तियों से ऊपर उठाता है। जब हम इन उच्च केन्द्रों के सम्पर्क मेंआते हैं, तब अन्त:प्रेरणा, बुद्धि और विवेक से हम सक्रिय बनते हैं। हमारे भीतर प्रेम, शान्ति, प्रसन्नता, शक्ति, नम्रता, दयालुता, भक्ति, अनत:प्रेरणा, विवेक, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता जैसे दैविक गुणों का प्रादुर्भाव एवं विकास होता है।[44]

यद्यपि लेश्या ध्यान की अवधारणा आगमिक आधार पर स्थापित नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञने प्रेक्षाध्यान के अन्य प्रयोगों के साथ लेश्याध्यान को भी विशेष प्रयोजन के साथ उसका अंग स्वीकृत किया है। जरुरी नहीं कि अमुक रंग अमुक केन्द्र पर ही किया जाए। कोई भी रंग किसी भी चैतन्य केन्द्र पर किया जा सकता है। अपेक्षित केवल उद्देश्य के निर्धारण का है। हम कौनसी मनोवृत्ति से मुक्त होना चाहते हैं ? क्योंकि मनोदशाओं के साथ रंगो का गहरा संबंध है।

रंगध्यान से तैजस शरीर की शक्ति जागृत होती है। जिसका तैजस शरीर जागृत होता है उसकी परिधि में आने पर व्यक्ति को पवित्रता, शांति और आनन्द का अनुभव होता है।

श्रावक सुदर्शन ने कायोत्सर्ग किया। उसके चारों ओर विद्युत का एसा शक्तिशाली वलय बन गया कि प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करने वाले अर्जुनमाली की दानवीय शक्ति उस वलय को भेदने में अक्षम रही। सुदर्शन के शक्तिशाली और पवित्र आभामण्डल ने अर्जुनमाली के मन में परिवर्तन घटित किया और वह हत्यारे से संत बन गया। उसने महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

इन्द्रिभूति गौतम महावीर को पराजित करने के लिए आये थे, किन्तु जैसे ही उन्होंने महावीर के आभामण्डल की परिधि में प्रवेश किया, वे सब कुछ भूल गये और महावीर की पवित्रता से अभिभूत होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। जैन साहित्य बतलाता है - अर्हत् प्रवचन के समय समवसरण में जन्मना विरोधी जीव-जन्तु भी शत्रुता भूलकर शांति और प्रेम से प्रवचन सुनते हैं। आचार्य सोमदेवसूरिने अध्यात्म तरंगिणी में इसी सत्य का प्रतिपादन किया है कि तीर्थंकर के समवसरण में सांप और नेवला, भैंस और घोडा तथा हरिणी और व्याघ्र परस्पर क्रीडा करने लगते हैं।[45]

ऐसा आश्चर्य इसलिए घटित होता है कि महापुरुषों का पवित्र आभावलय उन्हें शांत और उपशमित कर देता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रंगो का ध्यान व्यक्तित्व को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

विशुद्धिकेन्द्र पर नीले रंग, दर्शनकेन्द्र पर अरुण रंग, ज्ञानकेन्द्र (या चाक्षुषकेन्द्र) पर पीले रंग का और ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रंग का ध्यान किया जाता है। इन केन्द्रों पर ध्यान करने के साथ जो भावना की जाती है, वह इस प्रकार है-

केन्द्र	रंग	भावना/अनुभव
आनन्द केन्द्र	हरा रंग	भावधारा की निर्मलता
विशुद्ध केन्द्र	नीला रंग	वासनाओं का अनुशासन
दर्शन केन्द्र	अरुण रंग	अन्तर्दृष्टि का जागरण-आनन्द का जागरण
ज्ञान (चाक्षुष) केन्द्र	पीला रंग	ज्ञानतंतु की सक्रियता (जागृति)
ज्योति केन्द्र	श्वेत रंग	परमशांति-क्रोध, आवेश, आवेग, उत्तेजनाओं की शांति

लेश्याध्यान : निष्पत्ति

प्रेक्षाध्यान साहित्य में आचार्य महाप्रज्ञने लेश्याध्यान की निष्पत्ति बतलाई है - जो लेश्याध्यान में उतरता है वह निम्न उपलब्धियों से जुडता है-

- चित्त की प्रसन्नता
- धार्मिकता के लक्षणों का प्रकटीकरण
- चारित्र की शुद्धि - संकल्प-शक्ति का जागरण
- चैतन्य का जागरण - स्वस्थ और सुन्दर व्यवहार, प्रशस्त जीवन, प्रशस्त मौत
- कर्मतंत्र और भावतंत्र का शोधन
- पदार्थ-प्रतिबद्धता से मुक्ति
- तेजोलेश्या से - परिवर्तन का प्रारंभ, अपूर्व आनन्द, मानसिक दुर्बलता समाप्त
- पद्मलेश्या से - मस्तिष्क और नाडीतंत्र का बल, चित्त की प्रसन्नता, जितेन्द्रियता
- शुक्ललेश्या से - आत्म-साक्षात्कार

इस प्रकार संक्षेप यह कहा जा सकता है कि लेश्या का सम्बन्ध पर्यावरण और जीवात्मा के मध्य भावों के विद्युत्चुम्बकीय परिदृश्य से है, जिसे केवलज्ञान दृष्टि से तीर्थंकरोने देखा है।

जैसे जैसे साधक विचारों से निर्मल होता जाता है और गुणस्थानक अवस्थाओं में उत्तरोत्तर आगे बढता जाता है, वैसे वैसे उसकी लेश्या में विशुद्धि बढती जाती है। यह विशुद्धि मुनि अवस्था में ही पूर्णता को प्राप्त हो सकती है, अत: आगे के शीर्षकों में क्रमप्राप्त मुनियों के आचार से सम्बन्धित विवेचन एवं अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

42. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 41-42
43. Edgar Cayce, Auras, p. 14; 3. ठाणं 4/70; उत्तराध्ययन 34/31, 32
44. Alex Jones, Seven Mansions of Colour, p. 61;
45. अध्यात्मतरंगिणी, 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. मुनियों की आचारपरक शब्दावली का समीक्षण

जैनधर्म के मूलमन्त्र नमस्कार मन्त्र में पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, वे पाँच परमेष्ठी इस प्रकार हैं - 1. अरिहन्त (अर्हत् अर्थात् जीवन्मुक्त), 2. सिद्ध (अशरीरी अर्थात् शरीररहित या जीवनमुक्त), 3. आचार्य, 4. उपाध्याय और 5. साधु। इनमें से सिद्ध तो पूर्ण (अर्थात् निश्चय नय से) कृतकृत्य हो चुके होते हैं[1], साथ ही अरिहन्त भी कृतकृत्य (व्यवहार नय से) हो चुके होते हैं क्योंकि अर्हत् अवस्था के पश्चात् सिद्ध अवस्था अवश्यम्भाविनी है (आयु: कर्म पूरा होते ही अरिहन्त अवस्था के जीव जीवन (शरीरसंयोगी) से मुक्त हो जाते है)। कृतकृत्य हो जाने से अरिहन्त और सिद्ध जीवों को करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। किन्तु आचार्य, उपाध्याय और साधु अवस्था के जीवों को अर्हत् अवस्था पाने के लिए सतत प्रयत्न करना होता है। ये सभी अवस्थाएँ नियम से मनुष्य गति में ही सम्भव हो पाती हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु अवस्था में नियम से महाव्रत होते हैं। महाव्रतों के धारक को सर्वविरत कहा गया है। जो प्राणी अनादि संस्कार के कारण या बलहीनता के कारण या शरीर की पर्याप्ति की हीनता के कारण महाव्रतों का पालन नहीं कर सकते वे अणुव्रतों का पालन करते हुए महाव्रती अवस्था के लिए प्रयत्न करते हैं। अणुव्रती को देशविरत/विरताविरत भी कहा जा सकता है। देशविरति अवस्था मनुष्यों और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो में हो सकती है। सर्वविरत अवस्था के जीवों को सामान्यरुप से 'साधु' शब्द से अभिहित किया गया है, जैसा कि चार मंगलों में गाया गया है - **चत्तारि मंगलं, अरिहन्ता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं**। साधु अवस्था में भी कार्यविभाजन की दृष्टि से दो विशेष अवस्थाएँ हैं - आचार्यत्व और उपाध्यायत्व।

आचार्य :-

'आचार्य' पद की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने कहा है कि 'सूत्र और अर्थ के अवबोध के लिए मुमुक्षुओं के द्वारा जो आसेवन किया जाये[2] अथवा जिनशासन के लिए उपदेशक होने के कारण उपदेश प्राप्ति के इच्छुकों (आत्माओं) के द्वारा मर्यादापूर्वक (आचार्य-प्रायोग्य विनयपूर्वक) जिनकी सेवा/चर्या की जाये[3] अथवा ज्ञानाचारादि पञ्चाचार का पालन जो स्वयं करें और अन्य साधुओं को प्रेरणा देकर करावें[4], अथवा जिनशासनमान्य पदार्थों में युक्तायुक्त विषयक निरुपण में निपुण होने से शास्त्रों (जिनागमों) का यथावत् उपदेश करने वाले[5], अथवा मर्यादापूर्वक विहारादि साध्वाचार का पालन करने/कराने वाले[6] गुरु[7], पाँच स्थविरों में प्रथम स्थविर[8], अर्थज्ञान के दाता[9], सूत्र और अर्थ-दोनों के ज्ञाता और शास्त्रोक्त लक्षणयुक्त, गच्छ में आधारभूत और अर्थ की वाचना देने वाले साधु[10] 'आचार्य' कहलाते हैं।

निक्षेपों के अनुसार आचार्य शब्द के विभिन्न अर्थ :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'आचार्य' के अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद दर्शाये हैं, जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं-

नामाचार्य - आचार्य का नाम 'नामाचार्य' हैं।

स्थापनाचार्य - मूर्ति, चरणपादुका, चित्र, अक्ष, आयरिया (समुद्र में 'आयरिया' नामक द्वीन्द्रिय जीव होते हैं, जिसके पृथ्वीकायमय घर (निवास) अचित होने पर उसमें 'आचार्य' की स्थापना की जाती हैं) में 'आचार्य' के रुप में स्थापना (आरोपणा) करना स्थापनाचार्य' हैं।[11]

द्रव्याचार्य - आचार्य के गुण या आचार रहित आचार्य, मूलगुणरहित या उत्तरगुणरहित आचार्य अभव्य आचार्य, लौकिक शिल्पाचार्य, कलाचार्य, निमित्ताचार्य, और द्रव्यअर्थात धन/अर्थ के निमित्त आचरण करनेवाला 'द्रव्याचार्य' हैं।[12]

भावाचार्य - भावाचार्य दो प्रकार के हैं - 1. आगमत: 2. नो-आगमत:। नोआगमत: भावाचार्य दो प्रकार के हैं-

(क) **लौकिक भावाचार्य** - शिल्पाचार्य, कलाचार्य आदि।

(ख) **लोकोत्तर भावाचार्य** - जो स्वयं ज्ञानाचारादि पञ्चाचार का पालन करते हैं, पञ्चाचार पालन का अन्य को उपदेश देते है और दूसरें से पञ्चाचार का पालन भी कराते हैं; वे 'भावाचार्य' कहलाते हैं।[13] **जो आगमविधि के अनुसार कदम-कदम पर जिनाज्ञा का अनुसरण करते हैं, वे भावाचार्य तीर्थंकर के समान होते हैं।**[14]

आचार्य का स्वरुप :-

आचार्य सूत्रार्थ के ज्ञाता होते हैं, सतत ज्ञान-दर्शन-चारित्र में उपयोगवान् होते हैं, गणावच्छेद (स्थविर मुनि) आदि को गच्छ के कार्य (व्यवस्था) सुपुर्द करने के कारण गच्छ की चिन्ता से मुक्त होते हैं, शुभ लक्षणों (शारीरिक) से युक्त होते हैं।[15]

आचार्य के लक्षण[16] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने आवश्यक चूर्णि को उद्धृत करते हुए आचार्य के लक्षण बताते हुए कहा है कि "आचार्य आचारकुशल, संयम, प्रवचन, संग्रह (देशकालानुसार शिष्य, वस्त्र-पात्रादि का), उपग्रह, अनुपग्रह, कल्प, व्यवहार प्रज्ञप्ति, दृष्टिवाद, स्वसमय-परसमय (स्वदर्शन-अन्यदर्शन के सिद्धान्त) में निपुण,ओज (शौर्य), तेज, वाणी और यश में अपराजेय, उदार चित्तवाले, क्रोध के

---

1. अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
   अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा। गोम्मटसार जीवकाण्ड...
2. अ.रा.पृ. 2/329, आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/37 पर टीका
3. अ.रा.पृ. 2/329, आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/37 पर टीका
4. वही, आवश्यक निर्युक्ति-994, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/241, 242
5. वही, भगवती सूत्र-1/1
6. वही, आवश्यक मलयगिरि-भा.। गाथा 993 आवश्यक चूर्णि-1/993 गाथा पर चूर्णि
7. वही, पञ्चवस्तु-13 गाथा की टीका
8. वही, धर्मसंग्रह-3/54
9. वही, बृहत्कल्प भाष्य-1/3/639
10. वही, आवश्यक बृहद्वृत्ति-3/1195 पर टीका
11. अ.रा.पृ. 4/1693
12. अ.रा.पृ. 2/330, विशेषावश्यक भाष्य-3191, 3192
13. वही, आवश्यक चूर्णि-अध्ययन-2 विशेषावश्यक भाष्य-3/93-94-95
14. अ.रा.पृ. 2/331, महानिशीथ सूत्र अध्ययन-5
15. अ.रा.पृ. 2/333, 347 से 352
16. अ.रा.पृ. 2/333, 347 से 352

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संचार को जीतने वाले, जितेन्द्रिय, जीवित, मृत्यु एवं अन्य भयों से मुक्त, परिषहजेता, सकल मैथुन, क्रीडा एवं संसर्ग से रहित, निर्मोही, निरहंकारी, अननुतापी (किसी को पीडा नहीं पहुँचाने वाले), सत्कार-लाभ-अलाभ-सुख-दुःख-मान-अपमान को सहन करनेवाले, अचपल, असबल (दोष रहित), क्लेश रहित, निर्मल चारित्रयुक्त, दशविध आलोचना दोषज्ञाता, अठारह प्रकार के आचार स्थान के ज्ञाता, आठ प्रकार के आलोचनार्ह के गुणों के उपदेशक, आलोचना योग्य सूत्र रहस्यों के ज्ञाता, अपरिश्रावी, प्रायश्चित देने में कुशल, मार्ग-कुमार्ग के ज्ञाता, अवग्रह-ईहा-अपाय-धारणादि बुद्धि में कुशल, अनुयोगज्ञाता, नयज्ञ, उदाहरण हेतु-कारण-निर्देशन-उपमा-निर्युक्ति-लेख के आठ-आठ द्वारों के ज्ञाता, मुनियों को अनेक प्रकार के उपायपूर्वक आचारोपदेश करनेवाले, इंगिताकार से इच्छित जाननेवाले अथवा अश्व के समान बिना देखे ही स्वच्छन्द शिष्यों के अभिप्राय को जाननेवाले, विकल्पविधि के ज्ञाता, लिपि-गणित-शब्द-अर्थ-निमित्त-उत्पाद और पुराण को ग्रहण कर उनका स्वभाव (रहस्य) जाननेवाले, पृथ्वी के समान सहिष्णु, कमल पत्र की तरह निर्लेप, वायु की तरह अप्रतिबद्ध, पर्वत की तरह निष्कंप, सागर की तरह क्षोभरहित, केंचुए की तरह गुप्तेन्द्रिय, जातिमान स्वर्ण की तरह स्वाभाविक तेजस्वी, चन्द्र जैसे सौम्य, सूर्य जैसे प्रकट तेजवंत, जल की तरह सर्वजगत् के कर्ममल को हरनेवाले, गगन (आकाश) की तरह अपरिमित (असीम) ज्ञानी, मतिकेतु (बुद्धि निधान) श्रुतकेतु (श्रुतनिधि), अतीन्द्रियार्थदर्शी, सूत्रार्थ में अति निपुण, एक मात्र आगामी भावी (मोक्ष) सुख के गवेषक (खोजने वाले), दोष-दुर्गुणों से रहीत, तीन दंड से रहित, तीन गारव से रहित, तीन शल्य से रहित, तीन गुप्ति से गुप्त, त्रिकरण विशुद्ध, चार प्रकार की विकथा के त्यागी, चार कषाय के त्यागी, चार प्रकार की विशुद्ध बुद्धि से युक्त, चतुर्विधाहार निरालंबमति वाले, पाँच समिति से समित, पञ्चमहाव्रतधारी, पाँच प्रकार के निग्रंथ-निदान के ज्ञाता, पाँच प्रकार के चारित्र के ज्ञाता, पाँच प्रकार के चारित्रलक्षण से संपन्न, छः प्रकार की विकथा के त्यागी, षड् द्रव्य विधि विस्तार के ज्ञाता, षट्स्थान विशुद्ध प्रत्याख्यान के उपदेशक, षड् जीवनिकाय के प्रति दयावान्, सात भय से रहित, सात प्रकार के संसार के ज्ञाता, सप्तविध गुप्तोपदेशक, आठ प्रकार के मान (मद) के मर्दक (नष्ट करने वाले),आठ प्रकार के बाह्यध्यान के योग से रहित, आठ प्रकार के अभ्यंतर (धर्म, शुक्ल) ध्यान युक्त, आठों प्रकार के कर्मो की ग्रन्थियों के भेदक, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति के पालक, दस प्रकार के श्रमण-धर्म के ज्ञाता, ग्यारह प्रकार की उपासक प्रतिमा के ज्ञाता, ग्यारह प्रकार की ज्ञान संस्कार की विधि के ज्ञाता (एकारससातियक्खर विहिवियाणगं), बारह भिक्षु प्रतिमा को स्पर्श करनेवाले, बारह प्रकार के तप और बारह भावना से भावित मतिवाले, द्वादशाङ्ग सूत्रार्थपारगामी, शिष्यादि समुदायवान् इत्यादि लक्षणोपेत होते हैं।''

जैसे एक दीपक सैंकडों दीपकों को प्रज्वलित करता है वैसे एक सुविहित आचार्य स्वयं को एवं अन्य अनेकों को प्रकाशित (प्रतिबोधित) करते हैं।[17]

'पंचिंदिय सूत्र' में आचार्य के छत्तीस गुण निम्नानुसार दर्शाये हैं[18]।

5 - स्पर्शेन्द्रिया पाँच इन्द्रियों के विषयों को रोकनेवाले
9 - नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति के धारक
4 - चार कषाय से रहित
5 - पञ्च महाव्रत युक्त
5 - पञ्चाचार पालक
5 - पाँच समिति से समित
3 - तीन गुप्ति के धारक

'गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिका' में आचार्य हेमतिलकसूरि (वृत्तिकार आचार्य रत्नशेखरसूरि) ने प्रकारान्तर से आचार्य के छत्तीस गुणों का 36 प्रकार से (छत्तीस छत्तीसी) वर्णन किया है, जो निम्नानुसार है।

गुरु/आचार्य के 36 गुण/छत्तीस छत्तीसी[19] :-

1. 4 प्रकार की देशना, 4 प्रकार की कथा, 4 प्रकार का धर्म, 4 प्रकार की भावना, 4 प्रकार की स्मारणा (सारणादि), चार प्रकार के ध्यान के प्रत्येक चार-चार भेद अर्थात (4 × 4) - 16 प्रकार का ध्यान इति 36 गुण।
2. 5 सम्यक्त्व, 5 चारित्र, 5 महाव्रत, 5 व्यवहार, 5 आचार, 5 समिति, 5 स्वाध्याय, 1 संवेग इति 36 गुण।
3. 5 इन्द्रिय स्वरुप, 5 इन्द्रिय के विषय का स्वरुप, 5 प्रमाद, 5 आस्रव, 5 निंद्रा, 5 कुभावना (संविलष्ट बावना), 6 षड्जीवनिकाय की रक्षा इति 36 गुण
4. 6 वचन दोष, 6 लेश्या, 6 आवश्यक, 6 द्रव्य, 6 दर्शन, 6 भाषा के ज्ञाता - इति 36 गुण।
5. 7 भय, 7 पिण्डेषणा, 7 पानैषणा, 7 सुख, 8 मद के ज्ञाता - इति 36 गुण।
6. 8 ज्ञानाचार, 8 दर्शनाचार, 8 चारित्राचार, 8 वादीगुण, 4 बुद्धि - इति 36 गुण।
7. 8 कर्म, 8 अष्टांग योग, 8 महासिद्धि, 8 योगदृष्टि, 4 अनुयोग के ज्ञाता - इति 36 गुण।
8. 9 तत्त्व, 9 ब्रह्मचर्य गुप्ति, 9 निदान, 9 कल्पविहार के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
9. 10 असंवर, 10 संक्लेश, 10 उपघात, 6 हास्यादिषट्क के ज्ञाता - इति 36 गुण
10. 10 समाचारी, 10 चित्तसमाधि, 16क,ाय इति 36 गुण।
11. 10 प्रतिसेवा, 10 शुद्धि (आलोचना) दोष, 4 विनय समाधि 4 श्रुतसमाधि, 4 तपः समाधि, 4 आचार समाधि के ज्ञाता - इति 36 गुण।
12. 10 वैयावृत्त्य, 10 विनय, 10 धर्म (क्षमादि) 6 अकल्प्य के ज्ञाता - इति 36 गुण।
13. 10 रुचि, 12 अङ्ग, 12 उपाङ्ग, 2 शिक्षा के ज्ञाता इति 36 गुण।
14. 11 उपाशक प्रतिमा, 12 व्रत, 13 क्रियास्थान के ज्ञाता - इति 36 गुण।
15. 12 उपयोग, 10 प्रायश्चित, 14 उपकरण के ज्ञाता - इति 36 गुण।
16. 12 तप, 12 भिक्षु प्रतिमा, 12 भावना के ज्ञाता - इति 36 गुण।
17. 14 गुणस्थान, 14 प्रतिरुपादि (प्रतिरुप, तेजस्वी, युगप्रधान आगमवंत, मधुरवचन, गंभीर, धैर्यवान, उपदेशपरायण, अपरिस्रावी, सौम्य, संग्रहशील, अभिग्रहमति अविकत्थ,

17. अ.रा.पृ. 2/234, 235
18. पंचिंदिय सूत्र - दो प्रतिक्रमण सार्थ, द्वितीय सूत्र।
19. गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलकम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचपल, प्रशान्तचित्त), 8 सूक्ष्म के ज्ञाता - इति 36 गुण।

18. 15 योग, 15 संज्ञा, 3 गारव, 3 शल्य के ज्ञाता - इति 36 गुण।
19. 16 उद्गम दोष, 16 उत्पादन दोष 4 अभिग्रह के स्वरुप के निरुपक - इति 36 गुण।
20. 16 वचनविधि, 17 संयम, 3 विराधना के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
21. 18 दीक्षा हेतु अपात्र के दोष के ज्ञाता एवं 18 प्रकार के पापस्थान के स्वरुप के निरुपक - इति 36 गुण।
22. 18 शीलाङ्ग के उपदेशक, 18 प्रकार के ब्रह्मचर्य के उपदेशक - इति 36 गुण।
23. 21 प्रकार के उत्सर्ग दोष के ज्ञाता एवं 17 प्रकार के मरण स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
24. 20 समाधिस्थान, 10 एषणा दोष 5 ग्रासैषणा एवं 1 प्रकार के मिथ्यात्व के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
25. 21 शबल दोषस्थान एवं 15 शिक्षा स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
26. 22 परिषह एवं 14 अभ्यन्तर ग्रन्थ (ग्रन्थि) के ज्ञाता - इति 36 गुण।
27. 5 वेदिका (आसन/बैठना) दोष, 6 आरभटादि प्रतिलेखन (पडिलेहण) दोष एवं 25 प्रतिलेखन के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
28. 27 अणगार (साधु) गुण, 9 कोटि विशुद्धि के ज्ञाता-इति 36 गुण।
29. 29 लब्धि एवं 8 प्रभावक के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
30. 29 पापश्रुत के स्वरुपज्ञाता एवं 7 विशुद्धि के गुण स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
31. 30 मोहस्थान एवं 6 अन्तरङ्ग अरिषट्क (अप्रयुक्त कामादि) के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
32. 31 सिद्ध के गुण एवं 5 ज्ञान के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
33. 32 प्रकार के जीव भेद एवं 4 प्रकार के उपसर्ग के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
34. वंदन के 32 दोष एवं 4 प्रकार की विकथा के स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।
35. 33 आशातना एवं 3 वीर्याचार के ज्ञाता - इति 36 गुण।
36. 32 प्रकार की गणिसंपदा के धारक एवं 4 प्रकार के विनय स्वरुप के ज्ञाता - इति 36 गुण।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में भी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णीने आचार्य के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है कि, "आचार्य आचारवान् आधारवान्, व्यवहारवान, कर्ता, आयापायदर्शनोद्योत और उत्पीलक होते हैं। अपरिस्रावी, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिमान, और निर्यापक के गुणों से युक्त होते हैं।[20] बोधपाहुड के अनुसार आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित, आसनादिद (आचार्य के आसन पर या आचार्य पद पर बैठने योग्य), आयापायकथी, दोषाभाषक, अस्रावक, सन्तोषकारी, निर्यापक - ये आठ गुण तथा अनुद्दिष्टभोजी, शय्याशन और आरोगभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठ सद्गुण, प्रतिक्रमी, षण्मासयोगी, द्विनिषद्यक, 12 तप तथा 6 आवश्यक - ये छत्तीस गुण आचार्यों के है।[21] अनगार धर्मामृत के अनुसार आचार्यों के आचारवान् आदि 8, तप 12, आचेलक्यादि 10 गुण (स्थितकल्प) और छः आवश्यक - ये 36 गुण है।[22] रत्नकरंडक श्रावकाचार के अनुसार 12 तप, 6 आवश्यक, 5 आचार, 10 यतिधर्म और तीन गुप्ति - ये आचार्य के 36 गुण हैं।[23]

प्रत्येक भव्यात्मा को जैनागमों में वर्णित एसे अनेकों महान गुणों के धारक आचार्य भगवन्त का संपूर्णतया विनय, वैयावच्च, भक्ति, बहुमानादि अवश्य करना चाहिए।

गुरु/आचार्य के विनय से लाभ :-

गुरु/आचार्य शिष्य की भवव्याधि के चिकित्सक होने से शिष्य के लिए गुरु का बहुमान ही साक्षात् मोक्ष है; क्योंकि गुरु मोक्ष के प्रति अप्रतिबद्ध सामग्री के हेतु होने से गुरु का बहुमान करने से परमगुरु तीर्थंकर का संयोग होता है जिससे निश्चयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है।[24] लज्जा, दया, संयम, ब्रह्मचर्य और विशुद्धि के स्थानरुप गुरु की आत्म-कल्याण इच्छुक शिष्य को सतत पूजा (वंदन, बहुमान, वैयावृत्य) करनी चाहिए।[25] आचार्य को भावपूर्वक किये गये नमस्कार बोधिलाभ (सम्यकत्व) कारक होते हैं, सर्व पापों का प्रणाशक और सर्वमङ्गलों में तृतीय मङ्गल हैं।[26]

आचार्य की आशातना से हानि :-

आचार्य की हीलना/आशातना या निंदा करने से जीव अनंत संसारी होता है। कदाचित् प्रज्वलित अग्नि उसे न जलाये, कालकूट विषभक्षण प्राण नाश न करे तथापि आचार्य की हीलना से जीव मोक्ष प्राप्त नहीं करता।[27] जो आचार्य की आशातना करता है वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को दंड से प्रहार कर दूर भगाता/निषेध करता है।[28] आचार्य की आशातना से किल्विषिक देव में जन्म, इन्द्रियहीनता, अबोधि, दुःख, दरिद्रता आदि प्राप्त होते हैं।[29]

अतः जीवात्मा को गुरु/आचार्य की किसी भी प्रकार की आशातना, अवहेलना या निंदा से बचकर विनयपूर्वक रहना चाहिए।

उवज्झाय (उपाध्याय)[30] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'उवज्झाय' पद का वर्णन करते हुए कहा है, "शिष्य जिनके पास आकर पढते है, जिनके पास जिनप्रवचन सूत्रतः स्मरण किया जाता है, जो विद्वानों को जिनकथित बारह अङ्ग का उपदेश देते हैं/स्वाध्याय करते-कराते हैं, जिनसे श्रुत का लाभ हो, जिनके द्वारा शिष्यों की कुबुद्धि, मनः पीडा, चिन्ता, दुर्ध्यानादि का नाश होता है, जो द्वादशाङ्ग का स्वयं यथाशक्ति अध्ययन करते है, अन्य को कराते हैं, सूत्र-अध्यापक, स्वाध्याय-पाठक, स्व पर के हितचन्तक को उवज्झाय/उपाध्याय कहते है।

20. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/242, भगवती आराधना मूल-417, 418
21. वही, बोध पाहुड टीका-1/2
22. वही, अनगार धर्मामृत-9/76
23. वही, रत्नकरंडक श्रावकाचार - षोडशकरण भावना में आचार्य भक्ति।
24. अ.रा.पृ. 2/339
25. दशवैकालिक मूल-9/1/13
26. अ.रा.पृ. 2/240
27. दशवैकालिक मूल-9/1/7
28. वही-9/2/4
29. दशवैकालिक-अध्ययन-9
30. अ.रा.पृ. 2/910

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वरुप[31] :-

उपाध्याय भगवंत सूत्रार्थज्ञाता, रत्नत्रययुक्त, सूत्रवाचना निष्पादक और अध्ययन-अध्यापन स्वरुप/लक्षणयक्त होते हैं। वे स्वयं सूत्र-अर्थ का अध्ययन करके अध्ययन में स्थिर होते हैं एवं अन्य को सूत्र की वाचना प्रदान करके ऋणमुक्त होते हैं। वे सूत्रों के बार-बार अनुवर्तन करने से अत्यन्त अभ्यास के कारण यथावस्थित स्वरुप युक्त होने से आचार्य पद के योग्य होते हैं। गच्छान्तर से सूत्रों की उपसंपदा हेतु आये साधुओं को वाचनादान के कारण वे प्रतिच्छक कहलाते हैं। इससे वे मोह विजेता बनते हैं; प्रायश्चित (प्रायश्चित्त योग्य अकार्यों) से दूर रहते हैं, मन-वचन-काया के उपयोगपूर्वक विशुद्धिपूर्वक अनंतगमपर्याययुक्त दशाङ्गरुप श्रुतज्ञान सुनानेपूर्वक परम पद/मोक्ष के उपाय का चिन्तन करते हैं; अनुसरण करते है, ध्यान करते है। उपाध्याय भगवंत आचार्य भगवंत के सहयोगी होते है एवं मूर्ख शिष्य को भी पढा-लिखाकर होंशियार करते है।[32]

श्री उपाध्याय भगवंत शांत, प्रसन्नमुखवाले, विधिपूर्वक सभी को पढाने में कुशल, आचार्य के वचनपालन में तत्पर, उत्तमकार्य करनेवाले, 25 गुणसहित, विशेषत: सत्य कार्यवान्, सत्यवचनयुक्त संघादि कार्यों में तत्पर एवं दृढप्रतिज्ञ होते हैं।[33]

अभिधान राजेन्द्र कोश में उपाध्याय भगवंत के 11 अंग, 12 उपाङ्ग, चरणसित्तरी और करण सित्तरी इन 25 गुणों का वर्णन किया गया है।[34] संबोध प्रकरण में उपाध्याय के गुणों की पच्चीस-पच्चीसी का भी वर्णन प्राप्त होता है, जो निम्नानुसार है।[35]

1. 11 अंग, 14 पूर्व को पढना-पढाना इति 25 गुण।
2. 11 अंग, 12 उपांग, 1 चरण सित्तरी, 1 करण सित्तरी = 25 गुण को धारण करना-कराना।
3. ज्ञान की 14 आशातना न करना; न कराना, सुवर्ण के 11 गुण इति 25 गुण।
4. 13 क्रियास्थान (का त्याग), 6 द्रव्य के ज्ञाता एवं 6 काय रक्षक इति 25 गुण।
5. 14 गुण स्थान एवं 11 उपासक (श्रावक) प्रतिमा की प्ररुपणा करना इति 25 गुण।
6. पाँच महाव्रत की 25 भावनाओं को धारण करना। (5 × 5 = 25)
7. कंदर्पादि 25 अशुभ भावना का त्याग करना।
8. प्रज्ञापनी (विनयवान शिष्य को उपदेश देने में उपयोगी) भाषा के द्वारा पूजा के 8 भेद एवं पूजा के 17 भेद के ज्ञाता। (8 + 7 = 25)।
9. 4 प्रतिपत्ति भेद एवं पूजा के 21 भेद के ज्ञाता (4 + 21 = 25)
10. पाँचों इन्द्रियों के 23 विषयों को, राग (शुभ को) एवं द्वेष (अशुभ को) (23 + 1 + 1 = 25) को दूर करना -इति 25 गुण।
11. मिथ्यात्व के 21 भेद की श्री संघ में 4 प्रकार से प्ररुपणा करना (21 + 4 = 25) -इति 25 गुण।
12. 14 भूतग्राम (जीवभेद) एवं उनको जानना, प्रारंभ करना, पालन करना - इन तीनों के 8 भंग (भेद) एवं अंग-अग्र एवं भावपूजा के 3 भेद के ज्ञाता (14 + 8 + 3=25) -इति 25 गुण।
13. 8 अनन्त, 8 पुद्गल परावर्त एवं 9 निदान (8 + 8 + 9 = 25)
14. 9 तत्त्व, 9 क्षेत्र एवं 7 नय के ज्ञाता। (9 + 9 + 7 = 25) - इति 25 गुण।
15. 4 निक्षेप, 4 अनुयोग, 4 धर्मकथा, 4 विकथा त्याग, 4 दानादि धर्म, 5 करण के ज्ञाता इति 25 गुण।
16. 5 ज्ञान, 5 व्यवहार, 5 सम्यकत्त्व, 5 प्रवचन के अङ्ग, 5 प्रमाद के ज्ञाता इति 25 गुण।
17. 12 व्रत, 10 रुचि, 3 विधिवाद के ज्ञाता इति 25 गुण।
18. 3 हिंसा, 3 अहिंसा एवं कायोत्सर्ग के 19 दोष (3 + 3 + 19) के ज्ञाता इति 25 गुण।
19. 8 आत्मा, 8 प्रवचन माता, 8 मद का त्याग, 1 श्रद्धा के स्वरुप के ज्ञाता इति 25 गुण।
20. श्रावक के 21 गुण, 4 वृत्ति प्रवर्तन के ज्ञाता - इति 25 गुण।
21. 3 अतत्त्व, 3 तत्त्व, 3 गारव, 3 शल्य, 6 लेश्या, 3 दंड, 4 करण के ज्ञाता इति 25 गुण
22. अरिहंत (तीर्थंकर) पद की उपार्जना के 20 स्थान एवं 5 आचार के ज्ञाता - इति 25 गुण।
23. अरिहंत के 12, सिद्ध के 8, 5 प्रकार की भक्ति के ज्ञाता - इति 25 गुण।
24. सिद्ध के 15 भेद एवं 10 त्रिक के ज्ञाता - इति 25 गुण।
25. 16 आगार एवं 9 प्रकार के संसारी जीव के स्वरुप के ज्ञाता - इति 25 गुण।

उपाध्याय पद की आराधना से लाभ :-

उपाध्याय पद की आराधना, भक्ति एवं विनय से जीव उपाधि रहित होता है, स्वाध्याय में लयलीन/एकाग्र होता है; श्रुत (सूत्र संबंधी) ज्ञान की प्राप्ति होती है, भ्रम दूर होता है, आत्मा में शीतलता की अनुभूति होती है; श्रुतमद नष्ट होता है, अस्खलित वाणी प्राप्त होती है। ज्ञान की प्राप्ति से आत्मा अकार्य से निवृत्त होने से परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[36]

आचरण का अर्थ पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। सामान्य भाषा में सदाचार और और उसके विपरीतार्थक दुराचार, अनाचार, कदाचार, आदि अनेक शब्दो का प्रचलन है। किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्रयुक्त आचार शब्द से उपरोक्त विलोमार्थक शब्दों से निरपेक्ष मात्र श्रेष्ठ आचार ही अभीष्ट है, आचार शब्द से केवल मर्यादित और श्रेष्ठ आचार का ग्रहण किया जाता है। सभी दार्शनिकों ने आचरण को धर्म कहा है। मनुस्मृति में कहा गया है- **"आचारः प्रथमो धर्मं नृणां श्रेयस्करो महान्।"** जैन आगमों में तो बल पूर्वक प्रतिपादित किया गया है कि चारित्र ही धर्म है। जैन सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का स्वभाव वस्तु के स्वरुप के यथावत् श्रद्धान की रुचि और तदनुसार आचरित क्रिया तीनों का सन्तुलित समन्वय करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि ये तीनों भिन्न भिन्न न होकर एक ही हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के समग्र आचार को 'श्रमणाचार' शब्द से जाना जाता है।

31. अ.रा.पृ. 2/910-11
32. श्री नवपद देववंदन-उपाध्याय पद
33. श्री जिनेन्द्र पूजा संग्रह-पृ.8,9;
34. अ.रा.पृ. 2/911
35. संबोध प्रकरण-गाथा 166 से 184
36. श्री जिनेन्द्र पूजा संग्रह पृ. 7, 8, 9

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनगार साधु और श्रमणाचार

भारतीय आचार-प्रणाली एवं विशेषकर जैन आचार-प्रणाली में आचार के संबंध में जो चिन्तन मनीषियों ने किया है; वह स्तुत्य है और आचरणीय भी। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार संबंधी दार्शनिक एवं व्यवहारिक शब्दावली का अध्ययन करने से यह निश्चित ही पता चलता है कि, जैन धर्म की आचार-प्रधान एवं ज्ञान-प्रधान समग्र साधना आचारमय ही है। इसीलिए जैन धर्म संस्कृति का संदेशवाहक 'श्रमण' एक कठोर आचार की जीती जागती प्रतिमा माना गया है।

आचार श्रमण के जीवन की आत्मा है। वह जीवन की अभिव्यक्ति है। आचार की ऊष्मा को जीवन में जीकर ही अनुभव किया जा सकता है, शब्दों से नहीं। आचार श्रमण के जीवन का सार्वजनिक सार्वकालिक, जीवन्त और जागृत शाश्वत स्वरुप है। इतना ही नहीं, अपितु वह प्रत्येक जागृत आत्मा की अनुभूति है। अनगार, श्रमण और साधु-इन तीन शब्दों का व्यवहार सर्वविरत अवस्था के साधकों के अर्थ में होता है, इसलिए इनके वाच्यार्थ और अभिप्राय को जानना आवश्यक है। जैन परम्परा में कार्य विभाजन की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय और साधु-श्रमणों के ये तीन वर्ग बताये गये हैं। आचार्य और उपाध्याय सामान्य श्रमणाचार के साथ-साथ अपने विशेष कर्तव्यों का निर्वहन भी करते हैं। सभी श्रमणों को 'अनगार', 'श्रमण' और 'साधु' शब्दों से जाना जाता है। आगे के कुछ अनुच्छेदों में इन शब्दों को अभिधान राजेन्द्र एवं अन्य सन्दर्भों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

अणगार (अनगार) :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'अणगार' (संस्कृत में 'अनगार') शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है - अणगार, मुनि, मौनी, साधु, प्रवजित, व्रती, श्रमण, क्षपक, यति-ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं[1]। 'अणगार' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ दर्शाते हुए आचार्यश्रीने कहा है - द्रव्य से गृह घर, महल, हवेली आदि से रहित और भाव से अनन्तानुबंधी आदि कषाय रहित/अल्पकषायी को 'अणगार' कहते हैं[2]। नंदीसूत्र में द्रव्य-भावगृह के परित्यागी[3] को; भगवतीसूत्र में साधु[4] को; सूत्रकृताङ्ग में गृहरहित[5] को; आचारांग में गृहव्यापारत्यागी[6] और पुत्र, मुनः, दौहित्र, पुत्री, ज्ञाति, धात्री आदि परिवार रहित[7] को; और स्थानांग में भिक्षु[8] को 'अणगार' कहा है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'मुनि' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है - जो सर्वविरति को जानता है, विरतिवान् है, जगत की त्रैकालिक अवस्था के ज्ञाता, अतीन्द्रिय ज्ञाता, परोक्षज्ञ, त्रैकालिक विषयपूर्वक आत्मा (आत्म-स्वरुप) के ज्ञाता, सम्यक्त्व के ज्ञाता; उन्हें 'मुनि' कहते हैं[9]। जो यथार्थ उपयोग के द्वारा द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक स्वभाव, गुण, पर्याय के निमित्त-उपादान, कारणकार्यभाव, उत्सर्ग-अपवाद पद्धतिपूर्वक जीव-अजीव लक्षण को/जगत् को जानता है, वह मुनि है[10]। सावद्य व्यापार के त्यागी, साधु, अद्रोह-अध्यवसायवान्, यथावस्थित संसार-स्वभाववेत्ता, तीर्थंकर, यति, सर्वज्ञ, महर्षि, मननशील, वाचंयम, संयत, मोक्षमात्रनिष्ठ, तपस्वी, मौनी तत्त्वज्ञानी, राग-द्वेषवर्जित, त्रिविधपरिषहसहनशील - जैनागमों में मुनि के ये सब पर्यायवाची नाम वर्णित हैं[11]। पाइयलच्छीनाममाला में मुनि के पर्यायवाची नाम यति, तपस्वी, तापस, ऋषि, भिक्षु, मुनि, श्रमण बताये गये हैं[12]।

मुनि की स्वाभाविक विशेषता का वर्णन करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि 'वाणी के अनुच्चारण रुप मौन तो एकेन्द्रिय में भी सुलभ है, परन्तु मन-वचन-काय के योगों के द्वारा पुद्गलस्कन्धजनित वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संस्थानादि में इन्द्रियों की चपलता/चंचलता पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करने रुप मौन उत्तम है, जो मुनि को होता है[13]।

श्रमण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'समण' शब्द पर जैन मुनि के पर्यायवाची शब्द 'श्रमण' की नूतन व्याख्या की है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्राकृत 'समण' शब्द के संस्कृत में छः अर्थ हैं - 1. **शमन** - रोग प्रशमन, औषध[14] 2. **समण** - जो शत्रु-मित्र में समभावपूर्वक रहता हुआ दोनों के प्रति समान प्रवृत्ति व्यवहार रखे, उसे 'समण' कहते हैं। वह किसी भी जीव का घात स्वयं करता नहीं, दूसरों से कराता नहीं और करने वालों की अनुमोदना भी नहीं करता[15]। 3. **समनस्** - जो मन से सुंदर अर्थात् निदान-परिणाम लक्षण रुप ताप रहित वर्तते हैं, उन्हें 'समनस् कहते हैं।[16] 4. **श्रमण** - साधु 5. **श्रवण** - नक्षत्र का नाम[17] 6. **समनस्** - मनः पर्यवज्ञान युक्त, भाव सहित[18]।

सामान्य अर्थ में जो पाँच इन्द्रियों और छठे मन से श्रम करते हैं, उसे 'श्रमण' कहते हैं। और जैनागम विषयक शब्दावली में जो संसार के विषयों से उद्विग्न होकर (मोक्ष हेतु) तपस्या करते हैं उन्हें 'श्रमण' कहते हैं। स्वजन-परजन, मान-अपमान त्रस-स्थावर इत्यादि में समान जो श्रद्धात्मा तप का आचरण करते हैं, उन्हें श्रमण कहते हैं[19]। सूत्रकृताङ्ग में कहा है कि सर्व प्रकार से अनर्थ के हेतुभूत

1. अ.रा.पृ. 1/267
2. वही-1/268; उत्तराध्ययन-34 अध्ययन
3. अ.रा.पृ. 1/268
4. भगवती सूत्र 15/1
5. सूत्रकृतांग 2/1
6. आचारांग 2/6/2
7. आचारांग 1/2/5
8. स्थानांग 6/10
9. अ.रा.पृ. 6/309
10. अ.रा.पृ. 6/310; अष्टक-13/7
11. अ.रा.पृ. 6/311
12. पाइयलच्छीनाममाला, गाथा 32
13. अ.रा.पृ. 6/310
14. अ.रा.पृ. 7/410
15. वही, स्थानांग 4/4; अनुयोगद्वार सूत्र, गाथा-3
16. अ.रा.पृ. 7/410; स्थानांग 4/4
17. अ.रा.पृ. 7/412; चंद्रप्रज्ञप्ति, 10 पाहुड
18. अ.रा.पृ. 7/412; कर्मग्रंथ 4; प्रश्नव्याकरणाङ्ग, 4 संवर द्वार
19. अ.रा.पृ. 7/410

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से अथवा उभयलोक विरुद्ध होने से मुमुक्षु सावद्य अनुष्ठान की विरति (त्याग) करते हैं। इस प्रकार विरतिवान्, दान्त (जितेन्द्रिय), शुद्ध द्रव्यभूत शरीर शुश्रूषा नहीं करने से व्युत्सृष्टकाय मुमुक्षु 'श्रमण' कहलाता हैं[20]। आगे अभिधान राजेन्द्र कोश में श्रमण शब्द के तीर्थिक, यति, निश्चलमन, 12 प्रकार के तपोनिष्ठ देह, तपःश्री समालिङ्गित, महातपस्वी, परमसमाधिप्राप्त, परिव्राजकविशेष, त्रिदण्डी आदि, मुक्ति के लिए विद्यमान साधु, प्रव्रजित, महाव्रती, साधु, मुनि, तथाविध बहुलोक सम्मतिपूर्वक गृहस्थ पर्याय में भी 'श्रमण' नाम प्राप्त वीर/महावीर स्वामी, आदि अनेक अर्थ दर्शाये हैं[21]।

श्रमण के पर्यायवाची शब्द[22] :-

1. **प्रव्रजित** – आरंभ परिग्रह से प्रकर्षपूर्वक गया हुआ – आरम्भमुक्त।
2. **अणगार** – जिसे अगार अर्थात् गृह / घर नहीं है।
3. **पाखण्ड (पाषण्ड)** – पाप का खण्डन करनेवाला व्रती, कर्मपाश से मुक्त।
4. **चरक** – जो तप को चरता है, तप का आचरण करता है।
5. **तापस** – तपोयुक्त।
6. **भिक्षु** – भिक्षणशील, आठों प्रकार के कर्मों का भेदन करनेवाला।
7. **परिव्राजक** – समस्त पापों के वर्जन पूर्वक चलनेवाला ('व्रज-गतौ धातु' से व्युत्पन्न)।
8. **समण** – पूर्ववत्।
9. **निर्ग्रन्थ** – बाह्याभ्यन्तर ग्रंथ (बंधन) रहित।
10. **संयत** – अहिंसादि हेतु प्रयत्नवान्।
11. **मुक्त** – बाह्याभ्यन्तर बंधन से मुक्त।
12. **तीर्णवान्** – संसारसागर से पार उतरा हुआ
13. **त्राता** – धर्मकथादि के द्वारा सांसारिक दुःखों से रक्षा करनेवाला (रागादि भाव से रहित होने से)।
14. **द्रव्य** – ज्ञानादि भावों का जाननेवाला
15. **मुनि** – अतीन्द्रिय भाव, सम्यक्त्व और जगत् के त्रैकालिक स्वरुप के ज्ञाता, मौनी।
16. **क्षान्त** – क्रोधविजयी।
17. **दान्त** – इन्द्रियादि का दमन करनेवाला (पंचेन्द्रियविषयजेता)।
18. **विरत** – प्राणातिपातादि से निवृत्त।
19. **रूक्ष** – स्नेह परित्यागी।
20. **तीरार्थी** – संसारसागर से पार उतरने का इच्छुक।
21. **तीरस्थ** – सम्यक्त्वादि प्राप्त।

श्रमण कैसे होते है ?[23]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने जैनागमानुसार मुनि के स्वभाव एवं आचार का ज्ञान करानेवाली अनेक उपमाओं द्वारा श्रमण का वर्णन किया है, जो निम्नानुसार हैं-

1. **सर्पसम** – सर्प की तरह परकृत निवास में रहनेवाले।
2. **गिरिसम** – परीषह और उपसर्ग में निष्प्रकम्प।
3. **अग्निसम** – तप से तेजस्वी, ज्ञान में हंमेशा अतृप्त रहकर नित्य नये ज्ञान की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करनेवाला।
4. **सागर सम** – गंभीर, ज्ञानादि के रत्नाकर, स्वमर्यादानतिक्रामी।
5. **नभः सम** – निरालम्ब
6. **तरुसम** – सुख-दुःख में तद्जनित विकार रहित।
7. **भ्रमर सम** – अनियत वृत्ति अर्थात् विभिन्न गृहों से भिक्षाग्राही।
8. **मृग सम** – संसार भय से उद्विग्न/भयभीत।
9. **पृथ्वी सम** – सर्वसुखदुःखसहिष्णु
10. **जलरुह (कमल) सम** – काम-भोग में निर्लिप्त
11. **सूर्यसम** – षड्द्रव्य/लोक के समस्त स्वरुप के प्रकाशक
12. **पवनसम** – सर्वत्र अप्रतिबद्ध
13. **विष सम** – सर्वरसअनुपाती (बिना स्वाद के भोजनग्राही)
14. **वंश (बाँस) सम** – नम्र
15. **वेतससम** – वेतसवत् क्रोधादि विषनाशक (वेतस से सर्पविष नष्ट होता है, मुनि से क्रोधियों का क्रोध नष्ट होता है)।
16. **कर्णिका (पुष्प) सम** – प्रकट
17. **निर्गन्ध** – अशुचि गंध रहित
18. **उत्पलसम** – प्रकृत्याधवल (निर्मल), सदाचार रुप सद्गुणों से युक्त
19. **उन्दुरसम** – उपयुक्त देशकालचारी/समयज्ञ
20. **नट सम** – समयानुकुल व्यवहारयुक्त
21. **कुर्कुट सम** – मण्डली में समुदाय सहित आहारभोजी।
22. **आदर्श (दर्पण) सम** – निर्मल, बाल-वृद्ध-तरुण के साथ तद्वत् व्यवहार करनेवाले।

साधु :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'साधु' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो शोभन (सुंदर) होता है, निर्दोष होता है, जो सम्यग्दर्शनादि योगों के द्वारा मोक्ष को साधता है, जो विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा मोक्ष को साधता है / मोक्ष का पोषण करता है, जो ज्ञानादि शक्ति (शस्त्र) के द्वारा मोक्ष को साधता है, जो सर्वभूतों (प्राणियों) के प्रति समता को ध्याता है, जो संयम में सहायक है, अथवा जो संयमकारी को साधता है, जो अभिलषित अर्थ (लक्ष्य) को साधता है,

20. अ.रा.पृ. 7/412; सूत्रकृताङ्ग 1/16
21. अ.रा.पृ. 7/412
22. अ.रा.पृ. 7/411
23. अ.रा.पृ. 7/410-411

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो निर्वाण साधक योगों को साधता है, 18 दोषों का वर्जक, सुयति, मुक्तिसाधक, यथावस्थित यति, मुनि, ज्ञान-दर्शन-चारित्रक्रियायुक्त मोक्षमार्ग व्यवस्थित करनेवाला, ज्ञानादि क्रिया से मुक्तिसाधनप्रवण, भिक्षु, सदाचारी, परमार्थिक यति, ब्रह्मचर्यादिगुणान्वित को 'साधु' कहते हैं[24]।

भाव साधु के लक्षण - भाव साधु चरण-करण युक्त होता है, वह मोहविष का घात करता है; वह मार्गानुसारी, गंभीरचेता, क्रोधाग्नि से अदाह्य, अकुथनीय, सदोचित शीलभावयुक्त होता है। आलयविहार, भाषा, चंक्रमणस्थान, विनय कर्म से साधु की पहचान होती है[25]। भावित अनगार युगमात्र दृष्टिपूर्वक चलता है।[26]

धम्मपद में भी कहा है कि, जो मलविहीन है, शील में जो रत है और जो इन्द्रियदमन तथा सत्य से युक्त है वह मनुष्य काषाय (साधुवेश) धारण करने योग्य है।[27] आगे कहा है - यदि शास्त्रों का थोडा भी भाषण करता हुआ मनुष्य उसके अनुसार धर्माचरण करता है, राग-द्वेष और मोह का परित्याग करता है, सम्यक् प्रज्ञायुक्त हुआ निश्चित चित्तवाला होता है तथा इसलोक और परलोक में आसक्ति से रहित होता है वह श्रमण बनने योग्य होता है।[28] जो मनुष्य शांत, जितेन्द्रिय, संयम और ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला है तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्ड का त्यागकर चुका है, वह ब्राह्मण है, श्रमण है, भिक्षु है,।[29] जो हाथ-पैर-वाणी से उत्तम रुप से संयत है, जो अध्यात्मरत है, और जो समाधियुत, अकेला (परिग्रहरहित) और संतुष्ट है, वह भिक्षु है।[30]

साधु के प्रकार[31] :-

क. साधु के तीन प्रकार होते हैं-

1. **आचार्य** - विशिष्टसूत्रार्थदेशक
2. **उपाध्याय** - सूत्रपाठक (पठन-पाठन कर्ता)
3. **सामान्य साधु**

ख. साधु दो प्रकार के होते हैं -

1. **गच्छवासी** - (स्थविर कल्पी)
2. **गच्छनिर्गत** - जिनकल्पी आदि।

स्थविरकल्प और जिनकल्प :-

जैसा कि कहा गया है, साधु दो प्रकार के होते हैं - 1. गचछवासी और 2. गच्छनिर्गत। अत: इनका कल्प अर्थात् आचरण भी दो तरह का होता है - **1. स्थविर कल्प** - गच्छवासी साधु के आचार को स्थविर कल्प और उन साधुओं को स्थविर कल्पी कहा जाता है।[32] **2. जिनकल्प** - जिनेश्वर के विहारकाल में विशिष्ट आत्माएँ जिनसदृश कठिन साध्वाचार का पालन करती हैं, उसे जिनकल्प कहते हैं और उन साधुओं को 'जिनकल्पी' कहा जाता है।[33]

स्थविरकल्प :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में स्थानांग सूत्र के अनुसार आचार्यश्रीने कहा है कि आचार्यादि की गच्छप्रतिबद्ध समाचारी को स्थविरकल्प कहते हैं।[34]

विधि[35] - आचार्यादि के द्वारा सर्वप्रथम योग्य, विनीत शिष्य को विधिवत् आलोचना देकर प्रशस्त द्रव्यादिगुणयुक्त गुरु के द्वारा प्रवज्या दी जाती है। प्रवज्या के पश्चात् उसे 12 वर्षतक सूत्रों के अध्ययनरुप शिक्षाग्रहण और प्रतिलेखन-प्रत्युपेक्षण आदि क्रिया के उपदेशरुप आसेवन शिक्षा दी जाती है। पश्चात् 12 वर्षतक सूत्रों के अर्थ का ज्ञान कराया जाता है।

समाचारी - स्थविरकल्पी साधु अनियतवासी होते हैं। वे मासकल्पादि नियमानुसार विभिन्न ग्राम-नगर देश में विहार करते हैं। धर्मोपदेश देकर शिष्यों को प्रतिबोधित कर प्रवज्या देते हैं[36]। उनके पास प्रतिग्रह (गुच्छक) पात्र सहित, वस्त्र, अन्य औपग्रहिक उपधि दंड, आसनादि होते हैं[37]; वे सपरिकर्मित या अपरिकर्मित वसति में रहते हैं[38]। अभिग्रहसहित या अभिग्रहरहित, लेपकृत या अलेपकृत भिक्षा ग्रहण करते हैं।[39]

स्थविरकल्पी साधु उत्कृष्ट से तृतीय प्रहर में अपवाद से प्रथम पोरिसी में भिक्षाचर्या (गोचरी) हेतु जाते हैं।[40] दुर्बल संहनन होने के कारण, बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी, क्षपक, प्राहुणा, आचार्य, उपाध्याय, शैक्षक (नवदीक्षित) आदि के लिए आहार हेतु, देवद्रव्यादि के नाशक को शिक्षा देने हेतु, स्वाध्याय हेतु, लघुनीति-बृहद् नीति हेतु, पूर्वगृहीत पीठ-फलकादि देने हेतु, उपद्रव होने पर, जिनदर्शन आदि स्व-पर कार्य उपस्थित होने पर प्रथमादि प्रहर में भी विहार करते हैं, उपाश्रय से बाहर जाते हैं[41]। स्थविरकल्पी साधु स्वल्प आयु शेष रहने पर भक्तपरिज्ञादि अनशन करते हैं अथवा दीर्घायु और शक्तिसंपन्न होने पर जिनकल्प भी ग्रहण करते हैं।[42] स्थविरकल्पी की यह समाचारी उत्सर्ग-उपवाद दोनों पदों से युक्त हैं।[43]

जिनकल्प :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार सूत्रार्थ को अव्यवच्छिन्न (अबाधित) रखते हुए कम से कम 29 वर्ष कि आयु और जघन्य से 20 वर्ष के दीक्षा पर्याय वाले गणधर, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर या अभिन्नदशपूर्वधर आचार्यादि या इन्द्रिय-कषाय-योगविजेता साधु दीर्घकाल तक स्थविरकल्प में दीक्षा पालन करते हुए वाचनादि देकर, अनेक शिष्यों को दीक्षितकर शासन को अबाधित रखते हुए आत्मकल्याण हेतु संघ या संघ के अभाव में गच्छ/गण को इकट्ठा कर सकल संघ से क्षमापना करके वटवृक्ष या अशोकवृक्ष के नीचे प्रशस्त मुहूर्तादि में

24. अ.रा.पृ. 7/802
25. अ.रा.पृ. 7/802-803
26. अ.रा.पृ. 1/271
27. धम्मपद 1/10
28. धम्मपद 1/20
29. धम्मपद 10/14
30. धम्मपद 25/3
31. अ.रा.पृ. 7/803
32. अ.रा.पृ. 7/803
33. अ.रा.पृ. 4/2387
34. अ.रा.पृ. 4/1469
35. अ.रा.पृ. 4/2387; स्थानांग 3/4
36. अ.रा.पृ. 4/2388
37. वही
38. अ.रा.पृ. 4/2389
39. अ.रा.पृ. 4/2390
40. अ.रा.पृ. 4/2391
41. अ.रा.पृ. 4/2392
42. अ.रा.पृ. 4/238
43. अ.रा.पृ. 4/2394

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनकल्प अंगीकार करते हैं।[44] दश पूर्व से अधिकज्ञानी साधु प्रवचन-प्रभावना, परोपकारादि के द्वारा बहुत निर्जरा का लाभ होने के अवसर प्राप्त होने पर जिनकल्प ग्रहण नहीं करते।[45]

जिनकल्पी साधु सूत्रार्थ विशारद, वज्रऋषभनाराच संहनन युक्त, दृढ मनोबलवाले, धैर्यवान्, वीर्यवान्, राग-आतंक-उपसर्ग सहन करने में समर्थ होते हैं। वे ध्रुवलोच (प्रतिदिन लोच), आतापना प्रमुख तप, रुक्ष भोजनवाले होते हैं। वे जिस गाँव में मासकल्प करते हैं वहाँ गाँव के छः भाग की कल्पना करके प्रतिदिन एक-एक भाग में गोचरी जाते हैं। वे दिन के तृतीय प्रहर में अभिग्रहयुक्त अलेपकृत आहार-पानी ही ग्रहण करते हैं, लेपकृत (घी आदि से युक्त) आहारादि नहीं लेते।[46]

जिनकल्पी साधु विशिष्ट प्रतिमा तप ग्रहण नहीं करते। जिनकल्प का पालन ही उनका विशेष अभिग्रह होता हैं।[47] जिनकल्पी साधु दीपक या प्रकाश से रहित, अपरिकर्मित वसति में रहते हैं। वे वसति के द्वार बंध नहीं करते, गाय आदि को दूर नहीं करते, वसति-स्वामी की आज्ञा के बिना उस वसति की मन से भी इच्छा नहीं करते। वसतिस्वामी की अंशमात्र भी अप्रीति होने पर वहाँ नहीं रहते।[48]

जिनकल्पी साधु तृतीय प्रहर में ही विहार करते हैं।[49] जिनकल्पी साधु आवश्यकी और नैषेधिकी - दो चक्रवाल समाचारी का पालन करते हैं, शेष का नहीं।[50] उन्हें ओघ उपाधि में 12 उपकरण होते हैं।[51] जिनकल्पी साधु को जघन्य से नौंवे प्रत्याख्यान पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु तक और उत्कृष्ट से दशपूर्व तक श्रुत का अध्ययन होता है जिससे उन्हें कालज्ञान प्राप्त होता हैं।[52]

जिनकल्पी के पाँच प्रतिमाएँ होती हैं। जिनकल्पी साधु पहली उपाश्रय में, दूसरी उपाश्रय के बाहर, तीसरी चौराहे पर, चौथी शून्यगृह में और पाँचवी प्रतिमा श्मशान में धारण करते हैं।[53] जिनकल्प धारण करनेवाले साधु को उपशम श्रेणी होती हैं; क्षपक श्रेणी नहीं।[54] वर्तमान में पूर्वश्रुत के अभाव में जिनकल्प नहीं है।[55]

अनगार के सत्ताईस गुण[56] :-

अनगार अर्थात् जिनशासन में दीक्षित आचार्य अथवा उपाध्याय पद से रहित श्रमण साधु निम्नाङ्कित सत्ताईस मूलगुणों के धारक होते हैं-

पाँच महाव्रत (5), पंचेन्द्रिय निग्रह (5), चतुःकषाय विवेक (अनंतानुबंधी आदि तीन का त्याग, संज्वलन कषाय की जयणा) (4), भावसत्य (1), करणसत्य (1), योगसत्य (1), क्षमा (1), विरागता (1), अकुशलमन-वचन-काय का निरोध (3), ज्ञान-दर्शन-चारित्रसंपन्नता (3), अतिवेदन-सहिष्णुता (1), और मारणांतिक-उपसर्गसहिष्णुता (1)।

प्रवज्या

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'प्रवज्या' की व्याख्या करते आचार्यश्रीने कहा है कि गृहस्थी संबन्धी पापव्यापार का त्याग करके मोक्ष के प्रति शुद्ध संयम योग/चारित्र मार्ग में व्रजन/गमन करना 'प्रवज्या' हैं।[57] जिनेन्द्र वर्णीने भी कहा है कि वैराग्य की उत्तम भूमिका को प्राप्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति अपने सब सगे-संबन्धियों से क्षमा माँगकर, गुरु की शरण में जाकर, संपूर्ण परिग्रह का त्याग कर देता है और ज्ञाता-द्रष्टा मात्र रहता हुआ सौम्य जीवन बिताने की प्रतिज्ञा करता है। इसे ही प्रव्रज्या या जिनदीक्षा कहते हैं।[58]

प्रवज्या के पर्याय[59] - अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने प्रवज्या के निम्नाङ्कित पर्याय दर्शाये हैं-

1. प्रवज्या	:	शुद्ध संयम योगों में व्रजन (गमन)।
2. निष्क्रमण	:	द्रव्य-भाव संग से बाहर निकलना (उसका त्याग करना)।
3. समता	:	सुख और दुःख के निमित्तों के उपस्थित होने पर समभाव रखना।
4. त्याग	:	प्राणियों के इष्ट-अनिष्ट के विषयों का त्याग
5. वैराग्य	:	पाँचों इन्द्रियों के विषयों से वैराग्य (हृदय से इन्द्रियविषयभोग सम्बन्धी राग का नाश)।
6. धर्माचरण	:	क्षान्ति आदि दशविध यति धर्मो का आचरण।
7. अहिंसा	:	प्राणघातवर्जन।
8. दीक्षा	:	सब प्राणियों को अभय प्रदान करना।

प्रवज्या के भेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने अन्य भी अनेक प्रकार से प्रवज्या का वर्णन किया है, जो निम्नानुसार है[60]:-

1. इसलोक प्रतिबद्धा प्रवज्या-

इस लोक में भोजन की प्राप्ति हेतु

2. परलोक प्रतिबद्धा प्रवज्या--

परलोक में सुख-समृद्धि, काम-भोग की प्राप्ति हेतु

3. उभय लोक प्रतिबद्धा प्रवज्या-

इस लोक और परलोक में लाभ की प्राप्ति हेतु

4. पुरतः प्रतिबद्धा प्रवज्या-

प्रवज्या पर्याय ज्यादा होने से अनेक शिष्यादि की प्राप्ति हेतु

5. मार्ग प्रतिबद्धा प्रवज्या-

स्वजनादि के स्नेह का छेद होने पर

6. द्विधा प्रतिबद्धा प्रवज्या-

उक्त दोनों कारणों से

7. अप्रतिबद्धा प्रवज्या-

विशिष्ट सामायिक युक्त भाव प्रवज्या

8. तुयावइत्ता प्रवज्या-

दीक्षार्थी को पीडा उत्पन्न कर दी जानेवाली प्रवज्या, जिसमें दीक्षा लिये बिना पीडा मुक्ति न हो सके

---

44. अ.रा.पृ. 4/1477
45. अ.रा.पृ. 4/1469, 1472, 1473
46. अ.रा.पृ. 4/1473
47. अ.रा.पृ. 4/1475
48. अ.रा.पृ. 4/1474
49. अ.रा.पृ. 4/1473, 1477
50. अ.रा.पृ. 4/1473
51. अ.रा.पृ. 2/
52. अ.रा.पृ. 4/1473
53. अ.रा.पृ. 4/1479
54. वही
55. अ.रा.पृ. 4/1473
56. अ.रा.पृ. 4/278; समवयांग, 27 समवाय
57. अ.रा.पृ. 5/730
58. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश 3/149
59. अ.रा.पृ. 5/730
60. अ.रा.पृ. 5/730-731-732

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

9. पुयावइत्ती प्रवज्या-

स्वजनादि द्वारा विघ्नोत्पत्ति की शंका हो या एसे ही अन्य कारण उत्पन्न होने पर अन्यत्र जाकर दीक्षा देना

10. बुयावइत्ता प्रवज्या-

मुमुक्षु को प्रतिबोध पूर्वक दी जानेवाली दीक्षा

11. मोयवइत्ता प्रवज्या-

साधु के निमित्त से हुए कर्ज से मुक्त करके दी जानेवाली दीक्षा

12. परिपुयावइत्ता प्रवज्या-

क्षुधा से आकुल होने के कारण भोजन हेतु ग्रहण की जानेवाली प्रवज्या (जैसे - आर्य सुहस्तिसूरिने द्रमक-भिक्षुक को दी थी)

13. उवाय प्रवज्या-

सद्गुरुओं की सेवा के कारण या उससे जनित वैराग्यपूर्वक प्रवज्या ग्रहण करना

14. संगार (संकेत) प्रवज्या-

'यदि तुम प्रवज्या ग्रहण करोगे तो मैं भी करुंगा' - एसे संकेतपूर्वक प्रवज्या ग्रहण करना

15. विहगगति / परिजूणा प्रवज्या-

परिवारादि के वियोग से या देशान्तर गमन से या दारिद्रादि कारण से प्रवज्या ग्रहण करना

16. नटवरवादिता प्रवज्या-

संवेगविकल धर्मकथा करनेपूर्वक उपार्जित भोजनादि भक्षण करना

17. भटस्वादिता प्रवज्या-

संवेगशून्य धर्मकथनपूर्वक भोजनादि प्राप्त करना

18. सिंहस्वादिता प्रवज्या-

शौर्यातिरेक से (गुरुजनों की) अवज्ञा करके प्राप्त भोजनादि ग्रहण करना

19. शृगालखादिता प्रवज्या-

कपटवृत्तिपूर्वक आहार प्राप्त करके अन्यान्य स्थान में जाकर ग्रहण करना

20. धान्यपुंज प्रवज्या-

जिसमें अतिचार (दोष) रहित थोडे से प्रयत्न से स्व-स्वभाव की प्राप्ति हों

21. विक्षिप्तधान्य समान प्रवज्या-

गाय के खुर से चारों ओर फैलाये गए धान्य कणों के समान जिसमें गुणराशि यत्र-तत्र विकीर्ण हो जाय

22. धान्यविकीर्णसमाना प्रवज्या-

अतिचार युक्त प्रवज्या, जिसमें स्व-स्वभाव की प्राप्ति में कालक्षेप हो।

23. धान्य संकर्षित समाना प्रवज्या-

अतिशय अतिचार दोषयुक्त प्रवज्या, जिसमें स्व-स्वभाव की प्राप्ति में बहुत कालक्षेप हो

24. छन्दा प्रवज्या-

स्व या पर के अभिप्राय/प्रयोजन विशेष से ग्रहण की जाती प्रवज्या। जैसे - भ्राता भवदत्त के लिए भवदेवने प्रवज्या ग्रहण की।

25. रोसा प्रवज्या-

रोषपूर्वक प्रवज्या ग्रहण करना, जैसे-शिवभूतिने की।

26. परिजूणा प्रवज्या-

दारिद्रय से पीडित होकर प्रवज्या ग्रहण करना। जैसे-लकडहारे ने की।

27. सुमिणा प्रवज्या-

स्वप्न में प्रतिबोध प्राप्त कर प्रवज्या ग्रहण करना। जैसे पुष्पचूलाने की।

28. पडिस्सुया (प्रतिश्रुता) प्रवज्या-

प्रतिज्ञापूर्वक प्रवज्या ग्रहण करना जैसे - शालिभद्र के बहनोई धन्यकुमारने की।

29. सारणिया (सारणिका) प्रवज्या-

पूर्व भव का स्मरण कराकर जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होने से 19 वें तीर्थंकर श्री मल्लिकुमारी के द्वारा प्रतिबोध प्राप्त कर छः राजाओंने जैसे दीक्षा ग्रहण की, वैसे दीक्षा ग्रहण करना।

30. रोगणिया प्रवज्या-

रोग के आलंबन से प्रवज्या ग्रहण करना। जैसे सनत्कुमार ने की।

31. अणाढिया प्रवज्या-

अनादर होने से दीक्षा ग्रहण करना। जैसे-नंदीषेण के द्वारा पुनः प्रवज्या ग्रहण करना।

32. देवसन्ना (दवसंज्ञा) प्रवज्या-

पूर्वभव संबंधी देव के द्वारा प्रतिबोध करने पर प्रवज्या ग्रहण करना। जैसे-मेतार्य मुनि ने की।

33. वत्सानुबंधिका प्रवज्या-

पुत्र के स्नेह से प्रवज्या ग्रहण करना। जैसे-वज्रस्वामी की माता सुनंदाने की।

निक्षेपानुसार प्रवज्या के अर्थ :-

नाम प्रवज्या - किसी व्यक्ति या वस्तु का 'प्रवज्या' - एसा नामकरण करना।

स्थापना प्रवज्या - रजोहरण, मुखवस्त्रिका (मुहपत्ति) आदि संयमोपकरण में प्रवज्यामय जीवन स्थापित करना।

द्रव्य प्रवज्या - चरक, परिव्राजक, संन्यासी आदि लौकिक धर्म के अनुयायियों की प्रवज्या या राग, द्वेष, दबाव, वियोग, आजीविका, भोजनादि कारणों से ली गई जैन प्रवज्या।

भाव प्रवज्या - मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि भाव प्रवज्या के बाह्य लिङ्ग है और आरंभ पृथिव्यादी कार्यों में हिंसा (परिग्रह संघट्टनादि रुप) आदि बाह्य तथा मिथ्यात्वादि आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरुप भाव प्रवज्या हैं।[61] अभिधान राजेन्द्र कोश में आगे कहा है कि केशलोचादि द्रव्य दीक्षा है और क्रोधादि का अपनयन करना भाव दीक्षा है।[62] जैन मुनि के द्वारा मन-वचन-काय की निर्मलतापूर्वक पंचमहाव्रत, पंचाचार, अष्ट प्रवचनमाता आदि चारित्र धर्म का निरतिचार पालन करना भाव प्रवज्या है।[63]

प्रवज्या के निमित्त :-

तीर्थंकर-गणधरादि के उपदेश से या निमित्त से या बिना किसी निमित्त के या निमित्तपूर्वक प्राप्त जाति स्मरणादि ज्ञान, या श्रावक के गुण प्रत्यय से उत्पन्न अवधिज्ञान या अन्यदर्शनी के विभंग

61. अ.रा.पृ. 5/730
62. अ.रा.पृ. 5/732
63. अ.रा.पृ. 5/730

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य से या 'यह यतिधर्म सांसारिक समस्त दु:खों का नाशक है, क्षान्त्यादि गुणयुक्त है, दुष्कर्मरहित है, कुस्त्री-वस्त्र-धन-स्थान इत्यादि की चिन्ता नहीं रहती और इससे ज्ञान प्राप्ति, लोक पूजा, प्रशम सुखरस, स्वर्ग सुख और मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है' -इत्यादि प्रवज्या की महिमा श्रवण करने से प्राप्त उच्च वैराग्य से प्रवज्या की प्राप्ति होती है।[64]

जैनदीक्षा न तो बच्चों का खेल है, न कोई सामान्य बात है; यह तो आत्म कल्याण एवं कर्मनिर्जरा हेतु मोक्ष साधना का कठोरतम मार्ग है अत: अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने दीक्षार्थी की पात्रता-अपात्रता का भी वर्णन किया हैं।

दीक्षार्थी की पात्रता - आर्यदेशोत्पन्न, विशिष्ट जातिकुलान्वित, क्षीणप्राय: कर्ममल, विमलबुद्धि, अवगत संसारनैर्गुण्य, विरक्त, अल्पकषाय (प्रतनुकषाय), कृतज्ञ, विनीत, राजादि बहुजनमान्य, अद्रोहकारी, कल्याणाङ्ग, श्राद्ध (श्रावक), स्थिर, समुपसंपन्न, सेवितगुरुकुलवास, अस्खलितशील, अखण्डशील, यथोक्त योग-विधानपूर्वक गृहीतसूत्र, तत्त्वज्ञ, उपशान्त, प्रवचनवात्सल्ययुक्त, सत्त्वहितरत, आदेय (ग्राह्यवाक्य), अनुवर्तक, गंभीर, अविषादी, उपशमलब्धि, उपकरणलब्धि आदि गुणों से युक्त मनुष्य प्रवज्या ग्रहण करने योग्य है।[65]

दीक्षा के लिए अपात्र - अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने दीक्षादाता गुरु भगवंतो को रेड सिग्नल बताते हुए कहा है कि "पाप स्थानों की आलोचना नहीं करनेवाला, वेश्यागृहीत, दीक्षा के समय अशुभ दुर्निमित्त होने पर, मिथ्यादेशोत्पन्न अनार्य, वेश्यासुत, गणिक, चक्षुविकल, विगलित कर-चरण, छिन्न नाक-कान-ओष्ठ, कुष्ठी, गलित अङ्गोपाङ्ग, पंगु, मूक, बधिर, अत्युत्कटकषायी, बहुपाखंड संसक्त, अतिरागद्वेषमिथ्यात्वमललिप्त, देशनिष्कासन दण्डयुक्त, देवबलीकरण, भोइ, नट, छत्रवारण, जड, जडबुद्धि, नामहीन, बलहीन, कुलहीन, जातिहीन, बुद्धिहीन, प्रज्ञाहीन, निंदित जाति और अज्ञातकुल-स्वभाव वालों को दीक्षा (प्रवज्या) नहीं देना चाहिए।[66] तथा बाल (आठ वर्ष से कम उम्र वाला), वृद्ध, नपुंसक, जड, क्लीब दृष्टि असमर्थ), वातिक, चोर, राजापकारी (राजद्रोही), उन्मत्त, अदर्शन (प्रज्ञाचक्षु), दोषदुष्ट, मूढ, जुंगिक (जाति-कर्म-शरीरादि से दूषित), उद्धत, गर्भिणी, और बालवत्सा को प्रवज्या नहीं देना।[67]

मुमुक्षु की परीक्षा विधि :- दीक्षा दाता गुरु प्रवज्या से पूर्व दीक्षार्थी की आँखो पर पट्टी बांधकर समवसरण में तीन बार पुष्पपात करावें। यदि वे पुष्प परमात्मा की गोद में, सिंहासन में या समवसरण में गिरे तो दीक्षा देवें; और यदि तीनों बार पुष्प समवसरण से बाहर गिरें तो उस व्यक्ति को दीक्षा नहीं दे और कहे कि "आप अभी ओर अध्ययन करें, आगे यथावसर देखा जायेगा।'

दीक्षादाता के गुण[69] - दीक्षादाता गुरु प्रवचनार्थवक्ता, स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपदप्राप्त, बहुतरगुणयुक्त, वीतराग प्रतिपादित होना चाहिए। जो गुरु स्वभाव-अनुकूलता के द्वारा शिष्यों को हितमार्ग में जोडते हैं, आगमोक्त विधिपूर्वक ज्ञात-क्रिया का निष्पादन करते हैं, वे गुरु शिष्यों को एवं स्वयं को मोक्ष में ले जाते हैं। शिष्यों में भी एसे गुरु के प्रति गुरुभक्ति, बहुमान और श्रद्धा होती है। गुर्वाज्ञापालक शिष्य ज्ञानादि लाभ प्राप्त कर चारित्र में स्थिर होता है, उससे रागादि दोष कम/नष्ट होते हैं, चारित्र की वृद्धि एवं शुद्धि होती है एवं अभ्यास के अतिशय से इस भव और अन्य भव के समस्त कर्मक्षय होने पर शिष्यों को परमपद/मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

प्रवज्याविधि[70] :- गीतार्थ गुरु आगमोक्त विधि के अनुसार शुभ तिथि-वार-नक्षत्र-करम-चन्द्रमा-योग आदि तथा शुभ शकुन-निमित्त-स्वर आदि देखकर समवसरण, जिनभवन, अर्हदायतन, इक्षुवन, क्षीरवृक्षवन या अश्वत्थादि (वड, आम्र, पीपल आदि) वृक्ष समूह में गंभीर सुंदर नाद, महाभोगी (मनोज्ञ प्रतिशब्दयुक्त प्रशस्तक्षेत्र में योग्य मुमुक्षु को दीक्षा देवें। (भग्न स्थान, श्मशान, शून्य स्थान, अमनोज्ञ, गृह, क्षार-अङ्गारादि से दूषित भूमि में दीक्षा देना वर्जित हैं।)

प्रवज्या के लाभ :- सुयोग्य पात्र को विधिपूर्वक दी गई व्रतरुप दीक्षा मोक्ष का हेतु होने से निर्वाण का बीज है।[71] प्रवज्या ग्रहण कर्मनिर्जरा, विनेयानुग्रहण एवं कर्मक्षय के लिए होता है।[72] प्रशान्तचित्त व्रती धर्म में अधिकारी बनता है, उन्हें विषयतृष्णा या उच्चदृष्टि संमोह उत्पन्न नहीं होता, धर्ममार्ग में अरुचि नहीं होती, क्रोधादि पाप नहीं होते और वह उत्तरोत्तर प्रवर्धमान भावविशुद्धि प्राप्त करता है। प्रवज्यारुप यह जैन धर्म जन्म-जरा-मरणादि दु:खों का विनाशक, विनयादि विमलगुणयुक्त, ज्ञानादि लक्ष्मी के निवास योग्य, मिथ्यात्वादि दोषविनाशक, एवं सम्यग्दर्शनादि का विकासक है।[73] जैसे सूर्य के प्रभा पटल प्रकाश को देखकर सरोवरस्थित श्रेष्ठ पुंडरीक कमल प्रभात में प्रफुल्लित होते हैं वैसे ही श्री जिनवररुपी सूर्य की स्तुति और आगमरुपी प्रभा पटल (ज्ञान प्रकाश) के प्रभाव से भव्य जीव रुपी कमल प्रबोध प्राप्त करते हैं, सम्यक्त्वादि का विकास करते हैं।[74]

अनगार धर्म :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में अणगार साधु के द्वारा पालन किये जाने योग्य धर्मो का वर्णन करते हुए अनगारो के क्षान्ति आदि 10 धर्म बताये हैं जिनका आगे वर्णन किया जायेगा।[75] आगे अभिधान राजेन्द्र कोश में मुनि संबन्धी अनुष्ठान विशेष को अनगार धर्म या यतिधर्म कहा है। यह दो प्रकार का है-[76]

1. सापेक्ष यतिधर्म - गुरु, गच्छ आदि की सहायता से जो प्रवज्या का पालन किया जाय वह ग्रहण-शिक्षा (प्रतिदिन सूत्रादि का अभ्यास), आसेवन-शिक्षा (प्रतिदिन साध्वाचार योग्य क्रिया का अभ्यास) आदि रुप गच्छवासी स्थविरकल्पी साधु का धर्म सापेक्ष यतिधर्म कहलाता है।

2. निरपेक्ष यतिधर्म - जिनकल्पिकादि मुनिधर्म।

64. अ.रा.पृ. 5/734
65. अ.रा.पृ. 5/734, 5/736; जैनेन्द्र सिद्धांत कोश 3/149
66. अ.रा.पृ. 5/767
67. अ.रा.पृ. 5/769, 5/733; जैनेन्द्र सिद्धांत कोश 3/150
68. अ.रा.पृ. 5/744
69. अ.रा.पृ. 5/734-735
70. अ.रा.पृ. 5/742
71. अ.रा.पृ. 4/2507
72. अ.रा.पृ. 5/734
73. अ.रा.पृ. 5/732
74. अ.रा.पृ. 5/733
75. अ.रा.पृ. 1/279, 4/1364
76. अ.रा.पृ. 1/279

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार-गोचर

जैन श्रमण का आचार-गोचर (क्रिया-कलाप) अत्यधिक कठोर होता है। भारतीय संस्कृति में आचार का सर्वाधिक महत्त्व है। राजा-महाराजा, अमात्य-मंत्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय व श्रेष्ठी आदि सभी वर्ग जब भी श्रमण वर्ग के पास पहुँचता था, तो सर्वप्रथम उनके आचार-विचार की पृच्छा करता था- कहं आयार-गोयरं (अर्थात् कथं ते भवतां आचार-गोचरः क्रिया कलापः स्थितः-) ? हे भगवान् ! आपका आचार-गोचर/क्रिया-कलाप कैसा है।[1]

उक्त प्रश्न के उत्तर में आचार-गोचर की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है- आचार गोचरः क्रियाकलापः। आचार-गोचर अर्थात् (1) आचार का विषय, आचार संबंधी क्रियाकलाप, (2) मोक्ष के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान विशेष और उसका विषय (3) साधु समाचारी और उसका विषय, साध्वाचार के अङ्गभूत छः व्रत, (4) ज्ञान, दर्शन आदि पंचविध आचार और उसका विषय अर्थात् भिक्षाचारी (5) पर्याय जयेष्ठ, पूज्य, रत्नत्रयाधिक के आगमन पर खडे होना आचार-गोचर है।[2]

निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार का वर्णन करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में मुख्यतः साधुओं के आचार से संबंध रखनेवाली सभी शिक्षाओं का उल्लेख किया है।[3] वे निम्नानुसार है-

आचार - ज्ञान, दर्शन, चारित्र रुप मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए किया जानेवाला विविध आचार।

गोचरी - भिक्षा ग्रहण करने की विधि।

विनय - ज्ञान और ज्ञानी आदि की विनय-भक्ति।

भाषा - सत्य और असत्या मृषा रुप भाषा का प्रयोग।

अभाषा - निरर्थक भाषा अर्थात् मृषा तथा सत्यामृषा (मिश्र) अभाषा का प्रयोग।

चरण - पाँच महाव्रत, दशविध श्रमण धर्म, सत्रह प्रकार का संयम, दश प्रकार का वैयावृत्य, नववाड सहित ब्रह्मचर्य का पालन, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रुप रत्नत्रयी की साधना, बारह प्रकार का तप और चार कषायों के निग्रह को चरण कहते हैं।[4] चरण अर्थात् चारित्र। उपर्युक्त चारित्र के ये सत्तर (70) भेद है, जो श्रमण धर्म का आचार है।

करण - चार पिंड विशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावना, द्वादश भिक्षु प्रतिमा, पाँच इन्द्रियों का निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार अभिग्रह - ये 'करण अर्थात् क्रिया के 70 भेद हैं।'[5]

यात्रा - संयमरुप यात्रा का पालन।

मात्रा - संयम की रक्षा के लिए परिमित आहार लेना।

वृत्ति - विविध अभिग्रहों की धारणा कर संयम जीवन को पुष्ट करना।

इस प्रकार जैन परम्परा में उपर्युक्त समग्र शिक्षाओं का पालन निर्ग्रन्थ श्रमण का आचार-धर्म है।[6]

निर्ग्रन्थ श्रमणाचार की विशेषता :-

निर्ग्रन्थ श्रमणाचार की विशेषता बताते हुए राजेन्द्र कोश में कहा है कि, "निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार का विषय (1) भीम अर्थात् कठिन कर्मशत्रुओं को खदेडने में भयंकर है - आयार गोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं।[7] (2) दुरधिष्ठित-दुर्बल (कायरः) आत्माओं के लिए इस आचार को धारण करना अशक्य है अतः कायर पुरुषों के लिए यह आचार दुर्धर है और यह सकल-सम्पूर्ण (अखंडित) है।

अष्टादश आचार स्थान :-

जैनागमों के आधार पर अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने श्रमणाचार के अष्टादश स्थानों का वर्णन किया है जो निम्नानुसार है-

'वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं। पलियंक निसिज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं।[8]

व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प्य, गृहस्थ भाजन, पर्यंक, निषद्या, स्नानवर्जन और शोभावर्जन - ये अठारह आचार स्थान हैं।

1. अहिंसा आचार :-

सभी जीव जीना चाहते हैं; मरना कोई नही चाहता[9], और सभी जीव सुख चाहते हैं; दुःख नहीं। मरण अत्यन्त दुःखरुप प्रतीत

---

1. रायाणो रायमच्चाय माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छन्ति निहु अप्पाणो, कहं आयार गोयरं॥ -अ.रा.पृ.2/375; दशवैकालिक सूत्र-6/2
2. आचारो मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो विषयः आचार-गोचरः। आचारः साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः। साधुसमाचारीविषये, व्रतषट्कादिके, आचारश्च ज्ञानादिविषयः पंचधागोचरश्च भिक्षाचर्य्येत्याचारगोचरं ज्ञानाचारादिके भिक्षाचर्य्यां चा सेहं आयार-गोचरं ग्रहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ। -अ.रा.पृ.2/375; स्थानांगसूत्र सटीक, 8 ठाणां
3. अ.रा.पृ. 2/337; नन्दीसूत्रवृत्ति, सूत्र 32
4. तत्राऽऽचारो ज्ञानाऽऽचाराद्यनेकभेदभिन्नो गोचरो भिक्षाग्रहण-विधिलक्षणः विनयो ज्ञानादिविनयः वैनयिकं विनयफलं कर्मक्षयादि। शिक्षाग्रहणं शिक्षा आसेवनं, शिक्षा च विनयशिक्षेति चूर्णकृत्। तत्र विनेयाः शिष्यां तथा भाषा सत्या असत्यामृषा च चरणं व्रतादिकरणं पिंडशुद्धयादि। उक्तं च-
वयसमणधम्मसंजम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइतियं तव कोह, निग्गहाइ चरणमेयंतु। - अ.रा.पृ. 2/373; नन्दीसूत्रवृत्ति, सूत्र 32
5. पिंडविसोहि समिई, भावणपडिमाइ इंदियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहो चेव करणं तु॥ अ.रा.पृ. 2/373; प्रवचनसारोद्धार, गा. 563
6. यात्रा संयमयात्रा तदर्थमेव परिमिताहारग्रहणम्, वृत्तिः विविधैरभिग्रहविशेषैर्वर्तनम्। आचारश्च गोचरश्चेत्यादि द्वन्द्वान्ता आचारगोचरविनयवैनयिकाशिक्षाभाषाणामाचरण-करणयात्रामात्रावृत्तयः आख्यायन्ते.... स आचारः समासतः संक्षेपतः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः। अ.रा.पृ. 2/373; नन्दीसूत्रवृत्ति, सूत्र 32
7. अ.रा.पृ. 2/375; आचारांग 2/1
8. अ.रा.पृ. 6/888; दशवैकालिक सूत्र 6/7
9. वही; दशवैकालिक सूत्र 6/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है इसलिए निर्ग्रन्थ श्रमण प्राणिवध को दारुण जानकर उसका त्याग करते हैं।[10] इतना ही नहीं, श्रमण लोक के समस्त त्रस या स्थावर जीवों की कृत-कारित और अनुमोदन हिंसा भी न करें -यह अहिंसा आचार है।[11]

2. सत्य आचार :-

जिस वचन, विचार और व्यवहार से दूसरों को पीडा पहुँचती हों, जो वचनादि समग्र लोक में गर्हित हों, वह असत्य हैं; चूंकि हिंसक वचन सत्य होते हुए भी असत्य माना गया है।[12] इसके अलावा **'अप्पणो थवणा परेसु निंदा।'**[13] -अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा असत्य के ही समान है। इसलिए इसका भी श्रमण वर्ग के लिए निषेध किया गया हैं।

3. अचौर्य आचार :-

अचौर्य आचार का वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने राजेन्द्र कोश में कहा है- सचेतन या अचेतन, अल्प या बहुत, यहाँ तक कि दंतशोधन (दांत कुदेरने का तिनका) मात्र भी उसके स्वामी की बिना अनुमति लिए या बिना याचना किये श्रमण मन, वचन, काया से उसे ग्रहण न करें, न करायें और न ग्रहण करने वालों की अनुमोदना करें।[14]

4. ब्रह्मचर्य आचार :-

अब्रह्म को घोर, प्रमाद, दुरधिष्ठित, अधर्म का मूल और महादोषों का पुंज जानकर श्रमण उसका मन, वचन, काया से त्याग करें एवं नौ वाड के पालन पूर्वक निर्मल ब्रह्मचर्य को धारण करें।[15]

5. अपरिग्रह आचार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने संग्रह, परिग्रह और अपरिग्रह का स्पष्टीकरण करते हुए साधु के लिए संग्रह का निषेध, उपकरणादि वस्तु का अपरिग्रहत्व एवं अपरिग्रह वृत्ति के विषय में विस्तृत विवेचन किया हैं।[16]

6. रात्रिभोजन विरमण व्रत :-

प्रस्तुत कोश में आचार्यश्रीने इस विषय का दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि, रात्रि में भिक्षाचरी-एषणा शुद्धि की दुष्करता होती है। अत: अहिंसा की दृष्टि से परमात्मा महावीरने रात्रि में चतुर्विध आहार-परिभोग का सर्वथा निषेध किया है।[17]

7-12. षट्जीवनिकाय संजम :-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में षट्कायिक जीवों की हिंसा के त्याग का निर्देश करते हुए श्रमणों को क्रमश: पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय एवं त्रस, इस प्रकार षट्कायिक जीवो कीहिंसा के त्याग का कारण एवं आस्रव का सुन्दर दिग्दर्शन करवाया है।[18]

13. प्रथम उत्तरगुण-अकल्प्य वर्जन :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आगमों के आधार पर श्रमण वर्ग की चार मुख्य आवश्यकताओं-पिण्ड (आहार), शय्या, वस्त्र और पात्र का निरुपण करके उनमें अकल्पनीय का वर्जन तथा कल्पनीय का ग्रहण करने का निर्देश किया गया हैं।[19]

14. गृहस्थ के भाजन में परिभोग निषेध :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने श्रमणों के लिए कल्प्य और अकल्प्य का विवेचन करते हुए कहा है कि, "षड्जीवनिकाय के रक्षक निर्ग्रन्थ श्रमण को गृहस्थ के बर्तनों में आहार नहीं करना चाहिए। गृहस्थी के बर्तनों का उपयोग करने से श्रमण को पूर्वकर्म एवं पश्चात्कर्म आदि कई दोष लगते हैं।[20]

15. पर्यंक आदि पर सोने बैठने का निषेध :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में श्रमण को पलंग, खाट आदि पर सोने-बैठने के निषेध के कारणों की चर्चा के साथ-साथ अपवादिक रुप से प्रतिलेखनपूर्वक बैठने या शयन करने का विधान बताया गया है।[21]

16. गृहनिषद्यावर्जन :-

अभिधान राजेन्द्र कोश मे जैनागमों के आधार पर गृहस्थ के घर निर्ग्रन्थ के बैठने से होनेवाले दोषों पर भी विचार किया गया हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण को गृहस्थ के घर में जाकर बैठना नहीं चाहिए। गृहस्थों के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य का नाश होनी की संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त अन्य दोष भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए अत्यन्त वृद्ध, रोगी या अतिकृश तपस्वी-इन तीन के सिवाय अन्य किसी भी साधु को गृहस्थ के घर पर नहीं बैठना चाहिये।[22]

17. स्नानवर्जन :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने ब्रह्मचारी एवं संयमी श्रमण के स्नान करने से होने वाले दोषों की संभावना का उल्लेख किया है।[23]

18. विभूषा त्याग :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने विभूषा दुष्फल की चर्चा करते हुए श्रमण वर्ग के लिए विभूषा-त्याग के कारण एवं श्रृंगार आदि में रत चित्तवाले साधक को होते कठोर दुष्कर्मो के बंध की चर्चा की है।[24]

इन अठारह प्रकार के आचार-पालन से मुनि के पूर्वकृत पापकर्मों का क्षय हो और नये कर्मों का बंध नहीं हो अत: आत्म-कल्याणकांक्षी मुनि को अत्रोक्त 18 आचार स्थान/आचार-गोचर के पालन में उद्यमवन्त रहना चाहिए।

10. वही; दशवैकालिक सूत्र 6/11
11. वही; दशवैकालिक सूत्र 6/11
12. अ.रा.पृ. 6/887; दशवैकालिक सूत्र 6-12, 13
13. अ.रा.पृ. 6/327; प्रश्न व्याकरण-2/2
14. अ.रा.पृ. 6/887; एवं भाग 1/538; दशवैकालिक सूत्र 6/14-15
15. अ.रा.पृ. 6/426, 427; दशवैकालिक सूत्र 6/16-17
16. अ.रा.पृ. 6/887; दशवैकालिक सूत्र 6/18-22
17. अ.रा.पृ. 6/510; दशवैकालिक सूत्र 6/24-26
18. अ.रा.पृ. 3/1345-1346; दशवैकालिक सूत्र 4/3, 9, 10
19. अ.रा.पृ. 1/115-116; दशवैकालिक सूत्र 6/47-49
20. अ.रा.पृ. 3/900; दशवैकालिक सूत्र 6/51-53
21. अ.रा.पृ. /725; दशवैकालिक सूत्र 6/54-56
22. अ.रा.पृ. 3/898; दशवैकालिक सूत्र 6/57-58-59-60;
23. अ.रा.पृ. 7/818; दशवैकालिक सूत्र 6/61-62
24. अ.रा.पृ. 6/1204; दशवैकालिक सूत्र 6/66, 67

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोचरचर्या (आहारचर्या)

मुनि जीवन में कर्मक्षय एवं आत्म कल्याण हेतु संयमाराधना में संलग्न मुनि प्राय: तपस्वी जीवन यापन करते हैं तथापि सभी मुनियों से सदा सर्वथा आहार त्याग संभव नहीं होता क्योंकि औदारिक शरीर अन्न पर आधारित है अत: ज्ञान-दर्शन-चारित्र में उद्यम हेतु इस शरीर को आहार देना आवश्यक है अत: मुनि को क्षुधाशमन हेतु परमात्मा तीर्थंकरदेवने जैनागमों में मुनि के लिये गवेषणा, ग्रहणैषणा और ग्रासैषणापूर्वक समस्त आहार विधि का वर्णन किया है, जो अभिधान राजेन्द्र कोश में गोयरचरिया (गोचरचर्य्या) शब्द पर संग्रहित की गई है जिसका यहाँ अति संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

जैनमुनि की गोचरी अन्य संतो की अपेक्षा अपने आप में विलक्षण है। 'गोचरी' शब्द का अर्थ है "जैसे गाय चरती है वैसे"। अर्थात् मुनि उच्च-माध्यमादि कुलों में गोचरी के लिए जाये वहाँ लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, शोभन-अशोभन आहार-पानी में समभावी एवं संतुष्ट रहकर जैसे कपोत (कबूतर) पक्षी या कपिञ्जल (तीतर) मेघ के आह्वान हेतु धीरे-धीरे मधुर शब्द करते हैं या जैसे गाय धीरे-धीरे थोडी-थोडी घास चरती है (जड से नहीं निकालती), वैसे ही मुनि भी गृहस्थों के घरों में से योग्य निर्दोष आहार-पानी थोडी-थोडी मात्रा में ग्रहण करें; एक ही घर से संपूर्ण मात्रा न ले।[1]

गोचरी भ्रमण की विधि[2] - गोचरी हेतु भ्रमण/गमन करते समय मुनि को निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए-

1. रास्ते में अनेकविध विषयसामग्री दृष्टिगोचर होने पर भी वत्सवत् (बछडे के समान) एकमेव गोचरी का लक्ष्य रखना।
2. प्रशान्त मन से असंभ्रान्त होकर अव्याक्षिप्त चित्तपूर्वक परिषहादि से भयरहित होकर मन्द (अद्रुत) गति से गोचरी जाये।
3. शरीर प्रमाण / साढे तीन हाथ / युगमात्र सामने दृष्टि रखकर चलें।
4. जब तक अन्य सरल मार्ग हो तब तक खाई, ऊँचा-नीचा मार्ग, पेड के तने, दलदल (कादव), पानी में पत्थर रखकर बनाये मार्ग से न जाये।
5. बलि आदि हेतु ले जाये जाते हुए विभिन्न प्राणियों के सन्मुख न जाये।
6. गृहस्थ के घर गोचरी हेतु जाने पर धर्मकथा न करें, तद्वेतु बैठे भी नहीं। रास्ते में भी हँसते हुए या जोर से बातें करते हुए न चले।
7. उपाश्रय में गुरु या सहवर्ती मुनियों को मैं इस दिशा में या अमुक मोहल्ले आदि में गोचरी जा रहा हूँ -एसा बताकर गोचरी जाये।
8. लघुशंकादि आवश्यक शोधकर (शुद्धि करके) गोचरी जाये।
9. गोचरी ग्रहण करने योग्य यथावश्यक दण्ड, कामली, झोली पात्रादि सभी उपकरण साथ में लेकर जाये।
10. यथावसर सूर्योदय के पश्चात् पोरिसी (एक प्रहर दिन चढने पर) या अर्धपोरिसी (नवकारसी आने के बाद) गोचरी जाये, उषा होते ही या सूर्योदय होते ही न जाय।
11. जब तक जंघाबल हो तब तक गोचरी जाने रुप वीर्याचार का उल्लंघन नहीं करें।
12. तरुण-युवा साधु अन्य गाँव, मोहल्लादि में दूर गोचरी जाये, ग्लान, वृद्ध-बाल साधु समीप में जायें।
13. ग्रीष्म ऋतु में प्रथम प्रहर पूर्ण होने पर जल पीकर गोचरी हेतु जाये।
14. राजादि के घर गोचरी न जाये। गृहस्थ के घरों में भी उनके धन-माल रखने के स्थान, अंत:पुर (बेडरुम) आदि में न जाये।
15. वेश्या की गली से या जहाँ प्राणिहिंसा होती हो या जहाँ महाव्रतों का घात होने की, आत्म-विराधना या संयम-विराधना की संभावना हो, एसे स्थान पर मुनि न जाये।
16. जहाँ श्वान-बैलादि आपस में लडते हों, जहाँ कलह, युद्ध आदि हो, जहाँ अन्य लोग जैन साधु का अपमान, हीलना, अप्रीति या उपद्रव करते हों वहाँ न जाये।
17. गृहस्थ के घर के दरवाजे पर कांटादि लगे हो, कुत्तादि हिंसक पशु बैठे हों, द्वार अंदर से बंद हो वहाँ साधु गोचरी हेतु न जाय (गृहस्थ कांटादि दूर करें या दरवाजा खोले तो जा सकते हैं।)
18. गृहस्थ के घर अकेली श्राविका हो वहाँ साधु को अकेले खडे भी नहीं रहना चाहिए।

गोचरी ग्रहण करने की विधि[3] :-

मुनि गोचरी योग्य समय होने पर गुर्वाज्ञा प्राप्त कर सहवर्ती आचार्य-उपाध्याय-तपस्वी ग्लान-वृद्ध-शैक्ष-बाल मुनि आदि को गोचरी में उन्हें क्या आवश्यकता है? यह पूछकर पात्रादि लेकर नीच कुल (हिंसकादि के घर) को छोडकर उत्तम, मध्यम गाथापति/गृहस्थ के घरों में क्रम या अक्रम से गोचरी हेतु जाकर, वहाँ जो आहारादि सामने दिखे और उसमें से गृहस्थ अपनी इच्छा से जो आहारादि अर्पित करें, उसे 42 दोष टालकर (दोष टालने के प्रयत्नपूर्वक) उस प्रकार से ग्रहण करें जिससे आचार्यादि या बाल ग्लानादि को बाधा न हो, आत्मविराधना, संयमविराधना, प्रवचन उड्डाह या प्रवचनलघुता न हो। गृहस्थ को प्रद्वेष, क्लेश, अभावादि न हो, और क्षुधा का शमन हो। यदि एक बार में पर्याप्त आहार की प्राप्ति न हो तो मुनि एक से अधिक बार भी गृहस्थ के घर आहारादि प्राप्त करने हेतु जा सकते हैं। वर्षाकाल में पानी बरसता हो तब गोचरी जाना निषिद्ध है, परन्तु यदि बाल-वृद्धादि मुनि क्षुधा से त्रस्त होते हों तो बूंद-बूंद वर्षा में कामली ओढकर निकटवर्ती घरों में जा सकते हैं (यह अपवाद विधि स्थविरकल्पी मुनि के लिए है)।

गोचरी हेतु गये हुए मुनि आहार ग्रहण करते समय अभक्ष्य, बासी, चलितरस, जीवयुक्त, दूषित आहार ग्रहण न करें। जिस से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पुष्टि न होती हो, जो विकार उत्पन्न करे वैसा आहार मुनि के लिए त्याज्य है।

गोचरी ग्रहण करने के पश्चात् मुनि अपनी वसति/उपाश्रय में आकर गुरु भगवंत के पास गोचरी में लगे दोषों की आलोचना करे; गुरुदेव को गोचरी समर्पित करे एवं गुर्वादि तथा सहवर्ती मुनिमण्डल के साथ मण्डली में बैठकर गोचरी (आहार) ग्रहण करें। प्रथम प्रहर में लाया

1. अ.रा.पृ. 3/967, आवश्यक चूर्णि-4 अध्ययन
2. अ.रा.पृ. 3/968-1004
3. अ.रा.भा. 3 'गोयरचरिया' शब्द, पृ. 968-1004

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ आहार तृतीय प्रहरान्त तक समाप्त करे; इससे अधिक न रखें। यदि उपयोग न कर सके तो मिट्टी, राख, रेती आदि में मिलाकर प्रतिष्ठापित कर दे (परठ दे/त्याग कर देवें)। इसी प्रकार प्रदत्त भोजन साढे सात कि.मी. से अधिक न ले जाये तथा रात्रि में लेप-अलेप (शुष्क) किसी भी प्रकार का आहार अपने पास न रखे।[4] (दवाई आदि भी धर्मलाभ देकर न रखे)। मुनि को गोचरी में 42 दोष रहित आहार ग्रहण करने की विधि होने से आगे प्रसङ्गतः आहारग्रहण के 42 एवं आहार करने के दोष, इस प्रकार कुल 47 दोषों का वर्णन किया जा रहा है।

16 उद्गम दोष :

शुद्ध आहारादि तैयार करते समय गृहस्थ के द्वारा साधु के लिए आहार तैयार करने में जो दोष लगते हैं, वे उद्गम दोष कहलाते हैं।[5] ऐसा दोष 16 हैं-

'आहाकम्मुद्देसिय, पुइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए, पाऊपरकीय पामिच्चे॥
परियट्टिए अभिहडे, अभिन्ने मालाहडे य।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे॥'[6]

ये सोलह दोष 'उद्गमदोष' कहलाते हैं, जो आहारादि देने वाले गृहस्थों से लगते हैं, अतः इन्हें अवश्य टालना चाहिए। इनका विवरण निम्न प्रकार से है-

1. आधाकर्म दोष :-

साधु-साध्वी के लिए गृहस्थ के द्वारा षड्जीवनिकाय की विराधना (हिंसा) पूर्वक आहार को अचित्त करके या अचित्त आहार को पकाकर देना 'आधाकर्म दोष' है।[7] आधा कर्म, अधःकर्म, अहाकर्म, आयाहम्म और अत्तकर्म - ये आधाकर्म के पर्यायवाची शब्द हैं।

आधाकर्म अर्थात् साधु-साध्वी के निमित्त से किया गया। यह दोष साधु को अधोगति योग्य बंधन कराता है अतः उसे 'अधः कर्म' कहते हैं; उससे जीव हिंसादि आस्रव-प्रवृत्ति होने से आत्मा को दुर्गति प्राप्त कराने के कारण उसे 'अहाकर्म' कहते हैं; पाचनादि क्रिया के कारण ज्ञानावरणीय कर्मबंधन के कारण 'आयाहम्म' कहते हैं और आत्मा के द्वारा तत्संबंधी क्रिया होने के कारण इसे 'आत्मकर्म' कहते हैं।[8]

आधाकर्म के भेद - मुनि के जीवन में निम्न विषयों में आधाकर्म दोष की संभावना हो सकती है-

1. **वसति संबंधि आधाकर्म** - साधु के निमित्त बनाया गया उपाश्रय मण्डप आदि।[9]
2. **आहार संबंधी आधाकर्म**[10] - साधु के निमित्त निम्नांकित चारों प्रकार का आहार निष्पन्न करना - 'आधा कर्म' दोष है-
   (1) **अशन** - चावल, गेहूँ आदि से निर्मित पका हुआ आहार या घी, खीर आदि।
   (2) **पान** - सभी प्रकार के प्रासुक जल और उबला हुआ अचित्त जल।
   (3) **खादिम** - नारियल, आम, चीकू आदि तथा पुष्पादि।
   (4) **स्वादिम** - सौंठ, इलायची, लौंग आदि।
3. **उपधि संबंधी आधाकर्म** - यह दो प्रकार का है[11] -

क. वस्त्र संबंधी - कपास, ऊन, शण, पत्ते आदि के वस्त्र, आसन, संथारिया आदि।

ख. पात्र संबंधी - तुम्बी, काष्ठ या मिट्टी के पात्र, घडे आदि।

आधाकर्म आहार ग्रहण करने से हानि :-

आधा-कर्मी दोष से दूषित आहार ग्रहण करने से साधु-साध्वी संयम से पतित होते हैं[12], जिनाज्ञा का भङ्ग होता है, अनर्थ की परंपरा बढती है[13], आधाकर्मी आहार स्निग्ध और स्वादिष्ट होने से अधिक खाने से रोगोत्पत्ति होती हैं, रोगादि कारण से सूत्र-अर्थ का स्वाध्याय नहीं होने से विस्मरण होने पर ज्ञान विराधना, शरीर-विह्वलता से चारित्र में श्रद्धा की हानि होने से दर्शन विराधना, प्रत्युप्रेक्षणादि के अभाव से चारित्र का नाश होने से ज्ञान-दर्शन-चारित्ररुप संयमी आत्मा की विराधना होती है। रोग-चिकित्सा में षड्जीवनिकाय विराधना और वैयावच्ची साधु को सूत्रार्थ की हानि होने से संयम विराधना और रोगादि कारण से लोक-निंदा दोष उत्पन्न होने से बिना कारण आधाकर्मी आहार त्याज्य हैं। आठों कर्मो का बंधन होता है और अनेक भवों तक संसार भ्रमण की वृद्धि होती हैं।[15]

2. औद्देशिक दोष :-

साधु का आगमन सुनकर या दुर्भिक्ष आदि कारण से प्रथम से तैयार किये हुए आहारादि को साधु-साध्वी के लिए गुड, शक्कर, दही आदि से स्वादिष्ट करना।[16] औद्देशिक दोष दो प्रकार का है[17] -

(1) **ओध/सामान्य** - आहार बनाते समय ही साधु-साध्वी के निमित्त से उसे स्वादिष्ट करना।
(2) **विभाग** - बने हुए आहार में से अपने लिए आहार अलग रखना और साधु-साध्वी के लिए अलग आहार निकालकर उसे गुडादि से स्वादिष्ट करना 'विभाग औद्देशिक दोष' हैं।

औद्देशिक आहार ग्रहण करने से स्थापना, वनीपक, संखडी इत्यादि आहार दोष लगने की भी संभावना रहती हैं। अतः मुनि को औद्देशिक आहार त्याग करना चाहिए।[18]

अपवाद - औद्देशिक आहार दूषित है तथापि अपवादिक परिस्थितियों में यह ग्राह्य भी है- यह बताते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि "आचार्यादि के पदवीदान (अभिषेक-पाटोत्सव) के प्रसङ्ग में, साधु के बीमार होने पर अथवा अरण्य में, विकट रास्तों में या विकट

4. अ.रा.भा. 3 'गोयरचरिया' शब्द, पृ. 968-1004
5. अ.रा.पृ. 2/720, 7/725
6. अ.रा.पृ. 2/721, पिण्ड निर्युक्ति-९२, ९३
7. अ.रा.पृ. 2/243-44 गच्छाचार पयन्ना 1/21 की टीका; स्थानांग-3/4, पञ्चाशक-13/7 पर टीका; दशाश्रुत स्कंध-अध्ययन-2; व्यवहार सूत्र वृत्ति-3/164 पर टीका; दर्शन शुद्धि सटीक-4/6 पर टीका
8. अ.रा.पृ. 1/589; अ.रा.पृ. 2/244, 248, 249; बृहत्कल्पवृत्ति सभाज्य-4/456 की टीका
9. अ.रा.पृ. 2/256;
10. अ.रा.पृ. 2/256, पिंड निर्युक्ति-160, 161
11. अ.रा.पृ. 2/257; निशीथ चूर्णि, 10 वाँ उद्देश
12. अ.रा.पृ. 2/256;
13. अ.रा.पृ. 2/260, 261;
14. पिण्डनिर्युक्ति पराग-पृ. 74, 75
15. अ.रा.पृ. 2/266;
16. अ.रा.पृ. 2/845;
17. अ.रा.पृ. 2/848;
18. अ.रा.पृ. 2/848-849;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिस्थितियों में शुद्ध आहार प्राप्त नहीं होने पर साधु के द्वारा आधाकर्मी या औद्देशिक आहार भी ग्रहण किया जा सकता है।[19]

3. पूतिकर्म दोष :-

पवित्र (शुद्ध) आहारादि में अशुद्ध/आधाकर्मादि दोष से दूषित आहारादि मिलाना या शुद्ध आहारादि को आधाकर्म दोषयुक्त करना 'पूतिकर्म दोष' कहलाता हैं।[20] द्रव्य और भाव से पूतिकर्म दोष दो प्रकार का है।

यह द्रव्य से 'छगण धार्मिक' अर्थात् दुग्धादि विषयक एवं भावपूर्वक सूक्ष्म-बादर द्रव्य की शुद्ध आहार में पूर्ति करना भाव पूतिकर्म कहलाता हैं।[21]

पूतिकर्म दुष्ट आहारादि के ग्राह्याग्राह्य विषयक वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि, ''साधु पूतिकर्म दोष दुष्ट आहारादि तीन दिन बाद ग्रहण कर सकते हैं।''[22]

4. मिश्रजात दोष :-

गृहस्थ और साधु-साध्वी दोनों के लिए प्रथम ही धारणा करके आहारादि बनाना 'मिश्रजात दोष' कहलाता हैं।[23] यह तीन प्रकार से हैं[24] -

(1) **यावदर्थिक** - गृहस्थ और भिक्षाचरों के लिए

(2) **पाखण्डिमिश्र** - गृहस्थ और पाखण्डी (अन्यदर्शनी संन्यासी आदि) के लिए।

(3) **साधुमिश्र** - गृहस्थ और साधु-साध्वी के लिए।

जैन साधु के लिए इन तीनों प्रकार के मिश्रजात दुष्ट आहार ग्रहण करने का निषेध हैं।

5. स्थापना दोष :-

गृहस्थ के द्वारा साधु-साध्वी को देने के लिए खीर, दूध, दहीं, भोजनादि अलग बर्तन में रखने पर 'स्थापना दोष' उत्पन्न होता हैं।[25] यह दो प्रकार का हैं[26]- (1) **स्वस्थान** (गृहस्थ के स्वयं के घर) संबंधी, और (2) **परस्थान** (अन्य के घर) संबंधी। इन दोनों के अनंतर और परंपर एसे दो-दो प्रभेद हैं-

(क) **अनंतर** - स्थापित द्रव्य उसी रुप में रहने पर - जैसे दूध का दूध रुप में रहना।

(ख) **परंपर** -स्थापित द्रव्य को अन्य रुप में परिवर्तित करके रखना। दूध को दही, घी आदि रुप में परिवर्तित करके रखना।

स्वस्थान स्थापना दोष भी स्थान और भाजन के भेद से प्रत्येक के दो-दो प्रकार का हैं। इन सभी प्रकार से स्थापना दोष से दूषित आहार साधु के लिए त्याज्य हैं।

6. प्राभृतिका दोष :-

साधु-साध्वी को भी विवाह या करियावर के मिठाई प्रमुख प्रदान करने में उपयोग में आयेगा - एसी भावना से साधु-साध्वी के नगर में उपस्थित होने के समय साधु-साध्वी को विवाहादि के मीठाई प्रमुख देने के निमित्त से पहले या बाद में होने वाले विवाह, करियावर आदि का उस समय अवसर न होने पर भी विवाहादि करने पर उस विवाहादि के मिठाई प्रमुख ग्रहण करने में साधु को 'प्राभृतिका दोष' लगता हैं।[27]

साधु के निमित्त से 1. पूर्व का विवाहादि बाद में करना 2. बाद में होने वाले विवाहादि पहले करने से यह दोष दो प्रकार से हैं। तथा गृहस्थ के द्वारा यह दोष 1. प्रकट और 2. अप्रकट रखने से भी दो प्रकार से हैं[28]-

7. प्रादुष्कर दोष :-

गृहस्थ के द्वारा अँधेरे में रखी हुई आहार सामग्री मणिरत्न, अग्नि, बिजली आदि या दीपक/बेट्री आदि का प्रकाश करके खोजकर साधु को देना 'प्रादुष्करण दोष' हैं।[29]

8. क्रीत दोष :-

गृहस्थ या साधु के द्वारा गृहस्थ से, बाजार से या ग्रामान्तर से कोई वस्तु खरीदकर लाकर साधु को देना 'क्रीत दोष' हैं। यह दोष द्रव्य से और भाव से दो प्रकार से हैं और वे दोनों भी आत्मक्रीत और परक्रीत के भेद से दो-दो प्रकार से हैं।[30]

9. प्रामित्यक दोष :-

गृहस्थ के द्वारा दूसरों के यहाँ से उधार लाकर साधु-साध्वी को आहारादि प्रदान करना 'प्रामित्यक दोष' कहलाता है। यह दोष लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का हैं।[31]

लौकिक रुप से गृहस्थ के द्वारा साधु निमित्त उधार लाने पर वस्तुदाता के द्वारा उसका द्रव्य मांगने पर क्लेश होता है, उधार लाकर देने वाला गृहस्थ दरिद्र होने पर कर्ज में फँसकर कभी-कभी बंधुआ मजदूर जैसी स्थिति में आ जाता हैं। लोकोत्तर रुप से साधु के द्वारा गृहस्थ से सीधा ही वस्त्रादि उधार ग्रहण करने पर क्लेश, राग, उपधि की वृद्धि, प्रमाद एवं संयम में दोष लगता हैं। अतः दोनों प्रकार का 'प्रामित्यक दोष' त्याज्य हैं।[32]

10. परावर्तित दोष[33] :-

अपने पास रहे हुए धान्य, शस्त्र आदि को दूसरों से परिवर्तित कर (बदले मे दूसरी वस्तु लेकर) साधु-साध्वी को देना, 'परावर्तित दोष' हैं। यह दोष लौकिक-लोकोत्तर भेद से दो प्रकार से हैं। तथा उसी द्रव्य के और अन्य द्रव्य के परावर्तन के भेद से वह एक-एक भेद दो-दो प्रकार से हैं। उदाहरण - जैसे (1) चावल के बदले चावल लेना (2) कोद्रव के बदले चावल लेना।

परावर्तित दोषयुक्त आहारादि ग्रहण करने पर साधु के निमित्त

---

19. अ.रा.पृ. 2/849;
20. अ.रा.पृ. 5/1069, दशवैकालिक-5/1, पञ्चाशक-विवरण-1/11, उत्तराध्ययन-अध्ययन-24
21. अ.रा.पृ. 5/1069; पिंड निर्युक्ति-243
22. अ.रा.पृ. 5/1072
23. अ.रा.पृ. 6/303
24. अ.रा.पृ. 6/303, 304; पिंड निर्युक्ति-271
25. अ.रा.पृ. 4/1682-83
26. अ.रा.पृ. 4/1683
27. अ.रा.पृ. 5/914
28. वही पृ. 5/915
29. अ.रा.पृ. 5/816, 817
30. अ.रा.पृ. 3/563
31. अ.रा.पृ. 5/853
32. अ.रा.पृ. 5/853 से 855
33. अ.रा.पृ. 5/627, आचारांग-2/1/1/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से गृहस्थ में क्लेश, मारपीट आदि की संभावना होने से इस दोष से दुष्ट आहार साधु के लिए त्याज्य हैं।

11. अभ्याहृत दोष :-

साधु-साध्वी के लिए अन्य स्थानादि से सामने लाकर या उनके स्थान पर लाकर उन्हें आहारादि देना 'अभ्याहृत दोष' है।[34] अभ्याहृत दोष दो प्रकार का हैं-

1. **आचीर्ण** - जो अभ्याहृत आहार कारण होने पर ग्राह्य है, उसे 'आचीर्ण अभ्याहृत' हैं। कारण विशेष उपस्थित होने पर जघन्य से उपाश्रय या वसति (साधु का निवास) से तीन घर तक से, उत्कृष्ट से 100 हाथ प्रमाण दूरी से और मध्यम उतनी दूरी के बीच के स्थान से यदि श्रावक आहारादि लाकर मुनि को प्रदान करें तो वह आचीर्ण/ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि उतने मार्ग में पैदल चलकर आने से एवं स्थान निकट होने से श्रावक उपयोग पूर्वक चल सकने के कारण जयणा हो सकती हैं।[35]
2. **अनाचीर्ण** - जो अभ्याहृत आहारादि ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसे 'अनाचीर्ण अभ्याहृत' कहते हैं।[36]
   मुनि स्वक्षेत्र (अपने स्थान) में, पाँव नहीं होने पर या पाँव से चलने में असमर्थ होने पर, गोचरी जाने पर भी आहार दुर्लभ होने पर, उपद्रव होने पर, गोचरी जाने में असमर्थ होने पर, पैदल रास्ता न होने पर, रास्ते में उपद्रव की संभावना होने पर, दुर्भिक्ष होने पर, राजादि दुष्ट होने के कारण उपद्रव की शंका होने पर, स्वयं रोगाविष्ट होने पर, नवदीक्षित साधु या साथ वाले वृद्ध, रोगी आदि साधु आहारादि के बिना पीडित होने पर अभ्याहृत (सामने लाया हुआ) आहार ग्रहण करने में यतनापूर्वक वर्तता हैं।[37]

12. उद्भिन्न दोष[38] :-

साधु-साध्वी को घी, तेल, लड्डू, आहारादि प्रदान करने के लिए मिट्टी आदि से बंद किये गए घडे, कोठी आदि के मुख पर से मिट्टी वगैरह हटाना या कपाट या ताला आदि खोलकर आहारादि देने पर 'उद्भिन्न दोष' लगता हैं। मिट्टी आदि हटाने पर या हटाकर पुनः लिपकर बंद करने पर या तालादि खोलने पर षड्निकाय जीवों की हिंसा की संभावना होने से यह एसा आहार त्याज्य हैं।

13. मालापहृत दोष :-

मेढी (ऊपरी मंजिल) छींका, तान या तलघरादि से आहारादि लाकर साधु-साध्वी को प्रदान करने पर 'मालोपहृत दोष' लगता हैं। यह दो प्रकार से हैं।

(1) जघन्य से पाँव ऊँचा करके या पटिया, चौकी आदि पर चढकर आहारादि उतारना

(2) उत्कृष्ट से - निसरणी द्वारा ऊपरी मंजिल से आहारादि लाना।

जघन्य से मालापहृत आहार लाने में सर्पदंशादि तथा उत्कृष्ट से निसरणी आदि से गिरने की संभावना होने से प्राणघात तथा पृथ्वीकायादि जीवों की हिंसा की संभावना होने से मालापहृत दोषदुष्ट आहार साधु के लिए त्याज्य हैं।[39]

14. आच्छेद्य दोष[40]:-

साधु-साध्वी के लिए किसी अन्य के स्वामित्व की वस्तु उनसे छीनकर लाई हुई या चोरी करके लाई हुई वस्तु साधु-साध्वी के द्वारा ग्रहण करने पर 'आच्छेद्य दोष' लगता है। आच्छेद्य दोष तीन प्रकार का है।

1. **प्रभु संबंधी** - गृहनायक के द्वारा अपनी पत्नी, पुत्रादि, भाई, नौकर,दास-दासी, गोपालादि से छीनकर या उनके अधिकार की वस्तु (आहारादि) उन्हें बिना पूछे साध्वादि को देना।
2. **स्वामी संबंधी** - ग्रामनायक (सरपंच, मुखिया आदि) के द्वारा गाँव के द्रव्यादि परिवार या अन्य से आहारादि छीनकर साध्वादि को देना।
3. **चोर संबंधी** - चोर के द्वारा दूसरों से छीनी गई, चोरी की हुई वस्तु साध्वादि को देना।

इस दोष के सेवन से साधु के प्रति अप्रीति, क्लेश, मानसिक तनाव, रुदन तथा साधु को उपसर्ग होने की संभावना रहती हैं।

15. अनि:सृष्ट दोष :-

जिस वस्तु पर पूरी मण्डली का स्वामित्व है- एसे आहारादि को श्रावक के द्वारा मण्डली की अनुमति बिना या आहारादि के स्वामी की आज्ञा के बिना साधु-साध्वी को देने पर साध्वादि को 'अनि:सृष्ट दोष' लगता हैं।[41]

यह अनि:सृष्ट दोष **मोदक** (लड्डू विषयक, **भोजन** विषयक, **कोल्हू** आदि यंत्र (प्राणक) विषयक, **संखडी** (विवाहादि) विषयक, खीर/दूध विषयक आदि अनेक प्रकार से है।[42]

इससे लोगों को साधु के प्रति अप्रीति, प्रवचन-उड्डाह, क्लेश, साधु के प्रति आक्रोश, प्राणांत संकट, दाता की आजीविका विच्छेद इत्यादि की संभावना होने से अनि:सृष्ट पिण्डादि मुनि के लिए त्याज्य हैं।[43]

16. अध्यवपूरक दोष :-

साधु-साध्वी का आगमन सुनकर या जानकर स्वयं के लिए बन रही रसोई (आहारादि) में साधु-साध्वी को प्रदान करने की बुद्धि से भोजनादि सामग्री बढाना अध्यवपूरक दोष हैं। यह जल, चावलादि तथा फल, फूल, शाक-शब्जी, बेसन, नमक आदि भेद से अनेक प्रकार से हैं।[44]

---

34. अ.रा.पृ. 1/730, पञ्चाशक-13 विवरण
35. अ.रा.पृ. 1/731-32-33
36. अ.रा.पृ. 1/730
37. अ.रा.पृ. 5/733; निशीथ चूर्णि-11/20 पर टीका
38. अ.रा.पृ. 2/867, पञ्चाशक-13 विवरण
39. अ.रा.पृ. 5/257 से 260
40. अ.रा.1/197, 198
41. अ.रा.पृ. 1/336
42. अ.रा.पृ. 1/336
43. अ.रा.पृ. 1/337, 338
44. अ.रा.पृ. 1/233-234

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सोलह दोषों को उद्गम दोष कहते हैं, जो आहारादि देने वाले गृहस्थों से होते हैं। आहारादि ग्रहण करते समय साधु-साध्वी को ये दोष अवश्य टालने चाहिए।

सोलह उत्पादना दोष[45] :-

"धाई दूइ निमित्ते, आजीव वणीमगे विगिच्छि य।
कोहे माणे माया, लोभे य हवंति दस एए॥
पुव्विपच्छसंथव, विज्जा मंते य चुन्न जोगे य।
अप्पायणाइ दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य॥"

ये सोलह दोष साधु-साध्वी के द्वारा आहार लेने संबंधी हैं, अतः इन्हें 'उत्पादना दोष' कहते हैं।

1. धात्री पिण्ड दोष – साधु-साध्वी के द्वारा गृहस्थ के बालकों को दूध पिलाना, स्नान कराना, श्रृंगार करना, खिलाना, गोद में बैठाना - इत्यादि कार्य करके आहारादि ग्रहण करना 'धात्री पिण्ड दोष' कहलाता है। इससे मुनि के प्रति गृहस्थ को राग, प्रद्वेष एवं लोक में मुनि के चारित्र में शङ्का, अवर्णवाद, उड्डाह, प्रवचन मालिन्यादि होता है।[46]

2. दूती पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा एक गाँव से दूसरे गाँव या उसी गाँव में दूत या दूती की तरह प्रकट या गुप्त समाचार कह करके आहारादि वस्तु ग्रहण करना 'दूती पिण्ड दोष' कहलाता हैं।[47] इससे परस्पर वैर, साधु के ऊपर द्वेष और प्रवचनमालिन्य होता हैं।

3. निमित्त पिण्ड दोष - भौम, उत्पात, स्वप्न, आन्तरिक्ष, अङ्गस्फुरण, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन - इन आठ निमित्त शास्त्रों के आधार से भूत-भविष्य या वर्तमान संबंधी लाभ-अलाभ, सुख-दुःख या जीवित-मरण इत्यादि फल बताकर आहारादि वस्तु ग्रहण करना 'निमित्त पिण्ड दोष' हैं। इससे शंका, प्रद्वेष, जीव हिंसा, मिथ्यात्व, आज्ञा विराधना इत्यादि होता है, अतः साधु को निमित्तफल नहीं बताना।[48]

4. आजीव पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा अपने जाति, कुल, गण, कर्म, शिल्प, तप, श्रुत आदि का उत्कर्ष दिखाकर या उनको प्रकट कर आहारादि ग्रहण किया जाना 'आजीव पिण्ड दोष' हैं। इससे दाता को मुनि के प्रति राग-द्वेष होता है। अन्य मुनियों को आहारादि दुर्लभ होने की भी संभावना रहती हैं।[49]

5. वनीपक पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा अपनी दीनता या गरीबी दिखलाकर या अन्य धर्मी के समक्ष मैं तुम्हारे साधुओं का भक्त हूँ - एसा कहकर उनके ब्राह्मणादि भक्तों से आहारादि वस्तु के लिए याचना करना 'वनीपक पिण्ड दोष' कहलाता हैं। इससे साधु के प्रति राग, प्रद्वेष, मिथ्यात्व की प्रशंसा, मिथ्या धर्म स्थिरता, सम्यक्त्व में अतिचार इत्यादि दोष उत्पन्न होते हैं।[50]

6. चिकित्सा पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा गृहस्थ को विविध प्रकार की औषधि बताकर अथवा रोगादि का उपाय बता कर या चिकित्सा करके आहारादि ग्रहण करना 'चिकित्सा पिण्ड दोष' हैं।[51] इससे मुनि के संयम प्राणों का नाश, पृथ्वीव्यादि जीवों का नाश, रोग बढने पर साधु की निंदा एवं प्रवचन मालिन्य होता हैं।[52]

7. क्रोध पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा गृहस्थ को अपना विद्या प्रभाव, तपः प्रभाव, राजमान्यता ज्ञात करवाकर अथवा शाप देकर, डराकर आहार ग्रहण करना 'क्रोध पिण्ड दोष' हैं।[53] इससे मिथ्यात्व और धर्मविराधना होती हैं।

8. मान पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा साधुओं के समक्ष अभिमान पूर्वक 'मैं लब्धिवाला हूँ। मैं अमुक गृहस्थ के घर से आप सबको सरस आहार लाकर देऊँ तब मुझे लब्धिधारी जानना।' -एसी प्रतिज्ञा करके गृहस्थ को पीडा पहुँचाकर आहार ग्रहण करना 'मान पिण्ड दोष' कहलाता हैं।[54] इससे गृहस्थो में आपस में प्रद्वेष और क्लेश के कारण यदि स्त्री आत्मविपत्ति (आत्महत्या) करे तो प्रवचन उड्डाह (शासन निंदा) होता हैं।[55] अतः मान पिण्ड त्याज्य हैं।

9. माया पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा माया-कपटपूर्वक अलग-अलग वेश तथा भाषा बदलकर आहारादि वस्तु ग्रहण करना 'माया पिण्ड' कहलाता हैं। कषायों से मुक्त होने हेतु यद्यपि मुनि के लिए माया पिण्ड का निषेध है तथापि विशेष परिस्थितियों में ग्लान, तपस्वी, अन्य स्थान से विहार करके आये हुए मुनि, स्थविर (वृद्ध) या संघ के विशेष कार्य हेतु अपवाद मार्ग से मुनि माया पिण्ड दोषयुक्त आहार ग्रहण भी कर सकते हैं।[56]

10. लोभ पिण्ड दोष - उत्तम भोजनादि मिलने की लालसा से गृहस्थों के घर, दुकान आदि में घूमते रहना 'लोभ पिण्ड दोष' हैं। इससे चित्त भ्रम, अति लोभ, आहार लालसा, समय का अपव्यय और शासननिन्दा की संभावना होने से दूषिताहार त्यज्य हैं।[57]

11. पूर्वपश्चात्संस्तव दोष - गृहस्थ के माता-पिता सास-ससुर इत्यादि की प्रशंसा कर या उनसे अपना संबंध या परिचय बताकर आहारादि ग्रहण करना 'पूर्वपश्चात्संस्तव दोष' हैं।[58] मुनि को गृहस्थ का विनय, प्रशंसादि करना निषिद्ध है। अतः संस्तवदूषिताहार त्याज्य हैं।[59]

12. विद्या पिण्ड दोष - देवताष्ठित विद्या के बल से या गृहस्थ को विद्या सिखाकर या उसकी साधना बताकर या व्याख्यान के बदले में आहार ग्रहण करना 'विद्या पिण्ड दोष' हैं।[60]

इससे प्रद्वेष, स्तम्भन, उच्चाटन, मारण, लोक जुगुप्सा, राजभय इत्यादि की संभावना होने से विद्या पिण्ड दोष से दुष्ट आहार त्याज्य हैं।[61]

---

45. अ.रा.पृ. 2/864; पिण्डनिर्युक्ति-408, 409
46. अ.रा.पृ. 4/2739
47. अ.रा.पृ. 4/2740-41
48. अ.रा.पृ. 4/2082-83; आचारांग-2//1/9; निशीथ चूर्णि-13 वाँ उद्देश, गाथा 142 से 147
49. अ.रा.पृ. 2/116
50. अ.रा.पृ. 2/114-15
51. अ.रा.पृ. 6/816-17
52. अ.रा.पृ. 4/2237-38-39
53. अ.रा.पृ. 3/686
54. अ.रा.पृ. 6/240
55. अ.रा.पृ. 6/242; पिण्ड निर्युक्ति-473
56. अ.रा.पृ. 6/253
57. अ.रा.पृ. 6/253
58. अ.रा.पृ. 6/753, 754
59. अ.रा.पृ. 5/1065
60. अ.रा.पृ. 6/1148
61. अ.रा.पृ. 6/1145, 1148

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. मंत्र पिण्ड दोष - भिक्षा प्राप्त करने के लिए मुनि के द्वारा नाना प्रकार के मंत्र, तंत्र और उसके साधन की विधि बतायी जाना। इससे उपरोक्त सभी भयों की संभावना होने से मंत्र पिण्ड निषिद्ध है परन्तु शासन प्रभावना के या श्री संघ के विशिष्ट प्रसङ्ग या कार्य हेतु मंत्र प्रयोग किये जाते हैं।[62]

14. चूर्ण पिण्ड दोष - मुनि के द्वारा वशीकरण, मारण, उच्चाटन, कार्मण आदि के चूर्ण या उनकी विधि बताकर या अञ्जन आदि के प्रयोगपूर्वक आहारादि ग्रहण करना। राजभय, लोक निंदा, शासन उड्डाहादि उपस्थित होने की संभावना होने से चूर्णपिण्ड निषिद्ध हैं।[63]

15. योग पिण्ड दोष - वशीकरण, सौभाग्य या दुर्भाग्यकारक शरीर लेप, पादलेप, नेत्राञ्जन या तिलक आदि के प्रयोग एवं उनको तैयार करने का उपाय बताकर या सिखाकर आहारादि लेना 'योग पिण्ड दोष' हैं।[64]

सामान्यतया निषेध होने पर भी 'असिव' आदि प्रसङ्गो की उपस्थिति में योगपिण्ड ग्रहण करने में दोष नहीं हैं।[66]

16. मूलकर्म पिण्ड दोष - गर्भपात, गर्भस्तम्भन, गर्भप्रसव, क्षतयोनिकरण, अक्षतयोनिकरण, रक्षाबंधन आदि के उपाय बता या सिखाकर आहारादि ग्रहण करना 'मूलकर्म पिण्ड दोष' कहलाता है। इससे जीव हिंसा, मैथुन संतति: (मैथुन परंपरा), प्रवचन मालिन्य आत्म विनाश, यावज्जीव भोगान्तराय इत्यादि दोष उत्पन्न होते हैं अत: मुनि के लिए मूलकर्म एवं मूलकर्म पिण्ड दोष से दूषित आहार सर्वथा निषिद्ध हैं।[67]

आहार ग्रहण करते समय साधु-साध्वी को इन दोषों को टालने में अवश्य सावधानी रखनी चाहिए।

दस एषणा दोष :-

निम्नांङ्कित दस दोष आहार ग्रहण करते समय साधु और गृहस्थ दोनों के संयोग से लगते हैं, अत: इन्हें टालने में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए।

संकियमक्खियनिक्खित्ते, पिहिय साहरियदायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त उड्डिय, एसण दोसा दस हवन्ति॥

- पिण्ड निर्युक्ति 520

1. शंकित दोष - आधाकर्मादि 16 और प्रक्षितादि 9 इस प्रकार कुल 25 दोषों से दूषित होने की शंका सहित आहार ग्रहण करना 'शंकित दोष' है। मुनि को कभी भी शंकित होकर आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि शुद्धाहार भी शंकित दोष से अशुद्ध हो जाता है और नि:शंकित होने पर अशुद्ध भी शुद्धाहार माना जाता हैं।[68] (श्रुतज्ञान का उपयोग होने से श्रुत के प्रामाण्य से)।

श्रुतज्ञानी छद्मस्थ साधु श्रुतज्ञान से जिस आहार को शुद्ध जानकर ग्रहण करे, वह आहार केवलज्ञानी की दृष्टिमें अशुद्ध होने पर भी वे वापरते हैं क्योंकि यदि केवलज्ञानी न वापरे तो श्रुतज्ञान में अविश्वास उत्पन्न होता है, श्रुतज्ञान अप्रमाण होने से समस्त क्रिया निष्फल होती हैं। क्योंकि छद्मस्थ जीव को श्रुतज्ञान के बिना यथायोग्य सावध-निरवद्य, पाप-अपाप, विधि-निषेध आदि क्रिया का ज्ञान नहीं हो सकता। (श्रुतज्ञान अप्रमाण होने से चारित्र का अभाव और उससे मोक्ष का अभाव होता है। मोक्ष का अभाव होने से दीक्षा की समस्त प्रवृत्ति नष्ट होती है क्योंकी दीक्षा का मोक्ष के अलावा अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।[69])

2. प्रक्षित दोष - सचित पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय या माँस, वसा, खून, मदिरा आदि निन्दनीय पदार्थो, मूत्र, उच्चारादि से स्पृष्ट/संघट्टित आहारादि ग्रहण करना 'प्रक्षित दोष' हैं।[70]

प्रक्षित दोष से दोषित आहार ग्रहण करने पर जीव हिंसा और लोक निंदा होने से प्रवचन उड्डाह होता है। अत: मुनि के लिए एसा आहार त्याज्य हैं।[71]

3. निक्षिप्त दोष - सचित पृथ्वी (या नमक), जल, अग्नि, वनस्पति आदि पर रखे हुए अचित्त आहारादि को रखना 'निक्षित्त दोष' हैं।[72] निक्षित्त दोष दुष्ट आहार ग्रहण करने पर सचित संघट्टन (स्पर्श) होने से जीव हिंसा होती हैं। अत: अनन्तर सचित निक्षित्त आहार का मुनि को त्याग करना चाहिए और परम्परा सचित संघट्ट आहार को ग्रहण करने में यतनापूर्वक वर्तना चाहिए।[73]

4. पिहित दोष - सचित पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि से ढँकी हुई आहारादि वस्तु को लेना 'पिहित दोष' है। अर्थात् शुद्ध आहार भी सचित पानी या उससे भरे हुए घडे आदि से काष्ठपीठादि से, पत्थर से, लेप से या अन्य सचित पदार्थ से या जलती हुई अग्नि से अनन्तर ढँका हुआ हो तो मुनि के लिए त्याज्य है; परंपरा से हो तो जयणापूर्वक वर्तना चाहिए।[74]

5. संहृत दोष - देने लायक पात्र में रखे हुए आहारादि को दूसरे पात्र में लेकर साधु-साध्वी को देना, 'संहृत दोष' कहलाता हैं। यदि बहुत बडे पात्र में देय आहार हो (जिसे उठाना संभव न हो) और वह सामने हो और उसमें से छोटे बर्तन में निकालकर देवें तब तो वह आहार ग्राह्य हैं, क्योंकि बडा बर्तन उठाने में आहार नीचे गिरने की, उष्ण हो तो जलने की, जीव हिंसा की संभावना है। परन्तु यदि मुनि अधिक मात्रा में न माँग ले या ज्यादा न देना पडे - एसी बुद्धि से दाता अन्य आहार को सचित्तादि में रखकर देय आहार को दूसरे पात्र में रखकर देवें तो उस आहार को ग्रहण करने में संहृत दोष लगता हैं।[75] इसमें अप्रीति, अभाव, पात्र में संवरण करते समय आहारादि नीचे गिरने से जीव हिंसादि दोष लगते हैं। अत: एसा आहार त्याज्य हैं।

6. दायक दोष - 1. आठ वर्ष से कम उम्र वाला बालक 2. वृद्ध 3. मत्त (नसायुक्त) 4. उन्मत (पागल) (5) कंपमान 6. ज्वर पीडित 7. नेत्रविकल (अंध या कम देखने वाला) 8. गलत् कुष्ठी 9. जूते पहना हुआ 10. बेडी वाला (कैदी) 11-12. हाथ-पैर से छिन्न (लूला, लँगडा) 13. नपुंसक 14. सगर्भा 15. बालवत्सा (स्तनपान कराती हुई स्त्री) 16. भोजन बनाती या करती हुई 17. दही बिलोवती हुई 18. स्फोटक कार्य

62. अ.रा.पृ. 6/1146
63. अ.रा.पृ. 6/24
64. अ.रा.पृ. 3/1196
65. अ.रा.पृ. 4/1640
66. वही, निशीथ चूर्णि-13 वाँ उद्देश
67. अ.रा.पृ. 6/338, पिण्ड निर्युक्ति-5/2
68. अ.रा.पृ. 7/800, 3/54, 55
69. पिण्ड निर्युक्ति - 524, 425
70. अ.रा.पृ. 6/37, 3/55, 56
71. अ.रा.पृ. 3/56
72. अ.रा.पृ. 4/2023
73. अ.रा.पृ. 4/2025, 3/58
74. अ.रा.पृ. 3/59, 5/940

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करती हुई 19. घट्टी पीसती हुई 20. तंदुलादि कूटती हुई. 21. तिलादि बाँटती हुई 22. रुई धुनती हुई 23. कपासिया निकालती हुई 24. चरखा घुमाती हुई 25. हाथ से रुई की पूनी बनाती हुई 26. षट्कायिक जीवयुक्त हाथवाली (छः काय जीवों का नाश करती हुई) 27. षट्काय जीवों को भूमि पर रखती हुई दान देनेवाली 28. पैर से उनको चांपती हुई 29. शरीर के अन्य अवयवों को उनका स्पर्श कराती हुई 30. आरंभपूर्वक छः काय जीवों का नाश करती हुई 31. दही आदि से लिप्त हाथ वाली 32. जूठे मुँहवाली 33. पेटी आदि में से निकालकर दान देती हुई 34. साधारण (बहुत होने पर भी अत्यल्प, दान देनेवाली हुई) 35. चोरी का माल (आहार) देती हुई 36. देव-देवी, अग्नि, बलि आदि के निमित्त बनाये हुए आहार में से अलग निकालकर देनेवाली 37. अपवादिक दान देनेवाली 38. हठपूर्वक दान देने वाली 39. जानते हुए भी अशुद्ध आहार देनेवाली अथवा 40. अनजान में अशुद्ध देनेवाले दाता के हाथ से आहार ग्रहण करने पर मुनि को दायक दोष लगता हैं।[76] इससे प्रवचन मालिन्य (शासन निंदा) अवर्णवाद, प्रद्वेष, जुगुप्सा, स्फोटन, रोग संक्रमण, जीव हिंसा, शंका, बन्ध आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अतः मुनि को 'दायक दोष' से दूषित आहार का त्याग करना चाहिए।[77]

7. उन्मिश्र दोष - मुनि को देने योग्य अचित्त, शुद्ध आहारादि वस्तु को सचित्त द्रव्य से या अशुद्ध आहार से मिश्रित करके देना 'उन्मिश्र दोष' हैं।[78] सचित मिश्र आहार ग्रहण करने पर जीव हिंसा होती है। अतः त्याज्य हैं।

8. अपरिणत दोष - पूर्ण अचित नहीं हुआ हो (अधपका), एसा अन्नादि आहार साधु-साध्वी को वहेराना 'अपरिणत दोष' है।[79] यह दो प्रकार का हैं[80]-

(i) द्रव्य अपरिणत - दूध आदि द्रव्यों का पूर्णरुप दही या 'मावा' के रुप में परिणत न होना 'द्रव्य अपरिणत' हैं।

(ii) भाव अपरिणत - आहारादि के समय दो साधु उपस्थित होने पर दाता के द्वारा 'मैं एक को यह आहारादि प्रदान करुंगा'' - एसी भावना होने पर भी दोनों को या दूसरे को देना।- 'भाव अपरिणत' है।

यह भ्रातृविषयक या स्वामीविषयक भेद से दो प्रकार का होता हैं।

मुनि के द्वारा द्रव्य अपरिणत ग्रहण करने पर जीव दया का पालन नहीं होने से दोष लगता है और जीव अदत्त होने से अदत्तादान दोष लगता हैं, असंयम होता है। भाव अपरिणत ग्रहण करने पर कलहादि दोषों की संभावना रहेती है। अतः मुनि को अपरिणत आहारादि ग्रहण नहीं करना।

(9) लिप्त दोष[81] - श्लेष्म, थूंकादि अशुचि से भरे हुए अथवा सचित्तादि वस्तु से भरे हुए अथवा दूध, दहीं आदि से भरे हुए भाजन (बर्तन) या हाथ से साधु-साध्वी को आहारादि देने पर 'लिप्त दोष' लगता है।

इससे पूर्वकर्म - पश्चात्कर्मादि दोष एवं आहारादि के जमीन पर छिटे गिरने पर जीव हिंसा की संभावना होने से इस दोष से दूषित आहार त्याज्य हैं।

परन्तु छेवट्ठा संधयण होने से और साधुओं के उपधि, शय्या और आहार -ये तीनों शीत (ठंडा) होने से निरंतर आयंबिल करने से आहार का पाचन नहीं होने से अजीर्णादि दोष उत्पन्न होते हैं - इस कारण से साधु को छाछ आदि लेने की आज्ञा है एवं शारीरिक अस्वस्थता में संयम-योग की वृद्धि के लिए और शरीर टिकाने के लिए विगई (घी-दूध आदि) ले सकते हैं।[82]

(10) छर्दित दोष[83] - दूध, दही, घी, व्यञ्जन, आदि स्निग्ध एवं मधुर वस्तुओं के भूमि पर छींटे डालते हुए साधु-साध्वी को आहारादि देने पर 'छर्दित दोष' उत्पन्न होता है। यह देय पदार्थ के भेद से सचित्त, अचित्त और मिश्र भेद से तीन प्रकार से हैं। इनकी चतुर्भंगी गिनने पर 12 भेद एवं पृथ्वीकायादि एवं स्वस्थान-परस्थान के साथ गिनने पर 432 भेद होते हैं।

छर्दित दोष दुष्ट आहार ग्रहण करने पर मुनि को जीव हिंसा, आज्ञाभङ्ग, अनवस्थाप्य, मिथ्यात्व, विराधनादि दोषों की प्राप्ति होती हैं।

ग्रासैषणा दोष :-

मुनि को गवेषणा और ग्रहणणैषणापूर्वक लाये हुए आहारादि ग्रहण करते समय जो दोष लगते हैं उन्हें 'ग्रासैषणा दोष' कहते हैं।[84] ग्रासैषणा दोष पांच होते हैं, यथा-

1. संयोजना दोष - स्वाद के लोभ से पूडी, दूध, दही आदि में घी, शक्कर आदि मिलाना 'संयोजना दोष' है।[85] आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. ने ''जिन जिन वस्तुओं के मिलने से भोजनादि स्वादिष्ट बने, उन-उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए साधु के द्वारा घूमते रहना'' -इसे भी संयोजना दोष कहते हैं।[86] द्रव्य संयोजना दोष दो प्रकार से निम्नानुसार है -

(1) **बाह्य** - गोचरी हेतु भ्रमण करते समय रास्ते में ही (उपाश्रय से बाहर) पुडी, दूध, दही आदि में घी, शक्करादि मिलाना।

(2) **आन्तरिक** - वसति / उपाश्रय में आने के बाद पूडी आदि को घी, शक्करादि से मिलाकर स्वादिष्ट करना। आन्तरिक संयोजना दोष पुनः तीन प्रकार का है -

(क) पात्र में पुडला आदि से घी-शक्करादि मिलाना।

(ख) आहार के कवल में चुर्णादि मिलाना।

(ग) मुख में प्रथम पुडलादि खाकर ऊपर गुड आदि खाना।[87]

संयोजन दोष दुष्ट आहार ग्रहण करके भोजन करने पर रसगृद्धि होती है। परिणामस्वरुप लोभ और माया कपट बढने से दीर्धकालिक दुःखों की उत्पत्ति होने से यह दोष त्याज्य है।[88] तथापि ग्लान, दीक्षित, राजपुत्र रुप साधु, नवदीक्षित हेतु संयोजना पिण्ड ग्रहण करना कल्पता

75. अ.रा.पृ. 3/59, 7/800
76. अ.रा.पृ. 4/2500, 3/60
77. अ.रा.पृ. 4/2501-2-3, , 3/60
78. अ.रा.पृ. 2/878
79. अ.रा.पृ. 1/601, आचारांग-2/1/7
80. अ.रा.पृ. 1/601, 3/67
81. अ.रा.पृ. 3/67 एवं 6/659 साधु प्रतिक्रमण सार्थ पृ. 121
82. पिण्ड निर्युक्ति पराग-पृ. 281, 282
83. अ.रा.पृ. 3/1349, पञ्चाशक-13 विवरण
84. अ.रा.पृ. 3/68
85. अ.रा.पृ. 7/120
86. साधु प्रतिक्रमण सार्थ पृ. 121
87. अ.रा.पृ. 7/120
88. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[89] तथा जब साधु गोचरी में आया हुआ घी अकेला उपयोग करने में समर्थ न हो और प्रतिष्ठापित करने पर चींटी आदि के भय से जीव हिंसा होने से बृहत्तर प्रायश्चित की संभावना हो, तब अपवाद मार्ग से पुडलादि को घी-शक्कर से मिलाकर उपयोग करनें में दोष नहीं है।[90]

2. प्रमाणातिरिक्त दोष - जितने आहार से उदरपूर्ति (क्षुधापूर्ति) हो उससे अधिक आहार करना या धैर्य, बल, संयम और योगों को बाधा पहुँचानेवाला बत्तीस (साधु के लिए) या अट्ठाईस (साध्वी के लिए) कवल से अधिक आहार करना 'प्रमाणातिरिक्त दोष' हैं।[91]

3. अंगार दोष - मुनि के द्वारा स्वादिष्ट अन्न की या उनके देने वाले (दाता) की प्रशंसा करते हुए भोजन करना 'अंगार दोष' है। यह दोष राग रुपी अग्नि रुपी काष्ठों को जलाकर कोयले के समान कर डालता हैं।[92]

4. धूम्र दोष[93] - मुनि के द्वारा अनिष्ट/स्वाद रहित अन्न की और दाता की निंदा करते हुए भोजन करना 'धूम्र दोष' है। यह दोष दो प्रकार का है-

(1) **द्रव्य से** - सामान्य रुप से द्रव्य की निंदा करने पर यह दोष अर्धदग्ध काष्ठवत् संयम को मलिन करता हैं।

(2) **भाव से** - भाव से तीव्र द्वेषाग्नि पूर्वक निंदा करने पर जले हुए काष्ठ की तरह निंदारुपी धुएँ से संयम जीवन को क्लुषित करता है।

5. कारणाभाव दोष - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम पालन, ग्लानादि के सेवा और क्षुधापूर्ति, आचार्यादि की सेवा, ईर्यासमिति की शुद्धि, संयमवृद्धि, प्राणरक्षा और स्वाध्याय-ध्यानादि - इन छः कारणों से साधु-साध्वी को भोजन करने की आवश्यकता है। उक्त कारणों के अभाव में भोजन करने पर साधु-साध्वी को 'कारणाभाव दोष' लगता हैं अतः कारण से भी निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए।[94]

दोषित आहार ग्रहण करने के कारण एवं विवेक :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आहार प्रकरण का उपसंहार करते आचार्यश्रीने निशीथचूर्णि को उद्धृत करते हुए कहा है कि "मुनि जीवन में यद्यपि उपयोग (पूर्ण सावधानी) रखने पर भी संपूर्णतया निर्दोष आहार की प्राप्ति प्रायः दुर्लभ होती है। एसे समय में भाव से निर्दोषाहार ग्रहण करने की भावना से भावित मुनि असिव (उपद्रव), ओमोयरिया (क्षुधापूर्ति न होने से खेद, आर्तध्यानादि होने की स्थिति में समभाव नहीं टिकने पर), राजा (नेतादि) दुष्ट होने से, उपसर्ग करने पर, भय की स्थिति में, ग्लान होने पर, विकट रास्तों में, गिरिमार्ग (घाट, पहाडी रास्ते) आदि में **जब पूर्णतया शुद्धाहार की प्राप्ति न हो तब तीन भाग-शुद्ध-1 भाग अशुद्धाहार का उपयोग करें, वह न मिले तब आधा शुद्ध-आधा अशुद्ध, वह भी न मिले तब एक भाग शुद्ध-तीन भाग अशुद्ध अथवा शंकित हो तो आयंबिल या उपवास करें अथवा वनस्पतिमिश्र आहार ग्रहण करें। इसमें भी नील-फूल (कांजी, पुष्प) आदि की जयणा करें।**[95]

इस प्रकार संपूर्ण गोचरचर्या का सार यही है कि, परमात्मा जिनेश्वर देव ने मोक्षसाधना के हेतुभूत एसे मुनि के देह को टिकाने के लिए एसी पापरहित वृत्ति (आहारचर्या/गोचरी) साधुओं को दिखाई हैं।[96]

89. अ.रा.पृ. 7/121, पिण्ड निर्युक्ति-641
90. अ.रा.पृ. 7/121, पिण्ड निर्युक्ति-640
91. अ.रा.पृ. 5/478-79, आचारांग-2/1/1/9
92. अ.रा.पृ. 1/42, भगवती सूत्र-7/1
93. अ.रा.पृ. 4/2768
94. अ.रा.पृ. 3/468, 469, 3/69, साधु प्रतिक्रमण सार्थ पृ. 122
95. असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए च गेलण्णे। उद्दाए रोहएला, जयणा इमा तत्थ कायव्व ॥55॥
ओमं तिभागमट्ठे, तिभाग आयंबिले च उत्थादी। निम्मिस्से मिस्सेया, परितणं ते य जा जतणा ॥56॥
- अ.रा.पृ. 1/264, 265, निशिथ चूर्णि-10 उद्देश
96. अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया। साहु देहस्स धारणा ॥11॥
-दशवैकालिक-5/1/92

ધર્મરાગ

સાધુ જીવનમાં આનંદનો અનુભવ કરાવનાર - ક્ષુધા-પિપાસા આદિ કષ્ટોમાં પણ પ્રસન્નતા પ્રગટાવનાર-ત્યાગ તપમાં પણ ઉત્તરોત્તર રૂચિ વધારનાર-ગુર્વાદિ પ્રત્યે સમર્પિતભાવ કે તેઓનાં વિનયાદિ કરાવનાર-શાસ્ત્રો પ્રત્યે પણ વફાદારી પ્રગટાવનાર અને યાવત્ ધર્મની ખાતર પ્રાણની પણ આહુતિ અપાવનાર જો કોઈ હોય તો તે ધર્મરાગ છે કે જેના વિના સાધુ જીવનનું એક પણ અનુષ્ઠાન રૂચિકર અને નિર્જરાકારક થતું નથી. તેમજ જગતના જીવો પ્રત્યે મૈત્र्यાદિ ભાવો પણ પ્રગટતાં નથી.

સાપેક્ષ યતિ ધર્મ એટલે નાના કુટુંબમાંથી આગળ વધીને સમસ્ત જીવોની સાથે કૌટુમ્બિક ભાવનું જીવન. એકેન્દ્રિયથી માંડીને પંચેન્દ્રિય સુધીના કોઈપણ જીવન મન-વચન-કાયાથી કરણ-કરાવણ અને અનુમોદનરૂપે પણ દુઃખ ન થાય તેમ જીવવું તે સાધુધર્મ છે. તે ત્યારે જ બને કે જ્યારે અહિંસા પ્રત્યેનો ધર્મરાગ પ્રગટયો હોય !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाचारी

साधु के सम्यग् आचार को 'समाचारी' कहते है। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने समाचारी (समाचारी) का वर्णन करते हुए कहा है- साधु के सम्यग् व्यवहार, अहोरात्रि में करने योग्य आगमोक्त क्रियाकलाप, ग्रामप्रवेश के समय, विहारादि के समय करने योग्य आचार/आचरण को 'समाचारी (सामाचारी)' कहते हैं।[1] अभिधान राजेन्द्र कोश में वर्णित समाचारी प्रकरण नौंवे पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के 20 वें प्राभृत के ओघ नामक प्राभृतप्राभृत से उद्धरित हैं।[2]

समाचारी के भेद[3] :- समाचारी के मुख्य तीन भेद है-

(1) **ओघ समाचारी** - ओघनिर्युक्ति ग्रंथ में वर्णित साधु का सामान्य आचार।

(2) **दशविध समाचारी** - इच्छाकारादि 10 प्रकार की समाचारी जिसे दशविध चक्रवाल समाचारी कहते हैं।

(3) **पदविभाग समाचारी** - जो छेदादि सूत्रो में वर्णित हैं।

ओघ समाचारी के विभिन्न विषयों का पूरे शोध प्रबन्ध में यथास्थान यथायोग्य वर्णन विवेचन किया गया है। पदविभाग समाचारी विशिष्ट पद प्राप्त महापुरुष योग्य है अतः यहाँ मुनि प्रायोग्य दशविध समाचारी का वर्णन किया जा रहा है।

दशविध (चक्रवाल) समाचारी[4] :-

(1) **आवश्यकी** - स्थंडिलादि कार्य अप्रमत्तरुप से अवश्य करने योग्य है अतः आश्रय से बाहर निकलते समय तीन बार 'आवस्सहि' बोलना। (अर्थात् में आवश्यक कार्य हेतु बाहर जा रहा हूँ।)

(2) **नैषेधिकी** - बाहर से उपाश्रय में प्रवेश करते समय स्वयं के प्रमाद को दूर करने हेतु तीन बार 'निसीहि' बोलना। (अर्थात् अब बाहर जाने का या बाहर के कार्य का प्रयोजन नहिं हैं।)

(3) **आपृच्छना** - गोचरी समये या अन्य कार्य हेतु गुरु या बडों को पूछकर कार्य करना।

(4) **प्रतिपृच्छा** - स्वयं का कार्य छोडकर अन्य का कार्य करना हो या गुरुने अन्य ही कार्य सुपुर्द किया हो तब पुनः पूछना।

(5) **छंदना (निमंत्रणा)** - गोचरी में कोई उत्तम पदार्थ प्राप्त हुआ हो तब गुरु आदि या अन्य साधु को 'यह आप स्वीकारें' - एसा कहना।

(6) **इच्छाकार** - स्वयं का कोई कार्य अन्य साधु से कराना हो तब 'आपकी इच्छा हो तो मेरा यह कार्य कर दो या आपकी अनुमतिपूर्वक मैं करुँ।' - एसा कहना।

(7) **मिथ्याकार** - स्वयं दोष की क्षमा याचना करनी या 'मेरा यह पाप मिथ्या हो' - इस प्रकार मिथ्या दुष्कृत/'मिच्छामि दुक्कडम्' देना/कहना।

(8) **तथाकार** - गुरुदेव के वचन को 'तहत्ति' कहनेपूर्वक स्वीकार करना।

(9) **अभ्युत्थान** - गुरु महाराज के पधारने पर खडे होना, उनका आदर-सत्कार, बहुमान करना।

(10) **उपसंपत्** - साधु यदि स्वयं के आचार्य से अध्ययन हेतु अन्य आचार्य के पास जाय तो वहाँ जाकर उन्हें विज्ञप्ति करें कि, "मैं इतने समय तक आपके पास रहूँगा।"

समाचारी पालन का फल :-

यह समाचारी सर्व दुःख से है।[5] इस समाचारी का पालन करके श्रमण अनेक भव संचित कर्मों को क्षय करता है[6] और शीघ्र ही संसार समुद्र को तैरकर पार उतरता/मोक्ष को प्राप्त करना है।[7]

मण्डली :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने इन सातों मण्डलियों का वर्णन करते हुए कहा है कि साधुअपनी समस्त क्रियाएँ गुरुसाक्षिपूर्वक सामूहिक रुप से मण्डली में करें। आवश्यक क्रियायोग्य ये मण्डलियाँ निम्नानुसार सात प्रकार की है।

1. **सूत्र मण्डली** - सूत्र की वाचना एवं मूल सूत्रों का स्वाध्याय करना।
2. **अर्थ मण्डली** - सूत्रों के अर्थ की वाचना, स्वाध्याय या व्याख्यान।
3. **भोजन मण्डली** - समुदाय में गोचरी आहार-ग्रहण करना।
4. **काल मण्डली** - योग्य समय पर साधु संबन्धी समस्त क्रियाएँ संपादित करना।
5. **आवश्यक मण्डली/प्रतिक्रमण मण्डली**-दोनों समय का प्रतिक्रमण सामूहिक रुप से करना। अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रतिलेखन (पडिलेहण) मण्डली को भी आवश्यक मण्डली के अंतर्गत माना है।
6. **स्वाध्याय मण्डली** - सूत्र या अर्थ का स्वाध्याय सामूहिक करना।
7. **संस्तारक मण्डली (संथारा मण्डली)** - सामूहिक रुप में संथारा पोरिसी पढना।

1. अ.रा.पृ. 7/766
2. अ.रा.पृ. 7/767
3. वही पृ. 7/767
4. अ.रा.पृ. 7/767-71-72-73
5. अ.रा.पृ. 7/771
6. अ.रा.पृ. 7/774; आवश्यक मलयगिरि-1/723
7. अ.रा.पृ. 7/777।

दुहरुवं दुक्खफलं, दुहाणुबंधी विडंबणारुवं ।
संसारमसारं जाणिऊण न रइं तहिं कुणाइ ॥
(अ.रा.पृ. 7/251)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षडावश्यक

'**आवश्यक**' शब्द के लिए प्राकृत में 'आवस्सय' शब्द प्रयुक्त होता है। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'आवस्सय' शब्द के दो संस्कृत रुपान्तरण प्राप्त होते हैं -1. आवस्सय = आवश्यक - आवश्यक अर्थात् मर्यादा या गुणों का आधार, सामायिकादि आवश्यक।[1] 2. आवस्सय = आवश्यक - आवश्यक अर्थात् -

1. मन-वचन-काया के योगों को निरतिचार करने हेतु अवश्य करने योग।[2]
2. नियम से करने योग्य।[3]
3. अवश्यंभावी।[4]
4. **श्रमणादि के द्वारा दोनों समय अवश्य करने योग्य अथवा ज्ञानादि गुणों को आत्मा में वश करनेवाला अथवा जिसके द्वारा आत्मा इन्द्रिय-कषायादि भाव शत्रुओं को वश में करता है अथवा जिसके द्वारा ज्ञानादि गुण समूह अथवा मोक्ष वश किया जाय; उसे 'आवश्यक' कहते हैं।**[5]

निक्षेपों के अनुसार आवश्यक के प्रकार :-

आवश्यक चार प्रकार के हैं[6] -1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य और 4. भाव।

नामावश्यक अर्थात् आवश्यक के पर्यायवाची नाम :-

1. आवस्सय (आवश्यक) **2. अवस्सकरणिज्जं** (अवश्यकरणीय) **3. ध्रुव** (स्थिर ध्रुव) **4. निग्गह** (निग्रह) **5. विसोहिय** (विशोधित, विशुद्धि) **6. अज्झयण** (अध्ययन) **7. छक्कवग्गो** (षड्वर्ग) **8. धनाउ** (न्याय) **9. आराहणा** (आराधना) **10. मग्गो** (मार्ग, मोक्षमार्ग)।[7]

स्थापनावश्यक :-

कटकर्म, तालपत्रादि के पुस्तक कर्म, चित्रकार्य, लेप्यकर्म, ग्रन्थिकर्म, वेष्टिकर्म (पुष्प या वस्त्र में चित्रित कर बींटना), पूरिम (भरिम) कर्म (पित्तलादि की प्रतिमा भराना), संघातिकर्म, अक्ष (स्थापनाचार्य के अक्ष), वराट (कपर्दक), दन्तकर्म, काष्ठकर्म आदि में सामायिकादि की अर्थात् संयमवान् साधु की मूर्ति, चित्र, या अन्य रुप में स्थापना करना 'स्थापनावश्यक' हैं।[8] इसके अनेक भेद हैं[9]-

(1) **सद्भाव स्थापना** - साधु आदि के आकारवान् स्थापना।

(2) **असद्भाव स्थापना** - अक्षादि में अनाकार स्थापना।

(A) **इत्वरकालिक स्थापना** - सामायिकादि करने के लिए जो थोडे समय के लिए पुस्तक, माला इत्यादि में आवश्यक (गुरु आदि) की स्वल्पकालिक स्थापना की जाना 'इत्वरकालिक स्थापना' कहलाती हैं।

(B) **यावत्कालिक स्थापना** - शिलापट्ट, प्रतिमा, अक्षादि, शाश्वत्प्रतिमादि में सदा के लिए अर्हदादि स्वरुप का भाव रहना 'यावत्कालिक स्थापना' कहलाती हैं।

द्रव्यावश्यक :-

आवश्यक क्रिया के आगम सूत्र उपयोगरहित सीखना, उपयोग शून्य या भाव शून्य आवश्यक क्रिया, उपयोग रहित सूत्रोच्चारण द्रव्यावश्यक है।[10] द्रव्याश्यक को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

1. प्रभात समय में मुखधावन इत्यादि तथा राजादि एवं गृहस्थों के काल प्रायोग्य कार्य लौकिक द्रव्यावश्यक हैं।
2. आजीविकादि हेतु, पुण्य हेतु तथा अन्यधर्मी पाखण्डियों के द्वारा इंद्र-स्कंद-विनायकादि का उपलेपन करना 'कुप्रावचनिक द्रव्याश्यक' हैं।
3. श्रमण गुणरहित छःकाय जीवहिंसारंभी, अनुकंपाहीन, साधुओं का बिना लगाम के घोडे या निरंकुश हाथी की तरह गुर्वाज्ञाविहीन स्वच्छंदाचरण 'लोकोत्तर द्रव्याश्यक' हैं।[11]

भावावश्यक :-

यह दो प्रकार का है -

1. लौकिक भावाश्यक - ऊपर कहे गये लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तर द्रव्यावश्यक तथा पूर्वाह्न में महाभारत और अपराह्न में रामायण पढना, देवतागृह में होम, अञ्जलि, जप, मण्डुरक्क (वृषभादि की आवाज) नमस्कारादि करना 'लौकिक भावावश्यक' हैं।[12]

2. लोकोत्तर भावावश्यक - जिन शासन के साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के द्वारा गुरु-साक्षीपूर्वक उभयकाल सामायिकादि षडावश्यक क्रिया में मन की एकाग्रतापूर्वक, शुभपरिणामरुपा लेश्यायुक्त होकर, प्रारंभ से प्रति समय प्रकर्षमान शुभ-शुद्ध अध्यवसाययुक्त प्रशस्ततर संवेगयुक्त होकर साधक योग्य देह एवं वस्त्र तथा रजोहरण, मुखवस्त्रिका (मुहपत्ति) आदि यथायोग्य रखकर आवश्यक अनुष्ठान में भाव सहित उपयोगपूर्वक परिणत/प्रवृत्त होना 'लोकोत्तर भावावश्यक' हैं।[13]

सामायिक, चउवीसत्थय (चतुर्विंशतिस्तव), वंदन (वांदणां), प्रतिक्रमण, काउसग्ग (कायोत्सर्ग) और पच्चक्खाण (प्रत्याख्यान)-ये छः भावाश्यक साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रुप चतुर्विध संघ को अवश्य करने योग्य होने से आगे क्रमशः इनका परिचय दिया जा रहा हैं।

(1) सामायिक :-

पूर्व [परिच्छेद 4 (क) (2)] में सामायिक का विस्तृत अनुशीलन किया जा चुका है।

---

1. अ.रा.पृ. 2/471
2. वही
3. वही
4. वही
5. अ.रा.पृ. 2/471, 472
6. अ.रा.पृ. 2/472
7. वही
8. अ.रा.पृ. 2/473, 474
9. अ.रा.पृ. 2/474
10. अ.रा.पृ. 2/474, 475
11. अ.रा.पृ. 2/478, 479
12. अ.रा.पृ. 2/480
13. अ.रा.पृ. 2/480, 481, 483

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) चउवीसत्थय/चतुर्विंशतिस्तव :-

इस अवसर्पिणी काल में इस भरत क्षेत्र में वर्तमान चौबीसी के चौबीस तीर्थंकरों के नामपूर्वक गुणोत्कीर्तन करना 'चतुर्विंशतिस्तव' कहलाता है।[14] यह द्वितीय आवश्यक है जिसे प्रतिक्रमण में अतिचार चिंतन की गाथा के पश्चात् 'लोगस्स सूत्र' बोलने पूर्वक किया जाता है। लोगस्स सूत्र का अपर नाम ही 'चतुर्विंशतिस्तव' है। जिसमें इस काल के ऋषभादि 24 तीर्थंकरो का नामोत्कीर्तन हैं।[15] (आगे परिच्छेद 4ख (3) में इसका विस्तृत वर्णन किया जायेगा)

(3) वंदन आवश्यक :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने 'वंदन' आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है कि "वाणी के द्वारा स्तुति, मन-वचन-काय के द्वारा विधिपूर्वक प्रणिधान, मस्तक के द्वारा अभिवादन, मन-वचन-काया के द्वारा अभिवादन, स्तवन या स्तुति, प्रशस्त मन-वचन-काया की द्वादशावर्तादिपूर्वक प्रवृत्ति 'वंदन' कहलाती है।[16]

वंदन के पर्याय - वंदन, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म - ये वंदन के पर्यायवाची शब्द हैं।[17]

वंदन के प्रकार - 'कृतिकर्म' दो प्रकार का है[18] -1. अभ्युत्थान और 2. वंदना

1. अभ्युत्थान - विनय हेतु गुरु/आचार्य कोआते हुए देखकर खडे होना, सम्मुख जाना, वे देवदर्शनादि हेतु जाते हों तब पीछे-पीछे चलना - आदि 'अभ्युत्थान' कहलाता हैं।[19]

2. वंदन - वंदन तीन प्रकार के हैं-

क. फिट्टावंदन - रास्ते में चलते समय या अन्यत्र साधु-साध्वी सामने मिलने पर या दृष्टिगोचर होने पर हाथ जोडकर मस्तक झुकाकर 'मत्थेण वंदामि' कहना।[20]

ख. थोभवंदन - दो खमासमण, इच्छकार, अब्भुट्ठिओ पूर्वक सामान्य साधु-साध्वी को वंदन करना।[21]

ग. द्वादशावर्त वंदन - 2 अवनत, 1 यथाजात, 12 आवर्त (कृतिकर्म), 4. शिरोनमन, 3 गुप्ति, 2 प्रवेश और 1 निष्क्रमण इस प्रकार पच्चीस[22] = इन पच्चीस आवश्यकपूर्वक दो बार 'वांदणा' सूत्र बोलते हुए यथाविधि आचार्यादि को कृतिकर्म करना 'द्वादशावर्त वंदन' हैं।[23]

गुरुवंदन के 25 आवश्यक[24] :-

2. अवनत - गुरुदेव को अपनी वंदन करने की इच्छा प्रकट रुप से ज्ञात कराने हेतु 'इच्छामि खमासमणो वंदिउ जावणिज्जाए निसीहियाए' इन पाँचो पदों के उच्चारणपूर्वक मस्तक सहित किंचित् शरीर झुकाना 'अवनत' कहलाता हैं। दो बार 'वांदणा' सूत्र बोलते समय दो अवनत होते हैं।

1 यथाजात - यहाँ शिष्य का जिस रुप में जन्म हुआ है तदाकार होकर गुरुवंदन करना। -यथाजात आवश्यक है। जन्म दो प्रकार का है (1) **भवजन्म** - माता की कुक्षि में से निकलते समय जैसे भाल पर दोनों हाथ लगे हुए थे वैसे गुरुवंदन करते समय भी दोनों हाथ कपाल पर लगाना। (2) **दीक्षा जन्म** - संसार की माया रुपी स्त्री की कुक्षी से अर्थात् संसार को छोडकर दीक्षा लेते समय चोलपट्ट, रजोहरण, एवं मुहपत्ति - ये तीन उपकरण ही थे वैसे द्वादशावर्त वंदन के समय भी ये तीन उपकरण ही रखना। ये दोनों प्रकार के जन्म की स्थिति/आकारवाला 'यथाजात' आवश्यक हैं।

12 आवर्त - वंदन सूत्र के निम्नाङ्कित पदोच्चारपूर्वक गुरु के चरण पर हाथ लगाकर अपने मस्तक (कपाल) पर हाथ से स्पर्श करने रुप काय व्यापार को 'आवर्त' कहते हैं। 1 अहो, 2 कायं, 3 काय संफासं 4 खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो जत्ताभे, 5 जवणिज, 6 जं च भे - प्रथम एवं द्वितीय बार वंदन करते समय दोनो बार गुरुदेव के अवग्रह में प्रवेश करके इन छहों आवर्त्तो को दोनों बार करने पर 12 आवर्त्त आवश्यक होता है।

4 शीर्ष वंदन - गुरुवंदन करते समय वंदन सूत्र के संफासं एवं खामेमि खमा। इन दो पदोच्चारपूर्वक शिष्य के द्वारा गुरु के चरण को संपूर्ण शीर्षनमन करना - शीर्षवंदन हैं। दो बार बंदन सूत्र बोलते समय '4 शीर्षवंदन' आवश्यक होता हैं।

3 गुप्ति - यह '3 गुप्ति' आवश्यक हैं।

1. **मन गुप्ति** - मन की एकाग्रता
2. **वचन गुप्ति** - वंदन सूत्र के अक्षरों का शुद्ध एवं अस्खलित उच्चारण
3. **काय गुप्ति** - आवर्त्त आदि आवश्यक निर्दोषरुप से विधिपूर्वक एवं जयणापूर्वक करना।

2 प्रवेश - प्रथम वंदन करते समय गुर्वाज्ञापूर्वक अवग्रह में प्रवेश करना, वह प्रथम प्रवेश एवं अवग्रह में से बाहर निकलकर पुनः द्वितीय वंदन के समय भी गुर्वाज्ञा प्राप्त करके अवग्रह में प्रवेश करना, '2 प्रवेश' आवश्यक हैं।

1 निष्क्रमण - प्रथम बार वंदन सूत्र बोलते समय अवग्रह में प्रवेश करके छह आवर्त्त करके 'आवस्सियाए' पद के उच्चारणपूर्वक अवग्रह से बाहर आना '1 निष्क्रमण' नामक आवश्यक है। (द्वितीय बार के वंदन में संपूर्ण सूत्र अवग्रह में ही बोला जाता है, एसी विधि होने से दूसरी बार 'आवस्सियाए' पद नहीं बोलने के कारण वंदन विधि में प्रवेश दो होने पर भी निष्क्रमण एक ही है।)

वंदनीय आत्मा :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'वंद्य' के विषय में चर्चा करते हुए आचार्यश्रीने स्पष्ट कहा है कि सुविहित या संविज्ञपाक्षिक, दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और विनय में नित्य उद्यमवान् संयतात्मा वंदनीय है। उनको वंदन करने से विशुद्ध मार्ग की प्रभावना होती है और ये प्रवचन का यश बढाते हैं। उनमें विरति होने के कारण उनको वंदन करने से निर्जरा और कर्मक्षय होता हैं। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और रत्नाधिक को 'कृतिकर्म' (द्वादशावर्त वंदन) करना चाहिए।[25]

14. अ.रा.पृ. 3/1056
15. अ.रा.पृ. 3/1056
16. अ.रा.पृ. 6/768;
17. अ.रा.पृ. 6/768
18. अ.रा.पृ. 3/509
19. अ.रा.पृ. 1/693
20. अ.रा.पृ. 3/773
21. वही
22. अ.रा.पृ. 3/522, 523, 6/769
23. अ.रा.पृ. 3/521
24. अ.रा.पृ. 6/769
25. अ.रा.पृ. 3/521

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा पार्श्वस्थादि को विशेष कारण के बिना वंदनादि नहीं करना चाहिए। यथाप्रसंग विवेक बुद्धि से कार्य करना।[26]

वंदनीय स्थिति :-

जब गुरु भगवंत प्रशान्त (व्याक्षेपरहित), उपशान्त (क्रोधादि रहित), छन्द (शिष्यादि) सहित उपाश्रयादि में आसन पर विराजमान हो तब मेधावी (बुद्धिमान्) शिष्य को आज्ञा प्राप्त करके 32 दोषरहित गुरुवंदन करना चाहिए।[27]

1. प्रतिक्रमण 2. स्वाध्याय-वाचनादि के समय 3. कायोत्सर्ग 4. अपराध की क्षमा माँगना 5. बडे साधु के आगमन पर (या विहार करके या बाहर से आने पर) 6. आलोचना ग्रहण करते समय 7. तप आदि करने हेतु प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) लेने हेतु और 8. अनशन-संलेखना ग्रहण करते समय-इन आठ प्रसंग पर गुरुवंदन अवश्य करना चाहिए।[28]

वंदन कब नहीं करना ?[29] - गुरु जब व्याक्षिप्त/व्यग्र चित्तवाले, परावृत्त, प्रमत्त या आहार-निहार की इच्छावाले हो या आहार-निहार करते हो तब कदापि वंदन नहिं करे।

गुरु की 33 आशातना[30] :-

(1-2-3) निष्कारण आगे-पीछे या बगल में चलना।

(4-5-6) निष्कारण आगे-पीछे या बगल में खडे रहना।

(7-8-9) निष्कारण आगे-पीछे या बगल में बैठना।

(10) आचमन - गुरु के साथ में स्थंडिल गया हुए साधु के द्वारा गुरु से पहले देहशुद्धि/आचमन करना।

(11) पूर्वालापन - जिससे गुरु को बात करना हो उस गृहस्थ को गुरु से पहले बुलाना या बात करना।

(12) गमनागमन - गुरु के साथ बाहर जाकर पुनः उपाश्रय में आने पर गुरु से पहले गमनागमन संबंधी आलोचना करना।

(13) भिक्षा-आलोचना - गोचरी की आलोचना - पहले अन्य साधु के समक्ष करके फिर गुरु के समक्ष करना।

(14) प्रथम अन्य साधु गोचरी दिखाकर गुरु को बाद में दिखाना।

(15) गुरु को बिना पूछे ही छोटे साधुओं को उनकी इच्छानुसार अति आहार रखना (देना)।

(16) प्रथम छोटे साधुओं को आहार हेतु निमंत्रण करके गुरु को बाद में निमंत्रण करना।

(17) भिक्षा में से गुरु को किंचित् अल्प आहार देकर स्वयं उत्तम-स्निग्ध-मधुर-मनपसंद आहार करना।

(18) रात्रि में गुरु के बुलाने पर प्रत्युत्तर नहीं देना।

(19) दिन में गुरु के द्वारा कुछ पूछने पर प्रत्युत्तर न देना।

(20) गुरु के बुलाने पर उनके पास जाने के बजाय अपने आसन पर बैठे बैठे या शय्या में सोये हुए ही उत्तर देना।

(21) गुरु के पूछने पर 'क्या है ? क्या कहते हो ?' इत्यादि तुच्छ शब्दों से अविनय से उत्तर देना।

(22) गुरु के साथ बातचीत में तु - तुम्हारा इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना।

(23) तज्जात वचन - गुरु के द्वारा शिष्य को ग्लानादि की सेवा हेतु या प्रमाद त्याग करने हेतु प्रेरणा करने पर उसी (तुंकार युक्त) भाषा में उसी शब्दों के द्वारा गुरु के सामने बोलना।

(24) गुरु के सामने कठोर वचन बोलना या ऊँची आवाज में बोलना।

(25) गुरु व्याख्यान दे रहे हो तब 'यह बात एसी है' - इस प्रकार बीच में बोलना।

(26) गुरु व्याख्यान दे रहे हो तब यह अर्थ तुम्हें याद नहीं है, यह एसा है, तुम्हारी भूल है- इत्यादि बोलना।

(27) उपहतमनस्तव - धर्मोपदेश के समय गुरु के प्रति पूज्यभाव नहिं होने से चित्त में प्रसन्न नहीं होना, गुरुपदेश की अनुमोदना नहिं करना या प्रशंसा न करना।

(28) पर्षद् भेद - धर्मोपदेश के समय भिक्षा, सूत्राध्ययन, गोचरी, भोजन - आदि का प्रयोजन/अवसर दिखाकर सभा/पर्षदा को तोडना (भङ्ग करना)।

(29) कथाछेदना - गुरु धर्मकथा कहते हो तब 'यह बात मैं आपको कहूँगा' - श्रोताओं को एसा कहकर कथा भङ्ग करना।

(30) गुरु का व्याख्यान समाप्त होने पर सभा विसर्जन होने से पूर्व ही स्वयं की चतुराई दिखाने हेतु शिष्य के द्वारा विशेषरुप से धर्मकथा कहना।

(31) गुरु की उपस्थिति में गुरु से ऊँचे या उनके समान आसन पर बैठना।

(32) गुरु के शय्या-संथारा-वस्त्रादि को पैर लगाना, बिना आज्ञा के हाथ लगाना और उसकी क्षमा न माँगना।

(33) गुरु के शय्या (संथारा) - आसन-वस्त्र-पात्रादि ऊपर खडा रहना/बैठना/शयन करना - इत्यादि से आशातना होती है।

गुरुवंदन के 32 दोष :-

1. **अनादर दोष** - सम्भ्रम रहित वंदन करना।
2. **स्तब्ध दोष** - जात्यादि दोष से स्तब्ध होकर वंदन करना।
3. **प्रविद्ध दोष** - वंदन देते देते ही नष्ट करना।
4. **परिणिण्डित दोष** - आवर्तानुसार विधि और उच्चारणपूर्वक वंदन नहीं करना।
5. **टोलगति दोष** - इधर-उधर घूमते-फिरते वंदन करना।
6. **अङ्कुश दोष** - रजोहरण (या चरवला) को अंकुश की तरह पकडकर वंदन करना।
7. **कच्छभरिंगित दोष** - कछुए की तरह रेंगते हुए वंदन करना।
8. **मत्स्योद्वृत दोष** - मछली की तरह एक को वंदन करके तत्काल इधर-उधर घूमकर समीपवर्ती दूसरे मुनि को वंदन करना।
9. **मनसा प्रदुष्ट दोष** - मुनि को वंदन करते समय उनके एकाध हीनगुण (दोष) को ही मन में याद करके असूयापूर्वक वंदन करना।
10. **वेदिकाबद्ध दोष**- एक जानु के ऊपर हाथ रखकर दूसरे जानु को दोनों हाथ से पकडकर वंदन करना।
11. **भय दोष** - मैं वंदना नहीं करूँगा तो मुझे गच्छ से बाहर निकाल देंगे -एसे भय से वंदन करना।
12. **भजन दोष** - ये मेरी भक्ति/सेवा/सार-संभाल करते हैं अतः 'भक्तं भजस्व' -इस आर्यावर्त्त के लक्षणानुसार वंदन करना।

26. अ.रा.पृ. 3/515
27. अ.रा.पृ. 3/521
28. अ.रा.पृ. 3/521-522
29. आवश्यक निर्युक्ति-गाथा 1198
30. धर्मसंग्रह-1/492-93-94

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

13. **मैत्री दोष** - प्रीति की इच्छा से मैत्री निमित्त वंदन करना।
14. **गौरव दोष** - ये मुझे 'यह समाचारी कुशल है' -ऐसा समझे, इसलिए वंदन करना।
15. **कारण दोष** - ज्ञानादि को छोडकर अन्य कारण जैसे - मैं वंदन करूँगा तो मुझे वस्त्रादि देंगे। -एसे कारणपूर्वक वंदन करना।
16. **स्तैन्य दोष** - 'मेरी लघुता होगी' -एसी भावना से अपने आपको छिपाते हुए वंदन करना।
17. **प्रत्यनीक दोष** - गोचरी (आहार) के समय वंदन करना।
18. **रुष्ट दोष** - क्रोधपूर्वक वंदन करना।
19. **तर्जित दोष** - अङ्गुली से तर्जना करते हुए अथवा तुम तो काष्ठ शिव की तरह कोपायमान भी नहीं होते, प्रसन्न भी नहीं होते -इत्यादि उपालम्भपूर्वक गुरु को तर्जना करते हुए वंदना करना।
20. **शठदोष** - कपटपूर्वक बिमारी आदि का बहाना करके विधिपूर्वक सम्यग्रुप से वंदन न करना।
21. **हीलित दोष** - हेलना/तिरस्कार करके वंदन करना।
22. **विपरिकुञ्चित दोष** - आधा वंदन करके बीच में देशकथादि अन्यान्य बातें करना (फिर बाद में बाकी की आधी वंदन विधि करना)।
23. **दृष्टादृष्ट दोष** - अंधकार में (या अन्य व्यस्तता में) गुरु देखें या नहीं देखें - एसा सोचकर वंदन नहीं करना।
24. **शृङ्ग दोष** - उत्तमाङ्ग (मस्तक) के एक भाग से वंदन करना।
25-26. **करमोचन दोष** - 'वंदन करना मानो कर (टेक्स) भरना है।' -एसी भावना से वंदन करना (इससे कर्मनिर्जरा नहीं होती)। अथवा इनको वंदन देने (करने) पर मुक्ति होगी-एसी भावना से वंदन करना।
27. **आश्लिष्टानाश्लिष्ट** - रजोहरण को दोनों हाथों की अंगुलियों में पकडकर मस्तक को छिपाते हुए वंदन नहीं करना।
28. **न्यून दोष** - व्यञ्जन आवश्यक से न्यून (अधूरे) वंदन करना।
29. **उत्तरचूड दोष** - वंदन करने के बाद ऊँची आवाज से 'मत्थएण वंदामि' बोलना।
30. **मूक दोष** - सूत्र-आलापक नहीं बोलते हुए (मन में गुनगुनाते हुए) वंदन करना।
31. **ढड्डुर दोष** - बहुत जोर से बोलते हुए वंदन करना।
32. **चुडुली दोष** - उल्कापात की तरह रजोहरण को किनारे से पकडकर घुमाते हुए वंदन करना।[31]

गुरुवंदन का फल :-

सविधि दोष रहित द्वादशावर्त गुरुवंदन करने से वंदनकर्ता को विनयोपचार, मानभङ्ग, गुरुपूजा, जिनाज्ञापालन, श्रुतधर्म की आराधना एवं मोक्ष-ये छः गुण प्राप्त होते हैं।[32] जीव अनेक भवों के संचित कर्मों को क्षय करता हैं, आठों कर्म की प्रकृतिओं के गाढ बंधनो को शिथिल करता हैं, दीर्धकालीनस्थिति को अल्प/ह्रस्व करता है, तीव्ररस को मंदरस करता हैं एवं बहुप्रदेशी को अल्पप्रदेशी करता हैं[33]। वंदन करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र कर्म का बंध करता है एवं उच्च गोत्र में उत्पन्न होता है। इसके साथ ही वंदनकर्ता जीव सौभाग्य, लोकप्रियता, अप्रतिहत आज्ञाकारिता, आदेयवाक्यता, दाक्षिण्यभाव (सभी लोकों का अनुकूल होना) सदा सर्वदा सर्वत्र सर्वावस्था में अनुकूल माहात्म्य को प्राप्त कर अप्रतिहत आज्ञासार अर्थात् मोक्षफल को प्राप्त होता हैं।[34]

(4) प्रतिक्रमण :-

व्यक्ति को अपनी जीवन यात्रा में कषायवश पद-पद पर अन्तरंग व बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन श्रेयोमार्गी (मुमुक्षु) के लिए आवश्यक है।

प्रतिक्रमण के अर्थ :- जैनागमों में 'प्रतिक्रमण' शब्द के अनेक अर्थ बताये गये है जो निम्नानुसार है –

1. शुभ योग से अशुभ योग में गये हुए आत्मा का पुनः शुभ योग में लौट आना 'प्रतिक्रमण' कहलाता हैं।[35]
2. प्रमादवश स्वस्थान (अप्रमत्त चेतना का अन्तर्मुख होना) से परस्थान (प्रमत्त आत्मा का बहिर्मुख होना) में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान में लौट आना 'प्रतिक्रमण' हैं
3. क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है तो यह भी प्रतिकूलगमन के कारण प्रतिक्रमण हैं।
4. अशुभ आचरण से मोक्ष फलदायक शुभ आचरण में निःशल्य भाव से प्रवृत्त होना 'प्रतिक्रमण' कहलाता हैं।[36]
5. भूतकाल में जो दोष लगे हैं उनके शोधनार्थ प्रायश्चित, पश्चाताप व गुरु के समक्ष अपनी निन्दा-गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता हैं।[37]
6. साधक के द्वारा गुरु के समक्ष विपरीत आचरण के कारण 'मिच्छामि दुक्कडम्' अर्थात् 'मेरा दोष मिथ्या हो' -एसा निवेदन कर प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण हैं।[38]
7. प्रमादवश किये दोषों का निराकरण करना 'प्रतिक्रमण' हैं।[39]
8. कृत दोषों की निवृत्ति 'प्रतिक्रमण' हैं।[40]
9. चौरासी लाख गुणों के समूह से संयुक्त पाँच महाव्रतों में उत्पन्न हुए मल को धोने का नाम प्रतिक्रमण हैं।[41]
10. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से व्रत में किये गए दोषों को शोधना, आचार्यादि के समीप आलोचनापूर्वक अपने दोषों को प्रकट करना 'प्रतिक्रमण' हैं।[42]
11. वचनमय प्रतिक्रमण 'स्वाध्याय' हैं।[43]
12. निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा क्रिया 'प्रतिक्रमण' कहलाती हैं।[44]

---

31. अ.रा.पृ. 6/769-770,-522; आवश्यक बृहद्वृति- 3/1207 से 1211
32. प्रवचन सारोद्धार 100
33. भाष्यत्रयम् पृ. 229 (गुरुवंदन भाष्य गाथा 40 पर विवेचन)
34. अ.रा.पृ.-6/770
35. अ.रा.पृ. 5/261, योगशास्त्र 3/129 पर स्वोपज्ञ वृत्ति; उत्तराध्ययनसूत्र, 29 वाँ अध्ययन
36. अ.रा.पृ. 5/261, आवश्यक बृहद्वृत्ति-अध्ययन-4 श्रमणसूत्र-पृ. 87
37. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश -3/115
38. अ.रा.पृ.5/262, सर्वार्थसिद्धि 9/22,तत्त्वसार-7/239;स्थानांग ठाणां-6
39. गोम्मटसार-जीवकाण्ड /जीवतत्त्व प्रदीपिका-गाथा 367 पृ. 790
40. समयसार तात्पर्य वृत्ति-306, पृ. 388 भाव पाहुड टीका-77 पृ. 221
41. धवला, गाथा-8, 14 पर टीका
42. मूलाचार-26
43. नियमसार-153
44. प्रवचनसार-207 पर तात्पर्यवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण के पर्याय - अभिधान राजेन्द्र कोश में 'प्रतिक्रमण के निम्नलिखित पर्यायवाची नाम दिये गये हैं[45]-

1. **प्रतिक्रमण** - पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना।
2. **प्रतिचरण** - हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य और संयम के क्षेत्र अग्रसर होना।
3. **परिहरण** - सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना।
4. **वारण** - निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना।
5. **निवृत्ति** - अशुभ भावों से निवृत्त होना।
6. **निन्दा** - स्वयं अपनी आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिए पश्चाताप करना।
7. **गर्हा** - गुरु साक्षी से अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना।
8. **शुद्धि** - प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाता है, इसलिये इसे शुद्धि कहा गया हैं।

प्रतिक्रमण के प्रकार :-

स्थानांग सूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण के भेद :-

स्थानांग सूत्र के अनुसार प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का है[46]-

1. **आस्रवद्धार** - (हिंसादि पाँचों आस्रवों का) प्रतिक्रमण
2. **मिथ्यात्व** प्रतिक्रमण
3. **कषाय** (क्रोधादि कषायों का) प्रतिक्रमण
4. **योग** (अप्रशस्त-मन-वचन-काया) प्रतिक्रमण
5. **भाव प्रतिक्रमण** - मन-वचन-काया से मिथ्यात्व की ओर गमन नहीं करने, दूसरें को प्रेरित नहीं करने और जानेवालों की अनुमोदना नहीं करने रुप हैं।

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार प्रतिक्रमण के भेद :-

आवश्यक निर्युक्ति में प्रकारान्तर से प्रतिक्रमण के निम्नानुसार पाँच भेद दर्शाये हैं[47]-

1. **मिथ्यात्व प्रतिक्रमण** - मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से साधक की आत्मा को जाने-अनजाने में और अचानक लगने वाले मिथ्यात्व (सुदेव-गुरु-धर्म में अश्रद्धान) दोषों का प्रतिक्रमण
2. **असंयम प्रतिक्रमण** - प्राणातिपातादि रुप हिंसादि का प्रतिक्रमण
3. **कषाय प्रतिक्रमण**
4. **योग प्रतिक्रमण**
5. **संसार प्रतिक्रमण** - देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी - इन चतुर्गति प्रायोग्य भव के आयुबंध के हेतु रुप जान (आभोग) अनजान (अनाभोग), अचानक (सहसात्कार) महारम्भादि एवं मायादि सेवन का प्रतिक्रमण।

प्रतिक्रमण -छः प्रकार से :-

स्थानांग सूत्र में इन छः प्रकार के प्रतिक्रमण का निर्देश हैं[48]-

1. **उच्चार प्रतिक्रमण** - वडीनीति (मल) आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्यापथिकी का प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण हैं।
2. **प्रस्त्रवण प्रतिक्रमण** - लघुनीति (मूत्रत्याग) करने के बाद ईर्यापथिकी का प्रतिक्रमण करना प्रस्त्रवण प्रतिक्रमण हैं।
3. **इत्वर प्रतिक्रमण** - स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण हैं।
4. **यावत्कथिक प्रतिक्रमण** - संपूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होना यावत्कथिक प्रतिक्रमण हैं।
5. **यत्किञ्चिन्मिथ्या** - सावधानी पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंयम रुप आचरण होने पर तत्काल भूल को स्वीकार करना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना यत्किञ्चिन्मिथ्या प्रतिक्रमण हैं।
6. **स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण** - विकार, वासनायुक्त स्वप्न देखने पर उसके संबंध में पश्चाताप करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव -इन छह निक्षेपों के अनुसार छह प्रकार का भी प्रतिक्रमण दर्शाया हैं।[49]

1. **नाम प्रतिक्रमण** - अयोग्य नाम (या शब्दों) का उच्चारण न करना।[50]
2. **स्थापना प्रतिक्रमण** - आसाभास की प्रतिमा के दर्शन-नमन-वंदन-द्रव्य पूजन करने का त्याग स्थापना प्रतिक्रमण है अथवा त्रस या स्थावर जीवों की स्थापनाओं का नाश, ताडन, मर्दनादि नहीं करना स्थापना प्रतिक्रमण हैं।[51]
3. **द्रव्य प्रतिक्रमण** - सम्यग्दृष्टि आत्मा के द्वारा लक्ष्मी/लब्धि आदि के निमित्त किया गया प्रतिक्रमण या निह्नवादि के द्वारा पुस्तकादि का न्यास द्रव्य प्रतिक्रमण हैं[52], अथवा भाव/उपयोगरहित प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण हैं। अथवा उद्गमादि दोषयुक्त वसति, उपकरण, आहारादि का त्याग करना; अयोग्य अभिलाषा, उनमत्तता तथा संक्लेश परिणामवर्धक आहारादि का त्याग करना 'द्रव्य प्रतिक्रमण' हैं।[53]
4. **क्षेत्र प्रतिक्रमण** - जिस नियत स्थान में प्रतिक्रमण किया जाता है उसे क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं[54] अथवा पानी, कीचड, त्रस जीव, स्थावर जीवादि से व्याप्त प्रदेश या रत्नत्रय की हानि की संभावनावाले प्रदेश का त्याग करना 'क्षेत्र प्रतिक्रमण' हैं।[55]
5. **काल प्रतिक्रमण** - काल की अपेक्षा से जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह काल (कालिक) प्रतिक्रमण है। वह दो प्रकार का है - **(क.) ध्रुव काल प्रतिक्रमण** - भरत -एरावत क्षेत्रों में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर साधु-साध्वी के द्वारा चाहे अपराध

45. क. पडिकमणं पडिचरणा, परिहरणा वारणा निअत्ती अ।
निंदा गरिहा सोही, पडिकमणं अट्ठहा होई ॥
- अ.रा.पृ. 5/ 262, आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/3
ख. तिलोय पन्न - 9/49
46. स्थानांग-5/3
47. अ.रा.पृ. 5/265, आवश्यक निर्युक्ति-32
48. अ.रा.पृ. 5/264, स्थानांग ठाणां-6
49. अ.रा.पृ. 5/262, आवश्यक बृहद्वृत्ति4/4
50. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- 3/116
51. वही
52. अ.रा.पृ. 5/262
53. अ.रा.पृ. 5/262, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. 3/116
54. अ.रा.पृ. 5/262
55. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- 3/116

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ हो या नहीं भी हुआ हो तो भी दैवसिक, रात्रिक और पाक्षिकादि प्रतिक्रमण नियम से दोनों समय (प्रातः -सायं) अवश्य करना 'ध्रुव काल प्रतिक्रमण' हैं।[56] **(ख.) अध्रुव काल प्रतिक्रमण** - भरत-एरावत क्षेत्रों में मध्यम 22 तीर्थंकर के साधु-साध्वी तथा महाविदेह क्षेत्र के साधु-साध्वी का यदि दोष लगे तो ही तत्समयानुसार दैवसिक या राई (रात्रिक) प्रतिक्रमण करना अध्रुव काल प्रतिक्रमण है[57] (वहाँ पाक्षिकादि प्रतिक्रमण का प्रवर्तन ही नहीं है)।

कालापेक्ष प्रतिक्रमण के भेद :-

काल की अपेक्षा से अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रतिक्रमण के पाँच भेद भी दर्शाये हैं[58]-

क. **देवसिअ (दैवसिक)** - प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिवस में आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना[59]।

ख. **राइअ (रात्रिक)** - प्रतिदिन प्रातःकाल के समय संपूर्ण रात्रि के आचरित पापों का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना।[60]

ग. **पक्खी (पाक्षिक)** - पक्षान्त में चतुर्दशी के दिन संपूर्ण पक्ष (15 दिनों) में आचरित पापों का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना।[61]

घ. **चौमासी (चातुर्मासिक)** - आषाढ शुक्ला, कार्तिक शुक्ला एवं फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी को संध्या को चार महिने में आचरित पापों का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना।[62]

ङ. **संवच्छरीअ (सांवत्सरिक)** - संवत्सरी महापर्व (भाद्रपदा शुक्ल चतुर्थी) की संध्या को वर्ष भर के पापों का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना।[63]

भगवती आराधना के अनुसार रात्रि, तीनों संध्या, स्वाध्याय काल एवं आवश्यक क्रियाओं के काल में आने-जाने का त्याग करना 'काल प्रतिक्रमण' हैं।[64]

6. भाव प्रतिक्रमण :-

मन-वचन-काया से मिथ्यात्व-शक्यादि का चिंतन, वार्तालाप या व्यवहार (लेन-देन) न करना, न कराना, करनेवालों की अनुमोदना नहीं करना - अप्रशस्त भाव प्रतिक्रमण हैं।[65]

और सम्यग्दृष्टि साधक के द्वारा सम्यक्त्व में लगे अतिचार एवं अहिंसादि व्रतों में लगे अतिचार दोषों का चिंतन कर, उसकी आलोचना कर पुनः व्रतों में स्थिर होना प्रशस्त भाव प्रतिक्रमण हैं।[66]

भगवती आराधना के अनुसार आर्त्त-रौद्र इत्यादि अशुभ परिणाम और पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ परिणाम का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण हैं।[67]

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदनपूर्वक (3 × 3) विपरीत आचरण का प्रतिक्रमण करने पर भाव प्रतिक्रमण नौ प्रकार का है।[68]

भगवती आराधना के अनुसार[69] किये हुए अतिचारों का मन से त्याग करना-मनःप्रतिक्रमण हैं; हा !! मैंने पाप कार्य किया-एसा मन से विचार करना भी मनःप्रतिक्रमण हैं। सूत्रों का उच्चारण करना-वचन (वाक्य) प्रतिक्रमण हैं और शरीर के द्वारा दुष्कृत्यों का आचरण न करना - कायकृत प्रतिक्रमण हैं।

आवश्यक बृहद्वृत्ति के आधार पर प्रतिक्रमण के भेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रतिक्रमण के निम्नांकित भेद दर्शाये हैं[70]-

1. दैवसिक 2. रात्रिक 3. इत्वरकथिक
4. यावत्कथिक 5. पाक्षिक 6: चातुर्मासिक
7. सांवत्सरिक 8. उत्तमार्थ।

इत्वरकथिक - स्वल्पकालिक प्रतिक्रमण को इत्वरकथिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

यावत्कथिक - जीवन पर्यन्त ग्रहण किये जाते व्रतों के अतिचारों की शुद्धि हेतु जो प्रतिक्रमण यावज्जीव किया जाता है, उसे ही यावत्कथिक प्रतिक्रमण कहते हैं।

उत्तमार्थ - भक्त प्रत्याख्यानादि अनशन ग्रहण करने पर जीवन भर के पाप कार्यों की शुद्धिरुप किया जानेवाला प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण होता हैं।[71]

मूलाचार के आधार पर जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में भी इसी प्रकार की मर्यादायुक्त प्रतिक्रमण के तीन भेदों का उल्लेख हैं[72]-

1. **सर्वातिचार प्रतिक्रमण** - दीक्षाग्रहण के समय से संपूर्ण जीवन में लगे दोषों की शुद्धि करना
2. **त्रिविध प्रतिक्रमण** - जल को छोडकर शेष तीनों प्रकार केआहार करने में लगे दोषों की शुद्धि करना।
3. **उत्तमार्थ प्रतिक्रमण** - जीवन पर्यन्त जल पीने में लगे दोषो की शुद्धि करना।

काल की अपेक्षा से मूलाचार में प्रतिक्रमण के 1. दैवसिक 2. रात्रिक 3. एर्यापथिक 4. पाक्षिक 5. चातुर्मासिक 6. सांवत्सरिक और 7. उत्तमार्थ - ये सात भेद दर्शाये गये हैं।[73]

प्रतिक्रमण योग्य प्रसंग :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने प्रतिक्रमण योग्य बातों/स्थानों का वर्णन करते हुए कहा है कि "साधु या श्रावक के द्वारा शास्त्र में निषद्ध (अकरणीय) कार्यों के करने पर, अवश्य करने योग्य कार्यों के नहीं करने पर अश्रद्धान (मिथ्यात्व), और स्वयं के द्वारा कृत सिद्धान्तविपरीत प्ररुपणा का प्रतिक्रमण किया जाता है।[74]

---

56. अ.रा.पृ. 5/262, 263 आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/18
57. अ.रा.पृ. 5/262, 263 आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/19
58. अ.रा.पृ. 5/264
59. अ.रा.पृ. 5/264
60. अ.रा.पृ. 5/264
61. अ.रा.पृ. 5/69, 5/264
62. अ.रा.पृ. 5/264
63. अ.रा.पृ. 5/264
64. भगवती आराधना-116 पर विजयोदया टीका पृ. 275
65. अ.रा.पृ. 5/262, 264 265, आवश्यक बृहद्वृत्ति - 4/4, स्थानांग-ठाणां-5/3
66. अ.रा.पृ. 5/262, 336, आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/5
67. भगवती आराधना-विजयोदया टीका-116 पृ. 275
68. अ.रा.पृ. 5/265, आवश्यक निर्युक्ति-33
69. भगवती आराधना-509 पर विजयोदया टीका पृ. 278
70. अ.रा.पृ. 5/264, आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/21
71. अ.रा.पृ. 5/264, आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/21
72. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- पृ. 3/116 मूलाचार-120
73. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- पृ. 3/116
74. अ.रा.पृ. 5/271, 317; वंदित्तु सूत्र-48

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण की आवश्यकता[75] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में साधक को प्रतिक्रमण करने का कारण बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि "**यदि पाप लगा हो तो नष्ट हो जाये, वर्तमान में लगे नहीं और प्रत्याख्यान के कारण भविष्य में भी विपरीत आचरण करने की शक्यता न रहे, इस हेतु प्रतिक्रमण किया जाता हैं।** साधक मुनि गुरु साक्षी से गुरु वंदन पूर्वक प्रतिलेखन, प्रमार्जन में (यदि) प्रमाद हुआ तो उसकी आलोचना करते हैं। देववंदन-गुरुवंदन पूर्वक प्रतिक्रमण करने पर षडावश्यक में पंचाचार का पालन होता है। सामायिक में - चारित्राचार, चतुर्विंशतिस्तव (देव वंदणा) में, दर्शनाचार, वंदन (वांदना) से ज्ञानाचार, प्रतिक्रमण से अतिचारों का अपनयन, कायोत्सर्ग से दोषों की विशुद्धि और प्रत्याख्यान में आवश्यक तपाचार और इन समस्त क्रियाओं में वीर्याचार का पालन एवं विशुद्धि होती हैं।

एर्यापथिक प्रतिक्रमण - गमनागमन, चैत्यवंदन, उपाश्रय से 100 हाथ से अधिक दूर जाकर पुनः उपाश्रय में आने पर, 100 हाथ के मध्यमें भी मल-मूत्रादि त्यागने पर और प्रातः सायं प्रतिक्रमण करते समय और अन्य भी धार्मिक क्रिया के प्रारंभ में एर्यापथिक प्रतिक्रमण किया जाता हैं। अर्थात् इरियावहियं .... आदि करके 1 लोगस्स (25 श्वासोछ्वास) का कायोत्सर्ग किया जाता हैं।[77]

दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण :-

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में दिवस संबंधी अतिचार का प्रतिक्रमण करते समय मन-वचन-काया से हुए उत्सूत्र प्ररुपणा, उन्मार्ग गमन, अकल्पनीय ग्रहण, अकार्यकरण, दुर्ध्यान, दुष्ट चिन्तन, अनाचार, अनिच्छित की इच्छा, अश्रमण प्रायोग्य कार्य करना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रुत, सामायिक, तीन गुप्ति, चार कषाय, पाँच महाव्रत, छः जीवनिकाय, सात पिंडैषणा, आठ प्रवचनमाता, नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ, और 10 श्रमण धर्म (क्षमादि) का प्रतिक्रमण किया जाता हैं।[78]

तत्पश्चात् एर्यापथिक प्रतिक्रमण में गमनागमन संबंधी क्रिया में जीव, बीज, वनस्पति, ओस, कीडी के बिल, नील-फूल, सचित लज, सचित्त मिट्टी, मकडी के जाले - आदि को दबाने से, कुचलने से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव को सन्मुख चोट पहुँचाना, धूल से ढँकना, परस्पर या जमीन पर मसलना, मिलाना, छूकर तकलीफ देना, कष्ट पहुँचाना, मृतःप्राय करना, त्रास देना, स्थानान्तरित करना, प्राणनाश करना-इत्यादि संबंधी जो दोष लगा हो उसके 'मिथ्या दुष्कृत' दिया जाता हैं।[79]

तत्पश्चात् पगामसिज्झाय सूत्र में शयन संबंधी दोषों की, खुले मुँह खांसी-छींक-उबासी आने संबंधी, अप्रमार्जित या सचित रजोयुक्त भूमि के स्पर्श संबंधी, स्त्री आदि के भोग, विवाह, युद्धादि संबंधी सामग्री के स्पर्श से उत्पन्न चित्तव्याकुलता संबंधी, स्वप्न में स्त्री के साथ मैथुनसेवा संबंधी, स्त्री के सरागदृष्टि से दर्शन संबंधी, तत्संबधी मनोविकार का, रात्रि में जल या आहार संबंधी इच्छाजनित चित्त चंचलता हुई हो तो उसका 'मिथ्या दुष्कृत' दिया जाता हैं।

तत्पश्चात् गोचरी/आहारचर्या के समय आहार ग्रहण संबंधी कोई दोष लगा हो तो उसका 'मिथ्या दुष्कृत' दिया जाता हैं।

तत्पश्चात् दिन में चार बार (दिन और रात्रि के प्रथम और अंतिम प्रहर) स्वाध्याय नहीं करने संबंधी और दिन के प्रथम और अंतिम प्रहर में वस्त्र-पात्र उपधि आदि उपकरणों का प्रतिलेखन नहीं करने संबंधी या आगे-पीछे या उपयोगरहित करने संबंधी तथा दंडासनादि से प्रमार्जन नहीं करने या न्यूनाधिक करने संबंधी दोषों का 'मिथ्या दुष्कृत' दिया जाता हैं।

तत्पश्चात् असंयम, राग-द्वेष, तीन दंड (मन आदि), तीन गुप्ति, तीन शल्य (माया, निदान, मिथ्यात्व), तीन गारव (ऋद्धि-रस-साता का अभिमान), रत्नत्रय की विराधना, कोधादि चार कषाय, आहारादि चार संज्ञा, चार विकथा (स्त्री-भोजन-देश-राजा संबंधी) आर्त्तादि चार ध्यान, पाँच क्रिया (गमनागमन, शस्त्र, प्राद्वेषिकी, संतारिकी, जीवहिंसा संबंधी) पाँच काम गुण (शब्द, रुप, रस, गंध, स्पर्श) पाँच महाव्रत, पाँच समिति, षड् जीवनिकाय, छः लेश्या (कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म, शुक्ल) सात भय स्थान (इहलोक, परलोक, चोरी, अकस्माद्, मरण, अपयश एवं आजीविका), आठ मद स्थान (जाति-कुल-रुप-बल-लाभ-श्रुत-तप-एश्वर्य का गर्व), ब्रह्मचर्य की नव गुप्ति (नव वाड), दश श्रमण धर्म (क्षमादि), ग्यारह उपासक प्रतिमा, बारह भिक्षु प्रतिमा, तेरह क्रिया स्थान अर्थ (सप्रयोजन), अनर्थ, हिंसा, अकस्मात्, दृष्टि विपर्यास, मृषावाद (झूठ), अदत्तादान (चोरी), आध्यात्मिकी (दूसरों के विषय में संकल्प-विकल्प करना), मान, अमात्र (कम अपराध में अधिक दंड), माया, लोभ, ईर्यापथिकी (अयतनापूर्वक, गमनागमन,चौदह प्रकार के जीव स्थान संबंधी अतिचार दोष, पंद्रह परमाधामी (नारक जीवों को दुःख देने वाले) देव, सूत्रकृताङ्ग के प्रथम श्रुतस्कंध के 16 अध्ययन संबंधी असत्प्ररुपणा संबंधी अतिचार दोषों का, सत्रह प्रकार के असंयम का, अठारह प्रकार के अब्रह्म (देव-देवी, स्त्री-पुरुष, तीर्यंच-तिरश्ची संबंधी द्विविध-मैथुन × मन-वचन-काय (3 × 2 = 6) × करना, कराना, अनुमोदना × (6 × 3) संबंधी, ज्ञाता धर्मकथांग के 19 अध्ययनों की विपरीत प्ररुपणा संबंधी, इक्कीस सबल दोष (हस्तकर्म, सालम्बन मैथुन, रात्रि भोजन, आधाकर्मी आहार, राजपिण्ड, अभ्याहृताहार, छीनकर लिया हुआ आहार, त्यक्त पदार्थ, पुनः-पुनः गच्छान्तर गमन, एक माह में तीन बार नदी उतरना, तीन बार माया सेवन , जानते हुए भी हिंसा, झूठ, चोरी, अशुद्ध भूमि पर आसन या गमनागमन, आसक्तिपूर्वक भूमिकंद भक्षण, एक वर्ष में दस बार सचितजलसंघट्ट (स्पर्श), एक वर्ष में 10 बार कपट सेवन, सचित जलयुक्त हाथ से आहार (ग्रहण) संबंधी, 22 परिषह संबंधी, सूत्रकृतांग के 16 अध्ययन और पुण्डरीकादि सात मिलाने पर इन 23 अध्ययनों की विपरीत प्ररुपणा संबंधी, चौबीस प्रकार के देवों (10 भवनपति-18 व्यंतर + 5 ज्योतिष्क + 1 वैमानिक = 24) की आशातना, विरुद्ध प्ररुपणा अथवा 24 तीर्थंकरो की अश्रद्धा, अभक्ति और आशातना संबंधी, पाँच महाव्रत की 25 भावना, दशाश्रुत स्कन्ध के 10 + जीतकल्प के 6 + व्यवहार सूत्र के 10 अध्ययन मिलाकर इन 26 उद्देशनकाल की विपरीत प्ररुपणा संबंधी, साधु के सत्ताईस गुणों के पालन में हुए प्रमाद संबंधी, आचारांग के 25 एवं निशीथ सूत्र के अंतिम तीन (उपघात, अनुद्घात, आरुहणा) अध्ययन, कुल अट्ठाईस आचार-प्रकल्प की विपरीत प्ररुपणा संबंधी, अष्टांग ज्योतिष के सूत्र-वृत्ति और वार्तिक मिलकर -24 तथा गंधर्व, नाट्य, वास्तुविद्या, धनुर्वेद और आयुर्विद्या - ये पांच मिलाकर 29 पापशास्त्र की प्ररुपणा

75. अ.रा.पृ. 5/267
76. धर्मसंग्रह-भाषांतर पृ. 1/578
77. अ.रा.पृ. 5/263, बृहत्कल्प सभाष्य वृत्ति-6/348
78. अ.रा.पृ. 5/270-71
79. अ.रा.पृ. 2/630

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबंधी, हिंसा, अवर्णवाद, व्यभिचार, कलह, विश्वासघात, छल-कपट, आदि निकृष्ट पाप-बन्ध के कारणभूत तीस मोहनीय स्थानों के सेवन संबंधी, सिद्ध परमात्मा के इकतीस गुणों की विपरीत प्ररुपणा संबंधी आलोचना, क्रियानुष्ठान, ग्रहणादि शिक्षा, समाचारी, मूल-गुण-उत्तर गुण आदि संबंधि बत्तीस योग संग्रह के पालन में असावधानी या उसमें लगे अतिचार दोष संबंधी, अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-देव-देवी-इसलोक-परलोक-केवली प्रकाशित धर्म-लोक-सर्वप्राणादि-काल-श्रुत-श्रुतदेवता-वाचनाचार्य-व्यविद्धाक्षर (विपरीत या उतावली से बोलना) व्यत्याम्रेडित (असम्बद्ध भाषण) - हीनाक्षर-अत्यक्षर(अधिक अक्षर)-पदहीन-विनयहीन-घोषहीन-योगोद्वहन (तप) हीन (उच्चारण करना)-सुष्ठुदत्त (स्मरण शक्ति से अधिक पाठ लेना) - दुष्ठुप्रतीच्छित (अविनय से पढना) -अकाल वेला में सूत्र की स्वाध्याय करना; कालवेला में नहीं करना, अस्वाध्यायिका (अस्वाध्याय काल में सूत्र पढना), स्वाध्यायिका (स्वाध्याय के समय में नहीं पढना) रुप तैंतीस आशातनाजनित दोषों का मिथ्यादुष्कृत दिया जाता है।

इसके बाद 24 तीर्थंकरों को नमस्कार करके निर्ग्रन्थ प्रवचन की महिमा का वर्णन करके अंत में साधु अकल्प्य, अज्ञान, अक्रिया (नास्तिकवाद), मिथ्यात्व, अबोधि (मिथ्या क्रिया), मिथ्या मार्ग का त्याग करने की एवं कल्प्य, ज्ञान, क्रिया, सम्यक्त्व, बोधि और सम्यक् मार्ग को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करता हुआ दिवस/रात्रि में अज्ञान या अनुपयोग से जो कोई दोष लगा हो उसका 'मिथ्या दुष्कृत' माँगता हुआ स्वयं का संयमधारी, विरतिवान्, पापनाशक, निदान रहित, सम्यक्त्वसहित, माया-मृषावाद रहित स्वरुप को प्रकट करता हुआ ढाई द्वीप में रहे समस्त साधु-साध्वी को वंदन करता है और सर्व जीवों के क्षमापना करता हुआ उनके प्रति मैत्रीभाव धारणकर, वैर-भाव का त्याग करके 24 जिनेश्वरों को वंदन करता हैं।[80]

पाक्षिक/चातुर्मासिक/सांवत्सरिक प्रतिक्रमण[81] :-

मुनि के पाक्षिकादि प्रतिक्रमण में पाक्षिक सूत्र में पंच महाव्रत एवं छठे रात्रिभोजनविरमण व्रत के स्वरुप का वर्णन कर तत्संबंधी दोषों की क्षमापना मांगकर वर्तमान में दिन या रात्रि में, अकेले में या सभा में, सोते या जागते किसी भी स्थिति में मन-वचन-काय से कृत-कारित-अनुमोदन रुप किसी भी प्रकार से इन महाव्रतों का भङ्ग नहीं करता एवं भविष्य में नहीं करूँगा -एसी प्रतिज्ञा की जाती हैं।

साथ ही यहाँ पर पाँचों महाव्रत एवं छठे रात्रि भोजन विरमण व्रत के अतिक्रम संबंधी दोषों की क्षमा माँगकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अविराधित रुप से पालन करते हुए तथा निर्दोष वसति, मर्यादायुक्त विहार और पाँच समिति, तीन गुप्त से युक्त होकर दशविध साधु धर्म में स्थिर रहते हुए पंच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनविरमण व्रत की रक्षा एवं पालन करने की भावना प्रकट की गयी हैं।

इसके बाद सावद्ययोग, मिथ्यात्व, अज्ञान, राग-द्वेष, आर्त-रौद्र ध्यान, कृष्ण-नील-कापोत लेश्या, चार दुःख शय्या, चार संज्ञा (आहारादि), चार कषाय, पाँच काम गुण, पंचास्रव, षड्जीवनिकाय वध, छः प्रकार की अप्रशस्त भाषा, सात भय, मिथ्यात्वी का विभंग ज्ञान, आठ मद, आठ कर्म एवं उनके नये बंध, नव पापनिदान, नवप्रकार के जीवों का वध, 10 प्रकार के उपघात, 10 प्रकार के असंवर, 10 प्रकार के संक्लेश और तैंतीस आशातना का त्याग करते हुए अनवद्य योग, सम्यक्त्व, ज्ञान, दो प्रकार के चारित्र तथा धर्म-शुक्ल ध्यान, तेजस्-पद्म-शुक्ल लेश्या, मन-वचन-काय से सत्य संयम, चार सुख शय्या, चार संवर, पंचेन्द्रिय संवरण पाँच प्रकार का स्वाध्याय, 2 प्रकार के तप, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचनमाता, 9 ब्रह्मचर्य गुप्ति, 18 प्रकार की ब्रह्मचर्य शुद्धि, 10 प्रकार का सत्य, 10 समाधि स्थान, दशाश्रुत स्कन्ध के दश अधिकार और दशविध श्रमण धर्म को प्राप्त कर मन-वचन-काय रुप तीन दण्डों से विराम पाकर, त्रिकरण शुद्ध होकर, तीन शल्य से रहित होकर, मन-वचन-काय रुप त्रिविध योगों से, सर्व अतिचार दोषों से निवृत्त होकर पाँच महाव्रतों के पालन एवं रक्षण करने की प्रतिज्ञा की जाती हैं।

तत्पश्चात् श्री जिनप्रणीत षडावश्यक (सामायिकादि), दशवैकालिकादि अंगबाह्य उत्कालिक सूत्र, उत्तराध्ययनादि अंगबाह्य कालिक सूत्र, और आचारांगादि द्वादशांग गणिपिटकों का नामपूर्वक वर्णन करते हुए उनमें श्रद्धा प्रकट कर जो उन्हें ग्रहण करते हैं, पुनरावर्तन करते हैं, रक्षण करते हैं, परिपूर्ण धारण करते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं और पक्ष/चातुर्मास/वर्षभर में श्रद्धापूर्वक उनमें से जो कुछ अध्ययन/वाचन किया हो, कराया हो, याद किया हो, शंका-समाधान किया हो, मनन किया हो, शुद्ध अनुष्ठान किया हो वह कर्मनाश के लिये होगा, अतः मुनि उनको अङ्गीकार करके मासकल्पादि मर्यादापूर्वक विहार करने की भावना प्रकट करते हैं और पक्षादि दिनों में जो न पढा, न पढाया, न पूछा, चिन्तन-मनन नहीं किया, अनुष्ठान नहीं किया हो उसका सामर्थ्य होने पर भी 'वाचना' आदि हेतु उद्यम नहीं किया, उसके लिए खेद प्रकट कर आलोचना, निंदा, गर्हा पूर्वक प्रतिक्रमण करते हुए 'मिच्छमि दुक्कडम्' माँगकर उन पापों से अलग रहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

प्रतिक्रमण का फल :-

प्रतिक्रमण करने से जीव अपराधों से पीछे हटता है, व्रतों में हुए छिद्रों (दर्षों) को पूरता (मिटाता) है, व्रतों में लगे अतिचारों को रोकता है (नष्ट करता है), आस्रवरहित होता है, निरतिचार चारित्रवान् होता है और अष्ट प्रवचनमाता से युक्त होकर संयमयोग युक्त इन्द्रियों को सन्मार्ग में स्थिर करके साधु स्वमार्ग में विचरता हैं।[82]

नित्य शुद्ध श्रद्धापूर्वक प्रतिक्रमण करने से कर्म क्षय होता है, निकाचित कर्मों के बंधन शिथिल होते हैं, जीव कर्मों का नाश करके संवेग धारण कर संवरपूर्वक आराधना करके अजरामर/मोक्ष स्थान को प्राप्त होता है। प्रतिक्रमण करने के लिए अन्य को उपदेश/प्रेरणा देने पर दश हजार गायों का एक ऐसे 10 गोकुल (10,000 × 10 = 1,00,000 गाय) को अभयदान देने बराबर पुण्य प्राप्त होता है। सर्व जीवों के प्रति वैरभाव का अंत होता है। ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करते 'पणग-दग' पद का चिन्तन करते अतिमुक्तक (अईमुत्ता) मुनिने केवलज्ञान प्राप्त किया।[83]

(5) कायोत्सर्ग :-

कायोत्सर्ग का विवरण आगे दिया जा रहा हैं।

(6) पच्चक्खाण - प्रत्याख्यान

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने छठे प्रत्याख्यान आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है कि त्याज्य वस्तु के प्रति

80. साधु प्रतिक्रमण-पगमा सिज्झाय सूत्र, अ.रा.पृ. 5/271 से 277
81. साधु प्रतिक्रमण-पाक्षिक सूत्र / अ.रा.पृ. 5/281 से 307
82. ।.....पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पेहेइ, पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥१॥ अ.रा.पृ. 5/318, उत्तराध्ययन-29 अध्ययन
83. प्रतिक्रमण की सज्झाय-2 श्री जयन्तसेनसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(त्याग का) गुरु को साक्षीपूर्वक त्याग का कथन[84] (पाप व्यापार या त्याज्य से) निवृत्ति रुप प्रतिज्ञा करना[85], स्वेच्छापूर्वक की प्रवृत्तियों का मर्यादापूर्वक विवक्षित समय के लिये त्याग करना या मूलगुण-उत्तरगुण रुप इष्टार्थविषयनिवर्तन[86], अथवा जिससे मन-वचन-काय की क्रिया जाल के द्वारा किंचिद् अनिष्ट का निषिद्ध किया जाता है, उसे 'प्रत्याख्यान' कहते हैं।[87]

प्रत्याख्यान के भेद :-

आवश्यक बृहद्वृत्ति में प्रत्याख्यान के निम्नाङ्कित छः प्रकार दर्शाये हैं[88]-

1. **नाम प्रत्याख्यान** - प्रत्याख्यान के भिन्न-भिन्न नाम।[89]
2. **स्थापना प्रत्याख्यान** - काल, संकेत प्रत्याख्यान आदि में प्रत्याख्यान हेतु घडी, रस्सी, अंगूठी आदि रखा जाता है जिससे प्रत्याख्यान की काल मर्यादा तय की जाती है; स्थापना प्रत्याख्यान कहलाता है।[90]
3. **द्रव्य प्रत्याख्यान** - वस्त्र, द्रव्य आदि निमित्त किये गए प्रत्याख्यान 'द्रव्य प्रत्याख्यान' हैं।[91] अभव्यों के द्वारा संवेगादि के परिणाम रहित किया गया प्रत्याख्यान तथा भव्यात्माओं द्वारा भी भावरहित, वीर्योल्लासरहित, अविधिपूर्वक किये गए प्रत्याख्यान और यशः, कीर्ति, विद्या, लब्धि आदि की प्राप्ति की इच्छा से किया गया प्रत्याख्यान, द्रव्य प्रत्याख्यान हैं।[92]
4. **क्षेत्र प्रत्याख्यान** - नगर,गाँव, देश प्रदेशादि किसी क्षेत्र विशेष में गमनागमन करने के त्याग रुप प्रत्याख्यान करना 'क्षेत्र प्रत्याख्यान' कहलाता हैं।[93]
5. **अदिच्छा/अदित्सा प्रत्याख्यान** - गृहस्थ के गर पर श्रमण, ब्राह्मण का आगमन होने उनके द्वारा याचना की गई वस्तु, आहार, वस्त्रादि उन्हें देने की इच्छा न होने पर उस आहारादि के लिए मना करना 'अदित्सा प्रत्याख्यान' हैं।[94]
6. **भाव प्रत्याख्यान** - शुभ भाव उत्पन्न होने पर भव्यात्मा के द्वारा किये जानेवाला सावद्य योग (हिंसादि क्रिया व्यापार) के निषेध रुप त्याग/नियम को भाव प्रत्याख्यान कहते हैं।[95]

भाव प्रत्याख्यान के भेद-प्रेभेद[96] :-

भाव प्रत्याख्यान संक्षेप में दो प्रकार से हैं - **(क) श्रुत प्रत्याख्यान** और **(ख) नोश्रुतप्रत्याख्यान**। श्रुतप्रत्याख्यान के दो प्रभेद हैं - 1. **पूर्वश्रुत प्रत्याख्यान** अर्थात् नौवाँ प्रत्याख्यान पूर्व। 2. **नोपूर्वश्रुतप्रत्याख्यान** अर्थात् आतुर प्रत्याख्यानादि पूर्व बाह्य अध्ययन। नोपूर्व श्रुत प्रत्याख्यान के मुख्य दो उपभेद हैं - (1) **मूलगुण नोपूर्वश्रुत प्रत्याख्यान** - साधु के पंच महाव्रत सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान है और श्रावक के पाँच अणुव्रत एक प्रकार से देशमूलगुण प्रत्याख्यान हैं। (2) **उत्तरगुण नोपूर्वश्रुत प्रत्याख्यान** - साधु के पिण्डविशुद्धि, अथवा अनागतादि दश प्रकार के प्रत्याख्यान और श्रावक के तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत आदि उत्तरगुण नोपूर्वश्रुत प्रत्याख्यान हैं। अथवा उत्तरगुण नोपूर्वश्रुत प्रत्याख्यान दूसरे प्रकार से - **(क) यावत्कथित** - साधु के वे प्रत्याख्यान जो दुष्काल, अरण्यादि में भी अनिवार्य रुप से पालन करने योग्य हैं; और **(ख) इत्वरकथित**- श्रावक के तीन गुणव्रत।

अनागतादि 10 प्रकार के उत्तरगुण नोपूर्वश्रुत प्रत्याख्यान[97] :-

1. **अनागत** - पर्युषणादि पर्व दिनो में किया जानेवाला अट्ठमादि तप आचार्यादि की वैयावृत्त्यादि एवं अन्य आवश्यक कृत्यों में अन्तराय होने की संभावना होने पर पर्युषण पर्व के पहले ही करना।
2. **अतिक्रान्त** - उपरोक्त कारण उपस्थित होने पर वह तप पर्व पूर्ण होने के पश्चात् करना।
3. **कोटिसहित** - उपवास के साथ एकाशन या आयंबिल मिलाकर चतुर्थभत्त (तप) प्रत्याख्यान करना।
4. **नियंत्रित** - निश्चित दिन पर ग्लानादि सेवा में अन्तराय उत्पन्न होने पर भी करने योग्य तप करना।
5. **साकार (सागार)** - अनाभोग, सहसात्कारादि आगार (अपवाद समय में छूट) पूर्वक किया जाने वाला नवकारसी आदि तप।
6. **अनाकार (अनागार)** - उत्सर्ग-अपवाद दोनों स्थितियों में किसी भी प्रकार के आगार (छूट) रहित करने योग्य तप।
7. **परिणामकृत** - गृह, द्रव्य (पदार्थ, विगई, दत्ती, कवल) आदि के भार (वजन) या संख्या की मर्यादा करके शेष के त्याग के नियम/प्रत्याख्यानपूर्वक किया जानेवाला तप।
8. **निरवशेष** - समस्त / चारों प्रकार के आहार के त्यागपूर्वक किया जानेवाला उपवास, छठ्ठ, अट्ठमादि तप।
9. **संकेत** - किसी चिह्नपूर्वक किया जाने वाला तप। जैसे - गधा बोलेगा जब मुँह में पानी लूंगा या कायोत्सर्ग का त्याग करूँगा। जब तक दीपक की लौ जलती रहेगी तब तक ही आहार करुँगा इत्यादि।
10. **अद्धा प्रत्याख्यान** - पोरिसी (सूर्योदय से एक प्रहर) आदि काल तक किये जानेवाले प्रत्याख्यान।

अद्धा प्रत्याख्यान के भेद[98] :-

1. **नवकारसी** - सूर्योदय पश्चात् 48 मिनिट के बाद मुट्ठी बाँधकर तीन बार नवकार मंत्र गिनने के पश्चात् ही आहार-जल आदि मुँह में रखना।
2. **पोरिसी** - एक प्रहर दिन चढने के पश्चात् आहार-जल आदि मुँह में रखना।
3. **साढपोरिसी** - डेढ प्रहर दिन चढने के पश्चात् आहार-जल आदि मुँह में रखना।
4. **पुरिमार्ध (पुरिमट्ठ)** - आधा दिन होने पर आहार-जल आदि मुँह में रखना।

84. अ.रा.पृ. 5/85, आवश्यक मलयगिरि-अध्ययन-1
85. वही, स्तानांग-3/4
86. वही, प्रवचन सारोद्धार-1 द्वार
87. वही, आवश्यक बृहद्वृत्ति-अध्ययन-6
88. अ.रा.पृ. 5/85
89. वही
90. वही
91. अ.रा.पृ. 5/86
92. अ.रा.पृ. 5/87
93. अ.रा.पृ. 5/85, 86
94. वही
95. अ.रा.पृ. 5/86
96. अ.रा.पृ. 5/88, आवश्यक बृहद्वृति -4 /5से 7
97. अ.रा.पृ. 5/98, आवश्यक बृहद्वृति -6 /2-3
98. अ.रा.पृ. 5/98

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. **अपरार्ध (अवड्ढ)** - तीन प्रहर दिन बीतने के बाद आहार-जल आदि मुँह में रखना।
6. **एकाशन** - दिन में एक बार एक स्थान पर बैठकर नियमपूर्वक नियमोचित्त भक्ष्य आहार ग्रहण करना।
7. **एकस्थान (एकलठाणां)** - एकाशन में भी मुँह और एक हाथ के अलावा शेष अङ्गो को स्थिर अचित रखना और एकासन के पश्चात् अचित जल भी नहीं पीना।
8. **नीवि** - एकासन पूर्वक दूध, दही, घी, तेल, गुड-शक्कर एवं कडाविगई (तली चीजें एवं मिठाई) रुप मूल विगई या उससे बनी उत्तर विगई (नीवियाता) का अभिग्रहपूर्वक (नियम) संपूर्ण या देश त्यागपूर्वक दिन में एक ही बार आहार ग्रहण करना 'नीवि' तप हैं।
9. **आयंबिल** - उबले (वाष्प में सेके हुए) हुए धान्य या उसमें नमक, काली मिर्च डालकर उसे एकासनपूर्वक भोजन में ग्रहण करना और हरी वनस्पति, हल्दी, लाल मिर्च, तैलीय मसाले, दूध-दहीं, घी-तेल, शक्कर, कट्टाहविकृति (कडाविगई) कडाही में तली हुई समस्त वस्तुएँ, जैसे - पूडी, मिठाई, आदि का संपूर्ण त्याग करना 'आयंबिल' तप हैं।
10. **उपवास** - अगली रात्रि से संपूर्ण दिवस-रात्रि एवं दूसरे दिन सूर्योदय के बाद 48 मिनिट (नवकारसी) तक संपूर्ण आहार का त्याग करना एवं दिन में भी जल का संपूर्ण त्याग करना अथवा पोरिसी के पश्चात् केवल शुद्ध उबला हुआ जल यथावश्यकानुसार ग्रहण करना और सूर्यास्त के पूर्व उसका भी त्याग कर देना 'उपवास' तप है। यह 1 उपवास, चतुर्थ भत्त (भक्त), छट्ठ, अट्ठम, अट्ठाई, सोलह भत्त (भक्त), मासक्षमण, यावज्जीव आदि अनेक प्रकार से किया जाता हैं।

प्रत्याख्यान की शुद्धि[99] :-

1. **श्रद्धान शुद्धि** - जिनकल्प या स्थविरकल्प, साधु या श्रावक और मूल-गुण या उत्तरगुणों के विषय में सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा ने जिस समय में जो प्रत्याख्यान जैसा कहा हैं, उनको उसी रुप में श्रद्धा करना।
2. **ज्ञान शुद्धि** - जिनकल्प और स्थविरकल्प की अपनी अपनी मर्यादानुसार कौन से प्रत्याख्यान, किस रुप में, किस विधि से कब करना ? -इसका ज्ञान प्राप्त करना।
3. **विनय शुद्धि** - विशुद्ध मन-वचन-काय की गुप्तिपूर्वक कृतिकर्म अर्थात् गुरु/आचार्यादि को द्वादशावर्त वंदनपूर्वक उनसे प्रत्याख्यान ग्रहण करना।
4. **अनुभाषण शुद्धि** - प्रत्याख्यान लेते समय गुरु के सम्मुख अंजलिपूर्वक हाथ जोडकर खडे रहकर प्रत्याख्यान ग्रहण करना और प्रत्याख्यान पाठ पूर्ण होने पर गुरु के द्वारा 'वोसिरइ' कहने पर 'वोसिरामि' बोलना अनुभाषण शुद्धि हैं।
5. **अनुपालन शुद्धि** - ग्राम, नगर या अरण्य में सुभिक्ष या दुर्भिक्ष में, अकेले या सभा में, किसी भी परिस्थिति में पूर्ण रुप से प्रत्याख्यान का पालन करना, आंशिक भी भङ्ग नहीं होने देना-अनुपालन शुद्धि हैं।[100]
6. **भाव शुद्धि** - राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय, अप्रीति, इसलोक-परलोकादि आशंसा आदि से प्रत्याख्यान को दूषित न होने देना 'भाव शुद्धि' हैं।[101]

स्थानांग के अनुसार प्रत्याख्यान पाँच प्रकार से एवं आवश्यक निर्युक्ति तथा आवश्यक बृहद्वृत्ति के अनुसार उसमें ज्ञात/ज्ञान शुद्धि मिलाने पर छः प्रकार से शुद्ध होना चाहिए।[102]

पच्चक्खाण/प्रत्याख्यान का फल :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में पच्चक्खाण का फल दर्शाते हुए कहा है कि, "शुद्ध पच्चक्खाण से सौभाग्य, यश, बोधिलाभ, धर्मानुष्ठान और देवलोकगमन तथा परलोक में दामन्नक की तरह सुकुलोत्पत्ति, दीर्घायु बोधिलाभ, देव-मनुष्य संबंधी सुखों की परंपरा एवं परंपरा से मोक्ष को प्राप्त होता है।[103]

आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि, "प्रत्याख्यान/पच्चक्खाण करने से आस्रव (कर्म के आने) के द्वार (निमित्त) बंध होते है, इससे तृष्णा का नाश होता है, उपशम प्रगट होता है, चारित्र धर्म प्रगट होता है, पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा होती है, इससे अपूर्वकरण (अपूर्व अध्यवसाय) गुण प्रकट होता है, इससे केवलज्ञान प्राप्त करके जीव शाश्वत सुख के स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होता है।[104]

यति दिनचर्या में कहा है कि, मुनि पोरिसी, चतुर्थभत्त, (1 उपवास), छठ्ठ भक्त से सत्तागत जितने कर्म क्षय करते है, नारकी के जीव क्रमशः सो, हजार एवं लाख वर्ष तक (इतने दुःख भुगतने पर) भी क्षय नहीं करतें। संकेत - गंठसी आदि का प्रत्याख्यान तो साक्षात् मोक्ष होने से भव्यात्मा को जिससे मन-वचन-काया के योग या प्रतिक्रमणादि योग और इन्द्रियों की हानि न हो वैसा प्रत्याख्यान तप करना चाहिए।[105]

---

99. अ.रा.पृ. 5/101, स्थानांग-ठाणां 5/3 आवश्यक बृहद्वृत्ति -6 /26 से 35
100. अ.रा.पृ. 1/385, 5/101
101. अ.रा.पृ. 5/101
102. स्थानांग-ठाणां 5
103. अ.रा.पृ. 5/117
104. आवश्यक निर्युक्ति-1594-95-96
105. यतिदिनचर्या- पृ. 20

संघचक्र की सदा जय हो।

संजमतवतुंबारय-स्स नमो सम्मत्त पारियल्लस्स।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स॥

हिंसादि पंचाश्रवविरमण; पंचेन्द्रिय निग्रह; कषायचतुष्कजय एवं त्रिदण्डविरतिरुप सत्रह प्रकार के संयम एवं बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकार के तपरुप आरों एवं सम्यकत्वरुप भ्रमि (बाह्य पृष्ठ भाग) से युक्त अप्रतिचक्र (अजोड चक्र) संघ (रुपी) चक्र की सदा जय हो !!!

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहार

भारतीय संस्कृति में यह सर्वमान्य तथ्य है कि साधुओं को एक स्थान अधिक नहीं ठहरना चाहिए। इसकी पृष्ठभूमि में एक कारण तो यह है कि एक स्थान पर अधिक रुकने से वहाँ के वातावरण से, सुविधाओं सेऔर प्राणियों के प्रति मोह उत्पन्न होता है, दूसरा कारण यह भी है कि साधु की संगति लाभ सब को समान रुप से मिले और इस प्रकार से साधु स्वकल्याण के साथसाथ परकल्याण में भी निमित्त बने सके। एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि एक ही स्थान पर रहना हो तो गृहस्थजीवन में क्या बुराई है, वहाँ तो पारिवारिक उत्तरदायित्वों को पूरा करते हुए भी कल्याणमार्ग पर चला जा सकता है। फिर साधुजीवन और गृहस्थजीवन में कोई भेद ही नहीं रहेगा। साधु अवस्था स्वीकारने हेतु प्रव्रज्या दी जाती है। प्रव्रज्या का शाब्दिक अर्थ स्थानत्यागपूर्वक गमन है, कोई परिपाटी नहीं। अर्थात् प्रव्रज्या लेने के साथ ही यह निश्चित हो जाता है कि प्रवर्जित व्यक्ति अब स्थिरवास नहीं करेगा।

जैन मुनि भी स्व-पर कल्याण हेतु, कर्मनिर्जरा, संयमशुद्धि एवं धर्मशासन के प्रचार एवं प्रभावना हेतु मुनिजीवन के नियमानुसार ग्रामानुग्राम विचरण करता रहता हैं; वह कभी भी स्थिरवास नहीं करता। जैन मुनि का विचरण करना 'विहार' कहलाता हैं।[1]

निक्षेपों के अनुसार विहार के अर्थ करने पर किसी व्यक्ति या वस्तु का नाम 'विहार' हो सकता है। किसी विहार नामक पदार्थ जैसे कोई मकान, उपाश्रय आदि का चित्र आदि स्थापनाविहार कहा जायेगा। अगीतार्थ साधु का, पार्श्वस्थ साधु का विहरण अथवा गीतार्थादि साधुओं का भी जो अनुपयुक्त (अवैध) विहार होगा वह द्रव्यविहार कहा जयेगा, जबकि इसके विपरीत गीतार्थ और गीतार्थनिश्रित (गीतार्थ की आज्ञानुसार) साधु का विहार भावविहार कहा जायेगा। सूत्रार्थज्ञाता सुविहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक साधु का विहार गीतार्थ का विहार है। और उनके साथ या उनकी आज्ञापूर्वक विहार करनेवाले अन्य साधु-साध्वी का विहार 'गीतार्थनिश्रित विहार' हैं। गीतार्थनिश्रित साधु भी प्रकारान्तर से दो प्रकार के होते हैं[2] -

(क) **गच्छगत और गच्छनिर्गत** - गच्छवासी (गच्छ के साथ रहने वाले) साधु को 'गच्छगत' कहते हैं और उपद्रव, दुर्भिक्ष या ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना हेतु अथवा आचार्यश्री की आज्ञा से क्षेत्र परीक्षा हेतु या दीक्षार्थी की दीक्षा भावना में स्थिरीकरण हेतु अथवा स्वजनवर्ग के द्वारा वंदन (मुनि के ज्ञाति/स्वजनवर्ग में कोई अतिशय तपोवृद्ध, रोगी इत्यादि को दर्शन देने) हेतु इत्यादि साधुओं का विहार 'गच्छनिर्गत' कहलाता हैं।[3]

(ख) **स्थाननियुक्त और स्थानानियुक्त** - प्रवर्तक, स्थविर और गणावच्छेदक साधु 'स्थाननियुक्त' कहलाते हैं और सामान्य साधु 'स्थानानियुक्त' कहलाते हैं।[4]

अगीतार्थ या अगीतार्थनिश्रित विहार में दोष और हानि :-

अज्ञानवश कोई मुनि स्वयं अगीतार्थ होने पर अलग विहार का साहस न करे या अगीतार्थ की निश्रा में जाकर आत्म कल्याण और संयम लाभ एवं कर्मनिर्जरा से वंचित न रहे- इसलिए इस ओर खतरे का संकेत (रेड-सिग्नल) दर्शाते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने **अगीतार्थ और अगीतार्थ निश्रित विहार के दोष** एवं हानि बताते हुए कहा है कि **इससे आत्म विराधना और संयम विराधना होती है, एषणादि दोष विषम होने से ग्लान, वृद्ध, तपस्वी इत्यादि साधु परेशान होने से खेद, अभाव उत्पन्न होते हैं, अस्वस्थता के कारण उद्विग्नता बढती है और आर्तध्यान होता है, विहार में योग्य मार्ग, क्षेत्र, कालादि का ज्ञान नहीं होने से कुंथ्वादि जीव विराधना, सचित्त पृथिव्यादि मर्दन, अयतनादि के कारण संयम विराधना, कर्दमादि में पदस्खलन, उन्मार्गगमन से कण्टकादि चुभना, चोरादि का भय, मलेच्छ देशों में विहार होने पर आहार-पानी आदि की दुर्लभता, प्राणीबहुल (सर्पादि) जीवसंसक्त देश में विहार होने पर आत्म-विराधना, शैक्ष (नवदीक्षित) को आहार-जल तथा ग्रहण एवं आसेवन शिक्षा में अवरोध, कुमार्ग प्रस्थणा से मिथ्यात्व के कारण संसारवर्धन, अयोग्य प्रायश्चित दान के कारण आशातना, बाल-वृद्ध-ग्लानादि की चिकित्सा नहीं करने या अयोग्य करने से अनेक दोषों की उत्पत्ति, पार्श्वस्थादि के द्वारा क्षुल्लकादि साधुओं का हरण, दृढ संयम जीवन में शिथिलाचार की प्रेरणा, चोरों के द्वारा उपधि आदि का ग्रहण होने से मुनि को, स्वयं को और संघ को अनेक प्रकार से हानि होती है, और प्रवचन-उड्डाह होने के कारण शासन मालिन्य होता है।**[5]

विहार के कारण :-

आचार्यश्री ने अभिधान राजेन्द्र कोश में मुनि को मार्गदर्शन करते हुए मुनि विहार के कारण दर्शाते हुए कहा है कि, **आचार्यादि को वंदन करने हेतु, जिन मंदिरो के दर्शन-वंदन हेतु, आहार-वस्त्र, उपधि, वसति (ठहरने का स्थान) हेतु, अपूर्व देशदर्शन (नये गाँव, नगरों के जिन मंदिरादि के दर्शन) शासन प्रभावना इत्यादि हेतु मुनि विहार करता हैं।**[6]

विहारयोग्य क्षेत्र :-

तीर्थंकरों की कल्याणक भूमियाँ, तीर्थंकरों के विहार क्षेत्र, जहाँ के श्रावक भद्र, विवेकी, सुज्ञ हो, जहाँ पंचमहाव्रत रुप मूलगुण तथा पिण्ड विशुद्धि एवं 18000 शीलांगादि उत्तरगुण सुखपूर्वक पालन हो सके, जहाँ श्रावक मुनि के गुण एवं मुनि धर्म के ज्ञाता हो, आहार-पानी, उपधि आदि सुलभ हो, जहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि होती हो, जहाँ लघुकर्मी प्रव्रज्या भिमुख भव्यात्माऐं रहती हों, एसे आर्य क्षेत्रों में मुनि को विहार करना चाहिए। इससे प्रवचन की प्रभावना होती है और गच्छ की वृद्धि होती हैं।[7]

1. अ.रा.पृ. 6/1275
2. अ.रा.पृ. 6/1275, 6/1278
3. अ.रा.पृ. 6/1277, 1279
4. अ.रा.पृ. 6/1279
5. अ.रा.पृ. 6/1276-77
6. अ.रा.पृ. 6/1278
7. अ.रा.पृ. 6/1317

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहारयोग्य स्थान :-

जहाँ महास्थंडिल (श्मशान) गाँव की दक्षिण या पश्चिम दिशा में हो, जहाँ दिन में किसी भी के समय गोचरी सुलभ हो, जहाँ वसति शुद्ध हो, गुणयुक्त हो, गाँव के मध्य में हो, प्रशस्त स्थान में हो; जहाँ शय्यातर विनय-विवेक संपन्न हो, मुनियों के प्रति बहुमान, भक्ति भाव वाला हो, जहाँ स्थंडिल एवं स्वाध्याय भूमि निरुपद्रव और निर्जीव हो, विहार में या चातुर्मास में साधु-साध्वी को स्थिरता हेतु उपरोक्त गुण युक्त क्षेत्र देखना चाहिए।[8]

विहार के अयोग्य क्षेत्र :-

जहाँ कुंथु-कीट-पतंगादि जीवोपद्रव अधिक हो, जहाँ मार्ग में चोर भय हो, राजभय हो, षट्काय जीवों की विराधना होती हो, वहाँ स्वयं की एवं संयम की विराधना होती है, अतः एसे क्षेत्र में साधु विहार न करें।[9]

चातुर्मास में विहार का विधान-निषेध :-

यद्यपि जैन मुनि नियमानुसार वर्षा के चारों महीनों में एक जगह स्थिर रहते हैं, तथापि राजभय, अशिव (मरकी आदि का उपद्रव), परपक्ष भय, आहार की दुर्लभता, चोर भय, प्रतिपक्षी (विरोधी) भय, जल भय, ग्लान-चिकित्सा, आचार्य से श्रुत स्कन्धादि ग्रहण करना या आचार्यश्री को संवत्सरी खमत-खामणां (क्षमापना) या उनके दर्शन हेतु, चारित्र में स्त्र्यादि भय उत्पन्न होना, अग्नि से गाँव जलना, संग्राम, जीवोत्पत्ति (जहरीले मच्छरादि जिनसे प्राण संकट या संयम विराधना हो), पूरे गाँव के श्रावकों का स्थानान्तरित हो जाना-इत्यादि अनिवार्य विकट परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर जैनागमों में चातुर्मास काल में भी मुनि को विहार करने की आज्ञा है।[10]

जैन साधु को ज्ञानादि विशेष कारण के बिना सदैव शास्त्र मर्यादानुसार ग्रामानुग्राम नवकल्पी विहार अवश्य करना चाहिए।[11] कदाचित् आचार्यादि या गुर्वादि की वैयावृत्य हेतु संयम वृद्धि हेतु एक स्थान पर निवास करना पडे तथापि मुनि को मोहल्ला, उपाश्रय, देश (एक भाग, यावत् पाट या संथारा की भूमि) बदलकर भाव से तो अवश्य मासकल्प का पालन करना ही चाहिए।[12]

विहारयोग्य काल :-

चातुर्मास काल के अतिरिक्त शेष काल में मुनि को यदि विहार निकट क्षेत्र में हो तो सूत्रपोरिसी और अर्थपोरिसी, दोनों पोरिसी करके विहार करना चाहिए। यदि दूर हो तो सूत्रपोरिसी करके और इससे दूर हो तो पादोन प्रहर (नवकारसी के समय) पात्र, प्रतिलेखन करके और यदि ज्यादा दूर हो तो सूर्योदय होते ही और यदि लम्बा विहार हो और साधु गरमी के कारण तृषादि से व्याकुल हो जाते हों तो सूर्योदय से पहले विहार करें।[13]

विहार की विधि :-

विहार करते समय आचार्यादि जो मुख्य हो उनके नन्दा-भद्रादि तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, चन्द्रमा अनुकूल होने पर शुभ-मंगल-श्रेष्ठ शकुन की परीक्षा कर पहले स्थविर, वृद्ध साधु विहार करें, तत्पश्चात् आचार्य भगवंत साधुओं के साथ विहार करें। विहार करते समय आचार्य भगवंत शय्यातर को वसति, पाट-पाटला इत्यादि वापिस देकर धर्मलाभ देकर धर्मोद्यम हेतु प्रेरणा दे। तत्पश्चात् युवा मुनि (जिनके पास उपधि आदि अधिक हो) विहार करें।[14] विहार में मुनि के ओघ (14) उपकरण तथा आवश्यक उपकरण उपयोग में आवें या न आवें तथापि अवश्य रखें परन्तु अधिक उपधि, अनावश्यक अतिरिक्त सामान न रखें, और वस्त्रादि औपग्रहिक उपकरण भी कम रखें।[15]

विहार में अविधि से दोष :-

अविधि से विहार करने पर वसति, आहार (गोचरी), उपधि आदि दुर्लभ होती हैं; बाल-ग्लान-शैक्षादि योग्य भिक्षा दुर्लभ होती हैं; मांस-शोणित-पात, वसतिपतन इत्यादि कारण से स्वाध्याय भूमि दुर्लभ होने से स्वाध्याय की दुर्लभता; सिंह-वाघ-सर्पादि तथा मच्छरादि का उपद्रव; दुर्भिक्ष (अकाल), व्यन्तरकृत या स्त्र्यादि कृत उपद्रव, स्थंडिल भूमि की दुर्लभता, मलेच्छादि तथा स्वजन, शासन प्रत्यनीक (धर्म का शत्रु), राजा, चोर इत्यादि कृत उपद्रवादि, वध, बंधन, ताडन-मारण चोरादि के द्वारा उपाधि आदि ले लेना इत्यादि अनेक उपद्रव होने से आत्म विराधना, संयम विराधना, जीव विराधना और प्रवचन उड्डाह होता हैं। इसीलिये मुनि को अविधि से विहार करना निषिद्ध हैं।[16]

विहार से लाभ :-

उत्तरगुणों में शिथिलाचारी ऐसा भी उद्यतविहारी साधु सुलभबोधि बनता है। वह आठों कर्मो को दूर (नष्ट) करता है। अनियत विहारी साधु सम्यक्त्व की शुद्धि करता है, लोगों को उपदेश देकर धर्म में स्थिर करते हैं, जन-वचन-देशादि की परीक्षा में अतिशय कुशलत्व प्राप्त करता है। चारित्र की उपबृंहणा और प्ररुपणा करता है और निश्चय से छः काय जीवों की दया करता है क्योंकि विहार में योग्य स्थान में वह मुनि लोगों को उपदेश देता है, इससे जिन्होंने जैन धर्म ग्रहण नहीं किया है वे भी जब तक व्याख्यान श्रवण करते है तब तक आरंभ-समारंभ से दूर रहते है एवं जो श्रावक धर्म ग्रहण कर चूके है वे परमार्थ को प्राप्त करके विशेष सावधानीपूर्वक विशुद्ध आराधना करते है।[17]

मुनि के निवास योग्य वसति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने विहार में विश्राम हेतु मुनि के रहने योग्य स्थान (वसति) का वर्णन करते हुए बैल के आकार की परिकल्पना करने पर गाँव में मुनि की वसति के स्थानानुसार उसका फल बताते हुए कहा है कि "बैल के सींग के स्थान पर वसति होने पर वहाँ रहने से साधुओं में निरंतर कलह होता है, स्थान और मुनियों की स्थिरता नहीं रहती, चरण में गाढ स्थान पर स्थित वसति में रहने से मुनि को उदर रोग होता हैं, पूँछ की जगह पर होने पर वसति का स्फेटन या अपनयन होता है, मुख के मूल में वसति निवास होने पर सुंदर भोजन (गोचरी) प्राप्त होती है, मस्तक में ककुद् स्थानीय (दो सींग के मध्यम में) वसति निवास होने पर मुनियों को वस्त्र-पात्रादि से पूजा-सत्कार इत्यादि लाभ होता है, स्कन्ध प्रदेश पर या उसके पृष्ठ भाग में वसति होने पर आने-जानेवालों से उपाश्रय भरा हुआ रहता हैं। उदर (पेट) की जगह पर वसति होने पर साधु नित्य तृप्त रहता है इसलिये मुनि को वृषभ परिकल्पनापूर्वक वृषभ के स्थान पर मुनि को समझकर प्रशस्त प्रदेश में, स्त्री-पशु-नपुंसक रहित वसति खोजना चाहिए।[18]

8. अ.रा.पृ. 6/1298 से 1300
9. अ.रा.पृ. 6/1308-9-10
10. अ.रा.पृ. 6/1290-91
11. अ.रा.पृ. 6/1307
12. अ.रा.पृ. 6/1308
13. अ.रा.पृ. 6/1304, बृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य-1/2/714
14. अ.रा.पृ. 6/1305
15. अ.रा.पृ. 6/1320
16. अ.रा.पृ. 6/1294
17. यतिदिनचर्या पृ. 33, 34
18. अ.रा.पृ. 6/1298-99

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्च महाव्रत

व्रत (वय) :-

अभिधान राजेन्द्र कोष में 'वय' शब्द वचन, गोकुल, व्रत (नियम), वय (उम्र), व्यय (खर्च) और वाक्य इन अर्थों में दिया गया हैं।[1] यहाँ 'वय' शब्द का 'व्रत' अर्थ अभीष्ट होने से इसी की व्याख्या की जायेगी।

व्रत शब्द का शाब्दिक अर्थ 'नियम' किया गया हैं। जैनागमों में 'व्रत' शब्द जैन साधुओं के प्राणातिपातादिदि पंच महाव्रत और छठवें रात्रिभोजनविरमण व्रत के अर्थ में प्रयुक्त हैं। प्रवचनसारोद्धार में मूलगुणों के विषय में 'व्रत' शब्द का प्रयोग किया हैं।[2]

प्रथम तीर्थंकर के समय में सुख-संपन्न काल में रहने से जीवों को भिक्षादि एवं शीतोष्ण परिषहादि का सहन दुष्कर होता है तथा दाता उपशान्त होने से प्रमाद से स्खलना होने से शिष्यों को अनुशासित करना दु:शल्य होता है और अंतिम श्री महावीर शासन के साधु प्राय: मिथ्यात्वी, शीतरहित, दुर्विदग्ध बुद्धिवाले होते हैं अत: उन्हें शास्त्र समझाना बहुत कठिन है और दु:षम काल की रुक्षता के कारण और विविध प्रकार के शारीरिक रोगो और मानसिक दु:खों के कारण पीडित होने से, धैर्यबल का अभाव होने से उनको परिषहादि सहना अति दुष्कर होता है। मध्यम तीर्थंकरो के साधु ऋजु-प्रज्ञ होने से उनमें प्राय: कषायों की मंदता होने से उनको अनुशासित करना सहन-सरल होता हैं।

काय-मान से पुरुषों के परिणाम की भिन्नता के कारण जैनधर्म प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु-जड होने से तथा अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्र-जड होने से प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के शासन में साधुओं के पांच महाव्रत और मध्यम 22 तीर्थंकरों के साधु ऋजु-प्रज्ञ होने से उनके शासन में मैथुनविरमणव्रत को छोडकर चार महाव्रतों के पालन का विधान किया गया हैं। इसका कारण बताते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा गया है कि 'यदि प्रथम तीर्थंकर के साधुओं को अलग से मैथुनविरमण व्रत का उपदेश न दिया जाय तो जडबुद्धि होने से वे समझ नहीं पायेंगे कि हिंसादि चार आस्रवों का त्याग किया तो मैथुन भी त्याज्य है, और अंतिम तीर्थंकर के साधु वक्र-जड होने से जानते हुए भी परपरिगृहीत स्त्री का प्रतिसेवन करेंगे और कहने पर कहेंगे कि हमें पहले क्यों नहीं कहा ? इसलिये प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर वर्धमान स्वामीने पांच महाव्रतों का विधान किया। जब कि बीच के तीर्थंकरों (श्री अजितनाथ से श्री पार्श्वनाथ तक के 22 तीर्थंकरों) के साधु ऋजु-प्राज्ञ होने से परिग्रह का निषेध करने मात्र से प्राज्ञत्वात् तीव्र क्षयोपशम वाले होने से स्त्री परिग्रह का कारण होने से अपरिग्रहीत या परपरिग्रहीत स्त्री का उपभोग नहीं करना चाहिए अत: परिग्रह के त्याग से मैथुन भी त्याज्य है - एसा स्वयं ही हेयोपादेय बुद्धि से विचार करके त्याग कर देते हैं, अत: उन्हें चार महाव्रत का विधान किया गया क्योंकि वे मैथुनविरमण व्रत को अपरिग्रह व्रत में अन्तर्भावित समझकर स्वयं ही त्याग कर देते हैं।[3]

मोक्ष के साधक साधु को सर्वसावद्य का त्याग करके, मन, वचन और काय से कृत-कारित-अनुमोदन पूर्वक यावज्जीव इन महान् व्रतों को ग्रहण करना चाहिए और आजीवन अखंड पालन करना चाहिए। क्योंकि व्रत भंग करके जीवित रहने की अपेक्षा जलती अग्नि में प्रवेश करना अच्छा हैं।[4]

महाव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने महाव्रतों का वर्णन करते हुए कहा है कि सर्वथा हिंसात्याग अथवा प्राणातिपातादि निवृत्ति लक्षण बडे व्रत/नियम को 'महाव्रत' कहते हैं। महाव्रतों को सर्वजीव, सर्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि की अपेक्षा से विषय (व्याप्ति) की विशालता के कारण 'महाव्रत' कहते हैं।[5] जिनेन्द्र वर्णीने कहा है कि 'महाव्रत महान् मोक्ष रुप अर्थ की सिद्धि करते हैं; तीर्थंकरादि महान् पुरुषोंने इसका पालन किया हैं; इसमें सर्व पापयोगों का त्याग होने से स्वत: महान् हैं, पूज्य हैं, इसलिये इनका नाम महाव्रत हैं।[6]

अकेले या सभा में दिवस में रात्रि में, सोते या जागते किसी भी अवस्था में हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह - इन पाँचों आस्रवों का मन-वचन-कायसे कृत-कारित-अनुमोदनपूर्वक सर्वथा त्याग करना साधु का महाव्रत हैं।[7] पाँच महाव्रत और छठा रात्रि भोजन निम्नानुसार हैं[8]-

1. सर्वथा प्राणातिपात विरमण व्रत/अहिंसा महाव्रत
2. सर्वथा मृषावाद विरमण व्रत/सत्य महाव्रत
3. सर्वथा अदत्तादान विरमण व्रत/अचौर्य महाव्रत
4. सर्वथा मैथुन विरमण व्रत/ब्रह्मचर्य महाव्रत
5. सर्वथा परिग्रह विरमण व्रत/अपरिग्रह महाव्रत

और महावीर शासन में छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत भी मूलगुण में आता हैं।

चरम तीर्थपति श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी ने सुधर्मा स्वामी को और उन्होंने जम्बू स्वामी को इन पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया हैं[9] जो परंपरागत जैनागमानुसार अभिधान राजेन्द्र कोश में विस्तृत रुप से वर्णित हैं। यहाँ अति संक्षेप में महाव्रतों का परिचय दिया जा रहा हैं।

सर्वथा प्राणातिपात विरमण : प्रथम महाव्रत :-

जैन मुनि के साध्वाचार की आधारशिला पंच महाव्रत हैं, जिसमें प्रथम महाव्रत हैं - अहिंसा महाव्रत अर्थात् - सर्वथा प्राणातिपात

1. अ.रा.पृ. 6/885, 886
2. वही
3. अ.रा.पृ. 6/885, 886
4. अ.रा.पृ. 6/886
5. अ.रा.पृ. 6/181
6. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/628; जिनागमसार, पृ. 762
7. अ.रा.पृ. 6/181; रत्नकरंडक श्रावकाचार-53
8. अ.रा.पृ. 6/181; साधु प्रतिक्रमण, पाक्षिक सूत्र
9. अ.रा.पृ. 6/181

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरमण व्रत। द्रव्य से पृथ्वी, अप् (जल), तेजः (अग्नि), वायु, वनस्पति (ये पाँच स्थावर) और त्रस (द्वीन्द्रियादि) किसी भी प्रकार के सूक्ष्म या बादर जीव की क्षेत्र से लोक में या अलोक में, काल से दिन में या रात्रि में, भाव से राग से या द्वेष से, अकेले या सभा में, सुषुप्तावस्था में या जाग्रतावस्था में किसी भी प्रकार से मन-वचन-काय से हिंसा करुँगा नहीं, कराउँगा नहीं और करनेवालों की अनुमोदना करुँगा नहीं; तथा भूतकाल में जो हिंसा मुझसे हो गई हो उसकी निंदा करते हुए गर्हापूर्वक त्याग करता हूँ, वर्तमान में हिंसा नहीं करता हूँ और आगामी काल (भविष्य में जीव हिंसा का त्याग करता हूँ, प्रतिज्ञा ग्रहण करता हूँ।[10] - यह मुनि का प्रथम महाव्रत है। इसे समझने हेतु हमें प्रथम 'हिंसा-अहिंसा' को प्रतिपक्ष सहित समझना होगा।

अहिंसा :-

अहिंसा जैन आचार-दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि धूमती है। जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा गया है। अभिधान राजेन्द्र कोश में अहिंसा की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है- हिंसा का अभाव अहिंसा है। प्राणियों के प्राणवियोग के प्रयोजन पूर्वक के व्यापार का अभाव अहिंसा हैं। प्राणीहिंसा का त्याग अहिंसा है। अप्रमतता से शुभयोगपूर्वक (प्राणियों के) यावज्जीव प्राणों के नाश का अभाव अहिंसा हैं। त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा अहिंसा हैं। प्रमाद के योग से प्राणीहिंसा के त्यागरुप प्रथम व्रत को 'अहिंसा' कहते हैं।[11]

अहिंसा का वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने आगे कहा है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, पशुओं को जैसे आश्रम, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा सर्व जीवों के लिए आधारभूत हैं। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाली हैं।[12] अहिंसा वह शाश्वत धर्म है जिसका उपदेश सभी तीर्थंकर करते हैं। आचारांग सूत्र में कहा गया है - भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी तीर्थंकर यह उपदेश करते हैं कि "किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को किसी भी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीडा को जानकर अरिहंतों ने इसका प्रतिपादन किया हैं।[13] सूत्रकृतांग सूत्र के अनुसार **ज्ञानी होने का सार** यही है कि **किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार हैं,** इसे सदैव स्मरण में रखे।[14] पाक्षिक सूत्र में कहा गया है कि, **प्रवचन का सार षट्काय जीवों की रक्षा** (जीव हिंसा के त्यागरुप संयम) हैं।[15] दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसको प्रथम स्थान दिया हैं।[16] अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं हैं।[17] **अहिंसा, संयम और तपरुप धर्म उत्कृष्ट मङ्गल हैं।** सदैव इस धर्म में जिसका मन लीन रहता हैं उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।[18]

राजेन्द्र कोश में कहा है - साधनाशील पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, उसे अहितकर मानता है, इसलिए (वह) हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ होता हैं।[19] अहिंसा को परम धर्माङ्ग कहा है।[20] सुसाधु अहिंसापूर्वक संयमित होते हैं।[21] सभी जीव दुःख से आक्रांत हैं अतः किसी की भी हिंसा न करें।[22] भगवान जिनेश्वर देवने जगत के सभी जीवों की रक्षा एवं दया के लिए प्रवचन को कहा हैं।[23]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने अहिंसा का माहात्म्य दर्शाते हुए कहा है[24] - "अहिंसा देव मनुष्य एवं असुर लोक को संसार सागर से पार उतरने हेतु द्वीप हैं। वह अज्ञान के अंधकार को नष्ट करके, हेय-ज्ञेय-उपादेय के ज्ञान रहित मूढात्माओं के विशुद्ध बुद्धिप्रभा को प्रकाशित करनेवाली होने से दीपक हैं। संसार-सागर में संकटों से रक्षक होने से गति है। गुणों का स्थान होने से अहिंसा प्रतिष्ठा है। अहिंसा ही निर्वाण/मोक्ष, निवृत्ति अर्थात् स्वास्थ्य, समाधि, समता और शक्ति है। द्रोह के त्याग रुप होने से अहिंसा 'शांति' है। यश-ख्याति का कारण होने से वह 'कीर्ति' है। कोमल (कमनीय) होने से अहिंसा क्रांति है। अहिंसा रति एवं विरति है। श्रुतज्ञान की अङ्ग एवं कारण होने से वह 'श्रुताङ्ग' हैं। दशवैकालिक सूत्र में भी कहा है - "पढमं नाणं तओ दया।"[25] तृप्ति का कारण होने से अहिंसा 'तृप्ति' है। जीवों की रक्षा करनेवाली होने से अहिंसा 'दया' हैं। प्राणियों को सकल बंधनों से मुक्त करनेवाली होने से अहिंसा 'विमुक्ति' है। क्रोध का निग्रह करनेवाली होने से वह 'क्षान्ति' है। अहिंसा की आराधना सम्यग्बोध रुप की जाने से अहिंसा सम्यक्त्वाराधना है। सभी धार्मिक अनुष्ठानों में अहिंसा मुख्य होने से 'महन्ती' हैं। आगमों में कहा भी है कि, "जिनेश्वरों के द्वारा सर्व जीवों की रक्षा के लिये निश्चय से एक ही व्रत 'प्राणातिपात विरमण व्रत' निर्दिष्ट किया गया हैं।"[26] सर्वज्ञधर्म की प्राप्ति रुप होने से अहिंसा 'बोधि' है क्योंकि अनुकम्पा ही बोधि का कारण है। सफलता का कारण होने से अहिंसा 'बुद्धि' हैं। कहा भी है -"**बहत्तर कला में प्रवीण होने पर भी जो धर्मकला को नहीं जानता है वह पुरुष पंडित होते हुए भी मूर्ख है।**" और अहिंसा ही धर्म है। चित्त की दृढतापूर्वक

10. अ.रा.पृ. 5/284; साधु प्रतिक्रमण, पाक्षिक सूत्र, प्रथम आलापक
11. क. न हिंसाऽहिंसा। - निशीथ चूर्णि -2 उद्देश; दशवैकालिक-निर्युक्ति 1 अ.
    ख. प्राणवियोगप्रयोजन व्यापाराभावे।-द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका-2।
    ग. प्राणिघातवर्जने। पञ्चवस्तुक, प्रथम द्वार
    घ. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यरोपणं हिंसा। तत्त्वार्थ सूत्र-7/8
    ङ. त्रसस्थावर जीवरक्षायाम्। - संथारगपयन्ना
    च. प्रमादयोगात्सत्त्वव्यरोपणविरतिरुपे प्रथमे व्रते।
    - अ.रा.भा. 1, अहिंसा शब्द, पृ. 871, 872; धर्मसंग्रह सटीक 3/4
12. अ.रा.भा. 873
13. क. आचारांग-1/4/1/275, 5/301
14. क. सूत्र कृतांग-1/1/4/10, एवं 1/11/10; अ.रा.पृ. 878, 879
15. पवयणस्स सारो खलु छः जीवनिकाय संजमं उवएसियं। -अ.रा.पृ. 5/301; पाक्षिक सूत्र-साधु प्रतिक्रमण
16. दशवैकालिक सूत्र 6/9
17. भक्त परिज्ञा-91
18. दशवैकालिक सूत्र 1/1
19. अ.रा.पृ. 2/174 एवं भा. 6 पृ. 1061; आचारांग 1/1/7/56
20. अ.रा.पृ. 1/879; सूत्रकृताङ्ग सटीक-2/2
21. अ.रा.पृ. 1/875; प्रश्न व्याकरण 2/6/23
22. अ.रा.पृ. 1/878, 879; सूत्रकृताङ्ग 1/14/9 एवं 1/1/91
23. अ.रा.पृ. 1/874; प्रश्न व्याकरण सूत्र 2/6/22
24. अ.रा.भा. 1, अहिंसा शब्द, पृ. 872, 873
25. दशवैकालिक मूल 4/10
26. एक्कंचिय एक्कवयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं।
    पाणाइवायविरमण - सव्वासत्तरस रक्खट्ठा ॥॥॥ - अ.रा.भा. 1 पृ. 873, 882; भा. 4 पृ. 2457;
    हारिभद्रीय अष्टक-16; धर्मरत्न प्रकरण, अधिकार-1, पृ. 14

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा का पालन किया जाता है अत: अहिंसा 'धृति' है। समृद्धि का कारण होने से अहिंसा को समृद्धि, ऋद्धि और वृद्धि कहा है। मोक्ष तक सादि-अनंत स्थिति का कारण होने से अहिंसा को 'स्थिति' कहा है। पुण्य का संचय करानेवाली होने से अहिंसा 'पुष्टि' है। समृद्धि को लाने वाली होने से 'नन्दा' और कल्याणकारी होने से अहिंसा को 'भद्रा' कहा है। पापक्षय का उपाय होने से जीवन की निर्मलता स्वरुप होने के कारण अहिंसा को 'विशुद्धि' कहा है। केवलज्ञानादि लब्धि का निमित्त होने से अहिंसा को 'लब्धि' कहा है। सर्वदर्शनों में मुख्य एसे जैन दर्शन का प्रधान मत (जीवदया लक्षण मुख्य मत) होने के कारण अहिंसा को 'विशिष्ट दृष्टि' कहा हैं। कल्याण प्राप्तिकारिणी होने से इसे 'कल्याण' कहा है। दुरित (पाप) की शांतिकारिणी होने से इसे 'मङ्गल' कहा है। प्रमोद की उत्पादिनी होने से इसे 'प्रमोद' कहा है। सर्वविभूति का कारण होने से इसे 'विभूति' कहा है। जीवों की रक्षा करने के स्वभाववाली होने से 'अहिंसा' को 'रक्षा' कहा है। मोक्ष रुपी घर का मुख्य कारण होने से अहिंसा को 'सिद्धावास' कहा है। कर्मबंधन को रोकने का उपाय होने से अहिंसा को 'अनास्रव' कहा है। केवलि भगवंतो की अहिंसा (का पालन) व्यवस्थित होने से इसे केवलियों का स्थान (निवास) कहा है। शांति (कल्याण, मोक्ष) का हेतु एवं सम्यक् प्रवृत्तिवती हो से इसे 'शिवसमिति' कहा है। शील और संयम अहिंसा से उपचरित होने से उसे 'शीलसंयम' कहा है। चारित्र का स्थान होने से इसे 'शीलधर' कहा है। कर्मों के आगमन को रोकने के कारण इसे 'संवर' कहा है। अशुभ-मन-वचन-काय का निरोध करने के कारण इसे 'गुप्ति' कहा है। विशिष्ट निश्चयवाली होने से अहिंसा को 'ववसाय' कहा है। उन्नत स्वभाव के कारण इसे 'उच्छ्रय:' कहा है। भाव-देवपूजा होने से इसे 'यज्ञ' कहा है। गुणों का आश्रय होने से इसे 'आयतन' कहा है। अभयदान एवं प्राणिरक्षा हेतु प्रयत्न के कारण इसे 'यत्न' कहा है। अहिंसा प्रमाद रहित होने से 'अप्रमाद', प्राणियों का आश्वासन होने से 'आश्वास', विश्वासपात्र होने 'विश्वास' प्राणियों को अभयदाता होने से अभय, प्राणिघात रहित होने से 'अमारि', अतिशय पवित्र होने से 'चोक्षपवित्रा' कहा है। सत्य, तप, इन्द्रिय-निग्रह, जीव दया और जल शौच-इन शुद्धियुक्त एवं भाव शुद्धि रुप होने से अहिंसा को 'शुद्धि' कहा है।[27] भाव से देवता के अर्चन (पूजन) स्वरुप होने से इसे 'पवित्रा' कहा है। मलरहित प्रभावशाली होने से इसे 'विमल प्रभा' कहा है और जीव को अतिशय निर्मल करनेवाली होने से इसे 'निर्मलतरा' कहा है।

इस प्रकार आचार्यश्रीने राजेन्द्र कोश में अहिंसा-भगवती के तद्धर्मार्जित गुणनिर्मित यथार्थ पर्यायवाची नामों का वर्णन किया हैं।[28]

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार तो जैन आचार-विधि का संपूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत है; आचार-नियमों के दूसरे रुप जैसे असत्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जन साधारण को सुलभ रुप से समझाने के लिए भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं वस्तुत: वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।[29] भगवती आराधना में कहा गया है - अहिंसा सब आश्रमों का हृदय हैं, सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) हैं।[30]

हिंसा :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने अहिंसा की परिभाषा[31] देते हुए कहा है-

"प्राणवियोग प्रयोजक व्यापार[32], प्रमाद या अनुपयोगपूर्वक की क्रिया[33], जीववध[34], प्रमाद के कारण प्राणियों की हिंसा, वध, बंधनादि रुप पीडा, दश प्राणों का वियोगीकरण[35] हिंसा हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में वेदविहित हिंसा, एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी की हिंसा और द्रव्य अहिंसा (जिसमें द्रव्य से तो अहिंसा हो परन्तु भाव से हिंसा हो) को हिंसा कहकर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' - इस वाक्य का सम्मतितर्कानुसार दार्शनिक चर्चापूर्वक खंडन किया गया हैं।[36]

हिंसा के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने दो प्रकार की हिंसा बताई हैं[37] - **1. संकल्पी**- मारने की बुद्धि से जीव हिंसा करना, और **2. आरम्भी** - कृषि आदि आजीविका एवं गृहस्थ जीवन व्यापार-व्यवहार में होने वाली हिंसा।

यहाँ मुनि तो संकल्पी एवं आरंभी दोनों प्रकार की हिंसा के कृत-कारित-अनुमोदन का त्याग करते हैं परन्तु गृहस्थ श्रावक से कृषि-व्यापार-रसोई आदि संबन्धी हिंसा का संपूर्ण त्याग संभव नहीं होने से गृहस्थ बिना कारण संकल्पी हिंसा का त्याग करता है और आरंभी हिंसा भी करनी पडे तो जीवदया के परिणामपूर्वक अनुकंपायुक्त हृदय से अनावश्यक आरंभ-समारंभ का त्याग करता है, पाप व्यापार युक्त आजीविका, 15 प्रकार के कर्मादान (देखिये-श्रावक का भोगोपभोग परिणाम व्रत) का त्याग करता हैं।[38]

रत्नकरंडक श्रावकाचार[39] में आरंभी हिंसा के तीन भेद करते हुए हिंसा के 1. संकल्पी 2. आरंभी 3. उद्योगी 4. विरोधी-हिंसा के ये चार प्रकार दर्शाये हैं। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, और आरंभी हिंसा में यतना (जीवदया) पूर्वक वर्तता है, उद्योगी हिंसा में जीव हिंसामय व्यापार, निंद्य कर्म, निंद्य आजीविका का त्याग करता है तथा अभिमान से, वैर से, धन लोभ से तथा लूट आदि करने के लिए दीन-दु:खी-निर्बल को नहीं मारे, अपितु केवल दीन-दु:खी, अनाथ, धर्म और साधर्मी की रक्षा हेतु ही शस्त्र धारण करें, अन्यथा नहीं।

हिंसा-अहिंसा की चतुर्भङ्गी :-

अभिधान राजेन्द्र कोशानुसार अहिंसा की चतुर्भङ्गी निम्नानुसार है -

1. **द्रव्य से अहिंसा, भाव से हिंसा** - किसी व्यक्ति के द्वारा मंद प्रकाश में रस्सी को सर्प मानकर तलवारादि के द्वारा उसे मारने हेतु दौडने पर उसके हिंसक परिणाम होने से अथवा अनुपयोगी

27. अ.रा.पृ. 1/873, 1161 एवं 7/1004, 1165; प्रश्नव्याकरण-1 संवरद्वार; चाणक्य राजनीति शास्त्र-3/42; स्कन्द पुराण-काशी खण्ड-6
28. अ.रा.पृ. 1/872
29. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय-42
30. भगवती आराधना-790
31. अ.रा.पृ. 7/1228
32. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-21
33. दशवैकालिक, 4 अध्ययन, सूत्र 1
34. कर्मग्रंथ - 1/61
35. स्थानांग-4/1
36. अ.रा.पृ. 1 अहिंसा शब्द, पृ. 1/878; भा. 7, हिंसा शब्द पृ. 1/1229
37. अ.रा.पृ. 5/846
38. अ.रा.पृ. 5/846, 847; रत्नकरंडक श्रावकाचार-53
39. रत्नकरंडक श्रावकाचार, पृ. 89, 90, 91

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमादी साधु को प्रमाद के कारण द्रव्य क्रिया करने पर भी अहिंसा के परिणाम नहीं होने से यह भङ्ग घटित होता है।[40]

2. **द्रव्य से हिंसा, भाव से अहिंसा** - ईर्यासमितिपूर्वक गमन क्रिया करते समय उपयोगवान् अप्रमत्त साधु से यदि कोई हिंसा हो जाय तो वह द्रव्य हिंसा है, भाव से तो अहिंसा है। सम्यग्दृष्टि श्रावक के द्वारा जिनालय निर्माणादि में हुई द्रव्यहिंसा भाव से हिंसा नहीं है (अहिंसा है)।[41]
3. **द्रव्य से हिंसा, भाव से हिंसा** - कोई शिकारी के द्वारा शिकार की इच्छा से किसी जीव को निशाना बनाकर उसे बाणादि से बींधना - द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा है क्योंकि यहाँ शिकारी की क्रिया और परिणाम दोनों हिंसा के हैं।[42]
4. **द्रव्य अहिंसा, भाव से हिंसा** - शिष्य के विकास की बुद्धि से गुरु के द्वारा शिष्ट के उपर किया जाता 'कोप' द्रव्य-भाव दोनों तरह से अहिंसा है।[43]

अहिंसा पालन हेतु कुछ सावधानियाँ :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने अहिंसक साधक के पूर्ण अहिंसा पालन के लिए निम्नाङ्कित सावधानियाँ रखने का निर्देश किया है-

1. पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस-स्थावर आदि समस्त जीवों की दयापालन करने हेतु शुद्ध आहार (गोचरी) की गवेषणा (खोज) करनी चाहिए। साधु कृत-कारित-अनुमोदन की नव कोटि से शुद्ध, उद्गम-उत्पादनादि एवं स्वप्न-ज्योतिष-निमित्तादि 42 दोषों से रहित, ऋद्धि, रस और शाता गारव (अहंकार) से रहित, वंदन-पूजन, मान-सम्मान, मित्रता-प्रार्थना, निंदा-हीलना-गर्हा, रसलोलुपतादि से रहित जयणापूर्वक चारित्र-विनयगुणयुक्त एषणापूर्वक आहार चर्या करें।[44]
2. अहिंसा महाव्रत की पाँचों भावनाओं का पालन करना चाहिए।[45]
3. किसी भी जीव की हिंसा करना नहीं, आज्ञापूर्वक कराना नहीं, उनका परिग्रहण करना नहीं तथा उन्हें परिताप (कष्ट) भी नहीं पहुँचाना।[46]
4. इन षड् जीवनिकाय के समस्त जीवों के स्वरुप को ज्ञातकर मन-वचन-कायापूर्वक जीवहिंसामय आरंभ और परिग्रह से मुनि दूर रहें।[47]
5. दुष्ट अनुबंध से बचने हेतु हिंसा कार्य से ही नहीं अपितु हिंसा के निमित्तों से भी दूर रहना चाहिए।[48]

'धार्मिक' की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने अनुयोगद्वार सूत्रोक्त श्लोक को उद्धृत करते हुए कहा है कि "स्थावर या त्रस किसी भी जीव की हिंसा न करें। जो सभी भूतों (प्राणियों) को आत्मवत् देखता है (समझता है), वह 'धार्मिक' हैं।[49] अहिंसा श्रेष्ठ धर्माङ्ग हैं।" -इस बात को अन्यान्य सभी दार्शनिक, धार्मिक लोग मानते हैं।[50] ज्ञानी होने का यही सार है अहिंसा ही सिद्धान्त[51] (आगम) हैं" - एसा समझकर किसी भी जीव की हिंसा न करना।[52] अहिंसा के लिए ही तीर्थंकरों ने अणुधर्म (अणुव्रत) कहा है।[53] अहिंसा स्वर्ग और मोक्ष के मुख्य हेतुभूत है। उसकी रक्षा के लिए सत्यादि व्रत कहे गये हैं।[54]

अहिंसा पालन का फल :-

अहिंसा पालन से क्लिष्ट कर्मो का वियोग होने से शुभानुबंध के द्वारा विरति/चारित्र की प्राप्ति होती है, उससे परंपरा से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[55]

प्राणियों पर की गई दया (अहिंसा पालन) सुकृतों की क्रीडास्थली, दुष्कृतो रुपी रज को दूर करने हेतु पवन, संकट रुपी अग्नि (के नाश) हेतु मेघपटल, लक्ष्मी की दूती, स्वर्ग की निसरणी, मुक्ति की प्रियसखीवत् है।[56] अहिंसा पालन से दीर्घायुः, श्रेष्ठ तनु, उच्च गोत्र, धनाढ्यता, बल, स्वामीत्व, ऐश्वर्य, आरोग्य, यश कीर्ति, आदि प्राप्त होता है एवं वह आत्मा संसार सागर को सुखपूर्वक तैरकर पार पहुँचती है।[57]

सर्वथा मृषावाद विरमण : द्वितीय महाव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने द्वितीय महाव्रत का वर्णन करते हुए कहा है कि "द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से क्रोधादि से जीवन पर्यंत मन-वचन-काया से किसी भी प्रकार का झूठ बोलना नहीं, दूसरों से बुलवाना नहीं और बोलनेवालों की अनुमोदना करना नहीं।" -यह साधु का द्वितीय महाव्रत हैं।[58]

मृषावाद के चार प्रकार[59] :-

1. **सद्भाव प्रतिबंध** - 'नास्ति आत्मा, नास्ति पुण्यं, पापं च इत्यादि। - अर्थात् आत्मा, पुण्य-पाप इत्यादि कुछ भी नहीं है। -एसी प्ररुपणा करना या कहना।
2. **असद् भावोद्भावन** - आत्मा सर्वगत है या तन्दुल मात्र है। इस प्रकार आत्मादि का जो स्वरुप नहीं है वैसा (विपरीत स्वरुप) कहना-असद्भावोद्भावन रुप मृषावाद है।
3. **अर्थान्तर** - गाय को अश्व (घोडा) इत्यादि कहना
4. **गर्हा** - जैसे - काणे को 'काण' कहना। पुनः यह क्रोधादि के भेद से चार प्रकार का है।

द्रव्यादि के भेद से मृषावाद के चार प्रकार :-

द्रव्यविषयक मृषावाद - धर्मास्तिकायादि या अन्य सचित्तचित्त सर्व द्रव्य संबन्धी विपरीत प्ररुपणा करना[60], मुनि के द्वारा अन्य के वस्त्र-पात्रादि को अपना कहना, या अन्य के द्वारा बनाये (तैयार

40. अ.रा.पृ. 1/872
41. अ.रा.पृ. 5/872, 7/1231; श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति-224
42. अ.रा.पृ. 5/872, 7/1231; श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति-225
43. अ.रा.पृ. 7/1231; श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति-228
44. अ.रा.पृ. 1/874
45. अ.रा.पृ. 1/877
46. वही
47. अ.रा.पृ. 1/878, 879; सूत्रकृताङ्ग 1/9/9
48. अ.रा.पृ. 1/881; हरिभद्रीय अष्टक 16/3
49. न हिंस्यात्सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च।
आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः॥ - अ.रा.भा. 1/878
50. अ.रा.पृ. 1/879; सूत्रकृताङ्ग 2/2/80
51. अ.रा.पृ. 1/879; सूत्रकृताङ्ग 1/11/10
52. अ.रा.पृ. 1/878; सूत्रकृताङ्ग 1/1/4/10
53. अ.रा.पृ. 1/881; सूत्रकृताङ्ग 2/2/1
54. अ.रा.पृ. 1/882; हरिभद्रीय अष्टक 16/5
55. अ.रा.पृ. 1/882
56. सूक्त मुक्तावली-25
57. वही- 28
58. अ.रा.पृ. 6/326, 7/273
59. अ.रा.पृ. 6/321,322
60. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किये) हुए वस्त्र-पात्रादि को स्वयं के द्वारा निर्मित है। -एसा कहना।[61]

क्षेत्रविषयक मृषावाद - लोक-अलोक या किसी स्थान के विषय में झूठ बोलना[62], अथवा रात्रि के अँधेरे में अनजान में दूसरों की संथारा की भूमि को अपनी कहना या मुनि जहाँ वर्षावास रहे हो वहाँ चातुर्मास बाद अन्य मुनि के द्वारा उसी जगह पर ठहरने की आज्ञा माँगने पर 'यह तो मेरा उपाश्रय है'- एसा बोलना।[63]

काल संबन्धी मृषावाद - अतीत-अनागत काल संबन्धी या वर्तमान में जिस समय मृषावचन बोले तत्काल संबन्धी या दशवैकालिकादि विधि सूत्र के अध्ययन विषयक काल संबन्धी झूठ बोलना।[64] अथवा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी, सुषमादि आरों के विषय में झूठ बोलना।[65]

भाव संबन्धी मृषावाद - यह अनेक प्रकार से है-

1. **क्रोध से** - क्रोध होने पर पिता पुत्र को कहता है कि 'जा, तू मेरा पुत्र नहीं है', इत्यादि।[66]
2. **मान से** - अभिमान के कारण झूठ बोलना। जैसे -मनुष्य के हाथ दो होने पर भी कहना कि "मेरे तो बहुत हाथ हैं।"[67]
3. **माया से** - राग-द्वेष से माया-कपट वृत्ति से मुनि के द्वारा स्वयं के दोष छिपाने या अन्य मुनि को त्रस्त करने के भाव से प्रचला निद्रा संबन्धी, वर्षा (गिरते पानी) में गमनागमन संबन्धी, जिनमंदिर दर्शनार्थ गमन संबन्धी, वंदन हेतु दीक्षापर्याय संबन्धी, गोचरी हेतु संखडी (एक प्रकार का दोष) संबन्धी, क्षुल्लक साधु को आर्तध्यानादि कराके त्रस्त करने हेतु उसे मायावी वचन बोलकर दु:ख-खेदादि मानसिक विकार उत्पन्न कराने संबन्धी, समुदाय संबन्धी, भिक्षाचार्य हेतु दिशा, कुल, द्रव्यादि संबन्धी झूठ बोलना 'माया-मृषावाद' कहलाता है।[68]
4. **लोभ से** - झूठी साक्षी देना, द्रव्य के लोभ में सामनेवालों को विश्वास में लेकर झूठ बोलना लोभ हेतु मृषावाद कहलाता है।[69]

अन्य भी असद्भूतवाद, विकथा, अनर्थवाद (निष्प्रयोजन वाद), कलह, अन्याययुक्त वचन, दूसरों के दूषण कहना, विवाद, परविडम्बनकारी वचन, लज्जारहित वचन, लोकनिन्दाकारी, असभ्य वचन, अज्ञात वचन, स्व-प्रशंसा एवं परनिन्दा, जाति-कुल-रुप-व्याधि इत्यादि से किसी को अपमानित करनेवाले (नीचा दिखाने वाले) वचन, परचित्तपीडाकारी वचन या शाप (अभिशाप) युक्त वचन बोलना'-यह भी मृषावाद कहलाता हैं।[70] यदि एसे सत्य वचन हों तो भी असत्य हैं, अत:त्याज्य है।

असत्य के त्याग हेतु सत्य को समजना आवश्यक है अत: सत्य का परिचय दिया जा रहा है।

सत्य :-

'सत्य' की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि यथावस्थित वस्तुविकल्प चिन्तन 'सत्य' कहलाता हैं।[71]

सत्य के भेद :-

क. सत्य के तीन प्रकार से[72]:-

1. मनोवचन सत्य 2. मन: काय सत्य 3. वचन काय सत्य।

ख. सत्य चार प्रकार से[73] :-

1. नाम सत्य 2. स्थापना सत्य 3. द्रव्य सत्य 4. भाव सत्य।

ग. सत्य चार प्रकार से[74] :-

1. काययुक्त 2. भाषायुक्त 3. भावयुक्त 4. अविसंवादनयुक्त।

दशविध सत्य[75] :-

1. जनपद सत्य	-	किसी देश विशेष में पानी को उदक, जल, नीर, पिच्छ इत्यादि कहते हैं, उस देश में वह सत्य हैं।
2. सम्मत सत्य	-	प्रामाणिक आचार्यों या विद्वानों द्वारा जिस शब्द का जो अर्थ नियत किया है, उन शब्दों को उसी अर्थ में मानना। जैसे - 'पङ्कज के शैवाल, मेंढक इत्यादि अर्थ होने पर भी उसे 'कमल, अर्थ में ही मानना।
3. स्थापना सत्य	-	जीव या अजीव कोई भी वस्तु के आकार का चाहे उसमें वह गुण हो या न हो, वह नाम स्थापित करना। जैसे - आचार्य की मूर्ति को आचार्य कहना।
4. नाम सत्य	-	व्यक्ति में गुण न होने पर भी उसे गुणचन्द्र, धनपाल, राजा इत्यादि नाम से बुलाना।
5. रूप सत्य	-	साधुत्व न होने पर भी साधु वेशधारी को 'साधु' कहना व्यवहार दृष्टि से सत्य हैं।
6. प्रतीत सत्य	-	किसी की अपेक्षा से किसी को बडा या छोटा कहना। जैसे - हिमालय की अपेक्षा गिरनार को छोटा कहना।
7. व्यवहार सत्य	-	पर्वत नहीं जलता, अपितु पर्वत पर लकडी या चारा आदि ईधन जलता है, तथापि 'पर्वत जल रहा है' - एसा कहना।
8. भाव सत्य	-	किसी गुण की अधिकता से उस पदार्थ या व्यक्ति को वैसा कहना। जैसे - बगुले के शरीर पर पाँचों वर्ण होने पर भी श्वेत रंग की अधिकता के कारण उसे श्वेत कहना।
9. योग सत्य	-	किसी पदार्थ के संबन्ध से उसे सम्बोधित करना। यथा - दण्ड रखने से मनुष्य को दण्डी, लकडी वहन करने से लकडहारा कहना, इत्यादि योगसत्य हैं।
10. उपमान सत्य	-	तालाब समुद्र जैसा कहना या किसी पुरुष को तुम तो सिंह हो, किसी स्त्री को वह तो देवी है - इत्यादि कहना उपमान सत्य हैं।

61. अ.रा.पृ. 1/773
62. अ.रा.पृ. 6/321, 322
63. अ.रा.पृ. 1/773
64. अ.रा.पृ. 1/773, 6/321
65. अ.रा.पृ. 6/332
66. अ.रा.पृ. 6/321, 322
67. वही
68. अ.रा.पृ. 1/774 से 777 एवं 6/321 से 324
69. अ.रा.पृ. 6/321
70. अ.रा.पृ. 6/329
71. अ.रा.पृ. 7/271
72. वही
73. वही
74. वही
75. अ.रा.पृ. 3/229, 230; 7/271, 272; स्थानांग 10 वाँ ठाणां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य-असत्य की चतुर्भङ्गी[76] :-

1. **द्रव्य से असत्य भाव से सत्य** - जैसे किसी व्यक्ति को कोई शिकारी या वधिक के पूछा कि इधर गाय/मृग इत्यादि कोई पशु को जाते हुए देखा ? तो देखा हुआ होने पर भी जीवदया के कारण "नहीं देखा।" -एसा कहना यह द्रव्य से असत्य होने पर भी जीवदया पालन के भाव से सत्य है।
2. **द्रव्य से असत्य भाव से भी असत्य** - जानबूझकर द्रव्य से (शब्द से) और परिणाम से भी झूठ बोलना इस प्रकार का यह असत्य है।
3. **द्रव्य से सत्य भाव से असत्य** - किसी के द्वारा जानते हुए भी असत्य बोलने पर भी सहसा (अचानक किसी कारण से) वह वचन सत्य हो जाना। यदि एसे वचन सत्य हो जायें तथापि उस व्यक्ति की भावना सत्य बोलने की नहीं होने से यह मृषावाद है।
4. **द्रव्य से सत्य भाव से सत्य** - लोक-अलोक, शाश्वत पदार्थ, तत्त्वादि के विषय में या अन्य विषयों में सत्य कहने की भावनापूर्वक शास्त्रसम्मत सत्य वचन बोलना।

चतुर्भङ्गी का ग्राह्याग्राह्यत्व :-

इसमें अंतिम भङ्ग सत्य है वह आचरणीय है। प्रसंगवश प्रथम भङ्ग भी सत्य होने से आचरणीय है, क्योंकि निशीथचूर्णि में कहा है कि "यदि प्रवचन-उड्डाह/शासननिन्दा रोकने हेतु, संयम रक्षा हेतु, चोरादि के द्वारा पकडे जाने पर, प्रत्यनीक (शासन का द्वेषी/वैरी) के क्षेत्र में, शैक्ष (नवदीक्षित) के निमित्त यदि मुनि को असत्य बोलना पडे तो भी प्रवचनरक्षा एवं संयमरक्षा हेतु बोला हुआ असत्य भी असत्य नहीं कहलाता, क्योंकि असत्यभाषी मुनि के परिणाम शुद्ध है, अतः वह सत्यवक्ता ही है।[77]

अलीकवचन (झूठ) बोलने से हानि :-

मृषावादी गुणगौरवरहित, चपल, भयकारी, दुःखकारी, अपयशकारी, संक्लेशकारी, अशुभफलयादी जात्यादिहीन, नृशंस, निःशंस (प्रशंसादि रहित), अविश्वसनीय, भवभ्रमणकारी, विपाकदारुण[78], विवेकरहित, महाभयवर्धक, तपरहित, दुःखदायी स्थानवासी, परवश, अर्थभोगरहित, दुःखी, मित्ररहित, बीभत्स, खर (अतिकर्कश), संस्काररहित, अचेतन (विशिष्ट बुद्धिरहित) दुर्भाग्यवान्, कठोर, दुःस्वरयुक्त, हिंसक, धर्मबुद्धिरहित, अपमानित, प्रेमरहित, सत्संगहीन, कुभोजन-कुवस्त्र-कुवसतियुक्त होते हैं; अतः सज्जन समाज में उनकी निर्भत्सना होती है, वे लोकगर्हणीय होते हैं, अंत में नरक-तिर्यंच योनियों के दुःख और वेदना प्राप्त करते हैं और पुनः मनुष्य भव प्राप्त होने पर भी वे जड, बधिर, मूक, अंध इत्यादि दुःखमय स्वरुप को प्राप्त होते हैं; धर्म उन्हें दुर्लभ हो जाता है।[79] अतः अलीक वचन का त्याग करना चाहिए।

आदर्श वचन :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने मुनि या सज्जन वर्ग योग्य भाषा का वर्णन करते हुए कहा है कि महाव्रती मुनि द्रव्य, पर्याय, गुण (वर्ण, कर्म, शिल्प, आगम (सिद्धांत), तथा नाम, आख्यात (क्रियापद), निपात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, पद, हेतु, यौगिक, उणादि क्रियाविधान, धातु, स्वर, विभक्ति, वर्ण से युक्त तथा जनपदादि (दस प्रकार के) सत्ययुक्त वचन भी अरिहंत परमात्मा के द्वारा अनुज्ञात, उभयलोक परिशुद्ध और स्व-पर किसी को भी पीडा जनक न हो तो ही बुद्धिपूर्वक पर्यालोचित (विचार) करके, संयमपूर्वक, योग्य अवसर होने पर ही बोलें।[80]

सत्य के गुण :-

सत्यवचन पवित्र, मोक्ष का हेतु, यथार्थ होने से सुजात (शुभ), सुभाषित, शुभाश्रित, सुखाश्रित, सुधासित, सुव्रत (सुंदर), सुकथित, सुदृष्ट (अतीन्द्रियार्थदर्शी), दृढ, सुप्रतिष्ठित (समस्त प्रामाणों से सिद्ध), सुप्रतिष्ठितयशयुक्त, सुसंयमित, बहुत (श्रेष्ठ सुर-नर) सम्मत, परम साधुओं के द्वारा तप-नियम रूप धर्मानुष्ठान में अङ्गीकृत, सुगतिपथदेशक लोकोत्तमवृत्त से युक्त हैं।[81] यही अनवद्य परम श्रेष्ठ है।

सत्य बोलने से लाभ :-

'जो जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररुपित है, वही निःशंक सत्य है।' -इस परम सत्य (शास्त्रज्ञता) को जानकर जो आत्मा तदनुसार आचरण करती है वह संसार-समुद्र को तैरती है।[82] सत्यवक्ता महासमुद्र में भी नहीं डूबता, जाज्वल्यमान अग्नि में या अग्नि से उकलते तेल की कढाही में भी नहीं जलता, पर्वत से गिरने पर भी वह नहीं मरता, संग्राम में तनी हुई तलवारों के बीच भी वह अक्षतशरीर निकल जाता है। ताडन, बन्ध, वध, बलात्कार इत्यादि में घोर वैरियों/शत्रुओ के द्वारा भी वह मुक्त किया जाता है। (उसे ताडनादि नहीं होते) शत्रुओं के बीच में भी वह सुरक्षित निकल जाता है। देवता उसका सान्निध्य करते हैं, लोकप्रियत्व, आकाशगामिनी आदि विद्याएँ और विशिष्ट लब्धियाँ, मंत्र-मणि-औषधि-वशीकरणादि प्रयोग, विभिन्न कलाएँ-विधाएँ, अस्त्र-शस्त्र, शास्त्र, सिद्धान्त आदि सत्य में प्रतिष्ठित हैं। उभयलोक में सत्य वचन ही आदेय, अनुकरणीय वक्तव्य है। अतः मुनि को अल्पांश भी असत्य नहीं बोलना चाहिए।[83]

सर्वथा अदत्तादानविरमण : तृतीय महाव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में मुनि के तृतीय महाव्रत की व्याख्या/विवेचन करते हुए आचार्यश्रीने स्थानांगसूत्र को उद्धृत करते हुए कहा है कि मुनि के द्वारा ग्रहण किये जानेवाले कोई भी द्रव्य, क्षेत्रादि उसके स्वामी, उनमें रहने वाले जीव, तीर्थंकर या गुरु की आज्ञा या अनुमति के बिना ग्रहण करना 'अदत्तादान' कहलाता है।[84] इन चारों प्रकार के अदत्तादानों का सर्वथा त्याग/प्रत्याख्यान करना मुनि का सर्वथा अदत्तादानविरमण नामक तृतीय महाव्रत है।[85]

अभिधान राजेन्द्र कोश में तृतीय महाव्रत का स्वरुप वर्णन करते हुए कहा है, "हे भगवान! मैं तृतीय महाव्रत में सर्वथा सर्व प्रकार की चोरी करने का त्याग करता हूँ। मैं जीवनपर्यंत गाँव या नगर में या जंगल में, अल्प या बहुमूल्य की, छोटी या बडी, सचित या अचित बिना दी हुई वस्तु को मन-वचन-काय से ग्रहण नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा, और करनेवालों को अच्छा नहीं समझूँगा।[86]

---

76. अ.रा.पृ. 6/321
77. अ.रा.पृ. 6/325; निशीथ चूर्णि-1/322-23-24
78. अ.रा.पृ. 1/777
79. अ.रा.पृ. 1/784, 3/326
80. अ.रा.पृ. 6/329, 330
81. अ.रा.पृ. 6/328
82. अ.रा.पृ. 6/273
83. अ.रा.पृ. 6/328-329
84. अ.रा.पृ. 1/526; स्थानांग-1/1
85. अ.रा.पृ. 1/540; प्रश्न व्याकरण-3 संवर द्वार
86. अ.रा.पृ. 1/540, 541; पाक्षिक सूत्र-तृतीय आलापक, साधु प्रतिक्रमण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने जैनागमों के अनुसार विविध प्रकार के अदत्तादान का दिग्दर्शन कराया है-

क. द्रव्य-अदत्तादान विरमण[87] :-

यह चार प्रकार का है-

(1) **स्वाम्यदत्तादान विरमण** - रास्ते में पडे हुए (जिसके स्वामी का पता नहीं है) मणि, मोती, शिला, प्रवाल, रत्न, सोना, चांदी आदि ग्रहण करना नहीं और दूसरों को उसके बारे में कहना भी नहीं। तथा साधु प्रयोग्य आहार, जल, औषध, तृण, काष्ठ, राख, पत्थर, चौकी, पटिया, शय्या (संथारा), वस्त्र, कम्बल, उपधि, रजोहरण, मुहपत्ति, दण्ड, पात्र, मिट्टी आदि के वर्तनादि, उपकरण आदि उसके मालिक की अनुमति/आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करना चाहिए। आचार्य, ग्लान, तपस्वी आदि के लिये लाये आहारादि दाता की बिना आज्ञा के नहीं ग्रहण करना चाहिए।

(2) **जीव अदत्तादान विरमण** - (1) सचित आहार, जल आदि ग्रहण करने हेतु उसमें रहने वाला जीव अनुमति नहीं देता, अतः उसे ग्रहण नहीं करना (2) जिस नर-नारी की दीक्षा/प्रवज्या ग्रहण करने की स्वतःस्फूर्त वैराग्य-भावना या परिणाम न हो, उसके माता-पितादि परिवार के द्वारा उसे दिये जाने पर भी उसे दीक्षा नहीं देना चाहिए। (3) जीवाकुल (जीवों से व्याप्त) भूमि का उपयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जीव अदत्तादान के तीन प्रभेद हैं।

(3) **तीर्थंकर अदत्तादान विरमण** - जिस आधाकर्मादि दूषित आहारादि का तीर्थंकर परमात्मा ने निषेध किया है, उसे ग्रहण नहीं करना, तीर्थंकर की आज्ञा के विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं करना।

(4) **गुरुअदत्तादान विरमण** - तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार गृह स्वामी के द्वारा अपनी इच्छापूर्वक अर्पित किया हुआ 42 दोषरहित आहारादि भी मुनि के द्वारा गुरु को दिखाकर; गुरु की आज्ञा प्राप्त करके ही उपयोग में लेना चाहिए।

ख. क्षेत्र अदत्तादान विरमण[88] :-

ग्राम, नगर या अरण्य में स्वामी की आज्ञा के बिना नहीं ठहरना। स्वामी की आज्ञा लिये बिना वसति, उपाश्रय, स्थंडिल, भूमि इत्यादि का उपयोग नहीं करना।

ग. काल अदत्तादान विरमण - रात्रि में किसी भी द्रव्यादि या आहारादि को ग्रहण नहीं करना।[89] और चाहे दिन हो या रात्रि, किसी भी समय अदत्तद्रव्यादि ग्रहण नहीं करना।[90]

घ. भाव अदत्तादान विरमण[91] - राग या द्वेष से स्वामी, जीव, तीर्थंकर या गुरु के द्वारा नहीं दिया हुआ या उनकी आज्ञा के बिना कुछ भी ग्रहण नहीं करना। एवं भाव से तप, वचन, रुप, आचार या श्रुत का चोर नहीं बनना।

(1) **तपःचोर** - स्वयं तपस्वी नहीं होते हुए भी तपस्वी कहलाना या 'साधु मात्र तपस्वी होते हैं' -एसा बोलना या सही तपस्वी को छिपाना।

(2) **वचनचोर** - स्वयं.व्याख्याता नहीं होने पर भी वैसा कहलाना (प्रसिद्धि करवाना)।

(3) **रूप चोर** - पेट भरने हेतु साधु वेश धारण करना।

(4) **आचार चोर** - सुविहित साध्वाचार का क्रियारुचि सहित मन-वचन-काया की एकाग्रतापूर्वक पालन नहीं करना।

(5) **भाव चोर** - बहुश्रुत नहीं होने पर भी बहुश्रुत/आगमज्ञाता कहलाना। श्रुतज्ञानार्जन नहीं करते हुए अन्य से चोरी-छिपे जैनागमों की बाते सुनकर, लोगों को सुनाकर "मैंने जैनागमों का अध्ययन किया है।" एसा कहना।[92]

तृतीय महाव्रत के सुचारु पालन की विधि :-

जो मुनि दोष रहित आहार, जल, उपधि, शय्या आदिपूर्वक आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, साधर्मी (साधु), कुल, गण, संघ की वैयावृत्त्य करता है, जहाँ अपने जाने से अप्रीति उपजे एसे गृहादि में जो नहीं जाता, वहाँ से आहारादि तथा उपकरणादि ग्रहण नहीं करता, जो दूसरों की निंदा नहीं करता, ग्लानादि का बहाना बनाकर गृहस्थों से आहारादि द्रव्यादि ग्रहण नहीं करता, किसीको धर्म से विमुख नहीं करता तथा वैयावृत्त्यादि करके पश्चाताप नहीं करता, और प्राप्त किये हुए आहारादि का संविभाग करने में कुशल तथा शिष्यादि का संग्रह कर उन्हें आहार, श्रुतादि के दान से संतुष्ट करनेवाला मुनि तृतीय महाव्रत की अच्छी तरह से आराधना करता हैं।[93]

अदत्तादान विरमण व्रत के लाभ :-

जो भव्यात्मा अदत्त का ग्रहण नहीं करता; सिद्धि उसकी इच्छा करती है, समृद्धि उसे प्राप्त होती है, कीर्ति उसकी अनुचरी है, उसके संसार संबंधी दुःख दूर होतेहैं, सुगति प्राप्त होती है। दुर्गति उसे देख नहीं सकती, विपत्ति दूर होती है, उसमें सद्गुणों की श्रेणि निवास करती है एवं विनीत को जैसे सभी विद्याएँ स्वतः प्राप्त होती है वैसे अदत्तादानत्यागी को स्वर्ग एवं मोक्ष की लक्ष्मी सहज प्राप्त हो जाती है।[94]

अदत्तादान ग्रहण से हानि :-

तप-वचन-रुप-आचार और भाव के चोर एसे अदत्तादान ग्रहण करनेवाले साधु यहाँ से आयुः पूर्ण कर किल्बिषक (चांडाल/नोकर जैसी देव जाति) देव में उत्पन्न होता है; वहाँ से च्युत होकर मनुष्य गति में गूंगाँ-मूँगा (मूक) होता है, या तिर्यंच गति में जन्म लेता है; वहाँ से नरक गति में जाता है। वहाँ परंपरा से जिनधर्म एवं बोधिप्राप्ति दुर्लभ होती है।[95]

सर्वथा मैथुन विरमण : चतुर्थ महाव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने चतुर्थ महाव्रत का वर्णन करते हुए कहा है कि "मुनि के द्वारा जीवन पर्यंत द्रव्य से रुप (सजीव मनुष्यादि) रुपसहगत (चित्रचित्रित अजीव स्त्री आदि) के साथ, क्षेत्र से उर्ध्वलोक, अधोलोक या तिर्यग् लोक में काल से दिन में या रात्रि में भाव से राग से (माया या लोभ से), द्वेष (क्रोध, मान) से, मन-वचन-काया से देव-मनुष्य या तिर्यंच संबन्धी स्त्री-पुरुष या नपुंसक के साथ मैथुन सेवन करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं, करनेवालों की अनुमोदना करुँगा नहीं - एसी

87. अ.रा.पृ. 1/538, 542
88. अ.रा.पृ. 1/539, 542; निशीथ चूर्णि-2/72
89. अ.रा.भा. 3/'कप्प' शब्द
90. अ.रा.पृ. 1/539; साधु प्रतिक्रमण-तृती आलापक
91. अ.रा.पृ. 1/539; दशवैकालिक मूल 5/2/46
92. अ.रा.पृ. 1/539; एवं 1/543
93. अ.रा.पृ. 1/543
94. सूक्त मुक्तावली-33, 34
95. अ.रा.पृ. 1/539-40

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिज्ञा करना मुनि का चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत/सर्वथा मैथुन विरमण व्रत है।[96] इस व्रत का धारक मुनि 18000 शीलाङ्गो (शुद्ध प्रवर्तन, अत्युत्तम चारित्र) का पालन करता हैं।[97]

अभिधान राजेन्द्र कोश में अब्रह्म, स्त्री के अङ्गोपाङ्गादि देखकर प्रसन्न होकर स्तम्भित होना, स्त्रीसंपर्क, कामसुख कामक्रीडा, कामाभिलाषा, स्त्री आदि की अभिलाषसंज्ञा से उत्पन्न वेदजनित मोह के उदय को 'मैथुन' कहा गया हैं।[98] वसति आदि के दोष से अथवा मोहनीय कर्म के उदय से 18000 शीलांगरथ सहित महाव्रतधारी मुनि को भी क्वचित् मैथुन अभिलाषा होने की संभावना रहती है, अत: महाव्रतों की सुरक्षा हेतु अट्ठारह हजार भंग सहित निर्मल शील/ब्रह्मचर्य के पालन हेतु मुनि को ब्रह्मचर्य की 9 बाडों का सदैव पालन करना चाहिए तथा अब्रह्म से होने वाली हानि और ब्रह्मचर्य की महिमा तथा ब्रह्मव्रत पालन से होने वाले लाभ का चिंतन करना चाहिए; मोहोदय होने पर नीवी, आयंबिल इत्यादि तप करना चाहिए।[99]

ब्रह्मचर्य की नव गुप्ति (बाड) :-

कुडुंतर पुव्व कीलिए पणिए। वसहि कह निसिंदिय।
अइमयाहार विभूषणाइ, नवं बंभचेर गुत्तीए॥

संयम जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा हेतु साधक को मन-वचन-कायापूर्वक इन नव गुप्ति/बाड का पालन करना अनिवार्य है; जो निम्नानुसार है -

(1) स्त्री, पुरुष और नपुंसक रहित स्थान में निवास करना।
(2) स्त्री के साथ कथा नहीं करना (अकेली स्त्रियों के बीच धर्मकथा भी नहीं करना)।
(3) जिस आसन पर स्त्री बैठी हो उस स्थान/आसन पर दो घडी/ ४८ मिनिट के पूर्व नहिं बैठना। (जिस आसन पर पुरुष बैठा हो उस आसन पर स्त्री को तीन प्रहर तक नहीं बैठना।)
(4) स्त्रियों की ओर राग से देखना नहीं।
(5) जहां स्त्री-पुरुष दोनों का निवास हो, उनका शयनखंड हो वहां बीच में एक दिवार होने पर भी नहिं रहना, उनकी बाते नहीं सुनना।
(6) गृहस्थ जीवन संबंधी पूर्व भोगों को याद नहिं करना।
(7) सदा छः विगईयुक्त (एकसाथ) स्निग्ध आहार नहीं करना।
(8) अत्यधिक आहार या प्रमाणरहित आहार नहीं करना।
(9) देह विभूषा (टाप-टीप) नहीं करना।[100]

मैथुन के दोष/अब्रह्म से हानि :-

जैनागमों में कहा है कि स्त्री की योनि में 9 लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य, लाख पृथकत्व (2 से 9 लाख) द्वीन्द्रिय एवं असंख्य संमूर्च्छिम गर्भज जीव होते हैं[101] (यह संख्याप्रमाण जैनागमानुसार है)। जैसे रुई से भरी नली में अग्नि तप्त लोहशलाका का प्रवेश होते ही समस्त रुई जलकर भस्म हो जाती है, वैसे ही स्त्री की योनि में रहनेवाले ये जीव पुरुष के संयोग से नष्ट होते हैं अर्थात् मैथुनसंज्ञारुढ इन जीवों का नाश करता हैं।[102] अब्रह्म भयंकर, सर्व प्रमाद का मूल, अनन्तसंसार भ्रमण का हेतु, अधर्म का मूल, महादोषोत्पादक है।[103] अत: परमात्माने कहा है- भ्रष्टशील व्यक्ति के दर्शन करने मात्र से भी प्रायश्चित आता है।[104] अतिमैथुन से अकाल मृत्यु होती है।[105] मैथुनासक्ति से मित्र शीघ्र ही शत्रु बन जाते हैं।[106] शाश्वतधर्म के ब्रह्मचर्य विशेषांक में कहा है - "युवावस्था में ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य की विशेष रुप से सुरक्षा नहीं करने पर वृद्धावस्था में रोगों का आक्रमण तीव्रता से होता हैं। विष खाने से तो मृत्यु आती है लेकिन विषय के तो स्मरण मात्र से सर्वनाश होता है।" "शिव संहिता' में वीर्य के पतन को मृत्यु और उसको रक्षा को जीवन माना हैं।[107]

ब्रह्मचर्य का माहात्म्य :-

ब्रह्मचर्य व्रत तारागण में चन्द्रमा, व्रत-नियमादि रत्नोत्पत्ति हेतु रत्नाकर, रत्नों में वैडूर्य, आभूषणों में मुकुट, वस्त्रों में क्षौमयुगल, पुष्पो में कमल, चन्दनों में गोशीर्ष, औषधि हेतु हिमालय (आमर्शादि औषधियों (लब्धियों) का उत्पत्तिस्थान), नदियों में सीतोदा, समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र, माण्डलिक पर्वतो में रुचकद्वीप, हाथियों में ऐरावत, पशुओं में सिंह, सुवर्णकुमारादि में वेणुदेव, सर्पो में पन्नगेन्द्रराज, देवलोक में ब्रह्म देवलोक (उसके विस्तार एवं ब्रह्मेन्द्र के अतिशुभपरिणाम के कारण), सभाओं में सुधर्मा सभा, आयु में लवसत्तम अनुभव-स्थिति, दानों में अभयदान, कम्बलों में रत्नकंबल, संहनन में वज्रऋषभनाराच सहनन, ध्यानों में शुक्ल ध्यान, ज्ञान में केवलज्ञान, लेश्या में शुक्ल लेश्या, केवलियों/मुनियों में तीर्थंकर, क्षेत्रो में महाविदेह क्षेत्र, मेरु पर्वतो में सुदर्शन मेरु, वनो में नन्दनवन, वृक्षो में (सुदर्शन मेरु का) जम्बू वृक्ष - के समान अनेक गुणों के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।

ब्रह्मचर्य की महिमा[108] :-

ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व का मूल (मूल कारण) हैं। हिमवत् पर्वत के समान अतिशय तेजस्वी, प्रशस्त, गंभीर, अचपल, मध्यस्थ, आर्जव, साधुजनाचरित, मोक्षमार्ग, विशुद्धि, सिद्धिगतिनिलय, शाश्वत, अव्याबाध, अपुनर्भव (जन्म-मरण नाशक), सौम्य, सुख (मोक्ष सुख), शिव (उपद्रवरहित), अचल, अक्षयकर, मुनिपालित, सुचरित, सुभाषित, सुदर्शित, निर्वैर, निर्दोष, भव्यजनानुचरित, निःशंकित, निर्भय, निस्तुष (विशुद्ध तन्दुलकल्प), निरायास (खेदरहित), निरुपलेप, निवृत्ति का घर, निष्कंप, तपःसंयममूल, महाव्रत रक्षक, समितिगुप्तियुक्त, ध्यानरक्षक, दुर्गतिनाशक, सुगतिपथदर्शक, लोकोत्तम, पद्मसरोवर की पालीभूत, क्षान्त्यादिगुणयुक्त, विनयादि गुणों का समूह हैं।

---

96. अ.रा.भा. 5, 'पडिक्कमण' शब्द, 6/425; श्रमणसूत्र, चतुर्थ आलापक
97. 3 योग (मन-वचन-काया) × 3 करण (करण-करावण-अनुमोदन) = 9 × 4 संज्ञा (आहारादि) = 36 × 5 इन्द्रियाँ (स्पर्सादि) = 180 × 10 (5 स्थावर + 4 त्रसकाय + 1 अजीव) = 1800 × 10 यतिधर्म (क्षमादि) = 18000 भेद शीलाङ्ग रथ के होते हैं। अ.रा.पृ. 1/251, 252
98. अ.रा.पृ. 6/425, एवं भा. 5, पडिक्कमण शब्द
99. अ.रा.पृ. 6/425
100. श्रमण नामातिचार सूत्र - चतुर्थ आलापक
101. संबोध सत्तरि प्रकरण-83, 85, 87
102. वही अ.रा.पृ. 6/426, 428; भगवती सूत्र 2/5; संबोधसत्तरीप्रकरण 84, 86
103. अ.रा.पृ. 6/426 से 428
104. अ.रा.पृ. 6/429
105. चरक संहिता 3/38 पृ. 701
106. अ.रा.पृ. 1/679
107. 'शाश्वत धर्म', ब्रह्मचर्य विशेषांक, जुलाई-अगस्त 1997, पृ. 36 एवं 37
108. अ.रा.पृ. 6/1259-60-61

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य पालन से लाभ :-

ब्रह्मचर्यव्रतजनित अतुल पुण्यभार के कारण यह व्रत सभी व्रतों का गुरु है।[109] जिसने यावज्जीव मन-वचन-काय से एकमात्र ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना की, पालन किया उसने समस्त निर्ग्रन्थ प्रवज्या (दीक्षा), अखण्डशील, तप, विनय, संयम, क्षान्ति, गुप्ति, मुक्ति, निर्लोभता, सिद्धि, यश:कीर्ति, पराक्रम, दान, सब कुछ प्राप्त कर लिया।

यह व्रत वैरनाशक, दुर्गतिनाशक, पापनाशक, सर्वपवित्र वस्तुओं का सार, देवनरेन्द्रनमस्कृत, देवगति एवं मोक्ष का द्वारोद्घाटक, सर्व जगदुत्तम मंगलमार्ग, दुर्धर्ष गुणनायक, मोक्षपथावतंसक है। इस व्रत को सम्यग् रुप से पालन करनेवाला ही सही अर्थो में ब्राह्मण है, सुश्रमण है, सुतपस्वी है, सुसाधु है, निर्वाण साधक है, योगी है, ऋषि है, संयमी है, भिक्षु है, ब्रह्मचारी है।[110]

शूरवीरों से ही ब्रह्मचर्य पालन संभव है, कायरों से नहीं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी दुष्कर ब्रह्मचर्यव्रतपालक को नमस्कार करते है।[111]

ब्रह्मचारी और शीलव्रतधारी के प्रभाव से शेर, वाघ, सर्प, जल, अग्नि आदि भय नष्ट हो जाते है, कल्याणकारी कार्यों में उल्लास प्रकट होता है, देवता उन्हें सान्निध्य करते हैं, कीर्ति फैलती है, उसके निर्मल कुल-वंश प्रकाशमान होते हैं, उसके सुकृतों की प्रशंसा होती है, देव समूह उन्हें नमस्कार करते है एवं अतितीव्र उपसर्ग को भी नष्ट करते हैं, शील के प्रभाव से अग्नि-जल, सर्प-फुलमाल, वाघ-हिरन, सिंह-अश्व, पर्वत-पत्थर (का टुकडा), विष-अमृत, विघ्न-उत्सव, शत्रु-मित्र, समुद्र-क्रीडा करने हेतु तालाब, घोर अरण्य-स्वयं के गृह में परिवर्तित हो जाता है और स्वर्ग और मोक्ष के सुख उनको प्राप्त होता हैं।[112]

सर्वथा परिग्रहविरमण : पञ्चम महाव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'परिग्रह की व्युत्पत्तिजनक परिभाषा बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है - **परिगृह्यते आदीयतेऽस्मादिति परिग्रहः**। अर्थात् जिससे हम ग्रहण किये जायें (बंधन में डाले जायें) उसे परिग्रह कहते हैं।[113]

विभिन्न ग्रंथो में 1. द्विपदादि एवं धनधान्यादि[114], 2. आन्तरिक ममत्व[115], 3. साधुमर्यादा के विपरीत किसी भी पदार्थ का ग्रहण[116], 4. मूर्च्छा - को परिग्रह कहा गया हैं[117]।

अभिधान राजेन्द्र कोश में मुनि के लिए धर्मसाधन/धर्मोपकरण को छोडकर धन-धान्यादि अनेक प्रकार के बाह्य परिग्रह एवं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमादादि अनेक प्रकार के आभ्यान्तर परिग्रह का तथा श्रावक प्रायोग्य धन-धान्यादि 9 प्रकार के परिग्रह का वर्णन किया गया है[118]। श्रावकप्रायोग्य परिग्रह का वर्णन प्रस्तुत शोधप्रबंध में आगे यथास्थान किया जायेगा।

मुनिप्रायोग्य पंचम महाव्रत का वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि अनेक प्रकार के परिग्रह प्राप्त कर संचय करके भोग करने पर भी जीव अन्त में प्राप्तसंरक्षण, अप्राप्तचिन्ता, अनन्ततृष्णा, अतिलोभ, क्लेश, संग्राम, कषाय, चिन्तन, गौरव, मायाच्छादन, कामभोग, शरीरखेद, चित्तखेद के कारण मोक्षमार्ग का घात करता है[119], अत: परिग्रह चरम अधमद्वार है[120]।

परिग्रह को नरक का मूल कारण समझकर काल, बल, मात्रा, क्षेत्र, खेद, क्षण, विनय, समय (सिद्धांत), भाव के ज्ञाता जो मुनि बहुत मिलने पर भी धर्मोपकरण के अलावा अन्य कोई भी पदार्थ अंशमात्र भी ग्रहण नहीं करता; बहुत मात्रा में अच्छा-अच्छा विभिन्न प्रकार का आहार मिलने पर भी उसमें से थोडा भी (अंशमात्र भी) संग्रह संनिधि नहीं करता, धर्मोपकरण के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु का परिग्रह नहीं रखता; धर्मोपकरण के ऊपर भी ममत्वभाव धारण नहीं करता, वही मुनि अप्रमत्तभाव से सर्वथा परिग्रहविरमण व्रत का संपूर्ण पालन करता हैं।[121]

पञ्च महाव्रतधारी जैन मुनि के द्वारा 'अकेले या सभा में, गाँव में या नगर में या अरण्य में, सोते समय या जागृतावस्था में धर्मोपकरण के अतिरिक्त अत्यल्पमूल्य या बहुमूल्य, थोडे या ज्यादा , सचित्त, अचित या मिश्र किसी भी प्रकार के धन-धान्य, छत्र, वाहन, द्विपद-चतुष्पद, पुष्प-फल, तैलादि, चारों प्रकार के आहार, दूषिताहार, प्रमाणातिरिक्ताहार आदि अनेक प्रकार के द्रव्य, गाँव, नगर, खेत, दुकान, मकानादि क्षेत्र, रात्रि में या दिन में राग से या द्वेष से ग्रहण नहीं करना'' मुनि का ''सर्वथा परिग्रह विरमण व्रत' है।[122]

उपकरण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश मे बाह्याभ्यन्तर परिग्रह त्यागी मुनि के 'उपकरण' के विषय में व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि, **'दण्ड, रजोहरण, वस्त्र, पात्रादि जिससे व्रती का उपकार होता है; या जो ज्ञानादि (उपलक्षण से ज्ञान-दर्शन-चारित्र) (की प्राप्ति) में उपकारी हो, या जिससे जयणा (जीवदया पालन) की जाती हो उसे 'उपकरण' कहते हैं**[123]। आचारांगादि आगमों में वस्त्रैषणा-पात्रैषणादि अध्ययनों में भगवान् ने यतियों को स्पष्ट ही वस्त्रादि ग्रहण हेतु विस्तृत विधान किया हैं। जिनकल्पी मुनि हेतु बारह प्रकार के और स्थविरकल्पी मुनि हेतु चौदह प्रकार के तथा साध्वियों के लिए पच्चीस प्रकार की सामान्य उपधि (उपकरण) होती है तथा उससे अधिक औपग्रहिक उपधि होती है।[124] **जो समीप (उप) रहकर संयम का पोषण करती है, उसे 'उपधि' कहते हैं**[125]। **वह दो प्रकार की है-**

1. **ओधोपधि** - सामान्यतया जिसका उपयोग किया जाये या नहीं भी किया जाये तथापि भिक्षादि के निमित्त जिसे रखा जाय वह ओघ उपधि है, जैसे - पात्रादि।
2. **औपग्रहिक उपधि** - जिसका ग्रहण किसी निमित्त से किया जाने से उसका ग्रहण एवं उपभोग/उपयोग दोनों साथ ही होते हैं, उन्हें औपग्रहिक उपधि कहते हैं, जैसे-पीठफलकादि।

109. अ.रा.पृ. 5/1259
110. अ.रा.पृ. 5/1261-62
111. अ.रा.पृ. 5/1266
112. सूक्त मुक्तावली-38,39,40
113. अ.रा.पृ. 5/552
114. अ.रा.पृ. 5/552; सूत्रकृताङ्ग-1/5; 2/6; स्थानांग-2/1;
115. सूत्रकृताङ्ग-1/9
116. आवश्यक चूर्णि-अ. 4
117. स्थानांग-1 ठाणां
118. अ.रा.पृ. 5/552
119. अ.रा.पृ. 5/552, एवं 5/554
120. अ.रा.पृ. 5/554-55
121. अ.रा.पृ. 5/553; आचारांग 1/2/5
122. अ.रा.पृ. 5/558 से 560 एवं 5/563, पाक्षिक सूत्र, पञ्चम आलापक, साधु प्रतिक्रमण सूत्रार्थ
123. अ.रा.पृ. 2/905
124. सम्मतितर्क, 3/5/65 पर टीका; पृ. 371
125. अ.रा.पृ. 2/1087; धर्मसंग्रह, अध्ययन 3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. ओघोपधि :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'ओघोपधि' का वर्णन करते हुए कहा है कि 1. पात्र 2. पात्रबन्ध (वस्त्र का टुकडा) 3. पात्रस्थापन (कम्बल का टुकडा - जिस पर पात्र रखे जाते हैं) 4. पात्र केसरिका (पुंजणी) 5. पडला (पात्र ढंकने हेतु वस्त्र) 6. रजस्त्राण (पात्र की सुरक्षा हेतु-इसमें पात्र बींटे जाते हैं) 7. गुच्छा - ऊनी मोटे वस्त्र के टुकडे (पात्र की सुरक्षा हेतु) 8-10 तीन प्रच्छादक (2 सूती + 1 ऊनी कम्बल) 11. रजोहरण (ओघा) 12. मुखसंपोतिका (मुहपत्ति) 13. मात्रक और 14. चोलपट्टा (साधु का अधो वस्त्र) -इन 14 उपकरणों में से प्रथम 12 जिनकल्पी मुनि के और सभी 14 उपकरण स्थविरकल्पी मुनि के होते हैं।[126] तथा साध्वी के 1 से 13 उपरोक्तानुसार और (14) चोलपट्ट के स्थान पर कमठक (शाटक) 15. अवग्रहानन्तक 16. पट्ट 17. अर्धोरुक 18. बलपिका 19. आभ्यन्तर निवसिनी 20. बहिर्निवसिनी 21 कञ्चुक 22. औपकक्षिकी 23. एककक्षिकी 24. संघाटी (चद्दर/पांगरणी-एक युगल वस्त्र में चार) 25. स्कन्धकरणी - ये 25 उपकरण यथावश्यक हैं।[127]

2. औपग्रहिक उपधि :-

निषद्या, दण्ड, पादपोञ्छन, प्रमार्जनी (दण्डासन), घडा, पिप्पलक, सुई, नखकतरणी, दाँत-कान साफ करने की शलाका, आदि औपग्रहिक उपधि है।[128] तथा आवश्यकतानुसार अक्ष (चंदन) से निर्मित आचार्यश्री (स्थापनाचार्य), संथारा, पाट, पटिया, पादलेखनी, पुस्तक, चिलिमिलि (परदा) आदि ग्रहण करना - यह भी औपग्रहिक उपधि है। इसमें भी चातुर्मास में दुगुना संथारा, तीन-चार या पाँच या जीर्णादि अवस्था में सात युगल वस्त्रादि, तीन मात्रक, पाँच परदा इत्यादि अधिक ग्रहण किये जाते हैं।[129] तथा द्रव्य, क्षेत्र-काल-भावादि के अनुसार आचार्य, गणावच्छेदक, प्रवर्तिनी आदि दूनी या चौगुनी उपधि रखें।[130] ये दोनों तरह की उपधि मान (नाप), भोग (उपयोग), गणना और प्रमाणयुक्त होती है। उसके अभाव में मुनि को प्रायश्चित प्राप्त होता है।[131] तथापि मुनि के आवश्यक उपकरण और द्रव्य-क्षेत्रादि कारणों से मुनि /गणावच्छेदक /आचार्य /प्रवर्तिनी आदि के द्वारा गृहीत वस्त्रादि उपधि की अधिकता देखकर गृहस्थ एसा न सोचे कि इनको इतना तो परिग्रह है फिर भी ये अपरिग्रह कैसे ?

अतः अभिधान राजेन्द्र कोश में स्थविरकल्पी अपरिग्रही मुनि के उपरोक्तानुसार धर्मोपकरणों का वर्णन करते हुए कहा है कि 'धर्मोपकरण परिग्रह नहीं है'। यहाँ परिग्रह की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस द्रव्यादि के रखने से कर्मबंधन होता हो अर्थात् आरंभ-समारंभादि कार्यों की वृद्धि होने से नये कर्मबंधन उत्पन्न होते हों वह परिग्रह कहलाता है, और जो धर्मोपकरणादि कर्मनिर्जरा (कर्मो का शनैः शनैः नाश) हेतु/रखे जाते हों वह परिग्रह नहीं है।[132] पूर्व में भी कहा गया है कि मूर्च्छा परिग्रह है, धर्मोपकरण नहीं। जैसे गृहस्थजन सुख (भौतिक सुख) की प्राप्ति हेतु परिग्रह रखते हैं, वैसे साधु नहीं रखते। **साधु तो संयम में उपकारी; जिसकी सहायता के बिना संसारसागर पार उतरना असंभव है, वैसे आगमोक्त धर्मोपकरण मात्र रखते हैं, अतः धर्मोपकरण परिग्रह नहीं हैं।**[133] आगे, जो लोग वस्त्रादि को परिग्रह मानते हैं उन्हें लक्ष्य कर के कहा गया है - वस्त्रादि धारण करने मात्र से प्रमाद का उदय या प्रमत्त गुणस्थान पद की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं होता, अपितु अध्यवसाय विशेष गुणस्थान की प्राप्ति में निमित्त होता है। वस्त्रादि आत्मदर्शन में बाधक नहीं है।[134] ज्ञानादि के पोषण में निमित्तभूत देहस्थिति के लिए ही वस्त्रादि धर्मोपकरण ग्रहण किये जाते हैं। जिन लोगों का संहनन बल उत्तम नहीं है, चित्तपरिणाम विशिष्ट श्रुताध्ययन से परिकर्मित नहीं है जो एसी वसति (निवास) के परिहार में प्रयत्नशील है जिसमें कालातिक्रान्तादि दोषों का संभवहेतु हो, जो षड्जीवनिकाय की हिंसा स्वरुप अग्नि आदि के आरंभ-समारंभ से दूर रहते हैं। -एसे इस काल के मुनियों को तीव्र शीत आदि उपद्रवों में शरीर स्थिति की सुरक्षा वस्त्रादि ग्रहण भी न्याययुक्त हैं।[135] क्योंकि **यति (मुनि) को लज्जा, संयम, जुगुप्सानिवारण और दुस्सह शीतादि से बचने हेतु वस्त्र धारण करना चाहिए**[136] **तथा संयम रक्षा हेतु अपेक्षित वस्त्र, पात्र, कम्बलादि धर्मोपकरण को ग्रहण करना चाहिए।** वस्त्र ग्रहण से हिमकणवर्षी शीतकाल में यतनापूर्वक वस्त्रावरण से समूची रात जागनेवाले साधुओं के स्वाध्याय में निर्वाह होता है; सचित्त पृथ्वी, धूमिका, वृष्टि, अवश्याय (अप्काय का भेद), रज और प्रदीप के तेजादि की रक्षा होती है, मृत साधु के ऊपर आच्छादन, बहिर्गमन, शीत से मरणासन्न साधु की प्राणरक्षा में भी वस्त्र उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार आकाश से गिरने वाले रजःकण, धूली आदि के प्रमार्जन में मुखवस्त्रिका (मुंहपत्ति), आदान-निक्षेप क्रिया में पूर्वप्रमार्जन हेतु तथा संयम के चिह्न हेतु रजोहरण, वायु आदि से जन्य विकारयुक्त लिङ्ग के संचरण हेतु चोलपट्ट की उपयोगिता हैं।[137]

इसी प्रकार पात्र से ही विधिपूर्वक धारण करने से अनाभोगपूर्वक (अनजान में) ग्रहण किये गये गोरसादि संसक्त पदार्थो की रक्षा होती है; द्रव आहार नीचे नहीं गिरता, कुंथु आदि जीवों की विराधना नहीं होती, गृहस्थ के बर्तनो को उपयोग में लेने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होने से प्रक्षालन, प्रत्यावर्तनादि पश्चात्कर्म के पाप के निमित्त से यति बच-सकता है। ग्लान, बाल, वृद्ध, शिष्य, प्राघुणक (आगंतुक मुनि), गुरु, शैक्ष, नवदीक्षित, असहिष्णु राजपुत्रादिरुप मुनि आदि की वैयावृत्त्य हेतु पात्र आवश्यक है, क्योंकि पात्र के बिना इन्हें आहार लाकर देना संभव नहीं हैं।[138]

लाभ :-

जैसे पाली (पानी के बहाव को रोकने के लिए मिट्टी से बनायी गयी पाल) का नाश होते ही सरोवर का समस्त जल चला जाता है, वैसे ही परिग्रह के साथ परिग्रह के ऊपर की मूर्च्छा भी यावत् धर्मोपकरण पर भी मूर्च्छा नष्ट होते ही मुनि की समस्त कर्मरुपी

126. अ.रा.पृ. 2/1089
127. अ.रा.पृ. 2/1091
128. अ.रा.पृ. 2/1092
129. अ.रा.पृ. 2/1092-93
130. अ.रा.पृ. 2/1091
131. अ.रा.पृ. 2/1093
132. तत्वार्थ सूत्र-7/12
133. अ.रा.पृ. 2/2737
134. शास्त्रवार्ता समुच्चय-9/4 पर टीका, पृ. 41
135. शास्त्रवार्ता समुच्चय-9/4 पर टीका, पृ. 43, 44, 359, 360
136. शास्त्रवार्ता समुच्चय-9/4 पर टीका, पृ. 43, 44, 359, 360; स्थानांग 3/3/171
137. शास्त्रवार्ता समुच्चय-9/4 पर टीका, पृ. 46, 47, अ.रा.पृ. 3/231
138. अ.रा.पृ. 5/407

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रज नष्ट हो जाती है। निर्वात स्थान में जैसे दीपक प्रज्वलित नहीं रहता वैसे ही मूर्च्छा रहित को समस्त जगत् अपरिग्रहरुप है; उसे मोक्ष प्राप्त करते क्षणमात्र देर नहीं लगती।[139]

आचार्यश्रीने अपरिग्रही मुनि का शब्द चित्र खिंचते हुए कहा है - "अपरिग्रही मुनि सुख-दुःख रहित, तपस्वी, क्षान्त-दान्त, त्यागी, धन्य, सर्वप्राणिमित्र, ममत्वरहित, अकिञ्चन, संसार संबंधी लोक व्यवहार से मुक्त, निर्लेप, सुविमल, निरञ्जन, वीतरागद्वेषमोह, गुप्तेन्द्रिय, सौम्य, दीप्ततेज, निश्चल, सर्वसहिष्णु, तेजस्वी, शीलवान्, समभावी, जात सामर्थ्य, शुद्ध हृदय, अप्रमत्त, निष्प्रकम्प, निरालम्ब, मोक्षसाधनैकदृष्टि, प्रतिबन्धरहित, अप्रतिहतविहारी, निर्भय, विद्वान् जितेन्द्रिय, परिषहजेता, निरतिचार संयम, निःकांक्षी, बुद्धिमान्, अक्षोभी, और उपशान्त होता है।[140]

जैन मुनि के श्वेतवस्त्र विधान का हेतु :-

सफेद रंग विकाररहितता, वीतरागता, निर्मलता, शांति, क्षमा, संतोष त्याग और परिष्कृत बोध का प्रतीक है। जैनदर्शन में इसे शुक्ल लेश्या कहते हैं। सफेद वस्त्र धारण करनेवालों की आत्मा में ये गुण प्रकट होते हैं, नेतृत्व क्षमता प्राप्त होती/बढती है, आत्म-शांति की वृद्धि होती है, विशिष्ट आरोग्य, ऊर्जा की प्राप्ति होती है। मुनि का जीवन शांतिमय, समतामय, साधनामय होता है। अतः मुनि के वस्त्र श्वेत (सफेद) होते हैं।[141]

सर्वथा रात्रि भोजन विरमण : षष्ठ महाव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि, "द्रव्य से अशन (आहार), पान, खादिम, स्वादिम (सौंठ, जीरा, लौंग इत्यादि तथा दवा की गोली), क्षेत्र से अर्थात् ढाई द्वीप में, काल से दिन (अँधेरे में या बिजली प्रकाश में) या रात्रि में और भाव से तिक्त, कटु, काषाय, खट्टा, मीठा या खारा पदार्थ या राग से अथवा द्वेष से मन-वचन-काय से सर्वथा रात्रि भोजन करुँगा नहीं, कराऊँगा नहीं, और करनेवालों की अनुमोदना करुँगा नहीं" - यह मुनि का सर्वथा रात्रि भोजन विरमण व्रत है[142] (रात्रिभोजनसंबंधी दोष एवं रात्रिभोजनत्याग से होनेवाले लाभ का वर्णन शोधप्रबंधक के प्रस्तुत अध्याय में श्रावकाचार के वर्णन में यथास्थान किया जायेगा)।

इसी प्रसंग में आचार्यश्रीने विशेषावश्यक भाष्य को उद्धृत करके यह स्पष्ट कर दिया है कि **रात्रिभोजनविरमण व्रत में जीवहिंसा का त्याग होता है, अतः अहिंसा पालन से समस्त व्रतों का पालन होने से तथा समस्त व्रतों का संरक्षण होने के कारण तथा इसके बिना व्रती मुनि के महाव्रत परिपूर्ण नहीं माने जाते, अतःरात्रिभोजनविरमण व्रत मूलगुण है।**[143]

महाव्रतों का माहात्म्य :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में जैनागमानुसार इन पाँचो महाव्रतों का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि "महाव्रतमय यह मुनिधर्म केवलिप्रकाशित, प्राणीमात्ररक्षक, सत्य से व्याप्त, विनयोत्पन्न, क्षमा से श्रेष्ठ, सुवर्णरजतालंकारादिरुप परिग्रहरहित, इन्द्रियमनोत्पन्न, नवविध ब्रहगुप्तियुक्त, पचन-पाचनादि आरम्भरहित, निर्दोषाजीविकादर्शी, संचयरहित, शीतोष्णादि में भी अग्न्यादिसंघट्टरहित, कर्मनाशक, मिथ्यात्वादिदोषनाशक, गुणग्राही, इन्द्रियविशुद्धिकारक, सर्वसावद्ययोगविरतिकारक, पञ्चमहाव्रतयुक्त, मोदकादि के संचयरहित, हठाग्रह, ममत्त्व इर्ष्यादि विसंवाद से रहित, संसार समुद्र से पार करानेवाला, स्वर्गादि सुख और मोक्ष सुखदायक, कल्याणकारी, सुखकारी, मोक्ष का कारण, सुखानुबन्धकारी, हितकारी हैं।[144]

महाव्रतों में दोष लगने का कारण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने मुनि के द्वारा महाव्रतों में दोष लगने के कारणों का विवरण करते हुए कहा है कि "पूर्व में अज्ञान, महाव्रतों को गुरुमुख से श्रवण नहीं करने से वास्तविक धर्मबोध नहीं होने से, तदनुसार आचरण नहीं होने से अथवा धर्म (महाव्रत, को अंगीकार करने पर भी मद्य, विषय, कषायादि प्रमादों से अज्ञानता (बालभाव) से, चित्त व्युकुलता या मोहाधीनता से, आलस्यादि से, द्यूतादि क्रीडा के कारण, ऋद्धि-रस-साता इन तीनों गारवों की गुरुता - अभिमान से, क्रोधादि चारों कषायों के उदय से, पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न आर्तध्यान से, कर्मों के भार से, और सातावेदनीय कर्मोदय से प्राप्त सुख भोगों की आसक्ति के कारण महाव्रत ग्रहण करने पर भी इनमें दोष लगने की संभावना रहती हैं।[145]

महाव्रत पालन से लाभ :-

आचार्यश्रीने कहा है कि "जिस प्रकार जंगल में आशीविष सर्प को नकली नागिन के द्वारा पकडा या वश किया जाता है, वैसे ही छट्ठ-अट्ठमादि तप, ध्यान, कायोत्सर्ग, रस (विगई घी आदि) त्याग, आदि के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके क्रोधादि कषायों के ऊपर विजय प्राप्ति की जाती हैं और इस प्रकार पञ्चमहाव्रत के पालन के द्वारा साधु मोक्ष प्राप्त करता हैं।[146] महाव्रतपालक अहिंसक मुनि के सान्निध्यमात्र से हिंसक प्राणी भी (आपसी या अन्य प्रकार के समस्त) वैर का त्याग करते हैं। सत्यवक्ता को बिना किये भी सभी योग (यज्ञादि पूजन पाठ) आदि का फल प्राप्त होता है, वचनसिद्धि प्राप्त होती हैं। अचौर्य व्रतधारी की संपत्ति कोई ले नहीं सकता, उसे सभी दिशाओं के रत्न प्राप्त होते हैं। उसको भूमि आदि में गडा हुआ गुप्त धन प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ (वीर्य रक्षा भी) होती है और वीर्य के ऊर्ध्वगमन से शरीर-इन्द्रिय-मन का विशिष्ट विकास होने से विशिष्ट ज्ञान, लब्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अपरिग्रही को शांति-संतोष, अहिंसा पालन होता है। अतः अहिंसापालन, आत्महित और मोक्ष की प्राप्ति हेतु महाव्रतों का पालन करना चाहिए।[147]

जैनागमों में मुनि को इन पाँच महाव्रतों की सुरक्षा हेतु सतत इन पाँचो महाव्रतों की पच्चीस-प्रत्येक की पाँच-पाँच) भावनाओं को मन में चिन्तन कर मन को इन भावनाओं से भवित करने को कहा गया है। आचार्यश्री ने लिखा है -

प्राणातिपातादि की निवृत्ति रुप महाव्रतों की दृढता के लिए मुनि को बार-बार इन भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए, क्योंक भावनाओं के अनभ्यास से महाव्रत मलीन होते हैं। ये भावनाएँ इस प्रकार है-

---

139. अ.रा.पृ. 5/556; ज्ञानसार-25 अष्टक
140. अ.रा.पृ. 5/561, 562; प्रश्न व्याकरण-5/10, 11, 12 - संवर द्वार
141. जैनाचार विज्ञान, पृ. 22
142. अ.रा.पृ. 6/541, 5/294
143. अ.रा.पृ. 6/541; विशेषावश्यक-1242, 1243
144. अ.रा.पृ. 5/287 से 295
145. वही
146. अ.रा.पृ. 5/265, 266, 267
147. अ.रा.पृ. 6/181, 182; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-21/6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाव्रतों के रक्षार्थ भावनाएँ

प्रथम महाव्रत रक्षार्थ पाँच भावनाएँ :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'सर्वथा प्राणातिपातविरमण व्रत' की रक्षा के लिए पाँच भावनाओं का वर्णन करते हुए प्रश्नव्याकरणांग और आचाराङ्ग; दोनों ही अंगसूत्र के पाठों को उद्धृत किया गया है।[148] प्रश्नव्याकरणांग के अनुसार प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ निम्नानुसार हैं[149]-

1. **ईर्यासमिति का पालन**
2. **मनःसमिति का पालन**
3. **वचनसमिति (भाषा समिति) का पालन**
4. **शुद्धाहारगवेषणा-एषणासमिति का पालन**
5. **आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति का पालन।**

आचारांग में कुछ भिन्न प्रकार से वर्णन प्राप्त होता है, यथा - 1. ईयासमितिपालन 2. मनोदुष्प्रणिधान त्याग 3. सावद्यवचन का त्याग 4. आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति 5. आलोकितपान भोजन।[150]

चारित्र पाहुड में 1. वचन गुप्ति 2. मनोगुप्ति 3. ईर्यासमिति 4. आदान निक्षेपण समिति और 5. एषणासमिति। - इन प्रवचनमाताओं को ही प्रथम महाव्रत की पाँच भावना के रुप में वर्णित किया गया है।[151]

द्वितीय महाव्रत रक्षार्थ पाँच भावनाएँ :-

आचार्यश्रीने सत्य महाव्रत/सर्वथा मृषावाद विरमण व्रत की रक्षा हेतु पाँच भावनाओं का वर्णन करते हुए निम्नांकित निर्देशों का उल्लेख किया है[152]-

1. अनुवीचि भाषण -

वाणी विवेक अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से संयम-विवेक युक्त सत्य वचन बोलना।

2. क्रोध त्याग -

क्रोध-द्वेषादि से असत्य, अप्रिय, परपीडाकारी वचन का त्याग करना।

3. लोभ त्याग -

लोभी होकर द्रव्यादि के लोभ से झूठ नहीं बोलना।

4. भय त्याग -

भय से असत्य नहीं बोलना

5. हास्य त्याग -

मस्ती-मजाक में हँसी से भी कपटयुक्त, असंबद्ध वचन, परपरिवाद, परनिंदा, परपीडाकारक, गुप्तबात प्रकट करनेवाले, हिंसाजनक, संयमनाशक वचन नहीं बोलना।

तृतीय महाव्रत रक्षार्थ पाँच भावनाएँ :-

1. **विविक्त वसति वास** - (निर्दोष वसति में रहना) मुनि के द्वारा देवकुल, सभा, प्याऊ, परिव्राजकादि के आश्रम, वृक्षमूल, उद्यान, गुफा, रथशाला कुपितशाला (भाण्डागार), श्मशान, पर्वतगृह, उपाश्रयादि स्त्री-पशु-नपुंसक रहित, अचित्त निर्दोष स्थान में निवास करना 'विविक्त वसति वास' नामक प्रथम भावना है।[153]
2. **अनुज्ञातसंस्तारक ग्रहण** - (उपाश्रय में उपलब्ध वस्तुओं की भी अनुज्ञा लेना) अर्थात् मुनि जिस वसति या उपाश्रय में ठहरने हेतु उसके स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करें, उससे उपाश्रय में रहें वहाँ पर रखे हुए पाट, पाटिया, संथारा, तृण, भस्मादि का उपयोग करने हेतु पुनः आज्ञा प्राप्त करें। यदि आज्ञा प्राप्त हो तो ही उन्हें उपयोग में ले सकते हैं, अन्यथा नहीं। और यह आज्ञा प्रतिदिन पुनः पुनः लेनी चाहिए।[154]
3. **शय्या परिकर्मवर्जन** - पाट-पटिये, शय्या, संथारा हेतु वृक्षादि के छेदन-भेदन नहीं कराना। जिस आश्रय में मुनि निवास करें वहाँ जैसी शय्या मिले उसमें राग-द्वेष न करें। पवनादि हेतु उत्सुक न हो। दंश-मशकादि से क्षुब्ध न हों, धुआँदि न करावें और संयम, संवर एवं समाधि में (समभाव में) स्थिर रहकर अध्यात्म में चित्त स्थिर करें।[155]
4. **अनुज्ञापित भोजन ग्रहण** - मुनि के द्वारा तृण, भस्म, दोषरहित आहार, जल, उपधि, वस्त्र-पात्र, शय्या, वसति आदि भी प्रमाणोपेत और स्वामी की आज्ञा प्राप्त करके ही ग्रहण करना।[156]
5. **साधर्मिक विनय** - केवल उपवासादि ही तप नहीं है; विनय भी तप हैं अतः साधर्मिक का अर्थात् साधु को साधु का विनय करना चाहिए। अपने द्वारा लाये अन्नादि या अपने पास रहने वाले उपधि एवं उपकरणादि साधर्मी साधु को देना; ज्ञानाभ्यासी को सुखसाता पूछना, यथायोग्य वंदनादि करना, सूत्रार्थ पूछना-श्रवण करना, उपाश्रयादि में प्रवेश करते समय निसीहि एवं निष्क्रमण करते समय आवस्सिहि बोलना, ग्लान, तपस्वी, इत्यादि साधुओं की सेवा करना, उनसे कलह-कर्मबंध नहीं करना इत्यादि 'साधर्मिक विनय भावना' कहलाती है।[157]

चारित्र पाहुड में तृतीय महाव्रत की शून्यागार, विमोचितवास, परोपरोध, एषणाशुद्धि और साधर्मियों से विसंवाद नहीं करना - ये पाँच भावनाएँ बतायी गयी हैं।[158]

चतुर्थ महाव्रत रक्षार्थ पाँच भावनाएँ[159] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने चतुर्थ महाव्रत के रक्षणार्थ पाँच भावनाएँ दर्शायी गयी हैं -

1. **स्त्री संक्ताश्रयवर्जन** - स्त्रीसंसक्त शय्या, आसन, गृह, आँगन, आकाश (खुली जगह), गवाक्ष, आश्रय, वसति, उपाश्रय, उद्यान, मण्डप, वेश्यायतन (उसकी गली में से आवागमन भी निषिद्ध हैं), श्रृंगार भवन, मनोविभ्रम उत्पादक कोई भी स्थान, आर्त-

148. अ.रा.पृ. 1/874 से 877
149. प्रश्नव्याकरणाङ्ग-1 संवर द्वार
150. आचारांग-2/3
151. चारित्र पाहुड-32
152. अ.रा.पृ. 1/330-31-32; प्रश्न व्याकरण-2 संवर द्वार
153. अ.रा.पृ. 1/543-544; प्रश्न व्याकरण-3 संवर द्वार
154. अ.रा.पृ. 5/544; प्रश्न व्याकरण-3 संवर द्वार
155. अ.रा.पृ. 5/545; प्रश्न व्याकरण-3 संवर द्वार
156. अ.रा.पृ. 5/545; प्रश्न व्याकरण-3 संवर द्वार
157. वही
158. चारित्र पाहुड-34
159. प्रश्न व्याकरण-4 संवर द्वार; अ.रा.पृ. 5/1263 से 1266

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रौद्रध्यानजनक स्थान को भवभीरु, पापभीरु ब्रह्मचारी मुनि त्याग करें।

2. **स्त्रीजनमध्य में कथादि वर्जन** - साधु को स्त्रियों की पर्षदा में इष्टार्थ अर्थात् हास्य-रुप-श्रृंगारयुक्त, मोहजनक, विलासयुक्त, गर्वयुक्त, अनादरकारी कथा नहीं कहना चाहिए।
3. **स्त्रीरुपनिरीक्षण वर्जन** - स्त्रियों के हास्य, कथा, विकारचेष्टा, हस्तन्यासादि, गति विलास, क्रीडा, नृत्य, नाटक, लावण्य, रुपाकृति, वस्त्रालङ्कार, विभूषा अङ्गोपाङ्गादि का निरीक्षण नहीं करना चाहिए।
4. **पूर्वकृत क्रीडादि स्मरण वर्जन** - पूर्व में गृहस्थ जीवन में गृहस्थावास में की गई क्रीडादि, पूत्रादि के विवाहादि, मुण्डन-संस्कारादि, इन्द्र-महोत्सवादि तथा अन्य भी श्रृंगाररसयुक्त किसी भी घटना का सम्मरण नहीं करना।
5. **प्रणीत भोजन वर्जन** - साधु नियम से ही मधु (शहद), मक्खन, मांस, मदिरा - इन चार का तो यावज्जीव त्यागी ही होता है। और घी, दूध, दहीं, तेल, गुड-शक्कर, पक्वान्न आदि भी अत्यधिक मात्रा में नहीं लेता, साथ ही आहार में ये छः विगईयाँ भी एक साथ नहीं लेना चाहिए तथा दिन में भी बार-बार भोजन नहीं करना।

आचारांग में ये भावनाएँ निम्नानुसार हैं[160]-

1. स्त्री कथा का त्याग
2. मनोहर इन्द्रियादि आलोकन त्याग
3. पूर्वकृत क्रीडादि स्मरण त्याग
4. प्रमाणातिरिक्ताहार व प्रणीत भोजन त्याग
5. स्त्री-पशु-नपुंसकसंसक्त शयानादि त्याग।

पञ्चम महाव्रत रक्षार्थ पाँच भावनाएँ[161] -

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रश्न व्याकरणांग और आचारांग के अनुसार तथा चारित्र पाहुड के अनुसार मुनि की पञ्चम महाव्रत की रक्षा करनेवाली पाँच भावनाएँ हैं इस प्रकार हैं - मुनि के द्वारा पाँचों इन्द्रिय संबंधी मनोज्ञ-अमनोज्ञ किसी भी प्रकार के प्राप्त होनेवाले या न होनेवाले 1. शब्द 2. रुप 3. गंध 4. रस एवं 5. स्पर्श, दोनों ही स्थितियों में राग-द्वेष रोष, आकांक्षा, मोह, प्राप्ति, लोभ, तोष, हास्य, स्मृति, आक्रोश, अपमान, तर्जना, कोप, रुदन, करुणा, निन्दा, द्रव्यनाश, वध, जुगुप्सा, आदि कुछ भी नहीं करना, नहीं कराना, करनेवालों की अनुमोदन नहीं करना।

सद्भावनाओं का फल :-

ये महाव्रत संबंधी 25 भावनाएँ और अनित्यादि बारह भावनाएँ आत्मा को भावित करने योग्य हैं। इन सद्भावनाओं से भावित शुद्ध आत्मा (अन्तरात्मा) चारित्रवान् जीवरुप जहाज संसाररुप समुद्र में सदागम (जैनागम) के श्रवण से अधिष्ठित होकर तपरुप अनुकूल पवन के द्वारा सर्वद्वन्द्व (समस्या) को दूरकर सर्वदुःखरुप संसार से पार होकर मोक्षरुपी तीर को प्राप्त करता है।[162]

160. अ.रा.पृ. 5/1262 से 1265; आचारांग-2/3
161. अ.रा.पृ. 5/562 से 5/567; प्रश्न व्याकरण-पञ्चम संवर द्वार; आचारांग-2/3; चारित्र पाहुड-36
162. अ.रा.भा. 5/1515; उत्तराध्ययन-19 अध्ययन; आचारांग-1/1/1, 2/15; सूत्रकृताङ्ग-1, श्रुत स्कंध, 15 वाँ अध्ययन

सत्सङ्गति

पुष्णाति गुणं मुष्णा - ति दूषणं सन्मतं प्रबोधयति ।
शोधयते पापरजः, सत्सङ्गतिरङ्गिनां सततम् ॥1॥
सद्यः फलन्ति कामाः, वामाः कामा भयाय न यतन्ते ।
न भवति भवभीतितति - र्जिनपतिनतिमतिमतः पुंसः ॥2॥
गुरुसेवाकरणपरो, नरो न रोगैरभिद्रुतो भवति ।
ज्ञानसुदर्शनचरणौ - राद्रियते सद्गुणगुणैश्च ॥3॥
प्रौढस्फूर्त्तिर्निरुपम - मूर्त्तिः शरदिन्दुकुन्दसमकीर्त्ति ।
भवति शिवसौख्यभागी, सदा दयाऽलंकृतः पुरुषः ॥4॥
जलमिव दहनं स्थलमिव, जलधिर्मृग इव मृगाधिपस्तस्य ।
इह भवति येन सततं, निजशक्त्या तप्यते सुतपः ॥5॥
तं परिहरति भवार्त्तिः, स्पृहयति सुगतिर्विमुञ्चते कुगतिः ।
यः पात्रशाच्च कुरुते, निजकं न्यायार्जितं वित्तम् ॥6॥

- अ.रा.पृ. 5/1584

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चाचार

जब तीर्थंकर परमात्मा धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं; तब सर्वप्रथम वे आचार मार्ग का उपदेश देते हैं[1], क्योंकि **आचार ही परम और चरम कल्याण का साधकतम हेतु हैं**[2]।

जिसका आचरण किया जाये उसे 'आचार' कहते हैं। 'आचार' की विस्तृत परिभाषा पूर्व में बताई जा चुकी है अत: यहाँ इस विषय में पिष्टपेषण नहीं करते हुए यहाँ 'आचार' के भेद-प्रभेद की चर्चा करते हुए पञ्चाचार का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। आचार के भेद-प्रभेदों को बताते हुए आचार्यश्रीने आचार दो प्रकार से बताया है[3]-

(1) **द्रव्याचार** - गुण पर्याययुक्त द्रव्य का पर्यायान्तर को प्राप्त करना 'द्रव्याचार' है।

(2) **भावाचार** - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्यचार - ये पाँच भावाचार हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में और जैनागम ग्रंथो में भी कहीं पहले दर्शनाचार का तो कहीं पहले ज्ञानाचार का कथन किया गया हैं। इसका कारण केवलज्ञानी को प्रथम केवलदर्शन और तत्पश्चात् युगपत् केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उस अपेक्षा से कहीं दर्शनाचार को पहले कहा है, और संसारी जीव को चाहे विशिष्ट ज्ञान हो या न हो, सामान्य ज्ञान होने पर ही श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन होता हैं; इस अपेक्षा से कहीं पर ज्ञानाचार का कथन पहले किया गया है। वस्तुत: उसमें कोई तात्त्विक भेद नहीं हैं।[4]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने आचार के भेदों का स्थानांग सूत्रोक्त संबन्ध बताते हुए कहा है कि आचार दो प्रकार का है-

ज्ञानाचार और नो ज्ञानाचार; नोज्ञानाचार के दो भेद हैं - दर्शनाचार और नोदर्शनाचार; नोदर्शनाचार के दो भेद हैं - चारित्राचार और नो चारित्राचार; नो चारित्राचार के दो भेद हैं - तप आचार और वीर्याचार[5]। इस प्रकार आचार के ये पाँचो भेद आपस में एक-दूसरे से संबंधित हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में इन आचार-प्रभेदों का वर्णन करते हुए ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ, तप आचार के बारह और वीर्याचार के छत्तीस भेद बताये हैं।[6]

1. ज्ञानाचार :-

प्रथम आचार है ज्ञानाचार। सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारणभूत श्रुतज्ञान की आराधना करना ज्ञानाचार है। अर्थात् नये ज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिए जो आचरण आवश्यक हैं, उसे ज्ञानाचार कहते हैं।[7] परमात्मप्रकाश के अनुसार "निजस्वरुप में, संशय-विमोह विभ्रमरहित जो स्वसंवेदना ज्ञानरुप ग्राहकबुद्धि सम्यग्ज्ञान हुआ, उसका आचरण ज्ञानाचार है।[8] स्थूल दृष्टि से इसके आठ भेद हैं[9]-

(क) कालाचार (ख) विनयाचार (ग) बहुमानाचार
(घ) उपधानाचार (ङ) अनिह्नवाचार (च) व्यंजनाचार
(छ) अर्थाचार (ज) तदुभयाचार।

(क) **कालाचार** - स्वसमुत्थ (आत्मोत्पन्न) और परसमुत्थ (अन्योत्पन्न) अस्वाध्यायकाल का त्याग कर स्वाध्यायकाल अर्थात् शास्त्रपढने योग्य काल में सूत्रादि का अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्यायादि करना 'कालाचार' नामक ज्ञानाचार हैं।[10]

(ख) **विनयाचार** - मतिज्ञानादि पाँचों प्रकार के ज्ञान और ज्ञानी कीआशातना का त्याग, भक्ति, बहुमान और प्रशंसा (सद्भूत गुणोत्कीर्तना) विनय (विनयाचार) नामक ज्ञानाचार हैं।[11]

(ग) **बहुमानाचार** - अन्तरात्मा की प्रीति, चित्त के प्रमोदभाव पूर्वक गुणानुराग एवं गुणपक्षपात के साथ ज्ञान और ज्ञानी का विविधप्रकार से भक्ति सहित सम्मान करना 'बहुमान' नामक ज्ञानाचार है।[12] इससे गुरु द्वारा अल्पसूत्रपाठ अध्यापन कराने पर भी अधिक ज्ञानलाभरुप फल होता है।

(घ) **उपधानाचार** - साधु-साध्वी के द्वारा अङ्ग-उपाङ्गादि सिद्धांतो (जैनागम ग्रंथों) को पढने के लिए आयंबिल, उपवास अथवा निवी(एक प्रकार का तप) आदि के तपपूर्वक गुरु (आचार्य) के समीपसूत्रों के योगोद्वहन की क्रिया करना[13] या गृहस्थ के द्वारा श्री पञ्चमङ्गल महाश्रुतस्कंध (नमस्कार महामंत्र) आदि आवश्यक सूत्रों की उपवासादि तप पूर्वक उपधान तप आराधना करना 'उपधान' नामक ज्ञानाचार है। सम्यक् प्रकार से उपधान तप की आराधना से आराधक 'निर्वाण' (मोक्ष) प्राप्त करता है।[14]

(ङ) **अनिह्नवाचार** - श्रुतदाता गुरु एवं पठितश्रुत का अपलाप/निंदा न करना, या किसी के पूछने पर जिनसे वह ज्ञान अर्जित किया हो, उन्हीं का नाम बताना - यह 'अनिह्नव' नामक ज्ञानाचार है।[15]

(च) **व्यंजनाचार** - जो सूत्रों के अभिप्राय को प्रगट करते हैं, उन्हें व्यंजन कहते हैं। तीर्थंकर प्रणीत प्राकृत भाषा के सूत्रों के बिन्दु, अक्षर, पद आदि में परिवर्तन नहीं करना या प्राकृत

1. आचारां निर्युक्ति-8
2. अ.रा.पृ. 2/376,, 389
3. अ.रा.पृ. 2/369, 330, 368; विशेषावश्यक भाष्य-3/93;
4. अ.रा.पृ. 2/368, 369
5. अ.रा.पृ. 2/369, स्थानांग-2 ठाणां
6. अ.रा.पृ. 2/369
7. ज्ञानं श्रुतज्ञानं तद्विषय आचार:। श्रुतज्ञानविषये कालाध्ययनविनयाध्यापनऽऽदिरुपे व्यवहारे। अ.रा.पृ. 4/1994
8. परमात्मा प्रकाश - 7/13
9. अ.रा.पृ. 4/1994, 4/2211; मूलाचार-269
10. अ.रा.पृ. 3/496, 497; निशीथ चूर्णि-1/9 से 12
11. अ.रा.पृ. 6/1153; निशीथ चूर्णि 1/9 से 12
12. अ.रा.पृ. 5/1303, 1304; निशीथ चूर्णि 1/14
13. अ.रा.पृ. 2/1076; उत्तराध्ययनसूत्र-11 अध्ययन; आचारांग-1/9/1
14. अ.रा.पृ. 2/1080; सेन प्रश्न-3/186
15. अ.रा.पृ. 1/333, 334; निशीथ चूर्णि 1/16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रों को संस्कृत में परिवर्तित नहीं करना 'व्यंजनाचार' नामक ज्ञानाचार है। व्यंजनों (उच्चरित ध्वनियों) के परिवर्तन से सूत्रों के पदों की निर्युक्ति में परिवर्तिन हो जाने से उनका अर्थ बदल जाता है; जिससे अर्थ में भेद हो जाने से चारित्रभेद, चारित्रभेद से अमोक्ष और अमोक्ष से दीक्षादि क्रिया की निष्फलता होती है। इसलिए सूत्र के किसी भी अक्षर, बिन्दु या पद का कभी भी परिवर्तन नहीं करना चाहिए। यह 'व्यंजनाचार' है, इसका अनिवार्य रुप से पालन करना चाहिए।[16]

(छ) **अर्थाचार** - 'सूत्र' के अभिप्राय या तात्पर्य को 'अर्थ' कहते हैं।[17] सूत्रोक्त बिन्दु, अक्षर, पद आदि का सूत्रों के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ नहीं करना 'अर्थाचार' है। सर्वप्रथम तीर्थंकर अर्थ की देशना देते हैं, तत्पश्चात् उसी के आधार पण गणधर अंतर्मुहूर्त में सूत्र की रचना करते हैं। अत: अर्थ मुख्य है, क्योंकि कुल-गण-संघ-समिति के विषय में तथा समाचारी (आचारनियम) प्ररुपणा में सूत्रधर से अर्थधर प्रमाण माना जाता है। अत: अर्थ के बिना सूत्र अनाश्रित (आधार रहित) हो जाते हैं, इसलिए सूत्रविरुद्ध अर्थ की प्ररुपणा नहीं करनी चाहिए; अर्थभेद नहीं करना चाहिए।[18]

(ज) **व्यञ्जनार्थतदुभयाचार** - तीर्थकरप्रणीत सूत्र और अर्थ दोनों के अक्षर, बिन्दु या पद में परिवर्तन/भेद नहीं करना 'व्यञ्जनार्थतदुभयाचार' है। इससे उपरोक्त दोषोत्पत्ति होने से प्रवचन निरर्थक सिद्ध होने पर दीक्षादि क्रिया निष्फल हो जाने की स्थिति में शासनमालिन्य का प्रसङ्ग आता है। अत: इससे बचने हेतु आठें प्रकार के ज्ञानाचार का पालन करना चाहिए।[19]

2. दर्शनाचार :-

दर्शनाचार को सम्यक्त्वाचार भी कहते हैं। 'दर्शन' अर्थात् सम्यक्त्व। नि:शंकितादिरुप से सम्यक्त्व की शुद्ध आराधना करना 'दर्शनाचार' है।[20] इसके भी आठ भेद हैं- (क) नि:शंकित (ख) नि:कांक्षित (ग) निर्विचिकित्सा (घ) अमूढदृष्टि (ङ) उपबृंहण (च) स्थिरीकरण (छ)वात्सल्य और (ज) प्रभावना।[21] अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने इन आठों प्रकार के दर्शनाचार का वर्णन निम्नानुसार किया है[22]-

(क) **नि:शंकित** - 'नि:शंकित' का अर्थ है शंका के अभाव से युक्त।[23] अत: 'शंका' को समझना आवश्यक है। अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार 'संशय करना', 'शंका' है।[24] श्री जिनेश्वरप्रणीत धर्मास्तिकायादि पदार्थों और जीवादि तत्त्वों का मतिदौर्बल्य (बुद्धिमान्द्य) के कारण सम्यक् प्रकार से अवधारण नहीं करने से 'क्या यह एसा है ?' या 'एसा है या नहीं ?' एसा संशय करना 'शंका' हैं।[25] यह 'शंका' दो प्रकार से हो सकती है-

1. **देशशंका** - किसी विषय में अंशत: भी शंका करना। जैसे - समान होने पर भी जीवों में भव्य और अभव्य भेद कैसे हो सकते हैं ? -यह देशशंका हैं।
2. **सर्वशंका** - समस्त द्वादशाङ्ग गणिपिटक प्राकृत भाषा में ही बना है, अथवा किसी कुशल व्यक्ति द्वारा कल्पित है, इस प्रकार की शङ्का 'सर्वशंका' हैं।[26]

इस प्रकार की शङ्का न करना 'निशङ्कित' दर्शनाचार है। भव्यात्मा को एसी शंका से बचना चाहिए क्योंकि 'जिनप्रणीत' सूत्र के एक अक्षर में भी शंका करने से जीव मिथ्यादृष्टि होता है; इसमें जिनवचन ही हमारे लिए प्रमाण है।[27] अत: नि:शङ्कित दर्शनाचार का पालन करना चाहिए।

(ख) **निष्कांक्षित** - अर्थात् 'कांक्षारहित होना' - 'कांक्षा' का लक्षण बताते हुए निशीथ सूत्र में कहा है - "**कंखा अण्णोण्णदंसणग्गहो**" अर्थात् अन्य-अन्य दर्शनों की अभिलाषा करना।[28] अन्य दर्शनों में क्षमा, अहिंसा आदि धर्मों के अंशमात्र दर्शन से मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने से अन्यान्य दर्शन ग्रहण करने का जीव का परिणाम 'कांक्षा' है।[29] वह दो प्रकार से है[30]-

1. **देश कांक्षा** - अन्य सौगत (बौद्ध) आदि एक ही दर्शन की अभिलाषा करना।
2. **सर्वकांक्षा** - सभी धर्मों में अहिंसादि धर्मों का प्रतिपादन किया गया है, अत: सभी दर्शन समान हैं, एसा मानकर सभी धर्मों को ग्रहण करना या धर्म के फल के रुप में ऐहिक (इहलौकिक) आमुष्मिक (पारलौकिक) फलों की कांक्षा करना'सर्वकांक्षा' हैं।

यहाँ कांक्षा के गृद्धि, आसक्ति, स्त्री आदि की अभिलाषा करना, तीव्राभिलाषा, भोगेच्छा आदि अर्थ भी बताये गये हैं।[31] इन कांक्षाओं से रहित होना -'नि:कांक्षिताचार' हैं।

(ग) **निर्विचिकित्सा** - विचिकित्सा रहित होना 'निर्विचिकित्सा' कहलाता है। चित्तविप्लव अर्थात् मतिभ्रम, आशंङ्का या धर्मफल में भ्रमयुक्त शङ्का करना।[32] विचिकित्सा का लक्षण बताते हुए कहा है - **संतम्मि वि वितिगिच्छा, सज्झेज्ज ण मे अयं अट्ठो**'[33] - यह कार्य होगा या नहीं ? अथवा प्रत्यक्ष में यह एसा है; परोक्ष में इस तप-संयम-परिषहादि का फल मिलेगा या नहीं ? यह 'विचिकित्सा' है। साधु के मलमलिन वस्त्र, पात्र, उपकरणादि देखकर निंदा, गर्हा या दुर्गछा करना - दूसरे प्रकार की विचिकित्सा है।[34] यह दो प्रकार से है -

16. अ.रा.पृ. 6/797; निशीथ चूर्णि 1/17, 18
17. अ.रा.पृ. 1/506; स्थानांग-2/1
18. अ.रा.पृ. 4/1995; निशीथ चूर्णि 1/22
19. अ.रा.पृ. 6/766; निशीथ चूर्णि 1/20
20. अ.रा.पृ. 4/2436
21. अ.रा.पृ. 4/2436; उत्तराध्ययन-28/31; प्रज्ञापना सूत्र-132; निशीथ सूत्र-1/23; मूलाचार-200-201; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ 1/240
22. अ.रा.पृ. 4/2436
23. अ.रा.पृ. 4/2436
24. अ.रा.पृ. 4/2436; निशीथ चूर्णि-1/24
25. अ.रा.पृ. 7/35;
26. अ.रा.पृ. 7/35-36
27. अ.रा.पृ. 7/35
28. अ.रा.पृ. 3/164; निशीथ सूत्र-1/24
29. अ.रा.पृ. 3/164; भगवती सूत्र-1/1
30. अ.रा.पृ. 3/164;
31. अ.रा.पृ. 3/164; सूत्रकृताङ्ग-1/15;
32. अ.रा.पृ. 6/1190
33. अ.रा.पृ. 6/1190; निशीथ सूत्र-1/24
34. अ.रा.पृ. 6/1190

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. समिति (धृणा) - गुप्ति आदि के पालन का फल मिलेगा या नहीं ? ऐसी विचिकित्सा देशविचिकित्सा है। 2. चरण-करणरुप ब्रह्मचर्य, परिषहजय, उपसर्गसहन आदि समस्त धर्माचरण का फल मिलेगा या नहीं ? आदि चित्तभ्रम 'सर्वविचिकित्सा' हैं[35]।

(घ) **अमूढदृष्टि** - अन्य धर्मी, कुतीर्थिकों की अनेक प्रकार की ऋद्धि, पूजा, समृद्धि, वैभव आदि देखने पर भी आकर्षित नहीं होना, अमूढदृष्टि 'दर्शनाचार' हैं।[36]

(ङ) **उपबृंहण** - तपस्वी की वैयावृत्त्य (सेवा) करना तथा अन्य (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकादि) को तप, विनय, स्वाध्यायादि सद्गुणों से युक्त देखकर उनकी प्रशंसा करना, 'उपबृंहण' दर्शनाचार है।[37]

(च) **स्थिरीकरण**-रोगादि कारण से या प्रमादवश या अज्ञानवश जो साधु संयम में शिथिल हो रहा हो, उसे वचनादि से प्रेरणा देकर संयम में स्थिर करना 'स्थिरीकरण' कहलाता हैं।[38] उपलक्षण से धर्माराधना में या धर्मश्रद्धा में अस्थिर श्रावक-श्राविका में धर्म के प्रति दृढ श्रद्धा उत्पन्न करना भी 'स्थिरीकरण' हैं।

(छ) **वात्सल्य** - आचार्य, ग्लान (रोगी) प्राघुणक (विहार कर आये हुए), बाल, तपस्वी, नवदीक्षित वृद्धादि साधु की साधु के द्वारा आहार, पानी, उपधि आदि से भक्ति करना; उन्हें समाधि उत्पन्न करना 'वात्सल्य' कहलाता है।श्रावकों के द्वारा चतुर्विध संघ की आहार-पानी आदि के द्वारा भक्ति करना या साधर्मिक की भक्ति करना भी वात्सल्य दर्शनाचार हैं।[39]

(ज) **प्रभावना** - धर्मकथा, प्रतिवादी के ऊपर विजय प्राप्ति, उग्र तप, प्रवचन, विशिष्ट लब्धि आदि के द्वारा सर्व प्रकार से प्रयत्नपूर्वक जिन शासन की उन्नति हो, एसे कार्य करना 'प्रभावना' नामक दर्शनाचार हैं।

यद्यपि जिनशासन/प्रवचन शाश्वत होने से तीर्थंकर भाषित होने से या सुरासुरनमस्कृत होने से स्वयं ही दीप्तिमान है, तथापि दर्शनशुद्धि का इच्छुक आत्मा स्वयं जो विशिष्टगुण होता है, वह आर्य वज्रस्वामी के समान शासन प्रभावना करता है। क्योंकि शासन की मलिनता से धर्म की हानि, निंदा आदि होने से वह मिथ्यात्व का हेतु है जो संसारभ्रमण का कारण, पाप का साधन, घोर कर्मविपाक युक्त और सर्व अनर्थो की वृद्धि करानेवाला है। जबकि **शासनोन्नत्ति हेतु किया गया यथाशक्ति प्रयत्न सम्यक्त्व का हेतु, सर्वसुखों का निमित्त, मोक्षसुखदाता, तीर्थंकर नामकर्म बंध का और सर्व संपत्तियों का कारण हैं।**[40]

3. चारित्राचार :-

तीसरा आचार है चारित्राचार।आठ प्रकार के कर्मो के समूह को जो रिक्त बनाये उसे चारित्र अथवा सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति को चारित्र कहा गया है।[41] यह चारित्राचार पञ्चसमिति और त्रिगुप्ति रुप है। चारित्र के पाँच प्रकार बताये गये हैं - (1) सामायिक चारित्र (2) छेदोपस्थापनीय चारित्र (3) परिहार विशुद्धि चारित्र (4) सूक्ष्मसंपराय चारित्र और (5) यथाख्यात चारित्र।[42]

इन पाँचो चारित्रों में समिति और गुप्ति का पालन अनिवार्य है। इसलिए समिति-गुप्ति के पालन को ही 'चारित्राचार' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसके आठ भेद हैं[43] - (1) ईर्या समिति (2) भाषा समिति (3) एषणा समिति (4) आदानभाण्डनिक्षेपणा समिति (5) उच्चारप्रस्रवण खेलजल्लसिंघाण पारिष्ठापनिका समिति (6) मनो गुप्ति (7) वचन गुप्ति (8) काय गुप्ति।

4. तपाचार[44] :-

चौथा आचार है तपाचार। इच्छानिरोधरुप अनशनादि बारह प्रकार के तप का सेवन करना तपाचार है। तपाचार के बारह भेद बतलाये गये हैं। छः प्रकार का बाह्य तप और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप[45]। अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश व प्रतिसंलीनता - ये बाह्य तपाचार है[46], जबकि प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान - ये आभ्यन्तर तपाचार है[47]।

5. वीर्याचार[48] :-

पाँचवाँ आचार है वीर्याचार। वीर्य इति वीर्याचारः। 'वीरियं णाम शक्ति।' - वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति। अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए उपर्युक्त चारों आचारों के छत्तीस भेदों के पालन में आत्मशक्ति का उपयोग करना यह वीर्याचार है। इसके छत्तीस भेद हैं। ज्ञानाचार के आठ भेद, दर्शनाचार के आठ भेद, चारित्राचार के आठ भेद और तप आचार के बारह भेद, ये सब मिलकर वीर्याचार के छत्तीस भेद कहे गये हैं। पाँच आचारों के प्रत्येक भेद-प्रभेद पर विस्तृत विवेचना अभिधान राजेन्द्र कोश में यथास्थान व्यवस्थित रुप से तत्तत् शब्द पर की गयी हैं।

आचार के दोष :-

लोक में 'सदाचार' और 'दुराचार' -इन दो शब्दों का प्रचुर प्रयोग देखा जाता हैं। यहाँ 'आचार' का तात्पर्य सदाचार वर्ग के आचरण से है, किन्तु फिर भी यहाँ पर प्रयुक्त 'आचार' शब्द दार्शनिक दृष्टि से भी निश्चित अर्थ का व्यञ्जक है। इस आचरण में दोष लगने पर दोषों के गाम्भीर्य के अनुसार उनका वर्गीकरण किया गया है, यथा- अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। अभिधान राजेन्द्र कोश में ये चारों दोषों का उलेख आहार सम्बन्धी दोषों के विवरण आया है। किन्तु ये केवल आहार में ही नहीं, अपितु अन्यत्र भी हो सकते हैं, अतः इनका परिहार आवश्यक है। दोषों को जाने बिना उनका परिहार भी नहीं हो सकता, अतः दोषों को जानना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि गुणों को। अभिधान राजेन्द्र कोश में

35. अ.रा.पृ. 6/1190
36. अ.रा.पृ. 1/748; निशीथ सूत्र-1/26
37. अ.रा.पृ. 2/1011; निशीथ सूत्र-1/27; उत्तराध्ययन-अध्ययन-28
38. अ.रा.पृ. 4/2411, 2436; निशीथ सूत्र-1/28
39. अ.रा.पृ. 6/796; उत्तराध्ययन-28 अध्ययन; निशीथ चूर्णि-1/29
40. अ.रा.पृ. 5/438, 439; हारिभद्रीय अष्ट-23; निशीथ चूर्णि--1/31;
41. अ.रा.पृ. 3/1141
42. अ.रा.पृ. 3/1152
43. अ.रा.पृ. 3/1150, 5/786; मूलाचार-288, 297; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/240
44. अ.रा.पृ. 3/2207; मूलाचार-345, 346, 360; परमात्मप्रकाश टीका-7/13; द्रव्यसंग्रह टीका-52/219; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/240, 241
45. अ.रा.पृ. 4/2207-2208
46. अ.रा.पृ. 4/2200-2208
47. अ.रा.पृ. 4/2207-2208
48. अ.रा.पृ. 6/1409; मूलाचार-4/3; द्रव्यसंग्रह टीका-52/219; जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश-1/241

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोषों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया हैं-

आहाकम्म निमंतण, पडिसुणमाणो अइक्कमो होई।
पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइयो तरो गिलिए।[49]

वहीं पर अतिक्रम आदि के स्वरुप को समझाते हुए कहा गया है कि साधुओं के लिए विहित क्रिया का उल्लंघन अतिक्रमादि के अन्तर्गत आते हैं।[50] इनमें उत्तरोत्तर दोषाधिक्य हैं।[51] वहीं पर उदाहरण के द्वारा इन्हें और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया हैं-

जैस कोई साधुआधाकर्म दोष से विभावित होता हुआ जो उसे लेने का निश्चय करता है वह अतिक्रम का दोषी है; उसके ग्रहण के निमित्त पदभेद करनेवाला व्यतिक्रम का दोषी है; ग्रहण करनेवाला अतिचार का दोषी है और इस प्रकार से आधाकर्म दोष युक्त आहार का सेवन करनेवाला अनाचार का दोषी है[52]। इससे यह स्पष्ट होता है कि दोष यदि आरम्भिक अवस्था में और मन तक ही सीमित है तो वह अतिक्रम है, दोषयुक्त आचरण करने में उपक्रमशीलता व्यतिक्रम है, प्रयत्नसंलग्नता अतिचार है और दोषयुक्त आचरण की अन्तिम परिणति अनाचार है।

दोषों से बचने के लिए अष्ट प्रवचनमाताओं का पालन करना जैनधर्म के प्राण रुप है। उदाहरण के लिए सत्यमहाव्रत पालन करने हेतु यथावस्थित पदार्थ का यथावत् निरुपण करने का विधान है। किन्तु वाग्गुप्ति पालन करनेवाला तो अनावश्यक भाषण ही नहीं करता, इससे स्खलन के अवसर कम हो जाते हैं। अष्ट प्रवचन माताओं के बिना व्रतों का पालन पूर्ण नहीं होता, इसलिए आगे के शीर्षक में अष्ट प्रवचनमाताओं के विषय में संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

49. अ.रा.पृ. 1/8
50. अतिक्रमव्यतिक्रमादयः साधुक्रियोल्लङ्घनरुपाः.....। - अ.रा.पृ. 1/2
51. एतेष्वतिक्रमादिषूत्तरोत्तरं दोषाधिक्यम्.....। - अ.रा.पृ. 1/8
52. ।.....आधाकर्मणा विभावितः सन् यः प्रतिश्रृणोति सोऽतिक्रमे वर्तते, तद्ग्रहणनिमित्तं पदभेदं कुर्वन् व्यतिक्रमे, गृह्णनोऽतीचारे बुञ्जोनोऽनाचारे। एवमन्यदपि परिहारस्थानमधिकृत्यातिक्रमादयो ज्ञानपीयाः ।
- अ.रा.पृ. 1/8

संघनगर ! तुम्हारा कल्याण हो ।

गुणभवणगहणसुयरयण-भरियदंसणविसुद्धरत्थागा।
संघनगर ! भद्दं ते, अक्खडचरित्त पागरा ।।

पिंडविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा, अभिग्रहादि विशुद्ध दर्शन/सम्यकत्वरुपी शेरीवाला एवं अखण्ड चारित्ररुपी मजबूत किल्ले से सुरक्षित हे संघ (रुप) नगर ! तुम्हारा कल्याण हो !!!

संघरथ का कल्याण हो ।

भद्दं सीलपडागूसियस्स, तवनियमतुरयजुत्तस्स।
संघरहस्स भगवओ, सज्झायसुनंदिघोसस्स ।।

18000 शीलाङ्गरुपी ध्वजा-पताका जिस पर लहरा रही है, तप-नियमरुप अश्वों से युक्त है एवं जहां वाचनादि पंचविध स्वाध्याय रुप वादित्रों का नाद सतत गुंजायमान है; भगवन्त के ऐसे संघरथ का कल्याण हो ।

संघपद्म का कल्याण हो ।

कम्मरयजलोहविणिग्गयस्स सुयरणदीहनालस्स । पंचमहव्वयथिरक-न्नियस्स गुणकेसरालस्स ।।1।।
सावगजणमहुअरिपरि-वुडस्स जिणसूरतेयबुद्धस्स । संघ पउमस्स भद्दं समणगणसहस्सपत्तस्स ।।2।।

ज्ञानावरणादि आठों प्रकार के कर्मरुपी रज एवं जन्मकारणरुप संसार-समुद्र से विशेषप्रकार से निर्गत (बाहर आये हुए), श्रुतज्ञानरुप रत्नों की दीर्धनाल से युक्त, पंचमहाव्रतरुपी स्थिर कर्णिकावाले, उत्तरगुणरुपी केसरीवाले, श्रमणगणरुप सहस्रों पत्तोंवाले, श्रावकगणरुपी भ्रमरों से परिमण्डित (धिरा हुआ), जिनेश्वररुप सूर्य के तेज (प्रकाश/वाणी/धर्मदेशना) से बोधित (प्रफुल्लित) होनेवाले संघरुपी पद्म/कमल का कल्याण हो ।।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्ट प्रवचनमाता (समिति-गुप्ति)

जैनवाङ्मय में अष्ट प्रवचनमाता एक पारिभाषिक शब्द है; अष्ट प्रवचन माताओं में पांच समितियों और तीन गुप्तियों का समावेश है। इनका स्वरुप निम्न प्रकार से प्राप्त है-

समिति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'समिति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि, 'सम्' उपसर्गपूर्वक इण् गतौ धातु में क्तिन् प्रत्यय होने पर 'समिति' शब्द निष्पन्न होता है[1]। सुंदर एकाग्र परिणाम की चेष्टा[2], सम्यक्प्रवृत्ति[3], सम्यक् प्रकार से जीव हिंसा का निषेध[4], सम्यग् गमन[5], सम्यक् प्रवर्तन[6], समागम[7]; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार चलने-फिरने में, बोलने-चालने में, आहार ग्रहण करने में, वस्तुओं को उठाने-रखने में और मलमूत्र निक्षेपण करने में यत्नपूर्वक सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करते हुए जीवों की रक्षा करना समिति है[8]।

समितियों के पाँच भेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में एवं अन्य जैनागम ग्रंथों में समिति के पाँच भेद[9] दर्शाये हैं -1. ईर्या समिति 2. भाषा समिति 3. एषणा समिति 4. आदानभण्डमत निक्खेवणा (निक्षेपणा) समिति 5. उच्चारपासवण-खेलजल्लसिंधाणपारिट्ठावणिया समिति (उच्चार-प्रस्रवण-निष्ठीवन-श्लेष्म-मल-परिष्ठापनिका समिति)।

आगे अभिधान राजेन्द्र कोश में स्थानांग सूत्र को उद्धृत करते हुए कहा है कि उपरोक्त पाँच समितियों के साथ मनःसमिति, वचनसमिति और कायसमिति मानने पर आठ समितियाँ होती है[10]। मनःवचनकायसमितियों को गुप्ति नाम भी दिया गया है। इन आठों समितियों अर्थात् पाँच समितियों और तीन गुप्तियों (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) का एकाभिधान 'अष्ट प्रवचनमाता' है[12]; इन आठों समितियों में द्वादशांग समाहित होने से अथवा इन आठों से द्वादशांग की उत्पत्ति होने से अथवा द्वादशांग या सङ्घ का आधार होने से समिति-गुप्ति को प्रवचनमाता/अष्ट प्रवचनमाता कहते हैं[13]। ये अष्ट प्रवचन माता मुनि के ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की सदा ऐसे रक्षा करती हैं जैसे कि पुत्र का हित करने में सावधान माता अपायों से उसको बचाती हैं[14]। ये समितियाँ निम्नानुसार हैं-

(1) ईर्या समिति :-

सम्यक्तया चक्षुर्व्यापार (उपयोग) पूर्वक गमन करना ईर्या समिति है[15]। धर्मसंग्रह में कहा है कि, "दीक्षित मुनि के लिए आवश्यक प्रयोजन होने पर त्रस स्थावर जीवों के अभय दानदाता जाते समय जीव रक्षा और स्व-शरीर रक्षा के लिए सामने युग मात्र (चार हाथ प्रमाण) क्षेत्र (स्थान, रास्ता, भूमि) की ओर देखते हुए गमन करना,ईर्या समिति कहलातीहै[16]। निशीथ चूर्णि के अनुसार "जीव रक्षा हेतु युग प्रमाण भूमि देखते हुए अप्रमादी मुनि का संयम जीवन की आवश्यक क्रिया एवं गोचरी (आहार चर्या) आदि हेतु जो गमन क्रिया, उसे 'ईर्यासमिति' कहते हैं"[17]। आवश्यक बृहद्वृत्ति रथ, बैलगाडी आदि वाहनों के गमनागमन से एवं सूर्य की किरणों की गरमी से प्रासुक (अचित) मार्ग पर युग मात्र (चार हाथ प्रमाण) दृष्टि रखकर गमनागमन करना ईर्या समिति कहलाती हैं[18]।

यह ईर्या समिति द्रव्यादि भेद से चार प्रकार से हैं[19]-

1. **द्रव्य :** जीवादि द्रव्यों को देखकर संयम विराधना और आत्म विराधना से बचकर चलना।
2. **क्षेत्र :** चार हाथ प्रमाण सन्मुख भूमि देखते हुए चलना।
3. **काल :** सूर्य प्रकाश में (दिन में) गमन करना।
4. **भाव :** उपयोगपूर्वक/सावधानीपूर्वक चलना।

तीर्थंकर परमात्माने मुनि को पुष्ट आलम्बन (विशेष कारण) के बिना रात्रि में विहार की अनुज्ञा नहीं दी है[20]।

(2) भाषा समिति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में भाषा समिति का परिचय देते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य (मुखरता) और विकथा (राज, देश, भक्त, स्त्र्यादि की कथा) रहित निरवद्य वचन प्रवृत्ति 'भाषा समिति' कहलाती है[21]। मुनि को स्व और पर को मोक्ष की ओर ले जानेवाले स्व पर हितकारक, निरर्थक बकवासरहित, मित, स्फुटार्थ, व्यक्ताक्षर और असन्दिग्ध वचन बोलना 'भाषा समिति' है। मिथ्याभिधान, असूया (इर्ष्या), प्रियभेदक, अल्पसार, अयुक्त, असभ्य, निष्ठुर, अधर्मविधायक, निंदित, देशकाल विरोधी और चापलूसी आदि वचन दोषों से रहित भाषण करना चाहिए।

---

1. अ.रा.पृ. 7/432
2. वही, आवश्यक बृहद्वृत्ति, अध्ययन-4
3. वही, प्रश्नव्याकरणांग-1 संवर द्वार; राजवार्तिक-9/2/2; सर्वार्थसिद्धि-9/2
4. वही, प्रवचन सार-240; भगवती आराधना-115 पृ. 267
5. अ.रा.पृ. 7/432
6. वही; उत्तराध्ययन-अध्ययन-24
7. वही; समवयांग-5 समवाय
8. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/338
9. अ.रा.पृ. 7/432; समवयांग-समवाय 5; उत्तराध्ययन-24; चारित्र पाहुड-37; तत्त्वार्थ सूत्र-9/5; मूलाचार-5/101
10. अ.रा.पृ. 7/432; स्थानांग 8/3; मूलाचार-5/100
11. अ.रा.पृ. 5/785; समवयांग, समवाय-8; उत्तराध्ययन-24/2; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/148
12. अ.रा.पृ. 7/432, 5/785; आवश्यक चूर्णि-459; पाक्षिक सूत्र सटीक
13. अ.रा.पृ. 5/785; समवयांग-समवाय-8; उत्तराध्ययन, अध्ययन-24/1
14. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/148
15. अ.रा.पृ. 2/659
16. वही, धर्मसंग्रह, अधिकार-3; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/339; उत्तराध्ययन, अध्ययन-4
17. अ.रा.पृ. 2/659; निशीथ चूर्णि, 1 उद्देश
18. अ.रा.पृ. 2/659; आवश्यक बृहद् वृत्ति, 4 अध्ययन
19. वही, उत्तराध्ययनसूत्र सटीक, अध्ययन 4
20. अ.रा.पृ. 2/659
21. अ.रा.पृ. 5/1555; समवायाङ्ग-समवाय 5; उत्तराध्ययनसूत्र सटीक 34/9-10; नियमसार-62;जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ 4/340

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पीठ पीछे किसी की निंदा नहीं करना चाहिए एवं किसी भी दो व्यक्तियों की बात-चीत में उनके द्वारा बिना बुलाये बीच-बीच में नहीं बोलाना चाहिए।[22]

(3) एषणा समिति :-

मुनि के द्वारा संयम निर्वाह एवं धर्माराधना हेतु मन-वचन-काया और करण-करावण-अनुमोदन रुप नव कोटि (प्रकार) शुद्ध, गवेषणा-ग्रहणेषणा-ग्रासैषणा के उद्गम-उत्पाद, शंकित, धूमादि 42 दोषों से रहित आहार, जल, रजोहरण, मुहपत्ति, वस्त्र, शय्या, पाट-पाटला, आसन, दण्ड, दण्डासन आदि ग्रहण करना, एषणा समिति हैं।

एषणा समिति तीन प्रकार की हैं-

(1) **गवेषणा** - दोष रहित आहर, पानी, वस्त्र, पात्र, उपधि पुस्तक आदि को एवं वसति (रहने हेतु स्थान) ढूंढना।

(2) **ग्रहणेषणा** - उसे दोष रहित ग्रहण करना।

(3) **ग्रासैषणा** - आहारादि को उपयोग में लेते समय धूमादि दोषों से बचकर वापरना[23]।

(4) आदानभाण्डमात्रक निक्षेपणा समिति :-

भाण्ड अर्थात् उपकरण, मात्र अर्थात् - पात्रादि। मुनि के द्वारा दंड, दण्डासण, आसन, रजोहरण, मुहपत्ति, संधारा, आदि संयम के उपकरण, पात्र, मात्रक (प्याला), मिट्टी का घडा आदि तथा वस्त्रादि को एवं पुस्तकादि ज्ञान के उपकरणों को अच्छी तरह से प्रतिलेखन-प्रमार्जनपूर्वक ग्रहण करना या रखना आदानभाण्डमात्रकनिक्षेपणा समिति है[24]। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में इसे आदान-निक्षेपण समिति कहा है[25]।

आदानभाण्डमात्रक निक्षेपणा समिति के भङ्ग - इसके सात भङ्ग हैं, इनमें से अंतिम भङ्ग ही प्रशस्त होने से ग्राह्य (आचरणीय) हैं, शेष नहीं[26]।

(1) पात्रादि प्रतिलेखन नहीं करना, प्रमार्जन नहीं करना।
(2) पात्रादि प्रतिलेखन करना, प्रमार्जन नहीं करना।
(3) पात्रादि प्रतिलेखन नहीं करना, प्रमार्जन नहीं करना।
(4) पात्रादि का दु:प्रतिलेखन करना, दु:प्रमार्जन करना।
(5) पात्रादि का दु:प्रतिलेखन नहीं करना, दु:प्रमार्जन करना।
(6) पात्रादि का दु:प्रतिलेखन करना, दु:प्रमार्जन नहीं करना।
(7) पात्रादि का अच्छी तरह से प्रतिलेखन करना, प्रमार्जन करना।

(5) उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-शिङ्घाण-परिष्ठापनिका समिति :-

मल, मूल, थूंक, श्लेषण, प्रस्वेद आदि का सम्यक् प्रकार से प्रतिलेखित-प्रमार्जित स्थंडिल भूमि पर त्याग करना 'परिष्ठापनिका' समिति है[27]।

उपरोक्त परठने योग्य त्याज्य पदार्थों को मुनि एकान्त स्थान, अचित स्थान, दूर, छिपा हुआ, बिल रहित, छेद रहित, चौडा, दावाग्नि से दग्ध, हल से जुता हुआ, मसान (श्मशान), खार सहित भूमि, त्रस जीवों से रहित, जन रहित, हरी घासादि से रहित, प्रासुक भूमि पर जहाँ लोग जैनशासन या साधु-साध्वी की निंदा या विरोध न करें और परठते रोके नहीं, ऐसे स्थान पर दृष्टि-प्रतिलेखन कर (अच्छी तरह देखकर) मल-मूत्र-मूत्रादि का त्याग करें- यह मुनि की पारिष्ठापनिका समिति है[28]। तत्त्वार्थ सूत्र में पारिष्ठापनिका समिति को उत्सर्ग समिति कहा है[29]।

गुप्ति :-

'गुप्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि मन-वचन काय का कुशल योगों में प्रवर्तन और अकुशल (अप्रशस्त) योगों से निवर्तन 'गुप्ति, कहा जाता है[30]। आत्मा में आनेवाले आगन्तुक कचरे (कर्म रुपी कचरा) का निरोध करना 'गुप्ति' कही जाती है[31]। मुमुक्षु का आत्मसंरक्षण के विषय में अशुभ योगों का निग्रह 'गुप्ति' है[32]। संवर[33], तयालीसवीं गौण अहिंसा[34], आत्यन्तिक रक्षा[35], संलीनता[36], मन, वचन, काया का गोपन करना (सम्यग् निग्रह करना), गुप्ति है[37]।

गुप्ति के भेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश एवं अन्य जैनागमों में गुप्ति के तीन भेद दर्शाये हैं[38]-

1. मनोगुप्ति
2. वचनगुप्ति
3. काय गुप्ति

मनो गुप्ति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार अशुभ पदार्थो/विषयों के चिन्तन से मन का नियंत्रण करना, 'मनोगुप्ति' है[39]। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने मनोगुप्ति की परिभाषा बताते हुए कहा है कि, ''कल्पना (संकल्प-विकल्प) के जाल से सर्वथा मुक्त, समता भाव में सुप्रतिष्ठित (स्थिर), मन का आत्मा (आत्मारुपी उद्यान/आराम) में लयलीन होना, उसे विद्वानों के द्वारा 'मनोगुप्ति' कहा जाता है[40]।'' नियमसार के अनुसार रागद्वेष से मन परावृत्त होना, यह मनोगुप्ति है।[41] पुरुषार्थसिद्धयुपाय

22. अ.रा.पृ. 5/1545 से 1550; राजवार्तिक 9/5; ज्ञानार्णव-18/8-9; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/341
23. अ.रा.पृ. 3/72; स्थानांग, 3, 5 वाँ ठाणां; सूत्रकृताङ्ग-1/1; धर्मसंग्रह, 2 अधिकार; उत्तराध्ययन, 6 ठा और 24 वाँ अध्ययन; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/341
24. अ.रा.पृ. 2/240 7/423; ; स्थानांग, 5/3; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/341; उत्तराध्ययन-24/13, 14
25. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ 4/339, 341
26. अ.रा.पृ. 2/240 आवश्यक बृहद्वृत्ति 4/105 पर टीका
27. अ.रा.पृ. 2/761; समवयाङ्ग, 5 वाँ समवाय
28. अ.रा.पृ. 4 'थंडिल' शब्द; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/341, 342; तत्त्वार्थ सूत्र 9/5 पर तत्त्वार्थ भाष्य
29. तत्त्वार्थ सूत्र-9/5
30. अ.रा.पृ. 3/933; स्थानांग 3/1; मूलाचार 331; द्रव्यसंग्रह-35 पर टीका
31. वही; आवश्यक मलयगिरि, प्रथम खंड
32. वही; धर्मसंग्रह, अधिकार 3, भगवती आराधना-115 पर विजयोदया टीका
33. वही; विशेषावश्यक भाष्य
34. वही; प्रश्नव्याकरण-1 संवर द्वार
35. बृत्कल्पसभाष्य वृत्ति, 1 उद्देश
36. वही; पाक्षिक सूत्र सटीक 3
37. अ.रा.पृ. 3/933; तत्त्वार्थसूत्र 9/4
38. अ.रा.पृ. 3/933; स्थानांग-3/1; तत्त्वार्थसूत्र 9/4 पर तत्त्वार्थभाष्य; सवार्थसिद्धि 9/4, पृ. 411; मूलाचार 5/135-136; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. 2/248
39. अ.रा.पृ. 6/83; उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 24
40. वही; योगशास्त्र 1/41
41. नियमसार 66, 69; ज्ञानार्णव 18/15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अनुसार मन का सम्यक्तया निरोध करना, 'मनो गुप्ति' हैं।[42] अभिधान राजेन्द्र कोश में मनोगुप्ति के तीन प्रकार बताये गये हैं[43]-

1. **आर्तरौद्रध्यानानुबन्धिनी कल्पना जाल के वियोगस्मा प्रथमा मनोगुप्ति।**
2. **शास्त्रानुसारिणी परलोकसाधिका धर्मध्यानानुबन्धिनी मध्यस्थपरिणतिस्मा द्वितीया मनोगुप्ति।**
3. **कुशल-अकुशल मनोवृत्ति निरोध के द्वारा योगनिरोधावस्थाभाविनी आत्मारामतास्मा तृतीया मनोगुप्ति।**

मनोगुप्ति के उत्तराध्ययन सूत्रोक्त भेदों को उद्धृत करते हुए आचार्यश्रीने मनोगुप्ति के निम्नांकित चार प्रकार उदाहरण सहित प्रस्तुत किये हैं[44]-

1. **सत्या मनोगुप्ति** - जगत् में जीवादि तत्त्व विद्यमान हैं - इस प्रकार सत्य (सत्) पदार्थों का मन में चिन्तन करना।
2. **मृषा मनोगुप्ति** - 'जीव नहीं है' -इस प्रकार से मन में असत् चिन्तन करना।
3. **सत्यामृषा मनोगुप्ति**- आम्रवृक्षबहुल वन में अन्य बेर, जाम, जामुन, नीम, पीपल आदि के भी वृक्ष होने पर भी मन में से 'वह आम्रवन है' - एसा चिन्तन करना।
4. **असत्यामृषा मनोगुप्ति** - घट लाना, मुझे पुस्तक दीजिये, -इत्यादि मन में आदेश-निर्देशादि वचन और व्यवहार का चिन्तन करना।

मनोगुप्ति के अतिचार :-

भगवती आराधना के अनुसार रागादिविकार सहित स्वाध्याय में प्रवृत्त होना, मनोगुप्ति का अतिचार हैं।[45] अनगार धर्मामृत के अनुसार रागद्वेषादिरुप कषाय व मोहरुप परिणामों में (मन से) वर्तन, मन में शब्दार्थज्ञान की विपरीतता और आर्त-रौद्र ध्यान-मनोगुप्ति के अतिचार हैं[46]।

वचन गुप्ति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार मनोगुप्ति की तरह ही वचनगुप्ति के चार प्रकार बताये गये हैं - 1. सत्या 2. मृषा 3. सत्यामृषा और 4. असत्यामृषा। इन चारों प्रकार के वचनों का गोपन करना, अर्थात् इन चारों प्रकार की भाषाओं के कारण होनेवाले कर्म बन्धनों से आत्मा की रक्षा करना 'वचन गुप्ति' हैं[47]। नियमसार केअनुसार स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा युक्त वचनों का परिहार अथवा असत्य भाषणादि से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना 'वचन गुप्ति' हैं।[48] भगवती आराधना के अनुसार जिससे प्राणियों को उपद्रव होता है अथवा जिससे आत्मा अशुभ कर्म का विस्तार करता है, एसे भाषण से आत्मा का परावृत होना (दूर रहना), 'वचनगुप्ति/वाग्गुप्ति' है[49]। अथवा संपूर्ण प्रकार के वचनों का त्याग (मौन धारण करना) 'वाग्गुप्ति' है।

वचनगुप्ति के अतिचार :-

अनगार धर्मामृत के अनुसार कर्कशादि वचनोच्चारण अथवा विकथा करना और मुख से हुंकारादि द्वारा या हाथ या भ्रकुटिचालनादि क्रियाओं के द्वारा उसे इङ्गित करना - ये दो वचन गुप्ति के अतिचार हैं[50]।

काय गुप्ति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार काय का अशुभ व्यापार से गोपन (रक्षण) करना, 'कायगुप्ति' है[51]। गमनागमन करते हुए, चलते हुए, किसी भी पदार्थ को ग्रहण करते हुए, स्यन्दन (बाधा सहित गमनागमन) आदि क्रियाओं का गोपन करना, 'कायगुप्ति' हैं[52] किसी स्थान में बैठते-उठते, सोते हुए, किसी भी पदार्थ या स्थान के उपर से उल्लंघन करते हुए, प्रलङ्घन (सामान्य उल्लंघन) करते हुए, इन्द्रिय-व्यापार (इन्द्रियविषयक प्रवृत्ति) करते हुए, स्थान में रहते हुए संरम्भ (अभिधान), समारम्भ (दृष्टि, मुष्टि या अन्य हिंसासूचक मुखादि से जनित अभिघात (हिंसा), और आरम्भ (जीव हिंसामय कायिक प्रवृत्ति) में कायिक प्रवृत्ति का नियंत्रण करना, 'काय गुप्ति' हैं[53]। नियमसार के अनुसार बंधन, छेदन, मारण, आकुंचन (संकोचन), प्रसारण इत्यादि कायिक क्रियाओं की निवृत्ति 'काय गुप्ति' है[54]। अथवा औदारिकादि शरीर की क्रियाओं से निवृत्त होना कायगुप्ति है, अथवा हिंसा चोरी आदि पाप क्रियाओं से परावृत्त (दूर) होना कायगुप्ति है[55]।

काय गुप्ति के प्रकार[56]:-

1. सर्वथा योगनिरोध अवस्था में, या परिषह, उपसर्गादि के होने की संभावना होने पर भी निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्गादि करना - प्रथम प्रकार की कायगुप्ति हैं। 2. शयन-आसन-निक्षेप-आदान (अन्य-वस्त्र-पात्रादि का ग्रहण) के विषय में स्वच्छन्दता का त्याग कर गुरु को पूछकर गुर्वाज्ञापूर्वक शरीर, संस्तारक (संथारा की) भूमि, उपलक्षण से उपकरणादि प्रतिलेखन, प्रमार्जनादि समयोचित क्रियाकलाप करना - द्वितीय प्रकार की 'कायगुप्ति' हैं।

कायगुप्ति के अतिचार :-

मन की एकाग्रता के बिना शरीर की चेष्टाएँ निरुद्ध करना, जहाँ लोग भ्रमण करते हैं, एसे सार्वजनिक स्थान में एक पाँव ऊपर करके खडे रहना, एक हाथ ऊपर कर खडे रहना, मन में अशुभ संकल्प करते हुए काय से चञ्चल रहना, आप्ताभास हरिहरादिक की प्रतिमाओं के सामने उनकी आराधना करते हुए से खडे रहना या बैठना, सचित भूमि पर या बीजाङ्कुरयुक्त भूमि पर रोष से, दर्प (अभिमान) से खडे रहना या बैठना, शरीरममत्व का त्याग न करना या कायोत्सर्ग के दोषों को न त्यागना - 'कायगुप्ति' के अतिचार हैं[57]।

---

42. पुरुषार्थसिद्धयुपाय 202
43. अ.रा.पृ. 6/83; धर्मसंग्रह, अधिकार 3; निशीथ चूर्णि, 1 उद्देश
44. अ.रा.पृ. 6/83; उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 24
45. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. 2/250
46. वही; अनगार धर्मामृत 4/159
47. अ.रा.पृ. 6/887; उत्तराध्ययन, 24 अध्ययन; निशीथचूर्णि, 1 उद्देश
48. नियमसार 67, 69
49. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. 2/249
50. वही पृ. 2/250; अनगार धर्मामृत 4/160
51. वही पृ. 2/250; अनगार धर्मामृत 4/160
52. वही; उत्तराध्ययन, अध्ययन 24
53. वही
54. नियमसार 68
55. वही, 70
56. अ.रा.पृ. 3/449; धर्मसंग्रह, अधिकार 3
57. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/250

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुप्तियों का माहात्म्य :-

मूलाचार में इन तीनों गुप्तियों का महत्त्व बताते हुए कहा है कि "जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड होती है, अथवा नगर की रक्षा के लिए खाई तथा कोट होता है, उसी तरह पाप को रोकने के लिए संयमी साधु के ये गुप्तियाँ होती हैं[58]।

इस प्रकार इन पाँच समिति, तीन गुप्ति रुप - अष्ट प्रवचनमाता के सम्यक् पालन से मुनि सर्व संसार भ्रमण से शीघ्र मुक्त होता है[59]।

समिति से समित और गुप्तियों से गोपित पूर्वोक्त महाव्रतों, और पञ्चाचार के पालन से आत्मा का स्वाभाविक धर्म प्रकट होता है जो कि अन्तरात्मा द्वारा स्वयं भी अनुभव किया जाता है और साथ - ही उसका प्रतिफल बाहर भी स्पष्ट रुप से दृष्टिगोचर होने लगता है । कभी वह क्षमा के रुप में आचरण में प्रतिबिम्बित होता है तो कभी मार्दव या इसी प्रकार के अन्य गुणों के रुप में। ये धर्म आत्मा की स्वाभाविक परिणति है। जैनाचार्योंने संक्षेप में दश यतिधर्मों के रुप में प्रतिपादित किया है। कहीं कहीं पर नाम में भिन्नता हो सकती है। इसका एक कारण यह भी है कि वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है। आगे के शीर्षक में यतिधर्म के नाम से शास्त्रों में वर्णित दश धर्मों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

58. मूलाचार 334
59. अ.रा.पृ. 5/786; उत्तराध्ययनसूत्र, 24/27

संघचक्र की सदा जय हो

संजमतवतुंबारय-स्स नमो सम्मत्त पारियल्लस्स ।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघचक्कस्स ॥

हिंसादि पंचाश्रवविरमण; पंचेन्द्रिय निग्रह; कषायचतुष्कजय एवं त्रिदण्डविरतिरुप सत्रह प्रकार के संयम एवं बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकार के तपरुप आरों एवं सम्यकत्वरुप भ्रमि (बाह्य पृष्ठ भाग) से युक्त अप्रतिचक्र (अजोड चक्र) संघ (रुपी) चक्र की सदा जय हो !!!

भद्दं दमसंघसूरस्स ।

परतित्थियगहपहना-सगस्स तवतेयदित्तलेसस् ।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघसूरस्स ॥

कपिलादि परतिर्थिकों रुपी ग्रहों की दुर्नयलक्षणा प्रभा को नाश करनेवाले, तप-तेज से उज्जवल, देदीप्यमान, लोक में ज्ञान-उद्योत (प्रकाश) फैलानेवाले उपशमप्रधान संघ (रुप) सूर्य का कल्याण हो ।

भद्दं संघसमुद्दस्स ।

भद्दं धिइवेलापरि-गयस्स सज्झायजोगमगरस्स ।
अक्खोहस्स भगवओ, संघसमुद्दस्स रुंदस्स ॥

मूलगुण एवं उत्तरगुण रुपी धृति (धैर्य) के विषय में प्रवर्धमान उत्साहयुक्त आत्म-परिणामरुप जलवृद्धियुक्त, कर्मविदारण करने में शक्तिसम्पन्न स्वाध्याययोगरुप मगर-मच्छों से भरपूर तथा परीषह एवं उपसर्गों में भी अक्षुब्ध/निष्प्रकम्प, भगवान के समग्र ऐश्वर्य (आठ प्रातिहार्य), रुप, यश, धर्म, प्रयत्न (पुरुषार्थ), केवलज्ञानरुपी श्री समूह से सुशोभित विस्तृत संघ (रुप) समुद्र का कल्याण हो ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दस यतिधर्म

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'अणगारधम्म' शब्द पर सर्वविरतिचारित्रधर मुनि के धारण करने योग्य दस प्रकार के यतिधर्मो का वर्णन किया है-

1. खंती - (क्षान्ति) 2. मद्दव (मार्दव) 3. अज्जव (आर्जव) 4. मुत्ती (मुक्ति) 5. तव (तप) 6 संजम (संयम) 7. सच्च (सत्य) 8. सोय (शौच) 9. आकिंचण (आकिञ्चन्य) 10. बंभ/बंभचेर (ब्रह्मचर्य)।[1]

तत्त्वार्थ सूत्रकारने इससे किञ्चिद् भिन्न दस प्रकार के यतिधर्मो का वर्णन किया है-

1. उत्तम क्षमा 2. उत्तम मार्दव 3. उत्तम आर्जव 4. उत्तम शौच 5. उत्तम सत्य 6. उत्तम संयम 7. उत्तम तप 8. उत्तम त्याग 9. उत्तम आकिञ्चन्य 10. उत्तम ब्रह्मचर्य।[2]

(1) क्षान्ति :-

स्वयंभूस्तोत्रानुसार 'क्षान्ति' और 'शान्ति' शब्द एकार्थवाची हैं।[3] अभिधान राजेन्द्र कोश में 'क्षान्ति' के निम्नांकित अर्थ बताये गये हैं[4]-

(1) आक्रोशयुक्त वचन श्रवण करने पर भी क्रोध का त्याग।[5]
(2) सहन शक्ति में समर्थ या असमर्थ साधक का सर्वथा क्रोधत्याग।[6]
(3) कर्कश भाषा सहन करना।[7]
(4) क्रोध के उदय का निरोध।[8]
(5) कषाय का उपशम, तितिक्षा।[9]
(6) शुक्ल ध्यान का प्रथम आलम्बन।[10]
(7) प्रथम श्रमणधर्म (यतिधर्म) 'क्षान्ति' हैं।[11]
(8) क्रोधादि दोषों का निराकरण करना।[12]

क्षान्ति की प्राप्ति का क्रम :-

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार साधक को दीक्षाजीवन में प्रथमत: वचन क्षान्ति होती है, तत्पश्चात् धर्मक्षान्ति होती है, क्योंकि प्रथम वचनानुष्ठानपूर्वक अध्ययनादि के द्वारा साधक को उसमें रति (ज्ञानरमणता) होती है, जिससे तन्मयता होने पर साधक असङ्गभाव को प्राप्त होता है।[14]

क्षान्ति के भेद :-

(1) **उपकार क्षान्ति** - ये मेरे उपकारी है, अत: इनके वचन सहन करने योग्य हैं - एसा सोचकर क्षान्ति रखना 'उपकार क्षान्ति' है।
(2) **अपकार क्षान्ति** - यदि मैं इसके दुर्वचन सहन नहीं करूँगा तो यह मेरा अपकारी बनेगा - एसा सोचकर क्षमा धारण करना 'अपकार क्षान्ति' हैं।
(3) **विपाक क्षान्ति** - क्रोधादि कषाय के कटुफल इसलोक और परलोक में अनर्थ परम्पराकारक हैं - एसा सोचकर क्षमा धारण करना 'विपाक क्षान्ति' हैं।
(4) **वचन क्षान्ति** - 'क्षान्ति (क्षमा) से मेरा राग है' - एसा आलम्बन मन में धारण कर क्षमा धारण करना 'वचन क्षान्ति' हैं।
(5) **धर्म क्षान्ति** - क्षान्ति (क्षमा) आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। जैसे चंदन वृक्ष पर घाव (छेद) करनेवाले कुठार को भी चंदन अपने स्वभाव से ही अपनी सौरभ से सुरभित करता है, वैसे आत्मा में भी क्षान्ति (क्षमा) स्वाभाविक रुप से रहती है - एसा सोचकर सभी के ऊपर क्षमा धारण करना 'धर्म क्षान्ति' हैं।

क्षमा धर्म :-

तत्त्वार्थ सूत्रकार वाचकश्री उमास्वाति महाराजने दसविध यतिधर्म में 'खंति' के पर्यायवाची 'क्षमा' धर्म का वर्णन किया है[15] अत: यहाँ पर यथाप्रसंग क्षमा धर्म का भी संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

'क्षमा' (खमा) शब्द क्षमूष् धातु से अच् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। जैनागमों में, सहनकरना, क्षमा करना, क्रोध के अभावपूर्वक माफ करना, सहिष्णुता, सत्येतर (जूठें) वचनों के श्रवण से क्रोधोदय होने की स्थिति में भी आत्मा को क्रोध से दूर रखना, उदय प्राप्त क्रोध को निष्फल करना, अपराध को माफ करना। -आदि अनेक अर्थों में 'क्षमा' शब्द का प्रयोग किया गया हैं।[16]

क्षमा प्रथम धर्म है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार क्रोध प्रीति का विनाशक है।[17] क्रोध कषाय के उपशमन के लिए क्षमा-धर्म का विधान है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[18] जैन परम्परा में अपराधी को क्षमा करना और स्वयं के द्वारा जिसके प्रति अपराध किया गया है, उससे क्षमा-याचना करना साधक का परम कर्तव्य है। जैन साधक का प्रतिदिन यह उद्घोष होता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा करता हूँ और सभी प्राणी मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।[19] महावीर का, श्रमण साधकों

1. अ.रा.पृ. 1/279; दशवैकालिक निर्युक्ति-6/14
2. तत्त्वार्थसूत्र-9/6 एवं उस पर तत्त्वार्थभाष्य
3. स्वयंभूस्तोत्र 16, 39
4. अ.रा.पृ. 3/692
5. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 27
6. धर्मसंग्रह, अधिकार 3
7. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 1
8. औपपातिक सूत्र
9. दर्शनशुद्धि सटीक
10. समवयांग,समवाय 9
11. स्थानांग 4/1
12. सर्वार्थसिद्धि 9/12
13. अ.रा.पृ. 3/692; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 29/6
14. वही, वही 29/7
15. तत्त्वार्थ सूत्र-9/6
16. अ.रा.पृ. 3/714
17. दशवैकालिक सूत्र-8/38
18. वही-8/39
19. आवश्यक सूत्र, पगाम सिज्झाय, वंदितु सूत्र-49, 50

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए यह आदेश था कि साधुओं ! यदि तुम्हारे द्वारा किसी का अपराध हो गया है, तो सबसे पहले क्षमा माँगो। जब तक क्षमा-याचना न कर लो भोजन मत करो, स्वाध्याय मत करो, शौचादि कर्म भी मत करो, यहाँ तक कि अपने मुँह का थूंक भी गले से नीचे मत उतारो। अपने प्रधान शिष्य गौतम को लाये हुए आहार को रखवाकर पहले आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना के लिए भेजना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर की दृष्टि में क्षमा-धर्म का कितना अधिक महत्त्व था।[20] जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक साधक को प्रातःकाल एवं सायंकाल, पक्षान्त में, चातुर्मास के अन्त में और संवत्सरी पर्व पर सभी प्राणियों से क्षमा-याचना करनी होती है। जैन समाज का वार्षिक (संवत्सरी) पर्व 'क्षमावाणी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। जैन आचार-दर्शन की मान्यता है कि यदि श्रमण साधक पक्षान्त तक अपने क्रोध को शान्त कर क्षमा-याचना नहीं कर लेता है तो उसका श्रमणत्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थ उपासक यदि चार महीने से अधिक अपने हृदय में क्रोध के भाव बनाये रखता है और जिसके प्रति अपराध किया है, उससे क्षमा-याचना नहीं करता तो वह गृहस्थ-धर्म का अधिकारी नहीं रह पाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति एक वर्ष से अधिक तक अपने क्रोध की तीव्रता को बनाये रखता है और क्षमा-याचना नहीं करता वह सम्यक्-श्रद्धा का अधिकारी भी नहीं होता है और इस प्रकार जैनत्व से भी च्युत हो जाता है।[21]

क्षमा का फल :-

क्षमा धारण करनेवाली आत्मा के कर्म क्षय होते हैं; उसे चित्त प्रसन्नता प्राप्त होती है, सर्वजीवों के प्रति मैत्रीभाव प्राप्त होताहै, भावविशुद्धि होती है, राग-द्वेष नष्ट होते हैं; सातों भयों को दूरकर वह निर्भय होता है[22]।

(2) मार्दव धर्म :-

मार्दव[23] अर्थात् कोमलता[24], नम्रता[25], मान का त्याग[26], जाति आदि के अभिमान का त्याग[27], मान के उदय का निरोध[28], मान का अभाव[29], अनङ्ग अर्थात् काम पर विजय[30], मान कषाय का निग्रह[31], मानजनित अक्खडपन का त्याग[32]।

मार्दव का फल :-

मार्दव से जीव अहंकार रहित होता है; मृदु (कोमल) बनता है, सकल भव्य जीवों के मन को संतोष रुप होता है, द्रव्य और भाव से नम्र बनता है। नम्र बनकर जाति, कुल, बल, रुप, तप, ज्ञान (श्रुत), लाभ और एश्वर्य[33] -इन आठों मद का क्षय करता है।[34] मार्दवगुणयुक्त व्यक्ति पर गुरुओं का अनुग्रह होता हैं। इसका विस्तृत विवेचन इसी परिच्छेद में "मान कषाय" एवं "विनय (तप)" उपशीर्षक के अन्तर्गत किया गया हैं।

(3) आर्जव धर्म :-

आर्जव अर्थात् ऋजुता। राग-द्वेष रहित सामायिक युक्त कर्म या भाव 'आर्जव' कहलाता है, इसे संवर भी कहते हैं।[35] मन-वचन-काय की वक्रतारहित अर्थात् मायारहित क्रिया आर्जव धर्म है।[36] दूसरों के द्वारा फँसाने पर या दूसरों को फँसाने के लिए भी माया (कपट) नहीं करना 'आर्जव' हैं।[37] स्थानांगसूत्रानुसार आर्जव धर्म तृतीय श्रमणधर्म है[38], और समवयांगसूत्रानुसार दसवाँ योगसंग्रह है।[39] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार योगों का वक्र न होना 'आर्जव' हैं।[40] भगवती आराधना में मन की सरलता को और पञ्चविंशतिका में मन-वचन-काया की एकता को 'आर्जव' कहा हैं।[41] (इसका विशेष वर्णन माया कषाय के अन्तर्गत किया गया हैं।)

(4) मुक्ति धर्म :-

लोभ के सर्वथा त्याग रुप भावना को 'मुक्ति' कहते हैं।[42] बाह्याभ्यन्तर पदार्थों/विषयों में तृष्णा का नाश 'मुक्ति' हैं।[43] उत्तराध्ययन सूत्र में निर्लोभता को 'मुक्ति' कहा है।[44] औपपातिकसूत्र आदि ग्रंथों में लोभ के उदय का निरोध करना 'मुक्ति' मानी गई हैं।[45] स्थानांगसूत्र आदि ग्रंथों के अनुसार धर्मोपकरण में भी मूर्च्छा नहीं रखना 'मुक्ति' है।[46] सूत्रकृताङ्ग में सर्वकर्मनाश को 'मुक्ति' माना है।[47] पञ्चसंग्रह में भवोपग्राही कर्मो के नाश को 'मुक्ति' कहा है।[48] आतुरप्रत्याख्यान[49] में 'मोक्षमार्ग' को और आवश्यकचूर्णि में आत्मा की निसङ्गता (कर्मरहित अवस्था) को मुक्ति कहा गया हैं।[50] स्थानांग में आगे सर्वकर्ममुक्ता ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी के ऊपर सिद्धस्थान को 'मुक्ति' कहा गया है।[51] पाईयलच्छीनाममाला में 'परम पद' को 'मुक्ति' कहा है।[52]

त्याग :-

अप्राप्त भोगों की इच्छा नहीं करना और प्राप्त भोगों से विमुख होना, त्याग है। नैतिक जीवन में त्याग आवश्यक है। बिना त्याग के नैतिकता नहीं टिकती। अतएव साधु के लिए त्याग-धर्म का विधान किया गया है। त्याग से इन्द्रिय और मन के निरोध का

---

20. उपाशक दशांग-1 अध्ययन
21. बारसासूत्र - समाचारी विभाग
22. अ.रा.पृ. 3/715
23. अ.रा.पृ. 6/103
24. वही
25. प्रवचन सारोद्धार, द्वार 66; उत्तराध्ययनसूत्र 29
26. आवश्यक बृहद्वृत्ति, अध्ययन 4
27. दशवैकालिक 10/19
28. औपपातिकसूत्र
29. कल्प सुबोधिका सटीक 1, अधिकार
30. भगवती सूत्र 1/6
31. ज्ञाताधर्मकथांग 1/1
32. आचारांग 1/6/
33. अ.रा.पृ. 6/107; स्थानांग, ठाणा-8; सूत्रकृताङ्ग 1/2/2
34. अ.रा.पृ. 1/104; उत्तराध्ययन, अध्ययन 29
35. अ.रा.पृ. 1/215; स्थानांग 5/1
36. वही, धर्म संग्रह; अधिकार-8
37. अ.रा.पृ. 1/215; दशवैकालिक, अध्ययन 10; स्थानांग 5/1
38. स्थानांग 2/1
39. समवयांग, समवाय 31
40. सर्वार्थसिद्धि 9/9
41. भगवती आराधना 46 पर विजयोदयी टीका
42. अ.रा.पृ. 6/314;
43. वही; धर्मसंग्रह, अधिकार 3
44. वही; उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 29
45. वही; धर्मसंग्रह, अधिकार 3; पाक्षिकसूत्र सटीक
46. वही, स्थानांग; प्रश्नवव्ययाकरण-संवर द्वार; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 27
47. अ.रा.पृ. 6/318; सूत्रकृताङ्ग 2/2
48. वही; पञ्चसंग्रह, 2 द्वार
49. वही; आतुरप्रत्याख्यान 66
50. वही; आवश्यक चूर्णि, अध्ययन 4
51. वही; स्थानांग 8/3
52. वही; पाइयलच्छीनाममाला 20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यास किया जाता है। संयम के लिए त्याग आवश्यक है। सामान्य रुप से त्याग का अर्थ छोडना होता है। अतएव साधुता तभी सम्भव है जब सुख-साधना एवं गृह-परिवार का त्याग किया जाये। साधु जीवन में भी जो कुछ उपलब्ध है या नियमानुसार ग्राह्य है, उनमें से कुछ को नित्य छोडते रहना या त्याग करते रहना जरुरी है। गृहस्थ जीवन के लिए भी त्याग आवश्यक है। गृहस्थ को न केवल अपनी वासनाओं और भोगों की इच्छा का त्याग करना होता है, वरन् अपनी सम्पत्ति एवं परिग्रह से भी दान के रुप में त्याग करते रहना आवश्यक है। इसलिए त्याग गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए ही आवश्यक है। वस्तुत: लोकमंगल के लिए त्याग-धर्म का पालन आवश्यक है। न केवल जैन परम्परा में, वरन् बौद्ध और वैदिक-परम्पराओं में भी त्याग-भावना पर बल दिया गया है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिरक्षित ने इस सम्बन्ध में काफी विस्तार से विवेचन किया है।[53]

(5) तप धर्म :-

तप धर्म का वर्णन आगे पृष्ठ क्र. 309 पर है।

(6) संयम धर्म :-

आभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'संयम' की व्याख्या करते हुए कहा है[54] कि सावद्य योगों का सम्यक् त्याग संयम है[55], अथवा जिसमें आत्मा पाप व्यापार-समारम्भ से नियमपूर्वक संयमित होता है, वह संयम है।[56] अथवा जिसमें प्राणातिपात-मृषावाद (अनृत)-अदत्तादान-अब्रह्म-परिग्रह के त्यागरुप सुंदर नियम हैं - ऐसे चारित्र को संयम कहते हैं।[57] अथवा पाप का सम्यक् त्याग[58]; सर्वसावद्यारम्भ से निवृत्ति[59]; मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक हिंसा का सर्वथा त्याग[60]; पृथ्वीकायादि जीवों की रक्षा[61]; जीवदया[62]; सर्वविरति अङ्गीकरण[63]; सम्यग् अनुष्ठान[64]; सामायिकादि चारित्र[65]; पृथ्वीकायादि जीव विषयक संघट्ट, परिताप और उपद्रवण का त्याग[66] संयम कहलाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में दया, संयम, लज्जा, जुगुप्सा, निष्कपटता (अच्छलना), तितिक्षा, अहिंसा और ही (लज्जा) को एकार्थ में संयम कहा है[67]। धवला टीका में सम्यक् नियंत्रण को 'संयम' कहा है।[68] प्रवचनसार प्रक्षेपक में बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग, मन-वचन-काया से अनारम्भ, इन्द्रिय विषयक विरक्ति और कषायक्षय को संयम कहा है।[69]

चारित्र पाहुड में इन्द्रिय-संवर, पाँच व्रत, 25 क्रिया, पाँच समिति और तीन गुप्ति को संयम कहा है।[70] बारस अणुवेक्खा में व्रत और समितियों का पालन, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति (अशुभ) का त्याग, और इन्द्रियजय को संयम कहा है।[71]

जैन दर्शन के अनुसार पूर्व संचित-कर्मो के क्षय के लिए तप आवश्यक है और संयम से भावि कर्मो के आस्रव का निरोध होता है। संयम मनोवृत्तियों, कामनाओं और इन्द्रिय-व्यवहार का नियमन करता है। संयम का अर्थ दमन नहीं, वरन् उनको सम्यक् दिशा में योजित करना है। संयम एक ओर अकुशल, अशुभ एवं पाप जनक व्यवहारों से निवृत्ति है तो दूसरी ओर शुभ में प्रवृत्ति है। दशवैकालिकसूत्र में कहा है कि अहिंसा, संयम और तपयुक्त धर्म ही सर्वोच्च शुभ (मंगल) है।[72]

संयम के भेद :-

(क) संयम के दो भेद[73] :-

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में दो प्रकार से संयम के भेद-प्रभेद निम्नानुसार है[74]-

1. उपेक्षा संयम 2. अपहृत संयम।

(1) उपेक्षा संयम :-

देश-काल के विधान को समझनेवाले, स्वाभाविक रुप से शरीर से विरक्त और त्रिगुप्तिधारक व्यक्ति के राग और द्वेष रुप चित्तवृत्ति का न होना 'उपेक्षा संयम' कहलाता है।[75]

(2) अपहृत संयम :-

अपहृत संयम मुख्यत: दो प्रकार का है- (अ) इन्द्रिय अपहृत संयम और (आ) प्राणी अपहृत संयम। पाँच इन्द्रियों और मन के विषयों का निरोध इन्द्रियसंयम है, और चौदह प्रकार के जीवों की रक्षा करना प्राणिसंयम है।[76]

(ख) संयम के सत्रह प्रभेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में और अन्य जैन ग्रंथों में सत्रह प्रकार का संयम अनेक प्रकार से वर्णित है, यथा-

(1) प्रवचनसार में 5 समिति, 5 इन्द्रियसंवर, तीन गुप्ति और 4 कषायजय को संयम कहा गया है।[77] पञ्चसंग्रह के प्राकृताधिकार में पाँच महाव्रतधारण, पाँच समिति पालन, चार कषायजय और तीन दण्ड (अशुभ मन-वचन-काय) के त्याग रुप सत्रह प्रकार का संयम दर्शाया गया है।[78]

(2) स्थानांग सूत्र के अनुसार पञ्चास्रव का त्याग, पञ्चेन्द्रिय निग्रह, चार कषायजय और मन-वचन-काय के तीन दण्डों से विरतिरुप संयम सत्रह (5 + 5 + 4 + 3 = 17) प्रकार का है।[79]

(3) समवयांग सूत्र में एकेन्द्रिय (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, और वनस्पति) के प्रति संयम के पाँच प्रकार; त्रस जीवों (द्वीन्द्रिय,

53. जैन विद्या के आयाम खण्ड-6 पृ. 520
54. अ.रा.पृ. 7/87
55. वही
56. वही
57. वही, कर्मग्रंथ 4/12 पर विवेचन
58. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 28
59. आचारांग 1/2/5
60. दर्शनशुद्धि सटीक, तत्त्व 5
61. स्थानांग 4/1
62. कल्पसुबोधिका 1/6
63. आतुरप्रत्याख्यान 62
64. आवश्यक मलयगिरि, खण्ड 1, अध्ययन 1
65. आवश्यक मलयगिरि, खण्ड 1
66. स्थानांग 7/3
67. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 3
68. धवला टीका 7/2,1; 3/7/3
69. प्रवचनसार, प्रक्षेपक 240-1
70. चारित्रापाहुड 28
71. बारस अणुवेक्खा 76
72. जैन विद्या के आयाम खण्ड-6 पृ. 518-19
73. अ.रा.पृ. 7/88
74. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/137, 138
75. वही, पृ. 4/137; राजवार्तिक 9/9/15/596/29; चारित्रसार 65/7, 75/2
76. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/138; मूलाचार 418
77. प्रवचनसार मूल 240
78. पंचसंग्रह, प्राकृताधिकार 27
79. अ.रा.पृ. 7/87; स्थानांग 3/3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुरिन्द्रिय, और पञ्चेन्द्रिय) के प्रति संयम के चार प्रकार; अजीवकाय, प्रेक्षा, उपेक्षा, परित्याग (अवहट्ट), प्रमार्जना, मन, वचन और काया सम्बन्धी संयम के सात प्रकार-इस प्रकार से भी सत्रह प्रकार का संयम दर्शाया है।[80]

पृथ्वीकायिकादि संयम - पृथ्वीकायिक आदि जीवों की हिंसा न करना, उन्हें कष्ट, परिताप, दुःख नहीं पहुँचना, उनका दुःखमय संयोग नहीं कराना-पृथ्वीकायिकादि संयम हैं।[81]

अजीव संयम - पुस्तक, वस्त्र (उपलक्षण से पात्र, शय्या, आसन एवं अन्य उपकरण) आदि को प्रतिलेखन (पडिलेहण) - प्रमार्जन किये बिना उपयोग में नहीं लेना, पाँचों प्रकार के तृण (साल आदि के) का त्याग करना (उनका प्रतिलेखन दुष्कर होने से), पाँचों प्रकार के एवं अन्य भी सभी प्रकार के चमडे, चमडे के आसन, वस्तुएँ आदि उपयोग का सर्वथा त्याग करना अजीवकाय संयम हैं।[82]

प्रेक्षा संयम - वस्त्र, उपकरण, वसति (मुनि के रहने का स्थान) आदि का बराबर ध्यानपूर्वक और शास्त्रोक्त विधिपूर्वक प्रत्युपेक्षण (चारों ओर से निरीक्षण) करना 'प्रेक्षा संयम' है।[83]

उपेक्षा संयम[84] - यह दो प्रकार से हैं -

(क) **यतिव्यापारापेक्षा** - मुनि को संयम से विषाद प्राप्त होता देखकर अन्य मुनि के द्वारा उसे संयम हेतुप्रेरणा करना 'यतिव्यापार-उपेक्षा संयम' हैं।

(ख) **गृहस्थव्यापारापेक्षा** - गृहस्थ को शस्त्रादि जीवहिंसामय अधिकरणों का व्यापार करता हुआ देखकर उससे मुक्त होने हेतु प्रेरणा करना' गृहस्थव्यापारापेक्षा संयम' हैं।

अवहट्ट संयम - संयम जीवन में प्रतिष्ठापनायोग्य (त्याज्य) पदार्थों को विधिपूर्वक निर्जीव भूमि पर परहना अवहट्ट (परित्याग) संयम हैं।[85]

प्रमार्जना संयम - उपाश्रय, वस्त्र, पात्र, उपकरण,रजोहरणादि से तथा दृष्टि से बार-बार चारों ओर से देखना, शुद्धि करना प्रमार्जना संयम हैं।[86]

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार मुनि वर्षाऋतु में तीन बार (दोनों समय पडिलेहण के समय और प्रथम पोरिसी पूर्ण होने के समय) और शेषकाल में दो बार (सुबह उपधि पडिलेहण के साथ प्रकाश होने पर और दिन के चतुर्थ प्रहर के प्रारंभ में संध्या पडिलेहणके समय) दंडासन से उपाश्रय का प्रमार्जन करें। प्रमार्जन करके जो धूलादि इकट्ठी हो, उसे जयणा (यतना) पूर्वक छाँव में त्याग करें (विसर्जित करें); उछाले नहीं।[87]

यद्यपि यहाँ रजोहरण, दंडासनादि से भूमिशोधन को प्रमार्जन एवं चक्षु से देखने को पडिलेहण कहा है, परंतु परिष्ठापनायोग्य भूमि आदि को तो दृष्टिप्रमार्जन ही होता है और उस हेतु भी मुनियों के व्यवहार में प्रमार्जन शब्द का प्रयोग किया जाता हैं।

मनोवचनकाय संयम - मन, वचन और काय सम्बन्धी व्यापार में संयम-मनोवचनकाय संयम हैं, अन्य शब्दों में इन्हें 'त्रिगुप्ति' भी कहा जाता हैं।

(7) सत्य धर्म :-

प्राणियों के लिए पीडा रहित, हिंसा रहित, हितकारी, प्रियकारी, पथ्य, मित वचन बोलना सत्य धर्म है, अथवा जिनभाषित वस्तुतत्त्व का यथास्थित वस्तुविकल्पना का चिन्तन या उपदेश करना सत्य धर्म है।[88] सत्य धर्म का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत शोध प्रबंध के द्वितीय परिच्छेद में द्वितीय महाव्रत के वर्णन में किया जा चुका है।

(8) शौच धर्म :-

जैन परम्परा में 'शौच' का अर्थ मानसिक पवित्रता है। स्थानांगसूत्र के अनुसार शुचि भाव अथवा शुचिकर्म को 'शौच' कहते हैं।[89] महाव्रत (पालन) को शौच धर्म कहा है।[90] निरतिचार संयम पालन करना 'शौच' धर्म कहलाता है।[91] चोरी नहीं करना- यह भी भाव से 'शौच' कहलाता है।[92] आचारांग के अनुसार सर्वप्रकार की शुद्धिरुप समता व्रत को धारण करना 'शौच' कहलाता हैं।[93] तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार लोभरहित प्रवृत्ति (लोभ कषाय का त्याग) शौच धर्म का लक्षण है।[94] अर्थात् भावों की विशुद्धि, कल्मषता का अभाव और धर्म के साधनों में भी आसक्ति न होना 'शौच-धर्म' हैं।[95]''

आचार्य पद्मनन्दि ने कहा है कि ''परस्त्री एवं परधन की अभिलाषा न करता हुआ जो चित्त षट्काय जीवों की हिंसा से रहित होता है, इसे ही दुर्भेद्य आभ्यन्तर कलुषता को दूर करनेवाला उत्तम शौच धर्म कहा जाता हैं।[96]

शौच के प्रकार[97] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में शौच धर्म के अनेक प्रकार के भेद दर्शाये गये हैं-

(क) प्रथम प्रकार -

(1) पृथ्वी शौच - मिट्टी के द्वारा शुद्ध होना।
(2) अप् शौच - जल के द्वारा शुद्ध होना।
(3) तेजः शौच - अग्नि से या राख से शुद्धि करना।
(4) मंत्र शौच - शुचिविद्या के द्वारा मंत्र से शुद्ध होना।
(5) ब्रह्म शौच - ब्रह्मचर्य पालनरुप कुशल अनुष्ठान से शुद्ध रहना।

(ख) द्वितीय प्रकार -

उपरोक्त पाँच प्रकारों में से पहले के चार भेद द्रव्यशौच के

---

80. अ.रा.पृ. 7/89; समवयांग, समवाय 17
81. अ.रा.पृ. 7/88; 89,, 1/841, 842
82. अ.रा.पृ. 7/88, 89
83. अ.रा.पृ. 5/1095
84. अ.रा.पृ. 2/1137, 1138
85. अ.रा.पृ. 2/801; आचारांग 2/5/2; सूत्रकृतांग 1/4/1
86. अ.रा.पृ. 5/441; आचारांग 2/1/6; निशीथ चूर्णि, उद्देश 2 एवं उद्देश 3
87. अ.रा.पृ. 5/249, 442; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/137
88. अ.रा.पृ. 7/271, 273; सूत्रकृतांग दीपिका 1/6; सूत्रकृतांग 1/12; धर्मसंग्रह सटीक 3/41; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/270
89. अ.रा.पृ. 7/1165; तत्त्वार्थसूत्र 9/6 पर तत्त्वार्थभाष्य
90. वही; स्थानांग 9/3
91. वही; धर्मसंग्रह, अधिकार 3
92. वही; बृहत्कल्पभाष्य सवृति 1/2
93. वही; आचारांग 1/6/5; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा 397
94. तत्त्वार्थसूत्र 9/6 पर तत्त्वार्थ भाष्य, पृ. 388; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/42
95. तत्त्वार्थसूत्र 9/6 पर तत्त्वार्थभाष्य, प. 388, 389
96. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका 1/94
97. अ.रा.पृ. 7/1165; स्थानांग 5/3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्न्तगत आते हैं, ब्रह्मशौच को भाव शौच कहा गया है।[98]

(ग) **तृतीय प्रकार** -

(1) सत्य शौच (2) तप शौच (3) इन्द्रियनिग्रह शौच (4) जीवदया शौच, और (5) जल शौच।[99]

तत्त्वसार में शौच धर्म के चार भेद बताये हैं - 1. भोग 2. उपभोग 3. जीवन 4. इन्द्रियविषय - इन चार प्रकार के लोभों का त्याग - शौच धर्म हैं।[100]

राजवार्तिक के अनुसार (1) जीवन (2) इन्द्रिय (3) आरोग्य (4) उपभोग - इन चार प्रकार के लोभ के त्याग रुप शौच धर्म भी चार प्रकार का है।[101] (जिनपूजा संबंधी शौच धर्म (शुद्धि) का वर्णन जिन पूजा के वर्णन में परिच्छेद-4 (ख) में यथास्थान किया जायेगा)।

शौच का फल :-

शौच धर्म से स्वशरीर के प्रति जुगुप्सा, अन्य के साथ असङ्गम, सत्त्वशुद्धि, मानसिक प्रीति, चित्तस्थैर्य, इन्द्रिजय, आत्मदर्शन-योग्यता, संतोष, सुख, इष्ट दर्शन (देव दर्शन), विशिष्ट लब्धि की प्राप्ति, समाधि और मोक्ष की प्राप्ति होती है।[102] शुचि आचारवाले निर्लोभी व्यक्ति का लोक में सन्मान होता है। उसमें विश्वासादि गुण रहते हैं।[103]

(9) आकिञ्चन्य धर्म :-

जो साधक धन, स्वर्ण आदि बाह्य द्रव्य और मिथ्यात्वादि भावरुप किञ्चन (परिग्रहमात्र) से मुक्त हो; परिग्रहरहित हो - वह 'अकिञ्चन' कहलाता है।[104]; उसके भाव को 'आकिञ्चन्य धर्म' कहते हैं।[105] 'यह मेरा है' -इस प्रकार के भाव अर्थात् मूर्च्छा से निवृत्त होना 'आकिञ्चन्य धर्म' है।[106] आकिञ्चन्यधर्मयुक्त साधक कर्मनिर्जरा के लिए देह के भी ममत्त्व का नाश करता है/शरीर को भी निर्जरा हेतु नष्ट करने योग्य मानता है।[107] (इसका विस्तृत वर्णन अपरिग्रह महाव्रत में किया गया है)

(10) ब्रह्मचर्य धर्म :-

ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन पूर्व में चतुर्थ महाव्रत वर्णन के साथ किया जा चुका है।

तत्त्वार्थ सूत्र, बारस अणुवेक्खा, पञ्चविंशतिका, द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथों में 'मुक्ति' नामक चतुर्थ धर्म के बजाय आठवें यतिधर्म में 'त्याग धर्म' को संग्रहीत किया है[108], अतः यहाँ त्याग धर्म का भी परिचय दिया जा रहा है।

त्याग धर्म :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में त्यागधर्म की व्याख्या करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि "सम्यक् प्रवचन अर्थात् जिनप्रवचन (आगम) में कथित विधि पूर्वक मन-वचन-काया से आरंभ-परिग्रह में प्रवृत्ति नहीं करना 'त्याग' कहलाता हैं"।[109] बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग साधु का त्यागधर्म कहलाता है।[110] तत्त्वार्थभाष्य में कहा है कि "धन-धान्य-खेत-मकानादि बाह्य एवं मिथ्यात्व, कषाय, नोकषायादि आभ्यन्तर परिग्रह एवं उपधि, शरीर, अन्न, जल आदि के आश्रित भाव-दोषों का त्याग करना मुनि का 'त्याग धर्म' हैं।[111] बारस अणुवेक्खा के अनुसार मुनि के द्वारा "पर द्रव्यों के मोह को छोडकर संसार, देह और भोगों से उदासीनतारुप परिणाम रखना" - मुनि का त्याग धर्म है।[112] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार संयत के योग्य ज्ञानादि का दान करना त्याग है।[113] राजवार्तिक में सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहा है।[114] भगवती आराधनानुसार मुनियों के लिए योग्य एसे आहारादि चीजें देना, त्याग धर्म है।[115] पञ्चविंशतिका के अनुसार सदाचारी पुरुष के द्वारा मुनि के लिए जो प्रेमपूर्वक आगम का व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है तथा संयम की साधनभूत पिच्छी (मयूरपुच्छनिर्मित प्रमार्जनी) आदि भी दी जाती है, उसे त्याग धर्म कहा जाता है।[116] प्रवचनसार के अनुसार निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति त्याग है।[117]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने त्याग के भेद बताते हुए कहा है कि बाह्याभ्यन्तर भेद से त्याग दो प्रकार का है।[118] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार दो प्रकार का त्याग बाह्य और आभ्यन्तर उपधि के त्याग रुप है।[119] राजवार्तिक के अनुसार आभ्यन्तर त्याग भी (1) यावज्जीव (जीवन पर्यन्त) और (2) नियतकाल (सीमित समय) - एसे दो प्रकार से हैं।[120] पुरुषार्थसिद्धयुपाय के अनुसार उत्सर्ग रुप निवृत्ति त्याग कृत, कारित, अनुमोदनारुप मन, वचन व काय (3×3) भेद से नव प्रकार का है, और अपवादरुप निवृत्ति त्याग तो अनेक प्रकार का है।[121]

इस प्रकार साधु अपने जीवन में विहित आचार का पालन करता हुआ व्यवहारधर्म से युक्त होता है। और भावों में निश्चयधर्म प्रकट कर लेता है।

---

98. अ.रा.पृ. 7/1165, 3/1278; पञ्चाशक विवरण 4/9
99. वही; स्थानांग 5/3
100. तत्त्वसार 5/16-17
101. राजवार्तिक 9/6/8
102. अ.रा.पृ. 4/2226; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 9/3-4
103. राजवार्तिक-9/6/27; अनगार धर्मामृत-6/27
104. अ.रा.पृ. 1/125; उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 3
105. अ.रा.पृ. 2/57
106. दशवैकालिक 6/22; अनगार धर्मामृत 6/54
107. आवश्यक बृहद्वृत्ति अध्ययन 4; अ.रा.पृ. 2/57; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 1/224
108. तत्त्वार्थ सूत्र-9/6 पर तत्त्वार्थ भाष्य; सर्वार्थ सिद्धि 9/6; बारस अणुवेक्खा 70;पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका 1/7; द्रव्यसंग्रह 35 पर टीका, पृ. 145
109. अ.रा.पृ. 3/1171; पञ्चवस्तुक सटीक 1/8
110. अ.रा.पृ. 3/1171
111. बाह्याभ्यन्तरोपधिशरीरान्नपानाद्याश्रयो भावदोषपरित्यागस्त्यागः। तत्त्वार्थभाष्य 9/6/8, पृ. 391
112. बारस अणुवेक्खा 78
113. सर्वार्थ सिद्धि 9/6, पृ. 413
114. राजवार्तिक 9/6/18
115. भगवती आराधना 46 पर विजयोदया टीका, पृ. 154
116. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका 1/101
117. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/397 पर उद्धृत
118. अ.रा.पृ. 3/1171
119. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/397
120. वही
121. पुरुषार्थसिद्धयुपाय 76

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनादि वासना से संस्कारित जीव एक ही बार में सिद्धि प्राप्त कर सके यह आवश्यक नहीं। प्रत्युत, जैसा कि पूर्व में कह आये हैं, उपशान्तमोह गुणस्थान से भी जीव कभी-कभी तो इतना पतित होता है कि प्रथम गुणस्थान में पहुँच जाता है। यह उतार-चढाव भावों की अस्थिरता के कारण होता है। आत्मा के भावों को प्रभावित करनेवाले बाह्य कारणों में प्रमुख हैं परिषह। परिषहजय के बिना साधु को अभीष्ट सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः प्रत्येक साधु का कर्तव्य है कि वह परिषहजय में सदा प्रयत्नशील रहे। आगे के शीर्षक में परिषहजय पर किंचित् प्रकाश डाला जा रहा हैं।

लक्षणानि

मुखमूर्धं शरीरस्य, सर्वं वा मुखमुच्यते ।
ततोऽपि नासिका श्रेष्ठा, नासिकायाश्च लोचने ।।1।।
यथा नेत्रे तथा शीलं, यथा नासा तथार्जवम् ।
यथा रुपं तथा वित्तं, यथा शीलं तथा गुणाः ।।2।।
अतिह्रस्वेऽतिदीर्घेऽति-स्थूले चातिकृशे तथा ।
अतिकृष्णेऽतिगौरे च, षट्सु सत्त्वं निगद्यते ।।3।।
सद्धर्मः सुभगो निस्क्, सुस्वप्नः सुनयः कविः ।
सूचयत्यात्मनः श्रीमान्, नरः स्वर्गगमागमौ ।।4।।
निर्दम्भः सदयो दानी, दान्तो दक्षः सदा ऋजुः ।
मर्त्ययोनेः समुद्भूतो, भविता च पुनस्तथा ।।5।।
मायालोभक्षुधाऽऽलस्य - बह्वहारादिचेष्टितैः ।
तिर्यग्योनेः समुत्पत्तिं, ख्यापयत्यात्मनः पुमान् ।।6।।
सरागः स्वजनद्वेषी, दुर्भगो मूर्खसङ्गकृत ।
शास्ति स्वस्य गतायातं, नरो नरकवर्त्मनि ।।7।।
आवर्त्तो दक्षिणे भागे, दक्षिणः शुभकृन्नृणाम् ।
वामो वामेति निन्द्यः स्या-द्विगन्यत्वे तु मध्यमः ।।8।।
अरेखं बहुरेखं वा, येषां पाणितलं नृणाम् ।
ते स्युरल्पायुषो निःस्वा, दुःखिता नात्र संशयः ।।9।।
अनामिकान्त्यरेखायाः, कनिष्ठा स्याद्यदाऽधिका ।
धनवृद्धिस्तदा पुंसां, मातृपक्षो बहुस्तथा ।।10।।
मणिबन्धात्पितुर्लेखा, करभाद्विभवायुषोः ।
लेखे द्वे यान्ति तिस्रोऽपि, तर्जन्युङ्गुष्ठकान्तरम् ।।11।।
येषां रेखा इमास्तिस्रः, संपूर्णा दोषवर्जिताः ।
तेषां गोत्रधनायूंषि, संपूर्णान्यन्यथा न तु ।।12।।
उल्लङ्घ्यन्ते च यावन्त्यो-ङ्गुल्यो जीवितरेखया
पञ्चविंशतयो ज्ञेया-स्तावन्त्यः शरदां बुधैः ।।13।।
यवैरङ्गुष्ठमध्यस्थै-र्विद्याख्यातिविभूतयः ।
शुक्लपक्षे तथा जन्म, दक्षिणाङ्गुष्ठगैश्च तैः ।।14।।
न स्त्री त्यजति रक्ताक्षं, नार्थं कनकपिङ्गलम् ।
दीर्घबाहुं न चैश्वर्यं, न मांसोपचितं सुखम् ।।15।।
चक्षुः स्नेहेन सौभाग्यं, दन्तस्नेहेन भोजनम् ।
वपुः स्नेहेन सौख्यं स्यात्, पादस्नेहेन वाहनम् ।।16।।
उरोविशालो धन धान्य भोगी, शिरोविशालो नृपपुङ्गवश्च ।
कटी विशालो बहुपुत्रदारो, विशालपादः सततं सुखी स्यात् ।।17।।

– अ.रा.पृ. 6/565

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिषहजय

'परिषह' शब्द की व्याख्या करते अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि श्री गणधर भगवंतने आठवें 'कर्मप्रवाद' पूर्व के 'प्रतिनियतार्थाधिकार' नामक सत्रहवें प्राभृत में परिषह अध्ययन में बाईस (22) परिषहों का वर्णन किया है।[1] उसी के अनुसार उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है- **''समन्तात् स्वहेतुभिस्दीरिता मार्गाच्यवननिर्जरार्थं साध्यादिभिः सह्यन्ते इति परीषहाः।''** अर्थात् ''मोक्षमार्ग में च्युत न होने के लिए और कर्म की निर्जरा के लिए अपने अपने हेतुओं के द्वारा उदय में आया जो भी (अनुकूलवियोग-प्रतिकूलवियोग का प्रसंग/पीडादि) साधुओं के द्वारा सहन किया जाता है उसे 'परिषह' कहते हैं।'' तत्त्वार्थभाष्य में आचार्य उमास्वातिने परिषहों को धर्म में विघ्न उत्पन्न करने का कारण कहा है।[3] आचार्य श्रीमद्विजय राजशेखरसूरिने मुनि जीवन में विशिष्ट प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंगों की उपस्थिति को परिषह कहा है।[4] पं. आशाधरने 'अन्तर्द्रव्य जीव के और बहिर्द्रव्य पुद्गल के परिणाम भूख आदि को, जो शारीरिक और मानसिक पीडा के कारण हैं'[5] उन्हें परिषह कहा है। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्रीने ''साधु को मोक्षमार्ग की साधना करते समय अचनाक जो कष्ट उपस्थित हो जाते हैं'', उन्हें परीषह कहा है।[6] ज्ञानपञ्चिका' में 'परिषहजय' को संयम-तप का एक भाग कहा है।[7]

परिषह के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश, अनगार धर्मामृत, तत्त्वार्थ सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्र पाहुड, जिनागमसार, बृहद् द्रव्य संग्रह, चारित्रसार आदि ग्रंथों में परिषह के 22 प्रकार बताये हैं।[8]

बाईस परिषहों के नाम - अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने 22 परिषहों के नाम निम्नानुसार बताये हैं[9]-

1. दिगिंछा (क्षुधा) 2. पिपासा 3. शीत 4. उष्ण 5. दंशमशक 6. अचेल 7. अरति 8. स्त्री 9. चर्या 10. नैषद्यिकी 11. शय्या 12. आक्रोश 13. वध 14. याचना 15. अलाभ 16. रोग 17. तृण-स्पर्श 18. जल्ल (मल) 19. सत्कार-पुरस्कार 20. प्रज्ञा 21. अज्ञान और 22. दर्शन।

अभिधान राजेन्द्र कोश में जिसे दिगिंछा परिषह कहा है, वह वास्तव में क्षुधा परिषह है।[10] दशवैकालिकसूत्र; तत्त्वार्थसूत्र आदि सभी सूत्रग्रन्थों में इसे क्षुधा (क्षुत्) परिषह कहा गया है[11], अचेल परिषह को तत्त्वार्थसूत्र, बृहद्द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथों में नग्नता परिषह कहा गया है[12], नैषद्यिकी परिषह को निषद्या परिषह एवं जल्ल परिषह को मल परिषह कहा गया है।[13] श्री अभिधान राजेन्द्र कोश में वर्णित चर्या और नैषद्यिकी परिषह को बृहद् द्रव्यसंग्रह में 'गमन' और 'आसन' परिषह नाम दिये गये हैं[14], लेकिन दोनों का भाव एक ही है।

दिगिञ्छा परिषहजय :

दिगिञ्छा 'क्षुधा' को कहते हैं।[15] असंयमभीरु, तपस्या, विहार, मुनियोग्य आवश्यक क्रियादि में रत कालीपर्ववत् कृशकाय मुनि को क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल होने पर, जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त होकर प्राणों को जलाने लगे - एसी भूख लगने पर भी शुद्ध आहार (भिक्षा/गोचरी) प्राप्त न होना 'क्षुधा' परिषह है।[16] तपस्वी होने पर भी, क्षुधा परिषह उत्पन्न होने पर भी, अट्ठमादि तपधारी, बलवान्, असंयमभीरु मुनि किसी प्रकार के त्रस या स्थावर जीवों की हिंसा का कृत-कारित-अनुमोदन से त्याग करें और अदीनमन से समभावपूर्वक क्षुधा को सहन करना तथा नवकोटि से शुद्ध आहार को ही प्राप्त कर उसे आहार की रसलोलुपता से रहित होकर अतिमात्रा का त्याग कर नियतमात्रा में ही उपयोग करना चाहिए।[17]

निरवद्य आहार के गवेषक साधु को शुद्ध आहार प्राप्त नहीं होने पर या न्यून प्राप्त होने पर भी अकाली (भिक्षाकाल से भिन्न काल में मिलने वाली) या सावद्य भिक्षा का त्याग करके अदीनमन से समभावपूर्वक षट् आवश्यक क्रियाएँ, स्वाध्याय, ध्यान, भावना आदि में लीन रहकर तीव्र क्षुधा उदय में आने पर भी अनेषणीय आहार का त्याग करना 'क्षुधा परिषह जय' हैं।[18]

जिनागमसार के अनुसार क्षुधा परिषह के कारण निर्दोष आहार न मिलने पर आहार का विकल्प तोडकर पुरुषार्थपूर्वक निर्विकल्प दशा में लीन हो जाना - 'क्षुधा परिषह जय' हैं।[19] अनगार धर्मामृत में भी मुनि को शुभ विचारों से एवं पराधीन अवस्था की क्षुधा वेदना को स्मरण कर क्षुधा परिषह पर विजय प्राप्त करने का उपदेश हैं।[20]

पिपासा परिषहजय :-

भयंकर गर्मी में प्यास से गला सूख जाने पर भी संयमी साधु को शुद्ध-प्रासुक-उचित जल की प्राप्ति न होना 'पिपासा परिषह' हैं।[21]

---

1. कम्मप्पवायपुव्वे, सत्तरसे पाहुडम्मि जंसुत्तं।
   सणयं सोदाहरणं तं चेव इहं पि णायव्वं ॥69॥ - अ.रा.पृ. 5/639; उत्तराध्ययनसूत्र 2/69
2. अ.रा.पृ. 5/639; उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 2
3. तत्त्वार्थसूत्र 9/9 का भाष्य पृ. 306
4. तत्त्वार्थसूत्र सार्थ, पृ. 595, विवेचनकार आ. राजशेखरसूरि (महेसाणा प्रकाशन)
5. धर्मामृत अनगार 83
6. धर्मामृत अनगार, पृ. 476, विशेषार्थ गाथा 83
7. ''।.....अस्य संयमतपोविशेषत्वादिहोपदेशः।'' -धर्मामृत अनगार, पृ. 476
8. अ.रा.पृ. 5/642; तत्त्वार्थ सूत्र-/9; उत्तराध्ययनसूत्र, द्वितीय अध्ययन; सूत्रपाहुड 12; जिनागमसार, प्रश्न 64, पृ.-792; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 35 कीटीका, पृ. 166
9. अ.रा.पृ. 5/642
10. 'दिगिछत्ति' देशीवचनेन बुभुक्षोच्यते। अ.रा.पृ. 5/642, 4/2508, 3/755
11. दशवैकालिक 8/27; तत्त्वार्थसूत्र 9/9
12. अ.रा.पृ. 5/642; तत्त्वार्थसूत्र 9/9; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 35 की टीका
13. अ.रा.पृ. 5/642; तत्त्वार्थसूत्र 9/9
14. अ.रा.पृ. 5/642; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 35 की टीका
15. अ.रा.पृ. 5/642, 4/2508, 3/755
16. अ.रा.पृ. 3/755, 5/642; अनगार धर्मामृत 89
17. अ.रा.पृ. 3/755
18. अ.रा.पृ. 3/755; तत्त्वार्थसूत्र, गुजराती विवेचन पृ. 595
19. जिनागमसार, प्रकरण 7:2; परिषहजय, प्रश्न 66, पृ. 793
20. अनगार धर्मामृत 89, पृ. 480
21. अ.रा.पृ. 5/937

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भयंकर गरमी में शुष्क अरण्य में भी प्यास से गला सूखने पर भी, प्राणान्त कष्टावस्था में भी नदी आदि का या अन्य किसी भी प्रकार के सचित जल को न पीना 'पिपासा परिषह जय' हैं।[22]

शीत परिषहजय :-

उद्यान, वृक्षमूल, चतुष्पथ, नदीतट आदि स्थानों पर रहते हुए शीतल वायु का झोंका या हिमपातादि से अन्त:प्रान्ताहार और जीर्णप्रायवस्त्रधारी, अकिञ्चन, आलयरहित मुनि को अतिशय ठंड लगना, शीत परिषह है।[23]

अतिशय शीत, शीतल हवा के झोंके या हिमपातादि शीतजन्य विषम परिस्थितियों में भी मुनि के द्वारा अकल्पनीय वस्त्रादि को ग्रहण नहीं करना, अग्नि नहीं जलाना, गृहस्थ के द्वारा अग्नि जलाने पर भी उससे ताप (गरमी) नहीं लेते हुए या मन से भी उसकी इच्छा नहीं करते हुए समभावपूर्वक शीत को सहन करना और शीतादि में एषणीय (आगमोक्त विधि से ग्राह्य) वस्त्र ही ग्रहण करना 'शीतपरिषह जय' कहलाता है।[24]

उष्ण परिषहजय :-

ग्रीष्म या शरद् ऋतु में विहार, आहार-चर्यादि में या उपाश्रयादि में ताप से गरमी लगना, सिर-पैर आदि तपना, मैल-प्रस्वेदादि होना 'उष्ण परिषह' कहलाता हैं।[25]

उष्णपरिषह उदय में आने पर मुनि के द्वारा छाँव, शीतल जलाश्रय, जलधारा, चंदन विलेपन, शीतल वायु, स्नान आदि की इच्छा न करना, दूसरों के द्वारा या वस्त्र या वायु यंत्र (पंखा आदि) से हवा न करवाना, पूर्व में गृहस्थ जीवन में भुक्त शीतोपचार का स्मरण नहीं करना, गरमी से दीनता प्राप्त होकर खिन्न नहीं होना, उद्वेग नहीं करना 'उष्ण परिषह जय' हैं।[26]

दंशमशक परिषहजय :-

मुनि को जूँ, मक्खी, डाँस, मच्छरादि के द्वारा डंक देने रुप या मारने रुप उपद्रव होना 'दंशमशक परिषह' हैं।[27]

इस परिषह के उत्पन्न होने पर उस पर द्वेष नहीं करना, औषध आदि के द्वारा उसका निवारण नहीं कराना, उस स्थान का त्याग न करना, 'दंशमशक परिषह जय' हैं।[28]

अचेलक परिषहजय :-

न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलक:।[29] कुत्सितं वा चेलं यस्यासावचेलक:।[30] अथवा अमहामूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत्।[31] अर्थात् जिस साधु के संपूर्णतया वस्त्र धारण नहीं किये होते या असार वस्त्र (सामान्य) धारण किये हो या अल्पमूल्यवाले खंडित, जीर्ण-प्राय: वस्त्र धारण किये हों उसे 'अचेलक' कहते हैं। 'अचेलक' दो प्रकार से है[32] - (1) सदचेलक (2) असदचेलक। और (1) मुख्य अचेलकत्व और (2) औपचारिक अचेलकत्व।

यहाँ तीर्थंकर असदचलेक या मुख्यरुप से अचेलक होते हैं क्योंकि उन्हें देवदुष्य वस्त्र के पतन से यावज्जीव सर्वथा अचेलकत्व होता है। शेष सब जिनकल्पी साधु भी सदचेलक है[33] क्योंकि उन्हें जघन्य से भी रजोहरण एवं मुहपत्ती का तो अवश्य संभव है ही।[34] सामान्य साधुओं को मुख्य अचेलकत्व (सर्वथा वस्त्ररहितता) संयमोपकारी न होने से यहाँ साधुओं के परिषह के विषय में औपचारिक अचेलकत्व को ही ग्रहण किया है।[35]

औपचारिक अचेलकता :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि धर्मबुद्धि से मुनियों के वस्त्र परिशुद्ध, एषणीय, जीर्णप्राय:, असार, अल्प अर्थात्, गणना-प्रमाण से हीन, तुच्छ, अनियतभोगी होने से और मुनि मूर्च्छारहित होने से वे उपरोक्त प्रकार के वस्त्रों को धारण करने पर भी 'अचेलक' कहलाते हैं। अर्थात् मुनियों के वस्त्र अहिंसापूर्वक बने हुए होते हैं।[36] मुनि जानु से चार अंगुल उपर तक चोलपट्ट एवं बदन पर एक चादर धारण करते हैं जिससे उनका आधा शरीर ढँका हुआ और आधा खुल्ला रहता है। सिर, पैर आदि खुले रहते हैं। अत: इस प्रकार सामान्य लोगों से कम एवं प्रमाण से हीन वस्त्र होने से, शीतादि कारण से क्वचित् अधिक वस्त्र होने पर भी 'अनियतभोग' और 'अन्यभोग' होने से मुनि सवस्त्र होने पर भी उन्हें अचेलक कहा है।[37]

अभिधान राजेन्द्र कोश में इस बात को दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि "मात्र कटिवस्त्र पहनकर नदी पार करने वाले पुरुष या जीर्ण साडी पहने हुई वृद्धा की तरह धर्मबुद्धि से उपरोक्तानुसार अल्पवस्त्रधारी मुनि भी अचेलक कहे जाते हैं।"[38]

'धर्मबुद्धि से' -इस पद के कथन से आचार्यश्री ने जो दु:खी-दारिद्र-याचकादि के गरीबी के कारण अल्पवस्त्राधारी या जीर्णवस्त्रधारी होने पर भी उनमें धर्मबुद्धि एवं वस्त्रसंबंधी मूर्च्छा का अभाव न होने से उनका परिहार किया है।[39]

अचेलक परिषहजय का स्वरुप :-

पूर्वोक्तानुसार जीर्ण, अपूर्ण, मलिन, अल्पमूल्यवाले वस्त्र धारण करने पर मुनि को लज्जा, दीनता, आकांक्षा, तथाविध वस्त्रों का लाभालाभ या शीतादि प्रसंगो की प्राप्ति अचेल परिषह है।[40]

अचेल परिषह सहन करते समय मुनि अल्प-जीर्णप्राय: वस्त्रों से लज्जारहित रहें, तथाविध योग्य वस्त्र की प्राप्ति न होने पर दीन न बनें, नये और मूल्यवान् अकल्प्य वस्त्रों की या एसे दाता की इच्छा न करें, शीतादि प्रसंगों में अग्नि आदि का आलम्बन न

22. अ.रा.पृ. 3/758; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/58
23. अ.रा.पृ. 7/895, 896; प्रवचनसारोद्धार, 86 वाँ द्वार
24. अ.रा.पृ. 7/897; आचारांग 1/8/4; पञ्चसंग्रह सटीक, द्वार 4; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/30
25. अ.रा.पृ. 2/781, 782; सूत्रकृतांग 1/3/5
26. अ.रा.पृ. 2/782; अनगार धर्मामृत 6/92
27. अ.रा.पृ. 4/2439
28. अ.रा.पृ. 4/2440; पंचसंग्रह, द्वार 4; अनगार धर्मामृत 6/93
29. अ.रा.पृ. 1/188; स्थानांग 5/3
30. वही, प्रवचनसारोद्धार; 78 वाँ द्वार
31. वही, पृ. 1/190; आवश्यक बृहद्वृत्ति, अध्ययन 4
32. वही, पृ. 1/188; बृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य, 1 उद्देश
33. अ.रा.पृ. 1/188
34. अ.रा.पृ. 1/188
35. "।.....तत्रेदानी मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवत्यत औपचारिकं गृह्यते, मुख्यं तु जिनानामेवासीदति।" - अ.रा.पृ. 1/188
36. अ.रा.पृ. 1/188
37. अ.रा.पृ. 1/188, 189, 190
38. वही
39. अ.रा.पृ. 1/189
40. अ.रा.पृ. 1/190, 192

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करें, और पूर्वोक्त अल्पप्रतिलेखनादि पाँचों प्रकार के लाभों का चिंतन करता हुआ इस अचेलकत्व को उपकारी, धर्महितकारी, यतिधर्म को समझकर अचेल परिषह पर विजय प्राप्त करना 'अचेल परिषह जय' हैं।[41] अनगार धर्मामृत में स्त्री आदि के दर्शन से स्वयं नग्न होने पर मुनि का चित्त दूषित नहीं होना, 'अचेल/नाग्न्य परिषह जय' कहा है।[42]

''सभी जैनागमों में जिस प्रकार कल्पनीय आहार भक्षण करने पर भी क्षुत्परिषहजय स्वीकार्य है, उसी प्रकार अल्प, जीर्णप्रायः, श्वेत, मानोपेत एषणीय वस्त्रधारी अचेलक परिषहजेता कहा जाता है अतः इस औपचारिक अचेलकत्व परिषह जय से मोक्ष प्राप्ति संभव है'' -इस कथन के द्वारा आचार्यश्रीने 'वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं होती' -इस दिगम्बर मत का यहीं पर खंडन किया है।[43]

साथ ही यहाँ पर अचेलक परिषह आश्रयी साध्वी संबंधी विशेष कथन करते हुए आचार्यश्रीने निशीथचूर्णि और बृहत्कल्पवृत्ति को उद्धृत करते हुए कहा है कि ''साध्वी को अचेलिका (वस्त्र रहित) नहीं होना चाहिए। जैनागमों में इसी कारण से साध्वी को जिनकल्प धारण करने का निषेध किया गया है क्योंकि चाहे कुलटा हो या कुलवान्, लज्जावती स्त्रियाँ कभी नग्नता पसंद नहीं करतीं और आर्यिका/साध्वी के अचेलिका होने पर वह लोकापवाद, जुगुप्सा, निंदा, तथा धिक्कार का पात्र बनेगी; इस कारण से कोई कुलवती स्त्री के द्वारा दीक्षा ग्रहण नहीं किये जाने पर या गृहस्थ के द्वारा उसे आहार-पानी आदि भी न दिये जाने पर तथा प्रवचनहीलना, तीर्थोच्छेद, चोरादि के द्वारा पीडा, तरुणादि के द्वारा उपसर्गादि निमित्तों से धर्म की निंदा होती है। अतः इस दोषोत्पत्ति के कारण साध्वी को अचेलिका बनने (नग्न रहने) का निषेध किया गया हैं।[44]

अरति परिषहजय :-

संयमी साधु को मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न चित्तविकार के कारण संयम में उद्विग्नता उत्पन्न होना 'अरति परिषह' हैं।[45]

स्वाध्याय, ध्यान, भावना द्वारा धर्मतत्त्वचिंतन से अरतिस्थान की सम्यगालोचना कर संयमधर्म में स्थिर होना - 'अरति परिषह जय' कहलाता है।[46] इसलिये संयमी को पाँचों इन्द्रिय-विषयों के श्रवण, स्मरण और मनोज्ञ शब्द आदि से दूर रहना चाहिए।[47]

स्त्री परिषहजय :-

किसी वसति, उपवन या एकान्त स्थान में राग से, द्वेष से, यौवन के दर्प से, विलास से, रुप के मद से, विभ्रम से, उन्माद से या मद्यपानादि के प्रभाव से जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है - एसी युवती स्त्री के द्वारा मुनि के चित्त को विकारयुक्त करने के लिए मुनि के सामने नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल भावों का प्रदर्शन करना, अर्थात् नेत्रकटाक्ष, आलिङ्गन, चुम्बन, विकारी श्रृंगार, आकार, विहार, हाव-भाव, विलास, हास्य, अङ्गप्रदर्शन आदि करना, मुनि को शारीरिक पीडा देना 'स्त्री परिषह' है।[48] (इसी तरह साध्वी के लिए पुरुष संबंधी समझना चाहिए)।

स्त्री परिषह होने पर मुनि के द्वारा एकांत का त्याग करना, गुरु या स्थविर-वृद्ध मुनियों के बीच रहना, कछुए की तरह अपनी इन्द्रियाँ संकुचित करके गुरु दर्शित युक्तिपूर्वक शीघ्र स्त्रीपरिषह का निराकरण करना, रागपूर्वक स्त्री एवं स्त्री के अङ्गोपाङ्गदर्शन का त्याग करना, स्त्री के मधुर स्वर श्रवण (गीतादि) का त्याग करना, स्त्रीकथा का त्याग करना, विषयसुख के दारुण विपाक का चिंतन करना, और हर संभव युक्ति से कामदेव के पाँचों बाणों को निष्फल करना, उत्तम ब्रह्मचर्यपोषक चिंतन करना-स्त्रीपरिषहजय/पुरुषपरिषहजय हैं।[49] और इतना करने पर भी यदि स्त्रीपरिषह पर विजय प्राप्त न हो सके और व्रतभङ्ग की स्थिति आ जाय तो देह के ममत्व का भी त्याग कर देह का भी त्याग कर देना स्त्रीपरिषहजय / पुरुषपरिषहजय हैं।[50]

चर्या परिषहजय :-

मुनि के द्वारा ममत्व रहित होकर ग्राम, नगर, देश आदि के प्रतिबन्ध से रहित, मासकल्पादि मर्यादापूर्वक सर्वत्र सतत विहार करने पर रास्ते में काँटे, कंकर चुभना, पैरों से खून निकलना, छाले होना, थकान लगना - 'चर्या परिषह' हैं।[51]

विहार में चर्या परिषह आने पर पूर्व गृहस्थावस्था में भुक्त वाहनादि की यात्रा को याद न करना 'चर्या परिषह जय' हैं।[52]

निषद्या परिषहजय :-

स्त्री-तिर्यंच-नपुंसकादि रहित स्थान (वसति, उपाश्रय) में मुनि के रहने पर अथवा स्वाध्यायभूमि में या श्मशानभूमि में कायोत्सर्गादि करने पर अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग होना 'निषद्या परिषह' हैं।[53]

निषद्य परिषह होने पर उपसर्ग के प्रतिकार का सामर्थ्य होने पर भी देहममत्व का त्याग कर, निर्भय होकर अपने आसन से चलायमान न होना और यह परिषह मुझे कुछ भी नहीं कर सकता - एसा चिन्तन करना 'निषद्या परिषहजय' है। व्यन्तरादिकृत उपसर्ग में उवसग्गहरं स्तोत्र पठनीय हैं।[54]

शय्या परिषहजय :-

मुनि को सम-विषम भूमि, पत्थर, रेती-कंकड युक्त अतिशय शीतल, अतिशय उष्ण, ऊँची, नीची, मृदु, कठिन शय्या या वसति (उपाश्रयादि) की प्राप्ति होना 'शय्या परिषह' हैं।[55]

स्वाध्याय, विहार, तप आदि से थके हुए होने पर भी एसी विषम (विपरीत) शय्या या वसति प्राप्त होने पर भी मुनि उसके लिए उद्वेग न करें, विषाद न करें, अन्यत्र न जाये या अन्य शय्या ग्रहण नहीं करें अथवा प्रशस्त शय्या प्राप्त होने पर गर्व न करें, हर्षित न हो -यह 'शय्या परिषह जय' कहा गया हैं।[56]

---

41. वही
42. अनगार धर्मामृत 6/94
43. अ.रा.पृ. 1/192
44. अ.रा.पृ. 1/192, 193
45. अ.रा.पृ. 1/753; भगवती सूत्र 8/8; आचारांग 1/6/3; स्थानांग 1/1; उत्तराध्ययनसूत्र 2/14
46. अ.रा.पृ. 1/754; चारित्रसार 115/3
47. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/134
48. अ.रा.पृ. 2/587; उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 2; भगवतीसूत्र 8/8
49. अ.रा.पृ. 2/588, 589; आचारांग 1/4/2; पञ्चसंग्रह, द्वार 4; अनगार धर्मामृत 6/96; चारित्रसार, पृ. 77, 78
50. अ.रा.पृ. 2/588
51. अ.रा.पृ. 3/1152
52. अ.रा.पृ. 3/1153; अनगार धर्मामृत 6/97
53. अ.रा.पृ. 4/2147; उत्तराध्ययनसूत्र, 2 अध्ययन
54. अ.रा.पृ. 4/2147; उत्तराध्ययनसूत्र, पाईयवृत्ति 3/21; अनगार धर्मामृत 6/98
55. अ.रा.पृ. 7/815; प्रवचनसारोद्धार, द्वार 86
56. अ.रा.पृ. 7/815; पंचसंग्रह, द्वार 4; चारित्रसार 116/3; भगवतीसूत्र 8/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में इसके साथ ही मुनि के द्वारा निद्रावस्था में (जयणा के बिना) करवट नहीं बदलना और व्यन्तरादिकृत उपसर्गो में भी शरीर को चलायमान नहीं करना - 'शय्या परिषह जय' कहा गया हैं।[57]

आक्रोश परिषहजय :-

दूसरों के द्वारा मुनि पर क्रोध करना, असभ्य वचन कहना, निंदा करना, गाली देना, झूठी आलोचना करना, क्रोधजनक वचन सुनाना 'आक्रोश परिषह' हैं।[58]

आक्रोश परिषह होने पर मुनि के द्वारा उसे समभावपूर्वक सहन करना, सामर्थ्य होते हुए भी प्रतिकार न करना, उस पर क्रोध न करना, अपितु उसके भी हित, उपकार का चिन्तन करना और स्वयं के हृदय में लेशमात्र कषाय का प्रवेश न होने देना 'आक्रोश परिषह जय' हैं।[59]

वध परिषहजय :-

अनार्य देश में लोगों के द्वारा मुनि को गुप्तचर, छद्मवेशी या चोर समझकर या अनार्य अथवा अज्ञानी लोगों के द्वारा मुनि को लगुड (लकडी), तलवार, मुट्ठी, मातुलिङ्गी फल आदि से मारना, रस्सी आदि से बाँधना, मरणतुल्य कदर्थना करना, पीडा पहुँचाना 'वध परिषह' हैं।[60]

वध परिषह उदय में आने पर मुनि के द्वारा मारनेवालों के प्रति वैर नहीं रखना और 'ये लोग मेरी आत्मा को नहीं, अपितु अपवित्र विनाशी शरीर का घात करते हैं, ज्ञानादि गुण, व्रत-शीलादि का नहीं' -एसा शुद्ध चिंतन करना 'वध परिषह जय' हैं।[61]

याचना परिषहजय :-

मुनि जीवन में आहार, पानी, वस्त्र, पात्र औषध आदि समस्त मुनिजीवन प्रायोग्य आवश्यक वस्तु यावद् दंतशोधन (दांत खुदरने की शलाका) तक की समस्त वस्तु गृहस्थ से बिना याचना किये लेना-वापरना निषिद्ध है। अतः मुनि जीवन संबंधी गोचरी जाना एवं वस्त्रादि समस्त वस्तुओं की गवेषणा कर गृहस्थ से याचना करना ही 'याचना परिषह' है।[62] दिगम्बर परम्परा में वचन या संकेत से किसी चीज की याचना नहीं करना 'याचना परिषह' हैं।[63]

अभिमानरहित, महासत्त्वशाली महापुरुषों/मुनियों के द्वारा ज्ञानादि की अभिवृद्धि हेतु देह की स्थिरता के लिए गृहस्थ के घर आहारादि हेतु गवेषणापूर्वक गोचरी जाना, दाता के द्वारा आवश्यक वस्तु न दिये जाने पर या आक्रोशयुक्त या हीनवचन कहने पर भी मन में खेद न करना, इससे तो गृहस्थ जीवन अच्छा-एसा न सोचना 'याचना परिषह जय' हैं।[64] क्योंकि गृहस्थ जीवन बहु सावद्य है और मुनि जीवन निरवद्यवृत्तियुक्त हैं।

अलाभ परिषहजय :-

मुनि के द्वारा भोजन हेतु गोचरी (आहार चर्या) के लिए ऊँच-नीचादि अनेक घरों में जाने पर बहुत दिनों तक भी आहारादि की प्राप्ति न होना 'अलाभ परिषह' हैं।[65]

गृहस्थ के घर जाने पर मुनि को आहारादि प्राप्ति होने पर या न होने पर भी मुनि का मुख अविकृत रहना, चित्त संक्लेश रहित रहना, मुनि के द्वारा दाता विशेष की परीक्षा करने में निरुत्सुकता होना तथा 'लाभ से अलाभ मेरे लिए परम तप है' इस प्रकार की भावना से मन को भावित करते हुए संतुष्ट रहना, मुनि का 'अलाभ परिषह जय' हैं।[66]

रोग परिषहजय :-

पूर्वकृत कर्मो के उदय से मुनि को मुनि जीवन में मुनि के शरीर में ज्वर, श्वास, खाँसी, अतिसारादि रोगों का उदय होना 'रोग परिषह' हैं।[67]

रोग परिषह आने पर गच्छनिर्गत मुनि के द्वारा रोग की चिकित्सा न कराना अथवा गच्छवासी मुनि के द्वारा अल्प रोग होने पर समभावपूर्वक सहन करना और यदि रोग ज्यादा या भयंकर हो तो अल्प-बहुत्व पूर्वक परिणाम का विचार कर शास्त्रोक्त विधि के अनुसार रोग की चिकित्सा करना और उसमें जो प्रतिक्रिया (साध्वाचार विरुद्ध आचरण) हुआ हो; गुरु के समक्ष विधिपूर्वक उसकी सम्यग् आलोचना करना, रोग के कारण उद्वेग न करना, मृत्यु का चिंतन नहीं करना, अदीनभाव से रहना, देह-आत्मा के भेद ज्ञान का चिन्तन करना - 'रोग परिषह जय' कहलाता हैं।[68]

तृण-स्पर्श परिषहजय :-

मुनि के द्वारा विश्राम हेतु दर्भादि की शय्या पर शयन करने पर संथारा, उत्तरपट्ट आदि जीर्ण या पतले होने पर या चोर आदि द्वारा ले जाने पर शय्या में तृण के तीक्ष्ण अग्रभाग के स्पर्श से वेदना होना 'तृण-स्पर्श परिषह' हैं।[69]

दर्भशय्या में तृणादिजनित वेदना को समभावपूर्वक सहन करना, उसमें खेद न करना 'तृण स्पर्श परिषह जय' हैं।[70]

जल्ल (मल) परिषहजय :-

मुनि को ग्रीष्मादि ऋतु में या विहारादि में प्रस्वेद या धूलादि से मल (मैल) या शीतादि में श्लेष्मादि होना 'मल परिषह' हैं।[71]

मल परिषह होने पर मुनि के द्वारा मल दूर कर सुख प्राप्ति की दृष्टि से, साता की इच्छा से स्नानादि न करना, स्नानादि की इच्छा न करना 'मल परिषह जय' कहलाता है।[72]

सत्कार-पुरस्कार परिषहजय :-

सत्कार अर्थात् वस्त्रादि दान के द्वारा पूजा, पुरस्कार अर्थात् अभ्युत्थान (खडे होना), अभिवादन (प्रशंसापूर्वक अगवानी करना, निमंत्रण देना, मुख्यता देना) । ब्रह्मचारी, तपस्वी, स्वसमयज्ञ-परसमयज्ञ, वादी

57. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/4, 5
58. अ.रा.पृ. 1/131; सूत्रकृतांग 1/8
59. अ.रा.पृ. 1/132; उत्तराध्ययन 2/24, 25; पञ्चाशक 13 विवरण; अनगार धर्मामृत 6/100
60. अ.रा.पृ. 5/647, 648; सूत्रकृतांग 1/3/1/15; चारित्रसार 80
61. अ.रा.पृ. 5/648; सूत्रकृतांग 1/3/1/17; चारित्रसार, पृ. 80, 81; अनगार धर्मामृत 6/101
62. अ.रा.पृ. 4/1452, 1453
63. अनगार धर्मामृत 6/102, पृ. 485
64. अ.रा.पृ. 4/1453; उत्तराध्ययनसूत्र 2/29
65. अ.रा.पृ. 1/771, 772; भगवतीसूत्र 8/8
66. अ.रा.पृ. 1/772; आवश्यकचूर्णि 4/1, 2; चारित्रसार, पृ. 82
67. अ.रा.पृ. 6/578, 579; भगवतीसूत्र 8/8
68. अ.रा.पृ. 6/579; आवश्यक बृहद्वृत्ति, अध्ययन 4; पञ्चसंग्रह, द्वार 4; पृ. 83
69. अ.रा.पृ. 4/2177; आचारांग 1/9/2
70. अ.रा.पृ. 4/2177; पंचसंग्रह द्वार 2; अनगार धर्मामृत 6/105; चारित्रसार, पृ. 83
71. अ.रा.पृ. 4/1429; भगवतीसूत्र 8/8
72. अ.रा.पृ. 4/1229; आवश्यकचूर्णि 2/35; चारित्रसार, पृ. 84

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि मुनि की राजा, श्रेष्ठी आदि गृहस्थों के द्वारा भक्ति, पूजा, प्रणाम, बहुमान, आसनदान, वस्त्र-पात्रादि दान आदि न होना, सत्कार-पुरस्कार परिषह है।[73]

ऐसी परिस्थिति में सत्कार-पुरस्कार की इच्छा नहीं करना, तद्हेतु आर्त्तध्यानादि रुप चिंतन नहीं करना, असत्कार में दीनता और सत्कारादि में हर्ष धारण नहीं करना 'सत्कार-पुरस्कार परिषह जय' है।[74]

प्रज्ञा परिषहजय :-

बारह अङ्ग, चौदह पूर्व और प्रकीर्णक सहित समस्त श्रुत के ज्ञाता, विद्याधर, उपदेष्टा, वादी विजेता, शास्त्रों में निपुण मुनि को भी अपने ज्ञान का घमंड होना' 'प्रज्ञा परिषह' है।[75]

शास्त्रपारंगामी श्रुतधर, पूर्वधर या सामान्य मुनि को विशिष्ट ज्ञान-विद्या-लब्धि आदि की प्राप्ति होने पर भी उसका लेश मात्र अभिमान नहीं होना 'प्रज्ञा परिषह जय' है।[76]

अज्ञान परिषहजय :-

निकाचित ज्ञानावरणीय कर्मों के उदय से जैन दीक्षा अङ्गीकार कर व्रत-नियम पालन एवं विभिन्न प्रकार के उग्र तप करने पर भी, लम्बे समय (बारह-बारह वर्ष) तक आयम्बिलादि तपपूर्वक श्रुत प्राप्ति हेतु प्रयत्न करने पर भी वस्तुतत्त्वप्रकाशक निर्मल विशिष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होना 'अज्ञान परिषह' है।[77]

अज्ञान परिषह की उदयावस्था में लोकों के द्वारा यह जड है, अज्ञानी है, पशु तुल्य है - एसे निंदा-तिरस्कार युक्त वचनों को समभावपूर्वक सहन करना, और 'मैं एसे तिरस्कृत वचन सहन करता हूँ, तपस्वी हूँ, अप्रमत हूँ फिर भी मुझे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है' -एसे विचारों से मुक्त होना 'अज्ञान परिषह जय' है।[78]

परिषह सहन करने से लाभ :-

जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त को प्रमुखता दी गयी है; जीव इस संसार में तब तक ही रहता है जब तक कर्मबन्धन से सम्पृक्त रहता है; **कर्मबन्ध का उच्छेद ही जैनदर्शन और जैनधर्म का लक्ष्य और उद्देश्य है**। और कर्म का सम्पूर्ण उच्छेद तप से ही सम्भव है। परिषहजय भी तप की परिधि में ही है। गृहस्थ जीवन में सभी परिषहों पर विजय नहीं पायी जा सकती, किन्तु मुनिजीवन में यह सम्भव हो पाता है। इन 22 परिषहों को सम्यक् प्रकार से सहन करने से मुनि अनेक भवों में अज्ञानोपार्जित पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करता है, उससे मुनि के दोष भी गुण में परिवर्तित हो जाते हैं, महाव्रतों को अखंड रुप से धारण करता है, ज्ञानदृष्टि से पर्यालोचन के द्वारा आत्महित को प्राप्त होता है[79], और मोक्ष फल की प्राप्ति होती है[80] अर्थात् वह संसारसमुद्र से पार उतर जाता है।

परिषहोदय की संख्या :-

किसी भी मुनि को एक समय में एक साथ जघन्य से एक और उत्कृष्ट से 20 परिषह उदय में आ सकते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण तथा चर्याऔर निषद्या - ये दोनों परिषहों का एक साथ उदय संभव नहीं है।[81]

आठों कर्म और परिषह :-

जीव को उपरोक्त 22 परिषह ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अंतराय कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं। इनमें **ज्ञानावरणीय कर्म से** (1) प्रज्ञा और (2) अज्ञान परिषह; **वेदनीय कर्म के उदय से** (1) क्षुधा (2) पिपासा (3) शीत (4) उष्ण और (5) दंशमशक (ये पाँच आनुपूर्वी से संबद्ध) (6) चर्या (7) शय्या (8) वध (9) रोग (10) तृण-स्पर्श (11) मल- ये ग्यारह परिषह; **मोहनीय कर्म के** (अ) दर्शन-मोहनीय के उदय से दर्शन परिषह और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से (1) अरति (2) अचेलक (3) स्त्री (4) निषद्या (5) याचना (6) आक्रोश (7) सत्कार/पुरस्कार ये सात - कुल आठ परिषह और **अंतराय कर्म के** लाभांतराय के उदय से (1) अलाभ परिषह होता है।[82]

गुणस्थान और परिषह :-

निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामी के अनुसार नौवें अनिवृत्ति बादरसंपराय गुणस्थान तक पूर्वोक्त 22 परिषह जीव को उदय में आ सकते हैं। सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह, और क्षीणमोह-इन तीन गुणस्थानों में 1. प्रज्ञा 2. अज्ञान 3. क्षुधा 4. पिपासा 5. शीत 6. उष्ण 7. दंशमशक 8. चर्या 9. शय्या 10. वध 11. रोग 12. तृणस्पर्श 13. मल और 14. अलाभ परिषह-इन चौदह परिषहों के उदय की संभावना होती है और सयोगी केवली गुणस्थान में वेदनीय कर्म से प्रतिबद्ध क्षुधादि ग्यारह परिषहों के उदय की संभावना है। अयोगी गुणस्थान में कर्मों का अभाव होने से किसी प्रकार के परिषह के उदय की संभावना नहीं है।[83]

इन परिषहों के प्रति सहिष्णुता से साधु में कल्पानुसार आचरण करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। साथ ही समय समय पर भिक्षुओं के लिए उपदिष्ट प्रतिमाओं का भी वह आचरण कर पाता है। 'कल्प' का शाब्दिक अर्थ सामर्थ्य है। परन्तु श्रमणाचार में 'कल्प' शब्द का अर्थ 'आचार' होता है। जैन सिद्धान्त में दश कल्प बताए गये हैं। इनका विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

73. अ.रा.पृ. 7/264; समवयांग, समवाय 22; उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 2
74. अ.रा.पृ. 7/264; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 4/270; चारित्रसार 126/5
75. अ.रा.पृ. 5/389; भगवतीसूत्र 8/8
76. अ.रा.पृ. 5/389, 390; धर्मसंग्रह 3/20; उत्तराध्ययनसूत्र, पाईय टीका 2/40-41, चारित्रसार, पृ. 84, 85
77. अ.रा.पृ. 1/487, 488, 489, 5/643
78. अ.रा.पृ. 1/489; सवार्थसिद्धि 9/9/427; चारित्रसार 122/1
79. अ.रा.पृ. 6/645, 646, 647; सूत्रकृतांग 1/2/3/1-2-3
80. अ.रा.पृ. 6/643, 645; दशवैकालिक 8/27
81. अ.रा.पृ. 5/640
82. अ.रा.पृ. 5/638, 639; तत्त्वार्थसूत्र 9/13 से 16; धर्मामृत अनगार, पृ. 489
83. अ.रा.पृ. 5/639; आवश्यक निर्युक्ति 79; तत्त्वार्थसूत्र-9/10,11,12; धर्मामृत अनगार, पृ. 489

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एमेव धम्मो विसओवसण्णो, हणाइ वेयाल इवाविण्णो ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दश कल्प

अभिधान राजेन्द्र में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'कल्प' शब्द के अनेक अर्थ दर्शाये हैं।

कल्प :-

जैनागमों में आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण करने की योग्यता/सामर्थ्य, स्वकार्य करने में समर्थ, वर्णन करना, कल्पना करना, छेदन अर्थ में (उदा. बाल कैंची से छेदने/काटने योग्य (कल्पता) है), करण क्रिया (अपने योग्य आजीविकारुप क्रिया), आचार, उपमा (यथा-सूर्यकल्प, चन्द्र कल्प), अधिवास (देवलोक में देवता का वास), मासकल्प, चातुर्मास कल्पादि (मुनि का एक महिना या उससे न्यूनाधिक किसी जगह स्थिर रहना), स्थविर कल्प, जिनकल्प-आदि अर्थों में प्रयुक्त हैं।[1]

कल्प के भेद[2] :- .

कल्प नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, एवं भावरुप से षड्विध है; इसमें भावकल्प छः प्रकार हैं। (सामायिकादि षडावश्यक), सप्तविध (नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-दर्शन-सूत्र कल्प)[3] दसविध, बीस प्रकार से एवं अनेक प्रकार से किया गया है।

प्रस्तुत संदर्भानुसार आचार्यश्रीने 'कल्प' का अर्थ कल्पसंज्ञक आचार किया गया है। मुनि दस प्रकार के आचार का पालन करते हैं। वह निम्न प्रकार से है[4]-

(1) अचेलक कल्प :-

वस्त्र नहीं रखने को अचेलक कहते हैं। श्री ऋषभदेव तथा श्री महावीर स्वामी के साधु श्वेत मानोपेत जीर्णप्राय वस्त्र धारण करते हैं। अतः उन्हें अचेलक कहते हैं और बाईस तीर्थंकरों के साधु ऋजु, सरल, दक्ष और चतुर होते हैं; इसलिए बहुमूल्य पाँच रंगवाले मानोपेतरहित वस्त्र रखते हैं। इसलिए उन्हें सचेलक कहते हैं; क्योंकि उनके लिए अचेलक कल्प की कोई मर्यादा नहीं है। इस कारण से उनके लिए यह कल्प अनियत है। तथा पहले और अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वी के लिए यह कल्प नियत है।

(2) उद्देशक कल्प :-

साधु अथवा साध्वी के उद्देश्य से तैयार किये हुए आहारादिक को उद्देशिक कहते हैं। इसमें मध्य के बाईस तीर्थंकरों के समय में जिस साधु अथवा साध्वी के निमित्त से किसी गृहस्थ ने भोजन, पानी, औषधि, वस्त्र-पात्र आदि बनवाये हों, तो वे पदार्थ उस साधु अथवा साध्वी को प्रदान करना योग्य नहीं है; पर शेष अन्य साधुओं को प्रदान करना कल्पता है अर्थात् अन्य साधुओं के लिए वो पदार्थ वहोरने योग्य हैं। उन्हें आधाकर्मादि दोष नहीं लगते। तथा पहले और अंतिम तीर्थंकर के शासन में तो एक साधु अथवा एक साध्वी के लिए जो आधाकर्मिक आहारादिक बनवाये हों, वे सब प्रकार से किसी भी साधु अथवा साध्वी को लेना योग्य नहीं है।

(3) शय्यातर-पिंड कल्प :-

उपाश्रय के मालिक को शय्यातर कहते हैं। अथवा जो साधु को रहने के लिए स्थान देता है, अर्थात् जिसकी आज्ञा ले कर साधु किसी जगह पर ठहरते हैं, उस घर के स्वामी को शय्यातर कहते हैं। उसके घर का पिंड-आहारादिक बारह पदार्थ सब तीर्थंकरों केसाधुओं के द्वारा लिया जाना कल्पता नहीं। वे बारह पदार्थ इस प्रकार हैं - 1. आहार, 2. पानी, 3. खादिम, 4. स्वादिम, 5. कपडा, 6. पात्र, 7. कंबल, 8. ओघा, 9. सुई, 10. पिप्पलक (औषधि), 11. नाखून काटने की नेरणी, (नेल कटर), 12. कान का मैल निकालने की चाटुई, ये बारह वस्तुएँ तथा अन्य भी छुरी, कैंची और सरपला (मिट्टी का पात्र) प्रमुख चीजें किसी भी साधु को लेना कल्पता नहीं है। तथा 1. तृण, 2. मिट्टी का ढेला, 3. भस्म (राख), 4. मात्रा का पात्र, 5. बाजोट, 6. पाट-पाटली, 7. शय्या, 8. संथारा, 9. लेपप्रमुख वस्तु, 10. उपधि सहित शिष्य याने वस्त्रादि सहित शिष्य; ये दस वस्तुएँ शय्यातर के घर की लेना कल्पता है। यह कल्प सब तीर्थंकरों के साधुओं को निश्चय से होता है; इसलिए इसे नियत कल्प कहते है।

(4) राजपिंड कल्प :-

जो महान छत्रपति, चक्रवर्ती आदि राजा होता है और सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठी, प्रधान और सार्थवाह इन पाँचों के साथ जो राज करता है; उसे राजा कहते हैं। उसके घर का आहारादिक पिंड प्रथम तीर्थंकर के साधु-साध्वी को तथा चरम श्री वीर भगवान के साधु-साध्वी को लेना कल्पता नहीं है। तथा बाईस तीर्थंकर के साधु तो ऋजु और पंडित होते हैं; इसलिए सदोष जानें तो नहीं लेते। इस कारण से उनके लिए इस कल्प की मर्यादा नहीं है।

(5) कृतिकर्म कल्प :-

कृतिकर्म अर्थात् वंदन करना वह दो प्रकार का है - एक तो खडे होना और दूसरा द्वादशावर्त वन्दन करना। इसमें श्री जिनशासन में सब तीर्थंकरों के साधुओं की एसी मर्यादा है कि जिसने पहले दीक्षा ली हो, उस साधु को बाद में दीक्षा लेने वाला साधु वन्दन करे; पर बाप-बेटा अथवा राजा-प्रधान इत्यादि छोटा-बडा देखे नहीं। यदि पुत्र ने दीक्षा पहले ली हो और पिता ने बाद में ली हो; तो पिता पुत्र को वन्दन करे। इसी प्रकार राजा अपने प्रधान को भी वन्दन करें। तथा सभी साध्वियाँ तो पुरुषोत्तम धर्म जान कर सब साधुओं को वन्दन करें; पर छोटा बडा ध्यान में न लें।

(6) व्रतकल्प :-

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों से विरत होना, पाँच महाव्रत कहे जाते हैं। इसमें श्री ऋषभदेव तथा श्री महावीर के साधु-साध्वी को तो वैसा ज्ञान का अभाव होने से पाँचों महाव्रत व्यवहार से हैं और मध्य के बाईस जिन के समय के साधु तो परिग्रह व्रत में परिगृहीत स्त्री भोग का प्रत्याख्यान जानते

1. अ.रा.पृ. 3/220
2. अ.रा.पृ. 3/221, 229
3. अ.रा.पृ. 3/229
4. अ.रा.पृ. 3/225-226; कल्पसूत्र बालावबोध पृ. 6-11

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं तथा तीसरे अदत्तादान व्रत में अपरिगृहीत स्त्री भोग का प्रत्याख्यान जानते हैं। याने कि वे स्त्री को परिग्रह रुप मान कर पाँचवें परिग्रह व्रत के साथ ही लेते है; क्योंकि जहाँ स्त्री है, वहाँ परिग्रह है। इसलिए बाईस तीर्थंकर के साधु के लिए चौथा मैथुन विरमण व्रत छोड कर चार महाव्रत जानना। अथवा श्री ऋषभदेव और श्री महावीर के तीर्थ में रात्रि भोजन विरमण व्रत मूल गुण में गिना जाता है। इस कारण से रात्रिभोजनविरमण व्रत के साथ गिनें, तो साधु के छह व्रत होते हैं और बाईस जिन के तीर्थ में तो रात्रिभोजनविरमण व्रत को उत्तर गुण में गिनते हैं, इसलिए चार ही व्रत कहे जाते हैं।

(7) ज्येष्ठ कल्प :-

कालापेक्षया बडा होना ज्येष्ठता है। इसमें श्री ऋषभदेव और महावीर के साधुओं को तो बडी दीक्षा देने के बाद छोटा बडा गिना जाता है; इसलिए जिसने बडी दीक्षा पहले ली हो, वह बडा गिना जाता है और जिसने छोटी दीक्षा पहले ली हो, वह बडी दीक्षा बाद में ले तो वह आगेवालों के अपेक्षा से लघु गिना जाता है। किन्तु बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए तो यह मर्यादा नहीं है; क्योंकि वे सब प्रवीण होते हैं। इस कारण से तुरन्त ही पढ लेते हैं। इसलिए वे दीक्षा के दिन से ही छोटे और बडे गिने जाते हैं।

(8) प्रतिक्रमण कल्प :-

आवश्यक का करना प्रतिक्रमण कल्प है। इसमें प्रथम और चरम जिन के समय में तो साधु को अतिचार दोष लगे या न लगे, तो भी दैवसिकादिक पाँचों प्रतिक्रमण करना आवश्यक है और बाईस तीर्थंकरों के साधु तो यदि पाप लगा है, एसा जानें तो ही दैवसिक अथवा रात्रिक प्रतिक्रमण शाम को अथवा सुबह करते हैं और पाप लगा है, एसा न जानें तो नहीं भी करते। शेष पाक्षिक, चौमासी और सांवत्सरिक ये तीनों प्रतिक्रमण तो बाईस जिनेश्वरों के समय में होते ही नहीं है। इस तरह यह भी अनियत कल्प है।

(9) मासकल्प :-

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु एक गाँव में एक मास तक रहें, उपरान्त न रहें। चातुर्मास के चार महीनों तक एक गाँव में रहे; परन्तु अन्य दिनों में एक महीने से उपरान्त रहें तो अनेक दोषों का संभव होता है। जैसे कि गृहस्थ के साथ प्रीतिबंध होता है, लघुता प्राप्त होती है, लोकोपकार नहीं कर सकता, देश-विदेश की जानकारी नहीं होती तथा ज्ञान की आराधना नहीं होती। इसलिए एक मास से अधिक रहने की साधु को आज्ञा नहीं होती। कदाचित् दुर्भिक्षादिक के कारण से रहना पडे अथवा विहार करने में असमर्थ हो; तो उपाश्रय पलटे, मोहल्ला पलटे, घर पलटे और कुछ भी न हो सके तो संथारा-भूमि पलटकर भाव से भी मासकल्प करे।

और मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधु तो विहार करने में सामर्थ्यवान हों तो भी वे ऋजु और पंडित हैं; इसलिए उनके लिए मासकल्प का कोई नियम नहीं है। यदि दोष न लगे और लाभ जानें तो कुछ कम पूर्वकोडि वर्ष तक भी वे एक ही क्षेत्र में एक ही स्थान में रहे इसलिए यह अनियत कल्प है।

(10) पर्युषण कल्प :-

किसी एक स्थान पर रहने को पर्युषण कहते हैं। पर्युषण दो प्रकार के हैं।

(1) जिसे गृहस्थ जानता है, वह भाद्रपद सुदी पंचमी से लेकर कार्तिक सुदी पूनम तक रहना है और (2) जिसे गृहस्थ नहीं जानता वह आषाढ सुदी पूनम से ले कर भाद्रपद सुदी पंचमी तक रहना समझना चाहिए। वह जघन्य से सत्तर (70) दिन और उत्कृष्ट से छह महीने के पर्युषण जानना। यह कल्प श्री ऋषभदेव और श्री महावीर के साधुओं के लिए निश्चय से समझना और बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए निश्चय से नहीं।

इस तरह दस कल्प कहे गये हैं। ये दसों कल्प श्री ऋषभदेव तथा श्री महावीर स्वामी के साधुओं के लिए निश्चय से जानना। तथा मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए तो एक शय्यातर, दूसरा चार महाव्रत, तीसरा ज्येष्ठ और चौथा कृतिकर्म याने वंदना ये चार कल्प निश्चय से होते हैं और शेष दस कल्प अनियत होते हैं।

पुण्यं पुण्यानुबन्धयदः

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं, कर्तव्यं सर्वथा नरैः ।
यत्प्रभावादपातिन्यो, जायन्ते सर्वसंपदः ।।1।।
सदागमविशुद्धेन, क्रियते तच्च चेतसा
एतच्च ज्ञानवृद्धेभ्यो, जायते नान्यतः क्वचित् ।।2।।
चित्तरत्नमसंक्लिष्ट - मान्तरं धनमुच्यते ।
यस्य तन्मुषितं दोषै - स्तस्य शिष्टा विपत्तयः ।।3।।
प्रकृत्या मार्गगामित्वं, सदपि व्यज्यते ध्रुवम् ।
ज्ञानवृद्धप्रसादेन, वृद्धिं चाऽऽप्नोत्यनुत्तराम् ।।4।।
दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरुपूजनम् ।
विशुद्धा शीलवृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः ।।5।।

- अ.रा.पृ. 5/992-993

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वादश भिक्षु प्रतिमा

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'भिक्षु प्रतिमा' को उपधान तप प्रतिमा के अन्तर्गत बताया है।[1] जो यमनियमादिपूर्वक जीवन यापन करते हों, करण-करावण-अनुमोदनरुप पापव्यापार के त्यागी हों, चतुर्गतिरुप संसार में अष्ट कर्मों का सर्वथा भक्षण (नाश) करना चाहते हों, ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा आत्मा से कर्मों का भेदन करना चाहते हों, आरम्भ-त्यागी हों, धर्मपालन हेतु शरीर को टीकाने के लिये भिक्षा ग्रहण करते हों, पचन-पाचनादि सावद्य अनुष्ठान रहित निर्दोष आहार का भोजन करते हों उन्हें जैनागमों में 'भिक्षु' या 'साधु' कहते हैं[2] और उनके समयानुसार विशिष्ट नियमग्रहणरुप अभिग्रह विशेष को 'भिक्षुप्रतिमा' कहते हैं।[3]

जैन साधु अपने साधना काल में विशिष्ट प्रकार के अभिग्रह धारण करके उसका स्वच्छा से पालन करते हैं। उद्गम-उत्पादन और एषणा दोष से रहित भिक्षा ग्रहण करनेवाले साधु की ये प्रतिज्ञाएँ जैनागमों में 12 प्रकार से वर्णित हैं, उसे 'बारह भिक्खुपडिमा' कहते हैं।[4]

1-7. मासिकी प्रतिमा आदि सात प्रतिमाएँ - एक महीने तक भोजन में अलेप शुद्ध आहार-पानी की एक दत्ती लेना मासिकी भिक्षु प्रतिमा कहलाती है। दो माह तक भोजन में शुद्ध आहार-पानी की दो दत्ती लेना द्विमासिक भिक्षु प्रतिमा कहलाती है। इसी प्रकार तीन, चार, पाँच, छः तथा सात महिना तक क्रमशः शुद्ध अलेप आहार-पानी की क्रमशः तीन, चार, पाँच, छः और सात दत्ती भोजन में ग्रहण करना क्रमशः त्रैमासिकी, चातुर्मासिकी, पाञ्चामासिकी, षाण्मासिकी और सप्तमासिकी 'भिक्षु प्रतिमा' कहलाती है।[5]

8-9-10. सप्ताहोरात्रमाना प्रतिमा - सात सात अहोरात्र अर्थात् दिन-रात पर्यन्त चौविहार, सोलह भक्त (भक्त) (सात उपवास और आगे-पीछे एकासना) का प्रत्याख्यान लेकर, गाँव के बाहर जाकर क्रमशः उत्तानासन, उत्कटिक, दण्डासन और गोदुहिकासन या वीरासन से कायोत्सर्ग कर उपसर्ग सहन करना क्रमशः 8वीं, 9वीं और 10वीं भिक्षुप्रतिमा है।[6]

11. एक अहोरात्रिकी प्रतिमा - चोविहार छट्ठ तप (दो उपवास और आगे-पीछे एकासना) करके एक अहोरात्रि पर्यन्त गाँव के बाह्य प्रदेश में जिनमुद्रापूर्वक कायोत्सर्ग में रहकर उपसर्ग सहन करना - भिक्षु की ग्यारहवीं प्रतिमा है।[7]

12. एकारात्रिकी प्रतिमा - चोविहार अट्ठम (तीन उपवास और आगे पीछे एकासना) तप करके एक रात्रि पर्यन्त ईषद्प्राग्भारशिला (सिद्धशिला) की ओर एकाग्र ऊर्ध्वदृष्टि रखकर कायोत्सर्ग में उपसर्ग सहना - भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा है।[8]

प्रतिमा वहन हेतु योग्यता :-

राजेन्द्र कोश के अनुसार इन द्वादश भिक्षु-प्रतिमाओं को वहन करने की इच्छावाले भिक्षु में निम्न योग्यता होना आवश्यक माना है[9]-

(1) कायोत्सर्ग सहन करने योग्य शरीर-संहनन बल
(2) धैर्यादि दृढ मानस बल
(3) अदीनभाव
(4) तीव्रतापूर्वक वर्द्धमान विशुद्ध भाव बल
(5) उपसर्ग संबंधी स्थितियाँ और स्वरुप का ज्ञान
(6) गुरु, आचार्य की अनुज्ञा/अनुमति
(7) नौंवे प्रत्याख्यान पूर्व को आचार नामक तृतीय वस्तु तक के श्रुतज्ञान का अध्ययन एवं उससे अधिक संपूर्ण 10 पूर्व पढने की शक्ति न हों।
(8) गच्छ में साधुगण बाधारहित हों, आचार्यादि का सद्भाव हो, उन्हें किसी प्रकार की प्रतिकूलता न हो, बाल-वृद्ध स्थविरादि साधु तकलीफ में न हों, उन सब की वैयावृत्त्य की समुचित व्यवस्था हो, स्वयं के पास प्रतिमा-वहन के काल में कोई दीक्षा लेनेवाला न हो, वही साधु गुर्वाज्ञापूर्वक ये प्रतिमाएं वहन कर सकता है।

प्रतिमाधारी साधु की दिनचर्या के नियम :-

निवासस्थान :-

जहाँ किसी गृहस्थ को पता चल जाये कि, 'यह प्रतिमाचारी साधु है' वहाँ प्रतिमाचारी साधु एक रात्रि और जहाँ न जानते हों वहाँ एक या दो रात्रि अवस्थान कर सकता है, इससे अधिक नहीं। यदि कोई प्रतिमाधारी साधु अधिक रहे तो छेद या परिहार प्रायश्चित का पात्र बनता है। विहार करके अन्यत्र जाकर वापिस आकर वहाँ रह सकता है।[10]

प्रतिमाधारी साधु स्त्री-पुरुष, तिर्यंच, अग्नि आदि से रहित शुद्ध उपाश्रय / वसति, बगीचा या वृक्ष के नीचे, वृक्ष के पासवाले प्रदेश में पृथ्वी शिला पर, काष्ठ-शिला पर, पर्वत के नीचे, गुफा में रहना कल्पता है।[11]

विहार :-

प्रतिमाधारी साधु को गाँव में एक या दो रात्रि ठहरते हुए मार्ग में विहार करते हुए रास्ते में सूर्यास्त के पहले जलाजल समय

1. अ.रा.भा. 5/332; 'पडिमा' शब्द
2. अ.रा.भा. 5/1560; 'भिक्खु' शब्द
3. वही पृ. 1571, 'भिक्खू पडिमा' शब्द
4. वही
5. अ.रा.भा. 5/1572, 1575 ; 'भिक्खु पडिमा' शब्द
6. वही पृ. 1576
7. वही
8. वही - 1575, 76
9. अ.रा.भा. 5/1576, 77, 78;
10. अ.रा.भा. 5/1573,
11. वही पृ. 1572, 73

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(दिन के तीसरे पहर के अंत के बाद कमाली-काल आने पर) होने पर वहीं ठहरना पडता है, एक कदम भी आगे नहीं जा सकते। मार्ग में वधादि उपसर्ग होने पर एक कदम भी आगे-पीछे नहीं जा सकते, दौड नहीं सकते, सहसा पेड के कोटर में या खंडहरादि में छिप नहीं सकते।[12]

शरीर-सुश्रूषा :-

सामान्यतया प्रतिमाधारी साधु शरीर-सुश्रुषा नहीं करते परंतु आँख में धूल आदि गिर जाय/भरा जाय तो पानी से निकाल सकते हैं। वे ज्वरादि में चिकित्सा नहीं करवा सकते परन्तु सर्पदंश आदि में चिकित्सा करवा सकते हैं।[13]

भाषा :-

प्रतिमाधारी साधु को निम्नाङ्कित चार प्रकार की भाषा बोलना कल्प्य है[14]-

(1) **याचनी** - कोई भी वस्तु विशेष मुझे दो - एसी
(2) **पृच्छनी** - मार्ग या संदिग्ध अर्थ के बारे में उसके ज्ञाता को पूछना।
(3) **अनुज्ञापनी** - मल-प्रसवणादि त्याग करने हेतु अनुज्ञा लेना या तृण, पत्थर, भस्म, वसति, पाट, पटिया आदि उपयोग करने की आज्ञा लेना।
(4) **पृष्टस्य व्याकरणी** - तुम कौन हो ? कहाँ से आये ? कहाँ जाओगे ? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर देनेरुप भाषा बोलना योग्य है।

उपधि :-

प्रतिमापन्न साधु काष्ठपात्र एवं कपास के वस्त्रादि रुप आवश्यक उपधि स्व-लब्धि से, स्वयं के पुरुषार्थ से, स्वयं एषणा करके दोष रहित प्राप्त करके उपयोग करते हैं।[15]

आहार :-

प्रतिमापन्न साधु स्वलब्धि से, स्व-पुरुषार्थ से गवेषणा-ग्रहणेषणा एवं ग्रासेषणापूर्वक 42 दोष रहित अलेपकृत (घी-तेल आदि से रहित) वाल-चणादि का आहार प्राप्त कर उपयोगपूर्वक, गुर्वादि द्वारा दिया हुआ शेष भोजन करते हैं।[16] प्रतिमापन्न साधु दिन के तृतीय प्रहर में गोचरी (आहार ग्रहण करने) हेतु जाते हैं।[17]

इस प्रकार प्रतिमाधारी साधु उचितकाल में विधिपूर्वक प्रतिमा धारण करके प्रमादरहित-जागृत रहकर, उपयोगपूर्वक पारणां के दिन गुर्वादि द्वारा दिया हुआ शेष भोजन करके, दोषों का शुद्धिकरण करके, पारणा के दिन तप एवं प्रतिमा की अनुमोदनापूर्वक उसे पूर्ण करता है।[18]

काल :-

प्रतिमा वहन करने के इच्छुक साधु वर्षाकाल को छोडकर शेष समय में प्रथम दो प्रतिमा - एक ही वर्ष में, तीसरी और चौथी प्रतिमा - एक ही वर्ष में पाँचवीं, छट्ठी और सातवीं - इसके बादवाले वर्षों में, इस प्रकार कुल 9 वर्षों में प्रथम सात प्रतिमा धारण कर सकते हैं। शेष पाँच प्रतिमाएँ यथा समय इसके बाद के वर्षों में कर सकता है।[19]

स्थान :-

प्रतिमापन्न साधु को उपसर्गसहन एवं आत्मा के धैर्यबल की परीक्षा हेतु प्रथम प्रतिमा में उपाश्रय में, दूसरी में उपाश्रय से बाहर, तीसरी में चौराहे पर, चौथी में शून्य स्थान में और पाँचवीं प्रतिमा में श्मशान में रहना चाहिए। अर्थात् उन स्थानों पर रहकर कायोत्सर्ग-ध्यान आदि करना चाहिए।[20]

---

12. वही पृ. 1574
13. अ.रा.पृ. 5/1578
14. वही पृ. 5/1573
15. वही पृ. 5/1577
16. अ.रा.पृ. 5/1577
17. ।.....तथाऽयमपि भगवान् श्रद्धाऽऽदिष्वमूर्च्छितः तृतीयपौरुष्यमटति। - वही पृ. 5/1572
18. अ.रा.भा. 5/1575
19. वही
20. अ.रा.पृ.5/1576

सत्पुष्पाणि

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥1॥
एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्सरा ।
दीयते पालनाद् या तु, सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥2॥
प्रशस्तो ह्यनया भाव - स्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।
कर्मक्षयाच्च निर्वाण - मत एषा सतां मता ॥3॥

-अ.रा.पृ. 1/249

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में 'भावना' शब्द का वर्णन करते हुए भावना के वासना, अध्यवसाय, सम्यक्क्रियाभ्यास, बारंबार चिंतन, अविच्छिन्न संस्कारजनित पुनः-पुनः तदनुष्ठानरुपता, आध्यात्मिक वर्तन, आदि अनेक अर्थों का वर्णन करते हुए 'भावना' शब्द का सटीक अर्थ बताते हुए कहा है[1]-

''आत्मज्ञान से उत्पन्न ज्ञान हेतु और दृष्ट तथा अनुभूत श्रुतज्ञान के अर्थों के विषय में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा को बढानेवाला सद्भाव 'भावना' है।[2]

द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका में अशुभ अभ्यास से निवृत्ति और शुभ अभ्यास में बुद्धिसंगत वृद्धिरुप भावों का फल 'भावना' है।[3]

प्रवचनसारोद्धार, ओघनिर्युक्ति, धर्मसंग्रहसटीक, आवश्यकत बृहद्वृत्ति, सूत्रकृतांग एवं आचारांग के अनुसार मुमुक्षु के द्वारा जो संसार की अनित्यतादि का अभ्यास किया जाय उसे भावना कहते हैं।[4] भावना को अनुप्रेक्षा कहते हैं।

अणुप्पेहा[5] (अनुप्रेक्षा) :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार 'अणुप्पेहा' का संस्कृत शब्द अनुप्रेक्षा है जो कि अनुप्रेक्षण अर्थ में प्रयुक्त है। तत्त्वार्थ भाष्य में स्वाध्याय के पाँच प्रकार कहे हैं - वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

अभिधान राजेन्द्र कोश में अनुप्रेक्षा शब्द का विवेचन करते हुए आचार्य विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने लिखा है-

(1) किसी एक विषय में मन को चिन्तन में जोडना
(2) अर्थ का चिन्तन करना
(3) ग्रन्थों के अर्थ का चिन्तन करना
(4) सूत्रों का चिन्तन करना
(5) जिनप्रवचन के अन्तर्गत गुरु वचन को सुनकर एकाग्रमन से चिन्तन करना 'अनुप्रेक्षा' है।
(6) धर्मध्यान के बाद पर्यालोचन करना 'अनुप्रेक्षा' है।
(7) अर्हन्तों के गुणों का बार-बार स्मरण करने के लिए 'अनुप्रेक्षा' करनी चाहिए।
(8) तत्त्वों के अर्थों का चिन्तन करना 'अनुप्रेक्षा' है।

भावना के भेद[6] :-

(1) द्रव्य भावना :-

कुसुमादि द्रव्यों में तथा तिलादि में जो सुगंध-दुर्गंधादि वासना तथा शीत-उष्णादि के भाव 'द्रव्य भावना' है।

(2) भाव भावना :-

यह दो प्रकार की है - अप्रशस्त प्रशस्त। जीव हिंसादि सावद्य पापकार्यों को करने की भावना अप्रशस्त भावना है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप-वैराग्यादि में जो भावना होती है वह प्रशस्त भावना है। स्थूल रुप से प्रशस्त भावना के पाँच प्रकार बताये गये हैं - 1. दर्शन भावना 2. ज्ञान भावना 3. चारित्र भावना4. तप भावना 5. वैराग्य भावना।

दर्शन भावना - तीर्थंकर, गणधर, द्वादशांगी, केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, श्रुतधर, आचार्यादि, युगप्रधान, अतिशययुक्त, ऋद्धिधर, (विद्याधर, चारणमुनि आदि), लब्धिधर आदि विशिष्ट गुणनिधि पूज्य पुरुषों के सम्मुख, तथा तीर्थंकर की कल्याणक भूमि और शाश्वताशाश्वत तीर्थ एवं अतिशयवान् धर्म स्थानों में जाकर यथाशक्य वंदन, पूजन, गुणोत्कीर्तन, करना दर्शन भावना है। इससे सम्यकत्व की शुद्धि होती है। इसी प्रकार शासन प्रभावक आचार्य, वादी, निमित्तज्ञानी, ज्योतिषि, प्रवचन कुशल, तपस्वी, आदि गुणमाहात्म्यपूर्वक आचार्यादि के गुणोत्कीर्तन, पूर्वमहर्षियों के नामोत्कीर्तन तथा महापुरुषों की दिव्य महिमादि का वर्णन करना तथा जिनपूजन करना 'दर्शनभावना' हैं।[7]

ज्ञान भावना - जीवाजीवादि नव तत्त्वो/पदार्थों को जिन प्रवचन के द्वारा यथावद्रुप से जानना, सम्यग्दर्शन से युक्त होकर कार्मण वर्गणाओं को (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, वेदनीय, आयुः, नाम, गोत्र, अंतराय, इन आठ कर्म बंधनों को) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - इन पाँच बंध हेतुओं को तथा कर्मबंध के फलस्वरुप चतुर्गति संसार भ्रमण एवं साता-असाता का अनुभव को समझना और इस संसार के बंध एवं इससे मोक्ष (मुक्ति) की बातें जिनेश्वर परमात्माने पूर्ण स्पष्टतापूर्वक बताई हैं और अन्य शाक्यादि के प्रवचन में इस कर्मबंध-मोक्षादि की बातें नहीं होती है। एसी भावना ज्ञान भावना है तथा अज्ञानी जो कर्म करोडों वर्ष तप करके क्षय करता है वह ज्ञानी श्वासोच्छवास में क्षय करता है। एसी भावना से भावित होकर ज्ञान का अभ्यास करना। ज्ञान का अभ्यास करने से मेरा ज्ञान विशिष्ट हो - एसी भावना रखना 'ज्ञान भावना' है।[8]

गुरुकुलवास में ज्ञान की प्राप्ति, कर्म, निर्जरा, स्वाध्याय आदि लाभ हैं- एसी भावनाओं से भावित होकर गुरुकुलवास का त्याग न करना 'ज्ञान भावना' हैं।

चारित्र भावना -अहिंसा, सत्य, अचौर्य (अदत्तादान) नव वाड के पालन पूर्वक ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह - ये पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ, द्रव्यादि चारों निक्षेपयुक्त बारह प्रकार के तप के करने को भावना, अनित्यादि बारह भावना रुप वैराग्य भावना, गर्हादि प्रमादों के त्याग रुप अप्रमाद भावना, ज्ञान, दर्शन, चारित्रयुक्त शाश्वत आत्मा के एकत्व स्वरुप को एकाग्रतापूर्वक भावना को पालन करने की

1. अ.रा.पृ. 5/1506
2. सम्मतितर्क प्रकरण, 3 काण्ड
3. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका, 18
4. अ.रा.पृ. 5/1506; प्रवचनसारोद्धार; ओघनिर्युक्ति, धर्मसंग्रह, आवश्यकबृहद्वृत्ति; सूत्रकृतांग; आचारांग
5. अ.रा.पृ. 1/389-390; तत्त्वार्थ सूत्र 9/20 पर भाष्य
6. अ.रा.पृ. 5/1506
7. वही, पृ. 5/1506, 1507
8. अ.रा.पृ. 5/1507

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना रखना एवं एसी पवित्र सुंदर, शुद्ध भावनाएँ जिन प्रवचन के अलावा अन्यत्र नहीं है - एसी भावना से मन को भावित करना 'चारित्र भावना' हैं।[9]

तप भावना - अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति संक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश, संलीनता - ये छः प्रकार से बाह्य तप और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग - ये छः आभ्यन्तर तप - इस प्रकार यथाशक्ति बारह प्रकार से तपश्चरण करना, तप भावना है।[10]

वैराग्य भावना - जीव को संसार से वैराग्य उत्पन्न करानेवाली अनित्याभावना आदि 12 भावनाएँ वैराग्य भावनओं के नाम से जानी जाती हैं। वे निम्नानुसार हैं[11]-

(1) अनित्य	(2) अशरण	(3) संसार
(4) एकत्व	(5) अन्यत्व	(6) अशुचित्व
(7) आस्रव	(8) संवर	(9) निर्जरा
(10) लोकस्वभाव	(11) बोधिदुर्लभ	(12) धर्मकथकोहन्

बारसाणुवेक्खा में आचार्य कुन्दकुन्दने इन भावनाओं का क्रम निम्नानुसार दर्शाया है[12]-

(1) अनित्य	(2) अशरण	(3) एकत्व
(4) अन्यत्व	(5) संसार	(6) लोक
(7) अशुचित्व	(8) आस्रव	(9) संवर
(10) निर्जरा	(11) धर्म	(12) बोधिदुर्लभ

1. अनित्यत्व भावना :-

यह शरीर कदलीवृक्ष के गर्भ जैसा निःसार है; जैसे बिल्ली दूध पी रही है और उपर से कोई लाठी से मार रहा है वैसे विषय सुख में लोग आनंद मनाते हैं लेकिन लाठी की तरह मृत्यु/काल (यमराज) उसे देखते ही उठा ले जाता है। इस प्रकार विषय सुख का क्षणिक आनंद अंत में अति दारुण दुःखदायी है। आयुष्य जल के बुदबुदे (बुलबुले) और वायु से चलायमान ध्वजा के वस्त्र जैसा चंचल हैं, रुपलावण्य स्त्री के नेत्र जैसा चंचल है, यौवन हाथी के कान जैसा चलित है, सत्ता स्वप्नवत् है, सम्पत्ति चपल (अस्थिर) है, प्रेम, क्षणभंगुर है, सुख स्थिरतारहित है, प्राणप्रिय पुत्रादि भी संकट में सहायक नहीं है, फिर भी मूढ जीव इन सर्व भावों को नित्य समझकर जीर्णशीर्ण कुटिया (शरीर) नष्ट होने पर रात-दिन रोता है। अतः तृष्णा के नाश के द्वारा निर्ममत्व (निर्मोहीत्व) धारण करने के लिए शुद्ध बुद्धि (आत्मा) को हमेशा अनित्य भावना भावनीय है।[13]

2. अशरण भावना :-

विचित्र शास्त्रविद् (वैज्ञानिक) मान्त्रिक, तान्त्रिक, ज्योतिषी, शस्त्रविद्, शूरवीर, सेठ-साहूकार, देव-देवेन्द्र, सैकडों सुभट एवं हजारों मदांध हाथियों से घिरे हुए चक्रवर्ती आदि को भी बलपूर्वक ग्रहण करके यम के चाकर यम के घर ले जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ बल के स्वामी तीर्थंकर सहित सब लोग मृत्यु को नष्ट करने में या दूर करने में समर्थ नहीं है। एसा सोचकर बुद्धिमान पुरुष स्त्री-परिवार, मित्र, पुत्रादि के स्नेह की निवृत्ति के लिए 'अशरण भावना' का मनन करें।[14]

3. संसार भावना :-

सुमति बुद्धिहीन है, श्रीमान लक्ष्मीरहित है, सुखी सुखरहित है, सुतनु बीमार हे, स्वामी-नौकर है, प्रिय प्रगट अप्रिय है, नृपति राजा नहीं है, स्वर्गी तिर्यंच है, मनुष्य नारक (नारकीय वेदना युक्त) है, इस प्रकार संसार में लोग अनेक तरह से नृत्य करते, अनेक प्रकार के क्लेश और महारंभ से पाप बाँधकर नारक पृथ्वियों (नरकवासों) में घोर अंधकार युक्त स्थानों में छेदन-भेदन, प्रदहनादि, अनेक प्रकार के दुःख भोग रहे हैं। जिसे कहने में ब्रह्मा भी समर्थ नहीं है। अतिमाया और दुःख के बंधनों से प्राप्त सिंह, बाघ, हाथी, मृग, बैल, बकरी आदि के रुप में तिर्यंच योनि में क्षुधा, तृषा, वध, बंधन, ताडन आदि अनेक प्रकार के दुःखी जीव सहता है उसकी अवर्णनीय वेदना को कहने में कौन समर्थ है !

मनुष्य गति में अनार्यदेशोत्पन्न मनुष्य सेव्यासेव्य, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य के विवेक रहित होकर विषयाधीन बनकर निरन्तर महारम्भादि के द्वारा दुःसह दुःख सहते हैं। और आर्यदेशोत्पन्न मनुष्य भी अज्ञान, दरिद्रता, व्यसन, दौर्भाग्य, रोगादि के द्वारा अनेक प्रकार के दुःख सहन करते हैं। एक तरुण पुण्यवान पुरुष के शरीर में प्रत्येक रोम में सुई के प्रवेश पर जितना दुःख होता है उससे आठ गुना दुःख स्त्री की कुक्षी में जीव को होता है। और जन्म समय में तो इससे भी अनंतगुणा दुःख होता है। वृद्धावस्था में शरीर की अस्वस्थता इन्द्रियों की असमर्थता, परिवारादि द्वारा अवज्ञाजनित दुःख है, देवलोक में सम्यग्दर्शनादि पालन से प्राप्त देव भव में भी जीव शोक, विषाद, मत्सर भय, ईर्ष्या, काम, क्षुधादिजनित दुःखों से पीडित होने से अपने दीर्घायुष्य को भी क्लेशपूर्वक पूर्ण करता है।

अतः बुद्धिमान मोक्षफलदायी भववैराग्यरुपी बीज को पुष्पित करनेवाली अमृतवृष्टि समान संसार भावना से आत्मा को भावित करें।[15]

4. एकत्व भावना :-

जीव अकेला जन्म लेता है, अकेला ही दुःख भोगता है, अकेला ही कर्मों को बांधता है और उसके फल भी वही अकेला ही भोगता है। इस जीव के द्वारा बहुत कष्ट उठाकर जो धन स्वयं उपार्जित किया जाता है उसका तो स्त्री, मित्र, पुत्र, परिवारादि मिलकर उपभोग करते हैं लेकिन उस धनोपार्जन में जो कर्मबंध हुए उससे नरकादि चारों गति में तज्जनित दुःखों को तो जीव अकेला ही सहन करता है, जिसके लिए जीव दशों दिशाओं में भटकता है, दीनता को धारण करता है, धर्म से भ्रष्ट होता है, आत्महित से ठगा जाता है (दूर रहता है), न्याय (नीति) मार्ग से दूर रहता है, वह स्वदेह और स्वजन इस आत्मा के साथ परभव में एक कदम भी साथ में नहीं जाते हैं, तब वह तुम्हारी सहायता कैसे करेगा ?

हे आत्मन् ! स्वार्थैकनिष्ठ स्वजन-स्वदेहादि को छोडकर कल्याण के लिए सर्वत्र सहायरूप एक मात्र धर्म को धारण कर।[16]

---

9. अ.रा.पृ. 5/1507
10. अ.रा.पृ. 5/1507, तत्त्वार्थसूत्र 9/19, 20, 6/23
11. अ.रा.पृ. 5/1507; आचारांग 2/3; शान्तसुधारसभावना, श्लोक 7, 8; तत्त्वार्थसूत्र 9/7
12. बारसाणुवेक्खा, श्लोक 2
13. अ.रा.पृ. 1/331; 5/1508; शान्तसुधारसभावना, प्रथम भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 3 से 7
14. अ.रा.पृ. 1/844; 5/1508; शान्तसुधारसभावना, द्वितीय भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 8 से 13
15. अ.रा.पृ. 5/1508; 7/254; शान्तसुधारसभावन, तृतीय भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 24 से 37
16. अ.रा.पृ. 1/33; 5/1508; शान्तसुधारसभावन, चतुर्थ भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 14 से 20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. अन्यत्व :-

जीव और काया (आत्मा और शरीर) भिन्न भिन्न हैं। यह आत्मा (परलोक गमन के समय) इस शरीर को छोडकर परलोक (परभव) में जाती है अतः उसका क्या करना ? इसलिए हे जीव ! कोई इस शरीर को चंदन से विलेपन करे या दण्ड से हनन करे, धनादि से पोषण करे या उसका हरण करे, उसमें समभाव रख।[17]

जो बुद्धिनिधान अन्यत्व भावना को धारण करता है, उसका सर्वस्व नष्ट होने पर भी उसे शोक का एक अंश भी उत्पन्न नहीं होता हैं।

6. अशुचित्व भावना[18] :-

जैसे लवण समूह में जो भी पदार्थ गिरता है वह लवणवत् (खारा) होता है। वैसे इस अशुचि से भरी हुई काया में जो भी गिरता है वह भी मलमलिन होता है।

गर्भावस्था में यह शरीर शुक्र-शोणित के मेल से उत्पन्न होता है। जरायु वेष्टित हों माता के द्वारा किये गये आहार से बढता है। सप्तधातु से निर्मित होता है। स्वादिष्ट खाद्य-पेय पदार्थों का मलरुप में परिवर्तित करता है। जल के सैकडों घडों से धोने पर या चंदन-कपूर-कस्तूरी आदि से सुवासित करने पर भी क्षण में दुर्गन्धित हो जाता है।

इस प्रकार (1) बीज अशुचि (2) अपष्टम्भ अशुचि (3) स्वयं अशुद्धि का भाजन (4) उत्पत्ति स्थान की अशुचि (5) अशुचि पदार्थ का नल (6) अशक्य प्रतीकार और (7) अशुचिकारक होने से शरीर की अशुचिता का विचार कर परमार्थ से सुमतिवान जीवों को इस शरीर में कभी भी मोह (ममता) नहीं करना चाहिए।

7. आस्रव भावना[19] :-

मन, वचन, काया के योग से जीवों को जो शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता है उसे तीर्थंकरों ने आस्रव कहा है। अव्रत, इन्द्रिय, कषाय और क्रिया - ये चार आस्रव हैं और मन, वचन, काया उसका कारण हैं।

सर्वज्ञ भगवान, गुरु, सिद्धान्त और संघ के गुणवर्णन (स्तुति, प्रशंसा, भक्ति) से, हितकारी सत्य भावना से, देव पूजा, गुरु सेवा, साधु-वैयावृत्य (सेवा) आदि से शुभ कर्म उपार्जन होता है, और आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, मिथ्यात्व, कषाय विषयाभिलाषा, देव, गुरु संघ और सिद्धान्त की निंदा, उन्मार्ग प्रेरकवचन, मांसाहार, मदिरापान, जीवहिंसा, चोरी, परस्त्रीगमन आदि अशुभ कार्यों से 82 प्रकार से अशुभ कर्मों का उदय होता है। जिससे जीव चतुर्गति भ्रमण करता है।

ऐसे आस्रव का स्वरुप ज्ञात कर जो आत्मा आस्रव भावना से मन को भावित करता है वह अनर्थ की परम्परा को उत्पन्न करनेवाले दुष्ट आस्रवों का त्यागकर समस्त दुःखों को नष्ट कर समस्त सुखों की श्रेणीरुप निर्वाण (मोक्ष) रुपी जहाज में नित्य आनंद का पोषण करता हैं।

8. संवर भावना[20]:-

आस्रवों को रोकना संवर कहा जाता है। वह सर्वथा और देशतः (आंशिक) -दो प्रकार से है। सर्वथा 'संवर' अयोगि केवली भगवान को होता है। देश 'संवर' एक प्रकार से (मिथ्यात्व का), दो प्रकार से (मिथ्यात्व और अविरति का), और बहुत प्रकार से (मिथ्यात्व, अविरति, चारों कषायों के भेद-प्रभेद, मन वचन के योगों का) है और ये प्रत्येक भेद भी द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से हैं।

आत्मा (आत्मप्रदेशों) पर संसक्त कर्मपुद्गलों का सर्व से या देश (आंशिक रुप) से नाश द्रव्य संवर है। संसार के (कर्मबंधनों के हेतुभूत क्रिया का त्याग भाव संवर है। 5 समिति, 3 गुप्ति, 22 परिषहजय, 10 यति धर्म, 12 अनुप्रेक्षा (भावना) और पाँच चारित्र -ये 57 संवर के हेतु हैं। इसका फल कर्मनिर्जरा और आत्मिक सुख है- एसा चिन्तन करना संवर भावना है। अतः मनीषियों के द्वारा आस्रवों के निरोध के लिए उसके प्रतिपक्षी उपायों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे - सम्यग्दर्शन और धर्मध्यान के द्वारा मिथ्यात्व और आर्तरौद्र ध्यान को, क्षमा से क्रोध को, नम्रता (मृदुता) से मान को, सरलता (ऋजुता) से माया को, संतोष से लोभ को, ज्ञान से राग द्वेष और पाँचों इन्द्रियों के विषयों से दूर हटना चाहिए।

संवरभावनायुक्त जीव सौभाग्य को प्राप्त करता है और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों को अवश्य प्राप्त करता हैं।

9. निर्जरा भावना[21] :-

संसार (संसार भ्रमण) के हेतुभुत कर्म परम्परा को जो नष्ट करती है, वह निर्जरा सकाम और अकाम दो प्रकार से हैं। साधुओं को सकाम निर्जरा होती है। शेष सभी प्राणियों को अकाम निर्जरा होती है। जैसे आम अपना समय होने पर ही पकते हैं और उपाय से भी पकाये जाते हैं। उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान रहित एकेन्द्रियादि प्राणियों के द्वारा शीत, उष्णता, वृष्टि, दहन, छेदन-भेदनादि के द्वारा कष्ट सहन करने से जो कर्म निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। और मेरे कर्मो का (जल्दी से) क्षय नहीं हो रहा है - एसा सोचकर सज्जनों (साधुओं) द्वारा तपस्यादि के द्वारा जो कर्मनिर्जरा की जाती है) वह सकाम निर्जरा है।

अनशनादि बारह प्रकार के तप आदि के द्वारा निर्जरा वृद्धि को प्राप्त होती है। अतः संसार और कर्म ममत्व को नष्ट करने के लिए आत्मा को निर्जरा भावना से भावित करना चाहिए।

10. लोक स्वभाव भावना[22]:-

सिर के बालों की चोटी रहित कोई पुरुष कमर पर हाथ रखकर चौडाकर खडा हो वैसा लोक का संस्थान (आकार, स्वरुप) है। इसमें नीचे के सात रज्जु प्रमाणवाला अधोलोक, ऊपर के सात रज्जु प्रमाण उर्ध्वलोक और मेरु पर्वत की समभूतला (सपाट पृथ्वी जहाँ आठ रुचक प्रदेश स्थित हैं) से 900 योजन ऊपर और 900 योजन नीचे मध्य लोक है। अधोलोक में सात नारकी परमाधामी और भवनपति देवों का, मध्यलोक में व्यंतर, वाणव्यंतर, ज्योतिष

17. अ.रा.पृ. 5/1508, 1509; शान्तसुधारसभावन, पंचम भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 21 से 23
18. अ.रा.पृ. 5/850; 5/1509; शान्तसुधारसभावन, षष्ठ भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 43 से 46
19. अ.रा.पृ. 2/503; 5/1509; शान्तसुधारसभावन, सप्तम भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 47 से 59
20. अ.रा.पृ. 5/850; 7/237; संवर शब्द 238 'संवर भावना'; शान्तसुधारसभावन, अष्टम भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 61 से 64 तत्त्वार्थसूत्र
21. अ.रा.पृ. 4/2509; 5/1509; शान्तसुधारसभावन, नवम भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 66, 67
22. अ.रा.पृ. 5/1509, 1510; शान्तसुधारसभावन, अष्टक-11; बारसाणुवेक्खा 38 से 42

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव और तिर्यग्जृंभक देव, मनुष्य एवं तिर्यंचो का; और ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देवों का निवास है तथा संपूर्ण चौदह राजलोक में सूक्ष्म जीव व्याप्त हैं और लोकांत में सिद्धशिला के कुछ ऊपर लोक के अंतिम छोर पर सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं (इसका विशेष विस्तृत वर्णन अभिधान राजेन्द्र कोश, लोक प्रकाश, तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रंथों से ज्ञातव्य है)।

जैनधर्म की प्राप्ति नहीं होने से जीव अनादि काल से इस लोक में विभिन्न गतियों में रहा है। मेरा (शुद्धात्मा का) स्थान तो लोकांत पर है, जो मुझे प्राप्त करने योग्य है। इसकी प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ करने के लिए आत्मा को भावित करना 'लोकस्वरुप' भावना है।

11. बोधिदुर्लभ भावना[23]:-

जैनधर्म की प्राप्ति की दुर्लभता के विषय में बार-बार चिन्तन करना बोधि-दुर्लभ भावना है। यह जीव पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय के भव में स्वयं के विशिष्ट कर्मों द्वारा इस भयंकर संसार में अनंत पुद्गल-परावर्तन काल तक भ्रमण करते करते अकाम निर्जरा द्वारा शुभ पुण्य योग से पञ्चेन्द्रियरुप प्राप्त कर आर्य क्षेत्र, सुजाति, उच्चकुल, निरोगी काया, सम्पत्ति, परिवार, राज्य सुखादि प्राप्त किये परन्तु एकमात्र तत्त्वातत्त्व के विवेचन में कुशल (निर्णायक) बोधि (श्रद्धायुक्त सम्यग्ज्ञान) प्राप्त नहीं किया।

जो जीव इस संसार में एक बार भी सर्वज्ञोपदिष्टा अक्षयमोक्ष सुख की जनयित्री बोधि (श्रद्धा) को प्राप्त कर लेता है उसका इतने लम्बे काल तक संसार भ्रमण नहीं होता। इस जीवने द्रव्य चारित्र तो अनेक बार प्राप्त किये लेकिन सम्यक-ज्ञानोत्पादिका श्रद्धा कभी भी प्राप्त नहीं की।

जो भी आत्माएँ सिद्ध हुई हैं - हो रही है और होगीं वे सब बोधि (सम्यग्दर्शन/शुद्ध श्रद्धा) के महात्म्य से होंगी। इसलिए बोधि की उपासना करनी चाहिए।

12. धर्मकोर्हन्[24] :-

केवलज्ञान से लोकालोक दृष्टा तीर्थंकर ही यथार्थ धर्म कहने में समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं। सर्वत्र सभी जीवों पर परोपकार करने में उद्यत वीतराग कहीं भी, कभी भी, असत्य नहीं बोलते, अतः उनके कहे हुए धर्म में सत्यता है। सर्वज्ञकथित क्षमादि 10 धर्मों के पालन से जीव संसार समुद्र में डूबता नहीं है। स्वेच्छा से हिंसादियुक्त पूर्वापरविरुद्ध वचनयुक्त सद्गति का वैरी, कुतीर्थिक-प्रणीत विचित्र वचनयुक्त धर्म का सम्यक् कथन कैसे संभव होगा ?

संसार में साम्राज्य, सम्पत्ति, सद्गुणों का समूह, सौभाग्य की प्राप्ति धर्म का ही फल हैं।

सदाकाल पृथ्वी को घेरकर रहा लवण समुद्र पृथ्वी को डुबाता नहीं है, सूर्य-चन्द्र अंधकार का नाश करते हैं, वह धर्म का ही फल है। धर्म अनाथ का नाथ है, गुणरहित का गुणनिधि, परमहित-चिन्तक धर्म जयवंत है। अर्हत्प्रणीत यह धर्म सत्य है - एसी भावना से आत्मा को भावितकर सर्वसम्पत्कारी धर्म में बुद्धिमान् पुरुष को विशेष दृढ होना चाहिए।

मैत्री आदि चार भावनाएँ :-

वैराग्यवर्धक इन बारह भावनाओं के अलावा राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने मैत्री आदि चार भावनाओं का भी वर्णन किया है।

1. मैत्री भावना - निष्कपट भाव से **'आत्मवत्सर्वभूतेषु'**-की सर्वोत्तम भावनापूर्वक सभी जीवों की हितचिन्ता करना मैत्री भावना है।[25]

2. प्रमोद भावना - 'नमनप्रसादादिभिर्गुणाधिकेष्वभिव्यज्यमानान्तर्भक्तावनुरागे' अर्थात् दूसरों के ज्ञान, विवेक, विनय, सुख आदि गुणों में प्रेम रखना या पक्ष करना 'प्रमोद भावना' कहलाती हैं।[26]

3. करुणा भावना - जीवरक्षा, जयणा, स्व-पर के प्राणों की रक्षा करना और नाना प्रकार के कष्टों से पीडित प्राणियों के कष्टों को दूर करने की इच्छा 'करुणा' कहलाती हैं।[27]

4. माध्यस्थ - अनेक प्रकार के पाप करने में रक्त, दुष्ट, मूढ और पूर्वाग्रह से ग्रस्त बुद्धिवाले प्राणियों की उपेक्षा करना अर्थात् उनके प्रति भी द्वेष न कर उदासीनता रखना माध्यस्थ भावना कहलाती है।[28]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है - पूर्वोक्त अनित्यादि भावनाओं के साथ इन मैत्र्यादि चार भावनाओं से युक्त आत्मा शीघ्र सिद्धि (मोक्ष, मोक्षगति) को प्राप्त करता है।[29] उपाध्याय श्री विनयविजयजी महाराजने शान्तसुधारसभावना में मैत्र्यादि चार भावनाओं के विषय में कहा है-

मैत्री-प्रमोदकारुण्य - माध्यस्थानि योजयेत।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुः, तद्धि तस्य रसायनम्।।[30]

भावनाओं से लाभ :-

धर्मयुक्त ध्यान की सहायता के लिए विद्वानों को चाहिए कि वे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य (दया) और माध्यस्थ - इन चार गुणों का सेवन करें। क्योंकि वह धर्म ध्यान के लिए अमोघ औषध स्वरुप है।

इसके अतिरिक्त आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में महाव्रतों की सुरक्षा एवं उचित पालन हेतु 25-25 शुभ भावनाओं का भी वर्णन किया है, जो प्रस्तुत शोध प्रबंध के इसी परिच्छेद में पृ. 279 पर दर्शायी गयी हैं।

इनसे साधक को सदैव अपनी आत्मा को भावित करते रहना चाहिए। इन अनुप्रेक्षाओं के बार-बार चिन्तन से मोह की निवृत्ति होती है और सत्य की प्राप्ति होती है। इन्हें वैराग्य की जननी भी कहा गया है।[31] सूत्रकृतांग में भी कहा है-

भावणा जोग सुद्धप्पा जले नावावआहिया।
णावाव तीरसंपन्ना सव्वदुक्खा तिउट्टई।।[32]

जिसकी आत्मा भावना योग से शुद्ध है वह जल में नौका के समान है। वह तट को प्राप्त कर सब दुःखों से मुक्त हो जाती है। शुभ भावनाओं से भावित शुद्धात्मा के पुराने पाप कर्म नष्ट होते हैं और नये कर्म नहीं बंधते।

---

23. अ.रा.पृ. 5/1333, 1510; प्रवचनसारोद्धार, 67 वाँ द्वार; शान्तसुधारसभावन, द्वादश भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 83, 84, 86
24. अ.रा.पृ. 5/1511; शान्तसुधारसभावना, दशम भावनाष्टक; बारसाणुवेक्खा 68 से 80
25. अ.रा.पृ. 6/285
26. अ.रा.पृ. 5/501
27. अ.रा.पृ. 4/2456; 'दया' शब्द, 2457 'दयालु' शब्द
28. अ.रा.पृ. 6/64
29. अ.रा.भा. 5/1512
30. शान्तसुधारसभावना
31. अ.रा.भा. 5/1515
32. सूत्रकृतांग 1/15; आचारांग 1/1/1; प्रश्नव्याकरण, संवर द्वार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुप्रेक्षा से आयुष्य कर्म के अलावा गाढ बंधन से बँधी हुई सात प्रकृतियों को शिथिलबंधन से बद्ध अर्थात् अपवर्तन आदि करण योग्य करता है, तथा तीव्ररसवाली अशुभ प्रकृतियों को मन्द रसवाली बनाता है। यदि आयुष्यकर्म का बंध करे तो देव गति का ही आयुष्यबंध करता है तथा असाता वेदनीय तथा दूसरी अशुभ प्रकृतियों का बार-बार बंध नहीं करता और अनादि अनंत दीर्घकाल वाले चतुर्गति रुप संसार अरण्य को मुनि शीघ्र पार कर जाते हैं। इनके अभ्यास से शारीरिक एवं सांसारिक आसक्ति मिटती है और आत्मविकास होता है।[33]

अन्य अपेक्षा से भावनाओं का वर्गीकरण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में एक अन्य प्रकार से भावनाओं के दो वर्ग बताये गये हैं - द्रव्य भावना और भाव भावना।

(1) **द्रव्य भावना** - धनुर्विद्या, शब्दवेध, अश्वविद्या, गजविद्या आदि का अभ्यास, चित्रकलादि अनेक कलाओं का अभ्यास आदि द्रव्य भावना हैं।[36]

(2) **भाव भावना** - यह भावना दो प्रकार से हैं-

(क) असंक्लिष्ट भाव भावना / प्रशस्त भावना :-

प्राणातिपातादिविरमण रुप पाँच महाव्रतों की सुरक्षा एवं दृढता हेतु ईर्यासमिति पालन आदि पच्चीस भावनाएँ असंक्लिष्ट भाव-भावना है[37] जिनका यथायोग्य वर्णन शोध प्रबंध के इसी परिच्छेद में यथास्थान किया गया हैं।

(ख) संक्लिष्ट भाव-भावना/अप्रशस्त भावना :-

जिसमें जीव के परिणाम राग-द्वेषादि क्लेशयुक्त रहते हैं और जिसमें सदसद् विवेक नहीं रहता, उसे संक्लिष्ट भावना या अप्रशस्त भावना कहते हैं। यह पाँच प्रकार से हैं।[38]

(1) **कंदर्प भावना** - (1) कंदर्प (काम) (2) कौत्कुच्य (3) दु:शीलत्व (4) हास्य (5) परविस्मयकरण - इस पाँचों प्रकार के सेवन से कंदर्प भावना होती है। इससे जीव द्रव्य चारित्र का पालन करने पर भी भाव संक्लिष्ट होने से कंदर्प देवों में उत्पन्न होकर विट् (भाण्ड) की तरह रहता हैं।[39]

(2) **किल्बिषी भावना** - (1) श्रुतज्ञान (2) केवलि भगवंत (3) धर्माचार्य (4) श्री सङ्घ और (5) साधु भगवंत की निंदा से किल्बिषी भावना उत्पन्न होती है जिससे जीव अस्पृश्यवत् किल्बिषिक नामक देवों में उत्पन्न होता है।[40]

(3) **आभियोगी भावना** - यह भावना पाँच प्रकार से हैं -

(1) **कौतुक** - शिशुओं की बीलग्रह आदि रोगों से रक्षा हेतु धूपादि करना, होम करना, अभिमंत्रण करना-कौतुक अभियोगी भावना है।

(2) **भूति कर्म** - शरीर या पदार्थ (बर्तनादि) या स्थान की रक्षा हेतु भस्म, धागादि करना-भूति कर्म है।

(3) **प्रश्न** - दूसरों को लाभालाभ के विषय में पूछना या स्वयं अंगूठा, दर्पण, तलवार, जलादि में देखना या दिखाना - वह प्रश्न भावना है।

(4) **प्रश्नाप्रश्न** - स्वप्न में या देवता के द्वारा घटिकादि में अवतरित होकर या विद्या के द्वारा दूसरों के विषय में शुभाशुभ का कथन, प्रश्नाप्रश्न भावना हैं।

(5) **निमित्त** - निमित्त विषयक ज्ञान से भूत-भावि और वर्तमान के विषय में भविष्य कथन करना - निमित्त भावना हैं।

यह भावना साधु यदि ऋद्धि, रस या शाता की इच्छा से रहित निर्णायक ज्ञानयुक्त होकर शासन प्रभावना हेतु करता है तो वह तीर्थ (धर्म) की उन्नति करता है और उच्च गोत्र का बंध होता है और यदि ऋद्धि आदि गारव (गौरव) की इच्छा से करता है तो आभियोगिक (निम्न) देव गति में उत्पन्न होता हैं।[41]

(4) **आसुरी भावना**[42] - आसुरी भावना पाँच प्रकार की हैं-

क. **सदा विग्रहशीलत्व** (कलहप्रियता)

ख. **संसक्त तप** - आहारादि की इच्छा से तप करना

ग. **निमित्त कथन** - अभिमान से अष्टाङ्ग निमित्त का कथन करना।

घ. **निष्कृपालुता** - गमना-गमन, आसानादि में स्थावरादि जीवों की दयापालन में प्रमाद कर पश्चाताप नहीं करना।

ङ **निरनुकम्पत्व** - क्रूरता सेअनुकम्पायोग्य जीवों के उपर भी अनुकम्पा (दया) न करना इस भावना से जीव आसुरी गति प्रायोग्य कर्म बांधकर असुरकुमारादि (भवनपति) देवों में उत्पन्न होता है।[43]

(5) **सम्मोही भावना**[44] - सम्मोही भावना पाँच प्रकार की हैं-

(1) **उन्मार्ग देशना** - ज्ञानादि को दूषित नहीं करते हुए रत्नत्रय से विपरीत मार्ग का उपदेश देना।

(2) **मार्गदूषणता** - अभिमान से साधु को जाति आदि का दूषण देना।

(3) **मार्गविप्रतिपत्ती** - ज्ञानादि मार्ग को असद्दूषण से दूषित कर जमालिवत् एकदेश से उन्मार्ग देशना देना।

(4) **मोह** - परतीर्थिकों (अन्य दर्शनियों) की अनेक प्रकार की समृद्धि और चमत्कार देखकर मोहित होना।

(5) **मोहजनकत्व** - स्वभाव से या कष्ट से दूसरों को अन्य दर्शन में मोह पैदा करवाना इससे बोधिलाभ नहीं होता।

ये 25 संक्लिष्ट भावनाएँ अशुभ, और सम्यक् चारित्र में विघ्नकारी होने से मुनियों को त्याज्य हैं। इनके निरोध से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।[45]

---

33. अ.रा.भा. 1/389
34. अ.रा.भा. 1/389
35. अ.रा.भा. 1/389
36. अ.रा.भा. 5/1511
37. वही, पृ. 1511, 1512
38. वही,पृ. 1511
39. अ.रा.पृ. 5/1511, 1513
40. अ.रा.पृ. 5/1513
41. अ.रा.पृ. 5/1514
42. अ.रा.पृ. 5/1514
43. अ.रा.भा. 5/1514
44. वही
45. वही; प्रवचनसारोद्धार, 73 वाँ द्वार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप

'तप' -यह शब्द केवल दो अक्षरों का मेल, गम्भीर अर्थ का द्योतक हैं। या कहा जाये कि मोक्ष के द्वार को खोलने की चाबी हैं। जहाँ महाव्रतादि मुख्यरुप से शुभास्रव के कारण के रुप में माने जाते हैं, वहीं तप शुभाशुभ कर्मो को रोकनेवाला अर्थात् संवरद्वार है साथ ही निर्जरा का मुख्य कारण माना जाता हैं, अर्थात् यह मोक्षद्वार भी है। यों तो सभी प्रकार की धार्मिक क्रियाएं सामान्य रुप से तप के अन्तर्गत आ सकती हैं, किन्तु यहां पर 'तप' शब्द से कुछ विशेष अर्थ अभिप्रेत हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में स्थान-स्थान पर तप और उससे सम्बन्धित शब्दों पर तप विशेष के बारे में गहन तथ्य अनुस्यूत हैं। आगे के कुछ अनुच्छेदों में 'तप' का अनुशीलन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया हैं।

'तप' शब्द की व्युत्पत्ति :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'तप' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्यश्रीने कहा है - जिसके द्वारा तपा जाये, वह तप है।[1] जो कर्मो को तपाता है, जलाता है, वह तप है[2]; जोआठ प्रकार के कर्मो को तपाता है, उसका नाम तप है[3]।

तप की परिभाषाएँ :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में तप की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्रीने कहा है-

जो रसादि धातुओं को अथवा कर्मो को तपाता है, उसे 'तप' कहा जाता हैं[4]। इसी प्रकार तप की नैरुक्तिक (शाब्दिक) परिभाषा करते हुए कहा है - जिस अनुष्ठान या साधना से शरीरगत रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र - ये सात धातु तपाये जाते हैं अथवा जिसके द्वारा अशुभ कर्मो को तपाया जाता है, उसका नाम 'तप' हैं[5]। इसके अतिरिक्त 'तप' की एक अन्य परिभाषा भी कोशकार आचार्यश्री ने की है, वह है - देहे दुक्खं महाफलम्[6]। अर्थात् "देह का दमन करना तप है, वह महान फलप्रद है अर्थात् क्षुधा, पिपासा आदिपरिषहों (शारीरिक कष्टों) को समतापूर्वक सहना भी तप है[7], इससे मोक्ष-फल की प्राप्ति होती हैं।

(आ) तप की भाव प्रधान परिभाषा :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने तप की शाब्दिक परिभाषा के साथ ही भावपरक-(अर्थपरक) परिभाषा बताते हुए कहा है - इच्छानिरोध (इच्छाओं को रोकने) रुप तप से ही मोक्ष प्राप्त होता है[8]। पूर्वाचार्योंने भी कहा है - उद्देश्यपूर्वक इच्छाओं का निरोध करना ही तप है[9]। प्रत्याख्यान-त्याग से इच्छाओं का निरोध हो जाता है[10] त्याग से आशा, तृष्णा व इच्छाओं का शमन हो जाता है। अन्यथा इच्छाएँ तो आकाश के समान अनन्त हैं[11]; उनका कोई आदि-अन्त नहीं; उन पर विजय पाना बडा कठिन है। अनगारधर्मामृत में भी कहा है कि मन-वचन-काया के तपने से अर्थात् सम्यग् रुप से निवारण करने से; सम्यग्दर्शनादि को प्रगट करने के लिए इच्छा-निरोध को तप कहते हैं[12]। वैतृष्ण्य की सिद्धि के लिए धीर पुरुष को नित्य तप करना चाहिए[13]।

उपर्युक्त शाब्दिक एवं भावपरक पारिभाषाओं के आधार पर निष्कर्ष यह है कि एक ओर तपश्चरण से देह क्षीण होती है, तो दूसरी ओर कर्म भी निर्मूल होते हैं। इस प्रकार तप देहगत और आत्मगत दोनों दृष्टियों से सार्थक हैं।

तप के दो रुप :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में वैसे तो आचार्यश्रीने तप के विविध रुपों की चर्चा स्थान-स्थान पर की है लेकिन वे सब जिसमें सम्मिलित हैं एसे दो रुप मुख्यत: चर्चित हैं - बाह्य तप और आभ्यन्तर तप[14]।

बाह्य तप हमारी देह पर प्रभाव डालता है तो आभ्यन्तर तप - आत्मा व मन पर। जैन परम्परा में तप की विधि बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होती गयी हैं। वह बाहर से भीतर की ओर बढती है। आभ्यन्तर तप से मानसिक विशुद्धि, सरलता व एकाग्रता की विशेषसाधना होती है, तो बाह्य तप द्वारा साधक अपने तन-मन को साध लेता है, सहिष्णु बना लेता है और उसके दोषों का संशोधन कर लेता है। बाह्य तप से आभ्यन्तर तप की ओर बढने के लिए बाह्य तप का क्रम प्रथम रखा गया हैं[15]।

बाह्य तप :-

बहिर्भव बाह्यम्[16]। अर्थात् स्पष्ट, नेत्रों से दिखनेवाला बाह्य तप बाहरी वस्तु के त्याग की अपेक्षा रखता है, जिसकी कष्टमयता जनसाधारण जान सकते हैं और जो मुख्यरुप से शरीर (कार्मण शरीर) को तपाये उसे बाह्य तप की संज्ञा दी गयी हैं[17]।

अनशनादि बाह्य तप के आचरण से इन्द्रियों का दमन सहजतया हो जाता है, चित्त की चंचल वृत्तियों पर नियंत्रण करने का सामर्थ्य प्रकट होता है और शरीर कष्ट-सहने के लिए अभ्यस्त हो जाता है।

---

1. अ.रा.पृ. 4/2199; जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/358
2. अ.रा.पृ. 4/2199; पञ्चाशक सटीक-विवरण 16
3. अ.रा.पृ. 4/2199;
4. अ.रा.पृ. 4/2199;
5. अ.रा.पृ. 4/2199; धर्मामृत अनगार-7/3; अनगार धर्मामृत, पृ. 493
6. अ.रा.पृ. 5/643; दशवैकालिक सूत्र-8/27
7. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/358
8. अ.रा.पृ. 7/60; उत्तराध्ययन 4/8
9. मोक्षपञ्चाशत् 48; अनगार धर्मामृत-7/2; धवला टीका-13/5, 4
10. अ.रा.पृ. 5/103; उत्तराध्ययन सूत्र-29/3; जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/358
11. इच्छा हु आगास समा अणंतिया - अ.रा.पृ. 4/1817; उत्तराध्ययन सूत्र 9/48
12. अनगार धर्मामृत 7/2, पृ. 492
13. वही 7/1
14. अ.रा.पृ. 4/2200; भगवती सूत्र-25/7
15. धर्मामृत अणगार 7/5
16. अ.रा.पृ. 5/1321;
17. अ.रा.पृ. 5/1321; धर्मामृत अणगार-7/6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्य तप के छह प्रकार :-

बाह्य तप के छह भेद हैं - अनशन, ऊनोदरिका, वृत्तिसंक्षेप (भिक्षाचरी), रसपरित्याग, कायक्लेश, और संलीनता[18]।

(1) अनशन तप :-

अश्यते भुज्यते इत्यशनम्। जो खाया जाता है, उसे 'अशन' कहते हैं। अशन का अभाव अनशन है -'न अशनं इति अनशन'। अशन, पान, खादिम और स्वादिम - इन चारों प्रकार के आहार का संपूर्ण रुप से त्याग करना 'अनशन' कहलाता हैं[19]।

अनशन तप के प्रकार :-

अनशन तप के दो भेद हैं- इत्वरिक अनशन और यावत्कथिक अनशन[20]। इत्वरिक अनशन अल्प समय के लिए होता है। इत्वरिक अनशन सावकाश होता है क्योंकि इसमें समय-मर्यादा रहती हैं। निश्चित समय के पश्चात् ही आहार की इच्छा होती है अथवा आहार ग्रहण किया जाता हैं जबकि यावत्कथिक तप में आजीवन भोजन कीआकांक्षा नहीं रहती। उसमें जीवन पर्यंत संपूर्ण आहार का त्याग होता है। इसलिए उसे निरवकाश तप कहा गया है[21]।

1. **इत्वरिक अनशन तप :-** इत्वरिक अनशन तप अनेक प्रकार का है, यथा चतुर्थभक्त (अर्थात् उपवास से एक दिन पूर्व एकाशन, उपवास के दिन दो समय भोजन कात्याग और पारणा के दिन पुनः एकाशन करना। इस प्रकार चार समय के भोजन के त्याग को चतुर्थभक्त कहते हैं), षष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त आदि से लेकर एक-एक दिन बढाते हुए छः मास पर्यंत का उपवास 'इत्वरिक अनशन' तप माना गया है[22]। परवर्ती परम्परा की अपेक्षा से दो घडी (48 मिनिट) अर्थात् नवकारसी (सूर्योदय से 48 मिनिट तक सर्व प्रकार के आहार पानी का त्याग) से लेकर छह महीने पर्यंत का उपवास 'इत्वरिक अनशन' तप में आता हैं[23]।

   श्रमण भगवान महावीर के तीर्थकाल में इत्वरिक अनशन तप उत्कृष्ट छः मास का होता है। बीच में बाईस तीर्थकर के शान में आठ मास का और ऋषभदेव के तीर्थ में उत्कृष्ट तप एक वर्ष का माना गया हैं[24]।

   अभिधान राजेन्द्र कोश में इत्वरिक तप संक्षेप में छः प्रकार का बताया गया है-

   (1) श्रेणि तप (2) प्रतर तप (3) धन तप (4) वर्ग तप (5) वर्ग-वर्ग तप और (6) प्रकीर्ण तप। छः प्रकार का यह इत्वरिक अनशन तप मनोवाञ्छित फल देनेवाला है[25]।

2. **यावत्कथित अनशन तप :-** यावत्कथिक अनशन तप जीवन भर के लिए होता है। जब सेअनशन लिया जाता है तब से लेकर मृत्यु पर्यंत तीन अथवा चारों आहारों का त्याग यावत्कथित तप के अन्तर्गत आता है[26]।

   मृत्युकाल में जो यावत्कथिक अनशन किया जाता है, वह कायिक चेष्टा की अपेक्षा से सविचार और अविचार - दो प्रकार का कहा गया है[27]। जिसमें शारीरिक चेष्टाओं के व्यापार चालू हो, वह सविचार अनशन तप है और जिसमें समस्त कायिक क्रियाएँ बन्द हों, वह अविचार अनशन तप हैं[28]। प्रकारान्तर सेआजीवन अनशन तप के सपरिकर्म और अपरिकर्म दो प्रकार हैं - जिसमें कायिक चेष्टा की जाये वह सपरिकर्म और कायिकचेष्टारहित अपरिकर्म होता है। वह वृक्ष की भाँति शरीर से निष्कम्प रहता है। व्याघात और निर्व्याघात की अपेक्षा से इसके भी दो भेद हैं - निहारी और अनिहारी। इन दोनों अनशनों में आहार का त्याग होता ही है[29]।

   आजीवन अनशन तप के काययोग की अपेक्षा से तीन भेद हैं - पादपोगमन, इङ्गितमरण और भक्तपरिज्ञा[30]।

   (i). **पादपोपगमन अनशन -** 'पादप' अर्थात् वृक्ष। प्रथम संहनन और प्रथम संस्थानवाले महापुरुष का योग्य स्थान में जाकर चारों आहार का त्याग कर वृक्ष की तरह खडे-खडे या बाँयी ओर करवट करके (गिरे हुए वृक्ष की तरह) समस्त प्रवृत्ति का त्याग करके मृत्यु पर्यंत उसी स्थिति में निश्चल रहना पादपोपगमन अनशन है। इस अनशन में देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत अनुलोम (अनुकूल) या प्रतिलोम (प्रतिकूल) उपसर्गों में या अन्य उपसर्ग या किसी भी प्रकार की किसी भी परिस्थिति में अङ्गोपाङ्गों को स्वयं के द्वारा अंशमात्र भी चलायमान नहीं किया जा सकता; तपस्वीपुरुष सभी स्थितियों में मेरु पर्वत की तरह अचल रहते हैं। विशिष्टधैर्ययुक्त प्रथम संहननवाले महापुरुष रोगादि कारण से धर्मपालन में असमर्थ होने पर अथवा मरण सन्निकट होने पर पादपोपगमन अनशन को धारण करते हैं[31]। इसके दो प्रकार हैं - निर्हारिम और अनिर्हारिम।

   (क) **निर्हारिम** - साधक जब गाँव आदि में इस अनशन को ग्रहण करते हैं, उनकी मृत्यु के बाद उनके शरीर को निकालना (परठना) पडता है, उसे निर्हारिम पादपोपगमन अनशन कहते हैं[32]।

   (ख) **अनिर्हारिम** - साधक जब गाँव के बाहर इस अनशन को ग्रहण करते हैं, तब उनकी मृत्यु के पश्चात् शरीर

18. अ.रा.पृ. 5/2200; मरण समाधि प्रकीर्णक-127; पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-198; धर्मामृत अणगार-7/11, 20, 26, 27, 30, 32; तत्त्वार्थसूत्र-9/19; मूलाचार-346; भगवती आराधना-208; द्रव्य संग्रह-57/228
19. अ.रा.पृ. 1/303; भगवती आराधना-विजयोदया टीका-6/32/14
20. अ.रा.पृ. 1/302; भगवती सूत्र-25/7; मूलाचार-347
21. अ.रा.पृ. 1/302-303; उत्तराध्ययन सूत्र सटीक 30/9; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 1/65; मूलाचार-349
22. अ.रा.पृ. 1/302; भगवती सूत्र-25/7; चारित्रसार-134/2; मूलाचार-347, 348
23. अ.रा.पृ. 1/302-303; भगवती सूत्र-25/7
24. अ.रा.पृ. 1/302; भगवती सूत्र-25/7
25. अ.रा.पृ. 1/303; उत्तराध्ययन सूत्र 30/10, 11
26. अ.रा.पृ. 1/302, 303; भगवती सूत्र-25/7; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश - 1/65
27. अ.रा.पृ. 1/303; उत्तराध्ययन-30/2
28. अ.रा.पृ. 1/303; उत्तराध्ययन-सूत्र सटीक-30/2
29. अ.रा.पृ. 1/303-304; उत्तराध्ययन-सूत्र -30/13
30. अ.रा.पृ. 1/302; मूलाचार-152
31. अ.रा.पृ. 5/819 से 821, 6/110, 1/303; व्यवहार सूत्र-544 से 579; भगवती सूत्र-25/7; पञ्चाशक-19 विवरण; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/387
32. अ.रा.पृ. 4/2156, 5/819; भगवती सूत्र-2/1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को निकालने की आवश्यकता नहीं रहती अत: उसे अनिर्हारिम पादपोपगमन अनशन कहते हैं[33]।

(ii) **इङ्गिनी मरण** - नियत किये हुए मर्यादित स्थान में ही गमनागमन करना इङ्गिनीमरण अनशन है। इस अनशन में यावज्जीव चारों प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग किया जाता है, शरीर-शुश्रूषा स्वयं कर सकते हैं लेकिन दूसरों से नहीं करवा सकते और मर्यादित भूमि से बाहर भी नहीं जा सकते।

प्रथम संहनन, धृति, बल आदि के अभाव में पादपोपगमन अनशन स्वीकारने में असमर्थ परंतु प्रथम तीन संहननवाला, नवपूर्वधर या दशपूर्वधर या ग्यारह अङ्गो के ज्ञाता, प्रतिलेखन-प्रत्युपेक्षण, प्रतिक्रमणादि क्रियाओं में समर्थ, विशिष्टधैर्ययुक्त मुनि मरण का आसन्न समय होने पर संलेखना ग्रहण करके दीक्षा के दिन से तब तक के दोषों की गुर्वादि के समक्ष आलोचना करके चारों आहार के त्यागपूर्वक धूप से छाँव, छाँव से धूप आदि में नियत प्रदेश में गमनागमन करता हुआ आवश्यक क्रिया करता है और समभाव से धर्मध्यान में रहकर प्राण/देह त्याग करता है,उसे इंगिनीमरण कहते हैं[34]।

(iii) **भक्तप्रत्याख्यान अनशन** :- अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि संलेखनापूर्वक तीन (पानी को छोडकर) या चारों प्रकार के आहार का यावज्जीव त्याग करनेपूर्वक सविधि अनशन स्वीकार करना - भक्तप्रत्याख्यान अनशन है[35]। यह भक्तप्रत्याख्यान अनेक प्रकार का है।

1. **सपराक्रम** - जो भक्त प्रत्याख्यान अनशनधारी दूसरों के स्वयं के हेतु आहार-निहार हेतु जाने में समर्थ हो, उसे 'सपराक्रम' कहते हैं।
2. **अपराक्रम** - जिनमें उक्त सामर्थ्य नहीं होता उन्हें अपराक्रम भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

इन दोनों भेदों के भी निम्नानुसार दो भेद हैं -

1. **व्याघात** - जिसमें मनुष्य, तिर्यंच, देवतादिकृत उपसर्ग होते हो या कर्मोदय से रोगादि की उत्पत्ति हो, वह व्याघात अनशन है।
2. **निर्व्याघात** - जिसमें उक्त कोई भी उपसर्ग न हो, वह निर्व्याघात अनशन है[36]।

स्थानांग में भक्त प्रत्याख्यान के निर्हारिम (गाँव आदि में) और अनिर्हारिम (अरण्यादि मे) - ये दो प्रकार पादपोपगमनवत् दर्शाये गये हैं[37]।

विधि[38] - गुरु भक्तपरिज्ञादि अनशन ग्रहण करनेवाले आचार्य या मुनि की परीक्षा करके तथा विशिष्ट अतिशय ज्ञान या देवता के द्वारा सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, स्वचक्र-परचक्रभयरहितता, क्षेत्रादियोग्यता एवं अनशनतप धारक में तप, सत्त्व, सूत्र,एकत्व, धृति आदि बल, कषायादि संलेखना की योग्यता देखकर शुभ-प्रशस्त-योग मुहूर्तादि में उन्हें विधिपूर्वक अनशन उच्चारण करवाते हैं - चतुर्विध संघ की उपस्थिति में अभिमंत्रित वासक्षेप करते हैं, देववंदन करवाते हैं, बाल्यकाल से तब तक के दोषों की आलोचना देते हैं, चतुर्विध-संघ से क्षमापना करवाते हैं, यथा -

"अरिहंतो मह देवो, जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियम्॥"

-इस गाथा का, सामायिक व्रत (करेमि भंते) का, और पाँच महाव्रत तथा छट्ठे रात्रिभोजन-विरमण व्रत के सूत्रपाठ का तीन बार उच्चारण करवाते हैं, प्राणातिपातादि अठारह पापस्थानों का त्याग करवाते हैं; तत्पश्चात् साधक गुरु, साधु आदि को वंदन करके अरिहंतादि पाँचो की साक्षी से भवचरिम प्रत्याख्यानपूर्वक तीनों या चारों आहार का त्याग करता है; तत्पश्चात् 'निस्तार पारगाह होह' -एसा बोलते हुए समस्त संघ (गुरु सहित) अनशनव्रती के शिर पर वासक्षेप करता है। इसके बाद अनशनव्रती को प्रतिदिन संवेगजनक उत्तराध्ययनदि सूत्रोक्त धर्मकथाएँ सुनाई जाती हैं।

अनशनग्राही यदि श्रावक हो तो सम्यक्त्व की गाथा के स्थान पर सम्यक्त्वदंडक (सूत्रपाठ) और पञ्चमहाव्रत के स्थान पर 12 व्रत उच्चारण करवाते हैं। श्रावक सात क्षेत्रों (जिन मंदिर-जिन प्रतिमा, साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-ज्ञान भण्डार) में यथाशक्ति धनव्यय करता है।

इस अनशन में यथावसर सामग्री उपस्थित होने पर संथारा और दिशा का भी प्रत्याख्यान करवाया जाता है। अनशनव्रती साधु के द्वारा देह त्याग करने पर अन्य साधुओं के द्वारा उनके शरीर का सविधि परिष्ठापन किया जाता है[39]।

काल - इस अनशन का काल जघन्य से छ: मास और उत्कृष्ट 12 वर्ष तक का है[40]।

अधिकारी - प्रथम संहनन को छोडकर सभी सर्वविरतिधर और देशविरतिधर इसे ग्रहण कर सकते हैं[41]। इस अनशन' का विशेष विवेचन जिज्ञासु को अभिधान राजेन्द्र कोश में 'भत्तपच्चक्खाण' शब्द पर द्रष्टव्य है।

(2) ऊनोदरिका तप :-

'ऊनोदरिका' शब्द को प्राकृत में 'ऊणोदरिया' या 'ऊणोदरिका' या 'अवमोदरिका' शब्द से व्यवहृत हुआ है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में इसकी परिभाषा बताते हुए कहा है -"अवममूनमुदरं यस्य सोऽवमोदरः अवमोदरस्य वा करणम् अवमोदरिका।"[42] अथवा "ऊनम् उदरं ऊनोदरं तस्य करणं भावे ऊनोदरिका।"[43] अर्थात् अपनी आहारमात्रा से उदर में कम खाना, या जितनी भूख हो उससे कम खाना 'ऊनोदरिका' या 'अवमोदरिका' कहलाती है। इस तप की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है- अवि ओमोदरियं कुज्जा[44] - अवमोदरिका व्रत करना चाहिए अर्थात् भूख की अपेक्षा कम खाना चाहिए।

33. अ.रा.पृ. 1/340, 5/819; भगवती सूत्र-2/1;
34. अ.रा.पृ. 2/559, 550; समवयांग-17 वाँ समवाय; उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन-5; स्थानांग-ठाणां-2; व्यवहार सूत्र वृत्ति-2/10; निशीथचूर्णि-11 वाँ उद्देश; पञ्चवस्तु सटीक-2 द्वार; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/386
35. अ.रा.पृ. 5/1342, 1360; उत्तराध्ययन पाईयवृत्ति-अध्ययन-5; धर्मसंग्रह-3/151; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-4/387, 388
36. अ.रा.पृ. 5/1343; व्यवहार सूत्र-10/397-398
37. अ.रा.पृ. 5/1342; स्थानांग 2/4
38. अ.रा.पृ. 5/1342 से 1358; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/387, 388
39. अ.रा.पृ. 5/1358
40. अ.रा.पृ. 5/1344; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/387
41. अ.रा.पृ. 5/1335; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/387
42. अ.रा.पृ. 3/91; स्थानांग सटीक-3/3
43. अ.रा.पृ. 2/1209; उत्तराध्ययन सटीक 30/8; धवला टीका 13/5, 4
44. अ.रा.पृ. 2/616; आचारांग 1/5/4/164; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/200

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुष का आहार 32 कवल और स्त्री का आहार 28 कवल बताया गया है[45]। इससे एक ग्रास भी कम खाने को ऊनोदरिका तप कहते हैं।

ऊनोदरिका के प्रकार -

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'ऊनोदरिका द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार की बतायी है[46]। प्रकारान्तर से 1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल 4. भाव और 5. पर्याय भेद से इसके पाँच प्रकार हैं[47]।

1. **द्रव्य ऊनोदरिका** - आहार-पानी, वस्त्र-पात्रादि आवश्यकता से अल्प लेना द्रव्य ऊनोदरिका है।
2. **क्षेत्र ऊनोदरिका** - निश्चित किए गए ग्राम-नगरादि स्थान से ही गोचरी (आहार) ग्रहण करना, क्षेत्र ऊनोदरिका है।
3. **काल ऊनोदरिका** - गोचरी के लिए निश्चित किए गए समय पर ही आहार ग्रहण करना, अन्यथा नहीं लेना, काल ऊनोदरिका है।
4. **भाव ऊनोदरिका** - भिक्षा लेने जाते समय विविध प्रकार के अभिग्रह ग्रहण करना, भाव ऊनोदरिका है।
5. **पर्याय ऊनोदरिका** - उपर्युक्त चारों भेदों को जीवन में आत्मसात् करते रहना पर्याय ऊनोदरिका हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इन चारों नियमों-पर्यायों को अपनाते हुए जो भिक्षु भिक्षाचरी/गोचरी करता है, उसे 'पर्यवचर' भिक्षु कहा गया है।[48]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आगे द्रव्य ऊनोदरिका के दो भेदों का उल्लेख किया है[49]-

क. **उपकरणद्रव्य ऊनोदरिका** - वस्त्र-पात्रादि उपयोगी एवं आवश्यक वस्तुओं की जो मर्यादा है, उससे कम वस्तुएँ रखना - उपकरणद्रव्य ऊनोदरिका[50] हैं।

ख. **भक्त-पानद्रव्य ऊनोदरिका** - स्त्री के आहार का प्रमाण 28 कवल है और पुरुष के आहार का प्रमाण 32 कवल और नपुंसक के आहार का प्रमाण 24 कवल हैं। इसमें से जितने कवल कम खाया जाय, उसे 'भक्ति-पान ऊनोदरिका' कहते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने 'कवल' का प्रमाण मुर्गी के अण्डे के बराबर बताते हुए उसे 'कुक्कुटी' शब्द से परिभाषित किया है।[51] वह 'कुक्कुटी' दो प्रकार की है - 'द्रव्यकुक्कुटी' और 'भावकुक्कुटी'[52]।

द्रव्यकुक्कुटी :- द्रव्य कुक्कुटी के भी दो भेद है - उदरकुक्कुटी और गलकुक्कुटी। उदर-पूर्ति जितने आहार से हो, उतना ही आहार लेना; उससे हीनाधिक आहार न लेना उदरकुक्कुटी है। आहार का बत्तीसवाँ भाग एक कवल कहलाता है। अथवा जितना बडा कवल मुँह में रखते हुए मुँह, आँखे, भौहें आदि विकृत न हो, उतने प्रमाण का कवल या जो सुखपूर्वक मुँह में रखा जा सके उतने प्रमाण का कवल ग्रहण करना गलकुक्कुटी है।

भावकुक्कुटी :- भावकुक्कुटी के अन्तर्गत जितनी आहारमात्रा लेने से शरीर में स्फूर्ति बनी रहे, धैर्य बना रहे, दर्शन-ज्ञान और चारित्र रुप रत्नत्रयी की वृद्धि होती रहै, उतने प्रमाण के आहार का बतीसवाँ भाग एक कवल कहलाता है[53]। एसे बत्तीस कवल प्रमाण आहार ग्रहण करना भावकुक्कुटी है।

हितकारी - द्रव्य से अविरुद्ध, प्रकृत्यानुसार, और दोष रहित एषणीय आहार करनेवाले,

मिताहारी - प्रमाणसर (32 कवल) आहार करनेवाले

अल्पाहारी - भूख से कम आहार करनेवाले साधुओं की वैद्य चिकित्सा नहीं करते, उनको रोग नहीं होते क्योंकि वे स्वयं ही स्वयं के वैद्य हैं।[54]

इसी प्रकार पानी की भी ऊनोदरिका जाननी चाहिए। यहाँ पुरुष के समान स्त्रियों के लिए भी ऊनोदरिका तप बताया गया हैं।

(3) वृत्ति-संक्षेप (भिक्षाचरी) तप :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में तृतीय बाह्य तप 'वृत्तिसंक्षेप' की परिभाषा बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है - ''वृत्तेर्भिक्षाचर्यारुपाया: संक्षेपोऽभिग्रहविशेषात् संकोचनं वृत्तिसंक्षेप: ।''[55] अर्थात् अभिग्रह विशेष से भिक्षा का संकोच करके निर्दोष पदार्थ की गवेषणा के लिए भ्रमण करना 'वृत्तिसंक्षेप' तप है। इसी प्रकार एक अन्य परिभाषा के अनुसार ''वृत्तेर्भिक्षाचर्याया: संक्षेपणमल्पताकरणं वृत्तिसंक्षेपणं द्रव्याद्यभिग्रहणम्।[56] अर्थात् उपयोग में आने वाले खाने-पीने के पदार्थों को अभिग्रह के द्वारा सीमित करना, अल्प करना 'वृत्तिसंक्षेप' तप है। 'वृत्ति संक्षेप' का दूसरा नाम 'भिक्षाचरी' है।[57]

(4) रस-परित्याग तप :-

बाह्य तप के छह भेदों में 'रस-परित्याग' चौथा भेद है। रस-परित्याग तप का मूल प्रयोजन रसनेन्द्रिय-विजय है[58]। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने ''पौष्टिक भोजन, दूध, दही, घी, मिठाई आदि कामोत्तेजक रसमय पदार्थो का त्याग करना'' 'रस-परित्याग'[59] तप कहा है।

अभिधान राजेन्द्र कोश में इस तप के अनेक प्रकार बताये हैं, जैसे - दुग्धादि विकृति (विगई) से रहित आहार करना, प्रणीत (घी से अत्यन्त गरिष्ठ) आहार का त्याग करना, षड्विकृति (छह विगई) से रहित आयंबिल का भोजन करना, धान्य आदि के धोवन में से

45. अ.रा.पृ. 2/549; पिण्डनिर्युक्ति गाथा-642, पृ. 1210; मूलाचार-350; अनगार धर्मामृत-7/22
46. अ.रा.पृ. 2/1209; भगवती सूत्र-25/7
47. अ.रा.पृ. 2/1209; उत्तराध्ययन-30/14
48. अ.रा.पृ. 2/1213; उत्तराध्ययन सटीक -30/24
49. अ.रा.पृ. 2/1209; भगवती सूत्र-25/7
50. वही
51. अ.रा.पृ. 2/1210; भगवती सूत्र सटीक-25/7
52. अ.रा.पृ. 2/549; भगवती सूत्र सटीक-25/7
53. वही
54. पिंड निर्युक्ति-648
55. अ.रा.पृ. 6/1192; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/580
56. अ.रा.पृ. 6/1192; पञ्चाशक सटीक विवरण 19
57. अ.रा.पृ. 6/1590; उत्तराध्ययन सूत्र-30/25; भगवती आराधना-218 से 221; मूलाचार 355
58. अ.रा.पृ. 6/492; उत्तराध्ययन सूत्र-30/26; पञ्चाशक विवरण-19; मूलाचार 352
59. अ.रा.पृ. 6/492; औपपातिक सूत्र-19; भगवती आराधना-215

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ कण ग्रहण कर क्षुधा तृप्ति करना, रस-रहित भोजन करना, नि:स्वाद भोजन करना, सब से अन्त में बचा हुआ आहार या चना-उडद आदि के छिलके सहित आहार करना, सबके खा चुकने के बाद बचा हुआ भोजन करना और स्नेहरहित (रुक्ष) आहार करना[60]।

इस प्रकार भोजन में अति-स्निग्ध सरस वस्तुओं का त्याग करना 'रस-परित्याग' तप है। रस प्राय: कामोद्दीपक होते हैं अत: इन्हें विकृति कहते हैं। राजेन्द्र कोश के अनुसार जो शरीर और मन में विकारों को उत्पन्न करें, उसे विकृति (विगई) कहते हैं[61]।

जैन परम्परा में प्रचलित भक्ष्य विकृतियाँ छह हैं - दूध, दहीं, घी, तेल, गुड/शक्कर या उससे बनी हुई वस्तुएँ और कटाहविकृति[62] (कढाई विगई-कढाई में बने हुए पदार्थ, यथा-मिठाई, तली हुई वस्तुएँ)

इसमें भी साधु को प्रतिदिन एकसाथ छहों विगई उपयोग में लेने का निषेध किया गया है। बिना किसी कारण के इन विकृतियों का नित्य सेवन करनेवाले श्रमण (साधु) को पाप साधु कहा गयाहै[63]।

(5) कायक्लेश तप :-

यह तप कायिक क्रियाओं से संबंधित होने से शरीर पर सीधा प्रभाव डालता है। शरीर को विवेकपूर्वक कष्ट देना, खेद पहुँचाना, पीडा पहुँचाना 'कायक्लेश' तप है[64]। अभिधान राजेन्द्र कोश में इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यश्री ने कहा है- शीत-ताप, भूख-प्यास आदि उग्र कष्टों को समतापूर्वक सहन करना तथा वीरासन, पद्मासन आदि स्थिर आसनों से एक स्थान पर स्थिर रहना भी कायक्लेश तप है[65]।

कायक्लेश तप के भेद :-[66]

(1) **स्थानायतिक** - कायोत्सर्ग करना।
(2) **उत्कटासन** - उत्कटासन पूर्वक (उकडु बैठकर) ध्यान करना।
(3) **प्रतिमास्थायी** - प्रतिमा धारण करना
(4) **वीरासन** - सिंहासन में बैठकर ध्यान करना।
(5) **नैषधिक** - स्वाध्यायादि करते समय पालथी लगाकर बैठना
(6) **दण्डायतिक** - दण्ड की तरह सीधे लेटे रहना या खडे रहना।
(7) **लगुडशायी** - लकडी की तरह खडे रहकर ध्यान करना।

आगे आचार्यश्रीने ग्रीष्म ऋतु में आतापना (धूप में खडे रहना) और शीत ऋतु में खुले रहकर शीत सहन करना तथा वर्षाकाल में एक स्थान पर लीन रहनेरुप 'कायक्लेश' तप का भी वर्णन किया है।[67]

भगवती आराधना में भी अयन (सूर्यादि की गति) शयन, आसन, स्थान, अवग्रह (बाधाओं को जीतना), और योग (आतापनादि) इन छ: भेदों तथा उनके अनेक प्रभेदों सहित कायक्लेश तप का वर्णन किया गया है।[68]

(6) प्रतिसंलीनता तप :-

शरीर के अंगोपांगो, पाँचों इन्द्रियों, मन-वाणी-काया के योगों को अशुभ से मोडकर शुभ में जोडना, अपने-अपने विषयों में जाने से रोककर समेट लेना[69] तथा स्त्री, पशु, नपुंसक रहित एकान्त निर्दोष स्थान में ठहरना प्रतिसंलीनता है[70]। वह प्रतिसंलीनता चार प्रकार की होती है- इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता और विविक्तशयनासन सेवन[71]।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता - इन्द्रिय प्रतिसंलीनता पाँच प्रकार की बतायी गई है - स्पर्शन (समस्तशरीर), रसना (जीभ), घ्राण (नासिका), चक्षु (आँख) और श्रोत्र (कर्ण) - ये पाँच इन्द्रयाँ हैं। इन पाँचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर जाने से रोकना तथा शरीर, जीभ आदि इन्द्रियगत विषयों में राग-द्वेष नहीं करना, इन्द्रियप्रतिसंलीनता है[72]।

कषाय प्रतिसंलीनता - क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। उदय में नहीं आये हुए क्रोधादि कषायों का निरोध करना और उदय में आये हुए कषायों को विफल बना देना, कषाय प्रतिसंलीनता है[73]।

योग प्रतिसंलीनता - योग तीन है - मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इन तीनों योगों को अशुभ से शुभ में ले जाना और एकाग्र तथा प्रशान्त रखना योग प्रतिसंलीनता है।[74]

विविक्तशय्यासन प्रतिसंलीनता - प्रतिसंलीनता का चौथा सोपान है : विविक्तशय्यासन सेवन। इस तप का संबंध निर्दोष-निवास स्थान से है। स्त्री, पशु, पंडक, कुशील आदि से रहित शुद्ध वातावरणयुक्त एकान्त निर्दोष स्थान में रहना विविक्तशय्यासन प्रतिसंलीनता तप है[75]।

आभ्यन्तर तप :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने आभ्यन्तर तप की व्याख्या करते हुए कहा है कि "अभ्यन्तरे भवमाभ्यतरम्।"[76] आभ्यन्तर अर्थात् अन्तरंग से संबंधित। जो तप बाह्य दृष्टि से तप के रुप में दिखाई न दे तथा आत्मा और मन को तपाये उसे आभ्यन्तर तप कहते हैं[77]। मोक्ष प्राप्ति में प्रायश्चित आदि अंतरंग कारण है अत: इसे 'आभ्यन्तर तप' की संज्ञा से अभिहित किया गया हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश[78] में आभ्यन्तर तप के वर्णन में अनगारधर्मामृत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि मन का नियमन करनेवाले होने से प्रायश्चित्तादि को अभ्यान्तर तप कहते हैं[79]।

---

60. अ.रा.पृ. 6/1132; स्थानांग सूत्र सटीक-1/4
61. अ.रा.पृ. 6/1133; पच्चक्खाण भाष्य-गाथा 29; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/93
62. संबोधसत्तरि प्रकरण, गाथा-92
63. अ.रा.पृ. 6/492; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/393
64. अ.रा.पृ. 6/448; स्थानांग-7/3; मूलाचार-356
65. अ.रा.पृ. 3/488; उत्तराध्ययन सूत्र-अध्ययन 30
66. अ.रा.पृ. 3/449
67. अ.रा.पृ. 3/449; दशवैकालिक-3/12; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-450
68. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/47; भगवती आराधना-222 से 227
69. अ.रा.पृ. 5/357; स्थानांग-4/2; भगवती आराधना-232, 233
70. अ.रा.पृ. 6/1249; स्थानांग-4/2; सवार्थ सिद्धि 9/19 पर टीका; राजवार्तिक-9/19 पर टीका
71. अ.रा.पृ. 5/357; औपपातिक सूत्र-19; भगवती सूत्र-25/7
72. वही
73. वही
74. वही
75. अ.रा.पृ. 6/1247-1249-1250; भगवती सूत्र-25/7; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-447 से 449
76. अ.रा.को. 1/687; स्थानांग सूत्र सटीक -2/2
77. अ.रा.को. 1/687
78. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/359
79. अनगार धर्मामृत 7/6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणपरम्परा में वर्णित ये आभ्यन्तर तप अन्य मतावलम्बियों सेअनभ्यस्त और अप्राप्त है, अत: ये उत्तर अर्थात् आभ्यन्तर तप कहे जाते हैं। रत्नत्रय के आराधक मुनि जिसका आचरण करते हैं, एसे तप आभ्यन्तर तप कहे जाते हैं[80]।

प्रायश्चितादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं करते; अन्त: करण के व्यापार से होते हैं; इनमें अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है तथा इनका स्वयं ही संवेदन होता है; ये देखने में नहीं आते तथा ये इतने दुष्कर है कि अनार्हत लोग इनको धारण नहीं कर सकते, इसलिए प्रायश्चितादि को अन्तरंग माना जाता है[81]।

प्रायश्चित तप :

'प्रायश्चित' दो शब्दों के योग से निष्पन्न शब्द है। प्राय: + चित्त। अभिधान राजेन्द्र कोश में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है - ''प्राय: पापं विनिर्दिष्ट, चित्तं तस्य विशोधनम्।[82]'' 'प्राय:' का अर्थ है पाप, और 'चित्त' का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना। अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम है प्रायश्चित। प्राकृत भाषा के 'प्रायच्छित्त' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए प्रस्तुत कोश में कहा गया है-

''पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भण्णई तेण।
पाएण वा वि चित्तं, सोहयति तेण पच्छित्तं।''[83]

जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है उसे 'प्रायश्चित' कहते हैं। प्राकृत भाषा के 'पायच्छित' शब्द का संस्कृत में 'पापच्छित्' रुप भी बनता है। अभिधान राजेन्द्र कोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है- ''पापं छिनत्तीति पापच्छित्।''[84] अर्थात् जो पाप का छेद करता है वह 'पापच्छित्' कहलाता है।

उपर उद्धृत गाथा की व्याख्या करते हुए प्रायश्चित की एक परिभाषा और दी गई है- ''पापमशुभं छिनत्ति कृन्तति, यस्माद्धेतो: पापच्छिदिति वक्तव्ये प्राकृतत्वेन 'प्रायस्छित्तमि' ति भण्यते निगद्यते तेन तस्माद्धेतो: प्रायेण बाहुल्येन। वाऽपीत्यथवा, चित्तं मन/शोधयति निर्मलयति तेन हेतुना प्रायश्चितमित्युच्यते। इति गाथार्थ:। ''प्रायशो वा चित्तं जीवं शोधयति कर्ममलिनं विमलीकरोति तेन कारणेन प्रायस्छित्तमित्युच्यते। चित्तं स्वेन स्वरुपेण अस्मिन् सतीति प्रायश्चित्तं, प्रायो ग्रहणं संवरादेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थ:।''[85] जो जीव या चित्त को शुद्ध करता है और कर्म-मल को दूर करता है, धो डालता है उसे प्रायश्चित कहा जाता हैं।

अथवा जिससे आचार रुप धर्म उत्कर्ष को प्राप्त होता है, एसा प्राय: मुनि लोग कहते हैं, इस कारण से अतिचार दोषों को दूर करने के लिए जिसका चिन्तन-स्मरण किया जाये उसे प्रायश्चित कहते हैं-

अथवा प्रकर्षेण अयते गच्छति अस्मादाचारधर्म इति प्रायो मुनिलोकस्तेन चिन्त्यते स्मर्यतेऽतिचारविशुद्धयर्थमिति निरुक्तात् प्रायश्चित्तम्।[86] अ.रा.5/855

प्रायश्चित्त के प्रकार[87] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने प्रायश्चित के अनेक भेद-प्रभेद दिखाये हैं।

प्रायश्चित तीन प्रकार से :-

(क) (1) आलोचनार्ह (2) प्रतिक्रमणार्ह (3) तदुभयार्ह

(ख) (1) ज्ञान प्रायश्चित (2) दर्शन प्रायश्चित (3) चारित्र प्रायश्चित।

प्रायश्चित चार प्रकार से :-

(क) (1) ज्ञान (2) दर्शन (3) चारित्र (4) व्यक्तकृत्य

(ख) (1) प्रतिसेवना (2) संजोयणा (संयोजना) (3) आरोपणा (4) परिकुञ्चना/प्रतिकुञ्चना

प्रायश्चित्त दस प्रकार से[88]:-

(1) आलोचनार्ह (2) प्रतिक्रमणार्ह (3) तदुभयार्ह 94) विवेकार्ह (5) व्युत्सर्गार्ह (6) तपोऽर्ह (7) छेदार्ह (8) मूलार्ह (9) अनवस्थाप्यार्ह (10) पारांचितार्ह।

इन्हीं दस भेदों में से क्रमश: प्रायश्चित के छ: प्रकार करने पर 1 से 6 भेद, आठ प्रकार करने पर 1 से 8, और नौ प्रकार करने पर 1 से 9 भेद माने जाते हैं।

(1) **ज्ञान प्रायश्चित** - मुनि के द्वारा कालादि आठ प्रकार के ज्ञानाचार में या सूत्र अध्ययन संबंधी आचार में दोषों की शुद्धि हेतु जो प्रायश्चित दिया जाता है। वह ज्ञान प्रायश्चित है[89]।

(2) **दर्शन प्रायश्चित** - मुनि के द्वारा अरिहंत, जिनालय, सुदेव-गुरु-धर्म, जिनवाणी संबन्धी अश्रद्धा होने पर याअविनय, आशातना, निंदादि करने पर या दर्शनाचार का पालन नहीं करने पर दोषों की शुद्धि हेतु जो प्रायश्चित दिया जाता है, उसे दर्शन प्रायश्चित कहते हैं[90]।

(3) **चारित्र प्रायश्चित** - मुनि के द्वारा मूल गुणों और उत्तर गुणों में दोष लगाये जाने पर, अरिहंत-गणधर-आचार्यादि के चारित्र के विषय में अवर्णवाद बोलने पर या पञ्चेन्द्रिय जीव हिंसा, या मैथुन सेवन या अन्य व्रत संबन्धी दोषों के पुन:-पुन: सेवन करने पर दोषों की शुद्धि हेतु जो प्रायश्चित दिया जाता है, उसे चारित्र प्रायश्चित कहते हैं।[91]

(4) **व्यक्तकृत्य/विदत्तकृत्य (वियत्तकिच्च) प्रायश्चित** - दोषयुक्त मुनि के द्वारा गुरु के समक्ष दोषों की आलोचना करने पर गुरु के द्वारा देश-काल-भाव-पात्रादि की अपेक्षा से दोषयुक्त मुनि को प्रायश्चित तप प्रदान करना, व्यक्तकृत्य/विदत्तकृत्य प्रायश्चित कहलाता है।[92]

प्रतिसेवना प्रायश्चित -

'प्रतिसेवना' जैन आचार विज्ञान का एक पारिभाषिक शब्द है। 'प्रतिसेवना' शब्द प्रति + सेवना से निष्पन्न है। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'प्रतिसेवना' का शाब्दिक अर्थ करते हुए कहा

80. भगवतीआराधना, विजयोदया टीका-107 पृ. 254
81. अनगार धर्मामृत 7/33
82. अ.रा.को.भा. 5/855; (धर्म संग्रह 3 अधिकार)
83. अ.रा.को.भा. 5/129; (पंचाशक सटीक 16 विव.)
84. अ.रा.को.भा. 5/129, 855; (आवश्यक निर्युक्ति अ.5/22)
85. अ.रा.को.भा. 5/855; (आवश्यक बृहत वृत्ति 1522)
86. वही
87. अ.रा.पृ. 5/135, 855, 856
88. अ.रा.पृ. 5/856; मूलाचार-362; धवला टीका-13/5, 4; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/158
89. अ.रा.पृ. 4/1962, 5/135; स्थानांग-3/1
90. अ.रा.पृ. 4/2433, 5/135; स्थानांग-3/4
91. अ.रा.पृ. 3/1149, 5/135; स्थानांग-3/4
92. अ.रा.पृ. 6/12,27; 5/135

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है - प्रतिसेव्यते इति प्रतिसेवना, प्रतीपं सेवना प्रतिसेवना, प्रतिषिद्धस्य सेवना प्रतिसेवना[93]। अर्थात् प्रतिषिद्ध, निषिद्ध या अनाचरणीय के आचरण करने को प्रतिसेवना कहते हैं उसकी शुद्धि के लिए जो आलोचना प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं, उसे प्रतिसेवना प्रायश्चित कहते हैं। अर्थात् पाप के सेवन से होनेवाली संयम की विराधना ही 'प्रतिसेवना' हैं।

प्रतिसेवना के मुख्य दो रुप :-

प्रतिसेवना के मुख्य दो रुप बताये गये हैं - दर्पिका और कल्पिका[94]। मूलगुण एवं उत्तरगुण की अपेक्षा से इनके भी दो-दो भेद निरुपित हैं[95]। प्रमादभाव से किया जाने वाला अपवाद सेवन दर्प होता है और वही अप्रमाद भाव से किया जाने पर क्लप-आचार हो जाता है। ज्ञानादि की अपेक्षा से किया जानेवाला अकल्प सेवन भी कल्प हैं।[96]

यह प्रतिसेवना द्रव्य-भाव भेद से दो प्रकार की है- द्रव्यमयी और भावमयी। मात्र द्रव्यमयी दृष्टि से पदार्थ सेवन करना द्रव्यमयी प्रतिसेवना है और भाव से उपयोग करना वह भावमयी प्रतिसेवना है।

जीव के भाव, अध्वयसाय दो प्रकार के हैं - कुशल और अकुशल अर्थात् शुभ और अशुभ। जहाँ शुभ भावों से वस्तु का सेवन किया जाता है, वह कल्प प्रतिसेवना है और जहाँ अशुभ भवों से वस्तु का सेवन किया जाता है, वह दर्प प्रतिसेवना है[97]।

राग द्वेषपूर्वक की जानेवाली प्रतिसेवना (निषिद्ध आचरण) दर्पिका है, सदोष है। राग-द्वेष से रहित प्रतिसेवना कल्पिका है। यह निर्दोष है। कल्पिका में संयम की आराधना है और दर्पिका में निश्चित ही संयम की विराधना है[98]।

दर्पिका प्रतिसेवना के भेद[99] :-

(1) **दर्प प्रतिसेवना :-** अहंकारवश आगमनिषिद्ध प्राणातिपातादि जो दोष सेवन किये जाते हैं और जिससे संयम की विराधना होती है, उसे दर्प प्रतिसेवना कहते हैं।

(2) **प्रमाद प्रतिसेवना** - मद्यपान, विषयाकांक्षा, कषाय, निद्रा, एवं विकथा - इन पाँचो प्रकार के प्रमादों के कारण होनेवाली संयम की विराधना प्रमाद प्रतिसेवना कही जाती हैं।

(3) **अनाभोग प्रतिसेवना** - अनुपयोग या अज्ञानवश जो संयम-विराधना होती है, वह अनाभोग प्रतिसेवना है।

(4) **आतुर प्रतिसेवना** - क्षुधा, विपासा आदि कष्ट से व्याकुल होकर की जानेवाली संयम विराधना आतुर प्रतिसेवना कही जाती है।

(5) **आपत् प्रतिसेवना** - किसी तरह की आपत्ति, उपद्रव या संकटकालीन परिस्थिति उपस्थित होने पर अकल्प्य का सेवन करने से होनेवाली संयम विराधना 'आपत् प्रतिसेवना' कही जाती है। यह आपत्ति चार प्रकार की हैं -
   - **(अ) द्रव्यापत्ति** - प्रासुक निर्दोष आहारादि न मिलने पर।
   - **(ब) क्षेत्रापत्ति** - अटवी, समुद्र तट आदि भयंकर स्थानो में रहने की स्थिति में।
   - **(क) कालापत्ति** - दुर्भिक्ष आदि पडने पर।
   - **(ड) भावापत्ति -** शरीर के रोगग्रस्त हो जाने पर।

(6) **शङ्कित अथवा तिंतिणा प्रतिसेवना** - ग्रहण करने योग्य आहार आदि में किसी दोष की शंका हो जाने पर भी उसे ग्रहण कर लेना शङ्कित प्रतिसेवना कहलाती है अथवा अभिमान से किये कार्य का आवेशपूर्वक प्रायश्चित्त करना तिंतिणा प्रतिसेवना है। यथा - प्रतिकूल संयोग होने पर अग्नि में से तिंतिण शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलती है, वह द्रव्य तिंतिण है। और आहारादि नहीं मिलने पर अथवा अरुचिकर पदार्थ के उपलब्ध होने पर मानसिक व्याकुलता या झुंझलाहट होना भावतिंतिण है।

(7) **सहसाकार प्रतिसेवना** - अकस्मात् कोई कार्य उपस्थित हो जाने पर बिना सोचे समझे कोई अनुचित कार्य कर लेना सहसाकार प्रतिसेवना है।

(8) **भय प्रतिसेवना** - राजा, मनुष्य, चोर आदि के भय से जो दोष-सेवन होता है, वह भय प्रतिसेवना है। यथा - राजादि के अभियोग से मार्गादि दिखा देना अथवा सिंहादि हिंस्र पशुओं के भय से वृक्षारुढ होना इत्यादि।

(9) **प्रद्वेष प्रतिसेवना** - किसी के प्रति प्रद्वेष या इर्ष्या से (मिथ्या आरोप लगाकर) संयम की विराधना करना प्रद्वेष प्रतिसेवना कहलाती है।

(10) **विमर्श प्रतिसेवना** - शिष्य सैक्षकादि की परीक्षा के लिए की गयी संयम विराधना विमर्श प्रतिसेवना कहलाती हैं।

कल्पिका प्रतिसेवना के भेद[100] :-

अपवाद काल में परिस्थितिवश निषिद्ध आचरण होने पर भी संयम की विराधना नहीं होती उसे 'कल्पिक प्रतिसेवना' कहते हैं। वह आधार कारणों के भेद से चौबीस प्रकार की है, जो निम्नानुसार है- दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, प्रवचन, समिति, गुप्ति, साधर्मिक-वात्सल्य, कुल, गण, संघ, आचार्य, असह, ग्लान, असन, वृद्ध, जल, अग्नि, चोर, श्वपद, भय, कान्तार, आपत्ति और व्यसन। इस प्रकार इन 24 कारणों से जो दोष-सेवन होता है, वह कल्प प्रतिसेवना है।

इस संबंध में अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा गया है - **जो साधक किसी विशिष्ट ज्ञान दर्शनादि हेतु के उद्देश्य से अपवाद/निषिद्ध का आचरण भी करता है, तब भी वह मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी है। वस्तुतः कर्मबन्ध तो जीव की भावनाओं पर आधारित होता हैं।**[101]

इसी प्रकार उपर्युक्त दस कारणों से जो दोष-सेवन होता है, साधक उसके प्रति मन में पश्चाताप करता है और तत्संबन्धी प्रायश्चित की जो भी विधि होती है, उसे पूर्णकर आत्मा को विशुद्ध करता है।

---

93. अ.रा.पृ. 5/361
94. अ.रा.को. 6/340
95. अ.रा.को. 6/345
96. अ.रा.को. 6/340; निशीथ चूर्णि 92
97. अ.रा.को. 5/135, 361; व्यवहार सूत्र वृत्ति 1 उ.
98. अ.रा.को. 6/426, 370; बृहत्कल्प भाष्य 4943; निशीथ भाष्य 363
99. अ.रा.पृ. 5/136
100. अ.रा.पृ. 6/915, 916
101. अ.रा.को. 7/778 एवं 2/421 एवं 5/1621; व्यवहार भाष्य पीठिका 184; ओधनिर्युक्ति-57

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयोजना प्रायश्चित :-

मुनि के द्वारा आहारादि ग्रहण करते समय आहार में घी, गुड आदि मिलाना या शय्यातरपिण्ड, राजपिण्डादि ग्रहण करने पर जो दोष लगता है, उसे संयोजना दोष कहते हैं। उसकी शुद्धि हेतु किया जानेवाला प्रायश्चित संयोजना (संजोयणा) प्रायश्चित कहलाता है।[102]

आरोपणा प्रायश्चित[103] :-

अपराधी को एक अपराध का प्रायश्चित दिया जाने पर भी उस अपराध को पुनः-पुनः सेवन करने पर उसी प्रायश्चित में बार-बार वृद्धि करना, आरोपणा प्रायश्चित है। जैसे - किसी मुनि को पाँच दिन के उपवास का प्रायश्चित दिया। उस प्रायश्चित तप को करते हुए यदि वह मुनि पुनः उसी अपराध को सेवन करे तो उसके प्रायश्चित को 5 दिन, 10 दिन, 15 दिन यावत् छः माह तक बढाना आरोपणा प्रायश्चित हैं। इसके पाँच भेद हैं - 1. प्रस्थापिका 2. स्थापिता 3. कृत्स्ना 4. अकृत्स्ना 5. हाडहडा (किसी मुनि के द्वारा गलती करके गुरु के पास प्रायश्चित मांगने पर तत्काल यथावत् दिया जानेवाला प्रायश्चित)।

अभिधान राजेन्द्र कोशानुसार इसका भेद-प्रभेद सहित विस्तृत वर्णन निशीथ सूत्र के बीसवें उद्देश में दिया गया है जो जिज्ञासु को वहीं से दृष्टव्य हैं।

परिकुञ्चना / प्रतिकुञ्चना (पलिऊंचणा) प्रायश्चित :-

गुर्वादि के समक्ष प्रायश्चित अङ्गीकार करने हेतु दोष व्यक्त करते समय दोषी मुनि दोष प्रकटीकरण में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से माया (कपट) करे या गुरुदोष (बडा भारी दोष) के स्थान पर अल्पदोष बताये उसे प्रतिकुञ्चना (पलिऊंचणा) अर्थात् कपट कहते हैं। इस कपट का प्रायश्चित करना प्रतिकुञ्चना प्रायश्चित है[104]।

आलोचना :-

मूलतः 'आलोचना' शब्द मर्यादार्थक 'आ' उपसर्ग लगने पर 'लोचृ दर्शन' धातु से निर्मित है[105]। अभिधान राजेन्द्र कोश में इसकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है -"आ अभिविधिना सकलदोषाणां लोचना गुरुपरतः प्रकाशना आलोचना।"[106] मर्यादा में रहकर निष्कपट भाव से अपने सभी दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना ही आलोचना है। जैसा कि कहा गया है-

जह बोलो जपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणई।
तं तह आलोइज्जा, मायामयविप्पमुक्को उ॥[107]

जैसे बालक जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है वह सब सरल भाव से कह देता है। इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दम्भ और अहंकार से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचना करनी चाहिए।

अभिज्ञता या अनभिज्ञता में लगे हुए दोष को आचार्य या गुरुजनों के समक्ष निवेदन करके तदर्थ उचित प्रायश्चित लेना आलोचना है। आलोचना का शब्दार्थ है मर्यादापूर्वक अपने दोषों को सम्यक्तया देखना।

साधक जैसा अपने आपको जानता है वैसा ही अपने को गुरु के समक्ष प्रकट देता है, उसी का नाम आलोचना है[108]। वस्तुतः आलोचना में आत्मनिरीक्षण करना होता है, अपने दोषों को देखना होता है। स्व का निरीक्षण कर स्व का सुधार करना ही आलोचना का मुख्य प्रयोजन हैं।

आलोचना के भेद[109] :-

(क) मूलगुण व उत्तरगुण की अपेक्षा से - मूलगुण व उत्तरगुण की अपेक्षा से आलोचना दो प्रकार की होती है - मूल गुणालोचना और उत्तर गुणालोचना।

(ख) विहारादि भेद से त्रिविधा आलोचना[110] - मूलगुणों और उत्तर गुणों की अपेक्षा से अपराध के दो रुप होते हैं, इसके आधार पर आलोचना दो प्रकार की होती है - मूलगुणपराधालोचना और उत्तरगुणापराधालोचना। मूलगुणापराधालोचना में भी प्रथम प्राणातिपात में षट्जीवकाय विषयक पश्चात् क्रमशः मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह व रात्रिभोजन संबन्धी अपराधों की आलोचना और तत्पश्चात् उत्तगुणापराधालोचना में समिति-गुप्ति सम्बन्धी विपरीत आचरण किया हो तो उसकी आलोचना करने का विधान जैन वाङ्मय में उपलब्ध होता हैं।

(ग) द्रव्यादि के भेद से चतुर्विधा आलोचना[111] - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि चार प्रकारों से सेवित पाप की शुद्धि के लिए साधक को आलोचना करने का विधान कियागया हैं। यथा -

द्रव्य से - जिस अकल्पनीय द्रव्य का सेवन किया हो, फिर चाहे वह सचित्त द्रव्य हो, अचित्त द्रव्य हो या मिश्र द्रव्य हो। **क्षेत्र से** - जनपद, गाँव, नगर या मार्ग में जहाँ दोष सेवन किया हो। **काल से**- रात या दिन में, दुर्भिक्ष अथवा सुभिक्ष में दोष सेवन किया हो। **भाव से** - प्रसन्नता-अप्रसन्नता, ग्लानावस्था, अहंकार आदि किसी भी परिस्थिति में दोष सेवन किया हो। इस प्रकार उपर्युक्त दोषों को निश्छल भाव से गुरु के समक्ष प्रकट कर आलोचना के द्वारा आत्मा को विशुद्ध विमल बनाया जाता हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में आलोचना के दो प्रकार एवं सात प्रकार बताये गये हैं -1. ओघ (सामान्य) और 2. पद-विभागी। और 1. दैवसिक 2. रात्रिक 3. ईर्यापथिक 4. पाक्षिक 5. चातुर्मासिक 6. सांवत्सरिक और 7. उत्तमार्थ ये सात प्रकार हैं[112]।

अभिधान राजेन्द्र कोश में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि आलोचना में गुरु-शिष्य परस्पर एक दूसरे के परीक्षक एवं निरीक्षक होते हैं, जैसा कि कहा गया है-

आवस्सय, पडिलेहण, सज्झाए भुजणा य भासा य।
वियारे गेलन्ने, भिक्खग्गहणे पडिच्छंति॥[113]

आवश्यक प्रतिलेखन, स्वाध्याय, भोजन, भाषा, विचार, बहिर्भूमि (मल-मूत्रादि विसर्जन), रुग्णावस्था, भिक्षाग्रहण आदि की आलोचना के विषय में आचार्य-शिष्य परस्पर एक दूसरे के निरीक्षक-परीक्षक माने गये हैं।

102. अ.रा.पृ. 5/136, 7/120, 121, 122; स्थानांग 4/1
103. अ.रा.पृ. 2/417, 418, 419, 5/135; 136
104. अ.रा.पृ. 5/722, 723, 5/135; 136
105. अ.रा.पृ. 5/136
106. अ.रा.को. 2/429; भगवती सूत्र सटीक 17/3
107. अ.रा.को. 2/428 एवं 431; ओघनिर्युक्ति 801; आतुर प्रत्याख्यान प्रकीर्णक 32
108. अ.रा.को. 2/429; निशीथ चूर्णि 20
109. अ.रा.को. 2/430; ओघनिर्युक्ति 790; बृहत्कल्पवृत्ति 12;
110. अ.रा.को. 2/434; व्यवहारसूत्रवृत्ति
111. अ.रा.को. 2/447-449
112. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-276
113. अ.रा.को. 2/438

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोचक : आराधक-विराधक :-

जो श्रमण दोष-सेवन की आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त होता है, वह विराधक माना गया है। जो श्रमण स्वकृत पापों की आलोचना कर दिवंगत होता है, वह संयम का आराधक होता है[114]। यदि कोई साधक कृत पापों की आलोचना करने की भावना से गुरु के पास जा रहा हो, किन्तु किसी कारणवश वह मृत्यु को प्राप्त होता है, तब कभी वह आलोचनोन्मुख साधक गुरु से आलोचना लिये बिना भी आराधक ही होता है, क्योंकि उसकी भावना सरल और पाप के प्रति पश्चाताप की थी।[115]

निष्कर्षत: आलोचना आत्मशोधन की महाशक्ति है। पश्चाताप वह निर्झर है, जिसमें अवगाहन कर साधक अपनी आत्मा को विशुद्ध-विमल बना लेता हैं।

प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित - मुनिजीवन में अतिक्रम (अकृत्य संबन्धी मन में एक बार विचार आना), व्यतिक्रम (उसी अकार्य को करने संबन्धी बार-बार चिंतन होना) अचानक या अनजाने में जो भी दोष लगते हैं, उसका गुरु के समक्ष मिथ्यादुष्कृत देने मात्र से शुद्ध हो जाना 'प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित' हैं।

पाँच समिति, तीन गुप्ति, दस प्रकार की चक्रवाल समाचारी, ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्र विनय, प्रशस्त प्रतिरुप विनय (गुर्वादि का यथा योग्य अभ्युत्थान, सन्मुखगमनादि विनय) उत्तरगुण प्रतिसेवना के विषय में अतिक्रम, व्यतिक्रम, सहसात्कार (अचानक) और अनाभोग (अनजाने) में मुनि को जो दोष लगता है उसमें प्राय: जीवहिंसा का अल्पत्व याअभाव होने से मिथ्यादुष्कृत देने मात्र से अर्थात् प्रतिक्रमण करके, 'पुन: एसा नहीं करूँगा' -एसा कहने मात्र से उस अपराध की शुद्धि हो जाती है। उसके लिए तप आदि प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं रहती, अत: उसे प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित कहा हैं।[116]

तदुभय/उभयार्ह प्रायश्चित - जिस प्रायश्चित में दोषी मुनि प्रथमत: गुरु के पास पाप की आलोचना करके गुरुपदेशानुसार उस अपराध स्थान संबंधी अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार दोषों का प्रतिक्रमण (पुन: यह पाप नहीं करुँगा, एसी भावना) के द्वारा 'मिथ्या दुष्कृत' ग्रहण करने (कहने पर) विशुद्ध होता है, उस उभयार्ह या तदुभय प्रायश्चित कहते हैं। जीतकल्प में निम्नलिखित अपराधों के लिए (षट्स्थानों की शुद्धि हेतु) तदुभय प्रायश्चित का विधान किया गया है[117] -

(1) भ्रमवश किये गये कार्य
(2) भयवश किये गये कार्य
(3) आतुरता (भूख-प्यासादि पीडा) वश किये गये कार्य
(4) सहसा (अचानक) किये गये कार्य
(5) परवशतावश किये गये कार्य
(6) महाव्रतों में एवं मूलगुण, उत्तरगुण सहित सभी व्रतों में लगे हुए अतिचार

भावपाहुड के अनुसार केशलौंच, नखच्छेद, स्वप्नदोष, इन्द्रियों के अतिचार, रात्रिभोजन, तथा पक्ष-मास-संवत्सरादि दोषों में तदुभय प्रायश्चित्त होता है[118]।

विवेकार्ह प्रायश्चित - किसी कार्य के औचित्य-अनौचित्य का सम्यग् निर्णय कर अनुचित का त्याग करना 'विवेक' कहलाता है[119]। मुनिजीवन में आहार, उपधि (वस्त्रादि), शय्या, वसति (रहने का स्थान), उपकरण (संयम साधना में उपयोगी साधन) आदि एषणापूर्वक ग्रहण करने हेतु प्रयत्न करने पर भी यदि उपयोग के समयकाल, अध्व (दूरी) आदि कारणों सेदूषित हो जाने पर उसका स्थंडिलभूमि (जंगल) में जाकर विधिपूर्वक त्याग करना 'विवेक' कहलाता हैं। तद्हेतु जो प्रायश्चित किया जाता है, वह विवेक प्रायश्चित कहलाता हैं[120]।

व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित - मुनिजीवन में गमनागमन, आहार-विहार-निहार, श्रुताध्ययन, स्वप्नदोष, नदी आदि उतरना, शय्या-आसन, काल-व्यतिक्रम, अरिहंतादि का अविनयादि दोषों के लिए या अन्य किसी भी सदोषाचारण के लिए मन, वचन, काय के व्यापारों का त्याग करके एकाग्रतापूर्वक देह के ममत्व का त्याग (कायोत्सर्ग) करना, 'व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित' कहलाता है[121]। इसका विशेष वर्णन कायोत्सर्ग तप के वर्णन पर किया जायेगा।

तपोऽर्ह (तप) प्रायश्चित - तपार्ह (तप योग्य) प्रायश्चित की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने व्यवहार सूत्र और 'जीतकल्प' को उद्धृत करते हुए कहा है कि - निर्विकृतिका ('नीवि' तप, जिसमें दूध, दहीं, घी-तेल, गुड, मिष्टान्नादि कडाविगई का त्याग किया जाता है) आदि तप रुप प्रायश्चित से शुद्ध होने योग्य अपराध दोषों की शुद्धि हेतु निर्विकृतिका, पूर्वार्ह (पुरिमड्ढ-दिन का पूर्वार्ध) एकाशन, आचाम्बिल, उपवास, चतुर्थभक्त (चोथभत्त), लघु पाँच रात्रि-दिवस (पाँच-दिन का आयंबिल), गुरु पाँच रात्रि-दिवस (पाँच दिन उपवास), लघु-गुरु दश रात्रि-दिवस यावत् लघु-गुरु पच्चीस रात्रि दिवस, मास लघु, मास गुरु से यावत् छ: मास लघु, छ: मास गुरु तप के तप रुप जो प्रायश्चित दिया जाता है उसे तपोऽर्ह प्रायश्चित कहते हैं[122]।

तप प्रायश्चित योग्य अपराध[123] :-

1. दण्ड-आदि उपकरणों का यथासमय पडिलेहण (प्रतिलेखन) या प्रमार्जन नहीं करना।
2. उपाश्रय या वसति से बाहर जाते 'आवस्सिहि' खमासमणं/मत्थएण वंदामि न करना।
3. अस्थंडिल भूमि पर या अविधि मल-मूत्रादि त्याग करना।
4. वस्त्रादि को इधर-उधर रखते प्रमार्जन नहीं करना।
5. सचित्त युक्त हाथ या बर्तन से आहारादि ग्रहण करना।
6. आहारादि में पूर्व-पश्चात्कर्मादि दोष लगाना।
7. चार बार सज्झाय/स्वाध्याय न करना, सूत्रपोरिसी, अर्थपोरिसी या दोनों पोरिसी नहीं करना।
8. आवश्यक कायोत्सर्ग न करना।
9. प्रतिलेखन/प्रमार्जन न करना।

114. अ.रा.को. 2/464-465; भगवती सूत्र 10/2
115. अ.रा.को. 5/263; आवश्यक निर्युक्ति 4
116. अ.रा.पृ. 5/320, 321; व्यवहारसूत्रवृत्ति-1/60 से 62, 97 से 99; स्थानांग-10 वाँ ठाणा; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/115, 160; भाव पाहुड-78 की टीका
117. अ.रा.पृ. 2/869, 870, 871
118. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161
119. अ.रा.पृ. 6/1250; आचारांग-1/8/1
120. अ.रा.पृ. 6/1251; जीतकल्प-16, 17; स्थानांग-10/3, 6/3; चारित्रसार-142/2
121. अ.रा.पृ. 6/1123; स्थानांग-6/3, 4/1; उत्तराध्ययन-अध्ययन-30; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161
122. अ.रा.पृ. 4/2208; 5/137, 138; व्यवहारसूत्रवृत्ति 1/1/164-165; स्थानांग सूत्र-8 एवं 10 वाँ ठाणां
123. अ.रा.पृ. 4/2208 से 2210

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

10. देववंदन-चैत्यवंदन-गुरुवंदन न करना।
11. स्थापनाचार्यजी को वांदणा न देना / वंदन करना।
12. अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वतिथि को नगर स्थित जिनालय एवं साधु-साध्वी को वंदन न करना।
13. पाक्षिक/चातुर्मासिक/सांवत्सरिक तप न करना।
14. पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय या पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच, स्त्री आदि जीवों का संघट्ट/स्पर्श होना, उन्हें पीडा पहुंचाना।

-एसे अपराध तप प्रायश्चित योग्य हैं।

छेदादि प्रायश्चित देने पर जिसकी उद्दण्डता बढती है, जो अपराधी मुनि गर्वित होकर अपलाप करता है, उन्हें तप प्रायश्चित ही दिया जाता है[124]।

छेद प्रायश्चित[125] :-

छेद प्रायश्चित का परिचय देते हुए आचार्यश्री ने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि 'जिसमें दोषी मुनि के दीक्षा पर्याय का यथायोग्य छेद किया जाता है, वह छेद प्रायश्चित है।' जो अपराधी शारीरिक दृष्टि से कठोर तप-साधना करने में असमर्थ हो अथवा समर्थ होते हुए भी तप के गर्व से उन्मत हैं और तप प्रायश्चित से उसके व्यवहार में सुधार संभव नहीं होता और तप प्रायश्चित करके पुनः-पुनः अपराध करता है, उसके लिए छेद प्रायश्चित का विधान किया गया है।

मूलार्ह (मूल) प्रायश्चित[126]:-

मूल प्रायश्चित अर्थात् पूर्व के दीक्षापर्याय के समाप्त कर नवीन दीक्षा प्रदान करना। इसके परिणामस्वरुप मूल प्रायश्चित अङ्गीकार करनेवाला भिक्षु उस भिक्षुसंघ में जिस दिन उसे यह प्रायश्चित दिया जाता है, वह सबसे कनिष्ठ बन जाता हैं। परंतु मूल प्रायश्चित में अपराधी मुनि को गृहस्थवेश धारण करना अनिवार्य नहीं है। सामान्यतया पञ्चेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा एवं मैथुन संबंधी अपराधों (साध्वी का शीलभङ्ग करवाना आदि) को मूलार्ह अर्थात् मूल प्रायश्चित योग्य माना जाता है। इसी प्रकार जो मुनि मृषावाद, अदत्तादान या परिग्रह संबंधी दोषों को पुनः-पुनः सेवन करता है वह भी मूलार्ह माना गया है। जीतकल्प के अनुसार चारित्र की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित दिया ही जाता है, जबकि दर्शन या ज्ञान की विराधना में यह दिया भी जा सकता है और नहीं भी।

धवला टीका के अनुसार अपरिमित अपराध करनेवाला जो साधु पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और स्वच्छन्दादि होकर कुमार्ग में स्थित है, उसे मूल प्रायश्चित दिया जाता हैं[127]।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित :-

अनवस्थाप्य का शाब्दिक अर्थ व्यक्ति को पद से च्युत कर देना या अलग कर देना है। दूसरा अर्थ है - संघ में स्थापना के अयोग्य (अर्थात् रखने योग्य नहीं)। जो अपराधी एसे अपराध करता है जिसके कारण उसे संघ से बहिष्कृत कर देना आवश्यक होता है वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित के योग्य माना जाता हैं। यद्यपि परिहार में भी भिक्षु को संघ से पृथक् किया जाता है किन्तु वह एक सीमित समय के लिए होता है और उसका वेश परिवर्तन आवश्यक नहीं माना जाता जबकि अनवस्थाप्य प्रायश्चित के योग्य भिक्षु को पूर्णतः संघ से बहिष्कृत कर गृहस्थ वेश प्रदान कर दिया जाता है और उसे पुनः तब तक भिक्षुसंघ में प्रवेश नहीं दिया जाता जब तक कि वह प्रायश्चित के रुप में निर्दिष्ट तप-साधना को पूर्ण नहीं कर लेता हैं। जैन परम्परा में बार-बार अपराध करने वाले अपराधिक प्रवृत्ति के लोगों के लिए यह दण्ड प्रस्तावित किया गया हैं[128]।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार अनवस्थाप्य प्रायश्चित मुख्यतया दो प्रकार का है[129]-

1. आशातना अनवस्थाप्य - आगे कहे जाने वाले पाराञ्चित प्रायश्चित की तरह तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर, महर्द्धिकादि की आचार्य उपाध्यायादि के द्वारा या साधु के द्वारा आशातना करने पर आशातना अनवस्थाप्य प्रायश्चित दिया जाता हैं।[130]

2. प्रतिसेवना अनवस्थाप्य प्रायश्चित - यह प्रायश्चित तीन प्रकार का है - साधर्मिकस्तैन्यकारी, अन्यधार्मिक स्तैन्य कारी और हस्ताल अनवस्थाप्य।[131]

क. साधार्मिक स्तैन्यकारी - दान-श्रद्धायुक्त स्थापना कुलों (आचार्यादि संघ के विशिष्ट वैयावृत्त्यकारक द्रव्य-भावसंपन्न गृहस्थों के घर) से आचार्य, उपाध्याय, शैक्ष (नवदीक्षित), ग्लान (रोगी) आदि हेतु लाये गए या उन गृहस्थों के द्वारा आचार्यादि को आहार, उपधि, वस्त्र, पात्रादि हेतु निमंत्रण करने पर बिना गुर्वाज्ञा के ही उन गृहस्थों से आहारादि लेकर स्वयं उपयोग करना साधर्मिक स्तैन्य है। उस दोष से मुक्ति हेतु साधर्मिक स्तैन्य अनवस्थाप्य प्रायश्चित दिया जाता हैं।[132]

ख. अन्यधार्मिक स्तैन्यकारी - लोभ कषाय के उदय से या रसलोलुपता से अन्य धर्मी बौद्धादि भिक्षु के या गृहस्थ के आहार, उपधि, उपकरणादि को गुरु की आज्ञा के बिना ले लेना - अन्य धार्मिक स्तैन्य है। इससे प्रवचनहीलना, स्वोपकरण स्तैन्य, राजादि के द्वारा ग्रहण-दण्डादि होता है। यह आहार विषयक, उपधि विषयक और सचित्त विषयक है। अन्य धर्मी बौद्धादि भिक्षु के शिष्य को ले लेना, या गृहस्थ के लडके-लडकियों को उनके परिवार की आज्ञा के बिना दीक्षा देना सचित विषयक अन्यधार्मिक स्तैन्य है। इससे भी उपरोक्त दोष होता है। इसकी शुद्धि हेतु अन्यधार्मिकस्तैन्य अनवस्थाप्य प्रायश्चित दिया जाता हैं।[133]

ग. हस्ताल अनवस्थाप्य - यह दो प्रकार का है - (क) लौकिक - हाथ से या मुठ्ठी से या पैर से या डण्डे से या खड्गादि से स्वपक्ष या परपक्ष के साधुओं पर प्रहार करना, मारपीट करना - लौकिक हस्ताल है जिसकी शुद्धि हेतु हस्ताल अनवस्थाप्य प्रायश्चित दिया जाता है।[134] यदि प्रहार से सामनेवाला मृत्यु प्राप्त हो जाय तब तो पाराञ्चित प्रायश्चित दिया जाता है। (ख) लोकोत्तर-शिष्य का ग्रहण और आसेवन शिक्षा में सम्यक् प्रवर्तन करवाने के लिए हित बुद्धि से अविनीत दुर्बुद्धि शिष्य (के मर्मस्थान को छोडकर) का कान पकडकर

124. अ.रा.पृ. 4/2211; जीतकल्प-595; चारित्रसार-142/5
125. अ.रा.पृ. 3/1360, 5/136; स्थानांग-4/1; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161
126. अ.रा.पृ. 6/378; जीतकल्प-83 से 86
127. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161
128. अ.रा.पृ. 1/292, 293; स्थानांग-3/4
129. अ.रा.पृ. 1/293
130. अ.रा.पृ. 1/293
131. अ.रा.पृ. 1/293
132. अ.रा.पृ. 1/293, 294, 295
133. अ.रा.पृ. 1/295, 296
134. अ.रा.पृ. 1/297

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोड़ा जाय या हस्तादि से प्रहार किया जाय, वह लोकोत्तर हस्ततालं है। जिनशासन को आशातना-निंदादि से बचाने हेतु एवं शिष्यादि को चरण-करण में सम्यक् पालन करवाने हेतु आचार्यादि को इस लोकोत्तर हस्ततालं की यथासमय अनुज्ञा दी गई है।[135]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में मुनि के द्वारा प्रमाद से चोरी, मारपीट, विरुद्धाचरण, परन्तु नवपूर्व के ज्ञाता या दशपूर्व के ज्ञाता, उत्तमसंहनन, परिषहजयी, दृढधर्मी, धीर-वीर, पापभीरु मुनि को निजगणानुपस्थापन और अभिमानी मुनि को परगणानुस्थापन प्रायश्चित देने का उल्लेख हैं।[136]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने उक्त प्रकार के अनवस्थाप्य प्रायश्चित योग्य दोषों की शुद्धि हेतु किसे किस परिस्थिति में कौन सा अपराध करने पर कितना प्रायश्चित दिया जाय - इसका भी विस्तृत वर्णन किया है, साथ ही अनवस्थाप्य प्रायश्चित अंगीकार करने-कराने का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावपूर्वक सविधि वर्णन भी किया है।

पाराञ्चित प्रायश्चित :-

लिङ्ग, क्षेत्र, काल और तप के द्वारा जिस प्रायश्चित के सेवन से अपराधी पार (तीर) अर्थात् पाप से मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त होता है उसे पाराञ्चित प्रायश्चित कहते हैं[137]। वे अपराध जो अत्यन्त गर्हित (त्याज्य) हैं और जिनके सेवन से न केवल व्यक्ति की, अपितु संपूर्ण जैनसंघ की व्यवस्था धूमिल होती है, पाराञ्चित प्रायश्चित के योग्य होते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में इसका विस्तृत वर्णन किया गयाहै, जो संक्षेप में निम्नानुसार है- पाराञ्चित प्रायश्चित मुख्य रुप से दो प्रकार का है - (1) आशातना और (2) प्रतिसेवना।[138]

आशातना पाराञ्चित प्रायश्चित :-

तीर्थंकर, (तीर्थंकर की प्रतिमा), श्रुत (जिनप्रवचन), आचार्य, गणधर, महर्द्धिक (सर्वलब्धि संपन्न, महातपस्वी, वादी, विद्यासिद्ध आदि) की जानबूझकर अवज्ञापूर्वक निंदा, अवर्णवाद, उनके प्रति आक्रोश, तर्जना या अन्य किसी भी प्रकार से इन पाँचो के विषय में प्रवचन विरुद्ध बोलनेवाला जैन संघ का प्रत्यनीक (वैरी) आत्मा आशातना पाराञ्चित के योग्य बनता है।[139] यह प्रायश्चित सर्वचारित्रनाश और देशचारित्रनाश भेद से दो प्रकार का है, और समान अपराध होने पर भी जीवों के परिणामों की भिन्नता से अनेक प्रकार का है।[140] तीर्थंकर और संघ की सर्वथा या आंशिक आशातना और गणधर की अंशमात्र भी आशातना करनेवाला पाराञ्चित प्रायश्चित का भागी होता है। शेष की आंशिक आशातना करने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित और सर्वथा आशातना करने पर तो पाराञ्चित प्रायश्चित दिया जाता है।[141]

प्रतिसेवना पाराञ्चित प्रायश्चित :-

यह प्रायश्चित मुख्य रुप से तीन प्रकार का है, जिसके अनेक भेद-प्रभेद हैं[142]-

(1) दुष्टप्रतिसेवना पाराञ्चित प्रायश्चित - यह कषाय और विषय के भेद से दो प्रकार का है-

(क) कषायदुष्ट - क्रोध, मान, माया और लोभ रुप जिस तीव्र कषाय के उदय से शिष्यादि के द्वारा आचार्यादि के दन्तभञ्जन, मारण, नेत्रनाश या उनके शव को भी दाँत से काटने रुप अकार्य होते हैं, एसे अकार्यों के प्रायश्चित को कषायदुष्ट प्रतिसेवना पाराञ्चित प्रायश्चित कहते हैं।[143] तथा राजा, मंत्री अथवा अन्य गृहस्थ का घातक अथवा उन्हें घात हेतु प्रेरणा देनेवाले को भी लिङ्गपाराञ्चित प्रायश्चित दिया जाता हैं।[144]

(ख) विषय दुष्ट (1) एक ही गच्छ के साधु-साध्वी, (2) साधु और शय्यातर की बालिका अथवा अन्ततीर्थिका (अन्य धर्मी साध्वी/स्त्री), (3) गृहस्थ यति और संघस्थित साध्वी (4) गृहस्थ यति और गृहस्थ स्त्री - का आपस में विषयसुखभोग करने पर प्रथम और द्वितीय भङ्ग में प्रतिसेवना पाराञ्चित प्रायश्चित दिया जाता है, शेष दो में विकल्पपूर्वक प्रायश्चित देने योग्य हैं।

प्रमादपाराञ्चित प्रायश्चित :-

अतितीव्र कषाय, स्त्रीकथादि विकथा, मद्यपान, श्रोत्रादि इन्द्रियविषयाधीनता और स्त्यानगृद्धि निद्रावाले (जसमें अर्धचक्रवर्ती जितना बल रहता है और नींद में ही नियत स्थान पर जाकर हिंसादि कार्य करके वह व्यक्ति पुनः लौट आता है, तथापि उसे पता नहीं चलता) साधु को यह लिङ्ग प्रायश्चित दिया जाता है।[145]

अन्योन्यपाराञ्चित प्रायश्चित :-

आपस में साधु-साधु का एक-दूसरे के मुखादि प्रयोग से सेवन सर्वथा अकल्प्य (सर्वथा त्याज्य) है। तथापि यदि कोई ज्ञानी होने पर भी एसा करे तो अन्योन्यपाराञ्चित प्रायश्चित योग्य एसे श्रमण का त्याग करना चाहिए। उनसे लिङ्ग अर्थात् साधुवेश वापिस ले लेना चाहिए।[146] इस प्रायश्चित के विषय में विशेष गुरुगमगम्य हैं।

जीतकल्प में कहा है कि कषायदुष्ट, विषयदुष्ट, राजवध, राजमहिषी (राजा की रानी) के साथ मैथुन सेवन करने पर प्रतिसेवना पाराञ्चित प्रायश्चित के योग्य अपराध माना जाता हैं।[147]

पाराञ्चित प्रायश्चित के प्रकार :-

1. लिङ्ग - अपराधी साधु का साधुवेश ले लेना या प्रयत्नपूर्वक उससे रजोहरण-मुहपत्ति आदि साधुवेश का त्याग करवाना - लिङ्ग प्रायश्चित कहलाता हैं।[148]

2. क्षेत्र - क्षेत्र से अपराधी साधु को अपराधस्थान जैसे कि उपाश्रय, शेरी (गली), बाजार, शाखी (घरों की एक समान श्रेणी (लाईन), गाँव, नगर, राजधानी, देश, राज्य, कुल,गण, संघ आदि का त्याग करवाना अर्थात् अपराधक्षेत्र में अपराधी साधु को नहीं रहने देना क्षेत्र पाराञ्चित प्रायश्चित हैं।[149]

---

135. अ.रा.पृ. 1/297
136. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161; चारित्रसार-144/4
137. अ.रा.पृ. 5/857; स्थानांग-3/4; बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य-4/93
138. अ.रा.पृ. 5/857, 858; बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य-4/94
139. अ.रा.पृ. 5/858, 865; बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य-4/97 से 104; जीतकल्प-94; भगवती आराधना-1637
140. अ.रा.पृ. 5/858, 865; बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य-94 से 96; अनगार धर्मामृत-7/59
141. अ.रा.पृ. 5/858; बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य-4/105-106; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161
142. अ.रा.पृ. 5/859, 866; बृहत्कल्प वृत्ति सभाष्य-4/115;
143. अ.रा.पृ. 5/859 से 861; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/161
144. अ.रा.पृ. 5/861
145. अ.रा.पृ. 5/861, 862, 866
146. अ.रा.पृ. 5/862, 866
147. अ.रा.पृ. 5/865; चारित्रसार-146/3
148. अ.रा.पृ. 5/862, 866
149. अ.रा.पृ. 5/866-867; जीतकल्प-98-99

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. काल - आशातना पाराञ्चित प्रायश्चित जधन्य से छः मास और उत्कृष्ट से एस वर्ष तथा प्रतिसेवना पाराञ्चित प्रायश्चित जघन्य से एक वर्ष और उत्कृष्ट से 12 वर्ष तक का होता हैं।[150]

4. तप - पाराञ्चित प्रायश्चित वहन करनेवाले (पाराञ्चिक) आचार्य जिनकल्पी की तरह रुक्षाहार (आयंबिल) ग्रहण करते हैं। दिन के तृतीय प्रहर में विहारादि समस्त कार्य समाप्त कर चतुर्थ प्रहर में ध्यानादि करते हैं। जो आचार्य संघाज्ञा से या गुर्वाज्ञा से पाराञ्चित प्रायश्चित अंगीकार करते हैं वे यह तप या तो वेशगोपन करके गुप्तरुप से या अन्य आचार्य के पास जाकर करते हैं जिससे स्वगच्छ के साधुओं में उनकी अवज्ञा, आशातना, अनादर न हो, जिससे उनके स्वगच्छीय साधु/शिष्यादि स्वच्छंदी न बने।[151]

तपस्वी पाराञ्चिक आचार्य जिनकी निश्रा में रहकर प्रायश्चित करते हुए उनसे आधा योजन दूर क्षेत्र में रहते हैं। वहाँ वे आचार्य पाराञ्चिक का दोनों समय अवलोकन करते हैं, उनको सूत्र पोरिसी -अर्थ पोरिसी आदि देते हैं। ग्लानावस्था में उनकी गोचरी-पानी से वैयावृत्त्यादि करते हैं। यदि आचार्य स्वयं किसी कारण से उक्त कार्य नहीं कर सके तो गीतार्थ शिष्य के द्वारा करवाते हैं।[152]

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रायश्चित तप का भेद-प्रभेद सह विस्तृत वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने प्रायश्चितदाता के गुण, प्रायश्चित ग्रहण करने की विधि, परिस्थिति आदि का भी निम्नानुसार वर्णन किया है। इन दशों प्रायश्चितों में आलोचना प्रायश्चित प्रथम है और कोई भी दोष गुर्वादि के समक्ष प्रगट करने पर ही उसका विभिन्न रुपों से शुद्धिकरण संभव होता हैं। इन सब विषयों का अभिधान राजेन्द्र कोश में 'पच्छित्त' और 'आलोयणा' शब्द पर विस्तृत वर्णन किया गया है जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं-

आलोचनादाता की दस विशिष्टताएँ[153] :-

जैन वाङ्मय में गंभीर, उदारचेता, बहश्रुत एवं अनुभवी आचार्यों के पास आलोचना लेने का विधान है। आलोचना के अपराधों का श्रवण करनेवाला आलोचनादाता अपने आप में विशिष्टताएँ लिए हुए होना चाहिए। निम्नलिखित गुणों से संपन्न श्रमण आलोचना देने व श्रवण करने योग्य होता हैं -

आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अप्रवीडक, प्रकुर्वक, परिस्रावी, निर्यापक, अपायदर्शी, प्रियधर्मा और दृढधर्मा।

1. आचारवान - आलोचनादाता ज्ञानाचार-दर्शनाचारादि पंचाचार से संपन्न हो।

2. आधारवान् - आलोचनादाता अवधारणासंपन्न अर्थात् स्मृतियुक्त हो। चूँकि गंभीर दोषों के दो-तीन बार श्रवणकर तदनुरुप उसका प्रायश्चित दिया जाया है, अन्यथा उसमें न्यूनाधिकता हो सकती हैं।

3. व्यवहारवान् - आलोचनादाता आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-इन पाँचों व्यवहारों का ज्ञाता हो। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग-अपवाद, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि का उचित विधि से प्रवर्तनकर्ता हो।

4. अप्रवीडक - आलोचनादाता आलोचक साधक का संकोच एवं लज्जा दूर कराकर अच्छी तरह से आलोचना करानेवाला हो।

5. प्रकुर्वक - आलोचनादाता आलोचक का आलोचित अपराध या दोष का तत्काल प्रायश्चित देकर दोषों की शुद्धि कराने में समर्थ हो।

6. परिस्रावी - आलोचनादाता आलोचक के दोषों को अन्य के समक्ष प्रकट करनेवाला न हों।

7. निर्यापक - आलोचकने महा अपराध किया हो, किन्तु शारीरिक अशक्ति अथवा अन्य किसी परिस्थितिवश वह एक साथ सम्पूर्ण प्रायश्चित लेने या करने में असमर्थ हो तो आलोचनादाता उसे थोडा थोडा प्रायश्चित देकर उसकी शुद्धि कराने में समर्थ हों।

8. अपायदर्शी - यदि आलोचक अपराध करने के पश्चात् आलोचना करने में संकोच करता हो तो आलोचनादाता आगमानुसार पारलौकिक भय एवं अन्य दुष्परिणाम दिखाकर उसे आलोचना लेने का इच्छुक बनाने में निपुण हो।

9. प्रियधर्मा - आलोचनादाता प्रियधर्मी हो।

10. दृढधर्मा - आलोचनादाता आपत्तिकाल में दृढधर्मी हों।

इस प्रकार आलोचनादाता में सभी गुण होना नितान्त आवश्यक हैं, जिससे आलोचक साधक, विश्वास एवं प्रसन्नतापूर्वक आलोचनादाता के पास आलोचना लेकर स्वकृत दोषों की शुद्धि कर सके।

आलोचना करने योग्य व्यक्ति :-

सोही उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।[154]

सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है। अर्थात् माया आत्मा की सरलता को समाप्त कर देती हैं। धर्म तो शुद्ध सरल हृदय में ही टिकता है। जिसने हृदय की कोमलता पायी है, जीवन में सरलता अपनायी है, वही अध्यात्म पथ का पथिक बन सकता है, वही आलोचना कर सकता हैं। आलोचक साधक प्रतिपल सजग, सचेत और विवेकशील रहता हैं।

दस गुणों से संपन्न साधक स्वदोषों की आलोचना करने योग्य होता है। वे अग्रलिखित हैं - जातिसंपन्न, कुलसंपन्न, विनयसंपन्न, ज्ञानसंपन्न, दर्शनसंपन्न, चारित्रसंपन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चातापी।[155]

उपर्युक्त गुणों पर यदि गम्भीरता से चिन्तन किया जाय, तो विदित होता है कि इनमें से एक-दो गुण भी यदि साधक के जीवन में हों, तो वह पाप की ओर कदम रखने में संकोच करेगा और कदाचित् कदम बढा भी दिया, तो दोष स्वीकार कर प्रायश्चित के लिए अनवरत तैयार रहेगा।

आलोचना के दस दोष[156] :-

दस आलोयणादोसा पन्नता, तं जहा-

अकम्पयित्ता, अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं बायरे च सुहुमं वा।
छन्नं सद्दाउलयं, बहुजण अव्वत्त तस्ससेवी॥

आकम्पयिता :-

प्रसन्न करने की मनोवृत्ति यह आलोचना का प्रथम दोष है। आलोचक साधक पहले आचार्यादि की सेवा-भक्ति करके उन्हें प्रसन्न करता है तदनन्तर उनसे दोषों की आलोचना करता है, चूँकी वह यह सोचता है कि सेवा आदि से प्रसन्न होने पर गुरु मुझे थोडा

---

150. अ.रा.पृ. 5/862, 5/867; जीतकल्प-100
151. अ.रा.पृ. 5/863
152. अ.रा.पृ. 5/863, 867
153. अ.रा.पृ. 2/458; भगवतीसूत्र-25/7; स्थानांग-10/72
154. अ.रा.पृ. 3/1053; उत्तराध्ययन-3/12
155. अ.रा.पृ. 2/458, 459 एवं 5/187; भगवतीसूत्र-25/7; स्थानांग-10/71
156. अ.रा.पृ. 2/460, 461, 5/187; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/277; भगवती आराधना मूल-563 से 602

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित देंगे, लेकिन यह एक तरह से उत्कोच (रिश्वत) देने जैसी मनोवृत्ति हैं।

अणुमाणइत्ता :-

अनुमान लगाना यह आलोचना का दूसरा दोष हैं। पहले लघु अपराध की आलोचना लेकर यह अंदाज लगा लेना कि गुरु कठोर प्रायश्चित देते हैं या मृदु, उसके बाद अन्य आलोचना करना।

दिट्ठं (दुष्ट) :-

जिस दोष या अपराध को आचार्य अथवा अन्य किसी ने देख लिया हो, उसी दोष की आलोचना करना, शेष अपराधों को उनके समक्ष प्रकट न करना।

बायरं (स्थूल) :-

केवल बडे-बडे अपराधों की आलोचना करना, लघु दोषों की नहीं। यह आलोचना का चौथा दोष हैं।

सुहुमं (सूक्ष्म) :-

मात्र छोटे दोषों की आलोचना करना जो अपने छोटे अपराधों की भी आलोचना करता है, वह बडे दोषों को कैसे छिपा सकता हैं? संघ एवं गुरुजनों के मन-मस्तिष्क में एसा विश्वास उत्पन्न करने के लिए मात्र सूक्ष्म दोषों की आलोचना करना।

छन्न (प्रच्छन्न) -

लज्जालुता का प्रदर्शन करते हुए प्रच्छन्न स्थान में जाकर आलोचना करना और इस रीति से कि जिसे आलोचनादाता भी न सुन सके अथवा अस्पष्ट आवाज में आलोचना करना।

सद्दाउयं (शब्दाकुल) :-

दूसरें को सुनाने के लिए ऊँचे स्वर में आलोचना करना।

बहुजण (बहुजन) :-

प्रशंसार्थी बनकर लोगों में अपनी पापभीरुता प्रकट करने के लिए एक ही दोष को अनेक गुरुजनों के पास जाकर आलोचना करना।

अव्वत्त (अव्यक्त) :-

किसी दोष या अतिचार का किसे क्या प्रायश्चित दिया जाता है, इस बात का जिसे बोध ही नहीं है, एसे अगीतार्थ श्रमण के पास जाकर स्वदोषों की आलोचना करना

तस्सेवी (तत्सेवी) -

जिस दोष की आलोचना करना है, उसी दोष का सेवन करने वाले गुरु के पास जाकर उसकी आलोचना करना। यह सोचना कि ये स्वयं इस दोष के सेवी है, अतः मुजे उपालम्भ (उलाहना) भी नहीं देंगे; अधिक कुछ नहीं कहेंगे और प्रायश्चित भी अल्प देंगे।

आलोचनाविधि में भाषा के व्यवहार में गृहस्थोचित शब्दों का प्रयोग न करके संयमित भाषा का प्रयोग करना चाहिये। भाषा में मूकता और मुखरता - इन दोनों को हटाकर आलोचक संयमित भाषा का व्यवहार करें।[157]

प्रायश्चित देते समय व्यक्ति की परिस्थिति का विचार :-

जैनागमों में दोषी व्यक्ति के द्वारा गुरु के समक्ष अपना दोष प्रगट करने पर उसे तपादि सभी प्रकार के प्रायश्चित रुप दण्ड देते समय प्रायश्चित ग्रहण करनेवाले व्यक्ति के बारे में एवं उसकी तत्कालीन परिस्थिति तथा दोषसेवन करते समय की परिस्थिति पर भी पूर्ण विचार किया गया हैं। इन विषयों पर विचार करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि आलोचनाग्राही (प्रायश्चिती) नीरोगी है या रोगी ? हृदय-पुष्ट है या दुबला-पतला ? गीतार्थ है या अगीतार्थ ? समर्थ है असमर्थ ? सरल है या मायावी ? परिणामी (परिपक्वहै, अपरिणामी है या अतिपरिणामी) ? धैर्य-संहननादि युक्त है या उससे हीन ? आत्मतर (आत्मतप-स्वयं तप करनेवाला) है या परतर (पर तप-वैयावृत्त्यादि करनेवाला) है या उभयतर (दोनों प्रकार के तप करने वाला) है ? कल्पस्थित है या कल्परहित है ? आचार्य है ? उपाध्याय है ? कृतकरण (आवश्यकादि करनेवाला) है ? गीतार्थ है ? स्थिर बुद्धि है ?

इसी प्रकार दोषी व्यक्ति के द्वारा आलोचित दोष का सेवन सावद्य क्रिया में उत्साहपूर्वक किया गया है या बिना उत्साह से ? प्रमाद से किया गया है या अप्रमाद से ? दर्प (अभिमान, हास्यादि) से किया गया है या परिस्थितिवश ? सुकाल में किया गया है या दुष्काल में ? ग्राम-नगरादि में किया गया हैं या अरण्य में ?

इत्यादि प्रकार से प्रायश्चित ग्रहण करने वाले व्यक्ति के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि का पूर्ण विचार करके पात्रानुसार जीतकल्प में कहे हुए प्रायश्चित के अनुसार या उससे हीन या अधिक भी प्रायश्चित दिया जाता है। ये सभी प्रायश्चित प्रायः प्रमादाचरण के लिए दिये जाते हैं। प्रमादी मुनि यदि अभिमानी है, मायावी है, अकृतकरण है - तो उसे अधिक दण्ड मिलता है, यदि उससे विपरीत अप्रमादी, सरल, नम्र अकृतकरण है तो उसे न्यून प्रायश्चित तप प्रदान किया जाता हैं।[158]

आलोचना का योग्य साक्षी :-

आलोचना करने वाला श्रमण गीतार्थ के पास आलोचना करे, अगीतार्थ के पास नहीं। किन्हीं आचार्यों के मतानुसार आलोचक स्वकृत दोषों की आलोचना औत्सर्गिक रुप से आचार्य भगवंत के पास ही करें[159]। जीतकल्प में यह भी उल्लेख है कि आलोचना सर्वप्रथम अपने आचार्य-उपाध्याय के पास करे। अपने सांभोगिक बहुश्रुत-बह्वागमधारी श्रमण के पास और उनके अभाव में समान रुप वाले बहुश्रुत श्रमण के पास, उनके अभाव में पच्छाकडा अर्थात् जो संयमी जीवन से पतित होकर श्रावक व्रत पाल रहा है, लेकिन पहले संयम पाला होने के कारण उसे प्रायश्चित्त विधि का ज्ञान है, एसे श्रावक के पास, उनके अभाव में जिनभक्त बहुश्रुत यक्षादि देवों के पास, संयोग से कदाचित् ये भी न हो तो गाँव या नगर के बाहर जाकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर मूँह करके विनम्र भाव से अञ्जलिबद्ध नतमस्तक होकर अपने दोषों का स्पष्टतः उच्चारण करें।

इस प्रकार अपने अपराधों को स्पष्ट रुप से बोलते हुए अरिहन्त-सिद्ध परमात्मा की साक्षी से स्वदोषों की आलोचना करें[160]।

157. अ.रा.पृ. 2/460; पंचवस्तुक सटीक, गाथा-86-88;

158. अ.रा.पृ. 4/2185 से 2188; जीतकल्प-68-76; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/159; भगवती आराधना 626;

159. अ.रा.पृ. 2/450; पंचाशक सटीक वृत्ति 15

160. अ.रा.पृ. 2/450-451; व्यवहारसूत्रवृत्ति उद्देश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आलोचना वीतरागी गुरु के समक्ष ही की जानी चाहिए। योग्य आचारों को जानने वाले आचार्यो के पास ही सूक्ष्म अतिचार विषयक आलोचना करना हो तो वह भी प्रशस्त ही करनी चाहिए[161]।

आलोचना सदा परसाक्षी से ही होती हैं। गीतार्थ आचार्य को भी आलोचना परसाक्षी से ही लेनी चाहिए, इसका वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि-

आचार्य के छत्तीस गुणों से समन्वित एवं श्रेष्ठ ज्ञान व क्रिया व्यवहार आदि में विशेष निपुण श्रमण भी पापशुद्धि, दोषों की आलोचना परसाक्षी से ही करे; अपने आप नहीं। जैसे परम कुशल वैद्य भी अपनी बीमारी दूसरे वैद्य से कहता है एवं उस वैद्य के कथनानुसार कार्य भी करता है, इसी प्रकार आलोचक प्रायश्चित-विधि में दक्ष होते हुए भी अपने दोषों की आलोचना प्रकट रुप से अन्य के समक्ष करें, क्योंकि एसा करने से हृदय का सारल्य प्रकट होता है और अन्य को भी शुद्ध होने की प्रेरणा मिलती हैं।[162]

प्रायश्चित के लाभ :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने प्रायश्चित के लाभ वर्णन करते हुए कहा है कि जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शल्यों (काँटों) को निकालकर आलोचना (आत्म निंदा) करता है, उसकी आत्मा सिर का भार उतर जाने के बाद भारवाहक की तरह लघु हो जाती हैं[163]। प्रायश्चित करने से जीव पापों की विशुद्धि करता है एवं निरतिचार/निर्दोष/विशुद्ध बनता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित करनेवाला साधक, मार्ग (मोक्षमार्ग रुप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) और मार्ग-फल;-दर्शन-ज्ञान को निर्मल करता है, आचार (चारित्र) और आचारफल (मोक्ष) की आराधना करता हैं[164], भाररहित होकर सद्ध्यान में रमण करता हुआ सुखपूर्वक विचरण करता हैं[165] और आगे चलकर कृतपाप के पश्चाताप से वैराग्यवान् होकर क्षपक श्रेणी प्राप्त करता हैं[166] जिससे जीव को केवलज्ञानादि और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।

विनय तप :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार प्रापणार्थक 'णीञ्' धातु में 'वि' उपसर्ग जोडने पर विनय शब्द बना है[167]। अभिधान राजेन्द्र कोश में विनय की अनेक परिभाषाएँ संग्रहीत की गयी हैं-

(1) जिससे आठ प्रकार का कर्म दूर होता है उसे 'विनय' कहते हैं[168]।

(2) मोक्ष के लिए जो चतुर्गति रुप संसार और आठों कर्मो का विनयन (नष्ट) करता है, इसलिए उसे 'विनय' कहते हैं[169]।

(3) ज्ञानावरणादि आठ कर्मो का शीघ्र विनाशक होने के कारण वह विनय कहलाता है, एसा विद्वानों का अभिप्राय है और वह मुक्तिफलदाता धर्म-वृक्ष का मूल है[170]।

(4) सकलक्लेशोत्पादक आठ प्रकार के कर्मो का जो नाश करता है, वह विनय है[171]।

(5) विनय धर्म का मूल हैं[172]।

(6) धर्म विनयमूलक हैं[173]।

(7) विनय ही तप हैं[174]।

विनय का व्यवहारिक स्वरुप :-

अपने से बडे एवं गुरुजनों का देशकालादि की अपेक्षा से यथोचित (यथायोग्य) सत्कार करना, विनय है। गुरुजनों को आते देखकर खडे होना एवं उन्हें अञ्जलिबद्ध प्रणाम, वंदन, आसनदान, भक्ति, सेवा-शुश्रूषा, गुर्वाज्ञापालन करना एवं उनके सामने नम्रतापूर्वक रहना विनय हैं[175]। आचार्य सोमदेवसूरि ने भी कहा है कि व्रत, विद्या एवं उम्र में बडों के सामने नम्र आचरण करना विनय हैं[176]।

(1) नम्रतासूचक व्यवहार -

अभिधान राजेन्द्र कोश में विनय का नम्रतासूचक स्वरुप बताते हुए कहा है कि शिष्य अपनी शय्या गुरु से नीची रखे, गुरु के साथ चलते हुए अतिनिकट, अतिदूर, आगे या सटकर न चले। गुरु से सटकर या आगे या पीठ करके, अतिदूर या घुटने से घुटना टिकाकर नहीं बैठे। पैर लम्बे करके, फैलाकर या पैर के ऊपर पैर रखकर या ऊँचा या बडा आसन लगाकर न बैठे। वंदन करते समय नम्र होकर हाथ जोडकर गुरु को चरण स्पर्श करें[177]। गुरुवाणी को शय्या या आसन पर बैठे-बैठे न सुने अपितु गुरु के द्वारा एक बार या बार-बार बुलाने पर भी आसन छोडकर गुरु के पास जाकर विनयपूर्वक पूछे[178]। आचार्यादि गुरुजनों के द्वारा बुलाये जाने पर कदापि मौन न रहे[179]। आसन पर बैठकर गुरु से प्रश्नादि न पूछे, अपितु उत्कटासन में अंजलि-बद्ध मुद्रा में पूछे[180]।

विनीत शिष्य-देश-काल-ऋतु-परिस्थिति, इंगिताकार, चेष्टादि से गुरु के अभिप्राय को जानकर तदनुकूल उपाय से गुरु के बिना कहे ही तद्योग्य कार्यो को संपादित करें[181]।

शिष्य को लौकिक स्वार्थ को छोडकर ज्ञानादि पञ्चाचारों की प्राप्ति हेतु विनय (गुरु भक्ति) करनी चाहिए[182]। शिष्य गुरु आदि अल्पव्यस्क होने पर भी दीक्षापर्यायादि में जो ज्येष्ठ है, उन सबके साथ विनम्र व्यवहार करें और विनम्र और सत्यवादी बनकर गुरु-सेवा में रहते हुए गुर्वाज्ञा का पूर्णतया पालन करें[183]।

161. भगवती आराधना, पृ. 560; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश पृ. 278
162. अ.रा.पृ. 2/450; गच्छाचार प्रकीर्णक; गाथा 12-13; ओघनिर्युक्ति 794-795
163. अ.रा.पृ. 2/428, 432, 5/316; ओघनिर्युक्ति 806
164. अ.रा.पृ. 5/856; उत्तराध्ययन-29/19
165. अ.रा.पृ. 3/428; उत्तराध्ययन-29/14
166. अ.रा.पृ. 4/2018; उत्तराध्ययन-29/8
167. अ.रा.पृ. 6/1152; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/548
168. अ.रा.पृ. 6/1152
169. अ.रा.पृ. 3/523; आवश्यक निर्युक्ति-867; स्थानांग सूत्र सटीक-6/531
170. अ.रा.पृ. 6/1152; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-28
171. अ.रा.पृ. 6/1152
172. अ.रा.पृ. 1/696; अंगचूलिका-अध्ययन-5
173. अ.रा.पृ. 3/418; बृहदावश्यक भाष्य-4441
174. अ.रा.पृ. 1/545; प्रश्नव्याकरण-2/3
175. अ.रा.पृ. 6/1152; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-548
176. नीति वाक्यामृत-11/6
177. अ.रा.पृ. 6/1172, 1163; उत्तराध्ययन-1/18; दशवैकालिक, मूल-9/2/17
178. अ.रा.पृ. 6/1163, 1172; उत्तराध्ययन-1/21; दशवैकालिक, मूल-9/2/18
179. अ.रा.पृ. 6/1163; उत्तराध्ययन-1/20
180. वही, उत्तराध्ययन-1/22
181. अ.रा.पृ. 6/1172, 1173; दशवैकालिक, मूल-9/2/21, 9/3/1
182. वही, वही 9/3/1
183. वही, वही 9/3/2, 8/41

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) अनुशासनात्मक स्वरुप -

शिष्य के द्वारा सत्कार (शिरोनमन), अञ्जलि (अञ्जलिबद्ध प्रणाम), शुश्रूषा (शरीर सेवा), गिरा (वाणी द्वारा सातापृच्छादि, गुणकीर्तन) मानस (अन्त:करण में अटूट श्रद्धा, बहुमान, पूर्ण समर्पण एवं भक्तिभाव) भक्ति द्वारा गुर्वाज्ञा को यथोचित शिरोधार्य करना, उनके निकट रहना, जातिवान् अश्ववत् इंगिताकार से ज्ञातकर तदनुकूल वर्तन करना, उन्हें पुन:पुन: कहने का अवसर नहीं देना अनुशासनात्मक विनय है।[184]

इससे शिष्य उग्रस्वभावी गुरु को भी प्रसन्न कर लेता है।[185] गुरुजनों का कोमल या कठोर भी अनुशासन (हित-शिक्षा), दुष्कृत्यों से बचने हेतु दी गई प्रेरणा को बुद्धिमान् विनीत शिष्य हितकारी मानता है[186]। क्योंकि आज्ञाराधन के बिना सब निरर्थक है।[187] आज्ञा-भंग नहीं करना चाहिए, आज्ञा-भंग करनेवाले को सुख नहीं है।[188] गुर्वाज्ञा-भंग सारे अनर्थों की जड है[189]। कठोर अनुशास्ता गुरु पर भी कोप करना दिव्यलक्ष्मी को लाठी प्रहार से रोकने तुल्य है।[190]

(3) शील-सदाचारात्मक विनय -

विष्ठाप्रिय शूकर की तरह अविनीत दु:शीलप्रिय होता है[191]। दु:सील, उद्दण्ड, वाचाल, असदाचारी और गुरु से प्रतिकूलाचारयुक्त अविनीत सब जगह सडे कानवाली कुतिया की तरह सर्वत्र अपमानित होकर दर-दर की ठोकर खाता है[192]। अत: अविनय के दोषों को जानकर मुमुक्षु शिष्य सदैव विनय की आराधना करें, विनय की अन्वेषणा करें जिससे उसे शील-सदाचार की सम्यक् प्राप्ति हों[193]।

(4) संयमात्मक विनय -

विनय जिनशासन का मूल है। विनीतात्मा ही संयमी हो सकता है, आत्मदमन (संयम पालन) कर सकता है और गुरुजनों का अनुशासन मान सकता है[194]। प्राणान्त संकट में भी धर्मशासन का उल्लंघन या त्याग नहीं करनेवाला दृढसंकल्पी आत्मा ही इन्द्रिय-संयम या आत्मसंयम का पालन कर सकता है[195]। आत्मसंयमी ही इसलोक और परलोक में सुखी होता है[196]।

इस प्रकार अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने उपर्युक्त विविध परिभाषाओं के द्वारा विनय के आध्यात्मिक, व्यवहारिक एवं धार्मिक पहलुओं को प्रकाशित किया है जिसे यहाँ अतिसंक्षेप में दर्शाने का प्रयत्न किया है।

विनय के भेद[197] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, मनोविनय, वचनविनय, कायविनय और लोकोपचार विनय-विनय के ये सात प्रकार बताये हैं। इन सातों के भी अवान्तर भेद हैं।

ज्ञानविनय :-

ज्ञान तथा ज्ञानी पर पूर्ण श्रद्धा रखना, भक्ति और बहुमान रखना, उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्वों पर चिन्तन-मनन-अनुशीलन करना, विधिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, अध्ययन करना, उनकी आज्ञाओं का पालन करना, उनकी शरण स्वीकार करना ज्ञानविनय है।[198]

ज्ञानी से यहाँ पाँचों ही ज्ञानधारक समझना चाहिये[199]। अपने ज्ञानावरणीय कर्म क्षय करने के लिए उनका समादर-सत्कार-सम्मान करना आवश्यक है।

शिष्य जिस ज्ञानी गुरु से आत्मगुणविकासी धर्म (सिद्धान्त) वाक्यों की शिक्षा लें, उनकी पूर्ण रुप से विनय भक्ति करें।[200] जैसे-अग्निहोत्री ब्राह्मण सदैव मधु-घृतादि विविध प्रकार की आहुतियों और मंत्रपदों से अग्नि का अभिषेक करता है वैसे अनन्तज्ञानी (केवलज्ञानी) शिष्य भी अपने गुरुजनों की और आचार्य (गुरु) की सविनय-उपासना-सेवा-भक्ति-स्तुति-वन्दन-और अभिवंदन करें[201]।

दर्शनविनय :-

सम्यग्दृष्टि के प्रति विश्वास तथा आदर भाव प्रकट करना, स्तुति आदि द्वारा सम्यग्दृष्टि गुरुजनों का सत्कार-सम्मान करना तथा इनकी ज्येष्ठता-श्रेष्ठता और पद-प्रतिष्ठा का सम्मान करते हुए सम्मानजनक व्यवहार करना दर्शनविनय है।[202] इसके भी दो भेद हैं- शुश्रूषा-विनय और अनाशातना विनय।[203] शुश्रुषाविनय के निम्नानुसार अनेक भेद बताये हैं और अनाशातना विनय के पैंतालीस[204] (45) और बावन[205] (52) भेद हैं।

(1) **शुश्रुषा विनय** - पूज्य पुरुषों एवं मोक्ष के साधकों के प्रति आदर रखना शुश्रुषाविनय है[206]। गुरु के प्रति आदर, सत्कार, भक्ति, सम्मान-बहुमान, सेवा-शुश्रुषा करना, उनके आने पर खडे होना, हाथ जोडना, आसन देना, वंदन करना, उनके सामने नम्रतापूर्वक अञ्जलिबद्ध होकर बैठना, उपासना करना, उनके शुभागमन पर सामने लेने जाना, प्रस्थान करने पर कुछ दूर तक उनके साथ पहुँचाने जाना - यह सब शुश्रूषा विनय कहलाता है।[207] गुरु के अनुशासन में रहना, आज्ञा पालन करना और उनके प्रति त्रियोग से नम्र व अनुद्धत रहना विनय है[208]।

(2) **अनाशातना विनय** - यह भेद दर्शनविनय के अन्तर्गत है। अपने गुरुजनों के सम्मान में ठेस पहुँचे या उनकी पद-

184. अ.रा.पृ. 6/1158, 1169, 1170; दशवैकालिक, मूल-9/1/12; उत्तराध्ययन-1/3
185. अ.रा.पृ. 6/1161; उत्तराध्ययन-1/13
186. अ.रा.पृ. 6/1164; उत्तराध्ययन-1/27-28-29
187. अ.रा.पृ. 2/141; हीर प्रश्न-प्रकाश-1
188. अ.रा.पृ. 2/141, 138; महानिशीथ-5/120
189. अ.रा.पृ. 3/944; पञ्चाशक सटीक-विवरण-5
190. अ.रा.पृ. 6/1160, 1171; उत्तराध्ययन-1/9; दशवैकालिक, मूल-9/2/4
191. अ.रा.पृ. 6/1159; उत्तराध्ययन-1/15
192. अ.रा.पृ. 6/1158; उत्तराध्ययन-1/4
193. अ.रा.पृ. 6/1159; उत्तराध्ययन-1/6-7
194. अ.रा.पृ. 3/523
195. दशवैकालिका, चूलिका-1/17
196. अ.रा.पृ. 6/1162; उत्तराध्ययन-1/15
197. अ.रा.पृ. 6/1153; भगवतीसूत्र 25/7; औपपातिक सूत्र-20 तप वर्णन; स्थानांग-7 ठाणां
198. वही, भगवती आराधना-113; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/551
199. अ.रा.पृ. 6/1153; औपपातिक सूत्र-20 तप वर्णन; भगवती सूत्र 25/7
200. अ.रा.पृ. 6/1169; दशवैकालिक 9/1/12
201. अ.रा.पृ. 6/1169; दशवैकालिक 9/1/11
202. अ.रा.पृ. 6/1153
203. अ.रा.पृ. 6/1153; औपपातिक सूत्र-20 तप वर्णन; भगवती सूत्र-25/7
204. अ.रा.पृ. 1/263; भगवती सूत्र-25/7
205. अ.रा.पृ. 6/1153; एवं 1175; दशवैकालिक-9/2 सूत्र सटीक
206. सर्वार्थ सिद्धि-9/20/439
207. अ.रा.पृ. 6/1153; औपपातिक सूत्र-20 तप वर्णन; भगवती सूत्र-25/7
208. अ.रा.पृ. 1/283; उत्तराध्ययन-30/32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिष्ठा की अवमानना हो - ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना और उनकी अवज्ञा-अपमान/आशातना करनेवाला कोई भी अनुचित व्यवहार नहीं करना-अनाशातना विनय हैं।

यह अनाशातना विनय अरिहन्त, आर्हद् धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावन्त, सम्भोगी (समान आचार वाले श्रमण) मति-श्रुतादि पाँच ज्ञानों के धारक-इन पन्द्रह की आशातना नहीं करना, अपितु इनकी भक्ति, बहुमान और गुणगान करने रुप तीन भेदों के कारण 45 प्रकार का हैं।[209]

यह अनाशातना विनय प्रकारान्तर भेद से तीर्थंकर, सिद्ध, कुल,गण, संघ, क्रियाधर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय और गणी-इन तेरह पुरुषों की अनाशातना, भक्ति, बहुमान और वर्णसंज्वलनता (गुण प्रशंसा) -इन चार के योग से 52 प्रकार का हैं।[210]

भगवती आराधना में सम्यग्दर्शन के अंगों का पालन, भक्ति-पूजादि गुणों का धारण तथा शंकादि दोषों के त्याग को दर्शनविनय कहा है।[211]

चारित्र विनय :-

विनय का तीसरा भेद है चारित्र-विनय। इसके पाँच भेद हैं - सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात - इन पाँच चारित्रभेदों और चारित्रसंपन्न आत्माओं के प्रति श्रद्धा रखना व उसका विनय करना चारित्रविनय है। भव्य प्राणियों के सामने उनकी चर्चा-परिचर्चा करना,गुणगान करना भी चारित्रविनय के अन्तर्गत आता है।[212] भगवती आराधना में विषय-कषाय का त्याग एवं समिति-गुप्ति के पालन को चारित्रविनय कहा है।[213] त्रिगुप्ति विषयक विनय भेदों का स्वरुप निम्न प्रकार से समझा जा सकता हैं-

मनोविनय :-

गुरुजनों का मन से विनय करना, मन पर संयम रखना, मनो-विनय कहलाता है। इसके दो भेद हैं - प्रशस्तमनोविनय और अप्रशस्तमनोविनय। मन के शुभ भावों से सुवासित करना प्रशस्तमनोविनय है और इसके विपरीत आचरण करना अप्रशस्तमनोविनय हैं।[214]

वचन विनय :-

वाणी को संयम रखना, उस पर अनुशासन रखना, वचन-विनय है। वचन-विनय भी दो प्रकार का है - प्रशस्तवचनविनय और अप्रशस्तवचनविनय है। हित-मित, सौम्य, सुन्दर, सत्य वाणी से उनका सम्मान करने को प्रशस्त वचन-विनय कहते है। और तत्प्रतिकूल आचरण करना जैसे कर्कश, सावद्य, छेदकारी आदि भाषा का उपयोग करना अप्रशस्तवचनविनय कहलाता हैं।[215]

कायविनय :-

काय अर्थात् शरीर। इसलिए शरीर से संबंधित होने वाली समग्र प्रवृत्तियों को काय-विनय के अन्तर्गत समाहित किया गया है। कायविनय में विवेक की प्रमुखता बतायी गई है। उठना-बैठना, चलना-फिरना, शयन करना आदि प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करना काय-विनय है। प्रशस्तकाय विनय और अप्रशस्त कायविनय से काय-विनय के दो भेद हैं। शरीर से गुरुजनों की भक्ति और विवेकपूर्वक की गई शारीरिक प्रवृत्तियों को प्रशस्तकायविनय कहते हैं। शरीर के अविवेक-अशिष्टतापूर्वक अशुभ कार्यो में प्रवृत्त करना अप्रशस्तकाय-विनय है।[216]

अभिधान राजेन्द्र कोश में प्रकारान्तर से विनय के पाँच प्रकार बताये हैं[217] - 1. लोकोपचार विनय 2. अर्थ विनय 3. काम विनय 4. भय विनय और 5. मोक्ष (आत्म) विनय।

(1) लोकोपचार विनय :-

अन्य को सुख पहुँचाने वाले बाह्याचार को लोकोपचार विनय कहा जाता हैं। जनता का व्यवहार लोकोपचार कहलाता है। लौकिकलाभार्थ या लोकव्यवहार निभाने के लिए माता-पिता, शिक्षक-गुरुजन आदि की विविध प्रकार से विनय-भक्ति, सेवा सत्कार पूजादि करना लोकोपचार विनय है। इसमें मुख्यत: प्रदर्शन की भावना होती है, मात्र औपचारिकता रहती है, अन्त: प्रसूत प्रेरणा नहीं। जैसे उचित लोगों के आगमन पर खडे होना, सम्मुख जाना इत्यादि।

गृहागत की भोजनादि से अतिथि-पूजा करना आदि सब लोकोपचार के अन्तर्गत माना गया हैं।[218] लोकोपचार विनय के सात अवान्तर भेद[219]-

अभिधान राजेन्द्र कोश में लोकोपचार के सात प्रकारों पर प्रकाश डाला गया हैं-

1. **अभ्यासवृत्तिता** - सामान्यत: अभ्यास का अर्थ होता है प्रयास करना, किन्तु यहाँ इसका अर्थ है - गुरु आदि के सन्निकट रहना।
2. **परच्छंदानुवर्तिता** - गुरुजनों के स्वाभावानुकूल रहना; उनकी इच्छा के अनुरूप वर्तन करना।
3. **कार्यहेतु** - किसी कार्य को संपन्न करने हेतु विनय करना।
4. **कृतप्रतिक्रिया** - कृत उपकारों की स्मृति रखना। उनके प्रति कृतज्ञ रहते हुए उनके उपकार से अऋण होने का प्रयास करना।
5. **गवेषणा** - आत्मा की खोज करना अथवा रुग्णादि आर्त प्राणियों की रक्षा हेतु उनकी गवेषणा करना।
6. **देश-कालानुज्ञता** - देश-काल की परिस्थिति के अनुसार कार्य करना या समयोचित प्रवृत्ति करना।
7. **सर्वत्र अप्रतिलोमता** - किसी के विरुद्धाचरण न कर सभी कार्यों में अनुकूल रहना, यह विनय की व्यापक पृष्ठभूमि हैं।

(2) अर्थ विनय :-

धन-सम्पत्ति आदि के प्रलोभन से प्रेरित होकर राजा, श्रीमंत, राज्याधिकारी या सम्पत्तिशालियों का अभ्युत्थान, अंजलि, आसन-दानादि द्वारा विनय सेवा-सत्कार व सम्मान करना अर्थ विनय कहलाता हैं।

(3) काम विनय :-

काम-पिपासा की सम्पूर्ति हेतु या भोग-सामग्री प्राप्त करने के

209. अ.रा.पृ. 1/283; भगवती सूत्र-25/7
210. अ.रा.पृ. 6/1153; एवं 6/1175; दशवैकालिक सूत्र सटीक-9/2
211. भगवती आराधना-114
212. अ.रा.पृ. 3/1175; औपपातिक सूत्र-20; भगवती सूत्र-25/7
213. भगवती आराधना-114
214. अ.रा.पृ. 6/1154; औपपातिक सूत्र-20; भगवती सूत्र-25/7
215. अ.रा.पृ. 6/1154; औपपातिक सूत्र-20; भगवती सूत्र-25/7
216. अ.रा.पृ. 6/1154; औपपातिक सूत्र-20; भगवती सूत्र-25/7
217. अ.रा.पृ. 6/1152, 1153; दशवैकालिक सूत्र सटीक-9/1; मूलाचार-580
218. अ.रा.पृ. 6/1153; दशवैकालिक सूत्र सटीक-9/1
219. अ.रा.पृ. 6/1154; औपपातिक सूत्र-20; भगवती सूत्र-25/7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए वैश्यादि कुलीन स्त्रियों के समक्ष नम्रता दिखाना, उनकी खुशामद या प्रशंसा करना व धनादि द्वारा उनकी सेवा-सत्कार करना, यह सब काम विनय हैं।

(4) भय विनय :-

किसी भी भयवश अथवा अपराध हो जाने पर श्रीमंत, शेठ, शिक्षक, न्यायाधीश, गुरुजन-धर्माचार्यादि का विनय करना, भय-विनय कहलाता है। प्रायश्चित से बचने के लिए गुरुजनों के प्रति नम्रता प्रदर्शित करना भय-विनय है।

(5) मोक्ष विनय :-

जैन धर्म में मोक्ष विनय गुरुजनों के प्रति नम्रता के अर्थ तक ही सीमित नहीं है। वह मोक्ष विनय को धर्म का मूल और उसका परमफल मोक्ष मानता है। तात्पर्य यह है कि जो आचरण-व्यवहार आंशिक या सर्वांश रुप से कर्मो के बंधन से मोक्ष-प्राप्ति का हेतु हो, उसे मोक्ष-विनय कहते हैं। इसके अतिरिक्त देव-गुरु, धर्म-शास्त्र, मोक्ष-मार्ग की साधना और आचारवान् के प्रति मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से नम्रता-विनय का प्रयोग करना भी मोक्ष-विनय के अन्तर्गत समाहित है। जैन परम्परा में केवल आत्मविनय या मोक्ष-विनय को ही स्वीकार किया गया हैं।

मोक्ष-विनय मुमुक्षु आत्माओं में ही होता है। वह भय, प्रलोभनादि के सामने नहीं झुकता; वह तो केवल सद्गुणो के समक्ष नतमस्तक होता हैं ।

उक्त विवक्षित विनय के प्रकारों में आत्मलक्षी विनय को वास्तविक विनय है, क्योंकि उसमें भावना पवित्र रहती है और वृत्तियाँ विशुद्ध।

विनय का महत्त्व :-

विनय हमारे समग्र धर्माचरणों की नींव है। अत: साधक का बडे से बडा और छोटे से छोटा आचरण विनयपरक होना चाहिए। अभिधानराजेन्द्र कोश में 'धम्मस्स विणओ मूलं' बताकर वृक्ष की उपमा से उसे अभिव्यक्त करते हुए कहा है-

वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ निकलती हैं, शाखाओं में से प्रशाखाएँ फूटती हैं और इसके बाद पत्र-पुष्प, फल और रस उत्पन्न होता है। इसी तरह 'विनय' धर्म रुपी वृक्ष का मूल है और उसका सर्वोत्तम रस है -मोक्ष[220]।

विनय मोक्ष का आदिमूल है क्योंकि विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन (सम्यक्त्व), दर्शन (श्रद्धा) से दर्शनयुक्त चारित्र (आचरण) और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में अव्याबाध-सुख है। विनय का फल शुश्रूषा है, शुश्रूषा का फल श्रुतज्ञान है, ज्ञान का फल विरति है, विरति का फलआस्रव-निरोध है, आस्रव-निरोध का फल संवर है, संवर का फल तपोबल है, तप का फल निर्जरा है, निर्जरा से क्रियानिवृत्ति होती है, क्रियानिवृत्ति से साधक अयोगी बनता है अर्थात् योगनिरोध करता है, योगनिरोध से भव-परम्परा का क्षय होता है, भव-सन्तति (परम्परा) नष्ट होने से मोक्ष प्राप्त होता है। अत: सर्वकल्याण का कारण विनय हैं।

वैयावृत्य तप (सेवा) :-

वैयावृत्य का शाब्दिक अर्थ करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा गया है - "व्यावृत्तस्य भाव: कर्म वा वैयावृत्यम्।"[221] जिस तप में व्यावृत अर्थात् अपनी इच्छाओं, स्वार्थो, कषायों आदि से हटने की क्रिया हो, वह वैयावृत्य हैं।

एक और परिभाषा दी गई है - "भक्तादिभिर्धर्मोपग्रहकारिवस्तुभिरुपग्रहकरणे।"[222] धर्म साधना में सहारा देनेवाली आहारादि वस्तुओं द्वारा साध्यता पहुँचाना, वैयावृत्त्य कहलाता है।

जैन परम्परा में वैयावृत्त्य का अत्यधिक महत्त्व बताया गया हैं। वह वैयावृव्य दस प्रकार का हैं - यथा आचार्य-उपाध्याय-स्थविर-तपस्वी-शैक्ष (नवदीक्षित)-रोगी-साधर्मिक-कुल (एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय)-गण (एक अथवा दो से अधिक आचार्य के शिष्यों का समुदाय)-और संघ का वैयावृत्त्य करना। इस प्रकार वैयावृत्त्य के ये मुख्य दस पात्र हैं।[217]

अभिधान राजेन्द्र कोश में सेवा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह भी कहा है प्रसन्न व शान्त भाव से रुग्ण साथी की परिचर्या करें।[224]

वैयावृत्त्य के प्रकार :-

उपर्युक्त आचार्य, उपाध्याय स्थविरादि दस में से प्रत्येक की तेरह प्रकार से वैयावृत्त्य (सेवा) की जा सकती हैं। अत:एव प्रस्तुत अभिधान राजेन्द्र कोश में वैयावृत्त्य के 130 भेद वर्णित हैं[225]। यथा-

(1) आहार देना (2) पानी प्रदान करना (3) शयन के लिए संस्तारक (संथारा) प्रदान करना (4) बैठने के लिए आसनादि प्रदान करना (5) गुरुजनों का प्रतिलेखन करना (6) पाँव-पोंछना (7) रुग्णावस्था में औषध का प्रबन्ध करना (8) मार्ग में थकावट आदि होने पर सहारा देना (9) राजादि के क्रुद्ध होने पर आचार्य-संघ आदि की रक्षा करना (10) शरीर, उपधि आदि का संरक्षण करना (11) अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित करना (12) ग्लान को समाधि उत्पन्न करना ओर (13) उच्चारप्रस्रवण (मल-मूत्र) आदि के पात्रों की व्यवस्था करना।

आचार्यादि उक्त गुणीजनों की वैयावृत्त्य (सेवा) करने से महानिर्जरा और निर्वाण प्राप्त करता हैं।[226] वैयावृत्त्य से तीर्थंकर नाम कर्म का भी बंध होता हैं।[227]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कहा है कि गुणग्रहण के परिणाम, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्र प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्वादि का पुन: संधान, तप, पूजा, तीर्थ, अव्युच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा पालन, संयम, सहाय, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, कार्य निर्वाहण - वैयावृत्त्य के ये अठारह गुण हैं।[228]

वैयावृत्त्य का फल :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि, वैयावृत्त्य करनेवालों को कर्मों की महानिर्जरा होती है। जैसे विशिष्ट ज्ञानी के द्वारा वैयावृत्त्य की जाती है वैसे वैसे अधिकाधिक कर्मनिर्जरा होती है। यथा दशवैकालिक के ज्ञाता की अपेक्षा आवश्यकज्ञानी यदि

220. अ.रा.पृ. 6/1170 एवं 5/1193; ; दशवैकालिक-9/2/1-2
221. अ.रा.पृ. 6/1451; स्थानांग-3/3188
222. अ.रा.पृ. 6/1451; स्थानांग टीका-5/1
223. अ.रा.पृ. 6/1451; व्यवहार सूत्र-10 वाँ उद्देश; स्थानांग-10/144; तत्त्वार्थ सूत्र-9/24; मूलाचार 390
224. अ.रा.पृ. 3/894; सूत्रकृताङ्ग-1/3/3/13; धवला टीका-8/3; चारित्रसार 152/1
225. अ.रा.पृ. 6/1451; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/606
226. अ.रा.पृ. 6/1451
227. अ.रा.पृ. 6/1460; उत्तराध्ययन-29/43
228. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 3/606; भगवती आराधना, मूल-309, 310

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावच्च करें तो उसे अधिक निर्जरा होती हैं, उसकी अपेक्षा यदि आगमधर-पूर्वधर-श्रुतधर-14 पूर्वधर मुनि यदि वैयावृत्त्य करते हैं तो उन्हें अधिकाधिक निर्जरा का लाभ होता है।[229]

उसमें भी परिणाम की शुद्धिपूर्वक वैयावृत्त्य करनेवालों को कर्मनिर्जरारुपी लाभ एवं विनय की भी प्राप्ति होती है।[230] वैयावृत्त्य शिवसुख का प्रथम सोपान है। वैयावृत्त्य करने से जिनाज्ञा का पालन होताहै, अनुकम्पा की प्राप्ति होती है; आहारादि के द्वारा वैयावृत्त्य करने से तीर्थंकर नाम-गोत्र का बंध होता है।[231] भरत चक्रवर्तीने पूर्वभव में सुविहित साधुओं की वैयावृत्त्य के द्वारा शाता वेदनीय कर्म का उपार्जन किया, जिसके प्रभाव से वे भरत क्षेत्र में चक्रवर्ती बनकर, आरीसा भुवन में केवलज्ञान प्राप्त कर राजर्षि बनकर आठों कर्म क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हुए।[232]

स्वाध्याय तप :-

स्वाध्याय मुख्य रुप से तीन अक्षरों से मिलकर बना है। सु + अधि + अय = स्वाध्याय। स्वाध्याय कीपरिभाषा देते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा हैं - "सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय:" ।[233] व्याकरण की दृष्टि से इसका अर्थ होता है - सम्यक् प्रकार से सच्छास्त्रों को मर्यादापूर्वक पढना स्वाध्याय है। स्वाध्याय की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि "अपने अन्दर की गहराई में उतर कर अपने आपका अध्ययन करना ही वास्तव में स्वाध्याय हैं।"[234] मूलाचार में जिनकथित बारह अङ्ग और चौदह पूर्व को स्वाध्याय कहा हैं[235]।

स्वाध्याय के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में ज्ञान को सुरक्षित एवं स्थिर रखने की दृष्टि से स्वाध्याय के पाँच सोपान बताए गए हैं। वे पाँच सोपान है -वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।[236]

वाचना - गुरु से विधिपूर्वक सूत्रार्थ शास्त्रों का अध्ययन करना वाचना है[237]। वाचना (पठन-पाठन) से निर्जरा होती हैं।[238]

पृच्छना - गुर्वादि से सूत्र और अर्थ की वाचना लेने के बाद उस पाठ का मनन करते हुए यदि कोई संदेह उत्पन्न हो जाये तो गुरु से विनयपूर्वक पूछकर समाधान प्राप्त करना पृच्छना हैं।[239]

परावर्तना - पढा हुआ ज्ञान-शास्त्र विस्मृत न हो, पढे हुए कंठस्थ किए गए ज्ञान को स्मृति में स्थिर एवं सुरक्षित रखने के लिए बार-बार दुहराना - पुनरावर्तन करना परावर्तना हैं।[240]

अनुप्रेक्षा - तत्त्व के अर्थ व रहस्य पर गहराईपूर्वक चिन्तन मनन करना अनुप्रेक्षा हैं।[241] (विस्तृत विवेचन पृ. 304 पर है)

धर्मकथा - जो कथाएँ मनुष्यों को धर्म की ओर प्रेरित करे वे 'धर्मकथा' कहलाती हैं।[242] धर्म का कथन व्याख्यान 'धर्मकथा' कही जाती हैं। अथवा चिन्तन-मनन व अनुभव से प्राप्त ज्ञान जब लोकोपकारार्थ धर्म संबंधी कहानी-कथन के द्वारा दूसरों को समझाया जाता है तब वह धर्म-कथन धर्मकथा कहलाता हैं।[243] अथवा अहिंसा-सत्य आदि से युक्त धर्म के स्वरुप की प्ररुपणा करना ही धर्मकथा हैं।[244] तप-संयम से युक्त मुनि सद्भावपूर्वक समस्त जगत् के जीवों के हित के लिए जो कथन करते हैं, उसे कथा/धर्मकथा कहते हैं।[245] धर्मकथा चार प्रकार की हैं।[246] - 1. आक्षेपणी 2. विक्षेपणी 3. संवेजनी (संवेदनी, संवेयणी) और 4. निवेदनी।

(1) आक्षेपणी धर्मकथा - अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि जो कथा श्रोताओं को मधुर वचनों के द्वारा मोह से तत्त्व की ओर आकर्षित करे वह आक्षेपणी धर्मकथा हैं। वह (1) आचार-लोच,अस्नान आदि, (2) व्यवहार-विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित, (3) प्रज्ञप्ति-जिज्ञासु को तत्त्व बोध देना, (4) दृष्टिवादिकी - श्रुत ज्ञान की अपेक्षा से सूक्ष्म जीवादि भाव कहना। -इत्यादि रुप से चार प्रकार की है[247], अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य, समिति, गुप्ति आदि का उपदेश देना आक्षेपणी धर्म कथा हैं।[248]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार जिसमें मति आदि सम्यक् ज्ञानों का तथा सामायिकादि सम्यक्चारित्रों का निरुपण किया जाता है वह आक्षेपणी कथा हैं[249], अथवा जो नाना प्रकार को एकान्त दृष्टियों और दूसरे समयों के निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ प्रकार के पदार्थों का प्ररुपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।[250] अथवा तीर्थकरादि के वृत्तान्तरुप प्रथमानुयोग, लोक का वर्णन रुप करणानुयोग, श्रावक/मुनिधर्म का कथन रुप चरणानुयोग, पंचास्तिकायादिक के कथन रुप द्रव्यानुयोग, इनका कथन और परमत की शंका दूर करे वह आक्षेपणी कथा हैं।[251] अथवा जिसके द्वारा अपने मत का संग्रह अर्थात् अनेकान्त सिद्धान्त का यथायोग्य समर्थन हो उसको आक्षेपणी कथा कहते हैं।[252]

(2) विक्षेपणी कथा[253] - अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार जिस कथा में जैन मत के सिद्धान्तों का और पर मत का निरुपण है उसको विक्षेपणी कथा कहते हैं जैसे 'वस्तु सर्वथा नित्य ही है' इत्यादि अन्य मतों के एकान्त सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष में स्थापित कर उत्तर पक्ष में वे सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से विरुद्ध हैं, एसा सिद्ध करके, वस्तु का स्वरुप कथंचित् नित्य इत्यादि रुप से जैनमत के अनेकान्त को सिद्ध करना यह विक्षेपणी कथा है। यह कथन

229. अ.रा.पृ. 1/23-24
230. धर्मसंग्रह-भाषांतर-भा. 1 पृ. 638
231. अ.रा.पृ. 6/1460
232. अ.रा.पृ. 6/1459
233. अ.रा.पृ. 7/280; स्थानांग टीका-5/3/465; सर्वार्थसिद्धि टीका 9/20; चारित्रासार-44/3
234. अ.रा.पृ. 7/280; चारित्रासार-152/5
235. मूलाचार 511
236. अ.रा.पृ. 7/280-292; भगवती सूत्र-25/7; अनागार धर्मामृत-9/4
237. अ.रा.पृ. 6/1088; भगवती सूत्र-25/7; मूलाचार-393; चारित्रसार-152/5
238. अ.रा.पृ. 6/1088; उत्तराध्ययन-29/19
239. अ.रा.पृ. 5/324, 325; 7/280;
240. अ.रा.पृ. 5/627, 325; 7/280
241. अ.रा.पृ. 1/399,7/280
242. अ.रा.पृ. 7/280
243. अ.रा.पृ. 4/2711
244. अ.रा.पृ. 4/2711;
245. अ.रा.पृ. 3/402; दशवैकालिक निर्युक्ति-210
246. अ.रा.पृ. 4/2711; दशवैकालिक निर्युक्ति-3/99
247. अ.रा.पृ. 1/152; दशवैकालिक निर्युक्ति-3/20
248. अ.रा.पृ. 1/152; दशवैकालिक निर्युक्ति-201
249. भगवती आराधना, मूल गाथा 556/853
250. धवला पुस्तक 1/1, 1, 2/105/1 तथा श्लोक 75/106
251. गोमट्टसार, जीवकाण्ड, जीवतत्त्व प्रदीपिका पृ. 795
252. अनगार धर्मामृत/7/88/7/6
253. अ.रा.पृ. 6/1132; स्थानांग 4/2;दशवैकालिक निर्युक्ति-3/1/197; भगवती आराधना, 656/853

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा से चार प्रकार से हैं - क. स्वसमय - परसमय, ख. परसम-स्वसमय, ग. स्याद्वाद-मिथ्यावाद, घ. मिथ्यावाद-स्याद्वाद।

(3) संवेगिनी कथा[254] - जिस कथा से जीव को संसार संवेग (वैराग्य) प्राप्त होता है, उसे संवेगिनी कथा कहते हैं अथवा जिस कथा द्वारा इस लोक व परलोक संबंधी दुःखों का या कर्म विपाक का श्रवण होने से श्रोता भोग सुखों से, शरीर से, देवालोकादि के सुख वैभव से विरक्त होता है उसे संवेगिनी कथा कहते हैं।[255]

ज्ञान, चारित्र तप व वीर्य - इनका अभ्यास करने से आत्मा में कैसी-कैसी अलौकिक शक्तियाँ प्रगट होती हैं इनका विस्तृत वर्णन करनेवाली कथा संवेगिनी कथाहैं।[256] संवेगिनी कथा इसलोक, परलोक, स्वशरीर, परशरीर के भेद से चार प्रकार की हैं।[257]

(4) निर्वेदनी कथा - जिस कथा के द्वारा संसार से उद्विग्नता और विरक्ति उत्पन्न होकर जीव में मोक्ष की अभिलाषा प्रकट हो वह निर्वेदनी कथा है।[258] अथवा चोरी, आदि पाप कर्मो के फल रुप अशुभ विपाक अर्थात् दुःखदायी दारुण परिणामों के वर्णन के द्वारा पाप कर्मो से मुक्त होने के लिए संसार से निर्वेद उत्पन्न करानेवाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।[259]

स्वाध्याय का फल :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि जो पाँचो प्रकार का स्वाध्याय करता है, वह वैराग्य प्राप्त करता हैं।[260] स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है।[261] स्वाध्याय का फल निरुपित करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है - **सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ**।[262] स्वाध्याय करने से ज्ञानवरणीय कर्मो का क्षय हो जाता हैं। इस सन्दर्भ में अभिधान राजेन्द्र कोश में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई हैं-

अपुव्वणाण गहणे सुयभती पवयणे पहावणया।
एएहिं करणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो।[263]

नए-नए ज्ञान का अभ्यास करने से आत्मा बीसवें पद तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन करती हैं। इसलिए ज्ञानोपासना में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

श्री वीतरागदेव के द्वारा कथित बारह प्रकार के तप में ऐसा कोई तप नहि है, जो स्वाध्याय तप की बराबरी कर शके। स्वाध्याय अत्युपकारक तप है।[264] उपदेशमाला में कहा है - "स्वाध्याय से शुभ ध्यान प्रकट होता है, सत्य परमार्थ तत्त्वों का ज्ञान होता है, इतना ही नहीं अपितु स्वाध्याय में रहे हुए जीव का वैराग्य प्रतिक्षण बढता जाता है।"[265]

गौतम पृच्छा में भी कहा है कि, "पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, धर्मोपदेशरुप स्वाध्याय एवं गुरु वैयावच्च तथा श्रुतभक्ति से जीव मेधावी होता है।"[266] यतिदिनचर्या में भी कहा है कि, "वाचना श्रवणकर्ता के द्वारा भी श्रवण समय में आरंभ से विरत होकर षड्जीवनिकाय के जीवों को अभयदान दिया जाता है और देशना को ग्रहण करके जीव परमार्थ को प्राप्त करता है।[267]

स्वाध्याय से अज्ञान का नाश, कर्मनिर्जरा, अभ्युदय, सुख, पूजा, रत्नत्रयी की विशुद्धि, उत्तरोत्तर गुण श्रेणी की प्राप्ति, शुद्ध संयम, और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।[268]

अन्तरंग तपों में ध्यान और व्युत्सर्ग- ये दो अतिमहत्त्वपूर्ण तप हैं। ध्यान ही वह तप है जिससे चार घातिकर्मो का नाश होने से जीव की साधना का चरम लक्ष्य प्राप्त होता हैं। जहाँ जैनागमों में ध्यान तप का विवरण दिया हुआ होता हैं वहाँ ध्यान के चार भेदों का उल्लेख भी किया जाता हैं - आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। किन्तु यह विषय की पूर्णता की दृष्टि से ही अपेक्षित होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आर्तध्यान और रौद्रध्यान किसी भी प्रकार से तप नहीं है; तप में तो केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही आते हैं। तप की विशेषता भी यही है कि तप सायास और अभ्यास से होते है जबकि आर्तध्यान और रौद्रध्यान तो अनादि मिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि के अनादि से ही अनायास विद्यमान रहते हैं। वस्तुतः तो सारी महिमा ध्यान की ही हैं; यदि शुक्लध्यान प्रकट हो गया तो समझो मोक्ष मिल ही गया हैं। किन्तु शुक्ल ध्यान प्रकट होना इतना सरल नहीं है, इसलिए महाव्रतादि के सोपानों से होता हुआ भिक्षुप्रतिमाओं के माध्यम से ध्यान का अभ्यास करने से शुक्लध्यान होना सम्भव हो पाता हैं। ध्यान का प्रकरण अति महत्त्वपूर्ण है। आगे के शीर्षक में जैनसिद्धान्त में प्रतिपादित ध्यान का स्वरुप विवेचित किया जा रहा हैं।

254. अ.रा.पृ. 7/242; स्थानांग 4/2
255. अ.रा.पृ. 7/244; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-9/13
256. भगवती आराधना, मूल गाथा /657/857
257. अ.रा.पृ. 7/243, 244; स्थानांग 4/2; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-9/13
258. अ.रा.पृ. 4/2134; स्थानांग 4/2
259. अ.रा.पृ. 4/2135; दशवैकालिक निर्युक्ति-3/207; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/3
260. अ.रा.पृ. 7/292; धर्मरत्न प्रकरण-44
261. अ.रा.पृ. 7/292; मूलाचार-409
262. अ.रा.पृ. 7/292; उत्तराध्ययन 29/20
263. अ.रा.पृ. 4/2295; ज्ञाता धर्मकथा-8
264. दशवेकालिक निर्युक्ति-118
265. उपदेशमाला-338
266. गौतमपृच्छा-30
267. यतिदिनचर्या-गाथा-57 पृ. 34
268. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-523, 524

शेषैः किम् ?

नानाशास्त्रसुभाषितामृतरसैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वतां, येषां यान्ति दिनानि पण्डितजनव्यायामखिन्नात्मनाम्।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं तैरेव भूर्भूषिता, शेषैः किं पशुवद्विवेकरहितैर्भूभारभूतैर्नरैः॥

-अ.रा.पृ. 1/488

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान :-

सामान्यतया ध्यान का अर्थ है - चिन्तन करना। 'ध्यै' चिन्तायाम् धातु से 'ध्यान' शब्द बना है। अपने ध्येय में चित्त का एकाग्र हो जाना, तल्लीन हो जाना ध्यान है। अभिधान राजेन्द्र में 'ध्यान' को जिन परिभाषाओं में बाँधने का प्रयास किया गया है, वे निम्नांकित हैं-

छद्मस्थ की दृष्टि से ध्यान का लक्षण बताया हैं-

अंतोमुहुत्तमितं, चित्ताऽवत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु ॥[1]

अन्तर्मुहूर्त तक किसी एक वस्तु में चित्त की एकाग्रता होना ध्यान हैं। जिनेश्वरों का ध्यान तो योगों के निरोधरुप एक ही प्रकार का है। एसी ही ध्यान की एक अन्य परिभाषा दी गई है।

अंतमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।[2]

अधिक से अधिक अन्तर्मुहर्त तक चित्त को किसी भी एक विषय पर एकाग्र करना ध्यान है। एक व्याख्या यह भी है -

उपयोगे विजातीयप्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं सूक्ष्माऽऽभोगसमन्वितम् ॥[3]

स्थिर दीपक की लौ के समान शुभ लक्ष्य में एकाग्र, विरोधी लक्ष्य के व्यवधान रहित ज्ञान, जो सूक्ष्म विषयों के आलोचन सहित हो वह 'ध्यान' कहलाता हैं।

किसी एक आलम्बन से मन को स्थिर करना भी ध्यान हैं।[4] और योगों का निरोध करना भी ध्यान है।[5] वह ध्यान चार प्रकार का है - आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।[6] इन चारों ध्यान में आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ हैं, इसके विपरीत धर्म और शुक्ल ध्यान शुभ हैं।[7]

आर्तध्यान :-

"ऋतं दुःखं, तस्यनिमित्तं, तत्र वा भवम्, ऋते वा पीडिते भवमार्तध्यानम्।" -अर्थात् जीव को दुःख, पीडा, चिन्ता या शोक के निमित्त से अथवा किसी प्रकार के दुःख, पीडा या चिन्ता के समय जो ध्यान हो, उसे आर्तध्यान कहते हैं।[8]

दशवैकालिक सूत्र में राज्य, उपभोग-शयन, आसन, वाहन, स्त्री, सुगंधीमाला, मणिरत्नादि आभूषण आदि की प्राप्ति की अतिशय अभिलाषा होने पर मोह से जो ध्यान उत्पन्न होता है, उसे आर्तध्यान कहा है।[9] विषय भेद से आर्तध्यान चार प्रकार का है-

(1) अनिष्ट वियोग चिन्ता - अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिन्ता का सातत्य 'अनिष्ट वियोग चिन्ता' रुप आर्तध्यान कहलाता है।[10]

(2) वेदना वियोग चिन्ता - शूल, सिरदर्द आदि रोग या दुःख आ पडने पर उसके दूर करने की चिन्ता का सातत्य 'वेदना वियोग चिन्ता' नामक आर्तध्यान का द्वितीय भेद हैं।[11]

(3) इष्ट संयोग चिन्ता (अबिलाषा) - प्रिय वस्तु, व्यक्ति या विषय का वियोग हो जाने पर उसके पुनः संयोग या उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता और प्रयत्न करना 'इष्ट संयोग करना' - रुप तृतीय आर्तध्यान हैं।[12]

(4) निदान - प्राप्त न हुई वस्तु, कामभोग या तप के बल से तप के फलस्वरुप देव-देवेन्द्र-विद्याधर-चक्रवर्त्यादि की पदवी या ऋद्धि की प्राप्ति के लिए संकल्पन करना 'निदान' नामक चतुर्थ आर्तध्यान है।[13]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में आर्तध्यान की उत्पत्ति के कारणों की अपेक्षा से आर्तध्यान के 1. अनिष्ट संयोग 2. इष्ट संयोग 3. वेदना और 4. निदान - ये चार भेद दिखाये हैं।[14] शंका, खेद, भय, प्रमाद, शोक, निद्रा, जडता, मूर्च्छा, क्रन्दन, दैन्यता, अश्रुमोचन और क्लिष्टभाषण -ये आर्तध्यान के लक्षण हैं।[15] आर्तध्यान से तिर्यंच गति प्राप्त होतीहै।[16] यह आर्तध्यान मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि को, अणुव्रत धारी देशविरत और प्रमादी सर्वविरतिधर को होता है; अप्रमत को सूक्ष्ममात्र भी नहीं होता। अतः मुनि को और मोक्षाभिलाषी गृहस्थों को मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों में समभाव रखकर अप्रमत्त होकर आर्तध्यान का त्याग करना चाहिए।[17]

रौद्रध्यान :-

इस ध्यान में हिंसक व क्रूरभावों का प्राधान्य रहता हैं। अतः कहा है - "दुष्योऽध्यवसायो हिंसाऽऽद्यक्रौर्यानुगतं रौद्रं।"[18] मन-मस्तिष्क में हिंसादि के अतिक्रूर परिणाम (विचार) आना रौद्र ध्यान हैं। जीवहिंसादि के कार्यो का सतत चिन्तन या ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता हैं।[19]

आचार्यश्री ने अभिधान राजेन्द्र कोश में रौद्र ध्यान का वर्णन करते कहा हैं[20] -

1. सत्वेषु वध-बन्धनदहनाङ्कनमारणादिप्रणिधानम्। - जीवों को हाथ से या लतादि से ताडन (वध), नासिकादि वेधन, रस्सी आदि से बंधन, दहन, लांछन (अंकन), शस्त्रादि से प्राणहानि रुप मारणादि रुप हिंसा का सतत चिन्तन रौद्र ध्यान का प्रथम भेद हैं।

2. पैशुन्यासभ्यासद्भूतघातादिवचनचिन्तनम्। -अनिष्टसूचक (पिशुन) वचन, असभ्य वचन, असत्य वचन, हिंसाकारक सावद्यवचन,

1. अ.रा.पृ. 4/1661
2. अ.रा.पृ. 3/407
3. अ.रा.पृ. 4/1661
4. अ.रा.पृ. 4/1661
5. 'योगनिरोधे'। अ.रा.पृ. 4/1661
6. अ.रा.पृ. 4/1661; ज्ञानार्णव अधिकार-25/23/257; सर्वार्थ सिद्धि-9/28
7. अ.रा.पृ. 4/1663
8. अ.रा.पृ. 1/235, 4/1661; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/272
9. अ.रा.पृ. 1/235; दशवैकालिक चूर्णि-अ.1
10. अ.रा.पृ. 1/235; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/6; तत्त्वार्थसूत्र-9/31
11. अ.रा.पृ. 1/235; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/7; तत्त्वार्थसूत्र-9/32
12. अ.रा.पृ. 1/236; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/8; तत्त्वार्थसूत्र-9/33
13. अ.रा.पृ. 1/236; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/9; स्थानांग-4/1; तत्त्वार्थसूत्र-9/34
14. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/273
15. अ.रा.पृ. 1/237; स्थानांग4/1; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/15-18; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/274
16. अ.रा.पृ. 1/236, 4/1663; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/10-13; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/274
17. अ.रा.पृ. 1/237, 4/1663; आवश्यक बृहद्वृत्ति-4/18; तत्त्वार्थसूत्र-9/35; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-1/274
18. अ.रा.पृ. 4/1661, , 6/568, 580; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/407 च; स्थानांग-4/1
19. अ.रा.पृ. 6/568, 580; प्रवचन सारोद्धार छठवाँ द्वार; नियमसार-तात्पर्यवृत्ति-89
20. अ.रा.पृ. 6/568, 580; स्थानांग-4/1; प्रवचन सारोद्धार छठवाँ द्वार; चारित्रसार-170/2; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/407

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परवञ्चन, कपट वचन, कुतीर्थिकों की प्रशंसायुक्त वचन आदि का सतत ध्यान रौद्र ध्यान का द्वितीय भेद है।

3. परद्रव्यहरणप्रणिधानम् ।- परद्रव्यहरण के फलस्वरुप नरकगमनादि के बारे में नहीं सोचते हुए दूसरों के धन का हरण करने रुप निंद्य, एसे चौर्यकर्म (चोरी) के विषय में सतत चिन्तन रौद्र ध्यान का 'परद्रव्यहरण प्रणिधान' नामक तृतीय भेद है।

4. शब्दादिविषयसाधकद्रव्यसंरक्षणप्रणिधानम् - आकुलतापूर्वक शब्दादि विषय के साधन या उसके साधक द्रव्य (धन) के संरक्षण और परिपालन का सतत चिन्तन रौद्र ध्यान का विषयसंरक्षण रुप चतुर्थ भेद है।

तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति महाराजने इन चारों भेदों का नाम क्रमशः हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, स्तैयानुबंधी और विषय संरक्षणानुबंधी बताया है।[21]

हिंसादि कार्यों में अतिलीन, महारम्भी, परव्यसन-प्रशंसक, निर्दय, पश्चाताप-रहित जीव रौद्रध्यानी होता है। अतिसंक्लिष्ट परिणाम (लेश्या) युक्त होने के कारण रौद्रध्यान नरक गति का अमोघकारण है।[22]

धर्म ध्यान :-

ज्ञानदर्शन चारित्र और वैराग्य भावना का अभ्यस्त साधक पृथ्वीकायादिसंघट्ट - रहित, प्राणातिपातादि आस्रव रहित, स्त्री-तिर्यंच-नपुंसकरहित योग्य स्थान में पूर्वाह्ण या अपराह्ण (रात्रि या दिन के प्रथम और अंतिम प्रहर) में शुभ मन-वचन-काययुक्त, सामायिकादि आवश्यकक्रियासम्पादनपूर्वक प्रतिलेखनादि क्रियायुक्त, दशविधचक्रवालसमाचारीपालक साधक का दृढ मनोबलपूर्वक यथाशक्य कायोत्सर्ग, दण्डासन, वीरासन, आदि स्वस्थ शरीर पूर्वक सुखासन में सूत्र या अर्थ के वाचनादि आलंबनपूर्वक धर्माधर्म के विवेकदायक श्रुतधर्म और हिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि चारित्र धर्म का गहराई से चिन्तन करना धर्मध्यान कहलाता है।[23] धर्मध्यान-सूत्रार्थपर्यालोचन, दृढव्रतपालन, शीलगुणानुराग, सावद्यव्यापारत्यागादि बाह्य धर्मध्यान, और तज्जनित आत्मसंवेदना अभ्यन्तर धर्मध्यान है।[24]

अन्य प्रकार से धर्मध्यान के चार प्रकार हैं-

(1) आज्ञाविचय - पञ्चास्तिकाय, षड्जीवनिकाय, अष्ट प्रवचनमाता आदि का जिनप्रवचन में क्या स्वरुप है, वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों की आज्ञा क्या है, कैसी होनी चाहिए, इसका परीक्षापूर्वक निर्णय करना और उसका चिन्तन करना 'आज्ञाविचय' धर्मध्यान है। यदि साधक अल्पबुद्धि हो तो भी 'सर्वज्ञ के सिद्धान्त ही सत्य हैं' -एसा चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।[25]

(2) अपायविचय - राग-द्वेष-कषाय-आस्रवादि में प्रवर्तमान इस लोक-परलोक संबंधी विचार और मन-वचन-काय के दुष्ट योगों का स्वरुप एवं इन राग-द्वेषादि समस्त दोषों से कैसे छुटकारा हो, इसका सतत चिन्तन 'अपायविचय धर्मध्यान' कहलाता है।[26]

(3) विपाकविचय - ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के शुभाशुभ विपाक (फल) का मूल और उत्तर प्रकृति सहित प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और रस के भेद पूर्वक चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है।[27]

(4) संस्थानविचय - सर्वज्ञदर्शित लोक-द्वीप-समुद्रादि के स्वरुप का विचारपूर्वक चिन्तन करना 'संस्थानविचय' धर्म ध्यान है।[28]

अभिधान राजेन्द्र कोश में धर्मध्यान के (1) अपाय (2) उपाय (3) जीव (4) अजीव (5) विपाक (6) विराग (7) भव (8) संस्थान (9) आज्ञा और (10) हेतु-विचय (अपाय विचयादि) -ये दसभेद भी दर्शाये हैं, परन्तु इन दसों भेदों का उपरोक्त चारों भेदों में अन्तर्भाव होने से उसका यहाँ अलग विवरण नहीं दिया जा रहा है।[29]

धर्मध्यान से मनुष्य देवगति को प्राप्त करता है[30], तथा धर्मध्यान मोक्ष का हेतु है।[31] धर्मध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक होता है। इस अपेक्षा से भी जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में वर्णीजीने धर्मध्यान के चार भेद बताये हैं।[32]

शुक्लध्यान :-

ध्यान की यह सर्वोच्च निर्मल दशा है। जो चिन्तन आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करता है और आत्मा को शुद्ध व पवित्र बनाता है, वह शुक्लध्यान है।[33] शुक्लध्यान सिद्धगति का हेतु है।[34] अन्य ध्यानों के समान शुक्लध्यान के भी चार भेद किये गये हैं[35], यथा-

(1) पृथक्त्ववितर्क-सविचार - जब कोई ध्यान करनेवाला पूर्वधर हो, तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर, और पूर्वधर न हो तब अपने में संभावित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड, या आत्मरुप चेतन- एसे एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेद प्रधान चिन्तन करता है और यथा संभव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एकद्रव्यरुप अर्थ से शब्द के विषय में और शब्द से अर्थ के विषय में चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करता है तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोडकर अन्य योग का अवलंबन करता है - तब वह ध्यान पृथक्त्ववितर्क-सविचार कहलाता है।[36]

(2) एकत्ववितर्क-अविचार - जब कोई ध्यान करनेवाला अपने में संभावित श्रुत के आधार पर किसी भी एक ही पर्यायरुप अर्थ को लेकर उस के विषय में एकत्व (अभेद) प्रधान चिन्तन करता

21. तत्त्वार्थसूत्र 9/36 पर तत्त्वार्थभाष्य
22. अ.रा.पृ. 4/1663; 6/569
23. अ.रा.पृ. 4/1661 से 1665, 2716
24. अ.रा.पृ. 4/2716; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/476
25. अ.रा.पृ. 1/144, 4/2716; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/479
26. अ.रा.पृ. 1/804, 805 एवं 4/1666, 2716; मूलाचार-400; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/479
27. अ.रा.पृ. 4/1666, 2716 एवं 6/1234; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/480
28. अ.रा.पृ. 4/1666-67, 2716 एवं 7/128; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/480
29. अ.रा.पृ. 4/2716;जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/479, 480
30. अ.रा.पृ. 4/1632-2716; ज्ञानर्णव-3/32; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/484
31. तत्त्वार्थ सूत्र-9/29
32. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 2/481
33. अ.रा.पृ. 4/1661, 7/922-23; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/37
34. अ.रा.पृ. 4/1663,1672; ध्यान शतक-96; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/37
35. अ.रा.पृ. 7/722; तत्त्वार्थ भाष्य-9/46; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/32
36. अ.रा.पृ. 5/1066, 7/922; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/33

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और मन आदि तीन योगों में से किसी भी एक ही योग पर अटल रहकर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न-भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नहीं करता, तब वह ध्यान एकत्ववितर्क-अविचार कहलाता है।[37]

(3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान - जब सर्वज्ञ भगवान् योगनिरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर शेष अन्ययोगों को रोक लेते हैं, तब वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। कारण यह है कि उसमें श्वास-उच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाती है, और उसमें से पतन होने की संभावना नहीं रहती।[38]

(4) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान - जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बंद हो जाती हैं और आत्म प्रदेश सर्वथा निष्प्रकंप हो जाते हैं, तब वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है। कारण यह है कि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी प्रकार की भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया नहीं होती, और वह स्थिति नष्ट भी नहीं होती।

ध्यान के लक्षण[39]:-

आर्त ध्यान के चार लक्षण[39] :-

(1) क्रन्दनता - रोना, चीखना, (2) सोचनता - दीनता का अनुभव करना (3) तेपनता - आँसू ढलकाना (4) विलापनता - विलाप करना

रौद्र ध्यान के चार लक्षण[40] :-

(1) उत्सन्न दोष - हिंसा, मृषा प्रभृति दोषों में से किसी एक दोष में विशेषप्रवृत्तिशील रहना,

(2) बहुदोष - हिंसा, मृषादि अनेक दोषों में प्रवृत्त रहना,

(3) अज्ञान दोष - मिथ्या शास्त्र के संस्कारवश हिंसा आदि धर्म प्रतिकूल क्रिया - कलापों में धर्माराधना की दृष्टि से संलग्न/प्रवृत्त रहना

(4) आमरणान्त दोष - सेवित दोषों के लिए मृत्यु पर्यन्त भी पश्चाताप नहीं करना और उनमें निरन्तर प्रवृत्त रहना।

धर्म ध्यान के चार लक्षण[41] :-

(1) आज्ञा रुचि - वतीराग भगवान की आज्ञा में अभिरुचि/श्रद्धा होना।

(2) निसर्गरुचि - स्वभावतः धर्म में अभिरुचि होना।

(3) उपदेश रुचि - धर्मोपदेश सुनने में रुचि होना अथवा साधु या ज्ञानी के उपदेश में रुचि होना।

(4) सूत्र रुचि - आगम साहित्य में तत्त्वरुचि होना अथवा आगमों में श्रद्धा-विश्वास होना।

शुक्ल ध्यान के चार लक्षण[42] :-

(1) विवेक - शरीर से आत्मा की भिन्नता, आत्मा से सभी सांयोगिक पदार्थों का पृथक्करण, आत्मा एवं अनात्मा के पार्थिक्य की प्रतिती।

(2) व्युत्सर्ग - निःसंग भाव से देह एवं उपकरणों के विशेष से उत्सर्ग/त्याग। अर्थात् अपने अधिकारवर्ती भौतिक वस्तुओं से ममता का त्याग करना।

(3) अव्यथा - देव पिशाच आदि के द्वारा किये गए उपसर्ग से विचलित नहीं होना, व्यथा तथा कष्ट आने पर भी आत्मस्थ रहना।

(4) असंमोह - देवादिकृत माया-जाल में तथा सूक्ष्म भौतिक विषयो में संमूढ या विभ्रान्त नहीं होना।

विशेष ज्ञातव्य यहा है कि, ध्यान-साधना निरत पुरुष स्थूल रुप से भौतिक पदार्थों का त्याग किये हुए होते ही है। ध्यान के समय जब कभी इन्द्रिय विषय सम्बन्धी उत्तेजनात्मक भाव उठते है, तो उनसे भी साधक विचलित एवं विभ्रान्त नहीं होता।

उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में पहले के दो शुक्लध्यान संभव हैं। पहले दोनों शुक्ध्यान पूर्वधर के होते हैं। बाद के दो केवली के होते हैं। यह शुक्लध्यान,अनुक्रम से, तीन योग वाला, किसी एक योगवाला, काययोगवाला और योगरहित होता है। इसके प्रभाव से सर्वआस्रव का और बन्ध का निरोध होकर शेष सर्वकर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता हैं। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी प्रकार के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता, अतः वे दोनों अनालम्बन भी कहलाते हैं।[43]

ध्यान का अधिकारी :-

ध्यान के अधिकारी का लक्षण बताते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने कहा है- 'जो योगी जितेन्द्रिय धीर, प्रशान्त, स्थिर मनवाला और नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर कर सुखासन से अवस्थित है, वही ध्यान (धर्मध्यानादि) का अधिकारी हैं।[44]

ध्यान का साफल्य :-

ध्यानयोगी जब अपने लक्ष्य में मन को स्थित करता है, तभी ध्यान में तल्लीनता आती हैं। ध्यान में जब ध्याता, ध्याय और ध्यान -ये तीनों ही एकरुपता को प्राप्त हो जाते हैं, तब उस 'अनन्यचित्तविशुद्ध' मुनि को कोई दुःख नहीं होता।[45] जिस प्रकार चिरसंचित ईंधन को वायुयुक्त अग्नि शीघ्र जला देती हैं। अथवा हवा के झोंके से होते बादलों के विसर्जन की तरह ध्यानरुपी वायु से कर्मरुप बादल शीघ्र विसर्जित हो जाते हैं।[46]

व्युत्सर्ग :-

आभ्यन्तर तपों की श्रेणी में 'व्युत्सर्ग' अन्तिम तप है। व्युत्सर्ग तप बहुत ही कठोर है। व्याकरण के नियमानुसार 'वि' उपसर्ग और 'सृज् उत्सर्गे' धातु से 'व्युत्सर्ग' शब्द निष्पन्न होता है। 'वि' का अर्थ है विशिष्ट, और 'उत्सर्ग' का अर्थ है - त्याग, अर्थात् विशिष्ट त्याग। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'वि' शब्द विविध और विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[47] त्याग की विशिष्ट विधि को व्युत्सर्ग कहा जाता है। अभिधान राजेन्द्र कोश में इसकी एक परिभाषा देते हुए कहा गया है - खडे-खडे या बैठे हुए निश्चिताकार (जिनमुद्रा, पद्मासन, पर्यकासनादि) में एक स्थान पर मौन रहकर नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर कर ध्यान क्रिया के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं का त्याग करना 'कायोत्सर्ग'

37. अ.रा.पृ. 3/13, 7/922; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/34
38. अ.रा.पृ. 7/922, 1024; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/34-35
39. उववाइय सुत्तं-20 पृ. 96
40. वही पृ. 97
41. वही पृ. 98, 99
42. वही पृ. 102
43. अ.रा.पृ. 7/922, 457; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/35,36; तत्त्वार्थ सूत्र-9/38
44. अ.रा.पृ. 4/1673
45. अ.रा.पृ. 4/1673
46. अ.रा.पृ. 4/1672
47. अ.रा.पृ. 6/1123

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है। अतिचार-दोषों की 'शुद्धि' के लिए कायिक क्रियाओं का त्याग 'कायोत्सर्ग' है; अथवा काय के प्रति जो ममता विद्यमान है उसका त्याग कायोत्सर्ग है।[48] व्युत्सर्ग को कायोत्सर्ग भी कहते हैं। वर्णीजी के अनुसार बाहर में क्षेत्र, वास्तु आदि का और अभ्यन्तर में कषायादि का अथवा नियत या अनियत काल के लिए शरीर का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है, जिसका अपर नाम कायोत्सर्ग है।[49]

उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झणा, अवकिरण, छर्दन, विवेक, त्यजन (त्याग), उन्मोचन और परिशातना/शातना - ये कायोत्सर्ग के एकार्थवाची शब्द हैं।[50]

कायोत्सर्ग के भेद :-

कायोत्सर्ग तप में बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों प्रकार की वस्तुओं का त्याग किया जाता है। इस दृष्टि से व्युत्सर्ग दो प्रकार का है - द्रव्यव्युत्सर्ग और भाव-व्युत्सर्ग।[51] द्रव्य व्युत्सर्ग में गण/शरीरादि बाह्य वस्तुओं का त्याग होता है। भाव व्युत्सर्ग में क्रोधादि कषायादि आभ्यन्तर वस्तुओं का त्याग किया जाता हैं।[52] द्रव्य व्युत्सर्ग चार प्रकार का है - शरीर व्युत्सर्ग, गण व्युत्सर्ग, उपधि व्युत्सर्ग और भक्तपान व्युत्सर्ग।[53] भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद बताए गये हैं - कषाय व्युत्सर्ग, संसार व्युत्सर्ग और कर्म व्युत्सर्ग।[54]

शरीर व्युत्सर्ग - कायोत्सर्ग पूर्वक या कायोत्सर्ग में शरीर का त्याग करना, शरीर व्युत्सर्ग हैं।[55]

गण व्युत्सर्ग - गण (गच्छ) का त्याग करना, 'गण व्युत्सर्ग' कहलाता हैं।[56]

उपधि व्युत्सर्ग - उपधि अर्थात् अशुद्ध उपकरण अथवा अशुद्ध/अतिरिक्त आसन शयन, वस्त्र और पात्र का त्याग करना उपधि व्युत्सर्ग हैं।[57]

भक्तपान-व्युत्सर्ग - अन्न-जल अर्थात् भोजन-पानी का सर्वथा या आंशिक रुप से नियत या अनियत समय के लिये या यावज्जीव त्याग करना भक्त-पान व्युत्सर्ग हैं।[58]

कषाय व्युत्सर्ग - क्रोध, मान, माया और लोभ -इन चारें कषायों का त्याग करना 'कषाय व्युत्सर्ग' हैं।[59]

संसार व्युत्सर्ग - नरक-तिर्यंच-मनुष्य और सांसारिक कामभोगों का, भौतिक सुख-वैभव का त्याग करना 'संसार व्युत्सर्ग' हैं।[60]

कर्म व्युत्सर्ग - ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधहेतुओं का तथा ज्ञान-प्रत्यनीकादि का त्याग करना, कर्म व्युत्सर्ग हैं। 1. ज्ञानावरण 2. दर्शनावरण 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयु 6. नाम 7. गोत्र और 8.अंतराय -इन आठ कर्मो के भेद से आठ प्रकार का हैं।[61]

द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग :-

द्रव्य से गण, उपधि, शरीर, भक्त-पानादि का त्याग तथा आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग-द्रव्य व्युत्सर्ग है, और भाव से स्वस्थान का त्याग या धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीनता भाव व्युत्सर्ग हैं।[62] अभिधान राजेन्द्र में कायोत्सर्ग शब्द के अन्तर्गत अन्य तरह से भी दो प्रकार[63] दर्शाये हैं-

(1) **चेष्टा कायोत्सर्ग** - भिक्षाचर्या, गमनागमनादि संबंधी।

(2) **अभिभव कायोत्सर्ग** - उपसर्ग आने पर या दिव्यादि से अभिभूत होने पर किया जानेवाला कायोत्सर्ग

मूलाचार में और भगवती आराधना में व्युत्सर्ग के अन्य चार प्रकार बताये हैं[64]-

(1) **उत्थितोत्थित** : खडे-खडे धर्मध्यान और शुक्लध्यान रुप चिन्तन करना।

(2) **उत्थितनिविष्ट** : खडे-खडे आर्तध्यान और रौद्रध्यान रुप चिन्तन करना।

(3) **उपविष्टोत्थित** : बैठे-बैठे धर्मध्यान और शुक्लध्यान रुप चिन्तन करना।

(4) **उपविष्टोपविष्ट** : बैठे-बैठे आर्तध्यान और रौद्रध्यान रुप चिन्तन करना।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने कायोत्सर्ग के नौ प्रकार भी बताये है - (1) उत्सृतोत्सृत (2) उत्सृत (3) उत्सृतनिषण्ण (4) निषण्णोत्सृत (5) निषण्ण (6) निषण्णनिषण्ण (7) निष्पन्नोत्सृत (8) निष्पन्न (9) निष्पन्ननिपन्न।[65] -इनका विशेष विस्तार अभिधान राजेन्द्र, पृ. 3/407 से 410 से द्रष्टव्य हैं।

आचार्य जिनदास गणी महत्तरने कायोत्सर्ग के दो प्रकार बतलाये हैं -1. द्रव्य कायोत्सर्ग 2. भाव कायोत्सर्ग। शारीरिक चंचलता और ममता का परित्याग कर जिनमुद्रा में स्थिर होना कायोत्सर्ग कहलाता है। इसे द्रव्य कायोत्सर्ग भी कहते हैं। इसके बाद साधक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करता है। मन को पवित्र विचार और उच्च संकल्प से बांधता है जिससे उसे शारीरिक वेदना नहीं होती। वह शरीर में रहता हुआ भी शरीर से भिन्न चैतन्य का अनुभव करता है, यह भाव कायोत्सर्ग का प्राण है।

द्रव्य कायोत्सर्ग भाव कायोत्सर्ग तक पहुंचने की पूर्व भूमिका है। द्रव्य कायोत्सर्ग में बाह्य वस्तुओं का विसर्जन किया जाता है और भाव कायोत्सर्ग में कषायादि का त्याग किया जाता है।

कायोत्सर्ग करने की विधि :-

मन-वचन-काय की एकाग्रतापूर्वक एक स्थान पर स्थिर रहकर, मौनपूर्वक, धर्मध्यान/शुक्लध्यान पूर्वक दोनों पैरों के बीच में चार अंगुल अन्तर रखकर दाहिने हाथ में मुहपत्ती और बाँये हाथ में रजोहरण रखकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर 'नमो अरिहन्ताणं' बोलना चाहिए।[66] कायोत्सर्ग अभिमान, मोह,

48. अ.रा.पृ. 3/404; जैन सिद्धान्त कोश-3/620
49. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. 4/619,
50. अ.रा.पृ. 3/406
51. अ। अ.रा.पृ. 6/1123
52. अ.रा.पृ. 6/1123
53. अ.रा.पृ. 6/1123
54. अ.रा.पृ. 6/1123
55. अ.रा.पृ. 6/1123, 3/404
56. अ.रा.पृ. 3/821
57. अ.रा.पृ. 6/1123
58. अ.रा.पृ. 5/1365
59. अ.रा.पृ. 6/1123
60. वही
61. अ.रा.पृ. 3/342
62. अ.रा.पृ. 6/1123
63. अ.रा.पृ. 3/406
64. मूलाचार-973; भगवती आराधना-116/278/27; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/619; अ.रा.पृ. 3/407
65. अ.रा.पृ. 3/407
66. अ.रा.पृ. 3/408, 425, 426

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा आदि से रहित होकर करना चाहिए।[67]

कायोत्सर्ग का हेतु[68] :-

कायोत्सर्ग के हेतुओं का वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि पाप की विशेष आलोचना और निंदा करने के लिए, प्रायश्चित करने के लिए, चित्त को विशेष रुप से शुद्ध करने के लिए, चित्त को आलस्यरहित करने के लिए, पापकर्मो का संपूर्ण नाश करने के लिए तथा श्री अरिहंत की प्रतिमाओं की आराधना के लिए, वंदन-पूजन-सत्कार-सम्मान के लिए, बोधिलाभ के लिए, निरुपसर्ग-मोक्ष के लिए, श्रुतज्ञान की आराधना के लिए और चारित्र की विशुद्धि के लिए बढती हुई श्रद्धा-मेघा(प्रज्ञा), - धैर्यधारणा (ध्येय का स्मरण) और अनुप्रेक्षा (बार-बार चिंतन करना) पूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता हैं।

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है - आत्मा और शरीर का भेदज्ञान। काया के साथ आत्मा का जो संयोग है, उसका मूल है प्रवृत्ति। जो इनका विसंयोग चाहता है अर्थात् आत्मा के सान्निध्य में रहना चाहता है वह स्थान (आसन) मौन और ध्यान के द्वारा कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति करता है। कायोत्सर्ग द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियां निवृत होती हैं। कायगुप्ति से संवर या पापाश्रवों का निरोध होता है।[69]

कायोत्सर्ग का प्रमाण[70] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में कायोत्सर्ग तप का वर्णन करते समय आचार्यश्रीने कार्य-कारण के अनुरुप कायोत्सर्ग के समय का प्रमाण बताते हुए कहा है कि कायोत्सर्ग दो प्रकार के हैं - नियत और अनियत[71]।

(1) नियत कायोत्सर्ग :-

'देवसिअ' आदि प्रतिक्रमण में दिवस, रात्रि आदि संबंधी प्रायश्चित हेतु किये जानेवाले कायोत्सर्ग नियत कायोत्सर्ग कहलाते हैं। उसका प्रमाण बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है[72] कि जैनागमों में दिवस संबंधी प्रतिक्रमण का 100 श्वासोच्छ्वास अर्थात् -चार 'लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा' तक; रात्रि संबंधी प्रतिक्रमण का 50 श्वासोच्छ्वास एवं कुसुमिण (कुस्वप्न) 50 श्वासोच्छ्वास और यदि दुसुमिण (दु:स्वप्न आया हो तो) 58 श्वोसोच्छ्वास[73] - इस प्रकार 100 या 108 श्वोसोच्छ्वास तक; पाक्षिक प्रतिक्रमण का 300 श्वासोच्छ्वास (12 'लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा' तक) चातुर्मासिक प्रतिक्रमण का 500 श्वासोच्छ्वास (20 'लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा' तक) और सांवत्सरिक (वार्षिक) प्रतिक्रमण का 1008 श्वासोच्छ्वास (40 'लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा' तक और एक नवकार अधिक) प्रमाण कायोत्सर्ग करने का विधान हैं।

(2) अनियत कायोत्सर्ग[74] :-

जो कायोत्सर्ग किसी क्रिया करने पर में उसके द्वारा लगे अतिचार दोषों की शुद्धि हेतु किया जाता है, उसे अनियत कायोत्सर्ग कहते हैं। गमनागमन संबंधी, मल-मूत्र (उच्चार-प्रसवण) का त्याग करने पर, अनिष्टसूचक स्वप्नदर्शन होने पर, प्रयोजनवश शास्त्रोक्त विधिपूर्वक नदी उतरने पर, या प्रयोजनवश नाव से नदी या समुद्र पार करने पर, गोचरी (आहार-चर्या) लाने पर, पानी लाने पर, विश्राम हेतु बिना प्रतिलेखन (पडिलेहण) किये आसन, शय्या (संथारा, पाट) आदि के प्रतिलेखन, प्रमार्जन हेतु, जिनालय में जाने पर, बाहर से उपाश्रय (या जहाँ साधु/साध्वी ठहरे हैं, उस स्थान) में आने पर, 25 श्वासोच्छ्वास (एक 'लोगस्स चंदेसु निम्मलयरा' तक) प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

सूत्रों के विषय में उद्देश्य, समुद्देश, अनुज्ञा, प्रस्थापन, प्रतिक्रम, श्रुतस्कन्ध के अङ्ग के परिवर्तनादि में अविधिपूर्वक आचरण के त्याग हेतु 27 श्वासोच्छ्वास (एक 'लोगस्स सागरवरगंभीरा' तक) प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के आगार[75] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने 'कायोत्सर्ग' के सोलह आगार (छूट) बताये हैं-

(1) साँस लेने से (2) साँस छोडने से (3) खाँसी आने से (4) छींक आने से (5) जम्हाई (उबासी) लेने से (6) डकार आने से (7) अपान वायु नि:सरण से (8) चक्कर आने से (9) पित्त के कारण मूर्च्छा आने से (10) सूक्ष्म अङ्ग संचार होने से (11) सूक्ष्म रीति से शरीर में कफ तथा वायु का संचार होने से (12) सूक्ष्म दृष्टि होने से अर्थात् थोडी सी नजर हिलने से (तथा 'एवमाइएहिं' पद से चार अन्य) (13) आग लग जाय या बिजली या अन्य अग्नि के प्रकाश की प्रकाश उज्जेइ, (उद्योत) लग (पड) जाय (14) कोई हिंसक प्राणी सामने आ जाय (15) चोर आदि का भय उपस्थित होने पर अथवा राजादि पकडकर ले जाये तो (16) स्वयं को या अन्य साधु को सर्प दंश दे (काटे) तो अर्थात् उपरोक्त परिस्थिति में कायोत्सर्ग में शरीर चलायमान हो जाय या अग्नि आदि की ज्योति लगने की स्थिति में कामली (ऊनी शाल-'कम्बलिका') आदि ओढी जाय अथवा 'आग लगने' आदि कारणों की स्थिति में शब्दोच्चारण हो जाय या बोलना पडे या स्थान परिवर्तन करना पडे तो कायोत्सर्ग का भङ्ग नहीं होता - एसी पूर्वाचार्यों की आज्ञा है।

कायोत्सर्ग के 19 दोष[76]:-

1. **घोटक दोष** - घोडे की तरह एक पाँव उपर उठाकर/लंगडा करके खडे रहना।
2. **लता दोष** - लता/बेल की भाँति इधर-उधर घूमना।
3. **स्तम्भकुड्य** - खम्भे या दीवाल की तरह अकडकर या उसके सहारे खडे रहना।
4. **माल दोष** - सिर ऊँचा करके अपनी मञ्जिल या किसी वस्तु का आश्रय कर के खडे रहना।
5. **शबरी दोष** - भील की स्त्री की भाँति (तरह) अपने गुह्यस्थान को अपने हाथ से ढकते हुए खडे रहना।
6. **वधू दोष** - वधू की तरह सिर नीचा करके खडे रहना।

67. वही, पृ.-3/406
68. अ.रा.पृ. 3/410, 416, 422, 423, 415; -दो प्रतिक्रमण सूत्र (सार्थ)
69. उत्तराध्ययन-29/55
70. अ.रा.पृ. 3/422 से 425
71. अ.रा.पृ. 3/422
72. अ.रा.पृ. 3/422, 423, 425
73. धर्मसंग्रह भाषांतर भा. 1 पृ. 590
74. अ.रा.पृ. 3/423
75. अ.रा.पृ. 3/411, 414
76. अ.रा.पृ. 3/426

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. **निगड दोष** - बेडी से जकडे हुए मनुष्य की तरह खडे रहना।
8. **लम्बोतर दोष** - चोलपट्टे को जानु से नीचे या डूंटी से उपर या अव्यवस्थितरुप से रखकर कायोत्सर्ग करना।
9. **स्तन दोष** - स्त्री की भाँति वस्त्र से स्तन (सीने) को ढँककर कायोत्सर्ग करना।
10. **ऊर्द्धिका दोष** - पैर के पंजों के अंगूठे को बाहर की ओर फैलाना बहि: शकटोर्द्धिका और अंदर की ओर फैलाना अभ्यन्तर शकटोर्द्धिका दोष हैं।
11. **संयती दोष** - साध्वी की तरह ऊपरी वस्त्र (चद्दर, खेस) आदि से कन्धे को ढँककर कायोत्सर्ग करना।
12. **खलीन दोष** - लगाम से पीडित घोडे की तरह मुँह हिलाते हुए या सिर हिलाते हुए या रजोहरण को आगे रखकर कायोत्सर्ग करना खलीन दोष हैं।
13. **वायस दोष** - दृष्टि को इधर-उधर घुमाते हुए चलायमान चित्त से कायोत्सर्ग करना।
14. **कपित्थ दोष** - गोलाई में घूमते हुए या जंघादि के बीच वस्त्रों को रखकर या मुट्ठी बाँधकर कायोत्सर्ग करना।
15. **शीर्षोत्कम्पित दोष** - सिर को हिलाते/कम्पायमान करते हुए कायोत्सर्ग करना।
16. **मूक दोष** - कायोत्सर्ग के निकटवर्ती स्थान में हरी वनस्पत्यादि का छेदन भेदन होने पर गूँगे की तरह हुँकार करते हुए कायोत्सर्ग करना।
17. **अङ्गुलिभ्रू दोष** - कायोत्सर्ग में सूत्र (लोगस्स, नवकारादि) की संख्या गिनने हेतु अंगुली हिलाना, अंगुली चलाना, चुटकी बजाना, भौंहे टेढी करना या भौंहे नचाना।
18. **वारुणी दोष** - कायोत्सर्ग में बड-बडाहट करना या शराबी की तरह शरीर को दोलायमान करना।
19. **प्रेक्षा दोष** - कायोत्सर्ग में ओष्ठ आदि को चलाना।

अन्य कोई आचार्य इनमें स्तंभ दोष और कुड्य दोष तथा अङ्गुलि और भ्रु दोष को अलग-अलग गिनने के साथ इक्कीस दोष भी मानते हैं।[77] इनमें से स्त्री को वधू दोष, संयती दोष और स्तन दोष नहीं लगते।

अन्य कोई आचार्य बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना, शरीर-स्पर्श करना, प्रपञ्चपूर्वक कायोत्सर्ग करना, सूत्रोक्त विधि से न्यून विधि से कायोत्सर्ग करना, व्याक्षेपपूर्वक कायोत्सर्ग करना, आसक्त लोभाकुल चित्त से या पापकार्योद्यमपरक कायोत्सर्ग करना या कृत्याकृत्य की विमूढतापूर्वक कायोत्सर्ग करना - आदि को कायोत्सर्ग के दोष मानते हैं।[78]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में कहा है कि भगवती आराधना में (1) घोटक पाद (2) लतावक्र (3) स्तम्भ स्थिति (4) स्तम्भावष्टम्भ (5) कुड्याश्रित (6) मालिकोद्वहन (मालदोष) (7) लम्बिताधर (प्रेक्षा दोष) (8) स्तनदृष्टि (9) काकावलोकन (10) खलीनित (11) युगकन्धर (कन्धे झुकाना) (12) कपित्थमुष्टि 913) मूक संज्ञा (14) अंगुलिचालन (15) भ्रूक्षेप (16) शबरीगुह्यगूहन (17) श्रृंखलित (18) उन्मत - ये कायोत्सर्ग के अठारह दोष दर्शाये हैं।[79]

कायोत्सर्ग के लाभ :-

कायोत्सर्ग की अनेक उपलब्धियां हैं-

1. **देहजाड्यशुद्धि** - श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जडता नष्ट हो जाती है।
2. **परमलाघव** - शरीर बहुत हल्का हो जाता है।
3. **मतिजाड्यशुद्धि** - जागरुकता के कारण बुद्धि की जडता नष्ट हो जाती है।
4. **सुख-दु:ख तितिक्षा** - सुख-दु:ख को सहने की क्षमता बढती है।
5. **अनुप्रेक्षा** - अनुचिन्तन के लिए स्थिरता प्राप्त होती है।
6. **ध्यान** - मन की एकाग्रता सधती है।[80]

अनुयोगद्वार में कायोत्सर्ग को व्रण चिकित्सा कहा है।[81] साधना में सतत जागरुकता के बाद भी प्रमादवश जो दोष लग जाते हैं, उन दोष रुप घावों की चिकित्सा के लिये कायोत्सर्ग का प्रावधान महत्त्वपूर्ण है। संयमी जीवन को परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, अपने आपको विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदानशल्य से मुक्त करने के लिए, पापकर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[82]

शरीर शास्त्रीय दृष्टि से कायोत्सर्ग प्राणऊर्जा का संचय करता है। इसके द्वारा ऐच्छिक संचलनों का संयमन होता है। आगम प्रेरणा देते हैं कि साधक हाथों का संयम, पैरों का संयम, वाणी का संयम तथा इन्द्रियों का संयम करें जिससे प्राण ऊर्जा को संग्रहीत कर उसे चेतना से ऊध्वारोहण में लगा सके।

कायोत्सर्ग द्वारा उच्च रक्तचाप, दिल का दौरा, नाडीतंत्रीय अस्त-व्यस्तता, पाचनतंत्रीय वर्ण, अनिद्रा, तनावजनित रोगों की रोकथाम एवं उपचार किया जा सकता है। तनाव-जनित बीमारियों का कारण है तनाव की निरन्तरता एवं तीव्रता। तनाव विकल्पों के लिए ऊर्वरा भूमि है। मानसिक तनाव, स्नायविक तनाव, भावनात्मक तनाव इनको मिटाना, इनकी ग्रंथियों को खोल देना कायोत्सर्ग का कार्य है।

तप के अन्य प्रकार :-

बारह प्रकार के तपों के अतिरिक्त प्रस्तुत कोश में आजीविको के चार प्रकार के तप का भी वर्णन उपलब्ध होता है। यथा आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णते। तं जहा-उग्ग तवे घोर तवे, रसनिज्जूहणया, जिम्भिदिय पडिसंतीव्या।[84]

आजीविकों के मतानुसार तप चार प्रकार का होता हैं। वह निम्न हैं-

(1) **उग्र तप** - जो आचरण में कठिन हों।
(2) **घोर तप** - जो दिखने में कठिन हो।
(3) **रसनिर्यूहण तप** - स्वादिष्ट वस्तु न लेना।
(4) **जिह्वेन्द्रिय तप/प्रतिसंलीनता तप** - रसनेन्द्रियों के विषयों का संकोच करना।

77. अ.रा.पृ. 3/426
78. अ.रा.पृ. 3/427
79. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/621, 622; अनगारधर्मामृत 8/112 से 119; भगवती आराधना-116/279/8
80. आवश्यक निर्युक्ति-1462
81. अनुयोगद्वार 74 (नवसुत्ताणि, भाग-5, पृ. 15)
82. आवश्यक सूत्र 5/3 (नवसुत्ताणि, भाग-5, पृ. 15)
83. दशवैकालिक 10/5
84. अ.रा.पृ. 4/2205; स्थानांग-4/2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गीता के मन्तव्यानुसार तप के स्वरुप व उसके उद्देश्य को दृष्टिपथ में रखकर तप का जो वर्गीकरण किया गया है, वह इस प्रकार हैं -1. शारीरिक तप 2. वाचिक तप 3. मानसिक तप।[85] शारीरिक से वाचिक और वाचिक से मानसिक तप श्रेष्ठ माना गया है, और यह तप जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रुप से निर्जरा का कारण हैं।[86] गीता के अनुसार तीनों तप यदि निष्काम वृत्ति से (फाकांक्षा से रहित होकर) दृढ श्रद्धा के साथ किये जाते हैं, वे सात्त्विक तप है[87], जो उत्कृष्ट व प्रथम श्रेणी के हैं और निर्जरा करनेवाले हैं।

यदि वह तप सत्कार-मान सम्मान एवं पूजा प्रतिष्ठा आदि प्राप्त करने के प्रयोजन से दम्भपूर्वक किया जाता है तो राजस तप है[88], जो मध्यम श्रेणी का हैं।

जो तप मूढतापूर्वक हठ से तथा मन, वचन और काय की पीडा सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह 'तामस तप' कहाता हैं[89], जो जघन्य श्रेणी का हैं।

तप से विविध लाभ एवं उद्देश्य :-

तपोमूला हि सिद्धयः। समस्त सिद्धियाँ तपमूलक हैं। सब की जड तप है। तप में अद्भूत, अचिन्त्य, अनुपम शक्ति सन्निहित है। इसकी शक्ति के समक्ष अन्य शक्तियाँ परास्त हो जाती हैं। इसमें इतनी शक्ति समाहित है कि इसके द्वारा सर्व प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं।[90]

तपश्चरण के द्वारा तीर्थङ्करत्व, चक्रवर्तित्व आदि समस्त पद भी प्राप्त होते हैं। तप से असंख्य, अगणित, लब्धियाँ, शक्तियाँ, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उपब्ध होती हैं। इसलिए प्रवचनसारोद्धार में कहा गया है- **परिणामतववसेणं इमाइं हुंति लद्धीओ**।[91] - जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे सब तप का ही परिणाम हैं।

तप साधना से आत्मा में अद्भुत ज्योति प्रदीप्त होती है और एक विचित्र अलौकिक शक्ति जागृत होती हैं। "**भवकोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ**"।[92] अर्थात् साधक करोडों जन्मों के संचित कर्मो को तपश्चकरण के द्वारा क्षीण कर देता है अतः कहा गया है - "**तवसा धुणई पुराण पावगं।**"[93] अर्थात् तपश्चर्या से पूर्वकृत पाप कर्म नष्ट हो जाते हैं। तपश्चरण से सम्यग्दर्शन शुद्ध होता हैं और आत्मा का ज्ञान दर्शन-चारित्र निर्मल, निर्मलतर होता जाता हैं।

वैदिक ग्रंथो में भी तप से महान् फल की प्राप्ति का उल्लेख किया गया हैं। तपश्चरण के द्वारा मन पर विजय करने की ज्ञानशक्ति प्राप्त होती हैं। तप से मन वश में होता है। मन वश में हो जाने से दुर्लभ आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती हैं और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से मुक्ति मिलती है, और इस प्रकार तप से आत्मा कर्म बंधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती हैं।[94]

अभिधान राजेन्द्र कोश में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के संवाद को उद्धृत किया गया है, गौतम पूछते हैं - "तवेण भन्ते! जीवे किं जणयइ?"[95] हे भगवान्! तप करने से किस फल की प्राप्ति होती है? तब भगवान् महावीर प्रत्युत्तर देते हैं - "**तवेणं वोयाणं जणयई।**"[96] - तप से व्यवदान (कर्मो की निर्जरा) होता है। व्यवदान का अर्थ है - दूर हटना या छोडना। 'व्यवदान' का शाब्दिक अर्थ करते हुए प्रस्तुत कोश में कहा गया है - तपसा **जीवो व्यवदानं जनयति, पूर्वबद्धकर्मापगमनेन विशेषेण शुद्धिं जनयति**।[97] - आत्मा तपश्चरण के द्वारा कर्मो को दूर हटाता है, कर्मो का क्षय करता है, कर्मो की निर्जरा करता है। अतः तप का फल निर्जरा हैं।[98]

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचारी और रस परित्याग-निर्जरा के इन प्रकारों का हमारे जीवन के साथ गहरा संबंध है। इनके प्रयोग से शरीर में संचित विषैले रसायन (Toxic) खत्म होते हैं। आसन, प्राणायाम, अन्य यौगिक क्रियायें चंचलता के सन्दर्भ में शरीर और मन को साधती हैं। प्रतिसंलीनता में मन और इन्द्रियों का निग्रह होता है। बाह्य तप द्वारा व्यक्ति के भीतर अनेक ऐसे रसायन पैदा होते हैं जिसके द्वारा व्यक्तित्व में निम्न गुणों का प्रकटीकरण होता हैं :-

- सुख की भावना स्वयं परित्यक्त हो जाती है।
- शरीर कृश हो जाता है।
- आत्मा संवेग में स्थापित होती है।
- इन्द्रिय-दमन होता है।
- समाधि योग का स्पर्श होता है।
- वीर्यशक्ति का सम्यक् उपयोग होता है।
- जीवन की तृष्णा विच्छिन्न होती है।
- संक्लेश-रहित दुःख भावना (कष्ट-सहिष्णुता) का अभ्यास बढता है।
- देह, रस और सुख का प्रतिबन्ध नहीं रहता।
- कषाय का निग्रह होता है।
- विषय-भोगों के प्रति अनादर (उदासीन) भाव उत्पन्न होता है।
- समाधि मरण की ओर गति होती है।
- आहार के प्रति आसक्ति क्षीण होती है।
- आहार की अभिलाषा के त्याग का अभ्यास होता है।
- अशुद्धि बढती है।
- लाभ और अलाभ में सम रहने का अभ्यास सधता है।
- ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है।
- निद्रा-विजय होती है।
- ध्यान की दृढता प्राप्त होती है।
- वियुक्ति (विशिष्ट त्याग) का विकास होता है।
- दर्प का नाश होता है।
- स्वाध्याय योग की निर्विघ्नता प्राप्त होती है।
- सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति बनती है।
- आत्मा, कुल, गण, शासन - सबकी प्रभावना होती है।

85. अ.रा.पृ. 4/2205; भगवद् गीता-17/14-15-16
86. अ.रा.पृ. 4/2205; गच्छाचार पयन्ना सटीक-2 अधिकार
87. अ.रा.पृ. 4/2205; भगवद् गीता-17/17
88. अ.रा.पृ. 4/2205; भगवद् गीता-17/18
89. अ.रा.पृ. 4/2205; भगवद् गीता-17/19
90. जयन्तसेन सतसई, पृ.25
91. प्रवचन सारोद्धार, द्वार 270, गाथा 1492
92. अ.रा.पृ. 1/321, 4/2200; उत्तराध्ययन-30/6
93. अ.रा.पृ. 4/2207, 5/1566; दशवैकालिक-9/4/10 एवं 10/7
94. यजुर्वेदीय मैत्रायणी आरण्यक 4/3
95. अ.रा.पृ. 4/2205; उत्तराध्ययन-29/27
96. अ.रा.पृ. 4/2205; उत्तराध्ययन-29/27
97. अ.रा.पृ. 4/2205; उत्तराध्ययन सूत्र सटीक-29/27
98. अ.रा.पृ. 6/337; आचारांग सूत्र सटीक-1/2/1

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- आलस्य का त्याग होता है।
- कर्म-मल का विशोधन होता है।
- दूसरों को संवेग उत्पन्न होता है।
- मिथ्यादृष्टियों में भी साम्यभाव उत्पन्न होता है।
- मुक्ति का मार्ग प्रकाशन होता है।
- तीर्थंकर आज्ञा की आराधना होती है।
- देह-लाघव प्राप्त होता है।
- शरीर-स्नेह का शोषण होता है।
- रागादि का उपशम होता है।
- आहार की परिमितता होने से निरोगता बढती है।
- संतोष बढता है।[99]

आन्तरिक तपस्या आत्मशोधन के लिए महत्त्वपूर्ण है, इसके द्वारा जीवन में निम्न शीलगुणों का वैशिष्ट्य आता है:

भावशुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य-मुक्ति, धार्मिक-दृढता आदि प्रायश्चित के परिणाम हैं। ज्ञान-लाभ, आचार-विशुद्धि, सम्यक्-आराधना आदि विनय के परिणाम हैं।

चित्त-समाधि का लाभ, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि वैयावृत्य के परिणाम हैं।

प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्ट संवेग का उदय, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचार-विशुद्धि, सन्देह-नाश, मिथ्यावादियों के भय का अभाव आदि स्वाध्याय के परिणाम हैं।[100]

कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दु:खों से बाधित न होना; सर्दी-गर्मी-भूख-प्यास आदि शरीर को प्रभावित करनेवाले कष्टों से बाधित न होना ध्यान के परिणाम हैं।[101]

निर्ममत्व, निर्भयता, जीवन के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्ष-मार्ग में तत्परता आदि व्युत्सर्ग के परिणाम हैं।[102]

तप:समाधि के चार भेद :-

सम्पूर्ण जैनागमों के अनुरुप ही राजेन्द्र कोश में तप: समाधि को प्राप्त करने के लिए भौतिक प्रयोजनवश तपश्चरण का निषेध करते हुए एकान्त कर्मक्षय के उद्देश्य से तप का विधान किया गया है। तप:समाधि चार प्रकार की होती है, यथा -1. इहलोक के लिए तप न करे, 2. परलोक के लिए तप न करे, 3. कीर्ति[103], वर्ण[104], शब्द[105] और इहलोक[106] (प्रशंसा) के लिए भी तप न करे, 4. कर्मनिर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप न करे[107]। इसका तात्पर्य यह है कि साधक को कर्म-क्षय करने की दृष्टि से ही पूर्वोक्त बारह प्रकार के तपों का आचरण करना चाहिए -"निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।" प्रस्तुत उद्धरण में साधक को पौद्गलिक प्रतिफल की आशा/आकांक्षा से रहित (निष्काम) तप करने का संकेत किया गया है। इसी संदर्भ में कहा गया है -"नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।"[108] -अर्थात् तप से पूजा-प्रतिष्ठादि की कामना न करे, क्योंकि सम्मान-पूजा प्रतिष्ठा से तप नष्ट हो जाता है।[109] अत: तपश्चरण करने का एकमात्र पवित्र लक्ष्य-ध्येय यही होना चाहिए - कर्म निर्जरा और आत्मशुद्धि। निर्जरा का और मोक्ष का प्रमुख साधन तप ही है।

99. मूलाराधना 3/237-244
100. तत्त्वार्थ 9/22-25. श्रुतसागरीय वृत्ति
101. ध्यानशतक, 105-106
102. तत्त्वार्थ 9/26. श्रुतसागरीय वृत्ति
103. सर्वदिग्व्यापी साधुवाद: कीर्ति: ।-अ.रा.पृ. 4/2206; दशवैकालिक सटीक-9/4
104. एक दिग्व्यापी वर्ण: ।-वही
105. अर्धदिग्व्यापी शब्द: ।-वही
106. तत्स्थान एवं श्लाघा। -वही
107. अ.रा.पृ. 4/2206; दशवैकालिक सटीक-9/4
108. अ.रा.पृ. 4/2204; सूत्रकृतांग-1/7/27
109. आपस्तम्ब स्मृति-10/9

कुतस्तु सौख्यम् ?

द्वे वाससी प्रवरयोषिदपायशुद्धा,
शय्यासनं करिवरस्तुरगो रथो वा।
काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा,
राज्ञ: पराक्यमिव सर्वमवेहि शेषम् ।।1।।
पुष्ट्यर्थमन्नमिह यत्प्रणिधिप्रयोगै:, सं
त्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्क्ते।
यन्निर्भय: प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं,
तत् स्वादुतां, भृशमुपैति न पार्थिवाऽन्नम् ।।2।।
भृत्येषु मन्त्रिषु सुतेषु मनोरमेषु,
कान्तासु वा मधुमदाङ्कुरितेक्षणासु।
विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीश:,
सर्वाभिशङ्कितमते: कुतस्तु सौख्यम् ।।3।।

- अ.रा.पृ. 2/207

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध श्रमणाचार का फल

अभिधान राजेन्द्र कोश में शुद्ध श्रमणाचार का फल के विषय में कहा है - 'लोक व्यवहार से रहित साधु को जितना सुख प्राप्त होता है वह चक्रवर्ती या देवेन्द्र को भी प्राप्त नहीं होता।'[1] अबद्ध आयु शुद्ध सम्यक्त्वी उन श्रमणों मे से कई दुष्कर तथा दु:सह (उपसर्ग, परिषह आदि) को सहन कर कई देवलोक में जाते हैं और कई कर्मरज से मुक्त होकर उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं या देवलोक से पुन: वे निर्ग्रन्थ श्रमण संयम और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मो का क्षय करके तीन, सात या आठ भव में या अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन काल[2] में मुक्त हो जाते हैं।''[3]

संयम और तप के द्वारा पूर्व के असंख्य भवों द्वारा संचित कर्मक्षय के नाश की विधि को दृष्टांत से समझाते हुए आचार्यश्री ने राजेन्द्र कोश में कहा है -''जिस प्रकार किसी बडे सरोवर का जल खत्म करने के लिए सर्वप्रथम जल के आने के मार्ग रोके जाते हैं, तत्पश्चात् कुछ पानी उलेचकर बाहर फेंका जाता है और कुछ सूर्य की तेज धूप से सूख जाता है। इस प्रकार सरोवर का समूचा जल सूख जाता है, उसी तरह संयमी पुरुष व्रतादि के द्वारा नये कर्मास्रवों को रोक देता हैं और पुराने करोडों भवों से संचित कर्मो को तप के द्वारा सर्वथा क्षीण कर देते हैं।[4] इसी प्रकार जैसे सूखे खोखे काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती हैं; उसी तरह निष्ठा के साथ आचार का पालन करने वाला साधक कर्मो को नष्ट कर डालता हैं।[5]

आचार प्रणिधि और उसका फल :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने आचार के साथ ही आचार-प्रणिधि एवं आचार-समाधि का भी वर्णन किया हैं।

आचार-प्रणिधि अर्थात् इन्द्रियों और मन को आचार में सुप्रणिहित/एकाग्र करना। जिस तरह संपत्ति को खजाने में सुरक्षित रखा जाता हैं, वैसे ही आचार रुपी संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिए 'आचार-प्रणिधि' अर्थात् आचार की उत्कृष्ट निधि (कोषागार) हैं।

आचार रुप निधि जिस साधक/श्रमण को उपलब्ध हो जाती है; उसके जीवन का आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार अन्य साधकों की अपेक्षा भिन्न हो जाता है। उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-इत्यादि सब विवेकयुक्त होता है। इन्द्रिय-संयम श्रमण-जीवन का अनिवार्य कर्तव्य है। स्थूल रुप से पूर्वोक्त आचार-पालन भी सहज हैं परन्तु अन्तरंग से आचार में निष्ठा/आस्था और एकाग्रतापूर्वक प्रवृत्ति करना कठिन हैं।[6]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार-प्रणिधि का फल बताते हुए कहा है - आचार-प्रणिधि के फलस्वरुप संयमी जीवन यापन करने वाले श्रमण को एहलौकिक वा पारलौकिक तीन उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. कषाय - विषय आदि से अपनी रक्षा करने और कर्म शत्रुओं को हटने में समर्थ हो जाता हैं।[7]

2. अग्नि - तप्त स्वर्ण की तरह पूर्वकृत कर्म-मल से रहित हो जाता है।[8]

3. अभ्र - पटल मुक्त चन्द्रमा की भाँति कर्मपटलमुक्त सिद्ध आत्मा बन जाता हैं।[9]

आचार-समाधि :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'आचार-समाधि' की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है- जिस आचार के द्वारा आत्मा का हित होता हो, वह है आचार-समाधि। राजेन्द्र कोश में इसके चार भेद बताये हैं[10] - चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ। तं जहा-

1. नो इहलोगट्ठाए आयारमहिट्ठिज्जा।

2. नो परलोगट्ठाए आयारमहिट्ठिज्जा।

3. नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठाए आयारमहिट्ठिज्जा

4. नन्नत्थ आरहंतेहि हेउहि आयारमहिट्ठिज्जा।

आचार-समाधि को प्राप्त करने के लिए विभिन्न भौतिक प्रयोजनवश आचार-पालन का निषेध करते हुए कहा है - साधक के आचार का पालन एकमात्र वीतराग - पद की प्राप्ति के उद्देश्यों (आर्हत-हेतुओं) के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के ऐहिक अथवा पारलौकिक सुख-समृद्धि, भोगोपभोग, सांसारिक स्वार्थ-सिद्धि, कीर्ति, श्लाघा आदि उद्देश्यों को लेकर नहीं करना चाहिए।

आचार-समाधि का फल बताते हुए राजेन्द्र कोश में कहा है - ''जो जिनवचन में रत है, क्रोध से नहीं भन्नाता (प्रभावित नहिं होता), सूत्र ज्ञान से परिपूर्ण है और जो अतिशय मोक्षार्थी है, वह दान्त मुनि आचार-समाधि द्वारा आस्रव-निरोध करके अपनी आत्मा को मोक्ष के अतिनिकट करने वाला होता हैं।[11]

आचार का सार[12] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार का सार बताते हुए कहा है **- जिनवाणी (द्वादशांगी-सकल वाङ्मय) का सार एवं आधार आचार है, आचार ही मोक्ष का प्रधान हेतु है। जिनाज्ञा-पालन आचार का सार है। जिनाज्ञा-पालन का सार प्रस्मणा अर्थात् वस्तु स्वस्म का सत्य प्रतिपादन करना है। अर्थात् अज्ञ जीवों को सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना है। प्रस्मणा का सार चरण अर्थात् आचरण और आचरण का सार निर्वाण है। निर्वाण का सार अव्याबाध सुख हैं।**

1. अ.रा.पृ. 7/803
2. अ.रा.पृ. 1/271
3. अ.रा.पृ. 1/313; दशवैकालिक सूत्र 3/14,15
4. अ.रा.पृ. 4/2199, 2200; उत्तराध्ययनसूत्र 30/5-6
5. अ.रा.पृ. 7/494; आचारांग निर्युक्ति 234
6. अ.रा.पृ. 2/386; 'आयार-पणिहि' शब्दे
7. अ.रा.पृ. 2/387; दशवैकालिक सूत्र 8/62
8. अ.रा.पृ. 2/387; दशवैकालिक सूत्र 8/63
9. अ.रा.पृ. 2/387; दशवैकालिक सूत्र 8/64
10. अ.रा.पृ. 2/389; दशवैकालिक सूत्र 9/4/7
11. अ.रा.पृ. 2/389; दशवैकालिक सूत्र-9/4/5
12. अ.रा.पृ. 2/372; आचारांग निर्युक्ति-16

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ख. श्रावकपरक शब्दावली

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'श्रावक' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है - "**श्रृणोति जिनवचनमिति श्रावकः।**" अर्थात् जो जिनेश्वर भगवान के वचनों को श्रद्धापूर्वक (जीवन में उतारने के लिए) सुनता है; वह श्रावक है।[1]

अथवा

"**अवाप्तदृष्ट्यादिविशुद्धिसम्पत्, परं समाचारमनुप्रभातम्।**
श्रृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमी जिनेन्द्राः॥[2]

अर्थात् प्राप्त की हुई सम्यग्दृष्टि आदि विशुद्धि संपत्तियुक्त साधुजन के पास से जो प्रतिदिन प्रभात में आलस्य रहित होकर उत्कृष्ट/श्रेष्ठ समाचारी अर्थात् जिनसिद्धान्त को सुनता है उसे जिनेन्द्र भगवान 'श्रावक' कहते हैं ।

अथवा

"**श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तनाद्धनानि पात्रेषु वपन्त्यनारतम्।**
किरन्त्यपुण्यानि सुसाधुसेवनादयापि तं श्रावकमाहुरञ्जसा।"[3]

श्राति-पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीत वाः, तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवति[4]।

अर्थात् जो तत्त्वार्थ को जीवन में पहचानता है, तत्त्वार्थ पर श्रद्धा से निष्ठा लाता है; उसके लिए 'श्र' शब्द हैं; गुणवान् सात क्षेत्रो में-सुपात्रदान में जो धनबीज का वपन करता है (बोता है) अर्थात् जो सुपात्र दान देता है; उसके लिए 'व' शब्द है और जो क्लिष्ट कर्मरज को फेंक देतै है; उसके लिए 'क' शब्द है। इस प्रकार श्रावक शब्द बना है।

जिनवचन में श्रद्धा रखनेवालों को श्रावक कहते हैं।[5] जो साधु के पास साधुसमाचारी (उत्सर्ग से, अपवाद से साधु-श्रावक दोनों की समाचारी) को सुनता है, वह 'श्रावक' कहाता है।[6] अभिधान राजेन्द्र में श्रावक के विषय में कहा है-

"**संपत्तदंसणाई पइदिअहं जइ जणा सुणेई य।**
सामायारी परमं जो खलु तं सावगं विन्ति॥"

जो सम्यग्दर्शनादियुक्त मनुष्य प्रतिदिन मुनिजनों के पास जाकर परम समाचारी अर्थात् साध्वाचार और श्रावकाचार सुनता है उसे श्रावक कहते हैं।[7]

जो परलोक के लिए साक्षात् हितकारी साधु और श्रावकों के अनुष्ठानगर्भित जिनवचन को उपयोगपूर्वक सुनता है, (और) जिसने कर्म (मोहनीय) की सातों प्रकृतियों की स्थिति एक कोडाकोडी सागरोपम के अंदर कर दी है, वह उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। जिस शुक्लपाक्षिक आत्माने अपना संसार भ्रमण अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन काल (सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन नामक काल का आधा भाग) के भीतर कर दिया है, वही एसा उत्कृष्ट श्रावक होता है।[8]

आवश्यक बृहद्वृत्ति के अनुसार सम्यकत्व प्राप्त जो प्रतिदिन यतियों से धर्मकथा को सुनता है, वह श्रावक है।[9] ज्ञाताधर्मकथांग में जो सम्यग्दर्शन संपन्न हो, जिनशासन की भक्ति करता हो, नित्य षडावश्यक में रक्त हो तथा आत्मा के षट्स्थान की श्रद्धा से युक्त हो, उसे श्रावक कहा है[10], या जिनशासनभक्त गृहस्थ श्रावक कहलाते हैं।[11] अणुव्रतधारी या अणुव्रत से रहित जो केवल श्रद्धा रखते हैं - दोनों प्रकार के श्रावकों को निशीथचूर्णि में 'श्रावक' कहा है।[12] धर्मशास्त्र श्रवण करने से श्रावक 'ब्राह्मण' कहलाते हैं।[13]

जो देशविरतिपूर्वक अर्थात् अणुव्रतादि का पालन करने के साथ साधु/श्रमणों की उपासना की महिमा से प्रतिदिन बढते हुए संवेगपूर्वक यावज्जीव सूक्ष्म-बादरादि भेदपूर्वक ज्ञानवान् होता है, उसे 'श्रमणोपासक' कहते हैं[14]।

महाश्रावक :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'महासावग' अर्थात् 'महाश्रावक' का परिचय देते हुए कहा है -

"**एवं व्रतस्थितो भक्त्या सप्तक्षेत्र्यां धनं वपन्।**
दयया चाति दीनेषु महाश्रावक उच्यते॥"[15]

इस प्रकार (स्थूलप्राणातिपातविरमणादि) व्रतों में स्थित जो सात क्षेत्रों में धनरुप बीज की बोवनी करता है और जो दीन-दुःखियों के प्रति अतिशय दया रखते हुए उन्हें अनुकम्पा दान देता है उसे 'महाश्रावक' कहते हैं।

आगे महाश्रावक की व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि 'श्रावक और एकादि अणुव्रतधारी श्रावकों से महाश्रावक विशिष्ट हैं। वह अतिशय पूर्वक निरतिचार सम्यक्त्व

1. अ.रा.पृ. 7/779
2. अ.रा.पृ. 7/779
3. अ.रा.पृ. 6/219
4. अ.रा.पृ. 7/779
5. अ.रा.पृ. 7/779; स्थानांग 4/4,
6. अ.रा.पृ. 7/779; गच्छाचार पयन्ना, 2 अधिकार
7. अ.रा.पृ. 6/219, 7/779, श्रावक प्रज्ञप्ति 2
8. अ.रा.पृ. 7/780
9. अ.रा.पृ. 7/780, आवश्यक बृहद्वृत्ति, 6 अध्ययन
10. अ.रा.पृ. 7/780, ज्ञाताधर्मकथांग 1/16
11. अ.रा.पृ. 7/780, आवश्यक बृहद्वृत्ति अध्ययन-4
12. अ.रा.पृ. 7/780, निशीथ चूर्णि, 1 उद्देश
13. अ.रा.पृ. 7/780, अनुयोगद्वार सूत्र
14. अ.रा.पृ. 7/414, भगवती सूत्र 8/5
15. अ.रा.पृ. 6/218, योगशास्त्र 3/119

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहित बारह व्रतधारी होता है। जिनमंदिरादि सातों क्षेत्रों में धन वपन करने पूर्वक श्रेष्ठ दर्शन प्रभावकता (शासन प्रभावना) धारण करने वाला और दीन-दु:खी जीवों पर अत्यंत कृपा तत्पर 'महाश्रावक' कहलाता हैं।[16]

श्रावक के भेद :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'श्रावक' के भेद-प्रभेद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ''धर्म दो प्रकार का है (1) यति धर्म और (2) श्रावक धर्म। जिसमें श्रावक दो प्रकार के हैं - (1) अविरत (2) विरत (विरताविरत)।[17]

अविरत श्रावक :-

जो सुदेव अर्थात् वीतराग देव, सुगुरु अर्थात् कञ्चनकामिनी के त्यागी और पञ्चमहाव्रतधारी गुरु और सुधर्म अर्थात् केवली प्रकाशित दयामय धर्म में श्रद्धा तो रखते हैं परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करते उन्हें 'अविरत' श्रावक कहते हैं[18]।

विरत/देशविरत (विरताविरत) श्रावक :-

जो श्रावक श्रद्धापूर्वक जिनवचन का श्रवण करता है और सम्यक्त्व सहित अणुव्रतादि श्रावक धर्म को प्रत्याख्यानपूर्वक ग्रहण करके भावसहित उसका पालन करता है, उसे विरत श्रावक कहते हैं।[19] इसे अविरत श्रावक की अपेक्षा से व्रत ग्रहण करने के कारण 'विरत' और साधु की अपेक्षा से आंशिक विरति पालन करने कारण 'विरताविरत' श्रावक कहते हैं।[20] इसे ही 'देशविरत' श्रावक भी कहतेहैं।[21]

श्रावक चार प्रकार से :-

नामादि चारों निक्षेप के अपेक्षा से भी श्रावकों के चार प्रकार होते हैं[22]-

(1) **नाम श्रावक** - सचेतन या अचेतन पदार्थ, जिसका नाम 'श्रावक' रखा गया हो, वह 'नाम श्रावक' कहलाता हैं।

(2) **स्थापना श्रावक** - श्रावक का पुस्तकादि गत चित्र, फोटो मूर्ति (बीसस्थानक यंत्रादि में तथा अन्यत्र श्रावक की मूर्ति स्थापित की गई हो), आदि 'स्थापना श्रावक' कहलाते हैं।

(3) **द्रव्य श्रावक** - जिन्हें सुदेव-गुरु-धर्म के प्रति बिल्कुल श्रद्धा न हो या दृढ श्रद्धा न हो और केवल आजीविका के लिए ही 'श्रावक' नाम धारण किया हो, वह 'द्रव्य श्रावक' कहलाता है। भावरहित केवल द्रव्य अनुष्ठान (क्रिया) करने वाले भी 'द्रव्य श्रावक' कहलाते हैं। तथा निश्चयनय के मत से 'शोक्य (सपत्नी)' या काँटे जैसे श्रावक 'द्रव्य श्रावक' कहलाते हैं।[23]

(4) **भाव श्रावक** - जो श्रद्धापूर्वक जिनवचन (जिनशासन के नियमों, जिनवचन) को श्रवण करता है, दीन-दु:खी की सेवा में द्रव्य वपन (खर्च) करता है, सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, अशुभ/पाप कार्यों का नाश करता है, संयम का पालन करता है, उसे भावश्रावक कहते हैं।

श्रावक अन्य चार प्रकार से :

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने ने अभिधान राजेन्द्र कोश में श्रावकों के तीन प्रकार से चार-चार भेद दर्शाये हैं, जो निम्नानुसार हैं[24]-

क. 1. राजा समान 2. पिता समान 3. माता समान 4. शोक्य समान

ख. 1. माता-पिता समान 2. भाई समान 3. मित्र समान 4. सपत्नी शोक्य समान

ग. 1. दर्पण समान 2. पताका ध्वजा समान 3. स्थाणु (ठुंठ) समान 4. कंटक समान

1. राजा समान :

साधु-साध्वी को किसी प्रकार का उपद्रव होने पर जो आत्म-बल से, धन-बल से या कुटुम्ब-बल से उन उपद्रवों का निवारण करते है; जो साधु-साध्वी के असंबद्ध आचार (शिथिलाचार या साध्वाचार विरुद्ध आचार) को देखकर एकान्त में इन्हें डाँटकर इन्हें समझानेवाले, स्थापनाजी के समक्ष निजगच्छपरम्परानुसार आवश्यक क्रिया करनेवाले, उचितकरणशील, गुणानुरागी, मध्यस्थ, दीर्घदर्शी, स्वगण या परगण में गुणयुक्त साधु को प्रसन्नचित्त से प्रमोदभावपूर्वक वंदन, नमन, आदर-सत्कार, वैयावृत्त्यादि करनेवाले परंतु निजगच्छ (स्वयं की गुरु परम्परा) की समाचारी के संपूर्ण पालक श्रावक महाराजा तुल्य हैं।

2. माता-पिता समान :

माता-पिता समान श्रावक भी एसे ही होते हैं परन्तु इतना विशेष है कि वे गच्छवासी आचार्य को देखकर उन्हें नित्य नहीं कोसते और पुत्र की तरह आहारादि से उनका पोषण करते हैं परन्तु निजकुल क्रमागत (परम्परागत) (आचार) का उल्लंघन नहीं करते। अत: वे आराधक हैं, विराधक नहीं।

3. भ्रातृसमान :

जो श्रावक हृदय के भावपूर्वक बिना किसी कारण के साधु के प्रति एकान्त (एकतरफा) वात्सल्यभाव धारण करते हैं, उन्हें 'भातृ समान' श्रावक कहते हैं।

4. मित्र समान :

जो स्नेह के कारण तत्त्वचर्चादि में निष्ठुर वचन बोलकर साधु को अप्रीति भी उत्पन्न करते हों, और प्रयोजन उपस्थित होने पर साधु के ऊपर अत्यन्त वात्सल्य भी रखते हों, वे श्रावक 'मित्र समान' हैं।

---

16. अ.रा.पृ. 7/219
17. अ.रा.पृ. 7/780, 786
18. अ.रा.पृ. 1/809, सूत्रकृताङ्ग-1/1/1, समवयाङ्ग-14 वाँ समवाय, भगवती सूत्र 1/1
19. अ.रा.पृ. 6/1229, 7/786
20. अ.रा.पृ. 6/1229, पञ्चाशक विवरण 6; समवयांग, 14 वाँ समवाय
21. अ.रा.पृ. 4/2632, पञ्चाशक विवरण-10
22. तथाहि-नामश्रावक:; सचेतनाचेतनस्य पदार्थस्य यत् श्रावक इति नाम क्रियते। स्थापनाश्रावकश्चित्रपुस्त (का) - कर्मादिगत:। द्रव्यश्रावको ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो देवगुरुतत्त्वादिश्रद्धानविकलस्तथाविधा-ऽऽजीविकाहेतो: श्रावकाकारधारकश्च। भावश्रावकस्तु - ''श्रद्धालुतां याति शृणोति शासनं, दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्। कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षण: ॥॥॥'' - अ.रा.पृ. 7/786
23. ।....., निश्चयनयमते पुन: सपत्निखरण्टसमानौ मिथ्यादृष्टिभावौ द्रव्यश्रावकौ। अ.रा.पृ. 7/786
24. अ.रा.पृ. 7/414; 7/415; सूत्रकृतांग-320, 321, 321; स्थानांग-4/3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. सपत्नी (सौतन, शोक्य) समान :

जो कटुवचन से साधु की प्रीत का नाश करता हो, ईर्ष्या के कारण साधु के अपराधों को ही कहता हो, एसा साधु के दूषण ही देखनेवाला, अनुपकारी श्रावक 'सपत्नी समान' हैं।

6. आदर्श (दर्पण) समान :

जो पदार्थ जैसा होता है, आदर्श (दर्पण) उसे वैसा ही प्रतिबिम्बित करता है, उसी प्रकार आगमों में सन्निहित (कहे हुए) पदार्थों की यथावत् प्ररुपणा करनेवाला श्रावक आदर्शवत् हैं।

7. पताका (ध्वजा) समान :

जैसे वायु से सब कुछ (घेरे हुए बादल आदि) नष्ट हो जाते हैं/बिखर जाते हैं, वैसे जिसकी अनवस्थित बोध/विचित्र देशना होती है वह श्रावक 'ध्वजा/पताका समान' हैं।

8. स्थाणु (ठूंठ) समान :

गीतार्थ साधु आदि की देशना के समय भी किसी भी कदाग्रह के कारण जो अन्यमनस्क होकर अपनी प्रकृति के कारण बोध प्राप्त नहीं करता, वह श्रावक 'स्थाणु समान' हैं।

9. खरकंटक (खैर के काँटे के) समान :

जो जानते हुए भी स्वयं के कदाग्रह या दुराग्रह का त्याग नहीं करता, अपितु दूसरे प्रज्ञ लोगों को भी दुर्वचन रुपी काँटों से बींधता है, वेदना पहुँचाता है, वह 'खरकण्टक समान' श्रावक हैं।

अभिधान राजेन्द्र में आचार्यश्रीने धर्मरत्न प्रकरण को उद्धृत करते हुए भावश्रावक के निम्नलिखित छह गुण बताये हैं-

भावश्रावक के छः क्रियागत गुण:-

भावश्रावक के छह क्रियागत गुण हैं (इनमें से प्रत्येक के जनक-समर्थक अवान्तर अनेक गुण हैं) -

(1) कृत-व्रत-कर्मा (2) शीलवान्
(3) गुणवान् (4) ऋजु-व्यवहारी
(5) गुरु-शुश्रूषा और (6) प्रवचन-कुशल।[25]

(1) **कृत-व्रतकर्मा** - व्रतकर्म का आराधक बनने के लिए - (1) व्रतधर्म श्रवण (2) सुनकर व्रत के प्रकार, अतिचार आदि की जानकारी (3) पूरे अथवा अल्पकाल के लिए व्रतधर्म का स्वीकार और (4) रोग या विघ्न में भी दृढता पूर्वक धर्म पालन। -इन चारों में उद्यमी होने वाला वह व्यक्ति कृतव्रत-कर्मा हैं।[26]

(2) **शीलवान्** - चरित्रवान् बनने के लिए (1) आयतन-सेवन अर्थात् सदाचारी, ज्ञानी तथा सुंदर श्रावक धर्म के पालन करने वाले साधर्मिकों के सान्निध्य में ही रहना चाहिए, क्योंकि इससे दोषों में कमी तथा गुणों में वृद्धि होती रहती हैं। (2) बिना काम दूसरों के घर नहीं जाना (इसमें भी दूसरे घर में अकेली स्त्री हो तो वहाँ बिलकुल नहीं जाना, क्योंकि कामासक्ति या कलंक लगने की संभावना हैं। (3) कभी भी उद्भट यानि औचित्यहीन वेष धारण नहीं करना चाहिए, क्योंकी इसमें हृदय की विह्वलता है, अशान्तता है। धर्मात्मा तो शांत ही शोभायमान होता है। (4) असभ्य या विकारी वचन नहीं बोलने चाहिए, क्योंकि इससे प्रतिष्ठा-हानि या कामराग जागृत होता हैं। (5) बच्चों जैसी चेष्टाएँ नहीं करना चाहिए, और बालक्रीडा, जुआँ, व्यसन, चौपड आदि नहीं खेलना चाहिए क्योंकि वे मोह के लक्षण हैं व अनर्थदंड हैं। (6) दूसरों से मधुर वाणी से काम लेना चाहिए, क्योंकि शुद्ध धर्मवाले को कर्कशवाणी शोभा नहीं देती।[27]

(3) **गुणवान्** - गुणवान् बनने के लिए (1) वैराग्य-वर्धक शास्त्र-स्वाध्याय-(अध्ययन-चिन्तन-पृच्छा-विचारणादि) में उद्यमी रहना। (2) तप-नियम-वंदन आदि क्रियाओं में उद्यमशील रहना (3) बडों व गुण-संपन्न आदि का विनय करना (उनके आने पर उठना, सामने जाना, आसन पर बिठाना, कुशल पूछना, विदा करने जाना आदि) (4) कहीं भी अभिनिवेश अर्थात् दुराग्रह न रखना, हृदय में शास्त्र के कथन को मिथ्या न मानना, तथा (5) जिनवाणी के श्रवण में सदा तत्पर रहना - ये पाँच अवान्तर गुण आवश्यक हैं, क्योंकि इनके बिना सम्यक्त्वरत्न की शुद्धि नहीं होती।[28]

(4) **ऋजुव्यवहारी** - ऋजुव्यवहारी बनने के लिए - (1) मिथ्या या मिश्रित अथवा विसंवादी (स्वतः विरुद्ध) वचन न बोलना, किन्तु यथार्थ वचन कहना, जिससे श्रोता को भ्रम न हो, अबोधिबीज न हो और असत् प्रवृत्ति से भववृद्धि न हो। श्रावक के लिए सरल व्यवहारी बनना ही समुचित हैं। (2) स्वयं की प्रवृत्ति अथवा व्यवहार दूसरों को ठगनेवाला न होकर निष्कपट हो, वैसा ही करना चाहिए (3) भूलते हुए जीव की भूलों के अनर्थ बताना और (4) सबके साथ हृदय से मैत्रीभाव-स्नेहभाव रखना।[29]

(5) **गुरु-शुश्रूषा** - गुरु-शुश्रुषु-बनने के लिए (1) गुरु के ज्ञान-ध्यान में विघ्न न हो व अच्छी सुविधा रहे -इस प्रकार उनकी स्वयं समयोचित अनुकूल सेवा करनी चाहिए। (2) गुरु के गुणानुवाद करके दूसरों को उनके प्रशंसक/सेवक बनाना चाहिए। (3) उनके लिए स्वयं या दूसरों से आवश्यक औषधि आदि का प्रबंध करना, कराना और (4) सदा बहुमानपूर्वक गुरु की इच्छा का अनुसरण करना चाहिए।[30]

(6) **प्रवचन-कुशल** - प्रवचन-कुशल बनना अर्थात् (1) सूत्र, अर्थ, उत्सर्ग, अपवाद, भाव और व्यवहार में कुशल होना चाहिए। अर्थात् (1) श्रावक के योग्य सूत्र व शास्त्रों को पढना (2) उनके अर्थ सुनना, समझना (3-4) धर्म में 'उत्सर्ग मार्ग' अर्थात् मुख्यमार्ग कौन सा है ? उसी प्रकार कैसे द्रव्य-

25. कयवयकम्मो। तह सीलयं च 2 गुणवंच 3 उज्जुववहारी 4।
गुरुसुस्सूसो 5 पवयण-कुसलो 6 खलु सावगो भावे ॥1॥ - अ.रा.पृ. 7/782

26. तत्थायण्णण 1 जाणण 2 गिणहण 3 पडिसेवणेसु 4 उज्जुत्तो।
कयवकम्मो चउहा, भावत्थो तस्सिमो होई ॥2॥ - वही

27. आययणं खु निसेवइ 1 वज्जइ परगेह पविसणमकज्जे 2।
निच्चमणुब्भडवेसो 3 न भणई सविआरवयणाइं ॥3॥
परिहरइ बालकीलं 5 साइह कज्जाइँ महुरनीईए 6।
इअ छव्विहसीलजुओ, विन्नेओ सीलंवतोऽत्था ॥4॥ - अ.रा.पृ. 7/782

28. सज्जाए 1 करणम्मि अ 2 विणयम्मि अ 3 निच्चमेव उज्जुत्तो।
सव्वत्थऽणभिनिवेसो 4, वहइ रुइं सुट्ठु जिणवयणे ॥6॥ - वही

29. अ.रा.पृ. 7/767

30. अ.रा.पृ. 3/946, 7/107, 7/784; धर्मरत्न प्रकरण-49

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र- काल-भाव में कब किस-विषय में किस प्रकार के अपवाद का सेवन करना? इसे जानना (5) समग्र धर्म-साधना विधिपूर्वक करने का पक्षपात रखना और (6) किस देश-काल के योग्य शास्त्रज्ञ गुरु का कैसा-कैसा व्यवहार व वर्तन होता है, इसे समझना व इसका लाभानुलाभ सोचना।[31]

भावश्रावक के भावगत 17 लक्षण (गुण)[32] :-

भाव श्रावक को प्रतिदिन 1. स्त्री 2. धन 3. इन्द्रिय 4. संसार 5. विषय 6. आरंभ 7. गृह 8. सम्यक्त्व 9. लोक संज्ञा 10. जिनागम 11. दानादि 12. धर्म-क्रिया 13. अरक्त दिष्ट 14. अनागृही 15. असंबद्ध 16. परार्थभोगी 17. वेश्यावत् गृहवास, इन 17 विषयों पर विचारणा करनी चाहिए।

1. स्त्री को पापों व अनर्थ की प्रेरक चलचित्त और नरक की दूती समझकर हितार्थी उसके वश में न होकर उसमें आसक्त न हों।
2. धन अनर्थ, क्लेश और कलह की खान है, एसा समझकर इसका लोभ न करना।
3. सब इन्द्रियाँ आत्मा की भाव-शत्रु हैं, जीव को दुर्गति में घसीट कर ले जानेवाली हैं, एसा समझकर उन पर अंकुश रखना।
4. संसार पाप-प्रेरक है, दु:ख रुप है, दु:खदायी है व दु:खानुबंधी है। यह विचार रखकर इससे मुक्त होने के लिए आतुरता व शीघ्रता रखनी चाहिए।
5. शब्द, रुप, रस, गंध, स्पर्श - ये सब विषय विषरुप हैं, अत: इनसे रागद्वेष न करना। विषय सच्चैतन्य के मारक होने से विषरुप हैं।
6. सांसारिक कार्य आरंभ-समारंभमय जीवघात से पूर्ण हैं; एसा सोचकर बहुत कम आरंभो से चलाना।
7. "गृहवास षटकायजीव-संहारमय व अठारह पापस्थानकों से पूर्ण हैं" -एसा विचार कर इसे पाप-सेवन की पराधीनता की बेडी रुप होने से कारागार-निवास जैसा समझना। साधु-दीक्षा के लिए इसे छोडने का यथाशक्ति प्रयास करना।
8. सम्यक्त्व को चिंतामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान् और अतिदुर्लभ समझकर सतत शुभभावना और शुभ कृत्यों से एवं शासन की सेवा व प्रभावना द्वारा सम्यक्त्व को स्थिर रखना, इसे निर्मल करते रहना, इसके सामने महान् वैभव भी तुच्छ जानना।
9. लोकसंज्ञा अर्थात् गतानुगतिक लोक की प्रवृत्ति और मानाकांक्षा की ओर आकृष्ट न होकर सूक्ष्म बुद्धि से विचार करना।
10. 'जिनागम के बिना लोक अनाथ है, क्योंकि जिनागम को छोडकर कोई परलोक हित का सच्चा मार्ग बतानेवाला नहीं है' -एसी दृढ श्रद्धा से जीवन में जिनाज्ञा को प्रधान करके अर्थात् जिनागम को ही सम्मुख (ध्यान में) रखकर सब कार्य करना।
11. दानादि धर्म को आत्मा की अपनी परलोकानुयायी संपत्ति समझकर, शक्ति को छिपाये बिना अच्छी प्रकार दानादि-आचरण में आगे बढना।
12. दुर्लभ तथा चिंतामणी रत्न के समान अमूल्य एकान्त हितकारी निष्पाप धर्मक्रिया का यहाँ स्वर्णिम अवसर मिला है, इसका सुरीति से उपयोग करते हुए यदि इसमें अज्ञानी कभी हंसी मजाक भी करें तो उससे लज्जित नहीं होना। किन्तु उसकी उपेक्षाकर धर्मक्रिया में बहुत उद्यत रहना।
13. धन, स्वजन, आहार, गृह आदि को मात्र देहनिर्वाह के साधन मानकर, एसे सांसारिक पदार्थों में राग, द्वेष न करते हुए मध्यस्थ रहना।
14. उपशम को ही सुख रुप और प्रवचन का सार समझकर उपशम प्रधान विचारों में ही रमण करना। मध्यस्थ और स्वपर हितकारी रहते हुए किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं करना, सत्य का आग्रही बना रहना।
15. समस्त वस्तु की क्षण भंगुरता मन में सतत भावित करते रहना, व स्वजनादि में बैठे हुए भी इन सबका संयोग भी नाशवान् है' -एसा समझकर इन्हें 'पर (स्वयं की आत्मा से अलग) मान लेना' हृदय के भावों से असंबद्ध रहना, अर्थात् इन पर आंतरिक ममता का संबंध न रखना।
16. संसार के प्रति विरक्त मनवाला बनकर 'भोग अभोग कभी तृप्ति करने वाले नहीं, इनसे कभी तृप्ति नहीं होती है, अन्यथा इनकी तृष्णा बढती है।' एसा मानकर, यदि कामभोग में प्रवृत्त भी होना पडे तो वह केवल कुटुंबियो का मुँह रखने के लिए ही प्रवृत्त होना, किन्तु इन्हें मौज-शौक समझकर नहीं।
17. गृहवास में निरशंस-निरासक्त बनकर इसे पराया समझता हुआ, वेश्या के समान निर्वाह करे और गृहवास को निष्फल वेठ-वन्दना रुप समझता हुआ इसे 'आज छोडूँ कल छोडूँ -एसी भावना में रमता रहें।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रावक बनने की अनेक भूमिकाएं हैं। श्रावक के आचरण से सम्बन्धित शब्दावली का अनुशीलन इसी अनुच्छेद के तीसरे शीर्षक में प्रस्तुत किया जा रहा हैं। मौलिक रुप से धर्म तो साधुमार्ग ही है, किन्तु जीव अनादि काल से संसारवासनाओं से संस्कारित है अत: आरम्भिक अवस्था में साधु का आचरण कठिन प्रतीत होता है उनके लिए आचार्योंने प्रथम सोपान के रुप में श्रावक धर्म कहा हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया गया है कि उपदेष्टा का कर्तव्य है कि वह प्रथम तो मुनिधर्म का उपदेश करे, पश्चात् यदि शिष्य उसे ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट करे तो उसे श्रावकधर्म का उपदेश करना चाहिए।[33]

श्रावकधर्म एकदेश है और मुनिधर्म सर्वदेश। इस प्रकार श्रावकधर्म और मुनिधर्म में स्तर की अपेक्षा से अन्तर है। इस अन्तर को आगे के शीर्षक में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया हैं।

---

31. अ.रा.पृ. 5/784, 7/782
32. इत्थि दिअत्थसंसार-विसय-आरंभ-गेह-दंसणओ।
गड्डरिगाइपवाहे पुरस्सरं आगमपवित्ती ॥12॥
दाणाइ जहासत्ती, पवत्तणं विहिअ रत्तदुट्ठे अ।
मज्झत्थसंबद्धो, परत्थकामोवभागी आ ॥13॥
वेसा इव गिहवासं, पालइ सत्तरसपयनिबद्धं तु।
भावगय भावसावग-लक्खणमेअं समासेणं ॥14॥" अ.रा.पृ. 7/784, धर्मसंग्रह प्रकरण-2/12 से 14
33. यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति:। तस्य भगवत्प्रवचने, प्रदर्शितं, निगृहस्थानम्। - पुरुषार्थसिद्धयुपाय 18

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. मुनि एवं गृहस्थ के आचार में मौलिक अन्तर

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी द्वारा रचित अभिधान राजेन्द्र कोश में जैनागमानुसार वर्णित आचार परक शब्दावली का अध्ययन, अनुशीलन करने पर यह भलिभाँति स्पष्ट हो जाता है कि, साध्वाचार एवं श्रावकाचार में महद् अन्तर है, जिसे यहाँ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट किया जा रहा हैं।

सम्यक्त्व व्रत के पालन में अन्तर :-

साधु शुद्ध सम्यक्त्वधारी होता है अर्थात् सुदेव-सुगुरु-सुधर्म में पूर्ण श्रद्धावनत होता है। एकमात्र जिनेश्वर देवाधिदेव, 36 गुणालंकृत आचार्यादि गुरु और केवलिप्रकाशित धर्म में दृढ श्रद्धा धारण कर उनकी उपासना करता हैं और रत्नत्रय की सुंदर आराधना करता हैं। उत्सर्ग मार्ग से मुनि कभी भी इन सुदेवादि तत्त्वत्रयी के अतिरिक्त अन्य को नमस्कार नहीं करता। गृहस्थ भी इन तत्त्वत्रयी और रत्नत्रयी में श्रद्धा तो रखता है, परन्तु आजीविकादि कारण से या राजा-देव-बलादि कारण से उसमें आगार (छूट) रखता है, कुलदेवतादि की पूजादि भी करता है, साधु एसा नहीं करता। साधु छठे और उससे ऊपर के गुणस्थान की अवस्था में होते हैं जबकि श्रावक का चौथा-पाँचवा गुणस्थान होता हैं।

सामायिक में अन्तर :-

साधु की सामायिक यावज्जीव होती है जबकि गृहस्थ की सामायिक दो घडी (48 मिनिट) की होती है। साधु की सामायिक मन-वचन-काय से सर्वथा सावद्य योगों के कृत-कारित-अनुमोदन के त्यागपूर्वक होती है जबकि गृहस्थ की सामायिक त्रियोग एवं कृत-कारितपूर्वक होती है; अनुदान का त्याग श्रावक के नहीं होता।

विरति में अन्तर :-

साधुजीवन में सर्वविरति चारित्र होता है जबकि श्रावकों के देशविरति चारित्र होता है। साधु के महाव्रत होते हैं जबकि श्रावकों के अणुव्रत होते हैं। महाव्रतधारी साधु के प्राणातिप्रात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह- इन पाँचो आस्रवों का सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर-अल्प-बहु आदि समस्त प्रकार से सर्वथा त्याग होता है, जबकि श्रावकों के इनका स्थूल त्याग होता हैं।

जीवदया पालन में अन्तर :-

जीव दो प्रकार के होते हैं -1. स्थूल और सूक्ष्म। द्विन्द्रियादि त्रस जीवों को स्थूल कहते हैं और पृथिव्यादि पाँच बादर एकेन्द्रिय को सूक्ष्म कहा जाता हैं)सूक्षम एकेन्द्रिय के वधाभाव होने से उनका समावेश यहां नहीं है)।

सूक्ष्म-बादर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा से निवृत्त होने के कारण मुनि बीस वसा जीवदया पालन करते हैं (वसा की व्याख्या आगे दी जा रही है), जबकि गृहस्थ स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार के जीवों में से पृथ्वी, जल आदि से सतत आरंभ के कारण सूक्ष्म जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता अत: उनकी जीवदया 10 वसा अवरुद्ध रहती हैं। स्थूलप्राणिवध भी दो प्रकार का है - संकल्पज और आरम्भज।उसमें से गृहस्थ "मैं इसे मारुंगा" - एसी संकल्पी हिंसा का त्याग कर सकता है, परन्तु कृषि-व्यापार-गृहकार्य संबंधी आरंभी हिंसा का त्याग नहीं हो पाता, अत: उसमें से आधी (5 वसा) जीवदया अवरुद्ध रहती है। संकल्प भी दो प्रकार का होता है - सापराध और निरपराध विषयक। वहाँ गृहस्थ अपराधी के अपराध की गुरुता-लघुता का चिन्तन करता हैं। गुरु अपराध होने पर दण्ड देता हैं अत: (2.5 वसा) जीवदया अवरुद्ध रहती है। और निरपराध संकल्प भी दो प्रकार का हैं - सापेक्ष और निरपेक्ष। वहाँ निरपेक्ष जीवहिंसा का श्रावक त्याग करता है परन्तु सापेक्ष का त्याग नहीं कर पाता क्योंकि बाहर रखे गये गाय, बैल, भैसादि को बाँधना पडता है और प्रमादी पुत्र आदि को भी दण्ड देना पडता हैं। अत: गृहस्थ/व्रतधारी श्रावक सवा वसा मात्र जीवदाय का ही पालन करता है जबकि, साधु सर्वथा जीवहिंसा का त्यागी होने से बीस वसा जीवदया का पालन करता हैं[1]।

साधु अहिंसा, सत्य, अचौर्य, मैथुन, अपरिग्रह, रात्रि भोजन त्याग रुप षड् व्रत एवं पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय की मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदनपूर्वक षड् जीवनिकाय हिंसात्यागरुप 12 प्रकार की विरति (छह व्रतों का पालन एवं षड्जीवनिकाय की रक्षा) का पालन करता है जबकि श्रावक को केवल त्रस जीवों की हिंसा की भी आंशिक विरति हैं।

अणुव्रत-महाव्रतों का अन्तर :-

श्रावक पाँच व्रतों का स्थूल रुप से पालन करता है एवं गृहस्थी संबंधी आरंभ-समारंभ के कारण पाँच स्थावर की हिंसा का त्याग नहीं कर सकता तथा त्रसकायिक हिंसा का भी संपूर्ण त्याग नहीं होता, केवल नियमपूर्वक सीमा कर सकता हैं। अत: श्रावक से केवल सवा वसा जीवदया का ही पालन हो सकता है जबकि साधु तो वीसवसा / संपूर्ण जीवदया का पालन करता है क्योंकि साधु के आरंभ-समारंभ एवं परिग्रह संबंधी तथा गृहस्थी संबंधी हिंसा का त्याग होता है ।

साधु सर्वथा मृषावाद का त्यागी है, जबकि श्रावक स्थूल रुप से सहसात्कार से बडा झूठ नहीं बोलता। साधु सर्वथा अदत्तादान का त्यागी होने से तृण, भस्म, जल आदि भी बिना मालिक को आज्ञा के नहीं ले सकता और तीर्थंकर अदत्त, स्वामी अदत्त, गुरु अदत्त, और जीव अदत्त भी ग्रहण नहीं करता, जबकि श्रावक मात्र राज्यविरुद्ध, देशविरुद्ध, लोकविरुद्ध बडी चोरी का त्याग करता है परन्तु घर में, परिवार में, मित्रों में एक दूसरे की चीज-वस्तु बिना पूछे भी लेता है, देता है उपयोग करता हैं।

साधु नव बाड एवं 18000 शीलांगों के साथ सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करता है, जबकि श्रावक स्वदारसंतोष-परदारागमनत्यागरुप शीलव्रत

1. अ.रा.पृ. 1/846

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का पालन करता हैं। साथ ही विधवा, वेश्या, परस्त्री आदि का त्याग करता है। पर्वतिथि का ब्रह्मचर्य पालन करता है। कोई-कोई श्रावक (चतुर्थ व्रतधारी) सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले होते हैं। साधु किसी के विवाहादि नहीं कराते और अनुमोदन भी नहीं करते, जबकि व्रती गृहस्थ भी स्वयं के पुत्र-पुत्री-परिवार आदि का विवाह करता-कराता हैं। साधु धर्मोपकरण के अलावा शेष बाह्य-आभ्यन्तर, अल्प-बहु, सूक्ष्म-बादर, अल्पमूल्य-बहुमूल्य आदि सभी प्रकार के परिग्रह का त्यागी होते हैं जबकि, गृहस्थ जीवन में धन-धान्यादि बाह्य 9 प्रकार के परिग्रह की इच्छानुसार मर्यादा की जाती हैं। साधु बाह्य परिग्रह (धर्मोपकरण) में मूर्च्छात्यागी एवं आभ्यन्तर रुप से प्रत्याख्यानीय आदि तीनों कषायों का त्यागी होता हैं; उन्हें केवल संज्वल कषाय ही रहता है, जबकि श्रावकजीवन में प्रत्याख्यानीय कषाय एवं 9 नोकषाय रहते ही हैं। साधु को अपने संयम आराधना हेतु शास्त्रोक्त उपकरण यावत् देह पर भी मोह-ममत्व नहीं होता, जबकि श्रावकों को स्वयं के स्वामित्व के घर-दुकान, खेत इत्यादि तथा धन-धान्यादि, पुत्र-परिवार-स्वजनों के प्रति मोह-ममत्व रहता हैं। साधुजीवन में महावीर स्वामी के शासन में रात्रिभोजन मूलगुण है जबकि, श्रावक का यह उत्तरगुण हैं। साधु रात्रिभोजन के सर्वथा त्यागी है जबकि श्रावकों का आंशिक नियम हैं।

जीवन व्यवहार में अन्तर :-

साधु की अपने स्वामित्व में कोई घर-दुकानादि नहीं रहता, साधु स्त्र्यादि दोषरहित वसति दूसरों के स्वामित्व के निवास में याचनापूर्वक रहता है जबकि श्रावक अपने घरों में रहते हैं। साधु श्वेत, मानोपेत, जीर्णप्राय, बिना सिले वस्त्र धारण करते हैं जबकि गृहस्थ शुभ पचरंगी वैभवानुसार यथामूल्य यथाप्रसंग मर्यादापूर्ण वेशभूषा धारण करते हैं। साधु काष्ठ या मिट्टी के पात्र में आहार करते जबकि गृहस्थ धातु के बर्तन वापरते हैं। श्रावक स्वयं के लिए अभक्ष्य-अपेय का त्यागपूर्वक चारों प्रकार का आहार बनाकर भोजन करता है, साधु गोचरचर्या द्वारा गोचरी में साधु जीवन के नियमानुसार जो प्राप्त होता है उसे भी गुर्वादि के साथ बाँटकर वापरता है। साधु ग्रामानुग्राम पैदल विहार करते हैं, नवकल्पी विहार मर्यादा का अवश्य पालन करते हैं जबकि गृहस्थ वाहन द्वारा गमनागमन करते हैं।

साधु के 27 गुण होते हैं, जबकि गृहस्थ के 21 गुण होते हैं। साधु के लिए चरणसित्तरी-करणसित्तरी का पालन अनिवार्य है जबकि श्रावक के लिए यथाशक्य करणीय 36 कर्तव्य हैं।

साधु सावद्य भाषा का त्यागी होता है, निरवद्य भाषा भी बिना कारण नहीं बोलता जबकि गृहस्थ के एसा नियम नहीं। साधु गृहस्थ की आगता-स्वागता नहीं करता केवल साधु की ही वैयावृत्य करता है जबकि गृहस्थ साधु और गृहस्थ दोनों का यथायोग्य स्वागत करता हैं।

साधु कंचन-कामिनी का त्यागी हैं, अतः धर्मस्थान एवं धर्मक्षेत्र हेतु उपदेश देते हैं, जबकि श्रावक यथायोग्य जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, ज्ञान भंडार, उपाश्रय, पौषधशाला, आयंबिलभवन आदि धर्म स्थानों का निर्माण कराता हैं। स्वामिवात्सल्य, धर्मक्षेत्रोद्धार, साधर्मी सहाय/उद्धार करता-कराता है, साधुओं को वस्त्र-पात्र-औषधि-आहार-वसति-शास्त्र आदि देता है। देव-गुरु-संघ-साधर्मी, माता-पिता, वृद्ध, अनाथ, अपंग, विधवा, दरिद्रादि की यथायोग्य सेवा, भक्ति, या सहायता करता-कराता है, जबकि साधु स्व-गच्छ के साधुओं की ही आहार पानी से भक्ति करता है, अन्य गच्छ की नहीं (एसी मर्यादा है)। अन्य गच्छ के साध्वादि से वस्त्र-पात्र-ज्ञान-पुस्तकादि का आदन-प्रदान होता हैं।

साधु-साधु की ही वैयावृत्य करता है, गृहस्थ की नहीं, जबकि गृहस्थ साधु और गृहस्थ दोनों की सेवा करता हैं।

साधु श्रावक के धर्म कार्यों में शुभभावना और विशिष्ट तप आदि के गुणानुराग से अनुमोदना करता है, स्तुति नहीं, जबकि श्रावक साधु की और श्रावकों के उत्तम गुणों की स्तुती भी करता हैं। साधु जीवन में संयम यात्रा ही महत्त्वपूर्ण है। मुनि के द्वारा विहार के समय रास्ते में आनेवाले तीर्थों की यथायोग्य वंदना की जाती है जबकि श्रावक के जीवन में रथयात्रा, अष्टाह्निका महोत्सवादि एवं वर्ष में कम से कम एक बार तीर्थयात्रा की अनिवार्यता का विधान हैं।

साधु रात्रि के मध्य के दो प्रहर संथारा पर भूमि शयन या काष्ठपटल पर शयन करते हैं जबकि श्रावक ढाई प्रहर निद्रा लेते हैं और पलंग, गद्दी-तकिया, रजाई आदि का उपयोग करते हैं।

पंचाचार पालन में अंतर :-

ज्ञानाचार पालन में साधु के दैनिक जीवन में चार बार स्वाध्याय, पाँच प्रहर ध्यान-स्वाध्याय-अध्ययनादि करने की जिनाज्ञा है, जबकि श्रावक यथाशक्ति दो घड़ी या एक प्रहर-आधा प्रहर ज्ञानार्जन, सत्संग आदि करता है। साधु कालानुसार सूत्रार्थ का अध्ययन करते हैं एवं सभी आगमसूत्रों के अध्ययन हेतु योगोद्वहन (विशिष्ट नियमपूर्वक की जाने वाली तप आराधना) करते हैं, जबकि श्रावक छह उपधान (प्रथम-47 दिन में चार उपधान, द्वितीय-35 दिन में एक, एवं तृतीय 28 दिन में एक - इस प्रकार कुल छह) करते हैं। साधु अपने से बडे साधु को एवं साध्वियाँ सभी साधु भगवंतो को नियमपूर्वक वंदन करती हैं जबकि गृहस्थ छोटे-बडे सभी साधु-साध्वियों को वंदन करते हैं। श्रावक ज्ञान के उपरकरणादि का दान करता है, पुस्तकादि लिखवाता है, साधु नहीं। साधु योगोद्वहनपूर्वक आगमों का अध्ययन करते हैं; गृहस्थ नहीं।

दर्शनाचार में साधु प्रतिदिन जिनमंदिर दर्शन, सात चैत्यवंदन, भावपूजा, उत्कृष्ट देववंदन आदि करता है और श्रावकों को जिनदर्शन, पूजन, तीर्थयात्रा, गुरुवंदन, ज्ञान भक्ति, जिनमंदिर-उपाश्रय, पाठशाला, आयंबिल भवनादि धर्मस्थान के निर्माण हेतु प्रेरणा देता है, उपदेश देता है जबकि गृहस्थ इनसे उपदेश प्राप्त कर जिनमंदिरादि सातों क्षेत्रों में न्याय-नीतिपूर्वक पुण्योपार्जित द्रव्य का सद्व्यय करता है, लोगों को धर्म में स्थिर करता है, धर्मशासन की प्रभावना करता हैं।

चारित्राचार के पालन में मुनि जीवनपर्यंत सदा ही अष्ट प्रवचनमाता का पालन करता है, जबकि श्रावक सामायिक-प्रतिक्रमण, देशावगासिक और पौषध में ही इनका पालन करता हैं।

तपाचार पालन में साधु आहार के रस, स्वाद और मूर्च्छा के त्यागी होने पर आहार करने पर भी उपवासी माना जाता है, जबकि गृहस्थ के विषय में एसा नहीं है। साधु कभी भी एक साथ छह विगई (विकृतियाँ) (दूध, दही, घी, तेल, शक्कर, गुड, कडा विगई) नहीं लेता, जबकि गृहस्थ के एसा नियम नहीं है। साधु विहारादि में एवं वसति में भी आतपना-शीतादि एवं बाईस परिषह सहन करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, लोच करते हैं, अंगोपांग संकुचित रखते हैं, जबकि गृहस्थ सामान्यतया लोच नहीं करते, गृहस्थ के जीवन में इन्द्रियों के विषयभोग होते रहते हैं।

आभ्यन्तर तप में साधु के जीवन में दीक्षाग्रहण करने से पूर्व एवं दीक्षापश्चात् प्रति छह माह या वर्ष भर में अवश्य आलोचना ग्रहण की जाती हैं, साधु बडे-छोटे सभी को यथायोग्य विनय-वंदन करते हैं, आचार्यादि 13 की चारों प्रकार से वैयावृत्य करते हैं, प्रतिदिन पाँच प्रहर पाँचो प्रकार का स्वाध्याय करते हैं, आर्त-रौद्र ध्यान से बचकर धर्मध्यान ध्याते हैं, कर्मक्षय के निमित्त कायोत्सर्ग करते हैं, जबकि गृहस्थ उसके जीवन में लगे बडे दोषों की आलोचना करता है, यथाशक्ति विनय-वैयावृत्य करता है, सत्संग-स्वाध्याय भी थोडा सा करता है, धर्मध्यान हेतु प्रयत्न करता है, और कायोत्सर्ग करता है। साधु प्रत्येक स्थिति में गुरु का विनय करता हैं, जबकि गृहस्थों में पुत्रादि के द्वारा पितादि का वैसा विनय नहीं भी किया जाता।

पूजा में अन्तर :-

साधु जिनमूर्ति-गुरुमूर्ति की केवल भावपूजा ही करते हैं, गुरु की आहारादि से भक्ति करते हैं जबकि श्रावक जिनबिम्ब में आरोपित जिनेश्वर देव की उत्तम द्रव्य से भावपूर्वक पूजा करते हैं और चतुर्विध संघ की भी द्रव्य-भाव दोनों तरह से भक्ति करते हैं।

वीर्याचार में साधु नित्य नियम से, शक्ति छिपाये बिना सभी आवश्यक धर्मक्रियाएँ यथायोग्य करते हैं जबकि श्रावक जीवन में प्रमाद अधिक होता हैं।

षडावश्यक में अन्तर :-

साधु प्रतिदिन नियम से यथायोग्य दैवसिकादि पाँचों प्रतिक्रमण करते हैं, जबकि श्रावक इन्हें यथाशक्य करता हैं; यदि नित्य नहीं हो सके तो पाक्षिक या चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करता है; यदि वह भी नहीं हो तो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करते है। जो सांवत्सरिक प्रतिक्रमण नहीं करता वह आराधकों की गिनती में नहीं आता।[2]

साधु की सामायिक यावज्जीव तिविहं-तिविहेण (मन-वचन-काय × कृत-कारित-अनुमोदन = अर्थात् 3 × 3 = 9) होती है, जबकि गृहस्थ की सामायिक दो घडी (48 मिनिट) की और दुविहं-तिविहेण (कृत-कारित × मन-वचम-काय = अर्थात् 2 × 3 = 6) होती हैं। साधु प्रतिदिन उत्कृष्ट देववंदन करता है, श्रावक को भी यथाशक्ति करना चाहिए। साधु अपने से बडे साधुओं को वंदन करते हैं, श्रावक के लिए सभी साधु वंदनीय है। साधु पंचमहाव्रत और एक प्रकार के असंयम से तैंतीस आशातना संबंधी एवं साध्वाचार संबंधी दोषों का प्रतिक्रमण करते हैं जबकि गृहस्थ सम्यक्त्व, 12 व्रत और संलेषणा (अनशन) संबंधी अतिचार दोषों का प्रतिक्रमण करता है। प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग दोनों में सामान होते हैं। साधु नियम से कम से कम नवकारसी और चोविहार का प्रत्याख्यान करते हैं, जबकि श्रावक नवकारसी और यथाशक्ति चोविहार या तिविहार का प्रत्याख्यान करता हैं।

उपरोक्त बिन्दुओं के द्वारा हमने साधु और श्रावक के आचारान्तर्गत अन्तर को स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त भी आहार, विहार, निहार, व्यवहार, वेशभूषा, भाषा, रहन-सहन, निवास, आदि संपूर्ण जीवन-शैली में महद् अन्तर है जिसका विवरणात्मक विश्लेषण शोध-प्रबंध में दर्शाया गया हैं। **इस संसार में बहुत सारे अल्पज्ञ, मनचले जो लोग एसा कहते हैं कि घर में रहकर भी धर्म हो सकता हैं; दीक्षा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, उनके लिए यह दिग्दर्शन मात्र है, घर में धर्म का आंशिक पालन तो हो सकता है परन्तु सर्वत्यागी बनकर संपूर्णतया जीवदया एवं जिनाज्ञा का अधिक से अधिक अर्थात् संपूर्ण पालन सर्वविरतियुक्त संयमजीवन (मुनिजीवन) के बिना कथमपि संभव नहीं अतः दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा सुश्रावक कभी भी न करें/न बोले।**

2. कल्पसूत्र (बारसा सूत्र मूल) समाचारी प्रकरण

नाणी नाणट्ठिओ

जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तेहिं ती, खवेइ ऊंसासमित्तेणं ॥ 1 ॥
सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो तहा ससुत्तो, न नस्सई गओ वि संसारे ॥ 2 ॥
नाणं गिण्हइ नाणं, मुणेइ नाणेण कुणइ किच्चाइं।
भवसंसारसमुद्दं, नाणी नाणट्ठिओ तरइ ॥ 3 ॥

-अ.रा.पृ. 4/1989

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. श्रावको के आचार में सापेक्ष स्थूलता

जैन धर्म का प्रत्येक सिद्धांत जैन दर्शन के सिद्धांतो द्वारा पोषित और प्रमाणित हैं। लोक में अनन्त जीव राशि है, उनमें से अनन्त जीव अपने पुरुषार्थ से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर चुके हैं, और उस दिशा में अनेक जीवों का प्रयास जारी है। जैन सिद्धांत के अनुसार जीव संख्या निश्चित तो है (अर्थात् न तो कोई नया जीव बनता है और न कोई नष्ट होता है) किन्तु यह जीव राशि अनन्त हैं। 'अनन्त' में से अनन्त बार भी अनन्त घटाने पर अनन्त ही शेष रहता हैं-

ॐ पूर्णमदः पूर्णमदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

जीव आरम्भिक रुप से आरम्भिक अवस्था में निगोद अवस्था में होता है। वहाँ से क्रमशः विकास को प्राप्त होता हुआ द्वीन्द्रिय आदि त्रस अवस्थाओं को पार करता हुआ अनेक योनियों (प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में जीवों की प्रमुख योनियाँ चौरासी लाख बतायी गयी हैं) को प्राप्त करता हुआ (या निगोद से सीधे ही) जब मनुष्य योनि प्राप्त करता है तब उसे अपने विकास की अन्तिम परिणति का बोध पाने की योग्यता आती हैं।

यह जीव अनादि संस्कार वासना से वासित होता है जैसे कि स्वर्ण धातु अपने स्वाभाविक खनिज में अनेक अपमिश्रणों से आच्छादित रहता है। सभी जीव सांसारिक सुखों और दुःखों का अनुभव करते हैं। जीव स्वभाव है कि वह सुख चाहता है और दुःख से डरता हैं-

सुखार्था सर्व भूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
ज्ञानाज्ञान विशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः॥

इन दुःखों को दूर करने के लिए यदि वहा गतानुमतिक लोक को देखकर उपाय में प्रवृत्त होता है तो सांसारिक दुःख से किञ्चिद् शान्ति का उपाय प्राप्त भी होता है किन्तु कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण को ही समीचीन मानकर जब वह प्रयास करता है तो एलोपैथिक औषधि के सेवन के समान एक दुःख तो दूर होता है पर दूसरी व्याधि लग जाती है। इस प्रकार अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव उपायों से भी पुष्ट कर लेने से वह गृहीत मिथ्यादृष्टि हो जाता है। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु की सेवा और संजाल से छूटना सरल नहीं हैं।

तीर्थंकरों ने जीवों को इस प्रकार छटपटाता देखकर अनन्त करुणा से सद्धर्म का उपदेश किया और अनेक तर्कों से समझाया है। जिससे जीव को सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सके-

श्रद्धानं परमार्तानां माप्तागम तपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

भव्य जीव अपना निमित्त पाकर सम्यग्दर्शन के मार्ग से होता हुआ रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ही बताता है कि जैसे ज्वरग्रस्त बालक का ज्वर दूर करने के लिए खिलोने का लालच दिया जाता है वैसे ही अनन्तानुबन्धी लोभ और मिथदयात्व से दूषित जीव को सम्यग्दर्शन आदि में 'रत्न' संज्ञा से आकृष्ट किया जाता है। सम्यग्बोध को प्राप्त जीव एकबार रत्नत्रय का आस्वाद लेने के बाद बिना किसी सांसारिक लोभ के (मोक्ष का लोभ तो रहता ही है) रत्नत्रय के मार्ग पर चलने लगता है।

यतः यह जीव आरम्भिकरुप से अनादि संस्कार से तो मिथ्यादृष्टि रहता है, अतः रत्नत्रय के मार्ग से अनेक बार स्खलित होता है। आगमों में तो यहाँ तक कहा गया है कि उपशान्त मोह (ग्यारहवें गुणस्थान) से गिरकर जीव पहले (मिथ्यात्व) गुणस्थान तक भी पहुँच सकता है। तात्पर्य यह है कि जैसे स्वर्णधूलि को मिट्टी में मिलाना हो तो कोई विशेष उपाय नहीं करता होता, किन्तु इसके विपरीत यदि मिट्टी में से सोना उपजाना हो तो अनेक उपाय करने होते हैं। इसी प्रकार संसारी जीव को रत्नत्रय मार्ग पर चलाने के लिए अनेक प्रकार से अभ्यास कराना आवश्यक होता है। यद्यपि पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा गया है कि पहले तो मुनिधर्म का ही उपदेश करना चाहिए, पश्चात् यदि श्रोता असमर्थता प्रगट करे तो श्रावक धर्म का उपदेश करना चाहिए-

योयतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥

वस्तुतः अनादि मिथ्यादृष्टि जीव जो प्रायः अनेक योनियों में भ्रमण करने के बाद (कोई कोई सीधे ही) मनुष्यत्व को प्राप्त करता है सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय तो वह गृहस्थ ही होता है, और प्रायः अनेक भवों के बाद ही मुनि धर्म अंगीकार कर पाता है। अतः आरम्भ में स्थूल धर्म का पालन ही सम्भव हो पाता है। इसलिए श्रावक धर्म में मुनिधर्म की अपेक्षा स्थूलता देखी जाती है।

शास्त्रों में यह उल्लेख प्राप्त है कि आरम्भ में जीव अविरत सम्यग्दृष्टि भी हो सकता हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में इसे आदिधार्मिक भी कहा गया है (इसका अनुशीलन श्रावक परक शब्दावली के अनुशीलन में प्रस्तुत किया जायेगा) श्रावक के मुख्य दो भेद - अविरत, विरताविरत एवं तीन भेद (1) पाक्षिक श्रावक (2) साधक श्रावक और (3) नैष्ठिक श्रावक के रुप में किये गये हैं। इन में मुनिधर्म के आचरण का आरम्भिक अभ्यास कराया जाता है। स्पष्ट है कि श्रावक धर्म में सापेक्ष स्थूलता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि जीवन एवं गृहस्थ श्रावक के जीवन पर दृष्टिपात करते ही जब हम दोनों के व्रत,नियम, आचार, आवश्यक, जीवन-व्यवहार-शैली आदि का निरीक्षण करते हैं तब हमें तत्काल ज्ञात होता है कि मुनिधर्म सूक्ष्म है, जैनधर्म का आचरण विज्ञान बहुत ही सूक्ष्म और वैज्ञानिक है। अत: मुनिजीवन की सभी क्रियाएँ वैज्ञानिक रहस्ययुक्त, सूक्ष्म यतनायुक्त है। मुनिजीवन ही वास्तविक जैनधर्म, जैनाचार, अहिंसापालन है, क्योंकि 'सर्वभूतेषु दया' मुनिजीवन में ही संभव हैं; गृहस्थ जीवन में व्रतधारी श्रावक का जीवन भी मुनिव्रतपालन का अभ्यासमात्र है, श्रावकों के द्वारा किया जानेवाला उपधान तप भी मुनिजीवन का अल्पकालिक प्रयोग है। आगे कुछ बिन्दुओं के माध्यम से श्रावकों के आचार में सापेक्ष स्थूलता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा हैं।

गम्य धर्म :-

पशुओं में प्रवृत्ति की अपेक्षा से असत्य भाषण की प्रवृत्ति नहीं होती और (क्षुद्र जन्तुओं को छोडकर) परिग्रह की प्रवृत्ति भी नहीं होती। पशुओं की पशुता का तात्पर्य केवल गम्यागम्य विवेक का अभाव हैं - अर्थात् पशुओं में मैथुन विषयक विशेष नियमों का पालन नहीं किया जाता। इसलिए मनुष्य जाति के लिए ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ धर्म बताया गया हैं। ब्रह्मचर्य में भी मुनियों के तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आवश्यक है किन्तु श्रावकों को अवस्थानुसार पाक्षिक ब्रह्मचर्य एवं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य दोनों का विधान हैं। मैथुन सेवन में भी लौकिक आचार का पालन तो अनिवार्य ही हैं।

लोकोत्तर धर्म :-

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र का सम्मिलित स्वरुप रत्नत्रय लोकोत्तर धर्म कहा गया हैं। भिन्न-भिन्न आचार्योंने सम्यग्दर्शन को भिन्न-भिन्न प्रकार से निरुपित किया है। आचार्य समन्त भद्रने श्रावकचारा में सुदेव सुशास्त्र और सुगुरु में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बताया हैं तो आचार्य उमास्वातिने तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन निरुपित किया है। वस्तुत: श्रावक सुदेवादि के श्रद्धान के मार्ग से यथावस्थित तत्त्व यथावत् को जानकर श्रद्धा करता है। इसलिए दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल मुनिधर्म की अपेक्षा स्थूलता है। अथवा सुदेवादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्दर्शन है तो तत्त्वार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन।

सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान को सम्यकज्ञान और सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र को सम्यक् चारित्र नाम दिया जाता है। यद्यपि तीनों के आचरण में अनेक सोपान हैं।

दैनिकचर्या और धर्म :-

श्रावक की दैनिक चर्या अनेक विध आरम्भ से युक्त होती है इसलिए जो अष्टादश आचार स्थान श्रमण के लिए उपदिष्ट हैं उनमें से अनेक अंशों का पालन श्रावकों में हो हीं नहीं पाता, अहिंसा के माध्यम से इसे समझा जा सकता है। अहिंसा स्वाभाविक रुप से तो सबमें विद्यमान रहती है लेकिन जैसे ही जीव आरम्भयुक्त होता है हिंसा भी प्रारंभ हो जाती है। दन्तधावन से लेकर पूरी दिनचर्या में अनेक स्थावर जीवों का घात श्रावक के हाथ से होता रहता है, और उद्योग (कृषि, पशुपालन आदि पारम्परिक और आधुनिक भी) में अनेक सूक्ष्म-बादर त्रस जीवों का घात होता रहता हैं। सारांशत: आरम्भी, संकल्पी, उद्योगी और विरोधी इन चार हिंसाभेदों में से श्रमण का तो पूर्ण त्यागरुप आचरण झलकता है जबकि श्रावक में केवल संकल्पी हिंसा का ही त्याग हो पाता हैं।

इसी प्रकार से सभी दैनिक कृत्यों के विषय में समझा जा सकता हैं।

आहारचर्या :-

मुनियों की आहार चर्या अत्यन्त कठोर है जैसा कि पूर्व के परिच्छेद में यथास्थान वर्णित किया गया है। जबकि श्रावकों को मात्र अभक्ष्य वर्जन आदि का विधान है। एक विशेष तथ्य जो कि बोध गम्य है वह यह है कि जहाँ साधु को नियमत: भिक्षावृत्ति से ही भोजन ग्रहण करने का अभिप्राय है वहीं पर श्रावक को भिक्षावृत्ति न करने का अभिप्राय हैं। 'भिक्षुक/भिक्षु' शब्द मात्र इसीलिए श्रमण के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं कि वह भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करे। दूसरे यह भी प्रतीत होता है कि श्रमण-श्रमणी दोनों को ही यही विधान अनेक विधि-निषेधों के साथ तो है ही साथ ही साथ यह भी कि भिक्षावृत्ति आहार प्राप्ति के लिए ही होनी चाहिए एवं संयमोपकरण प्राप्ति के लिए भी। यह तो श्रावक का कर्तव्य है कि वह संयमोपकरणों को देखते हुए आग्रहपूर्वक पूछते हुए उनके बदले नये उपकरण (रजोहरण, वस्त्र, शास्त्र आदि) श्रमण-श्रमणी को दान करें।

षड् आवश्यक :-

श्रावकाचार के अनुसार श्रावकों के निम्नांकित छह दैनिक सम्पादनीय आवश्यक कार्य है - देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान। यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाये तो क्रियापरक आचार में देवपूजा सबसे प्रिय आचरण हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार की नित्य नैमित्तिक देवपूजाएँ श्रावकों द्वारा आयोजित की जाती हैं। श्रमण यदि वहाँ उपस्थित हो तो सहभागी होता है। गुरूपासना दूसरे क्रम पर हैं। श्रावक जब गुरु के सम्पर्क में आये या भ्रमण करते हुए गुरू (आचार्य, उपाध्याय, साधु) जब श्रावक के सम्पर्क में आये तभी सक्रिय गुरूपासना हो जाती है। स्वाध्याय दु:साध्य सा प्रतीत होता है, कारण प्रथम तो शब्दार्थ का बोध नहीं होता, दूसरे चित्तवृत्ति का निरोध नहीं हो पाता, एकाग्रता नहीं आ पाती इसीलिए स्वाध्याय को आवश्यकों में गिना गया है जिससे श्रावक निरन्तर तत्त्वज्ञान में प्रयत्नशील रहें।

संयम और तपों के आचरण में श्रावक यथाक्रम से आगे बढ पाता है। शिक्षाव्रतों के माध्यम से और गुणव्रतों के माध्यम से श्रावक को निरन्तर इनका अभ्यास कराया जाता हैं। इसी प्रकार दान को भी आवश्यक नित्य कार्य प्रतिपादित किया गया हैं।

दान और त्याग में विशेषता है। श्रमण तो प्रव्रज्या के समय ही अकिञ्चन होकर अपरिग्रही हो जाता है; उसके पास भाव त्यागधर्म (कषाय आदि के त्याग की निरन्तर भावना) के अतिरिक्त द्रव्य त्याग हेतु शेष बचा ही नहीं होता इसलिए श्रमण भाव त्यागधर्म का निरन्तर आचरण करते हैं। दूसरी ओर श्रावक (मनुष्य जाति का) सांसारिक स्वभाव के अनुरुप परिग्रही होता है। प्रत्येक जीव तीनों लोकों का स्वामी होना चाहता है और यथासम्भव परिग्रह करता भी हैं। जबकि मुक्ति का मार्ग अपरिग्रह (परिग्रह से मुक्ति) से ही आरम्भ होता है इसलिए उपदेश किया गया है कि पहले तो श्रावक अपने परिग्रह का प्रमाण निर्धारित करे कि वह इतने द्रव्य परिग्रह से अधिक संचित नहीं करेगा। जबकि वह आजीविकोपार्जन में सतत लगा रहता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो द्रव्य वृद्धि होगी ही, इसलिए उसे दान का विधान है जिससे स्वामित्व भाव समाप्त हो सके। इसी को लक्ष्य में रखकर आचार्य उमास्वातिने दान को परिभाषित किया हैं-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।

अर्थात् आचार्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि परकल्याण के निमित्त से ही अतिसर्ग होना चाहिए; अकल्याण के लिए नहीं। यह दान दैनिक जीवन में चार कारणों के आधार पर चार प्रकार का बताया गया है जैसा कि दान शब्द (पृष्ठ 357-58) के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया हैं।

यति धर्म :-

यतिधर्म केवल यति के लिए हैं या श्रावक के लिए भी ? - यह प्रश्न प्रथमतः उपस्थित होता है। वस्तुतः यह प्रायोवाद है। क्षमा आदि का पूर्णतः पालन यतियों में ही प्रगट हो पाता है इसलिए इनका नाम यतिधर्म है न कि श्रावकों के लिए इनका निषेध है। जैन सिद्धांत में स्पष्टता यह प्रतिपादित है कि यद्यपि श्रावक का आचरण मुनियों से भिन्न है फिर भी उसका कर्तव्य है कि लिंग धारण (श्रमण वेश धारण) के अतिरिक्त वह श्रमण की चर्या का यथासम्भव पालन करे। इस कथन में समस्त यतिधर्म का विधान समाहित हो जाता हैं।

परिषह जय :-

क्षुधा, तृषा आदि बाईस परिषहों में से श्रमण तो सभी परिषहों को सभी अवस्थाओं में जीतता ही है। किन्तु श्रावक को सापेक्ष विधान ही है। जैसे - किसी श्रावक को अकारण कारागार में डाल दिया जाये और उसे रात्रि में ही भोजन दिया जाये तब वह अपने विवेकानुसार क्षुधा परिषह को सहन करे। इसी प्रकार सभी परिषहों में श्रावक के सापेक्ष स्थूलता समझनी चाहिए।

इस प्रकार श्रावकों के आचरण में जो स्थूलता देखी जाती है वह शास्त्र सम्मत होने के साथ - साथ अपरिहार्य भी है क्योंकि अनादि काल से संसार में भ्रमण करनेवाला जीव सहसा मुनिवद् नहीं हो सकता इसीलिए देशविरति और सर्वविरति भेद से दो प्रकार का धर्म बताया गया हैं। सर्वविरति के धारक श्रमण के आचरण के विषय में पूर्व के शीर्षकों द्वारा प्रकाश डाला जा चुका हैं। आगे के शीर्षक द्वारा श्रावक धर्म विषयक शब्दावली के अनुशीलन के माध्यम से किञ्चित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

जागरिया

जागरइ णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढए वुद्धी ।
जो सुअइ ण सो धणो, जो जग्गइ सो सया धणो ।।1।।
सुअइ सुअंतस्स सुअं, संकिटाखलियं भवे पमत्तस्स ।
जागरमाणस्स सुअं, थिरपरिचियमप्पमत्तस्स ।।2।।
बालस्सेणं समं सोक्खं, ण विज्जा सह निद्दया ।
ण वेरग्गं पमादेण, णारंभेण दयालुआ ।।3।।
जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं तु सुत्तिया सेया ।
णच्छाहिव भगिणीए, अकहिंसु जिणो जयंतीए ।।4।।
सुवइ य अयगरभूओ, सुयंपि से णस्सती अमयभूयं ।
होही गोणतभूओ, णट्ठम्मि सुए अमयभूए ।।5।।

- अ.रा.पृ. 4/1447

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. श्रावकाचार की शब्दावली का अनुशीलन

आदिधार्मिक गृहस्थ की योग्यता :-

श्रावक गृहस्थ होता है अतः श्रावक बनने से पूर्व गृहस्थ जीवन की योग्यता प्राप्त करना अनिवार्य है। तत्पश्चात् धार्मिक होने की योग्यता प्राप्त होने के बाद वह आत्मा देशविरति धर्म अंगीकार कर व्रती श्रावक बन सकता हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में आदिधार्मिक गृहस्थ विषयक निम्नांकित कथन प्राप्त होते हैं-

आदिधार्मिक गृहस्थ :-

अपुनर्बंधक, प्रथमारब्ध स्थूलधर्माचारयुक्त गृहस्थ को **'आदिधार्मिक'** कहते हैं। इसे ही अन्य धर्म ग्रंथों में **'शिष्टबोधि-सत्त्वनिवृत्तप्रकृत्याधिकार'** नाम से कहा गया हैं।[1]

आदिधार्मिक के लक्षण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है - "आदि धार्मिक व्यक्ति दुराचारी मित्रों का त्याग करता है, सदाचारी कल्याण मित्रों से मित्रता रखता है, उचित स्थिति (कार्यों) का उल्लंघन नहीं करता, लोकमार्ग का अनुसरण करता है, दान देता है तथा कर्तव्य पालन, उदारता, भगवद्पूजा, साधु संग, विधिपूर्वक धर्मशास्त्र श्रवण, प्रयत्नपूर्वक शुभभावनायुक्त होना, उचित व्यवहार, धैर्य, दूरदर्शिता, आदर्श मृत्यु हेतु अंतिम आराधना, परलोक प्रधान विचार करण, गुरुजनसेवा, योगपटदर्शनकरण (विशिष्ट योगाभ्यास हेतु गुरु/आचार्य के द्वारा विशिष्ट उत्तरपट (वस्त्र) धारण किया जाता है, एसे योगधारी गुरु के दर्शन करना -अ.रा.पृ. 4/1640) उसमें चित्तस्थिरता, धारणायुक्त, कुमार्ग त्याग, योगसिद्धि में प्रयत्नशीलता, भगवत्प्रतिमानिर्माण करवाना, जिनवचन-शास्त्रलेखन, मंगलजाप करना, चतुः शरण अंगीकरण, दुष्कृत गर्हा, सुकृतानुमोदना, मन्त्रदेवतापूजन, सत्कार्य श्रवण, औदार्य, उत्तम ज्ञानसाधना आदि गुणों से युक्त होता हैं।[2]

इस प्रकार की प्रवृत्ति सत्प्रवृत्ति है। मार्गानुसारी इस नियम से अपुनर्बंधक होता है। आदिधार्मिकात्मा की उपरोक्त प्रवृत्ति मोक्षमार्गगामिनी होती है; बाधक नहीं होती, अर्थात् तात्त्विक रुप से अविरोधी होती हैं।[3]

श्रावक बनने से पूर्व अर्थात् श्रावकोचित अणुव्रतादि के ग्रहण के पूर्व आदिधार्मिक जीव श्रावक बनने की योग्यता प्राप्त करने हेतु मार्गानुसारित्व अर्थात् मोक्षमार्ग की प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करने के लिए मार्गानुसारी के गुणों को प्राप्त करता हैं। यहाँ मार्ग, मार्गानुसारित्व और मार्गानुसारी के बारे में जानना आवश्यक हैं। आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा हैं[4]-

जिससे आत्मा की शुद्धि होती है, आत्मा के कर्मजनित क्लेशों का शुद्धिकरण होता हो, मोक्षपथ का अन्वेषण, संविग्न (संवेगवान्), अशठ (भ्रान्तिरहित) गीतार्थ (स्वभ्यस्त सूत्रार्थ) का आचरण, शिष्टाचार अथवा प्रवर्तमान अंधानुकरण के त्यागपूर्वक महाजनों (श्रेष्ठ लोगों) के द्वारा किया गया आचरण, अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र 'मार्ग' कहलाता है। उनका अनुसरण 'मार्गानुसारित्व' कहलाता है और इस मार्ग पर चलनेवाला या मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्ति/गमन करनेवाला जीव 'मार्गानुसारी' कहलाता हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में मार्गानुसारी के 35 गुणों का निम्नानुसार वर्णन किया गया हैं।

मार्गानुसारी की योग्यता (पैंतीस गुण) :-

1. न्यायसंपन्न वैभव :-

नीतिवान् गृहस्थ को सर्वप्रथम स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वास-घातादि तथा चोरी आदि निंदनीय उपायों का त्याग करके अपने-अपने वर्ण के अनुसार सदाचार और न्यायनीति से ही उपार्जित धन-वैभव से संपन्न होना चाहिए।[5]

2. शिष्टाचार-प्रशंसक :-

व्रतस्थ (व्रतधारी) या ज्ञानवृद्धों की सेवा से उपलब्ध शिक्षा को शिष्टाचार कहते हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में शिष्टाचार का वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने कहा है - लोक विरुद्ध से डरना, दीन-दुःखी का उद्धार करना, बडों का आदर करना और उपकारी के प्रति या अपकारी के प्रति सदैव उपकार करना - यह सदाचार कहलाता हैं।

सर्वत्र निंदा त्याग, सज्जनों की प्रशंसा, आपत्ति में अदीनता, संपत्ति में नम्रता, सप्रयोजन मितभाषिता और अविसंवादन, सत्क्रियायुक्तता, कुलाचार पालन असद्व्यय का त्याग स्थानोचित क्रियाकारिता, मुख्य कार्यों में निर्बन्धता, अप्रमत्तता, लोकाचार पालन, सर्वत्र औचित्य पालन, प्राण संकट की स्थिति में भी निंद्य प्रवृत्ति का त्याग 'शिष्टाचार' कहलाता हैं। मार्गानुसारी जीव शिष्टाचार का प्रशंसक होता हैं।[6]

शिष्टाचार की प्रशंसा धर्म के बीजरुप होने से इससे इसलोक में सद्गुण परलोक में धर्मफल एवं परंपरा से मोक्षफल की प्राप्ति होती है।

3. समान कुल और शील वाले भिन्न गोत्रीय के साथ विवाह-संबंध :-

पिता, दादा आदि पूर्वजों के वंश के समान वंश हो, मद्य, मांस आदि दुर्व्यसनो के त्यागरुपी शील-सदाचार भी समान हो, उसे समान कुलशील कहते हैं। उस प्रकार के कुलशीलयुक्त वंश के एक पुरुष से जन्मे स्त्री-पुरुष एकगोत्रीय कहलाते हैं, जबकि उनसे भिन्न गोत्र में जन्में हुए भिन्न गोत्रीय कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि समान कुलशील वाले भिन्न गोत्रीय के साथ विवाह संबंध करना चाहिए।[7]

---

1. "यो ह्यन्यैः शिष्टबोधिसत्त्वनिवृत्तप्रकृत्यधिकारादिशब्दैभिधीयते स एवास्माभिरादिधार्मिकाऽऽपुनर्बन्धकादिशब्दैरिति भावः।"
   - अ.रा.पृ. 2/6
2. अ.रा.पृ. 2/6
3. अ.रा.पृ. 2/7
4. अ.रा.पृ. 6/37, 38, 58
5. अ.रा.पृ. 4/2002-2003
6. अ.रा.पृ. 7/818, 337
7. अ.रा.पृ. 6/1237-38

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तम-कुलशीलवाली शुद्ध कन्या के साथ विवाह लाभदायक और सफल होता हैं। वह घर की रक्षा करती हैं। सुपुत्रों को जन्म देकर संस्कारी बनाती हैं। चित्त में अखण्ड शांति रहती हैं। गृहकार्यो की सुव्यवस्था रखती हैं। देव-गुरु-अतिथि-परिवार-रिश्तेदार-मित्रादि को घर में सत्कार होता हैं।

4. पापभीरु[8] :-

दृष्ट और अदृष्ट दु:ख के कारण रुप कर्मो (पाप) से डरने वाले पापभीरु कहलाते हैं। उसमें चोरी, परदारागमन, जुआ आदि लोकप्रसिद्ध पापकर्म हैं जो इसलोक में राजदंडादि दु:ख दिलाते है एवं मांस भक्षण, शराब, रात्रिभोजनादि परलोक में नरकादि दुर्गतिरुप दु:ख देते है।

5. प्रसिद्ध देशाचार का पालक :-

सद्गृहस्थ को शिष्ट-पुरुषों द्वारा मान्य, चिरकाल से चले आते हुए परम्परागत वेश-भूषा, भाषा, पोशाक, भोजन आदि सहसा नहीं छोडने चाहिए। अपने समग्र ज्ञातिमंडल के द्वारा मान्य प्रचलित विधि-रीति-रिवाजों व क्रियाओं का अच्छी तरह पालन करना चाहिए।[9] अन्यथा धर्म की निंदा होती है और लोक-विरोध होने से अनेक प्रकार से अहित होता है।

6. अवर्णवादी न होना :-

सद्गृहस्थ को किसी का भी अवर्णवाद नहीं करना चाहिए, चाहे वह व्यक्ति जघन्य हो, मध्यम हो या उत्तम।[10] दूसरों की निंदा करने से मनमें धृणा, द्वेष वैर-विरोधादि अनेक दोष बढते हैं। वाचक श्री उमास्वाति महाराजने कहा है कि, "दूसरे को नीचा दिखाने से, दूसरों का अवर्णवाद बोलने से एवं स्वयं के उत्कर्ष के गीत गाने से जीव क्रोडों भवों में भी नहिं छूटे - ऐसा नीच गोत्र कर्म अनेक भवों तक नीच-गोत्र कर्म का बंध होता हैं; बहुजनमान्य राजादि की निंदा से तो तत्काल विपरीत परिणाम आते हैं।

7. सद्गृहस्थ के रहने का स्थान :-

सद्गृहस्थ के रहने का घर एसा हो, जहाँ अधिक द्वार न हो, क्योंकि अनेकों द्वार होने से चोरी आदि का भय होता है। घर भी जहाँ शिकारी, मच्छीमार आदि हिंसक; दास, नोकर, याचकादि वर्ग, चाण्डाल, भील, स्मसानरक्षक, मनोरंजन करनेवाले, आदि न रहते हो वैसे सज्जनों के पडोशयुक्त योग्य स्थान में हो। जहाँ हड्डियों आदि का ढेर न हो, तीक्ष्ण कांटे न हो तथा घर के आसपास बहुत सी दूब, घास, प्रवाल,पौधे, प्रशस्त वनस्पति उगी हुई हो, जहाँ मिट्टी अच्छे रंग की व सुगन्धित हो, जहाँ का पानी स्वादिष्ट हो, वह मकान न अति प्रकट हो और न अति गुप्त हो, अर्थात् राजमार्ग पर भी न हो और एकदम सकडी गली में अंधेरेवाला न हो एवं जहाँ अच्छे सदाचारी पडौसी हों; वहाँ सद्गृहस्थ को निवास करना चाहिए।[11]

8. सदाचारी के साथ संगति :-

यदि हम सर्वसंग का त्याग न कर सकें तो सत्संग अवश्य करना चाहिए। सद्गृहस्थ के लिए सत्संग का बडा महत्त्व हैं। जो इसलोक और परलोक में हितकर प्रवृत्ति करते हो, उन्हीं की संगति अच्छी मानी गई है क्योंकि खल, ठग, जार, भाट, क्रूर, सैनिक, नट आदि की संगति करने से शील का नाश होता है धर्म से पतन होता है, और सदगुणों का नाश होता है अत: सज्जन पुरुषों का संग करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषों का संग औषधरुप होता हैं।[12]

9. माता-पिता का पूजक :-

सद्गृहस्थ तीनों समय माता-पिता को नमस्कार करता है, उनको हितकारी धर्मानुष्ठान में लगाता है, उनका सत्कार सम्मान करता है तथा उनकी आज्ञा का पालन करता हैं। उनको पहले भोजन करवा कर फिर स्वयं भोजन करता हैं। मनु स्मृति में भी कहा है कि दस उपाध्यायों के बराबर एक आचार्य होता है, सो आचार्यों के बराबर एक पिता और हजार पिताओं के बराबर एक माता होती हैं।[13]

10. जो उपद्रव वाले स्थान को शीध्र छोड़ देता हैं :-

अपने राज्य या दूसरे देश के राज्य से भय हो, दुष्काल हो, महामारी आदि रोग का उपद्रव हो, महायुद्ध छिड गया हो, गाँव या नगर आदि में सर्वत्र अशांति पैदा हो गई हो, रात-दिन लडाई-झगडा रहता हो तो सद्गृहस्थ को वह स्थान शीध्र छोड देना चाहिए[14]। क्योंकि वहां रहने से धर्म, अर्थ और काम (के साधनों) का नाश होता है और पुन: उनकी प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है।

11. निंदनीय कार्य का त्यागी :-

सद्गृहस्थ को देश, जाति एवं कुल की दृष्टि से गर्हित कार्य में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।[15] लोक में निंदनीय ऐसे मांस, मदिरा, परस्त्रीगमन आदि पापकार्यों का त्याग करना चाहिए क्योंकि उत्तम कुल-शीलवान भी सदाचार से ही शोभनीय एवं प्रशंसनीय बनता है।

12. आय के अनुसार व्यय करना[16] :-

आय के चार भाग करके क्रमश: एक भाग बचत, दूसरा व्यापार, तीसरा धर्म और चौथा परिवार के लिए व्यय करना चाहिए। सद्गृहस्थ को अपने परिवार के लिए, आश्रितों के लिए, अपने निजी उपयोग के लिए तथा देवताओं और अतिथियों के पूजन-सत्कार में द्रव्य खर्च करने से पहले आय देखकर ही खर्च करना चाहिए। आय और व्यय का हिसाब किये बिना जो कुबेर के समान अत्याधिक खर्च करता है, वह थोडे ही समय में भिखारी बन जाता हैं। आय से कम खर्च करना - यही विद्वान का लक्षण है

13. संपत्ति के अनुसार वेष धारण[17] :-

सद्गृहस्थ को अपनी संपत्ति, वैभव, देश, काल और जाति के अनुसार ही वस्त्र, अलंकार आदि धारण करना चाहिए। भडकीली पोशाक देखकर लोग अनुमान लगा लेते हैं कि इसने बेईमानी, अन्याय, अत्याचार या निंदनीय कर्म करके पैसा कमाया होगा। यदि आमदनी होती हो, फिर भी कंजूसी से खर्च नहीं करता, वैभव होने

8. अ.रा.पृ. 5/880, 1590
9. अ.रा.पृ. 4/2632, प्रशमरति-100
10. अ.रा.पृ. 1/792, 7/781
11. अ.रा.पृ. 7/969
12. अ.रा.पृ. 7/337
13. अ.रा.पृ. 6/251, 253
14. अ.रा.पृ. 2/927
15. अ.रा.पृ. 1/115, 7/781
16. अ.रा.पृ. 2/320
17. अ.रा.पृ. 6/1203

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भी खराब, गंदे, फटे-टूटे कपडे पहनता है, तो वह भी लोगों में निंदा का पात्र बनता है। वह धर्म का अधिकारी भी नहीं बन सकता।

14. बुद्धि के आठ गुणों का धनी[18] :-

1. **शुश्रूषा** - धर्मशास्त्र सुनने की अभिलाषा
2. **श्रवण** - धर्मश्रवण करना
3. **ग्रहण** - श्रवण करके ग्रहण करना
4. **धारण** - सुनी हुई बात को भूल न जाय, इस तरह उसे धारण करके मन में रखना
5. **ऊह** - जाने हुए अर्थ के अतिरिक्त दूसरे अर्थों के संबंध में तर्क करना, अथवा ऊह अर्थात् सामान्य ज्ञान का और उपोह यानि विशेष ज्ञान का व्यावर्तन करना
6. **श्रुति** - युक्ति और अनुभूति के विरुद्ध अर्थ से हटना अथवा हिंसा आदि आत्मा को हानि पहुँचाने वाले पदार्थों से पृथक् हो जाना या अपने को पृथक् कर लेना।
7. **अर्थ-विज्ञान** - ऊहापोह के योग से मोह और संदेह दूर करके वस्तु का विशिष्ट सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना।
8. **तत्त्वज्ञान** - ऊहापोह के विशेष प्रकार के ज्ञान से विशुद्ध निश्चित ज्ञान प्राप्त करना।

इस प्रकार के बौद्धिक गुण जो गृहस्थ प्राप्त कर लेता है, वह कभी भी अपना अकल्याण नहीं करता।[19]

15. प्रतिदिन धर्म-श्रवण-कर्ता :-

सद्गृहस्थ को प्रतिदिन अभ्युदय और निःश्रेयस के कारण रुप धर्म के श्रवण में उद्यत रहना चाहिए। प्रतिदिन धर्म श्रवण करने वालों का मन अशांति से दूर रह कर आनंद का अनुभव करता है। धर्म-व्याख्यान धबडाए हुए व्यक्ति की व्याकुलता दूर करता है, त्रिविध ताप से तपे हुए को शांत करता है, मूढ को इससे बोध प्राप्त होता है और अव्यवस्थित चंचल मन स्थिर हो जाता है अतः प्रतिदिन धर्म-श्रवण जीवन में उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि में सहायक है।[20]

16. अजीर्ण के समय भोजन छोड देना :-

सद्गृहस्थ को अजीर्ण के समय भोजन छोड देना चाहिए। पहले किया हुआ भोजन जब तक पच न जाये, तब तक पुनः भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि अजीर्ण सब रोगों का मूल है। और अजीर्ण के समय भोजन करने पर वह रोग को बढाता है।[21]

17. समय पर पथ्य भोजन करना[22] :-

सद्गृहस्थ को भूख लगने पर आसक्ति-रहित होकर अपनी प्रकृति, रुचि, जठराग्नि एवं प्रमाण के अनुसार उचित मात्रा में पथ्य भोजन करना चाहिए। अधिक भोजन से वमन, अतिसार या अजीर्ण आदि रोग होंगे व कभी मृत्यु भी हो सकती है। भूख के बिना अमृत भी जहर हो जाता है और क्षुधाकाल समाप्त होने के बाद भोजन करेगा तो उसे भोजन पर अरुचि व धृणा होगी और शरीर में पीडा होगी।

18. परस्पर अबाधित रुप से तीनों वर्गों की साधना :-

धर्म, अर्थ और काम - ये तीन वर्ग कहलाते हैं। जिससे अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है। जिससे लौकिक सर्व प्रयोजन सिद्ध हो वह अर्थ है। अभिमान से उत्पन्न समस्त इन्द्रिय सुखों से संबंधित रसयुक्त प्रीति काम है। **सद्गृहस्थ को इन तीनों वर्गों की साधना इस प्रकार से करनी चाहिए ये तीनों वर्ग एक दूसरे के परस्पर बाधक न बनें।** जो बिना सोचे-विचारे उपार्जित धन को खर्च करते हैं वे तादात्विक कहलाते हैं; जो बाप-दादों से प्राप्त धन का अनीति पूर्ण ढंग से उपयोग कर उसे समाप्त कर देते हैं वे मूलहर कहलाते हैं; जो नौकरों को और खुद को परेशान करके धन को इकट्ठा तो करते हैं परन्तु उसका उचित स्थान पर व्यय नहीं करते वे कदर्य कहलाते हैं। धर्म, अर्थ और काम - इन तीनों में से प्रत्येक के एकान्तसेवी गृहस्थ अपने जीवन के विकास में स्वयं रुकावट डालते हैं। गृहस्थ को धर्म की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अर्थ और काम का मूल धर्म है। **सज्जन धर्मरुपी धन से धनाढ्य होते हैं।**[23]

19. अतिथि आदि का सत्कार :-

सद्गृहस्थ को घर आए हुए अतिथि का स्वागत करना आवश्यक है। अतिथि उसे कहते हैं - जो सतत स्वपर-कल्याण की प्रवृत्ति में एकाग्र होने से जिसकी कोई निश्चित तिथि न हो। जिस महात्मा ने तिथि और पर्वों के उत्सव का त्याग किया है, उसे अतिथि समझना चाहिए और शेष को अभ्यागत। साधु-साध्वीगण सदा ही समग्र लोक में प्रशंसनीय होते हैं। इसलिए वह उत्कृष्ट अतिथि है। गुणवान् अतिथि साधु को भक्तिपूर्वक और दीन-दुःखी एवं अनाथ-पंगुओं को अनुकम्पापूर्वक भोजन-जल-वस्त्रादि का दान देना 'अतिथि सत्कार' कहलाता है।[24]

20. अभिनिवेश से दूर :-

सद्गृहस्थ को अभिनिवेश/मिथ्या-आग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। अभिनिवेशयुक्त व्यक्ति हठी और अभिमानी होता है। वह अपने ही दुर्गुणों से दुःखी होता है।[25] दुराग्रही व्यक्ति स्वयं व्यर्थ में ही अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके लोक में निंदा का पात्र बनता है।

21. गुण का पक्षपाती :-

सद्गृहस्थ गुणों का और उपलक्षण से गुणीजनों का पक्षपाती होना चाहिए। गुणीजन जब भी उसके संपर्क में आए, वह उनके साथ सौजन्य, औदार्य व गम्भीर्यपूर्वक व्यवहार करें। 'आओ पधारो' जैसे प्रिय शब्दों से स्वागत करे, साथ ही गुणीजनों का समय-समय पर बहुमान करे, उनकी प्रशंसा करे, उन्हें प्रतिष्ठा दे, उनका पक्ष ले, सहायक बने इत्यादि प्रकार से गुणीजनों के अनुकूल प्रवृत्ति करें। **ऐसा गुणीजनों के प्रति एवं स्वपर-कल्याणकारी आत्मधर्मरुप आत्मगुणों के प्रति पक्षपाती व्यक्ति निश्चित ही पुण्य का बीज बोकर परलोक में गुणसमूह-संपत्ति प्राप्त करता है।**[26]

18. अ.रा.पृ. 5/1327
19. अ.रा.पृ. 1/247
20. अ.रा.पृ. 7/1017
21. अ.रा.पृ. 1/203
22. अ.रा.पृ. 6/1611
23. अ.रा.पृ. 4/2324
24. अ.रा.पृ. 7/263, 1/33
25. अ.रा.पृ. 7/715, 1/291
26. अ.रा.पृ. 3/928 3/929

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

22. निषिद्ध देश-काल-चर्या का त्याग :-

निषिद्ध देश-स्थान अर्थात्, कारावास, वध स्थान, जुआघर, वेश्यावास, पराभव योग्य स्थान, अन्य का भण्डार स्थान, अन्य का अंत:पुर, निर्जन जगह चोर-नटादि के स्थान में जाने से अनेक आपत्तियों का संभव रहता है अत: जिस देश और काल में जिस आचार का निषेध किया गया हो, उसे सद्गृहस्थ को छोड देना चाहिए। अगर कोई हठवश निशिद्ध देशाचार या वर्जित कालाचार को अपनाता है तो उसे प्राय: चोर, डाकू आदि के उपद्रव का सामना करना पडता है, उससे धर्म की भी हानि होती हैं।[27]

23. बलाबल का ज्ञाता :-

अविवेक महा आपत्तिओं का स्थान है; लाभा लाभ के विचारपूर्वक कार्य करनेवालों को गुणानुरागिणी संपत्तियाँ स्वयंमेव प्राप्त होती है। (किरातार्जुनीय महाकाव्य) अत: सद्गृहस्थ को अपनी अथवा दूसरे की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शक्ति जान कर तथा अपनी निर्बलता-सबलता का विचार करके सभी कार्य प्रारंभ करना चाहिए। बलाबल का विचार किये बिना किया हुआ कार्यारंभ शरीर, धन आदि संपत्तियों का क्षय करता हैं।[28]

24. वृत्तस्थों और ज्ञानवृद्धों का पूजक :-

आचार के पालन में दृढता से स्थिर रहने वालों को वृत्तस्थ कहते हैं। वृत्तस्थ के सहचारी, जो ज्ञानवृद्ध हो, उनकी पूजा करनी चाहिए। पूजा का अर्थ है - सेवा करना, नमस्कार करना, आसन देना उनके आते ही खड़े होना, आदर देना, सत्कार-सम्मान देना आदि। वृत्तस्थ और ज्ञानवृद्ध-पुरुषों की पूजा करने से अवश्य ही कल्पवृक्ष के समान उनके सदुपदेश आदि फल प्राप्त होते हैं।[29]

25. पोष्य का पोषक करना :-

परिवार में माता-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि जो व्यक्ति स्वंय के आश्रित हो, सद्गृहस्थ उनका भरण-पोषण करे; उनका योगक्षेम वहन करे। तथा दरिद्र मित्र, अपुत्री विधवा बहन, स्वज्ञाति के वृद्ध और कुलवान दरिद्र - इन चार प्रकार के मनुष्यों को भी लक्ष्मीवंत गृहस्थों के द्वारा सहयोग करने योग्य है। इससे उन सबका सद्भाव व सहयोग प्राप्त होगा। भविष्य में वे सब उपयोगी बनेंगे।[30]

26. दीर्घदर्शी :-

सद्गृहस्थ को किसी भी कार्य के करने से पूर्व दूरदर्शी बन कर उस कार्य के प्रारंभ से पूर्ण होने तक के अर्थ-अनर्थ का विचार कर कार्य करना चाहिए क्योंकि बिना सोचे कार्य करनेवालों को प्राय: महान आपत्ति होती है।[31]

27. विशेषज्ञ :-

सद्गृहस्थ को विशेषज्ञ भी होना चाहिए। जो वस्तु अवस्तु कृत्य-अकृत्य, स्व-पर आदि का अन्तर जाने वह विशेषज्ञ हैं। वस्तुतत्त्व का निश्चय करनेवाला ही वास्तव में विशेषज्ञ हैं। विशेषत: आत्मा के गुणों और दोषों को भी जाने, वही विशेषज्ञ कहलाता हैं।[32]

28. कृतज्ञ :-

कृतज्ञ व्यक्ति श्रीफल की तरह महान यश: पूजा एवं कुशल-कल्याण को प्राप्त होता है अत: सद्गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। जो दूसरों के लिए उपकार को मानता हो, वह कृतज्ञ हैं। उपकारी की ओर से जो कल्याण का लाभ होता है उसके बदले उसका बहुमान करना चाहिए। कृतज्ञता का बदला नहीं चुकाया जा सकता।[33]

29. लोकवल्लभ :-

सद्गृहस्थ का लोकप्रिय होना जरुरी है। लोकप्रिय वही हो सकता है - जो विनय, नम्रता, सेवा, सरलता, दया आदि गुणों से युक्त हों। जिनमें लोकप्रियता नहीं होती वे जनता से धृणा, द्वेष वैर, संघर्ष या विरोध कर अपने धर्मानुष्ठान को दूषित कर लेते हैं और धर्म की भी निंदा होती हैं।[34]

30. लज्जावान् :-

सद्गृहस्थ के लिए लज्जा का गुण परमावश्यक हैं। लज्जावान व्यक्ति किसी भी पापकर्म को करते हुए संकोच करेगा, प्राण चले जाएं मगर व्रत-नियमों का त्याग नहीं करेगा। अनेक गुणों की जन्मदात्री लज्जा को पाकर साधक सत्य-सिद्धांत पर अडिग रहता हैं।[35]

31. दयावान् :-

दया सद्गृहस्थ का महत्त्वपूर्ण गुण हैं। दु:खी जीवों का दु:ख दूर करने की अभिलाषा दया हैं। व्यक्ति को जैसे अपने प्राण प्रिय है, वैसे भी सभी जीवों को अपने प्राण उतने ही प्रिय हैं। इसलिए धर्मात्मा गृहस्थ दया के अवसर कदापि न चूकें।[36]

32. परोपकार करने में कर्मठ :-

सद्गृहस्थ को परोपकार के कार्य भी करने चाहिए। उसे केवल अपने ही स्वार्थ में रचापचा नहीं रहना चाहिए। **परोपकारवीर एवं परोपकारकर्मठ मनुष्य सभी के नेत्रों में अमृतांजन के समान होता हैं।**[37]

33. सौम्य :-

सद्गृहस्थ की प्रकृति और आकृति सौम्य होनी चाहिए। क्रूर आकृति और भयंकर स्वभाववाला व्यक्ति लोगों में उद्वेग पैदा कर देता है, उसका प्रभाव क्षणिक होता है, जबकि सौम्य व्यक्ति से सभी आकृष्ट होते हैं, कोई भयभीत नहीं होता, अपितु प्रभावित हो जाते हैं।[38]

34. षड् अन्तरंग शत्रुओं के त्याग में उद्यत :-

सद्गृहस्थ सदा छह अन्तरंग शत्रुओं को मिटाने में उद्यत रहता है। दूसरे की परिणीता अथवा अपरिणीता स्त्री के साथ सहवास की इच्छा काम है। अपनी अथवा पराई हानि का सोच-विचार किए बिना कोप करना क्रोध है। दान देने योग्य व्यक्ति को दान न देना तथा अकारण पराया धन ग्रहण करना लोभ हैं। किसी के द्वारा दिया गया योग्य उपदेश दुराग्रहवश नहीं मानना मान हैं। बिना कारण दु:ख

27. अ.रा.पृ. 4/2692 पृ. 4/2633
28. अ.रा.पृ. 4/1291
29. अ.रा.पृ. 7/263
30. अ.रा.पृ. 5/1132
31. अ.रा.पृ. 4/2546, 7/957
32. अ.रा.पृ. 6/1265
33. अ.रा.पृ. 3/347
34. अ.रा.पृ. 6/722
35. अ.रा.पृ. 6/598
36. अ.रा.पृ. 4/2457
37. अ.रा.पृ. 5/697
38. अ.रा.पृ. 7/1165

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देकर तथा जुआ, शिकार आदि अनर्थकारी कार्यों में आनंद मनाना हर्ष कहलाता है। किसी की उन्नति देखकर कुढ़ना, उससे डाह करना मत्सर है। ये छहों हानिकारक होने से इनका त्याग करना चाहिए।[39]

35. इन्द्रिय-समूह को वश में करने में तत्पर :-

सद्गृहस्थ को अपने इन्द्रिय-समूह को यथोचित मात्रा में वश में करने का अभ्यास करना चाहिए। जो इन्द्रियों की स्वच्छंदता का त्याग करता है, वही व्यक्ति महासंपत्ति को प्राप्त करता हैं।[40]

श्रावक के 21 गुण[41] :-

1. **अक्षुद्र** - गंभीरता युक्त
2. **रुपवान्** - संपूर्ण अङ्गोपाङ्गयुक्त और मनोहर आकारवान्
3. **प्रकृति सौम्य** - विश्वसनीय रुपयुक्त, पाप व्यापार से रहित सुखयुक्त
4. **लोकप्रिय** - लोकविरुद्ध कार्य का त्याग करनेवाला
5. **अक्रूर** - क्लिष्ट अध्यवसाय रहित
6. **भीरु** - पाप से डरनेवाला
7. **अशठ** - सदनुष्ठाननिष्ठ सुकृतलीन
8. **दाक्षिण्ययुक्त (सदाक्षिण्य)** - स्वकार्य का त्याग करके भी परोपकार रसिक, सत्कार्य हेतु अन्य के द्वारा प्रार्थना करने पर प्रार्थना भङ्ग नहीं करनेवाला
9. **लज्जालु** - लज्जावान् - अकृत्य की बात से शर्मिंदा होने के स्वभाववाला
10. **दयालु (दयावान्)** - जीवदया पालक
11. **मध्यस्थ** - राग-द्वेष रहित बुद्धिवाला, समदर्शी
12. **सौम्य दृष्टि** - दर्शन मात्र से जीवों में प्रीति उत्पादक
13. **गुणरागी** - गुणानुरागी, गुणपक्षपाती
14. **सत्कथक** - सद्वाणीकथक
    सुपक्षयुक्त - सदाचारी परिवारयुक्त
15. **सुदीर्घदर्शी** - परिणाम के पर्यालोचन (दीर्घविचार) पूर्वक कार्य करनेवाला
16. **विशेषज्ञ** - विवेकी
17. **वृद्धानुग** - ज्ञानी, वयोवृद्ध और अनुभवियों का अनुकरण करनेवाला
18. **विनीत** - गुरुजनों का गौरव (बहुमान) करनेवाला
19. **कृतज्ञ** - दूसरों के द्वारा स्वयं के प्रति किये गए अत्यल्प उपकार को भी नहीं भूलनेवाला
20. **परहितकारी** - स्वभाव से ही परोपकारी
21. **लब्धलक्ष्य** - वन्दनादि धर्मकार्य अनुष्ठान की शिक्षायुक्त (पूर्वभवाभ्यस्त) करना।

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने श्रावक के गुणों का वर्णन निम्नासुर किया हैं -

1. अक्खुद्द (अक्षुद्र) :-

श्रावक क्षुद्रता अर्थात् तुच्छता, क्रूरता, दरिद्रतादि से रहित अर्थात् गंभीर, निपुणबुद्धि, अक्रूर और उदारचित्त होना चाहिए। गंभीर श्रावक ही धर्म को प्राप्त/ग्रहण कर सकता हैं। निपुण-सूक्ष्म बुद्धिमान् होने से उसे समझ सकता है, अक्रूर होने से वैर-विरोध से दूर रहता है जिससे श्रावक के कारण लोग धर्मद्वेष या धर्म की निंदा न करे। तथा उदारचित्त होने से स्वपर-उपकार में समर्थ होता है, अवसर प्राप्त होने पर शासन प्रभावना करने पर सभी को आनंद प्रदान करता हैं। साथ ही तप, अभिग्रहादि में अग्लान अर्थात् अदीनवृत्ति से रहता है जिससे धर्म की सम्यगाराधना होती है अतः श्रावक 'अक्षुद्र' होना चाहिए।[42]

2. रुववं[43] (रूपवान्) :-

श्रावक स्पष्ट पञ्चेन्द्रिययुक्त, संपूर्ण अङ्गोपाङ्गयुक्त, कान; मुख; बधिरादि दोष रहित, प्रशस्त आकारवान, सामर्थ्ययुक्त शरीरवान, तपः संयमादि अनुष्ठान योग्य सुन्दर संहनन युक्त, उत्तमकुलोत्पन्न, सुगुण युक्त होना चाहिए।

उपरोक्त प्रकार से रुपवान श्रावक के द्वारा सुंदर धर्माराधना करने पर धर्म की प्रभावना होती है, जिससे तीर्थ/शासन की उन्नति होती हैं।

प्रायः कदाचित् शेष सद्गुण होने पर कुरुपता भी धर्म की प्रशंसा करवाती है, तथापि '**आकृतिः गुणान् कथयति**' इस नियम के अनुसार कुरुप श्रावक 'मध्यम' माने जाते हैं।

3. पगइसोम्म - प्रकृति सौम्य :-

श्रावक प्रकृति सौम्य अर्थात् स्वभाविक रुप से आनंदकारी विश्वसनीय आकृतिवान, हिंसा-चोरी आदि पाप कर्मों से और पाप व्यापार से रहित, सुखपूर्वक सेवन योग्य अर्थात् क्लेशरहित और उपशम/प्रशम कारक होना चाहिए।[44]

4. लोगप्पिअ - लोकप्रिय :-

श्रावक सदाचरण, निंदा, जुआ, चोरी, आदि लोक विरुद्ध का त्याग, दान, विनय (उचित आदर-सत्कार), शील (सदाचार) से परिपूर्ण होने से लोकप्रिय होता है। कहा भी है - इससे लोकविरोध नष्ट होता है। दान से यश प्राप्त होता है, वैर नष्ट होता है, अन्य लोग भी भाई जैसा व्यवहार करते हैं। विनयपूर्वक मधुर वचन से व्यक्ति संसार में लोकप्रियत्व प्राप्त करता है। सुशील कीर्ति, यश, सर्वजनवल्लभता और परलोक में सद्गति को प्राप्त करता है।[45]

श्रावक के लोकप्रिय होने से अन्य लोग धर्म के प्रति बहुमान और आंतरिक प्रीति धारण करते है जो सम्यग्दर्शन/बोधिजीव का कारण है। और शुद्ध धर्म प्रान्ते मोक्षफलरुप सिद्धि प्राप्त करवाता हैं।

5. अकूर/अक्कूर (अक्रूर)[46] :-

श्रावक 'अक्रूर' यानी प्रसन्न चित्तवाला होता है अर्थात् क्लिष्ट अध्यवसाय, रौद्र (भयजनक) आकार, ईर्ष्या, परदोषदर्शक या परछिद्रान्वेषण, लंपटता आदि दोषों से रहित होता है। क्योंकि इन दोषों के होने पर धर्म की आराधना सम्यग् रुप से नहीं हो सकती। 'अक्रूर' होने पर ही श्रावक सम्यकाराधक हो पाता हैं।

39. अ.रा.पृ. 1/761
40. अ.रा.पृ. 7/1458-59, 4/2424
41. अ.रा.पृ. 4/2727-28; प्रवचन सारोद्धार-269 द्वार; धर्मरत्नप्रकरण-370-372
42. अ.रा.पृ. 1/150
43. अ.रा.पृ. 6/575
44. अ.रा.पृ. 5/71; धर्मसंग्रह 1/10; धर्मरत्न प्रकरण 1/3; प्रवचन सारोद्धार-239 द्वार
45. अ.रा.पृ. 6/722; धर्मरत्न 1/1-4
46. अ.रा.पृ. 1/129; धर्मसंग्रह-12

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. भीरु[47] (भीरु) :-

श्रावक पाप भीरु होता है अत: कारण/प्रसंग उपस्थित होने पर भी नि:शंक रुप से हिंसा, चोरी आदि अकार्यों में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि वह अपयश, कलङ्क, निजकुलमालिन्य, नरकादि दुर्गति आदि से डरता है जिससे संभावित विघ्न-बाधाओं से भी बच जाता हैं। अत: पापभीरु श्रावक ही धर्मपालन के योग्य हैं।

7. असढ[48] (अशठ) :-

श्रावक अशठ अर्थात् मायारहित, राग-द्वेष रहित, भ्रान्तिरहित, आलस्य रहित, प्रपञ्च रहित, परवञ्चनरहित और सरल तथा इन्द्रियों के विषयों के प्रति मन का निग्रह करनेवाला (रोकनेवाला) होता है। अशठ श्रावक सभी के विश्वास का पात्र प्रशंसनीय, मन-वचन-काय की एकतायुक्त, स्वचित्तरञ्जक एवं भावपूर्वक धर्मानुष्ठान में प्रवृत्तिवान् होता हैं। अत: 'अशठ' आत्मा ही धर्मयोग्य होता हैं।

8. सुदक्खिण[49] (सुदाक्षिण्य) :-

श्रावक सुदाक्षिण्य अर्थात् धीर-गंभीर, प्रकृति से ही दयालु और परोपकारी होता है तथापि किसी को पापकार्य में सहयोग नहीं करता। स्वयं के कार्य का त्याग करके भी दूसरों का उपकार करने में तत्पर होता है जिससे वह सर्व लोक में अलङ्घनीय (ग्राह्य) वचन युक्त और धार्मिक लोगों के लिए अनुकरणीय होता हैं। जिससे लोग इच्छा नहीं होने पर भी अनायास ही धर्म की आराधना करते हैं।

9. लज्जालु (लज्जालु) :-

श्रावक लज्जालु अर्थात् अकार्य (नहीं करने योग्य, पाप कार्य) का त्यागी, या अकार्य में शंकायुक्त होता हैं। वह अकृत्यसेवन की बात से भी लज्जित होता है और स्वयं के द्वारा अङ्गीकृत सुकृत का त्याग नहीं करता।[50]

10. दयालु (दयालु) :-

श्रावक जीवदया पालक, जीव रक्षक दु:खी, दरिद्र और धर्म रहित प्राणियों के प्रति भी दयावान् और दु:खी जीवों की दु:ख से मुक्ति हो - एसी भावनायुक्त होता हैं। क्योंकि धर्म का मूल दया हैं। जिनेन्द्र प्रवचन और तदुक्त समस्त अनुष्ठान जीवदया के पालन के लिए हैं।[51]

11. मज्झत्थ-मध्यस्थ :-

अतितीव्र राग, द्वेष और मोह के शांत होने से यथावस्थित वस्तु के स्वरुप का विचार करना, राग-द्वेष रहित होकर समस्त जीवों के प्रति समभाव होना, श्रावक का 'मध्यस्थ' गुण हैं। मध्यस्थ श्रावक किसी के भी दोषों को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि दोषमात्र लोकविरुद्ध होने से धर्म की हानि की संभावना होती हैं। रागी, दुष्ट, मूढ और कदाग्रही - ये चार धर्मोपदेश हेतु अपात्र हैं, अत: धर्म प्राप्ति एवं धर्म पालन तथा धर्मोपदेश हेतु 'मध्यस्थ' गुण आवश्यक हैं।[52]

12. सौम्म (सौम्य-सौम्य दृष्टि) :-

कषायरहित शांत दृष्टि (सौम्य दृष्टि) होने से श्रावक सर्व लोगों के मन को आनंददायक, शीतल, सुखपूर्वक दर्शन योग्य और दर्शनमात्र से लोक में प्रीति उत्पन्न करनेवाला होता हैं।[53]

13. गुणरागि (गुणरागी) :-

श्रावक स्थैर्य, गाम्भीर्यादि गुणों का रागी होता है, गुणों का पक्षपाती होता है, गुणों को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करता है, स्वयं के द्वारा प्राप्त सम्यग्दर्शन, विरति आदि गुणों का अतिचार दोषों से मलिन नहीं करता तथा गुणरहित (दोषी) आत्मा की भी निंदा नहीं करता, क्योंकि सत् या असत् परदोष कथन से वैर बढता है और सुनने से बुद्धि कुबुद्धि होती हैं। अत: श्रावक दोषकथन और दोषश्रवण सेदूर रहकर गुणरागी होता हैं।[54]

14. (क) सक्कह (सत्कथक) :-

श्रावक अज्ञान का नाश करने वाली, सद्-असत् वस्तु की परिज्ञायक, तीर्थंकर-गणधर-और महर्षियों की चरित्र कथा कहनेवाला अर्थात् 'सत्कथक' होता है। तथा अज्ञान, अविवेक, आसक्ति, चित्तकालुष्य आदि दोषयुक्त विकथा का त्याग करता है।[55]

(ख) सुपक्खजुत्त (सुपक्षयुक्त) :-

श्रावक आज्ञांकित, धर्मी, सुशील, सदाचारी, धर्मकार्यों में सहायक, अनुकूल परिवार युक्त होता हैं जिससे उसे धर्माराधना में अन्तराय नहीं होता।[56]

15. सुदीहदंशी (सुदीर्घदर्शिन्) :-

श्रावक किसी भी कार्य को करने से पहले पूर्वापर परिणाम का पूर्ण विचार करके कार्य करता है। इस प्रकार श्रावक सुदीर्घदर्शी होने से उसके द्वारा किया गया कार्य अंत में सुन्दर, भविष्य के लिए लाभदायक, प्रचुरलाभदायी, इच्छित सिद्धि की प्राप्ति करनेवाला, अल्पक्लेशवाला या क्लेशरहित और प्रशंसनीय होता हैं। अत: धर्म का भी सुदीर्घदर्शी श्रावक ही अधिकारी हैं।[57]

16. विसेसण्णु (विशेषज्ञ) :-

विशेषज्ञ श्रावक पदार्थ के यथावस्थित गुण और दोष का पक्षपातरहित ज्ञान करके उन्हें यथायोग्य विवेचनपूर्वक कहने में समर्थ होता है अत: वही उत्तमधर्म के लिए योग्य होता हैं।[58]

17. वुड्ढाणुग (वृद्धानुग) :-

गुरुजन अर्थात् पूज्य की बुद्धिपूर्वक तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, पर्यायवृद्ध, वयोवृद्ध आदि अनुभवियों की सेवा एवं उनकी हितशिक्षा का अनुसरण करनेवाला 'वृद्धानुग' कहलाता हैं। 'वृद्धानुग' को विपत्ति भी संपत्तिदायक होती हैं। अत: श्रावक 'वृद्धानुग' होता हैं।[59]

18. विणीय (विनीत) :-

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य आदि का, योग्य गुरुजनों का, बडों का विनय करने वाला तथा उनके सामने मन-वचन-काय से नम्रतापूर्वक व्यवहार करनेवाला 'विनीत' कहलाता हैं।[60]

---

47. अ.रा.पृ. 5/1590; धर्मरत्न प्रकरण-13; स्थानांग-4/2
48. अ.रा.पृ. 1/835; धर्मसंग्रह प्रकरण का गुजराती भाषांतर पृ.76
49. अ.रा.पृ. 7/957
50. अ.रा.पृ. 6/598
51. अ.रा.पृ. 4/2457
52. अ.रा.पृ. 6/64
53. अ.रा.पृ. 7/1165
54. अ.रा.पृ. 3/929-30
55. अ.रा.पृ. 7/261-62
56. अ.रा.पृ. 7/960
57. अ.रा.पृ. 7/957
58. अ.रा.पृ. 6/1265
59. अ.रा.पृ. 6/1414
60. अ.रा.पृ. 6/1186

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विनीत को ही सर्व संपत्तियाँ, सुख, ज्ञान, पूज्यत्व, सेवा, मोक्षमार्ग तप, आचार, कीर्ति, निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति होती है और विनय से ही जिन प्रवचन की उन्नति होती हैं अतः श्रावक 'विनीत' होता हैं।[61]

19. कयण्णू (कृतज्ञ) :-

स्वयं के द्वारा दूसरों पर किये गए उपकार को भूल जानेवाला और दूसरों के अल्पतम भी उपकार को यावज्जीव याद रखकर परोपकार करनेवाला कृतज्ञ कहलाता हैं।

कृतज्ञता गुण से मनुष्य लोक में धर्मगुरु के द्वारा भी बहुमान प्राप्त करता हैं। संसार में परमोपकारी के रुप में प्रशंसा प्राप्त करता हैं और गुणों की वृद्धि होती हैं।[62]

20. परहिअत्थकारि (परहितार्थकारी) :-

जो स्वभाव/प्रकृति से ही परोपकारी होते हैं उन्हें 'परहितार्थकारी' कहते हैं। स्वयं सम्यग् रुप से जिनेन्द्र प्रवचनोक्त तत्त्वों का यथावस्थित ज्ञाता होने से अन्य को भी शुद्ध धर्म में स्थिर करता हैं। उनकी सेवा से धर्म श्रवण, सम्यग्ज्ञान, विशेषज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, शुद्धि, अक्रिया और मोक्षरुप फल की प्राप्ति होती हैं। अतः श्रावक 'परहितकारी' होता हैं। तथा स्वाभाविक परोपकार से श्रावक निस्पृह, शुद्ध मार्गोपदेष्टा, विनीत, सत्यवक्ता, गंभीरचित्त और विद्याविनोदपूर्वक कालगमन करनेवाला सात्त्विक मनुष्य बनता हैं।[63]

21. लद्धलक्ख - लब्धलक्ष्य :-

जो सारे धार्मिक अनुष्ठान को गुर्वादि से श्रद्धापूर्वक पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर इस प्रकार करता है जैसे इसने ये सारी धर्मक्रियाओं का पूर्व भव में अभ्यास कर रखा हो-उस चतुर, धर्मव्यवहार को शीघ्र समजनेवाले श्रावक को 'लब्धलक्ष्य' कहते हैं। लब्धलक्ष्य श्रावक को ही वन्दन, प्रत्युपेक्षण आदि क्रियाएँ सुखपूर्वक सीखने योग्य होती हैं अतः श्रावक में 'लब्धलक्ष्य' गुण होना आवश्यक हैं।[64]

61. अ.रा.पृ. 6/117; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-29
62. अ.रा.पृ. 6/347, 354
63. अ.रा.पृ. 5/548, 549; भगवती सूत्र-2/5; धर्मरत्न प्रकरण 1/20
64. अ.रा.पृ. 4/2728

द्यूतक्रीडा

સજ્જન પુરુષોથી દ્વેષ કરવા યોગ્ય અને અપયશ કરનારી દ્યૂતક્રીડાનું સેવન કરનાર પ્રાણીઓની સૌથી પ્રથમ ધનહાનિ થાય છે અને પછી છેવટે સુખનો નાશ થાય છે. જુગારી પુરુષ યોગ્ય સમયે ભોજન, નિદ્રા, દેવપૂજન, સ્નાન અને દાનાદિ ક્રિયા કરી શકતો નથી. વળી દ્યૂતક્રીડામાં આસક્ત પ્રાણીને શીઘ્ર ઘણા પ્રકારના રોગો થાય છે, દેવો તેના પ્રત્યે રોષે ભરાય છે તેમજ તેના સર્વપ્રકારનાં કાર્યો નાશ પામે છે. દ્યૂતક્રીડામાં લયલીન પ્રાણીઓના સંબંધીજનો દૂર ચાલ્યા જાય છે, કોઈપણ તેનો વિશ્વાસ કરતું નથી તેમજ તેની લક્ષ્મી પણ શીઘ્ર ચાલી જાય છે. જુગારી જુગાર રમ્યા વગર રહી શકતો નથી અને પોતાનો જય જ જોવે છે અને જો પરાજય થાય તો અવર્ણનીય દુઃખ પામે છે. જુગારીના બંને હાથને કવચ (ખણજ), આંખોને મૃગ-તૃષ્ણિકા (ઝાંઝવાના નીર) અને દેહને દાવાનળનો અગ્નિ કદી ત્યજતો નથી. જુગારના દાસ બનેલા અધમ પ્રાણીઓ આંખ અને નાસિકા વિનાના તેમજ કપાયેલાં કાન, હસ્ત અને પગવાળા જેવા જણાય છે અર્થાત્ જુગારીને સાચું જોવાની આંખ હોતી નથી, પ્રતિષ્ઠા વહાલી રહેતી નથી અને ઉપદેશ સાંભળવા માટે કાન કપાયેલા હોય છે. જુગાર રમતાં પહેલાં તો જુગારીનું કુળ અપકીર્તિથી મલિન બને છે. અને પાછળથી બીજાથી જીતાયેલ તેનું મુખ શ્યામ બને છે. વ્યસનો પરસ્પર સંકળાયેલા છે અને **જેણે એક વ્યસન સ્વીકાર્યું તેને ધીમે ધીમે બધા વ્યસનો વળગે છે. હલાહલ ઝેરનું પાન કરવું સારું, પર્વત પરથી ઝંપાપાત કરવો સારો તેમજ અગ્નિમાં પ્રવેશ કરવો શ્રેષ્ઠ ગણાય પરન્તુ જુગાર રમવું સારું નથી.** ખરાબ સ્ત્રીની માફક આ દ્યૂતક્રીડા, બીજા માણસની વાત તો દૂર રાખો પરન્તુ સગા બે ભાઈઓમાં પણ ભેદ પડાવનારી તેમ જ ક્લેશ કરાવનારી છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक के कर्तव्य

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने जैसे श्रावक के दैनिक-रात्रिक-पाक्षिकादि कृत्यों का वर्णन किया है वैसे 'मण्ह जिणाणं' (श्रावक सज्झाय) सूत्रदर्शित 36 कर्तव्यों का भी यत्र-तत्र यथास्थान विस्तृत वर्णन किया है, जो संक्षेप में निम्नानुसार है-

1. जिनाज्ञापालन करना :-

'जिनाज्ञा' शब्द में दो पद हैं - जिन और आज्ञा। 'जिन' के विषय में पूर्व में [(परिच्छेद-4 (क) (1)] लिखा जा चुका है।

अभिधान राजेन्द्र कोश[1] में आचार्यश्रीने अनुष्ठान[2] (जैनागमोक्त क्रिया), सेवा, अभियोगपूर्वक आदेश, निर्देश (पूछे गये प्रश्न के प्रत्युत्तर में कार्य हेतु विधि-निषेध)[3], विधिविषयक आदेश[4], आज्ञायोग में प्रवर्तन[5], हितप्राप्ति रुप उपदेश[6], तीर्थंकर गणधर प्रणीत उपदेश[7] एवं तद्विषयक सदाचार[8] जिससे अनन्त धर्मो की विशिष्टता के द्वारा जीवादि पदार्थों का समग्रतापूर्वक ज्ञान किया जाये[9], जिससे सुकृत कर्म किये जाये[10], आगम[11] - जिससे स्व-स्वभाव के द्वारा या मर्यादापूर्वक अभिव्याप्ति के द्वारा अर्थ (प्रयोजन) का ज्ञान किया जाय[12], आप्त प्रवचन[13], द्वादशाङ्गी[14], जिससे प्राणी मोक्ष को जानते हैं - श्रुत[15] सर्वज्ञवचन[16], सम्यक्त्व[17], आगमनानुसार उपदेश[18], निर्युक्ति आदि सूत्र व्याख्यान[19] - को 'आज्ञा' कहा गया हैं। साथ ही अभिधान राजेन्द्र कोश में वीतरागोक्त वचन पद्धति के विषय में 'जिनाज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है।[20]

साधु का तो समस्त जीवन ही जिनाज्ञापालनरुप है ही, अपितु श्रावक का भी यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि जिनाज्ञा का पालन करें। जिनाज्ञापालन अर्थात् जिनाज्ञाराधना मोक्ष फलदायी हैं।[21] आराधनायुक्त जीव उत्कृष्ट से तीसरे भव में निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता हैं।[22] आज्ञा मोह विष को दूर करनेवाला श्रेष्ठ गारुडिक मंत्र, द्वेष रुप अग्नि को नष्ट करनेवाला शीतल जल, कर्मव्याधि को नष्ट करनेवाला चिकित्सा शास्त्र और सर्वफल देनेवाला का कल्पवृक्ष हैं। अतः सदा आज्ञाराधक और आज्ञापरतंत्र बनना चाहिए।[23]

2. मिथ्यात्व का परिहार :-

श्रावक को मिथ्यात्व अर्थात् जिनप्रणीत तत्त्व से विपरीत श्रद्धा का सर्वथा त्याग (परिहार) करना चाहिए (मिथ्यात्व का वर्णन पृ. 193 से 195 पर किया गया हैं) साधक के द्वारा मन-वचन-काया से कृत-कारित मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान (नियमपूर्वक त्याग) करना 'मिथ्यात्व-परिहार' कहलाता हैं।[24]

3. सम्यक्त्व को धारण करना :-

जिन प्रणीत वस्तु (तत्त्व) में प्रतिपत्ति अर्थात् श्रद्धा धारण करना। इसका विस्तृत वर्णन पृ. 159 से 165 पर किया गया हैं।[25]

4. षडावश्यक में तत्पर रहना :-

सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान - इन छः आवश्यकों में श्रावक को प्रतिदिन उद्यमरत रहना चाहिए।[26] [विस्तृत वर्णन पृ. 257 से 266 पर किया गया है।]

5. पर्वतिथियों में पौषध व्रत करना :-

श्रावकों को अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्यादि पर्व तिथियों में पौषध व्रत करना चाहिए (इसका विस्तृत वर्णन पृ. 390-91 पर किया गया हैं)।[27]

6. दान :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने 'दान' धर्म की व्याख्या करतेहुए कहा है कि प्रासाहारादि का ग्लानादि को वितरण[28], आहारादि प्रदान करना[29], स्वयं एवं दूसरे का उपकार हो -इस बुद्धि से अपनी वस्तु अर्पण करना[30], याचक के इच्छित प्रयोजन की पूर्ति हेतु धन देना[31], गुरु के द्वारा शिष्यों में आहार, ज्ञान, उपकरण का वितरण[32], रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा को 'दान' कहा गया

---

1. अ.रा.पृ. 2/130, 131
2. विशेषावश्यक भाष्य-564
3. भगवती सूत्र-3/1
4. स्थानांग-7/3
5. स्थानांग-5/2
6. आचारांग-1/2/2
7. दशवैकालिक-अध्ययन-10
8. आचारांग-1/5/6
9. अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका-21 पर स्याद्वादमञ्जरी टीका
10. दर्शन शुद्धि-तत्त्व-4
11. दर्शनशुद्धि-तत्त्व-4, आचारांग-1/5/2
12. उत्तराध्ययन-निर्युक्ति-अध्ययन-1
13. स्थानांग-4/1
14. नंदीसूत्र
15. अनुयोगद्वार सूत्र
16. स्थानांग-10/3
17. आचारांग-1/4/3
18. आवश्यक बृहद्वृत्ति-अध्ययन-1
19. स्थानांग-4/1
20. अ.रा.पृ. 4/1507
21. अ.रा.पृ. 2/134
22. अ.रा.पृ. 7/991, दश पयन्ना मूल-100
23. अ.रा.पृ. 2/132
24. अ.रा.पृ. 6/275, धर्मसंग्रह-अधिकार-2
25. अ.रा.पृ. 6/5/2
26. अ.रा.पृ. 5/319, अ.रा.पृ. 2/485; सेन प्रश्न-3/51
27. अ.रा.पृ. 5/1133
28. अ.रा.पृ. 4/2489, प्रश्नव्याकरण-3, संवरद्वार
29. वही, आवश्यक बृहद्वृत्ति-अध्ययन-4
30. वही सूत्रकृताङ्ग-1/11, तत्त्वार्थ सूत्र-7/38
31. वही, कल्प सुबोधिका-5 क्षण
32. वही, विशेषावश्यक भाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं।[33] अन्य अर्थों में दक्षिणा[34], खण्डन[35] और गजमद[36] (हाथी का मद) को 'दान' कहते हैं।

दान के प्रकार :-

धर्मरत्न प्रकरण में दान के तीन प्रकार दर्शाये हैं -

(1) ज्ञान दान (2) अभय दान (3) धर्मोपकरण दान।[37]

स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के दान का वर्णन है -

(1) अनुकंपा दान (2) संग्रह दान (3) अभय दान (4) कारुणिक दान (5) लज्जा दान (6) गौरव दान (7) अधर्म दान (8) धर्म दान (9) करिष्यतिदान (भविष्य में किया जानेवाला दान) (10) कृत दान।[38]

रत्नकरंडक श्रावकाचार में चार प्रकार का दान बताया है-[39]

(1) आहार (2) औषध (3) ज्ञान के साधन शास्त्रादि उपकरण और (4) स्थान (वसति)।

सर्वार्थसिद्धि में तीन प्रकार के दान बताये है -

(1) आहार (2) अभय (3) ज्ञान - इन तीन प्रकार के दानों का वर्णन किया गया हैं।[40]

महापुराण और चारित्रसार में चार प्रकार की दत्ति (दान) कही गयी हैं-[41]

(1) दया दत्ति (2) पात्र दत्ति 93) समदत्ति और (4) अन्वय दत्ति।

सागार धर्मामृत में ये तीन प्रकार के दान बताये हैं-[42]

(1) सात्त्विक (2) राजस और (3) तामस

ज्ञानदान :-

भव्यात्माओं को अध्ययन कराना, शास्त्र सुनाना, आगमों का ज्ञान कराना, ज्ञानदान हैं।[43]

अभयदान :-

दु:ख से भयभीत छ: काय के जीवों की रक्षा करना - अभयदान हैं।[44] परिच्छेद-4(क)(5) के प्रकरण में इसका विस्तृत वर्णन पृ. 274 से 276 पर किया जा चुका हैं।

धर्मोपकरणदान :-

पञ्च महाव्रतधारी साधु-साध्वी को धर्मबुद्धि से कल्प्य आहार, जल, औषध, पात्र, शास्त्र/ज्ञानोपकरण, वस्त्र, शय्या, वसति (रहने का स्थान) आदि संयम जीवन में सहायक उपकरण देना 'धर्मोपकरण' दान हैं।[45]

अनुकम्पा दान :-

क्षुधातुर, तृषित, दीन-दु:खी, संकट में फँसे, अनाथ, निराधार, रोगी मनुष्यों एवं प्राणियों के उद्धार की भावना से दिया गया दान अनुकम्पादान हैं।[46] वसुनंदि श्रावकाचार में इसे करुणादान कहा गया हैं।[47] अनुकंपा दान श्री तीर्थंकर, आचार्यादिने भी दिया हैं। जैसे श्री महावीर स्वामीने ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र प्रदान किया और आर्य सुहस्तिसूरिने द्रमक मुनि को भोजन करवाया।[48] सभी तीर्थंकर दीक्षा के पूर्व एक वर्ष तक संवत्सरी दान देते हैं। यह सब अनुकंपा दान हैं।[49] साधु के द्वारा तपस्वी, क्षपक, ग्लान (रोगी) असमर्थ शैक्ष (नवदीक्षित) आदि अनुकम्पा योग्य हैं। परंतु श्रावक साधु को अनुकंपा की बुद्धि से नहीं अपितु धर्मबुद्धि से दान दें। श्रावक जिनमंदिर, तालाब, बावडी, कुआँ, औषधालय, सदाव्रत, पुष्पवाटिका, अन्न-जल वितरण के स्थान इत्यादि बनवावें तथा दु:खी जीवों के उद्धार हेतु धन का दान करें, यह सब अनुकम्पादान हैं।[50]

संग्रह दान :-

अकाल, युद्ध, अतिवृष्टि-अनावृष्टि एवं अन्य संकट के समय दान देने के लिए पदार्थ का संग्रह करके उसका दान करना, 'संग्रह दान' कहलाता हैं।[51]

कारुणिक दान :-

पुत्रादि के वियोगादि जनित शोक के कारण 'वह (पुत्रादि) अगले जन्म में सुखी हो', एसी भावना से करुणापूर्वक (दया, शोकजनित) जो दान दिया जा, उसे 'कारुणिक दान' कहते हैं।[52]

लज्जा दान :-

यदि अभ्यार्थी किसी को दिखायेगा तो जनसमूह या दूसरे लोग मेरे बारे में क्या कहेंगे ? एसा सोचकर लज्जा से जो दान दिया जाय, वह लज्जादान हैं।[53]

गौरव दान :-

यश: कीर्ति की चाहना से नट, नृत्यांङ्गना, मल्लादि को अभिमानपूर्वक जो दान दिया जाता है, वह 'गौरव दान' कहलाता हैं।[54]

अधर्म दान :-

हिंसक, असत्यभाषी, चोर, वेश्या, परिग्रही, आदि पाप कार्य/अधर्म करनेवालों को दिया गया दान 'अधर्म दान' कहलाता हैं।[55]

धर्मदान (सुपात्र दान) :

धर्मबुद्धि से संसार त्यागी पञ्च महाव्रधारी साधु-साध्वी को जो दान दिया जाता है, वह दान 'धर्म दान' कहलाताहैं।[56] निग्रंथ साधु को प्रासुक, एषणीय (कल्प्य) आहार, पानी, खादिम, स्वादिम, (चारों प्रकार का आहार), वस्त्र, पात्र, औषध, कंबल, पादप्रोंछन, पाट-पटिये, शय्या, संथारा, आसन, वसति (रहने का स्थान), ज्ञानोपकरण आदि देना धर्म/सुपात्र दान हैं।[57]

33. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/422
34. अ.रा.पृ. 4/2499, सूत्रकृताङ्ग-2/5
35. अ.रा.पृ. 4/2499
36. वही, ज्ञाता धर्मकथाङ्ग-1/9
37. अ.रा.पृ. 4/2489
38. वही, स्थानांग-10 वाँ ठाणां
39. रत्नकरंडक श्रावकाचार-117, वसुनंदि श्रावकाचार-233
40. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/422
41. वही, महापुराण-38/35
42. वही, सागार धर्मामृत-5/47
43. अ.रा.पृ. 4/1992, गच्छाचार पयन्ना-अधिकार-2
44. अ.रा.पृ. 1/706, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/423
45. अ.रा.पृ. 4/2489, 4/2737
46. अ.रा.पृ. 1/360
47. वसुनंदि श्रावकाचार-235
48. अ.रा.पृ. 1/361, द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका-1/10
49. अ.रा.पृ. 1/360, स्थानांग-10 वां ठाणा
50. वही
51. अ.रा.पृ. 7/76, स्थानांग 10/3
52. अ.रा.पृ. 3/502, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/427
53. अ.रा.पृ. 6/598, स्थानांग-10/3
54. अ.रा.पृ. 3/871
55. अ.रा.पृ. 1/568
56. अ.रा.पृ. 4/2719
57. अ.रा.पृ. 4/2490

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करिष्यतिदान :-

यह मेरा कुछ उपकार करेगा - एसी बुद्धि से किया जाता दान 'करिष्यति दान' कहलाता हैं।[58]

कृतदान

उपकारी के उपकार के बदले में उपकारों के प्रत्युकार बुद्धि से दिया जाता दान 'कृतदान' है।[59]

औषध दान :-

उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेश से परिपीडित जीव को शरीर के योग्य पथ्य देना, औषधदान हैं।[60]

शास्त्र दान :-

आगम-शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रों को देना और जिनवचनों का अध्यापन कराना, 'शास्त्रदान' हैं।[61]

सात्त्विक दान :-

जिस दान में अतिथि का कल्याण हो, जिसमें पात्र की परीक्षा या निरीक्षण स्वयं किया गया हो और जिसमें श्रद्धादि समस्त गुण हो, उसे सात्त्विक दान कहते हैं।[62]

राजस दान :-

जो दान यशः कीर्ति के लिए हो, थोडे समय के लिए सुन्दर हो और दूसरें से दिलाया गया हो, उसको राजस दान कहते हैं[63]।

तामस दान :-

पात्र-अपात्र के विवेकरहित, निन्द्य, अतिथिसत्कार रहित और नौकर-सेवक कृत परिश्रमपूर्वक दिया गया दान 'तामस दान' हैं।[64]

दान का फल :-

सर्व दानों में अभयदान सर्वश्रेष्ठ हैं[65], इससे अहिंसा धर्म का पालन होता हैं। अनुकम्पादान शासन प्रभावना का अङ्ग हैं। इससे शुभाशय की वृद्धि होती हैं और प्रवचन/जिनशासन की उन्नति होती हैं।[66]

दीनादि के द्वारा या मिथ्यात्वी आदि के द्वारा याचना करने पर दान नहीं देने पर पीडा, अप्रीति, शासन-द्वेषता, कुगति सङ्ग आदि विपरीत फल उत्पन्न होते हैं अतः उनको भक्ति से या सुपात्र-दान की बुद्धि से नहीं, परन्तु अनुकम्पादान की बुद्धि से अवश्य देना चाहिए।[67] भक्तिपूर्वक श्रद्धा सहित किया गया सुपात्र दान बहुत कर्मो का क्षय करता हैं।[68] दान से शुभ, पवित्र कीर्ति, उत्तम सौभाग्य, अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।[69] **सुपात्रदान सर्वसंपत्कारी और महानन्दप्रद हैं।[70] साधु को प्रासुक, एषणीय सुपात्रदान देने से शुभ दीर्घायुष्य का बंध होता हैं, अनन्त कर्मो की एकान्त निर्जरा होती हैं[71], समाधि, बोधि और परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं[72], भोग भूमि, स्वर्ग एवं परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं[73], गृहकार्यों से संचित हुए पाप नष्ट होते हैं।[74] सुपात्रदान के प्रभाव से जीव को तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव,माण्डलिक राजादि पदवियाँ प्राप्त होती हैं।[75]**

धन नामक सार्थवाह मुनियों को घी का दान देने से प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव बनें। पूर्वभव में मुनि की आहार से भक्ति करने के फलस्वरुप भरत भरतेश्वर के रुप में प्रथम चक्रवर्ती बना।[76] मेघरथ राजा के भव में कबूतर को दिये अभयदान के प्रभाव से शांतिनाथ तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती बनें। मुनि को आहारदान के प्रभाव से महावीर स्वामी की आत्मा ने नयसार के भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया।[77] पूर्व भव में मासक्षमण के तपस्वी बलभद्र मुनि को दिये आहारदान के प्रभाव से लकडहारा और उसकी पत्नीने स्वर्गलोक का सुख पाया। इतना ही नहीं, उनकी आहारदान की अनुमोदना से हिरण को भी स्वर्ग प्राप्त हुआ।[78] पूर्वभव में मासक्षमण के तपस्वी मुनि को खीर वहेराने से धन्ना-शालिभद्रने इस भव में गर्भ श्रीमंत होकर अखूट-वैभव, पद्-पद् अक्षय संपत्ति और मनुष्य होते हुए भी देवलोक के सुख-वैभव प्राप्त किये।[79]

'दान धर्म' ग्रंथ में कहा गया हैं - ''सत्यपात्र में दिया गया दान कल्पवृक्ष जैसा है। सत्यपात्र में व्यय किया गया धन अनन्तगुण होता हैं।[80] मुनिदान के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ''मुनि को वसति (निवास हेतु स्थान) दान के प्रभाव से कुरुचन्द्र मंत्री ने दूसरे भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया।[81] मुनि को शयन हेतु पीठ-फलक (पाट) आदि के दान के फलस्वरुप दाता को नित्य दिव्य शय्या प्राप्त होती है, पुत्र, कलत्र (स्त्री) आदि का सुख प्राप्त होता है, वह निरोगी होता है और भविष्य में सुख सुलभ होता हैं।[82] मुनि को कम्बल के ऊनी आसन के दान के प्रभाव से दाता लक्ष्मीधर की तरह भवान्तर में सर्वप्रकार से अनवरत सुखी होता हैं।[83] धनदेव और यशोमती नामक कुटुम्बीने मुनि को आहारदान के प्रभाव से विद्याधरेन्द्र का वैभव प्राप्ति किया।[84] मुनि को शुद्ध, प्रासुक (उबाला हुआ) जल के दान के प्रभाव से धन्य नाम के नौकरने दूसरे भव में अतिभद्र के रुप में निरंतर वृद्धि प्राप्त करती हुई लक्ष्मी प्राप्त की।[85]

---

58. अ.रा.पृ. 3/506
59. अ.रा.पृ. 3/354
60. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/423, वसुनंदि श्रावकाचार-236
61. अ.रा.पृ. 5/1122; वसुनंदि श्रावकाचार-237
62. सागार धर्मामृत-5/47
63. वही
64. वही
65. अ.रा.पृ. 4/2490, सूत्रकृताङ्ग-1/6
66. अ.रा.पृ. 1/360-61, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/422
67. अ.रा.पृ. 4/2497
68. अ.रा.पृ. 4/2497, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/424
69. अ.रा.पृ. 4/2490, पञ्चाशक-विवरण-2, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/424
70. अ.रा.पृ. 4/2498, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/424
71. अ.रा.पृ. 2/15, 16 स्थानांग-3/1
72. अ.रा.पृ. 2/16, भगवती सूत्र 7/1, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-2/424
73. रयणसार-16
74. रत्नकरंडक श्रावकाचार-114
75. अ.रा.पृ. 4/2498
76. अ.रा.पृ. 4/2498
77. अ.रा.भा. 'तित्थयर' शब्द, कल्पसूत्रः बालावबोध - श्री महावीर चरित्र
78. बलभद्र मुनि की सज्झाय
79. अ.रा.पृ. 4/2660
80. दानधर्म पृ.-1
81. वही
82. वही पृ.7
83. वही पृ.9
84. वही पृ. 16
85. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर के लिए सिंह अनागार को औषधिदान के प्रभाव से रेवती श्राविकाने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित किया।[86] मुनि को वस्त्रदान के प्रभाव से चण्डपालने दूसरे/ध्वज भुजङ्गकुमार के भव में देव सान्निध्य और सर्वप्रकार की राज-ऋद्धि प्राप्त की।[87] मुनि को पात्र दान के प्रभाव से धन को दूसरे धनपति के भव में जमीन में से स्वर्ण पात्रों की प्राप्ति हुई।[88] स्वयं की दरिद्रावस्था में भी थोडे में से थोडा दान देने के फलस्वरुप सुमित्रने धनसेन के दूसरे भव में गर्भ श्रीमंत के रुप मे जन्म लिया, क्रमशः कई बार लक्ष्मी प्राप्त की, आयुः पूर्ण कर देवलोक में गया और सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।[89]

इस प्रकार दान धर्म एसा प्रभावशाली होने से गृहस्थ को सुपात्रदानपूर्वक ही भोजन करना चाहिए।[90] आज के भी दीक्षित, सामायिक चारित्र मात्र के धारक भी मुनि के लिए आहार, औषध, वस्त्र, पात्र हेतु श्रावक को स्व-द्रव्य (धन) व्यय करना चाहिए; इतना ही नहीं, अपितु धर्मोद्योतकर साधु-साध्वी को अपने पुत्र-पुत्री आदि को भी उनमें वैराग्य भाव जगाकर समर्पित करना चाहिए।[91]

सुपात्रदान की महिमा :-

सुपात्रदान से दानांतराय के साथ लाभांतरायादि कर्म भी तूटते हैं। ज्ञानी गुरुभगवंतो को वहेराने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होता है, ज्ञान प्राप्त होता हैं। 'साधुनां दर्शन पुण्यं' - जिन्होंने अपनी पाँचो इन्द्रियों पवित्र रखी है और साधना में सतत जागृत है, एसे मुनि भगवंतो के दर्शन मात्र से और वहोराने से दर्शनावरण कर्म नष्ट होता हैं। और पाँचो इन्द्रियाँ अच्छे रुप में प्राप्त होती हैं। जगत के समस्त जीवों को पीडा नहीं उपजाने और अभयदान देनेवाले गुरु-भगवंतो को आहार-पानी देने से शाता वेदनीय कर्म का बंध होता है जिससे भविष्य में दाता को शाता ही शाता प्राप्त होती हैं। साधु भगवंत परमात्मा के प्रति अडिग श्रद्धा धारण करते हैं और भगवद्वचन में श्रद्धा होने से उन्हीं के कारण समस्त सांसारिक सुख-वैभव का त्याग कर संयमजीवन यापन करते हैं इसलिए साधु भगवंत को दान देने से निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, इन्द्रियाँ नियन्त्रित रहती हैं। साधु भगवंत क्षमाप्रधान होते हैं अर्थात् कषायरहित होकर चारित्र का पालन करते है इससे साधुदान से भव्यात्मा क्षमादि गुणों को और चारित्र को प्राप्त करती हैं। जीव को समाधि प्राप्त होती हैं। साधु भगवंत हास्यादि से रहित होने से किसी को अप्रिय नहीं होते अतः मुनिदान से दाता लोकप्रिय बनता हैं। साधु भगवंत ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं अतः उनको दान देने से परम सौभाग्ययुक्त सुशीलता प्राप्त होती हैं।

साधु भगवंत सूक्ष्म चेतना के द्वारा भी किसी भी प्रकार के कोई भी जीव के आयुष्य को उपक्रम नहीं लगाते अतः उनको दान देने से परभव में निरुपक्रम (अकस्मातादि से नष्ट नहीं होनेवाला) शुभ आयुष्य प्राप्त होता हैं।

साधु भगवंत सतत उपदेशदानादि के द्वारा परोपकार करते हैं। शुभ योग में प्रवृत्त होते हैं। इससे उनको दान देने से शुभ नामकर्म का उपार्जन/बंध होता हैं। साधु भगवंत वचनगुप्ति का पालन करते हैं, (किसी को कटाक्ष, कटुवचनादि नहीं कहते) इससे उनको दान देने से आदेय नामकर्म प्राप्त होता हैं। साधु किसी को जाकार नहीं देते ('तु जा' एसा नहीं कहते) जिससे उनको दान देनेवाला कहीं भी 'जाकार' प्राप्त नहीं होता। साधु भगवंत सभी जीवों को शिवतुल्य मानकर उन्हें मान देते हैं, किसी के निंदा-अपमान नहीं करतें इससे उनको दान देनेवाला यश का भागी बनता हैं। साधु भगवंत नमस्कार महामंत्र में स्थित हैं। जगत के उच्चतम पाँच पद में स्थान प्राप्त हैं और वे कभी भी यह ऊच्च है, यह निम्न (नीचा) है (नीचि जाति का) है एसे भेद-भाव नहीं करते अतः सुपात्र दान से उच्च गोत्र बंध होता हैं। साधु कभी आत्म-प्रशंसा नहीं करते इससे उनको आहार-दान करनेवाला कभी भी नीचगोत्र नहीं बाँधता।

साधु भगवंत श्रेष्ठ अभयदान देते हैं, सबको धर्मलाभ देते हैं, अपने शुभ पर्यायो में रमणतारुप भोग में रहते हैं, और क्षमा-नम्रता आदि आत्म गुणों में मग्नतारुप उपभोग में रहते हैं और संयम में उत्कृष्ट वीर्य का उपयोग करते हैं। इस तरह वे पाँचो प्रकार की अन्तराय से मुक्त है और पाँच लब्धि के स्वामी हैं। अतः साधुदान से सभी प्रकार के सब ही विघ्न दूर हो जाते हैं और जीव अनेक लब्धियों का स्वामी बनता हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश में दान धर्म की महिमा बताते हुए आचार्यश्री ने कहा है कि, "दान से प्राणी वश होते हैं, वैर नष्ट होता है, पराया व्यक्ति भी अपना होता है अतः श्रावक को सतत दान देना चाहिए।"[92]

7. शील :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'शील' के विभिन्न अर्थ बताते हुए कहा है कि, शील अर्थात् समाधान, व्रतादिसमाधान[93], यमनियम[94], क्रोधादि का उपशम[95], अनुष्ठान[96], व्रत विशेष[97] (सर्वथा ब्रह्मचर्य पालनरुप गृहस्थ का शीलव्रत), उत्तर गुण[98], अणुव्रत[99], परद्रोहविरति[100], उद्यतविहारित्व[101], चारित्र[102], सर्वसंवर[103], 18000 शीलांगरुप संयम[104], मद्यमांस-रात्रिभोजनादि त्यागरुप आचार[105], महाव्रत समाधान-पञ्चेन्द्रिय-जय-कषाय निग्रह-त्रिगुप्ति पालन[106], सदाचार-देशविरति-सर्वविरति रुप चारित्र[107],

86. अ.रा.पृ. 6/577
87. दानधर्म पृ. 289-29
88. वही पृ. 30,31
89. वही पृ. 39
90. अ.रा.पृ. 4/2490
91. वही
92. अ.रा.पृ. 4/2489
93. अ.रा.पृ. 7/898
94. वही, सूत्रकृताङ्ग-1/6
95. वही, सूत्रकृताङ्ग-2/6
96. वही, सूत्रकृताङ्ग-2/1
97. वही, सूत्रकृताङ्ग-2/2
98. वही, ज्ञानधर्म कथाङ्ग 1/7
99. वही, उपाशक दशाङ्ग-अध्ययन-2
100. वही, दशवैकालिक-9/1
101. वही, सूत्रकृताङ्ग-1/13
102. वही, सूत्रकृताङ्ग-1/1/1
103. अ.रा.पृ. 7/899
104. वही, आचारांग-1/5/2
105. वही, उत्तराध्ययन-अध्ययन-14
106. वही, आचारांग-1/6/4
107. वही, उत्तराध्ययन-अध्ययन-7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसा[108], ब्रह्मचर्य[109], स्वभाव[110], फलनिरपेक्ष प्रवृत्ति[111] । जैनेन्द्र सिद्धांत कोश में तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को शील कहा गया हैं ।[112]

शील के प्रकार :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में शील के अनेक प्रकार दर्शाये हैं, जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं - द्रव्य शील और भाव शील, देशशील और सर्वशील ।

1. **द्रव्य शील** - किसी भी पदार्थ या व्यक्ति का किसी भी प्रकार के फल की अपेक्षा रहित केवल अपने स्वभाव से ही प्रावरण (वस्त्र), अलंकार/आभरण, भोजनादि में प्रवृत्ति होना अथवा चेतन-अचेतन पदार्थों का अपना स्वभाव द्रव्य शील कहलाता हैं ।[113]
2. **भाव शील** - दो प्रकार का हैं - (क) ओघशील और (ख) आभीक्ष्ण्य सेवा शील ।

क. ओघशील - सामान्य से सावद्ययोगविरत (साधु) अथवा विरताविरत (देशविरत श्रावक) ओघशीलवान् कहलाते हैं ।[114]

ख. आभीक्ष्ण्य सेवा शील - धर्म के विषय में सतत अपूर्व ज्ञानार्जन, विशिष्ट तप करना, अनेक प्रकार के अभिग्रह करना - प्रशस्त आभीक्ष्ण्य सेवा विषयक शील हैं और स्वधर्मबाह्य क्रोधादि कषाय युक्त प्रवृत्ति, चोरी-अभ्याख्यान-कलहादि अप्रशस्त आभीक्ष्ण्य-सेवा विषयक शील कहलाता हैं ।[115]

देशशील और सर्वशील - गृहस्थ के सम्यक्त्व युक्त बारह व्रत 'देश शील' और साधु के यावज्जीव 18000 शीलांगो का पालन 'सर्वशील' हैं ।[116]

श्रावक के शील :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने श्रावक के छः शीलों का वर्णन निम्नानुसार किया हैं[117]-

1. आयतन सेवन :-

जहाँ बहुत साधर्मिक, शीलवान्, बहुश्रुत, चारित्राचार-संपन्न लोग रहते हो, उसे 'आयतन' कहते हैं। श्रावक एसे ही स्थान में निवास करते हैं। इससे मिथ्यात्वादि घटते हैं, क्षय होते हैं और ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती है। भीलपल्ली, चोरों का आश्रयस्थान, पर्वतीय स्थानो पर पहाडी लोगों के बीच, हिंसक-दुष्ट-दुराचारी-कुसङ्गी लोगों के साथ सज्जनों के द्वारा निंदित स्थान, जहाँ सम्यक्त्व और चारित्र का नाश होता हो, जहाँ बार-बार युद्धादि होते हो - एसे स्थान महापापकारी होने से अनायतन अर्थात् श्रावक के रहने योग्य नहीं है, अतः श्रावक एसे स्थानों में निवास नहीं करता। -यह श्रावक का प्रथम शील हैं।

2. परगृहप्रवेश त्याग :-

श्रावक गुरुतर (अत्यावश्यक) कार्य के बिना दूसरों के घर नहीं जाता। इसमें भी जहाँ अकेली स्त्री हो वहाँ अकेलापुरुष या जहाँ अकेला पुरुष हो वहाँ अकेली स्त्री कभी भी नहीं जाते। इससे जीवन निष्कलंक और निर्मल रहता हैं।

3. अति उद्भट वेष त्याग :-

श्रावक मर्यादापूर्ण वेशभूषा धारण करता है, अति-उद्भट्ट विकारजनक, देश-कुलाविरुद्ध अङ्गोपाङ्गदर्शक वेशभूषा का त्यागी होता है। इससे शील निर्मल रहता हैं ।

4. सविकार वचन त्याग :-

श्रावक विकारयुक्त, विकारजनक, रागद्वेषोत्पादक, क्लेशजनक, कर्कश वचन नहीं बोलते। यदि श्रावक एसी भाषा बोले तो लोक में धर्म की निंदा होती है कि, परपीडाहारक धार्मिक मनुष्य भी एसी हल्की भाषा बोलते हैं; इससे लोग उस व्यक्ति के साथ-साथ धर्म का भी उपहास करते हैं और कर्कश बोलने पर दूना या चार गुना सुनाते भी हैं।

5. बाल-क्रीडा का त्याग :-

श्रावक बालिश (अज्ञ) लोक योग्य द्यूत-क्रीडा, शतरंज, चौपड, पशुयुद्ध, हास्य-विनोद, नाटक-प्रेक्षणादि बालक्रीडा का त्यागी होता हैं क्योंकी ये क्रीडाएँ मोह का मूल एवं अनर्थदण्डकारी होती हैं।

6. सामादि नीतिपूर्वक स्वकार्य साधना :-

श्रावक स्वयं के प्रयोजनों / कार्यों को बुद्धिपूर्वक मधुर वाणी एवं मधुर नीतिपूर्वक (सामपूर्वक) सिद्ध करता हैं।

7. शील का महत्त्व :-

सज्जनों को देव, मनुष्य एवं मोक्ष संबंधी सुखों की प्राप्ति हेतु सदा 'शील' का पालन करना चाहिए ।[118] शील से देवगति प्राप्त होती हैं ।[119] निरतिचार शीलव्रतपालन से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता हैं ।[120]

सूत्रकृताङ्ग में कहा है कि, "जलती हुई आग में प्रवेश करना अच्छा, परंतु चिरसंचित व्रतों का भङ्ग करना अच्छा नहीं। सुविशुद्धमनपूर्वक (शुद्ध भावपूर्वक) मृत्यु अच्छा परन्तु शील से च्युत (व्रत से पतित) होकर जीना अच्छा नहीं ।[121]

8. तप :-

श्रावक को यथाशक्ति 12 प्रकार के तप करना चाहिए (तप का विस्तृत वर्णन 310 से 336 पर किया गया हैं)।

9. भाव :-

किसी भी प्रकार की क्रिया बिना भाव के सफल नहीं होती, अतः श्रावक को भावधर्म की आराधना करनी चाहिए (भावधर्म का वर्णन परिच्छेद 4 क (1) में एवं 154 एवं 310 पर किया गया हैं)।

10. स्वाध्याय :-

श्रावक को प्रतिदिन वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा

---

108. वही, प्रश्नव्याकरण-संवरद्वार-1
109. वही
110. अ.रा.पृ. 7/901
111. अ.रा.पृ. 7/898, 901
112. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-पृ.-4/30
113. अ.रा.पृ. 7/898
114. अ.रा.पृ. 7/898
115. अ.रा.पृ. 7/899
116. वही, धर्मरत्न-2/6/110-111
117. अ.रा.पृ. 7/899
118. अ.रा.पृ. 7/899
119. वही, सूत्रकृताङ्ग-1/12
120. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-पृ.-4/30
121. अ.रा.पृ. 7/899, सूत्रकृताङ्ग-1/1/2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और धर्मकथारुप पाँचो प्रकार का स्वाध्याय करना चाहिए (इसका विस्तृत वर्णन पृ. 332 पर किया गया है)।

11. नमस्कार :-

मस्तक पर दोनों हाथों से अञ्जलिबद्ध शिरोनमन, प्रणाम, अरिहंतादि को प्रणाम 'नमस्कार' कहलाता हैं।[122] विशुद्ध मन से, उपयोगपूर्वक, मन-वचन-कायापूर्वक[123] देह से प्रणामादि, वचन से गुरुमुख से सूत्रादि की वाचना, श्रवण करना या अर्हदादि का गुणगान और भाव से ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम रुप लब्धिपूर्वक नमस्कार किया जाता हैं।[124]

नमस्कार क्यों ?

गुणराशि, ज्ञानादिगुणयुक्त पूजनीय एवं मुक्ति का हेतु होने से अरिहंतो को, शाश्वत होने से तथा शाश्वत सुख का कारण होने से सिद्धों को, आचारपालक-प्रख्यापक होने से आचार-प्राप्ति हेतु आचार्यों को, विनय हेतु उपाध्यायों को और भव्य जीवों को मोक्ष-मार्ग की आराधना में सहायक होने से साधु भगवंतो को नमस्कार किया जाता हैं।[125]

फल :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने भाव-नमस्कार का फल बताते हुए कहा है कि, अरिहंतादि को किया गया नमस्कार जीव को अनन्त भवों से मुक्तकर मोक्ष की प्राप्ति कराता हैं, बोधिलाभ कराता हैं[126], संसार समुद्र से तिरता हैं।[127]

नमस्कार महामंत्र का एक पद भी समस्त मोहजाल का उच्छेदक होने से संपूर्ण द्वादशाङ्गरुप है क्योंकि वह जीव में संवेग उत्पन्न कर निर्जरा कराता है।[128] अतः प्रत्येक श्रावक को जिनदर्शन-वंदन, गुरुवंदनादि एवं नमस्कार (नवकार) महामंत्र का 108 बार जाप अवश्य करना चाहिए।

श्री देवेन्द्रसूरि महाराजने कहा है कि, "श्री नवकारमंत्र आलोक-परलोक में सर्वत्र सहायक होने से सच्चे बन्धु समान एवं प्राप्त गुणों की रक्षा करनेवाला और अप्राप्तगुणों की प्राप्ति करानेवाला होने से जगत के नाथरुप हैं।[129]"

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यने कहा है कि, "आठ पंखुडीवाले श्वेत कमल में वर्णसहित अरिहंतादि की स्थापना करके श्री नवकार महामंत्र का ध्यान करनेवाला साधु भोजन करते हुए भी चोथभक्त (आगे-पीछे एकासणा सहित उपवास) का फल प्राप्त करता हैं।"[130] यह फल तो जाप की प्रवृत्ति मात्र से है, परमार्थ से तो श्री नवपद के जाप का फल स्वर्ग और मोक्ष कहा हैं।[131]

अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों पर जो नंदावर्तादि आवर्त्तो से पंचमहामंगल/नवकार मंत्र को 108 बार गिनता है, उसे दुष्ट पिशाच आदि परेशान नहीं करतें।[132] बंधन (जेल) आदि प्रसंग उपस्थित होने पर आवर्त्तो को या अक्षरों का या पदों का 1 लाख या उससे अधिक बार उल्ल जाप करने पर बंधन-संकटादि कष्ट तत्काल नष्ट होते हैं[133]।

12. परोपकार :-

इसका वर्णन पूर्व पृ. 350 एवं 353 पर किया जा चूका हैं।

13. जयणा :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने 'जयणा' की व्याख्या करते हुए कहा है[134] कि स्वशक्ति के अनुसार अकल्प्य का त्याग[135], यत्न[136], पृथ्वीकायादि जीवों के हिंसा आरम्भ के त्याग का प्रयत्न[137], 18000 शीलांगो के निरतिचार अखंड पालन रुप संयम क्रिया[138], ईर्यासमितिपूर्वक गमनागमन को[139] 'जयणा' कहते हैं।

जयणा धर्म की माता, रक्षिका, तपोवृद्धिकारिणी और एकान्त (मोक्ष) सुखकारिणी हैं। शास्त्रों में जयणायुक्त वर्तन करने वाली आत्मा को श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक क्रिया करने के कारण सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र से युक्त भाव होने से आराधक कहा गया हैं।[140] इसलिए साधु की तरह श्रावक को भी सर्व कार्यों में जयणा प्रधान प्रवृत्ति करनी चाहिए अन्यथा श्रावक अनर्थदण्ड के पाप का भागीदार होता है। यहाँ तक कि जिनभवनादि निर्माण में भी जयणापूर्वक वर्तना चाहिए।[141]

14-16. जिन पूजा, जिन स्तवन, गुरु स्तवन :-

जिनपूजा आदि का विवरण आगे आने वाले उपशीर्षक के अन्तर्गत (पृ. 363, गुरु स्तव पृ. 368) दिया जा रहा हैं।

17. साधार्मिक वात्सल्य :-

जो समान धर्म का आचरण करते हैं, उनहें 'साधर्मिक' कहते हैं। साधर्मिकों को भोजन में निमंत्रण करना, प्रतिवर्ष स्वामिवात्सल्य या एक-दो आदि साधर्मिकों की यथाशक्य भक्ति करना, प्रतिदिन या पुत्र जन्म-विवाहोत्सव या अन्य भी एसा मांगलिक प्रसङ्ग पर साधर्मिकों को विनयपूर्वक घर बुलाकर उनका पाद-प्रक्षालन कर, भक्तिपूर्वक उचित आसन पर बैठाकर उत्तम भाजन (बर्तन) में रखकर उत्तम भोजन-पानी-ताम्बूलादि एवं वस्त्राभूषण देना, संकटग्रस्त साधर्मिकों का उद्धार करना, उनको धर्म में स्थिर करना, उनकी सार संभाल कर उन्हें धर्म में प्रेरित करना, उनके साथ कलह नहीं करना- 'साधर्मिक वात्सल्य' हैं।[142] यह बृहत्कर्मक्षयकारी होने से महानिर्जरा का कारण है।

साधर्मिक भक्ति से लाभ :-

साधर्मिक बारह व्रतों (उपलक्षण से सामायिकादी एकादि व्रत) का पालन करते हैं, पूजा सामायिक आदि शुभ क्रिया करते हैं, दानादि चारों धर्म की यथाशक्ति आराधना करते हैं, प्रभुभक्ति एवं गुरुभक्ति द्वारा धन्य होते है, प्रवचन श्रवण से समता-समाधि-

122. अ.रा.पृ. 4/1819, 1821
123. अ.रा.पृ. 4/1837, 1840
124. अ.रा.पृ. 4/1820
125. अ.रा.पृ. 4/1837-38-39
126. अ.रा.पृ. 4/1840
127. अ.रा.पृ. 3/1319; 4/1850
128. अ.रा.पृ. 4/1840
129. श्राद्ध दिनकृत्य-गाथा-9
130. योग शास्त्र-प्रकाश 8/35
131. वही 8/40
132. नमस्कार-पंचविंशति-16
133. धर्मसंग्रह का भाषांतर - भा.1, पृ. 345
134. अ.रा.पृ. 4/1423
135. अ.रा.पृ. 4/1423; आवश्यक चूर्णि, अध्ययन 6
136. अ.रा.पृ. 4/1423; निशीथचूर्णि, उद्देश-1
137. अ.रा.पृ. 4/1423; दशवैकालिक, अध्ययन-4
138. अ.रा.पृ. 4/1423; महानिशीथ सूत्र, चूर्णि-2
139. अ.रा.पृ. 4/1423; आचारांग, 2/3/1; उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 24
140. अ.रा.पृ. 4/1423; प्रतिभाशतक 50, 51
141. अ.रा.पृ. 4/1423; धर्मसंग्रह, अधिकार 2
142. अ.रा.पृ. 7/799

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वस्थता की शिक्षा प्राप्त करते हैं, नवकार मंत्र के जाप से पंच परमेष्ठी की उपासना करते हैं, धंधा-व्यापार में नीति-कोमलता का ध्यान रखकर मार्गानुसारी जीवन यापन करते हैं, संयम की भावना प्रगट करने/टिकाने के लिए अनित्यादि भावनाओं से मन को भावित करते हैं, पाप से डरते हैं, बचते हैं, सांसारिक कार्यों में भी निष्ठुर भाव या अति आसक्ति के भाव नहीं लाते।...इत्यादि अनेक गुणों से युक्त होने से साधर्मिक भक्ति अमीतफलदाता धर्म माना जाता है अत: साधर्मिक की भक्ति करना/भोजन कराना - यह अत्यंत सफल कार्य है।

18. व्यवहार शुद्धि :-

व्यवहार में शुद्धि रखना श्रावक का परम कर्तव्य है क्योंकि क्रमश: व्यवहार से अर्थ (धन) की, धन से आहार की, उससे देह की शुद्धि होती हैं। देह शुद्धि से श्रावक धर्मयुक्त होता हैं जिससे उसका समस्त आचार, व्यवहार एवं आराधना सफल होती हैं।

व्यवहार शुद्धि नहीं रखने पर श्रावक स्व-पर एवं धर्म की निंदा करवाता है जिससे अबोधि (मिथ्यात्व) की प्राप्ति होती है, अत: श्रावक को चाहिए कि, वह सर्वात्मना प्रयत्नपूर्वक धर्महेलना को रोकें।[143]

19. रथयात्रा :-

जिन-जन्म कल्याणकादि विशेष महोत्सव प्रसंग पर स्नात्रपूजादिपूर्वक जिन प्रतिमा को श्रृंगारित रथ में विराजमानकर महोत्सवपूर्वक पूरे नगर में घुमाना 'रथयात्रा' कहलाती है।[144]

रथयात्रा जिनशासन प्रभावना का कारण हैं।[145] दीन-दु:खी को दान देते हुए, तपादिपूर्वक भावविशुद्धि युक्त होकर, उत्तम वस्त्र-विलेपन-माला-पुण्य-अलंकारादि से देह को सुशोभित कर, सुशोभित स्त्रियों के द्वारा मंगल स्तुति, स्तोत्र, गीत-गान एवं वादित्रपूर्वक, धार्मिक नाटक-प्रेक्षण युक्त राजादि के द्वारा अनुशासनपूर्वक अमारिप्रवर्तनपूर्वक की जाती हैं।[146]

श्री जिनरथयात्रा से इसलोक में शत्रुकृत उपद्रवादि दोष नहीं होते; गुणप्रशंसा होती हैं; सज्जनता प्राप्त होती हैं; सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती हैं। जिन शासन पक्षपात, शुभ अध्यवसाय, शासन के प्रति बहुमान उत्पन्न होता है; रथयात्रा संपदा का मूल कारण है; निर्वाण फलदायी हैं।[147]

20. तीर्थयात्रा :-

श्री शत्रुञ्जय-गिरनारादि तीर्थ तथा तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण एवं विहार भूमियाँ भी भव्य जीवों के शुभ-भाववृद्धि संपादक होने के कारण संसार-समुद्र से तारक होने से तीर्थ कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए तीर्थ में विधिपूर्वक जिनभक्ति-महोत्सव करना 'तीर्थयात्रा' है।

तीर्थ यात्रा की विधि - मुख्यतया तीर्थयात्रा छ:री पालक (इसका वर्णन प्रथम परिच्छेद पृ. 15 पर किया गया है) होकर करनी चाहिए। सामान्यतया श्रावक राजादि को ज्ञात करके उनकी अनुज्ञा प्राप्त करके, यात्रा के लिए देवालय बनवाते हैं; पट, मण्डप, जल संग्रह के साधनादि वाहनादि सज्ज करते हैं, गुरु-संघ और स्वजनों को निमंत्रत करते हैं, अमारी (अहिंसा) प्रवर्तन कराते हैं, जिनालयों में महापूजादि महोत्सव करते हैं, दीन-दु:खी को दान देते हैं, छ:रिधारकों को प्रोत्साहनपूर्वक सहयोग करते हैं, शूरवीर रक्षकों को बुलाते हैं, गीत-नृत्य-वादित्र करते हैं और स्वजनादि को भोजनादि करवाकर शुभदिन मङ्गल वस्त्रादि धारण कर पूर्वसंघपति या सुप्रतिष्ठित भाग्यशाली धार्मिक व्यक्ति के द्वारा (नये संघपति को) संघपति रुप में तिलक करवाकर प्रयाण करते हैं।

तीर्थयात्रा में रास्ते में संघ की देख-रेख-सुरक्षा-सार-संभाल करते हुए संघपति प्रत्येक ग्राम-नगर में स्नात्रपूजा-चैत्य परिपाटी (जिन मंदिर दर्शन) - जिन मंदिरों में आवश्यक पूजन सामग्री भेट करना, यथाशक्ति जीर्ण मंदिरों के उद्धारादि करने का चिन्तन करते हुए 'तीर्थ' को प्राप्त करते हैं।

तीर्थदर्शन होने पर रत्न-मोती-सोना-चाँदी-अक्षत-रुपये आदि से तीर्थ को बधाते हैं। तीर्थ में स्नात्रपूजा, अष्टप्रकारी पूजा, महापूजन, ध्वज प्रदान गीत-नाटक-नृत्य-वादित्रपूर्वक भक्ति सहित रात्रि जागरण-पूर्वक तीर्थ में उपवास-छट्ठ (दो उपवास) आदि तपपूर्वक तीर्थभूमि पर देव-गुरु-संघ के सान्निध्य में विधिपूर्वक 'तीर्थमाल' (स्नात्रमाल) धारण करते हैं। जिन मंदिरों में पूजा योग्य उपकरण भेट करते हैं। तीर्थोद्धार-देवकुलिकादि निर्माण जीर्णोद्धारादि हेतु द्रव्य (धन) समर्पित करते हैं। तीर्थाशातना निवारण, तीर्थरक्षण, तीर्थ सम्मान (प्रचार-प्रसार), दान, साधर्मिक भक्ति, स्वामी वात्सल्य, गुरु एवं चतुर्विध श्री संघ की भक्ति आदि उचित कार्य करते हैं। स्व-गृह आकर श्री संघ को भोजनादि करवाकर बहुमान-सत्कारपूर्वक उनका विसर्जन करते हैं। यथाशक्ति प्रतिवर्ष तीर्थमाल के दिन उपवास करते हैं।

सम्यग्दर्शन मोक्ष का अङ्ग है और पूर्वोक्तानुसार तीर्थयात्रा करने से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि होती है, जैन शासन की प्रभावना होती है, जो परम्परा से मोक्षदायी है, अत: शक्ति सम्पन्न सुश्रावक को यथाशक्ति जीवन में तीर्थयात्रा करनी चाहिए और संपन्न श्रावक को तीर्थयात्रा अवश्य करवानी भी चाहिए।[148]

21. उपशम[149] :-

क्रोध, क्लेश, कायादि का त्याग करना, क्रोधादि का निग्रह, माध्यस्थ परिणाम, शान्त अतस्था, राग-द्वेष के अभावरुप इन्द्रिय उपशम, कर्मों का उपशम होना,तृष्णा-नाश, रोगादि उपद्रव की शान्ति - 'उपशम' कहलाता है। कषाय परिणति से होनेवाले कटुकर्मविपाक का विचार कर श्रावक अपराधी के ऊपर भी कोप-त्याग हेतु प्रयत्न करता है और राग-द्वेष जनक स्थितियों में भी समभाव धारण करने का प्रयत्न करता हैं और ज्ञान से, धर्मकथा से, सम्यक्त्व से या दैवप्रतिबोध से उपशम को प्राप्त करता है।

उपशम का फल दर्शाते हुए आचार्यश्रीने कहा है-"जो उपशम करता है, उसकी आराधना, (सार्थक/सफल) है।" कहा भी है - **'उवसमसारं खु सामण्णम्।'**

22. विवेक :-

श्रावक कल्प्याकल्प्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय का विवेकपूर्वक विचार कर अकल्प्य-अभक्ष्यादि का त्याग करता है। शास्त्रज्ञान एवं

143. अ.रा.पृ. 6/935
144. अ.रा.पृ. 6/493
145. अ.रा.पृ. 1/367
146. अ.रा.पृ. 1/368
147. अ.रा.पृ. 1/369
148. अ.रा.पृ. 4/2246
149. अ.रा.पृ. 2/1055

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धिविज्ञानपूर्वक हेय-उपादेय की परीक्षापूर्वक हेय का त्याग एवं उपादेय का ग्रहण करता हैं।[150]

23. संवर :-

श्रावक जिसके द्वारा प्राणातिपातादि का त्याग हो, एसे निर्मल जीवदयामय परिणाम को धारण करता हैं और पाँचो आस्रवों का निरोध करता हैं; 5 समिति, 3 गुप्ति, 10 यतिधर्म, 12 भावना, 22 परिषह सहन और 5 चारित्र ये संवर के 57 भेद हैं। इनका ज्ञान प्राप्त करना, यथाशक्ति पालन करने की भावना रखना 'संवर' हैं।[151]

24. भाषा समिति का पालन करना :-

श्रावक के द्वारा क्रोधादि कषाय, या हास्य, भय या मुखरता पूर्वक भी सावद्य वचन का त्याग करना, विकथा का त्याग करना 'भाषा समिति' हैं।[152] इसका पृ. 286 पर विस्तृत वर्णन किया जा चुका हैं।

25-30. षड्जीवनिकाय पर करुणा[153] :-

करुणा गुण के कारण मोह से, दु:खी जीवों के दर्शन से, संवेग से या स्वभाव से दीन दु:खी के प्रति अनुकम्पा को करुणा कहते हैं, दु:खी के दु:ख को दूर करना, ग्लान को पथ्य वस्तु/आहार/औषध प्रदान करना, दीनादि को लोक-प्रसिद्ध आहार-वस्त्र-शयन-आसनादि देना, संवेगपूर्वक मोक्ष की अभिलाषा से सांसारिक रुप से सुखी जीवों के प्रति प्रीतिभाव से सांसारिक दु:खों से उनकी रक्षा की इच्छा, नि:स्वार्थ भाव से जीवमात्र के प्रति अनुग्रह (उपकार) परायणता एवं केवली भगवंतादि महामुनियों की सर्व जीवों को दु:ख से मुक्त करने की इच्छा को करुणा कहते हैं।

यद्यपि श्रावक मात्र निरपराधी त्रस जीवों को संकल्पपूर्वक नहीं मारने की प्रतिज्ञा करता है तथापि स्थावर जीवों के भी निरर्थक हिंसा नहीं करता, अपितु पृथ्वी-अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवों के प्रति कृपादृष्टि और अनुकम्पा रखता हैं।

31. धार्मिक जनों से सत्संग :-

श्रावक सदैव धार्मिक लोगों के साथ संबंध रखता है क्योंकि संसर्ग से ही गुणदोष उत्पन्न होते हैं।[154] गुणीजनों के साथ किया गया सत्संग कुमति को नष्ट करता है, मोह का नाश करता है, विवेक को जागृत करता है, प्रेम को विस्तृत करता/बढाता है, नीति को उत्पन्न करता है, गुणश्रेणी को बढाता है, यश को फैलाता है, धर्म को धारण करता है, दुर्गति को अपवर्ग के सुखों की प्राप्ति कराता है।[155] लोक में भी प्रसिद्ध है कि, "पण्डित मंडनमिश्र के संसर्ग/सत्संग से उनके घर रहे पालतू तोता आदि पक्षी भी दार्शनिक चर्चा करते थे। चरम तीर्थंकर परमात्मा महावीर के सत्संग से रोहिणेय चोर साधु बन गया; चार हत्या करनेवाला दृढप्रहारी भी आत्म कल्याण कर गया; चंडकौशिक सर्प देवलोक पाया, पार्श्व प्रभु के संग से नाग धरणेन्द्र बना, महावीर के सत्संग से श्रेणिक राजा आनेवाली चौवीसी में उनके समान तीर्थंकर बनेंगे। सत्संग से ही वालिया लूटेरा वाल्मिकी बना।

फूल के संग से ही कीट भी देव के मस्तक पर चढता है। सुमेरु के संग से घास सुवर्णपना धारण करती है, कश्मीर की भूमि के संग से ही घास केशर की सुगंध प्राप्त करती है।

सूक्तमुक्तावली में आचार्य सोमप्रभसूरिने कहा है "सद्गुणी मनुष्यों का संगम दुर्बुद्धि को नष्ट करता है, मोह को दूर करता है, तत्त्व-अतत्त्व में विवेक करता है, संतोष को प्राप्त कराता है, नीति को जन्म देता है, गुण समूह को विस्तृत करता है, यश फैलाता है, धर्मयुक्त बनाता है और दुर्गति को दूर करता है। अत: सद्बुद्धि के समूह को प्राप्त करने हेतु, चलने हेतु, कीर्त्ति प्राप्ति हेतु, धर्माचरण हेतु, स्वर्ग तथा मोक्ष की लक्ष्मी के लिये तथा आपत्ति, दु:ख, दुर्जनता और पाप के फल से बचने के लिए सत्संग करना चाहिए।"[155]

32. करणदमन :-

करण अर्थात् इन्द्रिय। अनियंत्रित इन्द्रियाँ आत्मा को कुमार्ग में ले जाती है, कृत्याकृत्य का विवेक नष्ट करती है, जीवित का नाश करती हैं, पुण्यरुपी वृक्ष के टूकडे करती है, प्रतिष्ठा को नष्ट करती है, न्याय मार्ग से भ्रष्ट करती है, अकृत्य कराती है, तप से वैर होता है, विपत्तिओं को बुलाती है अत: दोषों के स्थानरुप इन्द्रियों का दमन करके उसे वश में करना चाहिए।[156] अपने-अपने विषयों में दौडती इन्द्रियों का निग्रह करना या उपशम करना, उसे वशमें करना या निंदनीय कार्यो का त्याग करना, मन को ध्येय में स्थिर करना 'करण दमन' कहलाता हैं।[157]

33. चरण परिणाम :-

चरण परिणाम अर्थात् चारित्र अध्यवसाय।[158] अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने गमन, अतिशय गमन, विहार, अवस्थान, संयम अनुष्ठान, सेवन, मूलोत्तर गुणरुप आचरण, आसेवन, श्रमणधर्म, सर्वविरति और देशविरति चारित्र और यति समाचारि को 'चारित्र' कहा है।[159] 'परिणाम' अर्थात् दीर्धकाल के अनुभव सेउत्पन्न होनेवाला विशिष्ट आत्म धर्म, स्वभाव धर्म, अध्यवसाय या मनोभाव को परिणाम कहते हैं।[160] श्रावक चरण परिणाम अर्थात् चारित्र के अध्यवसाय (भावना) युक्त होता हैं। वह प्रतिदिन मन में चिंतन करता है कि कब एसा शुभ दिन हो जब मैं सर्वविरति चारित्र अंगीकार कर मुनि बनूं।[161]

34. संघ के ऊपर बहुमान :-

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, प्रभावनादि गुणों से रञ्जित होकर जो प्रीति का प्रतिबंध होता है, उसे बहुमान कहते हैं।[162] श्रावक साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रुप चतुर्विध संघ के प्रति आन्तरिक प्रीति धारण करता हैं। जैसे वे धन्य हैं, वे वंदनीय हैं उनके द्वारा तीनों लोक पवित्र किये गये हैं, इनके द्वारा तीनों भुवन में क्लेशकारक काममल्ल पराजित किया गया हैं, इत्यादि।[163]

---

150. अ.रा.पृ. 6/1250, 1251
151. अ.रा.पृ. 7/237
152. अ.रा.पृ. 6/1555
153. अ.रा.पृ. 3/382
154. अ.रा.पृ. 7/244
155. सूक्त मुक्तावली-66, 67
156. वही - 69, 70
157. अ.रा.पृ. 3/371
158. अ.रा.पृ. 3/1128
159. अ.रा.पृ. 3/1125-26
160. पाईय सद्द महण्णव-पृ. 556
161. अ.रा.पृ. 3/1128
162. अ.रा.पृ. 5/1304
163. वही पृ. 5/1303

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्त मुक्तावली में भी कहा है कि, "गुणो का सागर जो संघ संसार के प्रति उदासीन होकर मुक्ति के लिये लालायित है, जिसे तीर्थ कहते है, जो अप्रतिम पावन है, जिसे तीर्थंकर भी नमस्कार करतेहै, जिससे सज्जनों का शुभ/मंगल होता है, जो सद्गुणों का आकर है, जिसकी सेवा से लक्ष्मी-कीर्ति-प्रीति-सुमति एवं परंपरा से मुक्ति की भी प्राप्ति होती है, जिसकी भक्ति का मुख्य फल अर्हदादि पदवी एवं देवेन्द्र-चक्रवर्ती आदि प्रासंगिक फल माने जाते है वैसे श्री संघ की कल्याणकामी पुरुष सेवा करते हैं।[164]

35. पुस्तक/जिनागम लेखन करवाना :-

जिनागमों से ही हेय-उपादेय, हान-उपादानरुप सकल योगमार्गोपयोगी व्यवहार एवं अतीन्द्रिय फलविषयक अनुष्ठानों के विषय में ज्ञान होता हैं।[165] अतीन्द्रिय अर्थों की सिद्धि में शास्त्र (आगम) ही प्रमाण माने जाते हैं।[166] आगम से परलोकादि का एवं परस्वरुप का ज्ञान होताहैं।[167] भव्यात्माओं को समाधि में प्रतिकूलता होने पर विचिकित्सा में मार्गदर्शन करता हैं।[168] आगम की आराधना के द्वारा ही श्रुत चारित्र रुप धर्म होता हैं।[169] जिनागम ही कुशास्त्र जनित संस्कार रुपी विष को दूर करने में मन्त्र, धर्माधर्म कृत्याकृत्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य, सारासारादि के विवेचन में अंधकार में दीपक, समुद्र (भव समुद्र) में द्वीप, रेगिस्तान में कल्पतरु की तरह दुर्लभ हैं। 'जिन' का स्वरुप भी आगम प्रमाण से ही निश्चित किया जाता हैं।[170] जिनागमों को बहुमान करने से देवगुरुधर्मादि का भी बहुमान किया माना जाता है। केवलज्ञानी के द्वारा भी जिनागम प्रमाण माने जाते हैं अत: जिनवचन का बहुमान करनेवाले श्रावकों के द्वारा न्यायार्जित धन से, विशिष्ट पत्रों पर सुंदर, शुद्ध अक्षर विन्यास पूर्वक जिनवचन को लिखवाना चाहिए। जिनागमों को पढनेवालों का वस्त्र-भोजन-पुस्तक आदि वस्तुओं से भक्तिपूर्वक सम्मान करना चाहिए। तथा लिखित पुस्तकों को संविज्ञ-गीतार्थो को बहुमानपूर्वक व्याख्यान हेतु प्रदान करना चाहिए और प्रतिदिन पूजा (द्रव्य, धन के द्वारा ज्ञान पूजा) पूर्वक श्रवण करना चाहिए।

जिनवचन लिखवाने से वह मनुष्य दुर्गति, गूँगापन, जडता, बुद्धिहीनता आदि को प्राप्त नहीं होता और जो जिनवचन लिखवाता है, व्याख्यान करवाता है, पढता है, पढाता है, सुनता है, उनकी सुरक्षा विधि में आदर करता हैं वह मनुष्य मर्त्य-देव एवं मोक्ष के सुखों को प्राप्त करता हैं। अत: सुश्रावक को पुस्तक / जिनागम लेखन अवश्य करवाना चाहिए।[171]

36. तीर्थ/जैन संघ में प्रभावना :-

जिससे तिरा/पार उतरा जाय उसे 'तीर्थ' कहते हैं। वह चार प्रकार का है-

(1) **नाम तीर्थ** - जीवाजीव विषयक भेद रुप या तीर्थ के नाम।

(2) **स्थापना तीर्थ** - साकार-अनाकार भेद से जिस पदार्थ में या जिस स्थान पर तीर्थ की स्थापना की गई हो।

(3) **द्रव्य तीर्थ** - नदी-समुद्रादि में उतरने का निश्चित स्थान जैसे मागध, वरदाम आदि या घाट, ओवारा आदि।

(4) **भाव तीर्थ** - प्रवचन या साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रुप चतुर्विध श्री संघ भावतीर्थ है जो सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा भव-समुद्र से पार (मोक्ष) पहुँचाते हैं।[172]

यद्यपि जिन प्रवचन/शासन शाश्वत होने से, तीर्थंकर भाषित होने से, देव दानवों के द्वारा सेवित होने से स्वयं दीप्तिमान है तथापि भावतीर्थ अर्थात् साध्वादि रुप चतुर्विध संघ में श्रावक स्वयं के सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के लिए धर्म कथा, प्रतिवादी विजय, दुष्कर तपश्चर्या, गुरु प्रवेशोत्सव, संघ का बहुमान-सत्कार आदि प्रभावना (सिक्के, मोदक, फल, मिश्री या अन्य उचित देयवस्तु वितरित करना), स्वामि-वात्सल्य (संघ भोजन), आदि जिस गुण में स्वयं की अधिकता हो उससे जिन शासन या तीर्थ (संघ) की उन्नति और उद्भावना (प्रख्याति) के कार्य करें - और सर्वशक्तिपूर्वक जिनशासन की निंदा या मलिनता के कार्य को प्रतीकार सहित सर्वथा रोकना 'तीर्थ प्रभावना' कहलाती हैं।[173] यह मोक्ष का बीज और सम्यक्त्व का अङ्ग होने से अवश्य करने योग्य हैं।[174]

164. सूक्त मुक्तावली-21, 22, 23, 24
165. अ.रा.पृ. 2/87; योगबिन्दु-239
166. अ.रा.पृ. 2/88; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 23/13
167. अ.रा.पृ. 2/88; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 16/25-26; नंदीसूत्र, गाथा 3 की टीका
168. अ.रा.पृ. 2/88; द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका 14/30
169. अ.रा.पृ. 2/89, 4/2719-20-21; षोडशक 2/12
170. अ.रा.पृ. 2/89
171. अ.रा.पृ. 5/1122
172. अ.रा.पृ. 4/2242-43-45; विशेषावश्यक भाष्य-1026, 1027, 1032, 1033, 1380
173. अ.रा.पृ. 5/438, 439
174. अ.रा.पृ. 5/439, 440; हारिभद्रीय अष्टक-23/7

'एसो दोसो खु मोहस्स'

आया नाणसहावी, दंसणसीलो विसुद्धसुहस्वो ।
सो संसारे भमई, एसो दोसो खु मोहस्स ।।1।।
जो उ अमुत्तिअकत्ता, असंगनिम्मलसहावपरिणामी ।
सो कम्मकवयबद्धो, दीणो सो मोहवसगत्ते ।।2।।
ही दुक्खं आयभवं, मोहमहऽऽप्पाणमेव धंसेई ।
जस्सुदये णियभावं, सुद्धं सव्वं पि नो सरई ।।3।।

– अ.रा.पृ. 6/456

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनपूजा

'जिनपूजा' शब्द में 'जिन' और 'पूजा' - ये दो शब्द हैं ('जिन' का वर्णन पूर्व में (पृ. 153 पर) किया जा चुका हैं)। 'पूजा' की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में कहा है कि, प्रशस्त मन-वचन-काय की चेष्टा, सत्कार, पुष्प, फल-आहार-वस्त्रादि के द्वारा पूजा, स्तवादि के द्वारा पूजा/भक्ति करना 'पूजा' कहलाती हैं।[1]

जिनपूजा के दो भेद :-

1. **द्रव्यस्तव** - जल, चंदन, पुष्पादि उत्तम सुगन्धित द्रव्यों से शुभभावपूर्वक परमात्मा की पूजा (जिनपूजा) 'द्रव्य स्तव' हैं।[2]
2. **भावस्तव** - परमात्मा के सामने चैत्यवंदन, भक्ति, भावना, जिनवाणी सम्मत नृत्य, नाटक, स्तुति, स्तवन, स्तोत्रादि को सस्वर, वादित्रादि के साथ गायन 'भावस्तव' हैं।[3]

द्रव्यपूजा के प्रकार :-

जैन शास्त्रों में जिनपूजा के दो, तीन, पञ्चोपचारी, अष्टप्रकारी, सत्रहभेदी, इक्कीसप्रकारी, चौंसठप्रकारी सर्वोपचारी आदि अनेक भेद अंगपूजा और अग्रपूजा के अन्तर्गत वर्णित हैं।[4]

दशत्रिक :-

चैत्यवंदन महाभाष्यादि ग्रंथों में द्रव्यस्तव और भावस्तव का विस्तृत वर्णन जिनमंदिर संबंधी 'दशत्रिक' के अन्तर्गत किया गया हैं, अतः यहाँ भी दशत्रिक का वर्णन किया जा रहा हैं।

1. निसीहित्रिक :-

जिनमंदिर में प्रवेश करने से पूर्व मुख्य द्वार पर तीन बार 'निसीहि' शब्द बोलना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि, "मै सावद्य/पाप व्यापार (सांसारिक कार्यो) का त्याग करता हूँ।" जगत संबंधी सर्व विचारों को छोडकर जिनभक्ति के लिए मैं मंदिर में प्रवेश कर रहा हूँ।" तत्पश्चात् द्रव्य पूजा संबंधी सामग्री तैयार करना मंदिर संबंधी सफाई सार-संभाल आदि के त्यागरुप तीन बार 'निसीहि' शब्दोच्चारण रुप दूसरी निसीहि मंदिर के गर्भगृह/गभारे के द्वार के पास बोलना चाहिए। और द्रव्यपूजा संपूर्ण हो जाने के बाद द्रव्य पूजा का त्याग करके एवं भाव पूजा (चैत्यवंदन, स्तुति-भक्ति, कायोत्सर्ग आदि) को प्रारंभ करते समय रङ्गमण्डप में तीन बार 'निसीहि' शब्दोच्चारणपूर्वक तीसरी 'निसीहि' बोलनी चाहिए।[5]

2. प्रदक्षिणात्रिक :-

प्रथम निसीहि के बाद और द्वितीय निसीहि के पूर्व परमात्मा के सामने खडे रहकर परमात्मा की स्तुति करनी चाहिए (इसका वर्णन आगे 'जिनथुणणं' शीर्षकान्तर्गत किया जायेगा) तत्पश्चात् परमात्मा को अपनी दायीं ओर रखकर परमात्मा के चारों ओर तीन बार प्रदक्षिणा/फेरी लगाना 'प्रदक्षिणात्रिक' हैं।[6] प्रदक्षिणा लगाते समय मन में परमात्मा के वीतरागतादि गुणों का ध्यान, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति, शुद्धि-विशुद्धि, वृद्धि आदि भाव गुंजायमान होने चाहिए।[7] इससे इलड-भौंरी न्याय से आराधक में शुभानुबंध वीतरागता का आकर्षण एवं संस्कार उत्पन्न होते हैं। मंदिर में शिखर, संगीत और मंत्र ध्वनि के माध्यम से एकत्रित हुई ऊर्जा-शक्ति को ग्रहण करने के लिए प्रदक्षिणा एक सशक्त माध्यम हैं;[8] प्रदक्षिणा से भवमी में रही हुई जिन प्रतिमाओं के दर्शन होते है एवं दर्शन-ज्ञान चारित्र की आराधना होती है।

3. प्रणामत्रिक :-

जिनेश्वर परमात्मा को प्रणाम करने से अहंकार नष्ट होता है, विनय गुण का प्रादुर्भाव होता हैं। प्रणाम तीन प्रकार के होते हैं -

(क) **अंजलिबद्ध प्रणाम** - परमात्मा दृष्टिगोचर होते ही दो हाथ जोडकर अञ्जलि ललाट के आगे रखकर, कुछ झुक कर 'नमो जिणाणं' बोलते हुए प्रणाम करना।[9]

(ख) **अर्धावनत प्रणाम** - द्रव्य पूजा के पूर्व मूल गर्भगृह के पास पहुँचकर कमर से आधा शरीर झुकाकर हाथ जोडकर प्रणाम करना।[10]

(ग) **पञ्चाग प्रणिपात** - द्रव्यपूजा पूर्ण होने पर चैत्यवंदन करते समय दो घुटनों दो हाथ और मस्तक - ये पाँचों अङ्ग भूमि को स्पर्श करते हुए प्रणाम करना (खमासमण देना)।[11]

4. पूजात्रिक[12] :-

(1) **अङ्गपूजा** - जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा को स्पर्श करके जल, चंदन, पुष्प एवं अंगरचना (आंङ्गी) करना अङ्ग पूजा हैं।

(2) **अग्रपूजा** - भगवान के सामने धूप-दीप करना; अक्षत, फल, नैवेद्यादि चढाना, घंटी बजाना, चामरादि ढोलना, दर्पण दिखाना, पंखा झेलना आदि परमात्मा के सामने परमात्मा को बिना स्पर्श किये की जानेवाली पूजा 'अग्रपूजा' कहलाती हैं।

(3) **भावपूजा** - भावस्तव भावपूजा हैं इसका परिचय आगे दिया जा रहा हैं।

---

1. अ.रा.पृ. 5/1073
2. अ.रा.पृ. 3/1283, 4/2171; अ.रा.पृ. 5/1073
3. अ.रा.पृ. 3/1257-58-83-85
4. अ.रा.पृ. 3/1283
5. अ.रा.पृ. 3/1299
6. अ.रा.पृ. 3/1298, 1303
7. साप्ताहिकः श्रमण भारती पृ. 3, 14 फरवरी सन् 1999
8. जैनाचार विज्ञान पृ. 32
9. अ.रा.पृ. 3/1298-99, 1303
10. अ.रा.पृ. 3/1299, 1304
11. अ.रा.पृ. 3/1299, 1304
12. अ.रा.भा. 3 'चेइय' शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अष्टप्रकारी पूजा[13] :-

जिनपूजा एवं स्नात्रमहोत्सवादि में अष्टप्रकारी पूजा सामान्यतया अधिक प्रचलित हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने इसका विस्तृत वर्णन किया हैं जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं-

(1) **जलपूजा** - स्नानपूर्वक पूजन के वस्त्र धारण कर पूजन की समग्र सामग्री तैयार करने के पश्चात् द्वितीय 'निसीहि' बोलने के बाद परमात्मा की प्रतिमा पर से निर्माल्य (वासी फूल आदि) उतारकर मोरपिच्छी से प्रमार्जन करने के पश्चात् शुद्ध जल से अभिषेक करना; तत्पश्चात् शुद्ध जल, गाय का दूध, दहीं, मिश्री और घी (दूध-1 भाग, जल-5 भाग, दही-एक छोटी चम्मच, मिश्री-थोडी सी, घी-दो-चार बूंद) को मिलाकर छानकर उनसे परमात्मा को प्रक्षाल (अभिषेक) करना, तत्पश्चात् शुद्ध जल से प्रक्षाल करना - 'जलपूजा' हैं।

(2) **चंदन पूजा** - उत्तम चंदन के साथ केशर, कस्तूरी, बरास (भीमसेनी कपूर-पूजन में प्रयुक्त होने वाला सुगन्धिपदार्थ) आदि को घिसकर, प्रक्षाल के बाद अंगप्रोञ्छण करके बरासयुक्त चंदन का विलेपन करके जिनप्रतिमा के 9 अङ्ग (दो अंगूठे, दो जानु, दो कलाई, दो स्कन्ध, शिखा, तिलक, भाल, कंठ, हृदय, नाभि) पर तिलक करना 'चंदन पूजा' है। चंदन में केशर और बरास चातुर्मास में समानुपात, शीत ऋतु में 1:2, और ग्रीष्म ऋतु में बरास अधिक और केशर न्यून मिलाना चाहिए। (बिना चंदन के अकेले केशर से जिनपूजा नहीं करनी चाहिए; एसा करने से प्रतिमा को गड्ढे हो जाते हैं।)

(3) **पुष्प पूजा** - सुगंधित, अखंड शुद्ध (जिसे पक्षी आदि ने खराब न किया हो या किसी अशुद्ध व्यक्ति ने स्पर्श न किया हो) ताजे, शुभ, जमीन पर नहीं गिरे हुए हों, गुलाब, मोगरा, चंपा, चमेरी, कमल, जाई, जूही आदि के फूल, उनकी माला आदि परमात्मा को चढाना 'पुष्प पूजा' हैं। - ये तीनों पूजाएं 'अंगपूजा' कहलाती हैं।

(4) **धूप पूजा** - कृष्णागरु, गुग्गुल, चंदन शिलारस, दशाङ्गी आदि धूप करके परमात्मा की दायीं ओर रखना 'धूपपूजा' हैं।

(5) **दीपक पूजा** - कपास की रुई की बत्ती से शुद्ध घी का दीपक कर परमात्मा की दाँयी ओर रखना, 'दीपक पूजा' हैं।

(6) **अक्षत पूजा** - शुद्ध अखंड, उत्तम, कोरे (बिना तेल के), अक्षतों (चावलों) से परमात्मा के सामने स्वस्तिक, भद्रासन, कलश, सिंहासन, नंदावर्त, संपुट, दर्पण और मीनयुगल - इन अष्ट मंगलों अथवा स्वस्तिक, अक्षत (चावल) से तीन बिन्द्राकार राशियाँ (ढगली) बनाना और सिद्धशिला बनाना 'अक्षत पूजा' हैं।

(7) **नैवेद्य पूजा** - मिश्री या गुड या घी शक्कर या गुड दूध या दही से बनी शुद्ध उत्तम मिठाई (जिसका स्वाद, वर्ण, गंध परावर्तित न हुआ हो), खीर, पकवान एवं घर में बनी उत्तम रसोई परमात्मा के सामने रखना 'नैवेद्य पूजा' कहलाती हैं।

(8) **फल पूजा** - ऋतु के अनुसार यथाप्राप्य उत्तम जाति के, अखंड, ताजे, पके हुए आम, मौसंबी, संतरे, केला, श्रीफल, बीजोरा, सेवफल, गन्ने, चीकू आदि उत्तम फल परमात्मा के सामने रखना 'फल पूजा' कहलाती हैं।

पूजा करते समय नैवेद्य स्वस्तिक पर एवं फल सिद्धशिला पर रखे जाते हैं। धूप से फल तक की पूजा 'अग्र पूजा' कहलाती हैं।

त्रिकाल जिनपूजा :-

जैनागमानुसार अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने त्रिकाल जिनपूजा का वर्णन करते हुए कहा है कि, "श्रावक प्रातः शरीर शुद्धिपूर्वक शुद्ध वस्त्र (धोये हुए) धारण कर दूर से धूप-दीप पूर्वक परमात्मा (की प्रतिमा) की वासक्षेप पूजा करें, मध्याह्न अथवा यथासमय अनुकूलतानुसार अष्टप्रकारी आदि पूजा करें एवं संध्या समय आरती मङ्गलदीपक पूर्वक जिनपूजा करें।[14]

जिनपूजा का फल :-

जीव के अशुभ भावरुप लोह को सुवर्ण समान करने के लिए जिनप्रतिमा पारसमणि समान है जो मुक्तिफल देती है।[15] जिनपूजा पुण्यबंध का हेतु हैं[16], कर्मरुप मैल को धोने में जल के समान है[17], स्व-पर उपकारी है। संसार भ्रमण का उच्छेद करती हैं[18], बोधिबीज का कारण है[19]। जो जिनपूजा नहीं करता, उसे भवान्तर में बोधिबीज (सम्यक्त्व) प्राप्त नहीं होता।[20]

जिनेश्वर परमात्मा की जल चंदनादि अष्टप्रकारी पूजा करने से ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मो का नाश करके भव्यात्मा मोक्षसुख/निर्वाण पद को प्राप्त करता हैं।[21]

जिनमंदिर में शिखर एवं उस पर आरोहित स्वर्ण कलशों द्वारा आकाश में प्रवाहित हो रही तरङ्गों, विद्युत् शक्तियों, विशुद्ध परमाणुओं एवं ऊर्जा को आकर्षित कर ग्रहण एवं संगृहीत की जाती हैं। जिनमंदिर में जाने से मंदिर में संगृहीत यह ऊर्जा हमें प्राप्त होती हैं जिससे आराधक को नई ऊर्जा, अद्भुत शांति, विशिष्ट सुखानुभूति की प्राप्ति होती हैं।[22]

5. अवस्थात्रिक[23] :-

द्रव्य पूजा करने के पश्चात् प्रतिमा के सामने खडे रहकर हृदय के अहोभावपूर्वक परमात्मा की पिण्डस्थ, पदस्थ और रुपातीत अवस्था का चिन्तन करना, अवस्थात्रिक हैं।

---

13. अ.रा.पृ. 3/1282
- मध्याह्न पूजा का अर्थ कुछ लोगो दोपहर 12 बजे चंदन पूजा करना - ऐसा करते है जबकि विधि यह है कि, सूर्योदय से एक प्रहर के बाद श्रावक सपरिवार जिनमंदिर जाकर परमात्मा की अष्टप्रकारी पूजा, स्नात्रपूजादि करें; आरती आदि करके अभिजित मुहूर्त में (11 बजे बाद) मध्याह्न के देववंदन करें। जैसाकि जैन तीर्थों में प्रायः 9 बजे प्रक्षाल किया जाता है, तत्पश्चात् चंदनपूजा, स्नात्रपूजादि होते है। यदि 12.00 बजे चंदन पूजा की जाय तो स्नात्र, अष्टप्रकारी पूजा, आरती, देववंदनादि कब होंगे ? मंदिर कब मंगल होगें एवं पूजारी आदि कब भोजन करेंगे ? एवं श्रावक-श्राविका के दो बजे तक मंदिर में रहने पर वे साधु-साध्वी के सुपात्र-दान से भी प्रायः वंचित रहने की संभावना होगी - सुज्ञ भावुक इस बात पर सयुक्तिक विचार करें।
14. अ.रा.पृ. 3/1288
15. अ.रा.पृ. 3/1245
16. अ.रा.पृ. 3/1278; पञ्चाशक-4/8
17. अ.रा.पृ. 3/1279
18. अ.रा.पृ. 3/1281
19. अ.रा.पृ. 3/1280
20. वही
21. अंतराय कर्म निवारण पूजा
22. जैनाचार विज्ञान पृ. 28, 29
23. अ.रा.पृ. 3/1299, 1304; चैत्यवन्दन भाष्य (सार्थ) पृ. 78-79

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) **पिण्डस्थ अवस्था** - 'पिण्ड' अर्थात् तीर्थंकर के जन्म से लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति एवं समवशरण की स्थापना के पहले तक का छद्मस्थ देह अर्थात्, द्रव्यतीर्थंकररुप में रहने वाली अवस्था पिण्डस्थ अवस्था कहलाती हैं। वह पिण्डस्थ अवस्था तीन प्रकार की हैं-

(1) **जन्मावस्था** - तीर्थंकर जन्म के समय जन्माभिषेक महोत्सव का दृश्य, छप्पन दिक्कुमारिका महोत्सव, आदि को स्मृति में लाना और चोसठ इन्द्रों द्वारा अभिषेक किये जाने पर भी तीर्थंकर के निराभिमान रहने आदि का चिन्तन करना चाहिए।

(2) **राज्यावस्था** - पुष्पादि से तीर्थंकर प्रतिमा की अंगरचना देखकर चिन्तन करना चाहिए कि सर्व प्रकार की अनुकूलता, श्रेष्ठ वैभवपूर्ण संसार एवं राजकीय सुख को आपने तृणावत् त्याग कर कर्मक्षय एवं आत्मकल्याण के लिए साधुजीवन का अंगीकार किया। हम भी कब हमारी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे ? -ऐसी भावना से मन को भावित करना।

(3) **श्रमणावस्था** - आभूषण एवं अंगरचना (आंगी) रहित जिनप्रतिमा के दर्शन से दीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञानाप्ति एवं समवसरण की स्थापना के पहले तक की श्रमण (मुनि) अवस्था का चिन्तन करना कि परमात्माने समस्त वैभव त्याग कर घोर परिषहों और उपसर्गों को समतापूर्वक सहन किया; साथ ही अनुपम त्याग और घोर तप किया, अहर्निश आत्मध्यान में रहकर घातीकर्मों का क्षय किया। धन्य साधना ! धन्य पराक्रम ! धन्य सहिष्णुता - इस प्रकार की अवस्था का ध्यान करना।

(2) **पदस्थ अवस्था** - पदस्थ अवस्था अर्थात् तीर्थंकर अवस्था। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद समवसरण की रचना; चौंतीस अतिशय, षड्द्रव्य-नवतत्त्वयुक्त पैंतीस वाणी-गुणों से अलंकृत धर्मदेशना; चतुर्विध सघ की स्थापना आदि परमात्मा के अरिहन्त स्वरुप का चिन्तन करना एवं हम भव्य जीवों पर परमात्माकृत उपकारों का चिन्तन करना।

(3) **रुपातीत अवस्था** - रुपातीत अवस्था अर्थात् सिद्धावस्था। पर्यकासन या जिन/कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थापित जिन प्रतिमा को देखकर प्रभु की निर्वाण (मोक्ष/सिद्ध) अवस्था का चिन्तन करना। अर्थात् सिद्ध परमात्मा के अनन्तचतुष्टय आदि आठ गुणों का चिन्तन करना।

6. दिशा-त्यागत्रिक :-

जिनपूजा के समय चित्त में प्रारंभ हुए उत्तम परिणाम दूसरे विचार या दूसरी प्रवृत्ति से लेशमात्र भी खंडित न हो इसलिए पूजा, चैत्यवंदन करते समय (1) अपनी दोनों ओर और पीछे अथवा (2) उपर, नीचे और आसपास - यों तीनों दिशा में देखने का त्यागकर प्रभु के सामने ही देखना - त्रिदिशि निरक्षण वर्जन (त्याग) त्रिक हैं।[24]

7. प्रमार्जनात्रिक :-

चैत्यवंदनादि हेतु भूमि पर बैठने से पूर्व तीन बार दुपट्टे के छोर से (या बहनों के लिए साडी के पल्ले से) जगह का जीवरक्षार्थ तीन बार प्रमार्जन करना, प्रमार्जनात्रिक है। इसका आशय जीवहिंसा से बचाव और जीवनरक्षा करना है।[25]

8. वर्णादित्रिक :-

वर्णादित्रिक को चैत्यवंदन भाष्य में आलम्बन त्रिक कहा है (1) शब्दालंबन - बोले जानेवाले सूत्र के शब्दों की शुद्धता, पदविन्यास, ह्रस्व, दीर्घ, अनुस्वार आदि का ध्यान रखते हुए उच्चारण करना 'शब्दालंबन' हैं। (2) अर्थालंबन - उनके अर्थ को ग्रहण करना। (3) पुष्टालंबन - परमात्मा की प्रतिमा का आलंबन लेकर परमात्मभाव की ओर ध्यान देना। इससे धर्म क्रिया में चित्त की एकाग्रता बढती है और परम आनंद प्राप्त होता हैं।[26]

9. मुद्रात्रिक[27] :-

'मुद्रा' अर्थात् अङ्गोपाङ्गों का विन्यास करना। योग के यम-नियमादि आठ अङ्गों में तीसरा अंग 'आसन' हैं। चैत्यवंदन का महान योग सिद्ध करने के लिए योगाङ्ग की भी आवश्यकता है। उसकी सिद्धि शरीर की विशिष्ट मुद्रा से होती है। ये मुद्राएँ तीन प्रकार की हैं-

(1) **योग मुद्रा** - इरियावहियं, चैत्यवंदन, स्तवन, स्तुति, नमुत्थुणं, सूत्र आदि बोलते समय दोनों हाथों की हथेलियों को कुछ पोली जोडकर (बंद कमल सा आकार बनाने पर) अंगुलियों के अग्रभागों को एक-दूसरे के बाद क्रमशः रखना दोनों हाथों को कुहनी तक जोडकर कुहनी पेट पर लगाकर रखना - 'योगमुद्रा' हैं।

(2) **मुक्ताशुक्ति मुद्रा** - जावंति, जावंत और जयवीयराय सूत्र बोलते समय दोनों हाथों को उनकी अंगुलियों के अग्रभागों को परस्पर सामने आएँ तथा हथेली बीच में मोती की सीप की तरह ज्यादा पोली रहे - इस प्रकार जोडने से मुक्ताशुक्ति मुद्रा बनती हैं।

(3) **जिन मुद्रा** - कायोत्सर्ग के समय दो पैरों के बीच में आगे चार अंगुल और पीछे इससे कम जगह रहे, हाथ सीधे लटकते रहें, और दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर रहे, इस प्रकार खडे रहना 'जिनमुद्रा' हैं। इसे कायोत्सर्ग मुद्रा (खड्गासन) भी कहते हैं।

10. प्रणिधानत्रिक :-

प्रणिधान अर्थात् धर्मानुष्ठान में मन, वचन, काया को एकाग्र (स्थिर) लगाये रखना, प्रणिधान-त्रिक कहलाती हैं। प्रणिधान समस्त आराधनाओं का मूलाचार है। प्रणिधान के बिना कोई भी आराधना सफल नहीं हो सकती।[28]

जिनपूजा में समशुद्धि[29] :-

1. मनः शुद्धि :-

जिन पूजा करते समय मन को मलिन करनेवाले दुर्विचारों

24. अ.रा.पृ. 3/1304
25. अ.रा.पृ. 3/1308
26. अ.रा.पृ. 3/1308
27. अ.रा.पृ. 3/1308
28. अ.रा.पृ. 3/1310
29. अ.रा.पृ. 3/1281

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का संपूर्ण त्याग करके मन को शुद्ध रखना चाहिए, पूजा संबंधी उत्तम भावना से मन को भावित करना चाहिए।

2. वचनशुद्धि :-

जिन पूजा करते समय दुर्वचन का त्याग करना चाहिए। पूजा संबंधी दोहे आदि भी स्वयं पूजा करते हो तब मौन रखकर मन में बोलना चाहिए जिससे आशातना न हो (अन्य व्यक्ति पूजा/प्रक्षालादि करता हो तो स्वयं प्रकट स्वर से बोले तो दोष नहीं) चैत्यवंदनादि क्रिया में सूत्रादि का उच्चारण शुद्ध, स्पष्ट एवं विधि के अनुसार करना चाहिए।

3. कायशुद्धि :-

जिन पूजा के लिए पूर्वमुखी होकर छने हुए शुद्ध जल से शुद्ध भूमि पर सर्वांग स्नान करें, स्नान के पश्चात् शुद्ध वस्त्र से शरीर पोंछे। अशुद्ध व्यक्ति आदि को स्पर्श न करें। शरीर में फोडा, घाव, आदि से खून या मवाद बहता हो या अन्य इसी प्रकार की अशुद्धि के समय परमात्मा की अङ्ग पूजा न करें। वे अग्र पूजा या भावपूजा कर सकते हैं एवं अपने पुष्पादि अन्य को पूजा हेतु दे सकते हैं।

4. वस्त्रशुद्धि :-

वस्त्र और विचारों का प्रगाढ संबंध हैं अत: काले, फटे हुए, सिले हुए, अशुभ, गंदे या जिस वस्त्रों से मल-मूत्र त्याग, मैथुन-सेवन, भोजन आदि किया हो या ऋतुमती स्त्री के द्वारा स्पर्श किया हुआ वस्त्र जिनपूजा में नहीं पहनना। स्नान के पश्चात् पूजन के लिए शुद्ध भूमि पर उत्तराभिमुख होकर नये या स्वच्छ शुभ्र (सफेद) या शुभ (लाल, पीलादि) दो सदश वस्त्रों (धोती-सोला) को धूप से सुगंधित करके पहनना चाहिए।

बहनों को भी उद्‌भट वेश का त्याग कर मर्यादापूर्ण वेश-भूषा (साडी-चूनरी) धारण करना चाहिए। पूजन के समय भाईयों को कम से कम दो वस्त्र और बहनों को तीन वस्त्र (और अन्तर्वस्त्र भी) होना ही चाहिए।

वाचक श्री उमास्वाति ने कहा है कि, "जिनपूजा में श्वेत (सफेद) वस्त्र शांति, पीले वस्त्र लाभ, श्याम (काले, गहरे नीले) वस्त्र पराजय, लाल वस्त्र पूजक को मङ्गल की प्राप्ति कराते हैं।[30] अत: जिनपूजा एवं अन्य माङ्गलिक कार्यों में काले, गहरे नीले, गहरे कत्थई इत्यादि वस्त्र सर्वथा वर्जित किये जाते हैं।

5. भूमि शुद्धि :-

जिनालय निर्माण की जगह पाताल (पानी निकले या अतिशय पक्की भूमि मिले) अर्थात् भूमि में हड्डी, कोयले, राख, कांटे आदि न हो, फटी हुई न हो, उसकी मिट्टी सुगंधी हो, अच्छे वर्णवाली हो, निकट में सम्शानादि न हो, इत्यादि श्रेष्ठ भूमिगुण एवं प्रसन्नतायुक्त उत्तमभावदायक होनी चाहिए। जिस जगह पूजा की जाये वह जगह भी स्वच्छ, धूप से सुगंधित हो। पूजा के समय जिनबिंब नाभि से ऊपर एवं जमीन से डेढ हाथ ऊँचा अवश्य होना चाहिए, अन्यथा पूजक एवं उसके वंश की अवनति होती हैं।[31] द्रव्यपूजा करने से पहले एवं चैत्यवंदन के बाद जिनमंदिर में रहा कचरा दूर करना भी भूमि शुद्धि का अङ्ग हैं।

6. उपकरण शुद्धि :-

परमात्मा की पूजा में प्रयुक्त किये जानेवाले तमाम उपकरणों का निर्माण स्वर्ण, रजत, जर्मन, ताँबा आदि उच्च श्रेणी की धातुओं से कराना और उपयोग में लेने से पूर्व एवं बाद में भी अच्छी तरह से साफ करना चाहिए। जिनपूजा में उपयोग में लिये जानेवाले पूजा योग्य द्रव्य यथासंभव न्यायोपार्जित स्व-द्रव्य से लाना चाहिए जिससे पूजा में भावोल्लास अधिक जागृत होता हैं। पूजा के द्रव्य उत्तम, ताजे और स्वच्छ होना चाहिए।[32]

7. स्थिति शुद्धि :-

जिनमंदिर में दर्शन-पूजन करते समय पुरुष प्रतिमा की दायीं और तथा स्त्रियाँ बायीं ओर रहें। वाचक उमास्वाति ने कहा है कि, मंदिर में जिनेश्वर परमात्मा कम से कम जमीन से डेढ हाथ ऊँचे विराजमान होना चाहिए। इससे नीचे रखने पर पूजक की, संतान एवं वंश की अवनति होती हैं। जिनपूजा करते समय पूजक का मुख यथासंभव पूर्व या उत्तरा दिशा की ओर होना चाहिए क्योंकि पूजक का मुख पश्चिम दिशा की ओर रहने पर संतति का नाश, दक्षिण दिशा और वायव्य कोण की ओर रहने पर संतति का अभाव, अग्नि कोण की ओर रहने पर धनहानि, नैऋत्य की ओर रहने पर कुलक्षय होता है और ईशान कोण की ओर रहने पर अच्छी स्थिति नहीं बनती।[33] अन्य ग्रंथो में स्थितिशुद्धि के स्थान पर सातवीं शुद्धि में विधिशुद्धि का वर्णन प्राप्त होता है, यथा-

विधिशुद्धि :-

परमात्मा की पूजा तथा चैत्यवंदनादि क्रिया शुद्ध शास्त्रोक्त विधिपूर्वक करनी चाहिए। पूजादि में प्रमाद, अविधि-आशातना आदि दोषों से बचना चाहिए।[34]

पाँच अभिगम[35] :-

जिनमंदिर में प्रवेश करते समय पाँच अभिगमों का पालन करना चाहिए -

जिनमंदिर में प्रवेश करते समय राजा को तलवार, छत्र, जूते (मोजडी), मुकुट और चामर - इन पाँच राजचिह्नों का त्याग करना चाहिए। अन्य मनुष्यों को निम्नानुसार पाँच अभिगमों का पालन करना चाहिए-

1. सचित्त का त्याग :-

शरीर शोभा हेतु रखी गई पुष्पमालाएँ, सिर की वेणी, बालों में रखे गए फूल, मुकुट, कलगी, राज-चिह्न, जूते, मोजडी, जेब में रखे तम्बाकू, मुखवास, मावा-मसाला, पान-सिगरेट, चाकलेट-पिपरमेंट, दवा-औषधि, छींकनी, सेंट, इत्र आदि समस्त पदार्थों का मंदिर में प्रवेश करने से पूर्व त्याग करना चाहिए, इसे बाहर रखें या पेढी, चौकीदार आदि को सौंपना चाहिए।

2. अचित्त का अत्याग :-

कभी भी खाली हाथ देव/गुरु के दर्शन के लिए नहीं जाया जाता अत: जिनपूजन हेतु यथाशक्ति धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, फूल, फल, जल आदि लेकर जिनालय जाना चाहिए।

---

30. अ.रा.पृ. 3/1283, 1284
31. अ.रा.पृ. 3/1283
32. अ.रा.पृ. 3/1281
33. अ.रा.पृ. 3/1283
34. अ.रा.पृ. 3/1281-82; सात शुद्धि-चलो जिनालय चलें
35. अ.रा.पृ. 3/1285-86, 3/1310-11

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. उत्तरासन :-

पुरुष को जिनमंदिर में प्रवेश करने से पूर्व उत्तरासन (खेस) से अपने शरीर (कंधे) को अलंकृत करना चाहिए। बहनों को खेस के बजाय मर्यादापूर्ण वस्त्र पहनकर, सिर ढँककर मंदिर में प्रवेश करना चाहिए।

4. अंजलि :-

जिनालय प्रवेश करते ही जैसे ही देवाधिदेव की प्रशस्त मुखाकृति दिखे, वैसे ही दोनों हाथ ललाट पर जोडकर, मस्तक झुकाकर 'नमो जिणाणं' कहना, 'अञ्जलिबद्ध प्रणाम' नामक अभिगम है (बहनों को हाथ उंचे नहीं करना)।

5. प्रणिधान :-

जिनालय में जाने के बाद प्रभुभक्ति में मन की एकाकारता, तल्लीनता, तदाकारता, तन्मयता और आसक्ति का हो जाना 'प्रणिधान' अभिगम हैं।

जिनमंदिर में त्याग करने योग्य 84 आशातनाएँ :-

जिन मंदिर की जघन्य दश आशातनाएँ :-

1. पान-सुपारी खाना, 2. पानी पीना, 3. भोजन करना, 4. जूते पहनना, 5. स्त्री सेवन करना, 6. थूंकना, 7. श्लेष्म फेंकना, 8. मूत्रत्याग करना, 9. मलत्याग करना, 10. जुआ खेलना - इन दस जघन्य आशातनाओं का अवश्य त्याग करना चाहिये। जैसा कि कहा गया है-

तंबोल पाण भोयण, वाणह मेहुन्न सुअण निट्ठवणं।
मुत्तुच्चारं जुअं, वज्जे जिणनाह जगईए॥

शरीर में अशुद्धि होने पर भी पूजा करना, प्रतिमा का नीचे गिर जाना आदि 42 प्रकार की मध्यम आशातनाएँ हैं।

जिनमंदिर की उत्कृष्ट 84 आशातनाएँ :-

1. नाक का मैल डालना, 2. जुआ, शतरंज, चौपड, ताश आदि खेलना, 3. लडाई-झगडे करना, 4. धनुष आदि कलाएँ सीखना, 5. कुल्ले करना, 6. पान-सुपारी आदि खाना, 7. पान की पीक मंदिर में थूंकना, 8. गाली देना, 9. मल-मूत्र त्याग करना, 10. हाथ, पाँव, मुख आदि धोना, 11. बाल संवारना, 12. नाखून निकालना, 13. खून गिराना, 14. चढाई हुई मिठाई आदि खाना, 15. फोडे फुंसी आदि की सूखी चमडी उतारकर फेंकना, 16. पित्त गिराना, 17. वमन करना, 18. दांत निकलने पर मंदिर में डालना, 19. आराम करना, 20. गाय, भैंस, ऊँट, बकरे आदि का दमन करना, 21 से 28 दांत-आंख-नाखून-गाल-कान-सिर व शरीर का मैल डालना, 29. भूत-प्रेत को निकालने हेतु मंत्र साधना करना, 30. वाद-विवाद करना, 31. अपने घर व व्यापार के हिसाब लिखना, 32. कर अथवा भाग का बँटवारा, 33. अपना धन मंदिर में रखना, 34, पाँव पर पाँव चढाकर बैठना, 35. गोबर के कंडे थापना, 36. कपडे सुखाना, 37. सब्जी आदि उगाना या मूंग, मोठ आदि सुखाना, 38. पापड सुखाना, 39. बडी साग-सब्जी, आचार सुखाना, 40. राजा आदि के भय से मंदिर में छूपना, 41. रिश्तेदार की मौत के समाचार सुनकर रोना, 42. विकथा करना, 43. अस्त्र-शस्त्र यंत्र बनवाना या सज्जा करना, 44. भैंस आदि रखना, 45. तापणी तपाना, 46. निजी कार्य के लिए मंदिर की जगह रोकना, 47. पैसे परखना, 48. निसीहि कहे बिना, अविधि से मंदिर जाना, 49-51. छत्र, जूते, शस्त्र, चामर (स्वय का) आदि मंदिर में ले जाना, 52. मन को एकाग्र न रखना, 53. शरीर पर तेल लगाना, 54, फूल आदि सचित वस्तुयें मंदिर के बाहर रखकर न जाना, 55. रोज पहननें के चेन, अंगूठी, चूडी आदि आभूषण पहने बिना (शोभाविहीन) जाना, 56. जिनदेव को देखते ही दोनों हाथ न जोडाना, 57. अखंड वस्त्र का दुपट्टा पहने बिना आना, 58. माथे पर मुकुट पहनना, 59. माथे पर पगडी में कपडा बांधना, 60. हार-माला आदि न उतारना, 61. शर्त लगाना, 62. लोग हँसे, एसी चेष्टाएँ करना, 63. मेहमान आदि को प्रणाम करना, 64. गुल्ली-डंडा खेलना, 65. तिरस्कार वाला वचन बोलना, 66. मंदिर में देनदार को पकडकर पैसे निकालना, 67. युद्ध खेलना, 68. चोटी के बाल सँवारना, 69. पालथी लगाकर बैठना, 70. पाँव में लकडी के जूते पहनना, 71. पाँव लंबे-चौडे करके बैठना, 72. पाँव की मालिश करवाना, 73. हाथ-पाँव धोना, ज्यादा पानी गिराकर गंदगी करना, 74. मंदिर में पाँव या कपडे पर लगी धूल झटकना, 75. मैथुन क्रीडा करना, 76. खटमल-जूं आदि निकालकर मंदिर में फेंकना, 77. भोजन करना, 78. शरीर के गुप्त अंग ठीक से ढँके बिना बैठना, अंग दिखाना, 79. औषधि-पथ्य देना, 80. व्यापार या लेन-देन करना, 81. बिछौना बिछाना, झटकना, 82. पानी पीना या मंदिर का पानी लेना।, 83. देव-देवी की स्थापना करना, 84. स्नान करना - इन आशातनाओं से बचना चाहिये।[36]

जिनस्तव :-

जिनथुणणं (जिनस्तवनम्):-

स्तोत्र आदि के द्वारा जिनेश्वर परमात्मा के लोकोत्तर सद्भूत तीर्थंकर गुणवर्णन/गुणकीर्तन 'जिनस्तवन' हैं।[37]

स्तव दो प्रकार का है - (1) द्रव्य स्तव और (2) भाव स्तव। पुष्प पूजादि द्रव्यस्तव है (जिसका पूर्व में वर्णन किया जा चुका है), जबकि सद्गुणोत्कीर्तन भावस्तव है।[38]

जिनेश्वर परमात्मा की भक्तिरुप शुभपरिणामप्रधान स्तवन (स्तव), शुभ अध्यवसायपूर्वक की स्तुति, परमार्थ पूजा, अध्यात्म पूजा, चारित्र में एकाग्रता, संयम, भावपूर्वक सर्वविरति, देशविरति धर्म में 'एकाग्रता'[39], शील धर्म, तप धर्म और भाव धर्म 'भावस्तव' हैं।[40]

स्तुति :-

एक, दो, तीन श्लोक प्रमाण[41] या उत्कृष्टतम 108 श्लोक प्रमाण[42] छन्दोबद्ध गेय रचना 'स्तुति' कहलाती है, एक से सात श्लोक पर्यन्त रचना 'स्तव' कहलाती है[43] और बहुश्लोक प्रमाण स्तव 'स्तोत्र' कहलाते हैं; यह जिनेश्वरों के ही होते हैं।[44]

36. अ.रा.पृ. 2/506-7
37. अ.रा.पृ. 4/2414, 4/2413
38. अ.रा.पृ. 4/2383
39. अ.रा.पृ. 5/1515, 1516
40. अ.रा.पृ. 4/2385
41. अ.रा.पृ. 4/2383
42. वही 4/2313
43. अ.रा.पृ. 4/2383
44. अ.रा.पृ. 4/2419

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्तव के प्रकार :-

स्तुति या स्तव दो प्रकार के होते हैं - (1) प्रणामरुपा अथवा (नमस्कार महामंत्र जपरुपा) और (2) असाधारण गुणोत्कीर्तनारुपा, लोकोत्तर सद्भूत तीर्थंकर गुणवर्णनपरा।[45]

स्तव का फल :-

जिन स्तव से शुभभाव, संवेग रस, मोक्षभिलाषा और समभाव की प्राप्ति होती हैं। जिनस्तुति विघ्नोपशामिनी, अभ्युदयकारिणी, देवगतिकारिणी, निर्वाणसाधिनी और दर्शन-ज्ञान-चारित्र-बोधिलाभादि फलदायिनी है।[46] इससे कोई दीर्घकाल में तो कोई स्वल्पकाल में मोक्ष को प्राप्त करता हैं।[47] इस प्रकार भावस्तव का अनुभाव समस्त भवभ्रमणरुप भय का नाश करता है।[48]

गुरुथुणणं (गुरुस्तवनम्) :-

'गृणाति यथावस्थितं शास्त्रार्थमिति गुरुः।[49] गुरु दो प्रकार के होते हैं - 1. लौकिक - माता, पिता, कलाचार्य, पितामह, वृद्ध[50], और 2. लोकोत्तर-तीर्थंकर, गणधर, विद्यादायक, वाचनाचार्य, धर्मोपदेश, धर्मज्ञ, धर्मकर्ता, धर्मपरायण, धर्मशास्त्रार्थदेशक।[51]

लोकोत्तर गुरु तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही वास्तविक गुरु हैं। इनकी स्तवना, भक्ति, विनय-बहुमान, पूजादि, इष्टसंपादन, अभिमुखगमन, आसनप्रदान, पर्य्युपासना, अञ्जलिबद्ध प्रणाम, अनुगमन, गुर्वनुकूल प्रवृत्ति, गुरुभक्ति है। इससे गुरु-शिष्य की, और प्रकारान्तर से शासन की प्रशंसा (स्तवना) होती हैं।[52] ये साधु धन्य है, पुण्यभागी है, इतने कठिन आचार का पालन करते हैं, मल-मलिन वस्त्र धारण करते हैं, द्रव्य-व्यापार, अर्थोपार्जन आदि व्यवहार के सर्वथा त्यागी हैं, इन्होंने परहित में अपना चित्त एकाग्र किया हैं; आगमरुपी सरोवर में अपना चारित्र विशुद्ध किया हैं; ये एसे धर्मकथक हैं कि, इनके द्वारा कहे गए सुंदर मधुर वचन रस (युक्त कथा) को भव्यजन कमल में भ्रमरवत् पान करते हैं, ये परवादीरुप हस्ती को भेदने में सिंह समान हैं, ये शासन में तिलक समान हैं, वे धन्य हैं जिनके मुख/काव्यों में सरस्वती नृत्य करती है, जिनमें से ललितसारयुक्त, छन्द-रस-अलंकारयुक्त सुंदर ध्वनि स्फुरित होती है, इन्होंने दुष्कर तप से काया को दुर्बल किया है, कामरुप अंधकार को नष्ट करने के लिए जिनका यही जन्म सूर्य के समान है, पर-समय को छेदने में तर्क, ग्रंथ, परमार्थ कहने में ये शूरवीर हैं, ये कृतार्थ हैं, ये समर्थ शासन प्रभावक हैं, ये बुद्धि में बृहस्पति से भी बढकर है, ये संघ को कल्प्य देने में कल्पवृक्ष की तरह अनुज्ञादान देते हैं, ये शासनोद्धारक हैं; इत्यादि प्रकार के गुरु (मुनि) भगवंतो के विमल गुणों की प्रशंसा करना 'गुरुथुणणं' कहलाता है।[53] वाचनाचार्य एवं गुरु की सुवर्णादि से पूजा करना, सर्वाऽम्बर युक्त चतुर्विध संघ सहित सन्मुख जाकर गुरु एवं संघ का यथोचित सत्कार करना, चातुर्मासादि करना, आचार्यपदवी आदि के महोत्सव कराना - यह भी गुरु स्तवना/गुरुभक्ति के अन्तर्गत माना जाता हैं।[54]

जिनपूजा, जिनस्तवन, गुरुस्तवन भक्ति के ही स्वरुप हैं, अतः यहाँ प्रसंगवश 'भक्ति' का वर्णन किया जा रहा हैं।

भक्ति (भत्ति) :-

भज् सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता हैं। विभिन्न ग्रंथों के अनुसार आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने भक्ति के निम्न अर्थ किये हैं। षोडशक प्रकरण में 'भक्ति' का अर्थ विनयपूर्वक सेवा करना हैं; प्रवचनसारोद्धार में सम्मुखगमन, आसनप्रदान, पर्युपासना, अंजलिबद्धप्रणाम, अनुव्रजन आदि भक्ति के लक्षण बताये हैं; निशीथचूर्णि में अभ्युत्थान, दंड-ग्रहण, पाद-प्रमार्जन, आसनप्रदान, आसनग्रहणादि सेवा को भक्ति कहा हैं; वाचस्पति कोश में 'आराधना' को भक्ति कहा गया हैं; आवश्यक मलयगिरि में विनयकार्य में उचित प्रतिपत्ति को 'भक्ति' कहा हैं; आवश्यक मलयगिरि, गच्छाचार पयन्ना एवं धर्मसंग्रह में यथोचित बाह्य प्रतिपत्ति को 'भक्ति' कहा हैं; दशवैकालिक सूत्र में 'उचित उपचार' को भक्ति कहा हैं; उत्तराध्ययन एवं सूत्रकृतांग में अभ्युत्थानादि बहुमान को 'भक्ति' कहा हैं; संथारग पयन्ना में उचित आचारकृत्य को 'भक्ति' कहा हैं; धर्मसंग्रह प्रकरण में अनुराग को 'भक्ति' कहा हैं; आवश्यक बृहद्वृत्ति और दर्शन शुद्धि सटीक में अन्तःकरणादि प्रणिधान को 'भक्ति' कहा गया हैं।[55]

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार "जगत का नियमन करने वाली किसी अचिन्त्य शक्ति के अमूर्त रुप की कल्पना करके अथवा इसके मूर्त प्रतीक के सन्मुख होकर उसके प्रति मनुष्य की रागात्मक भावना को 'भक्ति' कहते हैं।"[56]

ऋग्वेद के मंत्रों में देवता की स्तुतियाँ ही की गई हैं। यजुर्वेद यज्ञ के विविध स्वरुपों को प्रगट करता है। सामवेद में उच्च स्वर से संगीतमय प्रस्तुति द्वारा देवताओं के आह्वान एवं भक्ति का विधान हैं।[57] महर्षि यास्क के अनुसार '**भक्तिर्नाम गुणकल्पना, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति**।[58]

उपनिषदों में भी भक्ति का वर्णन मिलता है। यथा - (1) आत्मानंद में माधुर्य रस की संतों में प्राप्ति,[59] (2) उपासक की भावना के अनुसार उपास्य का स्वरुप[60] (3) श्रद्धा का महत्त्व[61] (4) गुरु का महत्त्व[62](5) शिष्य के लक्षण[63] (6) स्वाध्याय, तप, त्याग आदि भक्ति के अंगो का वर्णन।[64]

भक्ति के प्रकार :-

'भगवान के नाम का जाप करना' भी भक्ति हैं। ॐ जप

45. अ.रा.पृ. 4/2413 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश-3/75
46. अ.रा.पृ. 3/1285
47. अ.रा.पृ. 4/2385
48. अ.रा.पृ. 5/1516
49. अ.रा.पृ. 4/934
50. अ.रा.पृ. 4/943
51. अ.रा.पृ. 3/936, 943
52. अ.रा.पृ. 3/936
53. अ.रा.पृ. 3/928
54. अ.रा.पृ. 3/944
55. अ.रा.पृ. 5/1365
56. सा परानुरक्तिरीश्वरे। - शाण्डिल्य भक्तिसूत्र; सा त्वस्मिन् परमप्रेमरुपा। -नारद भक्तिसूत्र
57. रामभक्ति का विकास पृ. 29, 30
58. यास्क निरुक्त-7/7/241
59. तैतरीय उपनिषद्-7/12
60. छान्दोग्य उपनिषद्-7/25/2
61. बृहदारण्यक उपनिषद्-5/3
62. कठोपनिषद्-1/2/7-10
63. मुण्डकोपनिषद्-1/21/2
64. छान्दोग्योपनिषद्-6/14

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यज्ञ हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने विचारामृत संग्रह के अनुसार भक्ति तीन प्रकार की बतायी गयी हैं :-

सात्त्विक भक्ति - अर्हत्शासन के सम्यक्त्व गुणश्रेणी के परिज्ञानपूर्वक, अपने भावोल्लास को नहीं त्यागते हुए, उपसर्ग में स्थिर रहकर, उत्कृष्ट उत्साहपूर्वक, फल की इच्छा के त्यागपूर्वक अरिहंत संबंधी भव्य पूजा, अङ्गरचना (आङ्गी) आदि निःस्पृहभाव से सर्वस्व समर्पणपूर्वक यथाशक्य जो महोत्सव आदि भक्ति की जाती है वह सात्त्विक भक्ति हैं। जो उभयलोक में फलदायी हैं।

राजसी भक्ति - संसार संबंधी फल की प्राप्ति या लोकरंजन हेतु कृतनिश्चय होकर जो भक्ति की जाती है, वह राजसी भक्ति हैं।

तामसी भक्ति- ईर्ष्यापूर्वक, शत्रुतापूर्वक, इच्छापूर्ति हेतु जो भक्ति की जाये वह तामसी भक्ति है जो कि तत्त्वेत्ताओं को इष्ट नहीं हैं।

इन तीनों में सात्त्विकी भक्ति उत्तम, राजसी मध्यम और तामसी भक्ति जघन्य हैं। राजसी एवं तामसी भक्ति प्राणियों के लिए सुलभ है जबकि मोक्षसुखदायिका सात्त्विकी भक्ति अतिदुर्लभ हैं।[65]

भक्ति का फल :-

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी के अनुसार जिनेश्वर की भक्ति अनेक भवों से संचित ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का क्षय करती हैं। सिद्धि पद की प्राप्ति हेतु अरिहन्त-सिद्ध परमात्मा की भक्ति अवश्य करने योग्य हैं। आचार्य को नमस्कार करने से विद्या और मंत्र सिद्ध होते हैं। अतः आरोग्य, बोधिलाभ, समाधिमरण और अभिलषित अर्थ की सिद्धि हेतु सात्त्विकी भक्ति करनी चाहिए।[66] तत्त्वार्थसूत्र में बहुश्रुतप्रवचनभक्ति तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध में कारणभूत कही गयी हैं।[67]

65. अ.रा.पृ. 5/1365
66. अ.रा.पृ. 5/1365
67. तत्त्वार्थसूत्र-6/23

હે મહાવીર !

મોહરૂપી મલ્લને જીતવામાં મહામલ્લ સમાન, પાપરૂપી કાદવને સાફ કરવા માટે નિર્મળ જળસમાન, અને કર્મરૂપી રજને ઉડાડી દેવા માટે મહાવાયુ સમાન એવા હે ભગવાન મહાવીર પ્રભુ ! આપ જયવંતા વર્તો.

દેવ-દાનવ અને નરેન્દ્રોથી હંમેશા વંદાતા, અચલ એવા પણ મેરૂના શિખરને કંપાયમાન કરનારા, કૈવલ્યરૂપી નેત્રો વડે સમસ્ત ચરાચર વિશ્વના ભાવોને જોનારા, અને જગતના બધા જ રૂપોને જિતનારા એવા હે વીર પરમાત્મા, આપ જયવંતા વર્તો ! મનુષ્યોમાં રહેલી મલિનતાને દૂર કરી પવિત્ર કરવા માટે નિર્મળ જલ સમાન, અને જેના ચરણોમાં હંમેશા આળોટી રહ્યા છે ઈન્દ્રો અને દેવેન્દ્રો એવા હે વર્ધમાન, આપના ચરણ કમલને હું મારા મસ્તક ઉપર ધારણ કરૂં છું. હે પ્રભુ આપના ચરણની રજથી જેના લલાટમાં ચિહ્ન થયું છે એવા આધિ, વ્યાધિ અને ઉપાધિથી રહિત બનેલા, નિષ્કલંકિત મનુષ્યોને શંકાશીલ સંસાર પણ સંઘરી શકતો નથી. અર્થાત્ જિનેશ્વર ભગવંતની હંમેશા ભાવપૂર્વક પૂજા-અર્ચના કરનાર મનુષ્યો સંસાર સમુદ્રથી તરી જાય છે.

હે પ્રભો, મોક્ષમાર્ગની તળેટી સમાન, આપના ચરણ કમળના મૂળમાં જે લોકોનાં મસ્તકો હંમેશા આળોટે છે, તેઓનાં મસ્તકોને જ "ઉત્તમાંગ" કહેવાય છે. અર્થાત્ મસ્તકનું બીજનું નામ ઉત્તમાંગ છે, તે ખરેખર યથાર્થ છે ! અને તે જ ધન્ય પુરૂષો જગતમાં દેવોને પણ વંદનીય બને છે.

હે દેવાધિદેવ, જે મનુષ્યો સુગંધી પુષ્પોની માળાથી આપના શરીરની સુંદર અંગરચના કરે છે, તે મનુષ્યોને ચામર આદિ ભોગની પ્રાપ્તિ થાય છે. અર્થાત્ રાજ્યપ્રાપ્તિ આદિ ભોગો પ્રાપ્ત થાય છે.

હે પ્રભો ! જે લોકો પ્રભાતના સમયે આપની ભાવપૂર્વક સેવા પૂજા કરે છે, તે પુરૂષો આ લોકમાં સાધુ પુરુષોમાં પ્રસંશનીય બને છે. અને પરલોકમાં પણ સ્વયં પૂજનીય બને છે. વળી જે લોકો ત્રિશલાનંદન મહાવીર પરમાત્માના ચરણકમલની રજને મસ્તક ઉપર ધારણ કરે છે, તે લોકોનું મસ્તક નિર્મળ છત્રથી શોભે છે. અર્થાત્ રાજા ચક્રવર્તી આદિનું સામ્રાજ્ય પ્રાપ્ત થાય છે.

જે ભવ્ય જીવો જિનેશ્વર ભગવંતના શક્તિશાળી નામરૂપી મહામંત્રનું નિરંતર ધ્યાન કરે છે, તે ભવ્ય જીવોના પાપકર્મોરૂપી કચરા બળીને ભસ્મ થઈ જાય છે અને મોક્ષરૂપી કલ્યાણની પ્રાપ્તિ થાય છે. સંસારના સીમાડા રૂપ એવા ભગવંત, મારા મનરૂપી માનસરોવરમાં આપના ચરણકમલરૂપી હંસયુગલ હંમેશા ક્રીડા કરતું રહો ! અર્થાત્ ક્ષમાશીલ મહાવીર ! હંમેશા મારા મન મંદિરમાં વાસ કરનારા થાઓ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशविरति

सम्यक्त्व पूर्वक अणुव्रतादि बारह व्रतों को अङ्गीकार करना 'देशविरतित्व है। अभिधान राजेन्द्र कोश में अणुव्रतों का वर्णन करते हुए आचार्यश्रीने कहा है कि **व्रत श्रावकाचार का आधारभूत तत्त्व हैं। अनैतिक आचार से विरति या हिंसादि पाँचों आस्त्रवों से विरति ही व्रत हैं।[1] व्रत वस्तुतः वह धार्मिक कृत्य या प्रतिज्ञा है, जिसके पालन से व्यक्ति अशुभ से मुक्त होता है तथा शुभ और शुद्धत्व की यात्रा करता हैं।**

व्रत दो प्रकार के हैं - (1) महाव्रत और (2) अणुव्रत।[2] महाव्रतों का विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है अतः यहाँ सप्रसंग अणुव्रतों का वर्णन अपेक्षित हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश एवं अन्य जैनागम ग्रंथो में श्रावक के 12 व्रतों का वर्णन किया गया है, जिसका विभाजन इस प्रकार हैं - (1) पाँच अणुव्रत (2) तीन गुणव्रत (3) चार शिक्षाव्रत।[3]

अणुव्रत :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी ने कहा है कि, "श्रावक योग्य देशविरतिरुप स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत आदि या स्थूल अहिंसादि पाँच अणुव्रत कहे जाते हैं।"[4] ये महाव्रतों को अपेक्षा लघु होते हैं। महाव्रतों की अपेक्षा इनका वर्णन विषय अल्प होता है तथा जैनागमों में जिनेश्वर देवने महाव्रतों के पश्चात् इनका (अणुव्रतों का) उपदेश दिया हैं अतः इन्हें 'अणुव्रत' कहते हैं।[5] जिनेश्वरदेवने कृत, कारित इन दो करणों और मन-वचन काय रुप तीन योगों के द्वारा स्थूल हिंसा और दोषों के त्यागपूर्वक अहिंसा आदि को पाँच अणुव्रत कहा हैं।[6] 'आतुर प्रत्याख्यान' के अनुसार प्राणिवध (हिंसा), मृषावाद (असत्य वचन), अदत्तादान (चोरी), परस्त्रीसेवन (कुशील) तथा अपरिमित कामना (परिग्रह) - इन पाँचों से विरति 'अणुव्रत' हैं।[7]

गुणव्रत :-

जो अणुव्रत के पालन में उपकारी (गुणकारी) या सहायक होते हैं अतः इन्हें गुणव्रत कहते हैं।[8] अभिधान राजेन्द्र कोश में (1) दिक्परिमाणव्रत (2) भोगोपभोगविरमण व्रत और (3) अनर्थदण्डविरमण व्रत - इन तीनों को गुणव्रत कहा हैं।

शिक्षाव्रत :-

श्रावक का लक्ष्य है श्रमण धर्म की ओर बढना। इन व्रतों में श्रावक श्रमणधर्म का अभ्यास या शिक्षा प्राप्त करता हैं अतः इन्हें 'शिक्षाव्रत' कहते हैं।[9] ये शिक्षाव्रत चार हैं - (1) सामायिक व्रत (2) देशावगाशिक व्रत (3) पौषधोपवास व्रत और (4) अतिथिसंविभाग व्रत।[10] यहीं पर आचार्यश्रीने सात शिक्षाव्रतों का भी निर्देश किया है जो कि, गुणव्रतों के भी नित्य अभ्यसनीय होने की अपेक्षा से कहा हैं।[11]

क्रमभिन्नता में आचार्यों की विवक्षा की कारणता :-

यद्यपि अणुव्रतों के नाम और क्रम सभी ग्रंथों में समान है परंतु गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के अभिधान राजेन्द्र कोश में जो क्रम दिया है उनमें और अन्य ग्रंथो में कहीं समानता तो कहीं भेद भी प्राप्त हो रहा है जो निम्नानुसार है - उपासकदशांग सूत्र, योगशास्त्र, और श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र/वंदिता सूत्र में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का क्रम अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार ही हैं।[12]

तत्त्वार्थ सूत्र में (1) दिग्व्रत (2) देशावकाशिक व्रत और (3) अनर्थदण्ड व्रत - इन तीनों को गुणव्रत और (1) सामायिक (2) पौषधोपवास (3) भोगोपभोग (उपभोग-परिभोग) परिमाण और (4) अतिथिसंविभाग - इन चारों को शिक्षाव्रत कहा हैं।[13] आतुरप्रत्याख्यान में (1) दिग्व्रत (2) अनर्थदण्ड और (3) देशावगाशिक व्रत को गुणव्रत और (1) भोगोपभोग परिमाण (2) सामायिक (3) अतिथिसंविभाग और (4) पौषधोपवास - इन चारों को शिक्षाव्रत कहा हैं।[14]

रत्नकरंडक श्रावकाचार में (1) दिग्व्रत (2) अनर्थदण्ड व्रत और (3) भोगोपभोगपरिमाण व्रत - इन तीनों को गुणव्रत और (1) देशावगाशिक (2) सामायिक (3) पौषधोपवास (4) वैयावृत्य - इन चारों को शिक्षाव्रत कहा हैं।[15]

कार्तिकेय अनुप्रेक्षा में 1. दिग्व्रत 2. अनर्थदण्डविरमण व्रत और 3. भोगोपभोग परिमाण व्रत - ये तीन गुणव्रत और 1. सामायिक 2. प्रोषधोपवास 3. अतिथिसंविभाग और 4. देशावगाशिक व्रत - इन चारों को शिक्षाव्रत कहा हैं।[16]

यहाँ इन भिन्नताओं में कारण आचार्यों की विवक्षा की विचित्रता मात्र है, विरोध कुछ भी नहीं है। इनमें पं. आशाधरने धर्मामृत सागार में रात्रिभोजनत्याग को छट्ठा अणुव्रत कहा है, जबकि, अन्य सभी आचार्योंने इसे भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अन्तर्गत माना हैं।

इन स्थूल प्राणातिपातादि बारह व्रतों की सार्थकता उनका

1. अ.रा.पृ. 1/417; तत्त्वार्थसूत्र-7/1; रत्नकरण्ड श्रावकाचार-49
2. अ.रा.पृ. 6/1416; रत्नकरण्ड श्रावकाचार 50
3. अ.रा.पृ. 1/417; 7/785; श्रावकधर्म प्रज्ञप्ति-6; योगशास्त्र-2/1; सागारधर्मामृत 13/4; रत्नकरण्ड श्रावकाचार 51; चारित्र पाहुड-2; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-330
4. अ.रा.पृ. 1/417; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-305
5. अ.रा.पृ. 1/416, 418; रत्नकरण्ड श्रावकाचार 52
6. सागारधर्मामृत 13/5; अमितगति श्रावकचार-6/19; पुरुषार्थसिद्धयुपाय-76
7. आतुर प्रत्याख्यान-3
8. अ.रा.पृ. 3/ ; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, भावार्थ, पृ. 155
9. अ.रा.पृ. 7/812
10. अ.रा.पृ. 7/812; आवश्यकचूर्णि, अध्ययन-6
11. अ.रा.पृ. 7/812; धर्मसंग्रह 2/2, आतुर प्रत्याख्यान-2
12. योगशास्त्र 2/1-4-74; उपासक दशांग-अ.1; वंदितु सूत्र, श्रावक प्रतिक्रमण
13. तत्त्वार्थ सूत्र-7/16
14. आतुर प्रत्याख्यान-4, 5
15. र.क.श्रा. 67, 91
16. कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-342 से 368

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्त्व सहित/श्रद्धापूर्वक होना हैं।[17] क्योंकि अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि 'सम्यक्त्व' श्रावकधर्म का मूल हैं।[18] सम्यक्त्व रहित अणुव्रतादि श्रावकधर्म, किया गया नमस्कार, गुणोत्कीर्तन, जिनवन्दन, जिन-पूजा (अर्चन) आदि भी करनेवाले अभिग्रहधारी श्रावक 'श्रावकाभास' है; उन्हें ही श्रावक धर्म का 'पार्श्वस्थ' (पासत्था) कहते हैं।[19] आनंदादि श्रावकोंने भी भगवान से प्रथम सम्यक्त्व व्रत अंगीकार करने के बाद ही अन्य अहिंसादि 12 व्रत अंगीकार किये थे।[20] अत: यहाँ भी द्वादशव्रत के पूर्व सर्वप्रथम सम्यक्त्व व्रत का वर्णन करना प्रसंगोचित होने से सम्यक्त्व व्रत का वर्णन किया जा रहा हैं।

सम्यक्त्व व्रत[21] :-

मिथ्यात्व के त्यागपूर्वक मोहनीय कर्म के क्षय/उपशम/क्षयोपशम होने पर प्रशमादि लिङ्गपूर्वक जिनोक्त तत्वों में श्रद्धारुप शुभ आत्मपरिणाम की प्राप्ति होने पर निम्नाङ्कित विधि-निषेधरुप आचार का पालन श्रावक का सम्यक्त्व व्रत है। सुदेव-सुगुरु-सुधर्म में श्रद्धा रखना, मिथ्यात्व का (मिथ्याश्रद्धान), मिथ्याज्ञान का और कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्याग करना, अन्यतीर्थिक, चरक, परिव्राजक, भिक्षु, संन्यासी आदि, रुद्र-विष्णु-बुद्ध आदि अन्यतीर्थिक देवता तथा अन्यतीर्थिकों के द्वारा गृहीत जिनप्रतिमा, तथा वीरभद्र, महाकालादि को वंदन-नमन-गुणोत्कीर्तनादि नहीं करना; उनके साथ आलाप-संलाप, आहार-दान आदि नहीं करना; यदि राजा-गण-बल-देवता-वृद्धजन या आजीविका के हेतुभूत होने पर एसा करना भी पडे तो भी मोक्षदाता देवगुरु-धर्म के रुप में श्रद्धा नहीं करना आदि निषेधपरक आचार हैं।

सम्यक्त्व के पाँच अतिचार :-

(1) शंका (2) कांक्षा (3) विचिकित्सा (4) परपाषण्डप्रशंसा और (5) परपाषण्ड संस्तव (सम्यक्त्व विषयक विस्तृत वर्णन प्रस्तुत शोध प्रबंध में परिच्छेद 4 क (2) पर किया गया है) - ये सम्यक्त्व के पांच अतिचार हैं।[22]

स्थूल प्राणातिप्रातविरमण व्रत :-

यहाँ स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के बारे में चर्चा करने से पूर्व हम हिंसा-अहिंसा के भेद-प्रभेद पर दृष्टिपात करेंगे।

(क) हिंसा दो प्रकार से - स्थूल और सूक्ष्म :

(1) **स्थूल** - द्विन्द्रियादि त्रस जीवों की हिंसा।
(2) **सूक्ष्म** - पृथ्वीकायादि पाँचों एकेन्द्रियों के बादर जीव (सूक्ष्म एकेन्द्रिय अवध्य होने से) की हिंसा।

(ख) स्थूल हिंसा दो प्रकार से : संकल्पजा - आरम्भजा

(1) **संकल्पजा** - माँस, अस्थि, चमडी, नख, केश, दाँत आदि का व्यापार।
(2) **आरम्भजा** - कृषि आदि संबंधी।

(ग) आरम्भजनित हिंसा दो प्रकार से : निरपराध - सापराध

(1) **निरपराध हिंसा** - जिसने किसी प्रकार का अपराध नहीं किया हो।
(2) **सापराध हिंसा** - जिसने व्रती का कुछ अपराध किया हो या देश, समाज, धर्म को हानि पहुँचाता हो।

(घ) सापराध हिंसा दो प्रकार से - गुरु अपराध - लघु अपराध -

अपराधी का अपराध बहुत अधिक है या अल्प, इसका चिन्तन करना।

(ङ) सापराध हिंसा दो प्रकार से -

(1) **निरपेक्ष** - बिना किसी कारण के हिंसा करना।
(2) **सापेक्ष** - निरपराधी परंतु अतिशय प्रमादी पुत्रादिक को तथा भैंस-वृषभादि को रस्सी आदि से बाँधना।

यदि सम्पूर्ण जीवदया के 20 भाग किये जाये तो 20 भाग जीवदया पूर्ण दया हैं; 10 भाग अर्ध दया; 5 भाग चतुर्थांश दया, ढाई भाग अष्टमांश दया और सवा भाग षोडशांश दया - इस प्रकार जीवदया के भेद हैं। इसमें से श्रावक 'स्थूल-त्रस निरपराधी जीवों को बिना कारण (निरपेक्ष) संकल्पपूर्वक (मारने की बुद्धि से) मारूँगा नहीं, मरवाऊँगा नहीं' - इस प्रकार सवा भाग अर्थात् षोडशांश जीवदया के पालन की प्रतिज्ञापूर्वक 'स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत या अहिंसाणुव्रत की प्रतिज्ञा करता हैं।[23]

गृहकार्य, कृषिकार्यादि में श्रावक के द्वारा पृथ्वीकायादि जीवों की हिंसा, व्यापारादि में आरंभ जनित हिंसा, सामाजिक, राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाये रखने हेतु आपराधिक हिंसा, पारिवारिक शांति एवं व्यवस्था तथा गृहस्थ जीवन की व्यवस्था हेतु सापेक्ष हिंसा का सर्वथा त्याग संभव नहीं होता, फिर भी श्रावक हमेशा निरर्थक हिंसा से दूर रहता हैं और सकारण हिंसा से भी बचने का प्रयत्न करता हैं।[24]

लाभ :-

इस व्रत के पालन से आरोग्य, अप्रतिहत उदय (उन्नति), आज्ञाकारित्व (एश्वर्य, स्वामित्व), अनुपम रुप-सौंदर्य, उज्जवल कीर्ति, धन, यौवन, निरुपक्रमी दीर्धायुष्य, भद्रप्रकृतियुक्त परिवार, पुण्यशाली पुत्र आदि चराचर विश्व की श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। यह सब जीवदया पालन का फल हैं।[25]

हानि :-

जीवहिंसा करने से व्यक्ति को पङ्गुता, कुणिता, कोढादि महारोग, प्रियवियोग, शोक, अपूर्णायु/अल्पायु, दु:ख, दुर्गति, नरक-तिर्यंचगति और अनंतसंसार भ्रमण प्राप्त होते हैं।[26] अत: विवेकी पुरुषों को त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना चाहिए इतना ही नहीं अपितु अहिंसा धर्म के ज्ञाता मोक्षाभिलाषी श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करें।[27]

हिंसा की निंदा करते हुए आचार्य हेमचन्द्रने कहा है कि,

17. अ.रा.पृ. 7/785; श्रावक प्रतिक्रमण, पाक्षिक अतिचार, अन्तिम अनुच्छेद
18. अ.रा.पृ. 7/497
19. अ.रा.पृ. 1/417
20. उपासक दशांग-1 अध्ययन
21. अ.रा.पृ. 7/496, 497; रत्नकरण्ड श्रावकाचार, सम्यग्दर्शनाधिकार
22. अ.रा.पृ. 7/497
23. अ.रा.पृ. 5/846
24. अ.रा.पृ. 5/847
25. अ.रा.पृ. 5/846
26. वही
27. योगशास्त्र-2/19-20-21

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"हिंसा से विरक्त व्यक्ति अपंग एवं रोगी होते हुए भी हिंसारत सर्वाङ्ग सम्पन्न व्यक्ति से श्रेष्ठ है। विघ्नशांति हेतु की गई हिंसा भी विघ्नों को उत्पन्न करती है और कुलाचार पालन हेतु की गई हिंसा कुल का विनाश कर देती हैं। हिंसा के परित्याग के बिना मनुष्य का इन्द्रिय दमन, देवोपासना, गुरुसेवा, दान, अध्ययन और तप- ये सब निरर्थक हैं, निष्फल हैं।[28]

स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के अतिचार[29] :-

(1) **वध** - डंडा, बेंत, चाबुक आदि से प्राणियों का घात करना, अपने पालतु पशुओं तथा परिजनों (परिवार के लोग, बच्चें या नौकर-चाकरादि) को पीडा पहुँचाना, तथा कठोर एवं अपमानजनक शब्दों का प्रयोग कर किसी को पीडा पहुँचाना।

(2) **बंधन** - पालतू-पशु-पक्षियों को वे हिल-डुल भी न सकें तथा विपत्ति के समय प्राण-रक्षा के लिए भी भाग न सकें, इस तरह बाँधना 'बंधन' नामक अतिचार है।

(3) **छेदन** - दुर्भावनापूर्वक पालतु पशु-पक्षियों के नाक-कान आदि छेदना, नकेल लगाना, नाथ देना आदि 'छेदन' नामक अतिचार हैं।

(4) **अतिभारारोपण** - दुर्भावनावश अपने आश्रित कर्मचारि पर या पशुओं पर उनकी क्षमता से अधिक भार लादना या उनसे शक्ति से अधिक काम लेना आदि 'अतिभारारोपण' नामक अतिचार हैं।

(5) **अन्नपान - निरोध** (भत्त-पाण व्युत्सर्ग) - दुर्भावनावश पशु-पक्षियों के या अपने आश्रितों के अन्नपान का निरोध करना, उन्हें जान-बूझकर भूखा रखना, समय पर उनके लिए भोजन-पानी की व्यवस्था न करना 'अन्नपान-निरोध' हैं।

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत :-

गृहस्थ क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष, हास्य, भय, लज्जा, क्रीडा, रति, अरति, दाक्षिण्य, मात्सर्य, विषाद आदि के कारण तथा हर्ष शोक; कार्यादि में नियत होने के कारण और प्राणवध तथा प्राणिवधादि कारण से झूठ बोलता हैं।[30] वह झूठ चार प्रकार का हैं-

(1) **भूत निह्नव** - 'नास्ति आत्मा' इत्यादि

(2) **अभूतोद्भावन** - 'आत्मा श्याम तण्डुल जैसा है' इत्यादि

(3) **अर्थान्तर** - 'गाय' को 'अश्व' कहना

(4) **गर्हा**[31] - गर्हा तीन प्रकार की होती हैं -

(क) सावद्य व्यापार प्रवर्तिनी-'खेत जोतिये' इत्यादि।

(ख) अप्रिय - काने को 'काना' है - एसा कहना।

(ग) आक्रोशयुक्त भाषा-अपशब्द इत्यादि।

परंतु अहिंसा की उपासना के लिए सत्य की उपासना अनिवार्य है। सत्य के बिना अहिंसा नहीं और अहिंसा के बिना सत्य नहीं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। तथापि गृहस्थ जीवन में झूठ का सर्वथा त्याग संभव नहीं है। इसलिए उसे स्थूल झूठ का ही त्याग करवाया जाता है।[32] अभिधान राजेन्द्र कोश एवं 'सावयपण्णत्ति' आदि ग्रंथो के अनुसार कन्या-अलीक, गो-अलीक व भूमि-अलीक अर्थात् कन्या, गौ और भूमि के विषय में झूठ बोलना, किसी की धरोहर दबा लेना और झूठी गवाही देना - इनका त्याग स्थूल मृषावाद विरति हैं।[33]

जिसके बोलने से दूसरों को पीडा अति पीडा या अति क्लेश हो या अनर्थ हो वह भी स्थूल मृषावाद हैं।[34] श्रावक इसका भी त्याग करता हैं। सत्याणुव्रती श्रावक को असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिडकते हुए वचन, कठोरवचन, अविचारपूर्ण वचन और क्लेशकारी वचन नहीं बोलने चाहिए।[35] क्योंकि अलीक वचन नीचताकारक, भयंकर, दुःखकर, अपयशःकर, वैरजनक, रति-अरति; राग-द्वेष और संक्लेशजनक, निष्फल, नीचजनसेवित, प्रशंसारहित, विश्वासरहित, पीडाकारक, अतितीव्रकृष्णलेश्यायुक्त, दुर्गतिदायक, संसारवृद्धिकारक और अधर्मकारक होता हैं।[36]

लाभ :-

सत्यवक्ता महासमुद्र में भी नहीं डूबता हैं। पानी के भँवर में फँसता नहीं है। अग्नि में जलता नहीं है। उष्ण तेल भी उसके लिए शीतल जल हो जाता हैं। पर्वत से गिराने पर भी वह मरता नहीं है। युद्ध में हंमेशा विजय प्राप्त होती हैं।[37] उनकी चरणरज से पृथ्वी पावन बनती हैं।[38]

पूर्वकर्मवश यदि वह आत्मा दुर्जन, शत्रु या हिंसको के मध्य फँस भी जाय तो भी, निर्दोष छूटता है इतना ही नहीं, देवी-देवता सपरिवार उनका सान्निध्य करते हैं।[39]

हानि :-

अलीक वचन से जीव वेदना, दुःख, संकट, नरक-तिर्यंच गति, परवशता, अर्थभोगहानि, मित्ररहितता, देहविकृति, कुरुपता, अतिकर्कश स्पर्श, श्याम रंग, आधाररहितता, असारकाया, बधिरत्व, अंधत्व, मूकत्व, तोतलापन, लोकनिंदा, दासता, किंकरत्व, अज्ञान, अशान्ति, अपमान, प्रेमनाश, परिवार-क्षय, कलंक, कठोर वचन श्रवण, कुभोजन, कुवस्त्र, कुस्थानादि को प्राप्त करता हैं।[40]

कन्यादि के विषय में झूठ बोलने पर प्राणहिंसा, वैर-विरोध, भोगांतराय की प्राप्ति होती हैं। समाज में मान्यता, पूजा-आदर-सत्कार, प्रतिष्ठादि का नाश होता हैं।[41] न्यासापहार से विश्वासघात एवं कुटसाक्षी से पुण्य का नाश होता हैं।[42]

परभव में कन्दर्प, अभियोगिकादि निम्न देवगति में जन्म और वहाँ से दूसरे भव में मनुष्य गति में यदि जन्म हो भी जाय तो भी भवान्तर में उसका जीवन हास्यास्पद और निंदनीय बनता हैं।[43]

---

28. वही-2/28-31
29. अ.रा.पृ. 5/847; तत्त्वार्थ सूत्र-7/21; सावय पण्णत्ति-258
30. अ.रा.पृ. 1/773, 6/455; स्थानांग-10/3
31. अ.रा.पृ. 1/773
32. अ.रा. 6/326, 1/773; र.क.श्रा. 55
33. अ.रा.पृ. 1/773, 6/326-327; सावयपण्णत्ती-260-262
34. अ.रा.पृ. 1/773
35. स्थानांग-6/3
36. अ.रा.पृ. 1/773
37. अ.रा.पृ. 6/228
38. योगशास्त्र-2/63
39. अ.रा.पृ. 6/228
40. अ.रा.पृ. 1/783, 784
41. अ.रा.पृ. 1/778; 6/327
42. योगशास्त्र-2/55
43. अ.रा.पृ. 6/332

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के अतिचार[44] :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के निम्नाङ्कित पाँच अतिचार हैं-

(1) **सहसाभ्याख्यान** - सहसा किसी प्रकार आगा-पीछा सोचे बिना एकदम किसी पर झूठा दोष या मिथ्या कलंक मढ देना, झूठ-मठ अपराध लगा देना, जैसे 'तू ही तो चोर है', तू परस्त्रीगामी है' इत्यादि रुप से कहना। -'सहसाभ्याख्यान' कहलाता है।

(2) **रहस्याभ्याख्यान** - राज्यादि कार्य संबंधी गुप्त बातों को बिना उपयोग के अनजाने में प्रकट कर देना, विश्वस्त व्यक्ति की गुप्त बात प्रकट करना, किसी की गुप्त बात, गुप्त मंत्रणा और गुप्त आकार आदि प्रगट करना 'रहस्याभ्याख्यान' हैं।

(3) **स्वदारा-मंत्रभेद** - स्वयं की स्त्री की एकान्त अवस्था के स्वरुप या स्वपत्नी के द्वारा एकान्त में कही हुई बात दूसरों को कह देना 'स्वदारामन्त्रभेद' हैं।

(4) **मिथ्योपदेश** - असत् उपदेश/असत्य के प्रत्याख्यान व सत्य के नियम लेनेवालों के लिए परपीडाकारी बोलना, सच्चा झूठा समझाकर किसी को उल्टे रास्ते डालना - यह मिथ्या उपदेश हैं।

(5) **कूटलेख** - झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज बनाना, दूसरे के हस्ताक्षर जैसे अक्षर बताकर लिखना अथवा नकली हस्ताक्षर कर देना, पाँचवां अतिचार है। मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि कूटलेख क्रिया हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में स्थूल मृषावादविरमण व्रत के 1. मिथ्योपदेश 2. रहस्याभ्याख्यान 3. कूटलेख क्रिया 4. न्यासापहार और 5. साकारमन्त्र भेद - ये पाँच अतिचार बताये हैं।[45]

रत्नकरंडक श्रावकाचार में इस व्रत के 1. परिवाद (मिथ्योपदेश) 2. रहोभ्याख्यान 3. पैशुन्य 4. कूटलेखकरण और 5. न्यासापाहार - ये पाँच अतिचार बताये हैं।[46]

योगशास्त्र में इस व्रत के 1. मिथ्योपदेश 2. सहसाभ्याख्यान 3. गुह्यभाषण 4. साकारमंत्र भेद और 5. कूट लेख - ये पाँच अतिचार दर्शाये हैं।[47]

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत :-

जिस पर अपना स्वामित्व नहीं हो - एसी किसी भी पराई वस्तु को उसके स्वामी आदि की बिना अनुमति के ग्रहण करना अदत्तादान/चोरी हैं। श्रावक तृतीय अणुव्रत में एसी स्थूल चोरी का त्याग करता हैं।[48] इस व्रत को अस्तेयाणुव्रत या अचौर्याणुव्रत भी कहते हैं। स्थूल अदत्तादान दो प्रकार से हैं : सचित्त और अचित्त। सचित्त- द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्रादि का ग्रहण। अचित्त- वस्त्र, सुवर्ण, रत्नादि का ग्रहण।[49]

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत धारक श्रावक सचित्त-अचित्त दोनों प्रकार की स्थूल चोरी का त्याग करता हैं। वह मार्ग में पडी हुई, रखी हुई या किसी की भूली हुई अल्प या अधिक मूल्यवाली किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता।[50]

अचौर्यव्रती एसी समस्त चोरियों का त्याग करता हैं जिसे करने से राजदण्ड भोगना पडता हैं; समाज में अविश्वास बढता है; तथा प्रामाणिकता खंडित होती हैं या प्रतिष्ठा को धक्का लगता हैं। किसी को ठगना/ जेब काटना /ताला तोडना /लूटना /डाका डालना, दूसरों के घर में सेंध लगाना, किसी की संपत्ति हडप लेना, किसी का गडा धन निकाल लेना आदि स्थूल चोरी के उदाहरण हैं।

लाभ :-

अदत्तादान का त्याग प्रत्यक्ष प्रवचन (जिनवचन) हैं। इससे व्रती का कल्याण होता हैं, जीवन शुद्ध होता है, सरलता प्राप्त होती हैं। वह शीघ्र ही समस्त दु:ख और पापकर्मो का क्षय करता हैं।[51] लक्ष्मी स्वयंवरा की तरह चली आती हैं। उनके समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं। सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती हैं और उन्हें स्वर्गादि सुख प्राप्त होते हैं।[52]

हानि :-

चोरी करने से या चोर को सहयोग देने से इस लोक में राजदण्ड, वध, अङ्गछेदन, कारावास, देशनिकाला, बंधन, उत्पातन-मर्दन, स्वजनादि का वियोग, धिक्कार, लोकनिंदा, वेदना, व्याधि, अकाल-वृद्धत्व, अनिष्ट वचन, कुत्सितदेह और अंत में नरक गति तथा पर भव में अनार्यत्व, हीनकुल, नीचगोत्र, पशुवद् जीवन, जडबुद्धि, धर्महीनता, मिथ्यात्व और गंभीर दु:ख के साथ अनंत संसार भ्रमण प्राप्त होता हैं।[53]

अचौर्य/स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाँच अतिचार[54] :-

(1) **स्तेनाहृत** - चोर के द्वारा चोरी की गई वस्तु को खरीदना या अपने घर में रखना, चोरी का माल खरीदना, चोरी करने के समान ही दूषित प्रवृत्ति हैं।

(2) **तस्कर प्रयोग** - व्यक्तियों को रखकर उनके द्वारा चोरी, ठगी आदि करवाना अथवा चोरों को चोरी करने में विभिन्न प्रकार से सहयोग करना।

(3) **विरुद्ध राज्यातिक्रम** - राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, राजकीय आदेशों के विपरीत वस्तुओं का आयात-निर्यात करना तथा समुचित राजकीय कर का भुगतान नहीं करना। विरोधी राज्यों में जाकर गुप्तचर का काम करना, निश्चित सीमातिक्रमण के द्वारा दूसरे राज्यों की भूमि हडपने का प्रयास करना अथवा बिना अनुमति के दूसरे राज्य में प्रवेश करना।

(4) **कूटतुला-कूटमान** - न्यूनाधिक मापतौप करना, मापतौल में बेईमानी करना भी चोरी हैं। गृहस्थ को न्यूनाधिक मापतौल नहीं करते हुए प्रामाणिक मापतौल करना चाहिए।

---

44. अ.रा.पृ. 6/326; सावय पण्णत्ति-260-262
45. तत्त्वार्थ सूत्र 7/22
46. रत्नकरण्ड श्रावकाचार-56
47. योगशास्त्र-3/91
48. अ.रा.पृ. 1/540; उपासक दशांग-अ.1
49. अ.रा.पृ. 1/540
50. र.क.श्रा.-57
51. अ.रा.पृ. 1/543
52. योगशास्त्र-2/74, 75
53. अ.रा.पृ. 1/535, 536; योगशास्त्र-2/68 से 73
54. अ.रा.पृ. 1/540; र.क.श्रा.-58; तत्त्वार्थ सूत्र-7/23 पर तत्त्वार्थ भाष्य; सावय पण्णत्ति-268

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) **तत्प्रतिरुपक व्यवहार** - वस्तुओं में मिलावट करना, अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु देना।

स्थूल मैथुनविरमण व्रत :-

दिव्य और औदारिक काम भोगों का कृत-कारितपूर्वक मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता हैं।[55]

गृहस्थ स्वयं के अनियन्त्रण के कारण पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं कर पाता अत: कामसेवन की मर्यादापूर्वक स्वस्त्री में ही संतोष करना तथा परस्त्री का त्याग करना 'स्थूल मैथुन विरमण व्रत' हैं।[56] इसे ही ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदार-संतोषव्रत कहते हैं।[57]

इस व्रत के धारक पुरुष अपनी पत्नी के अलावा शेष सभी स्त्रियों को माता, बहन या पुत्री की तरह समझता है तथा पत्नी अपने पति के अलावा अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई या पुत्र की तरह समझती हुई दोनों एक-दूसरें के साथ ही संतुष्ट रहते हैं।[58] इतना ही नहीं, अकाल (मैथुन के अयोग्य काल) में स्वस्त्री का भी त्याग करता हैं, क्योंकि ऋतुकाल को छोडकर जो अकाल में स्वस्त्री का भी सेवन करता है, उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है और दिन-प्रतिदिन सूतक लगता हैं।[59]

लाभ :-

इस व्रत का पालन महाफलदायी हैं। इस व्रत को धारण करने से व्रती साधक को पापकर्मो का बंध नहीं होता। देव-देवेन्द्र इनके चरणों में नमस्कार करते हैं। परलोक में उच्च देवगति, पंचविध भोग सामग्री और प्रियसंयोगादि सुख प्राप्त होते हैं तथा परंपरा से मोक्ष प्राप्त होता हैं।[60] इतना ही नहीं इस व्रत के धारक की भक्ति से चारों विद्याओं की भक्ति का फल प्राप्त होता हैं।[61]

हानि :-

स्वदार संतोष व्रत का पालन नहीं करने पर परस्त्री विधवा-वेश्या-कुमारिका का सेवन, पशुमैथुन, हस्त मैथुन, समलिङ्गि मैथुन आदि का त्याग नहीं करने से अत्यन्त हानि होती हैं; गाढ कर्मो का बंधन होता है; कुल का नाश होता हैं;[62] पृथ्वीकायादि षट्कायिक जीवों की हिंसा होती हैं, नरक गति प्राप्त होती हैं[63]; परलोक में नपुंसकत्व, विरुपत्व, प्रियवियोगादि दोष प्राप्त होते हैं।[64]

परस्त्रीगमन और अमर्यादित कामसेवन यावज्जीव दुष्ट विनाशकारी फलदायक हैं, अंत में दुर्गतिदायक हैं[65], अधर्म का मूल हैं और संसारवृद्धि का कारण हैं, अत: सज्जनों के लिए विषाक्त अन्नवत् त्याज्य हैं।[66] परस्त्रीगमन के कारण ही महाबली रावण भी अपने कुल का विनाश कर नरक में गया।[67]

जिस प्रकार से परस्त्रीगमन त्याज्य हैं वैसे ही पर-पुरुष सेवन भी त्याज्य हैं। ऐश्वर्य से कुबेर समान और रुप से कामदेव समान सुन्दर होने पर भी स्त्री को परपुरुष का उसी प्रकार त्याग कर देना चाहिये जैसे सीताने रावण का त्याग किया था।[68]

स्थूल मैथुन विरमण व्रत के पाँच अतिचार[69] :

(1) **इत्वरपरिगृहीतागमन** - अल्प समय के लिए पत्नी के रुप में रखी गई - रखैल, वागदत्ता या अल्पवयस्का पत्नी के साथ समागम करना, इत्वपरिगृहीतागमन कहलाता हैं।[70]

(2) **अपरिगृहीतागमन** - अपरिगृहीता अर्थात् वह स्त्री जिस पर किसी का अधिकार नहीं है एसी वेश्या, विधवा, कुमारिका या पर-स्त्री (स्वयं के द्वारा परिगृहीत नहीं होने से अपरिगृहीत) से काम-संबंध रखना 'अपरिगृहीतागमन' कहलाता हैं।[71]

(3) **अनंगक्रीडा** - मैथुन के स्वाभाविक अङ्गों को छोडकर हस्त, मुख, गुदादि, चर्म आदि से तथा बाह्य उपकरणों से वासना की पूर्ति करना या समलिङ्गी से या पशुओं से मैथुन सेवन करना - 'अनंगक्रीडा' हैं।[72]

(4) **परविवाहकरण** - गृहस्थ का स्वसंतान और परिजनों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के विवाह संबंध करवाना 'परविवाहकरण' कहलाता हैं।[73]

(5) **कामभोग तीव्राभिलाषा** - कामवासना के सेवन की तीव्र इच्छा रखना या तद्हेतु कामवर्धक औषधियाँ या मादक पदार्थो का सेवन करना।[74]

रत्नकरंडक श्रावकाचार में इन अतिचारों का क्रम भिन्न बताया हैं और अपरिगृहीतागमन के स्थान पर 'विट्त्व काम संबंधी कुचेष्टा' नामक अतिचार बताया हैं।[75]

ये अतिचार तज्जनित मानसिक आकुलता के कारण विवेक से भ्रष्ट कर साधना पथ से पतित करते हैं; अत: व्रती साधक के लिए इन पाँचों अतिचार स्थानों का निषेध किया गया हैं। साधक को इन पाँचों अतिचार स्थानों का अच्छी तरह समझकर इन से हंमेशा बचकर रहना चाहिए।

स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत :-

जैनागमानुसार अभिधान राजेन्द्र कोश में भी श्रावकों के स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत को 'इच्छापरिमाण व्रत' कहा गया हैं।[76] दो प्रकार से सचित्त (द्विपद-चतुष्पदादि), अचित्त (रत्न, कुप्यादि); अथवा छ: प्रकार से धान्य, रत्न, स्थावर, द्विपद, चतुष्पद और कुप्य; अथवा नव प्रकार के धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, रुप्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद कुप्य के असीम संग्रह को स्वयं के जीवन-व्यवहार और

55. अ.रा.पृ. 5/1259
56. अ.रा.पृ. 5/526; 6/1259, 7/337; रत्नकरंडक श्रावकाचार-59
57. अ.रा.पृ. 7/337
58. र.क.श्रा. 59
59. अ.रा.पृ. 6/427
60. अ.रा.पृ. 5/527
61. अ.रा.पृ. 5/526
62. अ.रा.पृ. 6/427
63. अ.रा.पृ. 6/429
64. अ.रा.पृ. 5/526
65. अ.रा.पृ. 5/528
66. अ.रा.पृ. 6/428, हारिभद्रीय अष्टक-20/8
67. योगशास्त्र-2/99
68. वही-2/102
69. अ.रा.पृ. 5/527; सावय धम्ममपण्णति-273; तत्त्वार्थ सूत्र-7/24
70. अ.रा.पृ. 2/584
71. अ.रा.पृ. 1/600
72. अ.रा.पृ. 1/259
73. अ.रा.पृ. 5/548
74. अ.रा.पृ. 3/443
75. रत्नकरण्डक श्रावकाचार-60
76. अ.रा.पृ. 2/557; पञ्चाशक-वस्तु-4 द्वार; उपासक दशांग-अध्ययन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यापार (वृत्ति, आजीविका) का विरोध न हो, उस प्रकार से स्वयं के देश, कुल, वंशानुसार स्वयं की इच्छापूर्वक त्यागभावना से सीमित/संक्षेप करना इच्छापरिमाण व्रत या स्थूल परिग्रहपरिमाण व्रत कहलाता हैं।[77]

नौ प्रकार का परिग्रह[78] :-

(1) **धन** - गणिम-सोपारी आदि, धरिम-गुड आदि, मेय (मेज्ज) - घी, तेल आदि, परिच्छेद्य - रत्न, वस्त्र आदि।
(2) **धान्य** - चावल, जौ, गेहूँ आदि अनाज, दाल, तिल आदि।
(3) **क्षेत्र** - खेती-बाडी योग्य जमीन।
(4) **वास्तु** - रहने योग्य मकान, कुटीर, प्रासाद आदि।
(5) **रूप्य** - चांदी, बिना घडा हुआ सुवर्ण।
(6) **सुवर्ण** - सुवर्ण, स्वर्ण के आभूषण
(7) **द्विपद** - दास-दासी, नौकर आदि।
(8) **चतुष्पद** - गाय, भैंस, अश्व आदि।
(9) **कुप्य** - कांसा, तांबा, लोहा, पीतल, आदि धातु के बर्तनादि एवं मिट्टी के बर्तन तथा गृहोपयोगी समस्त साधन-सामग्री।

इनका एक देश से अर्थात् आंशिक त्याग करना अर्थात् आवश्यकता से अधिक के त्यागरुप प्रमाण का नियमन करना, श्रावक का 'इच्छापरिमाण व्रत' हैं।

लाभ :-

गृहस्थ के घर में स्वल्प द्रव्य होने पर भी सैंकडो-हजारों रुपयों की इच्छा होती हैं। परंतु मनुष्य को उसमें लुब्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि इच्छा आकाश समान अनंत हैं। अनंत इच्छा के सामने यदि सोने या चांदी के पर्वत भी उसके पास में हो तो भी छोटे पडते हैं। इसलीए परिग्रह या (उसकी) इच्छा का परिमाण (संक्षेप) करने में महान लाभ हैं।[79]

इस व्रत के पालन करने से असत् आरम्भ (निंदनीय व्यापार, हिंसादि) से निवृत्त और असुन्दर आरम्भ की प्रवृत्ति (हीन व्यापार) का त्याग होता हैं।[80] इससे अल्पइच्छा, अल्प परिग्रह और अल्प आरंभ होने से सुख बढता है और धर्म की संसिद्धि (सम्यग् आराधना) होती हैं। इस व्रत के पालन से जीव को संतोष, सुख, लक्ष्मी, स्थैर्य (स्थिरता), लोक-प्रशंसा एवं परलोक में देव-मनुष्य की समृद्धि और परंपरा से मोक्ष प्राप्त होता हैं।[81] योगशास्त्र में भी कहा है कि, "संतोष जिसका भूषण बन जाता हैं, समृद्धि उसी के पास रहती हैं, उसी के पीछे कामधेनु चली आती है और देवता दास की तरह उसकी आज्ञा मानते हैं।[82]

भगवती आराधना में 1. खेत (क्षेत्र) 2. मकान (वास्तु) 3. धन 4. धान्य 5. वस्त्र 6. भाण्ड (बर्तन) 7. दास-दासी (द्विपद) 8. पशुयान 9. शय्या और 10. आसन - ये दस प्रकार के परिग्रह बताये हैं।[83]

हानि :-

इस व्रत को ग्रहण नहीं करने से जीव महारम्भी, महापरिग्रही होने के कारण विराधना से उपार्जित पापफल के कारण दुःख, दौर्भाग्य, दारिद्रय और दुर्गति को प्राप्त होता हैं। दिन में भी शंकायुक्त (भयभीत) रहता है, स्वयं को पाप कर्म से लोपायमान करता हैं, निंदनीय और हीन कार्य करता हैं और अंत में महारंभ, महापरिग्रह, मांसाहार/अभक्ष्याहार/निंदनीयाहार और पञ्चेन्द्रियवध/जीवहिंसा के कारण जीव नरकायु उपार्जित कर नरक गति में जाता हैं।[84]

उपदेशमाला में कहा है कि, "अपरिमित परिग्रह अनंत तृष्णा का कारण हैं। वह बहुत दोषयुक्त है तथा नरकगति का मार्ग हैं।[85] भक्तपरिज्ञा में भी कहा है कि, "जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता हैं झूठ बोलता है, चोरी करता है और अत्याधिक मूर्च्छा करता हैं।" - इस प्रकार परिग्रह पाँचो पापों की जड हैं।[86] हेमचंद्राचार्यने भी कहा है कि, "परिग्रह के कारण अनुदित राग-द्वेष भी उदय में आते हैं। परिग्रह के प्रलोभन से मुनि का चित्त भी चलायमान होता हैं। जीवहिंसादि आरंभ जन्म-मरण के मूल हैं और उनआरम्भों का कारण परिग्रह हैं।[87] अतः इन दोषों से मुक्त होने हेतु श्रावक को 'इच्छा परिमाण व्रत' अंगीकार करना चाहिए।

स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार[88] :-

पूर्व प्रकार से स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत के भी पाँच प्रकार हैं जो निम्नलिखित हैं-

(1) **क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम** - जो जमीन खेती-बाडी के लायक हो वह क्षेत्र और रहने योग्य हो वह वास्तु (मकानादि); इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के लिए बाद लोभ में आकर उनकी मर्यादा का अतिक्रमण करना - "क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम' हैं।

(2) **हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम** - गढा (आभूषण बनाया) हुआ या बिना गढा हुआ जो चाँदी या सोना (चाँदी की पाट या सोने का बिस्कीट) - इन दोनों का व्रत लेते समय जो प्रमाण निश्चित किया हो, उसका उल्लंघन करना - 'हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रम' हैं।

(3) **धन-धान्य प्रमाणातिक्रम** - गाय भैंस आदि पशुरुप धन और गेहूँ, बाजरी, मक्का आदि धान्य-इनके स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना 'धन-धान्य प्रमाणातिक्रम' हैं।

(4) **दासी-दास प्रमाणातिक्रम** - नौकर, चाकर आदि कर्मचारी संबंधी प्रमाण का अतिक्रमण करना, 'दासी - दास प्रमाणातिक्रम' हैं।

---

77. अ.रा.पृ. 2/557; धर्मसंग्रह-2/29; उपासक दशांग-1
78. अ.रा.पृ. 2/579
79. अ.रा.पृ. 2/278
80. वही, पञ्चाशक-1/17, आवश्यक चूर्णि-अ.6
81. वही, धर्मसंग्रह 2 अधिकार
82. योगशास्त्र-2/115
83. भगवती आराधना-19
84. अ.रा.पृ. 2/578; धर्मसंग्रह-अधिकार-2
85. उपदेशमाला -243
86. भक्त परिज्ञा - 132
87. योगशास्त्र - 2/109-110
88. अ.रा.पृ. 2/578; आवश्यक बृहद्वृत्ति-छठ्ठा अध्याय; आवश्यक चूर्णि-छठा अध्ययन; तत्त्वार्थ सूत्र-7/24; उपदेशमाला-244

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(5) **कुप्यप्रमाणातिक्रम** - अनेक प्रकार के बर्तन एवं अन्य गृहोपयोगी वैसी सामग्री तथा वस्त्रों का प्रमाण निश्चित करने के बाद उसका अतिक्रमण करना, 'कुप्यप्रमाणातिक्रम' हैं।

दिग्व्रत/दिशापरिमाण व्रत :-

जीवन पर्यंत (या वर्ष/चातुर्मासादि में) ऊर्ध्व, (पर्वतारोहणादि), अधः (कूप में उतरना आदि), तथा तिर्यक्-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण (तथा उनके कोने अर्थात् इशान, अग्नि, नैऋत और वायव्य) - इन सभी (दशों) दिशाओं में गमनागमन की सीमा निश्चित करना और तदनुसार नियम अंगीकार करना; दिशिव्रत या दिशापरिमाण/दिक्परिमाण व्रत नामक प्रथम गुणव्रत हैं। अणुव्रतों के रक्षार्थ और समुचित पालन हेतु व्यापारादि के क्षेत्र को सीमित रखने में सहायक गुणव्रत दिग्व्रत हैं।[89]

लाभ :-

इस व्रत के पालकने जगत पर आक्रमण करने के लिए अभिवृद्ध लोभरुपी समुद्र को आगे बढने से रोक दिया हैं। वह व्यक्ति दूर देशों में अधिकाधिक व्यापार करना, अविकसित देशों का शोषण करना आदि से रुक जाता हैं अतः लोभ कषाय पर अंकुश लग जाता हैं।[90]

हानि :-

इस व्रत को धारण नहीं करने पर लोभ के कारण मनुष्य दुर्ग, भयंकर अटवी में भटकता है, देशांतर जाता हैं, समुद्र में जाता हैं, अनेक क्लेश एवं संकट सहन करना पडता हैं, कंजूस स्वामी की दासता करनी पडती हैं और कई प्रकार के दुःख सहन करता हैं।[91]

दिशा परिमाण व्रत का पाँच अतिचार[92] :-

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं - (1) ऊर्ध्व दिशा, (2) अधो दिशा, (3) तिर्यक् दिशाओं की मर्यादाओं का अतिक्रमण, (4) मार्ग में चलते हुए यदि शंका उपस्थित हो जाए कि मैं अपनी मर्यादा से अधिक आ गया तो पुनः उस शंकित अवस्था में ही उस दिशा में आगे जाना, (5) एक दिशा की सीमा-मर्यादा को घटाकर दूसरी दिशा की सीमा मर्यादा बढाना। उदाहरणार्थ पूर्व दिशा में 50 कोस से अधिक बाहर जाकर धनोपार्जन की कोई संभावना नहीं है, अतः पूर्व के शेष 50 कोस और पश्चिम दिशा के 100 कोस मिलाकर पश्चिम में 150 कोस तक जाकर धनोपार्जन करना। साधक अपने व्रत को शुद्ध रुप में परिपालन करने के लिए उपरोक्त दोषों से बचता रहे, यही अपेक्षित हैं।

भोगोपभोग परिमाण व्रत :-

भोजन, माला आदि एक ही बार उपयोग में आने योग्य वस्तु को भोग कहते हैं तथा स्त्री, वस्त्राभूषण आदि बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री 'उपभोग' कहलाती हैं।[93] भोग और उपभोग के साधनों का कुछ समय या जीवन पर्यंत के लिए परिमाण (मर्यादा) करना (सीमित करना या त्याग करना) 'भोगोपभोग परिमाण व्रत' कहलाता हैं।[94]

सामान्यतया श्रावक को उत्सर्ग मार्ग से प्रासुक आहार ग्रहण करना चाहिए। इसके अभाव में सचित्ताहार का त्याग; इसके अभाव में बहुसावद्य अनन्तकायाहार का त्याग; इसके भी अभाव में मद्य (मदिरा), मांस, पाँच उदुम्बर और त्रस जीवयुक्त पत्र (पान), पुष्प, फलादि तो अवश्य त्याग करके भक्ष्याभक्ष्य के विवेकपूर्वक आहार ग्रहण करना योग्य हैं।[95]

जैनागमों में भोगोपभोग परिमाण व्रतधारी श्रावक को 22 अभक्ष्य 32 अनंतकाय का त्याग, सचित्त परिमाण आदि 14 नियमों का पालन एवं जीव रक्षा हेतु अंगारकर्मादि पंद्रह कर्मादान (व्यापार) के त्याग करने का वर्णन होने से यहाँ पर आचार्यश्री ने इनका परिचय देकर इनसे होने वाली दोषोत्पत्ति का विस्तृत वर्णन किया हैं, जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं-

बाईस अभक्ष्य :-

चतुर्विकृत्यो निन्दया, उदुम्बरपञ्चकम्।
हिमं विषं च करका, मृज्जातिरात्रिभोजनम् ।।32।।
बहुबीजाज्ञातफले, सन्धानानन्तकायिकाः।
वृन्ताकं चलितरसं, तुच्छं पुष्पफलादिकम् ।।33।।
आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं, च विवर्ज्जयेत्।
द्वाविंशतिरभक्ष्याणि, जैनधर्माधिवासिनः ।।34।।[96]

(1) मद्य (मदिरा) :-

मदिरा दो प्रकार की होती हैं - (1) काष्ठ निष्पन्ना (2) पिष्ट निष्पन्ना। मदिरा शराब, सुरा, द्राक्षासव, ब्रांडी, भांग, वाईन आदि के नाम से पहचानी जाती हैं। शराब बनाने के लिए गुड, अंगूर, महुआ आदि को सडाया जाता हैं, तत्पश्चात् उबाला जाता है। इस तरह उसमें उत्पन्न असंख्य त्रस जीवों (इल्ली आदि) की हिंसा होती हैं तथा शराब तैयार होने के बाद भी उनमें अनेक त्रस जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में मरते हैं। शराब पीने के बाद मनुष्य अपनी सुध-बुध भी खो बैठता है, धन की हानि होती है और काम, क्रोध की वृद्धि होती हैं, पागलपन प्रगट होता है, आरोग्य का नाश होता है। शराबी व्यक्ति माता-पत्नी, स्वस्त्री-परस्त्री आदि का विवेक भूल जाता है, अविचार, अनाचार और व्यभिचार का प्रादुर्भाव होता है, आयुष्य क्षीण होता है, विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया आदि गुणों का नाश होता है, फलतः जीवन नष्ट होता है। अतः इसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।[97] **आजकल 'फ्रूट बियर' के नाम से काजू, बदाम, द्राक्ष आदि की बीयर (नशीला पेय पदार्थ) का अतिशय प्रचार हो रहा है एवं नवयुवानों एवं स्कूल-कालेज में अध्ययनरत बच्चो में यह तो शाकाहारी है। फ्रूट की है, - ऐसा भ्रामक प्रचार कर यह अभक्ष्य फ्रूट बीयर दी जा रही है जबकि वास्तव में फ्रूट बियर भी एक तरह की मदिरा ही है अतः व्रती/जैन/शाकाहारी लोगों के लिए त्याज्य ही है।**

---

89. अ.रा.पृ. 4/2540; आवश्यक बृहद्वृत्ति 6/35; उपासक दशांग-1/46
90. योगशास्त्र-2/3
91. सूक्तमुक्तावली-57
92. अ.रा.पृ. 4/2540; तत्त्वार्थ सूत्र 7/26; आव. वृ. 6/36
93. अ.रा.पृ. 2/927; सर्वार्थसिद्धि 7/21 पृ. 280
94. अ.रा.पृ. 2/927; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-टीका-358-359; रत्नकरंडक श्रावकाचार-84
95. अ.रा.पृ. 2/928
96. अ.रा.पृ. 2/928; धर्मसंग्रह-32, 33, 34
97. अ.रा.पृ. 2/928; योगशास्त्र-3/8 से 17

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) मांस[98] :-

जलचर-स्थलचर-खेचर या चर्म (चमडी), रुधिर (खून) और माँस के भेद से माँस तीन प्रकार का हैं। इसका भक्षण महापाप का मूल होने से वर्जित है क्योंकि माँस हिंसा के बिना प्राप्त हो ही नहीं सकता। शास्त्रों में इसके विषय में कहा गया है कि, "माँस पञ्चेन्द्रियवध से उत्पन्न होने के कारण दुर्गंधयुक्त, अशुचियुक्त, बीभत्स, अभक्ष्य, और कुगति (नरक गति) का मूल है। कच्चे, पक्के या पकते हुए माँस में निगोद के जीव सतत उत्पन्न होते हैं और उसी में मरते हैं। जीव का वध होते ही उसमें उत्पन्न निगोद के अनंत संमूर्च्छिम जीवयुक्त माँस जीव हिंसा का कारण होने से नरक के पाथेय माँस को कौन विद्वान् खायेगा ? अर्थात् कोई नहीं। माँस में निगोद के और संमूर्च्छिम जीवों की सतत जन्म-मरण परम्परा चालू रहने के कारण उससे दूषित माँस, प्राणी माँस के भक्षक और घातक दोनों के लिए नाशक हैं। मनु स्मृति में मनुने भी कहा है -"माँस (के लिए हिंसा के) कर्ता, विक्रेता, संस्कर्ता (मांसाहारी आहार बनाने वाले) और भक्षक तथा क्रेता (खरीददार) के अनुमोदक, दाता सभी घातक ही हैं। जो अपने शरीर की पुष्टि के लिए माँस भक्षण करते है, वे घातक (हिंसक) हैं क्योंकि भक्षक के बिना घातक नहीं होता अर्थात् यदि कोई माँसाहारी न हो तो घातक (कसाई आदि) किसके लिए प्राणियों का घात करेंगे ? भक्षक के बिना घातक, विक्रेता, क्रेता, अनुमोदक, संस्कर्ता आदि किसी की संभावना नहीं हो सकती।

प्राणी का मांस इतना आसानी से प्राप्त नहीं होता। काटते वक्त प्राणी चिल्लाता है, तडपता है, कांपताहै, उसकी आँखो से आँसू बहते हैं। सूअर जैसे प्राणी जो आसानी से कट नहीं सकते उन्हें उनके पैर बाँधकर जिन्दा जला दिया जाता हैं। इस तरह निर्दयता की चरम सीमा के कारण ही मांसाहारी प्राणी दुर्गति-नरक गति को प्राप्त करता हैं। अण्डा मुर्गी का गर्भ है जो मुर्गी के गर्भ में वीर्य और रक्त से बढता है अत: अंडे का सेवन भी मांसाहार ही हैं। मांसाहार स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है। यह अनेक प्रकार की बीमारियों का मुख्य कारण हैं। इससे अकाल मृत्यु भी हो जाती है।आधुनिक विज्ञान मांसाहार से उत्पन्न भयंकर परिणामों की ओर सारे संसार का ध्यान खींच रहा हैं। विज्ञान ने अंडे, मछली, माँस में कोलेस्टरोल, यूरिक एसिड, यूरिया, मर्करी D.D.T., P.C.B., D.E.S., M.G.A. आदि अनेक हानिकारक विषैले तत्वों को खोज निकाला है तथा इनसे उत्पन्न होनेवाले हृदयरोग, टी.बी., कैंसर, श्वास रोग, हाई ब्लड-प्रेशर, आमवात आदि अनेक बीमारियों की खोज की हैं।

इंग्लैंड के डो. विलियम हमरी अपने Right Food ग्रंथ में लिखते हैं- मांस तेजाबयुक्त भोजन हैं। जानवर को जब काटा जाता हैं, तब मौत की अत्यन्त वेदना और डर से उसका मांस अधिक तेजाबवाला (विषैला) बन जाता हैं। एसा मांसाहार तो सिर्फ नीच, असभ्य अथवा मूर्खो का ही भोजन हो सकता हैं। मांस खाना तो अपने पेट को कब्रस्तान बनाना हैं।

मांसाहार करने से हड्डियाँ भी कमजोर हो जाती हैं। हार्वड मेडिकल स्कूल (अमेरिका) के डो. ए.वोचमन और डो. डी.एस. बर्नस्टन Lancent 1968 Volume-I में लिखते हैं - मांसाहारी लोगों की पेशाब प्राय: तेजाब युक्त होती हैं। इसके कारण शरीर के रक्त स्थित तेजाब और क्षार का अनुपात ठीक रखने के लिए हड्डियों में से क्षार-कण खून में मिल जाते है, इससे हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं। इसके विपरीत शाकाहारियों की पेशाब क्षारयुक्त होती है, इसलिए उनकी हड्डियाँ मजबूत बनी रहती हैं। अत: हड्डियों की मजबूती के लिए आरोग्य की दृष्टि से भी मांसाहार त्याज्य हैं।

जार्ज बर्नाड शो कहते हैं - मांसाहारी लोग हत्या किये गये और काटे गये प्राणियों के मृत शरीर के जीवित कब्रस्तान हैं।

जोफ्री एल. 'सोल्यूशन ऑफ इण्डियाज फूड प्रोब्लम' में लिखते हैं - एक टन मांस प्राप्ति के लिए जितना समय चाहिए उतने में 10 (दस) से 100 (सौ) गुना तक शाकाहारी खाद्य पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। साथ ही कोड-लीवर ओयल आदि मछली से और जिलेटीन भी अंडे, चमडे आदि से बनने के कारण जिलेटीनयुक्त केक, चाकलेट, आइस्क्रीम आदि पदार्थ भी अभक्ष्य ही है, अत: त्याज्य हैं।[99]

इस तरह मांसाहार जीव हिंसा का कारण, अशुभ कर्मबंधक और आरोग्य की दृष्टि से भी अत्यन्त हानिकारक होने से अवश्यमेव त्याग करने योग्य हैं।

(3) मधु (शहद) :-

शहत मक्खियों, भौंरों आदि की लार एवं वमन से तैयार होता हैं। मधुमक्खी फूलों से रस चूसकर उसका छत्ते में वमन करती हैं। छत्त के नीचे धुआँ करके मक्खियों को उडाया जाता है। पश्चात् उस छत्ते को निचोडकर शहद निकाला जाता हैं; इसमें कई अशक्त (उडने में असमर्थ) मधुमक्खियाँ और उनके अंडे नष्ट हो जाते हैं और वे तथा सभी तरह की अशुचि शहद में मिल जाती हैं तथा उसमें अनेक प्रकार के रसज जीवों की भी उत्पत्ति होती हैं। इस तरह शहद अनेक जीवों की हिंसा का कारण होने से अभक्ष्य हैं।[100]

आयुर्वेदिक दवाई के प्रयोग में शहद के बजाय घी, शक्कर, चासणी या मुरब्बा से काम चल सकता हैं। अत: दवाई लेने में भी शहद का त्याग करने योग्य हैं।

(4) मक्खन (नवनीत)[101] :-

प्राप्ति के आधार पर मक्खन चार प्रकार का होता हैं - (1) गाय (2) भैंस 93) बकरी और (4) भेड - इन चारों से प्राप्त दूध से बना हुआ। मक्खन को छाछ में से बाहर निकालने के बाद तुरन्त ही उसमें उसी रङ्ग के अनंतानंत त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। वासी मक्खन या मलाई में तो हर समय सूक्ष्म रसज जीवों की उत्पत्ति होती रहती हैं। यदि घी भी बनाना हो तो भी मक्खन को छाछ से निकालकर सीधे गर्म बर्तन में रखकर तुरन्त तपाना चाहिए। दो-चार दिन के मक्खन में तो अतिशय जीवोत्पत्ति होती हैं।

मक्खन खाने से जीव विकार-वासना से उत्तेजित होता है, चारित्र की हानि होती है और अनेक बीमारियाँ भी होती हैं। अत: मक्खन खाने का त्याग करना चाहिए।

(5-9) उदुम्बर-गूलर आदि फल[102] :-

(1) वट वृक्ष (2) पीपल (3) पाकर (प्लक्ष) (4) उदुम्बर

98. अ.रा.पृ. 2/928; योगशास्त्र-3/18 से 33
99. श्रीमद् जयंतसेन सूरि अभिनंदन ग्रंथ - विविधा पृ. 20, 21
100. अ.रा.पृ. 2/928; योगशास्त्र-3/36 से 41
101. अ.रा.पृ. 2/928; योगशास्त्र-3/34, 35
102. अ.रा.पृ. 2/928, 929

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और (5) कठ गूलर - इन पाँचों के फलों में अगणित बीज और असंख्य सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं। इनके खाने से न तृप्ति मिलती है, न शक्ति। और यदि इन फलों में के सूक्ष्म जीव मस्तिष्क में प्रवेश कर जायें तो मृत्यु भी हो सकती हैं; रोगोत्पत्ति की तो शतप्रतिशत आशंका रहती हैं। अत: इनका त्याग करना चाहिए।

(10) हिम[103] (बर्फ) :-

छाने या अनछाने पानी को फ्रीज में रखकर/जमाकर बर्फ बनाया जाता हैं जिसमें कण-कण में असंख्य जीव है अत: बर्फ मिलाकर बनाये जानेवाले शरबत, आइस्क्रीम, आइसफ्रूट आदि सभी पदार्थ अभक्ष्य है। इनके भक्षण से मंदाग्नि, अजीर्ण आदि रोगों की उत्पत्ति होती हैं। बर्फ आरोग्य का शत्रु है अत: त्याज्य हैं।

(11) विष[104] (जहर) :-

खनिज, प्राणिज, वनस्पति और मिश्र भेद से विष चार प्रकार का होता हैं। संखिया, वच्छनाग, कालकूट, अफीम, हरताल, धतूरा आदि विषयुक्त पदार्थ हैं, जिन्हें खाने से मनुष्य की तत्काल मृत्यु भी हो सकती हैं या भ्रम, दाह, कंठशोष इत्यादि रोग उत्पन्न होता है। बीडी, तम्बाकु, गाँजा, चरस, सिगरेट आदि में रहा विष मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर अल्सर, टी.बी. केंसर इत्यादि रोगों को उत्पन्न करता है अत: स्व-पर घातक होने से विष त्याज्य हैं।

(12) करक[105] (करा, ओला) :-

वर्षाऋतु में जो ओले गिरते हैं इसमें कोमल, कच्चा, अनछना जमा हुआ पानी रहता हैं अत: बर्फ के समान इसमें भी सभी दोष होने से इसका त्याग करना चाहिए।

(13) मिट्टी[106] (मृज्जाति सभी तरह की मिट्टी) :-

मिट्टी अनेक प्रकार की और कई रंगों में होती हैं। मिट्टी के कण-कण में असंख्य पृथ्वीकायिक और वनस्पतिकायिक त्रस जीव होते हैं। भगवती सूत्र में कहा है कि, मिट्टी को वज्रमय पृथ्वी पर वज्रमय पत्थर से इक्कीस बार पीसने पर भी पृथ्वीकाय के किसी जीवों को तो इस पत्थर का स्पर्श भी नहीं होता अत: नमक भी अग्नि से पक्का करके ही वापरना चाहिए, अन्य किसी भी तरह से नमक पक्का नहीं होता (नमक भी 'खार' रुप मिट्टी होने से उसमें असंख्य जीव रहते हैं)

मिट्टी खाने से पथरी, पाण्डुरोग, सेप्टिक, पेचिश जैसी भयंकर बीमारियाँ होती हैं। अत: मिट्टी अभक्ष्य हैं इसलिए इसका त्याग करना चाहिए।

(14) रात्रि भोजन[107] :-

जैन धर्म के साथ-साथ अन्य सभी संप्रदायों में वर्णित धर्म मात्र अहिंसा मूलक हैं। यद्यपि जीवन निर्वाह में अनेक स्थावर जीवों के साथ-साथ प्रयत्नपूर्वक रक्षा करने पर भी अनजाने में त्रस जीवों की भी हिंसा होती हैं। इस हिंसा को न्यूनतम स्तर पर लाने के लिए अवधानपूर्वक (सावधानी से) स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा रोकने के लिए रात्रिभोजन त्याग का प्रतिपादन किया गया हैं। उसी को स्फुट रुप से समझाते हुए यह बताया गया है कि रात्रि भोजन में भिन्न-भिन्न प्रकार से जीवों की हिंसा होती हैं। जैसे -

(1) दिन में पकाये हुए अन्नादि में पाकजात हिंसा न होने पर भी सूक्ष्म पिपीलिकादि जीवों की हिंसा हो सकती हैं और सूक्ष्म संमूर्च्छिम जीवों की हिंसा भी होती हैं।

(2) इसी प्रकार खाद्य फल खजूर आदि में भी अंदर गूटली के उपर सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं जो रात्रि में दिखाई नहीं देते अत: शुष्क अथवा आर्द्र (गीले) फलों का सेवन भी हिंसा का कारण होता हैं।

(3) बिजली आदि का तीव्र प्रकाश होने पर भी रात्रि में उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्म त्रस जीव नष्ट होते हीं हैं। और बिजली के प्रकाश में भी असंख्य जीवों की उत्पत्ति होती हैं।

(4) अत्यन्त सावधानी रखने पर भी त्रस-स्थावर घात की कल्पना न होने पर भी रात्रिभोजन की आसक्ति, जो रागात्मिका होती है वह आत्मा के उपयोग की विराधिक होने से हिंसा का दोष लगता ही हैं।

रात्रि भोजन त्याग सूर्य के उदय और अस्त की अपेक्षा करता हैं किन्तु सूर्य प्रकाश की उपस्थिति न होने पर अंधकार में दीपकादि के प्रकाश में किया गया भोजन भी रात्रि भोजन है और नियम भंग और माया के कारण रात्रि भोजन से भी अधिक दुष्ट हैं।

रात्रि भोजन नरक का प्रथम द्वार हैं। अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा की संभावना और इस लौकिक परलौकिक अनेक दुष्ट दोषयुक्त होने से रात्रि भोजन त्याज्य हैं। निशीथ चूर्णि में भी ऐसा ही कहा है की, रात्रि को भोजन करते समय यदि चींटी आ जाय तो बुद्धिनाश, जूँ से जलोदर, मक्खी से उल्टी, मकडीयां, कानखजूरे से कोढ रोग, काँटा या लकडी से गले में पीडा, बिच्छु से तालु भेदन होता है तथा बाल से आवाज खराब होती हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से रात्रिभोजन में इतना पाप लगता है कि, जिसकी कल्पना भी करना मुश्किल है। आचार्यश्री जिनहर्षसूरिने रात्रिभोजन करने से लगते पाप का थोडा सा वर्णन करते हुए रात्रिभोजन के रास में कहा है कि, "असंख्य वर्ष का आयुष्य हो और 100 मुख और 100 जिह्वा हो तो भी पूरी तरह कथन न हो सके इतने पाप रात्रिभोजन के है।[108] छियानवें (96) भव तक पापी (मच्छीमारादि) व्यक्ति जीवों का घात करे उतना पाप एक सरोवर शोषने पर होता है। 101 भव तक सरोवर शोषें (सुखावें) उतना पाप एक बार दावानल (दव) लगाने में होता है। 108 भव तक दावानल लगाने में उतना पाप एक कुवाणिज्य में होता है। 144 भव तक कुवाणिज्य करें उतना पाप एक जूठा कलंक देने में होता है। 151 भव तक जूठे कलङ्क देने जितना पाप एक परस्त्री सङ्ग से होता है। 9900 भव तक परस्त्रीसङ्ग जितना पाप एक रात्रिभोजन में होता है।[109]

वैदिक परम्परा में रात्रि भोजन त्याग :-

वैदिक परम्परा में भी रात्रि भोजन त्याग का विधान आग्रह देकर किया गया हैं - स्कंद पुराण में कहा गया है कि, "दिन

103. वही 2929, 2/913; भगवती सूत्र 9/23
104. अ.रा.पृ. 2/929
105. वही
106. अ.रा.पृ. 2/929; भगवती सूत्र-19/3
107. अ.रा.पृ. 2/929; योगशास्त्र 3/48 से 70
108. रात्रिभोजननो रास पृ. 14
109. वही-ढाल-७ पृ. 15-ले.जिनहर्षसूरि; यह पापफल श्री कुंथुनाथ जिनेश्वरने समवसरण में कहा है - ऐसा लेखक का कथन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में केवल एक बार भोजन करने से अग्निहोत्र का फल प्राप्त होता है। सूर्य के अस्त होने के पूर्व तक भोजन ग्रहण करने का नित्य नियम रखने पर तीर्थयात्रा का फल होता हैं। इसके अतिरिक्त रात्रि में हवन, स्थान, तर्पण, देवता पूजन और दान का विधान नहीं हैं।

आयुर्वेद में रात्रिभोजन त्याग :-

आयुर्वेद में स्वास्थ्य की दृष्टि से सकारण रात्रि भोजन का निषेध किया गया हैं। वहाँ कहा गया है कि, शरीर में स्थित हृदय नामक अवयव जो कि, कमल के समान है रात्रि में संकुचित हो जाता हैं क्योंकि रात्रि में कमल को विकसित करनेवाला तीव्र सूर्य प्रकाश नहीं रहता। हृदय का संकोच हो जाने से रक्त प्रवाह की गति मंद हो जाती हैं। इससे पाचकाग्नि मंद हो जाती हैं। और सिद्धांत यह है कि, सभी निज रोग मंदाग्नि से होते हैं - "**रोगाः सर्वेऽपि मन्दाऽग्नौ, सुतरामुदरणि च।**" दूसरे सूक्ष्म जीव खा लिये जाने से भी रात्रि भोजन निषिद्ध है, क्योंकि ये सूक्ष्म जीव अनेक रोगों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

(15) बहुबीज :-

जिन सब्जियों और फलों में दो बीजों के बीच अन्तर न हो, वे एक दूसरें से सटे हुए हों, गूदा थोडा और बीज बहुत हो, खाने योग्य पदार्थ थोडा और फेंकने योग्य अधिक हो, जैसे कपित्थ (कवीट) का फल, खसखस, टिंबरु, पंपोटा आदि को बहुत बीज कहते हैं।

उनके खाने से बीज अधिक होने से ज्यादा हिंसा का पाप लगता हैं। खसखस आदि में जीवोत्पत्ति भी बहुत जल्दी और अधिक होती हैं। इनको खाने से पित्त-प्रकोप होता हैं और आरोग्य की हानि होती है अतः ये त्याज्य हैं।[110]

(16) अज्ञात फल (अनजान फल, पुष्पादि) :-

हम जिसका नाम और गुण-दोष नहीं जानते वे पुष्प और फल अभक्ष्य कहलाते हैं। जिनके खाने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं तथा प्राणनाश भी हो सकता है। जैसे अनजान फल नहीं खाने के नियम से वंकचूल ने अपने प्राण बचाये और उसके सभी साथी किंपाक के जहरीले फल खाने से मृत्यु का शिकार बन गए।[111]

(17) सन्धान :-

जिसके वर्णादि बदल गये है वैसा संधान नरक का तीसरा द्वार है।

कोई अचार दूसरे दिन तो कोई तीसरे दिन तो कोई चौथे दिन अभक्ष्य हो जाता है क्योंकि उसमें अनेक त्रस जन्तु उत्पन्न होते हैं और उसी में मरते हैं।

जिन फलों में खट्टापन हो अथवा वैसी वस्तु में मिलाया गया हो एसे अचार में तीन दिनों के बाद त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु आम, नींबू (लीम्बू) आदि वस्तुओं के साथ न मिलाया हुआ गूंदा, ककडी, पपीता, मिर्च आदि का अचार दूसरे दिन ही अभक्ष्य हो जाता है। जिस अचार में अग्निभर्जित (सिकी) हुई मैथी डाली गई हो वह भी दूसरे दिन अभक्ष्य हो जाता है। अच्छी तरह धूप में सुखाने के बाद तेल, गुड आदि डालकर बनाया हुआ अचार भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श न बदले तब तक ही भक्ष्य है, बाद में अभक्ष्य हो जाता है। फफूँद आदि आने के बाद आचार अभक्ष्य माना गया हैं। अतः अनेक त्रस जीवों की हिंसा से बचने के लिए अचार का त्याग करना लाभदायी हैं।[112]

अनन्तकाय[113] :-

अनन्तकाय नरक का चौथा द्वार है। जिसके एक शरीर में अनंत जीव हो, जिसकी नसें, साँधे, गाँठ, तन्तु आदि न दिखते हो, काटने पर जिसके समान भाग होते हो, काटकर बोने पर पुनः उग जाते हों उसे अनन्तकाय कहतेहैं। अथवा जिसके टुकडे करने पर एक समान चक्राकार भङ्ग दिखते हों या समान टुकडे होते हों वह अनन्तकाय है। अनन्तकाय 9 प्रकार से होते हैं-

(1) मूल (2) तना (3) छाल (4) शाखा (5) अविकसित नई पुष्पकलिका और नये कोमल पत्ते (प्रवाल) (6) पत्ते) (7) पुष्प (8) फल और (9) बीज।

बत्तीस अनन्तकाय :-

(1) सूरण - एक प्रकार का कंद
(2) वज्रकंद - गराडू
(3) आर्द्रक - अद्रक (अदरक)
(4) हरिद्रा - हरी हल्दी
(5) कर्चूर - हरा कचूरा
(6) शतावरी - एक प्रकार की लता (औषधि)
(7) वरालिका - एक प्रकार की लता
(8) गंवारपाठा - घृतकुमारी
(9) थूवर (स्नूही) - थोर
(10) गुडूची - हरी गलोय/गिलोय
(11) लहसुन - लसण, प्याज
(12) वंशकरेला - बाँस के कोमल पत्ते
(13) गाजर - गाजर
(14) लवणक - लुणियां की भाजी
(15) पद्मिनीकंद - लोडिये के भाजी
(16) गिरिकार्णिका - गरमर
(17) किसलय - पत्तों के कौंपल
(18) खरिंसुका - खरसुआ
(19) थेग - थेग की भाजी
(20) मोथा - हरा मोथा (जड)
(21) छल्ली - लुण वृक्ष की छाल
(22) खिल्लहड - खिलोडा कंद
(23) अमृतबेल - अमरबेल (बिना जड, बिना पत्ते की होती है)
(24) मूलक - मूला के पञ्चाङ्ग (मूला, मूली के पत्ते, मूली के पुष्प, मूली के बीज, मूली के फल अर्थात् मोगरी, छोटे-छोटे मोगरे)।
(25) कुकुरमुत्ता - छत्रटोप (छत्रक - मशरुम)
(26) अंकुर - अंकुरित धान

110. अ.रा.पृ. 2/929
111. वही
112. अ.रा.पृ. 2/929;
113. अ.रा.पृ. 1/262 से 264; प्रज्ञापना सूत्र 1/1 से 10

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(27) ठक्कवत्थु - बथुवे की भाजी
(28) सूकरकंद (सूकरवाल) - वाराही कंद, गृष्टि
(29) पल्यंक - पालख
(30) कोमल इमली - बिना बीज की इमली
(31) आलुक - सक्करकंद (शक्करिया) रतालु
(32) पिण्डालु - आलु (बटाटा)

अनन्तकायिक जीवों की ये 32 संख्या उपलक्षणा मात्र है। इनकी जाति में आनेवाले अन्य भी पुष्प, मूल, फल, कन्दादि; जिसमें अनंतकाय के उपरोक्त लक्षण प्राप्त होते हो वे सभी अनंतकाय है अत: त्याज्य है। इसके अलावा इस प्रकार की वनस्पतियाँ जो कि, त्रस जीवों का आश्रय हैं, वे भी अभक्ष्य होने से त्याज्य है।[114] जैसे -

(1) **फूल गोभी** - अत्यन्त सूक्ष्म पुष्प समूह एवं त्रस कृमियों का आश्रय
(2) **शलजम** - शलजम का कंद
(3) **गांठ गोभी** - एक प्रकार का कंद
(4) **सहजन** - सूरजना की फली - त्रस जीवों का आश्रय होने से
(5) **प्याज** - लहसुन के पत्ते - ये भी तीव्र गंधवाले होने से वायुकायिक जीवों और वायु में रहनेवाले सूक्ष्म त्रस जीवों के घातक होते हैं, अत: त्याज्य है।
(6) **मोगरा** - मूली का फल है जो अनंतकाय हैं। शास्त्रों में मूली के पाँचों अङ्ग-मूला, डाली, पत्तें, फूल और फल अभक्ष्य माने गये हैं।
(7) **शहतूत (शेतुर)** - रेशम के कीडे का आश्रय होने से
(8) **सिंघाडा** - ये बिना बोये ही उग जाते है।जहाँ तालाब में सिंघाडे उत्पन्न होते हैं वहाँ से निकालने में सिंघोडे के काँटो से असंख्य त्रस जीवों की हिंसा होती हैं। और समभंग होने से इसे अनन्तकाय मानते हैं तथा अतिशय मीठे होने के कारण इसमें अतिशीघ्र त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है अत: अभक्ष्य है।

अनंतकाय का भक्षण करने से बुद्धि विकारी, तामसी और जड बनती है, धर्मविरुद्ध विचार आते है[115], जिनाज्ञा भङ्ग का दोष लगता है, विसूचिका आदि रोग होते हैं और अजीर्ण से मृत्यु भी हो सकती हैं या अन्य रोगों का भी उद्भव हो सकता हैं। अत: जीव हिंसा और आत्महिंसा का कारण होने से अनंतकाय अवश्य त्याग करना चाहिए।[116]

(19) वृन्ताक (बैंगन) :-

बैंगन में असंख्य छोटे-छोटे बीज होते हैं। उसकी टोपी डंठल में सूक्ष्म त्रस जीव भी होते हैं। बैंगन खाने से तामस भाव जागृत होता है, वासना/उन्माद बढता है, मन धृष्ट होता है, निद्रा व प्रमाद भी बढते हैं, बुखार व क्षय रोग होने की संभावना बढती है, ईश्वर-स्मरण में बाधक बनता है। अत: जैनधर्म तथा हिन्दु-पुराणों की दृष्टि से भी इसके भक्षण का निषेध किया गया हैं।[117]

(20) चलित रस[118] :-

जिस पदार्थों का रुप, रस, गंध, स्पर्श बदल गया हो या बिगड गया हो, वे 'चलित रस' कहलाते हैं। जैसे - सडे हुए पदार्थ, वासी पदार्थ, कालातीत पदार्थ, जिसमें फफूँद आ गयी हो, एसे पदार्थ (चलित रस), अभक्ष्य हैं। इनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होती हैं। इनको खाने से आरोग्य की हानि होती है, असमय बीमारी आ सकती हैं और मृत्यु भी हो सकती हैं।

मिठाई, खाखरे, आटा, चने दलिया आदि पदार्थों में कालापेक्ष भक्ष्याभक्ष्य विवेक :-

कार्तिक सुदि 15 से फाल्गुन सुदि 15 तक हेमन्त ऋतु में 30 दिन का, फाल्गुन सुदि 15 से आषाढ सुदि 15 तक ग्रीष्म ऋतु में 20 दिन का और आषाढ सुदि 15 से कार्तिक सुदि 15 तक चातुर्मास में 15 दिनों तक का होता है। तत्पश्चात् ये सब अभक्ष्य माने गये हैं।[119] आर्द्रा नक्षत्र के बाद आम, रायण (एक फलजाति) अभक्ष्य हो जाते हैं। फाल्गुन सुदि 15 से कार्तिक सुदि 15 तक आठ महिने खजूर, खारक, तिल, मैथी आदि की भाजी, धनिया पत्ती आदि अभक्ष्य माने जाते हैं।

जिसमें पानी का भाग है एसे नरम, रोटी, पूडी, पराठे आदि तथा वासी पदार्थ दूसरे दिन और दही दो रात (16 पहर) के बाद अभक्ष्य माना जाता हैं।

इसके अलावा बाजारु आटे के पदार्थ, बिना शक्कर मिलाये या बिना सेका वासी मावा, सोडा, लेमन, कोकोकोला, ऑरेंज आदि बोतलों में भरे पेय (शरबत) तथा जिलेटीनयुक्त पदार्थ अभक्ष्य हैं।

(21) तुच्छफल[120] :-

जिसमें खाने योग्य पदार्थ कम और फेंकने योग्य अधिक हो, जिसके खाने से न तृप्ति होती है न शक्ति प्राप्त होती है एसे कोल (छोटे झरबेरी के बेर), बदरी (वृक्ष जाति के बेर), पीलु, गोंदनी (श्लेष्मातक), जामुन, सीताफल इत्यादि पदार्थ तुच्छफल कहलाते हैं।

इनके बीज या कूचे फेंकने से उन पर चीटियाँ आदि अनेक जीवजंतु आते हैं और झूठे होने के कारण संमूर्च्छिम जीव भी उत्पन्न होते हैं। पैरों के नीचे आने से उन जीवों की हिंसा भी होती हैं। अत: इनके भक्षण का निषेध किया गया हैं।

द्विदल[121] :-

जिसमें से तेल न निकलता हो, दो समान भाग होते हों और जो पेंड के फलरुप न हों - एसे दो दलवाले पदार्थों को कच्चे दूध-दहीं या छाछ में / के साथ एकत्र मिलाने से तुरन्त द्वीन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जीवहिंसा के साथ-साथ आरोग्य भी बिगडता है अत: ये अभक्ष्य है। जैसे - मूँग, मोठ, उडद, चना, अरहर (मसूर), वाल, चँवला, कुलथी, मटर, मैथी, गँवार तथा इनके हरे पत्ते (भाजी), सब्जी, आटा, दाल, और इनकी बनी हुई चीजें, जैसे मैथी का मसाला, अचार, कढी, सेव, गाँठिया, खमण, ढोकला, पापड, बडी बूँदी, बडे भजिये आदि पदार्थों के साथ कच्चा दही/छाछ या कच्चा दूध मिश्रित हो जाने पर अभक्ष्य हो जाते हैं। अत: श्रीखंड, दही, मट्ठे (छाछ) के साथ दो दलवाली चीजें नहीं खाना

114. अ.रा.पृ. 1/264
115. जयंतसेनसूरि अभिनंदन ग्रंथ-वाचना पृ. 17
116. अ.रा.पृ. 1/264
117. अ.रा.पृ. 2/929
118. अ.रा.पृ. 2/929
119. वही
120. अ.रा.पृ. 929
121. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। दूध या दही को अच्छी तरह से (अंगुली जले एसा) गरम करने के बाद उनके साथ द्विदल खाने में दोष नहीं है। भोजन के समय एसे खाद्य पदार्थों विशेष ध्यान रखना जरुरी हैं। होटल में दहीबडे, बूँदीवाला रायता, खमण-ढोकले, इडली-ढोंसा, आदि कच्चे दही के बनते हैं, अतः अभक्ष्य होने से त्याज्य हैं।

सचित्त[122] परिमाण आदि चौदह नियम :-

भोगोपभोग परिमाण व्रत में उपभोग-परिभोग के जिन पदार्थों की आवश्यकतानुसार उपभोग करने की छूट रखी है उनमें भी प्रतिदिन, प्रतिरात की आवश्यकतानुसार से अधिक का सुबह से शाम तक या शाम से सुबह तक के लिए त्याग या संक्षेप करने के नियम को सचित्त (सचित्त का परिमाण) आदि नियम कहते हैं। जैनागमों में एसे 14 नियम बताये गये हैं जो निम्नानुसार हैं-

"सचित्त दव्वविगई, वाणह तंबोल वत्थ कुसुमेसु।
वाहणसयणविलेवण-बंभ-दिशि-न्हाण-भत्तेसु॥

सचित : अप्रासुक आहार - पानी उपयोग करने की मात्रा।

दव्व : भोजन में उपयोग में लेने के द्रव्य की संख्या।

विकृति : चार महाविगई : मद्य, मांस मधु और मदिरा का सर्वथा त्याग, और घी-तेल-दूध-दही-गुड/शक्कर और कडाविगई इन छः विगई में से एक या एकाधिक का त्याग या वापरने की मात्रा।

वाणह : जूते-चप्पल, मोजे आदि की संख्या।

तंबोल : मुखवास की मात्रा एवं पदार्थ (लोंग, इलायची, सौफ आदि) का परिमाण।

वत्थ : वस्त्रों की संख्या।

कुसुम : पुष्प, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ।

वाहन : बैलगाडी, साईकिल, रीक्षा, कार, स्कूटर, नाव, हवाई जहाज आदि।

शयन : सोने-बैठने हेतु आसन, बिस्तर, शाल, रजाई, चादर, तकिया, कुर्सी, चौकी, पलंग आदि।

विलेपन : साबुन, क्रीम, चंदन, पावडर, महेंदी, हल्दी, कंकु आदि (मेकअप का सामान भी)।

ब्रह्मचर्य : सर्वथा मैथुन त्याग या उसका समय परिमाण स्वदारा/स्व पुरुष संतोष परदारा त्याग। दिवामैथुन का त्याग/रात्रि की जयणा, परिमाण।

दिशि : दशो दिशाओं में व्यापार या अन्य सप्रयोजन गमन की मर्यादा (सीमा)।

स्नान : संपूर्ण स्नान और अल्प स्नान की संख्या में परिमाण (जिन पूजा, सूतकादि की जयणा)।

भक्त : प्रासुक-अप्रासुक भोजन और पानी का प्रमाण।

इन 14 प्रकारों से दिन भर या रात्रि भर में उपयोग में आनेवाले पदार्थों का यथायोग्य संख्या या मात्रा में प्रमाण निश्चित करना या संक्षेप करना -'14 नियम' धारण करना कहलाता है। इन नियमों को धारण करनेवाले व्रती साधक को इनके साथ ही असि, मसि और कृषि से सम्बन्धित उपकरणों का भी परिमाण निश्चित करना होता है, यथा-

असि - तलवार, कैंची, गृहोपयोगी मशीनें, बिजली या अग्नि से संचालित साधन आदि।

मसि - लेखन, पठन-पाठन के साधन, कागज, कापी, पुस्तक, लेखनी, पेंसिल, पट्टी, पेन आदि।

कृषि - कृषि के औजार-हल आदि।

इन सभी के उपयोग का प्रमाण करके संख्या या वजन तय करना चाहिए एवं प्रतिदिन सुबह-शाम उसका स्मरण नियम भंग न हो-इसका ध्यान रखना चाहिए। इन नियमों को धारण करने से श्रावक अनावश्यक आरंभ और निरर्थक कर्मबंधन से बचता हैं।

अहिंसा अणुव्रत के पालक श्रावक को पाँच कर्म, पाँच वाणिज्य और पाँच सामान्य का त्याग करना चाहिए क्योंकि ये महासावद्य कर्म होने से इनसे निश्चित ही दुर्गति होती हैं।

पन्द्रह कर्मादान :-

आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में पन्द्रह कर्मादानों का वर्णन अग्रलिखित प्रकार से किया है -**"कम्मओणं समणोवासएणं इमाइं पन्नरसकम्मादाणाइं जाणिअव्वाइं न समायरिअव्वाइं तं जहा इंगालकम्मे 1, वणकम्मे, 2, साडीकम्मे 3, भाडी कम्मे 4, फोडिकम्मे 5, दंत वाणिज्जे 6, लक्ख वाणिज्जे 7, रसवाणिज्जे 8, केसवाणिज्जे 9, विसवाणिज्जे 10, जंतपीलणकम्मे 11, निलंछणकम्मे 12, दवग्गिदावणया 13, सरदहतलावसोसणया 14, असईपोसणया 15॥**[123]

अभिधान राजेन्द्र कोश में इन कर्मादानों का यथास्थान निम्नानुसार परिचय दिया गया है, यथा-

(1) **अंगारकर्म (इंगालकम्म)** - कोयले आदि बनाकर बेचने का कार्य, ईंट भट्ठे चलाना, आँव में बर्तन पकाने का कार्य तथा अग्नि संबंधी भट्टी काम, लुहार काम इत्यादि आजीविका द्वारा अर्थोपार्जन करना 'अंगार कर्म' कहलाता हैं।

(2) **वन-कर्म** - जंगल तुडवाना, जलाना, लकडियाँ कटवाकर बेचना, फल, फूल, सब्जी संबंधी व्यापार या जंगल काटकर साफ करना, उसका क्रय-विक्रय करना 'वन कर्म' कहलाता हैं।

(3) **शकट कर्म** - बैलगाडी प्रमुख वाहनादि बनाकर बेचना।

(4) **भाटक कर्म** - वाहन आदि किराये पर चलाने का व्यवसाय करना।

(5) **स्फोटक कर्म** - खान खोदना या पत्थर फोडने का व्यवसाय करना, विस्फोट करवाना आदि स्फोटक कर्म है।

(6) **दन्तवाणिज्य** - हाथी आदि के दाँतों का व्यवसाय करना। उपलक्षण से बाघ-नख, चमडे और हड्डी का व्यवसाय भी इसमें शामिल हैं।

(7) **लाक्षावाणिज्य** - लाख, साज (सर्जरस), साबुन, धावडी का व्यापार करना।

(8) **रस वाणिज्य** - शहद, मदिरा, माँस, घी-तेल, मक्खन, गुड आदि का व्यापार भी इसमें सम्मिलित हैं।

122. अ.रा.पृ. 2/930

123. अ.रा.पृ. 2/931; आवश्यक बृहद्धवृत्ति-अ.6; उपासक दशा-बालावबोध पृ. 19, 20

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(9) **विष वाणिज्य** - वत्सनाग, सोमलादि विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय करना। उपलक्षण से हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यवसाय भी शामिल हैं।

(10) **केश वाणिज्य** - दास-दासी, भेड-बकरी प्रभृति केशयुक्त प्राणियों के क्रय-विक्रय का व्यवसाय करना, चमरी गाय, लोमडी आदि पक्षियों-पशु के बालों एवं रोमयुक्त चमडे (चमडे के कोट, स्वेटरादि) का व्यवसाय, केश वाणिज्य कहलाता हैं।

(11) **यंत्रपीडन कर्म** - ईख, तिल आदि यंत्र में पीलना तथा यंत्र, सांचे, धावी, कोल्हू आदि का व्यवसाय। उपलक्षण से उन सभी अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार, जिससे प्राणियों की हिंसा की संभावना हो, इसमें समिहित हैं।

(12) **निलांछन कर्म** - बैल आदि को दाग लगाना, उनके कान-नाक काटना, खस्सी करना निर्लांछन कर्म हैं।

(13) **दावाग्नि दापन** - जंगल में आग लगना, खेतों में सूड जलाना इत्यादि।

(14) **सरोवर-द्र-तडाग शोषण** - तालाब, झील, जलाशय आदि को सुखाना।

(15) **असतीजन प्रेषणता पोषण** - व्यभिचारवृति के लिए वेश्याओं आदि को नियुक्त करना एवं व्यभिचारवृति करवाकर उनके द्वारा धनोपार्जन करना। चूहों को मारने के लिए बिल्ली अथवा कुत्ते आदि क्रूरकर्मी प्राणियों का पालन भी इसी में सम्मिलित हैं।[124]

भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पाँच अतिचार[125] :-

व्रती साधक को निम्नांकित पाँचों अतिचार दोषों का त्याग करना चाहिए। ये निम्नानुसार हैं-

(1) **सचित्ताहार** - सचित्त पृथ्वीकाय (नमक, मिट्टी आदि), अप्काय (कच्चा पानी), वनस्पतिकाय (सचित्त सब्जी, पत्ते, फल, अनाज, बीज आदि) का भक्षण सचित्ताहार है। जिसने सचित्ताहार का त्याग या परिमाण किया हो, उसे यह अतिचार लगता हैं।

(2) **सचित्तपिधान** - सचित्त से संबद्ध - अचित्त आहार में रहा हुआ सचित्त आहार, बीज, गुठली आदि जैसे - खजूर खाये और गुठली छोड दे या थोडा सचित्त और थोडा अचित्त एसा आहार सचित्तपिधान कहलाता हैं।

(3) **अपक्वाहार** - मिश्र आहार, बिना पका हुआ कच्चा आहार खाना।

(4) **दुष्पक्व (अपक्व-दुष्पक्व)** - आधा पका, आधा कच्चा या अधिक पका (जला) हुआ आहार।

(5) **तुच्छौषधि-भक्षण** - कोमल चवले की फली, मूँग की फली (कच्ची) आदि खाना।

अनर्थदण्डविरमण व्रत :-

बिना किसी प्रयोजन के जिस पाप-कार्यों से आत्मा दंडित होती है, जिससे स्व या पर की हानि के अलावा कोई लाभ नहीं होता - एसे निष्प्रयोजन पाप कार्यों को करना 'अनर्थदण्ड' हैं। द्रव्य से बिना किसी कारण के राजदण्डादि तथा भाव से ज्ञानादि की हानि 'अनर्थदण्ड' हैं।[126] इनका त्याग करना 'अनर्थदंड विरमण व्रत' कहलाता हैं।[127] अनर्थदण्ड चार प्रकार के बताये गये हैं, इसलिए अनर्थदण्डविरमण भी चार प्रकार का हो जाता हैं। चार अनर्थदण्ड ये हैं-

(1) अपध्यान :-

किसी की हार-जीत, हानि-लाभ, मृत्यु आदि का चिंतन या आर्त्त-रौद्र ध्यान 'अपध्यान' कहलाता हैं।[128]

(2) प्रमादाचरण :-

बिना प्रयोजन पृथ्वी खोदना, पानी बहाना, बिजली जलाना, पंखा चलाना, आग जलाना, वनस्पति काटना/तोडना पशु युद्ध, वैर विरोध आदि प्रमादचर्या हैं। तथा मद्य (मदिरादि), विषय, कषाय, निद्रा, विकथा, जुआ, अप्रतिलेखना (पडिलेहण नहीं करना), अज्ञान संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष स्मृतिभ्रंश, धर्म में अनादर/अनुद्यम, मन-वचन-काया का दुष्प्रणिधान भी प्रमादाचरण हैं।[129]

(3) हिंसादान :-

अस्त्र-शस्त्रादि, तथा हिंसक उपकरणों का आदान-प्रदान तथा व्यापार हिंसादान हैं।[130]

(4) पापोपदेश :-

हिंसा, युद्ध, चौर्य, व्यभिचार आदि तथा कुव्यापारादि के लिए दूसरें को प्रेरित करना, 'पापोपदेश' कहलाता हैं।[131]

अनर्थदण्ड व्रत के पाँच अतिचार :-

यहाँ अनर्थ दण्ड के इन चार प्रकारों के साथ पाँच अतिचार भी वर्णित हैं, जो निम्नानुसार हैं-

(1) **कन्दर्प** - कामवासना को उत्तेजित करनेवाली चेष्टाएँ करना या काम-भोग संबंधी चर्चा करना।

(2) **कौत्कुच्य** - हाथ, मुँह, आँख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना।

(3) **मौखर्य** - अधिक वाचाल होना, शेखी बघारना तथा बातचीत में अपशब्दों का उपयोग करना आदि।

(4) **संयुक्ताधिकरण** - हिंसक साधनों को अनावश्यक रुप से संयुक्त (तैयार) करके रखना, जैसे-बंदूक में कारतूस या बारुद भरकर रखना। इससे अनर्थ की संभावना अधिक होती है। हिंसक शस्त्रों का निर्माण, संग्रह और क्रय-विक्रय भी दोषपूर्ण हैं।

(5) **उपभोगपरिभोगातिरेक** - भोग्य सामग्री का आवश्यकता से अधिक संचय करना।[132]

सामायिक व्रत :-

यह गृहस्थ का प्रथम शिक्षाव्रत हैं। 'सामायिक' के विषय में पूर्व में सम्यक् चारित्र के प्रकरण में विवेचन किया जा चुका हैं।

---

124. अ.रा.भा. 2/931
125. अ.रा.पृ. 2/930; उपासक दशांग-1 अ.
126. अ.रा. 1/284; सावय पण्णत्ति-289, 290; योगशास्त्र 3/96
127. अ.रा. 1/284, 285; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-393
128. अ.रा. 1/284; का.अ. 367; रत्नकरंडक श्रा. 78
129. अ.रा. 5/479, 480 एवं 1/284; र.क.श्रा. 80
130. अ.रा. 1/284; का.अ.-367
131. अ.रा. 5/877-879, 1/284; का अनु.-346
132. अ.रा. 1/285; तत्त्वार्थ सूत्र-7/17

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशावकाशिक व्रत :-

दिग्व्रत नामक प्रथम गुणव्रत में यावज्जीव/वर्षभर/चातुर्मास के लिए दशों दिशाओं में गमन की जो सीमा (मर्यादा) निश्चित की हो, उसमें से भी दिन/रात्रि/प्रहर/मुहूर्त के लिए सीमित करना (संक्षेप करना) देशावकाशिक व्रत कहलाता हैं।[133]

इस व्रत को धारण करते समय श्रावक अपनी आवश्यकता और प्रयोजन के अनुसार सीमा बाँध लेता है कि मैं अमुक समय तक अमुक स्थान तक ही लेन-देन का संबंध रखूँगा। उससे बाहर के क्षेत्र से वह न तो कुछ मंगवाता है, न ही भेजता है, यही उसका देशव्रत है। इच्छाओं को रोकने का यह श्रेष्ठ साधन हैं।[134]

वसुनंदी श्रावकाचार में भी कहा है कि जिस देश में जाने से किसी भी व्रत का भङ्ग होता हो या उसमें दोष लगता हो उस देश में जाने की नियमपूर्वक निवृत्ति देशावकाशिक व्रत हैं।[135] यहाँ देशावगासिक व्रत में दिग्व्रत के संक्षेपकरण लक्षण से अन्य भी सभी व्रतों का संक्षेप समझ लेना चाहिए।[136]

देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचार[137] :-

(1) **आनयन प्रयोग** - मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मंगवाना आदि,

(2) **प्रेष्य प्रयोग** - मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना या ले जाना,

(3) **शब्दानुपात** - निर्धारित क्षेत्र के बाहर किसी को शब्द से संकेत करना,

(4) **रुपानुपात** - हाथ आदि अंगों से संकेत करना,

(5) **पुद्गल-प्रक्षेप** - बाहर खडे हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय बताने के लिए कंकड आदि फेंकना। इनमें से प्रथम दो अतिचार शीघ्रबाजी से और शेष तीन माया के कारण लगने की संभावना रहती हैं।

पौषधोपवास व्रत :-

'पौषध' और 'प्रोषध' -ये दोनों ही शब्द 'पर्व' (पर्वतिथियों) के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अभिधान राजेन्द्र कोश में 'पोसह' शब्द का संस्कृत समानान्तर शब्द 'पौषध' भी लिया गया हैं। 'पौषध' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने कहा है कि "अष्टमी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, अमावस्या - इन पर्व के दिनों में अनुष्ठेय व्रत विशेष को पौषध कहते हैं।"

इह पौषधशब्दो रूढया पर्वसु वर्तते, पर्वाणि चाष्टम्यादितिथयः, पूरणात् पर्व, धर्मोपचय-हेतुत्वादित्यर्थ, पौषधे उपवसने पौषधोपवासः नियमविशेषाभिधं चेदं, पौषधोपवास इति।[138]

इसी प्रकार का कथन तत्त्वार्थवार्तिक में भी आया हैं-

प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची।[139]

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने पौषध शब्द की व्याख्या में धर्मसंग्रह के निम्नांकित श्लोक को उद्धृत किया हैं-

आहारतनुसंस्कार ब्रह्मसावद्यकर्मणाम्।
त्यागः पर्वचतुष्ट्यां तद्विदुः पौषधव्रतम्॥[140]

अर्थात् पर्वतिथि के दिन आहार, शरीर, सत्कार, अब्रह्म और सावद्य कर्म (व्यवहार) के त्याग को विद्वान् लोग 'पौषध व्रत' कहते हैं।

पौषध में आहार, शरीर-सुश्रुषा/संस्कार, अब्रह्म तथा आरम्भ का त्याग किया जाता हैं। इसमें आहार का त्याग एकदेश या सर्वथा होता है, शेष का सर्वदेश त्याग किया जाता हैं।[141]

'पौषध' के समानान्तर 'पोषध' शब्द का भी अर्थ व्रतविशेष किया गया हैं-

अष्टमीचतुर्दशी - पौर्णमास्यमावस्यापर्वदिनानुष्ठेयव्रतविशेषे।[142]

'पोषध' शब्द की निरुक्ति देते हुए कहा गया है कि जिससे धर्म की पुष्टि हो उसे पोषध कहते हैं-

पोषं पुष्टिं प्रक्रमाद् धर्मस्य धत्ते करोतीति पोषधः।[143]

पौष + धाञ् = पौषध, पौष अर्थात् गुण। गुण की दृष्टि को धारण करने वाला 'पौषध' कहलाता हैं।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में प्रोषध शब्द का प्रयोग है-

पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु।[144]

पौषध का स्वरुप :-

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार पौषध दिन या रात का या दिन-रात का एक साथ लिया जा सकता है अर्थात् पौषध एक साथ चार या आठ प्रहर का लिया जा सकता हैं। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में प्रोषधोपवास को 16 प्रहर का माना हैं-

चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृदुक्तिः।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥[145]

अर्थात् उपवास के पूर्व एवं उपवास के बाद एक बार भोजन करना, इसे प्रोषध कहते हैं। इस प्रकार, सोलह प्रहर तक भोजनादि छोडकर उपवास करना प्रोषधोपवास हैं।

पौषध के प्रकार :-

पौषध द्वारा सामायिक की प्रतिज्ञा का स्वीकार होने से पौषध में सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता हैं। एक ही पौषध में चार पौषध होत हैं-

(1) आहार पौषध :-

यह पौषध सर्वांग से अथवा एकदेश (आंशिक रुप) से लिया जाता हैं। चतुर्विध (चोविहार) उपवास युक्त पौषध में आहार का सर्वथा त्याग किया जाता हैं। और एकदेश से हो तो त्रिविधाहार (तेविहार) उपवास (जिसमें केवल उबला हुआ पानी पिया जा सकता हैं) या आयंबिल, निवी (इसमें मक्खनरहित छाछ अथवा लालमिर्च और पिसी हुई हल्दी के साथ सूखी सब्जी उपयोग में ली जा सकती हैं; शेष विधान आयम्बिल के समान है), या एकाशन किया जाता है। पौषध में कम से कम एकाशन का प्रत्याख्यान अनिवार्य हैं।

133. अ.रा. 4/2633; योगशास्त्र 3/84; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-367
134. कार्तिकेय अनुप्रेक्षा-367, 368
135. वसुनंदी श्रावकाचार-215
136. अ.रा.पृ. 4/2633; स्थानांग-4/3; योगशास्त्र-3/84 की व्याख्या पृ. 280
137. अ.रा.पृ. 4/2633; तत्त्वार्थ सूत्र-7/27; योगशास्त्र-3/116
138. अ.रा. 5/1133
139. अ.रा.पृ. 7/21/8
140. धर्मसंग्रह, अधिकार-1/39
141. अ.रा.पृ. 5/1133-37-39; पञ्चास्तिकाय-1/30
142. अ.रा.पृ. 5/1132
143. अ.रा.पृ. 5/1132-33
144. रत्नकरण्डकश्रावकचार 5/109
145. रत्नकरण्डकश्रावकचार 5/99

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) शरीर सत्कार-पौषध:-

यह पौषध सर्वाङ्गीण रुप से लिया जाता हैं। पौषध में या पौषध लेने के लिए किसी भी प्रकार का शारीरिक सत्कार, स्नान श्रृंगार आदि नहीं किया जा सकता। पौषध के लिए परमात्मा की द्रव्य पूजा अनिवार्य नहीं हैं।

(3) अव्यापार-पौषध:-

पौषध में संसार संबंधी समस्त प्रकार की सभी प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता हैं।

(4) ब्रह्मचर्य पौषध :-

पौषध में अब्रह्मचर्य (मैथुन) का सर्वथा त्याग किया जाता है अर्थात् पौषध में संपूर्ण ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य हैं। पौषध में स्त्री, तिर्यंचादि का संघट्ट न हो, इस हेतु भी पूर्ण सावधानी रखनी होती है। स्त्रीकथा आदि विकथाओं का भी संपूर्ण त्याग होता है, ब्रह्मचर्य की नव वाडों का पूर्णतया पालन किया जाता है अन्यथा पौषध व्रत का भङ्ग होता हैं।

जो श्रावक पौषध करता है, उसे नियमपूर्वक सामायिक करनी चाहिए और सामायिक में पुस्तक पठन-पाठन या धर्मध्यान ध्याते हुए एसी भावना से मन को भावित करना चाहिए कि, इस प्रकार के (तप-त्यागादि) साधुगुण उत्तम है, पर मैं मंदभागी इसे हंमेशा धारण करने में असमर्थ हूँ।[146]

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि श्रावक को प्रत्येक मास की दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों ही पर्वों में अपनी शक्ति न छिपाकर सावधानीपूर्वक पौषधोपवास/पौषध करना चाहिए।[147]

पौषध का फल :-

पौषध व्रत का फल प्रतिपादित करते अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने कहा है कि, कोई यदि मणि-स्वर्ण के 1000 खम्भोंवाला, मणि-कांचन के सोपान और स्वर्ण के फर्शवाला जिनमंदिर बनवाये तो भी तप-संयम/पौषध व्रत इससे भी अधिक फलदायी हैं।

आठ प्रहर के एक पौषध में भी अङ्क से भी 27,77,77,77,777,77 और 7/9 पल्योपम वर्ष का देवलोक का आयुष्य बँधता है।[148]

शुभभावपूर्वक अप्रमत्त रहकर पौषध करनेवाले श्रावक के अशुभ कर्म, दु:खादि नष्ट हो जाते है, और नरक-तिर्यंच गति का नाश हो जाता है अर्थात् उसकी सद्गति होती हैं।[149]

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि, श्रावक जब तक सामायिक या पौषध में रहता है तब तक वह श्रावक होते हुए भी श्रमण तुल्य हैं।[150]

पौषध करने से लाभ[151] :-

(1) विषयासक्ति - मोहदशा के कारण जीवनभर साधु नहीं बन सकनेवालों को पर्वतिथि के पौषध जितना साधु जीवन का स्वाद मिलता हैं।

(2) जीव पाप से हल्का होता हैं।

(3) पौषध में धर्ममय जीवन यापन करने से मानव भव सार्थक होता हैं। धर्म की कमाई होती हैं।

(4) स्वादिष्ट भोजन रुप आहार, शरीर राग के कारण होनेवाला शरीर-सत्कार, पाँचों इन्द्रियों के विषयभोगरुप अब्रह्म और व्यापार-व्यवहाररुप जगत व्यवहार-पौषध में जाने से रुक जाती हैं।

(5) गुरुनिश्रा में पौषध करने से वैराग्य की ओर आकर्षण होता हैं।

(6) साधुओं की निर्मल-निश्चित-निर्भय-निष्पाप-निर्भ्रान्त अनेक प्रकार की साधनाएँ देखने से साधु होने का भाव जागृत होता हैं।

(7) विषय-कषाय मंद-मंदतर होते हैं।

(8) परिवार-रिश्तेदार आदि से मोह-ममत्त्व-आसक्ति कम होती हैं।

(9) जीव की भौतिक साधनों के प्रति परवशता-पराधीनता दूर होती हैं, साधनों के अभाव में भी स्वस्थता बनी रहती हैं।

(10) संसार के पापस्थान और राग-द्वेष के सामने धर्म भावना बनी रहती है और राग-द्वेष की तीव्रता कम होती हैं।

(11) दुन्वयी चिंता, टेन्शन, डिप्रेशन, हाई बी.पी आदि से प्राय: मुक्ति मिलती हैं।

(12) गुरु भगवंतो से धर्मतत्त्व का एवं हितकारी सिद्धांतो का ज्ञान प्राप्त होता हैं।

(13) सज्जन धार्मिक लोगों के साथ परिचय-मित्रता होती हैं।

(14) उत्तम धार्मिक व्यक्ति के रुप में प्रसिद्धि होने से जीव पाप कार्य से बचता है और धर्मकार्य में जुडता हैं।

(15) जिनाज्ञा का पालन होता हैं।

पौषध के अठारह दोष[152] :-

पौषध में निम्नोक्त कार्यों में से किसी भी प्रकार का कार्य करने से दोष लगता हैं-

(1) बिना पौषध के विरतिरहित श्रावक के द्वारा लाया हुआ आहार उपयोग में लेना।

(2) सरस आहार लेना।

(3) पारणा में रसग्राही सामग्री खाना।

(4) पौषध हेतु शरीर-श्रृंङ्गार करना।

(5) वस्त्रादि धुलवाना।

(6) आभूषण बनवाना या पहनना।

(7) वस्त्र रंगाना।

(8) शरीर पर से मैल उतारना

(9) शयन करना (दिन में)।

(10) स्त्री कथा करना।

(11) अपहार (चौर) कथा करना।

(12) राज कथा करना।

146. अ.रा. 5/1133; पञ्चास्तिकाय-1/30; आवश्यक बृहद्धवृत्ति 6/11
147. अ.रा. 5/1136-39; समणसुत्तं पृ. 270; रत्नकरंडक श्रावकाचार; पञ्चाशक विवरण-10/6
148. अ.रा. 5/1136; धर्मसंग्रह 2/39; विपाकसूत्र - सुबाहुकुमार अधिकार
149. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय-157
150. सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवई जम्हा।
एएणं कारणेणं, बहुसो सामाइय कज्जा ॥12॥
- श्रावक प्रतिक्रमण - 'सामाइय वयजुत्तो' सूत्रगाथा-2
151. मुनिपति चरित्र से उद्धरित (ले. अजित शेखरसूरि)
152. श्रावक कर्तव्य भाग-1 पृ. 109, 110

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(13) देश कथा करना।
(14) बिना प्रमार्जन किये या जीवयुक्त भूमि पर लघु नीति, बडी नीति विसर्जित करना।
(15) निन्दा करना।
(16) संसारी संबंधीजनों से वार्तालाप करना।
(17) चोर संबंधी बातचीत करना।
(18) स्त्री के अंगोपाङ्ग आदि देखना।

पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार[153] :-

(1) **अप्रतिलेखित/दुष्प्रतिलेखित-शय्या संस्तार** - बिना देखे-भाले शय्या आदि का उपयोग करना।
(2) **अप्रमार्जित/दुष्प्रमाजित शय्या संस्तार** - अप्रमार्जित शय्या का उपयोग करना।
(3) **अप्रतिलेखित/दुष्प्रतिलेखित उच्चार** - प्रसवण (परठने के लिए निर्जीव भूमि)भूमि को अच्छी तरह से देखे बिना शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।
(4) **अप्रमार्जित/दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रसवण भूमि** - अप्रमार्जित शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना।
(5) **पौषधोपवास का सम्यग् रुप से पालन नहीं करना** - अर्थात् पौषध में निंदा, विकथा, प्रमादादि का सेवन करना, पारणादि की चिन्ता करना आदि।

अतिथिसंविभाग (अइ(ति) हि संविभाग) :-

'अइहि संविभाग' शब्द अभिधान राजेन्द्र कोश के प्रथम भाग में पृष्ठ 33 पर प्रयुक्त हैं। यह अतिथि-संविभाग शब्द दो खण्ड से बना है अतिथि + संविभाग।

'अतिथि' शब्द का सामासिक अर्थ है : नास्ति तिथि यस्य (आगमनस्य) सः। अर्थात् जिसके आगमन की कोई समय निश्चित न हो, उसे अतिथि कहते हैं। सम् = उचित, वि = विशेष प्रकार का, भाग = अन्न रुप भाग होता हैं।[154]

लोक में तो गृहस्थ के घर जो भी साधु, संन्यासी, तापस, भिक्षुक और परिचित या अपरिचित व्यक्ति का सूचनापूर्वक या बिना सूचना के आगमन हो जाय उसे अतिथि कहते हैं। लेकिन 'अतिथि' शब्द जैन सिद्धांतानुसार श्रावकधर्म के व्रत से सम्बन्धित होने से आचार्य विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने अभिधान राजेन्द्र कोश में 'अतिथि' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है - तिथिपर्व आदि समस्त लौकिक पर्व के त्यागी वीतराग प्रणीत चारित्र के आराधक जैन साधु श्रावक के घर भोजन के समय उपस्थित हो जाये, उसे 'अतिथि' कहते हैं।[155] आचार्यश्री के अनुसार एसे अतिथि साधु को जिसमें प्राणीवधादि हिंसा न हुई हो - एसे निर्दोष और न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त आहार उद्गमादि के आधाकर्मादि दोष से रहित, पश्चात्कर्मादिक दोष उत्पन्न न हो, इस तरह सविशेष अन्न, जल, स्वादिम, खादिम आदि चारों प्रकार के आहार का दान करना, अतिथिसंविभाग हैं।[156]

'श्राद्धगुणविवरण' में भी कहा है - ''न्यायथी प्राप्त थयेलां अने कल्पनीय एवा अन्नपानादिक द्रव्योनुं परमभक्तिए अने आत्मानो उपकार थशे - एवी बुद्धिए साधुओंने जे दान आपवुं तेने मोक्षफल आपनारो 'अतिथि संविभाग' कहे छे।'[157] हेमचन्द्राचार्यने भी गृहस्थ द्वारा साधु को चारों प्रकार के आहार का दान देना - अतिथि संविभाग कहा हैं।[158]

न्यायोपार्जित प्रासुक, कल्प्य अन्न, जल, वस्त्रादिक का देश, काल, श्रद्धा, सत्कार तथा क्रमपूर्वक उत्कृष्ट भक्ति द्वारा अपनी आत्मा के अनुग्रह की बुद्धि से साधु को दान देने का नियम ग्रहण करना अतिथि संविभाग व्रत कहलाता हैं। यह श्रावक का बारहवाँ व्रत है। शिक्षा ग्रहण करने योग्य एवं शिक्षाव्रतों में चतुर्थ स्थान पर होने से उसका अपरनाम चतुर्थ शिक्षाव्रत हैं।[159]

विधि :-

व्रतधारी श्रावक यह व्रत पौषध के पारणा के दिन अवश्य करते हैं। उपवास सहित एक अहोरात्र पौषध ग्रहण करके दूसरे दिन एकाशन के तपपूर्वक यह व्रत करते हैं।

अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार श्रावक पौषध की जयणा कर सुबह की प्रथम पोरिसी पूर्ण होने पर उपाश्रय या जहाँ साधु भगवन्त विराजमान हो, वहाँ जाकर साधु को वंदन कर गोचरी हेतु निमंत्रण करे। साधु के घर पधारने पर सम्मुख जाकर 'पधारो-पधारो' -एसा कहकर घर में ले जाये। लकडी के पाट-पटिये आदि पर उन्हें बैठने हेतु विनंती कर वंदन करे। इसके बाद प्रदान करने योग्य शुद्ध, निर्दोष, कल्प्य आहार, देश, काल, श्रद्धा, सत्कार और क्रमपूर्वक आत्मानुग्रह की बुद्धिपूर्वक प्रदान करे। दान देने के बाद वन्दन करके वापिस द्वार तक या गली के नुक्कड तक कुछ कदम पहुँचाकर फिर घरमें आकर एक जगह स्थिर आसनपूर्वक बैठकर जो वस्तु साधु ने ग्रहण की है, उसी वस्तु से एकाशन करें। जो चीज साधु को दान नहीं दी, उसे भोजन में नहीं लेवें।[160]

आचार्यश्री ने आगे कहा है, यदि साधु का योग न हो तो भोजन के समय दिशावलोकन करते हुए मन में भावना भावे कि यदि साधु भगवन्त का योग होता तो भवसागर से हमारा निस्तार होता। वर्तमान में यदि साधु का योग न हो तो व्रतधारी श्रावक की अन्नादि से भक्ति करके भी अतिथि संविभाग व्रत किया जाता हैं।[161]

शिक्षाव्रत का फल :-

इस प्रकार विधिपूर्वक ज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी अतिथि साधु की भक्ति करने से दान धर्म की आराधना होती है। साधुओं के प्रति प्रेम, बहुमान और भक्तिभाव बढते हैं। संयम की अनुमोदना से संयम धर्म का फल प्राप्त होता हैं। अर्थात इस लोक में श्रेष्ठ सुख-सौभाग्य, संपत्ति और परलोक में देव, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि की पदवी तथा परंपरा से मोक्ष की प्राप्ति होती हैं।[162]

अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार :-

इस व्रत के दोषों का विवरण करते हुए आचार्यश्रीने इस

153. अ.रा. 5/1137
154. पञ्चप्रतिक्रमण सूत्र सार्थ, पृ. 79
155. अ.रा.भा. 1/33, 'अइहि' शब्द
156. अ.रा.भा. 1/33, 'अइहि संविभाग' शब्द
157. श्राद्दगुणविवरण पृ. 15
158. योगशास्त्र 3/87
159. अ.रा.भा. 7/785
160. अ.रा.भा. 1/33; तत्त्वार्थ भाष्य-7/16; श्रावकजीवन दर्शन, श्रावकव्रत अधिकार
161. पञ्चप्रतिक्रमण सूत्र; पृ. 79
162. अ.रा.भा. 1/33-34

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार बताये हैं[163]-

(1) **सचित्त निक्षेप** - नहीं देने की बुद्धि से दान योग्य उचित पदार्थ को गेहूँ हरी वनस्पति आदि सचित पदार्थ में रखना।

(2) **सचित विधान** - दान नहीं देने की बुद्धि से देय वस्तु को सचित्त पदार्थ से ढँकना।

(3) **परव्यपदेश** - नहीं देने की बुद्धि से देय वस्तु स्वयं की होने पर भी उसे अन्य की बताना या देने की बुद्धि से अन्य की देय वस्तु को स्वयं की बताना।

(4) **मात्सर्य** - ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, क्रोध, या असम्मान से दान देना।

(5) **कालातिक्रम** - गोचरी काल बीत जाने के बाद में या भिक्षा काल होने से पूर्व ही साधु को भिक्षा हेतु निमंत्रण करना।

अणुव्रत : एक समग्र दृष्टि :-

व्रतधारी श्रावक को व्रत ग्रहण करने के बाद उसमें दोष न लगे, इसके लिए सावधानीपूर्वक ध्यान रखना चाहिए। अत: व्रत ग्रहण करते समय व्रती को व्रत में कहाँ, कब, कौन सा दोष लगने की संभावना हो सकती हैं। इस बात का ध्यान अवश्य होना चाहिए।

इस प्रकार अभिधान राजेन्द्र कोश में श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया गया हैं जिसका यहाँ पर संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

संसार के समस्त जीवों की रक्षा का उपदेश भगवान महावीर के प्रवचन की विशेषता हैं। परमात्माने समस्त जीवों की रक्षा के लिए अपना प्रवचन/उपदेश कहा हैं।

सर्वथा अहिंसा का पालन करने में असमर्थ श्रावक अहिंसाणुव्रत के रुप में त्रस जीवों की आंशिक हिंसा का त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करता। इसी प्रकार सत्याणुव्रत का पालक श्रावक आत्महत्यादि कारण से कन्या के विषय में तथा गायादि को कत्लखाने में भेजने रुप हिंसा के कारण गौ आदि के विषय में और इसी प्रकार जीव हिंसा या अन्य प्राणी को पीडाजनक तथा हानि रुप होने से अन्य विषयों में असत्य, निंदनीय, कठोर या हास्य वचन नहीं बोलता। परधनहरण से जिसका धन हरण किया जायेगा उसे पीडा होगी यावत् जानहानि आदि का भय होने से श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता हैं। जैनागमों में कहा है - स्त्री की योनि में 2 से 9 लाख संमूर्च्छिम द्वीन्द्रियादि जीव एवं 9 लाख संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय एवं असंख्य संमूर्च्छिम मनुष्य होते हैं जिनका पुरुष के संयोग से नाश होता हैं। जैसे रुई से भरी हुई नली में लोहे की तप्त शलाका डालने पर रुई का नाश होता है वैसे ही इन जीवों का भी नाश हो जाता हैं।[164] अत: श्रावक स्वस्त्री में भी मर्यादापूर्वक सांसारिक जीवन व्यतीत करता हुआ संतुष्ट रहता है और परस्त्रीगमन तथा कन्या, विधवा, वेश्या के साथ गमन का त्याग करता हैं। यही श्रावक का स्थूल मैथुनविरमण व्रत हैं।

परिग्रह की मूर्च्छा ही पाप का कारण है क्योंकि परिग्रह की प्राप्ति, उपभोग और रक्षा बिना मूर्च्छा या बिना आरंभ-समारंभ के कतई नहीं हो सकती और आरंभ-समारंभ में जीव हिंसा अवश्यंभावी है अत: श्रावक गृहस्थावस्था में समग्र परिग्रह का त्याग करने में असमर्थ होने से परिग्रह को मर्यादित करने पूर्वक स्थूल परिग्रह परिमाण/इच्छा परिमाण व्रत को धारण करता है। दिक्परिमाण व्रत भी इसी व्रत का पूरक है जिसमें श्रावक गमनागमन की तथा वहाँ से वस्तु मंगवाने की मर्यादा करता हैं। इससे जैसे यूरोपवासियोंने गरीब और अविकसित देशों में जाकर व्यापार के बहाने वहाँ के लोगों को लूंटा; उपनिवेश बसाये, साम्राज्य किया और दो-दो विश्व युद्ध किये तथा तृतीय विश्वयुद्ध की स्थिति खडी की वैसी स्थितियों से और तज्जनित शोषण, पीडा और जीवहिंसा रुप कार्यो और उससे होनेवाले अशुभ कर्मबंध से श्रावक बच जाय।

इसी प्रकार सातवाँ भोगोपभोग/उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत भी इसी का पूरक व्रत हैं। इस व्रत के पालन में श्रावक भोगोपभोग में आनेवाले पदार्थों को भी मर्यादित करता है तथा पंद्रह प्रकार के कर्मादान/कुव्यापार का त्याग करता है, जिससे जीवहिंसा और जीवहिंसामय व्यापार से श्रावक बच जाता है। पर्यावरण सुरक्षित रहता हैं। प्रकृति का अनाप सनाप विनाश रुकता हैं। प्राकृतिक संतुलन से चक्रवात, भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशय गरमी, जल भंडारों की कमी, खाद्य पदार्थ एवं ईधन की कमी, रोगोत्पत्ति, जनहानि, पशु आदि जीव हानि आदि से बचा जा सकता हैं। आठवें अनर्थदण्ड व्रत का पालक श्रावक अहिंसा व्रत के पालन के लिए ही बिना कारण मिट्टी खोदना, नल को खुला छोडकर अनावश्यक पानी ढोलना, बिना कारण पेड-पौधे काटना, फूल-पत्ते तोडना, आग जलाना, पापोपदेश देना, हिंसक कार्य करनेवालों को सहयोग करना, हिंसा के साधन/हिंसक उपकरण का आदान-प्रदान करना आदि कार्यों का त्याग करता हैं।

सामायिक में तो श्रावक सर्वसावद्य व्यापारों का त्याग करने में साधु जैसा है। देशावकाशिक व्रत में श्रावक न केवल दिग्व्रतादि में रखी मर्यादा का भी संक्षेप करता है, अपितु व्यवहार में तो सामायिक पूर्वक ही देशाकाशिक व्रत किया जाता है जिसमें व्रती श्रावक तीन सामायिक, छ: सामायिक या दश सामायिक तक धर्मध्यान करता हैं। पौषध भी सर्वसावद्य के त्यागपूर्वक सामायिक सहित किया जाता हैं। प्रकारान्तर से पौषध साधुजीवन का लघुरुप है। अतिथिसंविभाग व्रत भी पौषधपूर्वक किया जाता हैं, अत: इन चारों व्रतों में सामायिकपूर्वक आराधना की जाने के कारण जीवदया का सविशेष पालन होता हैं।

इस प्रकार जैनधर्म में श्रावकों के ये 12 व्रत अहिंसा पालन के लिये ही हैं। आचारांग सूत्र में कहा है - **"जे अईया, जे पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे इवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परुवयंति - सव्वेपाणा सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न वज्झावेयव्वा, न परितावेयव्वा, न उवद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए सासए समिच्च लोयं खेयन्नेहि पवेइए।"** इत्यादि अतो अस्या एव रक्षार्थे शेषव्रतानि। तथा चाह-

"अहिंसैव मता मुख्या, स्वर्गमोक्ष प्रसाधनी।
अस्या संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादि पालनम्॥"[165]

163. तत्त्वार्थ भाष्य-7/16 पर तत्त्वार्थभाष्य
164. संबोधसत्तरी प्रकरण-82 से 87
165. अ.रा.पृ. 4/2457 'दयालु' शब्द

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक व्रत ग्रहण विधि :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने श्रावक को उपरोक्त सम्यक्त्वादि द्वादशव्रत उच्चारण/ग्रहण करने-करवाने की विधि का वर्णन करते हुए कहा है -

गृहस्थ श्रावक योग, वंदन, निमित्त, दिशा और आकार की विशुद्धिपूर्वक और योग्य उपचर्यापूर्वक गुरुमुख से अणुव्रतादि द्वादश श्रावक व्रत रुप सद्धर्म को ग्रहण करें।

(1) **योगशुद्धि** - मन से शुभ चिन्तन, शुभ भावना, वचन से निरवद्यभाषण, काया से उपयोग/जयणापूर्वक गमनागमनादि प्रवृत्ति

(2) **वंदनशुद्धि** - अस्खलितरुप से भावपूर्वक खमासमण, कायोत्सर्गादि क्रिया

(3) **निमित्तशुद्धि** - शंख ध्वनि, मंगल बाजे बजाना, पूर्ण कलश, भृंगारकलश (जलधारायुक्त कलश), छत्र, ध्वज, चामर, सुगंधी, पुष्पादि पदार्थ या सुगंध आदि शुभ शकुन

(4) **दिक्शुद्धि** - पूर्व दिशा, उत्तर दिशा, जिन चैत्य का सामीप्य, जिन चैत्यवाली दिशा का आश्रय करना अर्थात् पूर्वमुख-उत्तरमुख या जिनचैत्य, जिन प्रतिमा की ओर मुख करके रहना।

(5) **आकार शुद्धि** - प्रत्याख्यान करते समय राजाभियोगादि को ग्रहण करना जिससे व्रत भङ्ग का प्रसङ्ग उपस्थित न हो।

उपचर्या :-

सुदेव-गुरु साधुर्मिक और स्वजन को यथायोग्य धूप-पुष्प, वस्त्र, विलेपन, आसनदान, पूजा, सत्कार एवं दीन-हीन-अनाथ को अनुंपादान देना।

इस प्रकार योगादि शुद्धि और देव, गुरु, साधर्मिक और स्वजन तथा संघ की यथायोग्य उपचर्या एवं दीन-अनाथ को दान देने पूर्वक जिनभवनादि प्रशस्त स्थान में प्रशस्त तिथि-करण-नक्षत्र-मुहूर्त-चंद्रबल होने पर सुपरिक्षित शिष्य/गृहस्थ को आचार्य व्रतोच्चारण करावें। सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायिक की आरोपण विधि में आचार्य भगवंत नन्दीकरावण (एक प्रकार की विधि), देववंदन, गुरुवंदन, कायोत्सर्ग आदि क्रिया शास्त्रोक्त विधिपूर्वक करवाकर तीन बार संबंधित व्रत प्रत्याख्यान के सूत्रपाठ पूर्वक व्रतोच्चारण करावें, वासक्षेप करें। इसकी विस्तृत विधि प्रवज्याविधि, उपधान विधि संबंधी ग्रंथों से एवं अभिधान राजेन्द्र कोश से जानना चाहिए।[166]

166. अ.रा.पृ. 1/417, 418

जिणवयण

जिणवयणमोदगस्स उ, रत्तिं च दिवा य खज्जमाणस्स ।
तित्तिं बुहो न गच्छइ, हेउसहस्सोवगूढस्स ।।1।।
नरनारयतिरियसुरगण - संसारियसव्वदुक्खरोगाणं ।
जिणवयणमेगमोसह - मपवग्गसुद्धक्खयं फलयं ।।2।।

– अ.रा.पृ. 2/131

सव्वनदीणं जो होज्ज वालुया, सव्वउदहीण जं उदयं ।
एत्तोवि अणंतगुणो, अत्थो एगस्स सुत्तस्स ।।1।।

– अ.रा.पृ. 2/131

'सो उ पमाणं सुयहराणं'

तित्थयरे भगवंते, जगजीववियाणए तिलोयगुरु ।
जो ण करेइ पमाणं, न सो पमाणं सुयहराणं ।।१।।
तित्थयरे भगवंते जगववियाणए तिलोयगुरु ।
जो उ करेइ पमाणं, सो उ पमाणं सुयहराणं ।।२।।

– अ.रा.पृ. 6/921

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासक प्रतिमा

'प्रतिमा' शब्द का वाच्यार्थ :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजीने 'पडिमा' शब्द के अन्तर्गत 'प्रतिमा' शब्द के सद्भाव-स्थापना, बिंब, प्रतिबिंब, जिनप्रतिमा और प्रतिज्ञा - इतने अर्थ बताये हैं।[1]

प्रतिमा के प्रकार :-

राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने प्रतिज्ञा अर्थवाली प्रतिमा का वर्णन करते हुए प्रतिमा के (1) श्रुतसमाधि प्रतिमा (2) उपधान प्रतिमा (3) विवेक प्रतिमा (4) व्युत्सर्ग/कार्योत्सर्ग प्रतिमा (5) भद्र प्रतिमा (6) सुभद्र प्रतिमा (7) महाभद्र प्रतिमा (8) सर्वतोभद्र प्रतिमा (9) क्षुद्रिका प्रतिमा (10) मोक प्रतिमा (11) यवमध्य चंद्र प्रतिमा (12) वज्रमध्यचंद्र प्रतिमा (13) शय्या प्रतिमा (14) वस्त्र प्रतिमा (15) पात्र प्रतिमा (16) स्थान प्रतिमा (17) तप प्रतिमा (18) धर्म प्रतिमा और (19) अधर्म प्रतिमा आदि अनेक भेद बताये हैं।[2]

उपासक प्रतिमा :-

राजेन्द्र कोश में उपासक प्रतिमा का वर्णन करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है -"**उपासते सेवन्ते साधून् इत्युपासकाः**।[3] अर्थात् जो साधुओं की सेवा करते हैं उन्हें उपासक कहते हैं। इसी विषय में आगे कहा है -"**उपासकाः श्रावकास्तेषां प्रतिमाः प्रतिज्ञा अभिग्रहविशेषाः उपासक प्रतिमाः**।"[4] अर्थात् 'उपासक' श्रावक को कहते हैं और उनके द्वारा की गई अभिग्रह विशेष की प्रतिज्ञा को प्रतिमां कहते हैं।

उपासक प्रतिमा और उसके भेद :-

राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने उपासक प्रतिमा को उपरोक्त प्रतिमा भेदों में से उपधान प्रतिमा के अन्तर्गत सम्मिलित करते हुए लिखा है -"।....उपधानं तपस्तत्प्रतिमा उपधान प्रतिमा.....एकादशोपासक प्रतिमाश्चेत्येवंरुपेति।"[5] राजेन्द्र कोश में आगे श्वेताम्बर जैनागमों के अनुसार उपासक प्रतिमा के ग्यारह भेद बताये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं-

1. दर्शन प्रतिमा 2. व्रत प्रतिमा 3. सामायिक प्रतिमा 4. पौषध प्रतिमा 5. प्रतिमा प्रतिमा/दिवा ब्रह्मचर्य रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा 6. पूर्ण ब्रह्मचर्य प्रतिमा 7. सचित्त त्याग प्रतिमा 8. आरम्भ त्याग प्रतिमा 9. प्रेषण (प्रेरणा, अनुमति) त्याग प्रतिमा (परिग्रह त्याग) 10. उद्दिष्टवर्जन और 11. श्रमणभूत प्रतिमा।[6]

आवश्यक चूर्णि में रात्रिभोजन परिज्ञा (त्याग) को पाँचवीं, सचित्ताहारपरिज्ञा को छट्ठी, दिवाब्रह्मचारी-रात्रिपरिमाणकृत-सातवीं, ब्रह्मचर्य आठवीं, सारंभपरिज्ञा नौवीं, प्रेष्यारम्भपरिज्ञा दसवीं, उद्दिष्टवर्जन- श्रमणभूत को ग्यारहवीं प्रतिमा कहा गया हैं।[7]

दिगम्बर परंपरा में भी उपासक की प्रतिमाएँ तो 11 ही मानी गयी हैं लेकिन उनके क्रम में कुछ भिन्नता है, यथा - (1) दर्शन (2) व्रत (3) सामायिक (4) पौषध (5) सचित्त त्याग (6) रात्रिभुक्ति त्याग (7) ब्रह्मचर्य (8) आरंभ त्याग (9) परिग्रह त्याग (10) अनुमति त्याग (11) उद्दिष्ट त्याग।[8]

इस प्रकार प्रथम चार प्रतिमाएँ दोनों परम्पराओं में समान हैं। प्रतिमा प्रतिमा का क्रम श्वेताम्बर परंपरा में पाँचवाँ और दिगम्बर परंपरा में छट्ठवाँ, ब्रह्मचर्य प्रतिमा का श्वेताम्बर परंपरा में छठा और दिगम्बर परंपरा में सातवाँ तथा सचित्त त्याग प्रतिमा का क्रम श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में पाँचवाँ हैं। दिगम्बर परंपरा में रात्रिभुक्ति त्याग को स्वतंत्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परंपरा में पाँचवीं प्रतिमा में उसका समावेश होता हैं। दिगम्बर परंपरा में अनुमति त्याग को अलग प्रतिमा माना है जबकि श्वेताम्बर परंपरा में उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा के अन्तर्गत इसका समावेश किया हैं। दिगम्बर परंपरा में उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा के क्षुल्लक, एलक, एक गृहभोजी, अनेकगृहभोजी आदि अनेक भेद बताये हैं।[9] जबकि, श्वेताम्बर परंपरा में एसे कोई भेद नहीं है।

(1) दर्शन प्रतिमा :-

राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने सत्यधर्मरुचिवान्, कदाग्रह-कलंक रहित, शुक्लपाक्षिक, कुलाचारपूर्वक अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रत आदि का पालक, रागादि से निवृत्त होकर पोरिसी आदि का प्रत्याख्यान एवं पर्वतिथि पौषधादि करने पूर्वक भय, लोभ आदि के त्यागपूर्वक शंकादि दोष रहित, प्रशमादि लिङ्गपूर्वक स्थैर्यादि भूषण सह सम्यग्दर्शन का निरतिचार रुप से एक माह तक पालन करनेवाले श्रावक को दर्शन श्रावक कहा है और उसको इस प्रतिज्ञा विशेष को दर्शन प्रतिमा कहा हैं।[10]

राजेन्द्र कोश के अनुसार दर्शन श्रावक में आस्तिक्य, देव-गुरु की भक्ति, वैयावृत्त्य आदि गुण विशेष रुप से होते हैं।[11] आचार्य समन्तभद्र के अनुसार दर्शन श्रावक मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन और पाँच उदुम्बर फलों का त्यागी; अरिहंतादि पंच परमेष्ठी की स्तुति, जीवदया, जल गालन (पानी छानकर पीना) - इन आठ गुणों से युक्त होता हैं। भोगों के प्रति उदासीन एवं चलित रस (अचार) आदि का त्यागी होता है। साथ ही निन्द्य व्यवसाय का त्यागकर न्याय-नीतिपूर्वक व्यापार/व्यवसाय से ही अपने परिवार का भरण-पोषण करता हैं।[12]

(2) व्रत प्रतिमा :-

इस प्रतिमा वाले श्रावक सम्यक्त्वसहित पूर्वोक्त नियमों का पालन करते हुए पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करते हैं। तथा तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का भी पालन करते हैं। श्रावक

1. अ.रा.पृ. 5/332
2. अ.रा.पृ. 5/332
3. अ.रा.पृ. 2/1122
4. अ.रा.पृ. 2/1123
5. अ.रा.पृ. 5/332
6. वही, अ.रा.पृ. 2/1123., प्रवचनसारोद्धार 980
7. आवश्यक चूर्णि 153, प्रवचन सारोद्धार-पृ. 197 से उद्धृत
8. चरित्तपाहुड-गाथा-21
9. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश-2/189
10. अ.रा.पृ. 2/1123, 1130, अ.रा.पृ. 5/333; प्रवचनसारोद्धार-982
11. अ.रा.पृ. 2/1130
12. रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 137, 138; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-328

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार बारह व्रतों का नि:शल्य होकर निरतिचार पालन करता हैं। उसे व्रत श्रावक और उसकी प्रतिज्ञा को व्रत प्रतिमा कहते हैं।[13]

(3) सामायिक प्रतिमा :-

पूर्वोक्त नियमों के पालन सहित व्रती श्रावक तीन महिना तक दोनों संध्या[14] (प्रात: -सायं) 32 दोषों से रहित सामायिक करता है अर्थात् कम से कम 48 मिनिट तक एक स्थान पर बैठकर सर्वसावद्य योगों का त्याग कर सामायिक अंगीकार कर सर्व संकल्प-विकल्प छोडकर आत्म-चिन्तन करता हैं, इसे सामायिक प्रतिमा कहते हैं।[15] दिगम्बर परंपरा में आचार्य समन्तभद्रने अपने चारित्रपाहुड नामक ग्रंथ में सामायिक प्रतिमा धारक श्रावक को त्रिसंध्या-सामायिक करने का निर्देश किया हैं।[16]

(4) पौषध प्रतिमा :-

जो धर्म को पुष्ट करता है उसे पौषध कहते हैं।[17] पूर्वोक्त सभी नियमयुक्त श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमाआदि पर्वतिथियों के दिन प्राणातिपातादि सर्व सावद्य का त्याग करके उपवास सहित पौषध योग्य स्थान पर रहकर आहार, शरीर-सत्कार, अब्रह्मचर्य और व्यापार (गृहस्थी संबंधी व्यवहार) - इन चारों के त्याग रुप पौषध व्रत अंगीकार कर नियम पूर्वक रहते हैं, उसे पौषध व्रत कहते हैं।[18] श्रावक की चार माह तक इस प्रतिज्ञा के पालन को पौषध प्रतिमा कहते हैं।[19]

(5) प्रतिमा (दिवाब्रह्मचर्य-रात्रिभोजनत्याग प्रतिमा :-

पूर्वोक्त नियमों के साथ श्रावक स्नान एवं रात्रि भोजन का त्याग करता हैं। दिन में भी अंधकार वाले स्थान में भोजन नहीं करता है, कच्छ नहीं बांधता है। दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करता है और रात्रि में ब्रह्मचर्य का परिमाण (नियम) करता हैं।[20] पौषध में दिन और रात्रि में कायोत्सर्ग करता हैं।[21] पांच मास तक नियम पालन वाली यह श्रावक की पाँचवीं प्रतिमां हैं। इसके प्रतिमा-प्रतिमा, नियम प्रतिमा, दिवा ब्रह्मचर्य-रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा आदि नाम भी प्रख्यात हैं।[22]

(6) ब्रह्मचर्य प्रतिमा :-

उपरोक्त सभी नियमयुक्त श्रावक का छ: माह तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना और कच्छोट लगाना, छट्ठी ब्रह्मचर्य प्रतिमा हैं।[23] रत्नकरंडक श्रावकाचार में भी लिखा है कि, इस भूमिका में आने पर साधक स्त्रीमात्र के संसर्ग का त्याग कर, शरीर की अशुचिता को समझकर काम से विरत होकर यौनाचार का सर्वथा परित्याग कर देता हैं।[24] ब्रह्मचारी बनने के बाद वह खान-पान एवं रहन-सहन में अधिक सादगीपूर्वक और गृहकार्यों में उदासीन रहता हैं।

(7) सचिताहार त्याग प्रतिमा :-

पूर्वोक्त सभी नियमों का पालन करते हुए सात महीने तक सचित्त (अप्रासुक) आहार-पानी का त्याग करना श्रावक की सातवीं प्रतिमा हैं।[25] इस प्रतिमा को धारण करनेवाला श्रावक मूल, फल, साग-सब्जी, बीज आदि वनस्पति के किसी भी अंग/अंश को अग्नि से बिना संस्कारित किये नहीं खाता। जल भी उबालकर ही पीता हैं।[26]

(8) आरम्भ-त्याग प्रतिमा :-

पूर्वोक्त नियमों के साथ आठ महिने तक पृथ्वी आदि समस्त जीवों से संबंधित समस्त-आरंभ-समारंभ का त्याग करना, श्रावक की आठवीं प्रतिमां हैं।[27] आरंभ-विरत श्रावक व्यापार, खेती-बाडी, नौकरी आदि सब छोड देता हैं और पूर्व में अर्जित अपनी सीमित संपत्ति से ही स्वयं का जीवन-निर्वाह करता हैं।[28]

(9) प्रेष्य-त्याग प्रतिमा :-

पूर्वोक्त नियम सहित नौ महीन तक नौकर-सेवक या पुत्रादि या अन्य कोई से भी किसी भी प्रकार के आरंभ-समारंभ कराने का त्याग करना प्रेष्य-परिज्ञा नामक नौवीं प्रतिमा हैं।[29]

(10) उद्दिष्ट-भक्त परिज्ञा :-

पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ दस महीने तक अपने निमित्त से बनाये गये आहारादि का त्याग करना श्रावक की दसवीं प्रतिमां हैं।

आरंभ-समारंभ और करण-करावण का त्यागी श्रावक जब उद्दिष्ट भक्त परिज्ञा (त्याग) प्रतिमा को धारण करता हैं तब वह अपने निमित्त से बनाये हुए किसी भी प्रकार के आहार का त्याग कर देता हैं। वह क्षुर-मुण्ड अर्थात् शिखा सहित मुण्डन करवाता हैं। उदासीन भाव से घर में रहता है परंतु उसका अधिकांश समय धर्म ध्यान, सामायिकादि में बीतता हैं। गृहकार्य में पुत्रादि किसी के द्वारा कोई बात पूछे जाने पर यदि उसे ज्ञात हो तो 'जानता हूँ' - एसा और ज्ञात नहीं हो तो 'नहीं जानता हूँ' - एसा कहता हैं।[30]

(11) श्रमणभूत प्रतिमा :-

पूर्वोक्त सभी नियमों के साथ ग्यारह माह तक मुण्डित सिर होना या लोच कराना, पास में रजोहरण (खुल्ली दंडीवाला चरवला) तथा मुखवस्त्रिका (मुहपत्ती) रखकर साधु के समान जयणापूर्वक वर्तन और उपाश्रयादि में रहना, आहार के समय अपने कुल, गोत्र या जाति में ही भिक्षावृत्ति से आहारादि ग्रहण करना और साधुओं की तरह, घर छोडकर समिति-गुप्ति का पालन करते हुए विभिन्न गाँवो में विहार करना - यह श्रावक की श्रमणभूत नामक ग्यारहवीं प्रतिमां हैं।[31]

---

13. अ.रा.पृ. 5/333; रत्नकरंडक श्रावकाचार-53, अ.रा.पृ. 2/1131;
14. अ.रा.पृ. 2/1131; पंचाशक सूत्र 10 विवरण
15. अ.रा.पृ. 2/1131, प्रवचन सारोद्धार-983
16. चारित्र पाहुड टीका-गाथा 25
17. अ.रा.पृ. 2/1123
18. वसुनंदि श्रावकाचार टीका-गाथा 378; रत्नकरंडक श्रावकाचार-106; प्रवचन सारोद्धार-983, 84
19. अ.रा.पृ. 2/1124
20. क. अ.रा.पृ. 2 /1124
    ख. वसुनंदि श्रावकाचार गाथा 296; रत्नकरंडक श्रावकाचार गाथा - 147; प्रवचन सारोद्धार-985, 86, 89
21. साधुप्रतिक्रमण सूत्र - सार्थ, पृ. 20 - ले. श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि
22. अ.रा.पृ. 2/1124
23. वही
24. रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 143; प्रवचनसारोद्धार 988
25. अ.रा.पृ. 2/1124; प्रवचनसारोद्धार, 989
26. रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 141; कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 381
27. अ.रा.पृ. 2/1124; रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 144; प्रवचनसारोद्धार, 990
28. जैन धर्म और दर्शन, पृ. 278 - ले. मुनि प्रमाणसागरजी
29. अ.रा.पृ. 2/1134; प्रवचनसारोद्धार 990
30. अ.रा.पृ. 2/1134, प्रवचन सारोद्धार, 991, 992
31. - अ.रा.पृ. 2/1136 प्रवचन सारोद्धार-993, 994
    अ.रा.पृ. 333; साधुप्रतिक्रमण सूत्र - सार्थ, पृ. 20, 21 - ले. श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणभूत प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को यदि कोई पूछे कि, "आप कौन हैं ?" तब "मैं प्रतिमाचारी श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ" एसा कहे। आहार-पानी हेतु यह श्रावक काष्ठ के पात्र एवं मिट्टी का घडा उपयोग में लाता है।[32] यह श्रावक जब गृहस्थ के घर में गोचरी वहोरने हेतु (आहार-पानी ग्रहण करने के लिए) प्रवेश करे तब वहाँ साथ में यदि कोई साधु न हो तो 'इस प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो' -एसा कहे। उसी समय यदि कोई साधु यदि धर्मलाभ कहें तो प्रतिमाधारी श्रावक कुछ भी न कहें।[33]

इस प्रकार श्रमणभूत प्रतिमाधारी श्रावक गाँव-गाँव एक-द्वि-त्रिरात्रि यावत् मासकल्पानुसार विहार करता हैं। इस प्रतिमा का जधन्य कालमान प्राय: एक अहोरात्र कहा है जो कि, प्रतिमाधारी श्रावक का उसी अवस्था में देहत्याग या प्रवज्या/दीक्षा ग्रहण करने की स्थिति में संभव हैं। प्राय: कहने से अन्तमुहूर्तादि काल भी संभव हैं।[34]

दिगम्बर परंपरा में श्रमणभूत प्रतिमा की जगह 'उद्दिष्ट-त्याग' प्रतिमा श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमां हैं। इस भूमिकावाला साधक गृह त्यागकर मुनियों के पास रहने लगता हैं तथा भिक्षावृत्ति से अपना जीवन बीताता हैं। इस प्रतिमा के क्षुल्लक एवं एलक दो भेद हैं-

क्षुल्लक :-

क्षुल्लक का अर्थ होता है छोटा। मुनियों से छोटा साधक को क्षुल्लक कहते हैं। यह घर छोडकर मुनियों के पास संघ में रहता हैं तथा मुनियों की सेवा सुश्रुषा एवं स्वाध्याय में लगा रहता हैं।[35] क्षुल्लक पात्र में और कभी पाणिपात्र में भोजन करता हैं। प्राय: केशलोंच और कभी कैंची से भी बाल कटवाता है। वस्त्र में लंगोटी और ऊपर एक खंडवस्त्र धारण करता हैं। इस क्षुल्लक के भी दो भेद होते हैं - (1) एक गृहभोजी (2) अनेक गृहभोजी।[36]

अनेक गृहभोजी क्षुल्लक भिक्षावृत्ति करके भोजन करता हैं। श्रावकों के घर जाकर 'धर्मलाभ' कहने पर यदि वह श्रावक यदि कुछ प्रासुक आहार दे दे तो वह ग्रहण करता है, अन्यथा बिना किसी विषाद के आगे बढ जाता हैं। इस प्रकार पाँच-सात घरों में अपने योग्य पर्याप्त भोजन प्राप्त होने पर गृहपति से पानी मांगकर वहीं बैठकर अपने पात्र में भोजन करता हैं; अपने बर्तन अपने हाथ से साफ करता हैं। और भोजन के पश्चात् गुरु के पास जाकर अगले दिन तक के लिए चारों आहार का त्याग (प्रत्याख्यान) कर देता हैं।

एक गृहभोजी क्षुल्लक मुनियों के आहार के लिए निकलने के बाद चर्या के लिए निकलते हैं। आजकल एक गृहभोजी क्षुल्लक ही मिलते हैं।

एलक :-

एलक उद्दिष्ट त्यागी श्रावक का दूसरा भेद है। यह वस्त्र के रुप में मात्र लँगोटी धारण करता हैं।[37] अपने हाथ में अंजलि बनाकर दिन में एक बार भोजन करता हैं, तथा दो से चार माह के भीतर अपने सिर और दाढी-मूँछों के बालों को उखेडकर केशलोंच करता हैं।[38] एलक अपने हाथों में मयूर पंखों की बनी पिच्छिका रखता हैं।

प्रतिमाधारी श्रावक के गुण :-

प्रतिमाधारी श्रावक आस्तिक्य गुणयुक्त, गुरुदेव वैयावृत्यकारी, व्रती, गुणवान, लोकयात्रा, निवृत्त, लोक व्यवहार विरत, अनेक प्रकार से भावित संवेगमति, मोक्षाभिलाषवासित बुद्धिमान् होना चाहिए।[39]

दर्शनप्रतिमाधारक को अन्यमतावलम्बी ब्राह्मण, भिक्षुकादि को अनुकंपादि से तो दान देना योग्य है, परंतु गुरुबुद्धि से नहीं। इसी प्रकार कुलगुरु आदि अन्यलिङ्गी के विषय में भी समझना चाहिए।[40]

प्रतिमाधारी श्रावक को सातवीं सचित्त त्याग प्रतिमा तक चन्दन-पुष्पादि से जिन-पूजा करनी उचित हैं। आठवीं प्रतिमा तक तो निरवद्य होने से कर्पूरादि पूजा भी अनुचित नहीं हैं।[41]

प्रतिमा का कालमान :-

राजेन्द्र कोश के अनुसार एक-एक प्रतिमां में एक-एक महिना बढाने पर इन ग्यारह प्रतिमाओं को बिना व्यधान के अनुक्रम से एक साथ वहन करने का कुल कालमान साढे पाँच वर्ष अर्थात् 66 महीना हैं।[42]

प्रतिमा पालन से लाभ :-

राजेन्द्र कोश में आचार्यश्री ने लिखा है कि, जो श्रावक दशाश्रुतस्कंध में वर्णित उपरोक्त विधि के अनुसार ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का पालन करता है वह गृहस्थ भी साधु जैसा होता हैं। प्रतिमाधारी गृहस्थ गुणश्रेणी द्वारा असंख्यातगुण विशुद्ध होकर पाप को नष्ट करता हैं। और विशेष शुद्धि को प्राप्त करता हैं।[43]

---

32. साधुप्रतिक्रमण सूत्र, पृ. 21
33. अ.रा.पृ. 2/1124
34. अ.रा.पृ. 2/1136
35. रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 147
36. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, 2/189
37. वसुनन्दी श्रावकाचार, श्लोक 301
38. वसुनन्दी श्रावकाचार, श्लोक 311
39. (1....) आस्तिक्य गुरुदेववैयावृत्त्यनियमादिभिगुणैः। अ.रा.पृ. 2/1130 (1....) लोकव्यवहारविरतो लोकयात्रानिवृत्तस्तथा बहुशो अनेकशः संवेगभावितमतिश्च मोक्षाभिलाषवासितबुद्धिस्तथा पूर्वोदितगुणयुक्तो दर्शनादिगुणान्वितो....। -अ.रा.पृ. 2/1134
40. (1....) प्रथमश्राद्धप्रतिमायां दर्शनिद्विजादिभ्योऽनुकम्पादिना अन्नादि दातुं कल्पते न तु गुरुबुद्धयेति तत्त्वम्॥1॥ एवं कुलगुर्वादिसम्बन्धेनागतानां लिङ्गिनां दातुं कल्पते। -वही, पृ. 2/1136
41. 1....प्रतिमाधर श्रावकाणां सप्तमप्रतिमा यावच्चन्दनपुष्पादिर्हदर्चनमौचित्यं अञ्चति....कर्पूरादिपूजा तु अष्टम्यादिष्वपि नानुचितेति ज्ञायते तेषां निरवद्यत्वादिति।-वही पृ. 2/1136
42. वही, पृ. 2/1130
43. विधिना दर्शनाद् ध्यानात्, प्रतिमानां प्रपालनम्।
यासु स्थितो गृहस्थोऽपि, विशुध्यति विशेषतः॥ - अ.रा.पृ. 5/332-333,

गुत्ती समिइ गुणड्ढो, संजमतवनियम कणयकयमउडो।
समत्तनाणदंसण, तिरयण संपावियमहग्घो॥

– अ.रा.पृ. 7/78

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ગુરુ શ્રી રાજેન્દ્ર વંદના

જિસ કે નામસ્મરણ સે લક્ષ્મી સ્વયં ચલી ઘર આતી હૈ
જિસ કે નામસ્મરણ સે ભૂતપ્રેત સબ વ્યાધિ જો હટ જાતી હૈ
જિન કે સ્મરણ સે સર્વ કો મિલતા યહાં આરામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

જિન કે સ્મરણ સે શારદા આતી સ્વયં ચલકર સદા
જિન કે સ્મરણ સે લક્ષ્મી ઘર મેં વાસ કરતી સર્વદા
જિન કે સ્મરણ સે કીર્તિયશ મિલતા સદા આરામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

મદ મોહ માયા કામ કો તજ રાહ લી વીતરાગ કી
બાત કહી જગ કો સદા વીતરાગ કે અનુરાગ કી
વિશ્વ કે કલ્યાણકારી આજ જિન કા નામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

જિન કી રહી મુદ્રા મનોહર સુજ્ઞ જન ગુણ ગા રહે
જિન કી અલૌક્કિ દેખ પ્રતિભા પ્રજ્ઞ જન મન ગા રહે
જિન કી સદા હૈ છત્રછાયા જો સદા નિષ્કામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

જ્ઞાતા અગમ કે વિશ્વ મેં જો નિગમ મેં પરિપૂર્ણ થે
ધ્યાતા સદા નવકાર કે સદ્‌ભાવ સંપદ્‌ પૂર્ણ થે
જિન વચન કે ઉપદેશ દાતા વિમલ જિન કે કામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

નિર્મલ નયનદ્વય ભાલ શશિ સમદીપ્તિ દિનકર સમસદા
અવિકાર દુર્બલ દેહયષ્ટિ ભવ્ય ભયહર સર્વદા
આજાનુ બાહુ કર કમલ પ્રભુવીર પથ વિશ્રામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चम परिच्छेद

आचारपरक शब्दावली के वाच्यार्थ का विस्तार

1. श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार
2. दिगम्बर परम्परा और जैनाचार
3. ब्राह्मण परम्परा और जैनाचार
4. बौद्ध परम्परा और जैनाचार
5. इतर परम्परा और जैनाचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चम परिच्छेद

आचारपरक शब्दावली के वाच्यार्थ का विस्तार

शब्दों के वाच्य-वाचक सम्बन्ध पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो अनेक दार्शनिक दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद, ये दो सिद्धान्त है जो दो पृथक् पृथक् दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। अन्विताभिधानवाद में यह स्वीकार किया गया है कि वाक्य में प्रयुक्त शब्दों का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता किन्तु वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्द मिलकर ही अर्थ का बोध कराते हैं। अन्वितभाभिधानवादियों के मत में वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है[1] (यह मत लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ और तात्पयार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न नहीं मानता)। इसके विपरीत अभिहितान्वयवाद में यह स्वीकार किया गया है कि पदों से प्रतिपादित अर्थ आकांक्षादि के कारण परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं और अपने अर्थ को कहकर निवृत्त हो जाते हैं, अब अवगत अर्थ ही वाक्यार्थ को सम्पादित करते हैं।[2]

इस शोध प्रबन्ध का विषय शब्दार्थ के दार्शनिक विमर्श को प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु फिर भी जैसा कि इस परिच्छेद के शीर्षक से स्पष्ट है, कोई शब्द किसी शास्त्र में भिन्न अर्थ का वाचक हो सकता है तो अन्य शास्त्र में उससे भिन्न अर्थ का भी वाचक हो सकता है। इतना ही नहीं, अपितु एक शब्द अपने समस्त वाच्यार्थ की दृष्टि से समुदाय का भी बोधक हो सकता है। इस प्रकार शब्दार्थ सम्बन्धी सभी मतों को कथञ्चित् स्वीकार करने से एक एक शब्द के वाच्यार्थ का विस्तार बहुत हो सकता है।

आचारपरक दार्शनिक शब्दावली के विषय में भी वाच्यार्थ विस्तार का सिद्धान्त उतना ही समीचीन है जितना अन्य शब्दावली के विषय में; उदाहरण के रूप में 'योग' शब्द को लें - 'योग' जिसे समाधि कहते हैं, योगदर्शन में कुछ भिन्न रीति से व्याख्यात है तो जैन दर्शन में भिन्न रीति से। इसी प्रकार 'निर्ग्रन्थ' शब्द की व्याख्या श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कुछ भिन्न रीति से की गयी है तो दिगम्बर सम्प्रदाय में पृथक् रीति से ही की गयी है। इस प्रकार एक ही शब्द का वाच्यार्थ भिन्न भिन्न रुप से विस्तार को पाता है।

भारतीय दर्शनों में तर्कशास्त्र और आचार विज्ञान की एक ही भाषा होने से सभी दर्शन शाखाओं में प्रायः एक ही प्रकार की शब्दावली का प्रयोग हुआ है, यद्यपि कुछ शब्द स्वसंज्ञा या तन्त्रसंज्ञा के रुप में भी प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए **हमने इस शोधप्रबन्ध में इस परिच्छेद के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि भिन्न भिन्न दर्शनों में एक ही शब्द के प्रयुक्त होने पर भी अर्थ में भेद हो सकता है**। इस दृष्टिकोण से इस अध्याय की विषयवस्तु को पाँच भागों में बाँटा गया है - 1. श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार 2. दिगम्बर परम्परा और जैनाचार 3. ब्राह्मण परम्परा और जैनाचार 4. बौद्ध परम्परा और जैनाचार 5. इतर परम्परा और जैनाचार। सर्वप्रथम क्रमप्राप्त श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार का विवेचन किया जा रहा है।

---

1. वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः। -काव्यप्रकाश 2.6 की संस्कृतवृत्ति
2. तस्मात् स एव (अभिहितानामर्थानामन्वय एव) श्रेयान्, पदेभ्यः प्रतिपन्नास्तावदर्थाः आकांक्षायोग्यता सन्निधि योग्यत्ववशेन परस्परं अभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथ इदानीं अर्था अवगता वाक्यार्थं सम्पादयन्ति ।
   - काव्यप्रकाश 2.6 पर शशिकला टीका में न्यायमञ्जरी से उद्धृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीमहाराज क्रियोद्धारक श्वेताम्बर जैनाचार्य थे; और उनके द्वारा प्रणीत श्री अभिधान राजेन्द्र कोश रचना की पृष्ठभूमि का आधार श्वेताम्बर परम्परा मान्य जैनागम ग्रंथों के शब्द और उनके अर्थ की सुरक्षा थी और आचार्यश्री स्वयं शुद्ध साध्वाचार की जीवन्त मूर्ति थे, अत: आचार्यश्रीने अभिधान राजेन्द्र कोश में श्वेताम्बराम्नाय में मान्य 45 आगमों एवं अन्य आवश्यक ग्रंथों के शब्दों एवं उनसे संबंधित सामग्री का संग्रह करते अनायास ही जैनागमों के शब्दों के माध्यम से श्वेताम्बर परम्परामान्य आचारविज्ञान का अभिधान राजेन्द्र कोश में यत्र-तत्र सर्वत्र वर्णन किया है। और चूंकि इस शोधप्रबन्ध की मुख्य विषयवस्तु भी यही है, अत: इस शोध प्रबन्ध में इसी विषय का पूर्व में यथास्थान विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। यहाँ प्रसंगवश श्वेताम्बर परम्परा और जैनाचार का अतिसंक्षिप्त विशिष्ट परिचय दिया जा रहा है।

भगवान् महावीर ने केवलज्ञान के पश्चात् धर्मदेशना में सर्वविरति और देशविरति - ऐसे दो प्रकार के धर्म की देशना दी जिनमें से पहली मुनिधर्म देशना और दूसरी श्रावकधर्म देशना के नाम से प्रसिद्ध हुई। भगवान् के द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ में भी साधु-साध्वी, और श्रावक-श्राविका द्वारा इन्हीं दो मर्यादाओं का पालन होने से जैनाचार भी 'साध्वाचार' और 'श्रावकाचार' - एसे दो भागों में वर्णित है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार का वर्णन करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने श्वेताम्बर परम्परानुसार निम्न प्रकार से साध्वाचार दर्शाया है -

(1) **आचार** - ज्ञान, दर्शन, चरित्र रुप मोक्ष मार्ग की आराधना के लिये किया जानेवाला विविध आचार 'आचार' शब्द से कहा गया है। गोचरी (भिक्षाचरी); विनय, विनेय (शिष्य का स्वरुप और आचार; भाषा-अभाषा; चरणसित्तरी अर्थात् पांच महाव्रत, दशविध यतिधर्म, सत्रह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्त्य, नव वाड सहित ब्रह्मचर्य का पालन, रत्नत्रय की साधना, बारह प्रकार का तप और चार कषायों का निग्रह; करणसित्तरी अर्थात् चार पिंडविशुद्धि, पाँच इन्द्रियों का निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ और चार अभिग्रह (क्रिया के सत्तर भेद); संयम यात्रा का पालन, मात्रा (आहार का प्रमाण), और वृत्ति (संयमचर्या) का समावेश है।[1]

(2) 1. दर्शनाचार[2], 2. ज्ञानाचार[3], 3. चारित्राचार[4], 4. तपाचार[5] और 5. वीर्याचार[6] - इस प्रकार से आचार के पाँच भेद किये गये हैं।

(3) सर्वथा प्राणातिपातविरमण, सर्वथा मृषावादविरमण, सर्वथा अदत्तादानविरमण, सर्वथा मैथुनविरमण, सर्वथा परिग्रहविरमण और सर्वथा रात्रिभोजनविरमण रुप व्रतषट्क, अकल्प्यवर्जन **(अयोग्य पिंड-शय्या-वस्त्र-पात्र-वर्जन), गृहस्थभाजनवर्जन, पर्यंक-निषद्या-स्थान और शोभावर्जन रुप अठारह प्रकार के आचार का पालन**[7] - यह सब साध्वाचार में सम्मिलित है।

इसके अतिरिक्त साध्वाचार के वर्णन में यथास्थान अनित्यादि 12 भावनाएँ, मैत्र्यादि 4 भावनाएँ, आठ मदों के त्याग का वर्णन, पाँच प्रमादों के त्याग का वर्णन, अष्ट प्रवचन माताओं का पालन एवं दश कल्प, सात चैत्यवंदन, चार बार स्वाध्याय, दोनों समय प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि तथा 22 परीषहों के स्वरुप बताकर उन पर विजय प्राप्ति का निर्देश, अतिचार स्थानों के त्याग का उपदेश आदि दर्शाया गया है।

मुनि के भेद :-

मुनिसंघ एवं चतुर्विध संघ की व्यवस्था हेतु मुनिसंघ में योग्यतानुसार मुनि के तीन भेद दर्शाये गये हैं - **1. आचार्य 2. उपाध्याय 3. साधु (मुनि)**

आचार्य :- आचार्य के 36 गुण होते हैं, जो श्वेताम्बराम्नाय में निम्नानुसार वर्णित है -

पाँच इन्द्रियों का निरोध, नवविध वाड के साथ ब्रह्मचर्य का पालन, चार कषायों का त्याग, पाँच महाव्रतों से युक्त दर्शनाचारादि पाँच आचारों का पालन, पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों का पालन।[8]

उपाध्याय : - 11 अंग, 12 उपांग, 1 चरणसित्तरी एवं 1 करणसित्तरी - इन पच्चीस पदार्थों का ज्ञान एवं पालन तथा पठन-पाठन उपाध्याय के पच्चीस गुण हैं।[9]

मुनि:- श्वेताम्बर परम्परा में मुनि के 27 गुण माने हैं। ये 27 गुण निम्नानुसार हैं-

साधु के गुण[10] :-

श्वेताम्बर परम्परा में महाव्रत 5, रात्रिभोजन त्याग 1, पाँचों इन्द्रियों का जय 5, भावशुद्धि 1, प्रत्युपेक्षादिकरणशुद्धि 1, क्षमा 1, लोभनिग्रह 1, अशुभमन का निरोध 1, अशुभ वचन का निरोध 1, अशुभकायप्रवृत्ति का निरोध, 1 षट्कायरक्षा 6, संयम योगरक्षा 1, शीतादि परीषय सहन 1, और मरणान्तोपसर्गसहन 1, इस प्रकार साधु के सत्ताईस गुण हैं।

साधु के दैनिक कर्तव्य :-

श्वेताम्बर परम्परा में साधु के कर्तव्य दैनिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं वार्षिक कर्तव्य भेद से निर्धारित हैं, जो निम्नानुसार हैं-

1. अ.रा.पृ. 2/373
2. अ.रा.पृ. 2/364, 4/2436
3. अ.रा.पृ. 4/1994
4. अ.रा.पृ. 3/1141,1150,1152
5. अ.रा.पृ. 4/2200 से 2208
6. अ.रा.पृ. 6/1409
7. अ.रा.पृ. 6/888
8. पंच प्रतिक्रमण सार्थ
9. वही
10. साधु प्रतिक्रमण (सार्थ); संबोधसत्तरी प्रकरण 28-29

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) प्रातः सूर्योदय से पहले छह घडी (2 घण्टा 24 मिनट) रात्रि शेष रहने पर निद्रा का त्याग
(2) लघु प्रतिक्रमण (इरियावहियं.), स्वाध्याय-ध्यान
(3) राइ (रात्रिक) प्रतिक्रमण (रात्रिसम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त हेतु)
(4) पडिलेहण (वस्त्रादि का प्रतिलेखन)
(5) जिनदर्शन, चैत्यवंदन/देववंदन, गुरुवंदन. स्वाध्याय
(6) सूत्र सम्बन्धी अध्ययन
(7) दिन के प्रथम प्रहर के बीतने पर मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन (उग्घाडा पोरिसी की मुहपत्ति प्रतिलेखना)
(8) अर्थ संबंधी अध्ययन/स्वाध्याय
(9) गोचरी (आहार) चर्या
(10) चतुर्थप्रहर के प्रारम्भ में प्रतिलेखन
(11) चतुर्थ प्रहर में स्वाध्याय
(12) चतुर्थ प्रहर के अंत में गुरुवंदन, स्थंडिल शुद्धि (मांडला) एवं तत्पश्चात् रात्रि के प्रथम प्रहर में देवसिय प्रतिक्रमण का प्रारंभ
(13) वैयावृत्त्य, स्वाध्याय
(14) रात्रि के प्रथम प्रहर के अन्त में संस्तरण विधि (संथारा पोरिसी-रात्रिविश्राम के पूर्व की विधि)
(15) रात्रि के द्वितीय एवं तृतीय प्रहर में विश्राम
(16) दिन भर में सात बार चैत्यवंदन, चार बार स्वाध्याय एवं कम से कम 500 गाथा (श्लोक) का स्वाध्याय, दशविध चक्रवाल समाचारी (इसका वर्णन चतुर्थ परिच्छेद (क) (5) में किया गया है) का पालना ।

साधु के पाक्षिक कर्तव्यों में चौदस के दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण एवं यथाशक्ति तप आराधना दैनिक कर्तव्यों से विशेष है ।

साधु के चातुर्मासिक कर्तव्य[11] :-

(1) अषाढ सुदि चतुर्दशी से (चौमासे के) 50 वें दिन (भाद्रपद सुदि चतुर्थी को) पर्युषण (संवत्सरी महापर्व) करना ।
(2) वर्षाकाल में चारों ओर पाँच-पाँच कोश (लगभग 15 किलोमीटर) की मर्यादा रखना ।
(3) गहरे जलवाली नदी नहीं उतरना
(4) ग्लान (रोगी) साधु की आहारादि से गुर्वाज्ञापूर्वक भक्ति करना ।
(5) बलवान् और रोगरहित स्वस्थ साधु को दूध, दहीं, घी, तेल और गुड - ये पाँच विकृतियाँ बिना कारण नित्य नहीं लेना ।
(6) ग्लान हेतु लाये हुए आहारादि गृहस्थ की अनुमतिपूर्वक ही उपयोग में लेना ।
(7) गृहस्थ के घर अनदेखी चीज नहीं मांगना ।
(8) नित्याहारी साधु को बिनाकारण स्वयं के लिए गोचरी हेतु गृहस्थ के घर एक बार से ज्यादा नहीं जाना (उपवासादि के पारणा या रोगादि कारण से जा सकते हैं) ।
(9) यथायोग्य उष्णादि (21 प्रकारके) प्रासुक जल (आहार करने वालों को भी और उपवासादि करनेवालों को भी) मर्यादापूर्वक ग्रहण कर उपयोग में लेना ।
(10) भोजन पाँच दत्ती (दत्ति - सं.) और पानी पाँच दत्ती से ज्यादा नहीं लेना । प्राचीन मान्यतानुसार एक साथ एक बार में जितना आ जाये उसे दत्ती कहते हैं । किन्तु वर्तमान में साधु जिस गाँव में जाये और विभिन्न घरों से एक बार में जितना आहार लेकर आवे उसे एक दत्ती कहना अपेक्षाकृत होगा ।
(11) उपाश्रय से सात घर तक गोचरी नहीं जाना ।
(12) चातुर्मास में फुहार मात्र पानी बरसात हो तो भी जिनकल्पी (पाणिपात्रधारी) मुनि को गोचरी नहीं जाना ।
(13) चातुर्मास में स्थित स्थविरकल्पी साधु को विशेष कारण से वृद्ध या बाल साधु-साध्वी हेतु फुहार में गोचरी जाना कल्पता है परंतु गोचरी गये स्थविरकल्पी साधु को पानी बरसता हो तो भी दिन में ही वापिस उपाश्रय में आ जाना चाहिए, रात्रि में उपाश्रय से बाहर नहीं रहना ।
(14) साधु या साध्वी को बिना पूछे उनके लिए आहार नहीं लाना ।
(15) वर्षा से भीगे हुए शरीर से आहार ग्रहण नहीं करना ।
(16) प्राण आदि आठों सूक्ष्म को जानकर उनकी बार-बार प्रतिलेखन करना ।
(17) गुर्वाज्ञा पूर्वक ही गोचरी, जिनदर्शन, स्थंडिलभूमिगमन, धर्मोपदेश, तप,अनशन, स्वाध्याय-ध्यान, धर्मजागरण, कायोत्सर्ग प्रमुख करना और औषधि प्रमुख करवाना ।
(18) उपधि (पात्र, उपकरण, पुस्तक) आदि धूप में रखने पर किसी को सुपुर्द किये बिना कहीं भी नहीं जाना ।
(19) एक हाथ ऊँचे पाट पर शयन करना, उसका बार-बार प्रतिलेखन करना ।
(20) स्थंडिल-मात्रा परठने हेतु तीन-तीन स्थान रखना और उसे बार-बार प्रतिलेखित करना (निरीक्षण करना) ।
(21) तीन मात्रक (पात्र) रखना
(22) केशलुञ्चन करना
(23) संवत्सरी के पूर्व आपस में एवं श्री संघ में खमतखामणां (क्षमापना करना) ।
(24) गुरु-शिष्य में परस्पर क्षमापना करना ।
(25) तीन उपाश्रय रखना (कभी परिस्थितिवश आवश्यकता पडे तो)
(26) गुर्वाज्ञापूर्वक ही उपाश्रय से बाहर जाना ।
(27) रोगादि के कारण चिकित्सा हेतु वैद्यादि के पास जाना पडे तो चार-पाँच योजन जा सकते हैं लेकिन चिकित्सा हेतु जिस गाँव में जाना हो उसी गाँव में रात नहीं रहना ।
(28) संवत्सरी के स्थविरकल्प (साधु योग्य आचार नियम) की आराधना करना ।

श्री पर्युषण पर्व के साधुओं में धर्मकार्य[12] :-

(1) चैत्य परिपाटी करना (जिनदर्शन, वंदन, भक्ति करना) ।

11. अ.रा.पृ. 5/238 से 249, कल्पसूत्र (मूल) समाचारी व्याख्या
12. अ.रा.पृ. 5/238 कल्पसूत्र बालावबोध, पृ.29

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(2) केशलुञ्चन करना।
(3) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करना।
(4) सकल श्री संघ से आपस में खमतखामणां (क्षमापना) करना।
(5) अट्ठम (तीन उपवास) तप करना तथा पाँच दिन तक कल्पसूत्र पढना।

मुनि के उपकरण :-

अभिधान राजेन्द्र कोश में 'उवहि' (उपधि) शब्द के अन्तर्गत दो प्रकार के उपकरणों का वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थविरकल्पी मुनि के 14 उपकरणोंका आगमों में वर्णन किया गया है जो पूर्व के परिच्छेद में वर्णित हैं। वहीं पर साध्वियों के लिए 25 उपकरणों का उल्लेख भी किया गया है।

श्रावकाचार का पालन करने की योग्यता प्राप्त करने हेतु पहले मार्गानुसारी बनना आवश्यक है अत: अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने भव्य मनुष्य को धर्म के मार्ग पर चलकर श्रावक जीवन की योग्यता प्राप्त करने के लिए मार्गानुसारी जीवन का वर्णन करते हुए मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों का वर्णन निम्नानुसार किया है -

मार्गानुसारी श्रावक के गुण[13] :-

(1) न्यायपूर्वक धनार्जन (2) समान कुलशीलवालों में दाम्पत्य (3) उचित घर का निर्माण (4) माता-पिता की भक्ति (5) आय-व्यय सन्तुलन (6) उचित वेश-भूषा (7) अजीर्ण में लंघन (8) नियमित भोजन (9) आतिथ्य (10) व्रतधारी की पूजा (11) पालक-सेवा

दोष त्याग :

(12) प्रसिद्ध देशाचार का अनादर (13) अवर्णवाद (14)सोपद्रव स्थल में निवास (15) निन्दनीय प्रवृत्ति (16) अभिनिवेश (17) अदेशकालज्ञता (18) कषाय (19) विषयासक्ति।

गुणग्रहण :-

(20) पाप-भीरुता (21) गुणज्ञता (22) स्व-पर बल का ज्ञान (23) दूरदर्शिता (24) विशेषज्ञता (25) लोकप्रियता (26) मर्यादा-प्रेम (27) शान्ति।

साधनाएँ :-

(28) शिष्टाचार (29) सदाचारियों से मित्रता (30) धर्म-कथा श्रवण में रुचि (31) बुद्धिमत्ता (32) त्रिवर्ग-सिद्धि (33) कृतज्ञता (34) दयालुता (35) परोपकार

श्रावक के गुण[14]:-

(1) धर्मयुक्त (2) अक्षुद्र (3) सौम्य प्रकृति (4) लोकप्रिय (5) अक्रूर (6) पापभीरु (7) अशठ (8) दक्ष (9) लज्जालु (10) दयालु (11) मध्यस्थ (12) सौम्यदृष्टि - गुणानुरागी (13) सत्कथक (14) सुपक्षयुक्त (सत्संगी) (15) सुदीर्घदृष्टा (16) विशेषज्ञ (17) वृद्धानुग (18) विनीत (19) कृतज्ञ (20) परोपकारी (21) लब्धलक्ष्य।

श्रावक के 14 नियम[15]:-

(1) सचित पदार्थ (2) भक्ष्य (आहार में) द्रव्य (3) विगई (4) उपानह की संख्या (5) तंबोल (मुखवासादि) (6) वस्त्र (7) पुष्पादि, इत्रादि, सुगंधीद्रव्य (8) वाहन (9) शयन (10) विलेपन द्रव्य (11) ब्रह्मचर्य (12) दिशाओं में गमनागमन (13) स्नान (14) भोजन-जल की मर्यादा करना तथा असि (शस्त्र, यंत्र, छुरी, कैंची आदि साधन), मसि (लेखन संबंधी) एवं कृषि के उपकरणों को उपयोग करने की यथायोग्य संख्या, वजन य नाप में मर्यादा करना।

बारह व्रत[16] (सम्यक्त्वपूर्वक) :-

श्वेताम्बर परम्परा में श्रावक के 12 व्रत एवं ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ निम्नानुसार हैं -

1 से 5. : स्थूल प्राणातिपात - मृषावाद - अदत्तादान - मैथुन - परिग्रह विरमणव्रत
6 से 8. : दिक्परिमाण व्रत, भोगोपभोग विरमण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत
9 से 12. : सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग व्रत।

ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ[17] :-

(1) दर्शन (2) व्रत (3) सामायिक (4) पौषध (5) प्रतिमा (6) ब्रह्मचर्य (7) सचित्तत्याग (8) आरंभवर्जन (9) प्रेष्यवर्जन (10) उद्दिष्टवर्जन (11) श्रमणभूत।

श्रावक के कर्तव्य :-

सूक्त मुक्तावली में आचार्य सोमप्रभसूरिने मनुष्य जन्म के साफल्य हेतु जैनों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहा है-

(1) जिनपूजा (2) गुरुभक्ति (वैयावृत्त्य) (3) जीवदया (4) सुपात्रदान (5) गुणानुराग और (6) जिनवाणी (आगम शास्त्रों का) श्रवण - ये छ: कर्तव्य मनुष्य जन्मरुपी वृक्ष के फल है[18]।

श्वेताम्बर परम्परा में श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र में 'मण्ह जिणाणं' स्वाध्याय में **श्रावकों के कर्तव्यों** का वर्णन करते हुए महर्षिने कहा हैं - श्रावकों को सुगुरूपदेश से निम्नाङ्कित 36 कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।[19] -

(1) जिनाज्ञापालन (2) मिथ्यात्व का त्याग (3) सम्यक्त्व का धारण (4 से 9) सामायिक, चतुर्विंशतिवंदन, गुरुवंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान - इन छ: आवश्यकों (प्रतिक्रमण) में उद्यम (10) पर्वतिथियों को पौषध व्रत (11) दान (12) शील (13) तप (14) भाव (15) स्वाध्याय (16) नवकार जाप (17) परोपकार (18) जयणा (19) जिनपूजा (20) जिनस्तव (भक्ति) (21) गुरुभक्ति (वैयावृत्त्य) (22) साधर्मी वात्सल्य (23) व्यवहार शुद्धि (24) रथयात्रा (25) तीर्थयात्रा (26) उपशम (27) विवेक (28) संवर (29) भाषासमिति का पालन (30) जीवदया (31) सत्संग (32) इन्द्रियदमन (33) चारित्र के परिणाम (दीक्षा की भावना) (34) श्रीसंघ के प्रति बहुमान (25) ग्रंथलेखन (36) शासन प्रभावना।

आचार्य श्रीमद्विजय रत्नशेखरसूरिने श्राद्धविधि प्रकरण में श्रावकों के दैनिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक आदि कर्तव्यों का निम्नानुसार वर्णन किया है जिसका अभिधानराजेन्द्र कोश एवं इस शोध प्रबन्ध

13. अ.रा.पृ. 2/6, योगशास्त्र - 1/47 से 56
14. अ.रा.पृ. 7/792, संबोध सत्तरी प्रकरण 31, 32, 33; धर्मरत्न प्रकरण- 5,6,7
15. श्राद्धविधिप्रकरण - पृ. 37; उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्ययन
16. श्रावक प्रतिक्रमण, वंदितु सूत्र, गाथा-8
17. संबोधसत्तरी प्रकरण - 79
18. सूक्तमुक्तावली - 93
19. श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र, मण्ह जिणाणं सज्झाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में यथास्थान विस्तार किया गया है ।

श्रावक के दैनिक कर्तव्य[20] :-

(1) चार घडी रात शेष रहे तब उठना (2) महामंत्र का स्मरण (3) सामायिक, प्रतिक्रमण (4) देवदर्शन, वासक्षेपपूजादि (5) गुरुवंदन (6) गृहव्यवस्था विधि (7) व्याख्यान श्रवण (8) विधिपूर्वक स्थान (9) विधिपूर्वक स्वद्रव्य से जिनपूजा (10) विधिपूर्वक भोजन (11) विधिपूर्वक सुपात्रदान (12) व्यापार शुद्धि (13) शाम को आरती और मंगल दीपक (14) दैवसिक (संध्या) प्रतिक्रमण (15) गुरुसेवा (16) स्वाध्याय (17) धर्मचर्चा (मित्र-परिवार आदि के साथ) (18) माता-पिता-पति आदि की सेवा (19) दीक्षा हेतु मनोरथ सेवन।

तत्पश्चात् रात्रि का प्रथम प्रहर पूर्ण होने पर श्री नवकार मंत्री का स्मरण करतेहुए श्रावक विश्राम करें।

जैनों के संध्या कर्तव्य[21] :-

(1) श्रावक प्राय: एकासन व्रत करे; यदि हो सके रात्रि भोजन त्याग करें; यथाशक्ति चोविहार (रात्रि में चतुर्विधाहार का त्याग) तिविहार (त्रिविधाहार का त्याग - अर्थात् केवल जल ग्रहण की छूट) दुविहार (विशिष्ट कारण होने पर द्विविधाहार का त्याग; जल, दूध एवं औषधि लेनी की छूट) का प्रत्याख्यान करें।

(2) धूप, आरती, मंगल दीपक पूर्वक जिनपूजा करें। भावपूजा में देववंदन-चैत्यवंदनानि करें।

(3) देवसिअ (दैवसिक) प्रतिक्रमण करना

(4) गुरु भगवंतोंकी वैयावृत्त्य करना।

(5) स्वाध्याय करना

(6) घर जाकर पुत्र-पौत्रादि परिवारजनों को धर्मकथा कहना।

जैनों के रात्रिकालीन कर्तव्य[22] :-

(1) प्राय: मैथुन का त्याग करना (यथाशक्य अल्प मैथुन) (2) देव-गुरु स्मरण/स्मृति (याद करना)। (3) चैत्यवंदन, देवगुरु नमस्कार, चारों आहार का त्याग करके देशावगासिक व्रत ग्रहण करना। (4) अरिहंतादि चारों शरण अंगीकार करना। (5) सर्व जीवों से क्षमायाचना करना। (6) प्राणातिपातादि अठारह पाप स्थानों का त्याग करना। (7) दुष्कृत गर्हा (निंदा), सुकृत-अनुमोदना करना। (8) आहार-शरीर-उपधि के त्यागपूर्वक सागारी अनशन स्वीकार करना। (9) पाँच नवकार गिनना। (10) स्वयं की शय्या में अकेला निद्रा (विश्राम) करें। (11) जागृत होने पर स्त्री शरीर की अशुचिता का चिन्तन करें और उत्तम भावना भावें।

जैनों के पर्व (त्यौहार) के कर्तव्य[23]:-

(1) पौषध व्रत करना या दोनों समय प्रतिक्रमण और अधिकाधिक सामायिक करना। (2) ब्रह्मचर्य पालन करना। (3) आरंभ का त्याग करना। (4) यथाशक्ति विशेष तप करना। (5) स्नात्र पूजा, चैत्य परिपाटी (जिन दर्शन, गुरु वंदन, सुपात्र दान, देवगुरुपूजा, दानादि कार्य करना। (6) सचित्ताहार का त्याग करना। (7) यथाशक्ति आरम्भ-समारम्भ-महारम्भ का त्याग करना।

जैनो के चातुर्मासिक कार्य[24] :-

(1) ज्ञानाचारादि पंचाचार का पालन करना।

(2) चैत्य परिपाटी करना।

(3) देशना (जिनवाणी) श्रवण, चिंतन।

(4) ज्ञानपंचमी के दिन ज्ञानपूजा पढाना, ज्ञान की आराधना करना।

(5) जिनालय-उपाश्रय की शुद्धि, साज-सज्जा, गहुँली आदि करना।

(6) जिनपूजा-दर्शन-वंदन।

(7) जिनबिंब की शुद्धि करना।

(8) त्रस जीवों की रक्षा का प्रयत्न करना।

(9) अभ्याख्यान, आक्रोश, कटुवचन, देवगुरुनिंदा, पैशुन्य, परपरिवाद, दृष्टिवंचन (कपट) का त्याग।

(10) जयणापूर्वक गृहकार्यादि करना।

(11) दिन में ब्रह्मचर्य पालन, रात्रि में पर स्त्री/पर पुरुष का त्याग करना।

(12) धन-धान्यादि नव प्रकार के परिग्रह का संक्षेप (कम) करना।

(13) गमनागमन का वर्षाऋतु में यथाशक्य त्याग।

(14) स्नान-अंगराग (शरीर शोभा) आदि की मात्रा (परिमाण) का नियम।

(15) तुच्छफल, सचित्तफल, बहुबीज, अनन्तकायभक्षण का त्याग।

(16) विकृतियों (दूध, दहीं, घी, तेल, गुड/शक्कर और कडाविगई) के उपयोग की मात्रा का नियमन करना।

(17) प्रतिदिन खाद्य द्रव्यों का नियमन (संक्षेप) करना।

(18) गृहकार्य, क्षेत्रकार्यादि आरम्भादि के कार्यों का संक्षेप करना।

(19) दिशावकाशिक व्रत धारण करना।

(20) भाषा समिति, वचन गुप्ति का पालन करना अर्थात् असंबद्ध या अतिशय और कर्कश वचन का त्याग।

(21) पुरुष/स्त्री के द्वारा उपभुक्त आसन एवं शय्या का त्याग।

(22) भोगोपभोग की वस्तुओं का नियम करना (संक्षेप करना)।

(23) अनर्थदंड का त्याग करना।

(24) सामायिक, पौषध, अतिथिसंविभाग आदि व्रतों का पालन करना।

(25) प्रतिदिन 14 नियमों के अंतर्गत सर्वद्रव्यों एवं कार्यों का संक्षेप करना।

(26) यथाशक्ति आरंभ-समारंभ के समस्त कार्यों का संक्षेप कर उन नियमोंको प्रतिदिन पढना।

(27) जिनदर्शन करना।

(28) यथाशक्ति आरंभ-समारंभ के समस्त कार्यों का संक्षेप कर उन नियमों को प्रतिदिन पढना।

(29) अष्टमी, चतुर्दशी एवं जिनेश्वर भगवान् के कल्याणक की तिथियों में उपवासादि विशेष तप करना।

(30) धर्मकार्यों में उद्यम करना।

(31) धर्मपालन हेतु जयणापूर्वक बोलना, जल छानकर उपयोग करना।

(32) औषधादि का दान देना।

(33) साधर्मी वात्सल्य करना, स्वामिवात्सल्य करना।

(34) गुरु का यथाशक्ति विनयादि करना।

(35) प्रासुक जल उपयोग करना।

(36) यथाशक्ति अतिथिसंविभाग व्रत करना।

20. अ.रा.पृ. 7/781, 784, 785; श्राद्धविधि प्रकरण, प्रथम प्रकाश;
21. अ.रा.पृ. 7/785, श्राद्धविधि प्रकरण, प्रथम प्रकाश; गाथा 9, पृ. 103
22. अ. रा. पृ. 7/525; श्राद्धविधि प्रकरण, द्वितीय प्रकाश; पृ. 107, 108;
23. श्राद्धविधि प्रकरण, तृतीय प्रकाश, अ.रा.पृ. 7/725
24. अ.रा.पृ 3/1169; 5/799, श्राद्धविधि प्रकरण, चतुर्थ प्रकाश; पृ. 114;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनियों के वार्षिक 11 कर्तव्य[25]:-

(1) संघ भक्ति (2) साधर्मिक भक्ति (3) तीर्थयात्रा (4) स्नात्र महोत्सव (5) देवद्रव्य की वृद्धि (6) महापूजा (7) रात्रि जागरण (जिन भक्ति हेतु) (8) श्रुतभक्ति (9) उद्यापन (उजमणां) (10) तीर्थ प्रभावना और (11) आलोचना / प्रायश्चित्त ग्रहण करना।

जैनियों के जीवन भर के बृहत्कर्तव्य[26]:-

(1) जिन मंदिर का निर्माण करना, जीर्णोद्धार करवाना (2) जिन प्रतिमा भरवाना (3) उपाश्रय बनवाना (4) तीर्थयात्रा का छःरी[27] पालक (पैदल) संघ निकालना (5) अपने पुत्र-पुत्रियों को साधु-साध्वी बनने की प्रेरणा देना। (6) आचार्य पदवीका महोत्सव करना (7) आगम शास्त्र लिखवाना।

श्रावकों के पर्युषण पर्व के कर्तव्य[28]:-

(1) अमारी प्रवर्तन (अहिंसा पालन) (2) छट्ठ (दो उपवास), अट्ठम (तीन उपवास) का तप (3) सुपात्रदान (4) नारियल प्रमुख प्रभावना (5) जिनपूजा - चैत्यपरिपाटी (जिनदर्शन, वंदन-भक्ति) (6) सर्वसाधुओं को वंदन (7) श्री संघ भक्ति (8) सचित्त - त्याग (9) ब्रह्मचर्य पालन (10) आरंभत्याग (11) सन्मार्ग में द्रव्य व्यय (12) श्रुतज्ञान की भक्ति (13) अभयदान (14) कार्योत्सर्ग (15) उभय काल प्रतिक्रमण (16) महोत्सव (17) कल्पसूत्र पाठक की अशनादि से भक्ति (18) श्री संघ में परस्पर खमतखामणां (क्षमापना) (19) भावना का चिन्तन (20) कल्पसूत्र श्रवण।

जैनियों को जैसे उक्त कर्तव्यों से अपने जीवन को सफल बनाना है वैसे शीघ्र मोक्ष प्राप्ति के लिए निम्न पापों का त्याग भी करणीय है-

(क) नरक के चार द्वारों का त्याग[29]:-

(1) रात्रि भोजन त्याग (2)परस्त्रीगमन (3) अभक्ष्य अनंतकाय भोजन त्याग (4) चलित रस (जिसके वर्ण-गंधादि परिवर्तन हो गये हो वैसे आचार-मुरब्बादि खाद्यों का) त्याग।

(ख) चार लोकोत्तर पापों का त्याग[30]-

(1) मुनि हत्या (2) साध्वी का शील भंग करना (3) जिन मंदिर और जिन मूर्ति को तोडना अथवा इसके विषय में किसी की श्रद्धा का नाश करना। (4) देवद्रव्य का नाश या दुरुपयोग।

(ग) सप्तव्यसन का त्याग[31]-

(1) चोरी (2) जुआ (3) शिकार (4) मद्य (शराब, बीयर आदि तथा उपलक्षण से चरस, भाँग आदि) (5) मांसाहार (6) परस्त्रीगमन (7) वेश्यागमन।

(घ) चार महाविकृतियों का त्याग[32]-

(1) मधु (शहद) (2) मक्खन (3) मांस और (4) मदिरा (शराब आदि)।

श्वेताम्बर परम्परा में पूजा विधि[33]:-

श्वेताम्बर परम्परा में श्री जिनेश्वर (जिनबिम्ब) की पूजा का वर्णन करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोश में आचार्यश्रीने जिन पूजा के विधि भेदोपभेदों का वर्णन किया है। अंगपूजा, अग्रपूजा और भावपूजा - इस प्रकार जिनपूजा तीन प्रकार की है।

अंगपूजा :- जिस पूजा में परमात्मा के अंग को स्पर्श करने की आवश्यकता होती है उसे अंगपूजा कहते है। जिनप्रतिमा से पुष्पादि निर्माल्य उतारना, पञ्चामृत (दूध, दही, घी, मिश्री और शुद्ध जल) से अभिषेक करना, कुसुमाञ्जलि चढाना, विलेपन, नवांग पूजा (चंदन केसर बरासादि से), पुष्पपूजा, चांदी आदि की आंगी चढाना, चंदन-केसर या अन्य योग्य पदार्थों से आंगी बनाना, जिनेश्वर के हाथ में बिजोरादि रखना, वासक्षेप से पूजा करना, आभूषण पहनाना आदि अनेक प्रकार से अंगपूजा की जाती है।

अग्रपूजा :- जो पूजा परमात्मा के सन्मुख की जाती है, जिसमें जिनप्रतिमादि को स्पर्श की आवश्यकता नहीं है, वह अग्रपूजा है।

परमात्मा के सामने कृष्णागरु, यक्षकर्दम, दशांग धूप आदि से की जाने वाली धूपपूजा, शुद्ध घी का दीपक, अक्षतादि से अष्टमंगल (स्वस्तिक, भद्रासन, कलश, सिंहासन, नदावर्त, संपुट, दर्पण, मीनयुगल) आदि का आलेखन करना, फूल, फूलों की माला, गुलदस्ता रखना, अशन-पान-खादिम-स्वादिम - ये चार प्रकार का नैवेद्य धरना, श्रीफल, बिजोरा आम्रादि देशकालानुसार प्राप्त उत्तम फल रखना, गीत-नृत्य-वादित्र आदि तथा आरती, मंगल दीपक करना - आदि अनेक प्रकार से अग्रपूजा की जाती है।

भावपूजा :- परमात्मा के आगे चैत्यवंदन करना, स्तुति करना, यह भाव पूजा है।

इन पूजाओं में उत्तम भावों से युक्त होकर गृहस्थ श्रावक विभिन्न द्रव्यों से अनेक प्रकार से जिनपूजा करता-करवाता है, जिसमें पुष्प-अक्षत-गंध-धूप और दीप से की जाने वाली पूजा पञ्चोपचारी, जल-चंदन-पुष्प-धूप-दीप-अक्षत-नैवेद्य और फल से की जाने वाली पूजा अष्टप्रकारी एवं (1) जल (2) विलेपन (3) वस्त्र युगल समर्पण (4) वासक्षेप समर्पण (5) पुष्प समर्पण (6) पुष्पमाला समर्पण (7) पंचवर्ण की अङ्ग-रचना (अङ्गविन्यास) (8) गन्ध समर्पण (9) ध्वजा समर्पण (10) आभूषण समर्पण (11) पुष्पगृहरचना 912) पुष्पवृष्टि (13) अष्टमङ्गल रचना (14) धूप समर्पण (15) स्तुति (16) नृत्य और (17) वादित्र पूजा (बाजे बजाना) - सत्रहभेदी पूजा है। इसी प्रकार जैन शास्त्रों में 21 भेदी, 64 प्रकारी, 99 प्रकारी आदि अनेक प्रकार की पूजाएँ हैं जिन्हें सर्वोपचारी पूजा कहते है, जिसका विस्तृत वर्णन 'राजप्रश्नीय (रायप्पसेणीय)' सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, चैत्यवन्दन महाभाष्य आदि ग्रंथो में किया गया है।

इस प्रकार यहाँ पर श्वेताम्बर परम्परानुसार जैनाचार (साध्वाचार और श्रावकाचार) का अति संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है जिसका इस शोधप्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में यथास्थान विस्तृत वर्णन पूर्व में हम कर चुके हैं।

---

25. श्राद्धविधि प्रकरण, पंचम प्रकाश 5/12-13; अ.रा. 6/1100
26. श्राद्धविधि प्रकरण, षष्ठ प्रकाश
27. समकितधारी, पदचारी (पैदल चलना), ब्रह्मचारी, सचित्त परिहारी, एकल आहारी, भू-संथारी - इन छः नियमों का पालन करते हुए तीर्थयात्रा करना - करवाना
28. कल्पसूत्र बालावबोध, पृ 30
29. पद्म पुराण, प्रभास खंड, रात्रिभोजन महापाप पृ 16 से उद्धृत
30. संबोधसत्तरी प्रकरण-104
31. पच्चक्खाण भाष्य-41
32. योगशास्त्र - 3/6
33. क. अ.रा.भा. 3 पृ. 'चेइय' शब्द;
ख. अंगग्गभाव भेया पुप्फऽऽहार-तुईहि पूय-तिगं।
पञ्चुवयारा अट्ठो-वयार सव्वोवयारा वा ॥
चैत्यवन्दनभाष्य, गाथा 10 एवं उसका विवेचन, पृ. 76,77

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. दिगम्बर परम्परा और जैनाचार

दिगम्बर परम्परा में भी धर्मसाधना दो प्रकार की स्वीकृत है - सर्वविरति और देशविरति। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में स्पष्ट किया गया है कि **उपदेशक का कर्तव्य है कि वह श्रोता को सबसे पहले तो सर्वविरति का उपदेश करे, यदि श्रोता सर्वविरति में असमर्थता प्रगट करे तभी देशविरति का उपदेश करना चाहिए।** इसका कारण यह है कि सर्वविरति के विना पूर्ण धर्म प्रगट नहीं होता और **सर्वविरति के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है।**

सर्वविरत अर्थात् मुनि के लिङ्ग का वर्णन करते हुए कहा है कि नग्न मुद्रा, संस्कार/अलंकार से रहित शरीर, सिर, दाढी और मूँछ के केशों का हाथ से लुञ्चन और हाथ में मयूरपंख की पिच्छि तथा काष्ठ के कमण्डलु के अतिरिक्त अन्य समस्त परिग्रह से रहित जैन मुनि हैं।[1]

जैन मुनि के गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य नेमिचंद्र ने दिगम्बर परम्परानुसार मुनि के अट्ठाईस गुणों का वर्णन करते हुए कहा है - पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, अदन्तधावन, अस्नान, भूमिशयन, एकभुक्ति, स्थितिभोजन, केशलुंचना और नग्नता[2] - इन अट्ठाईस मूलगुणों का पालन प्रत्येक दिगम्बर जैन मुनि के लिए अनिवार्य है।

पाँच महाव्रत :- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का प्रतिज्ञापूर्वक पूर्णरुप से परित्याग कर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत को सकलरुप से - पञ्चमहाव्रत कहा गया है।[3] इनके नाम अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत हैं।[4] इनका विस्तृत वर्णन हम शोधप्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में यथास्थान कर चुके हैं।

इसी प्रकार पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियों का निरोध एवं षड् आवश्यक का पूर्व में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। यहाँ शेष सात गुणों का परिचय दिया जा रहा है। पं. दौलतरामजीने कहा है-

(1) अस्नान (2) अदन्तधावन (3) नग्नता (4) भूशयन (5) स्थितिभुक्ति (6) एकभुक्ति (एकाशन) और (7) केशलोंच - ये मुनि के शेष सात गुण हैं।[5]

वीतरागी मुनियों को स्नान और दाँत को स्वच्छ करना नहीं होता; शरीर ढँकने के लिए किञ्चित् भी वस्त्र नहीं होता; रात्रि के पिछले भाग में स्वाध्याय, ध्यान, विहारजन्य थकान दूर करने के लिए धरती पर या शिला, लकडी के पाटे, सूखे घास अथवा चटाई पर एक करवट विश्राम करते हैं; दिन में एक बार खडे रहकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर गोचरीवृत्ति से आहार करते हैं; सिर और दाढी-मूँछ के बालों का केशलोंच करते हैं।

उक्त अट्ठाईस मूलगुणों के अतिरिक्त जैनमुनि पूर्वकथित क्षमादि दश धर्म, अनित्यादि बारह भावना, क्षुधादि परषह जय, पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह प्रकार का तप आदि संवर और निर्जरा के अङ्गभूत सभी साधनों की आराधना करते हैं। उनमें श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में जो कुछ आंशिक भेद है वह पूर्व में यथास्थान दर्शाया गया है।

साधु के भेदों के अनुसार गुण :-

जैन मुनियों के अलग-अलग कर्तव्यों की अपेक्षा श्वेताम्बराम्नाय की तरह दिगम्बर परम्परा में भी मुनियों के आचार्य, उपाध्याय और साधु - एसे तीन भेद किये गये हैं। दोनों परम्पराओं में आचार्य के 36 और उपाध्याय के 25 गुण समान रुप से स्वीकृत हैं। जबकि मुनि के श्वेताम्बर परम्परा में 27 और दिगम्बर परम्परा में 28 गुण माने गये हैं।

आर्यिका :-

दिगम्बर परम्परा में भी पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी उत्कृष्ट संयम धारण कर मोक्षमार्ग में अग्रसर हो सकती हैं (यद्यपि उन्हें स्त्रीरुप में मोक्षप्राप्ति का सामर्थ्य दिगम्बर परम्परा में मान्य नहीं है) उत्कृष्ट संयम धारण करनेवाली स्त्रियाँ आर्यिका कहलाती हैं। आर्यिकाओं का समस्त आचार प्रायः मुनियों के समान ही होता है। अन्तर मात्र इतना है कि स्त्रीपर्यायगत मर्यादा के कारण आर्यिकाएँ मुनियों की तरह निर्वस्त्र नहीं रहतीं, अपितु शरीर पर एक सफेद साडी धारण करती है और बैठकर ही अपने अञ्जलिपुटों में आहार करती हैं। आर्यिकाएँ दो-तीन आदि आर्यिकाओं के समूह में रहती हैं। इनकी प्रधान 'गणनी' कहलाती है, जिनके निर्देशन में ये अपने संयम का अनुपालन करती हैं। इनके महाव्रतों को औपचारिक महाव्रत कहा जाता है। आर्यिकाएँ क्षुल्लक-एलक (श्रावकभेद) से उच्च श्रेणी की मानी गयी हैं।[6]

श्रावक :-

श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तथा अनन्तानुबंधी कषाय के क्षयोपशम के बाद अप्रत्याख्यानीय कषाय के क्षयोपशम, पाँचो स्थावरों के वध में प्रवृत्त होने पर भी यथाशक्ति त्रस के वध से निवृत्त होनेवाले, पाँचों आस्रवों (हिंसादि) के एकदेश त्याग में लगे हुए, पंचम गुणस्थान योग्य दान, शील, पूजा, उपवासादि रुप अथवा दर्शनप्रतिमादि ग्यारह प्रतिमारुप व्रतादि धारण करने वाले मनुष्य को श्रावक कहते हैं।[7]

---

1. योगसार 8/52; आचार सार 1/11
2. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 35 की टीका; पञ्चाध्यायी 2/743, 744; ज्ञानार्णव-8/6
   प्रवचनसारोद्धार-208, 209 - आचार्य नेमिचंद्र सूरि
3. रत्नकरंडक श्रावकाचार 49, 50; चारित्र पाहुड-30
4. चारित्र पाहुड-30
5. पं. दौलतरामकृत छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द 5 का उत्तरार्द्ध एवं 6 का पूर्वार्द्ध व अन्वयार्थ, पृ. 161
6. जैन धर्म और दर्शन, पृ. 296 - मुनि प्रमाणसागरजी
7. जिनागमसार, प्रकरण 7/2 (ख) (1) पृ. 739, 741; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा 41 से 116; बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 45 की टीका पृ. 220; गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा 476 व टीका; सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पृ. 577

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शास्त्रों में 'श्रावक' के अर्थ में उपासक, सागार, गृही, गृहस्थ, देशविरत, देशसंयत, अणुव्रती आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।[8] उनके आचार धर्म को शास्त्रों में सागार धर्म कहते है। संक्षेप में सागार धर्म का वर्णन करते हुए पंडित आशाधरने शंकादि दोषों से रहित सम्यगदर्शन, निरतिचार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत (का पालन), और मरणसमय में विधिपूर्वक संलेखना - यह पूर्ण सागारधर्म है।[9] इसी का विस्तृत वर्णन करते दिगम्बर परम्परा में व्रतों के परिपालन के क्रमानुसार श्रावक के तीन भेद किये गये हैं - (1) पाक्षिक (2) नैष्ठिक और (3) साधक।[10]

पाक्षिक श्रावक :-

'पाक्षिक' का अर्थ है जो जिनेन्द्र भगवान् के पक्ष को ग्रहण कर चुका है। पाक्षिक श्रावक की श्रेणी में वे सभी श्रावक आ जाते हैं जो जिनेन्द्र भगवान् के पक्ष को ग्रहण करते हैं तथा जैन कुल क्रमानुसार अपना आचरण रखते हैं। यह गृहस्थ की प्राथमिक भूमिका है। इस भूमिकावाले श्रावक में सभी आवश्यक नैतिक गुण आ जाते हैं।[11] इसका वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने कहा है-

'जो स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि परिग्रह सहित घर में ही निवास करते हैं, जिनवचनों के श्रद्धानी हैं, न्यायमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, पापों से भयभीत हैं एसे ज्ञानी गृहस्थों के विकल चारित्र है'[12]

सागरधर्मामृत में भी श्रावकधर्मपालक की योग्यता का वर्णन करते हुए पं. आशाधरने कहा है- ''न्यायपूर्वक धनोपार्जक; गुणों, गुरुजनों और गुणीजनों का पूजक एवं उनका आदर-सत्कार करने वाला; परनिन्दा, कठोरतादि से रहित; प्रशस्तवक्ता; परस्पर एक दूसरे को हानि न पहँचाते हुए धर्म, अर्थ और काम का सेवन करने वाला एवं उनके योग्य पत्नी, गाँव, नगर और भवनवाला, लज्जाशील, शास्त्रानुसार भोजनपान और गमनागमन करनेवाला; सत्संगी, प्राज्ञ, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, धर्मविधिश्रोता, दयालु और पापभीरु पुरुष गृहस्थधर्म के पालन में समर्थ होता हैं।[13] उक्त विशेषताओं से भूषित व्यक्ति ही एक आदर्श गृहस्थ की श्रेणी में समाविष्ट होता है।

दिगम्बर परम्परा में पाक्षिक श्रावक के 'अष्ट मूलगुण' का अलग-अलग प्रकार से वर्णन किया गया है-

आचार्य समन्तभद्रने मद्य, मांस, मधु के त्याग सहित पाँच अणुव्रतों (के पालन) को गृहस्थों के अष्टमूलगुण माना है।[14] पंडित आशाधर ने पाक्षिक श्रावक को मद्य, मांस, मधु (सहद), और पाँच उदुम्बर (पीपल, ऊमर, बड, कठूमर, पाकर) फलों का त्याग और 'च' शब्द से मक्खन, रात्रिभोजन और बिना छने जल का त्याग करने का विधान किया है।[15] वहीं प्रकारान्त से अष्टमूलगुण का वर्णन करते हुए यह भी कहा है कि 'देव, गुरु और धर्म के प्रति समर्पित पाक्षिक श्रावक के मद्य, मांस, मधु, रात्रि भोजन, पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - इन पाँच परमेष्ठियों की स्तुति, जीवदया तथा पानी को वस्त्र द्वारा अच्छी तरह छानकर पीना - ये आठ मूलगुण हैं।[16] पं. आशाधरने इन अष्टगुणों का महत्त्व बताते हुए कहा है - इनमें से एक के भी बिना श्रावक गृहस्थ-श्रावक कहलाने का पात्र नहीं है।[17]

उपरोक्त बातें अहिंसा की दृष्टि से कही गयी हैं। जैन होने के ये मूल चिह्न हैं। इसके बिना वह नाम से भी 'जैन' नहीं कहला सकता।[18]

मद्य-मांस और मधु तो प्रकार रुप से हिंसाजनित होने से त्याज्य हैं। उसी प्रकार पाँच उदम्बर में बहुसंख्या में त्रस जीव होने से वे भी त्याज्य हैं।[19]

जैनागमों के अनुसार **अनछाने जल की एक बूंद में इतने अधिक त्रस जीव होते हैं कि वे यदि कबूतर की तरह उडें तो पूरे जम्बुद्वीप को व्याप्त कर ले[20], या सरसों के दाने जितने बडे हो जायें तो पूरे जम्बुद्वीप में नहीं समा सकते।[21]** मनुस्मृति में भी कहा है- ''**दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्**।[22] अतः हिंसा और रोगों से बचने हेतु पानी छानकर ही पीना चाहिए। त्रस हिंसा, रोग एवं दुर्गति से बचने हेतु श्रावक को रात्रिभोजन त्याज्य है, इसका विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। सागर धर्मामृत में कहा है कि पाक्षिक श्रावक यदि रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग न कर सके, तो कम से कम पान, दवा, जल, दूध आदि की छूट रखकर अन्य स्थूल आहार का त्याग तो करना ही चाहिए।[23]

नैष्ठिक श्रावक :-

देशचारित्र को घात करनेवाली कषाय के क्षयोपशम के उत्तरोत्तर उत्कर्ष के कारण दार्शनिक आदि ग्यारह अवस्थाओं के अधीन तथा पाक्षिक की अपेक्षा उत्तम लेश्यावाला नैष्ठिक श्रावक होता है।[24] व्रतधारी श्रावक नैष्ठिक कहलाता है।[25] पाक्षिक श्रावक अपने व्रतों को कुलाचार के रुप में पालन करता हैं, उसमें कदाचित् अतिचार भी लग सकते हैं किन्तु नैष्ठिक श्रावक व्रतों का निरतिचार पालन करते हैं।[26]

दिगम्बर परम्परा मैं नैष्ठिक श्रावक के उत्तरोत्तर विकास हेतु ग्यारह श्रेणीयाँ हैं, जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं। वे इस प्रकार हैं - दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषधोपवास, सचित्त-विरत, दिवा-मैथुन त्याग, पूर्ण ब्रह्मचर्य, आरंभ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति त्याग तथा उद्दिष्ट त्याग।[27] इसमें ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और एलक - एसे दो भेद हैं।

8. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा 40, 41; रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 50
9. सागारधर्मामृत
10. सागारधर्मामृत 1/20
11. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश - 4/16
12. रत्नकरंडक श्रावकाचार, श्लोक 50
13. सागारधर्मामृत 11
14. रत्नकरंडक श्रावकाचार-3/66; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 45 की टीका
15. सागारधर्मामृत 2/2
16. सागारधर्मामृत 2/18
17. वही, पृ. 63
18. जैन धर्म और दर्शन, पृ. 262 - मुनि प्रमाणसागर जी
19. वही
20. एक बिन्दूद्भवा जीवाः पारावतसमा यदि। भूत्वा चरन्ति चेज्जम्बुद्वीपोऽपि पूर्यते यतः॥ व्रतविधान संग्रह
21. एगम्मि उदगबिंदुमि जे जीवा जिणवरेहि पण्णत्ता। ते जई सरसिमित्ता जंबूदीवे ण मायंति॥ - प्रवचन सारोद्धार; संबोधसत्तरी प्रकरण - 95
22. मनस्मृति, 6/46
23. सागारधर्मामृत - 2/76; लाही संहिता - 2/92
24. सागारधर्मामृत 3/1
25. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश - 3/46
26. सागारधर्मामृत 3/4
27. कार्तिकेय अनुप्रेक्षा - 305-6; रत्नकरंडक श्रावकाचार - 136; सागारधर्मामृत 3/2-3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर परम्परा में पाक्षिक श्रावक की समस्त क्रिया करने वाले श्रावक को दार्शनिक श्रावक कहा है। साथ ही दार्शनिक श्रावक को मद्यादि के व्यापार का त्याग, मांसाहारी आदि के संग का त्याग, उनके घर के खान-पान-बर्तन का त्याग, आचार-मुरब्बा, दो दिन के बासी दही, द्विदल(विदल)*, वासी कांजी का त्याग, चमडे से बंधी हींग का त्याग, अनन्तकाय-भक्षण का त्याग, पुष्प भक्षण-त्याग, अज्ञात फल, बैंगन, कचरी, बेर, अंदर से बिना देखी उडद, सेम आदि की फलियाँ, रात्रिभोजन - इनका त्याग करना चाहिए।[28] साथ ही जुआ, मांसभक्षण, मद्यपान, वेश्यासेवन, चोरी, शिकार और परस्त्रीगमन - इन सात व्यसनों का भी त्याग करना बताया गया है।[29]

इसी प्रकार व्रतप्रतिमा में पूर्वोक्त मूलगुणों के साथ श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - इस प्रकार 12 व्रतों का नःशल्य होकर पालन करने का विधान है।[30] इसी को सागर धर्मामृत में श्रावक के उत्तरगुण[31] कहा गया है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें श्रावक के 12 व्रत नाम से कहा गया है।[32] पाँचो अणुव्रतों का क्रम तो दोनों परम्पराओं मे समान है।[33] और शेष व्रतों में श्वेताम्बर परम्परा में 1. दिग्व्रत 2. भोगोपभोगविरमण और 3. अनर्थदण्डविरमण व्रत - इन तीन गुणव्रतों को सम्मिलित किया गया है[34], जबकि दिगम्बर परम्परा में 1. दिग्व्रत 2. देशव्रत और 3. अनर्थदण्ड व्रत - ये तीन गुणव्रत हैं।[35] इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में 1. सामायिक 2. देशावकाशिक 3. पौषधोपवास और 4. अतिथि संविभाग - इन चार व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है[36] जबकि दिगम्बर परम्परा में 1. सामायिक 2. पौषधोपवास 3. भोगोपभोगपरिमाण और 4. अतिथिसंविभाग व्रत - इन चार व्रतों को शिक्षाव्रत माना गया है।[37] रत्नकरण्डक श्रावकाचार में 'अतिथिसंविभाग' की जगह 'वैयावृत्य'[38] को चतुर्थ शिक्षाव्रत माना गया है, जबकि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में इसे आभ्यन्तर तप का एक प्रकार माना गया है।[39] दिगम्बर परम्परा में पहली से छठी प्रतिमा तक के श्रावक जघन्य, सातवीं से नोवीं तक मध्यम, और दसवीं और ग्यारवीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है।[40]

साधक श्रावक :-

दिगम्बर परम्परा में जीवन के अन्त में मरणकाल सम्मुख उपस्थित होने पर भोजन-पानादि का त्याग कर विशेष प्रकार की साधनाओं द्वारा सल्लेखनापूर्वक देहत्याग करने वाले श्रावक को "साधक श्रावक" कहा गया है।[41] इसका विस्तृत वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं।

इसके साथ ही रत्नकरंडक श्रावकाचार में दर्शनविशुद्धि आदि 16 कारण भावनाओं का वर्णन करते हुए श्रावक को उसका चिंतन करने योग्य हैं - ऐसा कहा है[42], लेकिन वस्तुतः ये 16 भावनाएँ तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध में कारणभूत गुण हैं जो विधि-निषेधात्मक आचरणपरक हैं।[43] इनका वर्णन शोध प्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में यथास्थान किया गया है। इसी प्रकार आत्मा के स्वभाव स्वरुप उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म का भी वर्णन किया है जो कि शोध प्रबन्ध के चतुर्थ परिच्छेद में यथास्थान वर्णित है।

दिगम्बर परम्परा में पूजा-विधि :-

दिगम्बर परम्परा में भी श्वेताम्बर परम्परा के समान ही द्रव्यपूजा और भावपूजा भेद किये गये हैं। द्रव्यपूजा की विशेषता यह है कि इसमें अष्टद्रव्य अर्पण पूर्वक शुभमनोभावों से पूज्यों की पूजा की जाती है, जबकि भाव पूजा में द्रव्य के अर्पण का भावमात्र रहता है। चूँकी मुनि अकिञ्चन होते हैं अतः मुनि भावपूजा करते हैं, जबकि श्रावक द्रव्यार्जन के लिए कृषि आदि आरम्भ करते हैं और धन-धान्य आदि परिग्रह रखते हैं, अतः श्रावक उनकी शक्ति के अनुसार अष्टद्रव्य उत्सर्जन पूर्वक पूजा करते हैं, इसमें भी भावों की मुख्यता तो रहती ही है।[44]

दिगम्बर परम्परा में भी उल्लेख प्राप्त हैं कि देव गण दिव्य गन्ध, दिव्य वस्त्र आदि से जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं।[45] परन्तु कालक्रम से अनेक सम्प्रदाय हो जाने से पूजन में समर्पित किये जाने वाले द्रव्यों में न्यूनाधिकता दिखायी देती है। दिगम्बर परम्परा में अष्ट द्रव्य से पूजा उसी प्रकार से स्वीकृत है जैसे कि श्वेताम्बर परम्परा में अष्टोपचारी पूजा।

दिगम्बर परम्परा और जैनाचार :-

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाये तो दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के आचार विधान में कोई भेद नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से भेद वहाँ पाया जाता है जहाँ से दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व भेद उत्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिए दिगम्बर सम्प्रदाय में 'निर्ग्रन्थ' का अर्थ 'अचेलकत्व' किये जाने से मुनियों में अचेलकत्व का विधान किया गया है जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में निर्ग्रन्थ का अर्थ ग्रन्थिरहित किये जाने से और वस्त्रादि चौदह उपकरणों को परिग्रह से बाहर माने जाने से श्वेतवस्त्र धारण करने का विधान है। किन्तु फिर भी, दोनों सम्प्रदायों में वीतरागता और उसकी प्राप्ति हेतु अहिंसा का सिद्धान्त समान रुप से स्वीकृत है।

★ जिसके बराबर दो भाग होते हैं, ऐसे दाल बेसन आदि को कच्चे दूध, दही, छाश के साथ खाना द्विदल (विदल) कहलाता है।
- रत्नकरंडक श्रावकाचार, पृ. 149

28. सागारधर्मामृत - 3/9-15; रत्नकरंडक श्रावकाचार 53; कार्तिकेय अनुप्रेक्षा, गाथा 328
29. सागारधर्मामृत - 3/17, वसुनन्दी श्रावकाचार - 59; रत्नकरंडक श्रावकाचार, पृ. 135 से 142
30. रत्नकरंडक श्रावकाचार - 53
31. सागारधर्मामृत - 4/4
32. उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन-1।
33. रत्नकरंडक श्रावकाचार - 53; उपासकदशांग सूत्र - अध्ययन-1
34. उपासकदशांग सूत्र - अध्ययन 1
35. कार्तिकेय अनुप्रेक्षा - 367-68; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गा. 137, 139, 141
36. उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन।
37. जिनागमसार पृ. 952; पुरुषार्थसिद्धयुपाय, गाथा 148, 151, 161, 167; भगवती आराधना 2082-2083; रत्नकरंडक श्रावकाचार,-97, 106, 83, तत्त्वार्थसूत्र 7/21 पर सर्वार्थसिद्धि टीका, पृ. 280
38. रत्नकरंडक श्रावकाचार 91
39. नवतत्त्व प्रकरण-35; तत्त्वार्थसूत्र - 9/29; रत्नकरंडक श्रावकाचार - पृ. 333, 337;
40. सागारधर्मामृत - 3/2-3; बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 45
41. महापुराण - 149; सागारधर्मामृत 8/1, 12; रत्नकरंडक श्रावकाचार, पृ. 432
42. रत्नकरंडक श्रावकाचार, पृ. 227-228
43. दृष्टव्य - तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय 7/23
44. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पूर्वपीठिका
45. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पूर्वपीठिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. ब्राह्मण परम्परा और जैनाचार

भारतवर्ष में आरम्भ से ही दो परम्पराएँ विद्यमान रही हैं श्रमणपरम्परा और ब्राह्मण परम्परा जैसा कि "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" -इस पाणिनि अष्टाध्यायी में प्राप्त सूत्र की व्याख्या में शाश्वत विरोध के उदाहरण में 'श्रमणब्राह्मणम्' उदाहरण से स्पष्ट है। फिर भी, ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे की पोषक और एकदूसरे पर प्रभावी रहीं हैं और आज भी हैं । एकदूसरे के सिद्धान्तों की स्वस्थ आलोचनाओं के कारण एकदूसरे में प्राप्त विसंगतियों का परिमार्जन होता रहा और स्वीकृत सिद्धान्तों की नयी किन्तु तर्कसंगत व्याख्याएँ भी प्रकाश में आई।

अहिंसा : एक सार्वभौम सिद्धान्त :-

उपरोक्त क्रम में वैदिक धर्म में भी उत्तरोत्तर काल में जैन एवं बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव से अहिंसा को प्रधानता मिलती गई। महाभारत में **अहिंसा को परम धर्म, परम तप, परम संयम, परम मित्र, तथा परम सुख कहा है**।[1] अनुशासन पर्व में कहा है - **इस विश्व में अपने प्राणों से प्यारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य अपने ऊपर दया करता है, उसी प्रकार से दूसरें पर भी रखनी चाहिए। अहिंसा ही एकमात्र धर्म है, अहिंसा श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि इससे सभी प्राणियों की रक्षा होती है**।[2] महाभारत में और भी कहा है कि "**एक जीव के प्राण बचाना सुवर्ण के मेरुपर्वत या सारी पृथ्वी का दान देने से भी बढकर है**।[3] सभी वेद, सभी यज्ञ और सभी तीर्थाभिषेक से भी जीवदया का फल अधिक है।[4] वेदविचारकों का कथन है - **हिंसा से जिसका मन दुःखी होता है उसे हिन्दु कहा जाता है**।[5] मनुस्मृति में भी सब जीवों पर दया करने का प्रतिपादन किया गया है।[6] गीता में भी कहा है - **सभी जीवों के हितेच्छु किसी भी जीव की हिंसा न करें**।[7]

ईश्वर गीता में कहा है - **मन से, वाणी से या शरीर से कभी भी किसी भी जीव को क्लेश उत्पन्न नहीं करवाना - उसे महर्षियों ने अहिंसा कहा है**।[8]

बुद्धदेव ने कहा है - **सभी जीव दण्ड से त्रास पाते हैं और मृत्यु से भयभीत होते हैं अतः सभी जीवों को आत्मवत् मानकर किसी भी जीव की हिंसा न करें, घात भी न करें**।[9] भागवत में पाँच व्रतों में और सांख्यों के दश धर्मों में अहिंसा को ही प्रथम व्रत और धर्म कहा है।[10] महाभारत में भी यज्ञ में होते पशुवध का स्पष्ट निषेध किया है।[11] शब्दकल्पद्रुम में भी यज्ञ में होनेवाली पशुहिंसा की निन्दा की गयी है।[12] छान्दोग्य उपनिषद में भी कहा है - **स्थावर या चर, किसी भी जीव की हिंसा न करें। जो सभी जीवों को आत्मवत् देखता है, वही मनुष्य धार्मिक है**।[13] **शुद्धि-शौच का चतुर्थ कर्म जीवदया है**।[14]

योग-भाष्यकार व्यास ने कहा है - **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामानभिद्रोहः**। अर्थात् सब तरह से सर्वकाल में सभी जीवों के साथ अद्रोहपूर्वक व्यवहार करना अहिंसा है।[15] पतंजलि के योगसूत्र में भी कहा गया है - "**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**।[16] अर्थात् अहिंसा के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके निकट सब प्राणी अपना स्वभाविक वैरभाव त्याग देते हैं। आयुर्वेद में चरक संहिता में भी सर्व जीवों के प्रति दया का वर्णन है।[17] यास्कनिरुक्त में भी हिंसा कर्म का प्रतिषेध किया है।[18]

जैनधर्म की तरह वैदिक धर्म में अहिंसा के साथ-साथ सत्य महाव्रत[19], अचौर्य महाव्रत[20], ब्रहमचर्य महाव्रत[21] और अपरिग्रह महाव्रत[22] की स्वीकारोक्ति भी है।

पंच यम और पंचमहाव्रत :-

जैन परम्परा के पाँच महाव्रतों के समान ही वैदिक परम्परा में पंच यम स्वीकार किये गये हैं। पांतजल योगसूत्र में निम्न पाँच यम माने गये हैं - 1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह।[23] इन्हें महाव्रत भी कहा गया है। पांतजल योगसूत्र के अनुसार जो जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित है तथा सभी अवस्थाओं में पालन करने योग्य है, वे महाव्रत हैं।

1. महाभारतः अनुशासन पर्व - अ. 119, श्लोक 38
2. महाभारतः अनुशासन पर्व
3. वही
4. वही
5. अहिंसा और मार्गदर्शन पृ. 10
6. सर्वभूतानुकम्पकः। -मनुस्मृति 6/8
7. मा हिंस्यात् सर्वभूतानि, सर्वभूतहिते रतः। - श्रीमद् भगवद्गीता।
8. वही, पृ. 20
9. ब्राह्मण धार्मिक सूत्र, बुद्धदेव - उद्धत 'अहिंसा और मार्गदर्शन, पृ. अंतिम से दूसरा
10. दरेक धर्मनो दृष्टिए अहिंसा नो विचार, पृ.22
11. अहिंसा सकलो धर्मः हिंसाऽधर्मस्तथाविधः। सत्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामि, यो धर्मः सत्यवादिनाम्।।
    -महाभारत - शांति पर्व-मोक्षधर्माधिकार-अध्याय 99/20
12. शब्दकल्पद्रुम - पद्मोत्तर खण्ड
13. न हिंस्यात् सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च। आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः॥
    - अ.रा.भा. 1 पृ. 878; छान्दोग्य उपनिषद्-अध्ययन 8
14. अ.रा.पृ. 1/873; एवं पृ. 7/1004, 1165; चाणक्य राजनीतिशास्त्र - 3/42; स्कन्दपुराण, काशीखंड-6
15. योगसूत्र 2/35
16. योगसूत्र-पतंजलि, 2/35
17. चरक संहिता 1/30
18. यास्क निरुक्त 1/8
19. शतपथ ब्राह्मण 2/1/4/10; नारायणोपनिषद्-10/62-63 सूक्ति त्रिवेणी पृ. 180 से उद्धृत; वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड-1/4/71, 109/13
20. भागवत 7/14/8
21. मनुस्मृति 6/41/49; गौतमसूत्र 3/11
22. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/1; मनुस्मृति 6/38; भागवत - 7/14/8
23. पातञ्जल योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र 32

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाव्रतों का पालन सभी के द्वारा निरपेक्ष रुप से किया जाना चाहिये। वेद व्यास का कथन है कि निष्कामयोगी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करें। वैदिक परम्परा के अनुसार संन्यासी को पूर्णरुप से अहिंसा महाव्रत का पालन करना चाहिये, उसे चर और स्थावर, दोनों प्रकार की हिंसा निषिद्ध है।[24] इसी प्रकार संन्यासी के लिए असत्य भाषण और कटु भाषण भी वर्जित है।[25] वैदिक परम्परा में संन्यासी के आचार का जो विधान है उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की दृष्टि से कोई मौलिक मतभेद नहीं है। वैदिक परम्परा के अनुसार भी संन्यासी को ब्रह्मचर्य महाव्रत का पूर्णरुप से पालन करने का विधान प्रतिपादित किया गया है। वैदिक परम्परा में स्वीकृत मैथुन के आठों अंगों का सेवन उसके लिए वर्जित माना गया है। परिग्रह की दृष्टि से वैदिक परम्परा भी भिक्षु के लिए जलपात्र, पवित्रा (जल छानने का वस्त्र) पादुका, आसन एवं कन्था आदि सीमित वस्तुएँ रखने की ही अनुमति देती है।[26] वायुपुराण में उन सब वस्तुओं के नामों का उल्लेख है जिन्हें संन्यासी अपने पास रख सकता है।[27] साथ ही जैनपरम्परा के समान ही वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिए धातु का पात्र निषिद्ध है। मनुस्मृति के अनुसार संन्यासी का भिक्षापात्र तथा जलपात्र मिट्टी, लकडी, तुम्बी या छिद्ररहित बाँस का होना चाहिए।[28] इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी पाँचों महाव्रतों के पालन का वर्णन प्राप्त होता है।

ब्राह्मण परम्परा में रात्रिभोजन त्याग :-

ब्राह्मण परम्परा में रात्रिभोजन-त्याग का प्रतिपादन भी उसी प्रकार से किया गया है जिस प्रकार से जैनपरम्परा में किया गया है, यद्यपि उतनी दृढता दिखायी नहीं देती। रात्रि में भुक्त अन्न-जल को मांस और रुधिर के समान बताया गया है। स्पष्ट है कि रात्रिभोजन में भी हिंसा होने से ही वर्जन किया गया है। इसीलिए ब्राह्मणपरम्परा में भी रात्रिभोजन-निषेध उचित भी है, क्योंकि वहाँ भी अहिंसा को ही परम धर्म माना गया है।

जैन परम्परा की तरह ब्राह्मण परम्परा में भी रात्रिभोजनत्याग के विषय में अनेक जगह चर्चा की गई है। वहाँ रात्रिभोजन से होने वाली हानि का लौकिक, धार्मिक माध्यम से वर्णन कर ऋषियों ने लोगों को रात्रिभोजन त्याग हेतु प्रेरित किया है। स्कन्दपुराण और मार्कण्डेय पुराण में **महर्षि मार्कण्ड ने सूर्यास्त होने पर (के बाद) जल को रक्त और अन्न को मांस के समान कहा है।**[29] कूर्मपुराण में रात्रि में भोजन का त्याग कर ध्यान करने की प्रेरणा दी गई है।[30] तपस्वी, गृहस्थी एवं विवेकी जनों को रात्रि को पानी भी नहीं पीना चाहिए।[31] पूर्वाह्न में देवता, मध्याह्न में ऋषि, अपराह्न में पितर तथा संध्या में यक्ष राक्षस भोजन करते हैं। सर्व समय को छोडकर रात्रि को खाना भोजन नहीं कहलाता।[32] **पद्मपुराण में रात्रि भोजन को नरक का प्रथमद्वार कहा है।**[33] महाभारत में कहा है कि **जो मद्य, मांस, रात्रिभोजन और कंदमूल का भक्षण करते हैं, उनके तीर्थयात्रा, जप-तपादि अनुष्ठान नष्ट हो जाते हैं।**[34] **योगवाशिष्ठ के अनुसार मद्य, मांस, रात्रिभोजन और जमीकंद भक्षण करने से (जीव) नरक में जाता है और उनके त्याग से स्वर्ग में जाता है।**[35] **जो जीव रात्रिभोजन नहीं करता और चातुर्मास में विशेष कर रात्रिभोजन का त्याग करता है उसके इस भव में और पर भव में समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं।**[36] चातुर्मास में जो रात्रि भोजन करता है उसके पाप की शुद्धि सैंकडों चान्द्रायण तपों से भी नहीं होती।[37] स्कन्दपुराण में कहा है कि **जो मनुष्य सदा एक बार भोजन करता है वह अग्निहोत्र का फल पाता है, और जो मनुष्य सदा सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन करता है उसे तीर्थयात्रा का फल घर बैठे मिलते है।**[38] **जो पुण्यात्मा रात्रि में समस्त आहार-पानी का त्याग करते हैं, उन्हें महीने में पन्द्रह उपवास का लाभ मिलता है।**[39]

ब्राह्मणपरम्परा और पाँच समितियाँ :-

वैदिक परम्परा में भी संन्यासी को गमनागमन की क्रिया पर्याप्त सावधानीपूर्वक करने का विधान है। मनु का कथन है कि संन्यासी को जीवों को कष्ट पहुँचाए बिना चलना चाहिए।[40] महाभारत के शान्ति पर्व में मुनि को त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा से

24. महाभारत, शांतिपर्व - 9/19
25. मनुस्मृति 6/47-48
26. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 413
27. वही पृ. 493
28. मनुस्मृति 6/53-54
29. त्वया सर्वमिदं व्याप्तं, ध्येयोऽसि जगता खेः !
त्वयि चास्तमित देव ! आपो रुधिरमुच्यते ॥ - स्कन्दपुराण, कपोलस्तोत्र, श्लोक 25
अस्तं गते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते ।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेन महर्षिणा ॥1॥ - मार्कण्डेय पुराण
30. न नक्तं चैवमश्नीयाद्, रात्रौ ध्यानपरो भवेत् । कूर्मपुराण - अध्याय 27
31. नोदकमपिपातव्यं, रात्रावत्र युधिष्ठिर ! ।
तपस्विनां विशेषेण, गृहिणां च विवेकिनाम् ॥ 30/22 - मार्कण्डेय पुराण
32. देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्ने, मध्याह्ने, ऋषिभिस्तथा ।
अपराह्ने च पितृभिः सायाह्ने दैत्यदानवाः ॥8॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वहैः !
सर्ववेलामतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥ ॥ - यजुर्वेद आह्निक श्लोक 24-19
33. चत्वारो नरकद्वारः, प्रथमं रात्रिभोजनम् ।
परस्त्रीगमनं चैव, सन्धानान्तकायिके ॥ - पद्मपुराण - प्रभास खण्ड
34. मद्यमांसाशनं रात्रौ-भोजनं कन्दभक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तापः ॥ - महाभारत (ऋषीश्वर भारत)
35. मद्यमांसाशनं रात्रौ-भोजनं कन्दभक्षणम् ।
भक्षणात् नरकं याति, वर्जनात् स्वर्गमाप्नुयात् ॥
36. नक्तं न भोजयेद्यस्तु, चातुर्मास्ये विशेषतः ।
सर्वकामानवाप्नोति, इहलोके परं च ॥ - योगवाशिष्ठ, पूर्वार्ध-108
37. चातुर्मास्ये तु सम्प्राप्ते, रात्रिभोज्यं करोति यः ।
तस्य शुद्धिर्न विद्येत, चान्द्रायणशतैरपि ॥ - ऋषीश्वर भारत - वैदिक दर्शन
38. एकभक्ताशनान्नित्यमग्निहोत्रफलं लभेत् ।
अनस्तभोजनो नित्यं, तीर्थयात्राफलं भवेत् ॥ - स्कन्द पुराण - 7/17/235
39. ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं, वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषा पक्षोपवासस्य, फलं मासेन जायते ॥
- रात्रिभोजन महापाप, पृ. 16, 17, 18
40. मनुस्मृति 6/4

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बचकर ही गमनागमन की क्रिया करने का उल्लेख है।[41] भाषासमिति के संदर्भ में भी दोनों परम्पराओं में विचारसाम्य है। मनु का कथन है कि मुनि को सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।[42] महाभारत के शांति पर्व में भी वचन-विवेक का सुविस्तृत विवेचन है।[43] मुनि की भिक्षावृति के संबंध में भी वैदिक परम्परा के कुछ नियम जैन परम्परा के समान ही है। वैदिक परम्परा में भिक्षा से प्राप्त भोजन पाँच प्रकार का माना गया है-

(1) **माधुकर** :- जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों से उन्हें कोई कष्ट दिये बिना मधु एकत्र करती है उसी प्रकार दाता को कष्ट दिये बिना तीन, पाँच या सात घरों से जो भिक्षा प्राप्त की जाती है उसे माधुकर कहा जा सकता है।

(2) **प्राक्प्रणीत** :- शयन स्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों के द्वारा भोजन के लिए प्रार्थना कर दी जाती है और उससे जो भोजन प्राप्त होता है वह प्राक्प्रणीत है।

(3) **आयाचित** :- भिक्षाटन करने के लिए उठने से पूर्व ही कोई भोजन के लिए निमंत्रित कर दे, वह आयाचित है।

(4) **तात्कालिक** :- संन्यासी के पहुँचते ही कोई ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे दे।

(5) **उपपन्न**:- मठ में लाया गया पका भोजन। इन पाँचों में माधुकर भिक्षावृति को ही श्रेष्ठ माना गया है।

जैन परम्परा की माधुकरी - भिक्षावृति वैदिक परम्परा में भी स्वीकृत की गई है। संन्यासी को भिक्षा के लिए गाँव में केवल एक बार ही जाना चाहिए और वह भी तब, जब कि रसोईघर से धुआँ निकलना बन्द हो चुका हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बर्तन आदि अलग रख दिये गये हों।[44] इसका गूढ अर्थ यह है कि संन्यासी के निमित्त से अधिक मात्रा में भोजन न पकाया गया हो, और इसका प्रयोजन यह है कि गृहस्थों पर संन्यासी के भोजन के निमित्त आर्थिक भार नहीं होना चाहिए।

यद्यपि निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति के संदर्भ में कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। फिर भी इतना निश्चित है कि वैदिक परम्परा का दृष्टिकोण जैनपरम्परा का विरोधी नहीं है।

ब्राह्मणपरम्परा और गुप्ति :-

ब्राह्मणपरम्परा में संन्यासी के लिए त्रिदण्डी शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिदण्डी वही हैं जो मन, वचन और शरीर के नियंत्रण रुप आध्यात्मिक दम्ड रखता हो।[45] जैनपरम्परा में इस हेतु 'दण्ड' शब्द का प्रयोग हुआ है।[46] इस प्रकार शाब्दिक दृष्टि से भले ही जैनपरम्परा में तीन गुप्ति[47] और वैदिकपरम्परा में 'त्रिदण्डी' - इस प्रकार भेद है, परन्तु दोनों परम्पराओं का मूल आशय मन, वचन, काया की अप्रशस्त प्रवृत्तियों के नियमन से हैं।

वैदिकपरम्परा और कल्पविधान :-

जैनपरम्परा के दस कल्पों में कुछ का विधान वैदिक परम्परा में भी दृष्टिगोचर होता है। जैन परम्परा के आचेलक्य कल्प के समान वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिए या तो नग्न रहने का विधान है या जीर्णशीर्ण अल्प वस्त्र धारण करने का विधान है।[48] औद्देशिक कल्प वैदिक परम्परा में स्वीकृत नहीं है यद्यपि भिक्षावृति को ही अधिक महत्व दिया गया है। उच्चकोटि के संन्यासियों के लिए सभी वर्णों के यहाँ की भिक्षा को ग्राह्य माना गया है। वैदिक परम्परा में शय्यातर और राजपिण्ड-कल्प का कोई विधान दिखाई नहीं दिया। वैदिक परम्परा में भी जैन परम्परा के कृतिकर्म-कल्प के समान यह स्वीकार किया गया है कि दीक्षा की दृष्टि से ज्येष्ठ संन्यासी के आने पर उसके सम्मान में खडा होना चाहिए। ज्येष्ठ सन्यासियों को प्रणाम करना चाहिए। वैदिक परम्परा में अभिवादन के संबंध में विभिन्न प्रकार के नियमों का विधान है।[49] जिसकी विस्तृत चर्चा में जाना यहाँ संभव नहीं है। वैदिक परम्परा में जैन परम्परा के समान मुनि के लिए पंच महाव्रत का पालन आवश्यक है जिसकी तुलना व्रत-कल्प से कर सकते हैं। जैन परम्परा की दो प्रकार की दीक्षाओं की तुलना वैदिक परम्परा में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से की जा सकती है। यद्यपी यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक परम्परा में संन्यासियों के संबंध में इतना विस्तृत प्रतिपादन नहीं है। प्रतिक्रमण-कल्प का एक विशिष्ट नियम के रुप में वैदिक परम्परा में कोई निर्देश नहीं है, यद्यपि प्रायश्चित की परम्परा वैदिक परम्परा में भी मान्य है। जहाँ तक चातुर्मास काल को छोडकर शेष समय में भ्रमण के विधान का प्रश्न है, जैन और वैदिक परम्परा लगभग समान ही है। वैदिक परम्परा के अनुसार भी संन्यासी को आषाढ पूर्णिमा से लेकर चार या दो महीने तक एक स्थान पर रुकना चाहिए और शेष समय गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रुकते हुए भ्रमण करना चाहिए।[50]

ब्राह्मण परम्परा में दश धर्म :-

(1) **क्षमा** :- वेदव्यास ने क्षमा को असमर्थ मनुष्यों का गुण और समर्थ मनुष्यों का भूषण माना है।[51] मनु ने कहा है- विद्वान् जन क्षमा-भाव से ही पवित्र बनते हैं।[52] संत तुकाराम ने कहा है- जिस मनुष्य के हाथ में क्षमारुपी शस्त्र हो, उसका दुष्ट क्या बिगाड सकता है।[53] कवि बाणभट्टने क्षमा को सभी तपस्याओं का मूल कहा है।[54] महात्मा गाँधी के अनुसार दण्ड देने की शक्ति होने पर भी दण्ड न देना, सच्ची क्षमा है।[55]

ब्राह्मण परम्परा में दश धर्मो का महत्त्व :-

1. **क्षमा** :- गीता में क्षमा को दैवी संपदा और भगवान् की ही एक वृत्ति माना गया है।[56] महाभारत के उद्योग पर्व में

41. महाभारत, शांतिपर्व - 9/19
42. मनुस्मृति 6/46
43. महाभारत, शांतिपर्व - 109/15-19
44. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग.1, पृ. 492; महाभारत शांतिपर्व /21-24
45. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग.1, पृ. 494; दक्षस्मृति 7/27-31
46. साधुप्रतिक्रमण सूत्र (पगाम सज्झाय), स्थानांग 3/126
47. उत्तराध्ययन सूत्र 24/1
48. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग.1, पृ. 494
49. वही, पृ. 237-241
50. वही पृ. 491, जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. 366, 367
51. महाभारत, उद्योग पर्व 33/49
52. मनुस्मृति 5/107
53. तुकाराम अभंग, गाथा 3995
54. बाणभट्ट कृत हर्षचरित, पृ. 12
55. सर्वोदय-98, 'शाश्वत धर्म' मासिकपत्रिका, अंक अगस्त-2001, पृ. 16 से उद्धृत
56. गीता-10/4, /16/3

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमा का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है - क्षमा द्वेष को दूर करती है, इसलिए वह एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है।[57]

2. **मार्दव** :- वैदिक परम्परा में भी अहंकार को पतन का कारण माना गया है। गीता में आधिपत्य, ऐश्वर्य, बल, धन, कुल आदि के अहंकारी को अज्ञान से विमोहित कहा है।[58] आगे कहा है - जो धन और सम्मान के मद से युक्त है वह भगवान् की पूजा का ढोंग करता है।[59] महाभारत में रुप, धन और कुल-इन तीनों मदों को प्रमाद का और आसक्ति तथा धनहानि और पतन का कारण माना गया है।[60]

3. **आर्जव** :- महाभारत के अनुसार सरलता एक आवश्यक गुण है।[61] गीता में आर्जव को दैवी सम्पदा[62], तप[63], और ज्ञान[64] कहा गया है।

4. **शौच** :- गीता में शौच की गणना दैवी सम्पदा, ब्राह्मणकर्म एवं तप में की गयी है।[65] गीता भाष्य में शौच का अर्थ 'प्रतिपक्षी भावना के द्वारा अन्तःकरण के रागादि मलों को दूर करना' किया गया है।[66]

5. **सत्य** :- वैदिक परंपरा में भी संन्यासी के लिए असत्य भाषण और कटु भाषण वर्जित है।[67]

6. **संयम** :- वैदिक परम्परा भी आलीनगुप्ति होकर संयम साधना पर जोर देती है।[68] वहाँ इन्द्रियविजेता को स्थितप्रज्ञ कहा गया है।[69] गीता में कहा है कि श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय ही ज्ञान प्राप्त करता है।[70] जो संयमी है उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।[71] योगीजन संयमरुप अग्नि में इन्द्रियों का हवन करते हैं।[72]

7. **तप** :- वैदिक ऋषि तप की महत्ता का प्रतिपादन करते कहते हैं - 'तपस्या से ही ऋतऔर सत्य उत्पन्न हुए[73], तपस्या से ही वेद उत्पन्न हुए[74], तपस्या से ही ब्रह्म खोजा जाता है[75], तपस्या से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाती है और ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।[76] तपस्वी तपस्या के द्वारा ही लोककल्याण का विचार करते है।[77] और तपस्या से ही लोक में विजय प्राप्ति होती है।[78] तप ही ब्रह्म है।[79] तप से ही ऋषिगण त्रैलोक्य के चराचर प्राणियों को देखते हैं।[80] तपस्या से दुर्लभ और दुस्तर कार्य या पदार्थ भी साध्य है। तपस्या की शक्ति दुरतिक्रम है।[81] महापातकी और हीनाचारी भी तपस्या से किल्विषी योनि से मुक्त हो जाता है।[82] स्वर्ग के सात द्वारों में तप प्रथम द्वार है।[83]

8. **त्याग** :- गीता में तामस (नियत) कर्मो का मोह से, राजस कर्मो को दुःखरुप मानकर शारीरिक क्लेश के भय से एवं सात्विक कर्मो में आसक्ति और फल के त्याग का वर्णन है।[84]

9. **अकिञ्चनता** :- 'अकिञ्चनता' धर्म (गुण) का वर्णन करते हुए महाभारत में कहा है - यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तु का संग्रह नहीं रखोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुखी रहोगे क्योंकि जो अकिंचन होता है, वह सुखपूर्वक सोता है। 'निर्लोभ' आत्मा को कर्म-आवरण से हल्का बनाता है। मन और चेतना के तनाव को समाप्त करता है।[85] गीता में श्रीकृष्ण ने भी कहा है- 'सन्तुष्ट व्यक्ति मेरा प्रिय है'।[86]

10. **ब्रह्मचर्य** :- ब्राह्मण परम्परा में मन, वचन और कर्म के द्वारा सभी अवस्थाओं में सर्वत्र और सभी प्रकार के मैथुन का त्याग करना - ब्रह्मचर्य कहलाता है।[87]

ब्रह्मचर्य :-

वैदिक परम्परा के अनुसार संन्यासी को ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करना चाहिए। वैदिक परम्परा में स्वीकृत मैथुन के आठों अंगो का सेवन उसके लिए वर्जित माना गया है।[88] महर्षि वेदव्यास का कथन है कि निष्कामयोगी ब्रह्मचर्य का पालन करें।[89] शांकर भाष्य में मिथ्याविषयों में आसक्ति करने का निषेध किया है।[90] गीता में ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप कहा है।[91] गीता के अनुसार ब्रह्मचारी शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है।[92] चरकसंहिता में 'उपस्थादि इन्द्रियो के निग्रह' को ब्रह्मचर्य कहा गया है।[93] वहीं ब्रह्मचर्य को

57. महाभारत, उद्योगपर्व 33/58
58. गीता 16/14-15
59. वही, 16/17
60. महाभारत, शांतिपर्व 176/17-18
61. महाभारत, शांतिपर्व 175/37
62. गीता 16/1
63. वही, 17/14
64. वही, 13/7-11
65. गीता 16/3, 17/14, 18/42
66. गीता, शांकरभाष्य 13/7
67. मनुस्मृति 6/47-48
68. गीता 2/56, 58; मनुस्मृति 2/215
69. अथर्ववेद 4/31/3; यजुर्वेद 34/6; गीता 6/34,35,14; श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/9
70. गीता 2/61
71. वही, 4/26
72. वही, 4/29
73. ऋग्वेद 10/190/1
74. मनुस्मृति 11/243
75. मुण्डकोपनिषद् 1/1/8
76. अथर्ववेद 11/3/5/19
77. वही, 19/5/41
78. शतपथ ब्राह्मण 3/4/4/27
79. तैत्तिरीय उपनिषद् 13/2/3/4
80. मनुस्मृति 11/237
81. वही 11/238
82. वही 11/239
83. महाभारत, आदिपर्व 90/22
84. गीता 18/4, 7/9
85. महाभारत, शांतिपर्व 176/78
86. गीता 12/14, 19
87. याज्ञवल्क्य संहिता, 'शाश्वत धर्म' ब्रह्मचर्य विशेषांक, पृ. 73 से उद्धृत
88. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ. 413, दक्षस्मृति
89. महाभारत, शांतिपर्व-9
90. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य।
91. गीता 17/14
92. वही, 6/14
93. चरक संहिता, दीर्घञ्जीवितीयाध्याय 1/6

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदाचार भी कहा गया है[94], इतना ही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य के पालन के लिए आगे कहते हैं कि ब्रह्मचारी सभी स्त्रियों का स्मरण, संकल्प (विचार), प्रार्थना (इच्छा) और उनके साथ वार्तालाप का त्याग करें।[95] मनुस्मृति में भी गुरुकुलवास में ब्रह्मचर्य पालन का विधान किया गया है।[96] विषयभोग से विषयत्याग को श्रेष्ठ माना गया है।[97] इतना ही नहीं, अपितु जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी को ही विद्या-दान के लिए पात्र माना गया है।[98] गृहस्थ को भी माता, बहन तथा कन्या के साथ भी एकान्त में एक आसन पर बैठने का निषेध किया गया है।[99] अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ और उत्कृष्ट तप कहा है।[100] पातंजल योगसूत्र में वीर्यलाभ को ब्रह्मचर्य कहा है। उसको (वीर्य को) बढाने से शरीर, इन्द्रियाँ और मन में विशेष शक्ति बढती है।[101]

महाभारत में कहा है - **ब्रह्मचर्य में सभी तीर्थ हैं, ब्रह्मचर्य में ही तप है, धैर्य है और यश भी इसी में निहित है। ब्रह्मचर्य में पुण्य, पवित्रता और पराक्रम है, ब्रह्मचर्य में स्वातंत्र्य और ईश्वरत्व भी प्रतिष्ठित है।**[102] भीष्म पितामहने कहा है- **जो इस संसार में आजीवन ब्रह्मचारी रहता है उसको इस संसार में किसी भी प्रकार का कोई भी दुःख नहीं आता।**[103] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है - **'तराजू के एक पलडे में चारों वेद (वेदोपदेश) रखें जाय और दूसरे पलडे में ब्रह्मचर्य रखकर तोलने पर ब्रह्मचर्य का पलडा नीचे नीचे रहेगा।** अर्थात् वेदोपदेश से भी ब्रह्मचर्य विशेष बलशाली है। एवं **जिसे मौन (मुनि धर्म) कहा जाता है, वह ब्रह्मचर्य ही है।**[104] धन्वन्तरि ने कहा है - **ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य के दुर्गुणों का नाश होता है।** जिसे उत्तम धर्म पालन करना हो उसे ब्रह्मचर्य पालना चाहिए।[105] महर्षि अरविन्दने **ब्रह्मचर्य और योग को ही सुख का मार्ग कहा है।**[106] महात्मा गाँधीने **ब्रह्मचर्य को आरोग्य की मुख्य चाभी बताया है।**[107]

वैदिक तथा अन्य धर्म परम्पराएँ और प्रतिक्रमण :-

वैदिक परम्परा में साध्यकृत्य में जिस यजुर्वेद के मंत्र का उच्चारण किया जाता है वह भी जैन प्रतिक्रमणविधि का एक संक्षिप्त रुप ही है। संध्या के संकल्प-वाक्य में ही साधक यह संकल्प करता है कि मैं आचारित पापों के क्षय के लिए परमेश्वर के प्रति इस उपासना को सम्पन्न करता हूँ। यजूर्वेद के उस मंत्र का मूल आशय भी यही है कि मेरे मन, वाणी, शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो उसका मैं विसर्जन करता हूँ।[108]

ब्राह्मण परम्परा और द्वादशभावना :-

जैन परम्परा की तरह ही ब्राह्मण परम्परा में भी अनित्यादि द्वादश भावनाओं का वर्णन किया गया है-

1. **अनित्य भावना :-** महाभारत में कहा है कि जीवन अनित्य है इसलिए युवावस्था में ही धर्म का आचरण कर लेना चाहिए। कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिए। सायंकाल का कार्य प्रातः में ही कर लेना चाहिए क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं।[109]
2. **एकत्व भावना :-** गीता में कहा है - इन्द्रियजेता जीवात्मा स्वयं ही स्वयं का मित्र और इन्द्रियों का दास स्वयं ही स्वयं का शत्रु है अर्थात् कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है।[110] महाभारत में भी कहा है - मैं तो अकेला हूँ; यह शरीर भी मेरा नहीं हैं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये वस्तुएँ जैसे मेरी हैं, वैसे ही दूसरों की भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिए मेरे मन में कोई व्यथा नहीं होती, ऐसी बुद्धि को पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक। मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्ब के लिए चोरी आदि पाप-कर्मों का संग्रह करता है, किन्तु इस लोक और परलोक में उसे अकेले ही उन समस्त कर्मों का क्लेशमय फल भुगतना पडता है।[111]
3. **अन्यत्व भावना :-** महाभारत में कहा है कि पुत्र-पौत्र, जाति-बांधव सभी संयोगवश मिल जाते हैं, उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढाना चाहिए क्योंकि उनसे विछोह होना निश्चित है।[112] गीता के 14 वें अध्याय में भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के माध्यम से अन्यत्व भावना का सुंदर बोध कराया गया है।
4. **अशुचि भावना :-** महाभारत के अनुसार यह शरीर जरा, मरण एवं व्याधि के कारण होने वाले दुःखों से युक्त है, फिर (बिना आत्मा-साधना के) निश्चिन्त होकर कैसे बैठा जा सकता है?[113] आचार्य शंकरने भी कहा है - "यह देह मांस एवं वसादि विकारों का संग्रह है, हे मन ! तू बार-बार विचार कर।[114]
5. **अशरण भावना :-** महाभारत में अशरण भावना का वर्णन करते जीव की अशरणता बताते कहा है कि जैसे सोये हुए मृग को बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओं से सम्पन्न एवं उसी में आसक्त मनुष्य को एक दिन मृत्यु उठाकर ले जाती है[115] (तब कोई शरण/रक्षक नहीं है)।
6. **संसार भावना :-** महाभारत में संसार के स्वरुप का वर्णन करते भीष्म पितामह ने कहा है कि "वत्स! जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु हो जाय, तब यह संसार कैसा दुःखमय है -यह सोचकर मनुष्य शोक को

94. वही, 8/29
95. वही, पृ. 891
96. मनुस्मृति, 1/111
97. वही, 2/95
98. वही, 2-115
99. मनुस्मृति 2/215
100. 'शाश्वत धर्म', ब्रह्मचर्य विशेषांक, पृ. 86
101. पातंजल योगसूत्र
102. महाभारत, शांतिपर्व 9
103. शाश्वत धर्म, ब्रह्मचर्य विशेषांक, पृ. 86
104. छान्दोग्य उपनिषद्, शाश्वत धर्म-ब्रह्मचर्य विशेषांक, पृ. 88
105. वही, पृ. 88
106. वही, पृ. 85
107. वही, पृ. 37
108. कृष्णयजुर्वेद, दर्शन और चिन्तन भा.-2, पृ. 193 से उद्धृत
109. महाभारत, शांतिपर्व 175/16, 12, 15
110. गीता 6 / 5, 6
111. महाभारत, शांतिपर्व 174 / 14,25
112. महाभारत, शांतिपर्व
113. महाभारत-शांतिपर्व 175/23
114. चर्पटपंजरिका स्तोत्र 11
115. महाभारत, शांतिपर्व 175 / 18,19

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूर करनेवाले शम-दमादि साधनों का अनुष्ठान करें।[116] यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है। बुढापे ने इसे चारों ओर से घेर रखा है और ये दिन-रात प्राणियों की आयु का अपहरण करके व्यतीत हो रहा है, इस बात को आप समझते क्यों नहीं है?''[117]

7. **धर्म भावना :-** महाभारत का वचन है कि **धर्म से ही ऋषियों ने संसार समुद्र को पार किया है। धर्म पर ही संपूर्ण लोक टीका हुआ है। धर्म से ही देवताओं की उन्नति हुई है और धर्म में ही अर्थ की भी स्थिति है।**[118] अत: मन को वश में करके धर्म को अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिए और संपूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।[119]

मैत्र्यादि चार भावनाएँ :-

पातांजल योग सूत्र में जैनों की तरह ही मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ - इन चार भावनाओं का उल्लेख है।[120]

ब्राह्मण परम्परा और परिषह :-

ब्राह्मण परम्परा में भी मुनि के लिए कष्ट-सहिष्णु होना आवश्यक है। वैदिक परम्परा तो यहाँ तक विधान करती है कि मुनि को जान-बूझकर अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने चाहिए। उसे कठिन तपस्या करनी चाहिए और अपने शरीर को भलीभाँति के कष्ट देकर सब कुछ सह सकने का अभ्यासी बने रहना चाहिए। मनु का कहना है कि वानप्रस्थी को पंचाग्नि के बीच खडे होकर, वर्षा में बाहर खडे होकर, जाडे में भीगे वस्त्र धारण कर कष्ट सहन करना चाहिए।[121] इसी प्रकार उसे खुली भूमि पर सोना चाहिए और रोग हो जाये तो चिंता नहीं करनी चाहिए।[122] परिषहजय के संबंध में भी जैन तथा वैदिक परम्पराएँ समान दृष्टिकोण रखती हैं।

ब्राह्मण परम्परा में पूजा विधान :-

जैन परम्परा की तरह इष्ट-देवता की पूजा ब्राह्मण-भक्ति मार्गीय परम्परा का भी आवश्यक अङ्ग है। इन सम्प्रदायों में सामान्यतया पूजा के तीन रुप प्रचलित रहे हैं - 1 पञ्चोपचार पूजा 2 दशोपचार पूजा और 3. षोडशोपचार पूजा।

पञ्चोपचार पूजा में गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य - ये पाँच वस्तुएँ देवता को समर्पित की जाती हैं। दशोपचार पूजा में पाद प्रक्षालन, अर्घ्यसमर्पण, आचमन, मधुपर्क, जल, गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य समर्पण - इन दश प्रक्रियाओं द्वारा पूजा-विधि संपन्न की जाती है। इसी प्रकार षोडशोपचार पूजा में 1. आह्वान, 2. आसन-प्रदान 3. स्वागत 4. पाद-प्रक्षालन 5. आचमन 6. अर्घ्य 7. मधुपर्क 8. जल 9. स्नान 10. वस्त्र 11. आभूषण 12. गंध 13. पुष्प 14. धूप 15. दीप और 16. नैवेद्य से पूजा की जाती है।

इसी प्रकार जैन परम्परा तथा ब्राह्मण परम्परा में देवताओं के आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन की प्रक्रिया समान रुप से की जाती है। इसमें देवता के नाम को छोडकर शेष संपूर्ण मंत्र भी प्राय: समान है।[123]

इस प्रकार श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परम्परा दोनों में ही ग्राहस्थ धर्म और मुनिधर्म का विधान समान रुप से प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, अपितु पञ्चमहाव्रत आदि प्रमुख सिद्धान्त और द्रव्योत्सर्जन पूर्वक पूजाविधि आदि व्यावहारिक धर्म भी समान रुप से विहित हैं। दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त शब्दावली में समानता और विधियों में समानता से यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों ही धाराएँ एक-दूसरे की विरोधी होने पर भी एक दूसरे की पूरक और पोषक रही हैं और आज भी हैं।

---

116. वही, 174/7
117. वही, 175/9
118. महाभारत, शांतिपर्व 167 / 7
119. वही 167/9
120. पातंजल योगसूत्र-1/33
121. मनुस्मृति 6/23, 24
122. वही, 6/43,46
123. डो. सागरमल जैन अभिनंदन ग्रंथ, जैन धर्म में पूजा विधान और धार्मिक अनुष्ठान, पृ. 49

ગૃહસ્થ ધર્મ

સાકર ભલે મોંઘી અને સ્વાદિષ્ટ હોય પણ લૂણ (મીઠું, નમક)નું કામ કરી શકે નહિં, દૂધ દહીં કે ઘી વગેરે ગમે તેટલા શ્રેષ્ઠ કે પૌષ્ટિક હોય પણ તે પાણીનું કામ કરી શકે નહીં અને પાઘડી ગમે તેટલી કિંમતી હોય પણ તે લજ્જા ઢાંકવાનું કાર્ય કરી શકે નહિં. આમ, લૂણ, પાણી કે અધોવસ્ત્રાદિનું મૂલ્ય ઓછું હોય છતાં આવશ્યકતાની અપેક્ષાએ તેનું મહત્ત્વ જરાય ઓછું નથી. બલ્કિ સાધુધર્મની યોગ્યતાની તાલીમ ગૃહસ્થ જીવનમાં અપાય છે, તે અપેક્ષાએ સાધુ ધર્મની યોગ્યતા પ્રગટાવવા અને ઘણા જીવોના જીવનના સાધનભૂત હોવાથી ગૃહસ્થધર્મ પણ આવશ્યક છે.

ગૃહસ્થ ધર્મના પ્રત્યેક અનુષ્ઠાનો ધર્મરાગને પ્રગટાવનારાં છે જેથી વૈરાગ્ય પરિપક્વ થાય છે. વૈરાગ્યના બળે વીતરાગભાવની સિદ્ધિ કરી શકાય છે.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. बौद्ध परम्परा और जैनाचार

बौद्ध धर्म यों ते एक पृथक् मार्ग है, किन्तु दार्शनिक समीक्षकों के अनुसार इसे श्रमणपरम्परा के अन्तर्गत माना गया है। वस्तुत: वैदिक धर्म की विसंगतियों और जैनधर्म के साधना मार्ग की कठोरता के कारण महात्मा बुद्ध ने एक मध्यम मार्ग प्रतिपादित किया। किन्तु इसमें न तो वेद के मूलभूत तत्त्वों को छोडा गया और न ही जैनधर्म की सत्यता की उपेक्षा की गयी। बौद्ध धर्म में भी समकालिक धर्मतत्त्वों को भी पूर्ववत् ही मान्यता दी गयी है, अन्तर केवल इतना है कि साधना मार्ग की कठोरता इसमें कम हो गयी है। आगे के अनुच्छेदों में अहिंसा आदि जैनमार्ग में स्वीकृत तत्त्वों की बौद्धधर्म में उपलब्ध स्थिति का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

बौद्ध धर्म में अहिंसा का स्थान :-

बौद्धधर्म में प्रतिपादित दश शीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतु:शतक में कहा है कि "तथागत ने संक्षेप में केवल 'अहिंसा' इन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।[1] भगवान् बुद्ध के अनुसार **सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करनेवाला ही आर्य कहा जाता है।**[2] अंगुत्तरनिकाय के अनुसार हिंसक व्यक्ति नारकीय जीवन का और अहिंसक व्यक्ति स्वर्गीय जीवन का सृजन करता है।[3] बुद्धने सभी प्राणियों को आत्मतुल्य मानकर किसी का वध करने या करवाने का निषेध किया है।[4] किन्तु यदि कोई जीव अपने आप मरा हुआ पडा है तो उसे भोजन में लेने में दोष नहीं लगता- मांसाहार के विषय में बौद्धो की ऐसी मान्यता है। उन्होंने आगे कहा है कि जो व्यक्ति अहिंसामय संयमित जीवन यापन करता है, उसे अच्युत पद की प्राप्ति होती है। वहाँ पहुँचकर वह कभी दु:खी नहीं होता।[5] बौद्ध मत में दश प्रकार के धर्मों में अहिंसा को प्रथम धर्म कहा है।[6] इतना ही नहीं, अपितु जैन परम्परा के महाव्रतों के समान बौद्ध परम्परा में भी पाँच शीलों की प्रतिज्ञा कृत, कारित और अनुमोदन के रुप में अंगीकार की जाती है।[7]

बौद्ध परंपरा एवं व्रतविधान :-

जैन परम्परा के पाँच महाव्रत / अणुव्रत की तरह ही बौद्ध परम्परा में पाँच सामान्य शीलो[8] का वर्णन निम्नानुसार है-

(1) अहिंसा शील (प्राणातिपात विरमण)
(2) अचौर्य शील (अदत्तादान विरमण)
(3) ब्रह्मचर्य या स्वपत्नी संतोष (मैथुन विरमण/स्वदारा संतोष व्रत)
(4) अमृषावाद शील (मृषावाद विरमण)
(5) मद्यपान विरमण शील

जैन परम्परा में गृहस्थ के पौषध व्रत की तरह बौद्ध परम्परा में **'उपोषथ'** व्रत का वर्णन है। (1) रात्रिभोजन एवं विकालभोजन त्याग (2) माल्यगंधविरमण और (3) उच्चशय्या विरमण (काष्ठ, जमीन या सतरंजी पर लेटना) - ये तीन उपोषथ शील हैं।[9]

जैन परम्परा में वर्णित श्रावक के अतिथिसंविभाग व्रत की तरह बौद्ध परम्परामें **'भिक्षु संघ संविभाग'** वर्णित है।[10]

यद्यपि बौद्ध परम्परा में गृहस्थ के लिए परिग्रह - परिमाण को जैनपरम्परा जितना अधिक महत्व नहीं दिया है, तथापि बुद्ध के निम्नांकित वचन परिग्रहमर्यादा का स्पष्ट संकेत करते हैं - "जो मनुष्य खेती, वास्तु (मकान), हिरण्य (स्वर्ण, चांदी), गो, अश्व, दास, बन्धु इत्यादि की कामना करते हैं उसे वासनाएँ दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं, तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दु:ख में पडता है।[11]

जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थ उपासक के लिए **1. शस्त्रास्त्र व्यापार 2. प्राणी व्यापार 3. मांस का व्यापार 4. मद्य का व्यापार और 5. विष का व्यापार - ये पाँच व्यापार वर्जित हैं।**[12]

बौद्ध परम्परा और पाँच समितियाँ :-

बौद्ध परम्परा में यद्यपि 'समिति' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है जिस अर्थ में जैनपरम्परा में व्यवहृत है, फिर भी 'समिति' का जो आशय जैनपरम्परा में है वह बौद्धपरम्परा में भी पालन किया जाता है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं, "भिक्षुओ, भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है, समेटने-पसारने में सचेत रहता है; संघाटी, पात्र और चीवर धारण करने में सचेत रहता है, पाखाना-पेशाब करने में सचेत रहता है; जाते, खडे होते, बैठते, सोते, जागते, कहते, चुप रहते सचेत रहता है। भिक्षुओं इस तरह भिक्षु सम्प्रज्ञ होता है।[13] मुनि की आवागमन की क्रिया के विषय में विनयपटक में उल्लेख है कि मुनि सावधानीपूर्वक मंथर गति से गमन करें। गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं के आगे न चले, चलते समय दृष्टि नीचे रखे तथा जोर-जोर से हँसता हुआ और बातचीत करता हुआ न चले।[14] सुत्तनिपात में मुनि की भिक्षावृति के संबंध में बुद्ध के निर्देश उपलब्ध हैं। वे कहते हैं कि रात्रि के बीतने पर मुनि गाँव में पैठे। वहाँ न तो किसी का निमंत्रण स्वीकार करे न किसी के द्वारा गाँव से लाये गये भोजन को। चुपचाप भिक्षा

1. चतु:शतक 298
2. धम्मपद 270, 19/15
3. अंगुत्तरनिकाय 3/153
4. सुत्तनिपात 3/3/7/27; धम्मपद 10/1, 10/4
5. धम्मपद, कोधवग्गो 5
6. दरेक धर्मनी दृष्टिए अहिंसानो विचार, पृ.23
7. सुत्तनिपात्त 37/27
8. सुत्तनिपात्त 26/19-23
9. वही, 26/24-26
10. वही, 26/28
11. सुत्तनिपात-29/4-5
12. सुत्तनिपात 25/29; अंगुत्तरनिकाय, निपात 5, पृ. 401
13. संयुत्त निकाय 34/5/1/7
14. विनय पिटक 8/4/4

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे और (भिक्षा के लिए) किसी भी प्रकार का संकेत करते हुए कोई बात न बोले। यदि कुछ मिले तो अच्छा है और न मिले तो भी ठीक है। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में अविचलित रहकर वापस वन की ओर लौटे। गूंगे की तरह मौन हो, हाथ में पात्र लेकर वह मुनि थोडा दान मिलने पर उसकी अवहेलना न करे और न दाता का तिरस्कार करें।[15] भिक्षु असमय में विचरण न करे, समय पर ही भिक्षा के लिए गाँव में पैठे। असमय में विचरण करनेवाले को आसक्तियाँ लग जाती हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष असमय में विचरण नहीं करते हैं।[16] धम्मपद में कहा है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करते है, उसका भाषण मधुर होता है।[17] सुत्तनिपात में भी इसी प्रकार 'अविवेकपूर्ण वचन नहीं बोलना चाहिए और विवेकपूर्ण वचन बोलना चाहिए' - इसका निर्देश हैं।

इस प्रकार बुद्ध ने चाहे 'समिति' शब्द का प्रयोग न किया हो फिर भी उन्होंने जैन परम्परा के समान ही आवागमन, भाषा, भिक्षा एवं वस्तुओं का आदान-प्रदान व मल-मूत्र विसर्जन आदि का विचार किया है। बुद्ध के उपर्युक्त वचन यह स्पष्ट कर देते है कि इस संबंध में उनका दृष्टिकोण जैन परम्परा के निकट है।

बौद्ध परम्परा और गुप्ति :-

बौद्ध परम्परा में मन, वचन और शरीर की गुप्तियों का विधान है। सुत्तनिपात में तो जैन परम्परा के समान ही 'गुप्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है।[18] बुद्धने भी श्रमण साधक को मन, वचन और शरीर की क्रियाओं के नियमन का निर्देश किया है। बौद्ध परम्परा में मन, वचन और काया की तीन क्रियाओं के लिये जैनपरम्परा के 'गुप्ति' शब्द के समानान्तर 'त्रिकर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्धने तीन शुचि भावों एवं तीन प्रकार के मौन के रुप में वस्तुत: जैन परम्परा की तीन गुप्तियों का ही विधान किया है। बुद्ध कहते हैं - भिक्षुओ ! ये तीन शुचि भाव हैं - शरीर की शुचिता, वाणी की शुचिता, मन की शुचिता। भिक्षुओ ! मनुष्य प्राणी-हिंसा से विरत रहता है, चोरी से विरत रहता है, कामभोग संबंधी मिथ्याचार से विरत रहता है - यह शरीर की शुचिता है। भिक्षुओ ! मनुष्य झूठ बोलने, चुगली करने और व्यर्थ बोलने से विरत रहता है, इसे वाणी की शुचिता कहते है। भिक्षुओ ! आदमी निर्लोभ, अक्रोधी तथा सम्यग्दृष्टिवाला होता है, यह मन की शुचिता है।[19] वस्तुत: इस प्रकार बुद्ध भी श्रमण साधक के लिए मन, वचन और शरीर की अप्रशस्त प्रवृत्तियों को रोकने का निर्देश करते हैं।[20]

बौद्ध परम्परा और कल्पविधान :-

जैन श्वेताम्बर परम्परा मान्य आचेलक्य-कल्प का 'अल्प वस्त्र धारण करना' - अर्थ बौद्ध परम्परा में भी मान्य है। बौद्ध भिक्षु दीक्षित होने के समय अल्प और जीर्ण वस्त्रों में ही संतुष्ट रहने का नियम करता है।[21] कृतिकर्म कल्प के संबंध में बौद्ध परम्परा में भी दीक्षा-वय में ज्येष्ठ भिक्षु के आने पर उसके सम्मान में खडा होना तथा ज्येष्ठ भिक्षुओं का वंदन करना आवश्यक है। इतना ही नहीं, बुद्ध ने दीक्षावृद्ध श्रमणी के लिए भी छोटे-बडे सभी भिक्षुओं को वंदन करने का विधान किया है। भिक्षुणी के आठ गुरु धर्मो में सबसे पहला नियम यही है।[22] जिस प्रकार जैन परम्परा में व्रत कल्प के रुप में पाँच महाव्रतों का महाविधान है उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी दस भिक्षु शीलों के पालन का विधान है।[23] जैन परम्परा के ज्येष्ठकल्प के समान बौद्ध परम्परा में भी दो प्रकार की दीक्षाओं का विधान है, जिन्हें श्रामणेर दीक्षा और उपसम्पदा कहा गया है। श्रामणेर दीक्षा परीक्षास्वरूप होती है और उसमें दस भिक्षु-शीलों की प्रतिज्ञा की जाती है। यह दीक्षा कोई भी भिक्षु दे सकता है। लेकिन उपसम्पदा देने के लिए पाँच अथवा दस भिक्षुओं के भिक्षुसंघ का होना आवश्यक है।[24] बौद्ध परम्परा में भी व्यक्ति की संघ में वरिष्ठता एवं कनिष्ठता उसकी उपसम्पदा की तिथि से ही मानी जाती है। प्रतिक्रमण कल्प के समान बौद्ध धर्म में प्रवारणा की व्यवस्था है जिसमें प्रति पन्द्रहवें दिन भिक्षु-संघ एकत्र होकर उक्त समयावधि में आचरित पापों का प्रायश्चित करता है। प्रवारणा की विधि बहुत कुछ जैन प्रतिक्रमण से मिलती है। बौद्ध परम्परा में भी जैन परम्परा के मासकल्प के समान भिक्षुओं का चातुर्मासकाल के अतिरिक्त एक स्थान पर रुकना वर्जित माना गया है। बौद्ध परम्परा भी भिक्षु जीवन में सतत भ्रमण को आवश्यक मानती है। उसके अनुसार भी सतत भ्रमण के द्वारा जन कल्याण और भिक्षु जीवन में अनासक्त वृत्ति का निर्माण होता है। जैन परम्परा के पर्युषण कल्प के समान बौद्ध परम्परा में भी चातुर्मास काल में एक स्थान पर रुककर धर्म की विशेष आराधना को महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार भिक्षु जीवन के उपर्युक्त विधानों के संदर्भ में जैन और बौद्ध परम्पराओं में काफी निकटता है।[25]

बौद्ध परम्परा में दस धर्म :-

जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में भी क्षमादि दस धर्मों का वर्णन प्राप्त होता है, यथा-

1. **क्षमा :-** बौद्ध परम्परा में भी क्षमा का महत्व निर्विवाद है। बौद्ध ग्रंथों में कहा है - क्षमा से उन्नति होती है।[26] क्षमा से बढकर अन्य कुछ नहीं है।[27] **क्षमा ही परम तप है।[28] वैर से नहीं, प्रेम से ही वैर शांत होता है।[29] अपराधी को क्षमा नहीं करनेवाला मूर्ख है[30], वह महाद्वेषी वैर को**

15. सुत्तनिपात 37/32-35
16. वही, 26/11
17. धम्मपद 363
18. सुत्तनिपात 4/3
19. अंगुत्तरनिकाय, निकाय 3/118
20. वही, 3/20
21. विनयपिटक, महावग्ग - 1/2/6
22. विनयपिटक, चूलववग्ग - 10/1/2
23. जैन-बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2 पृ. 365
24. बुद्धिज्म, पृ.77-78
25. जैन-बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2 पृ. 366
26. अंगुत्तरनिकाय, निकाय 1/12
27. संयुत्तनिकाय 10/12
28. धम्मपद 184; बोधिचर्यावतार 6/2
29. सुत्तपिटक; धम्मपद 1/5
30. संयुत्तनिकाय 1/11/24

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अधिक बाँध लेता है[31] । वज्जालग्गं में कहा है - **अपने प्रति किये हुए अपराधों को भी क्षमा करना केवल सज्जन ही जानता है ।**[32]

2. **मार्दव** :- बौद्ध धर्म में अहंकार की निन्दा की गई है। बौद्ध भिक्षु के लिए यौवनमद, आरोग्य मद और जीवन मद पतन का कारण माना गया है ।[33] सुत्तनिपात में जाति, धन और गोत्र का गर्व अवनति का कारण बताया है ।[34]

3. **आर्जव** :- बुद्धने ऋजुता को कुशल धर्म कहा है। उनकी दृष्टि में सरलता सुख, सुगति, स्वर्ग और शैक्ष भिक्षु के लाभ का कारण है ।[35]

4. **शौच** :- जैनधर्म के भावशौच अर्थात् मानसिक शौच की तरह बौद्धधर्म में भी दूषित चित्तवृत्तियों के परित्याग का वर्णन है ।[36]

5. **सत्य** :- बौद्ध धर्म में भी भिक्षु के लिए कृत-कारित-अनुमोदन तीनों प्रकार से असत्य भाषण[37], मिथ्या भाषण, चुगली, कठोर वचन, अहितकर वचन, कपटपूर्ण वचन, अपमानजनक वचन त्याज्य है। भिक्षु को हमेशा शुद्ध, उचित, अर्थपूर्ण, तर्क पूर्ण और मूल्यवान् वचन बोलना चाहिए ।[38]

6. **संयम** :- बौद्ध परम्परा में भी इन्द्रियों पर संयम सन्तुष्टता तथा भिक्षु जीवन में अनुशासन में संयमपूर्वक रहना आवश्यक माना गया है ।[39] बुद्धने शरीर-वाणी और मन के संमय को उत्तम और दु:खों से छूटने का कारण माना है ।[40] संयुक्त निकाय में मुनि को कछुवे की तरह रहने के लिए कहा है[41] तथा मज्झिमनिकाय में चित्तवृत्तियों के निरोध का कथन किया गया है ।[42]

7. **तप** :- बौद्ध वाङ्मय में तप की गरिमा के विषय में चिन्तन करते हुए कहा है-'**तपो च ब्रह्मचरियं च सिनानमनोदकम्** ।'[43] तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है। इसी तरह बुद्धने और भी कहा है - '**सद्धाबीजं तपो वुट्ठि**' ।[44] - श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है। इस प्रकार अनेक सूक्तियों में तप की गरिमा की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है।

प्रसिद्ध दर्शन समीक्षक डो. सागरमलजी जैन के अनुसार जैनों की तरह ही बौद्ध धर्म में भी बौद्ध भिक्षुओं के लिए अतिभोजन वर्जित है, साथ ही एक समय भोजन करने का आदेश है ।[45] बौद्ध भिक्षुओं को भी रसासक्ति का निषेध है, साथ ही विभिन्न आसन और भिक्षाचर्या स्वीकृत है लेकिन जैन साधना जितनी कठिन नहीं है। इतना ही नहीं, अभ्यन्तर तप में भी प्रायश्चित की तरह प्रवारणा, विनय, वैयावृत्य (सेवा), वाचना, पृच्छना, परावर्तना और चिन्तन रुप स्वाध्याय, व्युत्सर्ग (कार्योत्सर्ग) और ध्यान - ये छहों प्रकार बौद्ध परम्परा में भी समान रुप से मान्य हैं ।[46]

8. **त्याग**:- बौद्ध परम्परा में भी तृष्णा को दु:ख माना गया है ।[47] बुद्ध सबसे दृढ बन्धन सोना, चांदी, पुत्र और स्त्री में रही आसक्ति को मानते है ।[48] बुद्ध की दृष्टि में परिग्रह या आसक्ति का मूल तृष्णा है ।[49] अत: परिग्रह और तृष्णा त्याज्य हैं।

9. **अकिञ्चनता**:- बौद्ध ग्रंथ चुलनिद्देशपालि में कहा है- अकिञ्चनता और आसक्ति-रहितता से बढकर कोई शरणदाता दीप नहीं है ।[50] मज्झिमनिकाय में बुद्ध को अकिञ्चन, अल्पाहारी, यथाप्राप्त वस्त्रों में संतुष्ट, संतोषी और एकान्तवासी बताया है ।[51] धम्मपद में कहा है-'**सन्तोष ही परम धन है**'[52]

10. **ब्रह्मचर्य** :- बौद्ध परम्परा में भी श्रमण साधक (भिक्षु) के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ साधक के लिये स्वपत्नी संतोष व्रत की मर्यादाएँ स्थापित की गई हैं ।[53] विनयपिटक में बौद्ध भिक्षु के लिए स्त्री का स्पर्श वर्जित माना गया है ।[54] इतना ही नहीं, भिक्षु का एकान्त में भिक्षुणी के साथ बैठना - अपराध माना गया है ।[55] बुद्धने कहा है - **जो पुण्य-पाप का परित्याग कर ब्रह्मचारी बनकर ज्ञानलोक में विचरण करता है, वही भिक्षु हैं ।**[56] बुद्ध ने स्त्री के मेल (मिलन) को दुराचार कहा है ।[57] बुद्ध ने दु:ख के मूल को नष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्य को आवश्यक माना है ।[58] धम्मपद में **शील की सुगंध को सर्वश्रेष्ठ सुगंध कहा है ।**[59]

बौद्ध परम्परा में भावना :-

जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा में भी अनित्यादि बारह एवं मैत्र्यादि चारों भावनाओं का वर्णन प्राप्त होता है-

31. वही, 1/1/35
32. वज्जालग्गं 44
33. अंगुत्तरनिकाय, निकाय 3/39
34. सुत्तनिपात 1/6/14
35. अंगुत्तरनिकाय, निकाय 2/15-16
36. धम्मपद 9/10, 221-222-223; सुत्तनिपात-7/1, 6/14; संयुत्तनिकाय 3/33, 40/13/1
37. सुत्तनिपात 26/22
38. वही, 53/7, 9, मज्झिमनिकाय, अभयराज सुत्त
39. धम्मपद 375; दीर्घनिकाय 1/2/2, विशुद्धिमग्गो 1/101
40. धम्मपद 361
41. संयुत्तनिकाय 1/2/27
42. मज्झिमनिकाय, 2/35/4
43. संयुत्तनिकाय 1/1/58
44. सुत्तनिपात 1/4/2
45. इतिवुत्तक-2/1/1
46. जैन-बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 111
47. संयुत्तनिकाय 2/12/66, 1/1/65
48. धम्मपद 345
49. महानिद्देसपालि 1/11/107
50. चुलनिद्देशपालि 2/10/63
51. मज्झिमनिकाय, 77
52. धम्मपद 204
53. सुत्तनिपात 26/11
54. विनयपिटक, पातिमोक्ख, संघादिसेसधम्म 2
55. विनयपिटक, पातिमोक्ख, पाचित्तियधम्म 30
56. धम्मपद 361
57. वही, 18/8
58. शाश्वत धर्म, ब्रह्मचर्य विशेषांक, पृ.83
59. धम्मपद 7

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. **अनित्य भावना :-** धम्मपद में अनित्य भावना का वर्णन करते कहा है - संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, इस तरह जब बुद्धिमान् पुरुष जानता है, तब वह दुःख नहीं पाता।[60] यही विशुद्धि का मार्ग है। संयुत्तनिकाय में भी कहा है - भिक्षुओं ! चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-काय और मन (सब) अनित्य हैं। जो अनित्य है वह दुःख हैं।[61]
2. **एकत्व भावना :-** धम्मपद में एकत्व भावना का वर्णन करते कहा है- अपने से किया हुआ, अपने से उत्पन्न हुआ, पाप ही दुर्बुद्धि मनुष्य को विदीर्ण कर देता है, जैसे 'वज्र' पत्थर की मणि को काट देता है।[62] अपने पापों का फल मनुष्य स्वयं भोगता है। पाप न करने पर वह स्वयं शुद्ध रहता है। प्रत्येक पुरुष का शुद्ध या अशुद्ध रहना स्वयं उस पर निर्भर है। कोई किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।[63]
3. **अशुचि भावना :-** धम्मपद में कहा है कि यह शरीर हड्डियों का घर है, जिसे मांस और रुधिर से लेपा गया है, जिसमें बुढापा, मृत्यु, अभिमान और मोह निवास करते हैं।[64] विशुद्धि मार्ग में भी कहा गया है कि ''यदि इस शरीर के अंदर का भाग बाहर आ जाय तो अवश्य ही डण्डा लेकर कौवों और कुत्तों को रोकना पडे।''[65]
4. **अशरण भावना :-** धम्मपद में कहा है कि ''पुत्र तथा पशुओं में आसक्त मनवाले मनुष्य को लेकर मृत्यु इस तरह चली जाती है, जैसे सोये हुए गाँव को महान जल-प्रवाह बहा ले जाता है। मृत्यु से पकडे हुए मनुष्य की रक्षा के लिए न पुत्र, न पिता, न बन्धु आ सकते हैं। किसी संबंधी से रक्षा नहीं हो सकती। इस तरह मृत्यु के वश में सबको जानकर सम्यग् अनुष्ठान करनेवाला बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही निर्वाण के मार्ग को स्वच्छ करें।[66] अंगुत्तरनिकाय में भी कहा गया है कि अल्प आयु जीवन को (खींचकर) ले जाती है। बुढापे द्वारा (खींचकर) ले जाये जाने वाले के लिए कोई शरण स्थान नहीं है। मृत्यु के इस भयभीत स्वरुप को देखकर मनुष्य को चाहिए कि वह सुखदायक पुण्य कर्म करे।[67]
5. **संसार भावना :-** बुद्धने संसार का वर्णन करते कहा है - ''जैसे मनुष्य पानी के बुलबुले को देखता है, और जैसे वह मृगमरिचिका को देखता है वैसे वह इस संसार को देखे। इस प्रकार देखने वालों को यमराज नहीं देखता।[68] यह हँसना कैसा और यह आनन्द कैसा, जब चारों तरफ बराबर आग लगी हुई हो ? अंधकार से घिरे हुए तुम लोग प्रकाश को क्यों नहीं खोजते हो ?[69] संसार की दुःखमयता का यह चिन्तन ही बौद्ध दर्शन का प्रथम आर्य सत्य - 'सर्व दुःखम्' है।
6. **आस्रव भावना :-** बुद्धने धम्मपद में कहा है कि ''जो कर्तव्य को बिना किये छोड देते हैं और अकर्तव्य करते हैं, ऐसे उद्धत तथा प्रमत लोगों के आस्रव बढ जाते है।[70] आस्रव भावना की तुलना बौद्ध आचार दर्शन के द्वितीय आर्य सत्य 'दुःख का कारण' से की जा सकती है।
7. **संसार भावना :-** बुद्ध का कथन है - आँख-कान-प्राण-जीभ-काया-वाणी और मन तथा सब इन्द्रियों का संवर उतम है। जो सर्वत्र संवर करता है, वह दुःखों से छूट जाता है। इसलिए भिक्षु को सदैव इस संबंध में स्मृतिवान् (सावधान) रहना चाहिए।[71]
8. **निर्जरा भावना :-** बुद्ध ने कहा है कि जिनकी चेतना शरीर के प्रति जागरुक रहती है, जो अकरणीय आचरण नहीं करते और निरन्तर सदाचरण करते हैं, ऐसे स्मृतिवान् और सचेत मनुष्यों के आस्रव नष्ट हो जाते हैं।[72]
9. **धर्म भावना :-** धम्मपद में कहा है कि धर्म के अमृतरस का पान करनेवाला सुख की नींद सोता है। चित्त प्रसन्न रहता है । पण्डित पुरुष आर्यो द्वारा प्रतिपादित धर्म मार्ग पर चलता हुआ आनंदपूर्वक रहता है।[73] मनुष्य सदाचार धर्म का पालन करे, बुरा आचरण न करे, धर्म का आचरण करनेवाला इस लोक में और परलोक में सुखपूर्वक रहता है।[74]
10. **बोधिदुर्लभ भावना :-** धर्मबोध की दुर्लभता का वर्णन करते हुए बौद्ध धर्म में कहा गया है कि ''मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है, मानव जन्म पाकर भी जीवित रहना दुर्लभ है, कितने तो अकाल में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य बनकर सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है और बुद्ध होकर उत्पन्न होना तो अत्यन्त दुर्लभ है।[75]

मैत्र्यादि चार भावनाएँ :-

बौद्ध परम्परा में मैत्री, प्रमोद (मुदिता), करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ) भावना का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।[76] बुद्ध ने इन्हें 'ब्रह्मविहार' कहा है। ये चारों भावनाएँ चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। चित्त-विशुद्धि का उत्तम साधन है। जो इनकी भावना करता है, वह सद्गति अथवा निर्वाण प्राप्त करता है। बौद्धों के अनुसार मैत्री का राग, प्रमोद की सौमनस्यता (रति), करुणा का शोक, और माध्यस्थ भावना की अज्ञानयुक्त उपेक्षा निकटतवर्ती शत्रु है तथा मैत्री का द्वेष, प्रमोद का अरति (अप्रीति), करुणा का विहिंसा और माध्यस्थ भावना के राग और द्वेष दूरवर्ती शत्रु है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य में भी जैनागम वर्णित भावनाओं का सम्यग्वर्णन प्राप्त होता है।

बौद्ध परम्परा और परीषह :-

भगवान् बुद्धने भी भिक्षु जीवन में आनेवाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश दिया है। अंगुत्तरनिकाय में वे

60. धम्मपद 277
61. संयुत्तनिकाय 34/1/1/1
62. धम्मपद 161
63. वही 165
64. धम्मपद 148-150
65. विशुद्धिमग्ग 6/93
66. धम्मपद 287-289
67. अंगुत्तरनिकाय 3/51
68. धम्मपद 170
69. वही, 146
70. धम्मपद 292
71. वही, 360, 361
72. वही, 293
73. वही, 179
74. धम्मपद 169
75. वही, 182
76. संयुत्तनिकाय 39/7 तथा 40/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं - भिक्षुओ ! जो दुःखपूर्ण, तीव्र, प्रखर, कटु, प्रतिकूल, बैरी, प्राणहर शारीरिक वेदनाएँ हों, उन्हें सहन करने का प्रयत्न करना चाहिए।[77] सुत्तनिपात में भी वे कहते हैं कि धीर, स्मृतिवान, संयत आचरणवाला भिक्षु डसनेवाली मक्खियों से, सर्पो से, यानी मनुष्यों के द्वारा दी जानेवाली पीडा से तथा चतुष्पदों से भयभीत न हो। दूसरी सभी बाधाओं का सामना करें। रोग-पीडा, भूख-वेदना तथा शीत-उष्ण को सहन करें। अनेक प्रकार से पीडित होने पर भी वीर्य व पराक्रम को दृढ करें।[78] संयुत्तनिकाय में भिक्षु के सत्कार परीषह के संबंध में कहा गया है कि जिस प्रकार केले का फल केले को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सत्कार-सम्मान पुरुष को नष्ट कर देता है। अतः सत्कार पाकर भिक्षु प्रसन्न न हो।[79] इस प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु का कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है, इतना ही नहीं, भगवान् बुद्धने भी इस हेतु जैनों की तरह 'परीषह' शब्द का प्रयोग भी किया है।[80]

बौद्ध परम्परा में प्रायश्चित विधान[81] :-

जैन परम्परा के समान बौद्ध परम्परा में भी भिक्षुओं के द्वारा विभिन्न नियमों को भंग करने पर प्रायश्चित का विधान है। सामान्यतया बौद्ध परम्परा में आठ प्रकार के प्रायश्चितों का विधान उपलब्ध होता है - 1. पाराजिक 2. संघादिशेष 3. नैसर्गिक 4. पाचित्तिय 5. अनियत 6. सेखिय 7. प्रतिदेशनीय 8. अधिकरण समय।

पाराजिक प्रायश्चित प्रमुख रुपसे हिंसा और चोरी के लिए दिया जाता है। बौद्ध परम्परा में भी पाराजिक प्रायश्चित में व्यक्ति भिक्षुसंघ से पृथक् कर दिया जाता है। सामान्यतया पाराजिक प्रायश्चित के योग्य अपराध निम्न हैं-

(1) संघ में रहकर मैथुन सेवन करना।
(2) बिना दी हुई वस्तुएँ ग्रहण करना जिससे चोर समझा जाय।
(3) मनुष्य आदि की हत्या करना।
(4) बिना जाने और देखे भौतिक बातों का दावा करना।

जैन और बौद्ध परम्पराओं में पाराञ्चित एवं पाराजिक प्रायश्चित के संबंध में समान दृष्टिकोण है।

जिस प्रकार जैन परम्परा में अनवस्थाप्य प्रायश्चित का विधान है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में संघादिशेष प्रायश्चित का विधान है।

बौद्ध परम्परा के अन्य प्रकार अनियत नैसर्गिक और पाचित्तिय है। जिन्हें बौद्ध परम्परा की पारिभाषिक शब्दावली में विसग्गीय पाचित्तिय धम्म कहा जाता है उनकी तुलना जैन परम्परा के सामान्यतया आलोचना और प्रतिक्रमण से की जाती है। विसग्गीय पाचित्तिय धम्म में सामान्यतया वस्त्र पात्र संबंधी 30 नियम आते हैं और उनका उल्लंघन करने पर श्रमण विसग्गीय पाचित्तिय अपराध का दोषी माना जाता है। अन्य भाषण, निवास, आहार आदि संबंधी 192 नियम पाचित्तिय धम्म कहे जाते हैं और उनका उल्लंघन करने पर भिक्षु पाचित्तिय धम्म का दोषी माना जाता है। प्रतिदेशनीय, सेखीय और अधिकरण समय-शिक्षाएँ हैं।

इस प्रकार जैन एवं बौद्ध दोनों परमपराओं में भिक्षु जीवन एवं श्रमण-संस्था को पवित्र बनाये रखने के लिए विभिन्न नियमो और प्रायश्चितों का विधान है।

बौद्ध परम्परा और प्रतिक्रमण :-

बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पाप-देशना नाम मिलते है। बुद्ध की दृष्टि में पापदेशना का महत्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं खुला हुआ पाप लगा नहीं रहता अर्थात् पापचरण को आलोचना करने पर व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है।[82] बौद्ध आचार दर्शन में प्रवारणा के नाम से पाक्षिक प्रतिक्रमण की परम्परा स्वीकार की गई है। बोधिचर्यावतार में तो आचार्य शान्तिदेवने पापदेशना के रुप में दिन और रात्रि में तीन-तीन बार प्रतिक्रमण का निर्देश किया है। वे लिखते है कि तीन बार रात में और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध (पापदेशना, गुण्यानुमोदना और बोधि परिणामना) की आवृत्ति करनी चाहिए, इससे अनजाने में हुई आपत्तियों का शमन हो जाता है।[83]

जैन और बौद्ध परम्परा में श्रमणी-संघ व्यवस्था :-

यद्यपि श्रमणों की संघ-व्यवस्था अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। लेकिन श्रमणियों के संघ की व्यवस्था सामान्यतया सर्वप्रथम जैन परम्परा में ही प्रचलित हुई। बुद्धने अपने भिक्षु-संघ में स्त्रियों की प्रवेश की अनुमति बहुत ही अनुनय-विनय के पश्चात् प्रदान की। यद्यपि जैन और बौद्ध परम्पराएँ इस विषय में एकमत है कि भिक्षुणी संघ को भिक्षु संघ के अधीन ही रहना चाहिए, दोनों ही भिक्षुणी संघो में स्त्रीप्रकृति को ध्यान में रखते हुए कुछ विशिष्ट नियमोंका प्रतिपादन हुआ है। बुद्ध ने इस संबंध में निम्नांकित अष्टगुरुधर्मो का निर्देश किया है।[84]

(1) भिक्षुणी संघ में चाहे जितने वर्षो तक रही हो, तो भी वह छोटे-बडे सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे।
(2) जिस गाँव में भिक्षु न हो वहाँ भिक्षुणी न रहे।
(3) हर पखवाडे में उपोसथ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिए कब आना है - ये बातें भिक्षुणी 'भिक्षुसंघ' से पूछ लें।
(4) चातुर्मास्य के बाद भिक्षुणी को भिक्षुसंघ और भिक्षुणी-संघ दोनों में प्रवारणा करनी चाहिए।
(5) जिस भिक्षुणी से संघादिशेष आपत्ति हुई हो उसे दोनों संघो में पन्द्रह दिनों का प्रायश्चित लेना चाहिए।
(6) जिसने दो वर्ष तक अध्ययन किया हो ऐसी श्रामणेरी को दोनों संघ उपसम्पदा दे दें।
(7) किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु के साथ गाली-गलौज न करें.
(8) भिक्षु ही भिक्षुणी को उपदेश दें।

उपरोक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि बौद्धधारा में भी जैन सिद्धान्तों को समान रुप से स्वीकृत किया गया है। इतना ही नहीं, अपितु व्यावहारिकता की दृष्टि से संघ व्यवस्था का प्रतिपादन भी जैनों की संघ व्यवस्था के तुल्य है। बौद्धधारा में तो बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, के बाद 'संघं शरणं गच्छामि' कह कर संघ का और भी अधिक महत्त्व प्रतिपादित कर दिया गया है।

77. अंगुत्तरनिकाय 3/59
78. सुत्तनिपात 54/10-12
79. संयुत्तनिकाय 1/6/12
80. सुत्तनिपात 54/6
81. विनयपिटक, पातिमोक्ख के नियम, जैन-बौद्ध-गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग 2, पृ. 382, 383
82. वही पृ.- 383
83. उदान - 5/5
84. बोधिचर्यावतार 5/98
85. भगवान् बुद्ध, पृ. 168, 169; विनयपिटक, चूलवग्ग 10/1/2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. इतर परम्पराएँ और जैनाचार

जब हम 'इतर परम्पराएँ' कहते हैं तो उसमें पूर्वोक्त परम्पराओं के अतिरिक्त वे सभी परम्पराएँ समाहित हो जाती हैं जो भारत या विश्व के किसी भी भाग में प्रचलित हों। इनमें पारसी, यहूदी, इस्लामिक, ईसाई आदि प्रमुख परम्पराएँ हैं, जो विदेशों में उदित हुई और विश्व में प्रचारित और प्रसारित हो गयीं। ये परम्पराएँ अपने उन सिद्धान्तो के कारण भारत में भी अपनायी गयीं जो भारतीय संस्कृति और परम्पराओं के सिद्धान्तो से सामञ्जस्य रखते थे।

इसके समानान्तर भारत में भी कालक्रम से अनेक उपसम्प्रदायों का जन्म हुआ। इनमें सिक्ख सम्प्रदायने अपने सिद्धान्तों के कारण भारतीय परम्परा में विशेष स्थान प्राप्त किया। सिक्खों के गुरु महाराज नानक द्वारा जो प्रतिपादन किया है वह भी श्रमण और ब्राह्मण परम्पराओं को प्रतिबिम्बित करता है।

सिक्ख धर्म में अहिंसा :-

सिक्ख धर्म में गुरुनानकने भी कहा है - जो कोई भी मांस-मुर्गी आदि खाता है और मादक पदार्थों का सेवन करता है, उसका समस्त पुण्य नष्ट हो जाता है।[1] यहूदी धर्म में यह कहा गया है कि "किसी आदमी के आत्म सम्मान को चोट नहीं पहुंचाना चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बडा पाप है, जितना कि उसका खून कर देना।[2] प्राणीमात्र के प्रति निर्वैरभाव की प्रेरणा देते हुए कहा है कि "अपने मन में किसी के प्रति वैर भाव मत रखो।[3] इसी तरह लाओत्से भी कहते हैं कि "जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते हैं, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।[4] कन्फ्यूशियसने भी कहा है कि "जो चीज तुम्हें नापसंद है, वह दूसरे के लिए हरगिज मत करो।"[5]

इस्लाम धर्म में अहिंसा :-

'कुराने शरीफ' के मंगलाचरण में ही 'बिस्मिल्लाह रहीमानुर्रहीम' - कहकर अल्लाह को करुणा की मूर्ति बताया गया है।[6] 'कुराने शरीफ' में अहिंसा का पालन करने का आदेश देते हुए कहा है- जो खुदा के पैदा किये हुए जानवरों के साथ रहम करता है, वह अपने साथ रहम करता है।[7] जानवरों पर रहम करने का इनाम इस दुनिया में भी है और मरने के बाद में भी मिलेगा।[8] जानवरों को काटने के लिए रखना और काटना मना है।[9] जो कोई अन्य प्राणियों के साथ दया का व्यवहार करता है, अल्लाह उस पर दया करता है।[10] पैगम्बर साहब ने कहा है-

"किसी भी रूप में उनका (उन कुर्बान किये गये पशुओं का) मांस ईश्वर के पास नहीं पहुंचता, न ही उनका रक्त भी, किन्तु दया ही साथ जाती है।[11] कुरान-ए-शरीफ में मक्का की यात्रा के दरम्यान जानवरों को मारने का निषेध किया गया है।[12]

पारसी धर्म में अहिंसा :-

पारसी धर्म में कहा है- "जो गाय ढौर की जिंदगी को हँसी मजाक में बिना कारण हानि पहुँचाता है, तथा जो कृपण होता है तथा दारुही (हिंसक मनुष्य) की सत्ता को चाहने वाला होता है, उनको ईश्वर बुरा हाजरमजह गिनता है।[13] पारसी भाईयों का फरमान करते हुए 'गाथा' में आगे कहा है - 1. जीवजंतु की रक्षा करना[14] 2. पशु हिंसा को अहुमझद (ईश्वर) बुरा मानते हैं।[15] 3. पशुओं को चारापानी देने में हुए प्रमाद के लिए सच्चे हृदय से बंदगी (पश्चाताप) करें।[16]

ईसाई धर्म में अहिंसा :-

ईसाने भी कहा है कि "तू तलवार म्यान में रख लें क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं वे सभी तलवार से ही नष्ट किये जायेंगे।" उसमें यह भी कहा है कि "तुम अपने दुश्मन से भी प्रेम करो, और जो तुम्हें सताते हैं उनके लिए भी प्रार्थना करो।"[17] ईसाने कहा है **Do not kill**[18]

जेनीसीस में कहा गया है-

When God appointed man's food. He gave him every green heard yielding seed and the fruit of the trees saying, to you it shall be for neat.[19]

बाईबल में कहा है-

Shall keep the weale law and get effered in one point is guilty at all.[20]

1. दोक धर्मनो दृष्टिए अहिंसानो विचार, पृ. 33
2. मेतलिया 58, आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, पृ.171 से उद्धृत
3. तोस-लेव्य व्यवस्था 19/17, आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, पृ.171 से उद्धृत
4. ताओ तेहकिंग, आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, पृ.171 से उद्धृत
5. आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, पृ.171 से उद्धृत
6. कुरानेशरीफ 5/35
7. वही, आयत 1/23
8. वही, आयत 5
9. वही, आयत 1/134, 1 1/135
10. वही, आयत 6/38,
11. अहिंसा और मार्गदर्शन, अंतिम पृष्ठ
12. कुराने शरीफ: सिय उलमायद सिपारा, मंजलक आयत
13. आपा जरथुस्त्र, गाथा-32, 12
14. वही, गाथा हा. 32; 12
15. वही, 34, 3
16. 11/135
17. बाईबल (मत्ती)-2/51, 52; 5/45, 46; लूका 6/27/37, अहिंसा दर्शन, पृ. 6 से उद्धृत
18. बाईबल, दश आज्ञाएँ
19. Genisis - 1, 29, अहिंसा और मार्गदर्शन - अंतिम पृष्ट से उद्धृत
20. Bible अहिंसा और मार्गदर्शन - अंतिम पृष्ठ से उद्धृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और भी कहा है-

Thous shall not kill.[21]

इतर परम्पराओं में क्षमा[22] :-

श्रमण-ब्राह्मण परम्पराओं में स्वीकृत क्षमा आदि धर्मो को सार्वभौम स्वीकृति प्राप्त हुई है। यहां पर जिसके कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

जो वक्त पर धैर्य रखें और क्षमा कर दें तो निश्चय वह बडे साहस के कामों में से एक है।

-कुराने शरीफ : 42/43

क्षमा करने की आदत डाल, नेकी का हुक्म देता जा और जाहिलों से दूर रह।

-कुराने शरीफ : 7/199

जो गुस्सा पी जाते हैं और लोगों को माफ कर देते हैं, अल्लाह ऐसी नेकी करनेवालों को प्यार करता हैं।

-कुराने शरीफ : 3/134

अपने शत्रुओं से प्रेम रखो, और जो तुम्हें सताता है उसके लिए प्रार्थना करो।

- बाईबिल, नया नियम (मत्ती - 5/44)

प्रार्थना में यदि किसी के प्रति तुम्हारे मन में कोई विरोध खडा हो तो तत्काल क्षमा कर दो, अन्यथा परम पिता तुम्हें भी माफ नहीं करेगा।

- बाईबिल, नया नियम (मरकुस-11/25-2644)

हे पिता ! इन्हें क्षमा करना, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ?

- बाईबिल, नया नियम (लूका : 23/24)

वैरी से मत हारो, बल्कि क्षमा से वैरी को जीत लो।

- बाईबिल, नया नियम (रोमियों -12/21

परदेशी से भी प्रेम कर, अपने मन में किसी के प्रति वैर का दुश्मनी का भाव मत रखो।

- यहूदी धर्म प्रवर्तक - यहोवा (लैव्य-व्यवस्था - 19/17)

यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हें मारने आये और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे, तो तुम उसे खाना दो, पानी दो।

- वही (नीति-25/21 मिदराश)

मन से सदैव यही सोचो कि सभी मेरे भाई हैं, और उनके प्रति मैने किसी भी तरह का कोई अपराध किया हो तो प्रभु मुझे क्षमा करे।

-पारसी धर्म प्रवर्तक जरथुस्त्र (पहेलवी टेक्स्ट्स)

पारसी धर्म में भी पाप-आलोचना की प्रणाली स्वीकार की गई है। खोरदेह अवस्ता में कहा गया है कि **मैने मन से जो बुरे विचार किये, वाणी से जो तुच्छ भाषण किया और शरीर से जो हलका काम किया, इत्यादि प्रकार से जो जो गुनाह किये, उन सबके लिए मैं पश्चाताप करता हूँ। अभिमान, गर्व, मरे हुए लोगों की निन्दा करना, लोभ, बेहद गुस्सा, किसी की बडती देखकर जलना, किसी पर बुरी निगाह करना, स्वच्छन्दता, आलस्य, कानाफूसी, पवित्रता का भंग, झूठी गवाही, चोरी, लूट-खसोट, व्याभिचार, बेहद शौक करना, इत्यादि जो गुनाह मुझसे जाने-अनजाने हुए हों और जो गुनाह साफ दिल से मैने प्रकट न किये हों, उन सबसे मैं पवित्र होकर अलग होता हूँ।**[23] ईसाई धर्म में भी पापदेशना आवश्यक मानी जाती है। जेम्स ने 'धार्मिक अनुभूति की विविधताएँ' नामक पुस्तक में इसका विवेचन किया है।[24]

ईसाई एवं यहूदी परम्परा में मूसा के 10 आदेशों या दश आज्ञाओं में एक आज्ञा यह भी है कि **सप्ताह में एक दिन विश्राम लेकर पवित्र आचरण करना।**[25] - यह जैनसिद्धान्तोक्त पौषध से समानता रखती है।[26] कुराने शरीफ में कहा है-

रोजों की रातों में अपनी औरतों के पास जाना तुम्हारे लिए हलाल (निषेध) है।

-रुकअ-23/187

हज के महीने में औरतों के सामने सोहबत का तजकिरा (त्याग) है।

-रुकअ-25/197

हज के दिनों में औरतों से अलग रहो ।

-रुकअ-28/222

शराब और जुए में बडा गुनाह है।

-रुकअ-27/219

फकीरों को खैरात छिपाकर (गुप्त रूप से) दो।

-रुकअ-37/271

माँ-बाप की भलाई करो।

-सूर अहकाक, -रुकअ-4/15

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिस **अहिंसा को प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने प्ररुपित किया था, जिसे महावीर पर्यन्त तीर्थंकरों ने पुष्पित, पल्लवित एवं विकसित किया उसका विश्व के समस्त धर्म एवं दर्शनों में स्थान है।** सभी धर्मो द्वारा स्वीकृत अहिंसा एक ऐसी कडी है, जो विश्व के समस्त धर्मों को पारस्परिक एकता एवं सद्भाव के सूत्रो में आबद्ध कर देती है।

---

21 Exodus 20/13

22. 'शाश्वत धर्म' मासिक, अगस्त 2001, पृ. 15 से उद्धृत

23. (क) अज हमोइन हर आइन गुनाह हर
आइन मगर जान हर आइन फरोह
मान्द हर आइन मानीद हर आइन
गुनाह अज गुनाह ओएम अन्दर
शेहेरवेर अयोषशस्त अयोषशस्त
सर्दगान जस्त 'प' पतेत होम
(ख) 'अज..... अंदर संपदामद जमीन सर्दगांन जस्त प पतेत होंम'
– खोरदहे अवेस्ता पृ. 7/23-24, दर्शन और चन्तन, भाग 2, पृ. 193, 194 से उद्धृत

24. वेरायटीज ओफ रिलिजीयस एक्सपीरियन्स, पृ. 452

25. बाईबल ओल्ड टेस्टामेन्ट, निर्गमन 20

26. जैन-बौद्ध-गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 298

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ परिच्छेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ परिच्छेद

आचारपरक शब्दावली में आचारपरक कथाएँ एवं सूक्तियाँ

1. आचारपरक कहानियाँ
2. आचारपरक सूक्तियाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ परिच्छेद

आचारपरक शब्दावली में आचारपरक कथाएँ एवं सूक्तियाँ

समीक्षकोंने दर्शनशास्त्र के तीन प्रमुख विभाग किये हैं 1. तत्त्व विज्ञान अर्थात् विश्व में कौन से तत्त्व हैं, जो जानने योग्य है; 2. प्रमाण विज्ञान अर्थात् उन तत्त्वों को किन साधनों के द्वारा जाना जा सकता है; और 3. आचार विज्ञान अर्थात् उन तत्त्वों को जानकर आचरण योग्य क्या है? जैन सिद्धान्त की भाषा में प्रतिपादित सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र क्रमशः इन्हीं तीनों विभागों का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं।

भारतीय दर्शनों की एकरुपता इस तथ्य से है कि सभी दर्शन मानवमात्र के जीवन का एक लक्ष्य प्रतिपादित करते हुए उस लक्ष्य को पाने का निश्चित उपाय अपने आचरण शास्त्र द्वारा निश्चित करते हैं। अर्थात् आचरणहीन ज्ञान का होना या न होना व्यर्थ है। इस दृष्टि से पुरुषार्थ चतुष्टय का उपदेश किया गया है। पुरुषार्थ चतुष्टय का हार्द यह है कि 'धर्म' पूर्वक जीवन यापन किया जाये और जीवनोपकरण के रुप में 'अर्थ' भी धर्मपूर्वक प्राप्त किया जाये किन्तु उस अर्थ का परिग्रह उतना ही हो जितना आवश्यक है। अर्थ की तीन गतियाँ प्रसिद्ध है, दान, भोग और नाश। इनमें भी दान को प्रधानता दी गयी है। मानव मात्र का स्वभाव संचय करने का है; यदि संचय के पश्चात् आसक्ति से भोग किया जाये तो वह भी अकल्याणकारी है और भोग न किया जाये तो उस अर्थ का नाश स्वयं सिद्ध है। भोग का तात्पर्य इन्द्रिय विषयों के सेवन से है। भारतीय दर्शन में इसे 'काम' पुरुषार्थ माना गया है। काम भी धर्मपूर्वक ही होना चाहिए - यह भारतीय मनीषा का प्रमुख ध्यातव्य विषय है। अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' तो धर्म के बिना सम्भव ही नहीं है। 'मोक्ष' प्राप्त करने की निश्चित प्रक्रिया है जिसे दर्शनशास्त्र में आचार विज्ञान में समाहित किया गया है।

किसी दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित आचार विज्ञान कितना सैद्धांतिक है या कितना प्रायोगिक स्वरुप का है - यह तथ्य व्यवहार में देखने पर ही ज्ञात हो सकता है। पुराण और इतिहास के द्वारा यह समझाया जाता है कि वस्तुतः आचार विज्ञान के सोपान मानव शक्ति द्वारा आरोहण योग्य है; कपोल कल्पना नहीं। जो आज विद्यमान होता है वही कल इतिहास बन जाता है जिसे कभी इतिहास ग्रन्थों में (सम्प्रदायानुसार इन्हें 'चरित' (चरित्र) आदि नाम दिये जाते हैं) तो कभी पुराण ग्रन्थों में समाहित कर लिया जाता है। जैन साहित्य में त्रिषष्टि शलाका पुरुषों के जीवन वृत्तों को पुराणों में स्थान दिया गया है तो अन्य वृत्तों को साधारण इतिहास ग्रन्थों में।

पुराण और इतिहास में वर्णित किसी विषय विशेष से सम्बन्धित आख्यान का उपाख्यान को कथा के नाम से जाना जाता है। समीक्षकोंने काव्य और काव्यांगो का विवेचन करते हुए कथा ग्रन्थों का वर्गीकरण पृथक् से प्रतिपादित किया है। यहाँ पर काव्यशास्त्र की परिभाषा में कथात्व अपेक्षित नहीं है, किन्तु मात्र यह आशय है कि आचार शास्त्र में प्रतिपादित गुणों और दोषों के विषय में कौन सी घटना जनप्रसिद्ध हुई है उसका वर्णन यदि अभिधान राजेन्द्र कोश में है तो उसका उल्लेख कहाँ पर है - इसका संकेत किया जाये। हमने यहाँ पर केवल उन कथाओं का संकेत किया है जो आचार शास्त्र से सम्बन्धित है।

वृत्तों का आधार बनाकर अनेक कवियों ने काव्यमय साहित्य की रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इन रचनाओं में कोई-कोई वाक्य सुभाषित के रुप में प्रसिद्ध होकर लोक में प्रचलित हो गये। इन्हीं सुभाषितों को हम 'सुक्ति' नाम से जानते हैं।

आज सुभाषितों और सूक्तियों पर अनेक कोश ग्रन्थ उपलब्ध है। आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजीने भी सुभाषितों और सूक्तियों को अपने कोश में स्थान देकर मानो यह घोषणा कर दी थी कि कालान्तर में सुभाषितों और सूक्तियों पर भी पृथक्-पृथक् कोश ग्रन्थों के प्रणयन का समय आ गया है।

वर्तमान में दो प्रकार के कोश दृष्टिगोचर होते हैं - मुहावरा कोश और लोकोक्ति कोश/सुभाषित कोश। संस्कृत साहित्य की धारा में सभी ऐसे कथन जो उक्ति के रुप में जनभाषा में व्यवहृत हों 'सुभाषित' या 'सूक्ति' के अन्तर्गत आते हैं। यदि संक्षेप में दोनों को पृथक करना हो तो मेरी अल्पमति के अनुसार निम्नांकित रुप से परिभाषित किया जाना उचित होगा-

मुहावरा :-

विधायक (प्रतिपादक, प्रतिषेधक, जिज्ञासात्मक, प्रतिषेध जिज्ञासात्मक) वाक्यों के अर्थ की गम्यमानता से युक्त लक्षणाशक्ति/व्यञ्जनशक्ति सम्पन्न वाक्य मुहावरा है।

उदाहरण - अन्धस्य वर्तकी लाभः (अन्धे के हाथ बटेर लगना)।

लोकोक्ति :-

काल्पनिक घटना प्रधान या वास्तविक घटना प्रधान लक्षणा/व्यञ्जना शक्ति से युक्त वाक्य को लोकोक्ति कहते हैं।

उदाहरण - दुष्प्रापाः द्राक्षा अम्ला (लोमडी को अंगूर खट्टे हैं)।

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं को काव्यविदों द्वारा परीक्षित किया जाना आवश्यक है। कारण यह है कि आज कोई लोकोक्ति 'दुष्प्रापाः द्राक्षा अम्ला' को मुहावरो के अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं तो कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अन्धस्य वर्तकी लाभः' को लोकोक्ति मानते हैं।

श्री हरिवंशराय शर्माने अपने लोकोक्ति कोश में भूमिका में लोकोक्ति के विषय में अनेक परिभाषाएँ उद्धृत की हैं-

लोकोक्ति का अर्थ है लोक या समाज में प्रचलित उक्ति। इसी को कहावत कहते हैं। अंग्रेजी में इसे proverb कहते हैं। विभिन्न विद्वानोंने लोकोक्ति की परिभाषा भिन्न-भिन्न शब्दों में की है। बेकन के अनुसार, भाषा के वे तीव्र प्रयोग, जो व्यापार और व्यवहार की गुत्थियों को काटकर तह तक पहुँच जाते है, लोकोक्ति कहलाते हैं। डॉ. जोनसन कहते हैं कि वे संक्षिप्त वाक्य जिनको लोग प्रायः दोहराया करते है, लोकोक्ति कहलाते हैं। इरैस्मस का कथन है कि वे लोकप्रसिद्ध और लोकप्रचलित उक्तियाँ, जिनकी एक विलक्षण ढंग से रचना हुई हो, कहावत कहलाती हैं। 'ऑक्सफोर्ड कनसाइज डिक्शनरी' में लिखा है कि सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त संक्षिप्त और सारपूर्ण उक्ति को कहावत कहते हैं। चेम्बर्स डिक्शनरी के अनुसार लोकोक्ति वह संक्षिप्त और लोकप्रिय वाक्य है जो एक कल्पित सत्य या नैतिक शिक्षा अभिव्यक्त करता है। एग्रीकोला कहते है कि कहावतें वे संक्षिप्त वाक्य हैं जिनमें आदि पुरुषोंने सूत्रों की तरह अपनी अनुभूतियों को भर दिया है। सर्वन्टीज के अनुसार कहावतें वे छोटे वाक्य हैं जिनमें लंबे अनुभव का सार हो। फ्लेमिंग की सम्मति में लोकोक्तियों में किसी युग अथवा राष्ट्र का प्रचलित और व्यावहारिक ज्ञान होता है। जब हम उपर्युक्त परिभाषाओं तथा लोकोक्तियों के विन्यास तथा प्रकृति पर विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वे बोलचाल में बहुत आनेवाले ऐसे बंधे हुए चमत्कारपूर्ण वाक्य होते हैं जिनमें किसी अनुभव या तथ्य की बातें कही गई हों अथवा कुछ उपदेश या नैतिक शिक्षा दी गई हो, और जिनमें लक्षण या व्यञ्जना का प्रयोग किया गया हो, जैसे 'आँख के अन्धे नाम नयनसुख', 'यहाँ के बाबा आदम ही निराले हैं', 'हंसे तो हंसिए अडे तो अडिए', आदि।[1]

दूसरी ओर आप मुहवरा कोश के आमुख में मुहावरा को भी परिभाषित करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं[2] -

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है बातचीत करना या उत्तर देना। कुछ लोग मुहावरे को 'रोजमर्रा', 'बोलचाल', 'तर्जेकलाम', या 'इस्तलाह' कहते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी शब्द 'मुहावरे' का पूर्ण पर्यायवाची नहीं बन सका। संस्कृत वाङ्मय में 'मुहावरा' का समानार्थक कोई शब्द नहीं पाया जाता। कुछ लोग इसके लिए 'प्रयुक्ता', 'वाग्रीति', 'वाग्धारा' अथवा 'भाषा सम्प्रदाय' का प्रयोग करते हैं। वी.एस. आप्टेने अपने 'इंग्लिश-संस्कृत कोश' में मुहावरे के पर्यायवाची शब्दो में 'वाक्-पद्धति', 'वाक्-व्यवहार' और 'विशिष्ट स्वरुप' को लिखा है। पराडकरजीने 'वाक्-सम्प्रदाय' को मुहावरे का पर्यायवाची माना है। काका साहेब कालेलकरने 'वाक्-प्रचार' को 'मुहावरे' के लि 'रूढि' शब्द का सुझाव दिया है। यूनानी भाषा में 'मुहावरे' को 'ईडियोमा', फ्रेंच में 'इडियाटिस्मी' और अंग्रेजी में 'इडिअम' कहते हैं।

विभिन्न विद्वानोंने विभिन्न प्रकार से 'मुहावरे' की परिभाषा की है। मोटेतौर पर हम कह सकते हैं कि जिस सुगठित शब्द-समूह से लक्षणाजन्य कभी-कभी व्यंजनाजन्य कुछ विशिष्ट अर्थ निकलता है उसे 'मुहावरा' कहते है। कभी-कभी यह व्यंग्यात्मक होते हैं। इनकी गठन विशेष शब्दों या क्रिया-प्रयोगों के योग से होती है। यदि इनकी गठन में किसी प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाए तो उनके लाक्षणिक अर्थ का लोप हो जाता है और वे 'मुहावरे' नहीं रह जाते। डॉ. उदय नारायण तिवारीने लिखा है, "हिन्दी-उर्दू में लक्षण अथवा व्यञ्जना द्वारा सिद्ध वाक्यो को ही 'मुहावरा' कहते है।"

'Advanced Learners' Dictionary' में A.S. Hornby ने लिखा है कि 'मुहावरा' शब्दों का वह क्रम या समूह है जिसमें सब शब्दों का अर्थ एक साथ मिलाकर किया जाता है। Chamber's Twentieth Century Dictionary के अनुसार, किसी भाषा की विशिष्ट अभिव्यञ्जना-पद्धति को 'मुहावरा' कहते हैं। Oxford Concise Dictionary के अनुसार, किसी भाषा की अभिव्यञ्जना के विशिष्ट रुप को 'मुहावरा' कहते हैं। एक अन्य पक्ष है कि विशिष्ट शब्दों विचित्र प्रयोगों एवं प्रयोग-सिद्ध विशिष्ट वाक्यांशों या विशिष्ट वाक्य-पद्धति को 'मुहावरा' कहते है।

'मुहावरा' की सबसे अधिक व्यापक तथा सन्तोषजनक परिभाषा डॉ. ओमप्रकाश गुप्तने निम्न शब्दो में दी है :

"प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानियों और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देने वाले किसी भाषा के गठे हुए रूढ वाक्य, वाक्यांश या शब्द-समूह को मुहावरा कहते हैं।"

लोकोक्ति कोश के आमुख में डॉ. हरिवंशराय शर्माने लोकोक्ति और मुहावरा में साधर्म्य वैधर्म्य भी निम्नांकित प्रकार से प्रस्तुत किया है[3]-

लोकोक्ति को वाक्य और मुहावरे को खंड-वाक्य, वाक्यांश या पद माना जाता है। लोकोक्ति में उद्देश्य और विधेय रहता है। उनका अर्थ समझने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। यह सच है कि कुछ लोकोक्तियों में कभी-कभी क्रियापद लुप्त होता है, परन्तु उसको समझने के लिए किसी प्रकार की विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु मुहावरों में उद्देश्य और विधेय का विधान नहीं होता। इस कारण जब तक उनका प्रयोग वाक्यों में नहीं किया जाता, तब तक उनका सम्यक् अर्थ समझ में नहीं आता।

लोकोक्तियों के रुप सामान्यतः अपरिवर्तनीय होते हैं। यदि उनमें शब्दान्तर कर दिया जाए, तो उनकी प्रकृति विकृत हो जाएगी, और श्रोता अथवा पाठक उनके अर्थ को नहीं समझ पायेंगे। उदाहरणार्थ, 'यह मुँह और मसूर की दाल' लोकोक्ति है। इसके स्थान पर यदि हम कहे 'यह मुख और चने की दाल', तो लोकोक्ति का रुप विकृत हो जाएगा और श्रोता हमारा आशय न समझ सकेगा या हमारी हंसी उडाएगा। इसी प्रकार हम 'राम नाम में आलसी, भोजन में होशियार' का प्रयोग इस प्रकार नहीं कर सकते हि वहाँ अनेक लोग ऐसे आए थे जो 'भगवान के नाम में आलसी परन्तु खाने में चतुर' थे। इसके विपरीत व्याकरण की दृष्टि से मुहावरों के रुप में परिवर्तन होता रहता

1. लोकोक्ति कोश, आमुख, पृष्ट ।
2. मुहावरा कोश, आमुख, पृष्ट 1-2
3. लोकोक्ति कोश, आमुख, पृष्ट 1-2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। उदाहरणतः, 'जूते से बात करना' एक मुहावरा है। इसका प्रयोग हम इस प्रकार से कर सकते है: वह अपने नौकरों से जूते से बात करता था या बात करता है या बात करेगा। परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह अपने नौकरों से पद-त्राण से वार्ता करता था।

लोकोक्तियों तथा मुहावरों-दोनों मे बहुधा लक्षण तथा व्यञ्जना का प्रयोग होता है। दोनों में अभिधेयार्थ गौण और लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ प्रधान होते हैं। मुहावरों के प्रयोग-वाक्यों तथा लोकोक्तियों दोनों मे चमत्कार, अभिव्यञ्जन-विशिष्टता तथा प्रभाविता होती है। फिर भी लोकोक्तियों का प्रयोग प्रायः किसी बात के समर्थन, खंडन अथवा पुष्टिकरण के लिए होता है।

लोकोक्तियों और मुहावरों दोनों में अलंकार होते हैं। लोकोक्तियों में विशेष रुप से 'लोकोक्ति' अलंकार होता है। इस प्रकार प्रायः सभी लोकोक्तियाँ उसके अन्तर्गत आ जाती है; जैसे 'इहां कोहड बतिया कोउ नाहीं' 'एक जो होय तो ज्ञान सिखाइए', 'कूप ही में यहाँ भांग परी है', 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', आदि। किन्तु मुहावरे किसी एक अलंकार में सिमित नहीं होते। उनमें अनेक अलंकार दृष्टिटिगोचर होते हैं, जैसे, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, आदि। किन्तु मुहावरों में अलंकार का पाया जाना अनिवार्य नहीं हैं।

मेरी दृष्टि से ये सब भेदोपभेद सुभाषित या सूक्ति के अन्तर्गत समाविष्ट है। और इसी दृष्टि से यहाँ पर सूक्ति-संकलन प्रस्तुत किया गया है। प्रथम शीर्षक में आचारपरक कथाओं को स्थान दिया गया है और दूसरे में सूक्तियों को।

श्री गुरु- वन्दनावली

लोके यो विहरन् सदा स्ववचनैर्वैरं मिथो देहिनां,
दूरीकृत्य सहानुभूतिसचिरां मैत्रीं समावर्धयत्।
मूढांश्चापि हितोपदेशवचसा धर्मात्मन् संव्यधाद्,
देशोपद्रवनाशकं तमजितं राजेन्द्रसूरिं नुमः॥

वाणी यस्य सुधासमाऽतिमधुरा दृष्टिर्महामञ्जुला,
संव्रज्या सुखशान्तिदा खलु सदाऽन्यायादिदोषापहा।
बुद्धिर्लोकसुखानुचिन्तनपरा कल्याणकत्री नृणां,
लोके सुप्रथिताऽस्ति तं गुरुवरं राजेन्द्रसूरिं नुमः॥

यो गङ्गाजलनिर्मलान् गुणगणान्संधारयन् वर्णिराड्,
यं यं देशमलञ्चकार गमनैस्तं त्वपावीन्मुदा।
सच्छास्त्राऽमृतवाक्यवर्णणवशाद् मेघव्रतं योऽधरत्,
तं सज्ज्ञानसुधानिधिं कृतिनुतं राजेन्द्रसूरिं नुमः॥

तेजस्वी तपसा प्रदीप्तवदनः सौम्योऽतिवक्ताऽचलः,
शास्त्रार्थेषु परान् विजित्य विविधैर्मानैस्तया युक्तिभिः।
शिष्यांस्तानकरोत्स्वधर्मनिरतान् यो ज्ञानसिन्धुं प्रभु-
स्तं सूरिप्रवरं प्रशान्तवपुषं राजेन्द्रसूरिं नुमः॥

लोकान्मन्दमतीन्स्वधर्मविमुखप्रायान् बहून् वीक्ष्य यो,
जैनाचार्यनिबद्धसर्वानिगमानालोड्य बुद्धया चिरम्।
मर्त्यान् बोधयितुं सुखेन विशदान् धर्मान्महामागधी-
कोशं संव्यतनोत्तमच्छमनसा राजेन्द्रसूरिं नुमः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. अभिधान राजेन्द्र अनुस्यूत आचार परक कहानियाँ

अभिधान राजेन्द्र कोश में जिन-जिन शब्दों पर कथा या उपकथाएँ आयी हैं, यहाँ पर वे अकारदि क्रम से सूची के रुप में दी रही है :-

प्रथम भाग :-

अइमुत्तय	अतिमुक्तक	अतिमुक्तकमुनि की कथा
अउज्झा	अयोध्या (विनीता नगरी)	अयोध्या नगरी वर्णन एवं अयोध्या से पार्श्वनाथ आदि चार जिनबिंब देवसहाय से आकाश मार्ग से सेरीसा लाने की कथा।
अंगारमद्दग	अङ्गारमर्दक	अङ्गारमर्दक नामक अभव्य आचार्य की कथा।
अंजू	अञ्जु	अञ्जु देवी की दु:खविपाक की कथा।
अंड	अण्ड	ज्ञाताधर्मकथा सूत्रान्तर्गत मयूरण्ड की कथा।
अंतरिक्ख पासणाह	अन्तरिक्ष पार्श्वनाथाय	श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
अंबड	अंबड	आगामी चौबीसी में होने वाले 22 वें देव नामक तीर्थंकर की आत्मा अंबड परिव्राजक (विद्याधर श्रमणोपासक) की कथा।
अक्कूर	अक्रूर	क्रूर × अक्रूर (श्रावक के गुण संबंधी समरविजय (कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र) एवं कीर्तिचन्द राजा की कथा।
अक्कोस परिसह	आक्रोश परिषह	अर्जुनमाली और सुदर्शन सेठ की कथा।
अक्खयतइया	अक्षयतृतीया	आदिनाथ प्रभु के वर्षीतप के पारणा की कथा।
अक्खयपूया	अक्षतपूजा	अक्षतपूजा की महिमा संबंधी शुक की कथा। (शुक युगल द्वारा अक्षतों से प्रभु भक्ति की कथा।)
अक्खुद्द	अक्षुद्र	गांभीर्य गुण संबंधी सोमकुमार की कथा।
अगडदत्त	अगडदत्त	'स्त्रियो' पर विश्वास नहीं करना' - इस विषय पर अगडदत्त राजकुमार की कथा।
अगहिल्लगराय	अग्रहिलकराज	ग्रहिल-अग्रहिल लोगों की उपनय कथा।
अचंकारियभट्ठा	अचङ्कारितभट्टा	मान कषाय का विपाक दर्शानेवाली भट्टा कुमारी की कथा।
अचल	अचल	अचल नामक प्रथम बलदेव की कथा।
अज्जगंग	आर्यगङ्ग	निह्नव आचार्य आर्यगङ्ग की कथा।
अज्जचंदणा	आर्यचन्दना	दासी बनी हुई राजकुमारी वसुमती (अपरनाम चन्दनबाला) ने पाँच मास और पच्चीस दिन के अभिग्रह सहित सतत उपवासधारी श्रमण भगवान् महावीर को उडद के बाकुले से पारणा कराया। वह भगवान की प्रथम शिष्या चंदनबाला की कथा।
अज्जमंगु	आर्यमङ्गु	लोभ और प्रमाद से पतन होता है - इस विषय पर आचार्य मङ्गु के यक्ष बनने की कथा।
अज्जमणग	आर्यमनक	छह माह में आत्मकल्याण करने वाले आचार्य शय्यंभवसूरि के सांसारिक पुत्र मनक मुनि की कथा।
अज्जरक्ख	आर्यरक्ष	व्रतकिरणावलिकार आर्यरक्ष की कथा
अज्जरक्खिय	आर्यरक्षित	व्रजस्वामी के पास साढेनवपूर्वो का अध्ययन करने वाले तोसलिपुत्र आचार्य के शिष्य आचार्य आर्यरक्षितसूरि की कथा।
अज्जव	आर्जव (अंगर्षि कथा)	प्रत्येक बुद्ध अंगऋषि की कथा।
अज्जवइर	आर्य वज्र	दशपूर्व के ज्ञाता आर्य वज्रस्वामी की कथा।
अट्टन	अट्टन	उज्जयिनी के अट्टन मल्ल की कथा।
अट्ठावय	अष्टापद	अष्टापद तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
अट्ठिअगाम	अस्थिकग्राम	अस्थिग्राम के शूलपाणि यक्ष की कथा।
अडवि	अटवि	अरण्य के प्रकार के विषय में धन सार्थवाह की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अणिरिस ओवहाण	अनिश्रितोपधान	आर्य महागिरि के अनिश्रित तप (भाव उपधान) की कथा।
अणीयस	अणीयस	जैनों के 22 वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि के शासन में हुए भद्दिलपुरवासी नागरसारथीकी धर्मपत्नी सुलसा के पुत्र अणीयस कुमार के जीवन, दीक्षा एवं शत्रुंजय पर्वत पर संलेखना कर मोक्ष प्राप्ति की कथा।
अणुब्भडवेस	अनुद्भटवेष	उद्भटवेष से उत्पन्न दोष और दुःख संबंधी बंधुमती और बंधुदत्त के अतीत एवं वर्तमान भव संबंधी कथा।
अणायया	अज्ञानता	यशः पूजा आदि की इच्छा से रहित अज्ञातरुप से गुप्त तप आदि विषयक धारिणी रानी की कथा।
अणियाउत्त	अर्णिकापुत्र	अन्तःकृत केवली अर्णिकापुत्र आचार्य एवं प्रयाग तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
अत्तदोसोवसंहार	आत्मदोषोपसंहार	मांसभक्षणत्याग के नियम पालन से मोक्ष प्राप्ति के विषय में जिनदेव की कथा।
अत्थकुसल	अर्थकुशल	संविग्न गीतार्थ गुरु के पास विधिपूर्वक विनयादि औचित्यपूर्वक सूत्रार्थ ग्रहण करके अर्थकुशल अर्थात् प्रवचन कुशल होकर भावश्रावक बनने संबंधी ऋषिभद्रपुत्र की कथा।
अद्दगकुमार	आर्द्रककुमार	व्रत भंग से प्राप्त अनार्यत्व एवं जिनप्रतिमा के दर्शन से सम्यकत्व की प्राप्ति पर आर्द्रककुमार की कथा।
अब्बुय	अर्बुद	श्रीमाता की उत्पत्ति, आबुपर्वत (तीर्थ) की प्रख्याति एवं बिमलवसहि, लुणगवसति एवं देलवाडा के जैनमंदिरों के निर्माण की कथा।
अभज्जसेण	अभग्नसेन	चोरी से प्राप्त दुःख के ऊपर चोरसेनापति के पुत्र अभग्नसेन के वर्तमान एवं आगामी भव की कथा।
अभयकुमार	अभयकुमार	श्रेणिकपुत्र बुद्धिनिधान जैनशास्त्र विशारद अभयकुमार की द्रमकमुनि से संबंधित कथा
अभयदेव	अभयदेव	अभयदेवसूरि नामक आचार्यों का परिचय एवं नवांगी टीकाकर प्रथम अभयदेवसूरि के कुष्ठरोग निवारण संबंधी श्रीस्तंभनपार्श्वनाथ भगवान् की कथा।
अमरदत्त	अमरदत्त	दर्शनशुद्धि एवं जिनधर्मपालन पर अमरदत्त की कथा।
अर	अर	सप्तम चक्रवर्ती एवं अठारवें तीर्थंकर अरनाथ जिनेन्द्र की कथा।
अरहण्णय	अरहन्नत/अर्हन्नक	रागवश तीन भव संबंधी अरहन्नत की कथा तथा दृढ सम्यक्त्वपालन संबंधी अर्हन्नक श्रावक की विस्तृत कथा।
अरिट्ठनेमि	अरिष्टनेमि	जैनों के 22 वे तीर्थंकर अरिष्टनेमि की और राजीमती (राजुल) के नवभव की प्रणय कथा।
अलोभया	अलोभता	अलोभता के विषय में क्षुल्लक (खुड्डग) कुमार की कथा।
अवंतिसुकुमाल	अवंतिसुकुमार	अवंतिसुकुमार की दीक्षा एवं स्वर्गगमन की कथा।
असढ	असठ	मायारहितता/सरलता के विषय में चक्रदेव की कथा।
अस्सावबोहितित्थ	अश्वावबोहितीर्थ	जैनों के 20 वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतस्वामी द्वारा पूर्वभव के मित्र अश्व को प्रतिबोध एवं अश्वावबोधतीर्थ (भरुच) की उत्पत्ति की कथा।
अहिच्छत्ता	अहिच्छत्रा	श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के छद्मस्थावस्था में उत्पन्न कमठासुर के उपसर्ग के स्थान पर स्थापित अहिच्छत्रा तीर्थोत्पत्ति की कथा।
अहिणंदण	अभिनन्दन	जैनों के चतुर्थ तीर्थंकर श्री अभिनन्दन स्वामी की कथा।

द्वितिय भाग :-

आउ	अप्, आतु, आकु, आयुस्	जलदेवता की एवं सात प्रकार से आयुः क्षय के विषय में ग्रामतरुणी, वणिक्, गजसुकुमाल, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि की संक्षिप्त कथा।
आणंद	आनंद	पितृसेन और कृष्णा के नौवे पुत्र आनंद की लघुकथा एवं जैनों के 24 वें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के प्रथम श्रावक आनंद की विस्तृत कथा।
आतंकदंसी	आतंकदर्शी	जितशत्रु राजा की कथा।
आधाकम्म	आधाकर्म	साधुओं के उद्देश्य से उत्पन्न किये आहार संबंधी प्रतिसेवन, प्रतिश्रवण, संवास और अनुमोदना के विषय में क्रमशः चार राजपुत्र, पल्लीवासी वणिक और राजदुष्ट की कथाएँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आपई	आपद्	द्रव्य आपति के विषय में धर्मघोष अणगार एवं भाव आपत्ति के विषय में दण्ड अणगार की कथा।
आभीरवंचग	आभीर वञ्चक	लोभ एवं व्यापार में कपट के विषय में ग्वाले को ठगने वाले वणिक की उपनय कथा।
आयरिय	आचारिक/आचरित/आचार्य	गुरु के विनय के विषय में वैद्य का दृष्टांत, कौटुम्बिक का दृष्टांत, गर्भवती स्त्री का दृष्टांत, राजकुमार, सिंह एवं खरगोश की कथा।
आराहणा	आराधना	मरुदेवी माता और भरत चक्रवर्ती की कथा।
अरुगदिय	आरोग्यद्विज	गृहस्थ धर्मपालन के विषय में देवगुप्त के पुत्र आरोग्य ब्राह्मण की कथा।
आलंबण	आलंबन	पृष्ट-अपृष्ट आलंबन के विषय में सार्थवाह की, और उदायन राजा की कथा।
आलोयणा	आलोचना	उज्जैनी के सिंहगिरि आचार्य एवं मल्ल की संक्षिप्त उपनय कथा।
आसाढभूइ	आषाढभूति	मायापिण्ड के विषय में आषाढभूति मुनि की कथा।
इंददत्त	इंद्रदत्त	मनुष्यभव की दुर्लभता के विषय में इंद्रपुर के राजा इंद्रदत्त की कथा।
इंदभूइ	इन्द्रभूति	भगवान महावीर के प्रथम शिष्य इन्द्रभूतिगौतम की जीवन कथा।
इच्छक्कार	इच्छाकार	शिष्यों के लिये गुरु के प्रति इच्छाकार समाचारी के विषय में मरुक की, वानर की और वणिक की कथा।
इत्थी परिसह	स्त्री परिषह	कामविजेता स्थूलभद्र की संक्षिप्त कथा।
इरिया समिइ	ईर्यासमिति	ईर्या समिति के पालन के विषय में साधु, शक्रेन्द्र एवं देव की कथा।
इलापुत्र	इलापुत्र	शुद्ध भावना से रस्सी पर नाचते-नाचते केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले इलाचीपुत्र की कथा।
इसिभद्दपुत	ऋषिभद्रपुत्र	भाव श्रावक के विषय में ऋषिभद्रपुत्र श्रावक की कथा।
इसिभासिय	ऋषिभाषित	दो साधु एवं यज्ञदत्त तापस तथा सोमयशा तपस्विनी की कथा।
इस्सर	ईश्वर	अगीतार्थता के दोष से दुःखप्राप्ति के विषय पर गोशालक की कथा।
उउंब (उंब) रदत	उडुम्बरदत्त	मांसप्रिय और मांसोपदेष्टा होने से उडुम्बरदत्त के उस भव, धन्वंतरि का भव एवं नरकगमन की कथा।
उग्गम	उद्गम	साधु के आहार संबंधी उद्गमदोष संबंधी सरुप कुमार की कथा।
अग्गहणंतग	अवग्रहानन्तक	साध्वियों के उपकरण संबंधी योद्धा की, मुरुंड राजा और उसकी बहन की, नर्तक की, कदली स्तंभ की कथा।
उज्जयंत	उज्जयंत	जैनों के 22 वें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि की कथा एवं गिरनार तीर्थ की उत्पत्ति की ऐतिहासिक कथा।
उज्जुववहार	ऋजुव्यवहार	भाव श्रावक के ऋजुव्यवहार पर हरिनन्दी की, भद्र श्रेष्ठी की एवं सुमित्र की कथा।
उज्झियय	उज्झितक	दुःख विपाक के उज्झितक पुत्र की कथा।
उण्हपरिसह	उष्णपरिषह	उष्णपरिषह के विषय में अर्हन्मित्र आचार्य, दत्त श्रावक और भद्रा श्राविका की कथा।
उदयण	उदयन	सँवत्सरिक क्षमापना एवं आराधकत्व के विषय में उदयन राजा की कथा।
उदाइ	उदायिन्	कोणिकराजा और उदायी के पूर्वापर भव की कथा।
उदायण	उदायन	संवत्सरी पर्व के विषय में उदयन राजा की कथा।
उद्देसिय	औद्देशिक	आहार-ग्रहण हेतु गोचरी जानेवाले साधु को उद्देशित करके गो-वत्स के दृष्टान्तपूर्वक सागरदत्त श्रेष्ठी की पारिवारिक दृष्टांत कथा।
उप्पतिया	औत्पतिकी	औत्पतिकी बुद्धि के विषय में रोहक, जुआरी, वृक्ष, अभयकुमार, कौआ, धूर्त, हाथी, वैश्य, लाख के गोले, मार्ग, पति, पुत्र, अंगूठी, चिह्नित की हुई मोहरें, भिक्षु, धनुर्वेद शिक्षा, स्त्री एवं, परिव्राजक, सत्य एवं दृष्टांत कथाएँ।
उरब्भ	उरभ्र	आरंभ-समारंभ के विषय में गृहांगण, काकणी रत्न या काषार्पण और आम की कथा।
उवक्कम	उपक्रम	भाव उपक्रम के विषय में ब्राह्मणी, वेश्या और मंत्री की कथा।
उववूह (हा)	उपबृंहण	साधर्मिक के सद्गुण की प्रशंसा के विषय में श्रेणिक राजा की कथा।
उवसंपया	उपसंपद्	आचार्य पद पर योग्यात्मा के स्थापन के विषय में राजा तथा कुमारों की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवहि	उपधि	उपधि की रक्षा एवं रात्रि में उपधि-ग्रहण के विषय में चोर-सेनापति और चार प्रकार के साधु की कथा।
उवालंब	उपालम्भ	गुरु द्वारा शिष्या को उपालम्भ के विषय में चंदनबाला एवं मृगावती साध्वी की केवलज्ञान प्राप्ति की कथा।
उस्सारकप्प	उत्सारकल्प	आचार्य की, सिंह और लोमडी (सियार) की एवं लब्धिधर साधु की कथा।

तृतीय भाग :-

एकान्त भावना	एकत्व भावना	राजा पुष्पचूल एवं पुष्पचूला भाई-भगिनी की कथा।
एलकक्ख	एलकाक्ष	वर्तमान मंदसौर का प्राचीन नाम दशार्णपुर था। उसी नगर की एलकाक्ष संबंधी कथा।
एसणा समिइ	एषणा समिति	वसुदेव के पूर्व जन्म की कथा।
ओहावम	अवधावन	प्रायश्चित के विषय में राजा-युवराज-पुरोहित कुमार एवं कुलपुत्र की उपनय कथा और रोहिणेय चोर की कथा।
कंबल	कम्बल	कंबल-शंबल-नामक बैल की धर्म-आराधना से देवगति की कथा।
कंडरिय	कंडरिक	भावशुद्धि के विषय में पुंडरीक राजा और कंडरीक मुनि की कथा।
कण्णायणीय	कन्यानयनीय	कन्यानयनीय श्री महावीर स्वामी की कथा।
कण्ह	कृष्ण	नौवें वासुदेव श्रीकृष्ण की कथा।
कत्ति	कार्तिक	सम्यकत्व की दृढता के विषय में कार्तिक सेठ की कथा।
कप्प	कल्प	विभिन्न गच्छों की उत्पत्ति, परम्परा एवं गुरुभक्ति के विषय में राजा तथा वैद्य की उपनय कथा।
कप्पअ	कल्पक	कामविजेता स्थूलिभद्र के पूर्वजों की कथा।
कयण्णू	कृतज्ञ	कृतज्ञता गुण संबंधी वामदेव की कथा।
करकंडु	करकण्डु	प्रत्येक बुद्ध करकण्डु की कथा।
कवड्डिजक्ख	कपर्दि यक्ष	शत्रुंजय तीर्थ एवं नवकार महामंत्र के माहात्म्य संबंधी कपर्दि यक्ष की उत्पत्ति की कथा।
काउसग्ग	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग के फल के विषय में सुभद्रा महासती एवं सुदर्शन सेठ की कथा।
कामदेव	कामदेव	भगवान महावीर के श्रावक कामदेव की कथा।
काल	काल	आरंभ कार्यों से होती दुर्गति के विषय में श्रेणिक राजा के पौत्र कालकुमार की कथा।
कालासवेसियपुत	कालाश्यवैशिकपुत्र	पार्श्वनाथ भगवान के शासन में हुए, पच्चक्खाण क्रिया से निर्वाण प्राप्त हुए कालाश्यवैशिकपुत्र अनगार की कथा।
काली	काली	श्रेणिक राजा की रानी काली के रत्नावली तप एवं सुकाली के कनकावली तप की कथा।
किइकम्म	कृतिकर्मन्	द्रव्यवंदन एवं भाववंदन से होनेवाले लाभ के विषय में क्षुल्लक, कृष्ण वासुदेव, सेवक एवं पालक राजा की दृष्टांत कथा।
किरिया	क्रिया	अधिकरणस्वामित्त्व क्रियासंबंधी गुणचंद्र-बालचंद्र की कथा।
कुंडकोलिय	कुंडकोलिक	श्री उपासक दशांग सूत्रवर्णित भगवान महावीर के श्रावक कुंडकोलिक की कथा।
कुंतलदेवी	कुन्तलदेवी	मात्सर्यपूर्वक जिनपूजा के फल के विषय में कुंतलदेवी के दो भवों की कथा।
कुंथु	कुन्थु	जैनों के वर्तमान चौवीसी के 17 वें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ की कथा।
कुडुंबेसर	कुडुम्बेश्वर	अवंती नगरी में आचार्य वज्रसेनसूरि द्वारा प्रतिष्ठित शत्रावतार तीर्थ में शोभायमान श्री ऋषभदेव प्रतिमा की उत्पत्ति की कथा।
कुणाल	कुणाल	सम्राट अशोक के पुत्र एवं सम्राट संप्रति के पिता कुणाल की कथा।
कुतियावण	कुत्रिकापण	देवताधिष्ठित दुकान एवं भरुच नगर के व्यापारी तथा भूत की कथा।
कुरुचंद	कुरुचंद्र	जिनधर्म आराधना एवं गृहस्थाचार के व्रतपालन के विषय में कुरुचन्द्रराजा की कथा।
कुलकर	कुलकर	सातों कुलकरों की उत्पत्ति की कथा।
कुणिय	कोणिक	श्रेणिकराजा की रानी चेल्लणा के पुत्र कोणिक की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुलवालग	कुलवालक	अविनीतता के ऊपर कुलवालक मुनि के मुनिजीवन से पतन की कथा।
कोकावसहिपासणाह	कोकावसतिपार्श्वनाथ	कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य द्वारा प्रतिष्ठित श्री कोकावसति पार्श्वनाथ तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
कोडिसिला	कोटिशिला	वासुदेव की बल परीक्षा की साक्षी कोटिशिला की उत्पत्ति एवं माहात्मय की कथा।
कोहंडिदेव	कुष्माण्डिदेव	श्री नेमिनाथ प्रभु की शासनरक्षिका अंबिकादेवी की उत्पत्ति की कथा।
कोहपिण्ड	क्रोधपिंड	क्रोधपूर्वक आहार ग्रहण करने के विषय में मासक्षमण के तपस्वी मुनि की कथा।
खंदग	स्कन्दक	500 साधुओं सहित स्कंधक सूरि को हुए प्राणांत उपसर्ग एवं दण्डकारण्य की उत्पत्ति की कथा।
खंदिल	स्कंदिल	माथुरी वाचना के साधु सम्मेलन के अध्यक्ष आचार्य स्कंदिल की कथा।
खलुंक	खलुङ्क	विनीत एवं अविनीत शिष्यों से होती समाधि एवं असमाधि के विषय में गार्ग्याचार्य एवं सारणी, घोडे, बैल आदि की दृष्टांत कथा।
खुड्डग	क्षुल्लक	लघु साधु के एकाकीवास निषेध पर उरभ्र की कथा।
खुल्लक	क्षुल्लक	क्षुल्लक (बाल) साधु के शिथिलाचार से होती दुर्गति एवं पश्चाताप से प्राप्त सुगति पर देवप्रिय श्रेष्ठी एवं उसके आठवर्षीय बालक की कथा।
खुहापरिसह	क्षुधापरिषह	क्षुधा परिषह के विषय में मुनि हस्तिमित्र और हस्तिभूत नामक पिता-पुत्र की कथा।
खेत्त	क्षेत्र	शुद्ध वसति में स्थिरता करने एवं अशुद्ध वसति में रहने पर आम्र एवं बबूल की उपनय कथा।
गंगदत्त	गंगदत्त	हस्तिनापुर के गंगदत्त श्रेष्ठी मुनिसुव्रत स्वामी भगवान् के पास दीक्षा लेकर मासक्षमण कर आत्मध्यान में आयु पूर्ण कर सम्यग्दृष्टि देव बना। देवायु पूर्ण महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव प्राप्त करके सिद्ध होगा-उसकी कथा।
गब्भसाहरण	गर्भसंहरण	हरिणगमेषी देव द्वारा देवानंदा की कुक्षी से त्रिशला माता की कुक्षी में भगवान महावीर के गर्भ-परावर्तन की कथा।
गयसुकुमाल	गजसुकुमार	श्रीकृष्ण के लघु भ्राता गजसुकुमार के दीक्षा एवं मोक्ष की कथा।
गवेसणा	गवेषणा	शुद्ध आहारादि की गवेषणा के विषय में हाथी एवं कृत्रिम सरोवर की दृष्टांत कथा।
गारव	गौरव	ऋद्धि-रस एवं साता (सुख) के अभिमान के कारण हुई दुर्गति के विषय में मथुरा नगरी के बाहर नगर की गटर के पास यक्ष बने मङ्गु आचार्य की कथा।
गिलाण	ग्लान	रोगी साधु को इच्छाकार आदि करने के विषय में महर्धिक राजा और ब्राह्मण की दृष्टान्तकथा।
गिहवास	गृहवास	भावश्रावक के विषय में जंबूस्वामी के पूर्वभव की शिवकुमार की कथा।
गुरु	गुरु	गुरुकुलवास एवं गुर्वानुशासन को समभावपूर्वक सहन करने से गुरु-शिष्य दोनों के केवलज्ञान प्राप्ति के विषय में चंडरौद्राचार्य एवं उनके नवदीक्षित शिष्य (साधु) की कथा।
गुरुकुलवास	गुरुकुलवास	गुरुकुलवास के लाभालाभ के विषय में कौए एवं वापीका, कुलवधू और पंखहीन पक्षी की दृष्टांत कथाएँ।
गुरुणिग्गह	गुरुनिग्रह	सुपात्रदान की बुद्धि से पासत्थादि अन्यलिङ्गी को आहारादि दान एवं उनके साथ आलाप संलापादि से होते नुकसान के विषय में श्रावकपुत्री की कथा।
गोट्ठिल्ल	गोष्ठिवत्	श्रुतहीलना से होनेवाली दुर्गति के विषय में 22 गोष्ठी पुरुषों की कई भवों तक संसार भ्रमण की कथा।
गोयम	गौतम	भगवान महावीर के प्रथम गणधर (शिष्य) इन्द्रभूति गौतम की, एवं अंधक वृष्णिक राजा के पुत्र गौतम कुमार की कथा।
गोयमकेसिज्ज	गौतमकेशीय	भगवान महावीर के शिष्य गौतमस्वामी एवं भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशी गणधर की मिलनकथा एवं तत्त्वचर्चा के प्रश्नोत्तर।
गोसालग	गोशालक	भगवान महावीर के कुशिष्य निह्नव मंखलिपुत्र गोशालक की कथा।
चंडरुद्द	चण्डरुद्र	क्रोधी प्रकृतिवाले चण्डरुद्राचार्य की कथा।
चंदगुत्त	चन्द्रगुप्त	चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य की नंदराजा पर विजय की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंपा	चम्पा	चंपापुरी नगरी में हुए तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी एवं अन्य अनेक महापुरुषों की पद्यबद्ध लघुकथाएँ।
चक्खिदिय	चक्षुरिन्द्रिय	चक्षुरिन्द्रिय लोलुपता से होती दुर्गति के विषय में धारिणी रानी एवं धन सार्थवाह की कथा।
चमर	चमर	चमरेन्द्र के द्वारा सौधर्म देवलोक में किये गए उत्पात की कथा।
चरित	चारित्र	चारित्र गुण संबंधी कुंभ, एवं मण्डप-सर्षव की कथा।
चर्यापरीसह	चर्या पहीषह	चर्यापरीषह को समभावपूर्वक सहन करने के विषय में संगम स्थविर की कथा।
चाणक्क	चाणक्य	चाणक्य मंत्री की कथा।
चारुदत्त	चारुदत्त	मूर्छात्याग के विषय में चारुदत्त की कथा।
चितसंभूइय	चित्रसंभूतीय	निदान शल्य का फल दर्शानेवाली चित्र एवं संभूति मुनि की कथा।
चिलाईपुत्त	चिलातीपुत्र	त्रिपदी से प्रतिबोधित चिलातीपुत्र की कथा।
चूणर्पिंड	चूर्णपिंड	अंजनचूर्ण से अदृश्य होने की सिद्धि के द्वारा दुष्काल में आहार-ग्रहण के विषय में दो बाल-साधुओं की कथा।
चुलणीविया	चुलनीपिता	चुलणीपिता श्रावक की कथा।
चुल्लसयग	चुल्लशतक	भगवान महावीर के चतुर्थ श्रावक चुल्लशतक की कथा।
चेइय	चैत्य	द्रव्यस्तव के विषय में कूप की दृष्टांत कथा, जिन प्रतिमा पूजा के विषय में द्रौपदी, भद्रा सार्थवाही, सिद्धार्थ राजा की कथा आदि।
चेइयवंदण	चैत्यवंदन	चैत्यवंदन के विषय में भुवनमल्ल की, गंधार-श्रावक की कथा।

चतुर्थ भाग :-

जंबू	जम्बू	सुधर्मास्वामी के शिष्य बालब्रह्मचारी जम्बूस्वामी जिन्होंने विवाह की रात को ही आठों पत्नियों, उनके माता-पिता एवं प्रभवादि 500 चौरों को प्रतिबोधित कर 527 लोगों के साथ दीक्षा ली। वे इस अवसर्पिणी काल में अंतिम केवलज्ञानी हुए, उनकी विस्तृत कथा।
जक्खाइट्ठ	यक्षाविष्ट	जिसके शरीर में दूसरी यक्ष-भूत प्रेतादि आत्मा प्रविष्ट है उस साधु के साथ कैसा व्यवहार हो ? इस हेतु श्रेष्ठी, लघुभ्राता, और दृतिका की उपनय (दृष्टांत) कथा।
जगडू	जगडू	जगत्प्रसिद्ध दानवीर जगडूशा जिसने वि.सं. 1315 के अकाल में पूरे हिन्दुस्तान को निःशुल्क अन्न दिया था उसकी कथा।
जत्तासिद्ध	यात्रासिद्ध	जिसके ऊपर समुद्र (समुद्र का अधिष्ठायक देव) प्रसन्न हुआ था, एसे समुद्रयात्री तुण्डिक नामक वणिक् की कथा।
जमदग्गि	यमदग्नि	यमदग्नि तापस (जो कि परशुराम का पित्राई था) की कथा।
जमालि	यमालि	भगवान महावीर के सांसारिक जामाता प्रथम निह्नव जमालि की कथा।
जयंती	जयन्ती	भगवान महावीर की परम श्राविका जयंती की कथा।
जयघोस	जयघोष	जयघोष एवं विजयघोष मुनि के वैराग्य प्राप्ति की कथा।
जवराज	यवराज	अतिविषयसेवन से पतन के विषय में उज्जैन के यवनराजा के पुत्र गर्दभराज की कथा।
जिणकप्प	जिनकल्प	साधु-साध्वियों के निरतिचार जीवन के विषय में बहु, सूचित पत्र एवं राजा की दृष्टांत कथा तथा पुष्पचूल राजकुमार की सत्य कथा।
जिणगोयमसीहआहरण	जिनगौतमसिंहाहरण	महावीर स्वामी, गौतम स्वामी और किसान की लघु कथा।
जिणपालिय	जिनपालित	निरतिचार चारित्रपालन संबंधी जिनपालित एवं जिनरक्षित की कथा।
जिब्भिदिय	जिह्वेन्द्रिय	रसलालच (मांसाहार से होनेवाली हानि) के विषय में सोदास की कथा।
टिंपुरी	टिम्पुरी	श्री टिंपुरीतीर्थ, श्री चेल्लणा पार्श्वनाथ की एवं नियमपालन के ऊपर वंकचूल की कथा।
णंदराय	नन्दराज	पाटलिपुत्र के नंद राजा की कथा एवं पाटलीपुत्र में हुए अनेक महापुरुषों का परिचय।
नंदिफल	नंदिफल	नंदिफल के दृष्टांत से धन्ना सार्थवाह की कथा।
णंदिवद्धण	नंदिवर्धन	मथुरानगरी के श्रीदाम राजा के पुत्र नंदिवर्धन की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णंदिसेण	नंदिषेण	ग्लान मुनि की वैयावृत्य (सेवा) के विषय में नंदिषेणमुनि की कथा।
णग्गइ	नग्गति	गंधारदेश के राजा प्रत्येकबुद्ध नग्गति की कथा एवं अनित्य भावना के विषय में चित्रकार पुत्री की कथा।
णट्ट	नाट्य	भगवान महावीर की नाटक पूजा के विषय में सूर्याभदेव की कथा।
णमि	नमि	एकत्व भावना के विषय में मिथिला के राजा विदेहराज नमिराजर्षि की कथा।
णमोक्कार	नमस्कार	नवकार मंत्र एवं पंचपरमेष्ठी को किये गये नमस्कार की फलदर्शक त्रिदण्डी, श्राविका, श्रावक एवं व्यंतर, चंडपिंगल चोर एवं जिनदत्त श्रावक और हुंडक चोर की कथा।
णय	नय	प्रस्थक, वसति और प्रदेश की दृष्टांत कथा।
णरसुंदर	नरसुन्दर	संसार की अनित्यता के विषय में नरसुंदर राजा की कथा।
णाइल	नागिल	साध्वाचार पर सुमति और नागिल की कथा।
णागकेउ	नागकेतु	संवत्सरी महापर्व के अट्ठम तप की महिमा के विषय में नागकेतु की कथा।
णागज्जुण	नागार्जुन	सिद्धनागार्जुन एवं जैनाचार्य श्री पादलिप्तसूरि की कथा।
णारय	नारद	नारद ऋषि के जन्म की लघुकथा।
णासिक्कपुर	नासिक्यपुर	नासिक्यपुर की उत्पत्ति की ऐतिहासिक कथा।
णिप्पडिकम्मया	निष्प्रतिकर्मता	गुर्वाज्ञा के बिना तप करने से होनेवाले कष्ट के विषय में नागदत्त की कथा।
णियंठिपुत	निर्ग्रन्थिपुत्र	सत्यकी विद्याधर की उत्पत्ति की कथा।
णियट्टि	निवृत्ति	प्रतिक्रमण के विषय में धूर्त की दृष्टांत कथा।
णियाण	निदान	तप आदि के बदले में या इहलोक-परलोक संबंधी नव प्रकार के निदान करने के विषय में श्रेणिक राजा आदि की कथा।
णिरवलाव	निरपलाप	आलोचना दाता के गांभीर्य गुण के विषय में धनमित्र और हठमित्र की कथा।
तव	तपस्	कर्मनाश के विषय में बडे तालाब की दृष्टांत कथा।
तवसिद्ध	तपःसिद्ध	दृढ प्रहारी चौर की कथा।
तामली	तामली	मौर्यपुत्र तामली की कथा।
ताराचंद	ताराचंद	सच्चरित्र के विषय में ताराचंद राजा की कथा।
तित्थयर	तीर्थंकर	जैनों के 24 तीर्थंकरों के पूर्वभव एवं तीर्थंकर के भव की समस्त वार्ताएँ।
तिविट्ठ	त्रिपृष्ठ	भगवान महावीर की त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव (पूर्वभव) की कथा।
तेतलिसुय	तेतलिसुत	इन्द्रियाँ स्वाधीन होने तक में धर्माराधना करने पर तेतलिपुत्र प्रधानमंत्री की कथा।
तेयपाल	तेजःपाल	देलवाडा (आबु) मंदिरों के निर्माता वस्तुपाल-तेजपाल की कथा।
तेरासिय	त्रैराशिक	त्रैराशिक मतोत्पादक रोहगुप्त निह्नव की कथा।
थंभणय	स्तम्भनक	श्रीस्तंभनपार्श्वनाथ की कथा।
थावच्चापुत्त	थावच्चापुत्र	द्रव्यानुयोग के विषय में थावच्चापुत्र की कथा।
थूलभद्द	स्थूलभद्र	कामविजेता स्थूलभद्र की कथा।
दक्खत्त	दक्षत्व	दक्षता के विषय में पांच सार्थवाह पुत्रों की कथा।
दमदंत	दमदन्त	समभाव के विषय में दमदन्त साधु की कथा।
दसउर	दशपुर	साधर्मी-क्षमापना या संवत्सरी महापर्व-क्षमापना के विषय में राजा उदयन और चंडप्रद्योत की कथा।
दसण्णभद्द	दशार्णभद्र	भावपूर्वक परमात्मा महावीर की सर्वोत्कृष्ट भक्ति के विषय में अंतिम राजर्षि दशार्णभद्र राजा की कथा।
दाण	दान	सुपात्र दान के विषय में कृतपुण्य की कथा।
दुमपत्तय	दुमपत्रक	भाव शुद्धि के विषय में पुंडरीक कण्डरीक की कथा।
दुमुह	द्विमुख	ममता के त्याग के विषय में द्विमुख नामक द्वितीय प्रत्येक बुद्ध की कथा।
दुवई	द्रौपदी	गुर्वाज्ञा के अनादर के फल संबंधी द्रौपदी महासती की पूर्व के तीन भव सहित वर्तमान भव की कथा।
दुई	दूती	दूतीपिण्ड के विषय में धनदत्त कुटुम्बी की कथा।
देवदत्ता	देवदत्ता	दुःख विपाक के विषय में सिंहसेन राजा की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोकिरिय	द्वैक्रिय	गंगाचार्य नामक पंचम निह्नव की कथा।
दोष	द्वेष	द्वेष के विषय में धर्मरुचि मुनि तथा नन्द नाविक की कथा।
धण	धन	वैयावृत्त्य के विषय में धन सार्थवाह की कथा।
धणमित्त	धनमित्र	जूठे कलंक देने के विषय में धनमित्र की विस्तृत कथा।
धणय	धन्यक	सुपात्र दान के विषय में धन्ना-शालिभद्र की कथा।
धिइमइ	धृतिमति	प्रभासपाटण तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
धुत्तक्खाण	धूर्ताख्यान	पांच धूर्तों की कथा।

पञ्चम भाग :-

पइट्ठाणपट्टण	प्रतिष्ठानपत्तन	सातवाहन (शालिवाहन) राजा की कथा।
पउमसेहर	पद्मशेखर	जिन धर्म में दृढता के विषय में यक्ष एवं पद्मशेखर राजा की कथा।
पउमावई	पद्मावती	कृष्ण वासुदेव की पट्टरानी पद्मावती देवी की कथा।
पउमिणी	पद्मिनी	पद्मावती देवी की कथा।
पएसिण्	प्रदेशिन्	प्रदेशी राजा, केशी गणधर और सूर्याभदेव की कथा।
पंथग	पन्थक	अति प्रमादी गुरु को प्रतिबोध करने संबंधी शैलकसूरि के शिष्य पंथग मुनि की कथा।
पच्चक्खाण	प्रत्याख्यान	मूलगुण प्रत्याख्यान के विषय में शत्रुंजय राजा एवं जिनदेव श्रावक की कथा तथा उत्तरगुण आश्रयी धर्मघोषसूरि और धर्मयशा मुनि की कथा।
पच्छित्त	प्रायश्चित्त	सार्थवाह एवं राजा की, कुक्षिक और प्रतिकुञ्चक की, राजा की, चारभट्ट और ताम्बुलिक की, वैद्य, रोगी और औषध की, रथकार की पत्नी की, चोर की, मूलदेव की और वणिक् की कथा।
पज्जुसणाकप्प	पर्युषणाकल्प	क्षमा के विषय में उदायन राजा और चंडप्रद्योत की कथा।
पडिक्कमण	प्रतिक्रमण	अतिक्रमण और प्रतिक्रमण के विषय में दो कन्या और रास्ते की कथा।
पडियरणा	प्रतिचरणा	दो वणिकों की दृष्टांत कथा।
पणिहि	प्रणिधि	माया के विषय में, द्रव्य-प्रणिधि के विषय में शालिवाहन राजा की, कुणाल भिक्षु की और जिनदेव सूरि की कथा।
पण्णत्तिकुसल	प्रज्ञप्तिकुशल	कथा कहने की कुशलता के विषय में क्षुल्लकाचार्य एवं मुरुण्ड राजा की कथा।
पण्णापरिसह	प्रज्ञा परिषह	श्रुतमद नहीं करने के विषय में कालिकाचार्य एवं उनके प्रशिष्य सागरचन्द्र की कथा।
पभावणा	प्रभावना	जैनशासन-निन्दा से बोधिबीज की अलभ्यता एवं साधुवेश के दर्शन एवं साधु-प्रशंसा से सम्यकत्व प्राप्ति के विषय में कौशाम्बी निवासी धनयक्ष श्रेष्ठी के पुत्र वस्तुपाल एवं तेजपाल की कथा।
पभासचित्तगर	प्रभास चित्रकार	आत्मविशुद्धि रूप पात्रता प्राप्त करने के विषय में प्रभास चित्रकार की कथा।
पयाग	प्रयाग	पुष्पचूला साध्वी एवं अर्णिकापुत्र आचार्य के स्थिरवास होने पर भी शुद्ध साध्वाचार की कथा।
परंपरअ	परम्परक	राग-द्वेष की द्रव्य परंपरा के विषय में मृगावती सती एवं चंडप्रद्योत राजा की तथा भील की कथा।
परिणामिया	पारिणामिकी	पारिणामिकी बुद्धि के विषय में अभयकुमार, नंदिषेण, धनदत्त, स्थूलभद्र, नंदराजा, वज्रस्वामी आदि की कथा।
परियट्टिय	परावर्तित	साधु के आहार ग्रहण में परावर्तित दोष के विषय में बन्धुमती एवं लक्ष्मी की कथा।
परिसा	पर्षद्	सभा के गुण-दोष की परीक्षा के विषय में वैयाकरण एवं कुवादी; आचार्य एवं साधु एवं वैद्य और वैद्यपुत्र की दृष्टान्त कथा।
परिहरणा	परिहरणा	साधु जीवन के आचार-पालन में सर्व-प्रकार के वर्जनीय के विषय में कुलपुत्र की कथा।
परिहार	परिहार	गुरु के समीप किये हुए त्याग के विषय में वृषभ, योद्धा, नाव की उपनय कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पसण्णचन्द	प्रसन्नचन्द्र	उत्सर्ग से द्रव्य-भाव चारित्र के विषय में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा।
पाउक्करण	प्रादुष्करण	प्रादुष्करण दोष के विषय में तीन साधु एवं एक श्राविका की कथा।
पाओवगमण	पादपोपगमन	पादपोपगमन अनशन ग्रहण करनेवाले चिलाति पुत्र, काल प्रदेशी एवं अवंतीसुकुमार की लघु कथाएँ।
पाडलिउत्त	पाटलिपुत्र	पाटलिपुत्र (वर्तमान 'पटना' जो बिहार प्रान्त में स्थित है) की उत्पत्ति की कथा।
पाणाइवायवेरमण	प्राणातिपात विरमण	प्राणीवध के गुण-दोष के विषय में कोंकणवासी कुटुम्ब की, श्रावकपुत्र हरि की एवं जितशत्रु राजा और खेमा प्रधान की कथा।
पामिच्च	प्रामित्य	दूसरों से उधार लाकर साधु को वहेराने के उत्पन्न क्रीत दोष के विषय में सम्मत साधु एवं सम्मति श्राविका की कथा।
पारंचिय	पाराञ्चित	सर्षवनाल, मुखानन्तक, उलुकाक्ष, शिखरिणी की दृष्टांत कथा तथा पांच चोरों की कथा।
पावा	पावा	पावापुरी नगरी की उत्पत्ति की कथा एवं आगामी चौबीसी के 24 तीर्थंकर 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव - 63 शलाका पुरुषों का संक्षिप्त वर्णन।
पास	पार्श्व	श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर का प्राकृत में एवं संस्कृत में गद्यमय चरित्र, श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ की उत्पत्ति की कथा, स्तंभन तीर्थ की कथा एवं श्री पार्श्वनाथ के माहात्म्य का वर्णन।
पिवासापरिसह	पिपासापरिषह	पिपासा परिषह के विषय में धनमित्र और धनशर्मा मुनि की कथा।
पुंडरीय	पुंडरीक	सूत्रकृतांग-द्वितीय अध्ययन में वर्णित पुण्डरीक (श्वेतवर्ण प्रधान कमल) की साधु को हितशिक्षा रुप विस्तृत उपनय कथा एवं अन्यदर्शन के मत-मतान्तरों का खण्डन।
पुट्ठिल	पोट्टिल	प्रियमित्र चक्रवर्ती के प्रवज्याग्रहण एवं उग्र तपस्वी जीवन के तीन भवों की कथा।
पुत्तमंस	पुत्रमांस	साधु के आहार-ग्रहण के विषय में वणिक और चोरों की उपनय कथा।
पुरंदर	पुरन्दर	गुणानुराग के विषय में वाराणसी नगरी के पुरन्दर राजा की कथा।
पुरिसोत्तम	पुरुषोत्तम	गुणानुराग के विषय में श्रीकृष्ण वासुदेव की कथा एवं शिष्यों के विशिष्ट गुणों के विषय में उपेक्षा या मात्सर्यभाव से होती हानि के विषय में भवदेवसूरि की कथा।
पुहवीचंद	पृथ्वीचन्द्र	राज्यसभा में केवलज्ञान प्राप्त करने वाले राजा पृथ्वीचन्द्र एवं शादी में पाणिग्रहण के समय केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले श्रेष्ठिपुत्र गुणसागर की (साले-बहनोई) कथा।
पूइकम्म	पूतिकर्मन्	पूतिकर्म नामक साधु के आहार दोष के विषय में यक्ष एवं देवशर्मा की उपनय कथा।
पूया	पूजा	जिनपूजा से लाभ विषयक चारीसंजीवनीन्याय के दृष्टांत संबंधी स्त्री और उसके बैल बने हुए पति की कथा।
पेढालपुत्त	पेढालपुत्र	श्री पार्श्वनाथ स्वामी के शासन में हुए मुनि पेढाल-पुत्र और गौतम स्वामी की तत्त्वचर्चा की कथा।
पोट्टसालग	पोट्टशालग	गोष्ठामाहिल के द्वारा पराजित हुए पोट्टशालक परिव्राजक की कथा।
फलवड्ढिठय	फलवर्द्धिक	राजस्थान में मेडता के पास फलोधि पार्श्वनाथ तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
फासिंदिय	स्पर्शनेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय राग एवं उसके दुष्फल के विषय में जित-शत्रु राजा और सुकुमालिका तथा महेन्द्रराजा पुत्र की कथा।
बंभदत्त	ब्रह्मदत्त	जातिवैर के कारण तिरस्कार एवं कामभोग के लिए नियाण (निदान शल्य) के विषय में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चुलणी माता की कथा।
बंभदीविया	ब्रह्मदीपिका	आर्यसमितसूरि की योगशक्ति एवं 500 तापसों की कथा (ब्रह्मदीपिका शाखा की उत्पत्ति की कथा)।
बंभसेण	ब्रह्मसेन	पौषधव्रत के माहात्म्य के विषय में ब्रह्मसेन श्रेष्ठी की कथा।
बंभी	ब्राह्मी	माया-कपट से प्राप्त स्त्रीवेद के विषय में ब्राह्मी और सुंदरी के पूर्वभव की कथा।
बह पहीसह	वध परीषह	वध परीषह के ऊपर स्कन्धकसूरि के 500 शिष्यों की कथा (दण्डकारण्य की उत्पत्ति की कथा)।
बहप्फइदत्त	बृहस्पत्तिदत्त	बालहत्यारूप हिंसा से नरक गति के विषय में बृहस्पतिदत्त पुरोहित की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहुपुत्तिया	बहुपुत्रिका	सौधर्म देवलोकवासिनी बहुपुत्रिका देवी के तीन भवों की कथा।
बहुमाण	बहुमान	भक्ति-बहुमान के विषय में शिव और ब्राह्मण की कथा।
बोहिय	बोटिक	दिगम्बर (बोटीक) मत की उत्पत्ति की कथा।
भंभसार	भम्भसार	श्रेणिक राजा के 'भंभसार' उपनाम की वर्णन कथा।
भत्तपञ्चक्खाण	भक्त प्रत्याख्यान	उपसर्ग या उपद्रव होने पर चारों आहार के त्याग के विषय में एक आचार्य भगवंत एवं शासनदेवी की कथा।
भद्दणंदि (ण्)	भद्रनन्दिन्	श्रावक-गुण एवं साधुधर्म के व्रतग्रहण एवं आराधना के विषय में धनावह राजा के पुत्र भद्रनन्दी कुमार की कथा।
भद्दबाहु	भद्रबाहु	युगप्रधान आचार्य श्री भद्रबाहुस्वामी की एवं वराहमिहिर की कथा।
भद्दा	भद्रा	दीर्धदर्शिता (बुद्धि का गुण) के विषय में धन सार्थवाह की पत्नी भद्रा सेठानी की कथा।
भरह	भरत	अनित्य भावना संबंधी भरत चक्रवर्ती की कथा।
भव	भव	भव-भय से सावधान मुनि के विषय में तेलपात्रधर एवं राधावेधवेधक क्षत्रिय की उपनय कथा।
भव	भाव	प्रशस्त-अप्रशस्त भाव के विषय में दो वणिकों की कथा।
भीमकुमार	भीमकुमार	अहिंसा-पालन एवं परोपकार के विषय में हरिवाहन राजा एवं भीमकुमार राजा की कथा।
भुवणतिलय	भुवनतिलक	समस्त कल्याण का मूल कारण विनय गुण के विषय में धनद राजा के पुत्र भुवनतिलक कुमार की कथा।

षष्ठ भाग :-

मल्लि	मल्लि	जैनों के 19 वे तीर्थंकर मल्लिनाथ की विस्तृत कथा।
महापउम	महापद्म	श्रेणिक राजा की एवं उनके पुत्र सुकाल के पुत्र महापद्म की, महापद्म चक्रवर्ती की एवं विष्णुकुमार मुनि आदि की यथाप्रसंग संक्षिप्त एवं विस्तृत कथाएँ।
मुणिसुव्व	मुनिसुव्रत	जैनों के 20 वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी की संक्षिप्त कथा।
मूलसिरी	मूलश्री	कृष्णवासुदेव के पुत्र शाम्ब की पट्टरानी मूलश्री की संक्षिप्त कथा।
मेअज्ज	मेतार्य	मेतार्य मुनि द्वारा अपने प्राण देकर सुनार से क्रौंच पक्षी के प्राणों की रक्षा की कथा।
मेहकुमार	मेघकुमार	श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार जिसने भगवान महावीर के पास दीक्षा ली थी, उसके चार भव की कथा।
रयणवाह	रत्नवाह	श्री धर्मनाथ तीर्थंकर एवं उनकी अतिशयवती प्रतिमा की कथा।
रहणेमि	रथनेमि	शीलव्रत संबंधी जैनों के 22 वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पित्राई रथनेमि एवं राजीमती की कथा।
रहमुसल	रथमुशल	कोणिक के पुत्रों और चेटक राजा के रथमुशल संग्राम की कथा।
राइभोयण	रात्रिभोजन	वणिक के दृष्टांत से उपनय कथा
राम	राम	मर्यादापुरुषोत्तम अष्टम वासुदेव राम एवं महासती सीता की कथा।
रुद्द	रुद्र	विद्यासिद्ध पेढाल परिव्राजक (जैन रामायण के अनुसार सत्यकी विद्याधर जिसके अपरनाम रुद्र, नीलकण्ठ, महेश्वर आदि हैं) की संपूर्ण जीवन कथा एवं उज्जैन में महेश्वर (महाकाल) की उत्पत्ति की कथा।
रुप्पिणी	रुक्मिणी	कुण्डिनी नगरी की राजकुमारी रुक्मिणी का कृष्ण के द्वारा अपहरण एवं परिणय की कथा।
रेवई	रेवती	भगवान महावीर की औषधदात्री रेवती श्राविका की कथा।
रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी (आठ) का परिचय एवं (1) वसुदेव की पत्नी एवं नौवें बलदेव (बलराम) की माता रोहिणी से विवाह की कथा। (2) राजकथा त्याग के विषय में समुद्र श्रेष्ठी की बालविधवा पुत्री रोहिणी की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

		(3) राजगृहवासी धनरक्षक सार्थवाह की बुद्धि- निधान पत्नी रोहिणी की कथा, जिसने पांच डांगर के दाने से 500 बैलगाडी भरकर चावल पकाये।
लवालव	लवालव	कालानुपेक्षण पूर्वक समाचारी अनुष्ठान के विषय में भृगुपुर (भरुच) के आचार्य की कथा।
लूसग	लूषक	धूर्त और मोदक की ठगाई के विषय में उपनयकथा।
लेहसाला	लेखशाला	भगवान महावीर के लेखशाला (ज्ञानशाला) प्रवेश की कथा।
लोभ	लोभ	अतिलोभ के विषय में वानरयुगल और कामिक तीर्थ की कथा, लोभ के विषय में जिनदत्त श्रावक और नन्द वणिक की कथा।
वइरजंघ	वज्रजंघ	ऋषभदेव नामक जैनों के प्रथम तीर्थंकर के पूर्व के छः भव की कथा।
वइरणाभ	वज्रनाभ/वैरनाभ	ऋषभदेव तीर्थंकर का पूर्व के चक्रवर्ती भव का नाम, यहाँ ऋषभदेव के पौत्र सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांसकुमार आदि के स्वप्न की कथा।
वंसग	व्यंसक	ग्रामीण और धूर्त की कथा।
वग्घी	व्याघ्री	शत्रुंजय तीर्थ के मुख्य द्वार पर रही बाघण की मूर्ति की कथा।
वत्थ	वस्त्र	साधुओं को वस्त्र ग्रहण करने के विषय में अश्व एवं गृहपति की कथा।
वरुण	वरुण	सदागम और दृष्टिराग के विषय में वरुण-सुलस और द्वेषगजेन्द्र की कथा।
वसण	वसन, वृषण, व्यसन	व्यसन के विषय में दो भाईयों की कथा।
वसहि	वसति	जयंती श्राविका की तथा 'सुखमोचा' वसति के विषय में कुटुम्बी और धूर्त की कथा।
वसु	वसु	साध्वाचार के पालन, चरणकरणसित्तरी के पालन एवं शास्त्राध्ययन के विषय में वसु श्रेष्ठिपुत्र की कथा।
वाणारसी	वाराणसी	सुपार्श्वजिन, श्री पार्श्वनाथ, श्री जय-विजय मुनि, धर्मघोष मुनि, धर्मयश मुनि एवं सत्यवादी हरिचन्द्र राजा की कथा।
वासपूयाफल	वासपूजाफल	वासक्षेप पूजा के लाभ के विषय में जितशत्रु राजा की कथा।
वासुदेव	वासुदेव	कृष्ण वासुदेव की तीन भेरी की कथा।
विजयकुमार	विजयकुमार	लज्जा के विषय में विशाला के राजा विजयकुमार की कथा।
विजयसेट्ठि	विजयश्रेष्ठी	क्षमा एवं गाम्भीर्य गुण के ऊपर विजयवर्धनपुरवासी विजय सेठ की कथा।
विज्जा	विद्या	विद्या के विषय में भिक्षु उपासक की दृष्टांत कथा।
विणओवगय	विनयोपगत	विनय के विषय में उज्जैनवासी ब्राह्मण की कथा।
विणय	विनय	विनय के विषय में श्रेणिकराजा और चाण्डाल की कथा।
विणयकम्म	विनयकर्मन्	पुष्पशालपुत्र की कथा।
विणयंधर	विनयंधर	कृतज्ञता गुण संबंधी श्रावक विनयंधर की कथा।
विण्हुकुमार	विष्णुकुमार	वैक्रिय लब्धि संपन्न शासन प्रभावक विष्णुकुमार मुनि की कथा।
विदुगुंछा	विजुगुप्सा	साधु के मल-मलिन गात्र, वस्त्र आदि की निंदा के विषय में श्रावक पुत्री की कथा।
विमल	विमल	अनर्थदण्ड विरमणव्रत के विषय में विमल और सहदेव की कथा।
विसोहि	विशोधि (विशुद्धि)	विशुद्धि के विषय में आठ दृष्टांत कथा।
विहार	विहार	गीतार्थादि की निश्रा में विहार संबंधी गोपालक (ग्वाले) के समूह कथा।
वीर	वीर	महावीर स्वामी की कथा (इसमें जैनों के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी से संबंधित सभी कथाएँ एवं पूरा जीवन वृतांत है।)
वुग्गाहिय	व्युद्ग्राहित	वणिक, कुमारनन्दी स्वर्णकार एवं अन्धभक्त की कथा।
वेणइया	वैनयिकी	विनय-गुरुशुश्रुषा-संस्कारजन्य वैनयिकी बुद्धि के विषय में सिद्धपुत्र और उनके दो शिष्यों की कथा एवं वैनयिकी बुद्धि के विषय में अन्य बहुत सी संक्षिप्त दृष्टांत कथाएँ।
वेयणा	वेदना	धर्मरुचि अणगार और कडवे तुम्बे की कथा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम भाग :-

संखपुर	शंखपुर	कृष्ण-जरासंघ युद्ध, श्रीकृष्ण द्वारा अषाढी श्रावक निर्मित श्री पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा धरणेन्द्र-पद्मावती सं मंगवाकर अट्ठम तप आराधना के प्रभाव से विजय प्राप्ति एवं शंखेश्वर तीर्थ की उत्पत्ति की कथा।
संजय	संयत/संजयमुनि	प्राचीन काल में हुए तीन 'संजय' में से उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित कांपिल्यराज संजय की विस्तृत कथा।
संतिदास	शांतिदास	शांतिदास शब्द सप्तम भाग में है। अहमदाबाद निवासी इस श्रावक ने दानवीर जगडूशा की तरह अनेक धर्मकार्य किये। इसकी कथा 'धम्म संग्रह' शब्द पर चतुर्थ भाग में 2732 पृष्ठ पर है।
सक्कह	सत्कथ	'सक्कह' शब्दवर्ती रोहिणी की कथा षष्ठ भाग में 'रोहिणी' शब्द पर पृ. 583 पर दी है।
समुद्दपाल	समुद्रपाल	समुद्र में जन्मे चंपानगरीवासी समुद्रपाल जिन्होंने चौर को वध-स्थान की ओर ले जाता देख कर वैराग्यवासित होकर दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया, उनकी विस्तृत कथा।
सयंभूदत्त	स्वयंभूदत्त	तीव्र आरंभ-समारंभ, उसका फल, उसका त्याग करके दीक्षा अंगीकार कर निर्वाण प्राप्त करने वाले कंचनपुरवासी स्वयंभूदत्त की कथा।
सावत्थी	श्रावस्ती	संभव जिन के देवताधिष्ठित मंदिर एवं प्रतिमा की, स्वयं बुद्ध की, जामाली निह्नव की, स्कन्धक अनगार आदि श्रावस्ती नगरी संबंधी संक्षिप्त कथाएँ।
सीह	शीघ्र/सिंह	भगवान महावीर के अंतेवासी सिंह अणगार की अति संक्षिप्त कथा।
सुकण्हा	सुकृष्णा	श्रेणिक राजा की पट्टरानी सुकृष्णा, उनका आर्या सुकृष्णा के नाम से जीवन वृत्तांत (कथा)।
सुक्क	शुक्र/शुक्ल	महाशुक्र नामक सप्तम देवलोक के इन्द्र के पूर्वभव की; वाराणसीवासी सोमिल ब्राह्मण की कथा।
सुज्जसिरी	सूर्यश्री	संयम धर्म की आराधना-विराधना, छः काय जीव परिभोग के विषय में सूर्यश्री एवं आनंद अनगार की अनेक भव की कथा।
सुणंद	सुनन्द	व्यवहार धर्म से संबंधित 12 वें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी के भिक्षा दाता प्रत्येक बुद्ध सुनंद राजर्षि की कथा।
सुणक्खन	सुनक्षत्र	भगवान महावीर के पास दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने वाले काकंदीवासी भद्रा सार्थवाही के पुत्र सुनक्षत्र मुनि की कथा।
सुदंसण	सुदर्शन	राजगृहीवासी स्वनामधन्य नवकारमंत्राराधक अखंड शीलव्रतधारक श्रेष्ठी सुदर्शन की कथा।
सुभद्द	सुभद्र	महावीर शासन में हुए कोणिक के पौत्र सुभद्र की कथा।
सुभूम	सुभूम	सुभूम नामक आठवें चक्रवर्ती की संक्षिप्त कथा।
सुव्वय	सुव्रत	जैनों के 20 वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतस्वामी की एवं सुव्रत महर्षि की अति संक्षिप्त कथा।
सूर	सूर्य	सूर्य के पूर्वजन्म की कथा।
सोमा	सोमा/सौम्या	गजसुकुमार मुनि की सांसारिक पत्नी सोमा की संक्षिप्त कथा।
हरिएस	हरिकेश	गोत्र मद के विषय में चांडाल कुल में उत्पन्न होकर दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करने वाले उत्तराध्ययनवर्ती हरिकेशी मुनि की कथा।
हरिभद्द	हरिभद्र	स्वनामधन्य याकिनीमहत्तरासूनु, 1444 ग्रंथों के रचयिता हरिभद्रसूरि की संक्षिप्त कथा एवं परिचय।

जय संघचंद ।

तवसंजममयलछण, अकिरियराहुमुहहदुद्धरिस निच्चं ।
जय संघचंद । निम्मल-सम्मत्तविसुद्धजोणहागा ॥1॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. अभिधान राजेन्द्र कोश में अनुस्यूत आचारपरक सूक्तियाँ

प्रथम भाग :-

अति सर्वत्र वर्जयेत् ।
अति सर्वत्र वर्जनीय है।

– अ.रा.पृ. 1/1, धर्म संग्रह सटीक : प्रथम अधिकार

अकरणान्मन्दं करणं श्रेयः ।
नहीं करने की अपेक्षा कुछ करना अच्छा है।

– अ.रा.भा. । पृ. 123; विक्रमचरित 1/3

सम सुहदुक्ख सहे य जे, स भिक्खू ।
सुख दुःख में जो एक रुप रहे वही सच्चा साधु।

– अ.रा.पृ. 1/123; दशवैकालिकमूल 10/11

प्रायःस्त्रीणां विश्वासो न कार्यः ।
प्रायः करके स्त्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिए।

– अ.रा.पृ. 1/154

अगीयत्थस्स वयणेण, अमियं पि न घोट्टए ।
अगीतार्थ के कहने से अमृत भी न पीये।

– अ.रा.पृ. 1/162; महानिशीथसूत्र 6/150

अजीर्णे अभोजनमिति ।
अजीर्ण में भोजन उचित नहीं।

– अ.रा.पृ. 1/203; धर्मबिन्दु 21/43

अजीर्णे भेषजं वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम् ।
अजीर्ण में पानी औषधि है और पाचन होने पर शक्तिवर्धक है।

– अ.रा.पृ. 1/203; चाणक्यनीति 8/7; वाचस्पत्यभिधानकोश

आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ।
ज्ञान और कर्म से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

– अ.रा.पृ. 1/240, 3/556; सूत्रकृतांग 1/12/11

सम लेट्ठु कंचणे भिक्खू ।
सोना और मिट्टी को समान समझने वाला भिक्षु है।

– अ.रा.पृ. 1/281; 7/281; उत्तराध्ययन 35/13

माणुस्सं खु सुदुल्लहम् ।
मनुष्यजन्म निश्चय ही दुर्लभ है।

– अ.रा.पृ. 1/322; उत्तराध्ययन 20/11

यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति ।
मनुष्य की जैसी आकृति होती है वैसे उसमें गुण रहते हैं।

– अ.रा.पृ. 1/352

सच्चे तत्थ करे हु वक्कमम् ।
सत्य हो उसी में ही पराक्रम करो।

– अ.रा.पृ. 1/423; सूत्रकृतांग - 1/2/3/14

अज्ञानं खलु कष्टम् ।
अज्ञान ही कष्टदायक है।

– अ.रा.पृ. 1/448; आगमीय सूक्तावली पृ. 19;

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंधो अंध पहंणिंतो, दूरमद्धाण गच्छति ।
अंधा अंधे का पथप्रदर्शक बनता है, तो वह अभीष्ट मार्ग से दूर भटक जाता है।
– अ.रा.पृ. 1/492; सूत्रकृतांग-1/1/2/19

अकसायं खु चरित्तं ।
कषायरहितता (वीतरागता) ही चारित्र है।
– अ.रा.पृ. 1/574; बृहत्कल्प भाष्य-2712

अलं कुसलस्स पमादेन ।
बुद्धिमान साधक को अपनी साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए।
– अ.रा.पृ. 1/598; आचारांग-1/2/4/85

इह लोए वि ताव नट्ठा, पर लोए वि नट्ठा ।
विषयासक्त व्यक्ति इस लोक में भी नष्ट होते हैं और परलोक में भी।
– अ.रा.पृ. 1/679; प्रश्न व्याकरण-1/4/16

धम्मस्स मूलं विणयं ।
धर्म का मूल विनय है।
– अ.रा.पृ. 1/696; बृहदावश्यक भाष्य 4441

अरइं आउट्टे से मेघावी ।
जो अरति का त्याग करता है, वही बुद्धिमान है।
– अ.रा.पृ. 1/772; पंचसंग्रह सटीक द्वार 4; आवश्यकबृहद्वृत्ति-अध्याय 4

धिग् द्रव्यं दुःखवर्धनम् ।
दुःखवर्धक द्रव्य को धिक्कार हो।
– अ.रा.पृ. 1/803; पञ्चतंत्र-2/124

असंखयं जीवियं मा पमायए ।
जीवन असंस्कृत (संस्कार हीन) है (इसलिए) प्रमाद मत करो।
– अ.रा.पृ. 1/819; उत्तराध्ययन-4/1

मणं परिजाणइ से-णिग्गंथे ।
जो स्वयं के मन को परखता (जानता) है वही निर्ग्रन्थ (साधु) है।
– अ.रा.पृ. 1/875; आचारांग-2/3/15/778

न हिंस्यात् सर्वभूतानि ।
किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।
– अ.रा.पृ. 1/878; छान्दोग्य उपनिषद् अ.8

अहिंसा परमं धर्माङ्गम् ।
अहिंसा उत्कृष्ट धर्म का अंग है।
– अ.रा.पृ. 1/878; सूत्रकृतांग सटीक-2/2

उवसमसारं (खु) सामण्णं ।
उपशम श्रमणत्व का सार है।
– अ.रा.पृ. 1/884; बृहत्कल्पसूत्र-1/34

द्वितीय भाग :-

तपसो निर्जराफलं दृष्टम ।
तप का फल निर्जरा है।
– अ.रा.पृ. 2/8 एवं 6/337; प्रशमरति-73

ज्ञानस्य फलं विरति ।
ज्ञान का फल विरति (त्याग) है।
– अ.रा.पृ. 2/8 एवं 6/337; प्रशमरति-72

सव्वेसिं जीवियं पियं ।
सभी को जीवन प्यारा है।
– अ.रा.पृ. 2/10; आचारांग - 1/2/3/78

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयं गोयम! मा पमायए।
एक क्षण के लिये भी प्रमाद मत करो।

– अ.रा.पृ. 2/11, उत्तराध्ययन 10/34

सोही उज्जुय भूयस्स।
सरल आत्मा की शुद्धि होती है।

– अ.रा.पृ. 2/28 एवं 3/1053; उत्तराध्ययन 3/2

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
पवित्र हृदय में ही धर्म निवास करता है।

– अ.रा.पृ. 2/28 एवं 3/1053; उत्तराध्ययन 3/2

आगम चक्खू साहू।
साधु आगमचक्षु होता है (साधु के पास (आगम) तत्त्वज्ञान रुपी आंखें होती हैं)।

– अ.रा.पृ. 2/90; प्रवचनसार - 3/34

आणाए मामगं धम्मम्।
आज्ञा (पालन) ही मेरा धर्म है।

– अ.रा.पृ. 2/131; आचारांग 1/6/2/185

तित्थयर समो सूरी।
आचार्य तीर्थंकर के समान होते हैं।

– अ.रा.पृ. 2/135 एवं 4/2314, महानिशीथ सूत्र 5/101; गच्छाचार पयन्ना टीका 27

खणं जाणाहि।
समय को पहचाने। (पदार्थ / द्रव्य / तत्त्व को पहचानो)।

– अ.रा.पृ. 2/179; आचारांग-1/2/1/68

उत्ताणं जो जाणाति जो य लोगम्।
जो आत्मा को जानता है, वही लोक को जानता है।

– अ.रा.पृ. 2/180 एवं 3/559; सूत्रकृतांग-1/12/20

आततो बहिया पास।
अपने समान ही दूसरों को देख।

– अ.रा.पृ. 2/186, आचारांग-1/3/3/120

जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आता।
जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।

– अ.रा.पृ. 2/223; आचारांग 1/5/5/171

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो।
अपनी आत्मा को सतत (पापों से) बचाकर रखो।

– अ.रा.पृ. 2/231; दशवैकालिक चूलिका-2/16

सारो परुवणाए चरणं तस्स विय होइ निव्वाणं।
प्ररुपणा का सार-आचरण, आचरण से निश्चय ही निर्वाण (प्राप्त होता है)।

– अ.रा.पृ. 2/372; आचारांग निर्युक्ति-17

मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केणइ।
समस्त प्राणियों के साथ मेरी मित्रता है। किसी से भी मेरा वैर-विरोध नहीं है।

– अ.रा.पृ. 2/432, एवं 5/317; महानिशीथ 1/59; वंदितुसूत्र 49

ज्वरादौ लङ्घनं हितम्।
ज्वरादि में उपवास हितकारी है।

– अ.रा.भाग 2 पृ. 548; चरक संहिता : ज्वर प्रकरण।

जेहि काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए।
जो समय पर अपना कार्य कर लेते हैं, वे बाद में पछताते नहीं।

– अ.रा.पृ. 2/652; सूत्रकृतांग-1/3/4115

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

णोविय पूयण पत्थए सिया ।
अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के प्रार्थी मत बनो ।

– अ.रा.पृ. 2/1053; सूत्रकृतांग-1/2/2/16

खाणी अणत्थाण उ काम-भोगा ।
काम-भोग अनर्थों की खान है ।

– अ.रा.पृ. 2/1187; उत्तराध्ययन-14/13

जुन्नो व हंसो पडिसोयगामी ।
वृद्ध हंस प्रतिस्रोत (सन्मुख-प्रवाह) में तैरने से डूब जाता है ।
(अर्थात् असमर्थ व्यक्ति समर्थ का प्रतिरोध नहीं कर सकता) ।

– अ.रा.पृ. 2/1191; उत्तराध्ययन-14/33

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युं ।
जन्मधारी की मृत्यु अवश्यंभावी है ।

– अ.रा.पृ. 2/1192; भगवद्गीता-2/27

काम भोगे य दुच्चए ।
काम भोग कठिनाई से त्यागे जाते हैं ।

– अ.रा.पृ. 2/1193; उत्तराध्ययन-14/49

अतिरेगं अहिगरणम् ।
आवश्यकता से अधिक उपकरण अधिकरण (दोष रुप) है ।

– अ.रा.पृ. 2/1209; ओधनिर्युक्ति-741

तृतीय भाग :-

जे एगं णाणे से बहुं णामे ।
जो स्वयं को झुकाता है (जीत लेता है), वह बहुतों को झुकाता है ।

– अ.रा.भाग 3 पृ. 13; सूत्रकृतांग-1/10/12

तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं, पवेइयं ।
वही सत्य और निःशंक है, जो तीर्थंकरों द्वारा प्ररुपित है ।

– अ.रा.पृ. 3/167; 6/746, 7/273-502; आचारांग-1/5/5/162

अंधो कहिं कत्थ य देसियव्वं ?
कहाँ अंधा और कहाँ पथप्रदर्शक ?

– अ.रा.पृ. 3/222; बृहत्कल्प भाष्य 3253

वसुंधरेयं जह वीर भोज्जा ।
यह वसुन्धरा वीरभोग्या है ।

– अ.रा.पृ. 3/222; बृहदावश्यक भाष्य-3254

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।
महापुरुषों को भी शुभकार्य में अनेक बाधाएँ आती हैं ।

– अ.रा.पृ. 3/338; विशेषावश्यक भाष्य बृहद्वृत्ति पृ.17

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ।
साधुजन किसी के किए हुए उपकार को कभी भूलते नहीं है ।

– अ.रा.पृ. 3/554; धर्मसंग्रह सटीक, प्रथम अधिकार

जहा लाभो तहा लोभो ।
ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ होता है ।

– अ.रा.पृ. 3/387; उत्तराध्ययन-8/17

विणयमूलो धम्मोत्ति ।
विनय धर्म का मूल है ।

– अ.रा.पृ. 3/418; अंगचूलिका-अध्ययन-5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पठमं नाणं तओ दया।
पहले ज्ञान फिर दया (तदनुसार आचरण)।
– अ.रा.पृ. 3/556; दशवैकालिक-4/33

मेधाविणो लोभ भयावतीता।
ज्ञानी लोभ और भय से सदा मुक्त होता है।
– अ.रा.पृ. 3/557; सूत्रकृतांग -1/12/15

मन एवं मुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
मन ही मनुष्यों के बंध और मुक्ति का कारण है।
– अ.रा.पृ. 3/751; ब्रह्मबिन्दूपनिषद-2

न य मूल विभिन्नए घडे, जलमादीणि धरेइ कत्थइ।
जिस घडेके पेंदें में छेद हो गया हो, उसमें जल आदि कैसे टिक सकतें है?
– अ.रा.पृ. 3/859; बृहत्कल्पभाष्य 4363

एगऽप्पा अजिए सत्तु।
स्वयं की असंयत आत्मा ही स्वयं का एक शत्रु है।
– अ.रा.पृ. 3/963; उत्तराध्ययन 23/38

काले कालं समायरे।
समय पर समयोचित कार्य करना चाहिए।
– अ.रा.पृ. 3/970; 6/1165, उत्तराध्ययन 131; 5/2/41

सद्धा परम दुल्लहा।
धर्म में श्रद्धा होना परम दुर्लभ है।
– अ.रा.पृ. 3/1053; उत्तराध्ययन-3/9

नाण किरियाहिं मोक्खो।
ज्ञान और क्रिया से ही मुक्ति मिलती है।
– अ.रा.पृ. 3/1126; विशेषावश्यक भाष्य-3

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो।
अगुणी (दर्शन-ज्ञानादि से रहित) व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती।
– अ.रा.पृ. 3/1128; उत्तराध्ययन 28/30

नाणेण विणा न होंति चरण गुणा।
सम्यग्ज्ञान के बिना जीवन में चारित्र नहीं हो सकता।
– अ.रा.पृ. 3/1128; उत्तराध्ययन-28/30

तस्मात् चारित्रमेव प्रधानं मुक्तिकारणं।
चारित्र ही मुक्ति का प्रधान कारण है।
– अ.रा.पृ. 3/1143; आवश्यक बृहद्वृत्ति, अध्ययन-3

पंथ समा नत्थि जरा
पंथ (रास्ते) के समान कोई वृद्धावस्था नहीं है।
– अ.रा.पृ. 3/1359; सुभाषित सूक्त संग्रह-37/4

दारिद्द समो पराभवो नत्थि।
दरिद्रता से बढकर कोई पराजय नहीं है।
– अ.रा.पृ. 3/1359; सुभाषित सूक्त संग्रह-37/4

मरण समं नत्थि दुःखं (भयं)।
मृत्यु से बढकर कोई भय (दुःख) नहीं है।
– अ.रा.पृ. 3/1359; सुभाषित सूक्त संग्रह-37/4

खुहा (छुआ) समा वेयणा नत्थि।
भूख से बढकर कोई वेदना नहीं हैं।
– अ.रा.पृ. 3/1359; सुभाषित सूक्त संग्रह-37/4

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ भाग :-

जयणा से तं जत्ता ।

विवेकयुक्त प्रवृत्ति (जयणा) ही वास्तविक यात्रा है। अर्थात् साधु के लिए संयमयात्रा ही तीर्थयात्रा है।

– अ.रा.पृ. 4/1390; भगवती सूत्र-18/10/18

सार्वभौमा महाव्रतम् ।

महाव्रत सार्वभौम (जाति-देश-काल-समय की सीमा से रहित) होते हैं।

– अ.रा.पृ. 4/1391; योगदर्शन2/31

नवि मुंडिएण समणो ।

सिर मुँडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता।

– अ.रा.पृ. 4/1421; उत्तराध्ययन-25/31

न तं तायन्ति दुस्सीलं ।

दुराचारी को कोई नहीं बचा सकता।

– अ.रा.पृ. 4/1421; उत्तराध्ययन-25/30

कम्माणि बलवन्ति हि

निश्चय ही कर्म बलवान है।

– वही

कुसचीरेण न तावसो ।

वल्कल वस्त्र पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।

– अ.रा.पृ. 4/1421; उत्तराध्ययन-25/31

न ओंकारेण बंभणो ।

ॐकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता।

– वही

न मुणी रण्णवासेणं ।

केवल जंगल में रहने से ही कोई मुनि नहीं हो जाता।

– वही

अयं निजः परो वेत्ति, गणा लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

हल्के चित्तवाले लोगों की - 'यह अपना है, यह पराया है' ऐसी बुद्धि होती है। उदार चित्तवाले तो समग्र पृथ्वी के लोगों को ही अपना कुटुम्बीजन मानते हैं।

– अ.रा.पृ. 4/1617; हितोपदेश - मित्रलाभ 71

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।

– अ.रा.पृ. 4/1817; उत्तराध्ययन-9/48

जहाकडं कम्मे तहा सि भारे।

जैसा कर्म किया है वैसा ही उसका भार समझो।

– अ.रा.पृ. 4/1921; सूत्रकृतांग -1/5/1/26

विणएण लहइ नाणं, नाणेण विजाणइ विणयं ।

विनय से ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से विनय जाना जाता है।

– अ.रा.पृ. 4/1980; दसपयन्ना चन्द्रवेध्यकप्रकीर्णक -62

अतिपरिचयावद्वज्ञा ।

अति परिचय करने से अनादर होता है।

– अ.रा.पृ. 4/2070; धर्मबिन्दु -1/48

तात्त्विकस्य समं पात्रं न भूतो न भविष्यति ।

तत्त्वविद् के समान पात्र न तो अतीत में हुआ और न होगा।

– अ.रा.पृ. 4/2183; धर्मसंग्रह -2, पृ.205

महाव्रतिसहस्त्रेषु वरमेको तात्त्विकः ।

हजारों महाव्रतियों में एक तात्त्विक श्रेष्ठ है।

– वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुहिरकयस्स वत्थस्स रुहिरेण चेव। पक्खालिज्जमाणस्स नत्थि सोही।
रक्त से सना वस्त्र रक्त से धोने से शुद्ध नहीं होता। अर्थात् वैर से वैर शान्त नहीं होता।

– अ.रा.भाग 4 पृ. 2401; ज्ञाताधर्म कथा -1/5

शकटं पञ्चहस्तेन, दशहस्तेन शृङ्गिणम्। हस्तिनं शतहस्तेन, देशत्यागेन दुर्जनम्॥
व्यक्ति को वाहन-गाडी से पांच हाथ, सींगवाले हिंसक पशुओं से दस हाथ और हाथी से सौ हाथ दूर रहना चाहिए, किन्तु दुर्जन से तो उस प्रदेश को ही छोडकर रहने में सुरक्षा हैं।

– अ.रा.पृ. 4/2555; वाचस्पत्यभिधानकोश; चाणक्यनीतिशास्त्र -7/7

महुकार समा बुद्धा।
आत्मदृष्टा साधक मधुकर (भ्रमर) के समान होते हैं। (अर्थात् बाह्य भावों में कहीं आसक्त नहीं होते)।

– अ.रा.पृ. 4/2688; दशवैकालिक सूत्र, मूल -1/5

धिग्धर्मरहितं नरम्।
धर्म से रहित मनुष्य को धिक्कार।

– अ.रा.पृ. 4/2690; स्थानांग 3:3

भासमणो न भासेज्जा।
किसी बोलते हुए के बीच में मत बोलो।

– अ.रा.पृ. 4/2704; सूत्रकृतांग -1//9/25

शास्त्र सर्वार्थसाधनम्।
शास्त्र इहलौकिक, पारलौकिक - सभी प्रयोजनों का साधक है।

– अ.रा.पृ. 4/2720 एवं भाग 7 पृ. 334; योगबिन्दु-225

चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रम्।
शास्त्र सब जगह पहुंचनेवाली तीसरी आँख है।

– अ.रा.पृ. 4/2720; योगबिन्दु -225

दुलहं सद्धम्मवरसयणं।
सद्धर्मरुपी रत्न मिलना दुर्लभ है।

– अ.रा.पृ. 4/2726; धर्मरत्न प्रकरण -2

पञ्चम भाग :-

त्यागात्कंचुकमात्रस्य, भुजंगो न हि निर्विषः।
केंचुली छोडने मात्र से सर्प विषरहित नहीं होता।

– अ.रा.भाग 5 पृ. 556; ज्ञानसार -25/4

देहे दुक्खं महाफलम्।
शारीरिक कष्टों को समतापूर्वक सहने से महाफल की प्राप्ति होती है।

– अ.रा.पृ. 5/643; दशवैकालिक -8/27

बालजणे पगब्भती।
अज्ञ अभिमान करते हैं।

– अ.रा.पृ. 5/646; सूत्रकृतांग -1/2/3/10

परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।
उपकार जैसा कोई पुण्य नहीं और दूसरों को पीडा पहुंचाने जैसा कोई पाप नहीं।

– अ.रा.पृ. 5/697; पंचतंत्र -3/101 एवं 4/101

कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि। -
कृतकर्मों को भोगे बिना मोक्ष नहीं हो सकता है।

– अ.रा.पृ. 5/1276; भा. 7 पृ. 57; उत्तराध्ययन -4/, 13/10

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं।
मानव के सभी सुचरित (सत्कर्म) सफल होते हैं।

– अ.रा.पृ. 5/1276; उत्तराध्ययन -13/10

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वे कामा दुहावहा ।
सभी कामभोग अन्ततः दुःखावह ही होते हैं ।
– अ.रा.पृ. 5/51277; उत्तराध्ययन -13/16

अलं बालस्स संगेणं ।
अपरिपक्व बालजीव (अज्ञानी) की संगति से दूर रहो ।
– अ.रा.पृ. 5/1316, भाग 6 पृ. 735; आचारांग 1/2/5/94

यः क्रियावान् स पण्डितः ।
जो (ज्ञान के अनुसार)) क्रिया (आचरण) करता है वही पण्डित है ।
– अ.रा.पृ. 5/1329; स्थानांग सूत्र सटीक -4/4

संसारमूलबीयं मिच्छत्तं ।
संसार का मूलबीज मिथ्यात्व है ।
– अ.रा.पृ. 5/1362; भक्तिपरिज्ञा प्रकीर्णक -59

धम्ममहिंसा समं नत्थि ।
अहिंसा के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है।
– अ.रा.पृ. 5/1362; भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णक -91

सम्मदिट्ठी सया अमूढे ।
सम्यग्दृष्टि सदा विचक्षण (अविचलित बुद्धिवाला) होता है ।
– अ.रा.पृ. 5/1566; दशवैकालिक -10/7

षष्ठ भाग :-

अदु इंखिणिया उपाविया ।
निंदा (पापो की) जननी है ।
– अ.रा.पृ. 6/107; सूत्रकृतांग -1/2/2/2

नाणेण विणा करणं, न होइ नाणंपि करणहीणं तु ।
ज्ञान रहित क्रिया और क्रिया रहित ज्ञान भी नहीं होता ।
– अ.रा.पृ. 6/137; मरणसमाधि -137

खणमवि मा काहिसि पमायं ।
क्षणभर का भी प्रमाद मत कर ।
– अ.रा.पृ. 6/139; मरणसमाधि प्रकीर्णक-205

अत्थोमूलं अणत्थाणं ।
अर्थ अनर्थों का मूल है ।
– अ.रा.पृ. 6/149; मरणसमाधि प्रकीर्णक-703

सज्ज्ञानं परमं मित्रम्, अज्ञानं परमो रिपुः। संतोषः परमं सौख्यम्, आकाङ्क्षा दुःखमुत्तमम् ॥
सद्ज्ञान श्रेष्ठ मित्र है, अज्ञान महाशत्रु है, संतोष श्रेष्ठ सुख है, और आकांक्षा महादुःख है ।
– अ.रा.पृ. 6/191; हरिभद्रीय टीका-26

ममत्तबंध च महब्भयावहा ।
ममत्व का बंधन अत्यन्त भयावह है ।
– अ.रा.पृ. 6/301; उत्तराध्ययन -19/99

सच्चं लोगम्मि सारभूयं ।
सत्य ही लोक में सारभूत तत्व है ।
– अ.रा.पृ. 6/327; प्रश्नव्याकरण- 2/7/24

सच्चं च हियं च मियं च गाहणं ।
ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए, जो हित-मित और ग्राह्य हो ।
– अ.रा.पृ. 6/330; प्रश्न व्याकरण -2/7/25

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हय नाणं किया हीणं।
आचारहीन ज्ञान नष्ट हो जाता है।
– अ.रा.पृ. 6/443; आवश्यक निर्युक्ति -20।

नाणं संजमं सारं, संजमसारं च निव्वाणं।
ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण पद की प्राप्ति है।
– अ.रा.पृ. 6/741; आचारांग निर्युक्ति-245

देहबलं खलु वीरियं।
देह का बल वीर्य ही है।
– अ.रा.पृ. 6/934; आवश्यक निर्युक्ति भाष्य 123

ववहारोऽपि हु बलवं।
संघ एवं समाज व्यवस्था में व्यवहार ही सबसे बलवान है।
– अ.रा.पृ. 6/934; आवश्यक निर्युक्ति भाष्य 123

नाणेण नज्जए चरणं।
ज्ञान से ही चारित्र (कर्तव्य) का बोध होता है।
– अ.रा.पृ. 6/1094; व्यवहार चूलिका भाष्य-7/215

सव्व जगुज्जोयकरं नाणं।
ज्ञान विश्व के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करनेवाला है।
– अ.रा.पृ. 6/1094; व्यवहार भाष्य-7/216

मूलं कोहो दुहाण सव्वाणं।
सभी दुःखों का मूल क्रोध है।
– अ.रा.पृ. 6/1144; धर्मरत्न प्रकरण 1 अधिकार

मूलं माणो अणत्थाणं।
सभी अनर्थों का मूल अभिमान है।
– अ.रा.पृ. 6/1144; धर्मरत्न प्रकरण 1 अधिकार

खंति सुहाण मूलं।
क्षमा सभी सुखों का मूल है।
– अ.रा.पृ. 6/1144; संबोधसत्तरी 70

विणओ गुणाण मूलं।
सभी गुणों का मूल विनय है।
– अ.रा.पृ. 6/1144; धर्मरत्न प्रकरण 1 अधिकार

अप्पा दंतो सुही होइ।
अपने आप पर नियंत्रण रखनेवाला सुखी होता है।
– अ.रा.पृ. 6/1162; उत्तराध्यनन 1/15

जो छंदं आराहयई स पुज्जो।
जो गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है, वही शिष्य पूज्य होता है।
– अ.रा.पृ. 6/1173; दशवैकालिक-9/3/1

विवत्ती अविणीअस्स संपत्ती विणिअस्स य।
अविनीत विपत्ति का भागी होता है और विनीत संपत्ति का।
– अ.रा.पृ. 6/1173; दशवैकालिक-9/2/22

तवेसु व उत्तम बंभचेरं।
तपों में सर्वोतम तप ब्रह्मचर्य है।
– अ.रा.पृ. 6/1394; सूत्रकृतांग-1/6/23

णत्थि छुहाए सरिसया वियणा।
संसार में भूख के समान कोई वेदना नहीं है।
– अ.रा.पृ. 6/1624; ओघनिर्युक्ति भाष्य-290

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम भाग :-

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं।
समय बड़ा बलवान है और शरीर बड़ा निर्बल।
– अ.रा.पृ. 7/59; उत्तराध्ययन-416

संतोष परमं सौख्यम्।
संतोष ही परम (सर्वश्रेष्ठ) सुख है।
– अ.रा.पृ. 7/146; हिंगुल प्रकरण-1/14

नत्थि भयं मरणसमं।
मृत्यु के समान कोई भय नहीं है।
– अ.रा.पृ. 7/146; हिंगुल प्रकरण-1/14

एकम्मि खंभम्मि न मत्तहत्थी, वज्झन्ति बग्धा न य पंजरे दो ॥
एक खंभे से दो मदोन्मत हाथियों को नहीं बांधा जाता और न एक पिंजरे में दो सिंह रखे जाते हैं।
– अ.रा.पृ. 7/181; बृहत्कल्प भाष्य-4410

दुक्खं लभ्भइ नाणं।
ज्ञान कठिनाई पूर्वक प्राप्त होता है।
– अ.रा.पृ. 7/227; पंचवस्तुक सटीक-द्वार 4

मातृवत् परदाराँश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
पराई स्त्री को माता के समान एवं पराये द्रव्य (धन) को लोह/पत्थर तुल्य समझो।
– अ.रा.पृ. 7/273; आपस्तम्बस्मृति-10/11

न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकरं वचः।
दूसरों को पीडा हो, ऐसा सत्य वचन भी मत बोलो।
– अ.रा.पृ. 7/273; योगशास्त्र-2/61

स्वाध्यायसमं तपो नास्ति।
स्वाध्याय के समान कोई तप नहीं है।
– अ.रा.पृ. 7/292; दशपयन्नामूल सटीक

सतां सङ्गो हि भेषजम्।
सज्जनों का सत्संग ही एक महान औषध है।
– अ.रा.पृ. 7/337; हितोपदेश-4/90

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ।
जो एक को जानता है, वह सबको जानता है।
– अ.रा.पृ. 7/892; आचारांग-1/3/4/29

सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।
अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं रहता।
– अ.रा.पृ. 7/892; हिंगुल प्रकरण-1/14आचारांग-1/3/4/29

न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।
केवल पानी से स्नान करने पर अन्तरात्मा शुद्ध नहीं हो सकती।
– अ.रा.पृ. 7/1004; हितोपदेश-4/87

सूत्र

सूत्रोक्तस्यैकस्या-प्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः।
मिथ्यादृष्टिः सूत्रं, हि नः प्रमाणं जिनाभिहितम् ॥1॥
एकस्मिन्नप्यर्थः सन्दिग्धे प्रत्ययोऽर्हति नष्टः।
मिथ्या च दर्शनं तत्, स चादिहेतुर्भगवतीनाम् ॥2॥
– अ.रा.पृ. 7/35

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ગુરુ શ્રી રાજેન્દ્ર વંદના

જો થે ક્ષમાગુણ યુક્ત થી વર સરલતા નિર્લેપતા
સદ્‌ભાવ સમતા સિદ્ધિધારી હૃદય મેં નિર્લોભતા
સન્માર્ગ દર્શક સત્યગામી વિમલતમ પરિણામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

ઉપકાર જગ મેં આપ કે વિસ્મૃત કભી હોંગે નહીં
વર ત્યાગ કી મૂર્તિ નિરુપમ આપ નિશ્ચલ હૈં સહી
આપ કી મહિમા અનુપમ આપ સદ્‌ગુણ ધામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

અનુકૂલ યા પ્રતિકૂલ મેં સમભાવ ધારક થે સદા
નિજ આત્મ સાધન લક્ષ્ય થા નિશ્ચલ રહે થે સર્વદા
નિત યોગ કી થી સાધના જો શ્રેષ્ઠ ગુણ કે ધામ હૈં
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

જો વિશ્વ વિશ્રુત કોષ સૃષ્ટા ઔર યુગ દૃષ્ટા સુધિ
કલિકાલ મેં જો કલ્પતરુવર વિમલ થી જિન કી વિધિ
જિન કે સ્મરણ સે સર્વ દિલ મેં હર્ષ ઠામોઠામ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

દુર્લભ રહી તનુ યષ્ટિ પર દુનિયા અચંભિત રહ ગઈ
આત્મબલ તપ બલ અનૂઠા ભ્રાન્તિયાં સબ મિટ ગઈ
વીર કે સંદેશ વાહક જાનતે જન આમ હૈ
ઐસે ગુરુ રાજેન્દ્ર કો નિત કોટિ કોટિ પ્રણામ હૈ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम परिच्छेद

उपसंहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तम परिच्छेद

उपसंहार

इस शोध प्रबन्धक के लेखन के पूर्व आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि के व्यक्तित्व, कर्तृत्त्व, जैनाचार विज्ञान, इतर आचार विज्ञान आदि के सम्बन्ध में अद्यावधि उपलब्ध साहित्य एवं अन्य सामग्री का संकलन इस शोधाध्येत्री द्वारा किया गया। तदुपरान्त पूर्व निर्धारित रूपरेखा के आधार पर ससन्दर्भ लेखन किया गया जो कि पूर्ववर्ती छह परिच्छेदों में निबद्ध किया गया है। इस शोध कार्य से अनेक अप्रचिलत तथ्यों का उद्घाटन हुआ है जो कि जैनाचार को क्रियान्वित करनेवाले साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं के लिए मार्गदर्शन का कार्य करेगा।

दोषों और गुणों को जाने बिना दोषों का परिहार और गुणों का ग्रहण नहीं हो सकता, अत: यदि जैनाचार पालन करते समय उद्भूत होनेवाले दोषों का ज्ञान न हो तो उनका परिमार्जन असम्भव है अत: इस शोध-प्रबन्ध में गुणदोषात्मक विवेचन का अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। जो जिज्ञासु इस प्रबन्ध का अध्ययन करेंगे, निश्चित ही उनमें जागरुकता आयेगी।

हमने यहाँ छहों परिच्छेदों में विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत किये गये अनुशीलन को सारांशत: निम्न प्रकार से समजा जा सकता है-

1. प्रथम परिच्छेद आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर महाराज के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व सम्बन्धी आयामों के उद्घाटित करने के लिए समर्पित है।
2. आचार्य श्री का जन्म स्थान, माता-पिता, वैवाहिक स्थिति, वंशविवरण निर्विवाद है। आपकी माता का नाम केशर बाई और पिता का नाम ऋषभदास है। आपका वंश 'पारख' है जो वणिग्जातियों में अनन्यतम है। आपके बडे भाई का नाम माणिकचन्द एवं बहिन का नाम प्रेमा था। **आपका जन्मस्थान भरतपुर (आगरा के पास) है। आपका जन्मसमय पौष सुदि सप्तमी, गुरुवार, वि.सं. 1883 (ईस्वी सन् 1827) है।**
3. आचार्यश्री का बाल्यावस्था का नाम रत्नराज था जो कि माता द्वारा गर्भाधानपूर्व देखे गिये स्वप्न में प्राप्त रत्न के आधार पर रखा गया था। 'श्रीराजेन्द्रसूरिरास' में बाल्याकाल का नाम 'रतनचन्द' दिया हुआ है।
4. आचार्यश्री की लौकिक शिक्षा अल्प ही हुई थी। लौकिक शिक्षा के गुरु का नाम हमें प्राप्त नहीं हो सका।
5. आचार्यश्री आजीवन ब्रह्मचारी रहे। आपने विवाह के लिए अस्वीकृत घोषित कर दी थी। ऐसा उल्लेख प्राप्त है कि सेठ सोभागमलकी पुत्री रमा की व्यन्तरबाधा दूर करने से प्रसन्न सेठ सोभागमलजी ने अपनी पुत्री रमा का विवाह करने का प्रस्ताव रखा था जिसका आपने अस्वीकार किया। गृहस्थजीवन में आपने परम्पराप्राप्त जौहरी का व्यापार किया और इस हेतु कलकत्ता, श्रीलंका आदि की व्यापारिक यात्राएँ भी की।
6. वैराग्य से ओतप्रोत मानस से युक्त रत्नराज ने व्यापारिक यात्राओं के साथ-साथ श्रीसम्मेत शिखरजी आदि अनेक धार्मिक तीर्थों की यात्राएँ भी की।
7. पूर्व से ही संसार के प्रति उद्भूत वैराग्यभाव माता-पिता के दिवंगत होने से दिन-प्रतिदिन प्रबलतर होता गया और श्रावक अवस्था में वि.सं. 1902 में श्रीपूज्य प्रमोदसूरिजी के भरतपुर चातुर्मास के समय प्राप्त उपदेश ने आपके मन में दीक्षा-बीज का वपन कर दिया।
8. **आपने वि.सं. 1904 की वैशाख सुदि पञ्चमी, गुरुवार को उदयपुर (राजस्थान) में पिछोले की पाल के पास यतिदीक्षा ग्रहण की। आपके दीक्षागुरु का नाम आचार्य श्री प्रमोदसूरि था। आपका यतिवस्था का नाम 'मुनिश्री रत्नविजय' रखा गया था।**
9. मुनिदीक्षा के बाद 'मुनिश्री रत्नविजय'ने अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर खरतरगच्छीय यति श्री सागरचन्दजी से व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि लौकिक विषयों का अध्ययन वि.सं. 1906 से 1909 तक पूरा किया। 'श्रीराजेन्द्रसूरि का रास' के अनुसार आपने ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन जोधपुर (राजस्थान) के श्री चंद्रवाणी के सान्निध्यमें रहकर किया था।
10. आपने वि.सं. 1910 से 1913 तक श्रीपूज्य श्री देवेन्द्रसूरि से जैनागमों का विशद अध्ययन किया।
11. **वि.सं. 1909 से वैशाख सुदि तृतीया को उदयपुर (राजस्थान) में श्रीमद्विजय प्रमोदसूरिजीने आपको बडी दीक्षा दी एवं उसी समय श्रीमद्विजय प्रमोदसूरि एवं श्री देवेन्द्र सूरि ने आपको 'पंन्यास' पदवी प्रदान की।**
12. अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् आपने वि.सं. 1914 से 1921 तक धीरविजय आदि 51 यतियों का अध्यापन किया। श्री धीरविजय **(श्री धरणेन्द्र सूरि)ने** विद्यागुरु के सम्मान स्वरुप आपको **'दफ्तरी' विरुद प्रदान किया।**
13. वि.सं. 1920 में चैत्र सुदि त्रयोदशी (महावीर जन्म कल्याणक) के दिन राणकपुर तीर्थ में आपने 'क्रियोद्धार' करने का अभिग्रह किया, और वि.सं. 1922 में प्रथमबार स्वतंत्र रुप से चातुर्मास किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14. वि.सं. 1923 में श्री धरणेन्द्रसूरि के साथ चातुर्मास में यतियों द्वारा इत्र आदि पदार्थों के उपयोग के विषय में मतभेद विवाद के रुप में परिवर्तित हो गया और क्रियोद्धार का बीज और अधिक पुष्ट हो गया। और विवाद के कारण आपने चातुर्मास स्थल घाणेराव से आहोर (राजस्थान) आकर अपने गुरु श्री प्रमोदसूरि से सम्पर्क किया। यही सम्पर्क आचार्यपद का प्रमुख कारण बन गया।
15. श्रीराजेन्द्रगुणमंजरी आदि के अनुसार **वि.सं. 1924 में वैशाख सुदि पञ्चमी, बुधवार को आपके गुरु श्री प्रमोदसूरिने आपको विधिवत् आचार्य पद प्रदान किया और 'आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरि' नामकरण किया।**
16. **आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिने वि.सं. 1925 में अषाढ वदि दशमी (दि. 15-6-1868) के दिन क्रियोद्धार कर शुद्ध साधु जीवन अंगीकार किया** और पूर्व में प्रचलित छडी, चामर, पालखी आदि परिग्रह श्री संघ जावरा को सोंप दिया।
17. **आपके गच्छ का नाम 'श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छ' है।** इसमें प्रयुक्त 'तपा' शब्द 'श्रीसौधर्म वडगच्छ' के आचार्य श्री मणिरत्न सूरि के शिष्य जगचन्द्रसूरि द्वारा यावज्जीव आचरित आयम्बिल तप से प्रभावित होकर मेवाड नरेश श्री झैलसिंह द्वारा वि.सं. 1285 में प्रदत 'तपा' विरुद का प्रतिनिधि है। संस्कृत के 'तपस्' शब्द के साथ इस गच्छ का नाम 'श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छ' भी है। आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि ने वि.सं. 1925 में क्रियोद्धार के समय अपने गच्छ का नाम 'श्रीसौधर्म बृहत्तपागच्छ' रखा था।
18. आपके शिष्यों में श्रीमद्विजय धनचन्द्रसूरि एवं मुनि श्री प्रमोदरुचिजी - ये दो उपसम्पत् शिष्य और श्री मोहनविजयजी आदि 21 हस्तदीक्षित शिष्य थे।
19. आपने गुजरात, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड, मारवाड, बीकानेर, निमाड, खानदेश आदि के विशाल भूभाग में यात्राएँ कीं और धर्मोपदेश किया।
20. आपने मानवमात्र के कल्याण के लिए शाकाहार का प्रचार किया और पशुहिंसा को रोक कर जीवमात्र को अभय प्रदान किया।
21. आपने अपने आचार्यत्व काल में 3135 जिनप्रतिमाओं की अञ्जनशलाका-प्रतिष्ठाएँ करायी; जालोर, कोरटा, भांडवपुर एवं तालनपुर तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया; एवं श्री मोहनखेडा तीर्थ की नवीन स्थापना भी करायी।
22. आप उग्र तपस्वी, अप्रतिम दार्शनिक एवं प्रखर वादी थे। आपका ज्योतिषज्ञान एवं निमित्तज्ञान अद्वितीय था। आपने वि.सं. 1956 के छप्पनिया अकाल की भविष्यवाणी एक वर्ष पूर्व वि.सं. 1955 में ही कर दी थी।
23. आपको अनेक सिद्धियाँ प्राप्त थी, जैसे कि श्री मोहन विजयजी के बाल्यकाल में उनके मूकत्वदोष और सन्धिवात दोष को दूर करने के कथानक से प्रमाणित है। इसके साथ ही आपको तन्त्रविद्या पर भी अधिकार था। वि.सं. 1919 में मुनि अवस्था में आपने अपने गुरु की आज्ञा से विशालकाय पुरुष एवं अनेक चमत्कारी दृश्य प्रगट किये और एक ऐन्द्रजालिक के मिथ्याभिमान को दूर किया। इस प्रकार के अनेक कथानक प्राप्त होते हैं जिनसे आपका तन्त्रविद् होना सिद्ध होता है।
24. आप आशुकवि थे साथ ही साहित्यसर्जक शब्दर्षि भी थे। आपकी प्रथम रचना 'करणकामधेनुसारणी' (वि.सं. 1905) है और अन्तिम रचना 'कमलप्रभा शुद्धरहस्य' (वि.सं. 1963) है। आपने अपने जीवन में 67 रचनाएँ साहित्य जगत् को प्रदान कीं इनमें से 19 रचनाएँ अभी भी अमुद्रित अवस्था में है। इसके अतिरिक्त 'त्रैलोक्यदीपिका यन्त्रावली' और 'सिद्धान्तसार सागर' - ये दो रचनाएँ भी आपके नाम से जानी जाती हैं।
25. आप मुनिजीवन की कठोर तपश्चर्या के साथ वि.सं. 1963 तक सतत साहित्यसर्जन करते रहे और **इसी वर्ष राजगढ (म.प्र.) में पौष सुदि षष्ठी, गुरुवार को रात्रि आठ बजकर आठ मिनिट पर स्वर्गलोक प्रयाण माकर गये। ईस्वी सन् के अनुसार वह 2 दिसम्बर 1906 था।**
26. राजगढ (जिलधार) वर्तमान मध्यप्रदेश में आचार्यश्री द्वारा समाधिलीन होने के स्थल पर कलात्मक छतरी का निर्माण कर भक्तजनों ने आचार्यश्री के चरणयुगल प्रतिष्ठित किये हैं जो अब भव्य मन्दिर का रुप लेने जा रहा है।
27. आपके पार्थिव शरीर का **अन्तिम संस्कार** स्वर्गारोहण के दूसरे दिन (रात्रि में स्वर्गलोकगमन होने के कारण) **पौष सुदि सप्तमी, शुक्रवार को मोहनखेडा तीर्थ** में किया गया। अन्तिमसंस्कार स्थल पर आज भव्य गुरुमन्दिर खडा है जिसमें आचार्यश्री की मूर्ति प्रतिष्ठित है।
28. आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि द्वारा विरचित 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश' अप्रतिम और कालजयी रचना है। वर्गीकरण की दृष्टि से अभिधान राजेन्द्र प्राकृत भाषा का कोश है। इसकी रचना जिज्ञासुओं के हितार्थ एवं आगमों की रक्षा के लिए की गयी थी।
29. **अभिधान राजेन्द्र कोश की रचना का श्रीगणेश वि.सं. 1946 में आश्विन शुक्ला द्वितीया के दिन सियाणा (राजस्थान) में हुआ और 13 वर्ष, 6 माह और 3 दिन में वि.सं. 1960 में चैत्र शुक्लात्रयोदशी, बुधवार के दिन सूरत में पूर्णता को प्राप्त हुआ।**
30. उपोद्घात का यह कथन कि अभिधान राजेन्द्र की रचना 22 वर्षों में पूरी हुई, प्राकृत कोश (पाइयसद्दम्बुहि) के प्रथम उपक्रम सं. 1940 से अभिधान राजेन्द्र की प्राकृतविवृत्ति (परिशिष्ट) लेखन वर्ष 1961 तक गणना करने पर ही सत्य सिद्ध होता है।
31. अभिदान राजेन्द्र कोश में छोटे-बडे 60000 शब्द, सहस्राधिक सूक्तियाँ, 500 से अधिक कथोपकथाएँ, एवं साढे चार लाख श्लोक संग्रहीत हैं।
32. अभिधान राजेन्द्र कोश अकारादि क्रम से प्राकृत शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाला विश्वकोश है। इसमें शब्द की व्याकरणिक कोटियों का भी विश्लेषण किया गया है।
33. अभिधान राजेन्द्र कोश की योजना सात भागों में निबद्ध करने की थी जैसा कि प्रत्येक भाग के मंगलाचरण और पुष्पिका से स्पष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

34. अभिधान राजेन्द्र कोश की मूल विषयवस्तु 9232 पृष्ठों में मुद्रित है। इसके प्रस्तावना आदि की विषयवस्तु 241 पृष्ठों में है। इस प्रकार मुद्रित पृष्ठों की संख्या 9473 है।
35. **इस कोश का प्रचलित नाम 'अभिधान राजेन्द्र कोश', संक्षिप्त नाम अभिधान राजेन्द्र/राजेन्द्र कोश, और पूरा नाम 'श्री अभिधान राजेन्द्र प्राकृत महाकोश' है।**
36. अभिधान राजेन्द्र कोश के पुष्पिका वचन संशोधकद्वय द्वारा लिखे गयें हैं।
37. अभिधान राजेन्द्र कोश प्रथम भाग के परिशिष्ट क्र. 1, 2 एवं 3 प्राकृतव्याकरण सम्बन्धी सिद्धान्त एवं रुपावली दी गयी है।
38. अभिधान राजेन्द्र कोश का प्रथम मुद्रण वि.सं. 1981 के चैत्र कृष्ण सप्तमी को हुआ। और द्वितीय मुद्रण का लोकार्पण श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि की निश्रा में वि.सं. 2044 अषाढ सुदि द्वितीया, रविवार को हुआ।
39. अभिधान राजेन्द्र में साहित्य, व्याकरण, संस्कृति,, राजनीति, धर्म, दर्शन, आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित शब्दों पर निबन्धात्मक सामग्री उपलब्ध है।
40. अभिधान राजेन्द्र में 'जैन आचार' को 'लोकोत्तर धर्म' नाम से अभिहित करते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के समुदित स्वरुप को धर्म के रुप में प्रतिपादित किया गया है।
41. जैन धर्म का लक्ष्य 'मोक्ष' (दु:खो से आत्यन्तिक निवृत्ति) है। इसमें जीव का पूर्ण स्वरुप प्रगट होता है, संसार का उच्छेद होता है और कर्मो के आवरण से मुक्ति होती है।
42. जैनधर्म मे यथाख्यात चारित्र सर्वोपरि माना गया है।
43. जैनधर्म का 'सम्यक्चारित्र' अविनाशिता का सिद्धांत, नश्वरता का सिद्धान्त, स्वतत्रंता का सिद्धान्त बन्ध का सिद्धान्त, कर्म सिद्धान्त, जीव का उपयोग स्वभाव, मोक्ष की सादि अनन्तता, अहिंसा, वीतरागता (राग-द्वेष का अभाव) आदि अनेक अधिकरण सिद्धान्तों को जन्म देता है।
44. सम्यक् चारित्र से जीव का विकास होता है जो 14 गुण स्थानों में पूर्ण हो जाता है। इन गुणस्थानक नामक विकास की अवस्थाओं में कषायों की क्रमश: हानि होकर जीव नि:कषायत्व को प्राप्त होता है।
45. योगवासिष्ठ में भी गुणस्थानकों के समान 'बीजजागृत' आदि 14 विकास भूमियों को स्वीकार किया गया है।
46. चारित्र साधकों के प्रथम वर्ग 'श्रमण' और 'साधु' नाम से जाना जाता है। ये साधु तीन प्रकार के होते हैं - आचार्य, उपाध्याय और साधु।
47. निर्ग्रन्थ श्रमण अष्टादश आचार स्थाननों के अनुसार आचरण करता है।
48. निर्ग्रन्थ श्रमण 16 उद्गम दोषों, 16 उत्पादना दोषो एवं 10 दायक दोषों से रहित आहार ग्रहण करता है।
49. आहार विधि में आहारोपयोग (अभ्यवहरण) के समय भी श्रमण को ग्रासैषणा के दोषों का परिहार करना आवश्यक है।
50. श्रमण को अपने जीवन में छह आवश्यक कर्म अनिवार्यत: करणीय होते हैं। इन्हें षडावश्यक नाम से जाना जाता है।
51. चातुर्मास (वर्षाकाल) के अतिरिक्त समय में श्रमण को निरन्तर विहार करते रहने का विधान है; निर्ग्रन्थ श्रमण मठ आदि बनाकर नहीं रह सकता।
52. निषेधात्मक आचार में निर्ग्रन्थ को पाँच पापों से सर्वथा विरत रहने के लिए पाँच महाव्रतों का पालन आवश्यक है। इनकी पुष्टि में रात्रिभोजनत्याग नामक व्रत को भी उपचार से षष्ठ महाव्रत कहा गया है।
53. संयम की रक्षा के निमित्त ओधोपधि संज्ञक 14 उपकरण और औपग्रहिक उपधि संज्ञक 25 उपकरण रखने का विधान श्रमण के लिए मान्य किया गया है।
54. श्रमण के लिए पञ्चाचार का पालन आवश्यक है। यह चारित्र का विधिपरक स्वरुप है। चारित्र की रक्षा के लिए अष्ट प्रवचनमाताओं का उपदेश किया गया है; पाँच समितियाँ एवं तीन गुप्तियाँ मिलाकर आठ प्रवचनमाताएँ हैं।
55. क्षमा आदि दस यतिधर्म मनोभावनाओं पर संयम करने के लिए एवं आत्मस्वरुप में स्थिरता के लिए बताये गये हैं।
56. स्वभावबल प्रवृत क्षुधा आदि, प्रकृतिकृत शीत-उष्ण आदि, लोककृत स्त्री, चर्या, आदि से होनेवाली व्यथा से श्रमण को अविचलित रहने के लिए 22 परिषहों पर विजय पाने का उपदेश किया गया है।
57. श्रमण जीवन में 'कल्प' संज्ञक दश आचारों का विधिपरक पालन करना आवश्यक है।
58. विशेष साधना काल में श्रमण को द्वादश भिक्षु प्रतिमाओं के आचरण का उपदेश किया गया है।
59. वैराग्य भावना को निरन्तर वर्धनशील रखने के लिए द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने का विधान किया गया है।
60. शुभ भावनाओं के विपरीत 26 अशुभ भावनाएँ होती हैं जिनका स्वरुप जानकर उनसे दूर रहने का उपदेश किया गया है।
61. श्रमणजीवन तपस्या प्रधान है। प्रत्येक श्रमण को शक्ति के अनुसार अनशन आदि छह बाह्यतपों का एवं प्रायश्चित आदि छह आभ्यन्तर तपों का आचरण निरन्तर करते रहना चाहिए।
62. अन्त:करणोन्मुख वृत्ति के साथ धर्मध्यान और शुक्लध्यान में अवस्थित रहने का अभ्यास करना श्रमण जीवन की सार्थकता है। वर्तमान में संहनन के अभाव में शुक्लध्यान नहीं होता।
63. जैनाचार का आंशिक पालन करनेवाले जीव को श्रावक वर्ग में रखा गया है। श्रावक गृहस्थ होता हुआ भी धर्म के पालन का निरन्तर अभ्यास करता है। श्रमण और श्रावक के आचार में पर्याप्त अन्तर एवं स्थूलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

64. आदिधार्मिक एवं मार्गानुसारी - ये गृहस्थों के दो मुख्य वर्ग हैं जो धर्माभिमुख होते हैं।
65. श्रावक के लिए जिन पूजा आदि षडावश्यक कार्य नित्य करते रहने का विधान है। इनके साथ ही 35 अन्य कर्तव्य हैं। इस प्रकार श्रावक के 36 कर्तव्य बताये गये हैं।
66. श्रावकों को जिनमंदिर में 84 आशातनाओं (धर्मच्छेदक 84 दोष) से निरन्तर बचना चाहिए।
67. साधुओं के लिए उपदिष्ट व्रतों का स्थूल रुप अर्थात् पञ्चाणुव्रत का पालन प्रत्येक श्रावक के लिए अनिवार्य है। साथ ही महाव्रतों के अभ्यास के लिए शिक्षाव्रतों एवं गुणव्रतों का भी उपदेश किया गया है।
68. भोगोपभोग परिमाण व्रत में 22 अभक्ष्य एवं 32 अनन्तकाय का अभ्यवहरण निषिद्ध है। मद्य, मांस, मधु, पंचोदुम्बर फल एवं रात्रिभोजन- इनका त्याग जैननामधारी के लिए भी आवश्यक बताया गया है।
69. श्रमणाचार के अभ्यास के लिए श्रावक को सचित परिमाण आदि 14 नियम बताये गये हैं।
70. आजीविका के साधनों में 15 कर्मादानों के त्याग का उपदेश श्रावक को करना चाहिए।
71. श्रावक की उच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए 11 उपासक प्रतिमाएँ बतायी गयी हैं जो श्रावक की साधक अवस्था से आरम्भ होकर मुनिजीवन के आरम्भिक स्वरुप तक के आचरण के आधार पर कही गयी है।
72. एकादश उपासक प्रतिमाओं का सम्यग् आचरण करते हुए श्रावक मुनिदीक्षा की योग्यता प्राप्त कर लेता है।
73. 'आचार' शब्द के वाच्यार्थ के विस्तार में मुनिओं का आचार एवं श्रावकों का आचार समाहित है।
74. आचार शब्द के वाच्यार्थ में जो भेद है वह श्वेताम्बर परम्परा, दिगम्बर परम्परा, ब्राह्मण परम्परा, आदि में मान्य सिद्धान्तभेद के कारण है।
75. जैन, बौद्ध, ब्राह्मण आदि परम्पराओं में स्वीकृत अहिंसा एक सार्वभौम धर्म है। अन्य सब आचार अहिंसा पालन का ही विस्तार है।
76. जैन सिद्धान्तों को पुष्ट करनेवाली अनेक कथाओं एवं उपकथाओं का समावेश श्री अभिधान राजेन्द्र कोश में यथास्थान किया गया है। इनमें से 358 कथाएँ जैनाचार से सम्बन्धित है।
77. जैनाचार को पुष्ट करनेवाली 149 सुक्तियाँ अभिधान राजेन्द्र कोश में समाविष्ट है।
78. सारांश के रुप में यह कहा जा सकता है कि जैनाचार विधि-निषेधपरक व्यवहार का वह स्वरुप है जिससे मानव अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सिद्धावस्था प्राप्त कर सकता है जो अवस्था चरम है इसके बाद कोई अन्य विकारी अवस्था नहीं होती।

इस शोध प्रबन्ध के चार लक्ष्य निर्धारित किये गये थे। इनमें प्रथम लक्ष्य था जैन परम्परा की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली का एकत्र संकलन एवं वर्गीकरण करना, इस लक्ष्य का साफल्य समग्र शोधप्रबन्ध का अवलोकन करने से ज्ञात होता है।

शब्दावली में संग्रहीत शब्दों की यथास्थान निरुक्ति, व्युत्पत्ति एवं शास्त्रलभ्य अर्थ स्पष्ट करने से 'शब्दावली का व्यत्पत्ति एवं निरुक्तिमूलक अर्थ प्रस्तुत करना' नामक दूसरा लक्ष्य भी प्राप्त कर लिया गया है।

जैनाचार में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ की तुलना में जैन साहित्य-एवं अन्य कोशग्रन्थों में वर्णित अर्थ को प्रस्तुत करते हुए समीक्षा करने से 'शब्दावली के बारे में अन्य कोश ग्रन्थों एवं जैन साहित्य में दिये अर्थों का तुलनात्मक स्वरुप एवं समीक्षा प्रस्तुत करना' -नामक तीसरा लक्ष्य भी प्राप्त कर लिया गया है।

और, आचारपरक शब्दावली के वाच्यार्थ का विस्तार नामक पञ्चम परिच्छेद में 'जैन परम्परा के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में आचार की सूक्ष्म भिन्नता को रेखांकित करना' - नामक अन्तिम लक्ष्य भी पूरा हो गया है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रुप में यह कहा जा सकता है कि शोधप्रबन्ध का लेखन सार्थक और सफल रहा है।

यद्यपि प्रमाद से या अज्ञान से, टंकण की त्रुटि से या प्रस्तुति के स्वरुप दोष से शोध प्रबन्ध में दोष भी हो सकते हैं किन्तु नम्र निवेदन है कि विद्वज्जन त्रुटियों को सुधार कर इसका अवलोकन करेंगें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

1. अभिधान राजेन्द्र कोश मुद्रित प्रति का प्रथम पृष्ठ एवं अंतिम पृष्ठ
2. त्रिस्तुतिक सिद्धांतोपदेश : शास्त्रीय प्रमाण
3. सहायक सन्दर्भग्रन्थ सूची

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* अर्हम् *

अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिवीरवाणी, बुहविबुहनमंसिया या सा ।
वत्तव्वयं से वेमि, समासओ अक्खरक्कमसो ॥ १ ॥

अकार

अ–अ–पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामख्याते वर्णे, पका० । अर्हति, आचार्यरेण तस्य ग्रहणात् सिद्धे च । अशरीरेति सिद्धवाचकस्याचार्यरेण तद्ग्रहणात् । गा० । अश्नुते व्याप्नोति अतति सातत्येन तिष्ठतीति वा अव-अत-धा-म-विष्णौ, "अकारो विष्णुरुद्दिष्टः" वाच० । शिवे, ब्रह्मणि, वायौ, चन्द्रे, अग्नौ, प्राणौ, कमले, अन्तःपुरे, नृपणे, वरुणे, कारणे, रणे, अजिने, गौरवे, पका० । अ–अव्य० अव प्रतिषेधादौ, ङ स्वरादित्वादव्ययत्वम् अभावे, वाच० । प्रतिषेधे, "अमानोनाः प्रतिषेधे" आ० म० द्वि० । सू० । अस्योदाहरणम्, "नियरिसणं अघमो" अकारस्य तन्नावप्रतिषेधे निदर्शनं यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटादिकः पदार्थ इत्यर्थः । बृ० १ उ० । "अजावे न ज्ञानोनः" इत्यमरटीकायां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च आदेशः नञनमुख्यादिनिशब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स तु नञर्थे पञ स्थानितुल्यार्थत्वादादेशस्य । वाच० । स्वरूपे ऽर्थे, अनुकम्पायां, सम्बोधने, अ अनन्त ! अधिक्षेपे, अ पवासि त्वं जाल्म ! "उपसर्गस्वरविनक्तिप्रतिरूपकाअेति" स्वरादिगणसूत्रे अ इति सिद्धान्तकौमुद्यामुदाहृतं मनोरमायां च अ संबोधने, अधिक्षेपे, निषेधे चेति व्याख्यातम् । वाच० । "अपश्चिममारणंतियसंलेहणाझोसणाहिं" अत्र अपश्चिमाः पश्चात्कालभाविन्यः । अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थ इति । स० ।

अ–अव्य० कगचजतदपयवां प्रयो लुक्, ८ । १ । ७७ । इति सूत्रेण चलोपः । न चाऽनादेरेव सः क्वचिदादेरपि विधानात् । सो अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चशब्दे ।

अअ–अज–पुं० न जायते जन-ड-न० त० ईश्वरे, जीवे, ब्रह्मणि, विष्णौ, हरे, छागे, मेषरूपे प्रथमे राशौ, माङ्गिकधातौ च । जन्मशून्ये गगनादौ, त्रि० । आत् विष्णोर्जायते इति । चन्द्रे, कामे, दशरथपितरि रघुसुतपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यवंश्ये नृपभेदे, वाच० । प्राकृते 'अजातेः पुंसः ८ । ३ । ३२ इति जातिपर्युदासान्न ङीत्विकल्पः प्रा० । मेषभृङ्गयाम, गा० ।

अअगर–अजगर–पुं० अजं छागं गिरति गिलति गृ-अच् । बृहत्सर्पे, । अजगरमगस्त्यशापात् बृहत्सर्पजन्मापन्नं नहुषमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अण्-आजगरम् । अजगरकथायाम्, न० । वाच० ।

अअवालग–अजपालक–पुं० ६ त० । छागरक्षके, अजारक्षणप्रवृत्ते पुरुषभेदे, वाचकभेदे च । बृ० ३ उ० । (तदृत्तं क्रियाकम्म शब्दे) ॥

अइ–अयि–अव्य० सम्भावने, अइ संभावने ८ । २ । ५ । संभावने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । "अइ दिअर ! किं न पेच्छसि," अयि देवर ! किन्न प्रेक्षसे प्रा० ॥

गम्–धा० सक० पर० भ्वा० गतौ, गमेरइ त्ति ८ । ४ । ६१ । इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइइ-गच्छति प्रा० ।

अति–अव्य० अव-इ-पूजायाम्, उत्कर्षे, अतिक्रमणे, विक्रमे, अबुद्धौ, भृशे, "त्रिक्रमातिक्रमाबुद्धिभृशार्थातिशयेष्वती-ति" गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अतिमतिः । अबुद्धौ अतिगदनम् । बुद्धेरविषयः । भृशे अतितप्तम् । अतिशये अतिवेगः वाच० । "अति सर्वत्र वर्जयेत्" यतः "अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहिं संवासो । अइलुद्धनमो य वेसो, पंच वि गुरुअं पि लहुअं पि " अ० १ अधि० ॥

अ [दि] इ–[ति] इ–अदिति–स्त्री० न दीयते खण्ड्यते पृथ्वादि-दो-क्तिच् न० त० दातुं नेष्टुमयोग्यायां पृथिव्याम्, दितिर्देवजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य सुता वाच० । पुनर्वसुनक्षत्रस्याधिपतिर्देवता ज्यो० ६ पाहु० । "पुणव्वसू अइइ देवयाए पण्णत्ते" सू० प्र० १० पाहु० ॥ जं० ॥ "दो अइइ " पुनर्वस्वोर्द्वित्वाददितिद्वित्वम् । स्था० २ ठा० ॥

अइउक्कस–अत्युत्कर्ष–त्रि० उत्कर्षमतिक्रान्तः । उत्कर्षरहिते, "तवस्सी अइउक्कसो" तपस्वी साधुः अत्युत्कर्षः अहं तपस्वीत्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥

अइउब्भड–अत्युद्भट–त्रि० अतिशयितचेतश्चमत्कृतिकृति, "अइउब्भडो अ वेसो " उ० २ अधि० ॥

अइंत–अतियत्–त्रि० प्रविशति, जि० चू० १६ उ० । " पढमं जसनं मुहेणं अइंतं पासइ " कल्प० ॥

अइंदि [य] अ–अतीन्द्रिय–त्रि० अतिक्रान्तमिन्द्रियं तद्विषयत्वात् अस्या० स० वाच० । इन्द्रियद्वारागम्ये, अए० ॥ अतीन्द्रिया अर्था आगमेन उपपत्त्या च ज्ञायन्ते न केवलया युक्त्या तदुक्तम् । "आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं ह्यधिकारणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये" । १ । विशे० । दर्श० ॥ कर्म० । अनु० । कथ न युक्तयेति चेत् ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्मत्पट्टप्रभावी धनविजयमुनिर्वादिवृन्दप्रजेता,
श्रीलोपाध्यायवर्यः प्रतिसमयमदाद् चूरिसाहाय्यमेषः ।
कोशाब्धेरस्य सृष्टौ सकलजनपदश्लाघनीयत्वलिप्सोः,
सद्विद्वन्मानसाब्जे दिनकरसमतां यास्यमानस्य लोके ॥ ९ ॥
धन्वन्यनूत्तर्कयुगाङ्कपृथ्वी-वर्षे सियाणानगरेऽस्य सृष्टिः ।
पूर्णोऽभवत् सूर्यपुरे ह्यविघ्नं, शून्याङ्कनिध्येकमिते सुवर्षे ॥ १० ॥
तावन्महान् प्राकृतकोश एष, यावत् क्षितौ मेरुरवीन्दवः स्युः ।
सज्जैनजैनेतरविज्ञवर्ग-मानन्दयेत् कोकमिवोष्णरश्मिः ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-
श्रीमद्भट्टारक-जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्री श्री १००८ श्री
मद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'श्रीअभिधानराजेन्द्र-
प्राकृतमहाकोशे' हकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तश्चायं ग्रन्थ :।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट क्र. 2

त्रिस्तुतिक सिद्धांतोपदेश : शास्त्रीय प्रमाण

1. 'वंदन' शब्द स्तुति और नमस्कार दोनों का बोधक है, इसलिये देव-देवियों को वंदन करना श्रमणों के लिए अनुचित हैं। अकारण उनसे सहायता, प्रार्थना-याचना करना भी अनुचित है। क्योंकि अव्रती देव-देवियों को वंदन करना-आगम विरुद्ध है।[1]

---

1. (क) वंदण-वन्दन-न. । वाचा स्तुतौ

- ज्ञाताधर्मकथांग-1/1

विधिना कायवाङ्मनः प्रणिधनि

-प्रवचनसारोद्धार-1

शिरसाऽभिवादने-धर्मरत्न प्रकरण द्वितीय अधिकार

अभिवादनस्तुत्यों इति। कायेनाभिवादने, वाचा स्तवने

- आवश्यक चूर्णि-1अ.

द्वादशावर्त्तदिना - स्थानांग-4/1,

वन्द्यते स्तूयतेऽनेन प्रशस्तमनोवाक्कायव्यापारजालेनेति वन्दनम्।

-आवश्यक वृहद्वृत्ति-5 अ; 5 अ। - उद्धृत अ.रा.पृ. 6/768

(ख) वंदन - अभइवादनं प्रशस्तकायवाङ्मनः प्रवृत्तिरित्यार्थं।

- ललित विस्तरा पृ. 262

(ग) आवश्यक दीपिका में भी यही अर्थ है। - धरती के फूल पृ. 178

(घ) भगवती सूत्रना प्रवचनों

- प्रवचन - 4 पृ. 72

(ड) ललितविस्तरा पृ. 361

(च) असंजयं न वन्दिज्जा मायरं पियरं गुरुं।
सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणी य ॥ 1105 ॥

- पट्टावली पराग संग्रह - पं. कल्याण विजयजी पृ. 515

(छ) असहिज्ज देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिंपुरिस-गरुलगंधव्वमहोरगादिएहिं देवगणेहिंणिग्गंथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा।

- भगवती सूत्र : द्वितीय शतक - पञ्चम उद्देश

(ज) असहिज्जेति अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायकम्, अत्यन्त-समर्थत्वात् येषान्ते, असाहाय्यास्ते च ते देवादयश्चेति कर्मधारयः अथवा व्यस्तमेवेदम् तेन असहाय्या आपद्यपि देवादिसाहायकानपेक्षाः, स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तय इत्यर्थः। अथवा पाखण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यकत्वा - विचलनं प्रति न परसाहायकमपेक्षन्ते, स्वयमेव तत्प्रतिघातसमर्थत्वात् जिनशासनात्यन्तभावितत्वाच्चेति।

- नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरिकृत श्री भगवती सूत्र की टीका-2/5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

2. चतुर्थ स्तुति में पापोपदेश, धन, पुत्र आदि पौद्गलिक सुख-प्राप्ति की प्रार्थना होने से वह भावानुष्ठान सामायिक, प्रतिक्रमण आदि में त्याज्य है अतः उनमें चौथी स्तुति (थुई) करने से जिनाज्ञाभङ्ग रुप दोष लगता है।

2. (a) "यक्ष सर्वानुभूतिर्दिशतु मम सदा सर्वकार्येषु सिद्धिम्" ॥ 8 ॥
- स्नातस्या स्तुति

(b) दोलत दायी अधिक सवाई, देवी दे ठकुराई ।
- श्री वीर विजय रचित पंचमी की स्तुति में।

(c) शशी वयणी कमल विलोचना, चक्केसरी देवी विरोचना ।
रिसहेसर भक्ति विधायिका, वरदान देजो सुप्रभाविका ॥
- स्तुति तरंगिणी प्र.भा.पृ.10

(d) चैत्रीपूनम दिन देवी चक्केसरी, सौभाग्य दो सुखकंदजी ।
- वही पृ. 11

(e) श्री अजितनाथ, संभवनाथ, शीतलनाथ, कुंथुनाथ एवं अरनाथ भगवान के जोडे की चतुर्थ स्तुतियाँ
- श्री यशोविजयगणिकृत ऐन्द्रस्तुतयः पृ. 330, 331, 336, 340, 341

(f) "विधिनोपयुक्तस्याशंसादोषरहितस्य, सम्यग्दृष्टेर्भक्तिमत एवं सम्यक्करणं, नान्यस्य'
- ललित विस्तरा पृ.11

(g) अप्राप्तप्राप्ताभिलाषणे - आचारांग - 2/2

(h) ततोविधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणं आसादयति ।
उक्तं च -"धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत् ।
रौद्रदुःखौघजनको दुष्प्रयुक्ता दिवौषधात् ॥"
- ललित विस्तरा पृ. 17

(i) स्तुति स्तोत्राणि जिनानां तु आप्तानामेव ॥
- पंचाशक सूत्र की टीका-(धरती के फूल - पृ. 172 से उद्धत)

(j) अधिगतगोधिका कनकरुक् तव गौर्युचिता -ङ्कमलराजि तामरसभास्यतु, लोपकृतम् ।
मृगमदपत्रङ्गातिलकैर्वदनं दधती - कमलकरा जितामरसभाऽस्यतु लोपकृतम् ॥ 80 ॥ 20 ॥
- श्री शोभनमुनिकृत श्री मुनिसुव्रत जिनके जोडे में गौरी देवीकी स्तुति - पृ. 244

(k) विपक्षव्यूहं वो दलयतु गदाक्षावलिधराऽसमा नालीकालीविशदचलना नालीकवरम् ।
समध्यासीजाऽम्भोभृतधननिभाऽम्भोधितनया-समानाली काली विशदचलनानालिकवरम् ॥8॥29॥
-वही श्री नमिनाथजिन के जोडेमें काली देवी की स्तुति - पृ. 253

(l) हस्तालम्बितचूतलुम्बिलतिका यस्या जनोऽभ्यागमद्
विश्वासेवितताम्रपाद परतां वाचा रिपुत्रासकृत् ।
सा भूतिं वितनोतु नोऽर्जुनसचिः सिंहेऽधिरूढोल्लसद्
विश्वासे वितताम्रपादापरताऽम्बा चारिपुत्राऽसकृत् ॥88॥22॥
-वही श्री नेमिनाथजिन के जोडेमें अम्बा देवी की स्तुति - पृ. 264

(m) याता या तासतेजाःसदसि सदसिभूत् कालकान्तालकान्ता-
ऽपारिं पारिन्द्रराजं सुखसुखधूपूजिताडरं जितारम् ।
सा त्रासात् त्रायतां त्वामविषमविषभृद् भूषणाऽभीषणाभी-
हीनाऽहीनाग्र्यपत्नी कुवलयवलयश्यामदेहाऽमदेहा ॥2॥23॥
- वही श्री पार्श्वनाथजिन स्तुतिके जोडे में वैरोट्या देवी की स्तुति - पृ. 276
- श्री शोभनमुनिकृत स्तुति - चतुर्विंशतिका (सचित्र)
प्रकाशक - शाह वेणीचन्द्र सूरचन्द्र द्वारा श्री आगमोदयसमितिः ।
मुद्रक - मुंबई वैभव प्रेस - मुंबई, वि.सं. 1982 प्रति 1250

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. जैनागम पंचागी के अनुसार तीन स्तुति प्राचीन है, और प्राचीन काल में शुद्धाचरण से तीन स्तुति प्रचलित थी, इसलिए तीन स्तुति करना उचित है ।

3. (क) नौ अंग सूत्रों के टीकाकार श्रीमद् अभयदेवसूरिने पंचाशक की टीका में लिखा है - "सम्पूर्णा - परिपूर्णा सा च प्रसिद्धदण्डकैः पंचभिः स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति, चतुर्थ स्तुतिः किलार्वाचीनेति ।" - यह लिखकर चौथी स्तुति को नवीन घोषित किया है । (ये आचार्य वि.सं. 1135 या 1139 में स्वर्गगत् हुए है ।

- पट्टावली समुच्चय पृ. 54 धरती के फूल पृ. 167) - तृतीय पञ्चाशक की टीका पृ. 53

(ख) व्यवहार भाष्ये स्तुतित्रयस्य कथनात् चतुर्थस्तुतिः अर्वाचीना इति गूढामभिसन्धि ? किंच नायं गूढाभि-सन्धिः किन्तु स्तुतित्रयमेव प्राचीनं प्रकटमेव भाष्ये प्रतीयते । कथमिति ? चेत् द्वितीय भेद व्याख्यानावसरे "निस्सकडं" इति भाष्य गाथायां 'चेइये सव्वेहिं थुइ तिण्णी "इति स्तुतित्रयस्यैव ग्रहणात् । एवं भाष्यद्वय-पर्यालोचनया स्तुतित्रयस्यैव प्राचीनत्वम् । तुरीयस्तुतेरर्वाचीनत्वमिति । - शुद्ध देव-गुरु-धर्मनी सेवा उपासना विधि पृ. 33

- पंचाशक टीका के टिप्पणीकार द्वारा लिखित एवं सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी पृ. 12, 13 से उद्धरित

(ग) तिण्णि वा कड्ढइ जाव थुइओ तिसिलेगिया ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेण वि ॥ चैत्यवंदन महाभाष्य गा. 23

-श्री संघदास गणि क्षमाक्षमण रचित श्री व्यवहार सूत्र भाष्य पर विक्रम की 13 वीं शती के पूर्वार्धमें आ.मलयगिरिजीकृत टीका में "पणिहाणं मुत्तसुत्तिए" - वचन की टीका।

(घ) निस्सकडमनिस्से वा, वि चेइए सव्वेहि थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइयाणि य, नाउं एक्किक्किया वा वि ॥1808॥

- तपागच्छीय आचार्य श्री क्षेमकीर्तिसूरि (विक्रम की 18वीं शती) विरचित बृहत्कल्पभाष्य टीका - द्वि.वि.पृ. 531

(ङ) विद्याधर गच्छनां श्री हरिभद्रसूरि थयां. ते जाते ब्राह्मण हतां. तेमणे जैन दीक्षा ग्रहण करी. याकिनी-साध्वीनां धर्मपुत्र कहेवातां हतां. तेमणे 1444 ग्रन्थो बनाव्या. श्री वीर निर्वाण पछी 1055 वर्षे स्वर्गे गयां. त्यारपछी चतुःस्तुतिकमत चाल्यो

- गच्छमतप्रबंध अने संघ प्रगति पृ. 169-ले. श्री बुद्धिसागरसूरि

(च) त्रिस्तुतीक सूत्र साक्षी गर्भित श्री शांतिजिन लावणी

शांतिनाथनुं स्मरण करीने, कहुं पंचागी विस्तारी । सूत्र निर्युक्ति भाष्यने चूर्णी, टीका जाणो हद भारी,
पंचागी जो नही माने, ते मिथ्यात्वी निरधारी । तीन थुईना सूत्र बताउँ, जगमां वरते जयकारी ॥ शांति ॥ 1
महानिशीथ में चारसे सूत्र कहा है निहारी । आवश्यक की सर्वपंचागी, अे छे लेना संभारी
व्यवहारभाष्य चूर्णीने टीका, लघु चूर्णी लो सुखकारी । बृहत्कल्पनो भाष्य अगियारमो, विशेष चूर्णी टीकाकारी ॥ शांति ॥ 2
आवश्यक अवचूरी पंदरे, सोलमी दीपिका साधारी । उत्तराध्ययननी बे लघुवृत्ति, पाई अवचूरी लो धारी
ग्रंथ वीस पंचागी केरा, प्रकरण दाखुं हितकारी । अंगचूलिया वंदण पयन्ना, वर्धमान स्तुति देखारी ॥ शांति ॥ 3
पूजा चैत्यवंदन पंचाशक, दोनों वृत्ति सहकारी । श्राद्धविधि टीकाने भाषा, सार्धशतक मूल भाषारी ।
प्रतिमाशतक वृद्ध आवश्यक, श्राद्धदिनकृत्य गाथारी । संदेहदोहावली हेतु आवश्यक, श्राद्धदिनकृत्य गाथारी ॥ शांति ॥ 4
चौंतीश अधिका ग्रंथ सखाई, पोथी देखो पुरारी । जैन तत्त्वादर्शे देखो, चारसें सत्तरे पृष्ठांरी ।
चैत्यवंदन अे चैत्य होवे, पंचांगी छे उपकारी । आवश्यक विधि छत्तीसो ग्रंथे, भाखे जिनजी जयकारी ॥ शांति ॥ 5
श्रुतदेवी जिनवाणी वरते, करता वंदन गणधारी । भगवई निशीथसूत्रमां देखो, शंका करवा दो टारी ।
आवश्यकी दीपिका वरजे, देवी थुई छे शंकारी । 'सूरि राजेन्द्र' आप निरंजन, अन्य देव है अवतारी ॥ शांति ॥6

(छ) अवस्सं काऊणं जिणोवइट्ठं गुत्त्वएसेणं तिण्णि थुइ पडिलेहा कालस्स । इमा विहि तत्थ ।

- आवश्यक बृहद् वृत्ति, सिद्धांत प्रकाश पृ. 46 थी उद्धृत

(ज) थयथुइमंगलेणं नाणदंसणगचरित्तबोहिलाभं जणइ, नाणदंसणचरित्तबोहिला भसंपण्णेणाणं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिअं, वा आराहणं आराहेइ (उत्तरा-अ.29) इति वचनेनैव सिद्धा, अत्र स्तवः -स्तवनं, स्तुतिः-स्तुतित्रयं प्रसिद्धम्,

-प्रतिमाशतक-काव्य-2 पर श्री यशोविजयजीकृत वृत्ति-पृ. 20

(झ) महानिशीथ सूत्र और श्री मानदेवसूरि रचित उपधान प्रकरण में तीन थुई के सूत्र कहे है, चतुर्थ स्तुति के नहीं ।

- चतुर्थस्तुति निर्णय शंकोद्धार - पृ. 158, 159, 160

(ञ) उत्कृष्टचैत्यवंदनविधावुत्तरोत्तरं स्तुतयः प्रायो वर्णोवृद्धा एव विधेया इति परंपरा वर्ततेऽनेन सढिः सत्यैवावसीयते परम्परामूलं तु नमोऽस्तु वद्धमानायेतस्याधिकारे "ताउअ थुइउ एगसिलोगादि वड्ढन्ति आउ पयवरसरादिहिं वा सरेण वा वड्ढतेण तिन्नि भाणिऊणामि"- त्याद्यावश्यकचूर्ण्यक्षर-दर्शनमिति संभाव्यत इति ॥ 2 ॥

-सेन प्रश्न -उद्धृत चतुर्थस्तुति निर्णय शंकोद्धार - पृ. 196

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ट) आयंमि चेइअहरं गंतूण चेइआई वंदिद्या,
अजिअच्छय तिन्नि थुई परिहायंतिव्व कड्ढंति ॥ 28 ॥

-आवश्यक निर्युक्ति

(ठ) चेइयघस्त्वस्स एवा आगम्मुस्सग्गगुरु-समीवंमि अवहिंविगिंचणियाए संतिनिमित्तं च थतोतच्छ ?
परिहायमाणीयाउ तिन्निथुइ उवहंति-नियमेणं अजियसंतिच्छगमाइयाउकमसोतहिंनेउ ।

- वृहत्कल्पभाष्य

(ड) साहुणो चेइयघरे वा उवस्सए वा ठियाहोद्या जइ चेइयघरे तो परिहायंतीहिं थुइहिं चेइयाइं वंदित्ता आयरिय सगासे इरियावहि पडिक्कमिउं अविहि-परिठावणियाए काउसग्गं केरंति ताहे मंगलसंति-निमित्तं इत्यादि ।

- वृहत्कल्पचूर्णि

(ढ) तउ आगमस्स चेइयघरं गच्छंति चेइयाणं वंदित्ता संतिनिमित्तं अजिअसंतिथउ परिकड्ढिज्झइ तिन्नि थुइउ परिहायंतीउ कड्ढिज्झंति तउ आगंतु अविहि परिठावणियाए काउसग्गं कीरइ ॥ 7 ॥

-विशेष आवश्यक चूर्णि

(ण) ततो आगम्म चेइए गच्छंति चेइयाणि वंदित्ता संतिनिमित्तं अजियसंतिच्छउ परियदिज्झइ तिन्नि वा थुइउ परिहायंतीउ कड्ढिद्यति ।

-आवश्यक बृहद्वृत्ति-हरिभद्राचार्य

(त) ततश्चैत्यगृहे आगत्य चैत्यानि वंदित्वा शांतिनिमित्तं शांतिस्तवं पठित्वा स्तुतिश्च हीयमाना भणित्वा ? आचार्योन्तिके आगत्य अविधिपाश्चि-पानिकी कायोत्सर्ग कार्यः ।

- आवश्यक लघुवृत्ति

(थ) तत आगम्य चैत्यगृहे विपर्यस्तं देवा वंदित्वाचार्य-पार्श्वऽविधि पारिष्ठापनिकायाः कायोत्सर्गः क्रियते ॥

-आवश्यकाऽवचूरी

(द) तत्रैव स्थंडिले क्रियमाणे उच्छानादयो दोषाः स्युः । ततो ग्राम मागम्य चैत्यं गत्वा नत्वा सान्यै तीर्थमजितशांतिस्तवो गुण्य तिन्नि वा थुइउ परिहायंतीउ कड्ढिद्यंति ततो गुरुमार्श्वमेत्याविधि परिस्थापनिकायाः कायोत्सर्गः कार्यः समविंशतिः उच्छ्वासाः एष वृद्धसंप्रदायः आचरणा पुनः उम्मच्छयहरणेणं किर गमणागमणं आलोइधर ततो इरियावहिया पडिक्कमिधइतउवेइयाइं वंदित्तेत्यादि ॥

- आवश्यक दीपिका

(ध) तत्रैव स्थंडिलोपांते कायोत्सग्गों न क्रियते उच्छानादिदोषसंभवात् तत आगम्य चैत्यगृहे विपर्यस्तं देवान्वंदित्वाचार्यपार्श्वेऽविधिपारिष्ठापानिकायाः कायोत्सर्गः क्रियते ।।26।।

- ज्ञानसागरसूरिकृतावश्यकावचूरिः (वि.सं. 1940) (अन्यकृत गाथाओं की साक्षी भी है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. चैत्यवंदन के बाद शक्रस्तवादि प्रणिधान पाठ और स्तुतित्रय कही जायँ अर्थात् चैत्यवंदन कहने के बाद शक्रस्तवादि प्रसिद्ध पाँच दण्डक, तीन स्तुतियाँ और प्रणिधान पाठ कहे जायँ तब तक जिनालयों में ठहरना चाहिए। किसी कार्य विशेष के लिए अधिक ठहरना पडे तो अनुचित नहीं है।[4]

---

4. (क) तिण्णि वा कड्ढइ जाव, थुईओ तिसिलोगिया। ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि।
श्रुतस्तवनन्तरंतिस्त्रः स्तुतिस्त्रिश्लोकिकाः श्लोकत्रयप्रमाण। यावत् कुर्वते, तावते, ताक्तत्र चैत्यायतने स्थान-मनुज्ञातम्। कारणवशात् परेणाप्युपस्थानमनुज्ञातम्।

- व्यवहार भाष्य पर श्री मलयगिरिकृत टीका में 'पणिहाण मुत्तसुत्तिए' वचन की टीका-सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी पृ. 8 से उद्धृत

(ख) निस्सकडमनिस्से वा, वि चेइए सव्वेहिं थुई तिन्नि। वेलं च चेइयाणिय, नाउं एक्किक्किया वा वि ॥1804॥

-बृहत्कल्पभाष्य टीका-श्री क्षेमकीर्तिसूरि-स्वोपज्ञ श्राद्धविधि प्रकरण टीका-श्री रत्नशेखर सूरि।

(ग) "चैत्यवंदनान्ते शक्रस्तवाद्यनन्तरं तिस्त्रः स्तुतयः श्लोकत्रय-प्रमाणाः प्रणिधानार्थं यावत्कथ्यन्ते प्रतिक्रमणान्तरमंगलार्थं स्तुति-त्रय पाठवत् तावच्चैत्यगृहे स्थानं साधूनामनुज्ञातं निष्कारणम् न पस्त।"

- चैत्यवंदन भाष्य - टीका - श्री धर्मघोषसूरि से उद्धत सत्य समर्थक प्रश्नोत्तरी पृ.9

(घ) આગમમાં સાધુને ત્રણ થુઈ વડે જે ચૈત્યવંદન કરવું કહેલ છે. કારણ કે વ્યવહાર ભાષ્યમાં કહ્યું છે કે સાધુ મલમલિન અને અસ્નાત હોવાથી ત્રણ શ્લોકવાળી ત્રણ થુઈઓ કહ્યા ઉપરાંત વિના કારણે વધુ વખત ચૈત્યમાં રહે નહિં.

-अंचलगच्छीय आचार्य श्री महेन्द्रसूरि (वि.सं. 1294) रचित 'बृहत्सत्पदी' ग्रंथ से उद्धृत आ. श्री मेरुतुंगसूरिकृत लघु सत्पदी (वि.सं. 1450) (इन दोनों का पं. खजी देवराज (कच्छ-कोडायवाला) कृत गुजराती भाषांतर पृ. 14 विचार क्रमांक-15)

(ड) कथारत्नकोष प्रथमभाग - पृ. 288

-श्रीदेवभद्राचार्य (वि.सं. 1158) द्वारा रचित

(च) न च देवगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्षणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञातं साधूनामिति।
विधिवन्दनाद्यर्थमवस्थाने नोक्तदोषः।

- प्रतिमाशतक काव्य -26 पर न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी कृतवृत्ति पृ. 171

(छ) दुझिगंधवरिस्सावी तणुरप्येस एहाणया दुवाहाउ वहो चेव, तो चिट्ठंति न चेइए।
ति भीवाकड्ढए जाव छुतीतो तिसलोगइया ताव तच्छ अणुयायं कारणं भिपरेणावि॥

- व्यवहार भाष्य मूल-उद्धत चतुर्थस्तुतिनिर्णय शंकोद्धार पृ. 199

(ज) एषा तनुः स्नापितापि दुरभिगंधप्रस्वेद परिश्राविणी तथा द्विविधो वायुर्यथोर्ध्वाधो वायुवहो निर्गम उच्छ्वासनिश्वासनिर्गमश्च तेन कारणेन चैत्ये चैत्यायतने साधवो न तिष्ठन्ति अथवा श्रुतस्तवानंतरं तिस्त्रः स्तुतयः त्रिश्लोकिकाः श्लोकत्रयप्रमाणा यावत्कर्षते तावत्तत्र चैत्यायतने स्थानमनुज्ञातं कारणेन कारणवशात्परेणाप्यवस्थानमनुज्ञातमिति॥

-व्यवहार भाष्य टीका - उद्धत चतुर्थस्तुतिनिर्णय शंकोद्धार पृ. 200

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. शास्त्रमर्यादानुसार प्रथम और अन्तिम जिनेश्वरों के शासन के साधु-साध्वियों को यथाप्राप्त श्वेत-मानोपेत-जीर्णप्रायः और अल्पमूल्यवाले वस्त्र ही रखना चाहिए। रंगीन वस्त्र या रंगे हुए वस्त्र रखना अनुचित है। विशेष परिस्थिति में कल्कादि पदार्थों से वस्त्रों का वर्ण-परावर्तन करने की आज्ञा है तथापि वर्तमान युग में एसे कोई कारण उपस्थित नहीं है, अतः जैन साधु-साध्वियों के लिए रंजित (रंगे हुए) वस्त्र धारण करना शास्त्र-आचरण और मर्यादा से विपरीत है।[5]

---

5. (अ) पूर्वचरमाणां हि रक्तवस्त्रानुज्ञाते ऋजुवक्रजडत्वेन वस्त्ररञ्जनदावपि प्रवृत्ति स्यादिति न तेषां तदनुज्ञातम्।

-भावविजयोपाध्यायकृत - उत्तराध्ययन टीका अ. 23, पत्र 458

(आ) वर्धमान् - विनेयानां हि रक्तादिवस्त्रानुज्ञाते वक्रजडत्वेन वस्त्ररञ्जनादिषु प्रवृत्तिरतिदुर्निवारैव स्यादिति न तेन तदनुज्ञातम्।

- शान्त्याचार्यकृत - उत्तराध्ययन सूत्र - बृहट्टीका अ.23 पत्र 503

(इ) श्री वीरेण शिष्याणां रक्तादिवस्त्रं वक्रजडत्वेन रञ्जनादिषु प्रवृत्तिरेषा दुनिवारैवस्यात् इति नानुज्ञातम्।

-उत्तराध्ययन सूत्र - लक्ष्मीवल्लभी टीका अ. 23, पत्र 621

(ई) यथाभिसंचितं वेषमादाय पूजानिमित्तं विडम्बकादयोऽपि वयं व्रतिन इत्यभिदधीरन्, ततो व्रतिष्वपिन लोकस्य व्रतिन इति प्रतीतिः स्यात्।

-शान्त्याचार्यकृत - उत्तराध्ययनसूत्र-बृहद्टीका, अ. 23, पत्रांक 503

(उ) प्रत्यार्थ च अमी व्रतिन इति प्रतीत्यर्थ लोकस्य, अन्यथा यथेष्टं वेषमादाय विडम्बकादयोऽपि वयं व्रतिन इति ब्रुवीरन्, ततश्च व्रतिष्वप्यप्रतीतिः स्यात्।

-उत्तराध्ययन सूत्र - लक्ष्मीवल्लभीटीका - अ.23, पत्रांक 629

(ऊ) प्रत्यार्थ चामी व्रतिन इति प्रतीतिनिमित्तञ्च लोकस्य, नानाविधविकल्पनं प्रकमानाना-प्रकारोपकरणपरिकल्पनम्। नानाविधं हि रजोहरणाद्युपकरणं प्रतिनियतं यतिष्वेव संभवतीति कथं तल्लेकस्य प्रत्यये हेतुर्न स्यात् ? अन्यथा तु यथेष्टं वेषमादाय पूजाद्यर्थमन्येऽपि केचिद्वयं व्रतिन इत्यभिदधीरन्, ततश्च मुनिष्वपि न लोकस्य प्रत्ययः स्यादिति।

-उत्तराध्ययन सूत्र - भावविजयोपाध्यायकृत-टीका, अ.23, पत्र 458

(ऋ) साधुमाश्रित्य तु प्रथमान्तिमतीर्थकृत्तीर्थे श्वेतमाना-द्युपेतवस्त्राणां जीर्णप्रायत्वात्तादृग्वस्त्रधारित्वे-ऽप्यचेला एवोच्यन्ते।

-श्री कल्पसूत्र - किरणावली-टीका पृ.1

(ॠ) श्री ऋषभवीरयतीनाञ्च सर्वेषामपि श्वेतमानोपेत-जीर्णप्रायवस्त्रधारित्वेन अचेलकत्वमेव।

-श्री कल्पसूत्र - सुबोधिका टीका, पृ.2

(ऌ) श्री आदिनाथ-महावीरयोर्यतीनामयमाचारः। अचेलकत्वम् - मानोपेत धवलं वस्त्रं धारयन्ति।

-श्री कल्पसूत्र-कल्पद्रुमकलिका टीका, पृ. 2

(ॡ) शुक्ल प्रमाणोपेतवस्त्रापेक्षया अचेलकत्वम्।

-श्री स्थानाङ्ग सूत्र टीका पत्र 167

(ए) प्रथमपश्चिमजिनसाधूनां तु ऋजुजडत्वेन वक्रजडत्वेन च महाधनादि वस्त्राणामननुज्ञानात् श्वेतखण्डितादीनामेव चानुज्ञानादचेलक इति।

-श्री प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, 78 वाँ द्वार, पत्र 185

(ऐ) प्रथम तथा चरम जिनना वारामा साधुओने विद्यमान वस्त्र छतां श्वेत अने अल्पमूल्यवाला खंडित वस्त्र होवाने लीधे ते अचेलक कहेवाय छे.

- श्री प्रवचन सारोद्धारनो पद्ममन्दिरगणिकृत बालावबोध वि.सं. 1651, प्रकरण रत्नाकर भा. 3 पृ. 258

(ओ) जत्थ य वारमियाणां, तत्तडियाणं च तह य परिभोगो।
मुत्तं सुक्किलवत्थं, का मेरा ? तत्थ गच्छम्मि ॥ 89॥

-गच्छाचार पयन्ना।

(औ) यत्र गच्छे (वारडियाणंति) रक्तवस्त्राणां (तत्तडियाणं ति) नीलपीतादिरञ्जितवस्त्राणाञ्च परिभोगः क्रियते। किं कृत्वा इत्याह - मुक्त्वा - परित्यज्य, किम ? शुक्लवस्त्रं - यतियोग्याम्बरमित्यर्थं। तत्र गच्छे (का मेरत्ति) का मर्यादा ? न काचिदपीत्यर्थः।

-गच्छाचारपयन्ना मूल और टीका, गाथा 89

(क) गणि ! गोयम ! जा नंचिय, सेयवत्थं विवज्जिनं।
सेवए चित्तस्त्राणि, न सा अज्जा वियाहिया ॥

-गच्छाचार पयन्ना मूल गाथा - 112

(ख) हे गणिन्। गौतम। या आर्या उचितं श्वेतवस्त्रं विवर्ज्य चित्ररुपाणि विविधवर्णानि विविधानि चित्राणि वा वस्त्राणि सेवते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलक्षणात् - पात्रदण्डाद्यपि चित्रस्यं सेवते सा आर्या न कथिता इति विषमाक्षरः - गाथा - छन्दः

-गच्छाचार पयन्ना गाथा 112 टीका

(ग) पुरिमंतिमतित्थेसुं, ओहनिजुत्तीयभाणियपरिमाणं । सियवत्थं इयराणं, वन्नपमाणेहि जहलद्धं ॥287॥

-सत्तरिसय ठाणां मूल - 142 वाँ द्वार

(घ) प्रथम जिनतीर्थे अन्तिमजिनतीर्थे च ओघनिर्युक्तिसूत्रोक्त-परिमाणम्, सितं-श्वेतवस्त्रं ज्ञेयम् । उत्तरेषां द्वाविंशतिजिनानां वर्णप्रमाणैर्यथालब्धं-यथाप्राप्तम् अनियतवर्णम् - अनियतप्रमाणं चेत्यर्थः ।

-सत्तरिसयठाणां गाथा 297 की टीका, 142 वाँ द्वार

(इ) जे भिक्खू वा भिक्खूणी वा णवए मे वत्थे लद्धे तिकट्टु तेल्लेण वा धएण वा णवणीएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा जिलिंगेज्ज वा मक्खंतं वा मिलिंगेज्जतं वा साइज्जइ ॥48॥ जे भिक्खू वा भिक्खूणी वा णवए मे वत्थे लद्धे ति कट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा लावेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलतं वा उव्वलेज्जंतं वा साइज्जइ ॥49॥ जे भिक्खू वा भिक्खूणी वा णवए मे वत्थे लद्धे ति कट्टु सीओदग-वियमेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलज्जितं वा पधोएज्जंतं वा साइज्जइ ॥ 50॥ तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाफयं ।

- श्री निशीथसूत्र, 18वां उद्देशा

(च) साधूनामर्थाय मलिनवस्त्रं धौतं - गौरवं कृतमित्यर्थः । एवं रक्तं प्रदत्तरागम्, धृष्ट-मसृणं-पाषाणादिना उत्तेजितम् एते त्रयोऽप्येक एव दोष इति ।

-बृहत्कल्पसूत्र-भाष्यवृत्ति-3 उद्देशा ।

(छ) धोअणं रयणं चेव, वत्थीकम्म विरेयणं । वमणं जणपलीमंथं, तं विज्जे परिजाणिया ॥

-श्री सूत्रकृताङ्ग-मूल - अ. 13, पत्र 280

(ज) धावनं - प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्राणां, रञ्जनमपि तेषामेव, चकारः समुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे, तथा वस्तिकर्म - अनुवासनास्यं, तथा विरेचनं-निस्नात्मकमधोविरेको वा, वमनम्-ऊर्ध्वविरेकस्तथाऽञ्जनं नयनयोः, इत्येवमादिक मन्यदपि सरीरसंस्कारादिकं यत् सयमपलिमन्थकारि
-संयमोपधातस्यं तदेतद्विद्वान् स्वस्यस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत ।

-श्री सूत्रकृताङ्ग टीका अ.1 उ पृ. 280

(झ) धावनं हस्तपादवस्त्रादेः रञ्जनं तस्यैव, वस्तिकर्म अनुवासनास्यं विरेचनमधोविरेकः, वमनमूर्ध्वविरेकः, अञ्जनं नयनयोः, एवमन्यदपि यत्संयमपलिन्थकारि-संयमोपधातकारि तत्परिज्ञाय परिहरेत् ।

-श्री हेमविमलसूरिकृत - सूत्रकृताङ्ग दीपिका पृ. 381

(ञ) धोवणनुं हाथ पग वस्त्रादिक तणउं अने तेहने रंगवु तथा संमारिवउं, नस्तिकर्म न व कक्षादि रोम संमारिवउं, विरेचन-पखाल-वमन-उछाल अंजन-आंजिवउं, अनेरउ - अनेरउ शरीर -संस्कारादिक पलिमंथ - संयमना उपघात करणहार जाणी विद्वान परिहरइ ।

-पं. श्री लाभवर्द्धनजीकृत श्री सूत्रकृताङ्ग वार्तिक-प्रथमश्रुतस्कन्ध-नवम अध्ययन पृ. 64

(ट) जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्सणं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोएज्जा नो धोइज्जा
नो धोरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा अपलिओवमणे गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं (सूत्र 211) ।

- आचाराङ्ग सूत्र मूल 1 श्रु. 8 अ. 4 उ पृ. 365

(ठ) જે સાધુને પાત્ર અને ત્રણ વસ્ત્ર હોય તેને એવો વિચાર ન થાય કે, મારે ચોથું વસ્ત્ર જોઈશે. જો ત્રણ વસ્ત્ર ન હોય તો સુઝતાં વસ્ત્ર યાચવાં (વિધિપૂર્વક માંગવા) અને જેવા મળે તેવા પહેરવાં, વસ્ત્રને ધોવાકે રંગવા નહીં. ધોયેલા કે રંગેલા પહેરવા નહીં, ગામાંતરે જતાં વસ્ત્ર સંતાડવા નહીં અને એ રીતે હલ્કા (અલ્પમૂલ્યવાળાં) વસ્ત્ર રાખવા, એ વસ્ત્રધારીમુનિનો આચાર છે. (899)

- प्रोफेसर रवजी देवराजकृत आचारांगसूत्र भाषांतर पृ. 46

(ड) यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत - उत्कर्षणापकर्षण- रहितान्यपरिकर्माणि प्रार्थयेदिति, तत्र 'उद्दिट्ठ ? पहे 2 अंतर 3 उज्झियधम्मा 4 य'- चतस्रो वस्त्रैषणा भवन्ति । तत्र चाधस्तन्योर्द्वयोरग्रह इतयोस्तु ग्रहः । तत्राप्यन्तरस्यामभिग्रह इति, याच्ञावाप्तानि च वस्त्राणि यथा परिगृहीतानि धारयेत्, न तत्रोत्कर्षण-परिधावनादिकं परिकर्म कुर्यात् । एतदेव दर्शयितुमाह-नो धावेत्, प्रासुकोदकेनापि न प्रक्षालयेत्, गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकोदकेन यतनया धावनमनुज्ञातं, न तु जिनकल्पिकस्येति । तथा न धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्, पूर्वं धौतानि पश्चादक्तानीति ।

- आचारांग सूत्र -शीलंकाचार्यकृत टीका, 1. श्रुतस्कंध, 8 अध्याय, 4 उद्देश पत्र 367

(ढ) મુનિ યથા એષણીય (નિર્દોષ) વસ્ત્રોની યાચના કરે, ઉત્કર્ષ - અપકર્ષણ સહિત અપરિકર્મવાળા યાચે, તેમાં '1. उद्दिट्ठ, 2 पहे, 3 अंतर, 4 उज्झिय धम्मा' એ ચાર વસ્ત્રની એષણા છે. તેમાં પાછળની બે અગ્રહ (ન લેવાય તેવી) છે, બાકીની બે લેવાય

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

છે. તેમાં કોઈપણ એકનો અભિગ્રહ હોય છે. યાચના કરતાં શુદ્ધ વસ્ત્ર મળે તો લે અને જેવાં લીધા હોય તેવાંજ પહેરે, પણ તેનો ઉત્કર્ષણ એટલે કે ધોવું વિગેરે પરિકર્મ ન કરે, તે જ બતાવે છે - અચિત્ત જળ વડે પણ ન ધોવે પણ સ્થવિરકલ્પીને તો વરસાદ આવ્યા પહેલાં અથવા બિમારીમાં અચિત્ત પાણીથી યતના (જયણા)થી ધોવાની અનુજ્ઞા છે. પણ જિનકલ્પીને ધોવું ન કલ્પે તેમજ પ્રથમ ધોઈને પછી રંગેલા કપડાં હોય, તે પણ ન પહેરે તથા બીજા ગામે જતાં વસ્ત્ર સંતાડ્યા વિના ચાલે, અર્થાત્ અંતપ્રાંત (તદ્દન સાદાં, જીર્ણ થઈ ગયેલાં/અલ્પ મૂલ્યવાળા) વસ્ત્ર ધારે કે જેને ચોરાવાના ડરથી ઢાંકી રાખવા ન પડે.

- આચારાંગ સૂત્ર - મુનિમાણેક કૃત ભાષાંતર ભાગ-4 પૃ. 169

(ण) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा नो वणमंताइं वत्थाइं
विवणाइं करिज्जा विवणाइं न वणमंताइं करिज्जा । (सूत्र 151)

- आचारांग सूत्र - मूळ, श्रु. 2, अ.5, उ. 2

(त) जे भिक्खू वा भिक्खूणी वा अहेसणिज्जाइं वत्थाइ जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोएज्जा नो रएज्जानो धोयरताइं वत्थाइं धारिज्जा । (सूत्र 148)

- आचारांग सूत्र मूल, श्रु. 2, अ. 5, उ. 2

(थ) टीका : स भिक्षुः ''यथैषणीयानि'' अपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि च धारयेत्, न तत्र किञ्चित् कुर्यादिति दर्शयति, तद्यथा - न तद् वस्त्रं गृहीतं सत् प्रक्षालयेत् नापि रञ्जयेत्, तथा नापि वाकुशिकतया धौतरक्तानि धारयेत्, तथाभूतानि न गृहीयादित्यर्थः ।

- आचारांगसूत्र शीलंकाचार्य कृत टीका श्रु. 2, अ.5, उ. 2(पत्र 393)

(द) सुक्कंबरा य समणा, निरंबरा मल्ल धारत्ताइं । हुंतु इमे वत्थाइं अरिहो कि कसाय कलुसमई ॥

- आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरि-87

(ध) शुक्लाम्बराः श्रमणास्तथा निर्गतम्बरं येभ्यस्ते निरम्बराः जिनकल्पिकादयः (मज्झत्ति) मम च, एते श्रमणा इत्यनेन तत्कालोत्पन्नतापसश्रमणव्युदासः, धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि, किमित्यहोऽस्मि, योग्योऽस्मि तेषामेव, कषायैः कलुषा-मतिर्यस्यसोऽहं कषायकलुषमतिरिति गाथार्थः ।

- श्री आवश्यक मलयगिरि गा. 87 की टीका

(न) उपरोक्त पाठ - श्री आवश्यकसूत्र हारिभद्रीय टीका पृ. 155

(प) शुक्लाम्बराः श्रमणा निरम्बराश्च जिनकल्पिकादयः। कषायाऽकलुषितमतयो यतयो नाहमेवमतो मे कषायकलुषितस्य धातुरक्तानि वस्त्राणि भवन्तु ।

- श्री कल्पसूत्र किरणावली टीका पृ. 36

(फ) श्वेताम्बरः श्वेतवस्त्र, उपलक्षणाद्रजोहरण-मुखवस्त्रिकाद्यौधिकोपग्रहिकोपकरणसमेतः स्थविरकल्पिकादिः । श्वेताम्बरत्वं च वर्द्धमानस्वामीत्यर्थीयश्रमणोपक्षम् ।

- सम्बोधसप्तति-वाचक गुणविनयकृतवृत्ति - पत्र 2

(ब) सरजोहरणा भैक्ष्य-भुजो लुञ्चितमूर्द्धजाः ।
श्वेताम्बराः क्षमाशीला, निस्सङ्गा जैन साधवः ।।255।।

(भ) आचार्य उपाध्याय सिवाय बीजा यतिए तेमज गीतार्थे हीरागल (रेशमी) वस्त्र तथा शणनुं वस्त्र न वहोरवुं । कदाच आचार्यादिके दीधुं होय तो पण उपर न ओढवुं, कैशरियुं वस्त्र होय तो तेनो वर्ण-परावर्तन करी नांखवो, बीजा पण पीतवर्णवाला वस्त्र न ओढवा ।

- श्रीमद् विजय देवसूरिजी महाराज द्वारा वि.सं. 1677 वैशाख सुदि 7 'सावली नगर'में रचित साधुमर्यादा पट्टक'
- मर्यादा क्रम 88 ('जैन धर्म प्रकाश'-भावनगर के पुस्तक 31 वि.सं. 1972 मागशीर्ष महिने के नौवें अंकमें प्रकाशित)

(म) अनाचारमालम्बमानस्तत्सेवी तु विराधक एवं सालम्बन-परवशादिना यतनया सेवमानो भवति शम्बलः । आलम्बनानि तु छेदग्रन्थटीकादिभ्योऽवसेयानि परं तत्रापि ''न किंचि अणुण्णायं'' इति वचनात् नोपदेशप्रवर्तकोऽत एव शबलः ।(प्रायश्चित्ती)

-दशाश्रुतस्कंध - 3 टीका तृतीय पत्र, उद्धृत शास्त्रार्थ दिग्दर्शन पृ. 86 से 117

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. प्रतिक्रमण में श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता और भुवनदेवता का कायोत्सर्ग[A] और स्तुति[B], लघुशान्ति[C], बडी शांति[D] का पाठ-विधान जिनागम-पंचांगी और प्राचीनाचार्य-प्रणीत प्रामाणिक ग्रन्थो में नहीं है। अतः प्रतिक्रमण में इनका करना और कहना अशास्त्रीय और दोषपूर्ण है। किन्तु साधु-साध्वी के लिये पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ''दुक्खक्खय कम्मक्खय'' के कायोत्सर्ग के बाद आज्ञा निमित्तक भुवनक्षेत्र देवता का कायोत्सर्ग अदोष है।[E]

A. आ. मेस्तुंगसूरिकृत लघुसत्पदी एवं आ. महेन्द्रसूरिकृत बृहत्सत्पदी

-विचार क्र.19, आवश्यक चूर्णि

B. (a) श्री शाकंभरी नगरमां मरकीनो उपद्रव थयो हतो. ते बाबते संघे नाडोल नगरमां बिराजमान श्रीमानदेवसूरिने अरज करी. दयाळु सूरिजीए आ शांति बनावी मोकली. तेथी मरकी शांत थई. आ स्तोत्रने भणवाथी, सांभणवाथी तथा तनुं मंत्रित जण छांटवाथी अनेक प्रकारना उपद्रवो दूर थाय छे अने शांति फेलाय छे. आ लघुशांति प्रतिक्रमणमां दाखल थयाने लगभग 500 वर्ष थयां. आने माटे वृद्धो एम कहे छे के - उदयपुरमां एक यतिजी हता तेमनी पासे श्रावको वखतोवखत शांति सांभणवा आवता. आथी यतिजी कंटाळ्या, तेथी तेमणे ते प्रतिक्रमणमां छेवटे दाखल करावी जेथी सौ सांभळी शके एम ठराव्युं त्यार पछी ते रिवाज चालु थयो.

- जैन शास्त्रशिक्षणमाला - त्रीजी चोपडी पृ. 130, प्रकाशित - जैन श्रेयस्कर मंडल - महेसाणा

(b) वृद्धवाद एवो छे के आ स्तव (लघुशांति)नी रचना थयां पछी मांगलिकने माटे सर्वत्र आ स्तव भणवामां आवतो, परंतु आजथी लगभग पांचसो वर्ष अगाउ एक यति उदयपुरमां रह्या हता. तेमनी पासे श्रावको वारंवार मांगलिकना अर्थे आ स्तव सांभणवा आवता, तेथी यतिनो सर्व वखत तेमां जवा लाग्यो. तेथी तेमणे प्रतिक्रमणमां दुक्खक्खयना कायोत्सर्गने अंते आ स्तव कहेवानो ठराव कर्यो. त्यारथी ते रिवाज प्रचलित थयो छे.

-देवसिराइप्रतिक्रमण सूत्र (शब्दार्थ, अन्वयार्थ और भावार्थ) द्वितीयावृत्ति पृ. 179 जैन रत्न कार्यालय से वि.सं. 2004 में प्रकाशित

C. 'बृहच्छान्तिस्तोत्र' प्रतिष्ठा, यात्रा और स्नात्रपूजादि के अन्त में शान्ति होने के निमित्त बनाया गया है। प्रतिक्रमण में उसके पाठ मात्र से कोई लाभ नहीं होता।

जो स्तोत्र जिस विधि से कहने का कहा गया हो, वह उसी प्रकार की विधि विधान से लाभकारक होता है। 'बृहच्छान्तिस्तोत्र' में ही इसकी विधि बताई गई है कि –

'इति भव्यजनैः सह समेत्य, स्नात्रपीठे स्नात्रं विधाय शांतिमुद्घोषयामि, तत्पूजायात्रास्नात्रादि-महोत्सवानंतरमिति कृत्वा कर्णं दत्वा निशम्यतां निशम्यतां स्वाहा।

एषा शान्तिः प्रतिष्ठायात्रास्नात्राद्यवसानेषु शान्तिकलशं गृहीत्वा कुंकुम चन्दनकर्पूरागरधूपवास-कुसुमाञ्जलिसमेतः स्नात्रचतुष्किकायां श्री सङ्घसमेतः शुचिशुचिवपुः पुष्पवस्त्रचन्दना भरणालंकृतः पुष्पमालां कण्ठेकृत्वा शान्तिमुद्घोषयित्वा शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमिति।

नृत्यन्ति नृत्यं मणिपुष्पवर्षं, सृजन्ति गायन्ति च मङ्गलानि।
स्तोत्राणि गोत्राणि पठन्ति मन्त्रान्, कल्याणभाजो हि जिनाभिषेके॥

अर्थात् 'बृहच्छान्तिस्तोत्र' में लिखा है - कि यह शांति स्नात्रपीठे स्नात्र करके, प्रतिष्ठा, यात्रा तथा स्नात्रोत्सव आदि के अंत में अवश्य कहना चाहिए। स्नानपूर्वक अबोट वस्त्र, चन्दन, माला और अभिरणादि से अलंकृत होकर एक श्रावक पवित्र जलपूर्ण कलश और कुंकुम, केशर, बरास आदि सामग्री साथ लेकर संघ के सहित प्रतिष्ठा या स्नात्रमंडप में आकर कलश को स्थापन करके शान्तिपाठ बोले। फिर कलश की केशर आदि से पूजा करे। तदनन्तर कलश को किसी पवित्र सधवा या कुमारी कन्या के सिर पर रखकर नृत्य करावें, मणिपुष्पों की वर्षा करें, मांगलिक गीत गवावे, कुसुमांजली उछाले और जिनेश्वर नाम, गोत्र के गर्भित स्तोत्र भणे। इस विधि से शान्तिपाठ कहा जाय तभी वह कार्यकारी होता है।

– बृहद् शांति स्तोत्र सार्थ

प्रतिक्रमण में त्यागी साधु या श्रावक (सामायिक विरतिवान) के पास न तो उपरोक्त उचित सामग्री होती है और न यह विधि करना उचित है अतः आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक दीपिका, साधु प्रतिक्रमण सूत्र आदि किसी भी प्राचीन ग्रंथ में प्रतिक्रमण में बृहतशांतिस्तोत्र बोलने की विधि नहीं कही है अतः आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरिने इसका निषेध किया है।

D. चउम्मसीए य वरिसे मुसग्ग खित्तदेवयाए पक्खि। य सिज्जसुराए करिंति चउमासीए एए॥

टीका - चाउम्मासीय संवच्छरीएसु सव्वे वि मूलगुण-उत्तरगुणकाउसग्गं दाऊण पडिक्कमंति खित्तदेवयाए उस्सग्गं करिन्ति। केई पुण चाउम्मासिगे सिज्जोदेवियाए वि काउस्सग्गं करिंति इत्यादि....।

- आवश्यक निर्युक्ति मूळ अने टीका - उद्धृत 'सिद्धान्त प्रकाश' पृ. 52

E. विचारामृत संग्रह- श्री कुलमंडनसूरिजी (चतुर्थ स्तुतिनिर्णय शंकोद्धार पृ. 170)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. ऋद्धिसंपन्न और ऋद्धिरहित दोनों प्रकार के श्रावकों को सामायिक दंडकोच्चार के बाद इरियावही करने का शास्त्रों का आदेश है। क्योंकि इसके लिये तिविहेण साहुणो नमिऊण सामाइयं करेइ करेमि भंते एवमाइ उच्चरिऊण ईरियाविहयाए पडिक्कमइ। -इत्यादि आगम-टीका-ग्रन्थों का वचन प्रमाण है। अतएव प्रथम त्रियोग से गुरुवंदन करके सामायिक उच्चार के बाद ईरियावही प्रतिक्रमण करना चाहिए।[7]
8. इस नियम में साधु-साध्वी के आहार, विहार, वस्त्र, उपधि एवं अन्य साध्वाचार के विधि-निषेधोंका वर्णन है।[8]
9. श्री जिनेश्वरों की प्रतिमा और उनकी पूजनविधि मूल सूत्रों व उनकी टीका, भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णी-टब्बाओं में कई स्थानों पर प्रतिपादित है। इसलिए जिनप्रतिमा का तद्वत् भक्तिभाव सहित दर्शन-पूजन आदि करना आत्महितकर है।[9]

---

7. (अे) इड्ढिपत्तो सामाइयं करेइ, अणेण विहिणा 'करेमिभंते' सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामित्ति काऊण पच्छा इरियं पडिक्कंतो वंदित्ता पुच्छति पढति वा।

- आवश्यक टीका

(बी) वंदिऊण य छोभवंदणेण गुरुं, संदिसाविउण सामाइयमणुकड्ढिय (जहा) करेमिभंते! सामाइयं (इत्यादि) तओ इरिया पडिक्कमिय आगमणमालोएइ पच्छा जहाजेट्ठं साहुणो वंदिउण पढइ सुणइ वा।

- श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि

(सी) तिविहेण साहुणो नमिऊण सामाइयं करेमिभंते! एवमाइ उच्चरिऊण तओ इरियावहियाए पडिक्कमइ आलोएत्ता वंदित्ता आयरियाइ जहा रायणिए पुणरवि गुरुं वंदित्ता पडिलेहित्ता णिविट्ठो पढति पुच्छति वा।

-पञ्चाशक चूर्णि

8. इस हेतु जिज्ञासु को श्री राजेन्द्रगुणमञ्जरी द्रष्टव्य है।
9. (क) विज्जाचारणस्सणं भंते! तिरियं केवइए गइविसए पण्णत्ते? गोयमा! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइआइं वंदइ, वंदित्ता वितिएणं उप्पाएणं नंदीसरवरे दीवे समसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ। वंदित्ता तओ पडि नियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता इहमागच्छइ, आगच्छत्ता इहं चेइआइं वंदइ।
विज्जाचारणस्सणं भंते। उड्ढं केवइए गइविसए पण्णते? गोयम! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं नंदणवणे समोसरणं करेइ। करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदित्ता वितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ। वंदित्ता तओ पडिनियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता इहमागच्छइ, आगच्छइत्ता इहं चेइयाइं वंदइ।

-श्री भगवती सूत्र मूलपाठ, 20 वाँ शतक, 9 वाँ उद्देशा, 683-684 सूत्र।

(ख) अंबडस्स णं णो कप्पइ अन्नउत्थिया वा, अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहयाणि वा, चेइयाइं वंदित्तए वा, णमंसित्तए वा, जाव पज्जुवासित्तए णण्णात्थ अरिहंते अरिहंत चेइयाणि वा।

- श्री उववाइ-सूत्र-मूलपाठ पत्र 87 -अंबडाधिकार।

(ग) नो चेव णं समणोवासगं पच्छाकडं बहुस्सुयं बज्जागमं पासेज्जा, जत्थेव सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए वा जाव पडिवज्जित्तए वा।

-श्री व्यवहारसूत्र-मूल पाठ 1 उद्देशा।

(घ) दोवइरायवरकन्ना जेणेव... -पडिनिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता जिणघरं अणुपविसइ। अणुपविसित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता लोमहत्थयं परामुसइ। एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणियव्वं। जाव धूवं डहई, धूवं डहित्ता वामं जाणुं अंचेइ, दाहिणं जाणु धरणितलंसि णिवेसेइ। णिवेसित्ता तिखुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि नमेइ। नमेइत्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमित्ता करयल जाव कट्टु एवं वयासी नमुत्थुणं, अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता जिणघराओ पडिनिक्खवमइ।"

- श्री ज्ञातासूत्र मूलपाठ - 16 अध्ययन, 210 पत्र।

(ङ) तत्थणं बहवे भवणवइ - वाणमंतर - जोइसिय-वेमाणिया देवा चाउम्मासियपडिवएसु संवच्छरिएसु वा अन्नेसु य बहुसु जिणजम्मण-निक्खमण-नाणुप्पत्ति - परिनिव्वाणमाइसु देवकज्जेसु य देवसमुदएसु य देवसमितिसु य देवसमवाएसु य देवपओयणेसु य एगंतओ सहिता समुवगता समाणा पमुदियपक्कीलिया अट्ठाहियास्वाओ महामहिमाओ करेमाणा पालेमाणा सुहंसुहेण विहरंति।

- श्री जीवाभिगम सूत्र-मूलपाठ, 3 प्रतिपत्ति, 2 उद्देशा।

(च) श्री संपति राजाने सवाक्रोड जिनबिंब एवं सवालाख जिनमंदिर बनवाये

- श्री कल्पसूत्र बालवबोध-प्रथमावृत्ति पृ. 216

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट क्र. 3

सहायक सन्दर्भग्रन्थ सूची

अंगुत्तर निकाय :
भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रथम संस्करण, प्रकाशक - महाबोधि सभा, कलकता
अजाहरा पार्श्वनाथ चरित्र
ले. मणिलाल न्यालचंद शाह
प्रथमावृत्ति वि.सं. 2029, प्र. श्री अजाहरा पार्श्वनाथजी पंचतिर्थी जैन पेढी, उना (सौराष्ट्र)
अनगार धर्मामृत :
पं. आशाधर, प्रथमावृत्ति-सन् 1972, प्रकाशक-भारतीय दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुम्बई
अनुयोगद्वार सूत्र :
आगमोदय समिति, प्रथमावृत्ति-वीर सं. 2450, अहमदबाद
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, स्याद्वादमञ्जरी (टीका) :
आचार्य हेमचन्द्र सूरि, टीका-आचार्य मल्लिषण सूरि, द्वितीयावृत्ति-सन् 1935, सम्पादक-डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्रकाशक - श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास
अभिधान चिन्तामणि नाममाला :
कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 2002, प्रकाशक-श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्थान, मुम्बई
अभिधान राजेन्द्र कोशः
श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि, प्रथमावृत्ति- श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, रतलाम; द्वितीयावृत्ति- सन् 1986, श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद
अभिधान राजेन्द्र कोश : એક અનુચિંતન
ले. मुनिराजश्री जयंतविजय 'मधुकर' प्रथमावृत्ति - डिसेम्બર-1979 सं.-पं. अंबालाल प्रेमचंद शाह, प्र. श्री मणिलाल साજીજી स्मारક समिति अलंकार चेम्બर्स, गोलवाડ, रतनपोળ, अमदावाद-1.
अभिधान राजेन्द्र कोश में जैन दर्शन वाटिका :
साध्वी डॉ. प्रिय-सुदर्शनाश्री, प्रथमावृत्ति-सन् 1999, मुद्रक-पारदर्शी प्रिंटर्स, उदयपुर (राज.), प्रकाशक-बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट, 12, नगीना महल वीरनरीमन रोड, मुम्बई-20
अमर कोश :
पं. अमरसिंह, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
अष्टक प्रकरण :
आचार्य हरिभद्रसूरि, द्वितीयावृत्ति - वि.सं. 2040, प्रकाशक- श्री षड्शाशक प्रकाशन समिति, सिसोदरा (गुजरात)
अष्ट पाहुड :
श्री कुन्दकुन्दाचार्य, प्रथमावृत्ति- वीर नि. सं. 2497, टीकाकार-पं. श्री जयचन्द्र छाबडा, प्रकाशक- श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई
अहिंसा की पुकार :
द्वितीयावृत्ति- सन् 1957, प्रकाशक- सिद्धसेन जैन गोयलीय अखिल विश्व जैन मिशन, सलाल (जिला-साबरकांठा), गुजरात
आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन :
साध्वी डॉ. प्रियदर्शनाश्री, प्रथमावृत्ति-सन् 1995, प्रकाशक-पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस एवं राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, अहमदाबाद.
आचारांग चूर्णि :
जिनदास गणिवर्य, प्रकाशक-ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम
आचारांग वृत्ति एवं निर्युक्ति :
शीलांकाचार्य एवं भद्रबाहु, प्रथमावृत्ति-1917, आगमोदय समिति, महेसाणा
आचारांग सूत्र :
अनुवादक-सौभाग्यचन्द्रजी महाराज, संपादक - बसंतीलाल नलवाया, प्रथमावृत्ति - 1950, प्रकाशक- जैन साहित्य समिति, उज्जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग सूत्र (सार्थ) :
प्रवर्तक - प्रो. खजीभाई देवराज, प्रथमावृत्ति-1906, प्रकाशक-जैन स्कोलर्स मोरबी, कठियावाड (गुजरात)
आचारसार :
आचार्य वीरनंदि सिद्धांत चक्रवर्ती, प्रथमावृत्ति-सन् 1992, प्रकाशक-दिगम्बर जैन समाज, अशोकनगर
अध्यात्म शांतिसागर अने आगमप्रभा :
प्रकाशक - पं. शांतिलाल केशवलाल, अमदावाद, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2046, मुद्रक-नयन प्रिन्टींग प्रेस, अमदावाद.
आध्यात्मिक विकास की भूमिकाएँ और पूर्णता :
आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि, प्रथमावृत्ति-सन् 1998, प्रकाशक-राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
आवश्यक निर्युक्ति दीपिक भाग-1-2:
जिनभद्रगणि, 1939 प्रकाशक-गुलाबचन्द लल्लुभाई, भावनगर
इत्तिवुत्तक :
अनुवाद - भिक्षु धर्मरत्न, प्रथमावत्ति-बुद्धाब्द-2499, प्रकाशक-महाबोधिसभा, सारनाथ, बनारस
ईसा दर्शन :
योहन फाईन, 1968, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
उत्तराध्ययनसूत्र :
संपादक-पन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणि, प्रथम संस्करण - वि.सं. 2024, प्रकाशक-लब्धिभुवन जैन साहित्य सदन, छाणी, गुजरात
उपदेशमाला :
क्षमाश्रमण धर्मदास गणि, प्रथमावृत्ति-1971, अनुवादक-पद्मविजय, संपादक-नेमीचंद, निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
उपनिषद् ज्योति :
संपादक- पटेल मगनभाई चतुरभाई, प्रथमावृत्ति-1929, अहमदाबाद
उपनिषद् समुच्चय:
संपादक- स्वामि शिवानन्दजी आंग्रोली : प्रथमावृत्ति - 1960, शिवाश्रम
उपासकदशांग सूत्र बालावबोध :
प्रथमावृत्ति-वि.सं. 2054, प्रकाशक- श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
उपासना कक्ष:
प्रकल्प आ. श्री महाप्रज्ञ, युवाचार्य श्री महाश्रमण, प्रथमावृत्ति-नवम्बर 1999,
कल्पसूत्र बालावबोध :
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 1944, प्रकाशक- श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (राज.)
कल्पसूत्र बालावबोध (हिन्दी) :
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वर जी, हिन्दी आवृत्ति - आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी, प्रकाशक- श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, श्री राजेन्द्र सूरि ज्ञानमंदिर, राजेन्द्र सूरि चौक, रतनपोल, अहमदाबाद
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी :
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि, प्रथमावृत्ति-सन् 1933, प्रकाशक - श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (राज.)
कार्तिकेय अनुप्रेक्षा :
आचार्य स्वामी कार्तिकेय, तृतीयावृत्ति-वीर नि. सं. 2505, भाषाटीका-पं. जयचन्द्र छाबडा, प्रकाशक- श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)
कुरआन मजीद, हिन्दी :
अनुवादक- फतेह मुहम्मद खाँ साहब, जालन्धरी, प्रकाशक-फरीद बुक डिपो, देहली-6
कुरान सार :
विनोबा भावे, प्रथम संस्करण-1968, यज्ञ प्रकाशन, बडोदरा (गुजरात)
गच्छाचार पयन्ना, संस्कृत छाया :
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि, संपादक-उपाध्याय श्री गुलाबविजयजी, द्वितीयावृत्ति-वि.सं. 2048, प्रकाशक-शाह अमीचंदजी नाराजी दाणी, धाणसा (राज.)
गुणस्थानक्रमारोह :
सूरितिलक श्री रत्नशेखरसूरि, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 2038, प्रकाशक-दिव्यदर्शन ट्रस्ट, अहमदाबाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुगुणषट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकाकुलकम् । :

श्री हेमतिलकसूरि, वृत्तिकार-श्री रत्नशेकरसुरी, प्रकाशक - श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर । वि.सं. 1971

गुरुणी श्रीहेतश्री पुण्य-स्मारिका ग्रंथ :

सम्पादिका-साध्वी मुक्तिश्रीजी, प्रथमावृत्ति-सन् 1988, प्रकाशक-आहोर श्रीसंघ (राज.), मुद्रक-गुप्ता प्रिंटिंग प्रेस, उज्जैन (म.प्र.)

गोम्मटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड), सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषा टीका सहित) :

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, भाषा टीका- पं. टोडरमलजी, प्रथमावृत्ति-1989, प्रकाशक - श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर

गौतमपृच्छा :

पूर्वाचार्य, प्रकाशक - चिनुभाई त्रिकमलाल शाह, ढालनी पोल, अहमदाबाद। वि.सं. 1957

ग्लासरी ओफ इण्डियन लोजिक :

प्रकाशक : इंटरनेशनल अकादमी ओफ इण्डियन कल्चर, दिल्ली

चरक संहिता :

सम्पादक - पं. सत्यनारायण शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ओफिस वाराणसी

चरित्रचतुष्टयम् :

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि जैन ग्रंथमाला, पुष्प-32, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 1984, मुद्रक-आनंद प्रिंटिंग प्रेस, भावनगर, प्रकाशक - शाह सूरसिंग जीवराज ऊमा जी, सियाणावाला

चाणक्य का राजनीतिशास्त्र :

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी

छहढाला :

कविवर पं. दौलतरामजी, द्वादशावृत्ति-वीर सं. 2515, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

छान्दोग्य उपनिषद् :

गीता प्रेस, गोरखपुर

जिनवरस्य नयचक्रम् :

डो. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रथमावृत्ति-1982, प्रकाशक-पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर (राज.)

जिनागमसार :

संकलन एवं संपादन - पवन जैन, प्रथमावृत्ति-अक्टूबर 1996, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, 32, गांधीरोड, देहरादून

जिनेन्द्र पूजा संग्रह :

संपादक-आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरि, सप्तमावृत्ति - वि.सं. 2045, प्रकाशक-श्री राजेन्द्रसूरि साहित्य प्रकाशन मंदिर, रतनपोल, श्री राजेन्द्र चौक, अहमदाबाद (गुज.)

जीवन प्रभा :

मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी, प्रथमावृत्ति - सन् 1916, मुद्रक -निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, प्रकाशक-शाह जवानमल चमना जी पोरवाड, वागरा (राज.)

जीवन विज्ञान, प्रेक्षा ध्यान एवं योग :

लेखक-डो. बी.पी. गौड एवं सुश्री हेमलता जोशी, संस्करण 2003, जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ, राजस्थान

जैन दर्शन में सम्यक्त्व का स्वरूप :

साध्वी डो. सुरेखाश्रीजी, प्रथमावृत्ति - सन् 1998, प्रकाशक-विचक्षण स्मृति प्रकाशन, जयपुर (राज.)

जैन धर्म और दर्शन :

मुनि प्रमाणसागरजी, संशोधित संस्करण- सन् 1998, प्रकाशक-श्री दि. साहित्य प्रकाशन समिति, बरेला, जबलपुर (म.प्र.)

जैन धर्म का परिचय :

आचार्य श्रीमद्विजय भुवनभानु सूरि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2048, प्रकाशक-दिव्य दर्शन ट्रस्ट, 868, कालुशानी पोल, कालुपुर, अहमदाबाद

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग 1 एवं भाग 2 :

डो. सागरमल जैन, प्रथमावृत्ति - सन् 1982, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राज.), प्रा. पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी

જૈન પરમ્પરાનો ઈતિહાસ, ભાગ 1-2-3 :

મુનિત્રયશ્રી દર્શન-જ્ઞાન-ન્યાય વિજય, ત્રિપુટી મહારાજ, પ્રથમ સંસ્કરણ-1960, પ્રકાશક શ્રી ચારિત્ર સ્મારક ગ્રંથમાલા, નાગજી ભૂધરની પોળ, માંડવીની પોળ, અમદાવાદ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास - भाग-4

डो. मोहनलाल मेहता, प्रकासक - पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी-प्रथमावृत्ति-सन्-1968

जैनाचार विज्ञान :

मुनि सुनीलसागर, प्रकाशक-कुन्दकुन्द विद्यापीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर-1

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1-4 :

जिनेन्द्र वर्णी, प्रथमावृत्ति-1973, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश :

जिनेन्द्र वर्णी, द्वितीयावृत्ति - सन् 1985, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली

ज्ञानसाराष्टक :

महोपाध्याय श्रीयशोविजयजी, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 1994, प्रकाशक - श्री केशरबाई जैन ज्ञानमंदिर, पाटण (गुज.)

ज्ञानार्णव :

श्री शुभचन्द्राचार्य, भाषाटीका-श्री पन्नालाल कासलीवाल, पंचमावृति - सन् 1981, प्रकाशक-श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास

तत्त्वार्थ भाष्य :

वाचक श्रीमद् उमास्वाति महाराज, हिन्दी अनुवाद - पं. खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रथमावृत्ति-वि. सं. 1989, प्रकाशक-श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, जौहरी बाजार, खारा कुँवा, मुम्बई-2

तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति :

आचार्य हरिभद्रसूरि, प्रकाशक-ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर पेढी, रतलाम (म.प्र.)

तत्त्वार्थसूत्र : सर्वार्थसिद्धि टीका :

टीकाकार-पूज्यपाद, संपादक-शास्त्री फूलचन्द, द्वितीय संस्करण-1971, वाराणसी भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र, गुजराती विवेचन :

આચાર્યશ્રી રાજશેખરસૂરિ, તૃતીયાવૃત્તિ-વિ.સં. 2048, પ્રકાશક-શ્રી જૈન શ્રેયસ્કર મંડળ, મહેસાણા, ગુજરાત

तत्त्वार्थसूत्र, भाष्य :

भाष्यकार-आचार्य सिद्धसेन गणि, संपादक-कापडिया हीरालाल रसिकलाल, प्रथम संस्करण-1915, जीवनचन्द साकरचन्द झवेरी, बम्बई

तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्तिक :

वार्तिककार-अक्लंक देव, संपादक-जैन महेन्द्रकुमार भाग-1-2, प्रथमावृत्ति-1953, 1957, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

तत्त्वार्थ सूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका :

आचार्य पूज्यपाद, प्रथमावृत्ति - सन् 1989, भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली

तण्डुलवैचारिक-प्रकीर्णक :

श्रुतस्थविर, संपादक-आचार्य श्रीमद्विजय जिनेन्द्रसूरि, प्रकाशक-हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखा बावल, शांतिपुरी, (जि. जामनगर) सौराष्ट्र

तपागच्छ पट्टावली :

श्री धर्मसागरजी, संपादक-पन्यास श्री कल्याणविजयजी, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 1996, प्रकाशक-विजयनीति सूरिश्वर जी जैन लाईब्रेरी, अहमदाबाद

तिलोय पण्णत्ति :

प्रथमावृत्ति-वि.सं. 1999, प्रकाशक-जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर

तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ :

डो. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रथमावृत्ति - 1974, प्रकाशक-पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर

थेरगाथा :

अनुवादक - भिक्षु धर्मरत्न, प्रथमावृत्ति - सन् 1955, प्रकाशक-महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

દરેક ધર્મની દૃષ્ટિએ અહિંસાનો વિચાર :

લે. આચાર્ય શ્રીમદ્ વિજયમિત્રાનંદસૂરિ, પ્રથમાવૃત્તિ, પ્ર. શ્રી પદ્મવિજયજી ગણિવર જૈન ગ્રંથમાળા ટ્રસ્ટ, શાહપુર, અમદાવાદ.

दशवैकालिक सूत्र-सार्थ :

श्री शय्यम्भवूरि जी, प्रथमावृत्ति-वीर सं. 2516, संपादक-मुनि श्री जयानंद विजयजी, प्रकाशक-श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल (गुज.)

दानधर्म :

मुनिप्रवर पुण्यकुशल गणि, संपादक-आ. विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2040, प्रकाशक- श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक-133, लाखा बावाल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देववंदनमाला :
संपादक-आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि, द्वितीयावृत्ति - वि.सं. 2048, प्रकाशक- श्री राज राजेन्द्र साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
द्रव्यानुयोग तर्कणा :
श्री भोजकवि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2432, प्रकाशक श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका :
आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 2008, प्रकाशक-श्रीमद्विजय लावण्यसूरि ज्ञानमंदिर, बोटाद (सौराष्ट्र)
धनंजय नाममाला :
महाकवि धनञ्जय, द्वितीयावृत्ति-2037, प्रकाशक- श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखा बावल, शांतिपुरी (जि. जामनगर) सौराष्ट्र
घनसार और अघटकुंवर चोपाई :
श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी एवं मुनि धनविजय जी, वि.सं. 1964, मुद्रक-जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम, म.प्र.
धम्मपद :
अनुवादक-राहुलजी, प्र. बुद्ध विहार, लखनऊ
धरती के फूल :
मुनि श्री देवेन्द्र विजयजी, प्रथमावृत्ति-वि.सं. 2034, प्रकाशक-राजेन्द्र विहार दादावाडी, तलेटी रोड, पालीताणा (सौराष्ट्र)
धर्मरत्न प्रकरण :
श्री शान्तिसूरि, वि. सं. 2038, प्रकाशक-दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 39, कलिकुंड सोसायटी, धोलका (गुज.)
धर्मसंग्रह :
पाठक मानविजयजी महाराज, भाषान्तर - श्री भद्रंकरविजयजी, द्वितीयावृत्ति-वि.सं. 2012, प्रकाशक- शाह अमृतलाल जेसींग भाई, कालुपुर, जहाँपनाहनी पोल, अहमदाबाद
नंदिसुत्तं-अणुओगदाराइं :
संपादक-पुण्यविजयमुनि, मालवणिया: दलसुख अमृतलाल, प्रथम संस्करण-1968, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
नियमसार :
कुंदकुंदचार्य, सम्पादक - ब्र. - शीतल प्रसाद, प्रथमावृत्ति-1961, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
निर्युक्ति संग्रह :
श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी, प्रथमावृत्ति - सन् 1979, संपादक - श्रीमद्विजय जिनेन्द्रसूरि, प्रकाशक- श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखा बाखल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र)
निशीथसूत्र, चूर्णि, भाग 1-4 :
विसाह गणि, चूर्णि - जिनदास महत्तर, सम्पादक-अमर मुनि कन्हैयालाल
नीति शिक्षा-द्वय पच्चीसी :
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि, प्रथमावृत्ति -सन् 1992, प्रकाशक - श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, अहमदाबाद-1
न्याय दर्शन, वात्स्यायन भाष्य सहित:
सम्पादक-शास्त्री दुण्ढिराज, द्वितीय संस्करण-1970, वाराणसी चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी
न्यायाचार्य डो. दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रंथ :
प्रथमावृत्ति-सन् 1982, प्रकाशक-कोठिया अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशन समिति, वाराणसी, मुद्रक: महावीर प्रेस भेलपुर, वाराणसी,
पंचाध्यायी :
कविवर पं. राजमलजी, संपादक-फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रथमोवृत्ति-वीर निर्वाण सं. 2476, भाषाटीका पं. देवकीनन्दन जी सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक- श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, बनारस
पञ्चास्तिकायसार :
कुंदकुंदचार्य, सम्पादक - चक्रवर्तिनयनर, 1920, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा
पञ्चवस्तु, भाषांतर :
आचार्य हरिभद्रसूरि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 1993, प्रकाशक श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेतांबर संस्था
पञ्चप्रतिक्रमण सूत्रं :
सम्पादक-उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी, प्रकाशक-कान्ति प्रकाशन, बाडमेर
पञ्चसप्ततिशत स्थान चतुष्पदी :
आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी, प्रथमावृत्ति - सन् 1935, प्रकाशक-श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, मु. खुडाला (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चशकशास्त्र सारांश :
आचार्य श्री हरिभद्रसूरि, द्वितीयावृत्ति - वि.सं. 2004, प्रकाशक - श्री सिद्धचक्र साहित्य समिति, सूरत
पण्णवणा सुत्तं भाग 1-2 :
संपादक - पुण्यविजय, प्रथम संस्करण-1925, 1927, मुद्रक - मालवणिया दलसुख अमृतलाल बम्बई:
महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
પરમ યોગીશ્વર :
લે. મુનિ શ્રી જયન્ત વિજયજી 'મધુકર', પ્રથમવૃત્તિ-વિ.સં. 2035, પ્રકાશક - શ્રી રાજેન્દ્ર જૈન નવયુવક પરિષદ, અમદાવાદ (ગુજરાત)
पर्वकथा संचय :
संपादक-मुनिराजश्री देवेन्द्रविजय जी, प्रथमावृत्ति-अगस्त 1971, प्रकाशक- श्री राजेन्द्र विहार संस्था, तलेटी रोड, पालीताणा (सौराष्ट्र)
पाइय सद्द महण्णव :
पं. हरगोविन्ददास त्रिकमचंद शेठ, प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीयावृत्ति-सन् - 1963
पातञ्जल योगदर्शन (व्यासभाष्य सहित) :
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय :
श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2029, भाषाटीका - पं. टोडरमल जी, प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)
प्रतिभा शतक (ગુજરાતી વિવેચનયુક્ત) :
લે. મહોપાધ્યાય શ્રી યશોવિજયજી , અનુવાદ - મુનિ અજિતશેખર વિજય (શિ.આ. ભુવનભાનુસૂરિ)
પ્રકાશક - શ્રી અંધેરી ગુજરાતી જૈન સંઘ, 106, એસ.વી. રોડ, ઈર્લા બ્રીજ, મુંબઈ - 36.
प्रभुस्तवन सुधाकर :
संपादक-मुनि श्री देवेन्द्रविजयजी, द्वितीयावृत्ति-सन् 1973, प्रकाशक - श्री राजेन्द्र विहार, दादावाडी, पालीताणा (गुजरात)
प्रमाण मीमांसा :
आचार्य हेमचंद्र सूरि, सं.- पं. सुखलालजी संघवी, प्रथमावृत्ति - वि.सं, 1986, प्रकाशक - सिंधी जैन ज्ञानपीठ, कलकता
प्रवचनसार :
कुंदकुंदचार्य, सम्पादक - उपाध्यये आदिनाथ, तृतीयावृत्ति-1964, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास
प्रवचनसारोद्धार :
आचार्य नेमिचन्द्रसूरि, प्रथमावृत्ति - सन् 1941, प्रकाशक-जीवनचन्द झवेरचन्द झवेरी, मुद्रक-निर्णयसागर प्रेस मुम्बई
प्रशमरति प्रकरण :
वाचक श्रीमद् उमास्वाति, प्रथमावृत्ति - सन् 1950, प्रकाशक - श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, झवेरी बाजार, मुम्बई-2
बारसाणुवेक्खा :
कुंदकुंद आचार्य, प्रथमावृत्ति - 1991, प्रकाशक - पं. टोडरमल स्मरक ट्रस्ट, ए-4, बापूनगर, जयपुर
वृहद् द्रव्यसंग्रह :
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2033, टीकाकार - श्री ब्रह्मदेव, भाषाटीका- पं. राजकिशोरजी जैन, प्रकाशक- श्री वीतराग सत्यसाहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, भावनगर
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य सहित :
अनुवादक - स्वामी सत्यानंद सरस्वती, प्रथम संस्करण, गोवंद मठ, टेडी नीम, वाराणसी
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य सहित :
संपादक-शास्त्री हुण्ढिराज, प्रथमावृत्ति-1929, चौखम्बा सीरिज ओफिस वाराणसी
भगवती आराधना :
अपराजितसूरि, सन् 1941, प्रकाशक-जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर
भगवती सूत्रवृत्ति :
अभयदेवसूरि, अनुवादक-बेचरदास जीवराज, प्रथमावृत्ति-1913, जैनागम प्रकाशन संस्था, बम्बई
भगवद्गीता रहस्य :
तिलक बालगंगाधर अनुवादक-त्रिवेदी उत्तमलाल के., द्वितीयावृत्ति-1924, रामचन्द्र अने टिलक श्रीधर, पूना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागवत दर्शन :

भागवत दर्शन, 1963, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ

भारतीय दर्शन :

डॉ. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ओफिस, वाराणसी

भारतीय दर्शन का इतिहास भाग 1-7 :

प्रथमावृत्ति - 1979, वाराणसी भारतीय विद्या प्रकाशन

भावना भवनाशिनी :

श्री राजेन्द्र मुनि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2041, प्रकाशक - श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर

मनुस्मृति :

टीकाकार-पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री, प्रथमावृत्ति-1965, प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी

महापुराण :

आचार्य जिनसेन, प्रथमावृत्ति - सन् 1951, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस

महाभारत, अनुशासन पर्व, गुजराती अनुवाद :

संपादक - भट्ट मणिशंकर महानन्द, चतुर्थ संस्करण-1923, कालबादेवी रोड, बम्बई

महाभारत, भीष्म पर्व :

संपादक - शास्त्री गिरिजाशंकर मायाशंकर, द्वितीयावृत्ति-1941, सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, अहमदाबाद

महाभारत, वन पर्व :

संपादक- भट्ट मणिशंकर महानन्द, चतुर्थ संस्करण-1923, कालबादेवी रोड, बम्बई

महाभारत, शांति पर्व :

पुण्यपतनः शंकर नरहर जोशी, प्रथम संस्करण-1932, अनुवादक एवं संपादक-शास्त्री गिरिजाशंकर मायाशंकर, अहमदाबादः सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय पंचमावृत्ति-1926

मिला प्रकाश खिला बसंत :

आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2056, प्रकाशक - श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद

मूलाचार :

आचार्य वट्टकेर, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2447, प्रकाशक - माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई

मुहावरा कोशः

लेखक - हरिवंश राय शर्मा, संस्करण 1997, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली

यतिदिनचर्या :

श्री भावदेवसूरि, चूर्णिकार-श्री मतिसागरसूरि, प्रकाशक - श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बावल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), प्रथमावृत्ति-सन् 1967

यास्क निरुक्तः

सम्पादक - प्रो. उमाशंकर ऋषि, प्रथम संस्करण, 1961, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

योगदर्शन :

संपादक - शर्मा श्री राम, प्रथम संस्करण, 1964, बरेली संस्कृति संस्थान

योगासार :

आचार्य श्री अमितगति, प्रथमावृत्ति - सन् 1968, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

योगशास्त्र (हिन्दी अनुवाद सहित) :

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि, हिन्दी अनुवाद-मुनीश्री पद्मविजय जी, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2031, प्रकाशक-श्रीनिर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली-6

योगशास्त्र प्रकाशः

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्रसूरि, प्रथमावृत्ति 1983, प्रकाशक-श्री केशरबाई ज्ञान मंदिर, पंचासरा, पाटण (उ.गुजरात)

युगयुगनी याद :

संपादक - कीर्तिलाल हालचंद वोरा एवं वाघजीभाई बबलदास वोरा, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2044, प्रकाशक - श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक श्रीसंघ, थराद (गुजरात)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नकरण्डक श्रावकाचार :
स्वामी समन्तभद्र आचार्य, द्वितीयावृत्ति - जनवरी 1997, प्रकाशक-श्री वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, वीतराग विज्ञान भवन, पुरानी मण्डी, अजमेर (राज.)
राजेन्द्र कोश में 'अ' (प्रथम भाग) :
आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि, द्वितीयावृत्ति सन् 1997, प्रकाशक - श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, राजेन्द्र चौक, अहमदाबाद.
राजेन्द्र कोश में 'अ' (द्वितीय भाग) :
आचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरि, प्रथमावृत्ति-2001, प्रकाशक - वही
राजेन्द्र गुणमञ्जरी :
मुनि गुलाब विजयजी, प्रथमावृत्ति - सन् 1939, प्रकाशक - श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छ श्वेताम्बर जैन श्रीसंघ, आहोर (राज.)
राजेन्द्र ज्योतिः
प्रथमावृत्ति - सन् 1977, प्रकाशक - अखिल भारतवर्षीय श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद, मुद्रक-नईदुनिया प्रेस इन्दौर, प्राप्तिस्थान - अखिल भारतवर्षीय श्री राजेन्द्र जैन नवयुवक परिषद भवन, राजगढ (जिला-धार), म.प्र.
राजेन्द्रसूरि का रासः
(पाण्डुलिपि), श्री राजेन्द्र ज्ञान भण्डार, श्री राजेन्द्र पौषधशाला, कुक्षी, जिला-धार (म.प्र.)
राजेन्द्र सूर्योदय :
प्रकाशक-त्रण थुईनो समस्त संघ, प्रथमावृत्ति- अगस्त 1903, देशी मित्र मण्डल, सूरत (गुजरात)
रात्रिभोजन का रास :
श्री जिनहर्षसूरि, पाटण (उ.गु.), रचनाकाल-अषाढ वदि प्रतिपदा, वि.सं. 1759
रिसर्च ओफ डाइनिंग टेबल :
आचार्य श्रीमद्विजय हेमरत्नसूरि, सप्तमावृत्ति - वि.सं. 2054, प्रकाशक - श्री अर्हद् धर्म प्रभावक ट्रस्ट, बी.जी. टावर्स, अहमदाबाद
लोक प्रकाश भाग 1 (द्रव्यलोक) :
उपाध्याय मुनि श्री विनयविजयजी, प्रथमावृत्ति, सम्पादक-मुनि श्री वज्रसेन विजयजी, प्रकाशक-कोठारी मेरुलाल कन्हैयालाल रीलीजीयन ट्रस्ट, चंदनबाला, वालकेश्वर, मुम्बई-400006
लोकोक्ति कोश :
लेखक - हरिवंशराय शर्मा, संस्करण 1997, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली
लाही संहिता :
कवि राजमल जी, प्रकाशक - माणिकचन्द जैन ग्रंथमाला, मुम्बई
वसुनंदी श्रावकाचार :
आचार्य वसुनंदी, प्रथमावृत्ति - सन् 1992, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, नईदिल्ली
વિરલ વિભૂતિ :
કીર્તિલાલ હાલચંદ વોરા, થરાદ, દ્વિતીયાવૃત્તિ - સન્ 1922, પ્રકાશક - શ્રી જૈન સાહિત્ય અકાદમી, ગાંધીધામ (કચ્છ)
विशेषावश्यक भाष्य भाग-1-2 :
मलधारी हेमचन्द, अनुवादक - शाह चुन्नीलाल हुकमचंद, प्रथमावृत्ति - 1924, आगमोदय समिति, बम्बई :
विशेषावश्यक भाष्य, भाग-1-2 :
जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2039, प्रकाशक - दिव्यदर्शन ट्रस्ट
विश्वपूज्य :
साध्वी डो. प्रियदर्शनाश्री एवं डो. सुदर्शनाश्री, प्रथमावृत्ति - सन् 1998, मुद्रक - पारदर्शी प्रिन्टर्स 261, त्रम्बावती मार्ग, उदयपुर (राज.), प्राप्तिस्थान - शाह. देवीचंद छगनलाल, सदर बाजार, भीनमाल, जि. जालोर (राज.)
वैशेषिक दर्शन (प्रशस्तपादभाष्य सहित):
सम्पादक - शास्त्री दुण्ढिराज, प्रथम संस्करण-1966, वाराणसी चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी
व्रतविधान संग्रहः
पं. बारेलाल जैन (राजवैद्य), प्रकाशक - वैद्य बाबूलाल राजेन्द्रकुमार जैन, टीकमगढ (म.प्र.)
शंखेश्वर महातीर्थ :
મુનિશ્રી જયંત વિજયજી, ત્રીજી આવૃત્તિ, વિ.સં. 1967 પ્ર. શ્રી યશોવિજયજી જૈન ગ્રંથમાળા, ભાવનગર, ગુજરાત

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दरत्नमहोदधिः 1, 2, 3

संकलनकर्ता - श्रीमुनि विजयजी गणिवर, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2041, प्रकाशक - श्री विजयनीति सूरिश्वर जी जैन पुस्तकालय ट्रस्ट, अहमदाबाद

'शाश्वत-धर्म' मासिक, जनवरी-फरवरी, सन् 1990 : राजेन्द्र विशेषांक :

संपादक - जे.के. संघवी, शाश्वत धर्म कार्यालय, जामली नाका, - थाणे(महाराष्ट्र)

'शाश्वत धर्म' मासिक, जनवरी-फरवरी, सन् 1987 : श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरि विशेषांक :

संपादक - जे.के. संघवी, शाश्वत धर्म कार्यालय, जामली नाका, थाणे (महाराष्ट्र)

शासन प्रभावक श्रमण भगवन्तो :

संपादक-नंदलाल देवलुक, प्रथमावृत्ति, सन् 1990, प्रकाशक - श्री अरिहंत प्रकाशन, भावनगर-2 (सौराष्ट्र)

शास्त्रार्थ दिग्दर्शनः

सं.-मुनिश्री विद्याविजयजी, प्रथमावृत्ति - सन् 1924, प्रकाशक - मालवदेशीय सत्य प्रकाशक जैन युवक मण्डल

शोभन स्तुतिचतुर्विंशतिका :

शोभनसूरि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2453, प्रकाशक - श्री आगमोदय समितिः,

श्रमणसूत्र :

प्रथमावृत्ति - सन् 1966, प्रकाशक - सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

श्राद्ध गुण विवरण :

પરમર્ષિ - શ્રી જિનમંડન ગણિ, પ્રથમાવૃત્તિ - વિ.સં. 2007, અનુવાદક - મુનિશ્રી ચતુર વિજયજી મ.સા. પ્રકાશક - શ્રી વિજયનીતિસૂરીશ્વરજી જૈન લાયબ્રેરી, અમદાવાદ

श्राद्धविधि प्रकरण :

ले. श्री रत्नशेखरसूरि, संपादक-मुनि जयदर्शन विजयगणि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2056, प्रकाशक - जिनाज्ञा प्रकाशन, वापी (गुजरात)

श्रावक प्रज्ञप्ति :

आचार्य उमास्वाति, टीकाकार - हरिभद्रसूरि, संपादक अने अनुवादक - राजेन्द्र विजयजी

प्रथमावृत्ति-1972, प्रकाशक-संस्कार साहित्य सदन, डीसा (गुजरात)

श्रीमद् धनचंद्र सूरीश्वरजी महाराज का संक्षिप्त जीवन चरित्र :

मुनि श्री यतीन्द्र विजयजी, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 1980, मुद्रक - श्री जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम, म.प्र.

श्रीमद् भगवद्गीता :

महर्षि व्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि (पद्य):

मिश्रलाल जी ओंकार जी वकील साहब (कुक्षी), द्वितीयावृत्ति - सन् 1999, प्रकाशक - श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, (अहमदाबाद) (गुज.)

श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ :

प्रथमावृत्ति, वि.सं. 2013, प्रकाशक - श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, आहोर-वागरा, (राज.), प्राप्तिस्थान-श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (राज.)

श्रीमद्विजय धनचंद्रसूरिजी महाराज का संक्षिप्त जीवन चरित्र :

मुनि श्री यतीन्द्र विजयजी, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 1980, प्रकाशक - श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय श्रीसंघ, धानेरा (गुज.)

श्रीराम भक्ति का विकास :

डो. एम.पी. त्रिपाठी, प्रथमावृत्ति-सन् 1993, प्र.-श्री मानस प्रकाशनम्, इन्दौर, मु.-सर्वोत्तम प्रिंटिंग प्रेस इन्दौर

ષડશીતિ નામનો ચતુર્થ કર્મગ્રંથ :

ले. आचार्यश्री देवेन्द्रसूरि, विवेचक-आचार्य श्रीमद्विजय वीरशेखरसूरि, प्रथमावृत्ति, प्र. भारतीय प्राच्यविद्या प्रकाशन समिति पिंडवाडा (राज.)

षड्द्रव्य विचारः

आचार्य श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी, प्रथमावृत्ति - सन् 1992, संपादक - श्रीमद्विजय जयन्तसेन सूरीश्वरजी, प्रकाशक - श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, अहमदाबाद-1

षोडशक प्रकरण भाग-1-2 :

आचार्य हरिभद्रसूरि, संपादक-मुनिश्री यशोविजयजी, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 2052, प्रकाशक-श्री अंधेरी गुजराती संघ, करमचंद जैन पौषधशाला, 106, एस.वी. रोड, इर्ला ब्रिज, अँधेरी वेस्ट, बम्बई-56

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्थसमर्थक प्रश्नोत्तरी :

संकलन-आचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरि, द्वितीयावृत्ति - सन् 1989, प्रकाशक-श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय जैन श्वेताम्बर श्रीसंघ, श्री राजेन्द्रसूरि साहित्य प्रकाशन मंदिर, रतनपोल, अहमदाबाद

सन्मति प्रकरण :

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, संपादक-पं. सुखलाल संघवी एवं बेचरदास दोशी, प्रथमावृत्ति-1932, पूंजाभाई जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद

समवायांग सूत्रः

सम्पादक-कन्हैयालाल मुनि, प्रथमावृत्ति, प्रकाशक-जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

सम्यक्त्वसप्ततिकाः

विबुधविमलसूरि, प्रथमावृत्ति - सन् 1916, नगीनभाई, धेलाभाई झवेरी, बम्बई

सम्यक्त्व सप्ततिका :

आचार्य हरिभद्रसूरि, वृत्ति-संघतिलकाचार्य, प्रथम संस्करण-1961, पकाशक-जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई

संयुक्त निकायः

भिक्षु जगदीश काश्यप, सम्पादक-भिक्षु धर्मरक्षित, प्रथमावृत्ति - 1954, प्रकाशक-महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

सागार धर्मामृत :

पं. आशाधर, प्रथमावृत्ति - सन् 1972, प्रकाशक - भारतीय दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, मुम्बई

सांख्याकारिका :

र. ईश्वरकृष्ण, सम्पादक - चतुर्वेदी ब्रजमोहन, प्रथमावृत्ति - 1964, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली

सांख्यदर्शन :

संपादक - शास्त्री दुण्ढिराज, बनारस चौखम्बा सीरिज प्रथमावृत्ति - 1929, अनुवादक एवं सम्पादक - शर्मा श्री राम, संस्कृति संस्थान, बरेली

सांख्ययोग :

शाह नगीनजी, (षड् दर्शन) खण्ड-2, प्रथमावृत्ति-1974, अहमदाबाद युनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गुजरात

साधुमर्यादा पट्टक :

आचार्य श्रीमद्विजय देवसूरि, प्रथमावृत्ति - वि.सं. 1992, प्रकाशक - श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, गुजरात

सुत्तनिपात्त :

अनुवादक- भिक्षु धर्मरत्न, प्रथम संस्करण सन् 1951, प्रकाशक - भिक्षु संघरत्न, महाबोधि सारनाथ, वाराणसी

स्थानांग सूत्र :

वृत्तिकार - आचार्य अभयदेवसूरि, प्रथमावृत्ति - 1918, प्रकाशक - आगमोदय समिति, मेहसाणा

हेतमुक्ति स्वयं सुधा :

સંગ્રહ - મુનિ જયન્તવિજય, મધુકર, પ્રથમાવૃત્તિ- વિ.સં. 2038, પ્રકાશક શ્રી રાજેન્દ્ર મહિલા મંડળ, અમદાવાદ, પ્રાપ્તિસ્થાન-શ્રી રાજેન્દ્રસૂરિ જૈન જ્ઞાનમંદિર રાજેન્દ્ર સૂરિચોક, રતનપોળ, અમદાવાદ-1.

हैमानुशासनत्रकम् :

संपादक-आचार्य श्रीमद्विजय कलापूर्ण सूरीश्वरजी, प्रथमावृत्ति - फरवरी सन् 1986, प्रकाशक - महावीर तत्त्वज्ञान प्रचारक मण्डल, अंजार (कच्छ)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साध्वी डॉ. दर्शीतकलाश्री

नाम : साध्वी दर्शितकलाश्री
लौकिकनाम : कु.सुरेखा दोशी
पिता : चंदुलालजी दोशी
माता : सविताबेन दोशी
जन्मस्थान : थराद (गुज.)
जन्मतिथि : फाल्गुन शुक्ल २ (दि.१५-२-१९६४, शनिवार)
दीक्षा : वि.सं.२०४३ माघ शुक्ल ३ (दि.१-२-९९८७, रविवार)
आचार्य : राष्ट्रसन्त श्रीमद्विजय जयंतसेनसूरि म.सा.
दीक्षागुरु : साध्वी शशिकलाश्रीजी म.सा.
अध्ययन : लौकिक : एम.ए. (संस्कृत)

साध्वी डॉ. दर्शितकलाश्रीजी म.सा.

आज से ४२ साल पूर्व लोवाणा (थराद के पास)में सुपुत्री सुरेखाने माता सविताबेन की प्रथम संतान के रुप में जन्म लिया। शालेय शिक्षण अहमदाबाद में ग्रहण करने के पश्चात् वर्तमानाचार्य श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी म.सा. की भवनाशिनी वैराग्यसभर वाणी से वैराग्यवासित होकर श्री धनचन्द्रसूरि जैन पाठशाला-थराद में प्राथमिक धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर वैराग्य को परिपक्व किया एवं वि.सं.२०४३ महा सुदि-३, रविवार दि.१-२-८७ को आचार्यश्री की आज्ञानुवर्तिनी तपस्वीरत्ना पूज्या साध्वीजी श्री शशिकलाश्रीजी म.सा.की सुशिष्या के रुप में भागवती प्रव्रज्या अंगीकार कर सा.दर्शितकलाश्री के नाम से त्रिस्तुतिक श्री संघ में दीक्षित हुए।

दीक्षा के पश्चात् सतत तीन साल तक गुरु-निश्रा में ग्रहण-आसेवन शिक्षा ग्रहण करते हुए संस्कृत, प्राकृत एवं अनेकानेक धार्मिक, दार्शनिक ग्रंथों का अभ्यास किया। अनेकविधतप आराधना की। तप के साथ श्री नवकार मंत्र, श्री गोडीजी पार्श्वनाथ परमात्मा एवं दादा गुरुदेव कि इष्ट आराधना आपका नित्यक्रम रहा।

गुजरात, राजस्थान(मेवाड-मारवाड), महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश आदि तीर्थ स्थानोमें आपने सतत विहार किया। साथ ही गुर्वाज्ञा प्राप्त कर एम.ए. तक की परीक्षा उत्तीर्ण की। एम.ए. में (संस्कृत-दर्शन ग्रुप) प्रथम स्थान प्राप्त करने पर आपको 'पं.रामचन्द्र झा. शास्त्री' स्वर्णपदक से सन्मानित किया। इसके साथ ही आपने सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन (संज्ञा संधिप्रकरण), हिन्दी व्याख्या, राजेन्द्र चौबीसी का आध्यात्मिक अनुशीलन एवं तत्वार्थसूत्र का दार्शनिक अनुशीलन नामक रचनाएँ की।

दादा गुरुदेव की दिव्य अमीवृष्टि, कृपादृष्टि - वर्तमानाचार्य गुरुदेवश्री के पूर्ण आशीर्वाद, सतत मार्गदर्शन एवं अपनी गुरुवर्याश्री की पावन प्रेरणा एवं अ.भा.त्रिस्तुतिक श्रीसंघ का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर 'श्री अभिधान राजेन्द्र विश्वकोश' पर शोधकार्य किया। तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग, देवी अहिल्या विश्व विद्यालय-इन्दौर से डॉ.हर्षदराय धोलकिया एवं डॉ.गजेन्द्रकुमार जैन के निर्देशन में 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोश की आचारपरक दार्शनिक शब्दावली' शीर्षक के अन्तर्गत बृहदाकार शोधप्रबन्धनिर्मित किया। इसके अन्तर्गत आपको दि.२७-६-०५ को पीएच.डी. की उपाधि-प्रदान की।

आपके द्वारा अर्जित अभूतपूर्व सफलता के इस स्वर्णिम अवसर पर आपको हार्दिक बधाई देते हुए श्रीसंघ आपके शासन प्रभावना युक्त स्वस्थ दीर्घायु की मंगल कामना करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org